वर्ष १, खण्ड १] चैत्र, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या १



वार्षिक मूल्य ५)] **संरक्षक** —श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक

साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

लेख-सूची।

चित्र—सूची।

"श्रीशारदा" के नियम।

ग्राहकों के लिये—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। एक प्रति का मूल्य ॥) और पुरानी प्रति का ॥।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिये मनीआर्डर से ॥) भेजना चाहिए अथवा ॥≠) की वी० पी० वी० स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिये अपना पता बदलवाना हो, तो उनको प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उन पर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

प्रबन्धक, 'श्रीशारदा,' दीक्षितपुरा, जबलपुर।

लेखकों के लिये—

१—वर्तमान राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्त्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके रुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—तथा लेखकों एवं कवियों की प्राप्ति, पत्र प्रेषक लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा"—कार्यालय से मिलता है।

४—अपूर्ण लेख प्रकाशित नहीं किये जाते हैं। बड़े लेख, स्थान के अनुसार, एक वा एकाधिक संख्याओं में प्रकाशित किये जाते हैं।

५—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

६—किसी लेख वा कविता को प्रकाशित करने वा न करने, घटाने वा बढ़ाने, एवं लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। संपादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

७—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर एक ही ओर लिखे रहने चाहिए।

८—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

९—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

१०—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

११—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिये—

सम्पादक, "श्रीशारदा,"
दीक्षितपुरा, जबलपुर"।

विज्ञापकों के लिये—

—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपाने वाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

—विज्ञापन की दर इस प्रकार है—

	प्रति मास
एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषय के पहले और पीछे के ,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिये—

प्रबंधक, 'श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

चौधरानीजी की पुस्तकें।

हिन्दी के प्रसिद्ध सेवक तथा प्रचारक स्वर्गीय बाबू नवीनचन्द्र राय जी की ज्येष्ठा कन्या और विक्टोरिया गर्लस्कूल की सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरानी रचित और प्रकाशित उत्तमोत्तम हिन्दी पुस्तकें—

१—हिन्दी-बंगला-शिक्षा—(हिन्दी द्वारा बँगला सीखने की अद्वितीय पुस्तक) मूल्य केवल -)

२—आदर्श माता (इसमें आदर्श माता होने की शिक्षा है) मूल्य ॥) आठ आने मात्र।

३—आदर्श माता "गुरुमुखी" भाषा में ॥)

४—मनोहर कहानियाँ—(सचित्र) इसमें कन्याओं के विनोद की कहानियाँ हैं। मूल्य ।=)

५—माता और कन्या—इसमें कन्या को अपूर्व शिक्षा दी गई है। मूल्य ।)

६—नारी-पुष्पावली—इस पुस्तक में २१ आदर्श स्त्रियों की संक्षिप्त जीवनियाँ हैं। मूल्य ।)

७—हिन्दी व्याकरण (नवीन चन्द्रोदय) पंजाब विश्वविद्यालय की स्नातक और हिन्दी परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक है। मूल्य ।=)

अधिक (थोक) पुस्तकें लेनेवाले को २०) रुपये सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

पत्रव्यवहार निम्नलिखित स्थान पर करें—

पता:—

श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरानी,
सुपरिन्टेन्डेन्ट, विक्टोरिया गर्ल्स हाई स्कूल,
पटियाला (स्टेट)



श्रीकृष्ण-दर्शन

[चित्रकार—पं० गणेशराम मिश्र

श्रीशारदा

साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष १, खण्ड १] चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * २१ मार्च, १९२० [संख्या १

प्रार्थना ।

(लेखक,—बाबू मैथिलीशरण गुप्त)

दयानिधे, निज दया दिखाकर
एक बार फिर हमें जगादो ।
धर्म्म-नीति की रीति सिखाकर
प्रीति-दान कर भीति भगा दो ॥
समय-सिन्धु चञ्चल है भारी ;
कर्णधार, हो कृपा तुम्हारी ;
भार-भरी है तरी हमारी ;
एक बार ही न डगमगा दो ।
ह्रास मिटे अब, फिर विकास हो ;
सभी गुणों का स्थिर निवास हो ;
रुचिर शान्ति का चिर विलास हो ;
विश्व-प्रेम में हमें पगा दो ॥

राम-रूप का शील-सत्व दो ;
सेतु-बन्ध-रचना-महत्व दो ;
श्याम-रूप का रास-तत्व दो ;
कुरुक्षेत्र का सुगीत गा दो ॥
ज्ञान-मार्ग की बात बता दो ;
भक्ति-मार्ग का पूर्ण पता दो ;
काल-चक्र की चाल जता दो ,
भक्ति-मार्ग में हमें लगा दो ॥
फूट फैल कर फूट रही है ;
उद्यमता सिर कूट रही है ;
और अलसता लूट रही है ;
न आप से ही हमें ठगा दो ॥

रहे न यह जड़ता जीवन में ;
जागरूकता हो जन जन में ;
तन में बल, साहस हो मन में ;
नई ज्योतियाँ सुजगमगा दो ॥

कविवर कालिदास की राजधर्मचर्चा।

(लेखक,—अध्यापक गङ्गाप्रसाद महता, एम० ए०)

रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने इक्ष्वाकु-वंश के महाप्रतापी राजाओं का चरित्रचित्रण किया है। इस काव्य के प्रथम सर्ग में कविशिरोमणि कालिदास ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि मेरी कवित्वप्रतिभा सूर्यवंशी राजाओं की परम्परागत तथा आश्चर्यमयी चरित्र-कथाओं को सुननेपर जाग उठी है। जिस प्रकार कालिदास ने उन कथाओं का समावेश अपने महाकाव्य में किया है उस प्रकार उनका यथार्थ रसास्वाद रघुवंश के अध्ययन ही से हो सकता है। इस लेख में हम कालिदास के केवल राजनैतिक विचारों का अनुशीलन करेंगे।

कालिदास के सुन्दर काव्य-नाटकों के चरित्र-नायक प्रायः राजाही हैं; अतएव यदि कालिदास राज-धर्म के विषय में कुछ गंभीर और उत्कृष्ट विचार स्थल स्थल पर प्रकट करें, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सच तो यह है कि कालिदास की राज-धर्म-चर्चा बहुत ही उदार, उज्ज्वल और ऊर्जित है। उनके काव्य-नाटकों से कुछ अवतरण देकर हम अपने कथन की सत्यता के समर्थन करने की चेष्टा करेंगे।

सनातन धर्मावलम्बी कालिदास वर्णाश्रम-धर्म के बड़े पक्षपाती थे; अतएव उनकी दृष्टि में राजा का मुख्य कर्तव्य वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा सुरक्षित रखना ही था। राजा को सर्वदा 'वर्णाश्रमावेक्षणजागरूक'—वर्णाश्रमधर्म की देखरेख में सचेत होना चाहिये, अर्थात् जिस धर्म-भित्ति पर यह मानव-समाज स्थित है उसकी रक्षा करना राजा के लिये सबसे पहिला आवश्यक कर्तव्य है। उनका मत था कि वर्ण-धर्म के अनुसार राज्य की बागडोर भी क्षत्रियों के हाथों में होनी चाहिये। वे प्रजा को क्षति से बचाने और उसे अभयदान देने को ही क्षत्रिय का परम धर्म समझते थे। क्षत्रिय-शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कालिदास ने कहा है कि:—

> " क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः
> राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा " ॥
>
> (रघुवंश, २–५३)

अर्थात् " नाश से जो बचाता है' यह क्षत्र-वर्ण का वाचक शब्द संसार में प्रसिद्ध है। जिस राजा का व्यापार इससे विपरीत हो, जो प्रजा की रक्षा न कर उसका ह्रास वा नाश होने देता हो उस राजा के घृणित जीवन से क्या लाभ?" जिस समय सिंह ने, राजा दिलीप के देखते देखते नन्दिनी गौ पर आक्रमण किया उस समय दिलीप के श्रीमुख से कालिदास ने उपर्युक्त श्लोक का ही उच्चारण कराया था। गौ पर सिंह के आक्रमण होने का—निर्बल पर प्रबल के अनुचित प्रहार होने का—हृदयविदारक दृश्य दिलीप अपनी आँखों से नहीं देख सकते थे। उनके राज-धर्म की परीक्षा का यह अति कठोर समय था। जिसके वन में विचरते हुए प्रबल पशु निर्बल जीवों को पीड़ा नहीं दे सकते थे—" ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वने गोप्तरि गाहमाने "—जो पृथ्वी की नाईं गौ की रक्षा में दत्तचित्त था उस राजा के

समक्ष यह आकस्मिक घटना मानों उसके शासन का तिरस्कार करती थी। उस गौ का आर्त्तनाद सुन, क्रोध के आवेश में, थोड़ी देर तक दिलीप किंकर्तव्य-विमूढ़ और चित्र-लिखित से खड़े रहे। इस प्रसंग में कालिदास ने जो भाव दिलीप के द्वारा प्रकट किये हैं उनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कालिदास राजा की निरंकुश-सत्ता को न मानते थे। "क्षात्रो धर्म इव स्थितः"। अतएव यदि गौ की रक्षा के लिये आत्म-बलिदान भी करना पड़े, तो उसके लिये दिलीप निःशंक हृदय से तत्पर थे—"सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः" रघु०, २-५५। जिसने मुझे रक्षा के लिये नियुक्त किया उसके समक्ष, रक्षणीय वस्तु का विनाश कराकर, मैं किस मुँह से सकुशल जा सकूँगा। "स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन।"

प्रजा की केवल रक्षा करना ही राज-धर्म नहीं, बल्कि उसके सब प्रकार के अभ्युदय में सहयोग देना भी राजा का पवित्र व्रत होना चाहिये—कविवर कालिदास का यही सिद्धान्त है। प्रजा की सुख-समृद्धि की वृद्धि करना ही राजा का, प्रजा से कर लेने का, उद्देश होना चाहिये।

"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः"॥

(रघुवंश, १-१८)

अर्थात्, "प्रजा की भलाई के ही निमित्त राजा दिलीप उनसे कर लेता था। सूर्य भी पृथ्वी से जल ग्रहण करते समय हज़ार गुना अधिक बरसाने के उद्देश से ही ग्रहण करता है"। देशमें कर क्यों और किस नियम के आधार पर लगाया जावे इसका वर्णन कालिदास ने अपने ग्रंथों में उत्तमतापूर्वक किया है; परंतु पाश्चात्य विद्वान् हमारे लोक-हित-परायण विचारों और विवेक-जनित संस्थाओं पर क्रूर दृष्टि रखते हुए, भारत की प्राचीन राजनीति के संबंध में बहुधा निरर्गल बातें बका करते हैं। टी० एच० ग्रीन साहब का कथन है कि पूर्वी देशों के साम्राज्य प्रजा से बलात् कर वसूल करने के उद्देश्य से ही स्थापित हुए हैं और उन साम्राज्यों के राजकर्मचारी प्रजा के धन पर टिड्डी-दल की नाईं टूट पडते हैं। "The great empires of the East were, in the main, tax-collecting institutions."

केवल कर वसूल करना और प्रजा के धन का मनमाना दुरुपयोग करना भारतीय हिन्दुओं की राजनीति में राजधर्म कभी नहीं समझा जाता था। राजा के कर्तव्य बतलाते हुए कालिदास कहते हैं कि प्रजा की रक्षा करना, उसे शिक्षा देना और उसका भरण-पोषण करना राजा के आवश्यक कर्तव्य हैं। इन बड़े कर्तव्यों का भार व्यक्तियों पर नहीं, राष्ट्र पर है। उनके मतानुसार राजा ही प्रजा का सच्चा पिता है:—

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः
रघु०, सर्ग १—२४

कालिदास की दृष्टि में वही आदर्श राजा है जो शरणागत को शरण देता है और जिसने प्रजा-रंजन के द्वारा यश प्राप्त किया है:—

"असौ शरण्यः शरणोन्मुखानाम्......
राजा प्रजारंजनलब्धवर्णः...... रघु०, ६—२१

"कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः"
रघु०, ६—२२

अर्थात्, शरणागत के रक्षक और प्रजारंजन में दक्ष राजा के होने ही से इस पृथ्वी को सुराज्य-युक्त कहते हैं, अन्य असंख्य राजाओं के रहने से नहीं। संख्यातीत नक्षत्रतारागण से आच्छादित रात्रि एक चंद्रमा की ज्योत्स्ना के कारण जगमगा उठती है।

इस आदर्श के निदर्शनार्थ कालिदास ने चौदहवें सर्ग में जानकीजी के निर्वासन की कथा अपनी सहृदय लेखनी से लिखी है। उन करुणार्द्र श्लोकों में इतना भाव-गाम्भीर्य है कि पढ़ने से अश्रुपात हुए बिना नहीं रहता। एक दिन प्रातःस्मरणीय श्रीरामचंद्र धर्मासन पर विराजमान थे। उस समय राजा को प्रजामत का परिचय देने वाला एक दूत उनके समक्ष आ उपस्थित हुआ। राम ने उस दूत से अपने शासन के संबंध में प्रजा का मत अत्यंत अनुरोधपूर्वक पूँछा। दूत ने सब सच सच कह डाला:—"हे नरदेव, पौर जन आपके सारे चरित्र की स्तुति मुक्तकंठ से करते हैं; परंतु राक्षस के घर में वास करने के कारण आपने सीता का परित्याग नहीं किया; इस कारण प्रजा में असंतोष दिखाई पड़ता है।" इन वज्रवत् कठोर शब्दों को सुन कर राम ने अपने प्रजाराधन व्रत के लिये अन्तिम श्रेणी के उस आत्म-बलिदान का प्रस्ताव अपने हृदय में कर लिया।

"स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा"।
भवभूति।

अर्थात्, उन्होंने कभी कहा था कि "स्नेह, दया, और सुख की कौन कहे, जानकी को भी, लोक के आराधन के लिये, छोड़ने की आवश्यकता आ पड़ने पर मुझे कष्ट न होगा।" जिस राजराजेश्वर का यह प्रखर व्रत था उसने अपनी प्राण-प्रेयसी पत्नी के परित्याग से जगत् के सामने प्रजाराधन का आश्चर्यजनक निदर्शन किया। बड़े धर्म-धुरंधर और राजनीति-विशारद राजाओं के विषय में रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने इन भावों को दरसाया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल के ललित श्लोकों में कविवर ने राजधर्म का और भी अधिक स्पष्टीकरण किया है। नीचे उद्धृत किये हुए श्लोकों से पाठकों को कालिदास के उज्ज्वल राज-धर्म के महत्व का परिचय हो सकेगा:—

"स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः।
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव॥
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्।
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥

प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
नियमयसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः॥
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम।
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धु-कृत्यं प्रजानाम्॥"

अर्थात्, "अपने सुख की इच्छा न कर लोक के कारण तू व्यग्र रहता है। प्रतिदिन तेरा यही व्यापार है। ऐसा क्यों न हो? वृक्ष तीव्र धूप को स्वयं सहन करता है; परंतु जो उसकी छाया में आश्रय लेते हैं वह उनका सन्ताप शमन करता है।

"तू प्रजा के कलह को शान्त करता है, उसकी सतत रक्षा करता है और दंडधारी बनकर कुमार्गगामी लोगों को पुण्य-पथ का पथिक बनाता है। हमारे बंधु-बांधव अतुल धन के होने पर ही हमसे बंधु-भाव रखते हैं; किंतु प्रजा के प्रति तेरा बंधु-भाव पराकाष्ठा पर पहुँचा है।"

तस्मात्सुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम् ।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥

अर्थात्, "आपका शस्त्र पीड़ित प्राणियों की रक्षा के लिये है, न कि निरपराध के मारने के लिये।"

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

अर्थात्, "जिस जिस प्यारे बंधु से मेरी प्रजा का वियोग हो उनका प्यारा बंधु दुष्यन्त है—इस सिद्धान्त की घोषणा डंके की चोट होनी चाहिये। दुष्यंत अनाथ का नाथ है।" अपने नाटक के अंतिम भरत-वाक्य में कालिदास ने यह मनोकामना प्रकट की है—

प्रवर्ततां प्रकृति-हिताय पार्थिवः ।
सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम् ॥
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः ।
पुनर्भवं परिगत शक्तिरात्मभूः ॥

राजा लोग प्रजा के हित के लिये प्रवृत्त हों यही कालिदास की हृद्गत मनोकामना है। जिस कवि का राजधर्म के संबंधमें इतना उज्ज्वल आदर्श था और जिसने प्रजाराधन को ही राजनीति का परम लक्ष्य प्रतिपादित किया है वह राजा की अनियन्त्रित सत्ता, कठोर शासन और अत्याचार का अनुमोदन स्वप्न में भी नहीं कर सकता। राज-नीति-मर्मज्ञ कौटिल्य और कालिदास दोनों ही राज-धर्म के विषय में एकमत हैं:—

प्रजा सुखे हितं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।
न आत्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥

अर्थात्, "प्रजा-सुख में ही राजा का हित है और प्रजाके हितमें ही उसका हित है। अपने स्वार्थ-सम्पादन में राजा का हित नहीं, किन्तु प्रजा के कल्याण में ही राजा का हित है॥"

शिक्षा की समस्या।

(लेखक,—अध्यापक रामदास गौड़, एम० ए०)

(१) सिर का बोझा।

बुढ़ापे से यात्री के अंग अंग शिथिल हो गये थे। शरीर पर झुर्रियां पड़गयी थीं। दुबलापेसे काँपते हाथों में ऊँची लाठी टेकता वह बड़ी कठिनाई से जाता था। पांव सीधे नहीं पड़ते थे। आँतें पीठसे लग रही थीं। सिर और कंधों पर के भारी बोझसे या युगों और कल्पों के अनुभव-भार से कमर झुक गयी थी। इतने पर भी वह सारी गृहस्थी की सामग्री लादे जीवनपथ पर आरूढ़ था। दूसरे राही भी, जो हट्टे-कट्टे जवान थे, जिनके सिर पर बोझ अत्यन्त थोड़ा था, जो उसके आगे पीछे चल रहे थे उससे बड़े प्रेम और सहानुभूति से बरताव करते थे, बार बार चाहते थे कि बुढ्ढा अपनी गठरी, सारी नहीं तो थोड़ी ही, उनके सिर पर धर अपना बोझ हलका और कमर सीधी करे, कुछ दूर निश्चिंत हो सुख से यात्रा करे; पर

बुढ़ापे की ममता और अविश्वास से लाचारी थी। या तो बूढ़े का जी छोटा था या बहुत दिनों के अनुभव से उसे उनकी ईमानदारी पर सहसा विश्वास न होता था। परन्तु पौरुष ने विश्वासघाती मित्र की तरह जवाब दे दिया। सामर्थ्य ने कुअवसर में ही उसका साथ छोड़ा। अकेले ममता और अविश्वास की कुछ चल न सकी। गठरी का अधिकांश एक बलवान राही ने अपने सिर पर रखा और उसे हाथ का सहारा देकर वह साथ साथ चलने लगा। बूढ़ा कितनाही कहता था, "भाई, तुम क्यों कष्ट करते हो? मैं अपना बोझ किसी न किसी तरह ले ही चलूंगा;" पर उसके जवान साथी ने न माना।

चलते चलते साथी भी थक गया। कई और राही उसकी सहायता को तैयार ही थे। सहानुभूतिकी मात्रा इस बूढ़े के धन की गठरी ढोने में न जाने क्यों सभी राहियों में बढ़ी-चढ़ी थी। मौक़ा पाकर बोझ बँटाने को सभी तैयार हो गये, यहाँतक कि आपस में झगड़े की भी नौबत आ गयी। उनमें से एकने समझा बुझा कर गठरी अपने कंधे पर रखी और बूढ़े के साथ चलने लगा।

देर तक बोझ से मुक्त होने से बूढ़े के शरीर में कुछ बल आया। थकान मिट गयी। चाहा कि अपनी गठरी फिर अपने सिर पर लें; पर दयालु राही ने उसे ऊँच नीच समझाया और बची बचायी गठरी ही नहीं, बल्कि उसकी लाठी तक ले ली और बूढ़े से कहा कि अब तुम बिलकुल हलके हो गये। मेरे साथ चुपचाप चले चलो।

कुछ दूर दोनों साथ चले। एक ओर से ममता बूढ़े को धिक्कारती थी—"तुमने बुरा किया, अपना धन भी कोई दूसरे को सौंप देता है" और दूसरे कान में अविश्वास चुपके से कहता था—"तुम कैसे भोलेभाले आदमी हो, तुम नहीं जानते कि इस राही की नीयत क्या है। इसके विश्वास पर अपना सर्वस्व छोड़ देना उचित नहीं"।

कोई कोई राही उस दयालु और सहायक बटोही के प्रेम और सेवाभाव को सराहते थे और वह भी उनसे कहता था कि "क्या करूँ, यह बूढ़ा बोझ से मर रहा था, मैंने इस पर दया करके यह भारी बोझा आप अपनी गर्दन पर रखा है। अब ले चुका हूं तो ढोऊँगा। मेरी ज़िम्मेदारी है। क्या करूँ, लाचारी है। कहीं इस यात्री को छोड़ दूं, तो बोझ से गिर जाय, लुटेरे बदमाश जो ताक में लगे हैं माल असबाब लूट ले जायँ। यही बात है कि बूढ़े के विनय करने पर भी मैं इसे यह बोझ नहीं दे रहा हूं"।

अनेक राही ऐसे भी थे जो इस दयालुता को सन्देह की दृष्टि से देखते थे; पर कुछ कहते न थे।

बूढ़े से देर तक रहा न गया। उसने बारंबार कहना आरंभ किया कि "भाई, हम तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं; पर अब हम बोझ सँभाल लेंगे, तुम अधिक कष्ट न करो," और दयालु बटोही बराबर यही समझाता था कि "हम बात के धनी हैं, जब हमने बोझ ढोने का बीड़ा उठाया, तब हम छोड़ नहीं सकते। हमारा कर्तव्य है कि हम तुम्हारी रक्षा करें, भार सहें और तुम्हें सुख दें।"

दयालुता के साथ साथ बटोही के हृदय में शायद बूढ़े के प्रति उतनी सहानुभूति और प्रीति न थी जितनी उसकी गठरी के साथ। परंतु इस बात को साफ़ साफ़ कहने में बहुत संकोच था। पर बूढ़ा यह बात ताड़ गया और अपनी गठरी के लिए हल्ला गुल्ला मचाने लगा। दयालु बटोही ने अन्त में बड़ी कृपा करके और बूढ़े की सठियाई बुद्धि पर तरस खाकर गठरी का कुछ भाग अलग बाँध कर उसके सिर पर रख दिया और कहा, "बूढ़े बाबा, तुम्हारे ही हित के लिये मैं इतना बोझा ढोते आया हूं, मुझे इस कुलीगीरी का मिलेगा ही क्या? पर तुम समझते नहीं, हठ करते हो, और अब कुछ सुस्ता चुके हो और मैं स्वयं बोझ से थक रहा हूं। लो, तुम्हारी गठरी का कुछ हलका माल बाँध कर तुम्हारे सिर पर रखे देता हूं। देखो, यदि तुम इसे लेकर चल सके तो और भी बोझ तुम्हारे सिर पर रखूँगा, नहीं तो फिर इसे अपने सिर की गठरी में बाँध लूँगा।"

बूढ़ा यात्री इस हलकी गठरी को ही पाकर कुछ प्रसन्न हुआ और बोला

"सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।"

❀ ❀ ❀

बरसों की प्रार्थना, मुद्दतों की खुशामद, युगों की तपस्या, अब जाकर कुछ ठिकाने लगी। आशा की मुरझाती लता फिर हरी हो चली। अस्सी बरस से जिस अधिकार के लिये हम तरस रहे थे, जिसकी लालसा में तीन पीढ़ियाँ बीत गयीं, हमारे बड़े बूढ़े आशा लिये ही चले गये, उस अधि-

कार का कुछ अंश हमें आजसे एक वर्षमें मिलेगा। हम इसके लिए अपने सौभाग्यको कितना सराहें, अपने नेताओंकी सेवा और आन्दोलनकारियों की देशभक्ति की कितनी प्रशंसा करें, अंग्रेजी राज की बुद्धिमत्ताकी कितनी बड़ाई करें, यह हमारे प्रस्तुत विषय का अंग नहीं है। हम आज इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि जिस शिक्षा का शासन-भार हमें मिलनेवाला है उसकी वर्तमान दशा क्या है; उसमें कैसे कैसे सुधार हुए हैं, उनमें कहाँतक और कबतक सफलताकी आशा हो सकती है, सुधार में क्या क्या कठिनाइयाँ हैं, क्या क्या बाधाएँ हैं, उनके मेटनेके उपाय हैं वा नहीं। साथ ही, हमारे सिर पर कितनी भारी ज़िम्मेदारी रखी गयी है और इस बोझ को उठानेके लिए हम समर्थ हैं वा नहीं।

(२) शिक्षा की पुरानी प्रथा।

प्राचीन काल की शिक्षापद्धति संगठन और संस्थाकी दृष्टि से कैसी थी, उसका विस्तार कहाँतक था, ये बातें यद्यपि विवादास्पद हैं, तथापि गुरुकुलों और ऋषिकुलों की स्थापना, चाहे कितने ही भिन्न रूपों में हो, प्राचीन शिक्षापद्धति के अनुकूल ही समझी जाती है। हमारे देश में विद्यार्थी के पवित्र जीवन का आदर होता आया है। यदि अमेरिका की शिक्षा का आदर्श यह है कि वह देश के प्रत्येक बच्चे को भावी नागरिक और राष्ट्रीय धन समझते हैं तो भारत का आदर्श, जो विद्यार्थी को पूज्य भाव से देखता है, उसका पोषण लोकोत्तर पवित्र काम समझता है, वहाँ के आदर्श से किसी प्रकार कम दरजे का नहीं है। इतने ऊँचे आदर्श का कारण यही है कि यहाँ की प्राचीन शिक्षाप्रणाली जहाँ छात्रको अपने वर्णाश्रम-धर्म्म के लिए सर्वथा उपयुक्त बनाने की चेष्टा करती थी, वहाँ उसका परम उद्देश्य उत्तमोत्तम पारलौकिक विषयों में प्रत्येक ब्रह्मचारी को निष्णात करना भी था। मुसलमानों के शासन में शिक्षाप्रणाली की ओर शासन का ध्यान विशेष रूप से नहीं था। कचहरी, दरबार आदि में प्रविष्ट होनेवाले उपनयन संस्कार और थोड़ी बहुत घरेलू शिक्षा के पीछे मौलवी साहब से मकतब में पढ़कर कामकाज के लायक फ़ारसी पढ़ लेते थे। इनमें बहुत से फ़ारसी अरबी के विद्वान् भी हो गये हैं; परन्तु ऐसे कम थे जो अपनी देशी विद्या से नितान्त विहीन थे।

मुसलमानी शासन छः सात सौ वर्ष रहकर जब जीर्ण शीर्ण दशा में था, राज्य की पुरानी मशीन के कल-पुरजे ढीले हो रहे थे, जिस समय एक ओर से महाराष्ट्र और दूसरी ओर से सिक्ख इस मशीन को बदलने का उद्योग कर रहे थे, बंगाल की खाड़ी की राह से आये हुए अंग्रेज़ बहादुरों का कूटनीति की रंगभूमि में प्रवेश हुआ। धीरे धीरे सारे भारत पर इसी जाति की पताका फहरायी, अधिकांश नकशा लाल रंगसे रँगा गया। अंग्रेज़ों का एतद्देशीयों से सम्पर्क हुआ। सुदूर प्राचीन काल से बिछुड़ी हुई दो आर्यभाषाओं का सम्मेलन हुआ। अंग्रेज़ों को अपना काम चलाने के लिए हमारे देश के ही मनुष्यों की आवश्यकता हुई। अंग्रेज़ हाकिमों के हुकुम बजा लाने को उनकी भाषा समझनेवाले मातहतों की ज़रूरत हुई। यह सच है कि राजा कोई हो प्रजाका सेवक है, प्रजा के सुभीते के लिये, प्रजा के दुःखदर्द को जानने के लिए उसे प्रजा की भाषा समझना अनिवार्य्य है। परन्तु मनुष्य में पशुत्व और देवत्व दोनों ही हैं। विजेता का पशुत्व उसे लाचार करता है कि वह विजित को सब तरह से जीते और अपना दास बनावे; इसीलिए सभ्य विजेता प्रायः विजित के आचार पर, विचार पर, भाषा पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है और इन सबको अपने अनुरूप कर देने की पूरी चेष्टा करता है। इस चेष्टा में स्वजातिप्रेम और देशभक्ति भी उसे पूरी उत्तेजना देती है। परिस्थिति की आवश्यकता भी उसके देवत्व को दबा देती है। अंग्रेज़ पादरियों ने बेचारे "गुमराह" और "भूली भटकी भेड़ों को" ठीक राह पर लगाने और अपने आज्ञाकर्त्ता तक पहुँचाने के लिये भारतीयों को लिखाने-पढ़ाने के लिए स्कूल खोले। अंग्रेज़ सौदागरों को क्लार्क उन्हीं स्कूलों से मिलने लगे थे। जब राज्य का चस्का लगा, क्लार्कों की आवश्यकता बढ़ी। यहाँतक कि अस्सी बरस से ऊपर हुए अंग्रेज़ी सरकार ने पादरियों के काम में नियमित सहायता देने का निश्चय किया। लार्ड मेकाले ने तो साफ़ लिखा कि हम भारतीयों को ऐसी और इतनी शिक्षा देना चाहते हैं कि वे अंग्रेज़ों के अनुरूप सभ्य हो जायँ। मेकाले की ही नीति से देशी रीति पनपने न पायी, केवल काशी के संस्कृत कालिज और कलकत्ता मदरसा तक मर्यादित रही, और अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम और पाश्चात्य ढंग से शिक्षा का सूत्रपात हुआ।

(३) शिक्षा की वर्त्तमान प्रणाली।

अंग्रेज़ी माध्यम के पूर्ण रूप से प्रचार पर कई वर्षों तक विचार हुआ। अन्ततः स० १६१२ में यह निश्चय हो गया कि देशी

भाषाओं की उन्नति की ओर भी ध्यान रखा जाय और समस्त पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के ऊँचे दरजे की शिक्षा अंग्रेजीद्वारा दी जाय। इस निश्चय के दस बरस के भीतर ही कलकत्ता, बम्बई, मदरास तथा पंजाब के परीक्षालय स्थापित हुए; परन्तु उन्हें विश्वविद्यालय की पदवी दी गयी। लंदन का विश्व-विद्यालय इन परीक्षालयों का आदर्श समझा गया। शिक्षा-पद्धति भी उसीके अनुरूप रखी गयी। नकल यहाँतक हुई कि परायी भाषा की कठिनाई पर ध्यान न देकर शिक्षा और परीक्षा दोनों वहाँकी ऊँचाई की रखी गई। ज्यों ज्यों विज्ञान में उन्नति होती गयी, त्यों त्यों विलायत में भी आदर्श की सीमा का विस्तार होता गया। यहाँ भी दस पन्द्रह बरस के पीछे क्रमशः सीमावृद्धि होती गयी। परीक्षालयों का नाम विश्वविद्यालय रखना पहले कानून के दरजे खोलकर सार्थक किया गया। धीरे धीरे अब इधर दस बरसों के भीतर कई परीक्षालयों ने सच्चे विश्वविद्यालय का रूप धारण करने का यत्न किया है, कुछ पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया है; परन्तु उसे नाममात्र समझना चाहिए।

वर्तमान शिक्षाप्रणाली को यह श्रेय है और सच्चा श्रेय है कि उसने सतत वर्द्धमान पाश्चात्य विज्ञानों का भारत में यत्किंचित् प्रचार किया। पराधीन दशा में प्राचीन प्रणाली अवश्य पिछड़ी रहती, पाश्चात्य विज्ञानों की अभिज्ञता हमें बहुत कम होती। इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह मान लेनेके लिए कोई युक्ति नहीं दीखती कि यदि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा ही होती और साथ ही संसार की ज्ञानवृद्धि में अद्यपर्य्यन्त उन्नति करने की चेष्टा शिक्षा के सूत्रधारों की ओरसे होती, तो भी हम आज की तरह विज्ञान से उतने अभिज्ञ न होते जितने हैं। वर्तमान लेखक के विचार में यदि प्रचलित पद्धतिका अनुसरण देशी भाषा के माध्यम के साथ ही होता, तो हम उतने अनभिज्ञ और अनुपयोगी न होते, जितने आज हैं। इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंके मनमें एक बड़ी भ्रान्ति यह है कि अंग्रेजी का प्रचार और माध्यम न होता, तो हम ज्ञान-विज्ञान से एकदम वंचित रह जाते। यह भ्रम तुरन्त ही दूर हो जाता है जब हम विज्ञान के विस्तार के इतिहास पर ध्यान देते हैं। आधुनिक विज्ञानों में सबसे पुराना भौतिक शास्त्र है जिसके ९९ प्रति शत आविष्कार गत दो सौ बरसों के भीतर हुए हैं। इन दो सौ बरसों में पहला सैकड़ा तो अशान्ति का था जिसमें विद्याकी बढ़ती उन्नतिमें स्पष्ट बाधाएँ थीं। औरंगजेबकी नीतिके कारण मुगल साम्राज्य की डावाँडोल दशा, सिक्खों और महाराष्ट्रों का अव्यवस्थित उत्थान, विदेशियों के राजनैतिक एवं व्यापारिक आक्रमण और कूटनीतिक चालें सभी देशकी अशान्त और अस्थिर दशा के कारण थे। उस समय के इतिहास में युरोप में माध्यमिक काल का अन्त और क्रान्ति पूर्णतया हो चुकी थी। युरोपके लिए दशा अनुकूल थी। अमेरिका का बसना आरंभ हो चुका था, संसारमें फैलने की, अच्छी तरह पाँव पसारने की जगह हो चुकी थी। परन्तु युरोपमें भौतिक विज्ञान की जो वृद्धि हो रही थी उससे बाहरका कोई देश लाभ नहीं उठा रहा था। अमेरिका की सभ्यता जन्मी नहीं थी। जापान जागृत तो क्या, नगण्य था। चीन चैन की बंसी बजा रहा था। ईरान में विप्लव हो रहे थे। आफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि की आज-की आबादी और राजनीति भविष्य के गर्भ में थी। गत शताब्दी में भौतिक विज्ञान की उन्नति की गति एकदम वेगवती हो गयी। रेल, तार, डाक, जिनके तानेबाने में आज सारा सभ्य संसार उलझा हुआ है, जो ज्ञान और कर्म की नाड़ियों की तरह सारे जगद्रूपी शरीर में फैल रहे हैं नब्बे बरस के भीतर ही मनुष्य के मस्तिष्क में जन्मे और स्वयं युरोप में इनके प्रचार को पूरे सत्तर बरस भी नहीं हुए हैं। राजा मुचकुन्द की तरह कोई मनुष्य १० बरस की गहरी नींदसे आज जो कहीं आँख मलते उठता, तो उसे एक ऐसे अद्भुत जगत का दृश्य देखने में आता कि वह यह एकाएक निश्चय न कर सकता कि मैं सपना नहीं देख रहा हूं, या मैं मृत्युलोक से किसी और जगत में लोकान्तरित नहीं हो गया हूं। रसायन-विज्ञान की उन्नति का इतिहास तो सौ बरस से अधिक पुराना है ही नहीं, और उसकी उन्नति का वेग भी इन्हीं ६०-७० बरसों के भीतर बढ़ा है। जीव-विज्ञान तो अभी कल का बच्चा है, इतना नया है कि हाल में ही हमारे विश्वविद्यालयों में इसका प्रवेश हुआ है। जब आधुनिक विज्ञानों का इतिहास भी उसी काल के भीतर का है जिसमें हमारी प्रचलित शिक्षापद्धति सीमित है तो कौन और किस आधार पर यह कहने का साहस कर सकता है कि हमारी कचाई का कारण यही अस्वाभाविक पद्धति नहीं है, अथवा यदि हम स्वाभाविक रीति पर चलते तो अधिकाधिक उन्नति-पथ पर आरूढ़ न होते और इन विज्ञानों से नितान्त अनभिज्ञ रहते ?

चिरकालिक राजनैतिक अशान्तियों के कारण देश की आत्मा को पद्धति की समीचीनता वा स्वाभाविकता पर विचार करने का न अवसर था और न क्षमता ही। एकाएकी प्रचार हो जाने पर जो शिक्षित जन नयी विद्या लेकर निकलते थे वे साधारण-मनुष्य-स्वभावानुमोदित भ्रम में पड़कर भोजन के स्वाद का कारण पात्र को समझ लेते थे और यही भ्रम जड़ पकड़ते पकड़ते हमारे मनों में ऐसा बैठ गया है कि हम समझते हैं कि अंग्रेज़ी न होती तो हम ज्ञान विज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ होते। यह अस्वाभाविकता इस दरजे तक पहुँची कि हमारे बहुतेरे नयी रोशनी के विद्वान् अपनी संस्कृत के ख़ज़ाने को भी विलायती कुंजी से खोलने लग गये। मोक्षमूलर आदि विदेशियों की पुस्तकों से ही उन्हें अपने देश की विद्या का महत्व दीखने लगा। थाली की सूरत पर मचलनेवाले भोलेभाले बच्चों की तरह उन्हों ने यहाँ तक बरतन को स्वाद का कारण समझा कि उन्हें इस बात पर विश्वास हो गया कि संस्कृत-शिक्षा-प्रदान में भी विदेशी ही अधिक निपुण हैं। हमारी सरकार ने इस भ्रम का आरंभ से ही पोषण किया है और गत दस बरसों के भीतर ही कई महत्व की छात्रवृत्तियाँ इसलिये स्थापित कीं कि युरोप जाकर यहाँ के छात्र संस्कृत में पारंगत हो आवें, और कई विद्वान् युरोपीय तीर्थ का प्रसाद और छाप लेकर यहाँ अपनी विद्वत्ता का लाभ भी पहुँचाने की चेष्टा कर रहे हैं। जो हो, देश के विचारशील लोगों के कान कुछ बरसों से खड़े हो रहे हैं कि वैदेशिक शिक्षा पाकर जहाँ जापान में मौलिक आविष्कारकारक और विलक्षण उन्नायक दीख रहे हैं वहाँ विदेशीशिक्षाप्राप्त भारतीय रोटियों को तरसते हैं, दो ढाई सौ रुपये मासिक वेतन पर भी मँहगे हो रहे हैं, और विदेश में जो नाम करके आते हैं स्वदेश में उनका उत्साह ठंडा पड़ जाता है और आगे कुछ नहीं कर पाते, देश को उससे यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचता, —इस विपरीत दशा का क्या कारण है ?

कारणों पर विचार करते हुए अन्ततः राजनीति की कठिन समस्याओं तक आना पड़ता है। परन्तु हमें शिक्षा के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों पर यहाँ विचार नहीं करना है। हमारे विद्यार्थियों में आवश्यकता से अधिक शक्ति है, पर्य्याप्त योग्यता है, यह तो निर्विवाद ही है; परन्तु उनकी दशा विचारणीय है। जिस मस्तिष्क से परिश्रम करने वाले को उत्तम पौष्टिक भोजन नितान्त आवश्यक है—और विद्यार्थी के चिरवर्द्धमान बल-बुद्धि और शरीर के पोषण के लिये उचित अन्न की आवश्यकता कितने महत्व की है कौन नहीं जानता—जिसे चिन्ताओं से मुक्त हो एक-चित्त हो सरस्वती की उपासना करनी चाहिये, जिसका एक एक पल समय, एक एक रत्ती बल देश की सम्पत्ति है वही विद्यार्थी भोजन-वस्त्र और जीविका की चिन्ता में आरंभ से ही व्यस्त रहता है। इतने पर भी अस्वाभाविक हानिकर विदेशी पद्धति के शिकंजे में कसकर परीक्षा के यंत्र में उसका तेल निकाला जाता है, हज़ारों विद्यार्थियों की घानी में दस पाँच इत्र और रूह निकलते हैं। दस बारह बरस के कठिन परिश्रम से विद्यार्थी एक पराई भाषा में इतनी योग्यता कर लेता है कि विदेशी परीक्षकों की ही भाषा में उनके प्रश्नों के उत्तर देकर उन्हें संतुष्ट कर देता है। यह थोड़ी बात नहीं है। लंदन विश्वविद्यालय के अंग्रेज विद्यार्थियों की कल्पना कीजिये कि लंदन के कालिज में हिन्दुस्थानी अध्यापक उन्हें हिन्दी में ज्ञानविज्ञान की शिक्षा दें, प्रश्नोत्तर, व्याख्या आदि हिन्दी में हों, उन्हें ५-६ वर्ष की अवस्था से हिन्दी और नागरी पढ़ायी जाय और ऊँचे से ऊँचे दरजों की परीक्षा हिन्दी में ही हो, यहाँ तक कि अंग्रेज़ी साहित्य की तथा ग्रीक, लैटिन आदि की परीक्षाएँ हिंदी द्वारा हों, और शुद्ध हिन्दी बोलने और समझने के अभ्यास की परीक्षा भी अनिवार्य्य रखी जाय, तब कहीं हमारी बुद्धि अस्वाभाविक दशा का अनुमान कर सकेगी। लेखक ने अंग्रेज शिक्षकों से जब इस कल्पना को लेकर प्रश्न किये हैं तब उन्हों ने भी इस अत्यन्त अस्वाभाविक पद्धति की हानिकर अवस्था को स्वीकार किया है। दो एक ने स्पष्ट कहा कि ऐसी दशा का स्वप्न भी अंग्रेज़ बालक के लिए अत्यन्त भयंकर होगा। जब यह कल्पना अंग्रेज़ बालक के लिए भयानक है, तो अधमरे भारतीय बालकों की कैसी शोचनीय दशा होगी इसका अनुमान वे कर सकते हैं। हम तो प्रत्यक्ष देखते हैं कि जीवन भर परिश्रम करके हम अंग्रेज़ी लिखते वा बोलते हैं,—और अनेक अंग्रेज़ों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और सुन्दर, तो भी हमारी मातृभाषा न होने से हमारी अंग्रेज़ी की क़द्र कुछ भी नहीं। प्रतिवर्ष अनेक तो परीक्षाओं में अपनी दुर्बल अंग्रेज़ी की बलि होते ही रहते हैं; परन्तु जो उत्तीर्ण भी होते हैं, जिस विद्या को अंग्रेज़ी द्वारा पढ़ते हैं उसका वास्तविक मर्म हृदयंगम नहीं कर सकते। फल यह होता है कि जिस समय मौलिक विचारों की जागृति चाहिए उसी समय विदेशी भाषा के

मर्म की अनभिज्ञता से विचारशून्यता, छात्रावस्था में अस्वाभाविक और कठिन परीक्षाओं के कारण बलहीनता और जीविका तथा कुटुंबपालनादि की चिन्ता उन्हें अपने तिहरे बोझ के नीचे दबा लेती है, उत्साह के प्राण निकल जाते हैं, और छाप और उपाधिधारी विद्या से सँवारी निष्प्राण मूर्ति रह जाती है।

जीविका की चिन्ता से आकुलता न होती यदि अर्थकरी विद्या की शिक्षा दी जाती। यह कोई नया प्रश्न नहीं है। मुद्दत से हमारे देशभक्त नेता इसके लिए चिल्लाते आये हैं। परन्तु उनकी बात अत्यन्त कम सुनी गयी। सरकार यह कभी नहीं चाहती कि भारतीय जनता जीविका से तंग रहे; परंतु न तो वह यह चाहती है कि विलायती लोगों के रोज़गार में कभी घाटा पड़े। परन्तु हमारी शिक्षा के सूत्रधार न हमारे यहाँ की रीतियों से अभिज्ञ हैं और न सामाजिक कारणों से वे हमारी रीतियों पर चल ही सकते हैं। यहाँ का वर्णाश्रम धर्म्म ऐसी स्वाभाविक, पूर्ण और वैज्ञानिक संस्था था कि उससे यहाँ के सारे प्रश्न सरल थे, जीविका की कठिनाई सता न सकती थी। प्राचीन काल में शक, मग, तुरुष्क, यवन, हूण आदि विदेशी जातियाँ यहाँ आकर बसीं और उन्हों ने तुरंत यहाँ के वर्णाश्रम-धर्म से अपने को अनुकूल बना लिया। मुसलमानों ने अपनी नीति और रीति यहाँ के अनुकूल न रख कर वर्णाश्रम-धर्म्म की अवहेलना की और राजाप्रजा की स्वभावसिद्ध अनुकूलता ने इस संस्था को अस्तव्यस्त कर दिया। अंग्रेज़ी सरकार ने तो अपने को सदा से विदेशी सरकार बना रखा है। अंग्रेज़ों का यहाँ के आदर्श के अनुकूल चलना ही असंभव था। शिक्षापद्धति में इसीलिये अर्थकारी विद्या का समावेश न हो सका। अर्थचिन्ता जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं का फल है। इसकी अवहेलना करके तो कोई मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिये वर्तमान पद्धति से पढ़े सभी वर्णाश्रम के लोग क्लार्की आदि नौकरी और वकालत, डाक्टरी, इंजिनियरी आदि पेशे करना चाहते हैं। परन्तु समाज को इन अंगों की आवश्यकता परिमित ही है; इसी से जितनी नौकरियाँ नहीं उतने उनके उम्मीदवार हैं, जितने मुवक्किल नहीं उतने वकील हैं, जितने रोगी नहीं उतने डाक्टर हैं, और जितना कारबार नहीं उतने इंजिनियर हैं। थोड़े-पढ़े-लिखे दर दर मारे मारे फिरते हैं। समाज की इस निकम्मी दशा के लिये हिन्दू आदर्श के अनुकूल राजा ही दोषी होता है; क्योंकि समाज का नेता भी वही समझा जाता है। परंतु जब शासक स्वयं समाज का नेता नहीं है, समाज की दशा बिगड़नाही चाहिये। इसमें खोट उस परिस्थिति की ही है जिसने अपने आदर्श को खो दिया और अपने नियमों को अंग भंग कर डाला।

वर्तमान पद्धति को अंग्रेज़ी सरकार भी आदर्श रूप और नितान्त दोषविहीन समझती हो यह बात नहीं है। शिक्षा के सम्बन्ध में कमीशन पर कमीशन बैठते हैं, सुधार पर सुधार प्रस्तावित किये जाते हैं; पर सफलता नहीं होती। कमीशन वाले दो एक को छोड़ सभी ताज़े—डाल के टूटे—साहब लोग होते हैं। उनके साथ जो भारतीय सदस्य दैव-दुर्विपाक से बैठाये जाते हैं वे विदेशियों को अपने आदर्श पर लाना तो दूर रहा उनके विचारकोण को बदलने में ही अपना सारा बल खो देते हैं। अन्ततः यदि अपना मत-भेद भी प्रकट करते हैं तो उस संस्था के प्रस्तुत विषय पर ही यह संभव है। रचनात्मक काम तो उनके हाथों में रहता है जो हमारे मसाले से एकदम अनभिज्ञ हैं, जो घूम फिर कर अपने ही आदर्श पर रचना करते हैं। सैडलर कमीशन ने कई वर्ष परिश्रम करके, बहुतसा रुपया लगाकर, दर्जनों जिल्दों में रिपोर्ट लिखी, फिर भी उसमें आदर्श का पता नहीं जिसके अनुसार चलकर देश में शिक्षा की दशा सुधरे और साथही हमारी आवश्यकताएँ भी पूरी हों। हम अवसरानुसार इस कमीशन के प्रस्तावों पर भी विचार करेंगे।

मध्यप्रदेश में हिन्दी।

(लेखक — राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए.)

एक तरह से मध्यप्रदेश ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ के कुछ निवासियों की मातृ-भाषा मरहटी होने पर भी वे हिन्दी भली भाँति लिख, पढ़ और समझ सकते हैं, यहाँ तक कि छुटपन से ही जब वे मरहटी बोलना सीखते हैं, तो साथ ही हिन्दी भी सीखते जाते हैं। सागर, दमोह आदि हिन्दी-प्रधान जिलों में महा-

राष्ट्रों की अच्छी संख्या है। ये लोग जैसी हिन्दी जानते हैं कदाचित् वैसी मरहटी भी नहीं जानते। छत्तीसगढ़ निवासी घर में चाहे छत्तीसगढ़ी बोलें; पर शिक्षित समाज में हिन्दी ही बोलते हैं। उस प्रान्त में कई अच्छे २ कवि हो गये हैं जिन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे हैं। नागपुर कमिश्नरी के कतिपय जिलों में मरहटी का बड़ा ज़ोर है; पर वहाँ के महाराष्ट्र भी हिन्दी समझते और टूटीफूटी बोल भी लेते हैं। बालाघाट है तो नागपुर कमिश्नरी में; पर भाषा की दृष्टि से हिन्दी-प्रधान जिला कहा जा सकता है। हमारे मुसलमान भ्रातृ-गण भी, दो चार बड़े २ नगरों को छोड़, शेष प्रान्त में, हिन्दी वा मरहटी को ही अपनी मातृ-भाषा स्वीकार किये बैठें हैं और हिन्दी स्कूलों में ही शिक्षा पा रहे हैं। हाँ, बड़े २ नगरों में जहाँ यू. पी. से आये हुए मुसलमान अधिक हैं उर्दू के कुछ स्कूल पाये जाते हैं; पर इनमें से भी अधिकांश जो सरकारी नौकर हैं, या सरकारी नौकरी करना चाहते हैं हिन्दी पढ़ना लिखना सीख ही लेते हैं। एक बार मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चीफ़ कमिश्नर माननीय सर रेजिनाल्ड क्रैडॉक (हाल में बरमा के छोटे लाट) ने अपनी एक वक्तृता में जो कहा था कि "इस प्रान्त के १०० निवासियों में से ९७½ हिन्दी वा मरहटी में शिक्षा पाये हुए हैं, केवल २½-उर्दू प्रेमी है"। यह कथन अब भी ठीक है। उन अढ़ाई निवासियों में से भी कदाचित् दो ऐसे होंगे जो नागराक्षर लिख वा पढ़ सकते होंगे। ऐसी दशा में यदि यह कहा जाय कि मध्यप्रदेश में हिन्दी जानने वाले प्रायः सभी हैं और यहाँ युक्त प्रांत आदि प्रान्तों के समान हिन्दी-उर्दू का प्रश्न नहीं है, तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी।

यही कारण है कि युक्त प्रांत के समान हिन्दी प्रचार का आन्दोलन इस प्रान्त में नहीं है। इस का मतलब यह नहीं कि यहाँ के निवासी हिन्दी-प्रेमी नहीं हैं। जबलपुर में सप्तम-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन होने के अवसर पर हिन्दी और मरहटी बोलनेवाले दोनों प्रकार के प्रान्त-निवासियों ने जैसा अपूर्व्व उत्साह प्रकट किया और उस अधिवेशन की पूर्ण सफलता के लिये जिस प्रकार जी तोड़कर उद्योग किया था उसे देख अन्य प्रान्तों के हिन्दी-प्रेमी बहुत सन्तुष्ट हुए थे, और ऐसा मालूम पड़ता था कि मध्य-प्रदेश मातृ-भाषा की सेवा में सब कुछ न्यौछावर करने को तय्यार है। स्मरण रहे कि कुछही महीनों पूर्व्व इस बात का निश्चय किया गया था कि सप्तम-अधिवेशन जबलपुर में किया जाय। निश्चय होते ही संगठन-कर्त्ताओं के पास स्थान २ से सहानुभूति-सूचक पत्र पहुँचने लगे और कार्य्य-कारिणी समितियाँ स्थापित हो चन्दा एकत्र करने का कार्य्य करने लगीं। पं. माधवरावजी सप्रे ने उसी समय एकान्त-वास त्याग इस लेख के लेखक के पास आकर सम्मेलन के कार्य्य में पूर्ण योग देने की इच्छा प्रकट की और एक बार लेखक के साथ तथा फिर अकेले नागपुर और छत्तीसगढ़ कमिश्नरियों में अच्छा प्रचार किया। स्मरण रहे कि सप्रे महोदय की मातृ-भाषा मरहटी है; पर आपके हृदय में हिन्दी का आदर उससे कुछ कम नहीं है और आपका जीवन उसीकी सेवा में व्यतीत होते दीखता है। सम्मेलन की स्वागत-कारिणी तथा प्रबन्ध-कारिणी समितियों में महाराष्ट्र-कार्य्यकर्त्ताओं की संख्या कुछ कम न थी। इसीसे हम कहते हैं कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संचालक-गण यदि इस उठी हुई लहर का उपयोग करते, तो यह प्रान्त हिन्दी-प्रचार का केन्द्र बन सकता था; पर कई कारणों से और विशेष कर

समाचारपत्रों में तीव्र समालोचना निकलने से इस उठी हुई तरंग का लय हो गया और अब यह दशा है कि साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशनों में मध्यप्रदेश से गये हुए प्रतिनिधि बहुतही थोड़े दीख पड़ते हैं†। इसका मतलब यह नहीं कि सप्तम-साहित्य-सम्मेलन के समय का कार्य्य व्यर्थ ही गया। उसी कार्य्य का यह फल है कि प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन की जड़ यहाँ जम गई है।

इस प्रान्त में बहुत पुराने समय से हिन्दी-साहित्य के प्रेमी रहे हैं और यहाँ कई अच्छे २ कवि हो गये हैं जिनके नाम और ग्रन्थ धीरे २ प्रकट होते जाते हैं। पं० लोचनप्रसाद जी पाण्डेय ने छत्तीसगढ़ के कई कवियों के नाम और ग्रन्थ, उनका काल-निरूपण तथा कविता के दृष्टान्त "हितकारिणी" के कई अंकों में, समय समय पर, प्रकाशित किये हैं। क्या ही अच्छा हो कि प्रान्तीय सम्मेलन एक ऐसी समिति स्थापित करे जो ऐसे २ पुराने ग्रन्थों को खोज कर उन्हें प्रकाशित करे और पाण्डेय जी सदृश योग्य साहित्य-प्रेमियों द्वारा उनका सम्पादन करावे। इस प्रकार की ग्रन्थ-माला निकालने से मातृ-भाषा का भंडार वस्तुतः भरेगा। इन छत्तीसगढ़ी कवियों के अतिरिक्त पद्माकर सदृश कवियों का सम्बन्ध भी तो इस प्रान्त से रहा है और "सनेहसागर" नामक काव्य-ग्रन्थ जो हाल ही में काशी से प्रकाशित हुआ है और जिसके रचयिता बख्शी हंसराज युक्तप्रांत के कवियों में माने गये हैं वह वास्तव में गढ़ा नामक प्राचीन नगर में जो जबलपुर से दो मील की दूरी पर है लिखा गया था। उसी समय मेरे मातामह पं० बृजलाल जी मिश्र ने उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास रख ली थी जिसे मैं छुटपन से ही बड़े प्रेम से पढ़ा करता था। यह ग्रन्थ मेरे पास २५ वर्ष पहिले तक बराबर था; पर जब मैं उस गढ़ा के घर में छोड़ कर जबलपुर आगया, तो वर्षाकाल में, पानी टपकने से, वह मेरा प्रिय ग्रन्थ गलकर निरा मृत्तिकापिंड बनगया जिससे मुझे विशेष खेद हुआ और है। पर, इसमें सन्देह नहीं कि गढ़ा के कायस्थ क़ानूनगो-वंश से बख्शी जी का सघन सम्बन्ध था और आप वर्षों यहाँ रहते और ग्रंथ तथा स्फुट कविता लिखा करते थे। आपकी जन्मभूमि कदाचित् पन्ना थी; पर आप यहाँ के निवासी हो गये थे और उपर्युक्त ग्रंथ भी आपने यहीं लिखा था। यह बात मैंने अपने पूज्य मातामह जी के मुँह से कई बार सुनी थी। मिश्रजी भी कविता-प्रेमी थे; अतएव बख्शी जी के साथ आपकी घनिष्ठता थी। मिश्रजी-कृत हस्तलिखित "प्रेमसागर" मेरे पास रक्खा है। इसमें दुर्गा सप्तशती के आधार पर कविता की गई है; पर उसके प्रथम छः तरंग जिनमें कैलास-वर्णन है मिश्रजी की कल्पनाशक्ति के दृष्टान्त हैं। इसी तरह गढ़ा के सरयूपारीण ब्राह्मण बड़गैयाँ जी जिनका पूरा नाम मुझे मालूम नहीं है एक बृहत् काव्य "जालंधरी" के रचयिता थे और केशवदास की "रामचंद्रिका" के

† इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और मध्यप्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन की तिथियाँ एक ही रक्खी जाती हैं। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य्य-कर्ताओं को उचित और अत्यंत आवश्यक है कि वे जिस प्रकार मुहर्रम की छुट्टी में अधिवेशन करते थे उसी प्रकार अब भी करें, अन्यथा मध्यप्रदेश के हिंदी-प्रेमियों की सहायता से वंचित होकर सम्मेलन पूर्ण सफलता नहीं पा सकता। स्थानीय समिति को उचित है कि वह प्रांतीय सम्मेलनों के साथ मिल-जुल-कर काम करे। श्रीशा० सम्पा०।

समान उसमें न जानें कितने स्व-रचित छन्दों का संकलन था। कविता अत्यन्त रोचक एवं भावपूर्ण थी। मैं छुटपन में स्कूली पुस्तकें न पढ़ कर इन्हीं हस्तलिखित पुस्तकों को पढ़ना था। मेरे पाठ्य ग्रंथ तो सिंह-त्रिलोक-कृत "हिन्दी राजनीति" और कोषग्रंथ "नाममंजरी" तथा "अनेकार्थ" थे। इन तीनों को कंठ कर मैंने दुर्गाकवच और महिम्नस्तोत्र तथा ४० तक दुनिया अपने मातामह से पढ़ी थी। इनके सिवा, अवकाश मिलने पर, मैं वर्शी हंसराज-कृत "सनेहसागर", बड़गयाँजी-कृत "जालंधरी", तुलसीकृत "लंकाकांड" और काशिराज के प्रबन्ध से प्रकाशित "महाभारत" पढ़ा करता था। मैं छुटपन में एक पद्यमय ग्रंथ एक दूसरे कायस्थ महाशय के घर में देखा करता था जो कदाचित् रानी दुर्गावती के प्रसिद्ध मंत्री अधार बाबू के वंशज थे। मैं अधार बाबू की विचित्र कहानियाँ सुना करता था। जबलपुर का अधारताल जो कटरे के पास है इन्हीं अधार बाबू का स्मारक है। इन्हीं के वंशज बाबू मनराखनलाल के यहाँ वह ग्रंथ था और गढ़ा मंडले के गोंड राजाओं का पद्यात्मक इतिहास था। कदाचित् उसकी एक प्रतिलिपि राय बहादुर हीरा लाल साहिब के पास है और "जबलपुर-ज्योति" में उससे सहायता की गई है। लिखने का तात्पर्य यह है कि पुराने समय से ही मध्यप्रदेश में भी हिन्दी-साहित्य की अच्छी चर्चा रही है और यहाँ कविगण भी अच्छे २ हो गये हैं जिनकी रचनाएँ इधर उधर पड़ी फिरती हैं और आश्चर्य्य ही क्या कि उनमें से अनेक नष्ट हो गई हों। हिन्दी-प्रेमियों का यह कर्तव्य है कि वे, काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के समान, इन पुस्तकों का पता लगावें और जो अच्छी दिखें उन्हें प्रकाशित करावें।

हिन्दी के प्रचार का एक अच्छा मार्ग स्कूलों की शिक्षा है। यदि स्कूलों के शिक्षक चाहें तो अपने विद्यार्थियों को रुचि हिन्दी की ओर लगा सकते हैं; पर खेद की बात है कि ऐसा नहीं हो रहा है। प्राइमरी स्कूलों में बहुतेरे शिक्षक शुद्ध हिन्दी में एक चिट्ठी तक नहीं लिख सकते। हमने देखा है कि उनके अफ़सर भी अपने आज्ञापत्र विचित्र भाषा में लिखा करते हैं, जिसका अनुकरण शिक्षक भी करते हैं। खेद की बात है कि विद्यार्थियों के अभिभावक भी, हिन्दी के महत्व को इतना नहीं समझते। पाठशालाओं में न तो भाषा—रचना ही ठीक तौर से सिखाई जाती है और न उच्च कक्षाओं में साहित्य के लालित्य या सौन्दर्य का ज्ञान ही कराया जाता है जिससे ग्रंथावलोकन में विद्यार्थियों की अभिरुचि हो सके। थोड़ा सा शब्दार्थ, व्याकरण-सम्बन्धी व्याख्या एवं शुद्ध लेखन में ही हिन्दी-पाठ की इतिश्री समझ ली जाती है। शिक्षा—क्रम में यद्यपि रचना आवश्यक विषय है, तथापि उसका अभ्यास नाममात्र को ही किया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि मेट्रिक्युलेशन कक्षा के विद्यार्थी भी साम-यिक पत्र-पत्रिकाओं की भाषा समझने में असमर्थ होते हैं, और यदि लिखने बैठते हैं, तो एक छोटा सा निबन्ध या पत्र तक संतोषदायक रीति से नहीं लिख सकते।

हमारे प्रान्त की पाठ्य-पुस्तकें आगे की अपेक्षा अब अच्छी बन गई हैं। आगे की पुस्तकें एक दूसरे ही उद्देश्य से लिखी या लिखवाई गई थीं जिससे उनमें मनोरंजक पाठ कम थे; पर अब जो ग्रंथमाला बनी है वह विद्यार्थियों को रुचि—

कर मालूम होती है। इस माला की आरम्भिक पुस्तकें शिक्षा-शास्त्र के नियमों के अनुसार बनाई गई हैं जिससे बालक-बालिकाओं को लिखने पढ़ने मात्र का अभ्यास करना पड़े और भावों की कठिनता में वे न उलझें। दूसरी पुस्तक तक इसी विचार से लिखी गई हैं, शेष दो पुस्तकें क्रमशः कठिन की गई हैं, सो भी इतनी कि ९-१० वर्ष के बालकों को पाठ का विषय समझने में विशेष कठिनाई न पड़े। इनके आगे जो दो पुस्तकें बनाई गई हैं उनमें साहित्य का विशेष ध्यान रक्खा गया है, और प्रत्येक पाठ प्रसिद्ध लेखकों के लेखों वा लेखांशों का अवतरण है।

लोगों ने इन पाठ्य पुस्तकों की भी कड़ी समालोचना की है और कहने वाले अब भी मनमाना कहा करते हैं; पर मैं तो यही समझता हूं कि यदि इन पुस्तकों का ठीक उपयोग किया जाय तो इनके द्वारा विद्यार्थी भाषा बहुत कुछ सीख सकते और अच्छे शिक्षक उनकी रुचि साहित्य की ओर झुका सकते हैं।

हर्ष की बात है कि मध्यप्रदेश में अब सामयिक पत्र और पत्रिकाएँ निकल रही हैं। थोड़े समय से हमारे प्रान्त से 'संकल्प' और 'कर्म्मवीर' नामक दो हिंदी साप्ताहिक पत्र निकलने लगे हैं और मासिक पत्रिकाओं की संख्या बढ़ रही है। सागर के देवरी स्थान से और नरसिंहपुर से भी ग्रंथमालाएँ निकल रही हैं और उनमें कई अच्छे २ ग्रंथ निकल चुके हैं। वैसे तो ऐसे पत्र जितने निकलें उतना ही अच्छा है; परंतु यह तभी होना चाहिये जब हाल में निकलने वालों की पूर्ण उन्नति हो चुके और उनकी ग्राहकसंख्या यथेष्ट हो जाय। दो दिन की झलक दिखा कर विलीन हो जानेवाले पत्रों का तो न निकलना ही अच्छा। हमें इस बात से भी हर्ष है कि जबलपुर से भी दो पुस्तक-मालाएँ निकलने वाली हैं।

पुस्तकालय भी जहाँ तहाँ खुलते जाते हैं जिन में जबलपुर का शारदाभवन-पुस्तकालय अच्छी सुव्यवस्थित दशामें है और कई मुहल्लों में शाखा-वाचनालय खोलकर हिन्दी की सेवा अच्छी तरह कर रहा है। श्रीयुत बाबू गोविन्ददासजी का आश्रय पाकर वह दिनोंदिन उन्नति करता आ रहा है। उसका वार्षिकोत्सव हिन्दी-साहित्य की ओर लोगों का चित्त आकर्षित करने के लिये एक उत्तम साधन है; क्योंकि उसके लिये कोई न कोई प्रसिद्ध साहित्य-सेवी अथवा विद्वान् हिन्दी-प्रेमी बाहर से आमंत्रित किया जाता है और नगर तथा बाहर के कई विद्वानों के व्याख्यान दिलाये जाते हैं। उसी समय हिन्दी संगीत और नाटक-अभिनय द्वारा, मनोरंजन के साथ २, प्रचार का कार्य्य भी होता है। इसी एक संस्था का प्रभाव है कि नरसिंहपुर, गाडरवारा आदि स्थानों में भी ऐसेही पुस्तकालय खोले गये हैं और प्रतिवर्ष उन के वार्षिकोत्सव होते और उनमें व्याख्यानादि का प्रबन्ध किया जाता है।

हर्ष की बात है, इस प्रांत में एक दो नाटक-मण्डलियाँ भी स्थापित हो चुकी हैं जिनका उद्देश्य हिंदी के नाटक खेलने का है। उर्दू के नाटक देखते देखते हिन्दी जनता की रुचि हिन्दी नाटकों की ओर से हट गई है, और इसलिये हिंदी के नाटक का अभिनय करना हिंदी के प्रचार में सहायता पहुँचाना है।

सप्तम-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के समय ही इस प्रान्त के कई प्रमुख हिंदी-प्रेमियों ने इस विषय की चर्चा उठा दी थी कि इस प्रांत में ऐसे आडम्बर-पूर्ण प्रचार की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी सच्चे उपयोगी कार्य्य करने की है; इसलिये इस प्रान्त में प्रान्तीय सम्मेलन करके यह कार्य्य किया जाना चाहिये। भाषा की त्रुटियों पर विचार करना, प्रान्तीय-हिन्दी-लेखकों द्वारा उपयोगी ग्रंथ लिखवाना और साहित्य के अपूर्ण भागों की पूर्त्ति कराना, सर्वसाधारण में हिन्दी साहित्य का प्रेम बढ़ाना आदि कार्य्य इस सम्मेलन द्वारा किये जाना चाहिये। कई संस्थाओं के समान वर्ष में तीन दिन का कुंभ-मेला लगाकर शेष ३६२ दिन कुछ कार्य्य न करना इस प्रांतीय-सम्मेलन का आदर्श कदापि न होना चाहिये, बल्कि उसके द्वारा ऐसी संस्थाएँ स्थापित की जाँय जो बराबर वर्ष भर कार्य्य करती रहें और ग्रंथ-रचयिताओं को वास्तव में उत्साहित करती रहें। यह बहुतही अच्छा विचार था, पर खेद है कि अभीतक वह कार्य्य रूप में नहीं आया है। हाँ, प्रान्तीय-साहित्य-सम्मेलन तो होने लगा है; पर उसी पुराने ढर्रे पर जिससे "चार दिनों की चाँदनी फिर अंधेरा पाख" की कहावत चरितार्थ होती है। दो तीन दिवस "पर-सिखवन" में अपनी कुशलता दर्शाकर हम घर बैठ रहते हैं। दो तीन अधिवेशन तो हो गये; पर हमें अभीतक यह ज्ञात नहीं हुआ कि इस प्रान्तीय संस्था का कार्य्यालय कहाँ है और कौन २ से सज्जन उसके कार्य्यकर्ता हैं। हमें पूर्ण आशा है कि जिस संस्था का सम्बन्ध रा. ब. पंडित विष्णुदत्त शुक्ल, साहित्यसेवी पं. माधवराव सप्रे, पं. रविशंकर शुक्ल, पं. चन्द्रगोपाल मिश्र प्रभृति कार्य्य-कुशल प्रमुख विद्वानों से है उसका संगठन शीघ्र ही उत्तम रीति से होगा और उपर्य्युक्त ध्येयों के अनुसार वह शीघ्र ही कार्य्यक्षेत्र में अवतीर्ण होगा।

अब हमें प्रचार के साधनों की कमी नहीं है। दो साप्ताहिक पत्र हमारे प्रान्त से प्रकाशित होने लगे हैं। हमें आशा है कि हमारे हिन्दी-प्रेमी भ्राता इन पत्रों में हमारे प्रस्तावों पर अपने विचार अवश्य ही प्रकट करेंगे। अब संगठन शीघ्र ही होना चाहिये।

श्रीशारदाभवानी।

(लेखक—अध्यापक लाला भगवानदीन)

(१)

जय ब्रह्मचित-भृता जय जयति ब्रह्म-बानी।
जय ब्रह्मचारिणी जय जय ब्रह्मज्ञानखानी।
जय ब्रह्मवादिनी जय जय तीनलोकरानी।
जय शुद्ध-बुद्धि अम्बे श्रीशारदाभवानी।

(२)

जय चार हाथ वारी द्वै हाथ बीण सोहै।
सोहै सुराग जाकी त्रैलोक-चित्त मोहै।
कर तीसरे सु-माला है वेद तुर्य पानी।
जय शुद्ध-बुद्धि अम्बे श्रीशारदाभवानी।

(३)

तव पाद-पद्म ध्यायें मूढ़ौ सुकवि कहाये।
† भूषण, भिखारि, बोधा, ठाकुर, रसिक, गनाये।
जय हंसवाहनी जय जय मुक्ति की निशानी।
जय शुद्ध-बुद्धि अम्बे श्रीशारदाभवानी।

† कहते हैं कि भूषण, भिखारीदास, बोधा, ठाकुर और रसिकबिहारी पहिले बड़े मूर्ख थे। सरस्वती की उपासना करने से वे प्रसिद्ध कवि हो गये।

(४)

सारे त्रिलोकवासी तुझ बिन रहैं अधूरे।
तव चक्षु-कोर पाये ह्वैजात ज्ञान-पूरे ।
जय जय त्रिलोक-ख्याता वागेश्वरी प्रमानी।
जय शुद्ध-बुद्धि अम्बे श्रीशारदाभवानी।

(५)

केशव-प्रिया बनी है तू श्री-स्वरूप-धारी।
वाणी-स्वरूप धर कर विधि की बनी पियारी।
दुर्गा प्रभा दिखावै तव संग ते ममानी।
जय त्रै स्वरूप धारी श्री शारदा भवानी।

(६)*

का सर्व जीव चाहैं ? काको कवीन्द्र ध्यावैं ?
अर्द्धांग धारि काको शंकर सुशोभ पावैं ?
क्षण मात्र में करै को कवि 'दीन' को सुज्ञानी ?
उत्तर सुनो सुपाठक ! श्री, शारदा, भवानी।

(७)*

को तीन लोक पालैं ? को विज्ञ तौल पावैं ?
को ज्ञानवान ही की बाँकी छटा दिखावै ?
को शारदाभवन में राजै सुजोति-खानी ?
उत्तर सुनो सुपाठक ! श्रीशा[1] रदाभ[2] वानी।

(८)

कवि 'दीन' हाथ जोरे ठाढ़ो दुवार तेरे।
होवें कवित्त मेरे सब रागरंग बोरे।
चित धारि या सुइच्छा तव कीर्ति या बखानी।
जय शुद्ध-बुद्धि अम्बे श्री शारदा भवानी।

---

*छंद संख्या ६ और ७ में ग्रस्तसमस्तोत्तर अलंकार द्वारा अर्थ समझना चाहिये।

१—श्रीशा=श्रीश (विष्णु)। २—रदाभ=(रद+आभ) दाँत की चमक।

जीवन-संग्राम किसे कहते हैं?

(लेखक—अध्यापक लज्जाशंकर झा, बी०ए०)

जिन लोगों को इस संसार में अपना समय सुख से व्यतीत करना हो अथवा जिन्हें इस बात की चिन्ता हो कि उनकी संतति को भी इस संसार में रहने के लिये उचित स्थान मिले उन्हें जीवन-संग्राम के नियमों का अध्ययन बारीकी से करना चाहिये और उनमें जो उपदेश मिलें उन्हें रात-दिन ध्यान में रखना चाहिये। यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान डार्विन साहब ने अपनी एक पुस्तक में इसके अनेक नियमों को समझाया है और यह सिद्ध किया है कि जीवन-संग्राम में वही मनुष्य सफल हो सकते हैं जो योग्य अथवा सक्षम हैं, और अक्षम जीव धीरे धीरे अधोगति को प्राप्त होकर अन्त में नष्ट हो जाते हैं।

यूरोप के गत भयंकर युद्ध में लाखों मनुष्यों के प्राण गये और लाखों घायल हुए, अरबों रुपये स्वाहा हो गये और यह सब हुआ किस देश में? वहीं जहाँ ईसाई धर्मावलम्बी रहते हैं, जिनके गुरु हज़रत ईसा मसीह का यह उपदेश था कि यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो तुरन्त अपना दूसरा गाल उसकी तरफ कर दो, अर्थात् उससे यह कहो कि बाबा, यदि एक थप्पड़ से तुम्हारी तबियत न भरे, तो लो, दूसरा थप्पड़ लगा लो। महात्मा ईसा मसीह के तो उपदेश ऐसे थे और उनके अनुयायी सवा चार वर्ष तक एक दूसरे के सिर काटने में सोते जागते लगे रहे!! तो क्या उनमें अधार्मिकता और दुष्टता की कुछ

विशेष मात्रा थी ? नहीं, क्योंकि वे अच्छी तरह समझते थे कि इस दुनियाँ में जीवन-संग्राम चला है, उसमें जो पीछे पड़ जावेगा उसकी खैर नहीं-जो हारेगा वह समूल नष्ट होगा। इस युद्ध में जर्मन, आस्ट्रियन और तुर्कों की हार हुई है। अब क्या उनको कोई दो कौड़ी के लिये भी पूछेगा ? उनका राज्य बंट गया, उनकी नई बस्तियाँ छीन ली गईं, उनकी फ़ौज कम कर दी गई, जहाज़ छुड़ा लिये गये, उन्हें अन्य देशों में व्यापार करने के सुभीते न रहे और उनपर इतना भारी जुमाना लगाया गया है कि उसे चुकाते चुकाते कई पुश्त बीत जावेंगी और उन देशों की प्रजा पर कर इतना बढ़ जावेगा कि देशोन्नति के लिये वह एक पैसा भी न दे सकेगी। जो पैसा उसमें खर्च होता वह जुमाना चुकाने में जावेगा। माना कि यह सब उनके किये का फल है और उन्हें सज़ा भुगतनी चाहिये। इस लेख का अभिप्राय यह नहीं है कि इस युद्ध में लड़नेवालों में से किसी के पक्ष में और किसी के विपक्ष में कुछ लिखा जावे। यह काम राजनीतिज्ञ लेखकों का है। यहाँ तो मुझे केवल यह बतलाना है कि जीवन-संग्राम में हार जानेवालों की क्या दशा होती है। इस दुनियाँ के भिन्न भिन्न देशों के इतिहासों को देखने से यही मालूम होता है कि जिसने हार खाई वह फिर बड़ी कठिनाई से पनपता है—बहुधा पनपता ही नहीं, और एक बार पीछे पड़ने पर वह प्रतिदिन पीछे पड़ता जाता है। हारनेवाले पर दया करने वाला अथवा उसकी सहायता करने वाला नहीं मिलता। 'देवोऽपि दुर्बल-घातकः'—देवता भी दुर्बलों के ही घातक होते हैं, सामर्थ्यवानों के नहीं। बलिदान चढ़ाने के लिये बेचारे बकरे की गर्दन काटी जाती है, सिंह को मार कर कोई बलिदान नहीं चढ़ाता।

इस दुनियाँ का जितना इतिहास मिलता है उससे यही देखने में आता है कि भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर संग्राम होता आया है और जिस जाति में क्षमता अधिक है उसने दूसरी कमज़ोर जातियों को धर दबाया। इसी देश में आर्य जातियों ने अनार्यों को हरा कर उनका धन, देश, स्त्री, भूमि आदि छुड़ा लिये और उन्हें या तो मारकाट कर नष्ट ही कर दिया, अथवा अपने पास रहने भी दिया तो नीच बना कर। उनके लिये केवल सेवा-धर्म रखा, उन्हें विद्या का अधिकारी न बनने दिया, उनका सब प्रकार से अनादर किया, यहाँ तक कि उनको अस्पृश्य बना दिया। अनार्य लोग जीवन-संग्राम में अयोग्य निकले, इस कारण उन्हें सब कुछ सहना पड़ा। समय का चक्र बड़ा प्रबल होता है। एक समय ऐसा आया कि आर्य जाति भी जीवन-संग्राम में अयोग्य ठहरी और मुसलमानों ने उसे धर दबाया। जो लोग अनार्यों को नीच समझते थे वे ही हिन्दू काफ़िर गुलाम समझे जाने लगे और अनार्यों की तरह इन्हें भी नाकों चने बीनने पड़े। इसी तरह ईरानियों को अरबियों ने गिराया, अरबियों को तुर्कों ने और अब तुर्कों को युरोपवासियों ने। एक समय वह था जब यूनान वालों ने ईरान के बादशाह दारा और ज़र्कसीज़ से, शेरों की तरह लड़ कर उन्हें पछाड़ा। फिर वह समय आया जब रोमवालों ने यूनान को धर दबाया। पीछे रोम-वालों को डेन्यूब नदी पारवालों ने, अर्थात् आधुनिक जर्मनों ने लूटा और बरबाद किया।

आज जर्मन लोग भी पछाड़ खाकर अपना सा मुँह लिये खड़े हैं। उनका भविष्य अत्यन्त निराशाजनक दिखता है।

ये तो इतिहास के उदाहरण हैं; पर यदि बारीकी से देखा जावे तो मालूम होगा कि जीवन-संग्राम केवल मनुष्यों में नहीं, बल्कि अन्य जीवधारियों तथा वनस्पतियों में भी रातदिन हो रहा है। मनुष्यों में भी युद्ध के अतिरिक्त और कई प्रकार की प्रतिद्वंद्विता चली है। जीवन-संग्राम के भी अनेक रूप हैं और उन सबका अवलोकन करने से ही हम उचित रूप से उपदेश पा सकते हैं।

यदि कोई किसान किसी ज़मीन में गेहूँ बोना चाहता है तो बखर कर पहिले वह घास पात निकाल देता है; वह जानता है कि घास पात रहने से उसमें और गेहूँ में खींचातानी चलेगी और नतीजा यह होगा कि गेहूँ को उचित प्रमाण में खाद्य और पानी न मिलने पावेंगे। घास में गेहूँ की अपेक्षा सजीवता अधिक है और वह लड़ भिड़ कर ज़मीन में से अपने लिये भोजन और पानी निकाल लेगा और गेहूँ भूखा-प्यासा रह जावेगा। इसलिये गेहूँ किसान की बुद्धि की सहायता ले घास को बेदखल करा देता है; पर ज्योंही किसी कारण से गेहूँ को किसान की सहायता नहीं मिलती, त्योंही घास को अपने पैर बढ़ाने का मौक़ा मिल जाता है और उसके पुराने शत्रु गेहूँ पर आपत्ति आ जाती है। इसी तरह ज़बरदस्त पेड़ अपनी जड़ नीचे पहुंचा धरती में से खाद्य पानी ले लेते हैं और कमज़ोर पौधे मुँह ताकते रह जाते हैं और अन्त में मर मिटते हैं। यही कारण है कि पीपल, बबूल, इमली आदि ज़बरदस्त पेड़ों के पास छोटे पौधे बढ़ने नहीं पाते। जो ज़बरदस्त हैं उनके मन में कमज़ोरों के लिये थोड़ी भी दया नहीं। सब अपने पेट भरने की धुन में रहते हैं, दूसरे चाहे भूखे-प्यासे रहें अथवा मर जावें।

हाँ, यह अवश्य देखा जाता है कि मनुष्य की सहायता पाकर बगीचों आदि में सुकुमार पौधे भी चार दिन के लिये जगमगा जाते हैं। माली खाद्य का विशेष प्रबंध करता है, पानी देता है और खुरपी से अधिक सजीव पौधों को मार-काट और उखाड़ कर उनकी रक्षा करता है। परंतु उनका जीवन तभी तक है जब तक माली का आश्रय है। ज्यों ही माली ने निगरानी और सहायता बंद कर दी, त्योंही सजीव पौधे अपना प्रभाव जमाने लगते हैं और धीरे धीरे सुकुमार पौधों को बेदखल कर देते हैं।

ये तो वनस्पतियों के आपस के झगड़े हुए; परंतु उन्हें अन्य जीवों का भी साम्हना करना पड़ता है। बीज बोते ही गिलहरी, चूहे आदि उन्हें खाने के लिये आते और बहुत से खा भी जाते हैं। यदि उनसे बीज बच गया और अंकुर निकल आया, तो इल्लियाँ पत्तों पर लग कर उन्हें खा जाती हैं और पौधे को बढ़ने नहीं देतीं। फल लगने पर चिड़ियों का आक्रमण होता है। उस से बचने पर मनुष्य तोड़कर खा जाते हैं। ढोर पत्तों पर सदैव दृष्टि लगाये रहते हैं। इस तरह कोई न कोई, प्रत्येक वनस्पति की प्रत्येक अवस्था में, घात करने के लिये बैठा ही रहता है।

इसका कारण यही है कि वनस्पति-जाति निर्बल है, उसे दूसरों का भक्ष्य ही बनना पड़ता है। हाँ, एक दो प्रकार के पौधे ऐसे भी होते हैं जो कीड़े-मकोड़ों को पकड़ कर खाजाते हैं। पर उनके भी भाग्य में यही बदा है कि वे औरों के भक्ष्य बनें। जिस तरह कमज़ोर मनुष्य चालबाज़ी से बलवानों से अपना पिंड छुड़ाता है, उसी तरह पौधे भी किसी तरह से कभी कभी अपनी रक्षा कर लेते हैं। गुलाब, नींबू, नागफनी आदि काँटों की सहायता से ढोरों से बच जाते हैं। मेहदी, अकौवा आदि अपने कडुए रस के कारण बच जाते हैं। पर इन उपायों से कहाँ तक काम चल सकता है? पौधों में सजीवता-रूपी क्षमता न होती, तो वे न जानें कब के मर मिटे होते।

अब थोड़ा जीवधारियों की ओर देखिये। उनमें भी वही जीवन-संग्राम जारी दिखता है। वनस्पतियों की घात में यदि ढोर हैं, तो ढोरों की घात में मांसाहारी प्राणी और कभी कभी मनुष्य भी रहता है। बीज को खाकर चूहा वनस्पतियों को नष्ट करता है; पर बिल्ली चूहे की घात में रहती है। बिल्ली की ताक में कदाचित कुत्ता रहता है। कुत्ते का खून पीने के लिये पिस्सू आदि छोटे कीड़े उसके बालों में अपना घर बना लेते हैं।

मनुष्यों की भिन्न भिन्न जातियों में जो युद्ध हुआ करता है उसका उल्लेख ऊपर किया है। परंतु एकही देश के और एकही जाति के व्यक्तियों में जो परस्पर प्रतिद्वंद्वता होती है उसका उल्लेख करना भी आवश्यक है। एक चमार यदि पाँच रुपयों में एक जोड़ी जूता तैयार कर देता है, तो दूसरा उतने में ही उससे बढ़िया तैयार कर देता है। यदि एक तीन दिन में एक जोड़ा बना सकता है तो दूसरा दो दिन में ही तैयार करने की प्रतिज्ञा करता है। इस तरह की चढ़ा-ऊपरी से यह नतीजा निकलता है कि जो चमार काम करने में अथवा बुद्धि में कम है वह पिछड़ जाता है और उसे कम मज़दूरी लेकर संतोष करना पड़ता है। इतनाही नहीं, उसके पिछड़ जाने का असर बहुत दूर तक पहुँचता है। जो चमार कमज़ोर होने के कारण तीन दिन में एक जोड़ा तैयार कर सकता है, उसको प्रतिदिन की आमदनी १॥=)८ पाई हुई और दो दिन में तैयार करने वाला एक दिन में २॥) कमा लेगा। पहिले को खाने पीने के लिये और औषधि आदि के लिये कम पैसा मिलेगा और नये जोड़े बनाने के लिये मसाले आदि के लिये भी कम मिलेगा। दूसरा, अर्थात दो दिन में तैयार करने वाला, अच्छा खावेगा, अच्छा पहिनेगा, मसाले आदि में अधिक खर्च कर नये जोड़े को अधिक दाम पर बेच सकेगा, यदि वह स्वयं बीमार हुआ अथवा उसके घर में कोई बीमार हुआ तो इलाज का अच्छा प्रबंध हो सकने के कारण शीघ्रही स्वास्थ्य-लाभ हो सकेगा। पहिला धीरे धीरे नीचे गिरने लगेगा, उसको कम खाने-पीने को मिलेगा, इस कारण उसमें काम करने की शक्ति कम होगी। बीमारी उसे अधिक सतावेगी और बीमार होने पर अच्छा होने में उसे बहुत देर लगेगी और तब तक उसकी उपार्जन शक्ति बहुत न्यून रहेगी। मसाले खरीदने के लिये पैसों की कमी होने के कारण, वह नये जोड़ों को हल्के किस्म के

बनावेगा और उनके दाम भी कम मिलेंगे, माँ-बाप की गरीबी के कारण बालबच्चों को उचित प्रमाण का भोजन, कपड़े और शिक्षा न मिलेगी। वे बड़े होने पर कमज़ोर और अशिक्षित होंगे और फिर उनकी उपार्जन-शक्ति और भी कम निकलेगी। जब उनकी संतति होगी तो उसका और भी बुरा हाल होगा।

सार यह है कि जो जीवन-यात्रा में सक्षम निकला वह और उसकी संतति ऊँची चढ़ती जाती है और जो एक बार गिर जाते हैं वे स्वयं और उसका वंश नीचे धँसता जाता है।

जबलपुर शहर के व्यापार का अवलोकन करने से इस नियम की सत्यता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। जबलपुर में क्या, कहीं भी, इसकी सत्यता सिद्ध हो सकती है। परंतु मैं जबलपुर का उदाहरण इसलिये लेता हूं कि मुझे विशेष अवलोकन का अवसर यहीं मिला है। यहाँ के चमार पहिले मज़े में थे। पर शराब पीने की आदत उनमें बहुत फैल गई; इससे उनकी काम करने की शक्ति कम होने लगी। जो पैसा मसाले में खर्च होना चाहिये था वह शराबभट्ठी में जाने लगा। उनके जूते दूषित और कमज़ोर बनने लगे। नतीजा यह हुआ कि कच्छियों ने उनके व्यापार को छीन लिया और धीरे धीरे उन्हें नीचे गिरा दिया। जिनका रोज़गार सैकड़ों पीढ़ियोंसे जूते बनाने का था वे आज आठ दस आने रोज़ की मज़दूरी इन्हीं कच्छियों के पास कर रहे हैं और वे कच्छी धनवान हो रहे हैं।

इसी तरह देखने में आता है कि स्थानीय बेलदार बारह आने, चौदह आने, १) दैनिक मज़दूरी पर मकान बनाने के लिये मिल जाते हैं; परंतु यहीं कुछ पंजाबी बेलदार १॥) दैनिक प्राप्त करते हैं। कारण यही है कि उनमें शारीरिक और मानसिक क्षमता अधिक होने के कारण वे लोग अधिक काम कर दिखाते हैं। यहाँ के बेलदार आलसी हो रहे हैं। थोड़ासा काम करके वे विश्राम लेने लगते हैं। शाम को जब देखा जाता है, तब उनका काम कम निकलता है।

इसी कारण पंजाबी बढ़ई इस शहर में आकर डेवढ़ा वेतन लेते हैं और रुपये कमा कर घर भेजते हैं; परन्तु यहाँ के बढ़इयों को थोड़े से वेतन में संतोष करना पड़ता है।

इसी तरह इस प्रदेश में जहाँ काम कड़ा है और वेतन भी अधिक है वहाँ परदेशी आदमी बुलाये जाते हैं और वह काम स्थानीय मनुष्यों को नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, मध्यप्रदेश की पुलिस में संयुक्तप्रान्त-वासी भरे हैं। यहाँ वालों से उतनी मिहनत नहीं होती। इसी तरह रेल बनाने के समय ठेकेदार लोग अधिक मज़दूरी देकर, कच्छी, पंजाबी या संयुक्तप्रान्तवासी कुली बुलाते हैं। मालूम होता है कि कुछ समय के उपरान्त यहाँ वालों के हाथमें कोई रोज़गार न रहेगा—सब परदेशियों के हाथों में चला जावेगा। तो यह है कि काम हो इस प्रदेश में, द्रव्य लगे यहाँ वालों का, आमदनी परदेशियों की हो और यहाँ वाले मुँह ताकते बैठे रहें। इसमें परदेशियों का कुछ भी दोष नहीं है। जीवन-संग्राम का नियम ही यही है कि प्रतिद्वंद्वता में जो अधिक बलवान है, उसी के हाथों में लक्ष्मी और सुख जाता है—अक्षम के पास नहीं।

पर इस से अन्य प्रदेशों के भारतवासी फूल न उठें और न वे हँस पड़ें। जिन कारणों से मध्यप्रदेश के निवासी अक्षम हो गये हैं उन्हीं कारणों से हिन्दुस्थान के अन्य भागों के निवासी भी अक्षम हो रहे हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कहीं अधिकता है, कहीं कुछ न्यूनता है; परन्तु आग सभी जगह लगी हुई है। हिंदुस्थान के मज़दूरों का दैनिक औसत वेतन ।) से ॥) तक है। विलायत के मज़दूर चार से पाँच रुपये तक प्रतिदिन कमा लेते हैं। इतनी मज़दूरी पाकर जैसा भोजन वे कर सकते हैं, जैसे कपड़े पहिन सकते हैं, आरोग्यता की जैसी रक्षा कर सकते हैं और विद्या-उपार्जन में तथा सन्तति की रक्षा में जितना खर्च कर सकते हैं उतना कर सकना यहाँ भला किस के भाग्य में लिखा है? इस कारण वहाँ के मज़दूरों में काम करने की शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी रहती है। जितना काम यहाँ के सात आठ मज़दूरों से न होगा उतना काम वहाँ का एक मज़दूर अकेला सँभाल लेगा। जो आदमी ७, ८ मनुष्यों का काम कर लेगा उसे सात आठ गुनी मज़दूरी भी मिलेगी। जिस देश के निवासियों में काम करने की शक्ति इतनी अधिक हो गई है उनसे व्यापार आदि में टक्कर लेना सहज नहीं है।

अभी तक तो इस दुनियाँ में लोगों का किसी तरह जीवन निर्वाह हो जाता था; पर अब रेल, तार, व्योमयान आदि यंत्रों के प्रचार से व्यापार-रूपी जीवन-संग्राम प्रतिदिन अधिक कठिन होता जाता है। अभी तक लोगों की जीवन-यात्रा किसी न किसी तरह हो जाती थी; पर प्रतिद्वंद्वता के स्वरूप के क्षण क्षण अधिक भयंकर होने के कारण, अक्षम लोगों का भविष्य अन्धकार-मय होता जाता है। विलायत के ग़रीब मनुष्यों को दो सेर के भाव का आटा खरीदना कष्टप्रद नहीं मालूम होता, पर भारतवर्ष के अमीर लोगों को भी चार सेर आटा लेते समय दुःखित हो जाना पड़ता है। लक्षण तो ऐसे दिखते हैं कि गेहूँ सरीखे पौष्टिक अन्न के लेने के लिये यहाँ वालों में शक्ति न रहेगी और उन्हें कोदो, कुटकी सरीखे अल्प पौष्टिक अन्नों पर अपना जीवन व्यतीत करना होगा।

क्या भारतवासियों का ध्यान इस विषय पर अब भी आकर्षित न होगा? भाग्य के भरोसे तो हम लोग बहुत दिन पड़े रहे; पर अब अकर्मण्यता से काम न चलेगा। इस प्रश्न पर बहुत विचार करने की आवश्यकता है और हमें यहाँ के निवासियों को सक्षम बनाने का प्रयत्न रातदिन करना चाहिये। लेख समाप्त करने के पहले, हम नीचे सभी बातों का सार लिख देते हैं:—

(१) इस पृथ्वी के प्रत्येक जीव, जाति और व्यक्ति को प्रतिदिन एक बड़े जीवन-संग्राम में भिड़ रहना पड़ता है और भविष्य में यह संग्राम और भी कठिन होता जावेगा।

(२) इस संग्राम में सक्षम की ही जय है। सुख और सम्पत्ति उसी को मिलेगी और उसी की सन्तति को बढ़ने के मौक़े मिलेंगे जो बलवान हैं। अक्षम जीव और जातियाँ धीरे धीरे नीचे जावेंगी और अन्त में नष्ट हो जावेंगी।

(३) इसलिये प्रत्येक जीव, जाति और व्यक्ति को अधिकाधिक सक्षम बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

किसी आगामी लेख में यह बतलाने की चेष्टा की जावेगी कि सक्षमता कितने प्रकार की है और हम उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं।

अति प्राचीन भारत में विदुषी स्त्रियाँ।

(लेखक—लाला कन्नोमल, एम० ए०)

यह बात अभ्रान्त प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि समस्त भूमण्डल के देशों में भारतवर्ष की सभ्यता सबसे प्राचीन और प्रतिभाशालिनी है। बेबिलोनिया, और मिश्र देशों की सभ्यताएँ, जिनका विकास-काल ईसा से ४००० वर्ष पहले का बताया जाता है और जिनपर योरुप की सभ्यता का मूलाधार है, बहुत प्राचीन गिनी जाती हैं; पर ये भारत की सभ्यता के सामने कल की हैं। ऐतिहासिक विद्वानों और पुरातत्व-वेत्ताओं को तो ये भी प्रमाण मिले हैं कि पूर्वोक्त सभ्यताओं के जन्मदाता भारतवासी ही हैं जो महाभारत युद्ध के समय भारतवर्ष छोड़ कर अन्य देशों में जाकर बस गये थे। जिस समय संसार की अन्य जातियाँ घोर अविद्या के अन्धकार में मग्न थीं और अपने शरीरों को लाल पीले रंगों से रँग कर जंगलों में डोलती-फिरती थीं, उस समय भारतवर्ष सभ्यता, विद्या, कला-कौशल एवं ऐश्वर्य के उच्च शिखर पर विराजमान था। यही जगद्गुरु था। इसी के हाथ असभ्य जातियों को सभ्यता सिखाने का कार्य था।

भारत की सभ्यता बनानेवाले केवल पुरुष ही नहीं थे—इस कार्य में एतद्देशीय स्त्रियों ने भी बड़ा भाग लिया है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष की स्त्रियाँ अशिक्षित और कलाकौशल से रहित थीं वे भूल में हैं। भारतयि साहित्य में अनेक प्रमाण हैं जिनसे स्त्रियों का पूर्ण विदुषी होना भली भाँति सिद्ध है। मैत्री, गार्गी, अनुसूया, अरुन्धती, शारदा आदि कितनी ही विदुषियों के नाम इतिहास और पुराणों में मिलते हैं। राजा जनक की सभा में एक विदुषी स्त्री ने ही उस समय के बड़े बड़े विद्वानों और तत्ववेत्ताओं को शास्त्रार्थ में हराया था। पूज्यपाद श्री शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ के अवसर पर एक विदुषी स्त्री ही मध्यस्थ थी और उसी ने उस शास्त्रार्थ का निपटारा किया था। जिस समय भारतवर्ष में मुसलमानों का राज्य था, तब भी राजपूताने की राजकुमारियाँ अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। इन्हीं में से कई ने मुसलमान बादशाहों के पास स्व-लिखित पत्र भेजे और कई राष्ट्रीय उलझनों को सुलझाया था।

यह तो सब उस पिछले समय की बातें हैं जब भारत के ऐश्वर्य का मार्त्तण्ड अस्त हो चुका था और भारत विदेशियों के हाथ में पहुँच गया था। हम आपको उस समय का हाल बताना चाहते हैं जब समस्त भूमण्डल पर भारतवर्ष ही सभ्य देश था, बल्कि इससे भी पहले समय का जब संसार की सब से प्राचीन पुस्तक, अर्थात वेद, का रचना अथवा प्रादुर्भाव-काल था। इस काल की प्राचीनता की कोई तुलना नहीं हो सकती है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय में बड़ी खोज की है; पर उनकी चेष्टाएँ सफल नहीं हुई। उनमें बड़ा मतभेद है। उस अत्यन्त प्राचीन काल में जब वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था भारत की स्त्रियाँ केवल सामान्यतः शिक्षित ही नहीं थीं, बरन ऐसी धुरन्धर विदुषियाँ थीं कि उन्हों ने वेदों में वही स्थान प्राप्त किया है जो वशिष्ठ, कश्यप, जमदग्नि, भृगु, भारद्वाजादि महर्षियों को मिला

है। यह सामान्य बात नहीं है। जैसे ये ऋषि वेदमंत्रों के द्रष्टा हैं, वैसेही कितनी ही विदुषी स्त्रियाँ भी द्रष्ट्री हैं। वेदों में इनके दृष्ट मन्त्र भी कितने ही हैं। ये मंत्र अपने भावों के गौरव और महत्व में किसी से कम नहीं हैं। यह बात इन मंत्रों के पढ़ने से ही मालूम हो सकती है।

अब इन स्त्रियों के नाम सुनिये।

१ विश्ववरा आत्रेयी। इस विदुषी का मंत्र अग्निदेव की स्तुति में है। यह ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल का २८ वाँ मंत्र है। रचना बड़ी ओजस्विनी और भावपूर्ण है।

२ अपला आत्रेयी। इनका मंत्र इन्द्रदेव की स्तुति में है। ऋग्वेद के ५ वें मण्डल के ९१ वें मंत्र को देखिये।

३ घोषाकाक्षिवती। यह अश्विनीकुमारों की स्तुति में दो मंत्रों की द्रष्ट्री हैं। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ३९ और ४० वें मंत्रों को देखिये। मंत्र बड़े अद्भुत और काव्य-महत्व से पूर्ण हैं।

४—५ सिकता और निवावरी। ऋग्वेद के ९ वें मण्डल में ८६, ११—२० मंत्रों को पढ़िये जो सोमदेव की स्तुति में हैं। इन मंत्रों की द्रष्ट्री आपही हैं।

६ गोधा। आपका दृष्ट मंत्र ऋग्वेद के १० वें मण्डल में १३४ वाँ है। यह इन्द्रदेव की स्तुति में है।

७ अगस्त्य ऋषि की भगिनी। इनका दृष्ट मंत्र ऋग्वेद के १० वें मण्डल में एक सर्वमिश्रित वृहन्मंत्र का अंश है।

८ लोपामुद्रा। इनके मंत्र प्रीति-विषयक हैं— बड़े उच्च कोटि के हैं। ऋग्वेद के पहले मण्डल में दूसरे और १७९ वें मंत्र देखिये।

९ राजा भवाव्यय की पत्नी रोमषा। इनके मंत्र का विषय भी प्रेम है। ऋग्वेद के पहले मण्डल में १२६ वाँ मंत्र देखिये।

१० शाश्वती। आपके दो मंत्र इन्द्रदेव की स्तुति में हैं। ये ऋग्वेद के ८ वें मण्डल में १ और ३४ वें मंत्र हैं।

११ जुहू। इनका मंत्र विश्वेदेवों की स्तुति में है। यह ऋग्वेद के १० वें मण्डल में १०९ वाँ मंत्र है।

१२—१३ इन्द्राणी और शची। इनके दो मंत्र ऋग्वेद के १० वें मण्डल में १४५ और १५९ वें हैं। इनका विषय अपनी सपत्नियों पर मंत्र-तंत्र करना है।

इन सब प्रमाणों के रहते हुए यह कोई नहीं कह सकता है कि भारत में विदुषी स्त्रियाँ नहीं होती थीं। वेदों से अधिकतर माननीय पुस्तक अन्य नहीं है; और न कोई पुस्तक इनसे अधिक प्राचीन ही है। जब इनमें ही विदुषी स्त्रियों के इतने प्रमाण हैं, तो अन्य आधुनिक ग्रन्थों की क्या गणना है।

सारांश यह है कि भारतवर्ष में बड़ी बड़ी विदुषी महिलाएँ हो गई हैं। इस विषय में अनेक अभ्रान्त प्रमाण हैं। जो यह कहते और बहस करते हैं कि भारत में स्त्रियाँ अपढ़ और अशिक्षित थीं वे बड़ी भूल में हैं।

हम सबको मिल कर ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि भारत में वैसीही विदुषी स्त्रियाँ फिर हो जाँय। स्त्रीशिक्षा का प्रारम्भ तो हो गया है; पर इस विषय में अभी समुचित प्रबन्ध नहीं हुआ है। भारत के नवीन युग में अन्य सुधारों के साथ साथ इस परमावश्यक सुधार को भी हाथ में लेना चाहिये; और जब तक जातीय आदर्शों के अनुसार एक दो महिला-विश्वविद्यालय न स्थापित हो जाँय, तब तक इस विषय में अविश्रांत और निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

उत्तरदायी राज्य-शासन।

[लेखक—"एक इतिहासज्ञ"।]

जब से भारत-सचिव ने पार्लिमेंट में घोषणा की है कि इंग्लैंड की सरकार का उद्देश है कि भारतवर्ष को उत्तरदायी राज्यशासन प्राप्त हो, तब से स्वदेश में स्वराज्य की धूम खूब मची है। परिस्थितियों के अनुसार स्वराज्य शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर हमारे विवेचन का विषय यह नहीं है। उक्त सरकार ने धीरे धीरे "उत्तरदायी राज्यशासन" प्राप्त कर देने का वचन दिया है, अर्थात् उसके कथनानुसार हमारा अन्तिम ध्येय यही होना चाहिये। इंग्लैंड और उसके उपनिवेशों के इतिहास की ओर दृष्टि डाली जावे, तो "स्वराज्य" के बदले "उत्तरदायी राज्यप्रबन्ध" का ही उपयोग विशेष उपयुक्त जान पड़ेगा। स्वराज्य शब्द का अर्थ बहुत कुछ खींचा-ताना जा सकता है; अतएव यदि उक्त सरकार ने उस का उपयोग नहीं किया, तो इसमें अवश्य ही उसकी कुछ बुद्धिमानी पाई जाती है। "उत्तरदायी राज्यप्रबन्ध" का अर्थ परिमित, विशिष्ट, और स्पष्ट है। यहाँ उसके अर्थ का विवेचन और विशेष स्पष्टीकरण किया जाता है।

"उत्तरदायी राज्यप्रबन्ध" के अर्थ में दो मुख्य तत्त्व सम्मिलित हैं। एक तो यह राज्यप्रबन्ध प्रतिनिधिक हो—उसका नियंत्रण लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा हो और दूसरा, सर्वोच्च सत्ता कायदे-कानून के हाथों में हो—किसी व्यक्ति विशेष के हाथों में नहीं। जो कायदा-क़ानून हो वह छोटे बड़े सबके लिये समान रीति से लागू हो। इन दोनों तत्त्वों का उदाहरण-सहित स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

जहाँ का राज्यशासन लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा होता है वहाँ निम्न लिखित चार बातें दृग्गोचर होती हैं:—

(१) क़ानून बनाने में उन प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती है,

(२) उनकी सम्मति के बिना कर के रूप में एक पाई भी न वसूल की जाती और न खर्च ही की जाती है,

(३) राज्यप्रबन्ध के मंत्री उन्हीं प्रतिनिधियों में से चुने जाते हैं,

और (४) वे प्रतिनिधि समय समय पर सरकार के कार्यों की आलोचना करते हैं।

अब इन्हीं बातों पर विचार किया जाता है:—

(१) कायदा-क़ानून सदैव बहुमत से बनता है। किसी देश का सर्वोच्च शासक दो प्रकार का हो सकता है— (अ) आनुवंशिक अधिकारों के द्वारा राजगद्दी पानेवाला राजा, और (आ) प्रति चार छः वर्ष में निर्वाचित होने वाला प्रेसिडेन्ट। परन्तु यह बात अधिक महत्त्व की नहीं है। महत्त्व इसका है कि वह राजा अथवा प्रेसिडेन्ट अपने इच्छानुसार मनमाना कायदा न बना सके। सर्वोच्च शासक का नाम और पद कुछ भी हो; पर लोगों के प्रतिनिधियों की सम्मति के बिना वह कुछ भी कायदा बना सके। आजकल सभ्य कहलानेवाले सभी देशों में यही नियम पाया जाता है। सर्वोच्च शासक चाहे राजा हो या प्रेसिडेन्ट; परन्तु इस नियम में कोई अंतर नहीं होता। जहाँ के सर्वोच्च शासक को अपने इच्छानुसार कायदा बनाने का अधिकार रहता है वहाँ सच्चा प्रतिनिधिक राज्यप्रबंध हो नहीं सकता। इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि जो सभा कायदा बना

सकती है उसके सब सदस्य लोक-निर्वाचित हों—सरकार के नियुक्त किये एक भी न हों। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक समझना चाहिये कि सच्चा प्रतिनिधिक राज्यतंत्र स्थापित नहीं हुआ है। सारांश यह है कि ये दोनों नियम अवश्य पाले जावें। किसी विशेष परिस्थिति में कभी कभी इनमें से पहिले नियम को कुछ कार्यों के लिये कुछ समय तक उठा देते हैं। इसका अर्थ यही है कि उस अवधि के लिये प्रतिनिधिक राज्यतंत्र उठा दिया गया; पर सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से यह बड़े धोखे की बात है। इस तरह सरकार जो अधिकार प्राप्त कर लेती है उन के दुरुपयोग होने की आशंका रहती है। इस लिये इस नियम का सदैव पाला जाना ही विशेष आवश्यक है।

(२) दूसरी बड़े महत्व की बात यह है कि राज्य के खजाने पर लोक-प्रतिनिधि-सभा का पूरा अधिकार रहे। न तो उसकी सम्मति के बिना किसी तरह का कर वसूल किया जावे, और न एक पाई खर्च की जावे। इसके लिये इतिहास की ओर दृष्टि डालने से यही ठीक जँचता है कि कर लगाने तथा व्यय करने की स्वीकृति क़ानून बनानेवाली सभा एक वर्ष के लिये दे। फल यह होगा कि उस देश की सरकार को इन दो कार्यों के लिये दूसरे साल उस सभा की स्वीकृति अवश्य लेनी होगी, अर्थात् सभा भरवानी ही होगी। उस समय सरकार के कार्यों की समालोचना हुए बिना न रहेगी। उस सरकार ने जैसा कार्य किया हो, वह जैसा कार्य करने का वचन देती हो और द्रव्य का जैसा उपयोग किया हो उसे देख समझ कर लोक-प्रतिनिधि दूसरे साल के लिये द्रव्य का प्रबंध करेंगे। वास्तव में, इंगलैंड के इतिहास से दीख पड़ता है कि इस पद्धति से सरकार प्रतिनिधियों से दबी रहेगी—वह उनके समक्ष अपने कार्यों के लिये उत्तरदायिनी रहेगी। सरकार को दबाये रखने का यह बड़ा भारी साधन है। जिस देश के लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में यह साधन नहीं, वहाँ प्रतिनिधिक राज्यप्रबंध का अस्तित्व नहीं पाया जा सकता—वहाँ का राज्यप्रबंध उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं है।

(३) प्रतिनिधिक राज्यप्रबंध में यह भी एक आवश्यक बात है कि वहाँ के मंत्री उन्हीं प्रतिनिधियों में से चुने हुए हों। मंत्रीगण क़ानून बनाने वाली सभा के सदस्यों में से ही चुने जावें और इस बात का हो सकना सहज में संभव है। क़ानून बनानेवाली सभा उन्हीं मंत्रियों की सहायक होगी जो उसके कहने के अनुसार कार्य करेंगे। यदि वे उस सभा के सदस्यों में से हो सकें, तो स्पष्टतया वे ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें उस सभा का बहुमत सहायक होगा, अर्थात् वे उस सभा के बहुत से प्रतिनिधियों के विश्वास-पात्र होंगे। जब कभी बहुमत उनकी ओर न होगा, तब उन्हें अपना पद त्याग करना पड़ेगा। इस तरह मंत्रियों पर लोक-प्रतिनिधियों का दबाव बना रहेगा। सारांश यह है कि वे उत्तर-दायी बने रहेंगे—स्वेच्छाचारी न हो सकेंगे।

अमेरिका आदि देशों में यह नियम नहीं है। वहाँ लोक-प्रतिनिधि-सभा के सदस्य मंत्री नहीं हो सकते। इस समय वहाँ के मंत्रियों को उत्तरदायी बनाने की योजना अनेक दूसरे मार्गों का अवलंबन करके की गई है; परंतु इसमें विशेष

लाभ नहीं होता। प्रत्यक्ष बातचीत में और चिट्ठी-पत्री लिखकर पूछपाछ करने में जो भेद दिखाई पड़ता है ठीक वही इन दो तरह की योजनाओं में है। वास्तव में मंत्री लोकप्रतिनिधि-सभा के समक्ष बहुत कम उत्तरदाता हैं और उनपर नियंत्रण रखने का मार्ग भी बहुत टेढ़ा है। निरर्थक कार्य करने के लिये उनपर एक तरह का मुक़द्दमा चल सकता है; परन्तु प्रत्येक छोटे कार्य के लिये न वे जवाबदार हैं और न बनाए ही जा सकते हैं। इसलिये अनुभव से यही उचित मालूम होता है कि मंत्रियों पर जवाबदेही रहे। यह तभी संभव हो सकेगा जब प्रतिनिधि-सभा के सदस्य मंत्री बनाये जावें अथवा कम से कम उन्हें मंत्री बन सकने का अधिकार रहे। यदि किसी राज्यप्रबंध में उपर्युक्त तत्वों का समावेश रहेगा और क़ानूनी सभा के सदस्य मंत्री बनाये जा सकेंगे तो उन्हें अपने उत्तरदायित्व का भार अच्छी तरह से सँभालने की चिन्ता रहेगी और इस तरह उनपर उस का यथाशक्ति अच्छा दबाव पड़ा करेगा।

(४) टीका-टिप्पणी करने का अधिकार ऊपर लिखे तत्वों के साथ आपही प्राप्त हो जाता है। इसके अलग लिखने का कारण केवल इतना ही है कि किसी शासन-प्रणाली में यह अधिकार बहुत परिमित कर दिया गया है और कहीं कहीं वह सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। इस अधिकार के अभाव में उपर्युक्त सिद्धान्तों के जारी रहने पर भी मंत्रियों के निरंतर पदत्याग की सीमा न रहेगी और फलतः मंत्री कोई निश्चित कार्य न कर सकेंगे। मंत्रियों से ठीक उत्तर न मिलने पर निराश और असंतुष्ट लोक-प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने का प्रयत्न करेंगे अथवा लोक-प्रतिनिधियों के डर से मंत्री किसी निश्चित कार्य-दिशा का अवलंबन न कर "जैसी चले बयार पीठ पुनि वैसी" किया करेंगे; और टीका-टिप्पणी के अभाव में एक दूसरे का मत जानना कठिन हो जावेगा। इस तत्व के स्वतंत्र विवेचन करने की आवश्यकता केवल इसीलिये थी—अन्यथा, ऊपर की तीन बातें ही प्रतिनिधिक राज्यसभा के मुख्य तत्व समझी जाती हैं।

इस तरह जनता को राजनैतिक स्वतंत्रता मिल सकती है और सरकार राजनैतिक दृष्टि से उत्तरदायी बनाई जा सकती है। फिर इस बात से कुछ भी भेद न होगा कि अंतिम शासक आनुवंशिक राजा है अथवा सर्वसाधारण के द्वारा कुछ काल के लिये निर्वाचित किया हुआ कोई अन्य व्यक्ति है। इंग्लैंड, फ्रांस अथवा अमेरिका की ओर देखने से यह स्पष्ट हो जावेगा। इंग्लैंड में मुख्य शासक राजा है। उसके बड़े बड़े अधिकार हैं। तौ भी वहाँ का राज्यशासन जितना उत्तरदायी है, उतना फ्रान्स अथवा अमेरिका के प्रेसिडेन्ट वाले राज्यशासन नहीं हैं। यदि किसीकी यह धारणा हो कि राजा के रहने से अत्याचार होने का डर रहता है, तो यही कहना पड़ेगा कि उसे संसार की राज्यपद्धतियों के गुणदोषों का ज्ञान नहीं है। राजा हो अवश्य, परन्तु साथ ही यदि उसपर दबाव डालने वाला उक्त सिद्धान्तों से पूर्ण राज्यप्रबंध भी हो, तो वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकेगा। अस्तु; स्मरण रहे कि सच्चे उत्तरदायी राज्य-प्रबंध का अन्त यहीं नहीं हो जाता—इसके लिये कुछ अधिक बातों की आवश्यकता है।

अभीतक यही बतलाया गया है कि लोगों को राजनैतिक स्वतंत्रता देने से सरकार शासन-दृष्टि से जवाबदार बनाई जा सकती है। इतना होने पर भी यह संभव है कि किसी देश के राज्यप्रबंध में विशेष सुख, विशेष आराम और विशेष व्यक्तिगत स्वतंत्रता न हो। राजनैतिक स्वतंत्रता अलग बात है, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता अलग। दोनों में स्वाभाविक मेल होना सभी परिस्थितियों में आवश्यक नहीं है। लोक-प्रतिनिधियों के बनाये हुए कायदों से ही किसी देश में अत्याचार किया जा सकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट हो सकती है।

इस अत्याचार से बचने के लिये बड़ी आवश्यक बात यह है कि क़ानून की दृष्टि में ग़रीब और अमीर, भिखारी और मुख्य राजकर्मचारी, उच्च और नीच—सभी मनुष्य बराबर समझे जावें। कायदे की दृष्टि से उनमें कोई भेदभाव न किया जावे। एक कार्य में एक मनुष्य के लिये जो कायदा लागू हो वही कायदा उस कार्य के लिये, निष्पक्षता के साथ, सबको लागू हो। कायदा ही सर्वोच्च शासक रहे, कायदे से मुक्त कोई न हो। इसकी सिद्धि के लिये तीन बातोंका होना आवश्यक है:—

(१) मामूली अदालतों में मामूली रीति से जबतक किसी पर कोई अपराध पूर्णतया प्रमाणित न हो, तब तक उसे किसी प्रकार का शारीरिक अथवा आर्थिक दंड न दिया जावे।

(२) कोई भी मनुष्य कायदे से मुक्त कभी न हो। इतना ही नहीं, बल्कि अपने अधिकारों का अतिक्रमण करने पर वह मामूली अदालतों में, मामूली कायदों के अनुसार, जवाबदार बनाया जा सके। यह बड़े महत्व की बात है।

(३) मामूली अदालतें व्यक्तिगत अधिकारों की पूरी पूरी रक्षा करें। इसके लिये राज्य-संगठन में योजना करने की आवश्यकता न रहे।

व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, अर्थात् कायदों की सर्वोच्चता के इन तीन तत्वों का कुछ विशेष विवेचन उदाहरण-सहित नीचे किया जा सकता है:—

उपरोक्त पहिली बात में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार स्पष्ट रीति से सम्मिलित है; क्योंकि जबतक कोई अपराध पूर्णतया प्रमाणित नहीं होता, तबतक कोई दंडनीय भी नहीं हो सकता। दंडपात्र होने के लिये कायदे का उल्लंघन किया जाना प्रमाणित होना चाहिये और वह भी उस देश की मामूली अदालतों में और मामूली रीति से। केवल संदेहवश कोई दंडनीय न समझा जावे, कोई ख़ास अदालतें स्थापित न की जावें और न अपराध प्रमाणित करने के लिये किसी विशेष रीति का अवलंबन किया जावे। अनेक देशों में केवल संदेह के कारण ही मनुष्य दंडनीय बना दिया जाता है—शंका के कारण किसी की भी स्वतंत्रता हरण की जा सकती है। शासकों के हाथों में ऐसा अधिकार रखने से उसका दुरुपयोग अनेक बार हुआ करता है।

फिर शासकों अथवा सरकारी कर्मचारियों के लिये एक कायदा और प्रजावर्ग के लिये दूसरा कायदा बना कर दुरंगी दुनियाँ का दूषित दृश्य कभी न दिखलाना चाहिये। राजनीतिशास्त्र के संबंध में अंग्रेजी में यह एक महत्वपूर्ण कहावत है कि जहाँ कायदा नहीं है वहाँ स्वतंत्रता भी नहीं है। इस कहावत का यथार्थ में यही अर्थ है जिसे हम अभी बतला रहे हैं। भिन्न भिन्न लोगों के लिये एक ही अपराध के संबंध

में भिन्न भिन्न कायदे रहना कायदे न रहने के बराबर ही है। जहाँ कायदा-क़ानून नहीं है, यानी जहाँ सब के लिये एकही कायदा लागू नहीं होता वहाँ सरकारी कर्मचारी मनमाना अत्याचार कर सकते हैं। इंग्लैंड और फ्रान्स की राज्य-प्रणाली में यही भेद है। इंग्लैंड में मंत्री से लगाकर वस्त्रहीन भिखारी तक सबपर कायदे-कानून की समदृष्टि पाई जाती है और सब एकही अदालत में दंडनीय होते हैं। अपराध सिद्ध करने के लिये वहाँ किसी भिन्न रीति का अवलंबन भी नहीं किया जाता। परंतु फ्रान्स में ये बातें नहीं हैं। वहाँ सरकारी कर्मचारियों के लिये भिन्न भिन्न अदालतें और भिन्न भिन्न कायदे हैं। मान लीजिये कि इंग्लैंड के किसी सरकारी कर्मचारी ने आपका मार्ग रोक दिया और उससे आपको हानि उठानी पड़ी। इस दशा में आप मामूली अदालत में उसपर क्षति-पूर्त्ति का दावा कर सकते हैं, और मामूली कायदों के अनुसार उसका फैसला किया जावेगा। न तो किसी अज्ञात आकाश से न्यायाधीश लाने की आवश्यकता होगी और न किसी विदेश से पार्सल के द्वारा न्याय के नये नियम बुलवाने की ही। अब यदि यही घटना फ्रान्स में हो जावे, तो आपको खास अदालतों की शरण लेनी होगी और खास कायदों के अनुसार उसका निपटारा होगा। वहाँ की शक्कर अमीरों के लिये मीठी और गरीबों के लिये कड़ुवी होती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्वतंत्रता बहुत कम हो जाती है और सरकार के उत्तर-दायित्व-हीन हो जाने की अत्यन्त अधिक संभावना रहती है। उसके कर्मचारी न्याय को सार्वजनिक अधिकार की वस्तु न समझ कर शासकों की दया-जनित वस्तु समझने लगते हैं। मेटलैन्ड नामक एक इतिहासकार ने कहा है कि "वास्तव में इंग्लैंड के मंत्री पार्लिमेन्ट के सन्मुख जवाबदार नहीं हैं। यह सभा किसी मंत्री को किसी नियम के अनुसार पद-च्युत नहीं कर सकती। परन्तु ये मंत्री मामूली अदालतों में अपने कार्यों के लिये प्रतिक्षण जवाबदार हैं। फिर इस बात को कोई नहीं पूछता कि उनके पुराने कार्य कितने महत्व के और उत्तम थे। नये अनुचित कार्यों के लिये उनपर मुक़द्दमा चलाया जाता है और वह भी ऐसी मामूली अदालतों में जहाँ दूसरे साधारण मनुष्य अभियुक्त किये जाते हैं।" इंग्लैंड की सरकार की असली जवाबदारी यही है। अब पाठक समझ चुके होंगे कि राजा के सर्वोच्च शासक होनेपर भी इंग्लैंड का राज्यप्रबंध जितना उत्तरदायी है उतना प्रेसिडेन्ट वाले फ्रान्स देश का नहीं है—इंग्लैंड में राजा अपने कार्यों के लिये जवाबदार नहीं है, उनके लिये उसके मंत्री जवाबदार हैं। इस कारण जबतक वे पद पर रहेंगे तबतक राजा को कोई ऐसा कार्य न करने देंगे जिसमें उनपर अभियोग चलाया जा सके। जब उनको यह नवबत पड़ेगा तब वे अपने पद छोड़कर अलग हो जावेंगे। बार बार मंत्री बदलना सरल और अच्छा कार्य नहीं है; अतएव राजा भी अपने मंत्रियों की सलाह से चलेगा। इस प्रकार वे एक दूसरे से दबे रहते हैं और समस्त राज्य-प्रबंध अपने कार्यों के लिये जवाबदार बना रहता है।

तीसरी बात की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है और ऊपर की मीमांसा में इसका समावेश हो चुका है।

सारांश यह है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य और सरकार के उत्तर-दायित्व दोनों को स्थिर बनाये रखने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि अपराध प्रमाणित हुए बिना किसी को किसी प्रकार का दंड न दिया जावे। दंड उसी अवस्था में दिया जावे जब मामूली अदालतों में, मामूली कायदों के अनुसार, मामूली रीति से प्रमाण मिल सके। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य के लिये, किसी प्रकार का भेद न होते हुए, एक ही कायदा, एक ही अदालत और एक ही न्याय-पद्धति हो। भेद करने से समानता के तत्व भ्रष्ट हो जाते हैं जिससे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सरकार का उत्तर-दायित्व दोनों एक ही साथ नष्ट हो जाते हैं।

प्रस्तुत विषय के संबंध में एक बात और लिखना चाहिये। जिनके हाथ में न्याय देने का कार्य हो उन्हीं के हाथ में उसे अमल में लाने लाने को सत्ता न हो। न्याय और शासन के कार्य सदा भिन्न रहें, अन्यथा न्याय के स्थान में बहुधा अन्याय ही हुआ करेगा। न्याय करनेवाले का मन केवल न्याय करने में लगा रहे। शासन की भी सत्ता उसी व्यक्ति के अधीन रहने पर वह मनमाना न्याय कर अभियुक्त पर जुल्म भी कर सकता है। "अधिकार—विभाजन" (separation of powers) का तत्व कम से कम इस बात में पूर्णतया लागू किया जावे। इस तत्व का स्वतंत्र विवेचन करना आवश्यक है, तथापि सारांश में हम कह सकते हैं कि न्याय के पलों को शासन के ओर से डंवाडोल होने से बचाने के लिये दोनों को अलग अलग रखना ही श्रेयस्कर है। इस संबंध में दूसरी आवश्यक बात यह भी है कि न्यायाधीश शासकों से किसी प्रकार दबे न रहें। इस इष्टसिद्धि के लिये इस सिद्धांत पर पूरा पूरा ध्यान देना होगा कि जब तक किसी न्यायाधीश पर कोई अपराध प्रमाणित न हो और जब तक वह सरकारी कायदों का उल्लंघन न करे, तब तक एक बार नियत होने पर वह अपने पद से दूर न किया जा सके और न वह आर्थिक दृष्टि से किसी शासक अधिकारी की इच्छा पर किसी प्रकार अवलंबित रहे। तात्पर्य यह कि न्याय—विभाग का अधिकारी शासन—विभाग के अधिकारी का आश्रित न रहे। यदि ऐसा होगा, तो न्याय की मधुर वंशी में शासकों के डंकों का कर्कश नाद सुनाई पड़ा करेगा। कानून बनाना, न्याय करना और शासन करना ये उत्तम राज्यप्रबंध के तीन अंग हैं और वे अधिकांश में परस्पर—संबद्ध भी हैं। तथापि ऊपर के विचारों से यही दीख पड़ता है कि कम से कम न्याय और शासन का भिन्न भिन्न रहना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा न होने पर लोगों को सच्चा न्याय न मिलेगा और न्याय के अभाव से व्यक्ति-गत स्वतंत्रता का और सरकार के उत्तरदायित्व का नाश हो जावेगा।

अब पाठक देख चुके होंगे कि लोगों को केवल राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने से किसी देश की सरकार पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हो सकती। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि किसी देश में पूर्णतया प्रतिनिधिक-राज्य-प्रबन्ध होने पर भी वहां व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम हो सकती और सरकार पूर्ण उत्तरदायित्व के आवश्यक बंधन से मुक्त रह सकती है। जिस देश में लोगों की

स्वतंत्रता केवल संदेह के कारण छीनी जाती है अथवा जहाँ शंका के कारण, खास अदालतों में, खास कायदों के अनुसार, खास ढंग से अभियोग चलाकर लोग दोषी ठहराये जाते हैं वहाँ सैकड़ों राजनैतिक अधिकारों के मिलने पर भी लोगों का सुख से रहना कदापि सम्भव नहीं है, और न वह सरकार "उत्तरदायी" कही जा सकती है।

प्रतिज्ञा।

(लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द)

(१)

देश में घोर अकाल पड़ा हुआ था। साल भर से पानी की बूँद भी नहीं पड़ा था। खेतों में धूल उड़ती थी। घास तक जल गई थी, न कहीं अन्न था और न जल। लोग वृक्षों की छालें कूट कूट कर खाते थे। अर्धरात्रि दोपहर के समान तप्त रहती थी और दोपहर को भूमि से अग्नि की ज्वाला निकलती थी। समस्त देश में हाहाकार मचा हुआ था। लोगों के हृदय शुष्क हो गये थे। कोई किसी की सुधि लेने वाला न था। सब के सब अपनी अपनी विपत्ति से बावले हो रहे थे। इन्द्र की आराधना नित्य होती थी। लोग देव-स्थानों में जमा हो हो कर रोते और विलाप करते थे। पर कदाचित् देवताओं से दया-वात्सल्य का लोप हो गया था; न पूजा-पाठ ही से कोई उपकार होता था, न यज्ञ तथा दान से। ज्योतिषियों के द्वारों पर सदा भीड़ लगी रहती थी। एक वैज्ञानिक महाशय ने वैज्ञानिक साधनों से मेघों को आकर्षित करने का उद्योग किया; पर सारे प्रयत्न निष्फल हुए। इन्द्रदेव न पसीजे, पानी न बरसा और प्रजा की अवस्था प्रति क्षण बिगड़ती गई।

(२)

अन्त में एक दिन लाखों हिन्दू-प्रजा एकत्र होकर देश के बड़े महात्मा बाबा दुर्लभदास की सेवा में पहुँची और उनके द्वार पर, गले पड़ जाने वालों की तरह, जा बैठी। मुसलमान प्रजा ने मौलाना शेख आबिदअली का दामन पकड़ा। दोनों महात्माओं के हृदयों में दया उत्पन्न हुई। बाबा दुर्लभदाम ने समस्त देश के साधु-सन्तों को निमंत्रित किया। औलिया आबिद-अली ने मुल्लाओं तथा पीरों के पास क़ासिद रवाना किये। एक सप्ताह में चारों दिशाओं से साधुगण तथा मुल्ला लोग आकर जमा हो गये। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के सहस्रों प्रतिभाशाली सत्पुरुषों ने पदार्पण किया। मुल्लाओं के झुंड के झुंड विराजमान हुए। धर्मज्ञ, ईश्वरभक्त और सिद्ध पुरुषों का ऐसा विलक्षण समागम कभी देखने में नहीं आया था। इनमें का प्रत्येक महात्मा अपने अपने चमत्कारों तथा अलौकिक कृत्यों के लिये प्रसिद्ध था। लोगों को विश्वास था कि इनमें से यदि एक भी सिद्ध पुरुष मन से इच्छा करेगा, तो इन्द्र की शक्ति नहीं कि उस सिद्ध की आज्ञा भंग हो सके।

अस्तु, एक शुभ मुहूर्त्त देखकर बाबा दुर्लभदास और आबिदअली दलबल के साथ, बड़ी धूमधाम से, निकले। आगे आगे ऊँटों पर नगाड़े थे, उनके पीछे नाना प्रकार की साम्प्रदायिक पताकाएँ थी। इनके पीछे शंख और घंटे बज रहे थे। फिर साधुओं के दल, कोई हाथी पर सवार था और

कोई सजे हुए घोड़े पर। शिष्य लोग छत्र लगाये चँवर हिलाते चले आते थे। इस प्रकार यह जलूस नगर के चक्कर लगाता और दर्शकों को विस्मित करता हुआ एक ऊँचे पहाड़ी टीले पर जा पहुँचा। यहाँ साधुगण अपने अपने आसन लगा कर बैठ गये और इन्द्र की आराधना करने लगे। किसी ने समाधि ली, कोई प्राणायाम में मग्न हुआ, कोई अपने योगासनों के कौशल दिखाने लगा। सीताराम-प्रेमियों ने उच्च स्वर से 'रामचरितमानस' की चौपाइयों का गान करना आरंभ किया। कृष्ण के भक्त कीर्तन करने लगे।

पूरे तीन घंटों तक ये महानुभाव अपने अपने जप-तप में दत्तचित्त रहे। लाखों मनुष्य नीचे खड़े खड़े इस दृश्य को कौतूहल से देख रहे थे और बारम्बार आकाश की ओर ताक रहे थे कि मेघ उठ रहे हैं या नहीं।

जब मध्याह्न हो गया, सूर्यदेव सिर पर पहुँचे, उनकी प्रखर किरणें असह्य हुईं, तब साधुगण व्याकुल होकर वहाँ से उठ खड़े हुए। प्रजा हताश हो गई। बाबा दुर्लभदास ने अन्त में उन्हें सांत्वना देते हुए कहा, "सज्जनो, तुम्हारे देश में इस दुर्दिन का आना तुम्हारे राजा के अन्याय और दुराचार का फल है। जब तक वे स्वयं अनुष्ठान न करेंगे, तब तक ईश्वर के कोप का निवारण न होगा। तुम लोग उन्हीं के चरणों पर गिरो। उन्हीं के द्वारा तुम्हारा उद्धार होगा।"

(३)

राजा पृथ्वीपतिसिंह एक दुश्चरित्र मनुष्य थे। अपने भोग-विलास के सिवा उन्हें और कोई काम न था। महीनों रनिवास से बाहर न निकलते थे। नृत्य-गान और आमोद-प्रमोद की सदा अधिकता रहा करती थी। सारे देश के भाँड, भड़ुवे, लुच्चे और लफंगे उनके सहवासी थे। नित्य कई तरह की शराबें मँगवाई जाती थीं। नित्य नूतन पुष्टि-कारक भोजन बनाये जाते थे। उन्हें कविता से प्रेम था; परन्तु केवल उसी कविता से जिससे विषय-वासनाओं को उत्तेजना मिलती है। वे भारी दादरे और ठुमरियाँ रचते थे और बहुधा नशे में मग्न होकर वेश्याओं के साथ नाचने लगते थे। उन्हें अभी तक इस घोर दुर्भिक्ष की खबर न थी। उनके मंत्रिगण भी स्वार्थसेवी थे—देश की वास्तविक दशा को उनसे छिपा रखने में वे भारी उपकार समझते थे। देश में चाहे कोई विपत्ति पड़े, परन्तु राज्य-दरबार के लिये रुपये कहीं न कहीं से निकल ही आते थे। प्रजा की यह मजाल कहाँ थी कि राज्य—व्यवहार में वह कुछ हस्तक्षेप कर सके? वह राजा से उदासीन हो रही थी। जो विपत्ति आ पड़ती थी उसे वह झेलती थी; पर राजा की विलास-शांति को भंग करने का दुस्साहस न कर सकती थी।

किन्तु जब महात्मा दुर्लभदास ने स्पष्ट कर कह दिया कि उनके संकट का निवारण राजा के सिवा और किसी से न होगा, तब लोग विवश होकर राजभवन के सामने, मैदान में, जमा होगये और जान पर खेल कर उच्च स्वर से दुहाई मचाने लगे। द्वारपालों तथा सैनिकों ने उन्हें वहाँ से बलात् हटाना चाहा, डाटा, मारने की धमकी दी; पर इस समय लोग प्राण—समर्पण करने पर उद्यत थे। वे किसी भाँति वहाँ से न टले। उनका आर्तनाद प्रति क्षण बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि राजा के प्रमोदोल्लास में विघ्न हो गया।

उन्हों ने क्रुद्ध होकर द्वारपालों से पूछा, "ये कौन हैं जो शोर मचा रहे हैं ?"

एक द्वारपाल ने डरते डरते कहा:- "दीन-बन्धु, नगर-निवासियों का असंख्य समूह राज-भवन के सामने खड़ा है और किसी प्रकार नहीं हटता।"

राजा—"वे लोग क्या चाहते हैं ?"

एक मंत्री ने उत्तर दिया, "धर्मावतार, कुछ मालूम नहीं कि उनकी क्या इच्छा है। वे कहते हैं कि वे महाराज के दर्शन करेंगे।"

राजा—"आज उन्हें मेरे दर्शन का शौक क्यों हुआ है ?"

मंत्री—"दीनानाथ, मैंने बहुत समझाया; किन्तु वे कहते हैं कि दर्शन किये बिना वे कदापि वापिस न जावेंगे।"

राजा—"तो उन्हें गोली मार कर भगा दो। उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं उनका राजा हूं, मेरे राजा वे नहीं हैं। वे मेरे आज्ञाकारी हैं, मैं उनका आज्ञाकारी नहीं हूं।"

मंत्री—"पृथ्वीनाथ, मैं सब कुछ करके हार गया। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि गोली भी चलाई जावेगी, तो वे द्वार पर से न हटेंगे, चाहे वहीं भले ही मर जावें।"

राजा ने कुछ सोचकर कहा-"तो अवश्य उन पर कोई संकट है। लाओ, तामजान हाज़िर करो।"

एक क्षण में तामजान लाया गया। राजा साहब एक पग भी पैरों से न चल सकते थे। उनके पैर केवल अंगों की पूर्ति के निमित्त थे। तामजान पर बैठकर वे जनता के सम्मुख आकर उपस्थित हुए।

उन्हें देखते ही असंख्य कंठों से "जय! जय!" की ध्वनि निकल पड़ी। यद्यपि समस्त प्रजा राजा से असंतुष्ट थी; पर उसके इस प्रजा-वात्सल्य को देखकर लोग मुग्ध हो गये और फिर वह इस समय राजा से वर माँगने आई थी; अतएव यह अवसर उदासीन होने का न था। परन्तु उनके विह्वल होने का मुख्य कारण यह था कि राजा के दर्शन पाते ही जनता में राजभक्ति की एक लहर सी दौड़ गई, जिसने असंतोष और अश्रद्धा को तृण के समान बहा दिया।

"जय जय" की ध्वनि शांत हुई। तदनन्तर लोगों ने विनय किया कि "महाराज, हम घोर संकट में पड़े हुए हैं। आप हमारे धर्मपिता हैं। यदि हमें आप न बचावेंगे, तो हम सब अन्न-जल के बिना तड़प तड़प कर मर जावेंगे"।

राजा ने आश्चर्य से पूछा, "तुम्हारे ऊपर कौन सा संकट है ?"

प्रजा— दीनानाथ, साल भर से एक बूँद जल नहीं बरसा। सारे देश में हाहाकार मचा हुआ है। तालाबों में पानी नहीं है, कुएँ सूख गये हैं, यहाँ तक कि नदियों की धाराएँ भी बन्द हो गई हैं। आप हमारे स्वामी हैं, आप ही की कृपा-दृष्टि होने पर हमारा कल्याण हो सकता है।"

राजा—"मुझे तो ये समाचार आज ज्ञात हुए। क्या वास्तव में वर्षा नहीं हुई ?"

प्रजागण—"दीनानाथ, आप स्वयं चल कर हमारी दशा देख लें। अन्न-जल के बिना हमारी दशा बहुत बुरी हो रही है।"

राजा— क्या तुम लोगों ने देवताओं की पूजा नहीं की और यज्ञ नहीं किये ?"

प्रजागण—"पृथ्वीनाथ, हम सब कुछ कर के हार गये।"

राजा—"तो महात्माओं और सिद्ध पुरुषों की शरण क्यों नहीं गये? महात्मा दुर्लभदास को क्यों नहीं घेरा? वे ईश्वर के भक्त हैं, वे चाहें तो क्षणमात्र में जल थल एक कर दें।"

प्रजा—"धर्मराज, महात्मा दुर्लभदास ने बहुत जप-तप किया, सहस्रों सिद्ध पुरुषों को एकत्रित किया; पर किसी से कुछ न हो सका।"

राजा—"सच?"

प्रजागण—"धर्मावतार, बिल्कुल सच है।"

राजा—"मैंने तो उनके अलौकिक चमत्कारों की बड़ी बड़ी कथाएँ सुनी हैं।"

प्रजागण—"दीनबन्धु, उन्हों ने तो यही कहा है कि तुम लोग अपने स्वामी की शरण जाओ। वे ही तुम्हारा उपकार कर सकते हैं।"

राजा ने हँसकर कहा—"जब ऐसे सिद्ध-गण कुछ नहीं कर सके, तो मैं किस गिनती में हूं।"

प्रजागण—"धर्मावतार, आप इस देश के पति हैं। आपमें ईश्वर का वास है। आप यदि हमारी प्रार्थना को ईश्वर तक पहुँचा दें, तो हमें विश्वास है कि हमारा संताप दूर हो जावेगा।"

राजा ने अनुकम्पित हो कर कहा—"सज्जनो, मुझे ऐसी आशा नहीं है। आपके ऊपर विपत्ति पड़ी हुई है इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। परन्तु जो राजा अपने भोग-बिलास में इतना लिप्त हो कि उसे अपनी प्रजा की दशा का तनिक भी ज्ञान न हो, जो सदैव मद्य में चूर पड़ा रहता हो, जो नित्य काम-लिप्सा में मग्न रहता हो, उसके द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हो सकता है? किन्तु मैं तुम लोगों को निराश नहीं करना चाहता। तुम्हारी विपत्ति को अपनी कठोरहृदयता से बढ़ाना नहीं चाहता। मैं ईश्वर से कुछ विनय करने के लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे उन से कुछ प्रार्थना करते हुए लज्जा आती है। पर मैं तुम लोगों के कल्याणार्थ निर्लज्ज बन कर उनके सन्मुख जाऊँगा। धीरज रक्खो"।

(४)

मध्यान्ह-काल था। सूर्य्य की प्रखर किरणें अग्नि के शरों के समान पृथ्वी पर गिर रही थी और पृथ्वी पीड़ा तथा भय से काँप रही थी। झुलसती हुई रेती से भाफ निकलती रही थी मानों यह अनाथ पृथ्वी की आह का धुआँ था। ऐसे समय में राजा पृथ्वीपतिसिंह राजभवन से बाहर निकले। उनके शरीर पर एक पतली लँगोटी के सिवा और कोई वस्त्र या आभूषण न था। सुन्दर केश मुड़े हुए थे और मुख पर कालिमा पुती हुई थी। उस कालिमा में उनके रक्त-वर्ण नेत्र इस प्रकार चमक रहे थे मानो काली बनात पर लाल रेशम के फूल बने हों। उनका चेहरा उदास और मलिन था, और आँखों से आँसू बह रहे थे। इस भाँति नंगे सिर, नंगे पैर, ग्लानि, नैराश्य तथा लज्जा की मूर्ति बने हुए, वे आकर राजभवन के साम्हने, जलती हुई भूमि पर खड़े हो गये। मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों ने राजा को रोकने की बहुत चेष्टा की; पर उन्हों ने कुछ दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। वे उससे विचलित न हुए।

नगरनिवासियों ने यह वृत्तान्त सुना। वे दौड़ते हुए उस स्थान पर आकर जमा हो गये।

ऐसा कोई हृदय न था जो राजा की ऐसी नैराश्य-पूर्ण दृढ़ता पर द्रवित न हो गया हो। लोगों ने बहुत दीनता से कहा-"स्वामी, आप इस कालिमा को धो डालिये, इससे हमारे हृदयों पर चोट लगती है"। राजा ने सुदृढ़ भाव से उत्तर दिया-"भाइयो, यह कालिमा अब ईश्वर की कृपा और दया के जल से धुलेगी, अन्यथा नहीं"।

एक घंटा बीत गया। राजा का मुखमंडल काले तवे के सदृश तप रहा था। उनकी आँखों से अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। चोटी का पसीना एड़ी तक जा रहा था। उनका पद-स्थल भींग गया। मस्तक गरम पानी के सदृश खौल रहा था। प्रति क्षण लोगों को भय होता था कि कहीं वे मूर्च्छित हो कर गिर न पड़ें। लोग अत्यन्त विनीत भाव से कह रहे थे, "दीनबन्धु, आप अपने सुकोमल शरीर को अब कष्ट न दें। हमें अन्न-जल के बिना मर जाना स्वीकार है; पर आपकी यह दशा देखी नहीं जाती"। किन्तु राजा के मुखमंडल से अटल प्रतिज्ञा का दिव्य प्रकाश फैल रहा था। उनकी, कर्म तथा ज्ञान की, समस्त इन्द्रियाँ शून्यावस्था में थीं। हाँ, शरीर का एक एक रोम स्पष्ट शब्दों में कह रहा था कि:-"परम पिता, मेरी प्रजा दुखी है, उसे उबारिये। मैं पापी हूँ, कुकर्मी हूँ, दुराचारी हूँ, दुर्व्यसनी हूँ, मुझे आपसे कुछ प्रार्थना करने में भी लज्जा होती है; पर मेरे कुकर्मों का दण्ड मुझे मिलना चाहिये, मेरी प्रजा निरपराध है, उसपर दया कीजिये। मैं कठोर से कठोर यातना के लिये आपके सन्मुख सिर झुकाये खड़ा हूँ। यदि आप मेरी प्रार्थना को स्वीकार न करेंगे, तो मैं यहीं खड़े खड़े प्राण दे दूँगा; पर प्रजा को अपना मुँह न दिखाऊँगा। मैं आपका दासानुदास हूँ, आपसे अपना दुःख कहने में कोई अपमान नहीं है; किन्तु जो प्रजा मुझे अपना स्वामी समझती है उसके साम्हने मैं कौन मुँह ले कर जाऊँ ?"

दो घंटे बीत गये। सूर्य्य की किरणें और भी प्रचंड हुईं। भूमि और भी अधिक तप्त हो गई। सारी प्रजा आकाश की ओर टकटकी लगाये देख रही थी; किन्तु बादल का कहीं नाम न था।

(५)

सारा नगर यह विलक्षण दृश्य देखने के लिये उमड़ा चला आता था। प्रत्येक हृदय राजा के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति से परिपूर्ण हो रहा था। ऐसा राज्यानुराग कभी देखने में न आया था। सहस्रों नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी, स्त्रियाँ व्याकुल हो हो कर विलाप कर रही थीं। राज-भवन से क्रन्दन-ध्वनि निकल कर सबके हृदयों को विदीर्ण किये देती थी।

तीन बज गये थे; पर सूर्य्य का तेज लेश-मात्र भी कम न हुआ था। राजा पृथ्वीपतिसिंह की आँखें फैल गई थीं, माथा सिकुड़ गया था, शरीर को सँभालने और चित्त को बलात्कार स्थिर रखने के कारण ओंठ पुष्पकली के समान बन्द हो गये थे। ऐसा ज्ञात होता था कि इनके शरीर में रक्त-संचार नहीं है, प्राण नहीं हैं, केवल नैराश्य-मय दृढ़ता का बल उन्हें पैरों पर खड़ा रक्खे हुए है। लोगों को प्रति क्षण भय होता था कि राजा अब भूमि पर गिरे, अब गिरे। बहुत से प्राणियों को तो विश्वास था कि

यद्यपि राजा खड़े हैं; पर यह केवल शवमात्र है। जिस ताप और उष्णता को घर में बैठ कर सहन करना दुस्तर था, जिस धूप में चील अंडे छोड़ती थी और कीट-पतंग धरती से निकल निकल कर तड़पते और मर जाते थे, जिस अग्नि-कुंड में किसी जीवधारी का एक क्षण खड़ा रहना असंभव था उस दहकती हुई ज्वाला में राजा जैसा सुकोमल, सुखोन्वित मनुष्य इतनी देर तक क्यों कर खड़ा रह सकता है?

सहसा जयजयकार की ध्वनि से सारा आकाश-मंडल गूँज उठा, मानो कोई भयंकर भूकम्प आ गया हो, अथवा दो पर्वत टकरा गये हों। लाखों मनुष्य आनन्द से विह्वल होकर उछलने कूदने लगे। सारी जनता में एक हलचल सी मच गई। अगणित उँगलियाँ पूर्व दिशा की ओर उठ गईं। एक छोटा सा बादल का टुकड़ा क्षितिज पर उसी तरह दिखाई दे रहा था, जैसे अंधकार में कोई दीपक टिमटिमा रहा हो।

एक क्षण में क़िले से तोपें छूटने लगीं। स्त्रियाँ मंगलाचार गाने लगीं और भवन-द्वार पर खड़ी होकर महारानी यशोदा ने दरिद्रों को अन्न-वस्त्र देना आरंभ किया। किन्तु प्रजा शांत हो गई थी। आनन्द की पहिली लहर ने उन्हें अधीर कर दिया था। अपने उल्लास को हृदय में छिपा कर अब वह बादल के टुकड़े की ओर आशा और भय के साथ ताक रही थी।

देखते देखते बादल के उस छोटे से टुकड़े ने विराट् रूप धारण कर लिया। जैसे बारूद के ढेर में आग लगते ही क्षणमात्र में चारों ओर धुआँ फैल जाता है, उसी प्रकार वह बीज-रूपी मेघ समस्त आकाश में छा गया। बिजली चमकने लगी और पवन के झकोरे चलने लगे। अकस्मात् एक कर्णबेधी मेघ-ध्वनि सुनाई पड़ी। यह भीषण नाद इस समय लोगों को स्वर्गीय गान से भी अधिक प्रिय मालूम हुआ। इस नाद को सुनने के लिये वे कितने ही दिनों से लालायित हो रहे थे।

सूर्य्य भगवान् बड़े वेग से अस्ताचल की ओर दौड़े चले जाते थे, मानो वे इस मेघ-दल से भयभीत हो गये हों। पर उनका भागना भी निष्फल हुआ। क्षण भर में वे इस काले मेघसागर में विलीन हो गये। पृथ्वी पर अंधकार छा गया। यह अंधकार जनता की आशाओं का विमल प्रकाश था।

बादल फिर गरजने लगे और जल-बिन्दु पृथ्वी पर गिरने लगीं। असंख्य मनुष्य भक्ति, श्रद्धा, आनन्द तथा अनुराग से उन्मत्त होकर राजा की ओर दौड़े और उनके चरणों पर गिर पड़े। राजा अभी तक मूर्त्ति के समान स्थिर खड़े थे। उनके मुख की कालिमा धुल धुल कर बही जाती थी। उनका दिव्य स्वरूप श्याम घटा से इस प्रकार उदित होता आता था जैसे बादलों में से चाँद निकलता है। उनके मुख पर इस समय एक अलौकिक प्रतिभा थी और नेत्रों से आत्मोत्सर्ग की ज्योति निकल रही थी।

उन्हों ने प्रतिज्ञा की थी कि मुख की यह कालिमा अब ईश्वर की दयावृष्टि से ही धुलेगी और यह प्रतिज्ञा पूरी हुई; क्योंकि उनमें दृढ़ता थी, आत्मिक बल था, और परमात्मा की दीनबंधुता पर पूरा पूरा विश्वास था।

देश कभी इतना उल्लासित, इतना सुखी औ इतना गौरवोन्मत्त न हुआ था।

जी की बातें।

(लेखक—पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, साहित्यरत्न)

चौतुका।

पेट की चापलूसियों में पड़।
गालियाँ जो कि जाति को देवें॥
चाहिये तो बिना रुके हिचके।
जीभ उनकी निकाल हम लेवें॥१॥
बात चिकनी कपट-भरी कहकर।
जब रही जाति पर बला लाती॥
जब कि थी खींच-तान में पड़ती।
जीभ तब खींच क्यों न ली जाती॥२॥
जब लगी काट-छाँट में वह थी।
तब न क्यों काट-छाँट की जाती॥
जब कतर-व्योंत रुच गई उसको।
जीभ तब क्यों कतर न दी जाती॥३॥
विष रहे जो कि घोलती रस में।
क्यों उसे रस चखा चखा पालें॥
बात जिससे सदा रही कटती।
क्यों न उस जीभ को कटा डालें॥४॥
जो कि बेढंग चल करे चौपट।
चाहिये खींच कर उसे दम लें॥
जाति की नाक कट गई जिससे।
काट उस जीभ को न क्यों हम लें॥५॥
वार पर वार कर रही जब थी।
तब भला किस तरह तरह देते॥
पड़ गई जाति गाढ़ में जिस से।
काढ़ उस जीभ को न क्यों लेते॥६॥
क्या भला तखि रसों को तब चखा।
जब न उसकी काहिली को खो सकी॥
जाति को तीखी बनाने के लिये।
जीभ, जब तीखी नहीं तू हो सकी॥७॥

अमेरिका में सम्पादन-कला।

(लेखक—अमेरिका-प्रवासी बाबू सुकुमार चट्टोपाध्याय, * आय० जे०)

मानसिक विचारों के प्रकट करने के लिये प्रत्येक इंद्रिय की सहायता आवश्यक है। कर्मेन्द्रियाँ उन विचारों के प्रगट करने में सहायता करती हैं, और ज्ञानेन्द्रियाँ उन्हीं प्रकट किये हुए कार्यों को देख कर चिदाकाश में पुनः उन्हीं विचारों का सन्निवेषण करती हैं। मानसिक भावों को कल्पना-राज्य से निकाल कर कार्य में परिणत करने के लिये जिन जिन शक्तियों की आवश्यकता है वे सब कर्मेन्द्रियों की सहायता से उत्कर्ष-लाभ करती हैं। उदाहरण लीजिये—किसी चित्र को देखने वाले उन्हीं भावों को उपलब्ध कर सकते हैं जो चित्रकार के मन में थे। वैसे ही किसी गान अथवा वाद्य को श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुननेवाले उन्हीं विचारों को उपलब्ध कर सकते हैं जो गाने वाले अथवा बजाने वाले के मन में थे। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उत्तम और अधम आघ्राणों का परिचय मिलता है और रसेन्द्रिय से रसों का अनुभव होता है। जो ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तिष्क के जितने निकट हैं उनका प्रभाव उतना ही अधिक होता है। इन्द्रियों के सूक्ष्म गुणों को एकत्र करने से रूप, रस, गंध आदि का और इनकी उपलब्धि से सब प्रकार के सांसारिक पदार्थों का परिचय और

* अमेरिका में कुछ वर्ष अध्ययन करने पर सम्पादन-कला की परीक्षा में जो उत्तीर्ण होते हैं उन्हें I. J. अर्थात International Journalist, अर्थात "अंतर्राष्ट्रीय पत्रसंपादक" की उपाधि मिलती है।—सम्पादक।

जीवात्मिक-जड़ित मन से बुद्धि, अहंकार, विवेक, रुदन, करुणा, आमोद इत्यादि रसों का परिचय होता है। इसमें भी अधिक गूढ़ आलोचना करने से एक महती शक्ति उत्पन्न होती है जिसको अन्तरात्मा और साधारण रूप से अन्तःकरण कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा एक इंद्रिय का कार्य दूसरी इंद्रिय अच्छी तरह कर सकती है। इस महाविद्या का नाम योगविद्या है। सम्पादनकला हर प्रकार के मानसिक भाव को इस तरह लिपिबद्ध करती है कि जिससे केवल पढ़ने अथवा सुनने से ही समस्त इंद्रियों के परिचय की वस्तुओं की उपलब्धि हो। इसमें सर्वप्रथम जितने प्रकार के मानसिक भाव हैं उनके लिये चिह्न-निरूपण किया जाता है। इसी का नाम साहित्य है।

इन्हीं चिह्नों के विशेष विशेष समावेश से विशेष विशेष भाव प्रगट किये जाते हैं। सम्पादन-कला इस लिये सर्वश्रेष्ठ कला मानी जाती है कि इस कला के सम्यक् अध्ययन से दूसरी कलाओं के भाव को, उन कलाओं के विशेष ज्ञान के बिना, यथोचित रीति से प्रगट कर सकते हैं। इसके कई विशेष अंग हैं। प्रथम अंग साहित्य से अधिक संबंध रखता है। उसमें केवल चिह्न और शब्दों के सूक्ष्म सूक्ष्म अर्थ और उन्हें समावेश करने की विधि इन दोनों की अत्यंत आवश्यकता है। तत्पश्चात श्रुतिमाधुर्य की आवश्यकता होती है। खेद का विषय है कि हिन्दी-साहित्य में केवल पद्य को छोड़ कर गद्य में इसकी कोई आलोचना नहीं की गई और न इसके विषय में कोई नियम बनाये गये हैं। गंभीर गवेषणा से यह देखा गया है कि कुछ मानसिक विचार ऐसे रसपूर्ण हैं जिन्हें हमारी स्मृति शीघ्र नहीं भूलती। इन विशेष विचारों को उत्पन्न करनेवाले शब्दों का नाम "स्मरणीय शब्द" (Retrospective words and phrases) रखा गया है। जिन शब्दों के समावेश से ऐसे रस के भाव उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम शीघ्र न भूलें उनका नाम "रससंयुक्त शब्द" (emotional words and phrases) रखा गया है। जो केवल श्रुतिमधुर हैं, परन्तु जिनसे कोई विशेष रस या भाव प्रकाशित नहीं होते उनका नाम "रसविहीन श्रुतिमधुर" (Platitudinous euphony) रखा गया है। जिन शब्दों के समावेश से श्रुति-माधुर्य और किसी मानसिक माधुर्य का परिचय होता है उन शब्दों का नाम "परमानंद-प्लावित शब्द" (Beatitudinous words and phrases) रखा गया है। इसी प्रकार से इन विशेष विशेष शब्दों और वाक्यों के प्रयोग से ऐसे मानसिक भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं जिनके भिन्न भिन्न प्रभाव से भिन्न भिन्न विचार पाठकों के हृदय में उत्पन्न किये जा सकें।

इसके पश्चात प्रत्येक लेख के कई अंग होते हैं। लेख का कुछ न कुछ आदर्श सदा होता है जिसे प्रारंभ से कोई भी पाठक नहीं समझ सकते; परन्तु उसे जानने के लिये बड़े उत्कंठित रहते हैं। यही आदर्श लेखक का प्रधान उद्देश रहता है। परन्तु यदि यह आदर्श बिलकुल साधारण भाषा में, साधारण भाव से, साधारण लोगों को स्पष्टता से बतला दिया जावे, तो वह उनके स्मरण में अधिक देर तक उसी तरह नहीं रह सकता जैसे अपने प्रतिदिन के साधारण कार्य को हम पूर्ण रूप से स्मरण नहीं रख सकते। इसलिये अच्छे लेखक स्मरण में रखने योग्य शब्दों और वाक्यों का एकत्र समावेश करके सब प्रकार के

रसों और मानसिक विकारों के भीतर से पाठक को उस आदर्श के समीप धीरे धीरे ले जाते हैं जिससे उसके हृदय में एक एक शब्द और एक एक रस भलीभाँति अंकित हो जाते हैं। अन्त में जब वे उस आदर्श को पा जाते हैं, तब उसको फिर कभी नहीं भूलते। जिस प्रकार मनुष्य स्वोपार्जित और स्वाधिकार की वस्तुओं पर अधिक प्रेम करते हैं और उनके लिये तन-मन-धन सभी का बलिदान कर देने को प्रस्तुत रहते हैं, इसी प्रकार लेखक अपने मत और आदर्शों को इस प्रकार से लिखने का प्रयत्न करता है कि जिससे अधिक से अधिक पाठकगण उस मत अथवा आदर्श को अपना बना लें। यह शक्ति जिस लेखक अथवा वक्ता में जितनी अधिक होती है वह उतना ही अधिक प्रभावशाली और लोकमान्य हो जाता है।

एक और अंग है जिसपर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसे हम बहुधा बड़े बड़े उपन्यासों और कविताओं में देखते हैं। वह यह है कि किसी विशेष उद्देश-साधन के निमित्त और भी कई छोटे उद्देश संयुक्त कर दिये जाते हैं। इन छोटे उद्देशों का यह अभिप्राय है कि साधारण पाठक किसी एक विशेष भावात्मक विषय में अधिक काल तक मनोयोग नहीं कर सकते; इसीलिये इन एक एक छोटे उद्देश तक पहुँचने के लिये विशेष विशेष रसात्मक शब्द और विन्यास प्रयुक्त किये जाते हैं; परन्तु वे ऐसे रहते हैं कि अंत में प्रधान उद्देश की ओर खींचते हैं। इसीलिये उपन्यासों में चार, पाँच अथवा अधिक नायक-नायिकाओं का वर्णन रहता है। आजकल हम उपन्यासों को बहुत घृणित और अपकारी विषय समझते हैं। शोक का विषय है कि आजकल के उपन्यास-लेखक इन महान् भावों को नहीं समझते। परन्तु उपन्यास का उद्देश धर्मशास्त्र के उद्देश से भी बड़ा है; क्योंकि धर्मशास्त्र केवल एक आदर्श का मार्ग एक ऐसे संकीर्ण भाव से बतलाता है जो एक ही विशेष सीमा के भीतर चलते हैं और दूसरे साधारण-हृदय-वाले पुरुष उस मार्ग पर नहीं चल सकते। उपन्यास सब प्रकार की मानसिक वृत्ति वालों में से प्रत्येक की विशेष वृत्तियों को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करके फिर उन्हें अपने महान् आदर्श की ओर खींच लेता है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि वर्तमान मानसिक विचार अधिकतर अन्तरात्मिक न होकर जीवात्मिक है जिसे कि इन्द्रियात्मिक भोजन न मिलने से कष्ट होता है और इच्छाशक्ति विवेक-शक्ति से अधिक प्रबल है। इच्छाशक्ति इन्द्रियात्मिक रसों का फल है; इसीलिये अतीत काल के महावाक्यों और उपदेशों को यदि वर्तमान काल की आवश्यकताओं के रूप में न प्रगट कर सकें, तो उन्हें सुनने के लिये कोई भी प्रस्तुत नहीं है। इसलिये सम्पादन-कला भावों को तीन प्रकार के रूपों में प्रकाश करती है:—(१) पुराने विचार को नये रूप में प्रगट करना, (२) नये विचार को पुराने रूप में प्रगट करना, और (३) और नये भावों को नये रूप में प्रगट करना। जो पुराने भावों को पुराने रूप से प्रगट करते हैं उनकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देगा। अब हम यदि संपादन-कला की व्याख्या इस प्रकार करें, तो अनुचित न होगा कि सम्पादन-कला मनुष्य की दुर्बलताओं को जानकर भी, उनपर कटाक्ष न करके, उनका मूल कारण बतलाती है और इन्हीं कारणों के

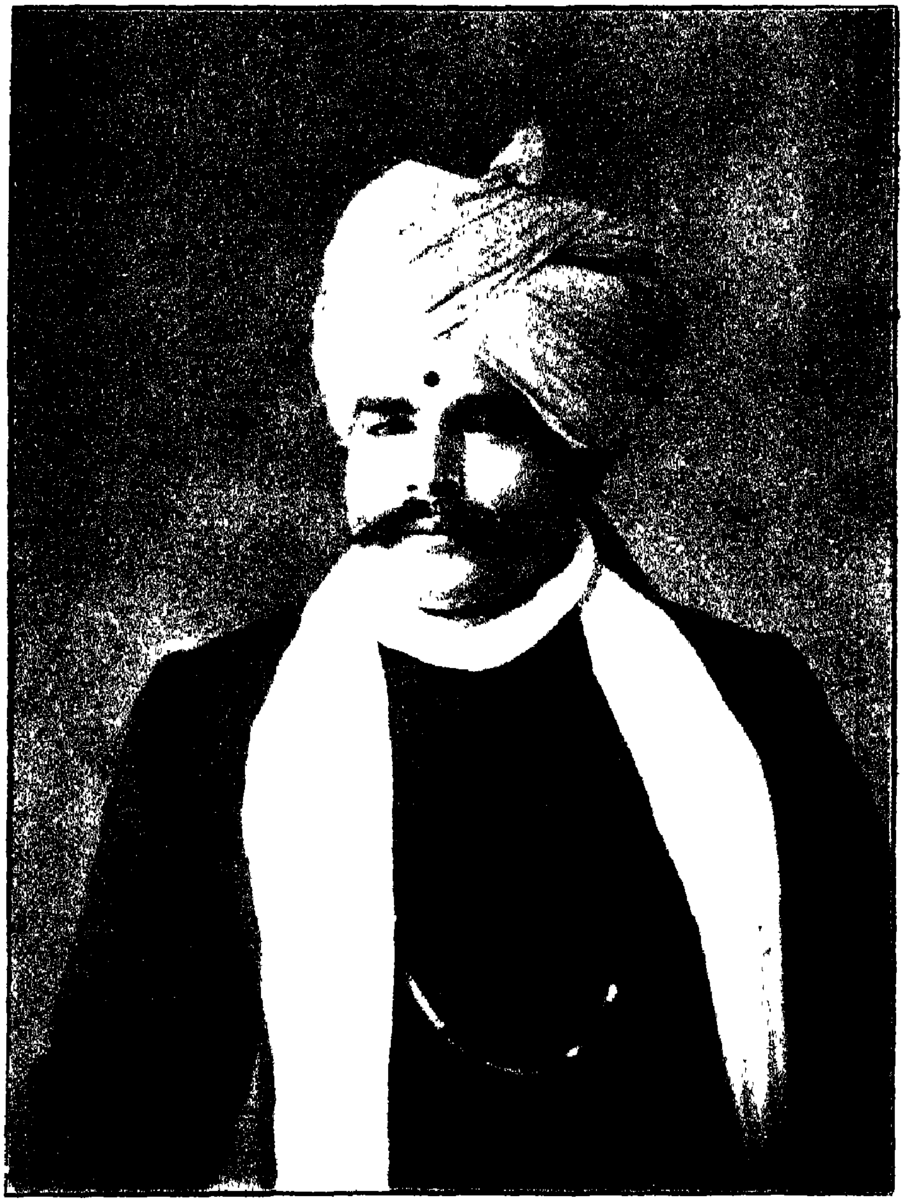
द्वारा एक महान् उद्देश की ओर संकेत करती हुई ऐसी वाक्यछवि उत्पन्न करती है जिस से पाठकगण लेखक पर द्वेष न रखकर अपनी दुर्बलताओं पर घृणा प्रगट करें और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। इस सम्पादन-कला का निर्मल प्रकाश किसी भी देश अथवा राष्ट्र के साहित्य में अधिकता से नहीं पाया जाता। निरपेक्ष भाव से अनुचित कर्म की ओर घृणा उत्पन्न करना, परोपकार के कार्य में रत होना, सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक आदर्शों की ओर ध्यान आकर्षित करना, संसार-क्षेत्र में उपयुक्त कार्यक्षम बनना, जीवन-समस्याओं की सरल मीमांसा करना, भिन्न भिन्न उद्देशों के पुरुषों को किसी सर्वजनानुमोदित ध्येय की ओर खींच ले जाना, साधारण मनुष्यों को जीवन के गूढ़ और महान् रहस्यों के भाव समझाना, प्रकृति के जटिल रहस्यों को विभिन्न-मानव-प्रकृति के अनुसार स्पष्ट रूप से बतलाना, उत्तम और अधम विषयों का कारण निर्देश करना, सदसद्विवेक बुद्धि की सृष्टि करना ये सभी विषय सम्पादन-कला के अन्तर्गत हैं। शोक का विषय है कि आजकल सम्पादकों की अर्थलिप्सा और संकीर्णता के कारण निरपेक्ष समालोचना का अभाव हो रहा है। क्या संसार में ऐसे महानुभाव नहीं हैं जो सम्पादन-कला की महिमा और आभा को जगत के सन्मुख निष्कलंक रूप से रखने में सर्वथा समर्थ हों?

अब हम सम्पादन-कला के एक दूसरे अंग का वर्णन करते हैं। इसका नाम संवादान्वेषण-कला है। प्रत्येक देश में कई स्थान ऐसे हैं जहाँ से चित्ताकर्षक और उपयोगी संवाद अधिकता से पाये जाते हैं। ऐसे स्थानों में संवादान्वेषक जन नियुक्त किये जाते हैं और इनका नाम संवाद-दाता (Reporter) रखा गया है। यह कला बड़ी कठिन है। इसका ज्ञान कई वर्षों के अनुभव से हो सकता है। संवादान्वेषकों को वार्त्तालाप में बहुत ही चतुर होना चाहिये। अधिक कठिनाई यह होती है कि सर्व साधारण इन अन्वेषकों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। अमेरिका में इस कठिनाई से बचने के लिये एक युक्ति निकाली गई है। वहाँ कम्पनियाँ बनाई गई हैं, जिनका काम संसार के सभी प्रकार के संवादों की खोज करना है। इनके साथ एक एक शिक्षाशाला भी रहती है जो होनहार युवकों एवं युवतियों को कार्य-क्षम बनने की शिक्षा देती है। साहित्य-शिक्षा प्राप्त करके फिर इन शालाओं में भरती होना पड़ता है। यहाँ रूढ़ और गुप्त स्वभावों की घटनाओं और व्यक्तियों का पता लगाना सिखाया जाता है। यहाँ सभी प्रकार के स्त्री-पुरुषों के स्वभावानुकूल चलना और उनकी रुचि तथा प्रवृत्ति पहिचानना भी सिखलाया जाता है। ये कम्पनियाँ अपने प्रतिनिधियों को एक एक कार्ड देती हैं जिसमें सर्वसाधारण से प्रार्थना की जाती है कि उनके साथ सभ्योचित व्यवहार किया जावे। संवादान्वेषक जिस स्थान में जिस समय जाता है उसी स्थान और समय के अनुकूल वेषभूषा और भाषा का व्यवहार करता है। अपने पास के कार्ड को वह केवल विपत्ति के समय ही काम में लाता है। एक ऐसी ही स्त्री पुरुष के वेष में कई महीनों तक अनेक आपत्ति-पूर्ण स्थानों में मेरे साथ घूमती रही। उसके पास किसी कम्पनी की ओर

से कोई कार्ड नहीं था। एक समय सैनफ्रान्सिस-को शहर के चीनी मुहल्ले में रात्रि को दंगा हो गया और हम सब लोग पकड़े गये; क्योंकि रात्रि को दो बजे के समय वहाँ उपस्थित रहना सन्देहजनक था। हमने तो पुलिस-कप्तान को अपना कार्ड दिखला दिया और छुट्टी पा ली; परन्तु उस स्त्री के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था। जामातलाशी होने पर विदित हुआ कि वह स्त्री है। अनेक कष्ट झेल कर, पाँच बजे प्रातःकाल, वह बेचारी स्त्री हवालात से छुटकारा पा सकी। वह स्त्री परोपकार-लीन और दयालु-हृदय थी और चाहती थी कि समाज के सन्मुख कुछ अच्छे कार्य करके 'दुर्गुण-विनाशक-सभा' (Vice-Committee) की सदस्य बन जावे। अस्तु; समय ने उसका मूल्य प्रगट कर दिया और अब वह संवादपत्र के संसार में बहुत प्रख्यात हो गई है। इस समय उसके लेखों के प्रत्येक शब्द का मूल्य १) है। इस विदुषी के अनवरत प्रयत्नों से इन्द्रिय-लोलुपता-जनित पापों का नाश हो चला है और अमेरिका में उसका स्थान सदैव बहुत ऊँचा रहेगा। अखिल-मानव-समाज इस उपकारी स्त्री का सदैव ऋणी रहेगा; क्योंकि मानसशास्त्रवैज्ञानिकों के पास उसने इस बात के अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं कि सब प्रकार के पापों और अवगुणों की उत्पत्ति मानसिक कारणों से है और उनकी शुद्धि किसी शारीरिक दंड से नहीं हो सकती। अस्तु।

संवाद-संग्रह की तरह चित्र संग्रह करने का काम भी बहुत आवश्यक है। लुच्चे, बदमाश, भले आदमी सभी प्रकार के व्यक्तियों के चित्रों को एकत्रित कर, उनकी संक्षिप्त जीवनी के साथ, अपनी अपनी कंपनी की "फ़ोटोग्राफ़-गैलरी" में रखना पड़ता है। ज्योंही किसी स्त्री या पुरुष के विषय में किसी तरह का आन्दोलन होता है, त्योंही इन चित्रों और विश्वसनीय जीवनियों के आधार पर अपना सहमतिसूचक अथवा विरोधसूचक मत प्रकाशित कर दिया जाता है। भारतवर्ष में "एसोशियेटेड प्रेस" के सिवा इस तरह का और कोई साधन नहीं है। एसोशियेटेड प्रेस की यह गैलरी भी शिमला की गैलरी की सहायता से ही अपना अधिक काम निकालती है। प्रत्येक संवाददाता-न्वेषक के साथ एक एक जासूसी खुर्दबीन या कैमरा रहता है जो देखने में प्रायः घड़ी या दूरबीन के नमूने का होता है। इसके द्वारा ४०० सेकन्ड में फ़ोटो लिया जाता है। इस यंत्र का मूल्य १५) रुपये से लगाकर २०००) रुपये तक है; परन्तु साधारण कार्यों के लिये दो तीन सौ रुपयों के यंत्र से काम चल जाता है। विद्यार्थी-गण पंद्रह रुपये के यंत्र से काम सीखते हैं।

इसके पश्चात् अंक (statistics)-संग्रह करने का काम सीखना पड़ता है। इसके अंतर्गत ये बातें हैं— सब प्रकार की वस्तुओं की उपज और खर्च के स्थान जानना, आय-व्यय के सिद्धांतों की समीक्षा, उत्पत्ति और विनाश, रोगों का कारण जानना, काल-निर्णय आदि। इस विषय का वैज्ञानिक अन्वेषण से घनिष्ठ संबंध है। इस विषय के द्वारा कार्य-कारण-संबंध का पता ऐतिहासिक और अंक-प्रमाण-जनित बातों से लगाया जाता है। उदाहरणार्थ, अग्निकांड का विषय लीजिये। इस विषय पर कुछ लिखने के पहिले, अग्निकांडों के नियमों और कारणों का ढूँढ़ना और संसार की



राय बहादुर पण्डित विष्णुदत्त जी शुक्ल,
बी० ए०, एम० आर० ए० एम०

एतद्विषयक अनेक घटनाओं का मनन करना पड़ेगा। सारांश यह है कि संपादन-कला के अंतर्गत संसार की सभी विद्याएँ आ जाती हैं। यदि पाठशाला में विद्यार्थि-गण पाठ्य विषयों की ओर मन नहीं लगाते, तो इसका बहुत कुछ दोष ग्रंथकर्त्ताओं को भी दिया जा सकता है; क्योंकि संपादन-योग्यता के अभाव में वे विषयों को मनोरंजन नहीं बना सके। इसी कला के प्रभाव से जर्मनी और अमेरिका व्यापार-जगत के अगुआ होकर सर्वत्र अपना व्यापार-विस्तार कर सके हैं। इसी कला के अभाव से भारतवर्ष का व्यापार अवनत दशा में है। मनुष्य अपने मानसिक भावों को सर्व-जनानुमोदित रूप से प्रकाशित करने में कितना असमर्थ है यह एक छोटे से उदाहरण से विदित हो सकता है। जिस समय हम सम्पादन-कला के कालेज में पढ़ते थे उस समय शिक्षक भिन्न भिन्न विद्यार्थियों की परीक्षा के लिये ५०० शब्दों का एक लेख अति सरल भाषा में पढ़कर सुना देते थे। उसे सुनकर प्रत्येक को उसका सारांश लिखना पड़ता था। परन्तु फी सदी दो चार विद्यार्थी भी उसका सारांश ठीक ठीक नहीं लिख सकते थे। लेख देखकर उसके आधार पर लेख लिखने के काम में सौ में दस पाँच ही विद्यार्थी सफल होते थे। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि मस्तिष्क के पास अधिक ठीक संवाद पहुँचाने के कार्य में कान की अपेक्षा आँख अधिक उपयोगी है। एक कहावत प्रसिद्ध है कि जो बात सुनने में आती है वह आधी सच्ची, जो देखनेमें आती है वह पौन हिस्से सच्ची, और जो अनुभवमें आती है वह सोलह आने सच्ची है।

मनुष्यों में कई प्रकार के मानसिक रोग पाये जाते हैं:—(१)मानसिक विचारों को यथातथ्य प्रकट करने की शक्ति का अभाव, (२) किसी पुस्तक को घंटों पढ़कर कुछ भी स्मरण न रखना, (३) दूसरे के कहे गये विचारों पर ध्यान न देकर उनका मनमाना अर्थ निकालना। पहिले प्रकार के लोग मूर्ख और उत्सुकता-रहित, दूसरे प्रकार के असावधान, और तीसरे प्रकार के लोग घमंडी होते हैं। इन्हीं रोगों के एक दूसरे के मिलाप से कई प्रकार के रस और नये चित्त-विकार पैदा होते हैं। इन्हीं को यथार्थ रूप से समझने के लिये सम्पादन-कला-शिक्षार्थी को इस प्रकार की प्रकृति के अनेक पुरुषों तथा स्त्रियों से मिलना पड़ता है। फलतः उसे आलोचना-शक्ति और चरित्रानुमान-विद्या का लाभ होता है।

राय बहादुर पं० विष्णुदत्त शुक्ल, बी. ए.।

(लेखक—पं० [illegible]प्रसाद गौतम, विशारद)

शुक्लजी मध्यप्रदेश के अग्रगण्य नररत्न हैं। आपकी कीर्ति सारे भारतवर्ष में फैल रही है। आप अतुल सम्पत्तिशाली, प्रकांड विद्वान, सच्चे कार्यकर्त्ता, अनुकरणीय नेता और आदर्श पुरुष हैं। आगामी अप्रैल मास में पटने में होनेवाले अखिल-भारत-वर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आप सभापति निर्वाचित किये गये हैं; अतः आपका संक्षिप्त परिचय साहित्य-प्रेमियों के लिये यहाँ सहर्ष प्रकाशित किया जाता है।

आपका निवासस्थान सिहोरा (मध्यप्रदेश) है। आपके प्राचीन पुरुष गोरखपुर जिले से

आये थे। आपके पितृ और मातृकुल दोनों के पूर्वज एक से एक बढ़ कर धनी, मानी और प्रतिष्ठित होते आये हैं। लोग आपके पितामह को, उनकी दानशीलता के कारण 'कर्ण' कहा करते थे। मराठे राजा की अमलदारी में आपके पितृव्य 'सूबा' थे। यह पद आजकल के डिप्टी कमिश्नर के पद से बड़ा है। आपके पिता जबलपुर के एक प्रतिष्ठित रईस ही न थे, बल्कि अपनी उदारता, सज्जनता और परोपकार के कारण सर्वप्रिय भी थे। उनकी दीन-पोषकता इसीसे प्रगट हो सकती है कि उनके पास जो मनुष्य जिस इच्छा से जाता था वह विमुख न लौटता था। परिणाम यह हुआ कि उनपर धीरे धीरे डेढ़ लाख रुपये का ऋण हो गया। उनकी अवस्था बढ़ती गई और ऋण भी बढ़ता गया, अतएव वे बहुत चिंतित रहने लगे। इस चिन्ताग्नि में संतान का अभाव लगभग ३० वर्षों तक आहुति डालता गया। फलतः वे सांसारिक सुखों से विरक्त से हो गये और राधाकृष्ण का मंदिर बनवा कर ईश्वर—भक्ति में तल्लीन होने लगे। उनकी धर्मपत्नी भी पतिदेव के मार्ग का अनुसरण करने लगीं। इन उत्कट दंपती भक्तों को अधिक समय तक संतान-सुख से वंचित न रहना पड़ा। एक कन्या होने के बाद सन १८७६ ई० में उन्हें विष्णु—प्रसाद-रूप विष्णुदत्त नामक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ।

बालक को देख कर मातापिता को कितना हर्ष हुआ होगा इसका अनुमान नहीं किया जा सकता; परंतु भगवच्चरणारविंदों में उनका प्रेम बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि बालक के यथेष्ट निरीक्षण में भी बाधा पड़ने लगी; अतएव पं० बाबूराम द्विवेदी नामक एक सुयोग्य सज्जन निरीक्षक नियुक्त किये गये। ये बालब्रह्मचारी, अद्वितीय स्वामिभक्त और बड़े दृढ़चरित्र हैं और इनके सद्गुणों का प्रभाव बालक पर खूब पड़ा। शुक्लजी के बाल्यकाल की अनेक बातें उल्लेखनीय हैं जिनमें उनकी कुशाग्र बुद्धि और भाग्यमत्ता का परिचय मिलता है। जब वे केवल ३½ वर्ष के थे, तब एक बार मध्यप्रदेश के चीफ़ कमिश्नर मर जान मारिस साहब सिहोरा आये थे। उन्हें गोद में लेकर उनके पिता चीफ़ कमिश्नर साहब से मिले। यह मालूम होने पर कि बालक जमींदार साहब का पुत्र है चीफ़ साहब ने प्रेम से अपना हाथ आगे बढ़ाया और आप उनकी ठुड्डी पकड़कर हिलाने लगे। बालक ने भी तुरन्त चीफ़ साहिब की लंबी दाढ़ी पकड़ ली। जैसे जैसे साहब ठुड्डी हिलाते थे, वैसे ही वैसे बालक उनकी दाढ़ी हिलाता था। यह देखकर पिता ने पं० बाबूराम को डाँट कर कहा कि "देखो, दाढ़ी छुड़ा दो। लड़के का हाथ पकड़ लो"। चीफ़ कमिश्नर साहब ने उत्तर दिया, "नहीं नहीं शुक्लजी, बालक को खेलने दो। यह बड़ा स्वाभिमानी होगा। जो इसके साथ जैसा व्यवहार करेगा उसके साथ यह भी वैसा ही व्यवहार करेगा"।

कोमल—हृदय बालक पर शीघ्र ही पितृ—वियोग का वज्रपात हुआ। कुंभ-संक्रान्ति के समय, शुक्लजी के मातापिता तीर्थयात्रा करने के लिये प्रयाग गये थे। वहीं हैज़े की बीमारी से इनके पिता की मृत्यु होगई। ऐसा प्रबंध किया गया जिसमें बालक को पिता की मृत्यु का समाचार ठीक ठीक न मालूम हो सके,

क्योंकि ऐसा हो जाने पर उसके अत्यन्त दुःखित हो जाने की संभावना थी। इस दुर्घटना की सूचना तार द्वारा शीघ्र जबलपुर के डिप्टी कमिश्नर के पास भेजी गई। शीघ्र ही सारे इलाके और जायदाद का कार्य-भार कोर्ट आव् वार्ड्स के हाथों में चला गया। इस समय बालक विष्णुदत्त की अवस्था ६ वर्ष की और क़र्ज़ डेढ़ लाख रुपये था। वे घर में हिन्दी की दूसरी पुस्तक पढ़ते थे। ज़िला के अधीश ने इन्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिये जबलपुर के राजकुमार कालेज में भेजना चाहा। माता के सन्मुख बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो गई। प्राणाधिक पूज्य पतिदेव के वियोग से दुःखित होने पर अपने नन्हें बच्चे को आंखों की ओट करने में वात्सल्य-प्रेम बाधक हो रहा था; परंतु साथ ही पुत्र को सुयोग्य बनाने की प्रबल कामना भी पूर्णतया जागृत थी। वीर माता ने मोह-ममता पर ज्ञान-शस्त्र के सहारे विजय प्राप्त की। उनकी सहमति पाकर डिपुटी कमिश्नर बहुत प्रसन्न हुए। अवस्था कम होने पर चीफ़ कमिश्नर की विशेष स्वीकृति से वे, सन १८८१ ई० में, राजकुमार कालेज में भरती कर लिये गये। इनकी प्रतिभाशाली बुद्धि का विकाश शीघ्रता से होने लगा और सहपाठी लड़के इन्हें 'गुरुजी' कहने लगे। १३ वर्ष की अवस्था में विशेष स्वीकृति से आप पहिली बार एन्ट्रेंस की परीक्षा में बैठे। अधिक परिश्रम से स्वास्थ्य बिगड़ गया। आपको उन्निद्र रोग हो गया। सन १८९२ में परीक्षा में तीसरी बार सम्मिलित होने पर आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। सन १८९४ में आप लखनऊ के कॉनिंग कालेज से एफ़. ए. की परीक्षा पास कर फिर बी. ए. की तैयारी करने लगे। बी. ए. की परीक्षा में आपको सम्मान-पूर्ण डिग्री मिली। इनकी सुयोग्यता से प्रसन्न होकर विश्वविद्यालय ने इन्हें एक स्वर्ण-पदक दिया। यद्यपि इन्हों ने कोई क़ानूनी परीक्षा पास नहीं की है, तथापि सुप्रसिद्ध विद्वान् मिस्टर डिबृटर के पास इन्हों ने लगातार दो वर्षों तक क़ानून का अध्ययन किया है। ये डिबृटर महाशय आजकल प्रिवी कौंसिल में वकालत कर रहे हैं। इसी अवधि में इन्हों ने ज़मींदारी के कामों को सीख लेने की ओर भी पूरा पूरा ध्यान दिया था।

शुक्लजी की योग्यता और कार्य-कुशलता से प्रसन्न हो डिप्टी कमिश्नर ने इन्हें इनका इलाक़ा सन १८९८ में वापिस दे दिया। ये आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गये। इस पद का निर्वाह इन्होंने बड़ी चतुरता से किया; फलतः ये शीघ्रही फ़र्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट बना दिये गये। कोर्ट आव् वार्ड्स से मुक्त होते समय इन पर तीस हज़ार रुपये का क़र्ज़ शेष था जिसे इन्हों ने शीघ्र ही पटा दिया। स्टेट के समुचित प्रबंध के लिये शुक्लजी ने कुछ स्थिर नियम बना लिये हैं और प्रत्येक कार्य सिद्धान्तों के अनुकूल किया जाता है। इलाक़े की आमदनी चौगुनी हो गई है और शुक्लजी की देखरेख में वह दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। इलाक़े के कार्यों को आपने परिमित कर दिया है; क्योंकि आपको इस बात का भय है कि केवल द्रव्यजनक व्यवसायों में ही अधिकाधिक ध्यान देने से सार्वजनिक कार्य न हो सकेंगे। इलाक़े की स्थिति सुधार कर शुक्लजी ने अपना ध्यान अपनी जन्म-भूमि सिहोरा की शोचनीय स्थिति को सुधारने की ओर लगाया। इनके अनवरत उद्योग

और अदम्य उत्साह से सिहोरा में एक शिक्षा-प्रचारक-समिति स्थापित की गई थी जिसके अधीन (१) संस्कृत—पाठशाला, (२) कन्या-हितकारिणी शाला, (३) अंग्रेजी मिडिल स्कूल, और (४) धर्मादा सभा ये चार संस्थाएँ हैं। अन्तिम संस्था के कारण दान के द्रव्यों का दुरुपयोग नहीं होने पाता। शुक्लजी का संबंध सिहोरा की म्युनिसिपालिटी से भी हैं। सरकारी कर्मचारियों ने इनके प्रशंसनीय कार्यों की प्रशंसा मुक्त कंठ से की है और इनके सुप्रबंध की चर्चा नगर भर में होती रहती है। शुक्लजी पर अनेक गुरुतर कार्यों का भार है; परन्तु वे इन स्थानीय छोटी छोटी संस्थाओं के प्रति पूर्ववत अनुराग रखते हैं।

एक तालुकेदार की हैसियत से हमारे चरित्र-नायक अपने किसानों के साथ सदा न्यायपूर्वक बर्ताव करते हैं। उनकी सहानुभूति के कारण किसान लोग उन्हें पिता-तुल्य पूज्य और सच्चे हितैषी समझते हैं। दुर्भिक्ष और भयंकर बीमारियों के समय गरीब प्रजा का दुःख दूर करने में बहुत सा द्रव्य खर्च होता है। शुक्लजी भारतवर्ष के मालगुजारों में आदर्श हैं। उनके गांवों के मुकदमे और झगड़े सरकारी अदालतों तक नहीं जाने पाते। कृषि की उन्नति पर पूरा पूरा ध्यान दिया जाता है और इष्टसिद्धि के लिये एक डिमान्स्ट्रेशन फार्म खोला गया है। इसे देखकर भूतपूर्व चीफ़ कमिश्नर साहब ने हार्दिक धन्यवाद दिया था। इस फार्म में पूरी दक्षता से, आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार, खेती की जाती है। शुक्लजी को कृषि-विभाग से अनेक सर्टीफिकेट मिले हैं। मालगुजारों में किसानों के साथ इस तरह का भ्रातृ-संबंध बहुत कम पाया जाता है।

सामाजिक सुधार से भी शुक्ल जी का घना संबंध है। स्वजातीय सरयू-पारीण ब्राह्मणों के अभ्युत्थान के लिये आपने अनेक प्रयत्न किये हैं। आपने कई बार, कई स्थानों में, महासभा भराई है। ये सामाजिक नियमों का पालन दृढ़ता से करते हैं। सामाजिक उन्नति की दौड़ में इन्हें मेल ट्रेन की गति जितनी नापसन्द है उतनी ही कछुए की गति भी अग्राह्य है। ये चाहते हैं कि ब्राह्मण लोग सर्वसम्मति से विलायत-यात्रा का मार्ग सुलभ कर दें। ये समाज के साथ ही बढ़ने के पूर्ण पक्षपाती हैं। इनकी धारणा है कि समाज के बिना किसी व्यक्ति की वास्तविक उन्नति हो सकना असंभव सा है। शुक्लजी अपनी माता के बड़े ही आज्ञाकारी पुत्र हैं। उन्हें अप्रसन्न करना आपको कदापि अभिमत नहीं है। कभी कभी आपको इसके कारण भारी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं; परन्तु आप अपने व्रत से विचलित नहीं होते। परिणय के समय शुक्ल जी की पत्नी लिखने-पढ़ने से अनभिज्ञ थीं। स्त्री-शिक्षा के कट्टर पक्षपाती शुक्लजी को विदित था कि स्त्री-शिक्षा के कार्य में पूज्य माता से विरोध का सामना करना पड़ेगा। अतएव गृह और लोक के कार्यों से मुक्त होकर, ११ बजे रात्रि से १ बजे तक, आपने अपनी पत्नी को पढ़ाना आरंभ किया। कई महीनों के बाद यह बात विदित हो सकी। उस समय इनकी माताजी बहुत प्रसन्न हुईं और अब तो अपनी नातिनों को पढ़ाने के लिये सदैव चिन्तित रहती हैं। शुक्लजी में बड़ी विशेषता यह भी है कि अंग्रेज़ों से घनिष्ठ संबंध रखकर भी आप नवीन और प्राचीन विचार वाले दोनों कोटि के पुरुषों के सम्मान—भाजन बने हुए हैं,

जिससे समाज को कोई हानि नहीं होती। ऐसी प्राचीन परिपाटी को आप ग्रहण किये रहते हैं जिससे समाज के अन्य वयो-वृद्ध पुरुष आपसे अप्रसन्न न हों। इस प्रकार आचरण करने में आप कष्ट भी सह लिया करते हैं।

प्रजा और सरकार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों से शुक्लजी का अंतरंग संबंध रहता आया है। आप प्रजा के वास्तविक हितैषी और सरकार के सच्चे सलाहकार हैं। उत्कट राजभक्ति के उपलक्ष में आपको सन् १९०३ में वाइसराय से एक सनद मिली थी, और सन् १९१० में आप राय बहादुर की उपाधि से विभूषित किये गये थे। सन् १९११ में आपको एक स्वर्ण-पदक मिला था और आप दिल्ली दरबार में निमंत्रित किये गये थे। रायल कमीशन के सामने, पब्लिक सर्विस के संबंध में, आपने निर्भीक सम्मति दी थी, जिसकी प्रशंसा आज तक मुक्त कंठ से हो रही है। क्रासवेट सेंट्रल बैंक लिमिटेड के आप प्राण हैं। आप मध्य-प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा के लिये ज़मींदारों के द्वारा सदस्य चुने गये थे। वाइसराय की बड़ी सभा के भी सदस्य के पद को आपने सुशोभित किया था और मध्यप्रदेश तथा बरार की ओर से आप अखिल-भारतवर्षीय कांग्रेस के भी सदस्य हैं। भारत-सचिव और वाइसराय की सेवा में जानेवाले अनेक डेपुटेशनों के आप विश्वस्त सदस्य थे। अस्त्र—आईन का विरोध करते हुए, मध्यप्रान्तीय विश्वविद्यालय की स्थापना का समर्थन करते हुए, ज़मींदारों का हित करते हुए, मालगुज़ारी एक्ट, बजट और इनकमटैक्स लॉ पर मत देते हुए आपने जिस बुद्धिमत्ता, निर्भीकता और ईमानदारी से कौन्सिलों में जनता का पक्ष समर्थन किया है उसकी सच्ची कल्पना बुद्धि-हीन रईसों को, अत्युत्साही युवकों को और दायित्व-रहित समालोचकों को हो नहीं सकती। शुक्लजी ही सदृश पुरुष-पुङ्गव हैं जिनपर जनता और सरकार दोनों का एक समान विश्वास है। प्रजा इन्हें अपना सच्चा नेता और हितू समझती है। सरकार इन्हें आधुनिक राजनीति-विशारद, वास्तविक हितकर्ता और विश्वसनीय पुरुष समझती है। राजनैतिक आन्दोलनों में शुक्लजी किसी भी दल के भक्त नहीं बनते—अपनी आत्मा के आदेशानुसार काम किया करते हैं। इस बात का ज्वलन्त प्रमाण नागपुर की प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ़रेन्स में मिला था कि आप सर्वप्रिय नेता हैं। उस समय नरम दल और गरम दल दोनों की ओर से सभापति निर्वाचित होने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ था। यूरोपीय महासंग्राम में तन, मन और धन से राजभक्तिपूर्ण सच्ची सहायता देते समय आपने अपने घनिष्ठ संबंधियों को भी रंगरूट बनाकर भारतीय सेना में सम्मिलित कराया था।

देश का ऐसा कोई महत्व-पूर्ण सार्वजनिक कार्य नहीं है जिसमें शुक्लजी का हाथ न हो। सरकार के सच्चे विश्वासपात्र और सहायक बने रहने में वे जिस तरह जी तोड़कर परिश्रम किया करते हैं, उसी तरह, समय समय पर, सरकार की कड़ी से कड़ी टीका करने में भी वे किसी से पीछे नहीं रहते। जब घोर विरोध करने पर और अत्यन्त तीव्र आलोचना करने पर भी, भारत-सरकार ने रौलट बिल को रद्द नहीं किया, तब भारतीय व्यवस्थापक सभा की मेम्बरी के महान् पद को अपमानपूर्ण समझ कर त्याग देना शुक्लजी के

लिये मामूली बात हो गई। शुक्लजी उस सुविशाल सभा में अंग्रेजों से हाथ मिलाने के लिये नहीं चुने गये थे—देश की सेवा करने के लिये चुने गये थे। जब उन्होंने देखा कि वह सभा उनकी सच्ची बातों पर ध्यान न देने के लिये उतारू है, तब उन्होंने उस से अलग रहकर ही देश-सेवा करना उचित समझा। यदि शुक्लजी पदवियों के भूखे होते, तो आजतक उन्हें अनेक उपाधियाँ मिल गई होतीं। परन्तु सांसारिक लालचों में पड़कर अपने स्वतंत्र विचारों और सत्य-व्यवहार की हत्या करना उन्होंने कभी उचित नहीं समझा। वे प्रत्येक काम को कर्तव्य समझ कर करते हैं। वे न तो जनता की प्रशंसा के प्रेमी हैं और न सरकार की उपाधि के उत्कट भक्त। शुक्लजी का यह विश्वास हो गया है कि सरकार की आदत जनता की बातों को कम मानने की पड़ गई है; अतएव वे लोगों के प्रार्थना करने और प्रान्तीय नेताओं के आग्रह करने पर भी बड़ी कौन्सिल में फिर न गये। एक सत्य-प्रेमी, सच्चा स्वार्थ-त्यागी और देश-सेवा-व्रत का पुजारी आत्म-बल की हत्या नहीं कर सकता और न वह किसी ऐसी महान् से महान् सरकारी सभा में सम्मिलित होना चाहता है जहां लाख कहने पर कभी एक बात की सुनाई हो।

धार्मिक ध्येयों की विशालता ही मनुष्य की श्रेष्ठता का लक्षण है। शुक्लजी सनातन-धर्मावलम्बी हिन्दू हैं। प्रतिदिन पंचयज्ञ करने, शिवार्चन और गीतापाठ करने, खान-पान में सामाजिक बंधनों का निर्वाह करने और किसी धर्म से द्वेष न करने में शुक्लजी बड़े विख्यात हैं। मुसलमान, ईसाई, जैन आदि किसी भी धर्म से द्वेष रहने के बदले उनमें शुक्लजी की श्रद्धा, सहानुभूति और सहिष्णुता पाई जाती है। इसका परिचय उन्हों ने बार बार दिया है। आपने ईसाइयों को श्मशान के लिये सिहोरा में जमीन दी है। मुसलमान लोग आपके दरवाजे पर ताज़िया लाते हैं। इस समय आप बड़े चाव से मुसलमान भाइयों का सत्कार करते और उन्हें शरबत पिलाते हैं। ताज़िया की इबादत स्वयं अपने हाथों करते हैं और शाह साहब आपको दुआ देते हैं। अखिल भारतवर्षीय जैनियों के रथ की वेदी की स्थापना सिहोरा में आप ही ने की थी। यदि ऐसे सहिष्णु और उदार सज्जन भारतमाता को एकता का उज्ज्वल हार पहिना सकें, तो आश्चर्य ही क्या है? अभी तक शुक्लजी के कोई पुत्र नहीं है—केवल चार कन्याएं हैं; अतएव मित्रगण द्वितीय विवाह के लिये सदैव आग्रह किया करते हैं। यह आग्रह इन्हें मान्य नहीं होता; क्योंकि ये एक-पत्नी-व्रत के पक्षपाती हैं। ये मित्रों को यह कहकर टाल देते हैं कि "हमारी पाठशालाओं में जितने बालक और बालिकाएँ पढ़ती हैं वे ही हमारे पुत्र और पुत्रियां हैं"। सर्वस्व बिगड़ने का अवसर आने पर भी जो अपने सिद्धान्त से नहीं डिगते वे ही सच्चे महात्मा हैं और उन्हीं से मानव-धर्म की रक्षा होती है। आपके दिव्य ललाट पर अंकित त्रिपुंड् कौंसिल के प्रदर्शकों को दूर से ही सूचना देता था कि सनातन-धर्म की मान-मर्यादा की रक्षा करनेवाली एक महान् आत्मा आज भी कौंसिल में विराजमान हैं। जिस समय कौंसिल में माननीय पटेल ने हिन्दू-विवाह-बिल उपस्थित किया था उस समय [illegible] में मनुष्य केवल यह

देखने गये थे कि सनातन-धर्मावलम्बी शुक्लजी आज क्या करते हैं; क्योंकि लोगों को यह तो मालूम ही था कि राजनैतिक विचारों में शुक्लजी बहुत आगे बढ़े-चढ़े हैं और साथ ही माननीय पटेल के अच्छे मित्र हैं। बिल पर सम्मति देने के बदले उन्होंने उसका प्रतिवाद इस निर्भीकता, सत्यप्रियता, स्पष्टता और जोश के साथ किया कि इनकी ओर टकटकी लगाकर देखनेवाले मनुष्य अवाक् रह गये। फिर भी इस मतभिन्नता ने शत्रुता का रूप धारण न किया।

दैनिक व्यवहारों और सार्वजनिक कार्यों में शुक्लजी वचन के बड़े पक्के हैं। एक बार भारतीय कौंसिल के प्रतिनिधि चुने जाने के लिये डाक्टर हरिसिंह गौड़ और रायबहादुर पंडित वासुदेवराव ये दो उम्मेदवार खड़े हुए। इनकी समझ में डाक्टर गौड़ अधिक योग्य थे और इन्होंने उनको वोट देने की प्रतिज्ञा कर ली थी। ये जब नागपुर गये तब इनके घनिष्ठ मित्र पंडित वासुदेवराव ने अपने यहाँ उतरने के लिये इनसे अनुरोध किया। वोट देने के लिये कभी आग्रह न करने का वचन लेकर शुक्लजी पंडित वासुदेवराव के घर ठहरे; परन्तु लोगों को शंका होने लगी कि कदाचित् वे अपना वोट डाक्टर गौड को न दें। समय पर शुक्लजी की सत्यप्रीति की परीक्षा मिल गई और मित्रवर पंडित वासुदेवराव वोट से वंचित रहे। इस तरह के धर्मसंकट शुक्लजी पर कई बार आते हैं; परन्तु उनका सुगमतापूर्वक निर्वाह कर लेना शुक्लजी सरीखे आदर्श पुरुष के लिये कठिन नहीं है। सूरत की कांग्रेस के झगड़े के बाद मध्यप्रदेश ही पहिला प्रान्त था जहाँ नरम और गरम दलवालों ने मिलकर कान्फरेन्स करना चाहा। सभापति निर्वाचन पर बड़ा मतभेद हुआ और अधिवेशन के लिये केवल २० दिन बच रहे। समय की कमी के कारण शुक्लजी सभापतित्व को अस्वीकार करना चाहते थे; परन्तु लोगों ने इस अत्यंत गुरुतर कार्य को शुक्लजी पर लाद दिया। शुक्लजी ने जनता की आज्ञा को शिरोधार्य करके सभापति बनना स्वीकार कर लिया। परन्तु इस समय वे स्वयं बीमार थे, समय का अत्यन्त अभाव था और उनकी लड़की प्रयाग में बीमार थी। इस समय गंभीर दायित्व के कार्यों को उन्हों ने किस शान्ति से सम्पन्न किया था उसे सर्वसाधारण भलीभाँति जानते हैं। उनकी दृढ़ कर्तव्यप्रीति और चित्त की अनुपम स्थिरता सराहनीय है। अड़चनों और बाधाओं से पार जाने में ये बड़े प्रवीण हैं। उदाहरण के लिये यह बतला देना यथेष्ट होगा कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के गतवर्ष अधिवेशन को सरकार का कोपभाजन बनने से इन्होंने ही बचाया था।

सहृदय शुक्लजी स्वभाव के सरल, शान्त और मिलनसार हैं। वे दीन-दरिद्री किसानों और धनी-मानी नेताओं से एक ही समान प्रेम के साथ वार्तालाप करते हैं। दीन देश-भाइयों के प्रति उनका ध्यान सदैव रहता है और उनके भाषणों में इस बात का प्रमाण पाया जाता है। अट्टालिकाओं में रहने की अपेक्षा देहाती जीवन इन्हें अधिक पसंद है। बड़े से बड़े अंग्रेज से संबंध होने पर भी इन्होंने देशी पोशाक और खान-पान की मर्यादा का भंग नहीं किया है। आपको न्याय करते २० वर्ष हो चुके; परन्तु अपनी दयालुता के कारण आपने केवल ६-७

आदमियों को कारावास की सजा दी है। इनके शत्रु भी इन्हें मित्र समझने लगे हैं और कहते रहते हैं कि इनके साथ सजा में रियायत की गई है। शुक्लजी यथार्थ में अजातशत्रु हैं। सज्जनता और चरित्र-बल का कवच पहिन कर वे अपनी शरीर-रक्षा के लिये हथियारबंद सिपाही साथ में कभी नहीं रखते। इनकी कर्तव्य-शीलता के संबंध में यह कह देना बस होगा कि प्यारी पुत्री को प्लेग हो जाने पर भी ये मध्य-प्रदेशीय हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन के सभापतित्व का त्याग नहीं करना चाहते थे। शुक्लजी की कृतज्ञता का पता तब लगता है जब हम देखते हैं कि उनके बालकालीन निरीक्षक पं० बाबूराम द्विवेदी से उनका संबंध कैसा है। इनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी काम नहीं किया जाता। जिन महानुभाव को सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करने और कौंसिल का पद त्याग देने मे तनिक भी संकोच नहीं होता उन्हीं शुक्लजी को उपरोक्त वृद्ध द्विवेदी जी की रुख का सदैव ध्यान रहता है। आपने पुराने कर्मचारी पं० सीताराम को पेंशन देकर अपनी कृतज्ञता और सम्मान-दृष्टि का परिचय दिया है। कर्मनिष्ठता की तो आप मूर्त्ति ही हैं। रंगरूट भरती करते समय, आपको लोगों से प्राणदंड की धमकियाँ मिलती थीं और साथ ही शुक्लजी फसली बुखार मे प्राणभय में पड़े ही थे; परन्तु कार्य को पूर्ववत् जारी रखने के विचार से उन्होंने किसी आकस्मिक भावी अनिष्ट समय के लिये एक वसीयतनामा तैयार कराकर साथ में रख लिया था। जब हम वसीयतनामा लिखाकर मृत्यु को आलिंगन करने के लिये तैयार रहने वाले कर्तव्य-तत्पर श्रीमानों को देश-सेवा की वेदी पर बलि होते देखते हैं, तब सचमुच हमें यह विश्वास हुए बिना नहीं रहता कि भारत-माता के दिन शीघ्र ही अवश्य फिरेंगे।

शुक्लजी के स्वभाव में और भी अनेक विशेषताएँ हैं। वे बड़े ही उदार-हृदय हैं। उन्होंने सार्वजनिक संस्थाओं और देश-भक्तों को दान देकर और गुप्त सहायता प्रदान कर उत्साहित किया है। एक रईस के पास किसी प्रकार का व्यसन रहना आवश्यक है और हमारे शुक्लजी ने पुस्तकावलोकन और विद्या-प्रेम को ही अपने लिये उत्तम व्यसन समझ कर चुन लिया है। ये स्वतंत्रता के बड़े भारी उपासक हैं, और आरंभ में जब इन्हें छोटे साहबी की पदवी मिल रही थी, तब अपने सच्चे शुभचिंतक राय बहादुर पं० बैजनाथ जी बी० ए० की सलाह से आपने उसको ग्रहण नहीं किया। इनमे स्वाभिमान की यथेष्ट मात्रा पाई ही जाती है। एक बार मेम्बर-चुनाव के समय दो सज्जन इनके विरुद्ध प्रयत्न करने लगे। ये जानते थे कि वे लोग दूसरों के भड़काने से विरोध-बाधा उत्पन्न कर रहे हैं; परन्तु यह जान कर भी और मित्रों से सिखलाये जाने पर भी, शुक्लजी उन दोनों विरोधियों के पास, वस्तु-स्थिति समझाने के लिये, नहीं गये। जब मेम्बर-चुनाव का कार्य समाप्त हो चुका, तब शुक्लजी ने उन लोगों को ठीक ठीक बातें समझाने का प्रयत्न किया जिससे वे दोनों इनके दास हो गये। इनके स्वतंत्र विचार, धैर्य, उत्साह, साहस, आत्म-बल, समय-सूचकता, दृढ़ संकल्प-शक्ति, नियम-शीलता आदि के संबंध में अनेक बातें यहाँ लिखी जा सकती हैं; परन्तु स्थानाभाव से हम यहाँ उनका उल्लेख करने में

असमर्थ हैं। उनके इन्हीं गुणों और स्वभाव में सफलता का सारा रहस्य भरा हुआ है। अपने पेट के लिये परिश्रम करने में किसी मजदूर को जितना कष्ट होता होगा उससे अधिक परिश्रम करके परोपकारी शुक्लजी बड़े सुखी हो जाते हैं। ऐसे ही श्रीमानों से लक्ष्मी की सार्थकता का प्रमाण मिलता है और देश का मुख उज्ज्वल होता है।

हमारे चरित्रनायक आन्दोलन-कर्त्ता हैं, उपदेश-कर्त्ता हैं और कार्य-कर्त्ता भी हैं। उनके आचार और विचार में कभी विरोध नहीं देखा जाता। इतने महत्पद पर होने पर भी और अनेक बड़े बड़े कामों में व्यग्र रहने पर भी आपने मातृ-भाषा हिन्दी की जो सेवा की है उसे देखकर आपकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। आप संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता और प्रभाव-शाली वक्ता हैं। राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा आपने कई प्रकार से की है। यह आपके ही प्रबल प्रयत्नों का फल था कि जबलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन निर्विघ्न समाप्त हो सका। इस सम्मेलन को मध्य-प्रदेश की ओर से प्रयाग में आपने ही निमंत्रण दिया था। आप मध्य-प्रान्तीय नागरी-सभा के जन्म-दाताओं में से हैं और आजकल उस के सभापति हैं। मध्य-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जन्म-दाता आप ही हैं। रायपुर के प्रथम अधिवेशन में सभापति चुने जाने पर, अवकाश न रहने के कारण, आपने द्वितीय अधिवेशन में सभापति का कार्य किया था। सिहोरा में एक हिन्दी—पुस्तकालय स्थापित कर आप शहर के अतिरिक्त देहातों में भी, हिन्दी का प्रशंसनीय प्रचार कर रहे हैं। आपके लेख उच्च कोटि के, अनुभव-पूर्ण और भाषा की दृष्टि से आदरणीय हुआ करते हैं। आप लिखने और बोलने का सारा काम यथाशक्ति हिन्दी ही में करते हैं। यह आपही के मातृ—भाषा—प्रेम का फल है कि मध्यप्रदेश में राष्ट्र-भाषा का उपासक "कर्मवीर" सदृश पत्र का जन्म हुआ है। सार्वजनिक सेवा, देश-सेवा और राष्ट्र-भाषा—सेवा के लिये शुक्लजी का तन, मन और धन सदैव अर्पित रहता है। इन अनन्य तथा गौरव—पूर्ण सेवा-वृत्तियों में आप इतने प्रवीण और कार्य-कुशल हैं कि मध्यप्रदेश की जनता इन्हें नेता मानकर अपनी गुण-ग्राहकता को सार्थक करती है। इन्होंने मध्यप्रदेश की राष्ट्रीय जागृति के लिये और यहाँ मातृभाषा हिन्दी के प्रचार के लिये जो अनवरत प्रयत्न किये हैं उन्हें यह प्रान्त ही क्या, सारा भारतवर्ष कभी न भूलेगा।

महात्मा और नेता के सभी लक्षण शुक्लजी में पूर्णतया पाये जाते हैं। वे भाग्यवान् हैं, विद्यावान् हैं, शीलवान् हैं और कार्य करने में सदा मग्न रहा करते हैं। ये उन वाग्वीरों में नहीं हैं जो समाचार-पत्रों, सभाओं और कौन्सिलों में दूसरों की टीकाएँ करने के आदी हैं। ये काम कर दिखला देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, संप्रदाय, धर्म, दल तथा आश्रम के लिये इनके पास पक्षपात-रहित भाव पाया जाता है। इनके पास सबका यथोचित आदर होता है। आप अछूत जातियों की शिक्षा का भी समर्थन करते हैं। आप जिस कार्य को हाथ में लेते हैं उसी में तल्लीन हो जाते हैं। कार्यों में विघ्न होने के भय से, प्रवास करते समय, ये गृह—समाचार कभी नहीं बुलवाते। घरू कामों के लिये इनके पास समय का बड़ा

भारी अभाव रहता है और अनिवार्य आवश्यकता के बिना इन्हें किसी भी गृह–कार्य की सूचना नहीं दी जाती। घरू कामों का सारा बोझा इनकी सुशीला धर्मपत्नी पर है। व्यक्तियों और दलों की अपेक्षा शुक्लजी सिद्धान्तों, उच्च भावों, गुणों और अच्छे कार्यों के अनन्य उपासक हैं। मध्य-प्रदेश को इस बात का अभिमान-पूर्ण गौरव प्राप्त है कि उसे ऐसे सर्वांगीन-योग्यता-मंडित नेता के सहयोग से उन्नति करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। दुर्दशा-दलित, दासत्व-पंक-मग्न, दीन-हीन भारतवर्ष को ऐसे ही निर्भीक, स्वार्थ-त्यागी और सच्चे कर्मवीर नेता की आवश्यकता है। परमात्मा अपने प्रसाद-स्वरूप इस विष्णुदत्त शुक्ल को चिरंजीव रखकर मध्यप्रदेश को इस अनुपम प्रसाद से चिरकाल तक लाभ उठाने दें, यही विनम्र और हार्दिक प्रार्थना है। यदि मातृ-भूमि की गोद ऐसे ही पुरुष-रत्नों से सुशोभित होती रही, तो इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष अपने को शीघ्र ही स्वाभिमानी और जीवित राष्ट्रों की पंक्ति में बैठा देखेगा। तथास्तु।

श्रीकृष्ण-दर्शन।

(लेखक—बाबू गोविन्ददास)

(सोरठा)

लखा उन्हों ने रूप, जैसी थी शुभ भावना।
सुन्दर सुखद अनूप, राशि तेज-सौन्दर्य्य की॥१॥

(वसन्ततिलका)

गोलोक के विशद अद्भुत तेज में भी।
था तेज जो अति अलौकिक देखने में॥
ऐसे अपूर्व श्रुति-मण्डल में विराजा।
श्रीब्रह्म का सगुण सुन्दर रूप न्यारा॥२॥
संसार में नियम है उपमा सदा ही।
दी जाय देखकर श्रेष्ठ समान वस्तु॥
दीखे न वस्तु जब श्रेष्ठ यहाँ कहीं है।
दी जाय पाठक, कहो, उपमा कहाँ से॥३॥

(द्रुतविलंबित)

जिस प्रकार मनोरम रूप है।
नवल सुन्दर श्रीव्रजचन्द्र का॥
कुसुम-भूषण त्यों सब अंग में।
अति अलंकृत होकर राजते॥४॥
कुसुम-गुच्छक-संयुत मोहते।
रुचिर नूपुर हैं पद-युग्म में॥
अति मनोहर मण्डल बाँध के।
विशद भक्त सुशोभित हों यथा॥५॥
अमित पीत पटच्छवि देखके।
यह विचार किया सुरवृन्द ने॥
अहह! नील-पयोधर-खण्ड में।
अरुण क्या यह शोभित हो रहा॥६॥
परम चारु प्रफुल्लित जाति के।
धवल-फूल-मंजु भुजबंध हैं॥
सजल वारिद बीच विराजता।
युग-कला-युत हो शिशु-चन्द्रमा॥७॥
कर-सरोज-युग-स्थित बाँसुरी।
बज रही हरि के शुभ ओष्ठ से॥
सकल-लोक-विमोहन-मंत्र की।
जगत में प्रकटी ध्वनि हो यथा॥८॥
कुसुम की कटि पै कल किंकिणी।
कमल-कोमल-कान्ति-कला धरे॥
मृदुल से सुर-पादप-मध्य में।
बलित होकर कल्पलता यथा॥९॥

अति मनोहर पीत दुकूल से ।
　उभय पार्श्व सुशोभित हो रहे ॥
जलद के मृदु पार्श्वक-युग्म में ।
　चमकती बिजली जिस भाँति है ॥१०॥

दृढ़ विशाल सु-उन्नत वक्ष पै ।
　भृगु-लता दिखती मन मोहती ॥
प्रकट हो वह यों दिखला रही ।
　अमित है नित माधव में दया ॥११॥

अति प्रभा-युत कौस्तुभ-रत्न की ।
　दिख रही द्युति है हरि-कण्ठ में ॥
चमकती इसमें स्रग तीन हैं ।
　कुसुम की प्रभु के उर पै पड़ी ॥१२॥
प्रभु यही इनमें बतला रहे ।
　मनुज में तम हो रज सत्व हो ॥
तदपि होकर शुद्ध सुभक्ति से ।
　सहज ही मुझको वह पा सके ॥१३॥
अति मनोहर उन्नत भाल पै ।
　तिलक कुंकुम का शुभ राजता ॥
जिस प्रकार दिनान्त पयोद में ।
　किरण रक्त द्विधा रवि की दिखें ॥१४॥
मुकुट कुण्डल शोभित हो रहे ।
　कुसुम हैं जिनमें नव रंग के ॥
नव कठोर महामणि-पुंज को ।
　निज विकासन के मिष से हँसें ॥१५॥
लख उन्हें उठना यह भाव है ।
　प्रभु यही इनसे दिखला रहे ॥
सकल से नवधा शुभ भक्ति का ।
　जगत में पद उच्च अतीव है ॥१६॥

(सोरठा)

पुलकित हो अत्यंत. किया सुरों ने दण्डवत ।
बहुत काल पर्य्यन्त, रूप निरखते वे रहे ॥१७॥

क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है ?

आजकल हिन्दी-प्रचार का स्रोत सहस्र-धाराओं में प्रवाहित हो रहा है । ३ वर्ष पूर्व कौन जानता था कि कांग्रेस सदृश महासभा में हिन्दी को प्रथम पद प्राप्त होगा ? जब सन् १९१७ में कलकत्ते में कांग्रेस हुई थी और जब महात्मा गांधीजी बोलने को उठे थे, तब समस्त पंडाल से यही आवाज आती थी—"अंग्रेजी में ! अंग्रेजी में !" तब म० गांधीजी को कहना पड़ा था कि जिनको मेरा भाषण सुनने और समझने की चाह हो वे दूसरे वर्ष हिन्दी सीख कर आवें । इस कथन का वही प्रभाव पड़ा जो पड़ना चाहिए था। इसी समय से हिंदी के अखिल-भारत-व्यापी प्रचार का सूत्रपात हुआ । दूसरे वर्ष, अर्थात् सन १९१८, की कांग्रेस के सभापति वन्दनीय मालवीयजी ने अपना भाषण हिंदी में दिया, और गत वर्ष अमृतसर में होने-वाली कांग्रेस में तो स्वागतकारिणी-समिति के सभापति स्वामी श्रद्धानन्दजी का भाषण तक हिन्दी में हुआ—कई प्रस्ताव भी हिन्दी में हुए । इस प्रकार हिन्दी के लिये जो आन्दोलन वर्षों से हो रहा था वह अब सफल हो रहा है । हिन्दी जिस पद के योग्य है वह पद उसे प्राप्त हो रहा है । यह देख अब इस प्रश्न की आवश्यकता नहीं है कि क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है । हिन्दी का सतत वर्धमान प्रचार ही प्रमाणित कर रहा है कि यदि भारतवर्ष में कोई भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है । प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । सभी नेता हिन्दी की उपयोगिता को

स्वीकार कर रहे हैं। हिन्दी भाषा की मध्यस्थता से ही भारत के भिन्न भिन्न प्रांत एक दूसरे से अपने विचार-परिवर्तन कर सकते और एक राष्ट्र के अवयव बने रह सकते हैं। अंग्रेज़ी पत्र भले ही चिल्लावें कि कांग्रेस तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हो रही है; पर कांग्रेस समझ गई है कि यदि वह वास्तव में अखिल भारतवर्षीय संस्था है, तो उसे अपनी कार्यवाही हिन्दी में करनी चाहिए और वह बुद्धिमत्ता और दूर-दर्शिता के साथ उसी मार्ग का अवलम्बन कर रही है। वह राष्ट्र राष्ट्र नहीं जो एक विदेशी भाषा के द्वारा अपने पवित्र जातीय कार्यों को सम्पन्न करे। संतोष का विषय है कि अब हिन्दी को उसका पद दिया जा रहा है जो उससे बलात् छीन लिया गया था और अंग्रेज़ी को वही अप्रधान पद दिया जा रहा है जो उसके योग्य है।

जब सन् १९१८ में इन्दौर में अखिल-भारत-वर्षीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अष्टम अधिवेशन, महात्मा गांधीजी के सभापतित्व में, होनेवाला था, तब महात्मा गांधीजी ने स्वागत-कारिणी सभा को आज्ञा दी थी कि वह समस्त भारतवर्ष के नेताओं से दो प्रश्न करे और उनके उत्तर अधिवेशन होने के समय तक एकत्रित करे। वे प्रश्न इस प्रकार थे—(१) "हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये या नहीं ?" और (२) "हमारी मातृभाषाओं में सब शिक्षण देना उचित वा शक्य है या नहीं ?" भारतवर्ष के कोने कोने से, इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये गये थे वे यह निर्विवाद सिद्ध करते हैं कि समस्त भारतवर्ष में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो राष्ट्रभाषा हो सकती है, और हमारी मातृभाषाओं में सब शिक्षण देना उचित और शक्य है। अधिकांश उत्तर ऐसे सज्जनों के थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है और उनकी सम्मति पूर्व-प्रवृत्ति के दोष से सर्वथा विमुक्त है। हम यहाँ पर कुछ सम्मतियाँ—अधिकतर ऐसे सज्जनों की सम्मतियाँ जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है—पाठकों के मनोविनोद के लिये देते हैं, मनोविनोद के लिये इस हेतु क्योंकि हिन्दी की उपयोगिता भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है और अब प्रत्यक्ष को प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अधिकांश सम्मतियाँ हिन्दी में ही लिखी आई थीं और वे यह सिद्ध करतीं हैं कि हिंदी ऐसी सरल भाषा है जिसमें ऐसे लोग भी जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है और जिन्हें हिन्दी लिखने और बोलने का प्रयोजन बहुत कम पड़ता है, इच्छा होने पर, हिन्दी लिख और बोल कर अपने विचार स्पष्टता से प्रकट कर सकते हैं।

"हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये या नहीं"

इस प्रश्न का उत्तर पहले दिया जाता है।

बनारस से मिस्टर **फ्रान्सिस अरुन्डेल**, प्रिन्सिपाल, थियोसोफिकल गर्ल्स स्कूल अंग्रेज़ी में लिखते हैं—"हाँ, मुझे कोई ऐसी दूसरी भाषा दिखाई नहीं पड़ती जो समस्त प्रान्त वालों के लिये हिन्दी के समान सरल और सुभीते की हो। इस भाषा का साहित्य-भांडार पूर्ण है और यह अधिकांश भारतवासियों के द्वारा बोली जाती है। मैं समझता हूं कि देश के कोने कोने में रहने वाले भारतवासियों से विचार परिवर्तन करने का साधन हस्तगत करने के लिये प्रत्येक बालक-बालिका को बोलचाल की हिन्दी सीखनी चाहिए।"

ग्वालियर से मिस्टर **एस. अराथून** अंग्रेजी में लिखते हैं—"मेरी राय है कि भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होनी चाहिये।"

लोकमान्य **बालगंगाधर तिलक** लिखते हैं—"हमें इस समय हिन्दी को भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा बनाकर सन्तुष्ट हो जाना चाहिये, अर्थात् भिन्न भिन्न प्रान्तों की देशी भाषाओं की उन्नति के मार्ग में बाधा न डालते हुए यह काम करना चाहिये"।

इन्दौर रियासत के भूतपूर्व दीवान, रायबहादुर **नानकचंद** सी. एस. आय., सी. आइ. ई. लिखते हैं—"हिन्दी राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिए; क्योंकि हिन्दी से बढ़कर कोई दूसरी भाषा भारतवर्ष के लिये सुलभ, सुगम और सब प्रान्तिक भाषाओं से मिलती-जुलती हुई नहीं है।"

तिलोई, ज़िला रायबरेली, अवध से राजा बहादुर **विश्वनाथशरणसिंह** लिखते हैं—"हिन्दी राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिए।"

राव साहब **गंगासिंहजी**, दीवान, अजयगढ़ राज्य लिखते हैं—"हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने की बड़ी आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा होने के लिये जो गुण चाहिए, वे हिन्दुस्थान की अन्य सब भाषाओं से श्रेष्ठतर हिन्दी में विद्यमान हैं। हिन्दुस्थान के अधःपतन के कई कारणों में से हिन्दुस्थान में अनेकानेक भाषाओं का होना और कोई एक राष्ट्रभाषा न होना भी है।"

अजमेर से दीवान बहादुर **गोविंद रामचंद खांडेकर**, बी. ए. लिखते हैं—"राष्ट्रभाषा से अगर यह मतलब हो कि सब हिन्दुस्थान में, राज्य-कारभार में, अदालतों में और दीगर मोहकमों में हिन्दी भाषा में ही सब कारवाई होनी चाहिये और दूसरी भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिये तो वैसी स्थिति उपलब्ध करने में बहुत कठिनाई होगी। हिंदुस्थान देश नहीं है, किंतु खंड है, यह जो कहा जाता है उसमें तथ्यांश है। इस देश में रहने वाले लोकों के बड़े हिस्से का धर्मबंधन एक ही होता माना जाय तो भी देश के अलाहिदे २ भागों में रहनेवाले लोक भाषा से, रीति रिवाज में और अन्य कई बातों से एक दूसरे से भिन्न हैं। हिन्दुस्थान में जो मुख्य २ भाषाएँ प्रचलित हैं वे उन २ भाषा बोलने वालों की मातृभाषाएँ बन रही हैं। हरएक भाषा का वाङ्मय गद्यमय व पद्यमय प्राचीन व अर्वाचीन बहुत है और प्रत्येक भाषा की उन्नति दिन पर दिन हो रही है। इस सूरत में हरएक मनुष्य अपनी २ मातृभाषा का अभिमान रखकर दूसरी विदेशी भाषा को अपने कुटुम्ब में, अपने गांव में या अपने प्रान्त में स्थान देगा यह संभवित नहीं है। मातृभाषा की जगह में विदेशी भाषा स्थापित करना मेरे अभिप्राय से उचित दिखता नहीं है और लोकों की तरफ़ से भारी प्रतिरोध भी होगा। मातृभाषा बोलनेलिखने में जो आसानी रहती है वह विदेशी भाषा में नहीं रह सकती है। आजकल आङ्ग्ल भाषा का अध्ययन सब हिन्दुस्थान भर में हो रहा है, लेकिन उस भाषा की बात और है। वह राज्यकर्त्ताओं की भाषा है और सब पृथ्वी पर यह ही कायदा है कि राज्यकर्त्ता अपनी भाषा को अग्र मान देता है। हिन्दुस्थान में पहले यह ही स्थिति थी। मुसलमानी राज्य में फारसी और अरबी का जोर ज्यादा था और उन्हीं भाषाओं में से उरदू पैदा हुई और उरदू का प्रभाव उत्तर हिन्दुस्थान निवासी हिन्दू भाइयों

पर इस कदर प्रकट हो रहा है कि उनको हमारी मातृलिपि देवनागरी का मुतलक परिचय नहीं है। यह बड़ी शोचनीय स्थिति है। आंग्ल भाषा का भी वैसा ही असर हमारी हिन्दी भाषाओं पर हो रहा है। उसका दिग्दर्शन सर हमिल्टन ग्रांट साहब ने ता: ६ फरवरी, सन् १९१८ को हिन्दुस्थान के कानून बनानेवाली सभा में जो भाषण किया उसमें किया है। आजकल मातृ-भाषा पर अनास्था हो जाने से उसकी बहुत शोचनीय स्थिति हो रही है और इसका मुख्य कारण विश्वविद्यालयों ने नियत किये हुए अभ्यासक्रम के नियम हैं। ता० १९ फरवरी सन १९१८ के "सर्वंट आफ़ इंडिया" पत्र में रा. रा. आर. पी. परांजपे का लेख जो छपा है उसमें इस विषय के बारे में कुछ चर्चा की है वह मेरी राय में ठीक मालूम होती है। किंतु रेलगाड़ी, तारयंत्र, डाकखाना वगैरह आधुनिक प्रगति के साधनों से हिंदुस्थानियों का एक भाग से दूसरे भाग के साथ का व्यवहार बहुत ही बढ़ गया है और हिंदुस्थान की प्रगति के लिये भिन्न भिन्न संस्थाएं व सभाएं उपस्थित हुई हैं व हो रही हैं। इस संस्था और सभाओं में भिन्नभिन्न प्रांत और विभाग से देशहितकर्ता व जानकर विद्वज्जन आकर चर्चा करके अपना अभिप्राय प्रदर्शित करते हैं। वे जिस प्रकार से मार्मिक व स्पष्ट रीति से उस भाषा में कि जो कि सब श्रोतृजन प्रायः समझ सकते हैं कर सकें वैसी इतर भाषा में नहीं कर सकते हैं। सर हमिल्टन ग्रांट साहब ने कहा है उस मुताबिक हिंदुस्थान में एक सर्व साधारण भाषा (लिंग्वा फ्रेंका) होनी चाहिए और वैसी भाषा हिंदी भाषा होने में कोई बाधा मेरे अभिप्राय में नहीं है। यह भाषा हिंदुस्थान के एक बड़े हिस्से में प्रचलित है और संस्कृत भाषा से निकली हुई है, हिंदुस्थानी भाषा से भी मिलती हुई है और जो बहुत से हिस्से में बोली जाती है व समझी जा सकती है। दूसरी एक बात यह है कि हिंदी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और यह लिपि जहां जहां संस्कृत या प्राकृत भाषाओं का अध्ययन होता है वहां पूर्ण रीति से अवगत है। इस सूरत में प्राथमिक व दुय्यम शिक्षण की शालाओं में इस भाषा का अध्ययन नियत हो तो उत्तम है। मेरा मतलब यह नहीं है कि मातृभाषा के ऊपर किसी प्रकार का दुर्लक्ष किया जाय।"

उदयपुर से श्रीयुत **जगन्नाथसिंह मेहता** मिनिस्टर (दीवान) लिखते हैं—"राष्ट्र कहलाने वाले प्रत्येक सभ्य देश में राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को सम्पादन करने के लिये राष्ट्र भाषा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये यूरोप की फ्रेंच भाषा वहां की राष्ट्रभाषा कहाती है। भारत में बंगला, मराठी, गुजराती आदि कतिपय उन्नत साहित्य की प्रान्तीय भाषाएँ अवश्य हैं; किन्तु जिस सुगमता के साथ सर्वगुण-आगरी नागरी (हिन्दी) देश में पढ़ी और समझी जाती है उस प्रकार दूसरी भाषा नहीं। भारत के कोटि २ मनुष्य इस भाषा को बोलते हैं एवं अत्यंत ही साधारण प्रयास से यह भाषा सर्व-भारत-व्यापी हो सकी है। संस्कृत की ज्येष्ठा पुत्री होने से बंगला, मराठी आदि संस्कृत-बाहुल्य-भाषा-भाषी जन-समुदाय भी इसको सुगमतापूर्वक सीख सके हैं।

"इसकी लिपि भी अत्यंत सरल एवं दोष-रहित शुद्ध है। अतः भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा होने का सौभाग्य हिन्दी ही को मिल सका है। देश के मुसलमान सज्जन भी इस भाषा को स्वल्प ही प्रयास से अपना सकते हैं। कई आधुनिक मुसलमान हिन्दी में अच्छी कविता भी करते हैं। अतः राष्ट्र को ध्येय में रखकर किसी को इस भाषा से द्वेष नहीं हो सकता"।

श्रीयुत **कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी**, एम. ए., एल. एल. बी., चीफ़ जज, स्माल काज़ कोर्ट, बम्बई लिखते हैं—"यदि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है तो पीछे हिन्दी भाषा जो के अपने देश में इतने आलादरज़े से प्रचलित है वोही राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। दूसरी कोइ भाषा ये काम के लिये योग्य नहि लगती है"।

राव साहब **डब्ल्यू. वी. सर देसाई**, दीवान, मेहर, अंग्रेज़ी में लिखते हैं—"हाँ हिन्दी ही को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होनी चाहिये"।

श्रीयुत **सुमन्त बी मेहता**, एम. बी., सी. एच. बी., सेनिटरी कमिश्नर, बड़ोदा राज्य अंग्रेज़ी में लिखते हैं—"हाँ, उसे (हिन्दी को) राष्ट्रभाषा होना चाहिये और यदि हम इसके लिये उत्साहपूर्वक काम करें तो वह अवश्य हो जावेगी"।

श्रीमती श्रद्धास्पदा माताजी **ललिता देवी दुगवेकर**, सम्पादिका, "बालबोध", काशी की ओर से श्रीयुत गोविन्द शास्त्री दुगवेकर लिखते हैं—"हिन्दी राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिए। हिन्दी के सिवा कोई प्रान्तीय भाषा राष्ट्रभाषा होने का दावा नहीं रख सकी। क्योंकि हिन्दी सबके लिये सुगम और अधिक प्रचलित है। इसी विचार से परम पूजनीया श्रीमती माताजी ने मराठी भाषा में लिखने की पूर्ण योग्यता होते हुए भी अपना "बालबोध" नामक मासिक पत्र और ग्रंथमाला हिन्दी में ही निकालना प्रारंभ किया है।"

पंडिता **मनोरमा बाई**, उपदेशिका, रतलाम से लिखती हैं—"हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा अवश्य होनी चाहिये। इसके कारण संक्षिप्त रूप से नीचे लिखती हूँ—

(१) हिन्दी भाषा प्रत्येक मनुष्य को सीखने में सहज ही आ सकी है; इससे यही राष्ट्र भाषा होने योग्य है।

(२) हिन्दी भाषा के बोलनेवाले हिन्द के हर प्रान्त में बहुतायत से विद्यमान हैं। इससे यही राष्ट्रभाषा होने योग्य है जिसका हिसाब इस प्रकार से है—

किस भाषा के कितने बोलने वाले हैं—

हिन्दी ८ करोड़ ६० लाख	कानड़ी १ करोड़
बंगाली ४ करोड़ २० लाख	उड़िया ९० लाख
तेलगू २ करोड़	मलायन ५५ लाख
मराठी १ करोड़ ९० लाख	सिंधी २५ लाख
पंजाबी १ करोड़ ८० लाख	आसामी १५ लाख
तामील १ करोड़ ६० लाख	खौड़ १५ लाख
गुजराती १ करोड़ १० लाख	अन्य ५ करोड़

(३) संसार भर के सभी देशों में हरएक देश के नामानुकूल ही उसकी भाषा होती है, जैसे जापान में जापानी, जर्मन में जर्मनी और फ्रांस में फ्रेंच। ऐसे ही हिन्द में हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए।"

डाक्टर **एच० जहाँगीर सोराबजी** तारापुरवाला, भाषाशास्त्राध्यापक, कलकत्ता-विश्वविद्यालय, कलकत्ता, लिखते हैं:—"अवश्य होनी चाहिये। याने मातृभाषा के उपरांत देश के सब प्रांतों में हिन्दी भाषा सिखलानी चाहिये। सब

पाठशालाओं में हिन्दी पढ़ानी अवश्य है। जिन प्रान्तों में हिन्दी मातृभाषा है उन स्थानों की पाठशालाओं में और किसी हिन्दुस्थान की भाषा होनी चाहिये, जैसे बिहार में बंगला, यू० पी० में उर्दू, राजपुताना में गुजराती, पंजाब में (दक्षिण विभागों में) सिन्धी, इत्यादि।"

श्रीयुत **ताराचंद**, प्रिन्सिपाल, कायस्थ पाठशाला कालेज, प्रयाग लिखते हैं—"हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।"

श्रीयुत एम० बालकृष्ण, एम० ए०, भूतपूर्व प्रिन्सिपाल और गवर्नर, गुरुकुल, हरद्वार लिखते हैं—"हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।"

श्रीयुत **प्रमथनाथ शास्त्री**, प्रधान दर्शनाध्यापक, प्रेसीडेंसी कालेज, कलकत्ता लिखते हैं—"हिंदी अवश्य राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई भी भाषा इसका स्थान नहीं ले सकती। समस्त भारतवर्ष में ऐक्य तथा प्राचीन सभ्यता का अनुभव नहीं हो सकता जब तक कि हिन्दी राष्ट्रभाषा न बन जाय। हमारी उन्नति के पथ में बहुत से विघ्न हैं, किन्तु हिन्दी राष्ट्रभाषा होने से उनमें से अधिकांश स्वयमेव दूर हो जायँगे। निष्पक्षपात से इस प्रश्न पर समालोचना करने से स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी—और हिन्दी ही—भारतीय राष्ट्रभाषा होने में समर्थ है।"

श्रीयुत **यदुनाथ सरकार**, प्रधान इतिहासाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, अंग्रेजी में लिखते हैं—"बंगाल, पंजाब, सिंध और दक्षिण भारतवर्ष में हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है। भारत के शेष स्थानों में उसे बोलचाल और साहित्य दोनों की भाषा होना चाहिये।"

—— [असमाप्त]

विविध विषय।

(१) सम्पादक का विनीत वक्तव्य।

जगन्नियन्ता परमात्मा के चरणों में मस्तक झुका कर आज हम 'श्रीशारदा' के कार्यक्षेत्र में पदार्पण करते और प्रार्थना करते हैं कि जो अनन्त और अज्ञेय शक्तियाँ संसार को यथाक्रम संचालित कर रही हैं वे हमारी क्षीण शक्तियों को उत्तेजित करें और वह बल प्रदान करें जिससे वे 'श्रीशारदा' को अपने ध्येय के समीप पहुंचाने में सहायक हो सकें।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार और उत्थान के लिये भारतवर्ष में जो प्रशंसनीय प्रयत्न होरहा है उसमें सहयोग देने के लिये 'श्रीशारदा' प्रकट हो रही है और वह प्रयत्न करेगी कि समस्त भारतवर्ष में हिन्दी का प्रचार होवे और उसका अभाव भाव में परिणत होकर गौरवयुक्त स्थान प्राप्त करे। दूसरे प्रान्तों की तुलना में मध्यप्रदेश में इस दिशा में बहुत थोड़ा कार्य किया गया है। भारतवर्ष के मध्य में स्थित रहकर और अन्य प्रान्तों के समान इतर भाषाओं की कलह से विमुक्त होकर मध्यप्रदेश को उचित तो यह था कि वह साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त उन्नत होता और दूसरे प्रान्तों के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्रों के लिये विद्या-वयो-वृद्ध गुरु होता; परन्तु अत्यन्त खेद और लज्जा की बात है कि वह स्वयं बहुत पीछे पड़ा हुआ है और उसकी साहित्यिक शक्तियाँ अव्यवस्थित ढंग से कार्य कर रही हैं। केवल प्रयागराज में हिन्दी के जितने पत्र और पत्रिकाएं निकलती हैं उसके आधे भी समस्त मध्यप्रदेश में नहीं हैं। मध्यप्रदेश की शोचनीय स्थिति का इससे बढ़ कर और क्या प्रमाण चाहिये? राय बहादुर पं० विष्णुदत्त जी शुक्ल के शब्दों में कहा जा सकता है—"इस प्रान्त में एक भी "सरस्वती" द्वारा सरस्वती देवी की आराधना नहीं की जा रही है। मंगलमयी "मर्यादा" की

भाँति कोई भी पत्रिका हिन्दी की मर्यादा नहीं रख रही है। प्रयाग के "विद्यार्थी" के समान एक भी विद्यार्थी भूले हुए विद्यार्थियों को ठीक रास्ते पर नहीं ला रहा है। कोई भी 'गृहलक्ष्मी" हमारी गृहलक्ष्मियों को गृह-कार्य जैसे दायित्व-पूर्ण कार्य की समयोपयोगी सलाह नहीं दे रही है। कहाँ तक कहें और कहाँ तक रोवें। यथार्थ बात तो यह है कि न तो यहाँ "प्रताप" का प्रताप स्थापित है, न किसानों की दुःख-दर्द-भरी आवाज़ सुनानेवाला कोई "किसान" है, और न "भारतमित्र" जैसा इस प्रान्त का परम स्नेही है। फिर यहाँ "अभ्युदय" की आशा करना निराशामात्र है"। पाठकों, मध्यप्रदेश में हिन्दी की यह दशा है; अतः जबलपुर के शारदाभवन पुस्तकालय की जिसका जन्म श्रीमान् बाबू गोविन्ददास जी की सात्विक इच्छा से है और जो जबलपुर में हिन्दी के प्रचार और जनता के साहित्यिक मनोविनोद के लिये सतत वर्धमान कार्य रहा है बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि जबलपुर से एक उच्च कोटि की मासिक पत्रिका प्रकाशित की जावे। उसीकी ओर से आज "श्रीशारदा" प्रकाशित हो रही है और मध्यप्रदेश की साहित्यिक शक्तियों का संगठन करती हुई हिन्दी माता की सेवा करना चाहती है।

"श्रीशारदा" अन्य मासिक पत्रिकाओं के समान, ज्ञान-विज्ञान की कटु औषधि को, मनोरंजकता की शकर से लपेट कर जनता के सम्मुख उपस्थित किया करेगी; परन्तु ध्यान इस बात का रखेगी कि मनोरंजकता अश्लीलता और असंस्कृत रुचि का परिचय न देने लगे और न ज्ञान-विज्ञान लोहे का चना बन जाय जिसके निगलने में कष्ट होवे।

"श्रीशारदा" का प्रधान प्रयत्न रहेगा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी अन्य भाषाओं की घुड़दौड़ में भाग लेने योग्य बने—उसके साहित्य में वे सब बातें रहें जिन्हें दरिद्रातिदरिद्र किसान और राज-सिंहासन पर बैठनेवाला चक्रवर्ती राजा अपने प्रतिदिन के उपयोग के लिये आवश्यक समझता है; क्योंकि वह साहित्य साहित्य नहीं जो प्रत्येक व्यवसाय के प्रत्येक मनुष्य के लिये उच्च आदर्श और व्यावहारिक उपदेश देने में समर्थ नहीं है। "श्रीशारदा" का यह भी प्रयत्न होगा कि हिन्दी का साहित्य सर्वांग-पूर्ण और श्री-सम्पन्न होवे।

संसार के उन्नत देशों में विविध मानवी अनुभव शास्त्र का रूप ग्रहण कर रहे हैं। पुस्तकालय-विज्ञान, सम्पादन-विज्ञान, विमान-विज्ञान, नौ-विज्ञान, आदि अनेक विज्ञान जन्म ले चुके हैं और प्रतिदिन परिपुष्ट हो रहे हैं। हिन्दी में अभी इन विज्ञानों का नाम तक नहीं आया है; अतः "श्रीशारदा" इस दिशा में भी प्रयत्न करेगी और समय समय पर, लेखों द्वारा इनकी चर्चा करेगी।

उन्नत देशों में सामयिक-पत्र-साहित्य भी बहुत उच्च स्थिति पर है और उसमें जनता की आवश्यकताएँ और संस्कृत रुचियाँ इतना अधिक प्रतिफलित हो रही हैं कि कोई भी शिक्षित मनुष्य सामयिक पत्रों का त्याग नहीं कर सकता। भारतवर्ष ही में अन्य भाषाओं का सामयिक-पत्र-साहित्य हिन्दी के साहित्य की अपेक्षा अधिक उन्नत है। उनमें वे विशेषताएँ हैं जो अपने स्वाभाविक मार्ग से हिन्दी-क्षेत्र में आने के लिये बहुत समय लेंगी। "श्रीशारदा" चाहती है कि वह समय संकुचित हो जाय, और वे उपयोगी विशेषताएँ हिन्दी-क्षेत्र में शीघ्र ही सम्मिलित होकर घुल-मिल जावें और हिन्दी का साहित्य अत्यन्त उन्नत अवस्था में दृष्टिगोचर होने लगे। "श्रीशारदा" धीरे धीरे, परन्तु निश्चय के साथ, उन विशेषताओं के सूत्रों को अपने अल्प कलेवर में लपेट कर छोड़ना चाहती है। जिस दिन ये सूत्र बुने जाकर सुन्दर वस्त्र का रूप ग्रहण करेंगे वह दिन 'श्रीशारदा' के लिये परम सौभाग्य का होगा।

गत १५ वर्षों के भीतर अनुवाद—मार्ग पर चलकर अनेक ग्रंथ हिन्दी में आ चुके हैं। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि हिन्दी जनता उनका यथेष्ट स्वागत करने में असमर्थ और अनुत्सुक सी दिख रही है, और विचारशील जन कह रहे हैं कि इस मार्ग को अब रोकना चाहिये और जो शक्तियाँ अनुवाद-कार्य में लगी हैं वे अब मौलिक

साहित्य उत्पन्न करें। 'श्रीशारदा' मौलिकता-मण्डित वीर हृदयों को खोजेगी और उनका गौरव बढ़ाकर अपने को धन्य समझेगी। सारांश यह है, 'श्रीशारदा' भारतवर्ष के केन्द्र-स्थल में स्थित रह कर हिन्दी-साहित्य-संसार में भिन्न भिन्न दिशाओं को निर्दिष्ट करने की अभिलाषिणी है। कार्य अत्यन्त कठिन है; पर मंगलमय भगवान् का नाम लेकर कार्य का आरम्भ कर दिया गया है।

(२) आगामी कांग्रेस में हिन्दी।

आगामी पैंतीसवीं कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होने वाला है। कांग्रेस हमारे देश की सब से बड़ी राजनैतिक संस्था है। उसकी सफलता के लिये समय समय पर सैकड़ों उपायों का अवलंबन किया गया है। कुछ दिनों से कांग्रेस और राष्ट्रभाषा हिन्दी के संबंध में विशेष चर्चा हो रही है। कर्मवीर गांधी ने कांग्रेस में हिन्दी का सूत्रपात किया था और उनके बाद अन्य नेताओं ने कई बार कांग्रेस में हिन्दी पर ध्यान रखा है। अब वह दिन आनेवाला है जब राष्ट्रभाषा हिन्दी की शरण में जाकर भारतहितैषी कांग्रेस अपने अस्तित्व को सार्थक समझने लगेगी।

हमारी उपर्युक्त आशा उस समय और भी अधिक प्रबल हो उठी जब कांग्रेस के आगामी अधिवेशन को हमारे मध्यप्रदेश में निमंत्रण दिया गया। हमारे आनन्द का ठिकाना न रहा। हम अचानक यह स्वप्न देखने लगे कि कांग्रेस को हिन्दीमयी बनाने का श्रेय भविष्य में भाग्यवान मध्यप्रदेश को ही मिलेगा; क्योंकि जिस मध्यप्रदेश में आगामी अधिवेशन होने वाला है वह पूर्ण रीति से हिन्दी-भाषा-भाषी है। मध्यप्रदेश के प्रति शत प्रायः ६७.५ मनुष्य हिन्दी बोलते और समझते हैं। हम यह आशा करने लगे कि कांग्रेस के गत अधिवेशनों में केवल दो चार व्याख्यान हिन्दी में हो जाया करते थे; परन्तु मध्यप्रदेश में अधिकांश भाषण केवल राष्ट्र-भाषा हिन्दी में ही नहीं होंगे, बल्कि यहाँ, प्रचार का सारा कार्य भी, आदि से अन्त तक, हिन्दी में ही किया जावेगा।

परन्तु हमें शीघ्र निराश होना पड़ा। दुःख और आश्चर्य की बात है कि मध्यप्रदेश के नागपुर सरीखे स्थान के नेतागण आरंभ ही से अपशकुन कर रहे हैं। कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के के संबंध में बनी हुई उप-समितियों को राष्ट्रभाषा हिन्दी में कार्य कर हर्ष मनाने और मराठी की ममता रखने के बदले असमय में ही अंग्रेज़ी की आवश्यकता सूझ रही है! कार्य-कारिणी समिति की जो बैठक अभी हुई थी उसकी कार्रवाई अंग्रेज़ी में हुई है और प्रस्ताव भी अंग्रेज़ी में हो पास हुए हैं। इतना हो नहीं, उसकी रिपोर्ट भी अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई है। देश-हितैषियों की इस हितैषिता को देखकर बेचारा हमारा जगली और पिछड़ा हुआ मध्यप्रदेश रोने लगे, तो आश्चर्य ही क्या है? मध्यप्रदेश में सारा काम हिन्दी में इसलिये होना चाहिये कि यहाँ की सारी जनता राष्ट्रभाषा से परिचित होने का और उस पर प्रेम रखने का अभिमान करती है और वह यह बहाना नहीं करना चाहती कि वह हिन्दी नहीं समझ सकती है। फिर, मध्यप्रदेश में आकर कांग्रेस जिस जनता को अपना संदेश सुनाना चाहती है वह जनता हिन्दी के द्वारा जितनी अधिक जीवित बनाई जा सकेगी उतनी अंग्रेज़ी अथवा मराठी के द्वारा नहीं। अतएव, कांग्रेस की सफलता के लिये राष्ट्रभाषा हिन्दी का आश्रय जितनी शीघ्रता से लिया जा सके उतना ही अच्छा है।

सौभाग्यवश अब वह समय भी नहीं रहा जब मराठी और हिन्दी के विरोध का सामना करना पड़ता था। लोकमान्य तिलक और कर्मवीर गांधी सदृश नेता, राष्ट्रभाषा के नाते, हिन्दी का पक्ष समर्थन करते समय, स्वयं हिन्दी सीखने का कष्ट उठा चुके हैं। जब बड़े बड़े नेता हिन्दी को अपनाने की आवश्यकता बतलाते आये हैं और साथ ही साथ कांग्रेस से अंग्रेज़ी को यथाशक्ति बहिष्कृत भी करते आये हैं, तब उलटी गंगा बहाकर मध्यप्रदेश कौन सा नाम कमावेगा इसका ज्ञान नागपुर के कार्यकर्त्ताओं को ही हो सकता है।

स्मरण रहे कि अब वह समय बीत चुका है कि जब लोग कांग्रेस को "बाबुओं और वकीलों" की संस्था कहा करते थे। अस्तु, अब सावधानी से और समयानुकूल कार्य कर सच्ची सफलता की पहिली सीढ़ी—राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यवहार—पर शीघ्रही पैर रखना चाहिये। स्वराज्यवादी सज्जन कांग्रेस के मतानुसार भूलें करने का अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। स्वराज्य का यह सच्चा अर्थ भी है कि हमें भूलें करके अनुभव प्राप्त करने का अधिकार मिले। परन्तु क्या इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि हम जानबूझ कर भूलों की पुनरावृत्ति किया करें?

आशा है कि नागपुर के कार्यकर्त्तागण हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्यों को पहिचान कर उचित दिशा में कार्य आरंभ करेंगे जिससे आगामी अधिवेशन का उद्देश पूर्णता के साथ सफल हो सके।

(३) राष्ट्रीय साहित्य तैयार करने की आवश्यकता।

हमारे सब नेताओं का ध्यान आजकल प्रायः राजनैतिक बातों की ओर लगा हुआ है। वे उन सब छोटी बड़ी महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान नहीं दे सकते जिनसे मातृ-भूमि का यथार्थ में लाभ हो सके। हमें जो नये अधिकार मिलेंगे उनका उचित उपयोग उसी समय हो सकेगा जब भारतवर्ष के नवयुवक सुशिक्षित और तैयार रहें। भारतवर्ष स्वराज्य-सुख का सच्चा अनुभव तभी कर सकेगा जब भारतवासियों को राष्ट्रीय-शिक्षा मिलने लगेगी। इस दिशा में अभी तक कुछ इनेगिने नेताओं ने ही कार्य आरम्भ किया है।

राष्ट्रीय-शिक्षा की उपयोगिता और महत्व के विषय में जितना कहा जावे सब थोड़ा है। ऐसी शिक्षा के लिये भारतवर्ष में उपयोगी साहित्य का शोचनीय अभाव पाया जाता है। उच्च शिक्षा के लिये आवश्यक साहित्य का मिलना दुर्लभ है। फलतः देश की भावी संतान यथेष्ट रीति से राष्ट्रीय शिक्षा नहीं पा रही है। सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि हमें अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा मिल रही है। यदि देशी भाषाओं में थोड़े बहुत उत्तम और पाठ्य ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हों अथवा हो रहे हों, तो उनसे हमें कदापि संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। हमारे साम्हने बड़ा भारी कार्य है और उसे पूरा किये बिना काम नहीं चलेगा।

अन्य देशी भाषाओं की तरह हिन्दी भाषा का भी साहित्य-भंडार अपूर्ण है। राष्ट्रीय साहित्य का विशेष अभाव है। अनुवादों के भरोसे पूरा काम कभी नहीं चल सकता। मौलिक, राष्ट्रीय और उच्च कोटि के असंख्य ग्रंथ तैयार करना पड़ेंगे। प्रत्येक पाठ्य विषय पर राष्ट्रीय दृष्टि से ग्रंथ तैयार कराने की आवश्यकता है। इस कार्य की सिद्धि के लिये एक विचारपूर्ण योजना लेनी चाहिये। ऐसा करने से अच्छे लेखकों को भी सुभीता होगा। अधिकांश सुलेखक द्रव्यहीन होते हैं; अतएव योग्यता होने पर भी वे द्रव्यजनक साहित्य के लिखने से अवकाश नहीं पा सकते। अच्छी योजना बना लेने से सुलेखकों को पेट की चिन्ता दूर होगी, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण होगा और देश का भला होगा।

बाबू मदनमोहन वर्मा इसके लिये सुझाते हैं कि एक कम्पनी बनाई जावे और उस में तीस, चालीस अथवा पचास रुपयों के हिस्से रखे जावें। इस तरह से कोई एक लाख रुपये इकट्ठे किये जावें। बहुत से लोग दान देने के लिये तैयार नहीं होंगे; परन्तु थोड़े ही मुनाफ़े के साथ रकम जमा करने में वे अवश्य ही उदारतापूर्वक आगे बढ़ेंगे। कम्पनी का संचालन रोज़गारी ढंग पर किया जावे। कम्पनी के डायरेक्टरों की सभा एक "विद्वत्समिति" संगठित करे। इस समिति के ये काम हों:—

(१) लेखकों को (भिन्न भिन्न वर्गों के लिये) पुस्तकें लिखने की दिशा बतलाना,

(२) लिखी हुई पुस्तकों की जाँच और संशोधन करना और उन्हें प्रकाशित करना,

(३) पुस्तकों की भाषा को "राष्ट्रभाषा" की दृष्टि से जाँचना।

डायरेक्टरों की समिति को इस बात का अधिकार रहे कि वह अपने चुने हुए लेखकों को

पहिले नियुक्त करे और आवश्यकतानुसार उन्हें घटा बढ़ा सके। आरंभ में कम से कम बीस पचीस लेखक रखे जावें और उन्हें उचित वेतन अथवा पुरस्कार दिया जावे। जिन भारतीय विद्वानों को हिन्दी भाषा का ज्ञान न हो उनसे अंग्रेजी में ग्रंथ लिखाये जावें और उनका अनुवाद हिन्दी में कराया जावे। ऐसा करने से भारतवासी जब प्रोफ़ेसर जगदीशचन्द्र बसु, प्रोफ़ेसर सरकार, प्रोफ़ेसर राय सदृश धुरन्धर विद्वानों की योग्यता से भी लाभ उठा सकेंगे।

विद्वानों की उपर्युक्त समिति का यह भी काम होगा कि वह प्रकाशित पुस्तकों को भिन्न भिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में—जैसे, हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अन्य अनेक राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यालयों में—प्रचलित करावे।

क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे कुछ नेता इस ओर भी ध्यान देने की कृपा करेंगे? राष्ट्रीय साहित्य के बिना राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार हो नहीं सकता। राष्ट्रीय शिक्षा के अभाव में जीवित राष्ट्र का तैयार हो सकना सर्वथा असंभव है। देखें, सूर्योदय किस दशा से और कब होता है?

(४) हिन्दुओ, सावधान!

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दुओं की शारीरिक संपत्ति का शोचनीय ह्रास हो चुका है और हो रहा है। भारतवर्ष में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ के अधिकांश हिन्दू युवकगण सतेज, बलवीर्यवान और उत्साहपूर्ण हों। हम अशक्त और निर्बल क्यों हो रहे हैं इसके अनेक कारण होंगे; परन्तु यह बात बिलकुल सच है कि हम उन्हीं प्राचीन तेजस्वी आर्यों की संतान हैं जिनकी नसों में जीवन की बिजली दौड़ा करती थी, जो परिश्रम और कार्यशीलता की जीवित मूर्त्ति थे और जिन्हों ने अपने समय में अपनी सात्विक सिंहगर्जना से समस्त संसार पर अपना आतंक जमाया था।

परन्तु हमारे दुर्भाग्य का अन्त यहीं नहीं होता। शरीर-संपत्ति से तो हम हाथ धो ही बैठे हैं; पर हमारी संख्या में भी क्रूर राहु लगा हुआ है। संशयचक्र की इच्छा नहीं दिखती कि हिन्दू फलें-फूलें। बात क्या है? केवल यही कि **हम लोग घट रहे हैं—मर रहे हैं।** हमारे सिक्ख भाई संख्या में बढ़ रहे हैं। क्यों? इसी लिये कि उन्हें याद है कि गुरु गोविन्दसिंह ने उन्हें जीने का उपदेश दिया था। हमारे मुसलमान बंधुओं की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। क्यों? इसीलिये कि उन्हें याद है कि उनके पूज्य पैगंबर मुहम्मद सा० ने लोगों को "धर बाँध मुसलमान" बनाने में कुछ भी पाप न समझा था। और, हमारे ईसाई भाइयों का क्या हाल है? वे तो दिन दूने और रात चौगुने बढ़ रहे हैं। ऐसा क्यों? केवल इसीलिये कि वे इस पापी और जड़ संसार में ही सुख पाना चाहते हैं।

और, हम हिन्दू लोग क्या कर रहे हैं? हम बुद्धिमान हैं। हम अभी बहुतेरे प्रश्नों को हल कर रहे हैं। क्या प्राचीन समय में हनूमानजी पहाड़ को नहीं उठा लेते थे? क्या गीता से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि युद्धक्षेत्र में अर्जुन मोटर-साइकिल पर बैठ कर लड़ने गये थे? बस, हम इन प्रश्नों को लेकर सबेरे से शाम तक चक्की में पीसा करते हैं। हिन्दुओं की संख्या घट रही है। 'कोई हर्ज नहीं—घटने दो'। हिन्दू मर रहे हैं। "कोई परवा नहीं—मरने दो"। और बाबा, इस तरह से तो कुछ समय में नाम लेने के लिये भी एक हिन्दू न बच जावेगा। "बड़ी खुशी की बात है—आनन्द से कूच का डंका बजा दो।"

हम तो भाई वेदान्ती हैं। हमारे शास्त्रों में लिखा है कि संसार असार है—रार का घर है। भला हम इस असार संसार में जीकर और पाप कमा कमा कर क्या करेंगे? हमें राज्य-पाट से क्या मतलब? वह तो हमें माया में फंसाता है। धनसंपत्ति से तृष्णा बढ़ती है, और शरीर तो नाशमान है ही! पहिले हमें जब यह पता लग जावेगा कि यह संसार असार नहीं है, तब हम जीने की करेंगे। यदि पता लगाते लगाते हम स्वयं ही लापता होजावें, तो कुछ हर्ज नहीं।

अच्छा, जो कुछ हो, हमें देखना है कि हम हिन्दू घट कैसे रहे हैं। क्या योगाभ्यासी

और अमर ऋषियों की सन्तानों की संख्या कभी घट सकती है ? झूठ ! बिलकुल झूठ !! हमें प्रमाण दो । बिना प्रमाण के हम यह मानने को तैयार नहीं कि हिन्दुओं की संख्या घट रही है। हाँ, एक बात को भूल मत जाना कि हम हिन्दू हैं-हम किसी का कहना नहीं मानेंगे—प्रमाण ऐसा दो जो कहीं "लिखा हुआ" हो ।'

अच्छा, लीजिये—प्रमाण लीजिये। ऐसा वैसा प्रमाण नहीं—लिखा हुआ प्रमाण। और लिखा कहाँ है ? 'वैदिक' पत्र (Vedic Magazine) में। उसमें लिखा है।

हिन्दुओं की घटती हुई संख्या।—

दस दस वर्षों की अवधि में।	हिन्दुओं की संख्या	सिक्खों की संख्या	जैनों की संख्या	मुसलमानों की संख्या	ईसाइयों की संख्या
सन् १८८१ के अंत तक ...	७४३२	३२	४८	१९७४	७३
सन् १८९१ के अंत तक ...	७,३२१	६७	४५	१९९६	८
सन् १९०१ के अंत तक ...	७,०३४	७४	४४	२,१२०	९९
सन् १९११ के अंत तक ...	६,६३१	९६	४०	२,१२६	१२४

सन् १८८१ में ७३३२०००० हिन्दू थे और वे ही सन १९११ में ६६३१०००० हो गये। एक दम आठ करोड़ हिन्दू गायब ! ओफ् !! इतने मनुष्यों से तो एक नई दुनियाँ बन जाती है !!! क्या हम लोगों को सावधान करने के लिये इतना प्रमाण यथेष्ट नहीं है? अपने शुष्क वेदान्त को छोड़ो। अपने धर्म तत्वों को ठीक ठीक समझो, जो वेदान्त तुम्हें शिथिलता, उदासीनता और अकर्मण्यता सिखा रहा है उसे नदी में बहा दो। वेदान्त का अर्थ समझने के लिये "रामकृष्ण" उत्पन्न करो। जिस गीता पर फूले नहीं समाते उसका रहस्य समझो। इस संसार में ही सब कुछ सार है। अपने भविष्य की गंभीर चिन्ता करो। सावधान !

(५) दुःखों से छुटकारे का उपाय।

दुःखों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य अनन्त उपाय करते हैं; परन्तु जब तक संसार जीवित रहेगा तबतक उसका दुःख से संबन्ध बना ही रहेगा। दुःखों से मुक्त होने के लिये द्रव्य, आरोग्यता, गुरु, धर्म, वेदान्त, अदृष्ट शक्तियों आदि का आश्रय लिया गया; परन्तु इनकेद्वारा रोते हुए मनुष्य का दुःख दूर नहीं हुआ। यह साधन अपने अपने स्थान पर उपयोगी हैं। परन्तु एक दुखी मनुष्य जिस परम शान्ति की खोज में रहता है उसका अनुभव ये साधन नहीं करा सकते। मनुष्य रुक गया। वह क्षण भर के लिये विचार करने लगा कि क्या दुःख संसार से दूर हो ही नहीं सकते। उसे विदित हुआ कि बाहरी साधनों से दुःख का दूर हो सकना असंभव है। उसकी बुद्धि ने फिर दूसरी छलाँग मारी—वह अपनी अन्तरात्मा की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखने लगा। वहाँ उसे वही प्यारी वस्तु मिली जिस की धुन में वह वर्षों से लगा था। वह प्रसन्नता से चिल्ला उठा कि "दुःख मनुष्य को उसी सीमा तक सता सकते हैं जहाँ तक वह उन्हें सताने देता है।"

मानव-समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति को दुःख का अनुभव कभी न कभी अवश्य हुआ रहता है। ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ दुःख ने अपने पैर न फैलाये हों—ऐसा कोई भी हृदय नहीं है जिसकी परीक्षा उसने न ली हो। वह मित्र भी है और शत्रु भी है। मित्र उसका है जो साहस के साथ उसका सामना करता है, और शत्रु उसका है जो उसे देख कर डर के साथ किनारा काटता है। वह भूतकाल का अमर पुत्र और भविष्यकाल का सर्वमान्य शिक्षक है। जो बुद्धिमान् हैं वे उस से विचलित न होकर उसे चुपचाप सह लेते हैं; परन्तु मूर्ख लोग वृथा साधनों के कारण उसकी चपेटों के शिकार बन जाते हैं।

संसार की महान् आत्माओं ने केवल सहन-शक्ति के भरोसे दुःखों पर विजय प्राप्त की है। दुःखों के साम्हने सिर झुका कर ही ईसामसीह उन्हें जीत सके। ज़हर का प्याला देख कर मीरा बाई मुसकुराने लगी। प्रह्लाद का जन्म दुःखों का स्वागत करने के लिये हुआ था। गोपियों ने श्रीकृष्ण जी से दुःखों में ही सुख के बीज का बोना सीखा था। गौतम बुद्ध ने सिंहासन और

मुकुट का त्याग कर विपत्तियों को हृदय से लगाया था, और अन्त में वह उन्हें परम सुख का स्वरूप दे सका। इन महान् आत्माओं का ध्यान सांसारिक विरोध, अपमान, घृणा और मृत्यु की ओर थोड़ा भी नहीं रहता। ये धन्यवाद के, प्रशंसा के, अनुकरण के और पूजा के पात्र हैं। यदि इनपर विपत्तियाँ न आवें, तो संसार की कठोर पाठशाला में इनकी परीक्षा न हो सकेगी। फल यह होगा कि राजहंस की गद्दी पर कभी कभी कौए भी बैठा करेंगे। दुःख और पीड़ाएँ इनका बाल बाँका नहीं कर सकतीं—वे इन्हें सताती हैं, डराती हैं, अपने आने का कारण बतलाती हैं, कुछ ईश्वरीय संदेश सुनाती हैं और फिर जयमाला पहिना कर लौट जाती हैं।

साहित्य-सुमन।

["श्रीशारदा" के इस विभाग में देशी तथा विदेशी सामयिक पत्रों के कतिपय उपयोगी लेखों के अंश उद्धृत किये जाते हैं जिससे अनेक पत्रों को पढ़ने का अवकाश न पानेवाले पाठक भी उत्तमोत्तम लेखों का कुछ लाभ उठा सकें।]

(१) श्रीकृष्ण की वंशी में महात्मा मेज़िनी की मधुर तान।

"उठो, जागो, भावों के साम्राज्य में विचरण करो। सिद्धान्तों की सेवा करो, अँधेरे में भटकनेवाले लोगों को उन्नति का उदाहरण, मनुष्यता का मार्ग और ईश्वर का आदेश बतलाओ। शास्त्रकारों की अँगुलियों के इशारे पर नाचने वाले लोगों को कर्तव्य की पहिचान कराकर उन्हें नैतिक तत्त्वों की वेदी पर बलिदान होना सिखलाओ। निराशा और सन्देह के प्रबल आक्रमणों से त्रस्त युवकों के कान में महान उद्देश का मंत्र फूँक दो। देखो, आसमान हिल जावे, तारागण अधिक उज्ज्वलता से चमकने लगें और ढूंढ़ने पर भूमंडल में मनुष्यप्राणी अवश्य मिल सकें। स्मरण रखो, हृदय वाले मनुष्य उत्पन्न करने का भार तुम पर है। बढ़ो, आगे बढ़ो, उत्साह की गंगा बहाओ। उसी में स्नान करो। सारे दुःख दूर होंगे। धर्म का डंका शक्ति भर दोनों हाथों से बजाओ—दानवी धर्म का नहीं, मानवी धर्म का। विशेष अधिकार और असमानता के समर्थन करनेवाले धर्म को लोहे की संदूक में बंद कर किसी प्रसिद्ध श्मशान-भूमि में पहुँचा दो—विलंब न होने पावे। यह सब करने पर प्रेम का पाठ पढ़ो और पढ़ाओ; फिर दृष्टि को ऊपर की ओर उठाओ—तुम्हारी ओर एक दिव्य ज्योति आती हुई दिखलाई पड़ेगी। तो क्या परमपिता परमात्मा तुमसे मिलने के लिये आने का कष्ट उठा रहे हैं? अवश्य, उनका तो यही काम है। आगे बढ़ो, और उनसे मिलकर अपने मनुष्य-जीवन को कृतार्थ करो।"

(२) हमारे नवयुवकों की धारणाशक्ति।

मद्रास से प्रकाशित होने वाले "एजुकेशनल रिव्यू" में एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसका विषय "कुछ भारतीय-शिक्षा-प्रचारक" है। लेखक ने एक स्थान पर हिन्दुओं के मस्तिष्क की धारणाशक्ति और योग्यता के संबंध में कप्तान डी. एल. रिचर्डसन के मत का अवतरण दिया है। वह इस तरह है :—

"हिन्दू युवकों के शिक्षक को अत्यन्त सरल काम करना पड़ता है। इन नवयुवकों की बुद्धि-शक्ति की जितनी प्रशंसा की जावे सब थोड़ी है। वह शिक्षक सचमुच मंदबुद्धि होगा जिसके द्वारा हिन्दू युवक कुछ भी नहीं सीख सकता। लोग मुझे उत्तम शिक्षक समझ कर आदर की दृष्टि से देखते हैं परन्तु यदि हिन्दू नवयुवकों के स्थान पर मेरे ही देशवासी मेरे विद्यार्थी होते, तो मैं सच कहता हूं कि मैं आधा भी सफल न हुआ होता। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे ऐसे विद्यार्थी मिले जिन्हें साधारण शिक्षा पाया हुआ कोई भी अधेड़ अंग्रेज पश्चिमी साहित्य का ज्ञान करा सकता था। सच बात यह है कि इन लोगों ने अपने आपको पढ़ाया है। ये "ईसाप-नीति" की कहानी में के वे आलसी गाड़ीवान नहीं हैं जो कीचड़ में धँसी अपनी गाड़ी को बाहर निकालने के लिये ईश्वर से सहायता माँगते थे। ईश्वर ने उत्तर दिया था कि —"ए पुरुषो, तुम स्वयं अपना कंधा पहिए में लगाओ"। भारतीय विद्यार्थी स्वयं अपना कंधा लगाने को सदैव तैयार रहता है। वह अपने शिक्षकों को अनावश्यक परिश्रम से बचाता है।"

इस अवतरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि हमारे भारतीय नवयुवकों के सिर में गोबर नहीं भरा है जैसा कि प्रायः हिन्दुस्थानी विश्व-विद्यालयों के परीक्षा-फल बतलाया करते हैं। यदि शिक्षकगण न्यायबुद्धि से विचार करें, तो उन्हें मालूम होगा कि भारतीय विद्यार्थियों का मस्तिष्क मौलिकता और धारणाशक्ति का भांडार है।

(३) साहित्य में क्या होना चाहिये ?

आजकल सभी लिक्खाड़ बना चाहते हैं। वे सोचते है कि लिखने से ही सब कुछ होता है; परन्तु "यदि लिखने से ही सब कुछ हो जाता, तो धर्म-ग्रन्थों ने ईश्वर को 'कर्त्ता' न कह कर 'लेखक' ही कहा होता"। आगे चलकर 'कर्मवीर' के वेही विचारशील लेखक लिखते हैं:—

"लिखा वही जावे जिसके लिये देश तरसता हो और जिसकी आवश्यकता समाज अनुभव करता हो। लिखा वह जावे जो जगत् को पवित्रता की ओर ले जानेवाला हो और साहित्य को उन भावों से भर देनेवाला हो जिसका असर सदियों तक प्राचीन न हो। लिखा वह जावे जिसमें वर्तमान जगत् का हृदय चित्रित और वर्तमान कठिनाइयों की विजय अवतरित हुई हो। यदि शरीर का कोई भाग देश पर चढ़ाया हो और यह आजमाया हो कि इस लेखनी के उठने ही झोपड़ी से लेकर महलों तक आशा का संदेश पहुँचेगा और बल का संचार होगा, तो पदों के पूजक, शब्दों के साधु, अक्षरों के आधार, आइये. सन्धि—संगति सुनाइये, राष्ट्र-भारती के अंकों में भूषण पहिनाइये, अपने तेजस्वी हृदय को आदर से क़लम के घाट उतारिये"।

(४) जासूस जानवर।

जासूसी के काम करनेवाले जानवरों के संबंध में "जापानीज़ मेगेज़िन" में एक मनोरंजक लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक महाशय ने बतलाया है कि जापान की फौजों में जानवरों से भी जासूसी के काम लिये जाते थे। लेख का कुछ अंश नीचे दिया जाता है:—

"इस काम के लिये कुत्तों, लोमड़ियों और चूहों का उपयोग किया जाता था। ये जानवर इसलिये चुने जाते थे कि एक तो, ये सरलता-पूर्वक सिखलाये जा सकते हैं, और दूसरे, काम करते समय ये कभी नहीं चूकते। मनुष्य की इच्छा और भाषा को ये बड़ी उत्तमता से सीख लेते हैं। लोमड़ी तो मनुष्य के समान बोल सकती है। प्रायः यह भी देखा गया है कि सिखलाने पर

कुत्ते और बिल्ली आदमी की बातचीत समझना सीख लेते हैं। अभ्यस्त कुत्ते को दूर जाने के लिये कहने पर वह दूर चला जाता है और बुलाने पर पास चला आता है। बिल्ली का भी यही हाल है। यदि आप कुत्ते को मारने-पीटने के इरादे से निकट बुलावेंगे, तो वह आपके मन की बातको समझ कर कभी नहीं आवेगा। कुत्ते मारनेवाले यदि रोटी देकर भी उन्हें पास बुलावें, तो कुत्ते उनकी आज्ञा नहीं मानते। विश्वास जमाने के लिये जानवरों पर प्यार करना पड़ता और उनके साथ दया तथा उदारता का बर्ताव करना पड़ता है। जानवर—चाहे वे हिंस्र क्यों न हों—प्यार के वश शीघ्र ही हो जाते हैं और कठोरता से क्षुब्ध हो जाते हैं"।

कुत्ते और विशेषतः लोमड़ियाँ जासूसी के काम में किस तरह लगाई जाती थीं इसका वर्णन इस तरह किया गया है:—

"राजाओं के ज़माने में खास खास जगहों में संतरी और जासूस रख जाते थे और मुसाफिरों की तलाशी ली जाती थी। परन्तु समस्त राज्य भर में ऐसे जासूस रख सकना अत्यंत कठिन था; अतएव इस काम में लोमड़ियों का भी उपयोग हुआ करता था। रास्तों, पहाड़ों और तराइयों पर जासूसी का काम मनुष्य करते थे और जंगली तथा बीहड़ स्थानों में लोमड़ियाँ। लोमड़ी जहाँ एक बार जाती है वहाँ का रास्ता कभी नहीं भूलती। जासूस मनुष्य जासूस लोमड़ी के पीछे पीछे जाया करता है। किसी आदमी से रास्ते में भेंट हो जाने पर जासूस लोमड़ी अथवा कुत्ता एक हलकी आवाज करता है जिसे पीछे पीछे आने वाला जासूस मनुष्य समझ लेता है। ये जानवर कई प्रकार की आवाज करते हैं जिनसे उनका मालिक समझ जाता है कि आगे बढ़ना उचित है अथवा अनुचित। ये सीखे हुए जानवर अपनी आवाज बदलकर यह भी बतला देते हैं कि दुश्मन निकट आ रहा अथवा दूर भाग रहा है। रास्ता भूलजाने पर मालिक लोमड़ी की आवाज की नकल करता है और उत्तर मिलने पर अपने मार्ग का अंदाज कर लेता है। यदि वह एक खास तरह से भूँके अथवा आवाज करता रहे, तो लोमड़ी स्वयं वापिस आकर उसे साथ ले जाती है। शिकारी लोग इसी ढंग से काम चलाते हैं"।

कुछ लोमड़ियाँ इस उत्तमता से सिखलाई जाती है कि सुनने पर आश्चर्य होता है:—

"उदाहरणार्थ, जब जासूस मनुष्य किसी ऐसी ऊँची जगह या चट्टान के पास आ जाता है जहाँ से वह ऊपर नहीं चढ़ सकता तो वह लोमड़ी के मुँह में एक रस्सी रख देता है। उस रस्सी को मुँह में दबाकर लोमड़ी किसी बड़े सुगम मार्ग से ऊपर चली जाती है और ऊपर पहुँच कर किसी वृक्ष के चारों ओर घूमती रहती है। रस्सी को देखता हुआ वह मनुष्य भी ऊपर पहुँच जाता है। मालिक के आने तक लोमड़ी रस्सी को मुँह में दबाये रखती है। भयंकर स्थानों में नीचे उतरने के लिये भी इसी तरह रास्ता ढूँढ़ा जाता है। जंगल में, ठंड के समय, रात बिताने की आवश्यकता आ पड़ने पर, लोमड़ी गरम कपड़े का काम देती है। विकट स्थानों में उससे बढ़ कर अच्छे मार्गदर्शक का मिल सकना अत्यन्त कठिन है। एक लोमड़ी ने किसी समय एक बड़े भयानक सर्प से अपने मालिक की जान बचाई थी। लोमड़ियाँ अँधेरे में रोशनी का काम भी करती हैं। उनके मुँह में कहीं से उठा कर हड्डी का टुकड़ा रख दो तो अंधकार में वह चमकने लगता है; क्योंकि उसके श्वासों में से "फास्फरस" पदार्थ के अंश से मिली हुई हवा निकलती है। इस तरह से मालिक अँधेरी रात में लोमड़ी के पीछे पीछे कुशलता-पूर्वक चला जाता है।"

जापान के फ़ौजी अफसर चूहों से भी जासूसी के काम लेते थे:—

"जासूस अफसर अपने पालतू चूहे को थैले में भर कर साथ ले जाता था और अभीष्ट स्थान में पहुँचने पर उसे निकाल कर स्वतंत्रतापूर्वक बाहर छोड़ देता था। चूहे को इस बात का अभ्यास रहता था कि उसे कागज़ का जो कोई टुकड़ा मिले उसे दबा कर अपने मालिक के पास ले आवे। इस तरह से दुश्मनों के क़िलों में से कभी कभी क़ीमती कागज़पत्र और गोपनीय लेखादि मिल जाया करते थे। दुश्मनों के स्थान में चूहों के जाने से यह भी पता लग जाता था कि वे सो रहे हैं अथवा जाग रहे हैं"।

मनुष्यप्राणी जिन जानवरों को मार काटकर खा जाया करता है वे भी सिखलाये जाने पर *विश्वास के पात्र और मनुष्य के उपकारी बन* जाते हैं।

(५) "हिन्दुस्थान में स्त्री-शिक्षा" पर प्रोफ़ेसर कर्वे के विचार।

जिस पुरुष ने अपना जीवन किसी एक ही काम के लिये अर्पित कर दिया है और जिसने उसको अपना ध्येय-सर्वस्व समझ लिया है उस विषय के संबंध में उस पुरुष के विचार सदैव माननीय होते हैं। प्रोफ़ेसर कर्वे ऐसे ही योग्य पुरुषों में से हैं। "इंडियन रिव्यू" के एक अंक में "हिन्दुस्थान में स्त्री-शिक्षा" के विषय पर आपने एक मननीय लेख लिखा है।

आप कहते हैं:—"मेरा मत है कि जब तक शिक्षा कुछ अंश तक देशी भाषा के द्वारा नहीं दी जावेगी और अंग्रेजी भाषा को गौण स्थान नहीं दिया जावेगा, तब तक इस देश में उच्च शिक्षा अच्छी तरह से जड़ न पकड़ सकेगी। प्रचलित विश्वविद्यालयों को अपनी रीति के अनुसार अपना काम करने दो—उसमें बाधा डालने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार उनके साथ ही देशी भाषाओं के माध्यम वाले विश्वविद्यालय स्थापित करे; साथ ही जो विश्वविद्यालय और संस्थाएँ इस तत्व के अनुसार काम करें और प्रमाणपत्र तथा पदवियाँ दें उनको वह (सरकार) प्रमाण माने। अल्प समय और शक्ति का व्यय कर साधारण पदवी प्राप्त करने में साधारण लोगों को कोई विशेष कठिनाई न होनी चाहिये। मातृभाषा द्वारा शिक्षा की यह स्वाभाविक पद्धति जापान और कई अन्य देशों में प्रचलित है। .....मेरी समझ है कि इस विदेशी भाषा के माध्यम ने बालकों की अपेक्षा बालिकाओं को अधिक हानि पहुंचाई है। मानसिक कष्टों का विचार तो अलग ही रहा, अत्यन्त थोड़ा ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही बहुत अधिक समय लग जाता है। फलतः लड़कियाँ थोड़ी भी उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकतीं: क्योंकि उनके लिये समय और शक्ति के प्रश्न बड़े महत्व के हैं।" आगे चलकर आप कहते हैं कि "स्त्रियों का अंधकार या भ्रम में रहना बिलकुल अनुचित है। पुरुषों ने तो पाश्चात्य लोगों के अनेक राजनैतिक सिद्धान्त ग्रहण कर लिये हैं। इनसे सामाजिक परिस्थिति में परिवर्तन हुए बिना न रहेगा। केवल राजनैतिक क्षेत्र में परिवर्तन करने से काम न चलेगा—वह प्रत्येक क्षेत्र में होता ही जावेगा। यदि गृह-कलह के दुःख-पूर्ण दृश्यों को कम करना हो, तो इन्हें कुछ अंश तक शिक्षा देनी ही होगी ताकि वे इस नये युग में नई बातों को समझ कर अपने पति की सच्ची सहधर्मिणी बन सकें। अब एक बार परिवर्तन की लहर उठ चुकी है, हम उसे बीच में नहीं रोक सकते। इस समय एक ही उपाय है कि स्त्री—शिक्षा में ही नहीं, बल्कि सब क्षेत्रों में पाश्चात्य और पौर्वात्य आचार—विचार का सच्चा मिश्रण होने दिया जावे।" आप फिर

कहते हैं कि "पुरुषों की शिक्षा के बड़े प्रश्न बड़े विकट हैं। परन्तु स्त्रीशिक्षा में सरकार की केवल सहानुभूति ही रहेगी। इसलिये स्त्रियों के अलग विश्वविद्यालय स्थापित करके पुरुष की शिक्षा से स्त्रीशिक्षा का कार्य अलग किया जावे, तो इस क्षेत्र में कई तरह के सुधार आसानी से हो सकेंगे।..... ...यह कह देना आवश्यक है कि जो स्त्रियाँ पुरुषोचित शिक्षा से लाभ उठाना चाहें वे यह करती रहें; पर सभी इससे लाभ नहीं उठा सकतीं। तथापि इनकी यह इच्छा अवश्य रहती है कि यथाशक्ति और यथाकाल शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। ऐसीही लड़कियों और स्त्रियों के लिये (और मैं समझता हूं कि उनकी ही संख्या अधिक है) स्वतन्त्र विश्वविद्यालयों और एतद्विषयक संस्थाओं की आवश्यकता है। फिर यह प्रश्न नहीं रह जाता कि वे सरकारी हों अथवा गैरसरकारी। ऐसी स्वतंत्र संस्थाओं की आवश्यकता का एक दूसरा कारण यह भी है कि पुरुषों के विश्वविद्यालयों में स्त्रीशिक्षा को केवल गौण स्थान मिलता है। पुरुष शिक्षा के प्रश्नों की अधिकता के कारण वहाँ स्त्री-शिक्षा के प्रश्न उठने ही नहीं पाते।. . पुरुषों की शिक्षा के संबंध में सरकारी सम्मति एक आवश्यक बात है। पर स्त्री-शिक्षा के संबंध में इस बात की आवश्यकता नहीं है। अपने घर कार्यों को बुद्धिपूर्वक और योग्य रीति से कर सकने के लिये स्त्रियों को शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये इस विषय में सरकारी सम्मति की राह देखते बैठना निरर्थक है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि शिक्षित स्त्रियों की संख्या बहुत कम है और कुछ साल तक ऐसी ही रहेगी। इसलिये गैरसरकारी विश्वविद्यालयों की शिक्षित स्त्रियों को कामकाज मिलने में भी कोई कठिनाई न होगी। जापान में स्त्रियों का स्वतंत्र विश्वविद्यालय चल रहा है और इन तीन बातों पर ध्यान रखा जाता है:—(१) स्त्रियों को मनुष्य-जीवन-योग्य शिक्षा देना, (२) स्त्रियों को महिलोपयोगी शिक्षा देना, (३) स्त्रियों को समाज के अंग जानकर शिक्षा देना"।

फिर कर्वे महाशय कहते हैं कि:—"मध्यम-वर्ग की स्त्रियों और पुरुषों में आचार-विचार-संबंधी जो बड़ा भारी अंतर पड़ता जा रहा है उसपर कोई ध्यान ही नहीं देता। विशेष दुःख की बात तो यह है कि कुछ लोग अज्ञान-वश यह समझ बैठे हैं कि विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देने से यह अंतर दूर हो जावेगा। इस धारणा से अपनी सामाजिक परिस्थिति का अज्ञान मात्र प्रकट होता है"।

हम आशा करते हैं कि लोग इन विचारों पर अवश्य ध्यान देंगे।

(३) पुस्तक-विक्रेताओं का ध्येय।

उत्तम और प्राचीन ग्रंथों को प्राप्त कर सकना बड़ा कठिन है। बड़ी बड़ी दूकानों और कंपनियों से भी कभी विख्यात पुस्तकों का मिलना असंभव रहता है। हमें खेद तो यह देख कर होता है कि कलकत्ता के कुछ यूरोपियन पुस्तक-विक्रेता पास में न रहनेवाली पुस्तकों की भी मांग पूरी करने का झूठा विज्ञापन छपा देते हैं। आर्डर भेजने पर वे कहते हैं कि अभीष्ट पुस्तक विलायत से मंगवा दी जा सकती है। फलतः पुस्तक-प्रेमी शिक्षित समुदाय को बड़ी कठिनाइयाँ हुआ करती हैं। "अर्थनियम" नामक पत्र में "हमारे अप्राप्य-अधिकार" के विषय पर—अर्थात उत्तम ग्रंथों के मिल सकने की कठिनाइयों पर जो कहा गया है वह "माडर्न रिव्यू" के आधार पर यहाँ दिया जाता है।

आश्चर्य की बात है कि ऐसे पुस्तक-विक्रेता बहुत कम मिलते हैं जिन्हों ने उत्तम और स्थायी महत्व के ग्रंथों को संग्रह करने का निरंतर प्रयत्न किया हो। कदाचित यह कहा जा सकता है कि



बीसवीं शताब्दी के दम्पती।
"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"

अन्य रोजगारों की तरह पुस्तकें बेचना भी एक रोजगार है। परन्तु इस मत का विरोध करना आवश्यक है। पुस्तक-विक्रेताओं को बार बार यह समझाना पड़ेगा कि अन्य समस्त धंधों से पुस्तक-विक्रय का धंधा बिलकुल भिन्न है। पुस्तक-विक्रेता पर बड़ी भारी जिम्मेदारी रहती है—उसके हाथों में बड़ा भारी अधिकार भी रहता है। उसे ऐसे अवसर मिलते हैं कि किसी प्रान्त के बड़े शहर में रह कर वह शिक्षक अथवा आचार्य की तरह प्रचार का केंद्र बन सकता है। उसे स्मरण रखना चाहिए कि वह धंधा करते समय भी केवल पुस्तक-विक्रेता नहीं है। अच्छे से अच्छे पुस्तकालय पुस्तकों की बड़ी दूकानों की समता नहीं कर सकते। पुस्तक-विक्रेता थोड़े द्रव्य और अधिक बुद्धि से नित्य नये उत्तमोत्तम ग्रंथों का रसास्वादन कर सकता और करा सकता है। भावुकता का जन्म ऐसी दूकानों से अधिक शीघ्रता से हो सकता है।

"अन्य कामों के ध्येयों तक पहुँच जाना जैसा कठिन है उसी तरह पुस्तक-विक्रेता का, उसके लिये निश्चित किये गये ध्येय तक पहुँच जाना भी कठिन है। परन्तु इस कारण से उसे ऊँची आकांक्षा के लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

"ध्येय की प्राप्ति कर लेना पुस्तक-विक्रेता के लिये भी निस्संदेह बड़ा कठिन है। जो मनुष्य निश्चित पुस्तक की माँग करें उन्हें तो उनके इच्छानुसार पुस्तक देने में कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु बहुतेरे आदमी ऐसे होते हैं जो पुस्तक की दूकानों में जाते समय यह नहीं जानते कि उन्हें कौनसी पुस्तक खरीदना चाहिये। बस, अच्छे पुस्तक-विक्रेता के लिये कार्य का यही समय है। उसे कुछ तो दूसरों की रुचि और इच्छा समझने में समर्थ होना चाहिये, कुछ विद्वान भी होना चाहिये और उत्साही तो पूरा होना चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि अमुक ग्राहक की बुद्धि-सीमा कहाँ तक है और वह किन किन उत्तम ग्रंथों को सहर्ष ले सकेगा। यहाँ अपने मन से पुस्तक चुन कर ग्राहक के मन में उसकी उपयोगिता का विश्वास उत्पन्न करना पड़ेगा। प्राचीन ग्रंथों का संग्रह करके और वर्तमान रुचि पर ध्यान रखते हुए वह मानवसमाज के "अप्राप्य अधिकारों" को सरलता-पूर्वक प्राप्त करा सकता है"।

भारतवर्ष में कलकत्ते की अपेक्षा बम्बई और मद्रास की दूकानों में अच्छी और अधिक पुस्तकें मिल सकती हैं; परंतु इन गैरसरकारी केन्द्रों से किसी न किसी तरह पुस्तकें शीघ्र मिल जाया करती हैं। सरकारी कार्यालयों से पुस्तकें, रिपोर्ट अथवा अन्य प्रकाशित कागजपत्रों को मँगाते समय कभी कभी अत्यधिक कष्ट का सामना करने पर भी पुस्तकें शीघ्र नहीं मिल सकतीं। एक अफसर किसी दूसरे का पता बतला देता है और दूसरा तीसरे का, और यह क्रम महीनों तक जारी रहता है।

विनोद-बिन्दु ।

अंग्रेजी में जब पत्र लिखते हैं और पत्र पूरा हो चुकने पर जब कोई नई बात लिखनी होती है, तब पत्र के नीचे बहुधा P. S. (po   ot) लिखकर अतिरिक्त बातें लिखी जाती हैं। काशी के एक पण्डितजी का कथन है कि यह P. S. संस्कृत भाषा के "परिशिष्ट" शब्द का संक्षिप्त रूप है, अर्थात 'परि' के लिये P. और 'शिष्ट' के लिये S लिखा जाता है। इस प्रकार आप देख सकते हैं कि अंग्रेजी भाषा भी संस्कृत की कितनी ऋणी है! यदि किसी को शंका हो, तो पण्डितजी शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी स्त्रियों का इतना आदर करते थे कि उन्हों ने "रामचरितमानस" में स्पष्ट लिख दिया है—

ढोल, गँवार, शूद्र अरु "नारी"।
सुन शठ ये कन्या-सम चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई।
ताहि बधे कछु पाप न होई॥

❀ ❀ ❀

आजकल जीवन-निर्वाह की वस्तुओं की जो भयंकर मँहगी हो रही है उसका अनुमान इसी बात पर से हो सकता है कि पहले अहीर लोग दूध में पानी मिलाते थे; पर आजकल पानी में दूध मिलाया जाता है।

❀ ❀ ❀

ग्रामोफ़ोन बाजा बनाने वाली एक कंपनी विचार कर रही है कि मृत्युञ्जय-जप के ठेकेदार पण्डितों का कष्ट बचाने के लिये मृत्युञ्जय के जप वाले कुछ रेकर्ड तैयार किये जाँय। जब कभी किसी को मृत्युञ्जय-जप की आवश्यकता हो, तुरंत वे रेकर्ड बाजे पर चढ़ा लिये जाँय।

❀ ❀ ❀

यदि किसी लेखक से "अति उत्तम" लेख लिखाना है तो इस बात की आवश्यकता है कि उस लेखक ने पहले जितने लेख लिख डाले हैं उन सबको "उत्तम" का सर्टीफ़िकट दे दिया जावे।

❀ ❀ ❀

जब वृद्धावस्था में देश के नेताओं का रक्त कुछ ठंढा होने लगता है, तब उनपर इसका यह प्रभाव पड़ता है कि वे 'गरम दल' को छोड़कर 'नरम दल' में आ जाते हैं।

❀ ❀ ❀

हिंदी-साहित्य-संसार में मौलिक ग्रंथों की संख्या किस प्रकार बढ़ सकती है?

इस प्रकार बढ़ सकती है कि इस समय हिन्दी में जितने अनुवादित ग्रंथ हैं उन सबका जब दूसरा संस्करण निकले, तब 'अनुवादक' के स्थान पर 'लेखक' लिख दिया जाय।

❀ ❀ ❀

यदि किसी वर्ग को संसार के कल्याण की चिंता है, तो वह दैनिक पत्रों के सम्पादक को है। ये लोग संसार के समाचारों को जानने के लिये दिनरात व्यग्र रहा करते हैं।

चित्र-परिचय।

(१) श्रीशारदा के वर्तमान अंक के आरंभ में प्रकाशित "श्रीकृष्ण-दर्शन" नामक चित्र बाबू गोविंददासजी के "माया-मद-मर्दन" नाम के एक अप्रकाशित, परंतु शीघ्र ही प्रकाशनीय, काव्य-ग्रन्थ से लिया गया है। कथा-प्रसंग इस प्रकार है—किसी समय देवता-गण वाणासुर के विविध अत्याचारों से त्रस्त होकर ब्रह्मा के शरणागत हुए। ब्रह्मा उनके दुःखों को सुनकर दयार्द्र हुए और उन दुःखों को दूर करने के विचार से, उन्हें साथ लेकर, श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये गोलोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण के जैसे दर्शन किये हैं उसका वर्णन इसी अंक में प्रकाशित "श्रीकृष्ण-दर्शन" नामी कविता में किया गया है। चित्रकार हैं मध्य-प्रदेश के एकमात्र नामांकित चित्रकार पं० गंगाशरण मिश्र। मिश्रजी ने चित्र के भाव कितनी सुन्दरता से अंकित किये हैं इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं। (२) दूसरे चित्र के नायक हैं रायबहादुर पं० विष्णुदत्त शुक्ल, बी. ए.। आपके परिचय के लिये आपका जीवनचरित्र इसी अंक में प्रकाशित किया गया है। (३) तीसरे चित्र का विषय चित्र से ही स्पष्ट हो जाता है। इसे देखकर पाठकगण अपनी सामाजिक स्थिति पर गंभीरता के साथ विचार करें। यद्यपि स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने की आवश्यकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, तथापि विचारणीय प्रश्न यह है कि स्त्रियों को उच्च शिक्षा देकर उन्हें चित्र में अंकित स्थिति पर पहुँचाना है अथवा उन्हें आदर्श गृहिणी और आदर्श माता बनाना है। कई विचारशील पुरुषों का कथन है कि आधुनिक उच्च-स्त्री-शिक्षा में विपर्यय हो रहा है, और समाज-सुधारकों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

वर्ष १, खण्ड १] वैशाख, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ८



वार्षिक मूल्य ५)] संरक्षक—श्रीमान बाबू गोविन्ददासजी [प्रति संख्या ॥

सम्पादक

साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिये—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। एक प्रति का मूल्य ।।) और पुरानी प्रति का ।।।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिये मनीआर्डर से ।।) भेजना चाहिए अथवा ।।=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिसमें पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिये अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर में कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—
प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

लेखकों के लिये—

१—वर्तमान राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—अपूर्ण लेख प्रकाशित नहीं किये जाते हैं। बड़े लेख, स्थान के अनुसार, एक वा एकाधिक संख्याओं में प्रकाशित किये जाते है।

५—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिये।

६—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने वा न करने, घटाने वा बढ़ाने, एवं लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

७—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

८—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

९—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

१०—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

११—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिये —
सम्पादक, "श्रीशारदा,"
दीक्षितपुरा, जबलपुर"।

विज्ञापकों के लिये—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषयके पहिले और पीछे के,.	१४)

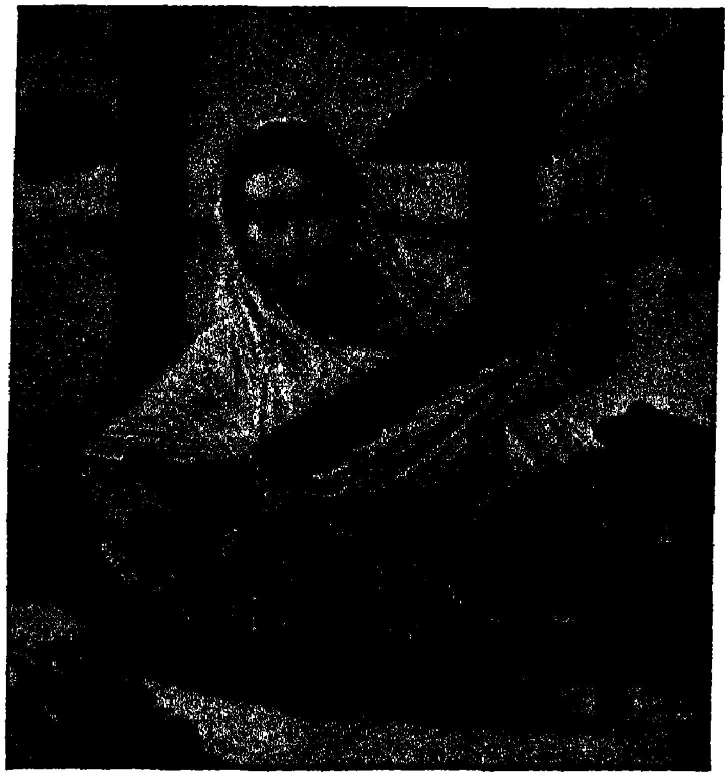
उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिये—
प्रबंधक, "श्रीशारदा" दीक्षितपुरा, जबलपुर।

—:o:—

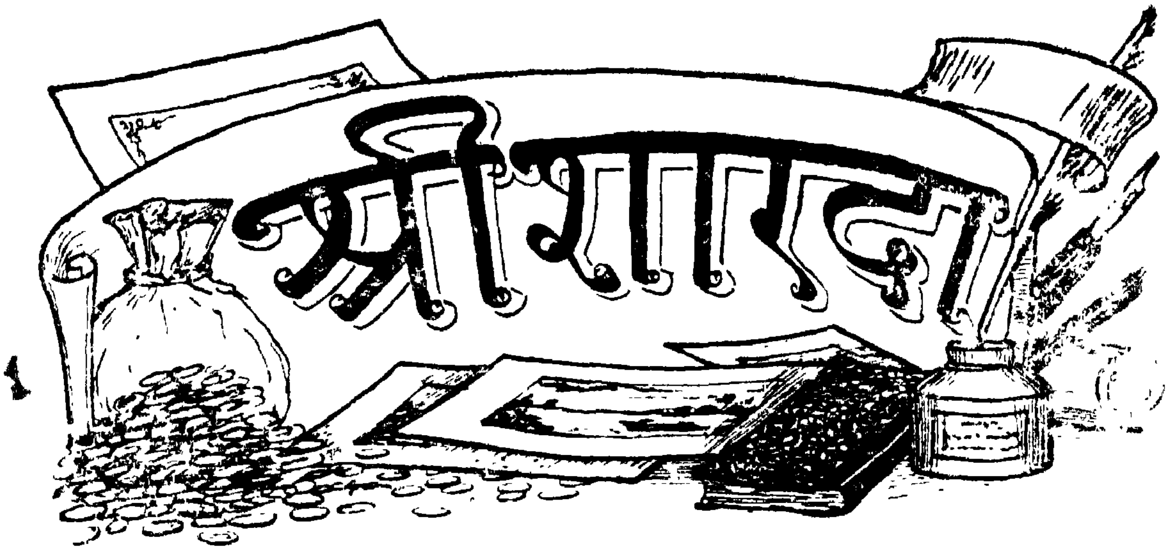
श्रीशारदा



Blocks by courtesy of
Mr. Ramananda Chatterjee

चित्रकार—श्रीयुक्त हीरालाल
बल्लनजी।

Ray & Sons, Calcutta



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड १] वैशाख शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ ❀ १९ अप्रैल, १९२० [संख्या २

गृह-प्रदीप।

(लेखक—बाबू सियारामशरण गुप्त)

बुझा गया इस गृह-प्रदीप को हाय! अचानक आज समीर,
आज हमारी पर्ण-कुटी में अन्धकार हो उठा गभीर।
आज यहाँ तुमको आना है अब क्या करूँ कहो, हे नाथ!
स्वागत कैसे करूँ तुम्हारा आज यहाँ इस तम के साथ?

वैसे ही तो यहाँ तुम्हारे योग्य नहीं था कोई साज,
अल्प स्नेह से एक दीप ही यहाँ जला रक्खा था आज।
वह भी हा! बुझ गया अचानक; चिन्ता है अब यही विशेष,
बाहर से ही लौट न जाओ घर में कहीं अँधेरा देख।

पर यह चिन्ता व्यर्थ, तुम्हें जब आना है तो आओगे,
तुच्छ दीप को ही न देखकर लौट नहीं तुम जाओगे।
पहुँचेगा तब एक चरण ही द्वार-देहली तक जब तक,
सौ सौ दीपावलियाँ गृह को सुप्रभ कर देंगी तब तक।

स्मृति-कालीन न्याय-पद्धति।

(लेखक—पं० जनार्दन रामचन्द्र परांजपे, एम.ए,एल.एल.बी.)

प्रायः सब देशों के प्राचीन समाज में यह मत प्रचलित था कि राजा न्याय का उद्गमस्थान है। हमारे भारतवर्ष में भी यह मत सर्वमान्य था और अभी तक है। न्याय का यथायोग्य प्रबंध करना राजा का प्रथम कर्तव्य माना जाता है, और यदि राजा कर्तव्य-विमुख हो, तो, धर्मशास्त्र के अनुसार, वह नरक का अधिकारी होता है। धर्मशास्त्र-प्रवर्तक मनु जी का वचन है:—

अदण्डयान् दण्डयन् राजा, दण्डयांश्चैवादण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥

अर्थात्, "जो राजा निरपराधियों को दण्ड दे और अपराधियों को छोड़ दे उसे इस संसार में अपकीर्ति और मरने पर नरक मिलता है।" यह नरक का दण्ड राजाओं को कर्तव्य-जागरूक बनाने में सहायक होता था; क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि प्रत्यक्ष आपत्ति की अपेक्षा परोक्ष और भावी आपत्ति का परिणाम मनुष्यमात्र पर विशेष होता है।

कोई कोई यूरोपियन ग्रंथकार स्मृति-ग्रंथों में लिखे हुए नियमों पर यह आक्षेप करते हैं कि ये केवल ब्राह्मण ग्रंथ-कर्त्ताओं की कल्पनाएँ हैं—ये भारतवर्ष में किसी भी समय प्रचलित नहीं थे। परंतु विचार करने से यह आक्षेप अलीक प्रतीत होता है। हमारे यहाँ के नाटक इसके साक्षी हैं। नियम है कि नाटककार अपने ग्रंथों में प्रचलित बातों का वर्णन करते हैं। शूद्रक कवि ने "मृच्छकटिक" नाटक में अपने समय की न्याय-सभा का चित्र खींचा है। भास कवि के "चारुदत्त" नाटक को और शूद्रक के "मृच्छकटिक" नाटक को पढ़कर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मृच्छकटिक चारुदत्त की नकल है। भास कवि का जीवन-काल ईस्वी सन् के ३०० वर्ष पूर्व माना जाता है। आजकल जो मनुस्मृति उपलब्ध है विद्वान लोग उसका भी प्रायः वही काल मानते हैं। इस अवस्था में यह अनुमान अनुचित न होगा कि मनुस्मृति में लिखे हुए नियम भास कवि के जीवन-समय में, समाज में, प्रचलित थे। ब्राह्मण-अपराधियों को बहुत सौम्यता दिखाई जाती थी और इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस वर्ग के लोग विशेष विद्या-सम्पन्न और सुशील होते थे, और उनपर सौम्य दण्ड भी गर्हणीय तथा यथेष्ट समझा जाता था।

'व्यवहार' शब्द का अर्थ कानून है, और 'व्यवहार-पद' का अर्थ मुकदमा है। इससे दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के झगड़ों का बोध होता है। स्मृति और आचार से प्रत्येक प्रजा-जन के जो सर्वसंमत अधिकार हैं उनमें दूसरों से बाधा पहुँचने पर इस बाधा का राजा के पास जो निवेदन किया जाता था उस सब स्मृति-ग्रंथकारों ने 'व्यवहार-पद'* कहा है।

न्यायसभा की रचना निम्न प्रकार की होती थी। न्याय में मुख्य अधिकारी राजा था। प्रमुख अधिकारी होने पर भी, काम करते समय, उसे अपने साथ सब शास्त्र और आचार में कुशल तीन ब्राह्मण रखना पड़ते थे। आवश्यकता होने

*स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ याज्ञवल्क्य।

पर, राजा इन ब्राह्मणों के मत के विरुद्ध न्याय कर सकता था; किन्तु साधारणतः ऐसा प्रसंग बहुत कम आता रहा होगा; क्योंकि ऐसा विरुद्ध मत प्रदर्शित करनेवाले राजा का, सामान्य जनों की दृष्टि में, अति अन्यायी समझा जाना संभव था। इसीलिए राजा इन ब्राह्मणों के मत के विरुद्ध मत बहुत कम प्रदर्शित करता रहा होगा। याज्ञवल्क्य-स्मृति में लिखा है —

"व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैःसह।"

कात्यायनने तीन से अधिक संख्याका भी निर्देश किया है इस मत में सात, पाँच या तीन की संख्याएँ हैं। कम से कम तीन ब्राह्मण होना ही चाहिए।

"लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥"

याज्ञवल्क्य—स्मृति में भी "ब्राह्मणैः सह" अर्थात् दो से अधिक की संख्या लिखी है। ये तीन ब्राह्मण प्रायः न्यायाधीश, अमात्य, और पुरोहित रहते होंगे। इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त तीन राज-नियुक्त सभासद भी, न्याय-निर्णय के समय, रहते थे। शास्त्र और आचार-प्रवीण सज्जन ही सभासद-पद के लिये चुने जाते थे। इस विषय में एक शंका यह है कि तीन ब्राह्मणों के अतिरिक्त तीन ब्राह्मण-सभासद और होते थे या केवल तीन ब्राह्मण ही निर्वाचित सभासद माने जाते थे? कात्यायन के मत से ये दो वर्ग भिन्न भिन्न हैं, अर्थात् इस मत के अनुसार पूर्वोक्त तीन ब्राह्मणों के अतिरिक्त और तीन ब्राह्मण सभासद न्याय-सभा में राजा के साथ होना चाहिए। विज्ञानेश्वर का भी यही मत है।

"व्यवहारान् नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैःसह ॥
श्रुत्यध्ययनसंपन्नाः धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः" ॥
याज्ञवल्क्य ।

इसका कारण विज्ञानेश्वर ने ऐसा दिया है कि यदि दोनों वर्ग एक माने जावें, तो स्मृतिकार पर द्विरुक्ति-दोष लगता है। दूसरा कारण यह है कि प्रथमान्त पद को तृतीयान्त पद का विशेषण बनाना पड़ेगा। यह व्याकरण-विरुद्ध है; अतएव इन दोनों वर्गों को भिन्न मानना विशेष सयुक्तिक है। इसके सिवा, बड़े बड़े व्यापारी भी सभा में बैठ सकते थे, और समय पर इनके मत को भी योग्य मान दिया जाता था। +

यदि किसी अपरिहार्य कारण से राजा स्वयं न्यायासन पर न बैठ सकता था, तो धर्मशास्त्रज्ञ तथा आचार-प्रवीण ब्राह्मण पदाधिकारी होता था। इसके साथ भी कार्य-निर्णय के समय सभासद रहते थे। यदि उपयुक्त विद्वान ब्राह्मण न मिलते थे, तो इस पद पर क्षत्रिय या वैश्य नियुक्त हो सकते थे। ×

रचना निम्न प्रकार की होती थी:—राजा या राजप्रतिनिधि, तीन ब्राह्मण, तीन सभासद, और धनिक। इनके सिवा, न्याय—सभा में दो मुंशी रहते थे जिनमें एक नाज़िर का काम करता था और दूसरा मुहर्रिर का। एक अरदली भी रहता था। पुकार करना तथा वादी, प्रतिवादी और गवाहों को बुलाना और उनकी रक्षा करना अर-

+ कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः ।
वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥ कात्यायन ।
× ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत् ।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ कात्यायन ।

दली का काम था। इन लोगों के कर्त्तव्य-कर्म बृहस्पति ने इस प्रकार बतलाये हैं—

वक्ता अध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्य्यपरीक्षकाः।
गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्यायं च लेखकः॥

प्रचलित न्याय-पद्धति से स्मृति-कालीन न्याय-पद्धति विशेष अच्छी दीख पड़ती है; क्योंकि साम्प्रत में केवल उन्हीं फौजदारी अपराधियों के लिये 'असेसर' नियत हैं जिनपर फाँसी का अपराध लगाया जाता है। 'ज्यूरी' की पद्धति के विषय में हम अभी यहाँ नहीं लिखते।

इस विषय में प्राचीन पद्धति के अनुसार दीवानी और फौजदारी में कुछ भी अंतर दिखाई नहीं देता। सभासदों के ऊपर देखरेख होती थी, और उनके किये हुए न्याय यदि लोभ, लाँचघूँस आदि के दोषों से दूषित होते थे तो प्रत्येक सभासद की ओर से हारनेवाले को जितना दण्ड लिखा है उससे दुगना दण्ड देना पड़ता था।

न्याय-सभा का काम पूर्वाह्न में, अर्थात दिनके पहिले अर्ध में, होता था। चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा और अष्टमी छुट्टी के दिन माने जाते थे। हमारी देशी रियासतों में अभी तक ये दिन छुट्टी के माने जाते हैं।

अदालतें चार प्रकार की थीं: अर्थात, राज-प्रतिनिधि, पूग, श्रेणी और कुल। इनका अधिकार उक्त क्रम से क्रमशः कम माना जाता था, अर्थात राजप्रतिनिधि से पूग का अधिकार कम था।

व्यवहार (अर्थात मुक़द्दमे) १८ प्रकार के होते थे, जैसे—ऋणादान (लेनदेन money lending), निक्षेप (पट, mortgages and pledges), अस्वामि-विक्रय (sale of property by one who is not the owner of it), संभूय-समुत्थान (partnership), दत्तानय-कर्म (revoking of gifts), वेतनादान (non-payment of wages), संविद्व्यतिक्रम (वायदा खिलाफ़ी, breach of contract), क्रय-विक्रयानुशय (resiling from sales and purchases), स्वामिपालविवाद (गोपाल और स्वामी के झगड़े), सीमाविवादधर्म (boundary disputes), पारुष्य (assault, slander, libel, battery), स्तेय (theft), स्त्रीपुंधर्म (duties of husband and wife), विभाग (partition), द्यूत (gambling), आह्वय (betting)।

सामान्य भेद ऊपर लिखे हुए १८ प्रकार के माने जाते थे; किन्तु नारद-स्मृति में १०० से भी अधिक संख्या दिखाई गई है। यद्यपि उक्त भेद से यह ज्ञात होता है कि दीवानी और फौजदारी में भेद नहीं माना जाता रहा होगा, तो भी 'मृच्छकटिक'-काल में दीवानी और फ़ौजदारी में आजकल माना जानेवाला सूक्ष्म भेद लोगों को ज्ञान रहा होगा, क्योंकि जब चारुदत्त पर वसन्तसेना को मारने का अपराध लगाया गया, तब उसको बचाने का प्रयत्न वसन्तसेना की माता ने किया था। उसने कहा कि "मैं वसंतसेना की माता हूँ; अतएव यह अपराध हमारे विरुद्ध है। हम चारुदत्त के विरुद्ध चलाये हुए मुक़द्दमे को उठा लेना चाहते हैं"। तब उसको यह प्रत्युत्तर दिया गया कि "यह अपराध व्यक्ति-विरुद्ध होने पर भी, राजा के प्रजा-जन के विरुद्ध होने के कारण राजाके विरुद्ध भी है; अतएव प्रजा जन को मुक़द्दमा उठा लेने का अधिकार नहीं है।"

साधारण न्याय-संबंध में न्यायाधीश तीन प्रमाण मानते थे—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और

आचार का। जब अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध दिखाई देता था, तब धर्मशास्त्र से निर्णय होता था और जब स्मृति-ग्रंथों में विरोध होता था, तब अर्थशास्त्र और आचार को प्रमाण मानते थे। आचार धर्मशास्त्र से भी अधिक बलवान माना जाता था। राजा को यह उपदेश था कि वह देश में प्रचलित आचारों के विरुद्ध, केवल धर्मशास्त्र को प्रमाण मानकर, न्याय न करे। यहाँ पर व्यवहारमयूख में लिखे हुए कुछ आचारों का निर्देश करना आवश्यक है:—

"देशजातिकुलादीनां ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः ।
तथैव ते पालनीयाः प्रजाः प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा ॥
उद्वह्यते दाक्षिणात्यैः मातुलस्य सुता द्विजैः ।
मध्यदेशे कर्मकराः शिल्पिनश्च गवाशिनः ॥
मत्स्यादाश्च नराः पूर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः ।
उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृश्या नृणां रजस्वलाः ॥
अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्त दमार्हकाः" ॥

अर्थात्, दाक्षिणात्यों में ब्राह्मणों में भी मामा की कन्या के साथ विवाह होता है। मध्य देश में शिल्पवर्ग गोमांस खाते हैं। पूर्व में अर्थात् बंगाल में ब्राह्मण मछली खाते हैं, इत्यादि।

अभियोग (cause of action) के कारण, अर्थात् जिन कारणों से दावा उपस्थित होता था वे दो प्रकार के होते थे—(१) शंकाभियोग और (२) तत्त्वाभियोग। जिसमें यह शंका हो कि प्रतिवादी ने अभियोग किया था नहीं वह शंकाभियोग था; जैसे, गंगादत्त न्याय-सभा में आकर कहता है कि उसे ऐसी शंका है कि मथुराप्रसाद ने उसके घर में चोरी की है। तत्त्वाभियोग में संशय का कारण नहीं रहता था; जैसे, यमुनादत्त चोरी करते पकड़ा जावे, और चोरी का माल उसके पास मिले। फिर तत्त्वाभियोग दो प्रकार का था—प्रतिषेधात्मक और विध्यात्मक। प्रतिषेधात्मक—जैसे, किसी से सोना ले लेना, किन्तु वापिस नहीं करना। और, विध्यात्मक; जैसे, हमारे खेत पर कोई बलात् अधिकार कर ले अथवा हमसे द्रव्य बलात् छीन ले।

मुक़द्दमे—व्यवहार—के चार अंग माने जाते थे; (१) भाषा या प्रतिज्ञा, या अर्ज़ीदावा (plaint), (२) उत्तर याने जवाबदावा (Defendant's written statement), (३) क्रिया या मुद्दई मुद्दायले के गवाह आदि, और (४) निर्णय (decision)।

भाषापाद—इसमें वादी न्याय-सभा में आकर न्यायाधीश को अपनी अर्ज़ी सुनाता था। अर्ज़ी ठीक है या नहीं यह देखना न्यायाधीश का काम था। यदि उसको यह विश्वास हो जाता कि सचमुच में वादी की कुछ हानि हुई है, तो वह अर्ज़ीदावा न्याय-योग्य समझता था। इस विषय में यह बता देना अत्यावश्यक है कि वर्तमान समय में भी यह नियम प्रचलित है। आजकल भी मजिस्ट्रेट साहब तथा जज साहब इस बात का अनुमान कर लेते हैं कि अर्ज़ीदावा सुनाई के योग्य है या नहीं। दोष-युक्त अर्ज़ीदावे पर सुनाई नहीं होती थी। दोष-युक्त अर्ज़ियाँ निम्न प्रकार की होती थीं:—

* "अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः। याज्ञवल्क्य २१ व्य. अ.।
धर्मार्थसन्निपाते अर्थग्राहिण एतदेव"—आपस्तम्भ।
† स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। याज्ञवल्क्य स्मृति २१ व्य. अ.

अप्रसिद्ध—जैसे, प्रतिवादी मेरे खरगोश के सींगों को बलात् ले गया, अथवा मुद्दायले ने मेरे आकाश के फूल को तोड़ डाला। सारांश यह है कि ऐसी अर्जियों में अर्ज़ीदावे का विषय लोगों को अज्ञात रहता था।

निराबाध—जैसे, प्रतिवादी मेरे घर के दीपक से अपने घर में काम करता है। अर्थात् ऐसी अर्जियों में वादी की कोई हानि नहीं दिखाई देती।

निरर्थ—जिससे कोई अर्थ बोध नहीं होता था। जैसे, प्रतिवादी मेरा क, ख, ग, घ नहीं देता।

निष्प्रयोजन—जैसे, देवदत्त मेरे घर के पास सुस्वर से गाता है।

असाध्य—अर्थात्, वे अपराध जिनका सिद्ध करना असंभव सा हो। जैसे, देवदत्त ने भृकुटि-विक्षेप से मेरा उपहास किया।

विरुद्ध—याने वे अर्ज़ीदावे जिन्हें राजा ने मना किया है। जैसे, व्यक्ति-विशेष की हानि होने पर भी राजनीति तथा समाज की रक्षा के लिये व्यक्ति की हानि का विचार करना उचित नहीं है।

इसके सिवा, पागल, अत्यंत पीड़ित और नाबालिग़ के विरुद्ध मुकद्दमे नहीं चलाये जाते थे। अर्ज़ीदावे में निम्न लिखित बातें लिखी जाती थीं:—मुद्दई और मुद्दायले के नाम, उनके पिता के नाम, जाति, पता, तिथि, पक्ष, दिन, संवत्सर, स्थान, देश, प्रदेश, द्रव्य और संख्या। यदि समय अधिक हुआ हो, तो विलंब करने का कारण, ग़ैरमनकूला जायदाद हो तो उसका विशेष नाम, विस्तार आदि; इस समय तक की प्रचलित सब बातों को उसमें लिखना पड़ता था। इनके सिवा राजा का नाम तथा पहिले दो राजाओं के नाम लिखना पड़ते थे।

पहिले लिखवाया हुआ दावा प्रतिवादी के उत्तर देने के पूर्व सुधर सकता था। साधारण व्यवहार ऐसा था कि पहिले सुनाये हुए अर्ज़ीदावे को खड़िया मिट्टी से तख्ती पर लिखते थे, और आवश्यक परिवर्तन होने के बाद उसे स्थिर समझते थे। स्थिर किया हुआ अर्ज़ीदावा फिर सुधर नहीं सकता था। इसके बाद राजा की मुहर लगा हुआ सम्मन मुद्दायले को भेजा जाता था। कभी कभी उसे चपरासी के द्वारा बुलाते थे। इन प्रजाजनों को सम्मन मिलने पर भी स्वयं उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं थी—नाबालिग़ (याने १६ वर्ष से कम अवस्था के), अत्यंत आपत्ति में पड़े हुए, ऐसे नित्य-नैमित्तिक क्रिया करनेवाले जिनके आने से उनकी अति हानि होने की संभावना हो, जो दुःख में हों, राजा के नौकर, उत्सव-मग्न मनुष्य, मत्त, उन्मत्त, प्रमत्त, आर्त्त, नौकर और कुलीन स्त्री। स्त्रियों के विषय में अपवाद भी हैं; जैसे, स्वैरिणी, गणिका, नीच जाति की वे स्त्रियां जो स्वयं काम काज करती हैं, पतित आदि विशेष प्रसंग में बुलाई जाती थीं। इनकी ओर से दूसरे व्यक्ति (जैसे, पिता, पुत्र, नियोगकृत या मुख्त्यार) पैरवी कर सकते थे। इनको छोड़ कर दूसरे कोई पैरवी नहीं कर सकते थे। इस नियम का भी अपवाद था। ब्रह्म-हत्या, सुरापान, स्तेय, गुर्वङ्गनागम, मनुष्य-मारण सरीखे भारी अपराधों में अभियुक्तों को स्वयं पैरवी करनी पड़ती थी। राजा के बुलाने पर यदि कोई न आवे, तो उसे

दण्ड दिया जाता था। दण्ड का प्रमाण इस प्रकार था—

हीने कर्मणि पंचाशत, मध्यमे तु शतावरः ।
गुरु कार्येषु दण्डः स्यात् नित्यं पंचशतावरः ॥

कात्यायन ।

नीचे लिखे हुए कारणों के होने पर यह दण्ड क्षमा कर दिया जाता था—जैसे, मनुष्य ऐसी अवस्था में हो कि प्रयत्न करने पर भी वह राजाज्ञा का पालन न कर सके; जो स्वयं आने से मुक्त थे उनको यदि मुद्दई तंग करने के इरादे से बुलावे, तो उसको भी दण्ड दिया जाता था।

उत्तरपाद—अर्जीदावा मुद्दायले को पढ़कर सुनाया जाता था। सुनने पर उसको जवाब देना पड़ता था। साधारण नियम यह था कि बड़े फौजदारी मामलों को छोड़ कर जवाब देने के लिए समय मिलता था। अनेक बातें वर्तमान न्याय-पद्धति से मिलती-जुलती थीं; अतएव उन्हें यहाँ लिखना उचित नहीं है।

जवाबदावे चार प्रकार के होते थे:—

(१) सत्य—याने मुद्दई का दावा कबूल करना (admission of the claim)। (२) मिथ्या-(denial in toto) अर्थात् अर्जीदावे को नामंजूर करना। यह चार प्रकार का था; १ दावा झूठ है, २ मालूम नहीं है, ३ हम वहाँ नहीं थे, और ४ हम पैदा भी नहीं हुए थे। (३) प्रत्यवस्कन्दन (special plea) जैसे, वादी से रुपया क़र्ज़ लिया था; किन्तु सब चुका दिया। (४) प्राङ्न्याय (resjudicata) जैसे, इस बात का पहले ही निर्णय हो चुका है।

क्रियापाद—इसके पश्चात् सबूत देने की कार्रवाई होती थी। सबूत देने की जवाबदारी जवाब पर से निश्चित होती थी; जैसे, मिथ्या उत्तर में वादी को अपना दावा साबित करना पड़ता था। प्रत्यवस्कन्दन तथा प्राङ्न्याय में प्रतिवादी पर सबूत की जवाबदारी होती थी। जिसपर जवाबदारी रहती थी उससे पहिले प्रमाण लिया जाता था और उसके उपरान्त दूसरे पक्ष से। यही नियम आजकल भी प्रचलित है। मुद्दई के दावे का निर्णय जब तक नहीं होता था, तब तक मुद्दायला मुद्दई पर दावा नहीं कर सकता था, और एक दावे के चालू होने पर प्रतिवादी पर दूसरा दावा नहीं किया जा सकता था। मारपीट तथा साहस (मनुष्य-मारण, चौर्य आदि) का दावा इस नियम का योग्य अपवाद है। वादी तथा प्रतिवादी दोनों को माकूल ज़मानत देना पड़ती थी। यदि माकूल ज़मानत न मिल सके, तो उनको नज़रक़ैद रहना पड़ता और इसका ख़र्च देना पड़ता था।

द्विजातिः प्रतिभूर्हीनो रक्ष्यः स्याद्बाह्यचारिभिः ।
शूद्रादीन् प्रतिभूर्हीनान् बन्धयेन्निगडेनतु ॥ कात्यायन।

निर्णय—द्रव्य के लेनदेन के दावे में यदि सबूत करनेवाला सबूत न कर सके, तो उसको दण्ड होता था। मिथ्योत्तर में वादी पर सबूत करने की जवाबदारी होती थी और यदि वह सबूत न कर सके तो उसको दावे से दूनी रक़म राजा को दण्ड-स्वरूप में देनी पड़ती थी, और यदि सबूत करे तो प्रतिवादी को दावा तो देना ही पड़ता था; किन्तु उतनी ही रक़म राजा को भी देनी पड़ती थी। प्राङ्न्याय तथा प्रत्यवस्कन्‍

में यदि प्रतिवादी सबूत करे तो वादी को दावे की रक़म के बराबर दण्ड देना पड़ता था, और यदि न कर सके, तो दावे की रक़म वादी को देता और दूनी रक़म का दण्ड देता था। यदि मुद्दायले के इस प्रत्युत्तर में कि "कुल दावा झूठ है" मुद्दई एक बात को भी प्रमाणित कर देता था तो सब बातें सच मानी जातीं थीं, और पहिली बात के झूठ प्रमाणित हो जाने पर सब बातें झूठ। किन्तु यदि यह प्रत्युत्तर मिलता कि "मालूम नहीं है" तो जितनी बातें सबूत होती थीं उतना ही दावा दिलाया जाता था।

आगामी लेख में यह बताया जायगा कि प्राचीन समय मे प्रमाणसंबंधी नियम किस प्रकार के थे।

नेता के कुछ गुण।

(लेखक—पंडित माधवराव सप्रे, बी० ए०)

नेता की आवश्यकता सभी कामों मे, सभी समाजों मे और सभी अवस्थाओं मे हुआ करती है। प्राचीन भारतवर्ष नेताओं के महत्व से भली भाँति परिचित था। हमारे अनेक धर्मग्रंथों में स्पष्ट वचन पाये जाते हैं, जैसे, "गुरु बिन ज्ञान न होय," "गुरु बिन कौन बतावे बाट," इत्यादि। बात सच है। पथप्रदर्शक के बिना आत्मोद्धार के मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता। नेता में किन किन गुणों की आवश्यकता है इस विषय की चर्चा प्रायः प्रत्येक स्थान में और प्रत्येक समाज में हुआ करती है। लोग अपनी अपनी बुद्धि तथा ज्ञान की पहुँच के अनुसार नेताओं के गुणों के संबंध में नियम बना लिया करते और निर्णय भी कर लेते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छा नेता है। विद्यार्थियों की समाज में तो इस विषय पर अच्छा वाद-विवाद हुआ करता है। अपने अपने स्वभाव और बुद्धि की दौड़ के अनुसार कोई कर्मवीर गांधी को अग्रगण्य नेता समझता है, कोई लोक-मान्य तिलक को भारत-शिरोमणि अगुआ मानता है, कोई माननीय मालवीयजी की मोहनी मूर्ति पर मुग्ध होता है, कोई बाबू सुरेन्द्र पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, कोई श्रीमती बीसेन्ट को त्रिकालदर्शी योगैश्वर्य-सम्पन्न मार्गदर्शिका बत-लाता है और कोई लार्ड सिंह के लार्डशिप मे ही भारत का कल्याण समझता है। किसी किसी की राय मे सच्चा नेता वही है कि जो अपने पेट का धंधा छोड़कर भूखों मरना फिरे और सार्वजनिक आश्रय के अनन्त समुद्र मे अपनी जीवन-नौका को डूबने-उतराने दे। इस प्रकार नेताओं के गुणो के संबन्ध मे अनेक मत दीख पड़ते हैं। यदि इस विषय का वर्तमान साहित्य देखा जावे, तो मालूम होगा कि इस पर बड़े बड़े नेताओ ने भी अपने विचार लेखों और व्याख्यानों द्वारा प्रगट किये हैं। कुछ दिन पहिले लाला लाजपतरायजी ने इसी विषय पर एक बहुत अच्छा लेख प्रकाशित किया था। खेद है कि वह लेख इस समय मेरे पास नहीं है। हमारे देश का प्राचीन साहित्य तो इस विषय की चर्चा से भरा पड़ा है। महाभारत मे नेताओं के गुणों का वर्णन अनेक स्थानों मे किया गया है।

इस समय, इस विषय पर, मैं न तो अपने विचार प्रगट करूंगा और न किसी वर्तमान नेता के। "दासबोध" नामक सुविख्यात ग्रंथ में श्री

समर्थ रामदास स्वामी ने अपने मार्मिक विचार प्रगट किये हैं। श्रीसमर्थ मेरे परात्पर गुरु और नेता हैं; अतएव उन्हीं के विचारों के आधार पर मैं इस लेख में संक्षिप्त रीति से यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि नेता में कौन कौन से गुण होने चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भारी कर्मवीर नेता हैं। उन्होंने स्वयं अपने विषय में कहा है:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

इसका भावार्थ यही है कि निस्पृह लोकसेवा अथवा "लोकसंग्रह" ही नेता का प्रधान उद्देश होना चाहिए। इसी महान् उद्देश को सामने रखकर प्रत्येक नेता को, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार, काम करना पड़ता है। इस उद्देश की सिद्धि के लिये प्रबोध-शक्ति की और जनता को अपनी ओर झुका लेने की बुद्धिमत्ता अपेक्षित है। रामदास स्वामी के मतानुसार ये बातें तभी हो सकती हैं जब इन ग्यारह गुणों का अभ्यास किया जावे:—१ यात्रा, २ विवेक, ३ परिश्रम-शीलता, ४ मृत्यु के संबंध में निर्भयता, ५ कीर्ति की चाह, ६ वैराग्य, ७ निस्पृहता, ८ मृदु वचन, ९ क्षमा, शान्ति, सहिष्णुता, १० परोपकार, और ११ उत्कटता। अब इन्हीं ग्यारह गुणों में से कुछ का विशेष विचार करना चाहिए।

जिसे नेता बनना है या लोकसेवा करना है उसे किसी एक स्थान में न रहना चाहिए—समस्त देश में भ्रमण करना चाहिए। किसी भी गाँव अथवा नगर में प्रवेश करने के पहिले उसे यह जान लेना चाहिए कि वहाँ देश-भक्त कौन है, देश-द्रोही कौन है, वाचाल कौन है, सच्चा काम करनेवाला कौन है, दांभिक और पाखंडी कौन है, सत्य आचरणवाला कौन है, एक फूटी कौड़ी के लिये अपने भाइयों की गर्दन पर छुरी चलानेवाला कौन है, इन्द्र-पद प्राप्त होने की पूर्ण आशा होने पर भी, देश का घात कभी न करनेवाला कौन है, इत्यादि। इन बातों का पता लगाकर फिर उस ओर से प्रवेश करना चाहिए। लोगों के असली हाल को जान लेने पर भी, यह भेद किसी को न बतलाकर, सबका सम्मान करना चाहिए और अवसर देखकर भ्रष्टबुद्धिवाले लोगों को सज्जनता के द्वारा वश कर सन्मार्ग में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। दुर्जन को दुर्जन कहने से कोई लाभ नहीं—उसे केवल पहिचान रखना चाहिए, और उस पर कपट-भाव न रखकर उसका उपकार तथा सुधार करने में कभी न चूकना चाहिए।

प्रयत्न-वाद और परिश्रम-शीलता की आवश्यकता तो संसार में सबके लिए हैं; परन्तु नेताओं के लिये अत्यन्त अधिक है। नेता के, अर्थात् बड़ी बड़ी ज़िम्मेदारी के कामों के सूत्रधार के, थोड़े से आलस्य से हज़ारों-लाखों मनुष्यों की अपार हानि हो सकती है। श्रीसमर्थ ने बतलाया है कि दैव का भरोसा करते हुए और उद्योग का त्याग कर हाथ पर हाथ धरे कभी न बैठे रहना चाहिए। उन का मत है कि राजा अथवा रंक होना, उत्तम अथवा अधम होना और सुखी अथवा दुःखी होना प्रारब्ध का परिणाम नहीं, किन्तु अपने गुणों और कार्यों का परिणाम है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रयत्न और परिश्रम किये बिना तथा कष्ट सहे बिना कोई फल नहीं

मिलता, कष्ट के बिना राज्य नहीं हो सकता। उनका मत है कि वह नेता नहीं है जो अपने पूर्वजों की केवल कीर्ति गाने में जीवन व्यतीत कर दे और स्वयं कुछ भी न करे।

नेताओं में वैराग्य का होना भी बड़ा आवश्यक है। इस गुण के अभाव में राष्ट्र के बड़े कार्य नहीं किये जा सकते। जो मनुष्य अपने स्त्रीपुत्रों में रातदिन व्यस्त रहता है वह संसार का कुछ भी भला नहीं कर सकता। अत्यधिक मोह-ममता और विषय-वासना के बंधन में रहने पर दूसरा कुछ काम नहीं हो सकता। लोकोपकार करनेवाले नेताओं को कुटुम्बीजनों की विपदावस्था और बीमारियों पर कभी कभी लापरवाही और दुर्लक्ष्य करना पड़ता है। स्वार्थत्याग किये बिना परोपकार हो सकना असंभव है। नेता के कार्यों से लोगों को यह मालूम हो जाना चाहिए कि यद्यपि वह सभी कार्य करता है; परन्तु वह सर्वत्र उपस्थित होकर भी कहीं नहीं है। यही सच्चा वैराग्य है।

जब तक नेता स्वयं निस्पृह न हो, तब तक वह देशहित का कोई कार्य नहीं कर सकता। नेता को देशहित में ही स्वहित समझना चाहिए। मनुष्य या तो स्वार्थ का साधन कर सकता है या परोपकार का। दोनों का साधन हो नहीं सकता। दोनों का साधन करते समय दोनों नष्ट हो जाते हैं और अपकीर्ति प्राप्त होती है। नेता को सामान्य लोगों की अवस्था से ऊपर रहना चाहिए। स्वार्थरहित मनुष्यों का जनता पर बड़ा दिव्य प्रभाव पड़ता है। ऐसे मनुष्यों के एक एक शब्द पर सहस्रों रुपये बरसने लगते हैं; क्योंकि दरिद्र से दरिद्र लोगों को भी मालूम रहता है कि ऐसे सज्जन स्वयं अपने लिये कुछ नहीं करते—दूसरों का उपकार ही करते हैं। ध्यान रहे कि जो मनुष्य निस्पृह नहीं होगा उसे दूसरों के दुःख में दुःख और सुख में सुख नहीं होगा।

परोपकार के लिये सदैव तत्पर रहना सात्विकता का सूचक है। यही नेता का सर्वप्रधान गुण है। इस विषय का भेदभाव रखना अनुचित है कि अमुक का उपकार करना और अमुक का न करना चाहिए। दूसरों को और विशेषतः दुर्जनों को भी आत्मवत मानने पर, और अवसर पड़ने पर उनका उपकार करने से, आत्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। दूसरे की विपत्ति के समय किसी भय अथवा असावधानी से मुँह छिपाना नेताओं का काम नहीं है। यदि नेता किसी की विपत्ति में सहायता करने दौड़ेगा, तो पचासों आदमी भी उसकी सहायता करने के लिए दौड़ जावेंगे और उस आपत्तिग्रसित मनुष्य का दुःख-भार हल्का हो जावेगा। इस तरह के कृत्यों से जन-समुदाय के सामने मनुष्यता का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित होगा और भ्रातृभाव का यथेष्ट प्रसार होगा।

स्वामी रामदास ने नेताओं में उत्कटता का होना परम आवश्यक बतलाया है। उत्कटता किसी कार्य में पूर्ण प्रवीण होने को कहते हैं। जब तक मनुष्य किसी न किसी कार्य में पूर्णतया सिद्धहस्त न होगा, तबतक वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता। उत्कटता, प्रवीणता अथवा तल्लीनता किसी भी विषय में हो सकती है; जैसे, भक्ति करने में, ज्ञान रखने में, चतुर होने में, योग और निस्पृहता में, भजनभाव में, देशसेवा में, इत्यादि। इनमें से एक गुण भी जिस

मनुष्य के पास हो वह लोगों को किसी महत्कार्य की ओर शीघ्र झुका सकता है। केवल सदिच्छा से धर्म और देश का भला कर सकना कठिन है—सद्गुण और सत्कार्य भी होना चाहिए। देश तथा धर्म की भलाई करने के लिये जिसके अंतःकरण में पवित्र इच्छा और आन्तरिक स्फूर्ति हो उसे स्मरण रखना चाहिए कि किसी न किसी विषय में दक्ष हुए बिना कीर्ति और इष्ट-सिद्धि नहीं होती।

इसके सिवा नेताओं के लिये और भी अन्य गुणों की आवश्यकता बतलाई गई है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विस्तार के भय से यहाँ उन सब का वर्णन नहीं किया जा सकता। इन सब आवश्यक गुणों की शिक्षा श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने अपने समय में हजारों शिष्यों को दी थी। ये ही शिष्य समाज के नेता बनकर, ईश्वर के दूत बनकर और लोकहित की मूर्त्ति बनकर जिस समय अपने धर्म और प्यारे स्वदेश का कल्याण कर रहे थे, उस समय की श्री-समृद्धि और सफलता का अनुमान करना कोई कठिन बात नहीं है। स्वधर्म, स्वदेश और स्वबांधवों के हित के लिये प्रयत्न करनेवाले हमारे प्राचीन नेताओं का यही स्वरूप था।

स्मरण रहे कि नेता के उक्त सब आवश्यक गुणों में आध्यात्मिकता ही प्रधान सूत्र है। ये गुण जैसे सांसारिक मार्ग से, वैसे ही पारमार्थिक कामों में भी उपयोगी हैं। नेता चाहे समाज का हो, धर्म का हो, राजनीति का हो या व्यापार-व्यवसाय का हो; परन्तु जबतक उसमें आध्यात्मिकता के आधार पर—ईश्वर के अधिष्ठान पर—उक्त गुण का विकास न होगा, तबतक उसका आन्दोलन सफल न होगा। माना कि आन्दोलन में शक्ति है। रामदास स्वामी भी इस तत्व का समर्थन करते हैं। परन्तु उनका कथन स्पष्ट है:—

"जो कोई आन्दोलन करेगा उसमें शक्ति है; परन्तु उसमें ईश्वर का अधिष्ठान होना चाहिये"।

तात्पर्य यह है कि हमारे नेता अपने प्रत्येक कार्य और आन्दोलन में "ईश्वर के अधिष्ठान" का अनुभव करें। यही आध्यात्मिकता नेता का प्रधान और सर्वश्रेष्ठ गुण है।

चित्रांगदा
अर्थात
स्त्रीजाति का महत्व और प्रेम का तत्व।

[लेखक—श्रीयुत गुलाबराय, एम० ए०, एल० एल० बी०]

कविसम्राट् डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साम्राज्य प्रायः सब ही भाषाओं में फैल गया है। अभी थोड़े ही दिन हुए, इन्दौर की मध्यभारत पुस्तक एजेन्सी द्वारा उनकी एक छोटी सी पुस्तक "चित्रांगदा" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। अनुवादक महाशय ने इस पुस्तक का अनुवाद कर हिन्दी-जनता को चिरकाल के लिये आभारी किया है। यह पुस्तक मनोरंजक होने के अतिरिक्त, जीवन के गूढ़ एवं अभेद्य रहस्यों पर बड़ी अनोखी झलक डालती है। उस पुस्तक में मनुष्य-समाज में स्त्रियों की आवश्यकता, स्थिति और विशेष कर्त्तव्य अति उत्तम रीति से बतलाये गये हैं, और प्रेम से सौन्दर्य्य के यथोचित सम्बन्ध का विवेचन ऐसी उत्तम रीति से और कहीं देखने में कम आता है। आइए, देखिए, ये बातें इस पुस्तक में किस प्रकार प्रकाशित की गई हैं।

चित्रांगदा की पूर्व कथा उसी के मुँह से कहलायी गई है। वह इस प्रकार है:—

"मेरा नाम चित्रांगदा है। मैं मणिपुर की राजकुमारी हूं। उमापति महादेव का वरदान था कि मेरे पितृवंश में कभी कन्या न उत्पन्न होगी × × × परन्तु मैंने उसी महावर को व्यर्थ कर डाला। अमोघ देववाक्य, मेरी माता के गर्भ में प्रवेश करके, शैव तेज के प्रभाव से भी, मुझे पुरुष न कर सका। मैं ऐसी कठोर नारी हूं। इसीसे मैं पुरुष वेष में रहती हूं, युवराज की भाँति राजकाज करती हूं × × × अन्तःपुर का रहना नहीं जानती, हाव-भाव नहीं जानती, विलास-चातुरी नहीं जानती; हाँ, धनुर्विद्या जानती हूं; परन्तु देव! नहीं जानती हूं कि नयन के प्रयोग से आपका (मदन देव का) पुष्प-धनुष कैसे चलाना चाहिए"।

देखिए, चित्रांगदा ने उमापति महादेव जी के वर को भी मिथ्या कर दिया। उस वर के मिथ्या होने में स्त्री-जाति का महत्व दिखलाई पड़ता है। संसार में स्त्रियों का होना इतना आवश्यक है कि चित्रांगदा के पिता को दिया हुआ वर कि उसके कुल में कोई कन्या न होगी, निष्फल हो गया। शिवजी ने अपने वर को मिथ्या कर स्त्री-जाति का गौरव बढ़ाया। शिवजी का वर मिथ्या हो गया; पर सत्य भी रहा। चित्रांगदा का प्रारम्भिक जीवन स्त्री का सा न था—वह पुरुष ही का सा था। वह हाव-भाव, विलास-चातुरी नहीं जानती थी, किन्तु धनुर्विद्या जानती थी। वास्तव में उस का आकार स्त्री का सा था और व्यवहार पुरुष का सा। फिर आगे की कथा देखिए कि उसके स्वरूपानुरूप उसका हृदय भी स्त्री का सा हो गया।

"एक रोज मैं मृगया के लिये पूर्णा नदी के तीर पर सघन वन में अकेली गई थी। अँधेरा सब ओर छाया हुआ था × × × मैं इस महारण्य में आगे बढ़ी, तो एक सकरे मार्ग पर फटे कपड़े पहिने हुए मलिन पुरुष पड़ा हुआ दीख पड़ा। मैंने अवज्ञा भरे हुए स्वर से कहा कि 'हट, रास्ता छोड़'; परन्तु वह न खिसका। मैंने बड़ी उद्धतता से तीर की नोक से उसकी ताड़ना की। वह सरल और दीर्घकाय नर तत्काल बड़े ही वेग से उठकर मेरे साम्हने खड़ा हो गया। थोड़ी देर भी वह मेरी ओर न देखने पाया था कि उसका रोष न जाने किधर काफूर हो गया और उसके अधरों पर मन्द स्मित की रेखाएँ नाचने लग गईं। इतने दिनों में कभी यह विचार नहीं उठा कि मैं स्त्री हूं। परन्तु जब से उस मुख को देखा है तब ही से मैंने अपने मन में जाना है कि मैं स्त्री हूं"।

स्त्रियों के भाव उत्पन्न होने के लिए कुछ उत्तेजना की आवश्यकता थी। बिना कारण के भावों का भी उदय नहीं होता। वह कारण इस प्रकार से मिल गया। अर्जुन को देखते ही चित्रांगदा अपना पुरुषत्व भूल गई। बिना पुरुष के स्त्री को अपने स्त्रीत्व का ज्ञान नहीं होता। अपने यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए स्त्री को पुरुष की आवश्यकता है और पुरुष को स्त्री की। भावों के उदय के लिए कोई सोच-विचार की आवश्यकता नहीं। आँखों के मिलते ही प्रेम की विद्युल्लता सारे शरीर में फैल जाती है। पुरुष के वेष में भी चित्रांगदा छिप न सकी। देखते ही अर्जुन का रोष जाता रहा। अर्जुन के देखते ही चित्रांगदा और की और हो गई। अपने पुरुष-वेष से लज्जित होने लगी। इंगलिस्तान की जो स्त्रियाँ ब्रीचेज़ पहिन कर घोड़े पर चढ़ना और अन्य पुरुषोचित कार्य्य करना चाहती हैं वे चित्रांगदा के निम्न लिखित शब्दों को विचारें। जो सुधारक लोग स्त्रियों को पोलो और क्रिकेट खेलने की सलाह देते हैं

चित्रांगदा के ये वाक्य उनका भी नेत्रोन्मीलन कर देंगे:—

"बचपन की दुराशा के वशीभूत होकर मैं कितने दिनों से सोच रही थी कि मैं अपने भुज बल से पार्थ की कीर्ति को निष्प्रभ कर दूंगी। मेरा वार खाली न जायगा। अरी नासमझ! कहाँ गई वह तेरी स्पर्धा? जिस भूमि पर वे खड़े हैं यदि उस भूमि की तृणसमूह होती तो सारी शूरवीरता को धूल में मिलाकर उनके चरण-तल में दुर्लभ मृत्यु को पाती। दूसरे दिन प्रातः काल ही मैंने पुरुष-वेष को अलग कर दिया। लाल साड़ी पहन ली और कंकण-किंकिणी एवं काञ्ची धारण कर ली"।

चित्रांगदा अर्जुन को धनुर्विद्या में हराने की आशा छोड़, महिलोचित धनुर्बाण से अर्जुन पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्यत हुई। उसका पहिला आक्रमण निष्फल हुआ और वह लज्जा के मारे पानी पानी होगई; उसको अपने अभिमान का फल मिल गया। वह स्त्री-सुलभ भावों के प्रभाव पर लज्जित होने लगी।

वह कहती है:—

"तपाये हुए शूल के समान उनकी अन्तिम बात मेरे कानों में चुभने लगी कि वरांगने, मैंने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर रक्खा है। मैं पति होने के योग्य नहीं हूं। पुरुष का ब्रह्मचर्य क्या! धिक्कार है मुझे यदि मैं उसे नष्ट न कर सकूं। घर पहुंचकर मैंने धनुर्बाण तोड़ फेंका। इतने दिनों के बाद मेरी समझ में आया कि यदि स्त्री होकर भी मैं पुरुष के चित्त को न जीत सकी, तो सारी विद्या वृथा है। अबला के मृणाल-कोमल दो बाहु इन बाहुओं से सौगुने बलवाले हैं"।

कला और प्रेम का ही क्षेत्र स्त्रियों का स्वाभाविक कार्य-स्थल है। इस बात का प्रमाण चित्रांगदा की बात बात में मिलता है। हम यह नहीं कहते कि स्त्रियाँ पढ़ें-लिखें नहीं और पुरुषों के कार्यों से बिल्कुल तटस्थ रहें; किन्तु उनको अपने स्वरूप का ध्यान रख अपने क्षेत्र से बाहर न जाना चाहिए। यदि स्त्रियाँ अपना कार्य्य छोड़ दें तो संसार से बहुत कुछ सौन्दर्य्य की छटा उठ जावे। चित्रांगदा को पूर्णतया स्त्री बनने के लिए एवं अर्जुन के हृदय पर विजय प्राप्त करने के लिए मदनदेव से सौन्दर्य्य की याचना करनी पड़ी। स्त्री का हृदय उसमें आ गया है, अब वह उसके अनुरूप स्वरूप भी चाहती है। भीतरी से बाहरी सौन्दर्य्य उत्पन्न हो जाता है और बाहरी सौन्दर्य्य भीतरी सौन्दर्य्य से परिचय कराकर स्वयं अनावश्यक बन जाता है। सौन्दर्य्य हृदय का दूत है। नायक और नायिका में मेल करा आप निवृत्त हो जाता है। यह रहस्य आगे चल कर मालूम होगा।

चित्रांगदा कहती है:—

"हे अनंगदेव! अब मुझे अपनी विद्या सिखलाइए। मुझे अबला का बल दीजिए, निरस्त्रों के अस्त्र-शस्त्र से सज्जित कीजिए"।

चित्रांगदा अलौकिक सुन्दरता की याचना करती हुई यह नहीं समझती थी कि अर्जुन के हृदय पर अपने सौन्दर्य्य का अधिकार कैसे जमाया जाय। वह जानती है कि वह अपने सद्गुणों द्वारा भी अर्जुन के हृदय का द्वार धीरे धीरे खोल कर वहाँ अपना स्थान बना सकती है; किन्तु वह अपना कार्य्य शीघ्र सफल करने के लिये बाहरी साधन चाहती है। वह यह भी जानती थी कि यदि एक बार अधिकार जमा लिया तो फिर मैं अपना राज्य अटल कर लूँगी। वह उन राजाओं की भाँति नहीं थी जो अपने जीते हुए राज्य को सम्हाल न सकें। सौन्दर्य्य के बल से अर्जुन के हृदय को जीत कर वह अपने सद्गुणों द्वारा अर्जुन को सदा के लिये अपना बना लेगी।

वह फिर कहती है:—

"वक्र होता तो मैं अकेली ही उनके हृदय पर अधिकार जमा लेती और देव की सहायता न चाहती। मुझे एक दिन के लिए परम सुन्दरी बना दो, फिर तो सदा के लिए सब कुछ सजा लूँगी। जब पहले पहल मैंने उन्हें देखा था, तब मेरे हृदय में अनन्त वसन्त अपूर्व शोभा से खिल उठा था। यदि वही प्रेम अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य्य को मेरे अंग अंग पर प्रकट कर दे, तो बड़ा ही आनन्द हो"।

चित्रांगदा बाहरी सौन्दर्य्य को भीतरी सौन्दर्य्य का व्यञ्जक बनाना चाहती है। मदनदेव से एक वर्ष के लिए सौन्दर्य्य का वर पा अपने अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित हो चित्रांगदा अपने वीरवर अर्जुन को जीतने के लिए गई। देखते ही देखते चित्रांगदा का अभीष्ट पूर्ण होगया। चित्रांगदा ने विजय लाभ किया: किन्तु वह धोखा देकर टट्टी की ओट शिकार खेलना नहीं जानती थी। वह प्रेम के वश मिथ्या-भाषण करना भी नहीं सीखी थी। अर्जुन से प्रेम करती थी, किन्तु व्रतखंडन करने के लिए उसको उपालम्भ दिये बिना नहीं रही।

वह कहती है:—

"धिक पार्थ! धिक! मैं कौन हूं? मुझमें क्या है? आपको क्या देख पड़ता है? मुझे आप क्या समझते हैं? किसके लिए अपने को आप भुलाये देते हैं? किसके लिए क्षण भर में सत्य-भंग कर अर्जुन को अनर्जुन किये देते हैं×× इस क्षण-स्थायी कपट के वेष ने अमर अन्तःकरण पर विजय पाई। अब मैं जान सकी हूं कि आपकी ख्याति मिथ्या है, शूरवीरता झूठी है।"

फिर भी वह चेतावनी देती है कि यदि आपका प्रेम केवल सौन्दर्य्य के लिए है तो वह माँगा हुआ है, और इसलिए आपको शायद दुःख उठाना पड़े। वह धर्म-युद्ध करती थी, धोखा देना नहीं जानती थी।

"नहीं, नहीं, पार्थ, मैं ऐसी नहीं हूं। यह देव का इन्द्रजाल है। जाओ जाओ, लौट जाओ, लौट जाओ वीर! मिथ्या के चरणों में अपने शौर्य्य, वीर्य्य और महत्व की बलि न दो। जाओ, लौट जाओ"।

अर्जुन को जीत कर एक रात चित्रांगदा ने प्रेम के स्वर्गीय सुख का अनुभव किया। उसके साथ ही साथ उसको अपने माँगे हुए रूप से ग्लानि उत्पन्न हो गई। गुणवती स्त्री के लिए ग्लानि स्वाभाविक ही थी। वह विजय को विजय नहीं समझती थी। माँगे हुए बल द्वारा जीत कैसी? वह अपनी सुन्दर काया के साथ सपत्नी का सा डाह करने लगी। वह समझने लगी कि यदि यह प्रेम रूप के लिए है, तो यह मेरे लिए नहीं है। वह सच्चे प्रेम की प्यासी थी।

वह कहती है:—

"मेरी यह काया सौत की सी होगई है। इसी सौत को बड़े जतन के साथ सजा सजा कर अपने मनोरथ के तीर्थ वासरशयन पर प्रति दिन भेजना पड़ेगा। निरन्तर साथ रह कर क्षण क्षण में होते हुए इसके आदरसम्मान को अपनी आँखों से देखना पड़ेगा। देह के सुहाग से अन्तःकरण हिंसानल में जलता रहेगा। ऐसा शाप मनुष्य-लोक में किसे मिला होगा? हे अनंग, अपने वर को लौटा लो।"

मदनदेव ने तुरन्त ही अपना वर नहीं लौटाया। वे जानते थे कि जब साल भर में चित्रांगदा अर्जुन के हृदय पर पूर्णतया अपना अधिकार जमा लेगी तब सुन्दरता की आवश्यकता न रहेगी। तब वह अपने आत्म-गौरव में प्रकट हो जायगी। उस समय अर्जुन भी समझेगा कि उसे नया सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक दिन अर्जुन चित्रांगदा से उसके

घर की बात पूछते हैं। उसके उत्तर में वह कहती है कि वन के कुसुम की भाँति वह वन ही में सूख जाना पसन्द करती है। वह जानती थी कि यह विलास-सुख क्षण-स्थायी है। इसका कोई घर नहीं हो सकता। अर्जुन उस विलास-सुख को स्थायी बनाना चाहता है।

किन्तु वह कहता है:—

"हाँ यही है, इससे दुख क्या है। यदि सुख को विदा करने के मार्ग रोक दिये जायँ तो क्षण भर में सुख दुख में परिवर्तित हो जाय (जो लोग दुःखलेशशून्य सुख को चाहते हैं उनको इसमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए) कामना के उदयकाल में जो कुछ प्राप्त हुआ हो उससे अधिक की आशा अवसानकाल में न करो।"

इन बातों का अर्जुन के हृदय पर गुप्त प्रभाव पड़ता रहा और अर्जुन की बाँहें शिकार के लिए खुजलाने लगीं।

चित्रांगदा ने शिकार का प्रस्ताव प्रेमालाप में टाल दिया। अर्जुन एक बार फिर चित्रांगदा से उसके घर के विषय में प्रश्न करता है। यह प्रश्न अन्तर्गत कौतूहल का फल न था, पर स्थिरता का चिह्न है। चित्रांगदा अपना परिचय देना नहीं चाहती। वह परिचय देवे तो किस का? चित्रांगदा असली चित्रांगदा न थी।

चित्रांगदा कहती है:—

"आप जो कुछ देख रहे हो मैं वही हूं। इस से अधिक मेरा कोई परिचय नहीं है। प्रातःकाल के समय किंशुक के पत्र की नोक पर जो हिम की बूंद लटकती रहती है उसका भी क्या कोई नाम-धाम होता है। उससे भी क्या परिचय का प्रश्न किया जा सकता है? आप जिसे प्यार करते हो वह भी ऐसा ही नाम-धाम-हीन ओस का मोती है"।

अर्जुन इस प्रश्न से संतुष्ट न होकर कहते हैं:—

"जो ऐसे को प्यार करे वह तो निश्चय अभागी है! प्रेम के हाथ में आकाश-कुसुम न दो प्रियतमे! उसे ऐसा कुछ धन दो कि जो सुख-दुख के भले बुरे दिनों में हृदय से चाँप कर रक्खा जा सके। मुझे उसका दान कर और मेरा जो हृदय सत्य-स्वरूप हो उसे ग्रहण कर। बस, ऐसा मिलन ही सदा-सर्वदा का मिलन है।"

अब भ्रांति का पर्दा फटने वाला है। अर्जुन का हृदय सत्य को ग्रहण करने को तैयार है। चित्रांगदा ने एक बार और अर्जुन को पर्दे के भीतर की बात देखने के लिए तैयार कर दिया। पर्दा खुलने पर अर्जुन को आश्चर्य न होगा। माँगे हुए सौन्दर्य्य-प्रेम की अन्तिम छटा दिखाकर वह कहती है:—

"मेरे पास जो कुछ था क्या सब बीत गया? नहीं प्रभो! नहीं बीता! भला बुरा अब भी मेरे पास कुछ बच रहा है। आज मैं उसे भी समर्पण करूँगी। आपको रुचिकर होगा—ऐसा सोचकर प्रियतम, बड़ी साधन से सौन्दर्य्य-कुसुम स्वर्ग के नन्दनवन से लाई और आपके चरणारविन्द पर चढ़ा दिये। जिस कुसुमावलि से मैंने पूजा की है उस कुसुमावलि के सदृश सुमधुर, सुकोमल और सर्वांगसुन्दर मैं कभी नहीं हूँ प्रभो! दो घड़ी के जीवन वाली कुसुमावली के समान निष्कलंक लावण्य मेरे पास कहाँ से आवे।"

अर्जुन को जिस धन की चाह थी उसकी चित्रांगदा के पास कमी न थी। उसके विशाल हृदयनिधि को प्रेमरूपी रत्न उज्ज्वल कर रहा था। अब वह पहली चित्रांगदा न थी जिसके हृदय में शौर्य्याभिमान की कालिमा के अतिरिक्त और कुछ न था। इस अनन्त धन की प्राप्ति अर्जुन को किस तरह हुई सो सुनिए। अर्जुन असली

चित्रांगदा के बलवीर्य्य की प्रशंसा सुनता है। उस के देखने के लिए उसके हृदय में अभिलाषा होती है, किन्तु चित्रांगदा अपने पूर्व रूप की बुराई करती हुई नीचे के शब्दों में स्त्रीजाति का आदर्श बताती है :—

"स्त्री यदि स्त्री हो, केवल वसुन्धरा की शोभा हो, कान्तिमयी हो, प्रेमभरी हो………… और स्नेह-सेवा के सुहाग से सदा भरी-पूरी होकर विलसती हो, तो उसका जन्म सुफल है।"

स्नेह-सेवा ही स्त्री का मुख्य धर्म है। पुरुष में इस गुण की कमी है। स्त्री माता होकर, पत्नी होकर, पुत्री होकर और भगिनी होकर, सब ही रूपों में, स्नेहसेवा करती है। यही स्त्री-जाति का महत्त्व है। इसीके लिए स्त्रियाँ आदरणीय हैं। यूरोप की वे स्त्रियाँ जिन्होंने यूरोपीय महायुद्ध में स्नेह-सेवा का कार्य्य जारी रक्खा उन स्त्रियों की अपेक्षा जिन्हों ने सिपाहियों की वर्दी पहनकर बंदूक हाथ में ली या लेने का विचार किया, सहस्रगुणी आदरणीय हैं। स्त्रियों का काम उत्पन्न करने का है, संहार करने का नहीं।

पहिले चित्रांगदा ने अर्जुन के हृदय का द्वार रूप-लावण्य की कुंजी से खोला था। अब वही द्वार उसकी कीर्ति-पवन के प्रबल प्रवाह से खुल कर चित्रांगदा के पूर्व रूप को अपने में स्थानापन्न कर रहा है। लेकिन अब चित्रांगदा पहिली चित्रांगदा नहीं रही। वह एक बार फिर अर्जुन को स्त्री का स्वरूप बतलाती है। चित्रांगदा अपने पूर्व रूप से लज्जित है। वह उस रूप में देखा जाना नहीं चाहती।

वह कहती है:—

"कामिनी की कपट-कला और जादू भरे माया जाल को दूर कर यदि लचीली लता की तरह संकोच से न लच जाऊँ और पर्वत के तरुण तेजस्वी तरु के समान आनन्द-वायु से लहराती हुई समुन्नत और सीधी खड़ी हो जाऊँ, तो क्या पुरुष की दृष्टि में अच्छी लगूंगी? रहने भी दो, उस की अपेक्षा यही अच्छा है। रात की सहचरी यदि दिन की कर्म-सहचरी बने तो क्या वह वीर के प्राणों को सुखदायक जान पड़ेगी?"

चित्रांगदा कहती है कि उसकी अपेक्षा यही अच्छा है। इस से जान पड़ता है कि चित्रांगदा अपने पूर्व रूप को घृणा के साथ देखती थी; किन्तु वह वर्तमान रूप से भी सन्तुष्ट न थी। वह केवल सुन्दर हृदय चाहती थी, अकेली सुन्दर काया नहीं चाहती थी। वह हृदय की सुन्दरता की झलक शरीर में चाहती थी, न कि अपने सुन्दर हृदय को पुरुष के अमोघ फौलादी आवरण से ढकना।

अर्जुन को भी चित्रांगदा की स्वच्छ कमनीय कान्ति में से उसके विशाल हृदय के देदीप्य रत्नों की झलक दिखाई पड़ने लगी है।

वह कहता है:-

"मैं तेरे रहस्य को कुछ भी नहीं समझ पाता हूं। इतने दिनों से साथ हूं, तो भी कुछ पता नहीं चलता। ऐसा भान होता है कि तू सदा साथ रह कर मुझे धोखे में रख रही है। देवता के समान प्रतिमा के भीतर रहकर तू मुझे अनमोल चुम्बन-रत्न और आलिंगन-सुधा का दान कर रही है। तू स्वयं कुछ लेती नहीं है। लेना छोड़ कर कुछ चाहती तक नहीं है।"

बस, यही तो सच्चा प्रेम है। सच्चे प्रेम में देना ही देना है, लेने का नाम भी नहीं है। आगे चलकर वह कहता है:—

"यह अंगहीन और भाषाहीन प्रेम अन्तःकरण में परिताप पैदा किये देता है तेजस्विनी! बात बात के बीच में तेरा परिचय मिल रहा है। उसके साम्हने यह सौन्दर्य-राशि मुझे केवल मिट्टी की मूर्ति जान पड़ती है, निपुण कारीगर की बनाई एक यवनिका मालूम होती है। बीच बीच में और एक ख्याल उठता है कि रूप तुझे धारण करने में असमर्थ है, वह ढलमल करता हुआ काँप रहा है। नित्य प्रकट होने वाली हँसी में जान पड़ता है कि आँसू भरे हुए हैं और वे बीच बीच में छलछल करते उमड़ पड़ते हैं कि मुहूर्त भर में पर्दा फट पड़ेगा। साधक के सामने पहिले मनोहर माया की कायाधर भ्रांति आती है, इसके बाद वेष-भूषा से रहित सीधा-सादा सत्य भीतर और बाहर प्रकाश फैलाता हुआ देख पड़ता है। तेरा वही सत्य स्वरूप कहाँ है?"

इस प्रश्न का उत्तर देती हुई चित्रांगदा अपना पूर्ण परिचय देती है।

"राजेन्द्र-नन्दिनी चित्रांगदा मैं ही हूं। प्रभो! वह स्त्री मैं ही हूं। वह हूं तो भी मैं वह नहीं हूं, वह तो मेरी एक तुच्छ स्थूल देह थी। मैंने वसन्त के वरदान से एक वर्ष भर के लिये अनुपम रूप पाया। मैंने अपनी कला के प्रभाव से वीर हृदय को थका दिया। वह भी मैं नहीं हूं—मैं तो चित्रांगदा हूं—न तो मैं देवी हूं और न मैं साधारण रमणी ही हूं। पूजा कर माथे पर चढ़ाओ—ऐसी भी मैं नहीं हूं, तो तुच्छ समझकर पालन-पोषण किया करो वह भी नहीं हूं।"

फिर वह बतलाती है कि उस के नारी-हृदय का किस प्रकार पता चलेगा:—

"यदि मुझे संकट के विकट मार्ग में साथ रक्खो, यदि मुझे कठिन कठिन चिन्ताओं में भाग लेने दो, यदि मुझे महा-कठोर व्रतों में सहायता देने की अनुमति दो और यदि मुझे सुख-दुःख के समय सहचरी होने दो, तो जान पाओगे कि मैं कैसी हूँ। आज तो मैं केवल आप के चरणों में समर्पित होती हूँ राजेन्द्र-नंदिनी चित्रांगदा!"

इस के उत्तर में अर्जुन कहता है—"प्रिये! आज मैं कृत-कृत्य हुआ।" अभी तक अर्जुन तृप्त नहीं हुआ था, आज सची चित्रांगदा को पाकर सन्तुष्ट हुआ। चित्रांगदा का सौन्दर्य्य-कुसुम मुरझा गया; पर अपने स्थान में पूर्ण प्रेम का मधुरतम फल छोड़ गया। इतना कहने पर भी प्रेम का रहस्य पूर्ण नहीं होता। अन्त में यही कहना पड़ता है—

स्वयं सिखाय न सकै 'सारदा' या की पाटी,
परम बिलच्छन स्वच्छ प्रेम-पूरित परिपाटी।
गोपनीय रस रहै पुरातन प्रथा भली है,
याही सो 'अधखिली रही यह प्रेमकली है'॥

कृषक-पुकार।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०)

खिलाड़ी, खूब खिलाया खेल।
चल अब सीधी चालें हम तो
हो गये मटिया-मेल॥

रंग सभी बदरंग हुए हैं,
सुख-वैभव सब भंग हुए हैं,
कैसे नंगमनंग हुए हैं,
लक्ष्मी बनी भुतेल॥

लिये लिये हल खेतों भटके,
प्राण कंठ में आकर अटके,
तो भी चूहे घर बेखटके,
दंड रहे हैं पेल॥

ऋतु बदली तो मेह न आया,
आया फूल न फल लग पाया,

कभी भाग्य ने वह दिखलाया,
ओले दिये उड़ेल ॥

बचों के छिन बचा-खुचा हम,
लाये यदपि न हृदय सका थम,
इतने में आया वह कर-यम,
भोंक दिया उर सेल ॥

हमने सिया कलेजा फिर भी,
दुख-सुख सभी अँगेजा फिर भी,
पीते थे हम पेजा फिर भी,
भेजी तुमने रेल ॥

धीरे धीरे इसकी माया,
उठा ले गई बचा-बचाया,
कोरों का भी किया सफाया,
कैसे लें दुख झेल ?

दिखता है अब काला-पीला,
क्र.र काल ने मुख भी कीला,
होगी कब पूरी यह लीला,
वह तो दे रस-केल !

प्रकृति की व्यवस्था।

(लेखक—साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

इस संसार का समस्त सम्बन्ध अनित्य बतलाया जाता है। लोग कहते हैं—"अजी, दुनियाँ में कौन किसका है"? वैराग्य की बातों में दिलचस्पी रखने वालों का तो पूछना ही क्या है, वे पानी पी पी कर संसार को और संसार-वासियों को कोसा करते हैं। पर, ये सब बातें केवल कही जाती हैं, इनके अनुसार व्यवहार नहीं किया जाता। यदि कोई करना चाहे, तो कर भी नहीं सकता। संसार का बड़े से बड़ा निराशावादी मनुष्य भी, दुःख पड़ने पर, संसार से सहायता पाने की आशा प्रकट करता है। संसार के जिन आदमियों को वह कोसता है, दुःख पड़ने पर उन्हीं को, अपनी सहायता के लिए, अपनी रक्षा के लिए, पुकारता है। इसीसे मैं कहता हूँ कि दुनियाँ में कौन किसका है—यह बात केवल कही जाती है, इसके अनुसार काम नहीं किया जाता। बात यह है कि मनुष्य बिना समझे-बूझे कह तो दिया करता है; पर स्वाभाविक सहयोग को वह तोड़ नहीं सकता।

यह सहयोग न केवल मानव-जाति में ही पाया जाता है, किन्तु चेतन-अचेतन सभी में इसकी प्रधानता स्पष्ट रीति से देखी जाती है। मिट्टी, जल आदि अनेक प्रकार के पौधे और वृक्ष पैदा करते हैं। मिट्टी स्वयं पौधों के लिए भोजन बनती है, उन्हें पुष्ट बनाती है, विकसित और फलित करती है। मिट्टी, जल आदि अचेतन पदार्थों से मनुष्यों का भी कम उपकार नहीं होता। यह सब उसी स्वाभाविक सहयोग की माया है। संसार में जितनी चीजें हम देखते हैं भले ही हम उनकी निन्दा करें; पर उनके बिना किसीका भी काम चलना कठिन है। मनुष्य, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, आदि सभी सांसारिक पदार्थों से सहायता लेते हैं। वे इनसे अपने मनोरथों और इच्छाओं की पूर्ति के लिए पूर्ण सहायता लेते हैं। इसे आप विधि का विधान कहें, या प्रकृतिका स्वाभाविक प्रवाह कहें। पर, बात एकही है।

कुछ विचारवान् सज्जन मेरी इन बातों को न मानेंगे। इसी संसार में साँप रहते हैं और बाघ

भी रहते हैं। वे कहेंगे—क्या इनसे भी मनुष्यों को सहायता मिलती है? बात है ठीक, प्रश्न है कठिन। पर आँखें खोलकर देखने से यह कठिन प्रश्न भी हल हो जाता है। कौन कहता है कि बाघ और साँपों से संसार का उपकार नहीं होता? अभिज्ञों का कहना है कि साँप कीड़े खाया करता है। उन कीड़ों में बहुत से ज़हरीले होते हैं। संसार के लिए उन कीड़ों से बड़े अनिष्ट की आशंका है। उनकी वृद्धि बड़ी शीघ्रता से होती है। थोड़े ही दिनों में वे इतने बढ़ जाते हैं कि उनकी वृद्धि को देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। साँप उनको खाता है और उनकी वृद्धि रोकता है। ज़हरीले कीड़ों की वृद्धि से खेतों के अन्न में ज़हर के अणु मिलजाने का भय रहता और मनुष्यों के उपयोग में आनेवाला जल विकारी हो जाता। ज़रा कल्पना कीजिए कि इससे कितनी बड़ी हानि होती? यह माना कि साँप भी ज़हरीले होते हैं; पर इनके काटे हुए आदमियों का बच जाना एक प्रकार से कठिन नहीं है। दूसरे, साँपों की उतनी वृद्धि नहीं होती जितनी उन कीड़ों की हो सकती है। साँपों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने बच्चों को भी खा जाते हैं, भाग्य से ही उनका कोई बच्चा बच पाता है। अब बतलाइए, साँपों से लाभ है या हानि? साँपों की वृद्धि बहुत कम होती है, उनका प्रभाव अन्न, जल आदि पर नहीं पड़ता। ऐसी दशा में उनके काटने से दस पाँच मनुष्यों की मृत्यु कुछ विशेष हानि की दृष्टि से नहीं देखी जानी चाहिए।

अब बाघों की बात सुनिए। किसी गाँव के पास कतिपय व्याघ्र-परिवार ने डेरा डाला था। उस परिवार के व्याघ्र प्रायः पशुओं को, विशेष कर कुत्तों, और कभी कभी मनुष्यों को भी मार कर खा जाते थे। यह बात गाँव वालों को बड़ी ही दुःखदायिनी जँची, और यथार्थ में थी भी वैसी। उन लोगों ने व्याघ्र-परिवार के नाश के लिए प्रयत्न किया। एक आखेटप्रिय राजा की सहायता से उन सबका मनोरथ पूरा हो गया। व्याघ्र-परिवार के कतिपय मेम्बर मारे गये, और कतिपय उदास होकर वहाँ से दूसरी जगह चले गये। कुछ दिनों तक शान्ति रही। थोड़ेही दिनों बाद कुत्तों की वृद्धि होने लगी। कुत्ते लोगों को काटने लगे, बिल्लियों का पीछा करने के लिए मकान पर चढ़ने लगे, रसोई में घुसकर भोजन की सामग्रियों पर आक्रमण करने लगे। वे ऐसे कई उपद्रव दिनरात करते थे। कुत्तों की इस ज़्यादती को देखकर वहाँ के लोग कहने लगे कि हमारे भाग्यही खोटे हैं!

एक घर में चूहे बहुत बढ़ गये थे। घर के मालिक ने एक बिल्ली पाली। उन्होंने चूहों से पीड़ित होकर बिल्ली की सहायता ली। बिल्ली ने आकर चूहों को मार डालना प्रारम्भ किया। थोड़े दिनों में चूहे चल बसे। अब बहुत ढूँढ़ने-खोजने पर भी बिल्ली के लिए चूहों का पाना कठिन हो गया। तब उसने घर के तोतों पर, दूध दही की मटकी पर, हाथ साफ़ करना शुरू किया। घर के मालिक ने बिल्ली को भी अपने यहाँ से चले जाने के लिए विवश किया। उसके जाने पर घरके मालिक प्रसन्न हुए। पर, उनकी प्रसन्नता बहुत दिनों तक न रह सकी। चूहे फिर बढ़ गये, कपड़े काटने लगे, पुस्तकें कतरने लगे। मालूम नहीं, वह मकान-मालिक फिर से बिल्ली को लाया या नहीं।

इन उदाहरणों से यह बात स्पष्टतया मालूम होती है कि इस संसार में क्रूर से क्रूर जीव का, बुरे से बुरे पदार्थ का भी उपयोग होता है और वह उपयोग जन-समाज के कल्याण के ही लिए होता है। इसीलिए हिन्दू-शास्त्र किसी जीव के वध की आज्ञा नहीं देते। वे कहते हैं— 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'।

जहाँ की जैसी अवस्था है, आवश्यकता है, वहाँ उसी के अनुकूल प्रकृति ने जीव-जन्तु उत्पन्न किये हैं। उनका उपयोग वहीं हो सकता है, और उनका स्वभाव तथा रूप भी उसी अवस्था तथा प्रकृति के अनुकूल गठित होता है। इलाहाबाद और काश्मीर के कुत्ते एक ही जाति के होने पर भी रूप में समान नहीं होते। चीन के कुत्तों की तो बात ही न पूछिए। उनके स्वभाव में भी भेद होता है। सुन्दरवन में जैसे बाघ होते हैं वैसे चित्रकूट के वनमें नहीं; क्योंकि उनका वहीं उपयोग है। चित्रकूट का वन उतना बड़ा नहीं है। वहाँ पशुओं के भोजन की भी प्रचुरता नहीं; अतएव वहाँ के पशुओं के मदान्ध होने की सम्भावना भी नहीं। सुन्दरवनकी बात इससे ठीक विपरीत है। वहाँ के पशुओं के शासन के लिए बाघ नामक जीवकी आवश्यकता में सन्देह न कीजिए और न उन्हें चित्रकूट में ले आने का प्रयत्न ही कीजिए। ऐसा करने से हानि होगी, लाभ कभी नहीं।

सुनते हैं कि आस्ट्रेलिया में खरगोश लाये गये और वहाँ वे छोड़ दिये गये; क्योंकि वहाँ के लिए ये नई वस्तु थे। पर, उनका आना आस्ट्रेलियावासियों के लिए मंगलजनक नहीं हुआ।

यह बात केवल पशुओं के सम्बन्ध की ही नहीं है, किन्तु मनुष्यों के सम्बन्ध की भी है। एक देश के मनुष्य यदि दूसरे देश में जायँ, तो उनसे उस देश के वासियों को हानि ही होती है, लाभ नहीं। हम लोगों के सुनने में बहुधा आता है कि अमुक देशके वासी अमुक देश में गये। वहाँ उन्होंने अमुक रोग का प्रचार किया, अमुक बुरी आदत फैलाई। बात यह है कि प्रकृति के द्वारा प्राणियों का जो स्वभाव गठित होता है, वह आसपास की वस्तुओं, जीवों आदि के अनुसार ही गठित होता है। प्रयागवासियों का स्वभाव वहाँ की आसपासवाली वस्तुओं के सहयोग से बना है, उनका उपादान एक विशेष प्रकार का है। ये अपने उपादान के गुणों का परस्पर आदान-प्रदान करते हैं। वे यदि किसी दूसरे देश में चले जायँ तो इनके शरीर, मन आदि के गठित होने में जिन उपादानों का उपयोग हुआ है वे वहाँ नहीं मिल सकते। इसी कारण देखा जाता है कि एक देश के वासी यदि किसी दूसरे देश में जाकर रहने लगें तो उनका स्वभाव बदल जाता है—उनकी प्रकृति बदल जाती है। ऐसा भी देखा गया है कि कतिपय नितान्त विरुद्ध स्वभाव रखने वाले एक देश के वासी यदि दूसरे देश में जायँ, तो उनका वंश नाश भी हो जाता है। इसके उदाहरणों की कमी नहीं, प्रमाणों का घाटा नहीं।

उपनिषदों में मनुष्य के लिए 'वृक्षधर्मा' विशेषण का प्रयोग किया गया है। वृक्ष का अपने जन्मस्थान की भूमि से सम्बन्ध रहता है। भिन्न जाति के वृक्षों की पुष्टि और वृद्धि के लिए विशेष तत्वों की आवश्यकता होती है। कैलास के परि-

सर में होने वाले वृक्ष मारवाड़ में और मारवाड़ में उत्पन्न होनेवाले वृक्ष कैलास के परिसर में उत्पन्न नहीं किये जा सकते। बबूल के लिए उचित स्थान मारवाड़ ही है । ऊँटों के लिए वहीं भोजन मिल सकता है। यही बात मनुष्यों के लिए भी है। मनुष्य को भी उस स्थान की वस्तुओं तथा पदार्थों के सहयोग की आवश्यकता होती है जहाँ वह उत्पन्न हुआ है। वह दूसरे स्थान में जाकर सुखी नहीं हो सकता। यही 'वृक्षधर्मा' पदका तात्पर्य है ।

पर, क्या वह सम्भव है ? क्या बिना हिंसा के मनुष्य-जीवन निभ सकता है ? क्या बिना देश छोड़े उसका पेट भर सकता है ? क्या उसके स्वार्थ की पूर्ति हो सकती है ? इन प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर है कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्'। मनुष्य स्वाधीन है, उसे किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं। मनुष्य में यह शक्ति है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे; पर वैज्ञानिकों के इस उत्तर को सुनकर नीति-शास्त्रवेत्ता और धर्मशास्त्रवेत्ता कहते हैं कि तुम लोग अन्धेर मचाना चाहते हो, तुम अपने ही लिए दूसरे जीव का जीवन क्यों समझते हो? अपना दूसरे जीव के लिए क्यों नहीं समझते ? मनुष्य की स्वाधीनता उस समय कहाँ चली जाती है जिस दिन उसे अपनेसे बलवानका सामना करना पड़ता है ।

मनुष्य का जीवन स्वतन्त्र नहीं है। वह किसी उद्देश की पूर्ति के लिए है। उस उद्देश्य की पूर्ति का साधन यह मनुष्य है; इसलिए इसकी रक्षा की जाती है। अतएव, यदि अवस्था विवश करती है, हिंसा करने की नितान्त आवश्यकता आ पड़ी है, बिना प्रतिद्वन्द्विता के काम चलना कठिन हो गया है, तौभी हिंसा मत करो, यज्ञ करो, निष्काम कर्म प्रारम्भ करो, अपना स्वार्थ छोड़ दो। उस समय यदि तुमसे हिंसाभी हो जाय, तो वह हिंसा हिंसा नहीं समझी जायगी; क्योंकि "तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः" का सिद्धान्त सर्वमान्य है।

हमको अपने स्वाभाविक सहयोगकी कामना करना चाहिए, उसीसे हमें लाभ हो सकता है। इसी सिद्धान्त पर अधिकार किया जाता है। स्वाभाविक सहयोग ही अधिकार है, धर्मशास्त्र की व्यवस्था का मूल यही स्वाभाविक सहयोगवाली प्राकृतिक व्यवस्था है। किन्तु दुःख है कि प्रकृतिभक्त, प्रकृति के अनुयायी, आज प्रकृति की इस स्वाभाविक सहयोगवाली व्यवस्था पर ध्यान नहीं देते। परमेश्वर ही रक्षा करे !

संयुक्त-शासन-प्रणाली ।

(Federal Government)

[लेखक—"एक इतिहासज्ञ"]

बहुत समय से प्रश्न हो रहा है कि क्या हिन्दुस्थान में किसी तरह एक राज्य-प्रबंध हो सकता है ? इसका उत्तर शासनविज्ञान के जाननेवाले यही देते हैं कि जिस हिन्दुस्थान का बड़ा भारी भाग ब्रिटिश-शासन के अधीन है और कुछ भाग अनेक देशी राजाओं के हाथ है, वह यदि किसी प्रकार अब एक हो सकता है तो केवल संयुक्त-शासन-प्रणाली के द्वारा ही हो सकता है; अतः यहाँ इस शासन-प्रणाली के तत्वों का विवेचन किया जाता है।

[१] वर्तमान समय में ब्रिटिश हिन्दुस्थान एकरूप (unitary) है—वह अनेक राज्यों का संयोग नहीं है। यहाँ प्रान्तीय "राज्यप्रबंध" अवश्य हैं; परन्तु उनके अधिकार स्वतंत्र नहीं हैं। यदि भारत-सरकार चाहे तो आवश्यकता के अनुसार उनके कार्यों में हस्तक्षेप कर सकती है। सब प्रान्तीय सरकारों को भारत-सरकार के द्वारा अधिकार दिये गये हैं। प्रान्तीय सरकार भारत-सरकार के मुनीम के समान है। यदि समस्त हिन्दुस्थान का विचार करे तो भी यही कहना पड़ेगा कि हिन्दुस्थान का राज्य एकरूप है। देशी राज्यों को वास्तव में बहुत कम राज्याधिकार हैं। ऐसे बहुत ही थोड़े राज्य हैं जिन्हें हम "राज्य" कह सकें; ऐसे बहुत ही थोड़े स्थान हैं जहाँ कुछ अंशों में सच्चा अधिकार हो। उन्हें रियासत अथवा परतंत्र राज्य (subject state or dependency) कह सकते हैं। सारांश यह है कि किसी भी दृष्टि से विचार करने पर हिन्दुस्थान के राज्य को एकरूप राज्य ही कहना उचित प्रतीत होता है।

अब **अमेरिका के संयुक्त राज्य** * का विचार कीजिए। वहाँ पहिले एक सर्वोच्च सरकार है जिसका अधिकार सब बातों में नहीं चल सकता। उसके अधिकार परिमित हैं। फिर अनेक छोटे छोटे राज्य हैं जिन्हें भी कुछ स्वतंत्र अधिकार प्राप्त हैं। ये अधिकार सर्वोच्च सरकार के दिये हुए नहीं हैं—ये उन राज्यों के ही अधिकार हैं अर्थात् उन बातों में वे छोटे छोटे राज्य स्वतंत्र हैं। इस तरह का राज्यप्रबंध हिन्दुस्थान के एकरूप राज्यप्रबंध से भिन्न है। सन् १७७६ ईस्वी के पहिले अमेरिका में इंग्लैंड की अधीनता में कई भिन्न राज्य थे। परन्तु इंग्लैंड की सरकार उनकी सम्मति के बिना ही उन पर कई तरह के कर लादना चाहती थी। फलतः उन भिन्न राज्यों ने एकता करके इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध किया और सन् १७८३ में वे स्वतंत्र बन बैठे। उनकी एकता स्थिर ही न रही, बल्कि बढ़ती भी गई। उनका वह मेल एक दिन संयुक्त राज्य के रूप में परिणत हो गया। क़ानून बनाने के लिए वहाँ दो अंगों (chambers) वाली कांग्रेस नाम की एक लोक-निर्वाचित सभा है। शासन का काम प्रेसिडेन्ट करता है और उसके कई मंत्री रहते हैं। एक सर्वोच्च न्याय-सभा भी है। कांग्रेस के अधिकार परिमित और विशिष्ट कर दिये गये हैं। अंगभूत राज्यों—part or constituent state—में जो सरकार हैं उन्हें बाक़ी क़ानून के संबंध में स्वतंत्र अधिकार हैं। संयुक्त-शासन-प्रणाली का यह केवल एक उदाहरण है। राज्यप्रबंध के जो अनेक अंग और अधिकार होते हैं वे अनेक देशों में अनेक तरह से बने और बँटे रहते हैं। इस कारण सभी संयुक्त राज्य एक ही समान नहीं होते। परन्तु उनमें कुछ साधारण बातें एक समान ही रहती हैं। **अमेरिका के संयुक्त राज्य** की कांग्रेस के निम्न लिखित अधिकार हैं:—

लोगों पर कर, लगान इत्यादि लगाना और वसूल करना; ऋण चुकाना और **संयुक्त राज्य** की रक्षा का प्रबंध करना। (इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि सारे राज्य में कर, लगान आदि बराबर ही लगाये जावें)।

संयुक्त राज्य के लिए ऋण लेना।

विदेशी और अंगभूत राज्यों के बीच तथा मूल-निवासियों के साथ होने वाले व्यापार का नियंत्रण करना।

नागरिकता के समान नियम स्थापित करना; सारे देशके लिए दिवालियापन के समान क़ायदे बनाना।

सिक्के बनाना; उन की और विदेशी सिक्कों की क़ीमत निश्चित करना; तौल और माप के परिमाण निश्चित करना।

संयुक्त राज्य के सिक्कों को जालसाज़ी के साथ बनाने वालों के लिए दंड का प्रबन्ध करना।

डाक और उसके मार्गों का प्रबंध करना।

लेख और आविष्कारों के पूर्ण अधिकार कुछ समय के लिए उनके कर्त्ताओं को देकर कला और विज्ञान की वृद्धि करना।

यदि समुद्र में कोई चोरी अथवा राजद्रोह का अपराध करे अथवा राष्ट्रों के नियमों का उल्लंघन करे, तो उसके दंड इत्यादि का प्रबंध करना।

---

* जो शब्द बड़े अक्षरों में छपे हैं वे "अमेरिका का संयुक्त राज्य" के वाचक हैं। जहाँ "संयुक्त राज्य" मामूली अक्षरों में छपा है वहाँ वह जातिवाचक नाम है, विशेष नाम नहीं। जहाँ **अमेरिका के संयुक्त राज्य** का उल्लेख है वहाँ बहुधा यह पूरा पद उपयोग में लाया गया है जिस में हमारा अर्थ स्पष्ट हो जावे। जहाँ पूरा पद नहीं आया वहाँ संदर्भ से अर्थ स्पष्ट हो सकता है। इसी कारण "अमेरिका का" यह पद छोड़ दिया गया है। पाठकगण इस अर्थों को कृपापूर्वक ध्यान में रखें।

—लेखक।

युद्ध करना; गिरफ्तारी का अधिकार देना और ज़मीन तथा समुद्र पर गिरफ्तारी के नियम बनाना।

सेना रखना और उसका पालन-पोषण करना; परन्तु इस कार्य के लिए दो साल से अधिक समय तक के लिए एक ही बार में धनका विनियोग न करना।

जहाज़ों का बेड़ा रखना और उसका खर्च चलाना।

स्थल और जलसेना के नियंत्रण और प्रबंध के नियम बनाना।

संयुक्त राज्य के कायदों का पालन करवाने के लिए, गदर को नष्ट करने के लिए और आक्रमणों का सामना करने के लिए आवश्यकतानुसार सेना के उपयोग का प्रबंध करना।

सेना की व्यवस्था, शस्त्रीकरण और कवायद सिखलाने का प्रबन्ध करना और संयुक्त राज्य के काम में लगी हुई सेना के नियंत्रण का प्रबंध करना; अंगभूत राज्यों को सेना के अफ़सरों की नियुक्ति का और सेना को कवायद सिखलाने का अधिकार देना।

अंगभूत राज्यों के देने पर (१०० वर्ग मील से अधिक न हो ऐसी) जो ज़मीन मिले और जिसे कांग्रेस स्वीकृत कर ले वह ज़मीन संयुक्त सरकार की राजधानी होगी। वहाँ के लिए सब तरह के कानून बनाना; अंगभूत राज्य की कानून बनानेवाली सभा की सम्मति से उन राज्यों में से ली हुई ज़मीन पर क़िले, बारूद-गोले के गोदाम, नावों के घाट, और इतर आवश्यक इमारतें बनाना।

ऊपर लिखे अधिकारों को अमल में लाने के लिए अथवा संयुक्त सरकार को, उसके किसी विभाग को, या किसी अफ़सर को दिये हुए अन्य अधिकारों को अमल में लाने के लिए सब आवश्यक कायदे बनाना।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि बाकी सब अधिकार अंगभूत राज्यों के हाथ में हैं। संयुक्त सरकार को जिन बातों का अधिकार नहीं उनमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारों के अधिकार हिन्दुस्थान में इस प्रकार नहीं बँटे हैं। वास्तव में सब अधिकार भारत-सरकार के हाथ में ही हैं। प्रान्तीय सरकारों के वे ही अधिकार हैं जो भारत-सरकार से दिये गये हैं, अर्थात् भारतवर्ष के राज्य-प्रबंध की रचना अमेरिका के संयुक्त प्रदेश की रचना से भिन्न है।

तो फिर संयुक्त शासन-प्रणाली कहते किसे हैं? संयुक्त शासन-प्रणाली वह राज्य-प्रबंध है जहाँ अंगभूत राज्यों के स्वातंत्र्य के कारण अखिल देश पर राज्य चलाने वाली सरकार के अधिकार राज्य-प्रबंध-निर्माण के समय ही परिमित कर दिये गये हों। परन्तु इतना ही कहने से काम न चलेगा। इस के साथ साथ इन बातों पर भी ध्यान देना होगा—(१) अंगभूत राज्यों का यह स्वातंत्र्य पूर्ण होना चाहिए, नहीं तो उस राज्य को संयुक्त कहना व्यर्थ होगा; (२) जब इस संयुक्तता का पूरा पूरा प्रमाण होगा तो उसका रूप सर्वोच्च सरकार की रचना में किसी न किसी प्रकार अवश्य दीख पड़ेगा; और (३) यदि इस रचना के चिरस्थायी होने की आवश्यकता हो तो सर्वोच्च और अंगभूत सरकारों में परिवर्तन करने की कोई निश्चयात्मक रीति का भी होना आवश्यक है।

[२] परन्तु इतने विवेचन से यह भेद स्पष्ट न होगा। इसका अधिक विवेचन करना आवश्यक है। पहिले तो उन राज्य-भागों का विचार करना चाहिए जहाँ के लोग संयुक्त राज्य के अफ़सर बनने में अथवा सभा-समितियों के निर्वाचन में कुछ भी भाग नहीं लेते। क्या ये राज्य-भाग संयुक्त राज्य के अंगभूत राज्य कहला सकते हैं? जब वहाँ के लोगों को संयुक्त राज्य के शासन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कुछ भी अधिकार नहीं रहता तब उन्हें अंगभूत राज्य कहना कदापि उचित नहीं। बहुधा सर्वोच्च सरकार उन के शासन को अपने अधिकार में रखती है; इसलिए उन्हें उसके परतंत्र राज्य (Subject state or dependency) ही कहना ठीक है। वे अंगभूत राज्य नहीं कहे जा सकते। दूसरी बात यह है कि अंगभूत राज्यों में बहुधा समानता का रहना आवश्यक है। एक के कम अधिकार और दूसरे के अधिक रहने से उनमें ईर्षा-द्वेष उत्पन्न होंगे और सारा राज्य-संगठन अस्थिर हो जावेगा तथा बहुत काल तक न टिक सकेगा। इसलिए यथाशक्ति सब के पास समान अधिकार का रहना ही आवश्यक है। स्थिरता के लिए सर्वोच्च सरकार और अंगभूत सरकारों के अधिकारों के विभागों का समतौल रहना भी आवश्यक है। यह लक्षण इतिहास में सदैव प्रारंभ से ही दिखाई नहीं पड़ता। इसका विकास पीछे धीरे धीरे होता है; तथापि यह संयुक्त राज्यों का आवश्यक लक्षण है।

अब यहाँ उन अधिकारों का उल्लेख किया जाता है जिनका संयुक्त सरकार के हाथ में रहना उपर्युक्त समझौते को बनाये रखने की दृष्टि से आवश्यक है :—

एक तो संयुक्त राज्यों का निर्माण बहुधा बाहरी आक्रमणों अथवा दबावके कारण हुआ करता है; इसलिए उसके हाथ में सब से पहिले फौज, जहाज़ और विदेशी राष्ट्रों के संबन्ध का नियंत्रण करने का अधिकार होना आवश्यक है। ये कार्य बिना द्रव्य के हो नहीं सकते: अतएव व्यक्ति की दृष्टि से उसे लोगों से कर वसूल करने का अधिकार भी होना आवश्यक है। यहाँ शंका की जा सकती है कि व्यक्ति की दृष्टि से लोगों से कर लेने की क्या आवश्यकता है ? अंगभूत राज्यों से निश्चित परिमाण में द्रव्य लेने से क्या काम न चलेगा ? इसका उत्तर यही है कि यदि किसी कारण इन अंगभूत राज्यों ने द्रव्य देना मंज़ूर न किया तो राज्य का काम स्थगित हो जावेगा। उन्हें द्रव्य देने को बाध्य करने के लिए फौज का उपयोग करना होगा और इस कार्य में धन लगेगा ही। धन के बिना सरकार का काम चल ही न सकेगा।

दूसरे प्रकार के अधिकार जो संयुक्त सरकार के पास रहे वे ऐसे हों जिनमें समानता और सामान्यता की आवश्यकता है; जैसे सिक्कों का ढलना, पेटन्ट और कापीराईट का नियंत्रण तथा डाक-विभाग का प्रबन्ध।

तीसरे वर्ग के बातें वे हैं जिनमें समानता की विशेष आवश्यकता नहीं रहती, तथापि उनसे राष्ट्रीय उन्नति का द्वार खुला हो जाता है। इनमें रेल की सड़कों, नहरों, तार, बैंक की पद्धति आदि के नियंत्रण का उल्लेख किया जा सकता है। आयात और निर्यात माल भी कभी कभी इसी वर्ग में सम्मिलित कर लिए जाते हैं; परन्तु यह बड़ा विवादग्रस्त विषय है। इस पर कर का लगाना या कम करना वास्तव में सर्वोच्च सरकार का कार्य नहीं है; परन्तु है वह बड़े महत्व की बात। यह कर बहुधा व्यापारिक दृष्टि की अपेक्षा आमदनी की दृष्टि से ही लगाया जाता है।

चौथे वर्ग की बातों में बहुत कुछ मतभेद भी हो सकता है। इन अधिकारों का विभाग करना विशेष परिस्थितियों पर ही अवलंबित रहता है। उदाहरण के लिए, विवाह-स्वीकृति, तलाक़, शिक्षा आदि के विषय इस वर्ग में आते हैं।

पांचवें वर्ग में वे बातें आती हैं जिनपर यथार्थ में अंगभूत राज्यों का ही अधिकार रहना चाहिए; परन्तु इनमें भी मतभेद हो सकता है। इस वर्ग में स्थानीय उपयोग के सार्वजनिक कार्य, सार्वजनिक दान, आबकारी इत्यादि शामिल हैं।

अमेरिका की कांग्रेस के जो अधिकार ऊपर बतलाये गये हैं वे प्रायः इन पाँच वर्गों में बँट सकते हैं। यह वर्गीकरण प्रत्येक वर्ग के महत्व के क्रम से किया गया है। देखने से मालूम हो सकता है कि पहिले तीन वर्गों के अधिकार विशेष महत्व के हैं। संयुक्त सरकार के पास इन तीनों का रहना विशेष आवश्यक है—उसकी स्थिरता अनेक अंशों में इन्हीं पर अवलंबित रहती है।

बहुधा देखा जाता है कि संयुक्त सरकार के अधिकार परिमित और निश्चित कर दिये जाते हैं। अमेरिका में ऐसा ही किया गया है। शेष अधिकार अंगभूत राज्यों की अधीनता में रहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि यह नियम सब स्थानों के लिये लागू नहीं है।

[३] ऊपर संयुक्त राज्य-प्रणाली की सामान्य परिभाषा बतलाई जा चुकी है और उसके तीन विशिष्ट लक्षण भी बतलाये गये हैं। अभी तक केवल पहिले लक्षण का स्पष्टीकरण हुआ है। अब अन्य दो लक्षणों का संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। दूसरा लक्षण यह बतलाया गया है कि "जब इस संयुक्तता का पूरा पूरा प्रमाण होगा तो उसका (अंगभूत राज्य का) रूप सर्वोच्च सरकार की रचना में किसी न किसी प्रकार अवश्य दीख पड़ेगा।" यह कई तरह से किया जा सकता है; जैसे—(अ) यदि ये अंगभूत राज्य स्वतंत्र हों तो अन्तर्राष्ट्रीय हकों में वे समान माने जावें और उन्हें सर्वोच्च राज्य-प्रबंध के किसी अंग के निर्वाचन में बराबर अधिकार दे दिये जावें। इससे यह परिणाम होता है कि इस निर्वाचित सभा का बहुमत अंगभूत राज्यों के बहुमत के समान ही होता है। अमेरिका में प्रत्येक अंगभूत राज्य से दो प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं। इस सभा का नाम सीनेट है। परन्तु इन अंगभूत राज्यों का विस्तार समान न होने पर निर्वाचन का समान अधिकार देना अनुचित है; (आ) ऐसी स्थिति में प्रत्येक अंगभूत राज्य का अलग मत—वोट—लिया जाता है। गतवर्ष तक के शासन—प्रबंध में जर्मनी में इसी प्रकार की सभा थी। प्रत्येक अंगभूत राज्य के वोट की संख्या भिन्न थी और एक राज्य के प्रतिनिधि एक ही प्रकार के वोट दे सकते थे। वे आपस में भले ही मतभेद रखते हों;

परन्तु उनमें जिस बात पर बहुमत पाया जाता था वही उस सारे राज्य का मत समझा जाता था और इस कारण जिस राज्य के जितने वोट उस बहुमतवाले होते थे उतने ही वोट उस राज्य के समझ लिये जाते थे; (इ) कभी कभी यह बात अनिवार्य होती है कि अंगभूत राज्यों के प्रतिनिधि अपनी अपनी सरकार की आज्ञा अवश्य मानें—वे अपना व्यक्तिगत मत न दें। परन्तु ऐसा करने से फिर वह सभा सर्वोच्च सरकार का अंग नहीं रह जाती; वह केवल अंगभूत राज्यों की सभा बन जाती है; फलतः उसमें एक स्वतंत्र सभा का लक्षण नहीं पाया जाता।

[४] तीसरा विशिष्ट लक्षण बतलाया गया है कि "यदि इसकी (अर्थात् सर्वोच्च सरकार की) रचना के संयुक्त स्वरूप के चिरस्थायी होने की आवश्यकता हो तो सर्वोच्च और अंगभूत सरकारों के नियमित अधिकारों में परिवर्तन करने की कोई नियमबद्ध रीति का होना भी आवश्यक है।" एकरूप राज्य में यह परिवर्तन सर्वोच्च राज्य की इच्छा पर ही अवलंबित रहता है। अपने द्वारा दिये गये अधिकारों को वह जब चाहे तब वापिस ले सकती है। पर बहुधा ऐसा होता है कि संयुक्त राज्य की क़ानून बनानेवाली मामूली सभा मामूली रीति से इन अधिकारों में परिवर्तन नहीं कर सकती। राज्य-संगठन होते समय आरंभ में जो अधिकार-सीमा निश्चित कर दी जाती है उसका साधारण तौर से बदलना ठीक नहीं समझा जाता। उचित तो यही होता है कि संगठन इस तरह से किया जावे कि उसमें किसी तरह का परिवर्तन करने की आवश्यकता और स्थान न रहे। समाज की अनेक बातें ज्यों ज्यों परिवर्तित होती जाती हैं त्यों त्यों इन अधिकारों में भी परिवर्तन होना आवश्यक प्रतीत होता है। पर यह सदैव आवश्यक नहीं होता कि यह कार्य क़ानून बनानेवाली मामूली सभा से बिलकुल भिन्न सभा के द्वारा ही किया जावे। साधारण कार्यों के लिए बहुमत काफ़ी होता है। ऐसे कार्यों के लिए दो तृतीयांश अथवा तीन चतुर्थांश मत आवश्यक समझा जावे। क़ानून बनानेवाली सभा का एक अंग अंगभूत राज्यों के प्रतिनिधियों से बना रहता है। अधिक स्थिरता रखने के लिए इन राज्यों की क़ानून बनानेवाली सभाओं के भी अलग अलग मत ले लिये जावें और नियमबद्ध परिवर्तन के लिए उनके दो तृतीयांश अथवा तीन चतुर्थांश मत की आवश्यकता रख दी जावे। अमेरिका के संयुक्त राज्य के पूर्व-निश्चित अधिकारों में परिवर्तन करना हो तो कांग्रेस के दो तृतीयांश और अंगभूत राज्यों के तीन चतुर्थांश मतों की आवश्यकता होती है।

[५] अधिकारों के विभाग और अंगभूत राज्यों की रचना की विशिष्टता के अनुसार संयुक्त राज्य कई तरह के हो सकते हैं। परन्तु संयुक्त राज्य कुछ राज्यों का केवल संघ (league) नहीं है और न वह राज्यों का संयोग (confederation) ही है। राज्यसंघ तो बहुधा निश्चित कार्यों के लिए और निश्चित अवधि के लिए स्थापित किया जाता है। ऐसे संघ मामूली संधियों के द्वारा निर्मित हो सकते हैं। इतिहास में इसके सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। इस प्रणाली से कोई नया राज्य नहीं बन जाता। संधि करने वाले नितान्त स्वतंत्र राज्य ज्यों के त्यों स्वतंत्र बने रहते हैं। बहुत आवश्यक होने पर सब मिलकर छोटी मोटी तात्कालिक सभा स्थापित कर लेते हैं जो केवल विशिष्ट कार्य किया करती है। परन्तु राज्यों का संयोग (confederation) अनेक राज्यों का अधिक स्थायी संयोग होता है। इस संयोग के होने में भी कोई विशिष्ट हेतु अवश्य रहता है; पर वह दीर्घ काल के लिए होता है; अतएव उसका स्वरूप अधिक स्थायी रहता है। बहुधा ऐसे संयोग का निर्माण बाहरी आक्रमणों के डर से होता है। ऐसे राज्य-संयोगों को अर्थ, फ़ौज और न्याय के भी अधिकार थोड़े बहुत अवश्य रहते हैं।

परन्तु संयुक्त राज्य (Federal government) में और राज्य-संयोगों (confederations) में कुछ स्पष्ट भेद रहा करते हैं; जैसे (अ) राज्य-संयोग के राज्य बहुधा स्वतंत्र रहते हैं और संयोग से किसी भी समय अपनी इच्छानुसार अलग हो जाने का उनको अधिकार रहता है। परन्तु संयुक्त राज्य के अंगभूत राज्यों को अलग हो जाने का अधिकार नहीं रह जाता; (आ) राज्य-संयोगों के सदस्य राज्य परराष्ट्रसंबंध के अपने सब अधिकारों का त्याग नहीं करते; परन्तु संयुक्तराज्य के अंगभूत राज्यों को बहुधा ऐसी स्वतंत्रता नहीं रहती; (इ) संयुक्तराज्य में संयुक्त सरकार का लोगों से थोड़ा बहुत व्यक्तिशः संबंध अवश्य रहता है—लोगों को व्यक्ति की दृष्टि से उस सरकार के क़ायदे मानने पड़ते हैं। परन्तु राज्य-संयोगों में सर्वोच्च सरकार का लोगों से बिलकुल अप्रत्यक्ष अर्थात् सदस्य-राज्यों के द्वारा संबंध रहता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार के राज्यों में यह भेद बहुत महत्वपूर्ण है; क्योंकि संयुक्त राज्य में सर्वसाधारण को दो सरकारों की—सर्वोच्च और

अंगभूत की—आज्ञा माननी पड़ती है; परन्तु राज्य-संयोगों में सर्वोच्च सरकार सर्व साधारण पर प्रत्यक्ष रीति से वालावाला हुकूमत नहीं कर सकती।

एकरूप (unitary) राज्य और संयुक्त राज्य के एक भेद का विचार यहाँ तक हो चुका। इसी तरह अधिकारों के न्यूनाधिक होने से, राज्यांगों की भिन्न भिन्न रचना से और उनकी अनेक प्रकार की विशिष्टता से भी अनेक भेद हो सकते हैं। इतिहास में इस तरह के मिश्रित (composite) राज्यों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

[६] यदि कभी लोगों पर दो सरकारों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य होने का प्रसंग आ पड़ता है तब बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जाने का डर रहता है। इनमें से यदि किसी सरकार ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण किया तो क्या किया जावे? इस तरह का झगड़ा उपस्थित हुआ तो उसका निपटारा किस प्रकार किया जावे? एकरूप राज्य में ऐसे समय में सीधे अदालत की शरण लेने से काम चल जाता है। परन्तु संयुक्त राज्य में जो अदालत यह कार्य करेगी उसे दोनों शासक सरकारों से और दोनों की व्यवस्थापक सभाओं से जब तक स्वतंत्रता नहीं मिलेगी अर्थात् जब तक वह उनके दबाव से मुक्त नहीं होगी तब तक वह अपनी बड़ी जवाबदारी के कार्य को उचित रूप से न कर सकेगी; क्योंकि उस दशा में किसी सरकार के द्वारा होने वाले अधिकार-अतिक्रमण पर निर्णय कर सकना और उसे नियम-विरुद्ध बतलाना कठिन हो जावेगा।

[७] संयुक्तराज्य के लक्षण संक्षेप में अनेक तुलनाओं और उदाहरणों के द्वारा बतलाये जा चुके हैं। अब इस बात का विचार करना है कि वे किस परिस्थिति में निर्मित होते हैं :—

(अ) पहिले कारण का उल्लेख हो चुका है। छोटे २ राज्यों पर कई जबरदस्त राज्यों की सतृष्ण दृष्टि रहती है। फिर जब बड़े राज्यों में कभी झगड़े उपस्थित होते हैं, तो छोटे राज्यों को थोड़ा बहुत नुकसान सहना ही पड़ता है, अतएव छोटे राज्यों को अपनी अपनी स्वरक्षा के लिए संयुक्त होना पड़ता है। संयुक्त होने से शक्ति बढ़ जाती है और दर्जा भी बढ़ जाता है।

(आ) यदि बहुत से छोटे छोटे राज्य आसपास रहते हैं और यदि उनके आचार-विचार, रहन-सहन आदि में अधिक भिन्नता नहीं रहती तो संयुक्त होजाने पर परस्पर उन्हें अनेक लाभ होते हैं।

(इ) बहुत समय तक अलग अलग रहने के कारण अथवा अनेक बातों में थोड़ा बहुत भेद होने के कारण यदि उन छोटे छोटे पड़ोसी राज्यों को एकरूप हो जाना अच्छा न मालूम हो, परंतु मेल की आवश्यकता भी हो, तो संयुक्त बन जाने का उपाय बहुत लाभदायक होता है।

(ई) कभी कभी व्यापार में उन्नति करने की दृष्टि से भी संयुक्त हो जाने में लाभ होता है। बलाढ्य राष्ट्रों के सामने न टिक सकने के कारण छोटे राज्यों के व्यापार के नष्ट होने का डर रहता है। संयुक्त हो जाने पर उन्हें व्यापार के लिए अच्छा बड़ा क्षेत्र मिल जाता है।

(उ) यदि किसी देश का विस्तार बहुत बड़ा हुआ तो उसके भिन्न भिन्न भागों में अनेक तरह के भेद दीख पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में संयुक्त हो जाने पर अनेक कठिनाइयों का नाश हो जाता है और विस्तीर्ण देश का शासन अच्छी तरह होने लगता है *। अमेरिका का संयुक्त राज्य, स्विट्ज़रलैन्ड, जर्मनी, मेक्सिको, ब्रेज़िल, कनेडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटिश दक्षिण अफ्रिका इत्यादि के संयुक्त राज्य इन्हीं भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न हुए हैं।

[८] जिन कारणों से संयुक्त राज्यों का निर्माण होता है वे ही उसके गुण हैं। उन परिस्थितियों में किसी दूसरे तरह की शासन-प्रणाली टिक नहीं सकती—सभी दृष्टियों से केवल संयुक्त-शासन-प्रणाली ही लाभकारी सिद्ध होती है। परन्तु इस शासन-प्रणाली में भी नीचे लिखे दोष पाये जाते हैं—

(अ) राज्यों के संयुक्त होने से राष्ट्रीयता का प्रमाण विशिष्ट सीमा तक ही विकसित हो सकता है। राष्ट्रीयता की बाढ़ को यह कल्पना रोकती है कि हम स्वतंत्र राज्य के नागरिक हैं। एकरूप राज्य में राष्ट्रीयता चरम सीमा तक पहुँच सकती है। हाँ, यह सच है कि छोटे छोटे राज्यों के संयुक्त राज्य बन जाने पर पहिले की अपेक्षा राष्ट्रीयता की सीमा कुछ अधिक उच्च कोटि की हो सकेगी। जो राज्य पहिले से ही एकरूप हो

* पाठकगण विचार करें कि इनमें से कौन कौनसी बातें भारतवर्ष के लिए लागू हो सकती हैं।

—लेखक।

उसे संयुक्त राज्य बनाने पर यह शासन-प्रणाली दोष-पूर्ण परिणाम उत्पन्न करती है।

(आ) संयुक्त राज्य में आंतरिक समानता हो जाती है; परन्तु एकरूप राज्य में यह बहुत बढ़ सकती है।

(इ) यह शासन-प्रणाली एकरूप राज्य के सदृश चिरस्थायी नहीं रहती। भीतरी झगड़ों के पैदा होने का बड़ा डर रहता है।

[६] आज कल बड़े बड़े राज्यों का युग आया है। छोटे छोटे राज्यों का टिकना बड़ा कठिन हो रहा है। इसलिए जहाँ ऊपर लिखी हुई परिस्थिति अथवा कारण हों वहाँ संयुक्त-शासन-प्रणाली स्थापित करने से अनेक लाभ हो सकते हैं, और संसार के अनेक बड़े बड़े प्रश्न हल हो सकते हैं। बड़े राज्यों की दुरुपाधि से बचने के लिए छोटे राज्यों को यह उपाय बड़ा लाभकारी सिद्ध होगा। विस्तीर्ण देशों के राज्यप्रबंध का प्रश्न इसी प्रणाली से सरल हो सकता है। बहुधा राज्य-संयोगों का भी संयुक्त राज्य में ही रूपान्तर हुआ करता है। सर्वोच्च सरकार के अधिकार दिन दिन अधिकाधिक बढ़ते जा रहे हैं। जिन कारणों से राज्य-संयोग निर्माण होते हैं उन्हीं कारणों से सर्वोच्च सरकारों को अपने अपने अधिकार बढ़ाना पड़ते हैं। अब संयुक्त शासन-प्रणाली का युग आ रहा है और संभवतः इसी से वर्तमान नूतन परिस्थिति के अनेक कठिन प्रश्न हल होंगे।

ईरानी भाषा के आधुनिक पत्र और कविताएँ।

[लेखक—बाबू पारसनाथसिंह, बी. ए., एल. एल. बी.]

हमारा राजनैतिक सम्बन्ध इंगलैण्ड से है; इस कारण विलायत और अमेरिका की छोटी-मोटी खबरें हमें घर बैठे रोज़ ही मिला करती हैं। यहाँ तक कि रूटर के भेजे हुए 'तारसमाचार' बहुधा ऐसे होते हैं जिनका पढ़ना हम भारतीयों के लिए समय का अपव्यय-मात्र है। पर, हमें अपने अड़ोसी-पड़ोसी देशों की—जैसे चीन, कोरिया और ईरान की—अतीत या वर्तमान स्थिति जानने का अवसर बहुत कम मिलता है।

प्रस्तुत लेख का सम्बन्ध ईरानी भाषा के—खास कर ईरान के—पत्रों के जन्म, विकास और अवसान से है। हाँ, अवसान से भी; क्योंकि १९११ में निरंकुश रूस ने वहाँ के पत्र-समुदाय का गला बड़ी निर्दयता से घोंट डाला! ईरान के वर्त्तमान शाहज़ादे ने अभी उस दिन लन्दन में कहा था कि उनका देश विदेशी पूँजी और कला-कुशलता का हृदय से स्वागत करने को तैयार है। मालूम नहीं, आजकल ईरान में पत्रों की क्या स्थिति है और वे अपने शाहज़ादे के इस कथन पर क्या टीका-टिप्पणी कर रहे हैं? पर, इतना हमें मालूम है कि वहाँ के तेल की खानें इस समय इंगलैण्ड के हाथ में हैं और वहाँ की आर्थिक या औद्योगिक उन्नति में इंगलैण्ड की सहकारिता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। हम यह भी जानते हैं कि शाह नसीरुद्दीन का, एक विलायती कम्पनी को ईरान के साथ तमाखू की तिजारत की सनद देना ही राज्यक्रान्ति और अपने विनाश का बीज बोना था और यह कि उसी राज्यक्रान्ति के फल-स्वरूप वहाँ उन पत्रों का जन्म हुआ जो शूली पर चढ़ते समय भी खुशी से कह सके थे:—

हम मर जायँ परन्तु हमारे अजर अमर हैं सब उद्योग।
मृत्यु! मृत्यु! आ जा, आ जा तू, स्वागत करते हैं हम लोग!!!

सन् १९१४ ई० में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के तत्कालीन अरबी-अध्यापक एडवर्ड जी ब्राउन

की लिखी हुई 'ईरानी भाषा के आधुनिक पत्र और कविताएँ' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। पुस्तक का पूर्वार्द्ध तब्रीज के रहने वाले मिर्जा मुहम्मदअली खाँ 'तबियत' के एक अप्रकाशित फारसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है और उसमें इस भाषा के पत्रों का, उनके जन्मकाल से १९११ तक का संक्षिप्त इतिहास है। उसमें सब मिलाकर ३७१ पत्रों का उल्लेख है। उत्तरार्द्ध में इन्हीं पत्रों से उद्धृत आधुनिक कविताओं के कुछ नमूने और उनके अनुवाद दिये गये हैं। पुस्तक देखने योग्य है। उसके पढ़ने से मालूम होता है कि सत्य की आराधना करते हुए किसी पत्र का सञ्चालन या सम्पादन मनुष्य के साहस और देश-प्रेम की कैसी कठिन कसौटी है और हमें पता लगता है कि दूसरे देशों के मुहम्मद अली और लाजपतराय इस असिधारा-व्रत का पालन करने में क्या क्या दुःख-क्लेश झेल चुके हैं और जहाँ-तहाँ अब भी झेल रहे हैं!

ईरान में सर्व-प्रथम प्रेस की स्थापना सन् १८१६ ई० में वहाँ के तत्कालीन शाहजादे अब्बास मिर्जा के उद्योग से हुई। शीघ्र ही, तब्रीज, इस्फहान, मशहद, अन्जली इत्यादि स्थानों में भी प्रेस खुले। प्रारम्भ में, उनमें कुरान या हयातुल क़लब जैसे ग्रन्थ ही छपते थे। तेहरान के सरकारी कॉलेज 'दारुल फनून' के लिए भी अंक-गणित, ज्योतिष-शास्त्र और रण-विद्या पर कुछ पुस्तकें उनमें छपी थीं। ईरान में बहुत काल तक लीथोग्राफी की ही तूती बोलती रही; टाइपों का प्रचार तो १८७६ के बाद से बढ़ा।

फारसी भाषा में सब से पहला पत्र था—'रोजनामा-वाक़ये-इतिफ़ाक़िया'। यह तेहरान का एक साप्ताहिक पत्र था, और इसके प्रथमांक की तिथि है २० मार्च, १८५१। तब से पत्रों की संख्या बढ़ने लगी, यद्यपि उनमें उस समय शाह-सम्बन्धी समाचारों को छोड़कर और कुछ न रहता था। १८६० में 'रोजनामा-दौलहे-आलिया-इ-ईरान' निकला। यह फारसी भाषा का पहला सचित्र पत्र था। ईरान में समय समय पर वैज्ञानिक पत्र अनेकों निकले। उपहासात्मक चित्रों से भरे पत्रों की भी कमी—खास कर 'जातीय संघ' (पार्लिमेंट) स्थापित (१९०६ में) हो जाने के बाद से—न रही। ईरान का पहला दैनिक 'खुलासाइल हवादिस' था। उसमें विदेशी तार-समाचारों का संग्रह रहता था।

शाह नसीरुद्दीन के जमाने में स्वतन्त्र पत्रों के सम्पादकों को कितनी ही मुसीबतों का सामना करना पड़ता था। इसीलिए फ़ारसी भाषा के कई पत्र कितने ही ग़ैर मुल्कों से निकले। ऐसे पत्रों में 'अख्तर' का स्थान सबसे ऊँचा था। ब्राउन साहब ने लिखा है—"ईरान के बाहर निकलने वाले फ़ारसी पत्रों में 'अख्तर' ही पहला था। इसके जन्मदाता और सम्पादक थे—आक़ा मुहम्मद ताहिर जो अब भी जीवित हैं। यह पत्र सन् १८७५ ई० में कुस्तुन्तुनिया से निकला, और २० वर्षों से अधिक समय तक निकलता रहा। अन्त में तुर्की सरकार की आज्ञा से यह बन्द कर दिया गया। इस पत्र की कीर्ति ईरान, हिन्दुस्तान, तुर्किस्तान इत्यादि देशों में इतनी फैल गई कि काकेशस के कुछ जिलों के लोग जो समाचार-पत्रों का पढ़ना अनुचित और एक अपराध सम-

भते हैं इस पत्र के पाठकों को 'अख्तर-मजहब' कहा करते थे। उनकी धारणा थी कि 'अख्तर' एक धर्म-सम्प्रदाय का नाम है। अख्तर शिक्षित लोगों की मण्डली में बराबर "पत्र-प्रदीप" का काम देता रहा।" यह ईरान के बड़े बड़े प्रवासी विद्वानों के आदर और प्रेम की चीज़ थी; और सच्चे देशभक्तों की सहायता ही इसका जीवनाधार थी।

इसके बाद, प्रिन्स मिर्ज़ा मालकूमखाँ ने लन्दन से 'क़ानून' नामक पत्र निकाला। इसकी भाषा सरल रहती थी, और इसके लेख बड़े ही उपयोगी होते थे। अन्त में फ़ारसी भाषा के पत्रों में यह सर्वोत्तम बन गया। लोग इसे बड़े चाव से पढ़ते थे और जनता पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। ईरान की जागृति में इस पत्र का स्थान बड़े गौरव का है।

इनके बाद कैरो और कलकत्ते से दो अच्छे पत्र और निकले—'हिकमत' (१८९२) और हब्लुल मतीन (१८९३)। कहते हैं कि ईरान के कोई धनी व्यक्ति हब्लुल मतीन की ५०० प्रतियाँ मँगाकर कई तीर्थ-स्थलों के धर्म्मगुरुओं के और उनके शिष्यों के पास भेज दिया करते थे। इस से इन लोगों के बीच पत्रों का प्रचार बढ़ा और वहाँ के पण्डे-पुजारी भी राजनैतिक आन्दोलन के प्रबल पक्षपाती बन गये।

ईरान में सन् १९०६ में संघ स्थापित होने के पहिले पत्रों का प्रचार कम था। पर पार्लिमेंट की प्रतिष्ठा होते ही चार दैनिक निकले—मजलिस, नदाय वतन, सुबहे सादीक़ और हब्लुल मतीन। इनकी ग्राहक-संख्या भी बढ़ चली। जातीय संघ की कार्रवाइयों का पूरा विवरण पहिले पहिल 'मजलिस' में निकला। मुहम्मद अली मिर्ज़ा के सिंहासन-च्युत होने के बाद भी कई दैनिक पत्र निकले जिनमें 'ईराने नव' मुख्य था।

जातीय संघ के जीवन-काल में 'मसावत' की ग्राहक-संख्या थी ३०००, 'सूरे इस्राफील' की ५००० से ५५०० तक, 'मजलिस' की ९००० से १०००० तक और अंजुमन की ५०००। द्वितीय जातीय संघ (१९०९—११) के समय में पत्रों की ग्राहकसंख्या, कई कारणों से, जिनमें देश की दरिद्रता मुख्य थी, घट गई।

सन १९०७ ई० में ईरानी भाषा में ८४ पत्र निकले। १९०८ और १९०९ में ३१ ही पत्र चलते रहे; १९१० में ३६। १९११ में ३३ पत्र बच गये थे। ईरान के शहरों में सबसे अधिक पत्र तेहरान से प्रकाशित हुए थे। उसके बाद तब्रीज़, रश्त, इस्फ़हान, और मशहद के नम्बर हैं।

ब्राउन साहब लिखते हैं—"१९११ के बाद के पत्रों की संख्या बिलकुल ही घट गई। तेहरान में दो एक पत्र इस समय भी जीवित हैं। सरकारी या अर्द्ध-सरकारी 'आफ़ताब' के अलावा 'बर्क़' और 'ईराने कनूनी' १९१२ के प्रारम्भ-काल से चल रहे हैं। पर तब्रीज़, रश्त और मशहद में तो रूस के पाशविक व्यवहार और अत्याचार ने इन पत्रों को ही नहीं, बल्कि जातीय-जीवन तथा उदार विचार के और दूसरे चिह्नों को भी जड़ से मिटा दिया है। हाँ, ईरान के बाहर कहीं कहीं स्वतन्त्रता-प्रेमी पत्र अब भी जिन्दा हैं।"

ईरानी-साहित्य-गगन के प्रकाश-पुंज रूस-राहु से ग्रस्त होकर इस प्रकार (आशा है, थोड़े ही समय के लिए) अस्त हो गये। उनकी स्मृति में किसकी आँखों से अश्रुगंगा न बहेगी? मनुष्यों की तरह पत्रों के विषय में भी कहा जा सकता है :—

मरना भला है उसका जो अपने लिए जिए,
जीता है वह जो मर चुका इन्सान के लिए!

अध्यापक ब्राउन ने उन पत्रों में से अधिकांश के निष्कपट देश-प्रेम और सच्चे स्वार्थ-त्याग की बड़ी प्रशंसा की है। पाठक जानते हैं कि देश-द्रोही शाह नसीरुद्दीन की हत्या सन १८९६ में हुई, और सन १९०६ में मुज़फ्फ़रुद्दीन ने वहाँ पार्लिमेंट की स्थापना की। पर चाँदनी चार दिनों के लिए ही थी। ज्योंही मुहम्मदअली तख़्त पर बैठा देश के दुर्दिन आये। वह ईरान के दुश्मन रूस का मित्र था और जातीय संघ को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। जब पत्रों ने उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई वह उनकी और उनके सहायकों की सत्ता मिटाने पर कटिबद्ध होगया। सन १९०८ में उसने पार्लिमेंट को ही बन्द कर दिया। बात यहाँ तक पहुँची कि राजा-प्रजा में लड़ाई छिड़ गई। यद्यपि अन्त में प्रजादल की जीत हुई और शाह को ईरान से भागना पड़ा, फिर भी द्वितीय जातीय संघ की ज़िन्दगी दो ही बरस की हो सकी। १९११ में रूस ने उसे जबर्दस्ती तोड़ डाला। बस, ईरान की राज्यक्रान्ति की इन प्रधान घटनाओं को ध्यान में रख कर ही कोई इन पत्रों के श्रम तथा साहस—उनकी आशा-निराशा—की सचाई जान सकता और उनकी स्वातन्त्र्य-पिपासा की तीव्रता का अनुभव कर सकता है।

बहुधा कहा जाता है कि समाचारपत्रों में साहित्यिक सौन्दर्य्य की खोज करना विडंबना मात्र है। यह भी कहा जाता है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ मनुष्य की कवित्व-शक्ति का ह्रास होता है। पर जैसा कि पुस्तक के लेखक ने कहा है, इसका उत्तरार्द्ध इन दोनों विचारों को असत्य सिद्ध करता है। जिन पद्य-प्रसूनों की माला ब्राउन महोदय ने सहृदय पाठकों के लिए तैयार की है उनमें 'रूप, रंग और बास' तीनों हैं। नीचे की पंक्तियों में, उनकी सुगन्धिमात्र अपहरण करने की चेष्टा की गई है:—

देश की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए अशरफ़ कवि ने कहा है—

दुःख-शोक-जल से प्लावित है भूमि हमारी सारी।
उठो, उसे अब दफ़नाने की करो सभी तैयारी॥
मातृ-भूमि के लिए सपूतों ने जो ख़ून बहाया।
चन्द्र और पृथ्वी पर इससे रक्त वर्ण है छाया॥
उद्यम, साहस या सजीविता कहाँ नज़र कुछ आता।
बस, विपत्ति-वर्षा-जल से ही देश डूबता जाता॥
यों तो सभ्य जगत में हम भी हैं स्वतन्त्र कहलाते
किन्तु विदेशी पैरों से ही हरदम कुचले जाते॥
कलियाँ अब फूलों में परिणत नहीं कहीं हो पातीं।
क्योंकि मुल्क-मज़हब पर दिन दिन नई आफ़तें आतीं॥
अब गुलाब-गुण-गान कहाँ वह प्यारी बुलबुल गाती?
श्वेत-पीत पुष्पों पर अब तो दुष्ट लालिमा आती॥
जिन पर शासन-भार उन्हीं में कुछ हैं चोर-लुटेरे।
और मौलवी-मुल्ला उनके अनुयायी बहुतेरे॥
देते सभी किसान दिगम्बर चारों ओर दिखाई।
प्रलयकाल में आज निराशा-रजनी ही है छाई॥
धूल जहाँ की कस्तूरी से अधिक सुगन्धित होती।
जिसके स्थल-जल में मिलते हैं ढेर ढेर मणिमोती॥
उसी देश का आज विदेशी आपस में बँटवारा।
करते जाते—खड़े देखते लोग तमाशा सारा॥

यह कह देना ज़रूर है कि उन विदेशियों में जर्मनी भी एक था, और उस समय में वह इस्लाम का बड़ा मित्र समझा जाता था। ईरान में उसने बंक और विद्यालय खोलना शुरू किये। यद्यपि बहुत से मुसलमान उसे अपना संरक्षक



स्वाभाविक



मूर्खजनका आश्चर्य



घृणा और विरक्ति



सांसारिकता



भावुकता



घृणायुक्त हास्य



चाटुकारिता



नम्रता



शिष्टाचारिता

समर्थक थे, फिर भी एक कवि ने उसी समय यह लिखकर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और दूरदर्शिता का परिचय दिया थाः—

× × × ×

छिपा नहीं गुण मुझ से तेरा
तू भी डाल यहाँ पर डेरा—स्वागत!

× × × ×

कुटिल नीति का अवलम्बन कर
तू कहता तुर्कों को "प्रियवर!" स्वागत!!

× × × ×

चालबाज़ तू सबसे न्यारा
बस शैतान तुझीसे हारा,—स्वागत!!!

पर विदेशियों की कुटिलता से भी अधिक हानिकारक है ईरानियों के शाह का स्वेच्छाचार। हाँ, यह सच है कि प्रजा की सम्मति के विरुद्ध राजा का शासन दो दिन के लिए है; पर अन्त में अन्याय संसार से इच्छामात्र करने से नहीं उठ सकता। इसीलिए किसी ने कहा है:—

क्रूर नृपति के सिंहासन का पाया होता कच्चा है।
और वतन के लिए जान भी अर्पण करना अच्छा है॥
उद्यम नहीं करोगे जब तक कौन द्वार आ खोलेगा।
मनुज वही जो काम करेगा, किंतु न कुछ भी बोलेगा॥

वास्तव में मुहम्मदअली सा अत्याचारी राजा आजकल शायद ही कहीं हो। न मालूम उसने कितने देश-प्रेमियों के खून से अपनी प्यास बुझाई! 'सूरे इस्राफ़ील' के सम्पादक को जब उसने फाँसी की सजा दे दी, तब पत्र के प्रेमी उसे स्विट्ज़रलैण्ड से निकालने लगे। वहाँ से उसके नये सम्पादक ने अपने स्वर्गीय साथी के गुणों को याद करते हुए लिखा थाः—

बीत जावेगी अभी दुष्कर्म्म-जननी यह निशा।
देश को रवि-रत्न देगी दान पूरब की दिशा॥
आज के मुर्दे दिलों में प्राण जब आजायँगे।
मुक्ति, ममता त्यागने की सेज की, सब पावँगे॥
ईश देगा दरस अपने जब खुले दीदार का।
पिण्ड छूटेगा अधम कलिराज से संसार का॥
पक्षियो! उस दीप का तब नाम लेना चाव से।
जो हुआ निर्व्वाण असमय पाप-'स्नेह'-भाव से॥

परदाऊद नामक एक नवयुवक कवि के निम्न लिखित हृदयोद्गार की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करता हुआ मैं इस लेख को समाप्त करता हूँ—

अगर रहूं आज़ाद—सुखी हूं पर्णकुटी में यति की।
हाथपैर दो बाँध—चाहिए नहीं ऋद्धि भूपति की॥
जननी-जन्मभूमि का क्रन्दन यह कानों तक आता।
जिसको सुन कर पिघल मोम सा पत्थर भी हो जाता॥
पुत्रो! अपनी दशा निहारो—कौन यहाँ दुखहरता।
कल पाता आराम वही जो आज परिश्रम करता॥
कभी ऊन से क्या रेशम का धागा है मिल सकता?
या बबूलके तरु में, कह दो क्या गुलाब खिल सकता?

साहित्य का स्वरूप।

[लेखक—बाबू मावलीप्रसाद श्रीवास्तव]

मनुष्य कुशलपूर्वक जीवित रहना चाहता है। साथ ही वह चाहता है कि वह संसार, मनुष्यता और अदृष्ट—संबंधी अपने मनोगत विचारों और अनुभवों को प्रगट किया करे। आत्मरक्षा और आत्मप्रकाश के तत्वों पर मनुष्य को उस समय से प्रेम है जब से मनुष्य प्राणी की उत्पत्ति हुई है। चाहे कुछ भी हो और चाहे जैसी परिस्थिति आ जावे, मनुष्य आत्म-रक्षा और आत्म-प्रकाश के प्रयत्न किये बिना नहीं रह सकता। इसी आत्म-प्रकाश की स्वाभाविक वृद्धि से साहित्य का जन्म होता है।

आरंभ में ज्ञान के सभी अंग और शाखाएँ साहित्य में सम्मिलित की जाती थीं। मनुष्य जो कुछ विचार करता और लिपिबद्ध करता था वह सब साहित्य कहा जाता था। परन्तु सभ्यता के विकास और तर्कशक्ति की वृद्धि होने पर पृथक्करण की क्रिया भी जारी होने लगी। लोगों ने मानवी ज्ञान को दो विभागों में विभक्त कर दिया—पहिला अंतरंग अथवा साहित्यसंबंधी और दूसरा बाहरी अर्थात् वैज्ञानिक।

बाहरी पदार्थों के संबंध के नियम उतने ही सत्यतापूर्ण, स्थिर, अकाट्य और त्रिकालसत्य होते हैं जितने रेखागणित के नियम या विज्ञान के सिद्धान्त। हम उन्हें समझें अथवा न समझें—इस से उनके अस्तित्व में कोई अंतर नहीं पड़ता। वे बाहरी बातों पर अवलंबित रहते हैं—हम पर नहीं। जिन वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग करना है उनके स्पष्ट अर्थ होते हैं, उनके स्वरूप अथवा अर्थ का परिवर्तन कर सकना असंभव है। साहित्य के शब्दों और वाक्यों में हृदय के जोशके साथ साथ सजीवता आ जाती है; परन्तु वैज्ञानिक शब्दों के संबंध में यह बात नहीं। वैज्ञानिक सचाइयों को बहुत से मनुष्य मिलकर भी ढूँढ़ सकते हैं; परन्तु अंतरंग और साहित्य संबंधी सत्यता केवल व्यक्तिगत होती हैं। इस से सिद्ध है कि साहित्य का आधार मनुष्य और विज्ञान का आधार सत्यता है। साहित्य की उत्पत्ति का स्थान सदैव मनुष्य रहा है और मानवी जीवन के परिवर्तनों के कारण साहित्य में सदैव उथलापुथल हुए हैं। परन्तु विज्ञान की उत्पत्ति शान्त, स्थिर और परिवर्तन-रहित तत्वों से है।

साहित्य और ललित कलाओं का घनिष्ट संबंध है। संगीत, कारीगरी, चित्रकारी आदि जिस तरह से आनन्दवर्धक हैं उसी तरह साहित्य में भावों को उत्तमतापूर्वक व्यक्त करने की कला भी प्रफुल्लित करनेवाली होती है। उत्तम लेखक किसी भी विषय पर लिखते समय व्यक्त करने की इस उत्तमता पर पूरा ध्यान रखने का प्रयत्न करता है। हृदय की धड़कन, बिजली की चमक, अदृश्य विकारों और अज्ञात कर्मों का शब्दचित्र खींचते समय वह इस मार्मिकता से काम लेता है कि अन्त में उसकी कृति भावपूर्ण साहित्य ही नहीं, बल्कि सजीव उपदेशक भी हो जाती है। बहुधा अनुवादों में यह गुण नहीं पाया जाता। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि शब्द-रचना की उत्तमता की वेदीपर विषय के सार की बलि न होने पावे। यदि ऐसा हो, तो फिर साहित्य उत्तमतापूर्वक संग्रह किये हुए केवल शब्दरूपी कूड़ेकचरे का ढेर हो जावेगा!

साहित्य-कला-कुशल लेखक जीवन के तत्वों पर मुग्ध हो जाता है। वह उन शक्तियों का वर्णन करने में आपे से बाहर हो जाता है जो चुपचाप, अँधेरे में, अज्ञातरूप से और निरंतर काम कर रही हैं। वह अन्तःकरण के कोने के उस गुप्त कुंड में डुबकी लगाता है जो पवित्रता से पूर्ण होकर झलक रहा है। वहाँ से वह दो स्वर्गीय मुक्ता निकालता है—विशुद्ध दैवी प्रेम और अमर सौंदर्य। आकांक्षा, प्रयत्न, मर्यादा आदि के दरवाजों को खोलकर वह जीवन और मृत्यु के रहस्य को सरल करता है। इन क्रियाओं के साथ ही कर्ता के व्यक्तित्व की मुहर उस साहित्य पर बड़ी मजबूती से लग जाती है और इसीलिए

कहा जाता है कि साहित्य और मनुष्य के व्यक्तित्व का घना संबंध है।

व्यक्तित्व में भी दो भेद हैं। कुछ लोग आशावादी, संसार को सुखपूर्ण समझने वाले और प्रत्येक काम में उज्ज्वल पक्ष के समर्थक होते हैं। कुछ लोग निराशावादी, जीवन को नीरस और संसार को असार समझने वाले तथा सभी बातों में अंधकारपूर्ण पक्ष के समर्थक होते हैं। पाठकगण भली भाँति समझ सकते हैं कि पहिले वर्ग के साहित्यकारों से संसार को अधिक लाभ हुआ है। अतएव दूसरे वर्ग के साहित्य के परिणामों को देखकर कोई यदि यह इच्छा करे कि साहित्य से मनुष्य (लेखक, ग्रंथकार अथवा कवि) का व्यक्तित्व दूर कर दिया जावे तो यह इच्छा कभी भी फलवती नहीं हो सकती। कारण यह है कि साहित्य अनुभव की हुई और देखी हुई बातों का दिग्दर्शन है। इसीलिए साहित्य में उत्साहवर्धक और उत्साहनाशक दोनों तरह की बातें पाई जाती हैं और किसी काव्य को पढ़ते समय प्रायः एकदम मालूम हो जाता है कि वह कविता तुलसी, सूर अथवा बिहारी में से किस की है।

साहित्य की उत्पत्ति और वृद्धि सीधे जीवन-तत्वों पर होती है; अतएव उसके द्वारा जीवन-समस्याओं पर प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता। परन्तु मानवी मस्तिष्क में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने बल पर जीवन समस्याओं पर प्रकाश डाल सके। विचार और मनन करते समय कभी कभी सारा गुप्त रहस्य आप ही आप अचानक प्रगट हो जाता है और कभी कभी तो लेखक अथवा विचारक भी स्वयं उसे नहीं जानता।

साहित्य का प्रकृति से भी संबंध है। हमारे जीवन के चारों ओर प्रकृति विद्यमान है। वह हमारे सुख-दुःख की संगिनी और चिता तक साथ देनेवाली परिचारिका है। आशापूर्ण प्रतापी प्रभात, मदान्धतापूर्ण मध्यान्ह, गंभीर संध्याकाल, शान्त तारागण आदि ऐसे पद हैं जो साहित्य में अनेक बार दिखलाई पड़ते हैं। ये शब्द ही क्यों, समस्त भाषा ही प्रकृति की देनगी है। मनुष्य और प्रकृति का भीतरी संबंध साहित्य में ही ठीक ठीक व्यक्त होता है। कागजों पर दिखाई पड़ने वाले रंगीन चित्रों के दृश्य, शब्दों के द्वारा खींचे गये चित्रों की समता नहीं कर सकते; क्योंकि पहिले में आकर्षकता के साथ अनुभव का अभाव रहता है।

साहित्य जिस तरह से मनुष्य-जीवन की और प्रकृति की छाया है उसी तरह वह अपने युग की भी परछाईं है। मनुष्य और युग का बड़ा संबंध रहता है। मनुष्य युग का निर्माण करता है और युग मनुष्य को बनाता है। एक दूसरे पर परस्पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। युग अर्थात जमाने के साथ साहित्य पर सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का भी पूरा पूरा असर पड़ता है। भिन्नभिन्न बादशाहों के जमाने के साहित्य में भिन्नभिन्न प्रकार का गुण-दोष पाया जाता है। उस में प्राचीन रीति-रस्मों, घटनाओं और रूढ़ियों का वर्णन भी मिलता है। इस दृष्टि से वह इतिहास का जन्मदाता और सहायक बन जाता है। कार्लाइल का मत है कि "ग्रंथों में समस्त भूतकाल की आत्मा का निवास रहता है"।

साहित्य के अतिरिक्त ऐसी कोई दूसरी समर्थ वस्तु नहीं जो विश्वबंधुत्व के उदार भावों को

व्यावहारिक स्वरूप दे सके। राष्ट्रीय स्वार्थों और आकांक्षाओं की दीवाल को लाँघ कर मनुष्यता के क़िलों के विशाल दरवाज़े तक पहुँचने के लिए सीढ़ी का काम साहित्य से ही लिया जा सकता है। विरोधी स्वार्थ वाले राष्ट्रों के अग्रगण्य लेखकों के विचारों में जो समानता, भावों में एकता और स्फूर्तियों में सदृशता पाई जाती है उससे भिन्न भिन्न देशों की हृदय-तंत्रियाँ एक दूसरे के निकट शीघ्रतापूर्वक और आदर के साथ बजने लगती हैं। व्यापार से सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय एकता का जन्म नहीं हो सकता। इस कार्य का साधक साहित्य ही है।

इस तरह से हमारे पाठक समझ चुके होंगे कि आत्मप्रकाश—मनोभावों को व्यक्त करने की मानवी प्रकृति—से साहित्य की उत्पत्ति किस तरह होती है, धीरे धीरे वह मर्यादित होकर कला, व्यक्तित्व और प्रकृति से कैसे संबद्ध होता है तथा अन्त में उसपर मानवी जीवन के प्रवाह और ज़माने की गति का छाप कैसे पड़ जाता है। सच है—"साहित्य के उद्यान में सदैव वसंतऋतु का साम्राज्य रहता है। उसमें नित नई सुन्दरता और आकर्षण शक्ति आती जाती है। मानवी जीवन की समस्याओं और बाह्य प्रकृति की उलझनों को तो वह सुलझाता ही है, परन्तु वह मानवी जीवन के सर्वोच्च ध्येयों तक पहुँचने का मुक्तद्वार है, आशापूर्ण विचारों का उद्गमस्थान है, पवित्र भावों का केन्द्र है, नूतन विचारकोशों का प्रवर्तक है और अज्ञात ध्येयों का भाण्डार है"।

जहाँगीर बादशाह और हिन्दू।

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ़]

(१) जहाँगीर बादशाह भी, अपने पिता अकबर बादशाह की तरह हिन्दुओं पर रियायत और उनकी परवरिश करते थे। उन्होंने राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी दे कर ५० हज़ार सवारों का हाकिम बनाया था। (२) उन्हों ने राजा जगन्नाथ कछवाहे को पाँच हज़ारी मनसब के साथ बढ़िया खिलअत और जड़ाऊ खाँड़ा दिया था। (३) राना अमरसिंह के चाचा सगर को राना की पदवी और खिलअत देकर उन्हें उदयपुर जीतने को भेजा था। (४) उन्होंने पितर दास को राजा बिक्रमाजीत की पदवी देकर तोपख़ाने का दारोगा और ५० हज़ार तोपचियों का अफ़सर बनाया था। (५) राना अमरसिंह के ताबेदार हो जाने पर उसका सारा मुल्क, जो ताबेदारी न करने के अपराध में कई वर्षों तक फ़ौजें भेज भेज कर छीन लिया गया था, लौटा दिया गया। इतना ही नहीं, पिता के ज़माने में बड़ी कठिनाइयों से जीता गया चित्तौरगढ़ का अंगी क़िला भी उसे दे दिया गया। यह क़िला ५० वर्षों तक बादशाही कब्ज़े में रहा था। (६) राना अमरसिंह के बेटे कर्णसिंह और पोते जगतसिंह को बहुत समय तक प्रति दिन ऐसी ऐसी इनायतें और बख़्शीशें दी गईं जैसी किसी बादशाह ने अपने बेटे और पोते को भी इतनी जल्दी जल्दी कभी नहीं दी होंगी। इन सब बख़्शीशों का विवरण उस रंगीले बादशाह के रोज़नामचे में लिखा है। जिन सज्जनों को देखना हो वे हमारे "हिन्दी

जहाँगीरनामे" में देख लें। (७) उन्हों ने जोधपुर के राजा सूरजसिंह के छोटे भाई किशनसिंह को कई लाख रुपयों की जागीर देकर स्वतंत्र राजा बना दिया। किशनगढ़ के राजा उसीके वंशज हैं।

हिन्दू रानी।

जहाँगीर की एक हिन्दू रानी शाहजादे खुसरो की मा थी। दुःख में अफीम खाकर खुसरो के अपने पिता जहाँगीर से बागी होने के कारण, वह मर गई। उसके शोक-संताप का समाचार अपने रोजनामचे में लिख कर बादशाह कहते हैं—"मैं उसकी भलाई और भलमनसाहत को क्या लिखूँ? वह पूरी बुद्धिमती थी और मुझसे इतना मोह रखती थी कि १००० भाई और बेटों को भी मेरे एक बाल के ऊपर कुर्बान करती थी। उसने खुसरो को बहुत सी बातें लिखीं और मुझसे प्रीति रखने के लिए उसे खूब समझाया। परंतु लाभ कुछ भी न हुआ। इसलिए राजपूत औरत की तबियत में मामूली तौर पर रहने वाले गैरत से उसने मरने की ठान ली और पागलपन की हालत में बहुत सी अफीम खाकर २६ जिलहिज सन १०१३ को जल्दी से जान दे दी।

"मुझे उससे बहुत प्रेम था; इसलिए उस के मर जाने से मेरा जीवन बिगड़ गया। जीने का कुछ मजा न रहा। चार दिनरात के ३२ पहर में मैंने दुःख और विरह के मारे कुछ भी खाया-पिया नहीं। जब मेरे पिता को यह खबर पहुँची, तब उन्होंने तसल्ली का खत बड़ी मेहरबानी से मुझको लिखा और खिलअत और पगड़ी अपने सिर से उतार कर उसी तरह बँधी हुई मेरे वास्ते भेजी। इस इनायत ने मेरी जलन पर पानी छिड़का और मेरी बेचैनी और घबराहट जाती रही"।

इसपर एक इतिहास-वेत्ता भी (शिबली न्यामानी) कहता है कि मुगल बादशाहों ने हिंदुओं के देश को ही नहीं जीता था, बल्कि उनके दिल को भी जीत लिया था।

जदरूप संन्यासी।

जहाँगीर बादशाह के राज्य में जदरूप संन्यासी बड़े तपस्वी और महात्मा थे। वे पहाड़ों की खोहों में रहा करते थे। उनसे भेंट करने के लिए बादशाह स्वयं कई बार जाते थे। परंतु वहाँ तक सवारी नहीं जा सकती थी; इस लिए कई मील पैदल चलकर उनके पास पहुँचते थे। उन्होंने इन मिलापों का वर्णन अपनी दिनचर्य्या की पुस्तक "तुजुक जहाँगीरी" में इस तरह लिखा है :—

जहाँगीर बादशाह और जदरूप सन्यासी।

बादशाह लिखते हैं—"२ असफंदार (माघ सुदी १५ संवत् १६७३) को नाव में बैठ कर मैंने कालियादह (उज्जैन) से प्रयाण किया। यह बात कई बार सुनी गई थी कि जदरूप नाम का एक तपस्वी सन्यासी कई वर्षों से उज्जैन से कुछ दूर जंगल में भगवद्भजन करता है। मुझे उसके सत्संग की बड़ी इच्छा थी। जब मैं आगरे में था, तो चाहता था कि उसको बुलाकर मिलूँ। परन्तु उसकी तकलीफ का विचार कर उसे नहीं बुलाया था। अब उज्जैन पहुँच कर नाव से उतर कर आध पाव कोस पैदल उसे देखने को गया। वह एक गुफा में रहता है जो एक गज लंबी और

दस गज चौड़ी एक टेकरी में खुदी हुई है। उस में जाने का पहिला दरवाजा महराब के आकार का है। यहाँ से उस गढ़े तक, जिसमें वह बैठता है, दो गज पाँच गिरह लंबाई, सवा ग्यारह गिरह चौड़ाई और छत से धरती तक उँचाई एक गज तीन गिरह है। जो सुरंग उस खोह में जाती है वह साढ़े पाँच गिरह लंबी और साढ़े तीन गिरह चौड़ी है। उसमें एक दुबला-पतला पुरुष भी बड़े परिश्रम से प्रवेश कर सकता है, और उसकी लंबाई—चौड़ाई भी इसी परमाण की होगी। न उसमें चटाई है और न कोई घास का बिछौना है। वह अकेला उसी अँधेरे गढ़े में रहता है। बिलकुल नंगा होकर भी जाड़े और शीतल वायु में सिवा एक लँगोटी के कभी और कोई कपड़ा नहीं रखता, न आग ही जलाता है जैसा कि "मौलवी रूम" ने किसी एक तपस्वी का वाक्य लिखा है कि 'दिन के समय धूप हमारा वस्त्र है, रात ही बिछौना है और चाँदनी ओढ़ना है,' वैसी ही गति इसकी भी है। इस विश्राम स्थान के पास ही पानी बहता है। वह उसमें नित्य दो बार जाकर नहाता है और एक बार बस्ती में आकर अपने चुने हुए ७ ब्राह्मणों के तीन घरों में से केवल पाँच ग्रास भोजन लेता है। वह इस को उसी भोजन में से लेता है जिसे उन ब्राम्हणों ने अपने ही लिए बनाया हो। पाँच ग्रास लेकर वह अपनी हथेली में रख लेता है और स्वाद लिए बिना और चबाये बिना ही निगल जाता है। ये ब्राम्हण भी गृहस्थ हैं और उसके भक्त हैं। पर इसके साथ कुछ नियम भी हैं। यदि उन तीन घरों में शोक और सूतक न लगा हो और कोई स्त्री रजस्वला न हुई हो, तो वह भोजन लेता है—यही उसकी जीवन-वृत्ति है। वह लोगों से नहीं मिलना चाहता है; परन्तु बहुत विख्यात होजाने से लोग आप ही उसके दर्शनों को आते हैं। वह बुद्धि से शून्य नहीं है—वेदान्त-विद्या में निपुण है। मैं छै घड़ी तक उसके पास रहा। उसने अच्छी अच्छी बातें कहीं जिनका मुझपर बड़ा असर पड़ा और उसको भी मेरा मिलना अच्छा लगा। जब मेरे पिता आसिरगढ़ और खानदेश जीतकर लौटे थे, तब वे भी उससे इसी जगह मिले थे और उसे हमेशा याद किया करते थे।

"जदरूप के मिलाप के पीछे मैं हाथी पर चढ़कर उज्जैन के बीच में से निकला और मैंने साढ़े तीन हज़ार रुपये दायें--बायें लुटाये। फिर सवा कोस चलकर दाऊदखेड़े में, जहाँ लशकर पड़ा था, उतर गया।

"३ असफंदार (फागुन बदी ४) को, जो कि मुकाम का दिन था, फिर जदरूप से मिलने की इच्छा हुई। दोपहर के पीछे उसके दर्शन को गया और ६ घड़ी तक उसके सत्संग से अपने चित्त को प्रसन्न करता रहा। इस दिन भी अच्छी अच्छी बातें हुई। शाम को डेरे पर लौट आया।"

गुजरात से उज्जैन को लौट कर २८ आबान (अगहन सुदि ४, संवत् १६७५) बुधवार को बादशाह फिर जदरूप से मिलने गये। वे लिखते हैं कि "जदरूप से, जो हिन्दूधर्म के तपस्वियों में से है और जिसका हाल पिछले पत्रों में लिखा जा चुका है, मिलकर कालियादह देखने गया। इसका सत्संग बेशक बहुत गनीमत है।"

२ आज़र (शनिवार, अगहन सुदि ७) को जदरूप से मिलने की अभिलाषा बादशाह को

फिर हुई। दोपहर की उपासना से निपट कर वे नाव में बैठे और दिन ढले उसी कुटी में जाकर मिले। खूब ज्ञानचर्चा हुई। बादशाह लिखते हैं कि "निस्संदेह वह वेदान्त का रहस्य बहुत स्पष्ट रूप से कहता है। इसके सत्संग से अति आनंद होता है। अवस्था ६० वर्ष से ऊपर है। जब २२ वर्ष का था, तब वह विरक्त होगया था। ३८ वर्षों से परमहंस-गति में रहता है। मेरे बिदा होते समय वह बोला कि वह परमात्मा के इस अनुग्रह का धन्यवाद किस मुँह से करे कि उसे ऐसे न्यायी बादशाह की छत्रछाया में एकाग्र-चित्त से अपने इष्टदेव की आराधना करने का मौका मिला है और उसकी तपस्या में किसी तरह से कोई विघ्न-बाधा नहीं पड़ती।"

जदरूप मथुरा में।

बादशाह लिखते हैं कि "२४ महर माह इलाही (आसोज सुदि १०, संवत् १६७६) को दशहरे के दिन मैं काश्मीर की सैर के लिए निकला। गुसाईं जदरूप, जो उज्जैन में छिपा हुआ था इन दिनों मकान बदल कर मथुरा में, जमुना के किनारे, परमात्मा का भजन करता है। उसका सत्संग मन में बसा रहता था; इसलिए ९ आबान शुक्रवार (कार्तिक बदी १०) को उससे मिलने के लिये दौड़ा हुआ गया। बहुत देर तक एकान्त में उसके पास रहा। वहाँ कोई दुःख देने वाला दूसरा आदमी न था। सच तो यह है कि उसका मौजूद होना बड़ी गनीमत है। उसकी मजालिस में हम खुश हो सकते हैं और फ़ायदा उठा सकते हैं।

"१२ आबान (कार्तिक बदि १३ सोमवार) को फिर जदरूप गुसाईं से मिलने का इरादा हुआ। बेधड़क उसकी कुटी में जाकर मिला। बहुत ऊँची बातें हुईं।

"परमात्मा ने अजब श्रद्धा दी है। उच्च समझ, उच्च प्रकृति, तीक्ष्ण ज्ञानशक्ति, गंभीर बुद्धि, दृढ़ मन और दयालु स्वभाव से भरापूरा है। सब बंधनों से मुक्त होकर संसार की बातों पर लात मारकर निश्चिन्त बैठा है। एक आधे गज कपड़े की लंगोटी और एक तूमड़ी पानी पीने को है। जाड़े, गर्मी और बरसात में सदा बिना वस्त्र के रहता है। रहने के लिए एक सकरी गुफा है जिसमें बड़ी कठिनाई से करवट ली जा सकती है। भीतर जाने का मार्ग ऐसा है कि दुधमुँहे बालक को भी उसमें कठिनाई से भीतर ला सकें।"

जदरूप से बिदा होना।

१४ बुधवार (कार्तिक बदि अमावस) को एक बार और गुसाईं जदरूप के पास जाकर फिर बादशाह उससे बिदा हुए। वे लिखते हैं:—"उसके वियोग ने मेरे जी को बहुत दुःख दिया। स्वर्गवासी श्रीमान (अकबर) के समय में सेर ३० दाम का था। मैं सोचता था कि इसे बदलना नहीं चाहिए, क़ायम रखना चाहिए। एक दिन गुसाईं जदरूप ने किसी प्रसंग से कहा कि हमारे धर्म की किताब वेद में सेर ३६ दाम का लिखा है। दैवयोग से तुम्हारी आज्ञा भी हमारी पुस्तक के अनुसार हुई है। यदि ३६ दाम का कर दो, तो बहुत अच्छा होगा।" हुक्म हुआ कि बाद इस के तमाम मुल्कों में सेर ३६ दाम का रहे।

आराधना।

(लेखक—पण्डित मुकुटधर पाण्डेय)

प्रभु—मन्दिर की नीरवता में
कर विलीन अपने मन—प्राण,
धर्म—धुरीण हिन्दुओं को है,
धरते देखा मैंने ध्यान।
देखा है करते मसजिद में
मुल्ला को भी दीर्घ पुकार।
पड़ी कान में गिरजाघर के
मधुर—प्रार्थना की स्वर—धार।
पर वर्षा—ऋतु की ऊष्मा में,
होकर श्रम से क्लान्त महान।
हल जोतते किसान छेड़ता
है जब अपनी लम्बी तान।
सुन तब उसे वाटिका में निज
करता मैं उर—बीच विचार
खेतों में यों आर्तस्वर से
यह किसको है रहा पुकार!
या कि शिशिर की शीत—निशा में,
मींज रहा हो जब वह धान।
सुनता हूँ तब शैया में मैं,
उसका करुणा—पूरित गान।
भर जाता है जी, नेत्रों से
निद्रा करती शीघ्र प्रयाण।
हृदय सोचता—जलते किसके
विरहानल से इसके प्राण!

समाज के विचार।

(लेखक—पण्डित श्रीकृष्ण मिश्र, एम० ए०, बी० एल०)

समाज व्यक्तियों का समूह है, परंतु समाज में अनेक विशेषताएँ और शक्तियाँ ऐसी हैं जो व्यक्तियों में नहीं पाई जातीं। वे व्यक्तियों के सम्मिलित होने पर स्वयं उत्पन्न होती हैं। उनको "सामाजिक शक्ति" कह सकते हैं। इसी तरह व्यक्तियों के विचार के अतिरिक्त समाज का पृथक् विचार होता है। यद्यपि व्यक्तियों को छोड़ कर समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और व्यक्तियों में जो विचारशक्ति है उसी का फल सामाजिक विचारशक्ति है, तथापि सम्मिलित व्यक्तियों के विचार में और एक व्यक्ति के विचार में बहुधा विभेद होता है। कभी सामाजिक विचार व्यक्तियों की मनोवृत्तियों को पराजित कर उन्हें अपने अनुकूल चलने को बाध्य करते हैं और कभी दो एक व्यक्तियों की प्रतिभा सारे समाज में हलचल पैदा करके उसके विचार—स्रोत की गति फेर देती है।

"समाज की जागृति," "समाज में हलचल" इत्यादि वाक्यांश प्रचलित साहित्य के परिचित व्यवहार हैं; परन्तु उनका अर्थ केवल उपमा से व्यक्त नहीं होता, बल्कि वे वास्तविक प्राकृतिक सत्य के सूचक हैं। समाज प्रत्येक मनुष्य की तरह सोता है, जागता है, विचार करता है, प्रसन्न होता है, विषण्ण होता है; अर्थात्, चेतना-सम्बन्धी जितनी क्रियाएँ हैं वे केवल व्यक्तियों में नहीं, समाज में भी पाई जाती हैं। सामाजिक चेतना उन भावों या विचारों को कहते हैं जो एक ही समय

सब मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, अथवा जिनका एक से रूप में समाज के द्वारा संचार होता है। बहुत से मनुष्यों के विचारों का घात प्रति-घात, जो सबमें एक ही प्रकार का क्षोभ या मनोवेग उत्पन्न करता है और उन्हें एक अभिमत और सम्मिलित कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है "समाज का विचार" कहलाता है। सामाजिक विचार मनुष्य-समूह का मानसिक ऐक्य है।

मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है। जब तक मनुष्य की शक्तियाँ जागृत रहती हैं, तबतक उसके विचार अन्यान्य व्यक्तियों के विचारों को शुद्ध, परिमार्जित, पुष्ट या नष्ट करते रहते हैं। विचारों की इस मुठभेड़ का परिणाम यह होता है कि मनुष्य कुछ विचारों को दाय की तरह इस संसार में छोड़ जाता है। वेही विचार सिद्धांत में परिणत होकर भावी संतान के स्वभाव का संगठन करते हैं और उसकी नीति का एक नियत पथ निर्दिष्ट कर देते हैं। ये व्यक्तिगत अनुभव, जिनका सर्वसाधारण से सम्बंध रहता है, भाषा की सहायता से सामाजिक सम्पत्ति हो जाते हैं। व्यक्ति से पृथक् उनका एक बाह्य अस्तित्व हो जाता है जिसका प्रत्येक व्यक्ति आश्रय लेता है। हम सब लोग इस सामाजिक विचार का कुछ अंश अपने आचरण में और विचार में सम्मिलित कर लेते हैं और उसके भांडार को भी भरते हैं। जिस प्रकार प्रकृति के नियमों का पालन करने के लिए हम बाध्य हैं, उसी प्रकार समाज के नियमों के सामने भी हमें सिर झुकाना पड़ता है। प्रत्येक नई पीढ़ी इस सामाजिक परिस्थिति में जन्म ग्रहण करती है और उसे स्थापित रूढ़ियों के अनुकूल बनना पड़ता है। यद्यपि समाज व्यक्तियों का संगठन है, तथापि व्यक्तियों के जीवन पर उसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसके अनुरोध से मनुष्य जिस वस्तु से अनभिज्ञ है उसका स्वीकार कर लेता है, और जिसका विश्वास नहीं करता उसकी भी आज्ञा का पालन करता है। उसके विचार सम्पूर्ण रूपसे उसी के नहीं होते, दूसरों का भी उसमें हिस्सा रहता है। उसके कार्य्य अन्य लोगों की इच्छा से प्रेरित होते हैं। उसका आदर्श बाह्य है। जिसे सब कहें और जिसका अनुभव से विरोध न हो वही सत्य है। जो उसे न मानें वे तो सिड़ी या पागल समझे जाते हैं। जैसे--समुद्र, नदी या तालाब मछलियों की क्रीड़ाभूमि है, उसी प्रकार समाज मनुष्यों का रणक्षेत्र है। एक मनुष्य का अनुभव संकुचित और उसकी शक्ति अबल होती है, दूसरों का अनुभव आत्मसात् करके हमारा सामर्थ्य बढ़ता है।

सामाजिक विचार की उत्पत्ति, व्यक्तियों का विश्वास और अनुभव समाज के विचार में अनेक प्रकार से परिणत हो जाता है। बहुधा 'अनुकरण' और सहानुभूति इसके हेतु हैं। सभाओं का यह साधारण दृश्य है कि बहुसंख्यक मनुष्य एक साथ सहसा करतलध्वनि करने लगते हैं, अथवा युद्ध या मेलों में से यदि कुछ लोग भागने लगते हैं, तो सबके सब भागनेवालों का साथ देते हैं। ऐसे ही कुछ कारणों से सुग्गे, कोयल इत्यादि पक्षी यूथ बाँधकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए देख पड़ते हैं। भारतवर्ष में एलबर्ट फैशन, थियोसफी, खड़ी बोली इत्यादि का प्रचार इस विषय के अच्छे उदा-हरण हैं।

परंतु, सामाजिक विचार के संगठन का प्रधान साधन युक्ति-युक्त तर्क-वितर्क है। हमारे समाज

में अनेक प्राचीन प्रथाओं के विषय में विचार-परिवर्तन इसी तरह हुआ है। किसी विचारशील विद्वान् ने किसी विशेष प्रथा की समालोचना की। अन्य विद्वानों ने उसका खंडन अथवा मंडन किया। पाठकों के भाव-सागर में खलबली मची। अंत में बहुमत ने कुछ सिद्धांत स्थिर किया। तर्क-वितर्क तभी संभव है जब समाज को आत्म-ज्ञान हो। जबतक अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार यहां नहीं हुआ था अथवा नई रोशनी की प्रभा चारों ओर नहीं फैली थी, तब तक अपनी दुर्दशा पर हमारी दृष्टि नहीं गई थी और न राष्ट्रीय ज्ञान का विकास हुआ था। अपनी अवस्था का ज्ञान होते ही लोगों ने विविध समस्याओं पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन समय की स्मृति जागृत हुई, वर्तमान अवनति दूर होने लगी और नये पथ आविष्कृत होने लगे। आत्म-ज्ञान के बिना तर्क-वितर्क असम्भव है। जब समाज अपने स्वतंत्र जीवन का अस्तित्व बोध करने लगे, तभी उसे अपने अभ्युदय की चिन्ता हो सकती है, अन्यथा नहीं।

मनुष्यों की भांति समाज की भी स्मरण-शक्ति होती है। इसीके द्वारा समाज प्राचीन से प्राचीन परिपाटियों को याद रखता है और अपनेको अन्य समाजों से पृथक और स्वतंत्र समझता है। प्राचीन स्मृति समाज के गौरव की वस्तु है और विपत्ति के अंधकार में वह प्रदर्शक का काम करती है। अनुचित उत्साह को धीमी करती है और सभ्यता के विकास-क्रम को शृंखला-बद्ध बनाये रखती है। जिस प्रकार आत्मज्ञान विचार के स्रोत को खोल देता है, उसी प्रकार पूर्व स्मृति विचार के प्रवाह का निर्बाध मार्ग बतलाती है। सामाजिक स्मृति का विकास युक्ति-युक्त तर्क-वितर्क के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

जब समाज को आत्म-ज्ञान होता है और जब उसे पूर्व स्मृति का सहारा मिलता है तब वह हंस की तरह दूध और पानी को पृथक् करने की चेष्टा में व्याप्त होता है। कौन संस्थाएँ हितकर एवं उपादेय और कौन हानिकर हुई हैं इसका अनुसन्धान होने लगता है। तर्क-वितर्क मंथन करके शुद्ध नवनीत निकाल लेते हैं। उत्तम सामाजिक नीति की प्रतिष्ठा होती है और समाज स्वयं अपने जीवन को उन्नति के पथ में आरूढ़ करता है।

अनधिकार चेष्टा।

(लेखक—पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

(१)

बड़ी दौड़-धूप के पश्चात अंत में एक शिक्षिता कन्या मिलही गई और उस से मेरा विवाह-संबंध होना भी स्थिर हो गया। कन्या मैट्रिक पास थी। संस्कृत और हिन्दी भी जानती थी। मेरी प्रसन्नता सीमा पर पहुंच गई। मालूम होता था कि मैं सशरीर वैकुण्ठ पहुंच गया—वैकुण्ठ पर मेरा विश्वास नहीं, मेरे लिए वह वैसाही कपोल-कल्पित है जैसा कि बकाउली का बाग; परंतु इस से अधिक अच्छा उदाहरण न सूझा; इसलिए वैकुण्ठ का नाम ले दिया। खैर, मैं ग्रेजुएट, मेरी अर्द्धांगिनी मैट्रीकुलेटेड और साथ ही सुन्दरी भी। इस से अधिक और क्या चाहिए? लोग कहते हैं कि सुवर्ण में सुगंध नहीं होती। कहने दो, वे अज्ञान हैं। जड़ सुवर्ण में सुगंधि की आवश्यकता भी नहीं। मेरी अर्द्धांगिनी प्रियम्वदा साक्षात् सुगंधित सुवर्ण है। अब निस्सन्देह संसार में जन्म लेना सार्थक हुआ। मित्रों और रिश्तेदारों में सिर ऊंचा रहेगा। हम दोनों युगल प्रदीप जहाँ खड़े हो जायंगे वह स्थान प्रभापूर्ण हो जायगा। लोग मेरे सौभाग्य का उदाहरण देंगे।

जिस दिन विवाह की बातचीत पक्की हो गई और विवाह का दिन भी स्थिर हो गया उस दिन मैं चार ही बजे क्लब की ओर चल दिया। किसी तरह शीघ्र ही मित्रों को यह अत्यंत शुभ समाचार सुनाऊँ। वे भी कहें कि हाँ, त्रिलोकीनाथ भी कोई मनुष्य है। इसी धुन में बाइसिकिल को पूरी 'स्पीड' से ले जा रहा था। क्लब पहुंचते पहुंचते रास्ते में दो आदमियों से टकराया। एक गाड़ी से ठोकर खाते खाते बचा। एक बार ज़मीन भी देखनी पड़ी। चोट लगी, गाड़ी का हैंडल भी टेढ़ा हो गया; परंतु इस समय मेरे शरीर में रक्त के स्थान पर बिजली का प्रवाह दौड़ रहा था। तुरत झाड़-पोंछ कर उठा। हैंडल को एक ज़ोर में सीधा कर दिया। फिर वही 'स्पीड,' वही शान। क्लब पहुंचा तो वहाँ सन्नाटा! क्लब का समय पाँच बजे का था। मित्रों पर क्रोध आया कि आज आध घंटा पहिले ही आ जाते तो क्या हानि थी। बड़े समयशील को तुम बने हो। ख़ैर, किसी न किसी प्रकार इधर-उधर टहल कर, गाकर, सीटी बजा कर और कुछ देर अकेले ही टेनिस खेलकर पौन घंटा समाप्त किया। पौने पाँच बजे से मित्रों का आना आरंभ हुआ।

मुझे 'टेनिस लान' पर अकेले ही कूदते देख मेरे मित्र श्यामकुमार हँसकर बोले—आज तो आप बड़ी प्रेक्टिस कर रहे हैं। क्यों, ख़ैर तो है? किसी से बाज़ी बदी है क्या?

मैंने कहा—पहिले मुझे बधाई दो, पीछे और कोई बात करो।

श्याम—क्यों? ऐसी कौन सी बात है जो आप ज़बरदस्ती बधाई ले रहे हैं?

मैं—इसलिए कि मैं शीघ्र ही एक 'मेट्रीकुलेटेड' लड़की का पति बननेवाला हूं।

श्याम—ओहो! यही सूरत लेकर?

मैं—हाँ हाँ, यही सूरत लेकर। आपसे अच्छी ही सूरत है।

श्याम—तब तो आप निस्संदेह बधाई के पात्र हैं।

यह श्याम का उपहास मात्र था, मेरी सूरत में कोई दोष नहीं। क्रमशः अन्य मित्र भी आ गये। मैंने सबको यह शुभ समाचार सुना दिया। पहिले तो कुछ देर सबने मिलकर मुझे बनाया; परंतु जब मैं अत्यंत गम्भीरता के साथ बातचीत करने लगा, तब वे भी राह पर आ गये। फिर तो मैंने वह चीज़ दी कि सब के मुंह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। वे सब मेरे भाग्य को सराहने लगे। उनमें से कुछ के हृदय में तो ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। यह देख कर मेरी प्रसन्नता और भी बढ़ी। एक ने प्रश्न किया—क्यों भाई त्रिलोकी, उन्हें भी क्लब लाया करोगे या पर्दानशीन बनाओगे? मैंने गर्वपूर्वक उत्तर दिया—मैं चिड़िया में बंद करके रखने वाला आदमी नहीं हूं। पर्दा वर्दा सब ताक़ में रखा रहेगा। कुछ दिन पश्चात् क्लब के मेम्बरों की लिस्ट में मिसेज़ त्रिलोकीनाथ का नाम भी देख लेना। मेरी इस बात से वे सब और भी चकराये। इसी प्रकार शाम के सात बजे तक मित्रों से गपशप कर मैं घर लौटा और भोजन करने के पश्चात् शैय्या पर लेट कर अपनी भावी पत्नी के ध्यान में मग्न हो गया।

(२)

मेरा सुख-स्वप्न ठीक निकला। मेरा विवाह प्रियम्वदा के साथ हो गया। विवाह शुद्ध वैदिक रीति से हुआ। सनातन धर्मियों के आडम्बर किसी को पसन्द न थे। मेरे पिता दयानंद के मतावलम्बी थे। मैं यद्यपि पूर्णतया दयानंदमतावलम्बी नहीं हूं, तथापि इस मत के बहुत से सिद्धान्त मुझे पसन्द हैं—विशेषतः इस मत की विवाह-पद्धति मुझे बहुत ही पसन्द है। मेरे पिता को पर्दा पसंद न था और मैं तो इसका कट्टर विरोधी हूं। हाँ, मेरी माता इसके पक्ष में अवश्य थीं; क्योंकि मेरे पिता अपने विवाह के बहुत दिनों पश्चात् तक सनातनधर्मावलम्बी रहे थे। परन्तु पिता के और मेरे आगे माता की कुछ नहीं चल सकती थी। अतएव, मेरी माता पर्दे के पक्ष में होते हुए भी कुछ नहीं कर सकती थीं। पर्दे के प्रति उनका विरोध-भाव उनके हृदय ही तक परिमित था।

प्रियम्वदा के विषय में जैसा सुना था उस से कहीं अधिक मैंने उसे पाया। यद्यपि वह केवल मेट्रिक क्लास पास थी, तौभी अंग्रेज़ी बोलने में मुझ से कहीं तेज़ थी। मेरी ज़बान कभी कभी लड़खड़ा भी जाती थी; पर उस की ज़बान कैंची की तरह चलती ही रहती थी। मैंने उससे पूछा—प्रियम्वदा, तुम्हें इतनी अच्छी अंग्रेज़ी बोलना कैसे आगया?

प्रियम्वदा ने उत्तर दिया—मैं जिस स्कूल में पढ़ती थी उसमें चार पाँच अंग्रेज़ लड़कियाँ भी पढ़ती थीं। उन्हीं के साथ बातचीत करते रहने से मुझे अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास हो गया। उन में से एक से मेरी बड़ी मित्रता हो गई थी। उस के पत्र अबतक आते रहते हैं। यहाँ आने के तीन चार दिन पूर्व ही एक पत्र आया था।

मैंने उत्सुक होकर पूछा—क्या वह पत्र तुम्हारे पास यहाँ है? प्रियम्वदा मेरी उत्सुकता ताड़ गई। अतएव मुसकराकर बोली—हाँ है तो।

मैं—क्या मैं उसे देख सकता हूं? प्रियम्वदा— नहीं, उस में कुछ प्राइवेट बातें हैं।

मैं मुर्झा गया। प्रियम्वदा मुझे उदास होते देखकर मुसकराते हुए बोली—"ख़ैर, प्राइवेट होते हुए भी मैं उसे दिखा सकती हूं।" यह कह कर प्रियम्वदा ने अपना ट्रंक खोला और उसमें से एक बड़ा लिफ़ाफ़ा निकाला। उस लिफ़ाफ़े में बहुत से पत्र थे। उन्हीं पत्रों में से एक छोटा सा सुन्दर लिफ़ाफ़ा निकालकर उस ने मुझे दिया। मैं ने लिफ़ाफ़े में से पत्र निकाला। पत्र अंग्रेज़ी सुगन्धि से भरा हुआ था। उसमें लिखा था—

डियर प्रियम्वदा,

बहुत दिनों की प्रतीक्षा के पश्चात तुम्हारा पत्र मिला। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारी उम्र के साथ साथ तुम्हारा आलस्य भी बढ़ता जाता है। यदि यह बात नहीं, तो पत्रोत्तर में इतना विलम्ब क्यों?

तुम्हारे विवाह के लिए मैं तुम्हें बहुत सी बधाइयाँ देती हूं। मैं तुम्हारे पति से मिलने को बड़ी उत्सुक हूं। मैं शीघ्र ही वहाँ आनेवाली हूं। अपने पति से परिचय कराना, हिन्दुस्तानीपन मत करना। हाँ, यह तो लिखो कि तुम्हारा पति तुम्हें पसन्द आया या नहीं? मेरी भी कोर्टशिप आर्थर ग्रे नामक नवयुवक से चल रही है। आर्थर कुछ बहुत सुन्दर नहीं, परन्तु स्वभाव का अच्छा है और मुझे जी-जान से चाहता है। इसी कारण मेरा भी प्रेम उसपर हो गया है। मेरा विवाह गर्मियों तक हो जायगा। आर्थर तो विवाह के लिए बड़ी जल्दी कर रहा है; परन्तु मैं गर्मियों के पहिले विवाह नहीं करूँगी। मैं आर्थर से तुम्हारा परिचय कराऊँगी। तुम उसे बहुत पसन्द करोगी। वह बड़ा हँसमुख आदमी है। मैंने उससे तुम्हारा ज़िक्र किया था। वह तुमसे मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहा है। उसकी उत्सुकता देख कर कभी कभी मुझे डाह होने लगती है; परन्तु यह मेरा खोपन है। मुझे विश्वास है कि आर्थर मुझपर से प्रेम हटाकर तुम पर नहीं लगा सकता। ईश्वर तुम्हारा 'हनी मून' सकुशल रहे तथा हँसी-खुशी व्यतीत करे।

तुम्हारी,
वायोलेट।

पत्र पढ़कर और यह जानकर कि वायोलेट से मिलने-जुलने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त होगा मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि मुझे कालेज के शुष्क अंग्रेज़ अध्यापकों को छोड़कर किसी अंग्रेज़ महिला से मिलने-जुलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था—विशेषतः मित्ररूप में, परन्तु साथही मुझे यह बात बहुत बुरी लगी कि आर्थर प्रियम्वदा से मिलने के लिए उत्सुक है। प्रियम्वदा से मिलने के लिए आर्थर को उत्सुक होने का क्या अधिकार? मैंने प्रियम्वदा से पूछा—क्या तुम आर्थर से मिलोगी?

प्रियम्वदा मुसकराकर बोली—क्यों? मिलने में कोई हानि है क्या?

मैं—नहीं, हानि तो कोई नहीं; परन्तु—

प्रियम्वदा—परन्तु क्या?

मैं—यही कि एक हिन्दुस्थानी स्त्री को अँग्रेज़ों से मिलना-जुलना शोभा नहीं देता।

प्रियम्वदा—ख़ैर, देखा जायगा।

(३)

एक दिन मैंने प्रियम्वदा से कहा—मेरी इच्छा है कि आज तुम भी मेरे साथ क्लब चलो।

प्रियम्वदा कुछ विस्मित होकर बोली—क्या मैं क्लब चलूं ?

मैं—क्यों, हानि क्या है ?

प्रियम्वदा—मैं क्लब जाकर करूँगी क्या ? इस के अतिरिक्त वहाँ तो सब पुरुष ही पुरुष होंगे। ऐसी दशा में वहाँ मेरा जाना उचित नहीं।

मैं—उचित क्यों नहीं ? पुरुष होंगे तो क्या करेंगे ? तुम्हारा कुछ छीन तो लेंगे नहीं ?

प्रियम्वदा—और लोग तो वहाँ अपनी अर्द्धांगिनियाँ लाते ही न होंगे, फिर तुम मुझे वहाँ क्यों ले चलते हो ?

मैं—और लोग लावें किस बिरते पर ? उनकी अर्द्धांगिनियाँ इस योग्य ही नहीं। तुम्हारे ऐसी पढ़ी-लिखी हों, तो लाते भला भी लगे। उन्हें बात करने तक का तो तमीज़ नहीं। इसके सिवा उन लोगों में से कई पर्दे के पक्षपाती हैं।

प्रियम्वदा—खैर पर्दे की दृष्टि से तो मैं नहीं कहती; पर मेरी समझ में पुरुषों की समाज में—विशेषतः ऐसी समाज जिसमें एक भी स्त्री सम्मिलित न होती हो, मेरा भाग लेना उचित नहीं।

मैं—तुम भी किस पोपलीला में पड़ी हो ? शिक्षित होकर ऐसी लचर बात कहती हो, मुझे आश्चर्य होता है।

प्रियम्वदा—मैं अंग्रेज़ों की नक़ल करने के लिए शिक्षित नहीं बनी हूं। मैंने तो ज्ञानवृद्धि तथा अपनी वर्तमान स्थिति और आवश्यकताओं के जानने के लिए शिक्षा ग्रहण की है। यहाँ कोई स्त्री-क्लब होता तो मैं बराबर उसमें भाग लेती।

मुझे प्रियम्वदा की बातों पर मनही मन हँसी आई। मैंने सोचा—यह हिन्दुस्तानी संस्कार हैं। शिक्षित होने पर भी इतना संकोच और इतनी भीरुता। कुत्ते की दुम बारह बरस गड़ी रहने पर टेढ़ी ही रही।

मैंने गम्भीर होकर कहा—खैर, जब महिला-क्लब स्थापित हो, तब उसमें खुशी से सम्मिलित होना। इस समय तो जैसा मैं कहूं वैसा करो। मैं मित्रों को क्या मुंह दिखाऊँगा; वे कहेंगे कि जब इतना संकोच है, तो शिक्षित होना न होना बराबर है। शिक्षा तो मनुष्य को स्वतंत्र और निर्भीक बनाती है। खैर, अंग्रेज़ों की बात जाने दो। पारसी लेडियों, गुजराती रमणियों तथा अन्य देशी जातियोंको ही देखो। जिन में पर्दा नहीं है वे कैसी स्वच्छंदता से रहती हैं।

प्रियम्वदा—उनके यहाँ यह प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही है। उनके स्त्रीपुरुषों में वैसेही संस्कार पड़े हैं। हमारे यहाँ इतनी स्वच्छंदता भी पसंद नहीं की जाती और न हम लोग इसके अभ्यस्त हैं। अतएव हमें क्रमशः आगे बढ़ना चाहिए। एकदम कूद कर चलने में गिरने का डर रहता है।

मैं—तुम्हारी इन बातों में, तुम्हारी वाक्पटुता के अतिरिक्त और कोई सार नहीं। आज जैसा समय है उसीके अनुसार काम करना चाहिए।

प्रियम्वदा—अच्छा, यह तो बताओ, तुम इस के अभ्यस्त हो गये हो। क्या तुम्हें इसमें कुछ भी संकोच न होगा ?

मैं—संकोच ! संकोच है किस चिड़िया का नाम ? मुझे तो उस दिन हार्दिक प्रसन्नता होगी जब तुम मेरे साथ स्वच्छन्दतापूर्वक प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक समाज में घूमा फिरोगी।

प्रियम्वदा—यदि यह बात है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

(४)

उसी दिन शाम को मैं प्रियम्वदा को क्लब ले गया। जिन मित्रों से मेरा घनिष्ठ संबंध था वे तो मेरे घरही पर प्रियम्वदा से परिचित हो चुके थे। शेष जिन लोगों से मेरा घनिष्ट संबंध नहीं था, केवल क्लब के नाते ही संबंध था, उनको मैंने प्रियम्वदा का परिचय बड़े गर्व के साथ दिया। सब लोग चकित नेत्रों से मुझे तथा प्रियम्वदा को देखते थे। प्रियम्वदा की अंग्रेज़ी सुनकर वे लोग बगलें झाँका करते थे।

कुछ तो प्रियम्वदा से झेंपने से लगे। मेरी प्रसन्नता का अंत नहीं था। मैं यह समझ गया था कि वे लोग मेरे सौभाग्य पर डाह करते हैं; पर इस से मेरी प्रसन्नता ज़रा भी कम नहीं हुई। प्रत्युत और भी बढ़ी।

मेरे घनिष्ठ मित्रों में से एक का नाम विश्वनाथ सेठ था। विश्वनाथ एल० एल० बी० पास कर चुके थे और वकालत आरम्भ करने वाले थे। विश्वनाथ एक सुंदर युवक और बड़े हँसमुख थे। जब तक साथ रहते थे तब तक अपनी बातों से सबको हँसाया करते थे। क्रमशः क्लब आते-जाते रहने से प्रियम्वदा और विश्वनाथ में घनिष्ठता उत्पन्न होने लगी। मैं तो क्लब पहुंचते ही टेनिस में जुट जाता था और विश्वनाथ बेंच पर प्रियम्वदा के पास जा बैठते और अपनी बातों से प्रियम्वदा का मनोरंजन करने लगते थे। उनसे यदि उस समय खेलने को कहा जाता तो टाल जाते थे। कभी थकावट, कभी सिरदर्द तथा कभी "जी नहीं चाहता" कहकर टाल दिया करते थे। प्रायः ऐसा भी होता था कि जब हम और प्रियम्वदा देर में पहुंचते थे, उस समय यदि विश्वनाथ खेलते भी होते थे, तो प्रियम्वदा को देखते ही तुरन्त खेलना बन्द कर देते थे और प्रियम्वदा के पास जा बैठते थे। कभी कभी किसी कारण से प्रियम्वदा क्लब न जा सकती, तो विश्वनाथ उसके न आने के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रश्न करते थे और क्लब से मेरे साथ घर पर आकर उससे मिलने की चेष्टा करते थे। प्रियम्वदा भी उनका बहुत आदर करती थी और उनसे मिलने और उनकी बातें सुनने को उत्सुक रहती थी।

विश्वनाथ और प्रियम्वदा की घनिष्ठता बढ़ते देख मेरा माथा ठनका। विश्वनाथ का प्रियम्वदा के पास बैठना, हँसना, बोलना मेरी आँखों में काँटे की तरह खटकने लगा। परन्तु, मैंने अपना यह भाव हृदय ही में गुप्त रक्खा, किसी पर प्रकट न होने दिया।

एक दिन क्लब पहुंचने के कुछ ही पश्चात् प्रियम्वदा मुझसे बोली—जब तक तुम खेल रहे हो तब तक मैं मि० सेठ के साथ छावनी की ओर घूम आऊँ। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चलो।

जिस समय यह बात कही गई थी उस समय मैंने खेलना आरंभ कर दिया था। मैं समझ गया कि प्रियम्वदा विश्वनाथ के साथ अकेली जाना चाहती है। यदि मुझे भी ले चलना होता, तो मेरे खेल आरंभ करने के पूर्व ही कहती। अब मुझे खेल में लगा देख और यह समझकर कि खेल छोड़कर मैं जानेवाला आदमी नहीं, यह बात कही गई है। मेरी यह धारणा प्रियम्वदा के इस वाक्य से कि 'जबतक तुम खेल रहेहो तबतक मैं मि० सेठ के साथ छावनी की ओर घूम आऊं' और भी दृढ़ हो गई। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी चलो—यह वाक्य केवल शिष्टाचार तथा संदेह रोकने के लिए कहा गया था। मैं इन बातों पर तीन मिनिट के भीतर ही विचार कर गया। मैंने उदासीनता से कह दिया—जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं तो खेल छोड़कर जा नहीं सकता।

मेरे इतना कहते ही प्रियम्वदा विश्वनाथ के साथ उनकी टैण्डम पर छावनी की ओर चलदी। उसके इस व्यवहार से मेरे शरीर में आग लग गई। मेरे लिए एक क्षण खेलना भी भारी हो गया। मैंने रैकेट फेंक दिया और यह कहकर कि 'मुझे चक्कर आगया' मैं टेनिसकोर्ट से बाहर आकर बेंच पर बैठ गया। बेंच पर बैठे बैठे मैं तरह तरह की बातें सोचता रहा। उस समय मुझे अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ कि मैंने नाहक प्रियम्वदा को क्लब में सम्मिलित किया। हम लोगों की स्त्रियाँ शिक्षित होने पर भी इस योग्य नहीं कि उन्हें स्वतंत्रता दी जाय। ये तो कोठरी में बंद रखने ही से ठीक रहती हैं। इनमें ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं कि ये स्वतंत्रता का सदुपयोग करने की अपेक्षा उसका घोर दुरुपयोग करने लगती हैं। परंतु अब पश्चात्ताप करने से क्या होता है? अब तो भूल हो ही गई और बड़ी विकट भूल हुई। अब तो अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। परंतु, साथ ही एक बार मैं प्रियम्वदा को ठीक रास्ते पर लाने की पूरी चेष्टा करूँगा। फिर, जो कुछ होगा देखा जायगा।

इसी प्रकार के विचार मेरे मन में आते रहे। अंत में मैंने निश्चय कर लिया कि अब कुछ समय के लिए क्लब में आना बंद कर देना चाहिए।

प्रियम्वदा और विश्वनाथ डेढ़ घंटे के पश्चात लौटे। प्रियम्वदा के लौटते ही मैं तुरंत उसे लेकर अपनी गाड़ी में सवार हुआ और घर की ओर चल दिया। रास्ते में प्रियम्वदा से मेरी कोई बातचीत नहीं हुई। मैं तो क्रोध में भरा बैठा था। बात क्या करता। प्रियम्वदा ने भी कोई प्रसंग नहीं उठाया।

(५)

रात को भी प्रियम्वदा से बातचीत न करना पड़ी; क्योंकि मैंने सिर दर्द का बहाना कर दिया था। दूसरे दिन सवेरे आठ बजे मैं अपने मकान के द्वार के सामने टहल रहा था कि उसी समय विश्वनाथ का साईस खाली टेण्डम लेकर आ पहुँचा। मुझे द्वार पर टहलते देखकर उसने मुझसे पूछा—बाबूजी, बाईजी कहाँ हैं?

मैं बाईजी का नाम सुनकर चकराया। मैंने पूछा—कौन बाईजी? साईस हँसी रोकने की चेष्टा करता हुआ बोला—वही बाईजी—आपकी। उसकी ऊटपटाँग बात सुनकर मुझे क्रोध आया। मैंने कहा—अबे, साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहता पहेलियाँ सी बुझाता है। कौन बाई जी? साईस द्वार की ओर देखकर बोला—लीजिए, वह आप आगई। मैंने पीछे घूमकर देखा कि प्रियम्वदा धीरे धीरे हम दोनों की ओर आ रही थी। अब मैं बाई जी का अर्थ समझ गया। यदि उस समय क्रोध में न भरा होता तो साईस के इस नामकरण पर हँसते हँसते लोट जाता। साईस ने आगे बढ़कर प्रियम्वदा के हाथ में एक बंद लिफ़ाफ़ा दिया। प्रियम्वदा ने लिफ़ाफ़े में से पत्र निकाल कर पढ़ा। तत्पश्चात् साईस से कहा, खड़े रहो। फिर वह मुझसे बोली—ज़रा भीतर चलो, एक काम है। मैं प्रियम्वदा के साथ अपने कमरे में पहुँचा।

प्रियम्वदा ने कहा—कल मि० सेठ ने मुझे अपनी स्त्री से मिलाने के लिए बुलाया था। मैंने आज इस समय आने के लिए कह दिया था। इसीलिए उन्होंने गाड़ी भेजी है।

प्रियम्वदा की बात सुनकर मेरा ख़ून उबलने लगा। किसी न किसी प्रकार मैंने अपने को रोक कर कहा—देखूँ, पत्र में क्या लिखा है। प्रियम्वदा ने पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने पढ़ा। अंग्रेज़ी में लिखा था—

प्रिय प्रियम्वदे, तुम्हें अपना कल का वचन याद होगा। टेण्डम भेजता हूँ। आशा है तुम अपने वचन का पालन करोगी। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता के साथ कर रहा हूँ।

तुम्हारा,

विश्वनाथ सेठ।

मैंने पत्र पढ़कर व्यंग्य स्वर में कहा—पत्र तो बड़ा मज़ेदार लिखा है। यदि वह अपनी स्त्री को तुमसे मिलाने के इतने उत्सुक हैं तो उसे ही यहाँ क्यों नहीं भेज दिया?

प्रियम्वदा—वह एक ही बात है। उन्हें यहाँ भेजा तो क्या, मुझे बुलाया तो क्या?

मैं—तुम्हारे जाने की कोई आवश्यकता नहीं। उन्हें गरज़ होगी तो वह स्वयम् अपनी स्त्री को तुमसे मिला ले जायँगे।

प्रियम्वदा—(कुछ घबराकर) परन्तु कल मैं उन्हें वचन दे चुकी हूं।

मैं—कोई चिन्ता नहीं। बहाना कर दिया जा सकता है।

प्रियम्वदा—परन्तु, मैं नहीं समझती कि बहाना करने की आवश्यकता ही क्या है?

मैं—(कुछ कर्कश स्वर में) आवश्यकता इसलिए है कि मैं तुम्हें जाने की आज्ञा नहीं दे सकता।

प्रियम्वदा—क्यों?

मैं—मेरी इच्छा।

प्रियम्वदा—परन्तु केवल अपनी इच्छा पूरी करने के लिए तुम्हें मेरा वचन न तुड़वाना चाहिए। यह सभ्यता के सर्वथा विरुद्ध है।

मैं अब अपने क्रोध को न थाम सका। मैंने पत्र को टुकड़े टुकड़े कर के फेंक दिया और प्रियम्वदा से कहा—सभ्यता गई जहन्नुम में। तुम कदापि नहीं जा सकतीं। मेरी इच्छा के विरुद्ध जाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।

यह कहकर मैंने नौकर को बुलाया और उससे कह दिया—बाहर जो टेएडम खड़ी है उसके साईस से कह दो, वापिस ले जाय, इस समय कोई नहीं जा सकता। नौकर चला गया।

प्रियम्वदा कुछ बिगड़ कर बोली—कम से कम मुझे अपने न जाने का कुछ बहाना लिख देना चाहिए। इस प्रकार लौटा देना अनुचित है। मि० सेठ अपने जी में क्या कहेंगे ? उनके लिए यह व्यवहार !

मैंने डाँट कर कहा—चुप रहो, बहाना लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। उनका जो जी चाहे समझें। मैं उनके समझने की कुछ भी परवा नहीं करता।

मैं उस समय क्रोध के मारे अंधा हो रहा था। मुझे उस समय प्रियम्वदा की शिक्षा, उसके आत्मगौरव इत्यादि का ज़रा भी विचार न था। उस समय उसके संबंध में केवल दो बातें मेरे सामने थीं—एक, यह मेरी स्त्री है, इसे मेरी आज्ञा पालन करना होगा। दूसरे, यह पतिता है। इस ने मुझसे विश्वासघात किया है।

प्रियम्वदा अप्रतिभ होकर बोली—आखिर इस विचित्र व्यवहार का कारण क्या है ?

मैं—कारण अपने हृदय से पूछो और सेठ साहब से पूछो।

इतना सुनते ही प्रियम्वदा का गुलाबी चेहरा सफ़ेद पड़ गया। वह मटककर कुर्सी पर बैठ गई। कुछ क्षण तक वह मेरी ओर बड़ी विकलता से देखती रही। तत्पश्चात् बोली—तुम्हारे मुँह से ऐसी बात सुनने की आशा मुझे स्वप्न में भी नहीं थी।

मैं—तुमसे भी मुझे इस व्यवहार की आशा स्वप्न में भी न थी।

प्रियम्वदा ने अपना मुख दोनों हाथों से ढाँक लिया। उसकी उँगलियों के बीच से आँसुओं की बूँदें निकलकर उसकी गोद में गिरने लगीं।

मैं—(कहता गया)—मैंने तुम्हें स्वतंत्रता दी थी उसी का यह बदला है। सच तो यह है कि हिन्दुस्थानी स्त्रियाँ चाहे शिक्षित हों अथवा अशिक्षित, वे इस योग्य हो नहीं कि इन्हें स्वतंत्रता दी जाय। स्वतंत्रता की तुम लोग पात्र नहीं, तुम्हारे पुराने संस्कारों से स्वतंत्र-जीवन मेल नहीं खाता। तुम लोगों को स्वतंत्र करना ऐसा ही है जैसा कि एक घोड़े को गाड़ी में जोतकर उसे उसकी इच्छा के अनुसार चलने देना। ऐसी दशा में परिणाम यह होगा कि घोड़ा गाड़ी को किसी से लड़ा देगा अथवा किसी खाई खंदक में गिरा देगा।

प्रियम्वदा बैठी रो रही थी। हठात् उसने मुँह पर से हाथ हटा लिये—आँसू पोंछ डाले। आँखों में करुणा के स्थान पर क्रोध का सञ्चार हो आया। वह उठकर खड़ी होगई और बोली—बिना किसी प्रमाण के तुम्हें मेरे चरित्र पर आक्रमण करने का क्या अधिकार है ?

मैंने घृणा से हँसकर कहा—अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का यह भी सभ्य ढंग है !

प्रियम्वदा ने कहा—अच्छा ढंग हो या बुरा; परन्तु मैं तुम्हें सचेत किये देती हूँ कि इस प्रकार मेरा अपमान करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। तुम हम लोगों (स्त्रियों) को स्वतंत्रता के अयोग्य बताते हो; पर मैं समझती हूँ कि तुम (पुरुष) इस योग्य ही नहीं कि किसी शिक्षित स्त्री की स्वतंत्रता को सहन कर सको। तुम्हारे संस्कार तो डिबिया में बंद करके रखने के पड़े हुए हैं। तुम स्वतंत्र जातियों की बराबरी करके यह दिखलाना चाहते हो कि तुम भी शिक्षित हो, सभ्य हो; परन्तु तुम्हारे पास न उनका सा हृदय है और न उनका सा विश्वास। उन्हें स्त्रियों पर

विश्वास होता है। तुम्हारी तरह उन्हें रस्सी का साँप नहीं दिखाई देता। तुम वृथा शिक्षित और सभ्य बनने का ढोंग रच रहे हो। मैं इस बात को समझती थी, तभी मैंने आरम्भ में ही इतनी स्वतंत्रता का विरोध किया था। तुमने ज़बरदस्ती मुझे क्लब में सम्मिलित किया, और अपने मित्रों से मिलाया। यदि तुम्हें मुझपर विश्वास नहीं था, यदि तुम मेरे स्वतंत्रता के उपयोग को सहन नहीं कर सकते थे तो तुमने ऐसा क्यों किया? क्या तुमने मुझे खिलौना समझा था जो साथ लिये मित्रों को दिखाते फिरते थे? याद रक्खो, मैं खिलौना बनकर नहीं रह सकती। मैं भी मनुष्य हूँ, मेरे पास भी हृदय है, मैं भी भला बुरा समझती हूँ। मि० सेठ तुम्हारे घनिष्ठ मित्र हैं शिक्षित हैं, सच्चरित हैं, हँसमुख हैं; इसलिए मुझे उनसे प्रेम है, परन्तु वैसा ही प्रेम जैसा कि एक बहिन को अपने भाई से होता है। ऐसी दशा में मुझे उनके साथ बैठने-उठने का पूर्ण अधिकार है। तुमने मेरे साथ ही साथ मि० सेठ के चरित्र पर भी आक्रमण किया है। इतनी छोटी छोटी बातों पर जब तुम अपने घनिष्ठ मित्र पर, अपनी स्त्री पर, जिसे तुम शिक्षित कहते हो, जिसका तुम्हें गर्व है, सन्देह कर सकते हो, उनके चरित्र पर आक्रमण कर सकते हो, उनका अपमान कर सकते हो, तो तुम से क्या आशा रक्खी जाय? याद रक्खो, एक पढ़ीलिखी स्त्री तुम्हारी भली बुरी, उचित अनुचित, आज्ञाओं का पालन केवल इसलिए नहीं कर सकती कि तुम उसके पति हो। यदि तुम्हें मेरी इतनी स्वतंत्रता अच्छी नहीं लगी थी तो मुझ से कहते, मुझसे पूछते। मैं तुम्हें संतुष्ट कर देती। उसपर भी यदि तुम्हें संतोष न होता तो मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करती। उस समय मैं सब कुछ कर सकती थी; परंतु तुमने ऐसा न करके एकदम मेरे चरित्र पर आक्रमण कर दिया। याद रक्खो, तुम्हें इसका प्रायश्चित्त करना होगा—बिना प्रायश्चित्त किये तुम इस पाप से मुक्त न हो सकोगे।"

इतना कहकर प्रियम्वदा उस कमरे से चली गई। × × ×

प्रियम्वदा को मायके गये हुए तीन महीने हो चुके थे। मैं अपनी भूल पर लज्जित था। निस्संदेह मैंने भूल की थी। मैंने दो एक बार यह इच्छा भी की कि प्रियम्वदा को पत्र लिखूँ और अपनी इस भूल के लिए उससे क्षमा माँगूँ। परंतु उसी समय यह ध्यान आया कि मैं उसका पति होकर उससे क्षमा-प्रार्थना करूँ! यह कदापि नहीं हो सकता। यह दूसरी भूल थी। प्रियम्वदा जिस दिन से गई उसने कोई पत्र नहीं लिखा। मेरे पिता को भी सब हाल मालूम होगया था। वे हम दोनों पर नाराज़ थे। उनको इसमें दोनों का अपराध दिखाई दिया। इसीलिए वे भी चुपचाप बैठे हम दोनों की लीला देख रहे थे। पता नहीं, प्रियम्वदा ने अपने मातापिता से क्या कहा; क्योंकि उन्होंने भी कोई पत्र नहीं लिखा।

इधर मि० सेठ से भी मेरा मनोमालिन्य होगया। जितनी घनिष्ठता थी उतना ही वैमनस्य होगया।

प्रियम्वदा को मायके गये तीन महीने बीत चुके थे। इन तीन महीनों में मैं उसका मूल्य भली भाँति समझ गया। उसके लिए मेरी आत्मा तड़प रही थी; पर आत्मगौरव—यदि वह आत्मगौरव कहा जा सकता है, क्योंकि अब मैं उसे हठधर्मी समझता हूँ—यह स्वीकार न करता था कि मैं अपनी ओर से उसे पत्र लिखकर क्षमा माँगूँ। मेरे हृदय में यह भाव घुसा हुआ था कि पति का स्त्री से क्षमा माँगना केवल अनुचित ही नहीं, किन्तु बड़ी हेय बात है।

मेरे इस मूर्खता के विचार को मेरी उच्च शिक्षा—यदि वह उच्च शिक्षा कही जा सकती है—भी दूर न कर सकी थी।

प्रियम्वदा को अपने पिता के यहाँ गये तीन मास व्यतीत हो चुके थे। मैं शाम को अपने द्वार के आगे कुर्सी पर बैठा पिछली घटनाओं पर विचार कर रहा था। उसी समय एक चपरासी ने आकर मेरे हाथ में एक तार दिया। मैंने उसे खोलकर पढ़ा। तार प्रियम्वदा के पिता ने दिया था। उसमें केवल इतना लिखा था—

"एक महीना बीमार रहने के पश्चात् कल प्रियम्वदा की मृत्यु हो गई।"

मेरे हाथ से तार छूट पड़ा। मेरा अमूल्य रत्न नष्ट होगया—मेरे पाप का—मेरी हठधर्मी का—प्रायश्चित्त होगया।

विविध विषय।

(१) खोज और अनुसंधान।

खोज और अनुसंधान की प्रथा उन्नति का प्रधान साधन है। इस संसार के कर्त्ता ईश्वर ने संसार में अनेकानेक पदार्थ उत्पन्न किये हैं। साथ ही मनुष्य को एक प्रकार की शक्ति दी है जिसकी सहायता से वह संसार के पदार्थों में से ऐसे ऐसे पदार्थ खोज निकालता है जो उसकी सुख-समृद्धि के कारण हुआ करते हैं; जैसे, मनुष्य जल और अग्नि को पहिले पीने, स्नान करने, कपड़े धोने, भोजन तैयार करने और उष्णता-प्राप्ति आदि कामों में लाया करते थे। डाक्टर वाट ने जब जल और अग्नि के संयोग से उत्पन्न होनेवाली बाष्प की शक्ति का पता लगाया और उस शक्ति को काम में लाने वाले यंत्र बनाये, तब से जल और अग्नि से लाभ उठाने की मात्रा कहीं अधिक बढ़ गई है। यह खोज और अनुसंधान करने की शक्ति सब मनुष्यों में एक सी नहीं होती। उसकी मात्रा न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र पाई जाती है।

उन्नत देशों के राजपुरुष तथा धनाढ्य लोग खोज के काम के महत्व को जानते हैं: अतः वे लोग जिन मनुष्यों में खोज करनेकी शक्ति को देख पाते हैं उनकी भरण-पोषण की चिंता को दूर कर उन्हें इतना स्वतंत्र कर देते हैं कि वे लोग खोज के काम को अथवा ग्रंथ लिखने के कामको स्वच्छंदतापूर्वक, स्वरुचि के अनुकूल, कर सकते हैं। कुछ काल के अनंतर, उक्त अनुसंधान-प्रिय लोगों के सहायक देखते हैं कि उनकी सहायता ने उनकी भाषा के साहित्य का, उनके राष्ट्र का और उनके देश का कितना उपकार किया है। यूरोप, अमेरिका और जापानादि देशों में आज दिन जो उन्नति पाई जाती है वह सब अनुसंधान-प्रिय विद्वान् सज्जनों की खोज तथा उनके उदार सहायकों के उत्तम त्याग का सुमधुर फल है।

भारत के राजपुरुष तथा धनी-मानी लोग ही इस प्रथा के आविष्कर्ता तथा प्रवर्तक हैं। श्रीमद्भागवत के चौथे स्कंध के १८ वें अध्याय में यह उल्लेख पाया जाता है कि पृथु के समय में धरती की उत्पादक शक्ति क्षीण हो गई थी। उसकी क्षीणता को दूर करने के उपाय खोज निकालने के लिए पृथु राजा ने अपने समय के कई अनुसंधान-विलक्षण पंडितों को इस काम में नियुक्त कर धरती को उर्वरा करनेवाली युक्तियाँ ढूँढ़वाई थीं और तदनुसार काम कर धरती की उत्पादक शक्ति बढ़ाई थी जिससे जनता को आशातीत लाभ हुआ था।

उक्त अध्याय की कथा में लिखा है कि धरती की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने की युक्ति निकालने के लिए राजा पृथु ने मनु को नियुक्त किया था। मनु ने अन्यान्य युक्तियों के अतिरिक्त यह युक्ति निकाली कि वर्षा काल में गिरा हुआ जल रोक रखा जाय और पीछे उससे धरती सींची जाय तो उससे

उसकी (धरती की) उत्पादक शक्ति बढ़ सकती है। मनु की इस युक्ति को मान कर राजा पृथु ने अनेक तालाब और नहरें बनवा दीं जिनसे सिंचाई का काम होने लगा। फल यह हुआ कि धरती की उत्पादक शक्ति शीघ्र बढ़ गई।

राजा पृथु के समय की प्रजा यह नहीं चाहती थी कि उनके हित के सब काम अकेला राजा ही करता रहे। धरती की उत्पादक शक्ति को ढूँढ़ने वाली युक्तियों की खोज में मनु को संलग्न देख भिन्न भिन्न समाज के धनी-मानी लोगों ने अपनी अपनी ओर से भी खोज का काम जारी करा दिया था। एक समुदाय ने साहित्य की उन्नति के लिए बृहस्पति को नियत किया था, तो दूसरे ने स्वास्थ्य वृद्धि के उपायों को खोजने के लिये इंद्र को नियत किया था। इसी प्रकार किसी ने विश्वावसु को गानविद्या के सुधार की खोज में लगाया, किसी ने कपिलदेव को खनिज पदार्थों की खोज में लगाया और किसी ने विश्वा-मित्र को आकाशयान की खोज के काम में लगा-या। तात्पर्य्य यह कि राजा पृथु के समय खोज और अनुसंधान का काम इतनी अधिकता और उत्तमता के साथ चलाया गया कि उसके फल से तत्कालीन भारतीय जनता को बहुत लाभ पहुँचा।

भारत में इस समय हमारी अँगरेज़ सर्कार भी समय समय पर कमीशन नियत कर खोज और अनुसंधान का काम कराया करती है। उसकी कमीशन में प्रायः विदेशी विद्वानों की अधिकता रहा करती है। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत के लोगों में खोज करने की शक्ति नहीं है। उनमें शक्ति अवश्य है; पर उन्हें उस काम के करने के लिए सुविधा नहीं अनुकूल हो सकती। ऐसी अवस्था में भारत के धनीमानी सज्जनों को उचित है कि वे राजा पृथु के समय के लोगों के समान, अपनी ओर से, खोज और अनुसंधान के काम को चलावें और उनकी सहा-यता से सर्व्वतो-प्रथम हिंदी के साहित्य की उन्नति करें। साहित्य की उन्नति के साथ साथ अन्यान्य उन्नतियाँ भी अवश्य ही होंगी जिनकी कृपा से भारत के कोने कोने में सुख-शांति का साम्राज्य फैल जायगा।—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री।

(२) व्यापारी हवाई जहाज़ों के स्टेशन।

महायुद्ध बन्द होगया है। सुख-शान्ति के दिन निकट आते दिखाई देते हैं। शान्ति के समय लोगों का ध्यान साधारणतया व्यापार की ओर जाता है। जो शक्तियाँ अभी तक महायुद्ध के कार्य में लगी रहीं वे ही अब व्यापार में लगाई जा रही हैं। युद्ध में हवाई जहाज़ों की उपयोगिता भली भाँति प्रमाणित हो चुकी है। अब, शान्ति के समय, इनसे व्यापार की वृद्धि में सहायता ली जाने की चर्चा हो रही है। इसलिए इनके संबंध में दो एक बातें लिखना कई पाठकों को मनोरंजक होगा।

हवाई जहाज़ चिट्ठियाँ, पारसलें, चा, काफ़ी के डिब्बे, स्टेशनरी का सामान आदि लाने लेजाने के काम में बड़ी आसानी से लाये जा सकते हैं; पर इनसे यह काम लेने के लिए भिन्न भिन्न शहरों में इनके ठहरने के स्थान होना चाहिए। कुछ लोगों का खयाल है कि ये पक्षियों के समान मनचाहे जहाँ ठहर सकते हैं; क्योंकि जैसे पक्षी आकाश में उड़ते हैं वैसे ही ये भी। पर, बात ऐसी नहीं है। इनके उतरने के लिए बड़ा लम्बा-चौड़ा स्थान

चाहिए। उड़ाकों का कथन है कि मैदान १००० गज लम्बा और इतना ही चौड़ा होना चाहिए। उसमें वृक्ष आदि की कोई रुकावट न हो। मैदान की भूमि इतनी पक्की हो कि कितना भी पानी पड़ने पर उसपर कीचड़ न मचने पावे।

व्यापारी हवाई जहाज प्रति घण्टा ८५ से ६० मील तक उड़ते हैं; परन्तु इतनी दूरी केवल २ एञ्जिनवाले हवाई जहाज ही पार कर सकते हैं। एक एंजिनवाला केवल ६० मील प्रति घण्टा उड़ सकता है। जहाज़ पर अपने वजन के सिवा मोटर का भी बहुत सा सामान रहता है, फिर जो कुछ सामान ले जाना हो सो अलग। इतना सब होने पर जब हवाई जहाज़ जगह जगह से सामग्री लेगा देगा, तब उसके ठहरने के स्टेशन एक दूसरे से लगभग ६० मील दूर होना चाहिए। साथ ही, ये स्टेशन ऐसे स्थान के निकट बने हों जहाँ से हवाई जहाज के बिगड़े हुए कलपुर्जों को सुधारने के लिए काफी सामान और सहायता मिल सके। इस प्रकार के सामान का संग्रह प्रत्येक हवाई स्टेशन पर भी रखना होगा। हवाई जहाज के पुर्जे बहुत भारी और लम्बे चौड़े होते हैं; इसलिये वे हवाई जहाज पर, साथ में, नहीं ले जाये जा सकते। उनके प्राप्त होने का सुभीता तो थोड़ी थोड़ी दूर पर ही होना चाहिए।

भविष्य में हवाई जहाजों की उपयोगिता और भी बढ़ जाने वाली है। यदि उनके द्वारा डाक आदि भेजे जाने का प्रबन्ध किया जाय, तो ऐसा अनुमान किया गया है कि लगभग १,००० मील दूरी के लिए एक सेर वजन पर लगभग ५) महसूल लगेगा। कार्य-भार बढ़ने तथा जहाजों की अधिकता होने पर महसूल में कमी होने की भी सम्भावना रहेगी।

हवाई जहाज के स्टेशन सरकार के ही अधीन रहेंगे और प्रत्येक पर तार, बेतार का टेलीफोन और सब प्रकार का यान्त्रिक संग्रह रहेगा। जब इनके द्वारा व्यापारी काम—काज अधिक होने लगेगा और रात को भी ये हवा में उड़ेंगे तब प्रत्येक स्टेशन पर प्रकाशभवन (Lighthouse) भी बनाया जायगा। इन स्टेशनों का विस्तार वर्तमान रेलवे स्टेशनों से कहीं अधिक रहेगा। पहले पहल ये स्टेशन उन्हीं शहरों के समीप बनाये जावेंगे जो व्यापार के केन्द्र-स्थल हैं। देखें, भारत में ये स्टेशन आरम्भ में कहाँ कहाँ बनते हैं।

(३) सभ्य देशों का अन्धविश्वास।

अन्धविश्वास की बातें सब देशों में पाई जाती हैं। यद्यपि वैज्ञानिक युग अन्धविश्वास को धीरे धीरे निकाल बाहर कर रहा है; पर यूरोप के सभ्य देशों में अन्धविश्वास की सत्ता इस बीसवीं शताब्दी में भी वर्तमान है। बहुधा देखा गया है कि जब कोई दान दिया जाता है तो हम लोग रुपयों की संख्या ऊनी रखते हैं; जैसे, पाँच, ग्यारह, इक्कीस, एकसौ एक, एक हजार एक सौ ग्यारह इत्यादि; क्योंकि ऊने अंक शुभ माने जाते हैं। तीन का अंक अशुभ समझा जाता है। यहाँ तक कि यह कहावत प्रचलित है—तीन टिकट और महाविकट। लड़के तीन लोग एक साथ घर से बाहिर नहीं निकलते। अंकों के संबंध में ऐसा ही कुछ अन्धविश्वास यूरोप में है। वहाँ के अनेक देशों में घरों पर जो नम्बर डाले गये हैं उनमें १३ नम्बर कहीं नहीं है। आपको और सब नम्बर पढ़ने को मिलेंगे; पर १३ कहीं भी नहीं। उसके बदले १२ अ या और ही कुछ कल्पित अंक मिलेगा। एक जगह की बात है

कि एक मकान पर १३ का अंक लिख दिया गया। जब तक वह अंक लिखा रहा, तब तक वह मकान खाली ही पड़ा रहा—उसे किराये पर किसीने न लिया। अन्त में मकान-मालिक को दूसरा अंक रखना पड़ा। सुनते हैं, लन्दन के वेस्ट एण्ड भाग के एक मकान का नम्बर १२ अ के बदले १३ किया जाने वाला है। इस प्रस्ताव को सुनकर वहाँ के लोग बड़ा आन्दोलन करने वाले हैं। वे चाहते हैं कि यह पुरानी प्रथा न तोड़ी जाय। नहीं मालूम, भारत में आये हुए यूरोप वाले भी इस अन्धविश्वास को मानते हैं या नहीं।

(४) जापानी सूत।

जापान ने समुद्र के किनारे उत्पन्न होने वाली एक घास से नया सूत तैयार करने का उपाय ढूँढ़ निकाला है। इसमें पूर्ण सफलता मिल जाने पर, कपड़े की दर में बहुत अन्तर हो जाने की सम्भावना दिखती है। जिस घास से यह सूत निकाला गया है वह जापान के आसपास के समुद्र-तीर पर बहुतायत से होती है। उस घास में थोड़ासा कपास मिला देने से तागा बहुत मजबूत और टिकाऊ होता है। वह घास शरद और शीतकाल में काटने योग्य हो जाती है। अभी तक उससे घोड़ों की पीठ पर बाँधने के कम्बल ही बनाये गये हैं। अब उससे कपड़ा बनाया जाने लगा है। यही है सूक्ष्म निरीक्षण, कठिन परिश्रम और क्रियात्मक ज्ञान का मधुर फल।

(५) विज्ञान की दिगन्त-व्यापिनी शक्ति।

अभी तक लोग केवल यह सुनकर आश्चर्यान्वित होते थे कि एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना किसी अवलम्ब के बेतार का तार कैसे पहुँच जाता है। इस दूरी की सीमा शक्ति के अनुसार अवश्य निश्चित थी; पर अब बिना तार के तार दूसरे ग्रहों तक भेजे जाने का प्रयत्न हो रहा है। यदि वहाँ बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियों का अस्तित्व हुआ, तो उन ग्रहों के रहने वालों से बड़ी आसानी से बातचीत की जा सकेगी।

आकाश में जितने ग्रह, उपग्रह और तारे हैं उनमें से अल्फा सेन्ट्योरी नामक तारा पृथ्वी से लगभग २४,००,००,००,००,००,००० मील है। बिना तार की तारबर्की से ७,६७४ मील की दूरी पर खबर भेजने और उत्तर आने में ·०६६ सेकण्ड समय लगता है। इसी तेजी से भेजे हुए समाचार को अल्फा सेन्ट्योरी तक पहुँचने में ४ साल और ४ मास लगेंगे। विज्ञान की महिमा अपार है! मज़ा तो उस समय आवेगा जब पृथ्वी से भेजे हुए समाचार का उत्तर वहाँ के कोई 'विश्वामित्र' देंगे।

सा हि त्य-सु म न।

(१) वर्तमान युग का राजा विज्ञान।

प्रत्येक काल में किसी न किसी विशेष लक्षण की विचार-प्रणाली की प्रधानता रहती है। भारत के इतिहास को ही लीजिए। विक्रम से ६ वीं सदी पहिले से लगाकर उसके ६ वीं सदी पश्चात् तक बौद्ध धर्म की प्रधानता रही; फिर १५ वीं सदी तक धर्म-विप्लव और स्वार्थ का साम्राज्य रहा; १५ वीं से १८ वीं शताब्दी तक राजपूत-

वीरता ने इतिहास के पृष्ठों पर अपना प्रभुत्व दिखाया। यही हाल संसार के इतिहास का है। कभी कट्टर धार्मिक भाव, कभी तंत्र मंत्र में भक्ति, तो कभी तर्कयुक्त विचारों का प्राधान्य।

वर्तमान काल विज्ञान का युग है। विज्ञान से मनुष्य-जाति का क्या उपकार हुआ है, सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ा है और भविष्य में क्या फल होगा—इन प्रश्नों का उत्तर 'विज्ञान' के सम्पादक प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव ने अपने एक व्याख्यान में पूर्ण विवेचनापूर्वक दिया है। आपका कथन है कि विज्ञान वह विचार-शैली या अध्ययन-प्रणाली है जिसके अनुसार किसी भी विषय का अध्ययन किया जा सकता है। विज्ञान के इस विस्तृत क्षेत्र के कारण ही, न केवल भौतिक और रसायन शास्त्र, किन्तु प्राणि-विद्या, गणित, ज्योतिष, अर्थ-शास्त्र, इतिहास, शिक्षा, यहाँतक कि धर्म भी उसके अन्तर्गत माना जाने लगा है। विज्ञान से देश और काल की दूरी कम हो गई है। जो काम पहिले कठिन परिश्रम से, सैकड़ों मनुष्यों द्वारा, वर्षों में होता था वह अब सरलता से, थोड़े ही मनुष्यों द्वारा, कुछ ही दिनों में, हो जाता है। इन बातों के उदाहरणों की कमी नहीं। पाठकों को रेल, मोटर, वायुयान, अगनबोट, पनडुब्बी जहाज़, बेतार के तार, बिजली के कार्य आदि का परिचय होगा ही। जो चीज़ पहले आँख से दिखाई नहीं देती थी उसे क्या, उसके शतांश और सहस्रांश को भी, अब हम देख सकते हैं। ऐसे ही हमें दूर से दूर की चीज़ देखने में अब कठिनाई नहीं होती। वैदिक ऋषियों के गाये हुए गुणों का अनुभव विज्ञान की सहायता से आज मनुष्य को होने लगा है।

अब भविष्यत् में विज्ञान से स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा के सम्बन्ध में उन्नति पाने की आशा है। ऐसे यंत्र तैयार हो रहे हैं जिनसे ओषधियों के गुण-दोष का ठीक ठीक पता लग सकेगा और जीवाणुओं से बच कर मनुष्य रोगों से मुक्ति पा सकेंगे। फल यह होगा कि मनुष्य सतयुग की नाईं पूरी आयु तक जीवित रह पूर्ण उन्नति कर सकेगा। पर क्या यह सौभाग्य भारत जैसे महर्घता से त्रस्त और महामारियों से ग्रस्त अभागे देश को भी कभी प्राप्त होगा? ईश्वर जाने।

(२) हिन्दी और महात्मा गान्धी।

श्रीमती एनी बेसन्ट ने गत कांग्रेस का बहुत कुछ कार्य हिन्दी में होने के कारण आये दिन के फफोले फोड़ते हुए कांग्रेस की कार्रवाई को सार्वदेशिक न मानकर प्रान्तिक बताया है। श्रीमती के विचारों पर खेद प्रकट करते हुए म० गांधी ने 'यंग इंडिया' में हिन्दी की उपयोगिता ज़ोरदार शब्दों में सिद्ध करके बतलाया है कि भारत की इकतीस करोड़ पचास लाख जन-संख्या में से मद्रास-प्रान्त की केवल तीन करोड़ अस्सी लाख जनता ऐसी है जो हिन्दुस्तानी बोल और समझ नहीं सकती। इस संख्या में आपने मद्रास की मुसलमानी जनता को शामिल नहीं किया है; क्योंकि वहाँ के अधिकांश मुसलमान हिन्दुस्तानी सरलता से समझ सकते हैं। आपने अपना अनुभव बतलाते हुए लिखा है :—

"कांग्रेस के कार्य हिन्दी में हों अथवा अंग्रेज़ी में—इस बात पर मैंने अच्छी तरह विचार किया है। मैंने सैकड़ों प्रतिनिधियों तथा हज़ारों

दर्शकों से इस विषय पर बात-चीत की है। मैंने इतनी अधिक यात्रा की है और इतने अधिक शिक्षित और अशिक्षित मनुष्यों से साक्षात किया है जितना श्रीमती बेसन्ट और लो० मा० तिलक ने भी न किया होगा, और मैं अन्त में इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्थानी—हिन्दी-उर्दू-मिश्रित—भाषा ही ऐसी है जो एक दूसरे प्रान्त के वासियों के विचार-परिवर्तन तथा राष्ट्रीय कार्यों का माध्यम बन सकती है। × × × गत दो वर्षों के पूर्व तक कांग्रेस का कार्य जो अंग्रेजी में होता रहा उससे उसकी अनेक भारी हानियाँ हुई हैं। इसके सिवा मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मद्रास को छोड़ अन्य सभी स्थानों के प्रतिनिधि और दर्शक-गण सदैव अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दुस्थानी अधिक समझ सके हैं। × × × संसार के किसी भी देश में कांग्रेस के समान यदि ऐसी कोई सभिति होती जो प्रतिवर्ष अधिकाधिक उन्नति करती आ रही है, तो वह अपने ३४ वर्षों के कार्य-काल में राजनैतिक शिक्षण का ऐसा प्रचार करती जो घर घर दिखाई देता; क्योंकि मनुष्यों को अपनी भाषा में भिन्न भिन्न प्रश्न उपस्थित करने कुछ भी कठिनाई न जाती। कांग्रेस का गत अधिवेशन चाहे जिस कारण त्रुटि-पूर्ण रहा हो; पर वह अन्य अधिवेशनों की अपेक्षा इस कारण पूर्णतः राष्ट्रीय हुआ है कि उसकी कार्यवाही बहुसंख्यक प्रतिनिधि तथा दर्शकगण अच्छी तरह समझ सके हैं।"

अन्त में, म० गान्धी मद्रास के नेताओं से हिन्दी सीखने के लिए आग्रह करते हैं और श्रीमती बेसन्ट से अपील करते हैं कि जब वे "न्यू इंडिया" पत्र में हिन्दुस्तानी भाषा का समर्थन कर रही हैं, तब वे हमारी बात का समर्थन अवश्य ही करें।

(३) नागरी-लिपि में सुधार की आवश्यकता।

फरवरी, १९२० की 'सरस्वती' में पं० बदरीनाथ भट्ट का उपरोक्त शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्र-भाषा होने की क्षमता रखती है और राष्ट्र-लिपि होने के गुण यदि किसी लिपि में पाये जाते हैं तो वह है नागरी-लिपि। जब यह सौभाग्य नागरी-लिपि को मिल रहा है तब उसके प्रेमियों का यह कर्तव्य होना चाहिए—परम धर्म होना चाहिए—कि वे उसकी इनी-गिनी त्रुटियों को भी दूर कर दें जिससे उस के विरोधियों को फिर नाक-भौं सिकोड़ने का मौक़ा न मिले। भट्टजी ने जिन अक्षरों के सुधार का प्रस्ताव किया है वे इस प्रकार हैं:—

(१) इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ की शकल अि, अी, अु, अू, अे, अै होनी चाहिए जैसी कि व्यञ्जनों मे होती है।

(२) 'ख' में कभी कभी 'र व' का भ्रम हो जाता है। इसलिए उसकी जगह 'ष' से काम लिया जाय।

(३) 'ष' का काम 'श' से लिया जाय; क्योंकि इनके उच्चारण में कोई ऐसा भेद नहीं।

(४) 'ण' जब दूसरे व्यंजनों से मिलाया जाता है तब 'रा' सा मालूम होता है। यह एक आम शिकायत है। उसकी जगह ण का ही प्रयोग जारी किया जाय।

(५) 'ऋ' की कोई आवश्यकता नहीं, 'रि' से सब काम चल सकता है। 'लृ', 'लॄ' की भी अलग आवश्यकता नहीं।

(६) पृ, प्रि, कृ, क्रि, लृ, में से प्रि, क्रि इस प्रकार के ही रूपों का प्रयोग होना चाहिए। 'लृ' की जगह 'लि' और 'श्री' की जगह 'शृी' रूप काम में लाना चाहिए।

(७) त्र, तृ में कुछ भेद नहीं। फिर एक ही क्यों न रखा जाय?

इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता की दृष्टि से ऐसे कई सुधार होना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए नागरी-प्रचारकों को इस ओर विशेष ध्यान चाहिए। अच्छा हो, यदि साहित्य-सम्मेलन की ओर से एक समिति मत-निश्चय के लिए संगठित हो जाय।

(४) चूहों से भारत की हानि।

पूरे बीस साल हो गये जब से भारतवासी चूहों से त्रस्त हो रहे हैं। अभी हाल में, साप्ताहिक "टाइम्स" में एक डाक्टर महाशय ने चूहों द्वारा की गई भारत की हानि का लेखा प्रकाशित किया है जिसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

गत बीस वर्षों में, प्लेग के कारण, १ करोड़ से अधिक मनुष्य मरे। यदि प्रत्येक की औसत वार्षिक आमदनी ३०) मानी जावे, तो २० वर्षों की आमदनी ६००) होती है। इस हिसाब से, १ करोड़ मनुष्यों की मृत्यु के कारण, भारत की आय में ६ अरब की कमी हुई। भारत के घर और बाहर, खेत और खलयान के चूहों की संख्या ८ अरब है! चूहों ने फसल नष्टकर, घर सामान को कतरकर तथा अन्य पदार्थों को खाकर लगभग ६ अरब की हानि की है। इसके सिवा प्लेग को रोकने और पीड़ितों को बचाने के लिए लगभग ४० करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके हैं। इस प्रकार चूहों ने भारत में गत बीस वर्षों में १२ अरब ४० करोड़ की हानि की है!

(५) भारतीय समाज की पुनर्रचना।

"माडर्न रिव्यू" नामक अंग्रेज़ी पत्रिका में स्वनामधन्य लाला लाजपतराय ने "हिन्दुस्थान के समाज की पुनर्रचना" पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। आप कहते हैं—"सब तरह के मानवी संबंधों में पुरुष और स्त्री का संबंध अत्यंत महत्व का है। वह समाज की नींव ही है। इसका आरंभ विवाह से होता है; अतएव सामाजिक प्रथाओं में विवाह की प्रथा अत्यन्त महत्व की है। कुटुम्ब-प्रणाली की वह बुनियाद ही है और कुटुम्ब समाज का आधार-स्तम्भ है।" यूरोपीय देशों में इस विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। इस विषय में सब समाजों के विचार एक से नहीं हो सकते। वे देश और काल के अनुसार बदलते ही रहेंगे। यदि कोई बात किसी देश अथवा काल में नीति-युक्त समझी जावे तो वही दूसरे देश में नीति-विरुद्ध भी समझी जा सकती है। "यदि नीति के नियम बहुत समय तक स्थिर बने रहें तो उससे यह जानना चाहिए कि उन्नति के बदले अवनति का युग आ गया है। × × × नीति गतिमान् है जिसमें उच्च आदर्शों के लोग आगे चले जा रहे हैं और शेष साधारण लोग पीछे चले आ रहे हैं। इतिहास से भी यही सीख पड़ता है। एक ही देश में किसी रूढ़ि का मान सर्वदा

एक सा नहीं रहा—वह सदा बदलती ही गई है । फिर कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पूर्वी और पश्चिमी लोगों की नीति-विषयक कल्पनाएँ भिन्न भिन्न हों और इस कारण वे एक दूसरे को हँसें । अज्ञान और वृथाभिमान के कारण हम दूसरों की नैतिक कल्पनाओं पर हँसा करते हैं । इतिहास से विदित होता है कि वेदकाल की नैतिक कल्पनाएँ महाभारत-रामायण-काल में ज्यों की त्यों नहीं रहीं, और उस काव्य-काल की नीति का पूरा पूरा व्यवहार वर्तमान समय में नहीं पाया जाता । हाँ, यह कह देना उचित है कि आज तक पति और पत्नी का परस्पर-संबंध अपूर्व दृढ़ रहा है ।"

आगे आप फिर कहते हैं—"अपने देश-वासियों के मन में मैं यह अच्छी तरह से जमा देना चाहता हूँ कि पुरुष और स्त्री के संबंध के नियमों में परिवर्तन कर देने में तात्त्विक अथवा ऐतिहासिक किसी भी दृष्टि से अस्वाभाविकता अथवा लज्जा की बात नहीं है । बालविवाह को रोकने का प्रयत्न करना, विधवाओं का विवाह करना, बहुपत्नीत्व का तिरस्कार करना, पति-पत्नी चुनने का अधिकार 'थोड़ा बहुत' वर-कन्याओं को ही दे देना, इत्यादि बातों के संबंध में नैतिक नियमों के परिवर्तन की आवश्यकता ही प्रतीत होती है । × × सब प्राचीन नियमों को अच्छा कहने का प्रयत्न करना व्यर्थ है । इसीलिए इन नियमों को विज्ञान के तत्त्वों के अनुसार निश्चित करना चाहिए । यूरोप और अमेरिका में जो बातें प्रचलित हैं उनकी कोरी नक़ल करना भी ठीक नहीं । प्रत्येक बात का विचार तात्त्विक दृष्टि से होना चाहिए । इस तरह विज्ञान के आधार पर हिन्दुस्थान के समाज की पुनर्रचना होनी चाहिए ।"

(६) हिन्दुस्थान में स्त्रियों का स्थान ।

उपर्युक्त लेख के दूसरे भाग में लालाजी ने "हिन्दुस्थान में स्त्रियों का स्थान" क्या होना चाहिए इस पर विचार किया है । आप कहते हैं—"पुरुष और स्त्री की नाना तरह की विषमता को समझाने का हम कितना भी प्रयत्न करें, तथापि यह बात अमान्य नहीं की जा सकती कि यहाँ पहिले स्त्रियों का दर्जा ऊँचा था और अब कुछ काल से वह बहुत गिर गया है । × × × साधारण स्त्रियाँ अब बहुत गिर गई और गिरी हुई जातियों की तरह उनका भी सामाजिक और नैतिक उद्धार करना होगा । तथापि पुरुष और स्त्री की समता की सभी बातें स्वीकृत नहीं की जा सकतीं । मुझे ऐसा मालूम होता है कि केवल समता की बातें करने वालों के विचार अपूर्ण हैं । स्त्री स्त्री है और पुरुष पुरुष ही । इस कथन का कोई अर्थ नहीं है कि सब बातों में दोनों बिलकुल बराबर हैं । वास्तव में कई बातों में स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ है । माता के निःस्वार्थ, उच्च तथा अनन्य प्रेम से तुलना करने में किस पुरुष का दान, आत्मत्याग और आत्मविस्मरण उसके समीप पहुँच सकता है? उसके हृदय से दया और प्रेम का जो प्रवाह निकलता है, संसार की उत्पत्ति का जो कार्य उस पर रक्खा है वह ही उसे पुरुष की अपेक्षा ऊँचा स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है । साथ ही, प्रभुत्व का जोर, युद्ध करने का शारीरिक बल, राज्य करने की योग्यता, प्रकृति और मनुष्य-समाज पर विजय पाने की क्षमता आदि बातों में पुरुष स्त्री से निश्चयपूर्वक श्रेष्ठ है । "

अपने मत की पुष्टि में उन्होंने हैवलाक इलिस का मत उद्धृत किया है—"पुरुष और स्त्री के शरीर की रचना में जो मुख्य भेद है उससे मज्जातन्तु-मंडल में अंतर अवश्य पड़ता है और मस्तिष्क में विशेष भेद हो जाता है। × × × मातृत्व का कार्य करने से भेद नहीं होता। अवयवों का उपयोग हो या न हो, स्त्री स्त्री ही रहेगी—वह पुरुष न हो सकेगी; क्योंकि अवयव और प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं की जा सकतीं।" आप आगे कहते हैं—"पुरुष और स्त्री की मांस-पेशियों में जो भेद हैं उन्हें भी न भूलना चाहिए। जंगली जातियों में स्त्रियाँ अधिक परिश्रम का कार्य करती हैं, तथापि पुरुष से बल में कभी नहीं बढ़ जातीं। सभ्य जातियों में भी देखा जाता है कि खूब पहलवानी करने पर भी स्त्री पुरुष की समता नहीं कर सकती। यह स्मरण रखने की बात है कि इस जगत में "मजबूत स्त्रियाँ" बहुत कम हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक शीघ्र थक जाती हैं; इसलिए उनसे कम दाम का काम होता है। कहीं कहीं देखा गया है कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक तेज़ होती हैं।" इस संबंध में आप कहते हैं कि "यह अकाल-पक्वता का गुण संशयास्पद है। लड़कियों और लड़कों की मानसिक और शारीरिक गुणों की ओर दृष्टि दी जावे, तो दीख पड़ेगा कि पंद्रह सोलह वर्ष तक लड़कियाँ लड़कों के बराबर ही नहीं, बल्कि उनसे बढ़-चढ़कर रहती हैं। उसके बाद उनकी उन्नति रुक जाती है; परन्तु लड़कों की उन्नति, बिना रुकावट के, होती ही रहती है।"

लालाजी ने अपना तात्पर्य इलिस के ही शब्दों में प्रगट किया है—"पुरुष और स्त्री के मानसिक भेद के संबंध में विज्ञान और प्रत्यक्ष जीवन से जो अनेक बातें मालूम हुई हैं उनसे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तरह से पुरुष और स्त्री में वास्तविक समता है। यह अवश्य दीख पड़ेगा कि स्त्री स्त्री में भेद कम रहता है; पर पुरुषों में नितान्त मूर्ख और अत्यन्त बुद्धि-शाली दोनों तरह के मनुष्य पाये जाते हैं। इसका अर्थ यही है कि उन्नति के नायक बहुधा पुरुष होंगे। सृष्टि में भी यह बात दीख पड़ती है; परन्तु स्त्री और पुरुष का मानसिक भेद उतना ही वास्तविक है। उसका जन्म दोनों की रचना में ही रखा है। इसलिए पुरुष और स्त्री को समान समझने का और स्त्री को पुरुष के ढाँचे में ढालने का कुछ लोगों का प्रयत्न हानिकारक और व्यर्थ भी है। **शारीरिक और मानसिक बातों में स्त्री और पुरुषों में भेद सदैव** ही रहेगा, और वह दोनों की भलाई के लिए ही है। इन्हीं भेदों के कारण वे इस संसार में अनेक कार्य करते हुए एक दूसरे के गुणों का उपयोग करते हैं। इन्हीं भेदों के कारण ही स्त्री और पुरुष के बीच चिरस्थायी आकर्षण बना हुआ है। उन्हें हम बदल नहीं सकते और न बदलने की आवश्यकता ही है।"

अंत में आप सूचना देते हुए कहते हैं—"मैं चाहता हूँ कि स्त्री के अधिकारों की तरफ़दारी करनेवालों ने स्त्री-पुरुष की नितान्त समता स्थापित करने का जो प्रयत्न किया है और उससे जो अनेक भूलें हुई हैं उनसे मेरे देशवासी दूर रहें। मेरा यह कहना नहीं है कि स्त्री को "वोट" के अधिकार न दिये जायें।"

समाज-सुधारकों को इन असली भेदों का स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(७) स्त्रियों के लिये मठ की आवश्यकता।

(स्वामी विवेकानंद की कल्पना)

स्त्रियों के लिए मठ स्थापित करने के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द की कल्पना को सुन कर एक शिष्य ने कहा कि "प्राचीन इतिहास में स्त्रियों के मठ होने की बात कहीं नहीं पाई जाती, केवल बुद्ध-काल में उनके लिए मठ थे; पर परिणाम यह हुआ कि सारे देश में अत्यंत दुराचार फैल गया।"

इस पर स्वामीजी ने कहा—"इस का कारण नहीं जान पड़ता कि इस देश में स्त्री-पुरुषों में इतना अंतर क्यों पाया जाता है। वेदान्त का तो यही मत है कि स्त्री और पुरुष दोनों में एक ही आत्मा का प्रकाश है। तुम स्त्री-जाति पर हमेशा टीका करते रहते हो; पर कहो तो, उनके उद्धार के लिए तुमने किया ही क्या है? स्मृतियाँ लिखकर और कड़े नियम बनाकर पुरुषों ने स्त्रियों को बालक पैदा करने का यंत्र ही बना डाला है। स्त्रियाँ आदि-शक्ति का अवतार हैं और यदि तुम उनका उद्धार न करोगे, तो क्या तुम्हारे पास उन्नति का कोई दूसरा मार्ग हो सकता है?"

शिष्य के पास निरुत्तर का उत्तर प्रस्तुत ही था। उसने कहा कि "यदि स्त्रियाँ बंधन नहीं, तो मनुष्यों के लिए पाश के समान अवश्य हैं। उनकी माया से मनुष्य का ज्ञान और विरक्ति नष्ट हो जाता है। मैं समझता हूँ कि इसी कारण स्मृतिकारों ने कहा है कि उन्हें ज्ञान और भक्ति का लाभ नहीं हो सकता।"

स्वामीजी ने कहा—"किस स्मृति में लिखा है कि स्त्रियाँ ज्ञान अथवा भक्ति का लाभ नहीं कर सकतीं? अधोगति के काल में जब ब्राह्मणों ने अन्य जातियों को वेदों के पढ़ने से वर्जित किया, तब उन्होंने स्त्रियों के भी अधिकार छीन लिये, नहीं तो वेद और उपनिषत्काल में प्रातः-स्मरणीया मैत्रेयी, गार्गी आदि कई ऐसी स्त्रियाँ के नाम मिलते हैं जो ब्रह्मज्ञान और तद्विषयक वाद-विवाद में ऋषियों से किसी प्रकार कम न थीं। जब वे स्त्रियाँ आध्यात्मिक ज्ञान पर प्रभुत्व प्राप्त कर सकीं, तो अब की स्त्रियों को वे ही अधिकार क्यों नहीं रहने चाहिए? जो बात एक बार संभव हो सकी वह फिर भी हो सकती है। इतिहास में वही वही बातें कई बार होती हुई दीख पड़ती हैं। स्त्रियों का सम्मान और सत्कार करने से ही भारतीय राष्ट्र का सिर ऊँचा हुआ था। जिस देश में स्त्रियों का आदर-सत्कार नहीं हुआ वह देश कभी महान नहीं हो सका और न कभी वह इनके बिना ऊँचा हो सकेगा। तुम्हारी जाति जो अधोगति को प्राप्त हुई है उसका मुख्य कारण यह है कि तुम्हारे यहाँ आदि-शक्ति के इस जीते-जागते रूप का उचित सम्मान नहीं होता। मनु ने कहा है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"। इसलिए पहिले स्त्री-जाति का उद्धार करना चाहिए और इस कार्य के सहायतार्थ उनके लिए एक आदर्श मठ बनाने की नितान्त आवश्यकता है।"

विश्व-वैचित्र्य।

(१) नये संसार का पुराना घर।

संसार में ऐसे बहुत कम स्थान होंगे जहाँ साहसी यूरोपियन न पहुँचे हों। अभी तक वे नये नये स्थानों की खोज में अपने अमूल्य जीवन का बलिदान कर देते हैं। कुछ लोगों के मन में आर्कटिक प्रदेश की स्थिति जानने की प्रबल इच्छा हुई थी और सन् १५९६ ईस्वी में एक बहादुर डच नाविक अपने कुछ निडर साथियों को लेकर उस बर्फ के मुल्क में जा पहुँचा।

इस डच जहाजी का नाम बैरेन्ट्स था। वह आर्कटिक नामक उत्तरी ध्रुवप्रदेश के नोवाजेम्बला नामक स्थान में जाड़े के दिनों में पहुँचा। उसके जहाज को बर्फ ने चारों ओर से घेर कर क़ैद सा कर लिया। लाचारी से उन लोगों को जहाज तोड़कर उस की लकड़ी से वहाँ एक घर बनाना पड़ा। वसन्त ऋतु के आने पर भी, जहाज वहाँ से एक इंच नहीं हट सकता था; अतएव सब लोग दो छोटी छोटी नावों में बैठकर बर्फ और समुद्र में १५०० मील की यात्रा करने के लिए घर की ओर रवाना हुए।

बैरेन्ट्स की दशा बहुत बुरी थी। वह मर रहा था; परन्तु उसे अपनी सफलता का बड़ा अभिमान था। उस लकड़ी की झोपड़ी से बिदा होने के पहिले उसने एक पत्र लिखा और उसे एक पीपे में बंद कर झोपड़ी की खिड़की के पास लटका दिया। उसमें लिखा गया था कि वे चीन के राज्य में यात्रा करने के लिए हालैन्ड से कैसे रवाना हुए थे और अन्त में उनका क्या हुआ।

कुछ दिनों के बाद समुद्र-यात्रा के बीच में वह मर गया। उसके साथी घर पहुँचे। वे हालैन्ड की राजधानी अमस्टरडाम की सड़कों में ऊन और लोमड़ी के चमड़े पहिने हुए पहुँचे; क्योंकि उन्हें इन्हीं से जाड़े के दिन काटने पड़े थे। उन्होंने बतलाया कि बैरेन्ट्स ने झोपड़ी की खिड़की में कुछ समाचार रख छोड़ा है।

दो सौ अठत्तर वर्षों के बीत जाने पर सन १८७५ ईस्वी में मिस्टर चार्ल्स गार्डिनर नामक एक अंग्रेज़ मल्लाह नोवाजेम्बला की उसी झोपड़ी में पहुँचे। बैरेन्ट्स के द्वारा खिड़की में जो पीपा रखा गया था उसे उन्होंने निकाला। उसमें वह पत्र सुरक्षित रखा हुआ था जिसे सन् १५९७ में आते हुए डच-वीर ने गर्व-पूर्वक लिखा था।

नार्वे देश के एक प्रसिद्ध जहाज़ी, डाक्टर हाल्टेडा, अब फिर नोवाजेम्बला की ओर गये होंगे। उन्हें खिड़की में या उसके ऊपर कुछ न मिलेगा। हाँ, उन्हें लकड़ी का वह पुराना घर अब फिर से मिलेगा जिसे मनुष्य-हीन ध्रुव-प्रदेश में आधुनिक संसार के एक साहसी जीव ने बनाया था और जो उस प्रदेश में सब से पहिला घर है। हम लोग आजकल लकड़ी के घर बनाने की बातें किया करते हैं। सैकड़ों वर्षों का बना हुआ लकड़ी का एक प्राचीन और ऐतिहासिक घर तैयार रखा है। वहाँ किराया नहीं लगता और वह किसी भी मनुष्य को मुफ्त में दिया जा सकता है। जिसे लेना है वह सीधा वहाँ चला आवे।

(२) सिंह की स्मरण-शक्ति।

सिंह की स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र होती है। वह कई वर्षों के पश्चात् भी अपनी पहचान नि-

काम लेता है। एक सिंह के विषय में लिखा है कि वह मरक्को से लाया जाकर इंग्लैंड में रक्खा गया। वहाँ उसने सात वर्षों के पश्चात् अपनी जान-पहचान के एक अंग्रेज़ को देखा। उसे देखते ही सिंह हर्ष की अधिकता से, पागल सा हो गया। वह मनुष्य उसके पिंजड़े में गया और सिंह दुम दबाये उस के आसपास फिरता और उसके पैरों को चाटता रहा; और जब वह मनुष्य चला गया तो सिंह ने उसके वियोग में चार दिनों तक भोजन नहीं किया।

(३) पैर और पर।

मनुष्य, जानवर और कीड़े के पैर होते हैं। चिड़ियों, कुछ कीड़ों और मछलियों के पर अथवा पंख होते हैं। अत्यंत धीरे धीरे चलने में घोंघी नाम का कीड़ा प्रसिद्ध है। इससे कुछ तेज़ी के साथ केंचुआ चल सकता है। टिड्डी नामक कीड़ा थोड़े भी कष्ट के बिना एक सेकन्ड में तेरह फ़ीट तक कूद सकता है। सैलमन नाम की मछली एक सेकन्ड में पानी में टिड्डे से दूनी चाल के साथ दौड़ जाती है। मनुष्य एक सेकंड में ३० फ़ुट तक जा सकता है। परन्तु उतने ही समय में हरिण ४० फ़ुट और इससे भी अधिक चला जाता है। एक प्रकार की बतक एक सेकंड में डेढ़ सौ फ़ुट उड़ जाती है। परन्तु अबाबिल चिड़िया सब को हराकर बाज़ी मार लेती है—वह प्रति सेकन्ड ढाई सौ फ़ुट के हिसाब से उड़ती चली जाती है। स्मरण रहे कि विशेष दशाओं में ये प्राणी इससे भी अधिक तेज़ी से चल सकते हैं।

(४) कबूतर की डाक।

चिट्ठी पहुँचानेवाले ३ फ़ौजी कबूतर पूना से बँगलोर के लिए छोड़े गये। यात्रा ६२८ मील की थी। एक कबूतर चौथे दिन बँगलोर पहुँचा, दूसरा ७ वें दिन और तीसरा १७ वें दिन। इस बेचारे की टाँग दो जगह टूटी पाई गई। पंख में अठन्नी के बराबर एक गोल सूराख़ हो गया। मालूम होता है, राह में उसपर किसी शिकारी पक्षी ने आक्रमण किया; परन्तु यह वीर चिट्ठीरसा किसी तरह जान लेकर निकल आया। अब उस का इलाज हो रहा है।

विज्ञान-संसार।

(१) हिन्दुस्थान की नदियों का वैज्ञानिक उपयोग।

जब से संसार में विज्ञान के आधुनिक रूप का अवतार हुआ है, तब से मनुष्य की शक्तियाँ दूसरे मार्ग में लगाई जाने लगी हैं और परिश्रम का कार्य प्रकृति के अंगों से लिया जाने लगा है। हिन्दुस्थान सरीखे देश में, जहाँ अभी विज्ञान की केवल प्रातःकिरणें ही दिखाई दी हैं मनुष्यों को विशेष परिश्रम के कार्य से छुटकारा नहीं मिला है। हर्ष की बात है कि यह दशा धीरे धीरे बदलती जाती है।

आजकल भारत के समस्त कल-कारख़ाने लगभग दस लाख घोड़ों की शक्ति से चलाये जाते हैं। इनमें से २,८५,००० घोड़ों की शक्ति भाफ, तेल और जल से निकाली गई बिजली से प्राप्त होती है। केवल जल से

१,७५,००० घोड़ों की शक्ति की बिजली प्राप्त होती है। परन्तु इस जल में भारत की बड़ी बड़ी नदियों में से एक भी नदी सम्मिलित नहीं है। ऐसा अनुमान किया गया है कि भारत के पूर्व भाग में बहनेवाली, हिमालय से निकली हुई सात बड़ी नदियों से, प्रत्येक एक हजार फुट की निचाई पीछे, ३० लाख घोड़ों की शक्ति प्राप्त की जा सकती है; परन्तु खेद की बात है कि उस ओर अभी तक किसी का ध्यान ही नहीं गया। साइन्टिफिक सोसायटी बोर्ड ने तो अपनी रिपोर्ट में यहाँ तक आशा की है कि अकेले ऐरावती और मेलविन से सत्तर लाख घोड़ों की विद्युत शक्ति प्राप्त हो सकती है। बम्बई प्रान्त के लोनभला, अन्धरा घाटी, निल्ला मुला और कोइना घाटी आदि स्थानों में भी जल-शक्ति का उपयोग शीघ्र ही किया जाने वाला है।

(२) मूर्च्छा हटाने में मधुमक्खियों की डाक्टरी।

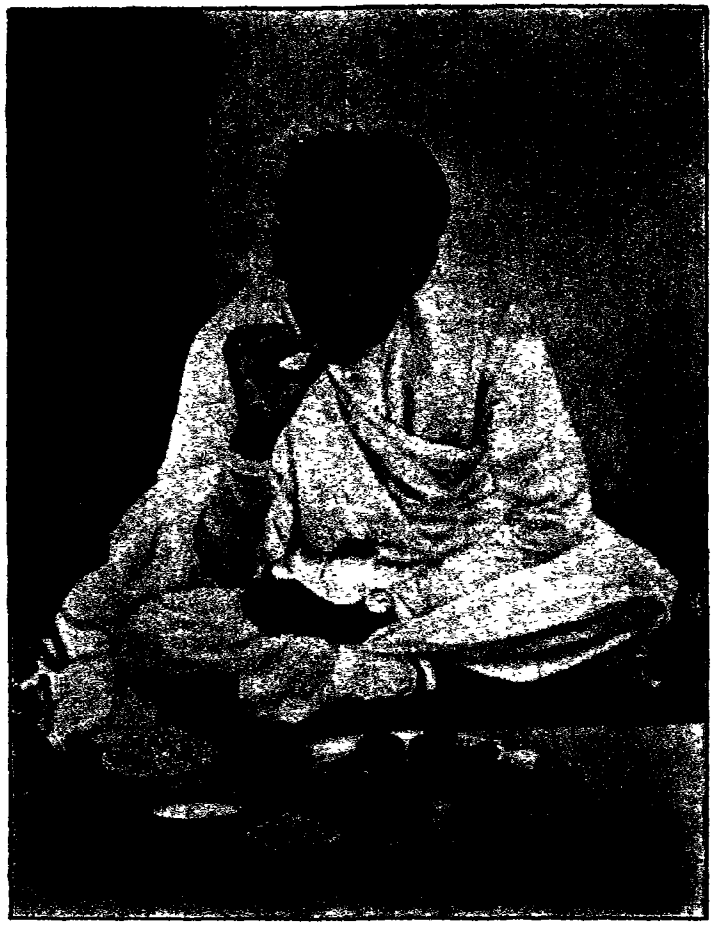
विदेशों में मधुमक्खियाँ शहद के लिए पाली जाती हैं। वहाँ बड़े बड़े बगीचों में मधुमक्खियों के छत्ते बना दिये जाते हैं और मक्खियाँ शहद एकत्र किया करती हैं। भाण्डार भर जाने पर वे दूसरे छत्तों में बसा दी जाती हैं और शहद निकाल ली जाती है। जो लोग मधुमक्खियों को पालते हैं वे उनके अन्यान्य उपयोग भी खोजा करते हैं। यह तो बहुत दिनों से मालूम हो चुका है कि बाय दूर करने के लिए मधुमक्खियों का डंक आश्चर्यजनक कार्य करता है। अब एक दूसरी बात मालूम हुई है। मधुमक्खियों के एक पालनेवाले ने यह प्रकाशित किया है कि मधुमक्खियों के डंक से मूर्च्छा शीघ्र दूर की जा सकती है, उसके लिए दूसरे डाक्टरी उपचार की जरूरत नहीं। यदि किसी का शरीर किसी भीतरी कारण से बहुत शिथिल हो गया है, तो उसमें चैतन्य शक्ति लाने के लिए मधुमक्खी का डंक रामबाण औषध है। अतः अब विदेशों में मधुमक्खियाँ अस्पतालों में भी पाली जाने वाली हैं।

(३) शक्कर का नया गुण।

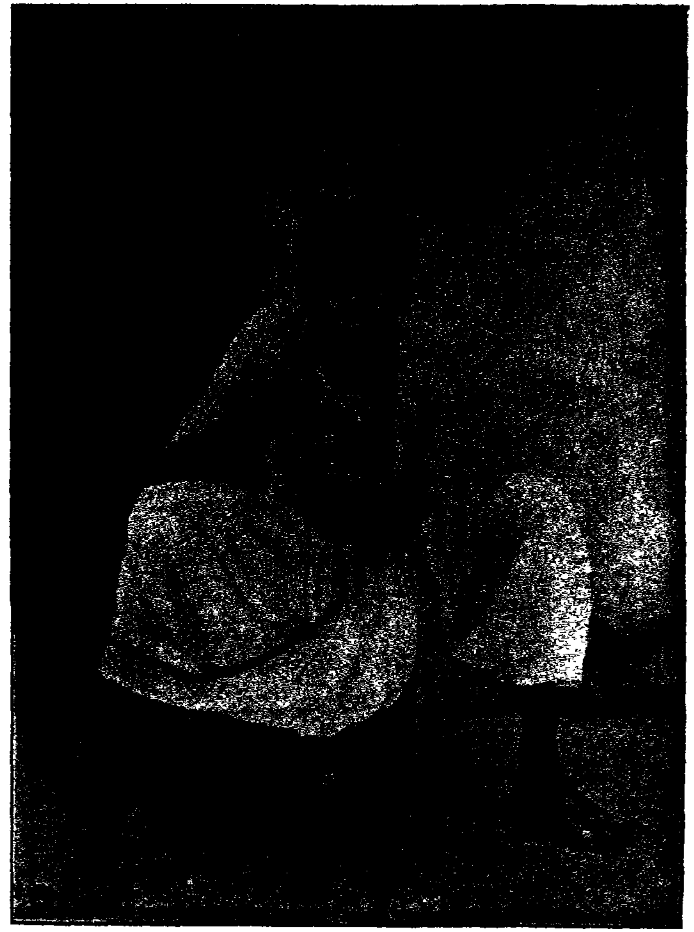
अभी तक शक्कर वस्तुओं को अनेक दिनों तक रखने और खाने के काम में ही आती थी। अब उसका उपयोग घाव अच्छा करने के काम में भी किया जाने लगा है। पशु-चिकित्सा की रिपोर्ट में शक्कर के इस गुण की विशेष प्रशंसा की गई है। दो घोड़ों के गहरा घाव लगा था, यहाँ तक कि स्नायु कट गये थे। घावों को सोडियम क्लोराइड से धोकर ऊपर शक्कर छिड़क दी गई। प्रत्येक पाँचवें दिन शक्कर की नई पुट और नई पट्टी चढ़ा दी जाती थी। फल यह हुआ कि थोड़े दिनों के भीतर घाव बिलकुल अच्छे हो गये।

विचार-वैचित्र्य।

हमारे एक वकील मित्र ने कहा था कि धर्म के हाथ से इस देश का काम करना सहज न होने पर भी आइन की लाठी से यहाँ के लोग सुगमता से हाँके जा सकते हैं। क्योंकि भारत भर में किसी एक ही धर्म की चलती नहीं; किन्तु देश भर एक ही आइन के अधीन है।



दामाद बाबू अपनी
ससुराल में भोजन सूंघ रहे हैं।



वही दामाद बाबू
अपने घर में भोजन कर रहे हैं।

By courtesy of The Ananda Bhandar Publishing House Calcutta

Personated by Dhirendranath Gangopadhyaya.

एक ही ताजीरात हिन्द और मजमूआ जाबता काठमांडू से कुमारी और काश्मीर से कसिया तक का शासन करता है ।

× × × ×

अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग़ है । यदि वह हाथ में है, तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो । यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्रमूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी. एल. की उपाधि देकर अपने को धन्य समझेगा । तुम्हारी रचना में व्याकरण की चाहे जितनी अशुद्धियाँ होंगी, साहित्यिक लोग उसे इस समय का आर्ष-प्रयोग या आदर्श लेख कहकर मान देंगे । तुम अकल के रासभ या बुद्धि के बैल हो, तो भी अर्थ के माहात्म्य से लोग तुमको विचक्षण-बुद्धि-सम्पन्न या प्रतिभा का अवतार कहकर आदर करेंगे । लक्ष्मी की कृपा से तुम्हारे गौरव की सीमा नहीं रहेगी । तुम्हारे चारों ओर अनेक ग्रह उपग्रह आ जुटेंगे और तुमको केन्द्र बनाकर एक नया सौर जगत रच डालेंगे, तथा तुम उनके बीच में मार्त्तण्ड-रूप होकर विराजोगे । विश्व-विद्वेषी खुशामदी तुमको घेरे हुए तुम्हारे सुर में सुर मिलावेंगे और जहाँ संयोग से तुमने जम्हाई ली कि चुटकियों का तार बाँध देंगे । तुम्हारे धूर्त आत्मीय स्वजन तुमको पग पग पर ठगा करेंगे, क्योंकि इसके वे अधिकारी हैं । धोखेबाज तुम्हारे कृती पुत्र को उल्लू बनाकर उससे अनेक हैंड नोट कटाया करेंगे । तुम्हारे अविद्या-मंदिर में बड़ी धूमधाम से बन्दर का व्याह और भूतों के बाप का श्राद्ध होगा; क्योंकि रुपया रहने से यह सब होता है, उसके नहीं रहने से अपने बाप का भी श्राद्ध नहीं होता ।

× × × ×

विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बसु ने सिद्ध किया है कि धातुओं में प्राण हैं—वे सब भी जीते हैं । बस, उनकी बुद्धि-गवेषणा की दौड़ यहीं तक है; पर मेरी गवेषणा से यह पक्का सिद्धान्त हो चुका है कि ताँबा, सोना, चाँदी में केवल जीवनीशक्ति ही नहीं, उनमें ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जिनके बल से वे सब विश्वब्रह्माण्ड को चरखी पर नचा रहे हैं ।

× × × ×

जन्मान्तर-रहस्य जाननेवाले एक सिद्ध साधु ने मुझसे कहा था कि पूर्व जन्म में आदमियों के एक दलने भरपेट अन्न के लिए बारबार वर माँगने जाकर जब विधाता को तंग कर डाला, तब उन्हों ने कहा था "अच्छा, जाओ, तुम लोग मर्त्यलोक में जाकर सम्पादक होओ । जो कुछ तुम लोग लिखोगे वह सब झूठा होने पर भी उसको बेच कर अपना पेट चला सकोगे । तुम में विद्या न होने पर बुद्धि की कमी नहीं होगी ।"

—("गोबरगणेश-संहिता" के कुछ मंत्र)

चित्र-परिचय ।

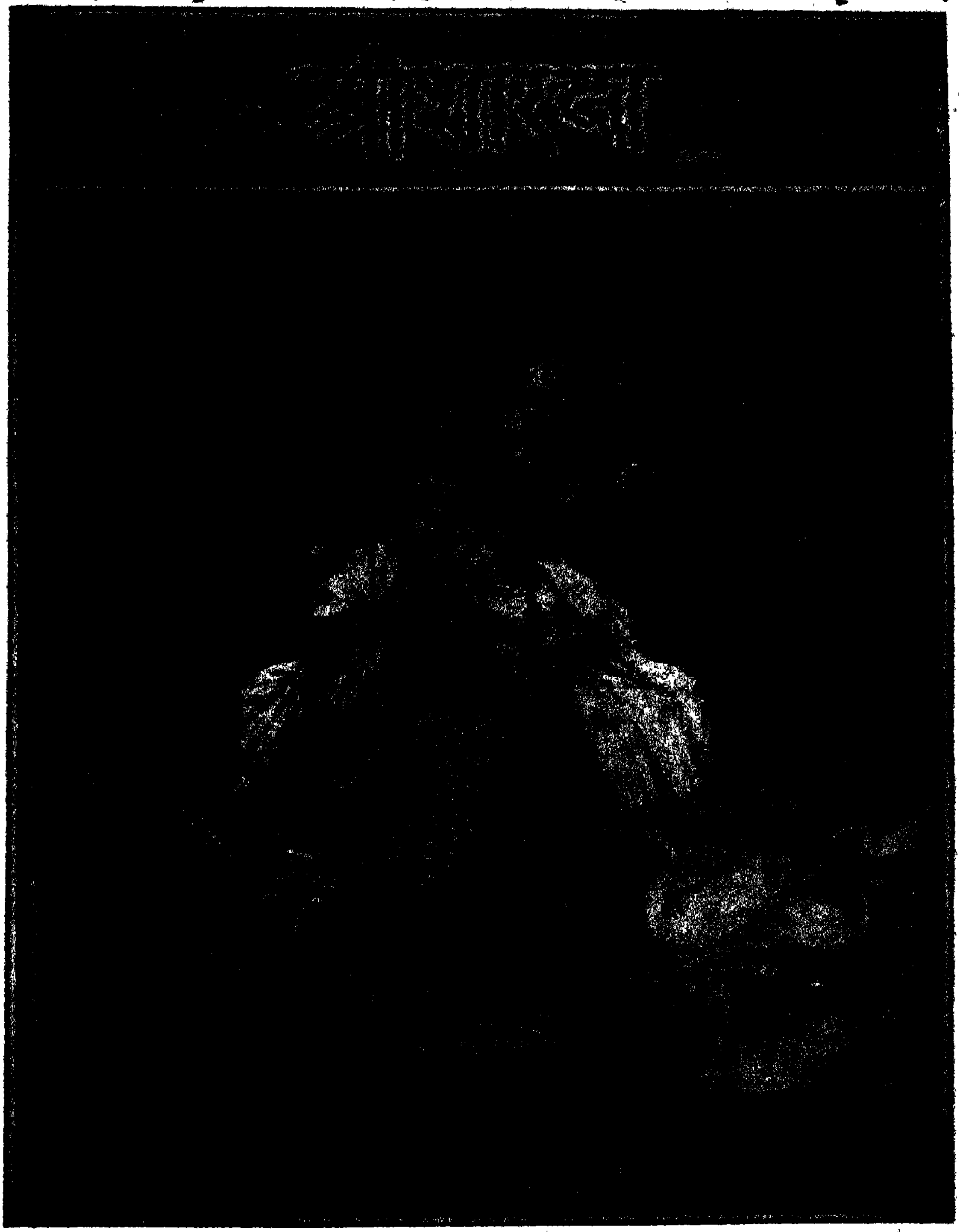
(१) "संगीत" नामक चित्र ओपल ग्लास पर अंकित किया गया है और चित्रकार का कौशल प्रकट करता है । (२) दूसरे ६ चित्र भाव-व्यंजन के संबंध में हैं । भाषा भावों को प्रकट करने का प्रधान साधन मानी जाती है; परंतु मनुष्य के हृदय में कई ऐसे भाव, समय समय पर, उठा करते हैं जिन्हें प्रकाशित करने के लिए भाषा नितान्त असमर्थ रहती है । नेत्रादि-विशेष से ऐसे भाव प्रकाशित किये जा सकते हैं जो दर्शक के हृदय-तल पर पहुँच कर उसकी हृदय-तंत्री

को बजा देते हैं। इस भाव-व्यंजन के लिये भी, अन्य कलाओं की तरह, अभ्यास की आवश्यकता होती है और प्रत्येक मनुष्य थोड़ा सा अभ्यास करके इस मूक भाषा में दक्ष हो सकता है। उस जन की स्थिति सचमुच बहुत शोचनीय है जो नेत्रादि-विक्षेप द्वारा अपने मानसिक भावों को प्रकट करने में असमर्थ है। अस्तु: ये ९ चित्र अमेरिका-प्रवासी बाबू श्रीसुकुमार चट्टोपाध्याय, आइ. जे., के हैं। बाबू सा० का एक लेख "श्रीशारदा" के गतांक में प्रकाशित हो चुका है। इस समय, मूक भाषा के मिष से, आपके चित्र जो "श्रीशारदा" के लिए प्रस्तुत कराये गये हैं इस अंक में प्रकाशित करने में हमें बहुत प्रसन्नता होती है। (३) तीसरे दो चित्र हिन्दू जामाता के कृत्रिम व्यवहार को प्रकट करते हैं। हिन्दू जामाता के ससुराल और घर के व्यवहार में इतना बनावटीपन रहता है कि उसे देखकर हँसी आती है। कुशल इतनी ही है कि नव-परिणय-सूत्र-बद्ध जामाता की यह कृत्रिमता ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों कम होने लगती है।

जबलपुर के शारदाभवन-पुस्तकालय ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

Shri-Sharda-Reg. No. N. 241.

वर्ष १, खण्ड १] ज्येष्ठ, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ३



वार्षिक मूल्य ४)] संरक्षक—श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक

साहित्यशास्त्री नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। एक प्रति का मूल्य ॥) और पुरानी प्रति का ॥।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ॥) भेजना चाहिए अथवा ॥=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर में कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—
प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

लेखकों के लिये—

१—वर्तमान राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—अपूर्ण लेख प्रकाशित नहीं किये जाते हैं। बड़े लेख, स्थान के अनुसार, एक वा एकाधिक संख्याओं में प्रकाशित किये जाते हैं।

५—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिये।

६—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने वा न करने, घटाने वा बढ़ाने, एवं लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

७—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

८—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

९—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

१०—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

११—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिये —

सम्पादक, "श्रीशारदा,"
दीक्षितपुरा, जबलपुर।

विज्ञापकों के लिये—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषय के पहिले और पीछे के ,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

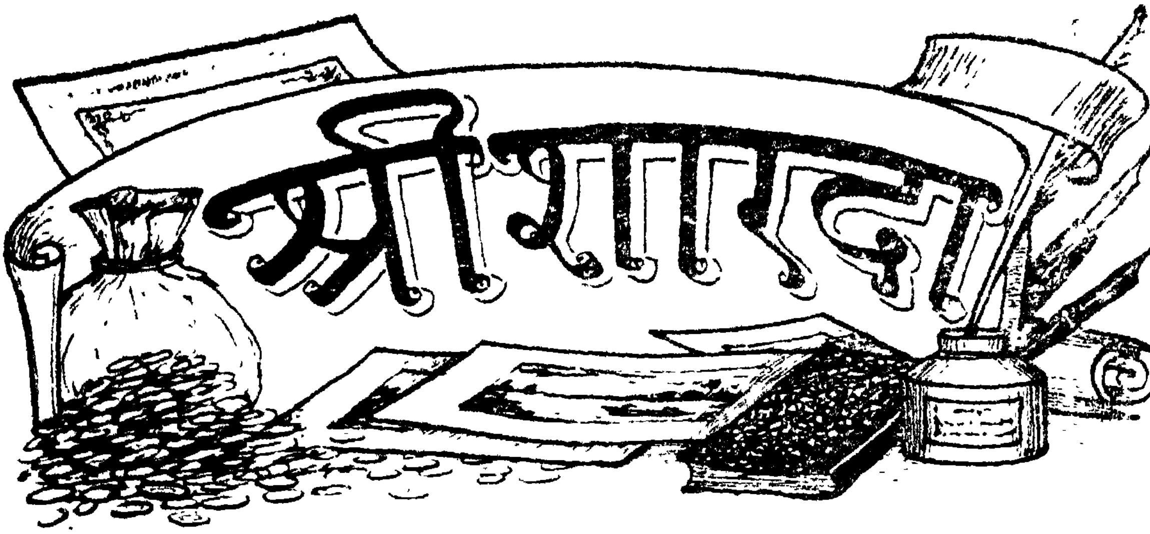
४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिये —
प्रबंधक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

——:०:——



सहसा दर्शन।



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष १, खण्ड १] ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ । १९ मई, १९२० [संख्या ३

मातृ-मूर्ति ।

(लेखक—बाबू रामलाल वर्म्मा बी० ए०)

क्या तुमने मेरी माता का देखा दिव्याकार ।
उसकी प्रभा देखकर विस्मय-मुग्ध हुआ संसार ॥
अति उन्नत ललाट पर हिमगिरि का है मुकुट विशाल ।
पड़ा हुआ है वक्ष-स्थल पर जह्नु-सुता का हार ॥
हरित शस्य से श्यामल रहता है उसका परिधान ।
विन्ध्या-कटि पर हुई मेखला रेवा की जलधार ॥
भव्य भाल पर शोभित होता सूर्य-रश्मि-सिंदूर ।
पाद-पद्म को प्रक्षालित है करता सिन्धु अपार ॥
सौम्य वदन पर स्मित-आभा से होता पुष्प-विकास ।
जिससे सब मलीन पड़ जाते हैं रत्नालंकार ॥
दयामयी वह सदा हस्त में रखती भिक्षा-पात्र ।
जगधात्री, सब ही का उससे होता है उपकार ॥
देश-विजय की नहीं कामना, आत्म-विजय है इष्ट ।
इससे ही उसके चरणों पर नत होता संसार ॥

वर्तमान भारतवर्ष में

मौलिकता का अभाव।

(लेखक—श्रीयुत गुलाबराय, एम० ए०, एल० एल० बी०)

संसार के प्रायः सभी सजीव पदार्थों में आदान—प्रतिदान की क्रिया लगी रहती है। वनस्पति और वृक्ष अपनी जड़ों द्वारा जल, वायु आदि प्राकृतिक तत्वों को ग्रहण करते और उनके बदले में अपने पुष्प, पराग और फल समर्पित कर अपना ऋण चुकाते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि भी अपनी विविध केलियों द्वारा एवं मनुष्य—समाज की सेवा करके अपने को उऋण कर लेते हैं। मनुष्य—समाज में भी यह लेने—देने की क्रिया होती रहती है। जो लोग समाज का अन्न खाकर अपनी क्रियाओं द्वारा अपना ऋण नहीं चुकाते वे अपने को ग्रहण करने के अयोग्य बना लेते हैं। ज्यों का त्यों लौटाना प्रतिदान नहीं—वह तो वमन है। इन्हीं उपमाओं को ज्ञान के क्षेत्र में घटित करते हुए प्रश्न उठता है कि हम प्रतिदान कर रहे हैं या नहीं, और यदि प्रतिदान नहीं कर रहे हैं तो उसका क्या कारण है। फिर उन कारणों को दूर करने के उपाय पर भी विचार करना आवश्यक है।

आजकल अपने देश का ज्ञान—भाण्डार पश्चिम से भरा जा रहा है। कहीं कहीं—विशेष कर धार्मिक और सामाजिक विषयों में—पुराने खजाने ही से काम लिया जाता है। धर्म के बाजार में भी विदेशी सिक्के की कमी नहीं। हमको इस बात की लज्जा नहीं कि हम सामग्री कहाँ से लेते हैं, किन्तु यदि उसके बदले में कुछ नहीं देते हैं, तो सदैव ऋणी रहना हमारे लिए दुःख और लज्जा का विषय है। हम यूरोप का विज्ञान पढ़ते हैं; किन्तु सर जगदीशचन्द्र बोस, डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय आदि दो एक देदीप्यमान नक्षत्रों को छोड़कर भारत का विज्ञान-जगत अन्धकार-मय है। हम इतिहास, राजनीति और समाज-शास्त्र पढ़ते हैं; परंतु सर भाण्डारकर आदि महानुभावों को छोड़कर हममें से ऐसे कितने जन हैं जिन्होंने विदेशी एवं स्वदेशी जनों के ज्ञान-क्षेत्र को अपनी बुद्धि से आलोकित किया है? हम लोग प्राचीन और नवीन लोगों का साहित्य पढ़ते हैं; परंतु हमारे वर्तमान साहित्य में ऐसे कितने ग्रन्थ हैं जो अन्य भाषाओं में अनुवादित किये जाने योग्य हैं? भारतवर्ष की आध्यात्मिकता बढ़ी-चढ़ी समझी जाती है; किन्तु वर्तमान भारतवर्ष में ऐसे कितने विद्वान हैं जिनके नाम बर्गसन वा क्रोचे शिलर वा जेम्स वार्ड के साथ रखे जा सकते हैं? हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि अपने देश में कोई विद्वान हैं ही नहीं। देश में विद्वान् अवश्य हैं, मौलिक लेखक भी हैं; किन्तु न तो उनकी संख्या ही बहुत है और न वे ऐसे सशक्त ही हैं कि वे सारी जाति के ऋण को, केवल अपने परिश्रम से, चुका सकें। तब प्रश्न यह होता है कि यह ऋण किस प्रकार चुकाया जा सकता है। ज्ञान का ऋण ज्ञान की वृद्धि करने ही से चुकाया जाता है; क्योंकि ज्ञान ऐसा पदार्थ नहीं है जो दूसरों को देने से कम हो जावे, प्रत्युत

बढ़ता है। ऋण चुकाने से हमारा भी धन बढ़ता है और सारे संसार का भी। यह ऋण नए आविष्कारों, गवेषणाओं और मौलिक ग्रन्थों के लिखने से चुकाया जा सकता है।

बहुत से लोग इस मौलिकता के अभाव को मानते हुए कहते हैं कि अब मौलिकता के लिए स्थान ही नहीं। जो कुछ लिखा जाना था वह पहिले ही लिखा जा चुका है। अब जो कुछ लिखा जाता है वह पिष्टपेषण मात्र है। वायुयान विमानों की नकल समझे जाते और विकासवाद के लिए उपनिषदों और स्मृतियों से प्रमाण दिए जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रकृतिवाद चार्वाकों और यूनान के डेमोक्राईटस आदि के सिद्धान्तों का रूपान्तर समझा जाता है। कहा जाता है कि बर्गसन हैरेक्लाईटस का अवतार है। शब्दतरंगों की कल्पना वैशेषिक दर्शन में पाई जाती है। ये सब बातें ठीक हैं; किन्तु इनसे नवीनों का गौरव नहीं घटता और न खोज का द्वार ही बन्द हो सकता है। इन लोगों से पूछा जावे कि वह कौनसा समय था जब खोज पूरी हो गई थी। ज्ञान की इतिश्री कौन कर सकता है? हम यह मानते हैं कि यदि पहिले ज़माने में विमान न होते या साहित्य में विमानों का विचार न होता, तो शायद आज कल वायुयान न दिखाई पड़ते। पहिले ज़माने में तोप और बारूद न होती, तो आजकल मशीन गन और बम न होते। यदि उपनिषदों में वेदान्त के सिद्धान्त न होते, तो श्रीशंकराचार्य्य का भी भाष्य न लिखा जाता। यदि हैरेक्लाईटस न होता, तो बर्गसन के सिद्धान्तों का वर्तमान रूप न दिखता। इन सब बातों के मानते हुए भी हम को यह कहना पड़ेगा कि बीज को खाकर फल का स्वाद नहीं चख सकते और न उससे उपजे हुए सघन वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम ले सकते हैं। यद्यपि जिसने पहिले पहल एक साधारण गाड़ी का चक्र बनाया उसकी मौलिकता मोटर-कार के बनानेवाले से कम न रही होगी, तथापि हम उसके कारण मोटर बनाने वाले का तिरस्कार न करेंगे और न आजकल की मोटरों के देखते हुए उस प्रारम्भिक कारीगर की कारीगरी कम समझेंगे। यदि प्राचीन लोगों के नवीन आविष्कार सहायक साधनों के अभाव में महत्व-पूर्ण थे, तो आज-कल के लोगों के आविष्कार और उनकी नवीनता ज्ञान के क्षेत्र की संकीर्णता के कारण प्रशंसा-योग्य है। मौलिकता न तो जैसे का तैसा एकत्र कर लौटा देना है और न बिना किसी साधन और न सामग्री के महल रच देना। मौलिकता वृक्ष की भाँति साधन और सामग्री को अपना रूप देकर नए नए फूल और पत्तियाँ उत्पन्न करना है। वही ज्ञान फलदायक होता है जिसकी जड़ें चारों ओर फैली हुई हों और जो हमारे जीवन में घुल-मिल गया हो। मौलिकता के लिए अब भी बहुत स्थान है और हम को हिम्मत न हारना चाहिए। यदि हम अपने देश में मौलिकता के अभाव के कारणों पर विचार कर उनके दूर करने का उपाय करें, तो असम्भव नहीं कि प्राचीन की भाँति वर्तमान भारतवर्ष भी अन्य देशों में गौरव का स्थान पाकर लौकिक और पारलौकिक ज्ञान का केन्द्र बन जावे।

मौलिकता के लिए स्थान नहीं—इस विश्वास के अतिरिक्त भारतवर्ष में मौलिकता के अभाव के कई एक कारण हैं। उनमें से (१) स्वतंत्रता का

अभाव, (२) समाज की संकीर्णता के कारण भावों का शैथिल्य, (३) धन का अभाव, (४) प्राचीन और नवीन ज्ञान में संबन्ध न होना, (५) मातृभाषा में शिक्षा का न होना, (६) पुस्तक और व्यवहार में अन्तर और (७) गुण की क़दर न करना मुख्य है। अब इनमें से प्रत्येक पर कुछ विचार किया जावेगा।

१. स्वतंत्रता से केवल राजनैतिक स्वतंत्रता ही अभिप्रेत नहीं है। मानसिक स्वतंत्र मौलिकता की मुख्य आवश्यकता है। जब तक हम प्रचलित पथ से अलग होने का साहस नहीं करेंगे तब तक हमको कोई नई बात किस प्रकार दिखाई पड़ेगी? प्रचलित पथ पर चल कर भी बहुत सी नई बातें मिल सकती हैं; लेकिन केवल भेद के भय से सत्य के आलोक को रोक देना श्रेयस्कर नहीं। भेद बुरा नहीं। भेद अच्छी रीति से भी हो सकता है और बुरी से भी। जो लोग केवल स्वतंत्रता दिखलाने के लिए भेद करते हैं उनका भेद ठीक नहीं। स्वतंत्रता पागल मनुष्य में भी बहुत होती है, किन्तु वह अनियमित होने के कारण आदरणीय नहीं। हममें अपने विश्वासों और विचारों को निर्भय होकर प्रकट करने की शक्ति होनी चाहिए—दूसरों की स्वाधीनता का आदर करते हुए अपनी रुचि के अनुकूल चलने का साहस होना चाहिए। इस बात की वर्तमान भारतवर्ष में कमी है। हम विचार में स्वतंत्रता प्रकट करना, धर्म और श्रद्धा के विरुद्ध समझते हैं। हम नियम और पद्धति से इतने बँधे हुए हैं कि हमें बन्धन का टूटना बुरा मालूम होता है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि नियम मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य नियम के लिए। हमारे शिक्षालय भी हमारी व्यक्तिगत रुचि की ओर ध्यान नहीं देते हैं। वे शिक्षा-विभाग के बनाए हुए कड़े ढाँचे में हमको ढालना चाहते हैं। यदि हमको गणित में रुचि है, तो हम उस रुचि के अनुकूल गणित में ही पूरा ध्यान नहीं दे सकते। जिस चीज़ से हमारी रुचि नहीं वह भी कायदे की पाबन्दी के लिए हम को पढ़ाई जाती और हमारा समय वृथा नष्ट किया जाता है। इस प्रकार प्रायः सभी बड़े आदमियों को अपने शिक्षालयों से लड़ाई लड़ना पड़ी है। यद्यपि कायदे की पाबन्दी के द्वारा हमको आत्म-संयम का अच्छा अभ्यास हो जाता है, तथापि यह हमारी मौलिकता नाश करने के लिए बहुत अंश में उत्तरदायी है। हमारी स्वतंत्रता में प्राचीनता और नवीनता दोनों ही बाधा डाल रही हैं। जिस प्रकार हम प्राचीनता के भय से नवीनता की ओर नहीं जाते उसी प्रकार नवीनता के भय से प्राचीनता को दूर से हाथ जोड़ रहते हैं। हम में सत्य की छाया होती है। हम स्वयं अपने लिए विचार नहीं करते। यदि हम प्राचीनता के उपासक हैं, तो जो कुछ प्राचीनों ने कहा है वह पत्थर की अमिट लीक है और यदि हम नवीनता के भक्त हैं तो जो कुछ यूरोपवाले कहते हैं वह ब्रह्मवाक्य है—उसमें अक़ल को दख़ल नहीं। हम दूसरों के द्वारा विचार करते हैं। वास्तव में यह विचार करना नहीं है—यह विचार की हत्या है, अपने आप अपनी स्वतंत्रता पर कुठाराघात करना है। यद्यपि यह बात ठीक है कि हम को विदेशी शासन में रहकर दूसरों के विचारों का सहारा लेना पड़ता है, तथापि यदि हम अपनी स्वतंत्रता को काम में लाना चाहें, तो हम

के लिए कोई क़ानूनी बाधा नहीं। अभी तक विदेशी अध्यापकों ने भारतीय विषयों पर विचार कर उनको जो क्रमबद्ध किया है उसके लिए हम उन अध्यापकों के बड़े अनुगृहीत हैं; किन्तु यदि हमको भारत से मौलिकता को नष्ट नहीं करना है तो जितने अधिक भारतवासी अध्यापन-कार्य्य में लगाए जावें, उतनाही अच्छा है। आशा है कि नवीन-शासन-योजना में इस बात पर पूरा पूरा ध्यान रक्खा जावेगा।

(२) साहित्य, भावों का ही उत्तमरूप में व्यञ्जन है; किन्तु जब भावों का अभाव है तो केवल बड़े शब्दों से ही साहित्य-भाण्डार नहीं भरा जा सकता है। आजकल का समाज ऐसा संकीर्ण होता जाता है कि जिसमें भावों के लिए बहुत कम स्थान है। जिन उच्च भावों से प्रेरित हो प्राचीनों ने अपनी रचना की है उनका अब नाम भी नहीं। न अब वह भक्ति है, और न वह उदारता है; न वीरता है और न वह आत्म-अभिमान। फिर आजकल रोटी का प्रश्न इतना कठिन होकर हमारे सारे मानसिक संस्थान पर आक्रमण किए हुए है कि उसमें और कोई भाव जीवित ही नहीं रहने पाते। इसीके साथ हम कारण नं. ३ पर विचार करलें तो अच्छा होगा। "अहो निर्धनता सर्वापदास्पदं," जब मनुष्य को अवकाश और स्वतंत्रता हो, तभी साहित्य और संगीत सूझता है। यह बात ठीक है कि लोग धन के होते हुए भी उसका उचित उपयोग नहीं करते; किन्तु बिना धन के तो कुछ काम ही नहीं चलता। जब तक बड़े बड़े पुस्तकालय और प्रयोगशालाओं के बनवाने में धन न खर्च किया जावे, जब तक बड़े बड़े कारखाने न खोले जावें, जब तक विद्वानों को नए नए आविष्कारों के लिए धन नष्ट करने को न दिया जावे, तब तक मौलिक ज्ञान की उन्नति होना कठिन है। इन सब बातों के लिए धन चाहिए। पहिले तो यहाँ धन की कमी है और जहाँ धन है उन लोगों को इन बातों में धन खर्च करने का साहस नहीं। आध्यात्मिक उन्नति धन के बिना भी हो सकती है; किन्तु भौतिक उन्नति और भौतिक ज्ञान का विस्तार धन खर्च किए बिना नहीं हो सकता। जैसा उद्देश्य हो वैसे ही साधन चाहिए। यद्यपि हम इन बातों में धन नहीं खर्च करना चाहते हैं तो भी हमको यूरोप की भौतिक उन्नति के लिए मात्सर्य्य न होना चाहिए।

(४ और ५) हमारा ज्ञान विदेश से आता है। वह यहाँ पर दूसरी जगह से उखाड़े हुए वृक्ष की भाँति यहाँ पर जड़ नहीं पकड़ता है। हमारे प्राचीन ज्ञान का पौधा जिसकी जड़ें सारे भारतवर्ष में फैली हुई है कुछ काल से सूख सा गया है। उस पर बाहर से लाकर फल और पत्तियाँ चढ़ा दी जाती हैं जिससे वह थोड़ी देर के लिए शोभा तो अवश्य बढ़ाता है; परंतु बिना फल उत्पन्न किये नष्ट हो जाता है। प्राचीन ज्ञान का वृक्ष निर्जीव नहीं हो गया है। यदि उसका सिञ्चन किया जावे, तो वह फिर हरा-भरा होकर अपनी छाया और फलों से देशी और विदेशी सभी की तृप्ति किया करे। न तो हम यह करते हैं कि प्राचीन वृक्ष को सींच कर हरा-भरा करें और न यही करते हैं कि अपनी भूमि को सुधार कर उस में नए बीज बोएँ। हम नये जमाये वृक्ष विदेश से उखाड़ लाते हैं और यहाँ पर लगा देते हैं। इसी से हमारा ज्ञान फलवान् नहीं होता। पूर्वार्जित ज्ञान

का हम लाभ नहीं उठाना चाहते और नवीन ज्ञान हमारे मानसिक संस्थान में शीघ्र जड़ नहीं पकड़ता। इसीलिए हमारे आज कल के ज्ञान में उन्नति-क्रम नहीं दिखाई पड़ता। जो ज्ञान बढ़ता नहीं है उसको जीवित नहीं कह सकते। हमारे पूर्व और वर्तमान ज्ञान में कोई सम्बन्ध नहीं। हम लोगों ने इतना भी कष्ट नहीं किया कि पुराने में ही नए की क़लम लगा देते जिससे नया भी बढ़ने लगता। इस प्राचीन और नवीन ज्ञान में सम्बन्ध न होने के कारण प्राचीन भी नष्ट सा होता जा रहा है और नवीन भी हाथ नहीं आता। जब तक हम अपने ज्ञान को सजीव न बनावेंगे, तब तक वह हमारे लिए लाभदायक नहीं हो सकता। हमारे अनुवाद-कर्त्ता-गण भी विदेशी ज्ञान को अक्षरशः भाषान्तरित करके रख देते हैं और इसी लिए वह हिन्दी पढ़े हुए लोगों की समझ में भली भाँति नहीं आता। हमारे मानसिक संस्थान में जड़ पकड़ने के लिए दोनों बातों की आवश्यकता है। पहिली तो यह कि हमारा ज्ञान उस भाषा में रक्खा जावे जिस में हमारे और सब विचार हों और हमारे नवीन ज्ञान का प्राचीन ज्ञान से सम्बन्ध होवे क्योंकि जिस रीति से हम विचार करते आये हैं यदि उसी रीति और पद्धति से नया ज्ञान मिले तो वह अवश्य ग्राह्य बन जावेगा। विचार-परम्परा में नए ज्ञान को मिला देने से वह हमारी समझ में शीघ्र ही आ जावेगा यद्यपि लकीर का फ़कीर होना अच्छा नहीं, तथापि हमको यह बात माननी पड़ेगी कि अपने पूर्वजों के ज्ञान से हमारा सम्बन्ध टूट नहीं सकता——वह हमारे शारीरिक और सामाजिक व्यवहारों में गुथा हुआ है। जिस प्रकार हम प्राचीन ज्ञान से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकते उसी प्रकार हम अपनी मातृभाषा से अपने विचार को अलग नहीं कर सकते। यह नहीं हो सकता कि पुस्तकें पढ़ें किसी भाषा में और उनपर विचार किसी अन्य भाषा में करें। इसके अतिरिक्त जब तक ज्ञान सार्वजनिक न हो जावे, तब तक उससे हम को पूर्ण लाभ नहीं हो सकता। ज्ञान को सार्वजनिक बनाने के लिए हमको उसे मातृभाषा में रखना परमावश्यक है। ज्ञान के सार्वजनिक न होने के कारण ही हमारे ज्ञान और व्यवहार में अन्तर पड़ जाता है।

(३) जो लोग जानते हैं वे उसको व्यवहार में नहीं लाते और जो व्यवहार में लाते हैं वे सिद्धान्त को नहीं जानते। यदि ज्ञान मातृभाषा में दिया जावे तो हाथ से काम करनेवाले लोग भी अपने कामों के मूल सिद्धान्तों को समझ सकें और उनके आधार पर नए नए आविष्कार कर सकें। यदि क्रिया-कुशल लोग ज्ञानी हो जावें तो ज्ञान और क्रिया दोनों की उन्नति हो जावे। सिद्धान्त के ज्ञान बिना उन्नति नहीं हो सकती और बिना क्रिया के ज्ञान स्पष्ट नहीं हो सकता।

सिद्धान्त और क्रिया—कुशलता में भेद होने होने का एक यह भी कारण है कि हम लोग परीक्षाएँ केवल नौकरी प्राप्त करने ही के अर्थ पास करते हैं। हम पहिले से यह निश्चय नहीं करते कि हमको क्या करना है; पर परीक्षा पास कर लेते हैं। हम विज्ञान पढ़ते हैं, किन्तु मुन्सिफ़ी और सब-जजी में विज्ञान का कोई काम नहीं पड़ता। हम साहित्य में एम० ए० पास करते हैं;

परंतु परीक्षा पास करने के बाद एक भी ग्रन्थ उठाकर नहीं देखते। हम पुस्तकावलोकन करते हैं, किन्तु पुस्तकों के सिद्धान्तों को समाज में चरितार्थ होते हुए नहीं देखना चाहते। हम बी० ए० में अर्थशास्त्र इसलिए नहीं पढ़ते कि उसका उपयोग हम बाद में करेंगे, बरन इस लिए कि वह विषय परीक्षा के लिए सुलभ है। यदि हम उच्च शिक्षा पाते हैं, तो केवल इसीलिए कि हमें कोई उच्च पद मिल जावे। यदि उच्च पद न मिले तो वकालत तो अशरणों की शरण और गतिहीनों की परम गति है। ऐसी अवस्था में ऋषि-ऋण चुकाने की आशा करना वृथा है।

अन्त में, यह बात भी बतलाना आवश्यक है कि जहाँ गुण है वहाँ उसकी पूरी तौर से क़दर नहीं होती, इसीलिए गुण का ह्रास होता जाता है। साधारण लोगों में ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिन को यदि उचित सहायता और उत्तेजना दी जावे, तो संसार में अपना नाम पैदा कर सकें, किन्तु "घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध"। दूसरे देश के साधारण लेखकों की प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते हैं और अपने देशी लोगों के उद्योग का तिरस्कार किया जाता है। भारत में गुणी लोगों की कमी नहीं है। जिस देश में कपिल और कणादि हो गए हैं वह देश मौलिकता-शून्य नहीं हो सकता। हमें चाहिए कि गुण की तलाश में रहें और उसकी क़दर कर उसको बढ़ावें। किसीने ठीक कहा है कि 'गुण न हिरानो गुण-ग्राहक हिरानो है'।

रुपयों और नोट-चलन की रक्षा के लिए सरकारी कोश।

(लेखक—श्रीयुत कत्तोमल, एम० ए०)

भारतवर्ष में प्रायः रुपयों और नोटों का चलन है। एक रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी होती है और १५ ग्रेन मेल (अर्थात् अन्य धातु)। इस प्रकार रुपया १८० ग्रेन का होता है जो एक तोले के बराबर है। भारतवर्ष में अरबों रुपयों का प्रचार है और सरकार इन्हें अपनी टकसालों में ढाल कर देती है। जब चाँदी सस्ती थी, अर्थात् ॥-) या ॥=) तोला थी, तो सरकार को रुपये में अधिक से अधिक ॥) या ॥-) की चाँदी लगानी पड़ती थी और फ़ी रुपया।=) या।≡) का फ़ायदा होता था। इस प्रकार सरकार को करोड़ों रुपयों का मुनाफ़ा हुआ। यूरुपीय युद्ध के कारण चाँदी मँहगी हो गई और यहाँ तक मँहगी हुई कि उस की क़ीमत दुगुनी और तिगुनी बढ़ गई। सन् १९१५ में चाँदी का भाव लंदन में २७ १/५ पेन्स फ़ी औन्स था। सन १९१९ के दिसम्बर मास में यह भाव ७८ पेन्स हो गया। हाल में ही चाँदी का भाव ८६ पेन्स तक हो गया था। ऐसी दशा में रुपये बनाने में सरकार को टोटा पड़ा और इस समय भी पड़ रहा है; क्योंकि चाँदी अभी सस्ती नहीं हुई है। यह टोटा सरकार एक फ़ण्ड या कोश से पूरा करती है जिसका नाम "गोल्ड स्टेन्डर्ड रिज़र्व" अर्थात् "सोने का कोश" है। यह कोश इसी उद्देश से बनाया

गया है। रुपया ढालने से जितना मुनाफ़ा सरकार को होता गया है वह सब इसी कोश में जमा होता रहा है। इस कोश में नवम्बर, सन १९१९ को ३,७४,३८,३१७ पौण्ड जमा थे। यदि पौण्ड की क़ीमत १५) समझी जाय जैसी कि पहले थी, तो उसकी रक़म ५६,१५,७४,७५५) रु० हुई। यह रक़म सोने—चाँदी में नहीं है, बल्कि सूदी क़र्ज़ के काग़ज़ों में, जिनका वार्षिक सूद इसी रक़म में जमा होता रहता है। यह कोश अब तक लंदन में रहा है; लेकिन अब ऐसी तजवीज़ है कि इस कोश की आधी रक़म सोने के रूप में हिन्दुस्थान में रहा करे।

इस कोश के बनाने और रखने के मुख्य दो उद्देश्य हैं—एक यह कि चाँदी तेज़ होने के कारण रुपया बनाने में जो टोटा पड़े वह इससे पूरा किया जाय; दूसरा उद्देश्य यह है कि रुपये और पौण्ड के परस्पर भाव में, अर्थात् एक्सचेञ्ज रेट में हिन्दुस्थान से विलायत को सरकारी ख़र्च के लिए रुपया भेजने में यदि कमी पड़े तो वह इस से पूरी की जाय। पहले पौण्ड का भाव १५) था। अब सरकार ने पौण्ड का भाव १०) बाँधा है। कोश में जो रक़म है वह १५) पौण्ड के हिसाब में है, अर्थात भारतवर्ष को इस कोश में पौण्डों की क़ीमत के काग़ज़ ख़रीदने में १५) फ़ी पौण्ड के हिसाब से जमा देनी पड़ी थी। इस समय १०) का पौण्ड रह जाने से इस कोश की ⅓ रक़म कम हो गई है, अर्थात अब यह रक़म सिर्फ़ ३७,४३,८३,१७०) रुपयों की है। इस तरह सरकार को १८,७१,९१,५८५) रुपयों का घाटा है। यदि यह कोश भारतवर्ष में होता और इसमें नियमानुसार सोना, चाँदी अथवा रुपयों की क़ीमत के सूदी काग़ज़ होते तो यह घाटा नहीं होता। चाँदी का भाव तेज़ हो जाने से सरकार को जो नुकसान रुपया बनाने में पड़ता है उसकी रक़म इसी में से देनी होती है। भारत-सरकार प्रायः अंगरेज़ी व्यापारियों को विलायत में हुण्डियाँ बेच रही है जिसे reverse councils रिवर्स कौन्सिलस कहते हैं और बड़ा नुकसान उठा रही है। उसकी रक़म भी इस कोश के सिर लादी जाती है। इस तरह यह कोश दिन प्रति दिन क्षीण होता जाता है। इस क्षीणता का वेग तभी बन्द होगा जब एक्सचेञ्ज का भाव स्थिर हो जायगा और चाँदी सस्ती हो जायगी। यदि सरकार रिवर्स कौन्सिल बेचना बन्द करदे, तौभी इस कोश की रक़म का घटना बहुत कुछ बन्द हो जाय। यद्यपि यह कार्यवाही सरकार की करेन्सी रिपोर्ट के विरुद्ध है, तथापि न मालूम, सरकार ऐसा क्यों कर रही है।

भारतवर्ष में करोड़ों रुपये के नोट जारी हैं। नवम्बर, सन १९१९ में १,७९,६७,००,०००) रु० के नोट जारी थे। युद्ध के समय चाँदी तेज़ होने तथा रुपये की अधिक माँग होने से, सरकार को बहुत कुछ नोट जारी करके काम चलाना पड़ा था। नोट कई रक़मों के हैं, जिनमें से अधिकतर ये हैं—१) का नोट, २॥) का नोट, ५), १०), ५०), १००), १०००) और १०,०००) के नोट। पहले लोग नोट लेने से हिचकते और उसको अविश्वास की दृष्टि से देखते थे; पर अब यह बात नहीं है। अब सब स्थानों और सब तरह के मनुष्यों में नोट का चलन है। जिस समय १) का नोट प्रचलित हुआ था तो लोगों ने भयंकर आन्दोलन किया

था और उसमें तरह तरह के दोष निकाले थे; पर अब इसी नोट को सब लोग लेते-देते हैं और किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं है।

बहुतेरे मनुष्यों का ऐसा ख्याल है कि सरकार नोटों को सिर्फ़ काग़ज़ पर छाप कर लोगों का धन ले लेती है और जितना धन इस तरह वसूल कर लेती है उसको फिर सोने-चाँदी में वापिस करने के लिये पास कुछ नहीं रखती। यह बात बिलकुल झूठ और अप्रामाणिक है। जितनी रक़म के नोट सरकार निकालती है उतनी रक़म की पूँजी अपने पास रख लेती है जिससे यदि सब नोट भी उस के पास चुकाये जाने को आवें तो वह उनकी भुगतान कर दे—उनमें किसी तरह का टोटा न हो।

इस सम्बन्ध में सरकार ने एक कोश बना रक्खा है जिसका नाम Paper Currency Reserve (पेपर करेन्सी रिज़र्व) अर्थात् नोट-सम्बन्धी कोश है। इस कोश में उतने रुपयों के मूल्य की पूँजी रहती है जितने के नोट प्रचार में रहते हैं।

अभी ऊपर कह आये हैं कि गत नवम्बर मास में १,७९,६७,००,०००) रु० के नोट प्रचार में थे। इस रक़म की पूँजी नोट-सम्बन्धी कोश में इस भाँति थी :— ४९,६७,००,०००) रु० का सोना-चाँदी, २०,००,००,०००) रु० के भारत-सरकार के सूदी क़र्ज़े के काग़ज़ और १,००,००,००,०००) रु० के ब्रिटिश राज्य के सूदी क़र्ज़े के काग़ज़। इस कुल पूँजी में कुछ ऊपर ३३) रु० फ़ी सैकड़ा सोना-चाँदी की रक़म थी। अब विचार यह है कि इस पूँजी में से ४०) सैकड़े की रक़म तो सोना-चाँदी में रहे, और बाक़ी ६०) सैकड़े की रक़म सरकारी क़र्ज़े के सूदी काग़ज़ों में, जिसे लौटा देने की मियाद एक वर्ष से अधिक न हो। दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ७१,८७,००,०००) रु० की रक़म तो सोना-चाँदी के रूप में रहे, २०,००,००,०००) रु० भारत-सरकार के सूदी काग़ज़ों में और ८७,८०,००,०००) रु० ब्रिटिश राज्य की अन्य गवर्नमेण्टों के सूदी काग़ज़ों में।

इस कोश में जितनी पूँजी है वह १५) पौण्ड के हिसाब से है। अब पौण्ड का भाव १०) हो गया है; इसलिए १०) रु. के भाव से हिसाब करने पर उसमें ३८·४ करोड़ का घाटा आता है। यह घाटा इकदम पूरा नहीं हो सकता है; पर होम चार्जेज़, अर्थात् विलायत में सरकारी ख़र्चे की रक़म जो प्रतिवर्ष हिन्दुस्थान से जाती है उसके भेजने में एक्सचेञ्ज का भाव तेज़ होने से मुनाफ़ा होता रहेगा और इस प्रकार कुछ वर्षों में यह घाटा भर जावेगा। इस कोश की पूँजी भी लंदन में ही रहती है; पर अब ऐसा विचार है कि इसमें से सोना, चाँदी और भारत सरकार के सूदी काग़ज़ों की पूँजी हिन्दुस्थान में ही रहे और बाक़ी लंदन में।

रुपये की रक्षा के सुवर्ण-कोश और नोट-सम्बन्धी कोश—इन दोनों में २,३५,८२,७४,७५५) रु. की पूँजी है। एक्सचेञ्ज का भाव तेज़ होने से और पौण्ड की क़ीमत अब १५) के बदले १०) स्थिर करने से इस पूँजी में $\frac{1}{3}$ अंश का घाटा हो गया है। यह घाटा पूरा होना अति कठिन है। भारत-वासियों का कहना है कि भारत का इतना धन विलायत में क्यों रक्खा जावे। यह सब रक़म भारत-सरकार की ही है। उसका इसी

देश में रहना अत्यावश्यक है । इसको लंदन में रखने का कारण यह बताया जाता है कि इस पूँजी की अधिकांश रक़म सरकारी क़र्ज़े के सूदी काग़ज़ हैं जिनको बेचने तथा जिनपर सूद वसूल करने में लंदन में ही सुविधा हो सकती है। सोना-चाँदी भी लंदन के ही द्वारा आता है; इस लिए इसके ख़रीदने और बेचने में भी वहाँ ही सुभीता पड़ता है । यह कथन किसी अंश में ठीक है; पर भारतवासियों को तो संतोष इसीमें है कि यह सब पूँजी भारत में ही रक्खी जावे और इसमें जो कुछ थोड़ी बहुत अड़चन पड़े उसे भारत-सरकार ही उठावे; पर यह धन रहे यहाँ ही ।

भारतवासियों का यह भी कहना है कि यदि यह पूँजी भारत में रहती और सोना-चाँदी, मकान, ज़मीन आदि के रूप में होती अथवा रुपये की क़ीमत के काग़ज़ों में होती, तो भारत-सरकार को इन कोशों के सम्बन्ध में इतना घाटा नहीं होता । यह कथन भी किसी अंश में ठीक है ।

हर्ष की बात है कि अब ऐसा निश्चय हुआ है कि इन कोशों की पूँजी का लगभग आधा भाग सोना, चाँदी और भारत-सरकार के सूदी काग़ज़ों के रूप में भारतवर्ष में ही रहे । देखें, यह बात कार्य-रूप में कब परिणत होती है ।

पारदा शारदा ।

(लेखक—पण्डित नाथूराम शंकर शर्म्मा)

(दोहा)

शंकर स्वामी हो जिसे, सुमति-शारदा सिद्ध ।
छोड़ उसे पूजे किसे, मान प्रधान-प्रसिद्ध ॥ १ ॥

(षट्पदी)

शंकर शुद्ध-चरित्र, बुद्धि सुविचार प्रचारे ।
सुन्दर-देह-पवित्र, क्रियाकर बल विस्तारे ॥
शुभ-समृद्धि-सम्पन्न, विलास-विभूति बगारे ।
लब्ध-प्रतिष्ठ प्रसन्न, प्रशंसा सुयश पसारे ॥
कुल-भूषण गौरव देशका, दान-वीर सुप्रसिद्ध हो ।
शुभचिंतक प्रजा प्रजेश का, सुमति-शारदा-सिद्ध हो ॥ २ ॥

आकांक्षा ।

(लेखक—' भारतीय आत्मा ')

निशिदिन बीते जहाँ दीनता से—दाँवों से ।
दूषित सा हो रहा समय-शर के घावों से ॥
नहीं जानता रिझा सकूँ कैसे हावों से ।
कैसे पूजूँ तुम्हें देव ! दुर्बल भावों से ॥

यह जीवन—काग़ज का कुसुम
मैं फेंक चुका लाचार हो ।
क्या विनय करूँ, साहस नहीं,
श्रीचरणों में स्वीकार हो ॥

महाभारत नाटक।

(लेखक—पं० शालग्राम द्विवेदी, विशारद)

काव्य साहित्य का प्रधान अंग है। उस के दो भेद होते हैं—(१) श्रव्य, और (२) दृश्य। दृश्य काव्य ही नाटक कहाता है। आजकल यह बात किसी से छिपी नहीं कि देश के उत्थान में नाटक कितना भारी कार्य करते हैं। इसीलिए साहित्य में नाटक गौरव की वस्तु माने जाते हैं। भारतेन्दु-काल के पहले यद्यपि दो चार हिन्दी नाटक वर्तमान थे; किन्तु हिन्दी साहित्य में पहले प्रसिद्ध नाटककार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही गिने जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आपके नाटकों का प्रभाव हिन्दी-भाषा-भाषियों पर बहुत अधिक पड़ा और "सत्य हरिश्चन्द्र" तो बहुत ही अधिक लोक-प्रिय हो गया है।

वर्तमान साहित्य-सेवियों द्वारा लिखित नाटकों में, रंगभूमि पर खेले जाने और लोक-प्रिय होने की दृष्टि से, जहाँ तक देखने और सुनने में आया है, प्रकाशन-तिथि के विचार से, पं० बदरीनाथ भट्ट कृत "चन्द्रगुप्त नाटक" का स्थान पहला है। इस नाटक पर सम्मति खँडुवे की "प्रभा" में निकल चुकी है। दूसरा नाटक जो इस गणना में आता है, पं० माधव शुक्ल रचित "महाभारत नाटक" है। इसके बाद और भी कुछ मौलिक नाटक प्रकाशित हुए हैं; पर यहाँ उनपर विचार नहीं करना है। आज इसी "महाभारत नाटक" का परिचय जो इन पंक्तियों के लेखक को इस नाटक के दो चार अभिनयों में सम्मिलित होने पर, अपने मित्रों की सम्मति तथा स्वयं अपने अनुभव से, प्राप्त हुआ है पाठकों की सेवा में अर्पित किया जाता है। स्पष्टता और विचार-क्रम की दृष्टि से परिचय तीन भागों में विभक्त कर लिया गया है—(१) अभिनय-सम्बन्धी, (२) लोक-प्रियता-सम्बन्धी, और (३) साहित्य-सम्बन्धी। फिर प्रत्येक के कुछ कुछ उपांग है जो यथा-स्थान सम्मिलित किये जायँगे।

अभिनय-सम्बन्धी।

अंक—

नाटक के अंकों की संख्या तीन है जो बिलकुल ठीक है। आजकल अब वह पुरानी प्रथा नहीं रही जब कि रात रात भर खेल होता था और सात सात अंक दिखाए जाते थे। अंकों की संख्या ठीक रहते हुए भी नाटक का विस्तार कुछ अधिक हो गया है। पूरा नाटक क्राउन अठपेजी पुस्तक के १०९ पृष्ठों में समाप्त हुआ है जिनमें से प्रथम अंक में ३३ पृष्ठ, द्वितीय में ३२ और तृतीय में ४४ हैं। पूरे नाटक के अभिनय में लगभग ४ घण्टे लग जाते हैं, और यदि नाटक में बतलाए हुए प्रत्येक संकेत का पूरा पूरा पालन किया जाय, तो ४½ घण्टे से कम नहीं लगते। इतना समय अधिक मालूम होता है। यद्यपि नाटक तथा कथा-प्रसंग की विशेषताओं और तृतीय अंक के अन्तिम गर्भांक की खूबियों के कारण दर्शकों के मन नाटक का अन्त देखने के लिए जबरदस्ती रुके रहते हैं, तथापि नाटक का विस्तार कुछ अधिक अवश्य हो गया है। इसके सिवा एक बात यह भी है

कि दर्शकों के मन आरम्भ में ताज़े रहते हैं और फिर धीरे धीरे शिथिल होते जाते हैं। इसलिए नाटकों में यह ध्यान रखा जाता है कि पहला अंक बड़ा हो, दूसरा उससे छोटा और तीसरा उससे भी छोटा। यदि यह बात ठीक मान ली जाय तो कहना होगा कि पहले और दूसरे अंक का विस्तार एक बराबर है और तीसरे का तो दोनों से बहुत बढ़ गया है, जैसा कि ऊपर दी हुई पृष्ठ-संख्या से विदित होगा। ऐसा मालूम होता है कि इस दोष को कम करने के लिये गर्भांक की संख्या प्रत्येक अंक के अनुसार कम रखी गई है जिसका विशेष विचार गर्भांक के अन्तर्गत किया जायगा।

गर्भांक—

पहले अंक में आठ गर्भांक हैं, दूसरे में पाँच और तीसरे में तीन। जब कि आरम्भ में दर्शक-गण के चित्त ताज़े रहते हैं, तब बार बार पर्दा गिरना मन को नहीं खटकता; पर ज्यों ज्यों मन आलस्य के वशीभूत होता जाता है, त्यों त्यों यह बात अधिक नहीं रुचती। यह नियम घटना-क्रम पर विशेष अवलम्बित रहता है, और घटना-क्रम देखने से मालूम होता है कि गर्भांकों की संख्या बहुत ठीक रखी गई है।

दृश्यों का प्रबन्ध—

इसमें प्रायः कोई त्रुटि दिखाई नहीं देती। सब ही बड़ी खूबी से रखे गये हैं। जहाँ पर्दा उठना चाहिए वहाँ उठता है और जहाँ गिरना चाहिए वहीं गिरता है। जो बात जहाँ उचित है वह उसी दृश्य में दिखाई गई है। दृश्यों की कठिनाई पाँच जगह आती है। पहली, भूमिका में, जहाँ सरस्वती एक ज़ोर के शब्द के साथ पर्दे के फटने से प्रकट होती हैं; दूसरी, लाक्षागृह का जलता हुआ दृश्य दिखाने में; तीसरी, मय दानव की बनाई हुई युधिष्ठिर की सभा दिखाने में; चौथी, द्यूत-भवन की सजावट और दर्शकों की बैठक जमाने में; और पाँचवीं, द्रौपदी का वस्त्र खींचते समय एक जोर के शब्द के साथ पर्दे के फटने से श्रीकृष्ण भगवान के प्रकट होने में। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ये सब दृश्य साध लिये जायँ, तो नाटक की वह शोभा दृष्टिगत होती है जो देखते ही बनती है—वर्णन नहीं की जा सकती। इन दृश्यों के सजाने में समय लगता है; इसीलिए नाटक में विशेषता यह रखी गई है कि रंगस्थल पर मार्ग और जंगल के दृश्यों में, जहाँ सजावट की ज़रूरत नहीं होती, नाटक-प्रसंग चला करता है और भीतर इन कठिन दृश्यों की तैयारी हुआ करती है। इस काम को यथेष्ट समय देने के लिए जो गर्भांक बढ़ाये गये हैं वे कथा-भाग में बिलकुल 'फ़िट' कर दिये गये हैं; जैसे, पहले अंक में लुहार, बढ़ई आदि का आना; द्वितीय अंक में युधिष्ठिर की सभा के पहले डोकरी तथा ब्राह्मण का दृश्य दिखाना; ऐसे ही तृतीय अंक में द्यूत-भवन के पहले शकुनि का पाँसों की प्रशंसा करना और विदुर का शोक प्रकट करना। कहीं तो इनसे मनोरञ्जकता बढ़ाई गई है और कहीं कथा-भाग में खूबी।

पात्रों का प्रवेश—

नाटक में प्रवेश कहीं सभ्यता से, कहीं तेज़ी से, कहीं उजड्डपन से और कहीं मित्रभाव सूचित करते हुए होता है। पुरोचन दुर्योधन के पास सेवक-भाव से आता है; अतएव उसके प्रवेश में

शिष्टता दिखाई गई है । श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास मित्रभाव से पहुँचते है, तो वहाँ स्वच्छन्दता प्रकट की गई है । वृद्ध सभासद मन्त्रणा देने जाते हैं, तो वहाँ गम्भीरता भासित होती है । कहीं भी बात नहीं खटकती । कभी किसी को बुलवाना होता है, तो दूत बुलवाया जाता है । नाटक में दो स्थल ऐसे हैं जहाँ पात्रों की संख्या रंगभूमि पर खूब इकट्ठी होती है । एक तो जब धृतराष्ट्र पाण्डवों को राज्य देने की मन्त्रणा करते हैं, और दूसरे जब सब द्युत-भवन में खेल देखने जमा होते हैं । पहले में तो संख्या केवल ९ रहती है; पर दूसरे में, नौकरों को मिलाकर लगभग २० हो जाती है । यदि ये सब पात्र पर्दा उठने के बाद प्रवेश करते हैं; तो अवश्य गड़बड़ मचती है । पहले में केवल ७ पात्र प्रवेश करते हैं और उसका प्रबन्ध किसी प्रकार हो सकता है; पर दूसरे में १३ पात्रों का प्रवेश दिखाया जाता है और उसमें भी कोई पैदल है, तो कोई नालकी पर । राजा-महाराजा, मंत्री-गण या दूसरे सभासद किस प्रकार आते हैं, यहाँ यह बतलाने की विशेष आवश्यकता नहीं दीखती, खासकर जब कि दो तीन कौरवों को छोड़ सभी जानते थे कि जो कार्य होनेवाला है वह निन्दनीय है । यदि सब पहले से ही बैठे दिखाये जाते, और केवल पाण्डवों के साथ विदुर का प्रवेश कराया जाता, तो ठीक होता । ऐसा करने से लगभग आधे पात्रों का प्रवेश कम होजाता और सुन्दरता भी नष्ट न होती ।

बातचीत—

इसमें दोष वहीं दिखाई देता है जब किसी पात्र का भाषण बहुत अधिक बढ़ जाता है । यद्यपि सूचकों (प्रामटर्स) से सहायता मिलती है; पर लम्बे भाषणों में, बिना अच्छी तरह याद हुए, काम नहीं चलता । फल यह होता है कि या तो पात्रों की बातचीत में नीरसता आ जाती है, या सूचकों की ज़रा सी भी असावधानी पर पात्र अटपटा जाता है । "महाभारत" में यह त्रुटि नहीं होने पाई । कुछ भाषण ऐसे हुए हैं जो बड़े मालूम पड़ते हैं; पर उनमें सरसता लाने और पात्र उनको याद रख सकें इसके लिए यह विशेषता कर दी गई है कि आठ दस पंक्तियों में गद्य-भाषण होने के बाद छै आठ पद्य-पंक्तियाँ रख दी गई हैं । जहाँ पात्र एकान्त में भाषण करता है वहाँ भाषण कुछ बड़ा भी हो, तो दर्शकों का चित्त नहीं ऊबता । "महाभारत" में रंगमञ्च पर कई पात्रों के रहते हुए, बातचीत में कुल तीन भाषण बहुत बड़े आये हैं—कुन्ती—पृ० ३५, ३६; कृष्ण—४२, ४३, ४४; और द्रौपदी—९९, १०० । ये तीनों लगभग दो दो पृष्ठों के हैं । इनमें से द्रौपदी का भाषण लम्बाई के विचार से ठीक है; पर यह उचित नहीं जान पड़ता कि केशाकर्षण के समय वह कविता में रोना रोवे । कुन्ती और कृष्ण के भाषण सचमुच कुछ बड़े हैं, यद्यपि दोनों भाषणों में बीच बीच में पद्यांश रख कर त्रुटि दूर की गई है । यह मानना होगा कि जिस अवस्था में ये भाषण कराये गये हैं उसमें कुछ बड़े भाषण कराने की ज़रूरत है; और इसलिए भी ज़रूरत है कि उन दोनों पात्रों से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश दिलाया जाता है; पर दो दो ढाई ढाई पृष्ठों के नहीं ।

गान—

इसके सम्बन्ध में नाटककार ने भूमिका में लिखा है—" नाटक में गाने कम रक्खे गये

हैं; जो हैं वे भी **प्रायः नेपथ्य से** या **कुछ पात्रों के मुख से** भी हैं, क्योंकि मेरी दृष्टि से नाटकों में **अधिक गान होना क्रम के विरुद्ध** है। पुस्तक में गानों की **संख्या लगभग २० है,** जो किसी भी हिसाब से **कम** नहीं जँचती। अब नाटकों में राम-लीला या नौटंकी के समान गानों की अधिकता नहीं पसन्द की जाती। यद्यपि गाने भावपूर्ण और प्रसंगानुकूल हैं, तो भी महाभारत सरीखे वीर-रसपूर्ण नाटक में इतने अधिक गानों की आवश्यकता नहीं। **नेपथ्य से** कुल तीन गाने गवाये जाते हैं, **और पात्रों के मुख से** ११; शेष गायकों आदि से। समाविष्टित प्रहसन में डोकरी से और लुहार, बढ़ई आदि से गान गवाना बहुत ही उचित हुआ है। ऐसे ही कृष्ण को बिदा करते समय द्रौपदी का और पाँसा खेलने जाते समय शकुनी का गान बहुत ही उपयुक्त है। नेपथ्य और गायकों के दो एक गाने खूब तुले हुए हैं। निस्सन्देह गाने ऐसे ही होना चाहिए। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ दो एक गाने अन्त में दिये गये हैं। नाटक के आरम्भ में गुरु द्रोणाचार्य की स्तुति का गान दर्शकों के चित्त पर अपूर्व प्रभाव डालता है। जंगल में भीमसेन से वीर से गान कराना बिलकुल ठीक नहीं दीखता। ऐसे ही कुछ दूसरे गाने भी खटकते हैं।

लोक-प्रियता-सम्बन्धी।

कथा-भाग—

भारत की प्राचीन सम्पत्ति में से रामायण और महाभारत ऐसे ग्रन्थ हैं जो आज दिन भी मुरझे पौधों को प्रफुल्लित करते हैं। ऐसे ग्रन्थों से चुना हुआ कथाभाग दर्शकों को क्यों न मनो-रञ्जक और रुचिकर होगा? सम्पूर्ण महाभारत कई खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, किन्तु यदि कौरव-पाण्डवों का मुख्य मुख्य भाग लिया जावे, तो उसके कम से कम दो खण्ड अवश्य करना होंगे। नाटककार ने कदाचित् इसी विचार से प्रथम भाग में कौरव-पाण्डवों की युद्ध-शिक्षा में कुशलता प्राप्त कर चुकने से लगाकर द्रौपदी का वस्त्रापहरण और भगवान् कृष्ण का सहायक होने तक दिखलाया है। ऐसा करने से मुख्य मुख्य घटनाएँ भी नहीं रह जाती और सम्बन्ध भी पूरा बना रहता है।

नाटक का 'प्लाट' ढूँढ़ने में सचमुच ही बड़ी विद्वत्ता से काम लिया गया है। जितनी मुख्य घटनाएँ हैं वे एक भी नहीं छूटने पाई, सभी ले ली गई हैं। तीनों अंक विशेष घटनाओं के साथ समाप्त होते हैं। पहला लाक्षागृह के जलने से, दूसरा युधिष्ठिर का यज्ञ समाप्त हो चुकने पर बिदा होते समय द्रौपदी द्वारा कृष्ण की आरती उतारने से और तीसरा साड़ी के बढ़ने और कृष्ण के प्रकट होने से समाप्त होता है। कथाभाग के आधार के संबंध में नाटककार भूमिका में लिखते हैं— "पुस्तक की भाषा तथा प्रसंग ढूँढ़ने में मुझे श्रीमान पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की महा-भारत से कहीं कहीं सहायता लेनी पड़ी है।"

नाटक के आरम्भ में यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुसार नटी और सूत्रधार की बातचीत कराई गई है; पर यदि नवीन नाटकों के अनुसार गुरु द्रोण की स्तुति से ही नाटक आरम्भ किया जावे तो उससे किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाती; प्रत्युत ऐसा देखा गया है कि उसकी

सुन्दरता और भी बढ़ जाती है। नाटक के अन्त में कुछ विशेषता लाने के लिए कथा-भाग में मन-चाहा परिवर्तन कर दिया गया है; जैसे, महाभारत में द्रौपदी के सभा में आने के बाद उसके प्रश्न का उत्तर विकर्ण देता है; पर उसपर ध्यान न देकर दुर्योधन साड़ी खिंचवाता है। साड़ी के बढ़ने पर द्रौपदी के प्रश्न पर फिर विचार किया जाता है और दुर्योधन अपनी उदारता दिखाता है; पर सबको चुप देख द्रौपदी को बाँई जंघा पर बैठने का इशारा करता है। नाटक में नाटकीय खूबी लाने के लिए तीन प्रश्नों की सृष्टि की जाती है और दुर्योधन को नीचा दिखाया जाता है। विकर्ण द्रौपदी के प्रश्नों पर अपनी सम्मति देता है और कर्ण उसकी बात का खण्डन कर पाण्डवों के दुपट्टे उतरवाता है। दुर्योधन जंघा पर बैठने का इशारा करता है और भीमार्जुन प्रतिज्ञाएँ करते हैं। महाभारत में केवल भीम की प्रतिज्ञा का उल्लेख है और वह भी वस्त्र-हरण के बाद। इसके बाद नाटक में आकाशवाणी बतलाई गई है जो उपयुक्त जान पड़ती है, फिर वस्त्र-हरण होकर कृष्ण का प्रकट होना बताया जाता है और यवनिका का पतन होता है। महाभारत में कृष्ण वस्त्रों के रूप में प्रकट होते हैं और धृतराष्ट्र द्वारा द्रौपदी को वरदान दिये जाने पर इस अनार्य कार्य का अन्त होता है। यह सब परिवर्तन नाटकीय दृष्टि से ठीक हुआ है। मत-भेद केवल दो एक बातों में रह जाता है। पहली तो यह कि द्रौपदी के प्रश्न पर भीष्म से कुछ नहीं कहलाया गया। कदाचित् इसका यह कारण है कि जिस महाभारत ग्रंथ का आधार लिया गया है उसमें भी भीष्म से कुछ नहीं कहलाया गया। श्रीशरच्चन्द्र सोम द्वारा प्रकाशित महाभारत में भीष्म द्रौपदी के प्रश्नों पर दो बार बोलते हैं और अपनी अनिश्चित सम्मति भी देते हैं। अच्छा होता यदि किसी एक स्थान पर भीष्म की उदासीनता बतला दी गई होती। दूसरी बात यह कि श्रीकृष्ण द्रौपदी के निकट प्रकट न कराये जावें। पिछले पर्दे के बीच में ऊपर की ओर एक खिड़की में से श्रीकृष्ण अपने हाथों में अनेक प्रकार के वस्त्र सरकाते हुए दर्शकों को दिखाई दें और द्रौपदी स्तुति में मग्न हो जाय, पाण्डव आँखें बन्द करलें और कौरव आश्चर्यान्वित हों। इतने परिवर्तन से महाभारत की बात भी रह जाती है और अन्त की खूबी भी कम नहीं होती; परन्तु यहाँ यह कहना होगा कि यह सब रुचि की बात है। साथ ही यह भी बतलाना पड़ता है कि मित्र-मंडलियाँ ऊपर बतलाये हुए संकेतों का पालन आसानी से कर सकती हैं, उन्हें नाटक में बताये हुए अन्तिम संकेतों के पालन में अवश्य कठिनाई जाती है। हाँ, एक बात और रह गई। नाटक में विकर्ण का नाम पढ़कर या सुनकर यह बात नहीं मालूम होती कि वह धृतराष्ट्र का पुत्र था। उसमें बहुत कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि वह या तो विकर्ण का छोटा भाई था या कोई और। जब दर्शकों को यह मालूम हो जावे कि विकर्ण दुर्योधन का छोटा भाई है और न्याय का पक्ष ले रहा है तो वे उसके विषय में कितना ऊँचा ख़याल न करेंगे? इसलिए उसके सम्बोधन में कहीं ऐसा बतलाया जाता जिससे वह कौरव-वंशीय जान पड़ता। ऐसे ही धृतराष्ट्र, शकुनि और कर्ण से दुर्योधन का नाम सुयोधन कहलाना चाहिए। नाटक में मनोरञ्जकता लाने के लिए

पहले और दूसरे अंक के बीच में प्रहसन का समावेश कर दिया गया है जिससे मनोरञ्जकता के सिवा प्रहसन की घटनाएँ यथार्थ सी जान पड़ती हैं।

पात्रों का चरित्र-चित्रण—

नाटककार ने जैसा भूमिका में दिखाया है ठीक वैसाही चरित्र-चित्रण किया है; केवल पृष्ठ ६२ पर भीम से दीनता के साथ आशीर्वाद चाहने की इच्छा प्रकट कराई है, जो ठीक नहीं मालूम होती। समस्त महाभारत में भीम ने कभी दीनता प्रकट नहीं की और न किसीका अनुग्रह चाहा। उन्हें हमेशा अपने बल का भरोसा और अभिमान रहा है। दुर्योधन का ईर्षा स्वभाव, शकुनि का बात बात में कपटी भाव, भीम का स्वत्वाकांक्षित्व, विदुर का सत्संरक्षित्व और कृष्ण की सच्ची हितैषिता जगह जगह बतलाई गई है। पात्र के पद के प्रतिकूल कुछ भी नहीं कहलाया गया।

नाटक का गौण उद्देश्य—

नाटक में गौण रूप से दर्शकों के मन में जिन भावों के उद्दीपन करने का प्रयत्न किया गया है उनमेंसे ये बहुत स्पष्ट मालूम होते हैं—स्वदेशाभिमान, स्वत्वाकांक्षा, प्राचीन आदर्श पुरुषों के प्रति श्रद्धा, बड़ों का आज्ञा-पालन, स्पष्ट-वादिता, जुएँ से अरुचि, छल—कपट से घृणा, मातृ-भक्ति, कृष्ण-भक्ति, स्त्री-सम्मान, परिस्थिति के अनुसार धर्म में परिवर्तन, संकट में धैर्य, सन्मार्ग का अवलम्ब, धर्म के प्रति प्रेम और नाटक का उत्तेजन।

साहित्य-सम्बन्धी।

भाषा—

भाषा सर्वांग-सुन्दर और मुहाविरेदार है। कहीं कहीं कुछ बड़े वाक्य आये हैं जो भाषण में खटकते हैं; पृष्ठ १० में ७ पंक्तियों का एक वाक्य, पृष्ठ २१—२२ में ७ पंक्तियों का, पृष्ठ २४ में ६ पंक्तियों का, पृष्ठ ४९—५० में ६ पंक्तियों का, पृष्ठ ६८ में ७ पंक्तियों का, इत्यादि। पद्यांश में तो कुछ कहनाही नहीं है। नाटककार स्वयं एक उत्तम नट और कवि हैं। पद्यांश में खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों का उपयोग किया गया है, कहीं यह तो कहीं वह। किन्तु यहाँ यह बात कहनी होगी कि नाटक में पद्यांश आवश्यकता से अधिक हो गया है। पुरानी प्रथा को जाने दीजिए; आजकल वाक्य के वाक्य, भाषण के भाषण पद्य में सुनाना बेमेल दीखता है। कदाचित इस अधिकता का कारण यह मालूम होता है कि नाटककार एक सिद्ध-हस्त कवि हैं। कहीं कहीं पद्यांश इतना अच्छा लिखा गया है कि हृदय फड़क उठता है और मुँह से धन्य धन्य कहे बिना नहीं रहा जाता। इसके कुछ उदाहरण पाठकों को आगे मिलेंगे। प्रहसन में आये हुए कुछ पात्रों से देहाती बोली में बातचीत कराई गई है जो बहुत स्वाभाविक और भली मालूम होती है। भाषण के बीच में कहीं कहीं संस्कृत के कुछ मुहाविरे रख दिये गये हैं जिनमें से दो चार ये हैं—न खलियं वीर-गता वसुन्धरा, शुभस्य शीघ्रं, त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।

व्याकरण—

गद्य—पद्य दोनों अंशों में व्याकरण की कुछ भूलें बहुत खटकती हैं; यथा, 'विजय लंका पर

पाया' पृष्ठ १५; 'देह तपाया' पृष्ठ १५; 'उन्हींने पाया उन्नति'; पृष्ठ १५; 'हंसी नो नहीं किया है' पृष्ठ ६०; 'दुर्योधन के आँखों में' पृष्ठ ६६; 'हार भी मान लिया है' पृष्ठ १०१; 'तेरे इसी जाँघ को' पृष्ठ १०७; इत्यादि।

अन्य बातें—

प्रूफ संशोधन की कुछ भूलें ऐसी रह गई हैं जिनके कारण कहीं 'परदा' गिरता है, तो कहीं 'पर्दा' उठता है।

चुने हुए गान और पद्य।

१—(गायकों द्वारा मोहनी) पृष्ठ १८—

साधु चरित विमल ज्योति, करत चहुँदिस प्रकाम।
घन नक्षत्र बीथिन बिच, बिहरत जनु चन्द्र हास॥
दुर्जन हिय बदन ग्राम चाहत नित निन्द बिनाम।
किन्तु साधु जस समीर, व्याप करत लै सुवास॥

२—पृष्ठ ११—कुपथ मत जाना ए रणधीर।
छनभंगुर ये शरीर, तोक तकदीर नहीं जागीर॥ कुपथ०
मानव में गुण, सत्य यही है, सत्य बिना नर मनुज नहीं है।
ज्यों मोती में नीर॥ कुपथ०

३—पृष्ठ ३६-हा! माता पर कष्ट देख बैठे सुख करना।
धिक् उस नर का खाना, पीना, मस्त बिचरना॥
आत्म-दशा का ज्ञान नहीं जिस नर के भीतर।
उसकी भी क्या है मनुष्य में संज्ञा क्षिति पर॥
उस विधि के साँचे में सभी, हैं एक रीति से ही ढले।
यह स्वार्थ भरा अन्याय है, एक दुखी एक फूले-फले॥

४—पृष्ठ ६२-हो जावे संसार चहो विपरीत तुम्हारा अपकारी।
अन्यायी हो क्यों न शत्रु लै शस्त्र खड़े हों दल भारी॥
जग की सारी शक्ति स्वार्थ बस, चहो एकमय हो जावे।
सत्यमार्ग में चहो तुम्हारे रिपुदल कण्टक बन जावे॥
किन्तु जब तलक तुम पाँचों में प्रबल ऐक्यता का है लेश।
वह भी यदि निःस्वार्थ, धर्म निज देश हेतु ही है सुविशेष॥
तो वे साधारण प्रसून से खिलते ही गिर जावेंगे।
लज्जित होंगे किन्तु तुम्हारा अशुभ न कुछ कर पावेंगे॥

५—पृष्ठ ८५-राज्यशक्ति इसलिये नहीं है, करो महा अन्याय।
स्वार्थसिद्धिहित, प्रजागणों के क्षय का करो उपाय॥
बल इसलिये नहीं है, या इसलिये नहीं अधिकार।
करो दीन वा अबला पर, मनमाना अत्याचार॥
धिक वह नृप, धिक मंत्री, धिक ये राजपुरुष, धिक्राज।
कपट कुमति दुष्कर्मों से, जो पीड़ित करे समाज॥

६—पृष्ठ ८८-जिसकी कला संकीर्ण है, वह इन्दु हो सकता नहीं।
जो शान्त सुस्थिर है, कभी वह सिन्धु हो सकता नहीं॥
जिसमें नहीं बदलाव, कुसमय की परिस्थिति देखकर।
वह देश का कल्याणकारी धर्म हो सकता नहीं॥
है धर्म वह, जो मानुषी हिय हीनता जड़ से हरै।
सर्वोच्च शिक्षा सभ्यता दे, देश की रक्षा करै॥

निवेदन।

यहाँ तक तो हुआ नाटक का परिचय। अब अन्त में यह निवेदन करना है कि यह परिचय नाटक की उपयोगिता, साम्प्रत में वीर-रस-पूर्ण नाटकों की अपेक्षा और चाह तथा मित्र-मण्डली द्वारा खेले जाने में उपयुक्त सिद्ध होने की दृष्टि से लिखा गया है। इसके गुणों के सम्बन्ध में यह

निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह महाभारत नाटक हिन्दी में मौलिक नाटकों की कमी पूरी करने में, वीर-रस-पूर्ण नाटकों की आवश्यकता सिद्ध करने में तथा जन साधारण में हिन्दी नाटकों का प्रसार करने में हाथ बटाता है। साथ ही, यह आशा भी प्रकट करता है कि इसका दूसरा भाग (उत्तरार्द्ध) शीघ्र प्रकाश में लाया जाय। परिचय के योग्यायोग्य का विचार करना पाठक और नाटककार के अधिकार की बात है। जो कुछ ठीक मालूम हुआ वह सदिच्छा से यहाँ लिखा गया है; अधिक बढ़ाया घटाया कुछ नहीं। आशा है, पाठक भी ध्यानपूर्वक विचार करते समय इसी इच्छा को हृदय में रखेंगे।

स्वभाव का प्रभाव।

(ले०—बाबू [illegible] एम. ए. एल. एल. बी.)

आत्म-दशा का चिन्तन करते हुए दुर्योधन के मुख से जो वाक्य निकले थे वे इतने सारगर्भित हैं कि मानव-जीवन की एक जटिल समस्या की ओर वे हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और उसके सुलझाने में साहाय्य भी प्रदान करते हैं। प्रत्येक पुरुष के जीवन में ऐसे अनेक अवसर उपस्थित होते हैं जब पाप-प्रवृत्ति के प्राबल्य के सामने निज धर्म-बुद्धि का पराजय होता देख कर उसे भी कहना पड़ता है कि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

अर्थात्, 'मैं धर्म को जानता हूँ, पर उसकी ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है; अधर्म का मुझे ज्ञान है, पर उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। मेरे हृदय में बैठा हुआ कोई देव जैसी प्रेरणा करता है वैसा ही मैं करता हूँ।' उपदेशामृत के पान से एक घोर पापी के भी हृदय में शुद्ध संकल्पों का उत्थान होता है; पर यह दानव एक को भी कार्य में परिणत नहीं होने देता। संसार के भीषण संग्रामों का भी आदि कारण यही दुर्धर्ष दानव है। श्री-हीन मन-मलीन कैसर भी आज अपने दुर्दिन के लिए इसी देव को दूषण दे रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि यह देव कौन है। उसके निवास का पता तो दुर्योधन बता ही चुका है कि वह हमारे हृदय में ही रहता है। श्रीकृष्ण भी इस बात का समर्थन करते हैं—"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः"—प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना हितकारी है और स्वयं ही अपना नाशकारी है। कारण यह है कि, "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः", अर्थात् मनुष्यों के बन्धन या मोक्ष का हेतु मन ही है। अमेरिका के प्रसिद्ध पंडित विलियम जेम्स[1] का कथन है कि यह देव वही है जिसको मनोविज्ञान स्वभाव या आदत के नाम से पुकारता

1 Text Book of Psychology.

है। इसी स्वभाव की इतनी महत्ता है कि जब ड्यूक ऑफ़ वेलिंगटन ने यूनान के विख्यात तत्त्वज्ञानी डायोजिनीज़ की इस उक्ति को सुना कि (Habit is second nature) 'स्वभाव दूसरी प्रकृति है,' तो उन्होंने दृढ़ता से कहा कि (Habit is ten times nature) 'स्वभाव प्रकृति से दस गुणा बड़ा है।' अब हमें शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना है कि स्वभाव क्या है।

भौतिक शास्त्र का सिद्धान्त है कि किसी पदार्थ का वा क्रिया के परिणाम का विनाश नहीं होता है। जिस कागज़ को हम एक बार लपेट चुके हैं, उसपर हमारे इस व्यापार का संस्कार सर्वदा बना रहेगा। उसी कागज़ को दुबारा लपेटने की क्रिया बड़ी सुविधा से संपन्न होगी। फ्रेंच विद्वान लेओ डयूमो[1] का कथन है कि जो सारंगी वाद्य-विद्या-विशारद के प्रयोग में आ चुकी है उसका सुरीलापन बढ़ जाता है। प्रत्येक पदार्थ का ऐसा संगठन है कि जो क्रिया उसपर एक बार हो जाती है उसका असर हमेशा बना रहता है। संक्षेप में, इसी संस्कार-स्थिरता का ही नाम स्वभाव है।

हमारा शरीर भी भौतिक जगत् का अंश होने के कारण उपर्युक्त सिद्धान्त के अन्तर्गत है। परमात्मा ने हमारे स्नायु—संस्थान (Nervous system) की रचना ऐसी की है कि जिस प्रकार से हम उसका प्रयोग करते हैं वैसा ही वह भी बन जाता है। हमारे मस्तिष्क—मन्दिर का निर्माण ऐसी विचित्र पद्धति से हुआ है कि जो संस्कार उसपर एक बार पड़ जाता है वह सदा स्थायी रहता है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के निमित्त मिस मार्टिनो[1] ने एक अद्भुत उदाहरण दिया है। बाल्य—काल में मस्तिष्क को सख्त चोट लगने के कारण एक युवक को बोलने की और दूसरे की बात समझने की शक्ति से सर्वदा के लिए वंचित होना पड़ा। परन्तु उसकी अन्य इन्द्रियाँ परम प्रबल हो गईं। एक दिन ग्यारह बजकर दस मिनट पर उसके बाल और नख काटे गये। दूसरे दिन ठीक उसी समय पर वह कंघी और कैंची ले आया, यद्यपि उसके पास कोई घड़ी न थी और न अन्य प्रकार से उसे समय का ज्ञान प्राप्त हुआ था। जब तक उसके लिए यही कार्य न दोहराया गया, तब तक वह शान्त न हुआ। इसी प्रकार दिन के जिस समय उसके लिए जो कार्य किया जाता था, दूसरे दिन ठीक उसी समय वही कार्य फिर करना पड़ता था। इस प्रेरणा को हम चाहे दुर्योधन का दैव कहें या मनोविज्ञान का स्वभाव कहें। गीता का वचन यथार्थ है—'गहना कर्मणो गतिः'—कर्म की गति गहरी है। विचार—वारिधि में गहरी डुबकी लगाने से ही तत्त्व के मोती का स्वत्व प्राप्त होता है।

हमारे मस्तिष्क की संस्कार—स्थिरता का यह परिणाम होता है कि यदि हम किसी स्थिति में कोई कार्य, इच्छा या विचार कर चुके हैं, तो पुनः वैसी ही स्थिति में वैसा ही कार्य, इच्छा या विचार करने की हमको आन्तरिक प्रेरणा होती है। जैसे घाव का चिह्न सदा बना रहता है, वैसे ही पूर्व कृत्य का संस्कार हमारे स्नायु—संस्थान में सर्वदा

1. Revue Philosophique.

1. Letters on the Laws of Man's Nature and Development.

सजीव रहता है। इसीसे हमें सुविधा और स्वतः प्रेरणा प्राप्त होती है। डा. मॉडले[1] लिखते हैं कि स्वभाव-जन्य सुविधा बिना किसी भी कार्य-क्षेत्र में हमारी उन्नति असंभव है। वर्णमाला सीखने में हमें जो परिश्रम पहले पहल करना पड़ता है, यदि वह प्रतिदिन वैसा ही बना रहे तो इसी एक कार्य में हमारा सारा जीवन व्यतीत हो जायगा। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि किसी भी कृत्य को दुबारा करते समय हमें तनिक सुविधा का भान होता है। क्रमशः हमारा अभ्यास इतना बढ़ जाता है कि हमारा ध्यान अन्यत्र होते हुए भी हमारा अभ्यस्त व्यापार निर्बाध चलता रहता है। प्रसिद्ध फ्रेंच बाजीगर रॉबर्ट हुडिन अपने आत्म-चरित में लिखते हैं कि मुझे अभ्यास छोड़े तीस वर्ष व्यतीत हो गये; पर इस समय भी मैं तीन गेंदों को लगातार ऊपर फेंकता हुआ, सुभीते के साथ, पुस्तक पढ़ सकता हूँ। इस स्वतःप्रवृत्ति से हमें बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जीवन के गौण कार्यों को करते हुए भी हम अपनी विचार तरंग का उपयोग अन्यत्र कर सकते हैं। यदि वायु-सेवन के समय हमें अपनी चाल की सँभाल करनी पड़े, तो घूमने का मज़ा सजा में बदल जाय। पर ईश्वर की सृष्टि में स्वल्प कार्य के लिए प्रचुर प्रयास का प्रयोग नहीं करना पड़ता। दैनिक तुच्छ कृत्यों को आदत के अखाड़े में छोड़ कर ही हम जीवन के तुमुल संग्राम में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

जहाँ स्वभाव से हमें बहुत सी सुविधाएँ हैं, वहाँ अनेकों असुविधाएँ भी भोगनी पड़ती हैं। यहाँ फिर दुर्योधन का देय हमारे सामने उपस्थित होता है। प्रसिद्ध अँग्रेज मनोविज्ञानवेत्ता प्रो० स्टाउट का कथन है कि ज्यों ज्यों हमारा स्वभाव दृढ़ होता जाता है, त्यों त्यों वह हमारे वश के बाहर जाने लगता है। तनिक संकेत मिलते ही अभ्यस्त कार्य का उपक्रम हो जाता है। बाद में हमें आश्चर्य होता है कि हम ऐसा काम एकदम कैसे कर बैठे। प्रो० हक्सले उल्लेख करते हैं कि एक विनोद-प्रिय पुरुष ने किसी उन्मुक्त पुराने सिपाही को दोनों हाथों से जल से भरा घड़ा ले जाते हुए देखकर "सावधान (Attention) कहा। यह सुनते ही उसने एकदम अपने दोनों हाथ नीचे कर जाँघ से सटा लिये और घड़ा पृथ्वी पर गिर पड़ा। कठोपनिषद् में वर्णित रथी की तरह बिचारा सिपाही इस दृश्य को देखता ही रह गया। उसका स्नायु-संस्थान क़वायद के कायदों का इतना क़ायल हो गया था कि तनिक संकेत मिलते ही इन्द्रिय-रूपी घोड़े अपने पुराने मार्ग पर उसे ले दौड़े। रण-क्षेत्र में बिना सवार के घोड़े, केवल बिगुल की आवाज़ पर, क़वायद करते हुए देखे गये हैं। सन १८८४ में रेल की दुर्घटना के कारण अमेरिका की एक कंपनी के एक बाघ का पिंजड़ा टूट गया। स्वतन्त्रता-प्रिय बाघ बाहर निकल कर भी फिर उसीके भीतर चला गया। जो कैदी जेल की यातनाएँ सहते सहते ही अपने जीवन की अन्तिम अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे मुक्त होने पर फिर जेल में ठेल दिये जाने का नम्र निवेदन करते हुए देखे गये हैं। शराबी सुबह देव-मन्दिर में अपने

1. Physiology of mind.

1. Analytic Psychology, Vol. I 2. Elementary lessons in Physiology.

परिताप की ज्वाला को अश्रुमोचन से शान्त करता हुआ देखा गया है; परन्तु शाम होते ही वही मतवाली मदिरा-प्याली और क़व्वाली और क़हक़हा! ऐसे ही दुरित दृश्यों को देखकर कविवर भर्तृहरि अपनी भावपूर्ण भाषा में लिखते हैं:—

"विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान् ।
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोह-महिमा ॥"

'विषयों के दुष्परिणाम को जानते हुए भी हम उन्हें नहीं छोड़ते हैं। अहो हम कितने गहरे मोह-जाल में फँसे हुए हैं!' मानव-जीवन में स्वभाव की ऐसी सबल सत्ता देख कर ही विलियम जेम्स लिखते हैं कि मनुष्य स्वभावों (आदतों) का जंगम पिटारा है। (Man is a walking bundle of habits.)

स्वभाव की दुर्दमनीयता को देखकर हमें दंग होना पड़ता है। परन्तु जब यह बात निर्धारित है कि हमारे कर्मों की पुनरावृत्ति ही स्वभाव की जननी है, तो हमारे हृदय में भय के स्थान में आशा का संचार होना चाहिए। जैसा एक कवि ने कहा है:—

Our acts, our angels are, or good or ill,
Our fatal shadows that walk by us still

अपने भविष्य का सुधार या बिगाड़ हमारे ही हाथ में है। आरंभ से ही हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि जीवन-संग्राम में स्नायु-संस्थान हमारा सर्वदा सहायक रहे। जीवन के प्रथम २५ वर्ष परम महत्त्व के हैं। इस अवधि में जो आदत पड़ जाती है वह हमारे संग सदा बनी रहती है। हमारे दूरदर्शी महर्षियों ने इसीलिए ही ब्रह्मचर्याश्रम को इतनी प्रधानता दी है। कहा जाता है कि जिसका यह आश्रम सुधर गया उसके अन्य आश्रम भी सुधर जाते हैं। संसार का इतिहास साक्षी है कि महान् कार्य उन्हीं पुरुषों से हुए हैं जिनके जीवन का प्रभात-काल सद्गुणों के संचय में व्यतीत हुआ है।

अच्छी आदतें डालने के अनेक नियम हैं। पर प्रो. बेन ने दो बड़े सरल सिद्धान्त बतलाये हैं। नया स्वभाव निर्माण करने के लिए हमें दृढ़ प्रतिज्ञा और अदम्य उत्साह से कार्य आरम्भ करना चाहिए। हमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए कि अनेक ओर से अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हमें उत्तेजन और उद्बोधन प्राप्त हो। इस दृष्टि से किसी सभा या समाज में किसी अच्छी बात का प्रण करना प्रशंसनीय है। तीर्थों पर बुरी आदतों का परित्याग करने का संकल्प लेने की परिपाटी बहुधा आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करती है। लेखक ऐसे पुरुषों से परिचित है जो पहले महा दुराचारी थे; परन्तु ऐसे दृढ़ संकल्पों के प्रभाव से अब साधु मार्ग पर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि जब तक नई आदत की नींव दृढ़ न हो जाय, तब तक कोई अपवाद न होना चाहिए। एक अपवाद का वही परिणाम होता है जो पर्वत पर चढ़ते हुए पुरुष के हाथ से पत्थर गिर पड़ने का होता है। दुर्गुणों का एक पराजय सद्गुणों के अनेक

1. Principles of Psychology, Vol- I.

1. Emotions and will.

विजयों पर पानी फेर देता है। कारण यह है कि पाप-प्रवृत्ति का प्राबल्य मानव जीवन में पहले से ही अधिक है। जब थियोडोरा नामकी यूनानी सुन्दरी ने सोक्रेटीज़ से कहा कि मैं आपके शिष्यों को आपके पास से हटा कर अपने पास बुला सकती हूँ, तो उसने उत्तर दिया, "That may be, for you lead them down an easy descent, whereas I am forcing them to mount to virtue--an arduous ascent, and unknown to most men." अर्थात्, "यह संभव है; क्योंकि तुम उनको आसान निचाई पर ले जाती हो, और मैं उनको धर्म के उस पहाड़ पर चढ़ने के लिए बाध्य कर रहा हूँ जिसकी चढ़ाई कठिन है और जहाँ का स्थल अधिकांश मनुष्यों को अज्ञात है।" कविवर यंग ने अपने सुन्दर शब्दों में यही बात कही है:—

"Let no man trust the first false step
Of guilt; it hangs upon a precipice,
Whose steep descent in last perdition
ends."

प्रथम प्रयत्न में ही सफलता प्राप्त करने की परम आवश्यकता है। हमसे जितने शुभ कर्म बन पड़ें उतना ही अच्छा है। पर इतना कठिन कार्य हाथ में लेना जिसमें सफल होना हमारी शक्ति से बाहर है भारी भूल है। अनेक पुरुष आवेश और उमंग में कठिन से कठिन कार्य करने लगते हैं; पर जब विफलता के कारण उनका जोश ठंढा पड़ जाता है, तो सरल से सरल भी नया कार्य करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। प्रो. म्यूर हेड का कथन इस प्रसंग में सदा स्मरण रखने योग्य है कि (Every ought implies can)—"प्रत्येक कर्त्तव्य में यह अभिप्रेत है कि वह किया जा सकता है"। परिश्रम चाहे कितना ही करना पड़े, पर कार्य हमारी सामर्थ्य के भीतर होना चाहिए। सफलता से ही कष्ट उठाने की शक्ति बढ़ती है। कहा भी है—

"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"

प्रो. बेन के दोनों नियमों की प्रशंसा करते हुए प्रो. विलियम जेम्स दो ऐसे सिद्धान्त बतलाते हैं जो हमारे देश की वर्त्तमान परिस्थिति में परम लाभदायक हैं। पहली बात यह है कि जब हम कोई शुभ कार्य करने का संकल्प करें या हमारे मन में उमंग उठे तो प्रथम अवसर प्राप्त होते ही हमें उसे कार्य में परिणत कर देना चाहिए। हमारे सिद्धान्त कितने ही उच्च क्यों न हों और हमारा हृदय कितना ही विशाल क्यों न हो, जब तक हम प्रकृत अवस्था में तदनुसार कार्य नहीं करेंगे, तब तक न हमारा चरित्र बनेगा और न हमारे देश का कल्याण होगा। एक कहावत है कि (With mere good intentions hell is proverbially paved)—"केवल संकल्प मात्र करते रहने से नरक का पथ प्रशस्त होता है"। भावना ही हमारे विचारों को कार्य में परिणत करती है। प्रतिदिन हमें अनेक बातों का ज्ञान होता है; पर कार्य करने पर हम तभी कटिबद्ध होते हैं, जब उनमें से किसी की ओर हमारा विशेष अनुराग या सहानुभूति होती है। दो पुरुष एक चमार को सख्त चोट लगते हुए देखते हैं; पर सहायता वही करता है जिसके हृदय में दया का संचार होता है। बड़े

1. Manual of Ethics.

2. Principles of Psychology, Vol. I.

से बड़े कार्य हम आवेश के उद्रेक में आकर ही करने को उद्यत होते हैं। परन्तु यदि हम उमंग की तरंग के संग कुछ कार्य नहीं करते हैं, तो हम स्वतः ही अपने जीवन को निकम्मा बनाते हैं। फ्रेंच विद्वान् रूसो की करतूत इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। वह फ्रांस की माताओं को अपनी अद्‌भुत वाक्‌शक्ति से उत्साहित करता फिरता था कि प्रकृति के नियमों का पालन करो और अपने बच्चों का पोषण स्वयमेव करो; परन्तु वह स्वयं अपने बच्चों का पालन-पोषण अनाथाश्रम में कराता था। यही गति हमारी भी है। पत्रों में भावपूर्ण भाषणों को पढ़कर या प्रभावशाली व्याख्यानों को सुनकर देश-सेवा करने के लिए हम आवेश की मूर्ति बन जाते हैं और अवसर की प्रतीक्षा में ही हमारा जोश ठंडा पड़ जाता है; परन्तु प्रतिक्षण और पग पग पर प्रस्तुत ऐसे अनेक कार्यों की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती। यह स्वभाव का दोष है। भावुकता के कार्य से रहित होने का यही परिणाम होता है। रूस देश की एक रमणिका का दृष्टान्त है कि नाटक के पात्रों का दारुण दुःख देख कर वह फूट फूट कर रोने लगी, पर बाहर मैदान में शीत के कारण उसका ग़रीब कोचवान मृतप्रायः हो रहा था जिसका उसे तनिक भी ध्यान न था। इस रोग के निवारण का एकमात्र यही उपाय है कि जिस बात के लिए हम उत्साहित हों उसकी आंशिक पूर्ति हमें शीघ्र ही करनी चाहिए।

अतएव दूसरा नियम यह है कि प्रति दिन आत्मोन्नति का कोई न कोई कार्य हमें अवश्य करते रहना चाहिए। जो कार्य हमें लघु दीख पड़ते हैं, वास्तव में वे ही हमारे चरित्र का निर्माण करते हैं। जो पुरुषसिंह सदैव स्वार्थ-त्याग और परोपकार के कृत्य करता रहा है, वही महान् अवसर उपस्थित होने पर हिमालय की तरह अपने व्रत पर अटल बना रहेगा। महात्मा गांधी की अपूर्व दिव्य आत्म-शक्ति का यही कारण है।

सारी बातों का सारांश यह है कि अपने अमूल्य जीवन को बिगाड़ना या सुधारना हमारे ही हाथ में है।

"यथाकारी यथाचारी तथा भवति।
साधुकारी साधु भवति, पापकारी पापी भवति॥

बृहदारण्यक।

एक एक कार्य करके ही हम अपना स्वभाव स्वयं रचते हैं। अपने लिए इस संसार को स्वर्ग या नरक हम ही बनाते हैं। प्रति क्षण भला या बुरा जो काम, इच्छा, या भावना हम कर रहे हैं वही हमारे जीवन का भविष्य-भवन निर्माण कर रही है। मि. जेफरसन के नाटक में जब शराबी रिप वैन विंकल यह कहकर अपने अपराध से छुटकारा चाहता है कि (I won't count this time)—"इस समय को मैं शुमार नहीं करूँगा" वह चाहे शुमार का भार स्वीकार न करे और उसके दयालु मित्र भी उसके अपराध की गणना न करें; पर धर्मराज का कर्मचारी चित्रगुप्त हमारे स्नायु-संस्थान-रूपी बही में हमारे प्रत्येक कार्य और व्यापार लिखने में कदापि नहीं चूकेगा। परमात्मा ने हमारा मस्तिष्क—मुकुट ऐसा रचा है कि जो आभास एक बार उसपर पड़ जाता है उसका विनाश कभी नहीं होता। हमारे मनोमन्दिर में जिस संस्कार-प्रतिमा की प्रतिष्ठा एक बार हो जाती है वह सर्वदा

स्थायी रहती है। स्थूल देह का संग छूटने पर सूक्ष्म शरीर के साथ हमारे स्वभाव किस प्रकार रहते हैं, इसका वैज्ञानिक वर्णन किसी दूसरे लेख में किया जायगा। इस जीवन का सुख-दुःख हमारे स्वभाव पर ही निर्भर है। अपने स्वभाव को दुर्योधन का देव बनाना या सुख-सुधा-स्रोत में परिणत करना हमारे ही हाथ में है। महाकवि तुलसीदास ने क्या ही अमूल्य वचन कहे हैं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥

नवीनता।

(लेखक—राय बहादुर पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल, बी० ए०)

नव जीवन है ध्येय महान।
वीर-वरों का यह सम्मान॥
न इसको त्यागें हम भगवान्।
तान से छेड़ें इसकी तान॥

इस समय बीसवीं शताब्दि का बीसवाँ वर्ष चल रहा है। इस "बीसवीं" संख्या में एक अद्भुत ही चमत्कारिक शक्ति विद्यमान है। कदाचित् इसीलिए हमारे पूर्वजों ने प्रत्येक बीस वर्ष का एक नियत काल माना है जो शास्त्रों में शिवबीसी, ब्रजबीसी और विष्णुबीसी के नाम से प्रकट है। आज भी हम क्या देखते हैं कि नवीन युग के प्रभात के साथ ही साथ जगन्-मोहिनी महादेवी की दिव्य सुहावनी मूर्ति हमारे साम्हने आ विराजी है। उनके विशाल नेत्रों से चित्त प्रफुल्लित करने वाली पवित्र प्रभा टपक रही है, प्राचीन भारत की प्राचीनता में भी आज नवीनता की झलक हमारे हृदय में आनन्द और उत्साह की तरंगें प्रवाहित कर रही है, कर्तव्य-निष्ठा की बिजली रग रग में समा रही है। मन उन देदीप्यमान देवी का स्वागत करने के लिए उत्कंठित हो रहा है। साथ ही स्वर्गादपि-गरीयसी भारत-वसुन्धरा पीठ ठोंक रही है कि पुत्रो! बढ़ो, आगे आओ, बहुत सोए, अब जागो और काम करो। शक्ति-स्वरूपा "नवीनता" देवी की पद-रज मस्तक पर श्रद्धापूर्वक धारण करो और दुःख—दारिद्रय-जन्य तप्त आहों से उनके हृदय को पानी पानी कर दो। उन्हें मनाकर मंदभाग्य भारत-भूमि में फिर लाओ। उनकी सहायता से देश भर में नवीन जीवन का संचार कर दो, सोते हुओं को जगा दो, जागे हुओं को काम में लगा दो, कायरों को कर्तव्य-पथ में लगाओ, मुरझाये मन-सुमनों को खिला दो और मुर्दों को जिला दो। वृद्ध "भारत माता" तुम्हारा मुख ताक रही है। पुत्र, क्या तुम उसे निराश करोगे? नहीं नहीं, उठो, राष्ट्रभाषा-साहित्य-उद्यान में सुगंध-पुष्पों की सुगंधि सर्वत्र फैला दो। बस, फिर देश के उत्थान में देरी नहीं, अपना काम पूरा होने में विलम्ब नहीं।

संसार भर में जो यह नवीन उथल—पथल हुई है उससे भारत सजग हुआ है। उसके कार्य्य-क्षेत्र में वाग्वीरों की संख्या कम हो रही है। उस पर सच्चे कर्म्मवीरों का अधिकार जम रहा है। वे प्राण-पण से उन्नति के उच्चतम सोपान तक पहुँचने के लिए द्रुततर वेग से बढ़ रहे हैं।

परिस्थिति अनुकूल है अथवा प्रतिकूल इसकी उन्हें परवा नहीं। आपत्तियाँ पथ पर पर्वत बनकर अड़ी हैं इसकी भी उन्हें चिन्ता नहीं। उनका जीवन पुराना जीवन नहीं हैं। उसमें नयी स्फूर्ति दौड़ रही है; अतएव आपत्तियाँ उनके अनुकूल हो रही हैं और विघ्न-बाधाएँ उन्हें कर्तव्य-क्षेत्र में बढ़ने के लिए उत्साहित कर रही हैं।

अब प्रश्न यह है कि हमारा क्या कर्त्तव्य है। उक्त कर्मवीरों का साथ देना चाहिए या निश्चेष्ट बैठ वही पुरानी राग अलापनी चाहिए? हमें कर्तव्य-निष्ठा का नवीन जामा पहिनना उचित है, अथवा आँखें बंद कर पुराने ढर्रे पर ही चलना लाभदायक है। उत्तर में अन्तरात्मा यही कहती है कि जीवन-संग्राम में विजयी होने के लिए आलस्यमय जीवन में परिवर्तन करना पड़ेगा। इस परिवर्तनशील संसार में हम समय के अनुसार स्वरूप बदले बिना अपना अस्तित्व नहीं स्थापित रख सकते। दैवयोग से यदि कुछ दिन टिके भी, तो पद पद पर दूसरों से सदैव ठुकराये जावेंगे। कायरता की कालिमा मुख पर लगाये ही रहेंगे। इतना ही नहीं, पुरुषार्थी पुरुष-पुंगव के पद को कभी भी प्राप्त न कर सकेंगे। सच तो यह है कि जागृति के युग में सोने से किसी का काम न चलेगा। समय के प्रवाह को अपने अनुकूल बनाकर उसमें हमें बहना ही होगा। वह हमारे रोकने से रुकेगा नहीं, प्रत्युत ऐसा करने से हमारी उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा।

यह तो हुई अपने जीवन में समय के अनुकूल परिवर्तन करने की बात। अब विचारना यह है कि इस नवीन युग में जबकि प्राचीन परिपाटी पलट रही है और नवीन को स्थान मिल रहा है, मातृभाषा हिन्दी के प्रति हमारा कौनसा कर्तव्य है? यह मानी हुई बात है कि किसी भी राष्ट्र की उन्नति का सम्बन्ध उसकी भाषा से अत्यन्त घनिष्ठ है। भाषा ही उसका जीवन-प्राण है। जब तक भाषा की हीनावस्था दूर नहीं कर दी जाती, तब तक राष्ट्रोत्थान की आशा करना निराशा मात्र है। यदि इंगलिस्तान में अंग्रेजी भाषा की वह उन्नति न की जाती जो आज हम उसमें पाते हैं, अथवा जापान में जापानी भाषा की उन्नति की ओर जापानियों का सर्वोपरि लक्ष्य न होता तो आज इन दोनों देशों का इतिहास कुछ और ही तरह लिखा जाता। इसीलिए मेरा बारम्बार यही कहना है कि यदि हिन्दुस्थान को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना है, तो राष्ट्रभाषा हिन्दी की ही उन्नति पहिले करनी होगी। अतः राष्ट्रभाषा हिन्दी के पुराने उद्यान में सैर करने से हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा। उसमें भी नवीनता लाकर उसे हरा-भरा कर देना होगा। उसमें विशद विज्ञान-वेत्ताओं की विमल विभा वैज्ञानिक पुस्तकों के रूप में व्याप्त करनी होगी, सरल और सुबोध भाषा में अर्थशास्त्र के अभाव से होनेवाले अनर्थों को अनन्त काल तक के लिए दूर कर देना होगा, उन्नति का अवरुद्ध फाटक खोलने के लिए देश की दशा को स्पष्ट रूप से जनता के समक्ष रखनेवाले नाटकों की सृष्टि करनी होगी। कविता-कामिनी की उस प्रतिमाको जो साहित्य-उपवन में सोलहों शृंगार किये विचरती है केवल देखने से काम न चलेगा। उसे वीर बाला के वेश में वीर-वरों को गन्तव्य मार्ग में बढ़ने के लिए उत्तेजित करती हुई देखने से ही ध्येय प्राप्त

होगा। निज व्यापार—शिल्प-कला—कौशल्य को सर्वव्यापी बनाने के लिए साहित्य—सदन में जाज्वल्यमान व्यावसायिक ग्रन्थ—रत्नों की छटा छिटकाना पड़ेगी। साहित्य-कोष को ऐतिहासिक ग्रन्थों के ऐश्वर्य्य से सम्पन्न करना होगा। हिन्दी के विहार—भवन को सुरुचि उत्पन्न करने वाले उपन्यासों से सुसज्जित कर सुरम्य बनाना पड़ेगा। इस रमणीयता को सर्व्व-प्रिय बनाने के लिए लेखन—शैली की नवीनता का संचार सद्ग्रन्थों में यथाशक्ति करना होगा। ऐसा करने से हिन्दी के उपवन की रमणीयता प्रसिद्ध माघ कवि के इन सर्व—सम्मत शब्दों द्वारा चरितार्थ होगी:—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"

इसी रमणीयता को देखकर समस्त संसार मातृ-भाषा हिन्दी का स्वागत सानन्द करने के लिए तय्यार हो जायगा, उसे भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए वह कटि-बद्ध हो जायगा, उसे फिर हमें दूसरों से उभय कर जोड़ कर यह प्रार्थना न करनी होगी कि हमारी दीनहीन हिन्दी को अपना कर उसे अन्य भाषाओं के समान सम्मान-दृष्टि से देखिए। वे लाचार होंगे और सर्वांग-सुन्दरी हिन्दी की पद-रज मस्तक पर धर अपने को कृत-कृत्य समझेंगे। हमें लेख बढ़ाना नहीं है; व्यर्थ की बातें करने में समय गँवाना नहीं है। जमाना है हृदय और उत्साह से कर्तव्य-क्षेत्र में उतरकर काम करने का। अवसर है नवीन उत्साह, नूतन उमंग और नये भाव से प्यारी मातृभाषा का संदेश राजप्रासादों से लेकर पर्णकुटीरों तक पहुँचाने का और यही ठीक मौक़ा है सबके हृदयों में मातृभाषा का पवित्र प्रेम कूट कूट कर भर देने का।

बस, प्यारे पाठको, आइए गन्तव्य मार्ग में आगे बढ़िए और नवीनता का स्वागत कीजिए। आप किसी का मुख अब न देखिए। बहुत समय तक देखा, पर कुछ सार न दीख पड़ा। अब समय है अपने पैरों पर खड़े होने का। अतः विलम्ब न कीजिए। अपने पैरों पर खड़ा होना सीखिए, अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानिए, भटकिए नहीं। ध्येय साम्हने है। "मंज़िले मक़सद" दूर नहीं है। आलस्य का पर्दा उठाइए और "कार्य्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्" का मूल मंत्र जनता को रटा दीजिए। विश्वास रखिए कि ईश्वर उसीको सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करता है।

आधुनिक शिक्षा के गुण—दोष।

[लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०]

शिक्षा-प्रचार का कार्य्य सरकार ने अपने हाथ में रक्खा है; अतएव उसके गुण-दोषों का विवेचन करने के निमित्त हमें यह देखना है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में लार्ड विलियम बेंटिक ने इस देश में जो शिक्षा-प्रचार का आरम्भ किया था सो किस उद्देश्य से किया था। इस उद्देश्य को जाने बिना हम यह नहीं कह सकते कि सरकार की शिक्षा—सम्बन्धी नीति क्या रही है और उसकी प्रचारित प्रणाली में अनेक दोष क्यों आ गये हैं और अब उस नीति में कौन २ से सुधार होने से ये दोष दूर किये जा सकते हैं।

जिस प्रकार हमारे देश में राजा-महाराजाओं ने किसी शिक्षा-विभाग का संगठन न कर शिक्षा

प्रचार के कार्य्य का भार सर्व साधारण पर छोड़ दिया था और वे विद्वान् शिक्षकों वा अध्यापकों, विद्यापीठों, मठों आदि को धन, वस्त्रादि से उत्साहित करते थे जिससे हमारे विद्वान् ब्राह्मण तथा मौलवी स्थान २ में विद्यालय या मकतब खोलकर विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे बहुत कुछ वैसा ही हाल विलायत में भी था। वहाँ भी केम्ब्रिज और आक्सफ़ोर्ड के विद्यालय वहाँ के धनीमानी व्यक्तियों ने तथा राजा-रानियों ने बनवाये थे और उनके सञ्चालनार्थ पर्य्याप्त धन एकत्र कर दिया था। पहले वहाँ एक दो सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा शिक्षा-प्रचार का कार्य्य चलाया जाता था। फिर १८वीं शताब्दी के आरम्भ में, पार्लिमेंट में एक एक्ट पास होकर, इन संस्थाओं को २५ वा ३० हज़ार पौंड की वार्षिक सहायता दी जाने लगी थी। धीरे २ शिक्षा-प्रचार का कार्य्य सरकार ने अपने हाथ में रखकर उसका ख़र्च बढ़ाना आरम्भ किया:क्योंकि इस समय यह समझा गया कि शिक्षा-प्रचार सरकार का कर्त्तव्य है। सरकार ने इन स्कूलों के निरीक्षणार्थ इन्सपेक्टर नियत किये और इस तरह शिक्षा-विभाग का संगठन हुआ। शिक्षा-प्रचार का कार्य्य जब विलायती सरकार को अपने हाथ में लेना पड़ा उस समय इस विषय पर बहुत वाद्-विवाद हुआ कि इस सम्बन्ध में सरकार का क्या कर्त्तव्य है और कई विद्वान् वक्ताओं ने अपने भाषणों में यह सिद्ध कर दिखाया कि न्याय, शान्ति-रक्षा आदि के समान शिक्षा-प्रचार भी प्रत्येक देश की सरकार का परम कर्तव्य है।

विलायत की इन घटनाओं का प्रभाव इस देश के शासकों पर भी पड़ा और ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने शिक्षा-प्रचार को अपना कर्तव्य समझा। वैसे तो इस देश के पहले गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ ने अरबी-फ़ारसी की शिक्षा के लिये कलकत्ता मदरसा और संस्कृत-शिक्षा के लिये संस्कृत कालेज, कलकत्ता की स्थापना की थी;पर लार्ड विलियम बेन्टिक के शासन-काल में कम्पनी सरकार ने शिक्षा-प्रचार को अपना कर्तव्य समझ यह प्रश्न उठाया कि इस शिक्षा का माध्यम कौन सी भाषा मानी जाय और किन किन विषयों की शिक्षा दी जाय। इस समय दो भिन्न २ दल होगये जिनमें से एक तो देशी भाषाओं तथा संस्कृत एवं अरबी-फ़ारसी के पक्ष में था और दूसरा कहता था कि संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी की शिक्षा से वर्तमान काल में कोई लाभ नहीं है, शिक्षा तो ऐसे विषयों की देनी चाहिए जिससे इस देश के लोग अपनी कूप-मंडूकता त्याग कर पाश्चात्य सभ्यता और विज्ञान तथा दर्शन सीखें और नये ढंग के पुरुष बनें। वे कहते थे कि संस्कृत आदि में एक तो साहित्य ही नहीं है, दूसरे उसमें भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि का अभाव है: और यदि कहा जाय कि पुराणादि ग्रंथों में ये विषय पाये जाते हैं, तो वे किसी अर्थ के नहीं। पुराणों में तो पृथ्वी को अचला कहा है और मनमाने कल्पित द्वीपों और समुद्रों के नाम लिखे हैं, कहीं दूध के समुद्र हैं और कहीं दही के। इतिहास की ओर देखो, तो दस हज़ार वर्ष की अवस्था में दशरथ महाराज के लड़के होते हैं। विज्ञान की ओर दृष्टि कीजिये तो समग्र वैद्यक शास्त्र शीत, वात और पित्त पर अवलम्बित है और वैद्य लोग तंत्र, यंत्र तथा मंत्र द्वारा रोगी को चंगा करने का दावा करते हैं। ऐसे ग्रंथ जिनमें इतनी असत्यता भरी पड़ी है बालकों को पढ़ाने से लाभ ही क्या? अंग्रेज़ी भाषा ही शिक्षा का माध्यम रक्खा जाना चाहिए जिससे इस देश के निवासी भी कालान्तर में "रंगीन अंगरेज़" (Coloured English-men) बनकर अपनी मातृभूमि का उत्थान कर सकें और अपने ही समान एक दूसरे राष्ट्र का निर्म्माण करने से ब्रिटिश जाति किसी दिन साभिमान कह सकेगी कि हमने गिरे हुए भारत को उठाकर अपने पैरों पर खड़े होने के योग्य बनाया है।

अंगरेज़ी-शिक्षा-समर्थन के इस दल के नेता थे लार्ड मैकाले जो उस समय लार्ड विलियम बेन्टिन्क की कार्य्य-कारिणी सभा के क़ानूनी मेम्बर थे। आप बड़े विद्वान, वाग्मीश, इतिहासज्ञ, कवि तथा साहित्यज्ञ थे। ब्रिटिश पार्लिमेंट में

रहकर आप ने बड़ी कीर्ति उपलब्ध की थी; इस लिए उन दिनों में आप ही की तूती बोला करती थी। साथ ही, पादरी लोग जिन्हों ने अंगरेज़ी के स्कूल और कालेज पहले से ही खोलकर बहुत से नामी बंगालियों को "रंगीन अंगरेज़" बना डाला था अंगरेज़ी शिक्षा के पक्के समर्थक थे। पादरी लोग तो ईसाई-मत-प्रचार की इच्छा से यह शिक्षा देना चाहते थे; पर लार्ड मैकाले आदि शासक उसके पठन-पाठन से कोई लाभ न देख संस्कृत साहित्य एवं फिलासफ़ी से नितान्त अनभिज्ञ रहने के कारण अंगरेज़ी भाषा, विज्ञान और साहित्य की शिक्षा उचित समझते थे। इस प्रकार की शिक्षा पाकर भारतवासी किसी दिन घोर निद्रा से जागकर अपने स्वत्व माँगेंगे- यह वे भली भाँति जानते थे; पर इसे बुरा नहीं, अँगरेज़ों के लिये एक महान गौरव की बात समझते थे। कई अंग्रेज़ इसके सिवा यह भी देखते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा पाकर भारतवासी शासन-कार्य्य में बहुत कुछ सहायता दे सकेंगे और हमें इस देश की भिन्न भिन्न देशी भाषाओं के पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी।

इससे स्पष्ट है कि अंगरेज़ी शिक्षा द्वारा भारतवासियों को "रंगीन अंगरेज़" बनाना आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य था। यदि ये महाशय यह जानते होते कि इस देश में भी कुछ उत्तम साहित्य है, तो कदाचित् उसकी इतनी अवहेलना न करते; पर उस समय संस्कृत साहित्य के अस्तित्व का भी हाल किसी पाश्चात्य विद्वान को मालूम नहीं था। इसका कारण भी यह था कि उस समय विद्वान् ब्राह्मण देववाणी म्लेच्छों को पढ़ाना महापातक समझते थे। इस उद्देश्य के साथ ही साथ शासन-सुविधा, अंगरेज़ी विज्ञान और साहित्य के ज्ञान से शासकों के प्रति सद्भाव आदि राजनैतिक उद्देश्य भी रहे हों, तो आश्चर्य्य नहीं।

इसमें तो सन्देह नहीं कि इस उद्देश्य की पूर्त्ति तो अच्छी हुई; पर न्यूनता इतनी रही कि थोड़े से लोग ही अंगरेज़ी शिक्षा-दीक्षा पाकर मैकाले के रंगीन अंगरेज़ बन सके, शेष जनता अज्ञानता के अन्धकूप में ही पड़ी रही जिससे उसने प्राचीन भाव तथा धर्म्म-कर्म्म नहीं त्यागा। जो लोग "रंगीन अंगरेज़" भी बने उनकी स्त्रियां स्त्री-शिक्षा के अभाव में "रंगीन मेमें" नहीं बनीं और धर्म्म-कर्म्म तथा प्राचीन सभ्यता को बहुत कुछ लिये रहीं।

वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली में गुण-दोष दोनों का विचित्र सम्मिश्रण है। कई अंशों में इस शिक्षा से हम लोगों का बहुत उपकार हुआ है। हम लोगों में जो जीवन के सभी भागों में जागृति के शुभ चिन्ह दिखाई देने लगे हैं और सैकड़ों वर्षों का दासत्व भूलकर हममें जो आत्म-गौरव के भाव दिखाई पड़ते हैं और हम व्यक्तिगत तथा जातीय स्वतंत्रता के लिये इतने लालायित होरहे हैं इसका एकमात्र कारण हमारी अंगरेज़ी शिक्षा है। मैकाले ने जिस उद्देश्य को सन्मुख रख अंगरेज़ी शिक्षा पर ज़ोर दिया था और स्पष्ट कहा था कि किसी दिन इस शिक्षा से राजनैतिक जागृति होकर भारतवासी अपने स्वत्व पाने के लिये आवाज़ उठावेंगे और इंगलैंड इन स्वत्वों को देकर और इस प्रकार एक नया राष्ट्र निर्म्माण कर अपने को कृतकृत्य समझेगा सो उनकी भविष्यद्वाणी बहुत कुछ पूरी उतर रही है।

हमारे धार्मिक तथा सामाजिक विचारों में जो उथल पुथल हुआ है उसका भी कारण यही अंगरेज़ी शिक्षा है। उसका प्रभाव हमारे नव-शिक्षित युवकों पर हुआ है। पहले तो यह बहुत ही हानिकारक पड़ा था और अपने धर्म्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ रहने तथा ईसाई धर्म्म के सिद्धान्तों की शिक्षा पाने के कारण हमारे अंगरेज़ी शिक्षा पाये हुए देशभाई अपना सनातन-धर्म्म त्याग ईसाई धर्म्म ग्रहण करने लगे और इसी दुष्परिणाम को रोकने के लिये राजाराम-मोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति ने नये २ सम्प्रदाय चलाकर ऐसे लोगों को ईसाई होने से बचाया। साथ ही, इस देश में तथा विदेशों में संस्कृत विद्या का ज्ञान अधिक बढ़ने से और थियासफ़ी तथा स्वामी विवेकानन्द आदि के

प्रयत्न से लोगों ने देखा कि हमारे धर्म्म में भी कुछ सार अवश्य है; अतएव उसे भली भाँति देखे बिना उसका त्यागकर बैठना उचित नहीं। फलतः, हमारे नवशिक्षित ग्रेजुएटों का ध्यान अपने प्राचीन धर्म्म की ओर आकर्षित हुआ और अब तो छोटे छोटे बालक भी धर्म का ज्ञान हुए बिना ही बड़े अभिमान से कहने लगे हैं कि हमारे धर्म्म में किसी प्रकार की कमी नहीं है।

इस तरह आधुनिक शिक्षा से यह एक बड़ी हानि होते २ बची। आरंभ में लोगों की श्रद्धा अपने धर्म्म से उठ चली थी। पर हमारे कई सुधारकों के प्रयत्न से हम लोग इस आपत्ति से कुछ तो बच गये हैं; पर यह एक बड़ा दोष अब भी है कि सरकारी तथा बोर्ड स्कूलों में धर्म्म-शिक्षा का अभाव रहने से हमारे बालक तथा बालिकाओं का चरित्र-संगठन वैसा उत्तम नहीं होता जैसा धर्म्म-शिक्षा द्वारा हो सकता है तथा इस देश में सनातन काल से होता आया है। इसमें सरकार का दोष तो है नहीं; क्योंकि उसकी नीति है कि किसी मत-विशेष का पक्ष या विरोध न किया जाय, दोष है जनता का जिसे धर्म्म-शिक्षा की आवश्यकता नहीं दिख रही है, नहीं तो वह इसका प्रबन्ध अवश्य करती। सरकार ऐसे कार्य्य में हस्तक्षेप करने के बदले उचित सहायता देने को तय्यार है। फिर न जाने क्यों हम लोग इस ओर ध्यान नहीं देते। हम अपने अनुभव से यही कहेंगे कि विद्यार्थियों को धर्म पर स्थित आचार-नीति-शिक्षा से उन्हें वंचित रखना एक भारी भूल है और यदि हम चाहें तो प्रत्येक स्कूल तथा विद्यालय में इसका प्रबन्ध कर सकते हैं। स्मरण रहे कि वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली में और भी कई दोष हैं; पर इस से बढ़कर कोई दूसरा नहीं है। धर्म्म-नीति-शिक्षा के अभाव में हमारे नवयुवक अपने सनातन धर्म्म से ही वञ्चित नहीं रहते, वरन अपने प्राचीन आदर्शों वा अपने पूर्व्व पुरुषों के सहस्रों वर्षों के संस्कारों से भी अनभिज्ञ रह जाते हैं जिससे उन्हें अपना देश, अपनी भाषा और अपना वेश—सभी बातें अरोचक हो जाती हैं और उनमें मैकाले के "रंगीन अंगरेज़" के गुण तो कम, दुर्गुण ही अधिक आ जाते हैं। ऊपरी बातों में यह बहुतों को कहते सुना है कि हिन्दुओं को धर्म्मशिक्षा देना असम्भव है; क्योंकि उनमें इतने मतमतान्तर हैं कि एक ही स्कूल में प्रत्येक सम्प्रदाय के शिक्षक रखना बन नहीं पड़ता। इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार की साम्प्रदायिक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दू-धर्म्म में भी ऐसे अनेक मौलिक सिद्धान्त हैं जो प्रत्येक सम्प्रदाय को मान्य हैं। इन्हीं सिद्धान्तों की तथा इनपर स्थित आचार-नीति की शिक्षा प्रत्येक बालक को छुटपन से ही दी जानी चाहिए और उसे हिन्दू वातावरण में रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। हिन्दुओं की प्राचीन रीतिनीति में उसकी श्रद्धा होनी चाहिये। हमारे नवयुवक अपने माता-पिता, आचार्य्यादि के चरण-स्पर्श से लज्जित होने लगे हैं; आलिंगन के बदले हाथ मिलाना ही पसन्द करते हैं और इसी प्रकार अपने रीतिरिवाज और त्योहार छोड़ते जाते हैं। क्या इस दशा में राष्ट्रीयता के भाव सर्व्वसाधारण में उत्पन्न हो सकते हैं?

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन हिन्दुओं में धर्म्म का ज्ञान शिक्षा का उच्चतम उद्देश्य रहा है। व्याकरण, ज्योतिष आदि विषय वेदांग कहलाते थे, अर्थात् वेद के पठनपाठन में सहायक बनने के कारण ही उनकी शिक्षा दी जाती थी। हमारे दर्शनों का सम्बन्ध भी वेदों से ही था और हमारे इतिहास तथा पुराण भी उसी वेद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये रचे गये थे। इस तरह कहाँ तो हमारी प्राचीन शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य धर्म्म और कहाँ अब की शिक्षा जिस में उसका नितान्त अभाव! जिस प्रकार समुद्रतट पर बँधी हुई नौका के बन्धन टूट जाने से और कर्णधार के न होने से वह समुद्र-तल पर हवा के झोंकों का खिलौना बन जाती और वह उसे जिस दिशा में ले जाती है उसी दिशा में जाने लगती है वैसा ही हाल हमारे नवशिक्षित युवकों का है। हमारे पूर्व्वज आध्यात्मिक बातोंको सर्व्वोपरि मानते थे; अतएव उनकी सन्तान को अपने सहस्रों वर्षों के संस्कारों के विरुद्ध धर्मशिक्षा से वञ्चित रखना

हमारी वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली में एक भारी दोष है जिसकी ज़िम्मेदारी हमारेही ऊपर है-सरकार के ऊपर नहीं। फिर ऐसे विद्यालयों में हमारे युवकों का शिक्षा पाना जिनमें वे एक दूसरेही धर्म्मके वातावरण में रक्खे जाते और उन्हें अपने पूज्य महा पुरुषों के तथा धार्म्मिक सिद्धान्तों के विषय में तीव्र समालोचना ही सुननी पड़ती है धर्म्मकी दृष्टि से कैसा हानिकारक है।

चरित्रसंगठन का सर्व्वोत्तम साधन धर्म्मनीति-शिक्षा है। अपने पूज्य पूर्व्वजोंके चरित्र बालकों के सन्मुख श्रद्धापूर्वक रखने सेवे जातिके उच्च आदर्शोंसे परिचित होते है और उनके सब कार्य्यों का उनके समान होना संभव होता है। इस शिक्षा के अभाव में यदिहमारे युवा पुरुष पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के मायाजाल में फँसकर चरित्रभ्रष्ट होजायें, तो आश्चर्य्य ही क्या? एकतो उनके सन्मुख उच्च आदर्श रक्खे ही नहीं जाते, दूसरे उन्हें अधर्म्मका भय भी नहीं रहता, फिर वे सच्चरित्र क्यों बनने चले? सच तो यह है कि पाश्चात्य सभ्यता को उत्तम और अपनी सभ्यता को हीन समझकर वे उसके उत्तम गुणों का नहीं, दुर्गुणोंको ही ग्रहण करलेते हैं। उनमें अपने पूर्व्वजों के समान आध्यात्मिक बल तो रहता नहीं जिससे वे सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर सम्हल सकें, फिर आध्यात्मिकता की अपेक्षा उन्हें सांसारिकता अर्थात् विषय-सुख ही रुचिकर हो, तो आश्चर्य ही क्या? हमारे शिक्षित भ्राताओं को अपनी रहनसहन में सादगी बिलकुल पसन्द नहीं होती, वे निरे आडम्बर को ही उच्च सभ्यता समझते हैं जो उनकी जातिके प्राचीन संस्कारों के विरुद्ध है। मद्य, धूम्रपानादि जिनसे ब्राह्मणों के पूर्वज बहुत घृणा करते थे और जिनके स्पर्शमात्र से अपने को कलुषित समझते थे अब उनकी सन्तान के लिये परमावश्यक समझे जाते हैं। प्राचीन आदर्शों से हमारे पतन के ये थोड़े से दृष्टांत हैं। यदि हम इन सबका विस्तारपूर्वक उल्लेख करने बैठें, तो एक स्वतंत्र लेख हो सकता है।

वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष तो यह है कि हम जो कुछ सीखते हैं सब अंगरेज़ी भाषा के द्वारा ही सीखते हैं। हम भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि सभी विषय अंगरेज़ी में लिखी हुई पाठ्य पुस्तकों में पढ़ते, हमारे शिक्षकगण उन्हें अंगरेज़ी ही में समझाते और विद्यार्थियों को परीक्षा के समय उत्तर भी अंगरेज़ी में ही लिखने पड़ते हैं। पाठकगण, आप मेट्रिकुलेशन कक्षा के किसी साधारण विद्यार्थी का इन विषयों का एक पाठ मातृभाषा में पढ़ा कर देखिए कि वे उसे कितने शीघ्र मनोगत कर लेते और अपनी मातृभाषा में अपना ज्ञात विषय कैसी अच्छी रीति से लिख सकते हैं? यदि इतिहास का एक पाठ कोई योग्य शिक्षक दें तो विद्यार्थीगण एक बार सुनकर ही उसे कंठ कर लेते और उस पर दिये हुए प्रश्नों का उत्तर बड़ी उत्तमता से लिख या कह सकते हैं। वही पाठ जब अंगरेज़ी भाषा द्वारा दिया जाता है, तो भाषा की कठिनाई आजाने से शिक्षक तथा विद्यार्थी-दोनों को कई गुणा अधिक परिश्रम पड़ता है तोभी उत्तर उतनी अच्छी रीति से नहीं लिखे जाते। सारांश यह कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा न मिलने से हमारे नवयुवकों को बहुत भारी परिश्रम करके स्वास्थ्य खो देने पर भी बहुधा सफलता प्राप्त नहीं होती और जिनको होती भी है वे न तो विचार-शील ही हुआ करते और न उनमें किसी प्रकार की मौलिकता ही पाई जाती है। देखने में आया है कि हमारे वर्तमान विद्वान् जिन्हों ने कुछ मौलिक ग्रंथ लिखे अथवा आविष्कार किये हैं वहुधा हमारे विश्वविद्यालयों में शिक्षित नहीं हुए। किसी ने ठीक कहा है कि यदि डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर कलकत्ता विश्वविद्यालय के एम. ए. या बी. ए. होते तो कदाचित् डिप्युटीकलेक्टरी या वकालत करते २ ही अपना समस्त जीवन-काल व्यतीत कर देते और अपनी कवित्व-शक्ति से उन्होंने जो यश प्राप्त किया है उसका सहस्रांश भी न पा सकते। सर जगदीशचन्द्र वसु आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् विलायती विश्वविद्यालयों के वातावरण में रहकर इस योग्य हुए हैं। जो कुछ हो, पर इतना तो हम निस्संकोच कह सकते हैं

कि हमारी शिक्षा-प्रणाली निरी रटन्त का प्रचार करती है और उसकी टकसालों में मौलिक विद्वान् नहीं बनते।

संसार में ऐसे कितने देश होंगे जहाँ शिक्षा का माध्यम एक विदेशी भाषा रक्खा गया हो? हम तो ऐसे एक का भी नाम नहीं जानते। हम मातृ-भाषा-द्वारा शिक्षा देने के पूर्ण पक्षपाती अवश्य हैं और हाल में यदि मेट्रिक्यूलेशन परीक्षा तक अँगरेज़ी को छोड़ अन्य विषयों की शिक्षा मातृ-भाषा में दी जाने का प्रश्न उठे तो हम तो यही उत्तर देंगे कि कल के बदले आज ही से ऐसा करना उचित है; पर इससे यह न समझा जाय कि हम अँगरेज़ी पढ़ाना अनावश्यक समझते हैं। बात तो यह है कि कई कारणों से अँगरेज़ी भाषा एवं साहित्य का ज्ञान हमारे लिए परमावश्यक है। जो लोग समझते हैं कि हम अँगरेज़ी भाषा जाने बिना सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं वे बड़ी भूल कर रहे हैं। स्मरण रहे कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है और हमारे राजनैतिक नेता चाहे किसी दल के क्यों न हों यही चाहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य की छत्र-छाया में रहकर ही यह देश स्वायत्त-शासन प्राप्त करे; अतएव इस साम्राज्य के प्रायः सभी भागों की भाषा अंगरेज़ी होने से, उसे सीखे बिना, हम उनसे पीछे ही पड़ते जायँगे और हमारी उन्नति का प्रवाह धीरे २ रुक जायगा। पर, इसलिए प्रत्येक बालक को उच्च श्रेणी की अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। मेट्रिक्युलेशन तक उसे अँगरेज़ी भाषा का इतना ज्ञान हो जाना काफ़ी होगा कि वह जिस कार्य्य या धंधे को उठाना चाहे उससे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रंथों को समझ सके। जो विद्यार्थी विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करके ऊँची २ सरकारी नौकरियाँ तथा वकालत, प्रोफ़ैसरी, अंगरेज़ी पढ़ाने के लिए मास्टरी आदि कार्य करना पसन्द करें वे उस भाषा तथा साहित्य का पूर्ण रीति से अध्ययन करके विश्वविद्यालयों की वर्तमान उपाधियाँ प्राप्त करें। पर जिन विद्यार्थियों को धनाभाव या रुचि के कारण उच्च कोटि की अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करना असम्भव है वे अन्य सब विषयों को मातृ-भाषा में ही पढ़कर अंग्रेज़ी भाषा का अमली ज्ञान प्राप्त कर लें। हाँ, मातृ-भाषा का ज्ञान जहाँतक अधिक हो सके प्राप्त किया जाय और साथ ही संस्कृत का इतना बोध होजाय कि प्रत्येक हिन्दू अपना व्यवसाय करता हुआ, अवकाश पाने पर, धर्म-ग्रंथों को पढ़े और समझ सके। जब तक ऐसा कुछ प्रबन्ध नहीं किया जाता और वर्तमान प्रणाली के अनुसार ही शिक्षा दी जाती है, तब तक हम उसे दोष-पूर्ण कहे बिना नहीं रह सकते।

सिपाही-विद्रोह के समय, अर्थात् सन् १८५८ के लगभग, हमारे देश में आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज के बड़े २ विश्वविद्यालयों के सदृश ३ विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा हुई थी। उन दिनों में विलायतवालों का यह मत था कि शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों से यथेष्ट शिक्षा-प्रचार नहीं हो सकता; अतएव केवल परीक्षा लेने वाले तथा आधुनिक विषयों को पढ़ानेवाले कई विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए और तदनुसार लण्डनका विश्वविद्यालय खोला गया था। यह निरा परीक्षा लेने वाला विश्वविद्यालय था और इसकी परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी देश भर में फैले हुए कालेजों में शिक्षा पाते थे। उन दिनों में हमारे यहाँ जिन ३ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई वे सब निरे परीक्षा लेने वाले रक्खे गये और उनके द्वारा निरी पुस्तकी शिक्षा का प्रचार होने लगा जिससे शासन-कार्य्य में तो बहुत कुछ सहायता मिलने लगी; पर देश के कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि को बहुत बड़ा धक्का पहुंचा; क्योंकि इस नवीन शिक्षा के पाने वाले अन्य औद्योगिक कार्य्य करना नहीं सीखते। देशी शिल्प तथा कला-कौशल सभी नष्ट होते जाते हैं; क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा तथा सभ्यता के कारण उनकी भी रुचि एकदम पाश्चात्य हो गई है। ऐसे कितने पढ़ेलिखे भारतवासी हैं जिन्हें चित्रकारी, मूर्तिकारी आदि के तत्वों को समझने की शक्ति है और जिन्हें इन बातों में कुछ रुचि भी हो और वे हमारे प्राचीन ढँगसे निकाले हुए चित्रों को

पसन्द करते हों ? धनी-मानी महाजनों तथा राजा महाराजाओं के घरों में वे ही पाश्चात्य देशों के बने हुए चित्र देखने में आते हैं और उनके विषय तथा दृश्य भी पाश्चात्य ही हुआ करते हैं। जिस शिक्षा से एक तो हमारी रुचिका संस्कारही न होता हो और होता भी हो तो अपने देशी कला-कौशल के विरुद्ध, वह शिक्षा दोष-रहित कैसे मानी जा सकती है ? लार्ड कर्ज़न ने दिल्ली में,दरबार के समय, एक औद्योगिक प्रदर्शिनी खोलते समय खेद प्रकट किया था कि इस देश के लोगों की रुचि इतनी बिगड़ गई है कि वे इस देश के कारीगरों का बनाया हुआ सुन्दर से सुन्दर सामान काम में न लाकर विदेशी रद्दी सामान से अपने कमरे सजाते हैं। लाट साहिब का कथन बहुत ही सत्य है। जिन असली शाल दुशालों तथा ढाका, पाटन के चिकन, तंजेब आदि वस्त्रों का यूरुप आदि देशों में इतना मान था उनके बदले नक़ली दुशाले अब जहाँ देखो वहाँ देखने में आते हैं जिससे यह धंधा दिनोंदिन क्षीण होता जाता है। हमारे यहाँ के जलतरंग, वीणा, सितार आदि वाद्यों का स्थान हार्मोनियम ने ले लिया है। ये सब हमारी रुचि के भ्रष्ट होने के प्रमाण हैं। बड़े हर्ष की बात है कि अब हमारी शिक्षा-प्रणाली की उपर्युक्त त्रुटियों को क्या सरकार और क्या हमारे नेता सभी स्वीकार करने लगे हैं और आशा है कि धीरे २ इन्हें दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा। हम इस विषय में कई योग्य विद्वानों की सम्मतियाँ नीचे देकर यह लेख समाप्त करते हैं।

पाद्री ड. इ. एसहालैंड लिखते हैं—

मैं समझता हूं कि भिन्न २ विषयों का उच्च ज्ञान न होने का कारण शिक्षा के माध्यम की कठिनाई है। कॉलेज के विद्यार्थियों का बहुत सा समय तो अँगरेज़ी शब्दों का अर्थ समझने में ही व्यतीत होता है, फिर विषय का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह कहाँ से आवे। साथ ही, इस कठिनाई के कारण, सरस से सरस विषय भी नीरस मालूम होने लगता है। इस तरह शिक्षा के माध्यम की कठिनाई ही होती तो इतनी हानि न होती, पर हम देखते हैं कि हमारा शिक्षा-पत्र (करिक्यूलम) भी बिलकुल विदेशी ढंग का है जिससे विद्यार्थी पठित विषयों को तो रट लेते हैं, पर उस पर विचार एवं मनन करके उसे हस्तामलक कर लेने में असमर्थ होते हैं। दर्शन-शास्त्र का विषय ही लीजिए। इस विषय में तो भारतवर्ष किसी देश से कम नहीं है; पर हमारे कालेज में जो दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है उसमें एतद्देशीय दर्शनों को स्थान नहीं दिया गया है, बल्कि अरिस्तू, प्लेटो आदि यूनानी दार्शनिकों से लेकर अन्यान्य यूरोपीय फिलासफ़रों के ग्रंथ पढ़ाये जाते हैं। जिस दिन पारिभाषिक शब्द संस्कृत के होंगे और इस विषय की शिक्षा मातृ-भाषा तथा एतद्देशीय दर्शन-शास्त्र में दी जाने लगेगी और इसके साथ २ भिन्न २ दार्शनिक विषयों पर यूरोपीय दार्शनिक विद्वानों के मत बतलाये जायँगे तो अब भी इस देश में मौलिक दार्शनिक विद्वान् निकलने लगेंगे। अभी तो हमारे कॉलेजों में दार्शनिक शिक्षा १०० वर्षों से दी जाती है; पर उनमेंसे कोई ऐसा विद्वान् नहीं निकला जिसका मान यूरुप में हुआ हो।

जिस दिन बंगाल में हमारे विद्यार्थी मातृ-भाषा में शिक्षा पावेंगे और पठित विषय पर मनन करने लगेंगे उस दिन वहाँ की विद्वत्ता चमक उठेगी। राजनैतिक कारणों से अँगरेज़ी भाषा का अमली ज्ञान आवश्यक होने पर भी इस बात की ज़रूरत नहीं है कि कालेजों में अध्यापक लोग अँगरेज़ी में शिक्षा दें और परीक्षाओं में विद्यार्थी-गण अँगरेज़ी में ही उत्तर लिखें।

मान्यवर **मि० जे० जी० कवर्टन**, सी. आइ. इ. लिखते हैं:—

इससे यह न समझा जाना चाहिए कि स्कूलों में प्रत्येक विषय अँगरेज़ी में पढ़ाने की आवश्यकता है। भूगोल और इतिहास की शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा देने में बालकों की कोई हानि नहीं हो सकती। संस्कृत आदि भाषाओं की शिक्षा भी इसी तरह दी जानी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में लाभ है। इन विषयों को मातृ-भाषा में

पढ़ाने से उन्नति शीघ्र होगी और अँगरेज़ी पढ़ने के लिए समय अधिक मिलेगा। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में भी इन विषयों के उत्तर विद्यार्थी मातृ-भाषा में लिखना चाहें, तो लिखने देना चाहिए।

मि० पेट्रिक जेड्स लिखते हैं:—

निज़ाम साहिब ने उसमानिया विश्वविद्यालय खोलकर जिसमें शिक्षा का माध्यम उर्दू है एक बड़ा काम किया है। मुझे भरोसा है कि उस विश्वविद्यालय में अँगरेज़ी की आवश्यक शिक्षा में बाधा न पड़ेगी। मैं आशा करता हूं कि अन्य देशी भाषाओं के विश्वविद्यालय भी खोले जायंगे।

मान्यवर जस्टिस सर जान उडरफ़ लिखते हैं:—

मेरे मित्र मि० हैवल ने ठीक कहा है कि इस देश की आधुनिक-शिक्षा-प्रणाली यहाँ की प्राचीन सभ्यता से मिलकर चलने के बदले उसके विरुद्ध जाती है और सहायक होने के बदले बाधक है। सर जार्ज बर्डउड ने कहा है कि इस शिक्षा-प्रणाली से भारतीयों को अपने साहित्य में प्रेम नहीं रह गया और उन्हें अपने कला-कौशल से हर्ष नहीं होता। वे अपने धर्म्म तथा सनातन से चली आई रूढ़ियों से उदासीन होकर अपने घरों, माता-पिताओं, भाई-बहिनों तथा बाल-बच्चों से असन्तुष्ट रहने लगे हैं। जिन २ घरों में इस शिक्षा का प्रवेश हुआ है उन उन में इसके हानिकारक प्रभाव से असन्तोष फैला है।

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें गुण और दोष न हों। इस शिक्षा से भी भारतीयों को कई अंशों में लाभ हुआ है; पर निदान हानि ही अधिक हुई है। इसका अधिकांश असर क़ौमी बातों पर पड़ा है जिससे इस देश के शिक्षित समाज में प्राचीन जातीय भाव नहीं रहे।

शिक्षा तो ऐसी दी जानी चाहिए जिससे जातीय भाव जैसे के तैसे बने रहें और इस देश के निवासी अपने जातीय लक्षण न खो बैठें। कौन सी सभ्यता अच्छी है पौर्वात्य या पाश्चात्य, ऐसे प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है। भारतीयों के पूर्वजों ने जिस सभ्यता को इतना उन्नत किया है वही उनके लिए स्वाभाविक होने से उत्तम है। सर्व भारतीय देश-हितैषी के इस दावे को कि इस देश की शिक्षा-प्रणाली में उसकी भाषा, इतिहास, साहित्य, कला-कौशल, दर्शन, धर्म्म और सभ्यता को प्रथम स्थान मिलना चाहिए स्वीकार कर उसकी शिक्षा के विषय निश्चित होने चाहिए।

वाणी।

(लेखक—पण्डित रामचरित उपाध्याय)

क्षीर नीर को विलगाता है,
तेरा वाहन भी जब वाणी।
अज्ञ विज्ञ का भेद छिपेगा,
किस प्रकार तुम से तब वाणी॥१॥

जिसने तेरी चरण-रजों का,
किया दृगों में अंजन वाणी।
उसे रात दिन दीख पड़ेगा,
चित्र-लिखित सा त्रिभुवन वाणी॥२॥

तेरे मन्द-स्मित-मुख-सम्मुख,
शारदेन्दु है फीका वाणी।
तेरे तेज साम्हने पड़ता,
मन्द तेज बिजली का वाणी॥३॥

जिसपर तू प्रसन्न रहती है,
उस से सब प्रसन्न हैं वाणी।
जो तेरा सेवक होता है,
उसके जग प्रपन्न है वाणी॥४॥

तेरी वीणा बजी जहाँ त्यों,
मुप्त जगत जग जाता वाणी।
बहुत दिनों का मृतक तुरत ही,
प्राण—दान है पाता वाणी ॥ ५ ॥

जिम विधि तेरे अमित वदन हैं,
भक्तों के भय—हारक वाणी।
त्यों सशस्त्र तेरे अगणित कर,
दुष्टों के भय-कारक वाणी ॥ ६ ॥

तेरा ताण्डव नृत्य यथाविधि,
सज्जन को है सुखकर वाणी।
भैरव गान उसी विधि तेरा,
दुर्जन का है मद-हर वाणी ॥ ७ ॥

समय समय पर तू ही चण्डी,
बन जाती है काली वाणी।
असुरों से पवित्र भारत को,
कर देती है खाली वाणी ॥ ८ ॥

त्रिजग-मौलि भारत को जब जब,
हुई दानवी बाधा वाणी।
तब तब प्रकटित होकर तू ने,
तुरत खलों को साधा वाणी ॥ ९ ॥

एक बार फिर दर्शन दे दे,
प्रतिबन्धक खो जावें वाणी।
कलियुग में भी कृतयुग के सुख,
भारत में हो जावें वाणी ॥ १० ॥

क्षमता कितने प्रकार की होती है?

(लेखक—अध्यापक लज्जाशंकर झा, बी. ए.)

"श्री शारदा" के प्रथम अंक में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया था कि इस संसार में रात दिन जीवन—संग्राम चला हुआ है और यदि कोई मनुष्य या जाति इस पृथ्वी पर सुख से रहना चाहती है, तो उसे हर तरह सक्षम बनने की कोशिश करनी चाहिए। इतना ही नहीं, वरन जितनी अधिक क्षमता आ सके उतनी प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि क्षमता कहते किसे हैं, और वह कितने प्रकार की है? इस लेख में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जायेगा।

इन प्रश्नों पर विचार करने के पहले हमें यह देखना चाहिए कि मनुष्य क्या है? मनुष्य के शरीर है, जिसे इस स्थूल पृथ्वी से समागम रखकर और प्रकृति के नियमों का पालन करके सुरक्षित रखना पड़ता है। यदि यह शरीर किसी कारण से नष्ट हो जावे तो इस पृथ्वी पर से उस व्यक्ति का इतिहास ही समाप्त हो जाता है और जीवात्मा की बुद्धि अथवा नैतिक बल से समाज को कोई लाभ नहीं होता; परन्तु मनुष्य शरीर के सिवा कुछ और भी है, अर्थात् उसमें बुद्धि है। उसी बुद्धि के सहारे वह अन्य जीवों पर अपना प्रभुत्व जमाये है। इतना ही नहीं, मनुष्य समाज-प्रिय जीव है, उसे अकेले रहना पसन्द आता नहीं और यदि उसे किसी निर्जन वन में अकेले रहना पड़े तो वह घबड़ाकर प्राण

त्याग देगा। जब स्वभावानुकूल उसे समाज में रहना ही है तब उसे उन गुणों के प्राप्त करने की भी आवश्यकता है जिनके रहने से ही मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। नीतिज्ञों ने जो नियम बनाये हैं वे अनुभव-सिद्ध हैं, अर्थात् अब अनुभव-द्वारा उन लोगों ने यह देखा है कि अमुक नियमों के पालन करने से ही मनुष्य अपने समाज में सुख-पूर्वक अथवा सफलता-पूर्वक रह सकता है।

उपरोक्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि जिस मनुष्य या समाज को जीवन-संग्राम में विजय पाना हो उसे तीन प्रकार की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और नैतिक। इसका अर्थ यह है कि उसमें तीनों प्रकार के बल चाहिए। यदि केवल शारीरिक बल से ही किसी जाति को उद्धार मिलने वाला होता तो अफ़ग़ानिस्तान के निवासियों की टक्कर की अन्य कोई जाति दुनियाँ में न मिलती; क्योंकि शारीरिक बल में इस पृथ्वी के किसी भी अन्य देश के निवासी काबुलियों की बराबरी कठिनाई से कर सकेंगे। पोलैंड देश के निवासी शारीरिक बल में युरोप की अन्य जातियों की अपेक्षा बढ़ कर माने जाते हैं; परन्तु जीवन-संग्राम में उनका नम्बर पीछे पड़ा हुआ है। सभ्यता तथा व्यापार की होड़ में आगे आने के लिए अन्य गुणों की भी आवश्यकता है। साथ ही, यह भी सत्य है कि जिस जाति के लोगों में से किसी कारण से शारीरिक बल निकल गया है, उस जाति को, अन्य सब गुणों के होते हुए भी, जीवन-संग्राम में पीछे हटना पड़ता है। इस समय बंगाल देश की विचित्र स्थिति हो रही है। यदि बुद्धि देखी जाय तो वहाँ के लोग बहुत बढ़े-चढ़े हैं और साहित्य, विज्ञान आदि के अनेक अंगों में बंगाली विद्वान् नाम कमा रहे हैं। डा० रवीन्द्रनाथ टागोर सरीखे कवि, सर जगदीशचन्द्र बोस और डाक्टर राय सरीखे वैज्ञानिक, लार्ड सिंह, डाक्टर घोष सरीखे राजनीति-विशारद इत्यादि अनेक विद्वान् तथा एंजिनियर, डाक्टर, चित्रकार, शासन-कर्त्ता इत्यादि हैं जो इस देश में तो क्या, कई तो सारी सभ्य दुनियाँ में नाम कमा रहे हैं। इतना होने पर भी यदि कलकत्ते और बंगाल की दशा देखी जाय, तो वह बड़ी शोचनीय है। कारण कि मलेरिया ने वहाँ के निवासियों को बल-हीन और चेष्टा-हीन कर दिया है। जहाँ केवल बुद्धि की दौड़ या बैठे बैठे काम करना हो वहाँ तो वे लोग बहुत कुछ कर दिखाते हैं; परन्तु जहाँ शारीरिक परिश्रम करने, पुरुषार्थ दिखाने या दौड़धूप का काम पड़ता है वहाँ उन बिचारों को पिछड़ना पड़ता है।

कलकत्ता शहर बंगाल देश की राजधानी है; पर वहाँ का सारा व्यापार उत्तर हिन्दुस्थान के निवासियों तथा मारवाड़ियों के हाथ है। वे लोग लाखों रुपये बनाते और मालामाल हो रहे हैं; पर उसी देश के अत्यन्त अधिक शिक्षित तथा बुद्धिमान बंगाली एम. ए., बी. ए., एल. एल. बी., आदि परीक्षाएँ पास कर छोटी छोटी तनख़ाहों पर भूखे मर रहे हैं। इसी प्रकार बंगाल देश के ज्यूट के कारखानों में तथा वहाँ की खदानों में जहाँ काम कड़ा रहता और वेतन अधिक है परदेशी आदमी भरे हुए हैं। बिचारे बंगालियों को कोई पूछता नहीं। इसमें बंगालियों का दोष नहीं। मलेरिया के कारण उनके शरीर

का रस ऐसा निकल गया है कि पुरुषार्थी काम करने के समय उन्हें मुँह छिपाना पड़ता है। यदि कोई उद्योग करके उनके देश से मलेरिया निकाल दे, तो ये ही बंगाली ऐसे ऐसे काम करने लगेंगे कि सभ्य संसार उन्हें देख कर विस्मित होगा। इस जाति में अनेक गुण हैं जिनके कारण वह अवश्य ऊपर जावेगी; किन्तु अभी तो वह मलेरिया-रूपी सन्निपात ज्वर से बेकाम हो रही है।

अब ज़रा नैतिक बल की तरफ देखना चाहिए। यहाँ भी प्रकृति का अवलोकन करने से हमें इस विषय पर विचार करने में सहायता मिलती है। दुनियाँ में दो प्रकार के प्राणी होते हैं। एक तो सिंह, व्याघ्र, चीता आदि हैं। इनमें शारीरिक शक्ति अधिक होने के कारण, मद बहुत रहता है और ये अकेले रहना पसन्द करते हैं। इसीका लाभ उठाकर शिकारी लोग एक के बाद एक को घेर कर उनका नाश करते जाते हैं। इसी हिन्दुस्थान देश में एक हज़ार वर्ष पहिले, जहाँ वन वन में सिंह थे, अब कदाचित् एक या दो सिंह बच रहे हैं और व्याघ्रों की संख्या भी शिकारियों के मारे दिनों दिन घटती जा रही है। कुछ दिनों बाद इनके नाम केवल ग्रन्थों में देखने को मिलेंगे। यदि इनमें परस्पर सहायता करने की आदत होती तो इनका नाश इतनी सुगमता से न हो सकता।

सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं के मुक़ाबिले चींटी, मधुमक्खी, बर्रे आदि को देखिए, इनमें शारीरिक बल कितना कम रहता है; एक को पकड़ नाश कर देने में लोगों को कठिनाई ही क्या है? पर इन जीवों में पारस्परिक सहकारिता-रूपी नैतिक गुण इतना बढ़ा-चढ़ा है कि कमज़ोर होते हुए भी वे आत्म-रक्षा में समर्थ रहते हैं। शेरनी की माँद में जाकर उसे छेड़ जीवित लौट आना एक बहुत कठिन काम नहीं है; पर मधुमक्खिका या बर्रे के छत्ते को कोई भला छेड़ तो आवे! छत्ते पर के जीव एकादिल हो, एक दूसरे की सहायता करते हुए छेड़ने वाले की नाकोंदम कर देंगे। यदि इन तीनों प्रकार के कीड़ों का बारीकी से अवलोकन किया जावे तो मालूम होगा कि इनका सारा जीवन समाज-सेवा में ही जाता है। कोई भी व्यक्ति स्वार्थ के लिए कुछ नहीं करता; सब कुछ अपनी समाज के लिए करता है। इसी कारण ये प्रबल से प्रबल नवीन शत्रु से भी अपनी रक्षा कर सकते हैं।

मनुष्य भी इन्हीं कीड़ों के समान समाज-प्रिय जीव है। उन्हींके समान यह भी शारीरिक क्षमता में हीन है। यदि मनुष्य-जाति के लोग परस्पर सहायता करना और स्वार्थ-रहित बुद्धि से काम करना न सीखते तो इस दुनियाँ में उनकी ख़ैरियत न रहती; पर फिर भी किसी किसी जाति के लोगों ने इस गुण की विशेष उन्नति की है और किसी ने बहुत कम। इतिहास से भी यही ज्ञात होता है कि जिस जाति में परस्पर सहकारिता अधिक है उसीने कम सहकारिता वालों पर विजय पाई है; कम सहकारिता वालों ने जीवन-संग्राम में कभी जय नहीं पाई।

यदि इस दृष्टि से देश की स्थिति का अवलोकन किया जावे, और विशेष कर हिन्दू समाज का, तो मालूम होगा कि हम लोगों में परस्पर सहायता देने और एक दूसरे का भरोसा करने की शक्ति बहुत ही न्यून है। हिन्दू समाज ऊँच

नीच के झगड़ों में ऐसा फँसा हुआ है कि वह कभी एकबुद्धि हो सहकारिता से काम करना सीखता ही नहीं।

इस समाज में बातें जिस प्रकार की होती हैं वे दुहराने लायक हैं। बंगाली ब्राह्मण नीच हैं, क्योंकि वे मछली खाते हैं; कान्यकुब्ज नीच हैं, क्योंकि वे मांस खाते हैं; सरयूपारी नीच हैं, क्योंकि उनके पूर्वजों में से किसी ने धोखे में दान ले लिया; सनाढ्य नीच, क्योंकि चली रोटी खाते हैं; गौड़ ब्राह्मण नीच, क्योंकि मशक का पानी पीते हैं; दक्षिणी नीच, क्योंकि वे प्याज खाते हैं; गुजराती नीच क्योंकि उनकी औरतें काँछ नहीं लगातीं; सारस्वत नीच, क्योंकि वे अपने खत्री यजमानों के हाथ का भोजन कर लेते हैं। वाह वाह, यदि सवाल पूछा जाय कि फिर ऊँच कौन रहा—सभीको तो नीच बना दिया? उत्तर मिलेगा कि केवल हम ऊँच, शेष नीच। दूसरा कहेगा कि वह कहाँ का ऊँच है? वह तो महा नीच! ऊँचे तो हम हैं। इसी तरह एक दूसरे की पत्तल में छेद करने में हिन्दू समाज मग्न है। हिन्दू समाज में एका हो, तो कहाँ से हो? हरएक घर में, हरएक गाँव या प्रदेश में अलग अलग इष्ट देव विराजे हुए हैं। हरएक जाति की ढाई चाँवल की खिचड़ी अलग ही पकती है। न कोई किसी का, न अपने राम किसी के, यही हाल हो रहा है।

हिन्दुस्थान का इतिहास देखने से इस प्रकार के ऊँच-नीच भाव का बुरा परिणाम प्रत्यक्ष देखने में आता है। आल्हा ऊदल की ५२ लड़ाइयाँ क्यों हुईं? "ओछी जात बनाकर की है, तिन सँग ब्याह करन के नाँय।" इधर औरों की यह ऐंठ कि हम ओछी जाति के आल्हा ऊदल को लड़की न देंगे, उधर इन भाइयों का भी यह हौसला कि अच्छा, हम इनकी लड़की अवश्य लेंगे। इस कारण अनेक लड़ाइयाँ लड़कर क्षत्रिय लोग कटमर गये और जब मुसलमानों ने इस देश पर चढ़ाई शुरू की, तब उनका साम्हना करने योग्य कोई राज-शक्ति न रही।

इसी भाव के कारण कन्नौज वाले खड़े तमाशा देखते रहे और दिल्ली का राज्य टूट गया। जब कन्नौज के गिरने की पारी आई, तब अन्य-राजपूत राजे भी खड़े देखते रहे। फल यह हुआ कि धीरे धीरे सब राज्य नष्ट हो गये; पर हिन्दू समाज को यह बुद्धि न आई कि शत्रु के विरुद्ध सहकारिता के बिना कुशल नहीं। आगे मेवाड़ तथा अन्य राजपूत राज्यों पर अनेक आपत्तियाँ आईं; पर इसी ऊँच-नीच भाव के कारण अन्य राजपूत राज्य कचित् ही सहायता दे सके। बंगाली साहित्य के शिरोमणि बाबू द्विजेन्द्रलाल राय ने अपने प्रसिद्ध 'दुर्गादास' नाटक में वीर दुर्गादास के मुख से इस विषय पर बड़े ही मार्मिक वचन कहलाये हैं। पच्चीस तीस वर्ष तक वीर दुर्गादास इस उद्योग में रहा कि मुग़लों की बादशाहत टूट कर हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो जाय; पर अन्त में हारकर यही कहा कि राजपूतों को मुग़लों की गुलामी पसन्द है; पर आपस में ही किसीको बड़ा मान कर उसे सम्राट् बनाना उन्हें कदापि स्वीकार नहीं। यही हिन्दुस्थान के इतिहास का सार है।

जहाँ जहाँ किसी राज्य पर आपत्ति आई वहाँ शत्रु के विरुद्ध सब लोगों का एक होना तो दूर रहा, आपस में ही लड़ मरे। पानीपत की भयंकर लड़ाई में जिस समय मरहठी बादशाहत डाँवाँडोल हो रही थी उस समय मरहठे सरदार क्या कर रहे थे ? उनके सेनापति ने होलकर को यह कहकर कि 'तू तो गड़रिया है, तू जंगी मामले क्या समझे' उदासीन कर दिया। किसीने व्यंग वचन सुनाये कि अमुक तो जूते-बर्दार है, वह क्या लड़ेगा ? एक कहता है कि अजी, जाटों में कभी अक्ल रही कि सूरजमल सलाह देने बैठा है। जिस समय अहमद-शाह दुर्रानी सरीखा चैतन्य और बहादुर शत्रु साम्हने लड़ने को खड़ा था, उस समय क्या ऐसे ऊँच-नीच के झगड़े पेश करने का समय था ?

ये तो हुई ऐतिहासिक बात। अब देखिए कि सहकारिता होने न होने से व्यापार पर क्या असर होता है ? रंगून शहर का व्यापार मद्रास अहाते के सेठों के हाथ में बहुत कुछ है; उसके कई कारण हैं। मुख्य तो यह है कि इन लोगों ने ऐसी व्यवस्था कर ली है कि किसी भी सेठ के धन-हीन होने पर किसी का देना न रह जाय। नतीजा यह कि सेठ को दिया हुआ रुपया कभी डूबता नहीं, यदि वह न दे सके तो दूसरे सेठ रुपये का भुगतान कर देते हैं। किसी सेठ के घर में केवल चटाई-लोटा हो, और कपड़े-लत्ते भी न हों, पर जहाँ रुपयों की उसे ज़रूरत हुई कि अच्छे से अच्छा महाजन कम ब्याज पर उसे रुपया दे देगा। इसलिए जैसा व्यापार ये लोग कर सकते हैं दूसरी जाति के लोग नहीं कर सकते।

एक दूसरी जाति के व्यापारी कलकत्ते में हैं, जिनकी बुद्धि व्यापार-सम्बन्धी बातों में विलक्षण ही समझना चाहिए और उनमें कई और भी गुण हैं जिनके कारण कलकत्ते शहर का व्यापार बहुत कुछ उनके हाथ में आ गया था, परन्तु रंगून के सेठों के समान उन्होंने अपनी जाति का यश कायम रखने की चेष्टा नहीं की। इस जाति वाले थाली-लोटा लेकर घर से आते हैं, परन्तु अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण दूसरों का रुपया खींच व्यापार करते और जब पैसा अच्छा हो जाता है तब सब धन घर भेज दिवाला निकाल और कहीं चल देते हैं। लोगों का ऐसा ख्याल हो जाने से इस जाति के लोगों की साख नहीं रही, उनका कोई भरोसा नहीं करता, उन्हें बिना अच्छी जमानत और ऊँचा ब्याज दिये कोई कर्ज नहीं देता। इस जाति का अपयश हो जाने से इसका पाया धीरे धीरे खिसकता जाता है और अनेक गुणों के होते हुए भी, नैतिक तथा सहकारिता का बल न होने से, उसे व्यापार में नीचा देखना पड़ता है।

सहकारिता न होने के भयंकर परिणाम के उदाहरण सन १९१३ ई० में बैंकों के बिगड़ने के समय देखने में आये। उस साल महाजनों तथा बैंकों के लिए एक भूकम्प सा हो गया। इण्डियन पीपुल्स बैंक तथा इन्डियन स्पीसी बैंक के बिगड़ने पर बाज़ार में हुल्लड़ मच गया और सब बैंकों से लोगों ने रुपया उठाना शुरू किया। इसके कारण अनेक अन्य बैंक बिगड़ गये और उनके दिवाले निकल गये; परन्तु अंग्रेजी बैंकों ने एक दूसरे की सहायता की और इस कारण वे ज्यों के त्यों रहे। हिन्दुस्थानी बैंकों ने एक दूसरे की

सहायता न की, केवल अपना ही अपना देखा। इसीसे उनको हानि हुई। पीछे से मालूम हुआ कि बहुतेरों की दशा कुछ बुरी नहीं थी और उनके क़र्ज़दारों को कोई नुकसान नहीं हुआ; पर समय पर जाति-भाइयों की सहायता न मिली; इससे वे डूब गये।

नैतिक क्षमता अनेक प्रकार की है; पर इस लेख में केवल एक ही प्रकार की नैतिक क्षमता पर अवधारण दिया गया है। शेष प्रकार की नैतिक तथा मानसिक क्षमताओं का विवरण फिर कभी देने का प्रयत्न किया जायगा।

सार यह कि जीवन-संग्राम में जय पाने के लिए शारीरिक, मानसिक और नैतिक—तीनों प्रकार की क्षमता मनुष्य, समाज या व्यक्ति को प्राप्त करनी चाहिए।

प्रसिद्ध तत्त्वान्वेषी जर्मन विद्वान् फ़्रेडरिक निट्शे।

(लेखक—पं० रामदयाल तिवारी, बी. ए., एल. एल. बी.)

इस सृष्टि में साधारण मनुष्य जन्म लेकर संसार के साधारण व्यवहारों का पालन करता हुआ और सृष्टि में कोई विशेषता न देखता हुआ अंत में अपने भौतिक शरीर को त्याग कर लोकांतरित हो जाता है। यदि उसके जीवन के कार्यों का वर्गीकरण किया जाय, तो उसका समस्त जीवन-चरित्र "आहारनिद्राभयमैथुनम्" के अंतर्गत आ जाता है। साधारण वर्ग के लोगों का जीवन-चरित्र इसीलिए न लिखा जाता और न पढ़ा ही जाता है; परन्तु विकास की किसी विशेष अवस्था में प्राप्त हुए मनुष्य के लिए यह सृष्टि उस पुस्तक के समान है, जो खुली पड़ी है; परंतु जिसके शब्दों के अर्थ और वाक्यों के आशय समझने में यदि मनुष्य अपना एक नहीं, अनेक जन्म व्यतीत कर दे तो कदाचित् इस विराट् ग्रंथ का संतोषपूर्वक अभ्यास कर सकेगा। मानवी सभ्यता का इतिहास इस बात की मुक्तकंठ से साक्षी दे रहा है। विचार-शील विद्वानों के लिए निस्संदेह यह सृष्टि नितांत रहस्य-मयी है। इसमें प्रत्येक घटना भूल-भुलैयाँ के चक्कर में डालकर अच्छे अच्छे कुशाग्रमति विद्वानों को छकाया करती है। "इसका मूलाधार प्राण कहाँ है?"—इस प्रश्न को लेकर मनुष्य साहस-पूर्वक अग्रसर होता है; परन्तु इसकी विलक्षण वेष-भूषा को देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़ होता हुआ ज्योंही वह इस विशाल-वसना के किसी अंचल को पकड़ता है, त्योंही वह उसी छोर में ऐसी बुरी तरह उलझ जाता है कि उसकी दृष्टि रुद्ध और मति कुंठित हो जाती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि संसार की बाल्यावस्था से आज तक सृष्टि और मनुष्य के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रचलित हो चुके हैं, और पौधों में प्राणों के अस्तित्व को ढूँढ़ निकालने वाले से लगाकर मिट्टी और सुरम के खदान दिखाने वाले तक अपने को एक समान अन्वेषण-कर्ता मानते आये हैं।

हमारे चारों ओर का यह नैसर्गिक फैलाव यदि सचमुच रहस्यों से भरा हुआ है, और यदि इन रहस्यों के उद्घाटन करने का पूरा पूरा दावा करना वर्तमान मनुष्य-शक्ति के बाहर है तो यह मानना होगा कि जिन २ लोगों ने प्राकृतिक आशयों का थोड़ा बहुत भी चिंतन किया है उन सब को अपने अपने सिद्धान्त संसार के साम्हने रखने का पूरा २ अधिकार है, और संसार के लोगों का यह भी कर्तव्य है कि उन परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों को शांतिपूर्वक सुनें और यथाशक्ति उनपर विचार करने के बाद उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करें; परंतु यह देखकर प्रत्येक विचारवान् मनुष्य को खेद होता है कि लोग उन विचारों को नहीं छोड़ना चाहते जो प्रचलित हो चुके हैं और जिनका उनके मन पर अधिक संस्कार हो चुका है। हमारी समझ में मनुष्य-स्वभाव का यह दोष उसकी उन्नति का बाधक है।

संसार के इतिहास की ओर यदि आप दृष्टिपात करें, तो मालूम होगा कि प्रत्येक युग में दो चार महापुरुष ऐसे अवश्य हुए हैं जिन्होंने सृष्टि-समस्या को हल करना अपने जीवन का एकमात्र उद्देश बनाया और जब

तक इस लोक से उनका संबंध रहा तब तक वे सांसारिक आमोद-प्रमोद से उदासीन रहकर उसी धुन में मस्त रहे। संसार में ऐसी कोई भी सभ्य जाति नहीं हुई है जिसने दो चार मनन-शील महापुरुषों को जन्म न दिया हो। पश्चिमी देशों में साक्रेटीज़, प्लेटो, ह्यूम, कॉंट, बर्कले, स्पेंसर, शोपनहर इत्यादि अनेक नाम सुनने में आते हैं। हिंदुस्थान की ख्याति इस संबंध में और भी अधिक है। विद्वानों का कहना है कि भारत की भूमि नाना प्रकार के तात्विक विचारों की जननी है और ब्रह्म-चिंतन-शील महापुरुष यहाँ कितने हो गए, उनके नाम गिना देना कठिन है।

आज इस लेख में हम पाठकों को एक ऐसे चिंतन-शील विद्वान् का परिचय देना चाहते हैं जिसने सत्यानुसंधान में अपना सारा जीवन बिता दिया और अपने सिद्धान्तों को निर्भीकता-पूर्वक प्रकट करने में जिसने किसी की कुछ भी परवाह न की। इसका नाम है—फ्रेडरिक निट्शे। जर्मन प्रशिया के सेक्सनी प्रांत के अंतर्गत रॉकन नाम के एक छोटे से गाँव में इसका जन्म सन् १८४४ में हुआ। इसके पिता उसी गाँव के पादरी थे। इसकी माता भी किसी पादरी की ही कन्या थी। इन्हीं दो धर्म-प्राण दम्पती से निट्शे का जन्म हुआ। विस्तार-पूर्वक न लिखकर हम पाठकों को निट्शे की शिक्षा-क्रम का थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र करा देते हैं। नामबर्ग के किसी ग्रामीण-स्कूल में उसकी प्रारंभिक शिक्षा का सूत्रपात हुआ। इसके बाद वह कुछ दिनों तक बान विश्वविद्यालय में रहकर फिर लिपज़िग विश्वविद्यालय को चला गया और वहीं अपना अध्ययन समाप्त करके वह बेल विश्वविद्यालय में भाषा-शास्त्र का अध्यापक हो गया। छात्रावस्था में ही उसने ग्रीक और लैटिन साहित्य में पूरा २ अधिकार प्राप्त कर लिया था। भाषा-शास्त्र का तो वह प्रतिभाशाली पंडित ही था। इसके सिवा निट्शे के कुछ पूर्व संस्कार ऐसे थे कि वह बाल्यावस्था से ही धर्म-ग्रंथ अधिक पढ़ा करता था। छोटी अवस्था में भी उसके हाथ में बाइबिल हमेशा रहा करती थी और अपने धर्म के रंग में वह उन दिनों इतना रँगा हुआ था कि वह अपने पिता के समान पादरी-पद पर नियुक्त होकर लोगों को धर्म-शिक्षा देना अपने जीवन का लक्ष्य समझता था। उसकी धर्माभिरुचि को देखकर उसके साथ के पढ़नेवाले विद्यार्थी उसे बाल-पादरी के नाम से पुकारते थे।

जैसे जैसे वह अपनी शिक्षा में आगे बढ़ता गया वैसे वैसे उसने और और धर्म-ग्रंथों का तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का परिशीलन किया। ग्रीक और लैटिन-साहित्य में तो उसने इस विषय का एक भी ग्रंथ नहीं छोड़ा। वह इस विषय की पुस्तकों में केवल पढ़ता ही न करता था, वरन पढ़े हुए तात्विक सिद्धान्तों पर घंटों मनन किया करता था। यह मनन-शीलता उसमें इतनी अधिक थी कि वह हफ्ते में कभी एकाध बार कॉलेज-परिधि से बाहर, अपने संबंधियों से मिलने, जाया करता था। अधिकांश समय वह अपनी कोठरी के अंदर ही बिताया करता था।

छात्रावस्था की इस प्रकृति का परिणाम यह हुआ कि निट्शे को मित्र कहने वाले उसके जीवन-काल में केवल दो चार इने गिने लोग ही थे। साधारण पहचान भी उसकी बहुत कम लोगों से थी। सांसारिक आमोद-प्रमोद और व्यवहारों से उसमें जो अलौकिक विरक्ति थी वह उसकी बाल्यावस्था में ही प्रकट हो चुकी थी। निस्संदेह इस जन-संख्या-पूर्ण जग में रहकर भी निट्शे आजीवन अकेला रहा। एक स्त्री का संबंध भी उसके भाग्य में नहीं बदा था। अध्यापन-कार्य से हाथ खींच लेने के बाद वह सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान में एक त्यागी साधु के समान विचरण करता रहा; और सो भी जन-समुदाय में नहीं, समुद्र के निर्जन तटों में, पर्वत-मालाओं की नीरव और निस्तब्ध घाटियों में, या सूर्य-ताप से संतप्त पथरीले मैदानों में। उसके केवल दो साथी थे, मन के विचार और पॉकेट की एक छोटी सी नोटबुक।

वह प्रतिदिन प्रातःकाल अपने निवास-स्थान से बाहर निकल जाया करता और दिन भर निर्जन स्थानों में घूमता फिरता शाम को लौटता था। यों तो उसके विचारों का स्रोत उठते-बैठते, खाते-पीते, रातदिन, अनर्गल-रूप से बहा करता था; परंतु उसके तात्विक सिद्धान्तों का स्वरूप प्रायः निर्जनता में ही निश्चित हुआ करता था। कई बार वह खड़ी दोपहरी की गरमी में किसी निर्जन स्थान में, वृक्ष के नीचे, मगर के समान पड़ा हुआ, विचार-तल्लीनता के कारण समाधि की अवस्था में, पाया गया। संध्या-समय अपने निवास-स्थान को लौटने पर यदि उसे इच्छा होती तो लैंप की गरमी में अपना भोजन वह आप ही बना लेता था। यदि भूख न लगती, तो वह उसी प्रकार अँधेरे में ही पड़ा रहता था। कभी कभी उसको ऐसी

दशा में देखकर पड़ोस का कोई भला आदमी उसके कमरे में एकाध जलता हुआ चिराग़ रख जाता था। इसके पलटे में निट्शे अपने विचारों का सिलसिला थोड़ी देर के लिए बंद करके शिष्टता-पूर्वक उसे धन्यवाद दे देता था। इसमें संदेह नहीं, इस मनन-शील विद्वान् का एकान्त-सेवन इसीके योग्य था।

निट्शे स्वभाव का बहुत खरा था। इसके साथ साथ अपने विचारों के सामहने वह सारे संसार को तृणवत् समझता था। अपने सिद्धान्तों का समर्थन करने में वह ज़मीन और आसमान एक कर देता था। उसकी सिद्धान्त-प्रतिपादन की शैली इतनी ज़ोरदार थी कि विपक्षियों के लिए वह एक भयंकर आँधी के समान प्रकट हुआ करती थी। जिसके विरुद्ध उसने अभिधारा को भी मात करने वाली अपनी लेखनी उठाई वह फिर सँभलते नहीं देखा गया।

इन्हीं कारणों से संसार में उसकी किसीसे भी न पटी। एक तो उसके मित्र ही कम थे; और जो थे उनसे भी वह कालांतर में बिगड़ बैठा। उन्हीं दिनों में वेगनर नाम के एक बड़े संगीत-शास्त्रज्ञ हो चुके हैं। इनसे पहले पहल निट्शे की बड़ी मित्रता थी। उसने वेगनर की प्रशंसा में एक लेख भी लिखा और अपने मित्र के विचारों को प्रचलित करने में अपनी सामर्थ्य-शालिनी लेखनी का उपयोग भी किया; परंतु थोड़े दिनों के बाद निट्शे उसी मित्र से न जाने क्यों इतना बिगड़ बैठा कि उसके विचारों की उसने कड़े से कड़े शब्दों में आलोचना कर डाली। विचार-क्षेत्र में भी वह ऐतिहासिक पुरुषों से बेतरह बिगड़ा करता था। इसका उल्लेख प्रसंगानुसार आगे कुछ विशेष किया जावेगा। परंतु भगवति भवितव्यते! संसार तुम्हारी माया की विचित्रता पर मुग्ध है। जो निट्शे ईसाई धर्म की सेवा करना अपने जीवन का परम से परम लक्ष्य समझता था उसीकी तीखी लेखनी के कठोर आघात से ईसाई मत इतना क्षत-विक्षत और छिन्न-भिन्न हो चुका है कि शायद वह सदियों तक दर्द की आहों से कराहता रहेगा। इसके ग्रंथों के पढ़ने से मालूम होता है कि ईसाई मत का इसके समान सच्चा, कट्टर और निर्भीक विरोधी शायद ही कोई हुआ हो।

यह प्रायः सभी जानते हैं कि धर्म-संबंधिनी बुद्धि-संकीर्णता जो विशेष कर अशिक्षित लोगों में पाई जाती है शिक्षित लोगों में नहीं रहती। यह तो साधारण शिक्षित लोगों की बात है; परंतु यदि कोई सत्यानुसंधान-प्रेमी हुआ तब तो उसके विषय में यह कहा ही नहीं जा सकता कि विस्तृत विचार-सागर में डूबती-उतराती उसकी नैया किस किनारे पर जाकर लगेगी। निट्शे के मन में सत्यानुसंधान की जो उत्कंठा थी वह श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने योग्य है। सत्य की पिपासा उसे इतनी अधिक थी कि वह अपने अंतिम दिनों तक ओंठ चाटता रहा।

जिस धर्म में उसका जन्म हुआ था उससे उसने अपना संबंध कच्चे सूत के समान तोड़ दिया। मातापिता तथा परिवार के लोगों का विरोधी बन बैठा। विचार-स्वातंत्र्य से प्रेरित होकर वह संसार भर से लड़ा। सांसारिक आमोद-प्रमोद से विरक्त होकर, शीत और गरमी की परवाह न करके, अपने विचारों में लीन रहकर, वह निर्जन स्थानों में फिरा किया। अपने सिद्धान्तों के कारण संसार भर से भी अपने को निन्दित होते देखकर उसे आत्म-ग्लानि छू तक न गई। सत्यप्रेम! यदि तेरा निवास ऐसे महापुरुषों में नहीं है, तो हम यह कहने के लिए तयार हैं कि तू है ही नहीं।

छात्रावस्था में निट्शे शोपनहर का बड़ा भक्त था। उन दिनों में उसकी धारणा थी कि शोपनहर के समान विचार-शील महापुरुष संसार भर में कोई नहीं हुआ। उन्हें वह अपना गुरु मानता था। लेकिन थोड़े ही दिनों में उसे शोपनहर के सिद्धान्तों में कुछ कमज़ोरियाँ दिखाई देने लगीं और उसने अपना मन उनकी ओर से फेर लिया। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस तत्व-वेत्ता के सिद्धान्तों का प्रभाव निट्शे के विचारों पर बहुत कुछ पड़ा। ईसाई मत से निट्शे को बिलकुल विरक्त कर देने वाले विचार इन्हीं महाशय के थे।

निट्शे में इच्छा शक्ति इतनी विलक्षण थी कि वह कैसा ही कठिन काम क्यों न हो बायें हाथ का खेल समझता था। काम करने में थकावट उसे कभी नहीं हुई। जिन दिनों वह अध्यापक था, अपना अध्यापन-कार्य तो करता ही था, इसके सिवा वह गहन विषयों पर बड़ी बड़ी वक्तृताएँ दिया करता था और भाषा-शास्त्र तथा अन्यान्य विषयों पर पाण्डित्य-पूर्ण लेख भी लिखा करता था। इसी सिलसिले में हम यहाँ यह भी बता देना चाहते हैं

कि निट्शे शारीरिक अस्वस्थता से जन्म भर पीड़ित रहा, शरीररोग से वह हमेशा त्रस्त रहता था। पर उसने अपनी शारीरिक अवस्था की परवाह कभी नहीं की और बीमारियों से वह सदैव कमर कस कर लड़ता रहा।

जब कभी उसे लिखने या पढ़ने का अधिक काम रहता और ऐसी दशा में वह यदि अधिक से अधिक ज्वर या शिरोवेदना से ग्रस्त हो जाता, तो भी वह अपनी इच्छाशक्ति से अपने रोगी शरीर को खींच कर मेज़ के पास ले जाता और घंटों काम किया करता था। पाठकों को आगे मालूम होगा कि उसका यह व्यवहार उसके सिद्धान्तों के अनुकूल ही था। उसने एक बार यह प्रकट भी किया था कि जिस समय मेरा शरीर रोग से त्रस्त होकर काम करने के लिए नितान्त अयोग्य हो जाता है उस समय मैं उसे एक सिसकते हुए लड़के के समान खींच कर ज़बरदस्ती उससे लिखने-पढ़ने का काम लिया करता हूँ। मेरी इच्छा के सामने उसकी इतनी हिम्मत कहाँ कि वह किसी प्रकार विरोध करे। उसे सिर झुकाना ही पड़ता है। मैं उसी समय अधिक काम करता हूं जिस समय रोगग्रस्त रहता हूं।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि निट्शे के विचारों का स्रोत धारा-रूप में एकसा बहा करता था और वह सदैव तत्व-चिंतन में ही तल्लीन रहता था। कालांतर में उसकी अस्वस्थता बढ़ती गई और वह उसके ग्रंथ-लेखन-कार्य में बड़ी बाधा पहुँचाने लगी। तब उसने एक उपाय सोचा। अपने विचारों को वह विस्तार-पूर्वक न लिख कर उन्हें सूत्रों के रूप में प्रकट करने लगा। जर्मन-भाषा में संस्कृत भाषा के समान यह विशेषता पाई जाती है कि उसमें विचार सूत्र-बद्ध किये जा सकते हैं। तब से वह अपने विचारों को छोटे छोटे सूत्रों में भर कर इस शीघ्रता से फेंकने लगा, जैसे कारखाने से दियासलाई की डब्बियाँ तयार करके एक ढेर में इकट्ठी करदी जाती हैं। वह अपने सार-गर्भित सूत्रों की तुलना पर्वत की चोटियों से किया करता था। उसका कहना था कि पर्वत-माला में एक स्थान से दूसरे स्थान को अत्यंत शीघ्रता-पूर्वक पहुँचने के लिए सबसे सरल उपाय यह है कि जानेवाला एक चोटी से दूसरी चोटी पर पैर रखता जाय। परन्तु ऐसा कर सकने के लिए उस मनुष्य की टाँगें बहुत लम्बी होनी चाहिए। ठीक इसी प्रकार मेरे लिखे हुए एक सूत्र को समझ कर दूसरे को अनायास समझने के लिए समझने वाले की बुद्धि बड़ी तेज़ होनी चाहिए। उसके अधिकांश बड़े बड़े ग्रंथ इन्हीं सूत्रों के रूप में लिखे गये हैं। उसकी यह इच्छा अंत तक बनी रही कि वे ग्रंथ विस्तार-पूर्वक लिख दिये जायँ; परन्तु वह कभी फलवती नहीं हुई।

निट्शे ने बहुत से ग्रंथ लिखे हैं। यहाँ पर प्रत्येक ग्रंथ का आशय संक्षेप में भी दें, तो यह लेख बहुत बढ़ जायेगा। केवल उसके मुख्य मुख्य ग्रंथों का नाम हम दे देना चाहते हैं। उसका सबसे पहला ग्रंथ "बर्थ ऑफ ट्रेजेडी" है। दूसरा ग्रंथ "थाट्स आउट ऑफ सीज़न" चार बड़े २ लेखों का संग्रह है। फिर क्रमशः—"ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन," "दि डॉन ऑफ डे," "दि जायफुल विज़डम," "दस स्पेक ज़रथुस्ट्र," "बियॉंड गुड एन्ड ईविल," "दि विल टु पावर," "जीनियालाजी ऑफ मारल्स" इत्यादि प्रकाशित हुए।

निट्शे के ग्रंथों का उसके जीवन-काल में कुछ भी आदर न हुआ। यहाँतक कि कोई उसे छापने के लिए तयार न होता था। इसलिए ग्रंथ-कर्ता को ही अपने ग्रंथ निज खर्च से छपवाने पड़ते थे—निट्शे के ग्रंथों के लोकप्रिय न होने का प्रधान कारण यह था कि उसके विचार प्रचलित विचारों को और लोगों के मन पर स्थायी रूप से जमे हुए संस्कारों को विचलित करने वाले होते थे। इस लिए लोग उसके विचारों से घृणा करते थे। उसे अविश्वासी, मूर्ख, नास्तिक तथा पागल के नाम से भी पुकारते थे; पर उसे इन बातों की ज़रा भी परवाह न थी। वह अपने विचार, लोक-निन्दा को तुच्छ मानते हुए, निर्भीकता-पूर्वक प्रकाशित करता ही गया। वह स्वयं संसार के अधिकांश लोगों को घृणा की दृष्टि से देखता था। उसे साधारण योग्यता के लोगों की दुर्गंधि आती थी। उसका कहना भी था कि मेरे ग्रंथ साधारण श्रेणी के लोगों के लिए नहीं लिखे गये हैं। एक बार एक सभ्य स्त्री जिसके अंग अंग से सुकुमारता झलक रही थी, निट्शे से मिलने को आई और कहने लगी, मिस्टर निट्शे, मैंने सुना है कि आप धुरंधर लेखक हैं। मैं आपके ग्रंथों को पढ़ना चाहती हूं। इसपर निट्शे ने कहा—नहीं, मेरे विचार तुम्हारे जैसे अशक्त प्राणियों के लिए नहीं हैं। मेरी राय में तुम सरीखे लोगों को जीवित रहने का भी अधिकार नहीं है।

इस तत्व-वेत्ता के विचार बड़े विलक्षण और कौतूहल-जनक हैं। साधारण शिक्षित लोगों को इसके

विचार सदैव ऐसे ही जँचते हैं; परंतु जो लोग विचार-शील हैं उनके लिए इसके सिद्धांत तथ्यांश और गंभीरता से शून्य नहीं हैं। इस विद्वान् के सिद्धांतों का विस्तृत उल्लेख हम फिर कभी करेंगे। यहाँ पर केवल इस लेख को पूरा करने के लिए हम पाठकों को उसके मुख्य मुख्य विचारों का दिग्दर्शनमात्र ही करा देते हैं। निट्शे बाल्यावस्था से ही धर्म-प्रिय और तत्त्व-चिंतन-शील था। इस विषय में उसने ग्रीक और लैटिन साहित्य के सभी ग्रंथ छान डाले। शोपनहर के ग्रंथों का भी उसने अच्छा अध्ययन किया। परंतु उसे किसीके भी सिद्धांत तृप्ति-पूर्ण और सत्य नहीं जँचे। अन्त में उसने स्वयं अपने सिद्धांत लिखने और प्रकाशित करने का निश्चय किया।

निट्शे भाषा-शास्त्र का तो पहिले ही से विलक्षण विद्वान् था। पीछे से उसने प्राणि-शास्त्र का भी खूब अध्ययन किया और इन्हीं दो शास्त्रों की नींव पर उसने अपने सिद्धान्तों की विशाल इमारत खड़ी की। उसका कहना था कि संसार आज तक अँधेरे में भटक रहा है। वह सत्य से बहुत दूर पड़ गया है। इसीलिए वह दिनोंदिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है। आज तक संसार को सत्य-मार्ग पर लाने के आडंबर रचने वाले जितने पीर-पैगंबर और धर्मोपदेशक हुए वे या तो मूर्ख थे या संसार को धोखा देकर अपनी प्रभुता स्थापन करना उन्हें अभीष्ट था। इन लोगों ने संसार को और भी नष्ट कर दिया। विशेष कर जिस ईसाई मत का डंका आज दिन संसार में चारों ओर बज रहा है उसकी जितनी निंदा की जाय थोड़ी है। इस धर्म ने संसार को तबाह कर दिया है और जबतक इस धर्म के सिद्धान्तों का संसार से मूलोच्छेदन न कर दिया जाय, तब तक मनुष्य-जाति का उद्धार होना संभव नहीं।

निट्शे के सिद्धान्तों में पुनरावृत्ति, स्वामी और सेवक-नीति, इच्छा-स्वातंत्र्य, भला और बुरा आदि के सिद्धान्त पढ़ने योग्य हैं। उसका कहना था कि शरीर से भिन्न ऐसा कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है जिसे लोग आत्मा या जीव के नाम से पुकारते हैं। मैंने संसार का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया और यही पाया कि सारी चराचर सृष्टि एक दूसरे को नष्ट और पद-दलित करके अपने विकास-संपादन करने का प्रयत्न कर रही है। यही संसार-संग्राम का मूल मंत्र है। अतएव यदि कोई मनुष्य-जाति अपना उत्कर्ष चाहती है तो इस प्राकृतिक नियम का दुर्लंघ्य करके अपना जातीय कल्याण सिद्ध नहीं कर सकती। उसे चाहिए कि वह अपने से कमज़ोर जातियों को अपने अधिकार में लाकर उनपर अपना आधिपत्य स्थापित करे और अपनी शक्ति को सदैव बढ़ाती रहे। यह इच्छा उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक और उचित भी है। इस इच्छा को बलवती बनाने वाले जितने सिद्धान्त हैं वे ही धर्म-विहित हैं। उन्हींका पालन करना मनुष्य का सच्चा धर्म है। कमज़ोर और डरपोंक बनाने वाले जितने विचार हैं वे धर्म-संगत नहीं हैं। ईसाई मत इसी प्रकार के असंगत सिद्धान्तों से भरा पड़ा है।

करुणा, दया, सहानुभूति ये मनुष्योचित गुण नहीं हैं। ये मनुष्य-हृदय की ऐसी बीमारियाँ हैं जो उड़ कर लगती हैं। इन कमज़ोर बनानेवाले मनोगत भावों का हृदय से एकदम बहिष्कार कर देना चाहिए। यदि कोई मनुष्य सदैव बीमार रह कर दुःख से कराहता है तो उसे देख कर दिल कच्चा मत करो। उसे चिल्लाने दो। उसका मर जाना ही अच्छा है। यदि वह जल्दी नष्ट नहीं होता तो साहसी आदमी का काम है कि उसकी हालत पर तरस न खाकर उसे किसी तरह नष्ट कर डाले। ऐसे लोगों की संसार में ज़रूरत नहीं। सच पूछा जाय तो ऐसे बीमार और अशक्त लोगों को जीने का अधिकार ही नहीं। निर्जीव लाश के पड़े रहने से आसपास की वायु केवल दूषित होती है और वह दूषित वायु फेफड़ों में जाकर कई लोगों को बीमार बना देती है। ठीक ऐसी ही हानि कमज़ोर लोगों के जीवित रहने से मनुष्य-जाति को हो रही है। अतएव हमें ऐसे उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिससे रोगी, बीमार, कमज़ोर और डरपोंक लोग इस संसार में नामशेष हो जाय। इनके नाश पर संसार का कल्याण अवलम्बित है। यह संसार केवल उन थोड़े से प्राणियों के लिए है जो कठोर, साहसी, निर्भीक और जेता के गुणों से सर्वतोभावेन अलंकृत हैं।

संसार के अधिकांश लोग केवल खाद का काम दे सकते हैं। गुलाब का पौधा लगाते समय हम आसपास की घास और पौधों को उखाड़ कर उसीकी क्यारी में डाल देते हैं जिससे वे सड़ें और उनकी खाद से गुलाब का वृक्ष पल्लवित हो। यही उपयोग संसार के साधारण श्रेणी के लोगों का किया जा सकता है, दूसरा कुछ नहीं।

ईश्वर के विषय में विचार प्रकट करते हुए निट्शे बाइबल के ईश्वर की खूब खबर लेता है। उसका कहना है

कि ईसाइयों का ईश्वर अब सठिया गया है। उसे अपनी करतूत पर इतनी लज्जा हो रही है कि वह अब मुँह दिखाना नहीं चाहता। इसीलिए वह एक चोर के समान छिपा हुआ है। जो ईश्वर सारे संसार के लोगों को सदियों से संदेह-सागर में गोते खाते हुए देखकर भी चुपचाप बैठा हुआ है और सत्य का स्पष्टीकरण नहीं करता वह क्या ईश्वर कहलाने योग्य है? उसकी जितनी निन्दा की जाय उतनी थोड़ी है।

ईसाइयों का ईश्वर बीमार और कमज़ोर प्राणियों का ईश्वर है। इस धर्म की ईश्वर-संबंधी कल्पना सुनकर ईश्वर और उसकी कल्पना दोनों से घृणा होती है।

निट्शे ने ईसाई पुरोहितों की भी खबर ली है। क्या आस्तिक और क्या नास्तिक, क्या भौतिक शास्त्रों के पंडित—निट्शे ने अपनी क़लम का वार सभी पर किया है। शायद ही कोई अछूता बच गया हो।

निट्शे जर्मनी के उन लोगों में से है जिनका मंत्र आधुनिक जर्मनी पर खूब चला और जिन्होंने जातीय मनोवृत्ति में विलक्षण परिवर्तन कर दिया है। अभी अभी जो युरोपीय संग्राम समाप्त हो चुका है वह इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

विस्तार-भय से हम इस तत्व-वेत्ता के विचारों को यहीं पर समाप्त करते हैं। इन उलटे विचारों को सुनकर पाठकों के मन में कदाचित् यह धारणा होगी कि सर्वमान्य-सिद्धान्तों के विरुद्ध इस प्रकार अपने विचार प्रकट करने में कोई विशेषता नहीं है। इस पर हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि मूल ग्रंथों को पढ़ने से पाठकों को मालूम होगा कि उसने इन विरोधी विचारों का जिस योग्यतापूर्वक समर्थन किया है उसे देखकर विचारशील लोगों को एक बार गर्भीर हो जाना पड़ता है। खेद है कि उसके ग्रंथों का पूरा पूरा अनुवाद अभी तक देखने में नहीं आया। इसके सभी ग्रंथ भारी से भारी हैं और वे भी अधिकांश में सूत्र-बद्ध हैं।

इस महापुरुष में चार बातें विलक्षण थीं—बुद्धि-तीक्ष्णता, विचार-स्वातंत्र्य, विद्वत्ता और निर्भीकता। इन पंक्तियों के लेखक को निट्शे के इन गुणों में ईश्वर की विभूति दिखाई देती है। इसीलिए मत-भेद होते हुए भी वह उसके विचारों को श्रद्धापूर्वक सुनता और पढ़ता है।

निट्शे की जीवन-संध्या नितान्त कष्टमयी हुई। मृत्यु-काल के दस वर्ष पहले वह पागल होगया। पागलपन की दशा में भी तत्वज्ञान की बातें करता था, और सड़कों में कहता फिरता था कि "चलो, हम लोग सुखी हो जायँ। मैं स्वयं ईश्वर हूँ। मैंने ही इस सृष्टि की रचना की है," इत्यादि इत्यादि।

निट्शे की उन्मत्तता का कारण नहीं मालूम होता। शिरोरोग से वह सदैव पीड़ित रहता था। तिसपर भी वह रातदिन लिखने-पढ़ने और सोचने का काम किया करता था। बहुत संभव है कि दिमाग़ की कमज़ोरी के कारण उसकी ऐसी अवस्था हो गई हो। उसके विरोधी कहा करते हैं; पागल आदमी के विचारों को कोई क्या पढ़े। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उसने अपने ग्रंथ स्वस्थ दशा में लिखे हैं और वे विद्वानों के पढ़ने योग्य ही हैं।

सन १९०० की २५ वीं अगस्त को संसार के सामने नये आदर्श का रखने वाला तत्व-चिन्तनशील, विद्वान सत्यान्वेषी निट्शे मानो सत्य की तलाश में इस भौतिक संसार को छोड़ कर चला गया। कौन नहीं गया? मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्।

लेखकों के बनावटी नाम।

हिन्दी के पुराने कवि-गण इस आशंका से कि कहीं कोई उनकी कविता न चुरा ले स्व-रचित प्रायः प्रत्येक पद्य में अपना पूरा या संक्षिप्त नाम रखा करते थे। कवि-गण जिस छन्द में, छन्द की कठिनता के कारण, अपना नाम नहीं रख सकते थे बहुधा उसकी रचना ही नहीं करते थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि पण्डितराज जगन्नाथ को, चोरी के भय के

कारण ही, अपनी कविता को "मंजूषा"† (सन्दूक़) में बन्द करना पड़ा। इस समय चोरी का भय, रजिस्ट्रेशन एक्ट के कारण, बहुत कम हो गया है, कदाचित् इसीलिए कवि-गण अब अपनी कविता के छन्दों के भीतर अपना नाम बहुधा नहीं रखा करते हैं।

पर अब हिन्दी में एक नई प्रथा बल पकड़ रही है। कई लेखक और कवि अपने लेखों और कविताओं में अपना प्राकृत नाम छिपाकर कल्पित नाम रखने लगे हैं। इस प्रथा से हिन्दी-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ रहा है अथवा पड़ सकता है इसका विचार यहाँ किया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं, प्राकृत नाम को प्रकट न करना यशोपार्जन की सांसारिक इच्छा के प्रति उदासीनता प्रकट करना हो सकता है, और इसमें लेखक या कवि की महानुभावता सूचित हो सकती है। जो लेखक यश का भूखा नहीं है, जो लेखक जनता को लाभ पहुँचाने ही के लिए लेख लिखता और इस बात की परवा नहीं करता है कि उससे उसकी प्रसिद्धि हो वह निस्सन्देह महानुभाव है। यदि लेखक-गण उपरोक्त विचार से प्रेरित होकर ही कल्पित नाम धारण करते हैं, तो बहुत प्रशंसनीय बात है।

बहुधा देखा जाता है कि कई नये लेखक जिन्हें इस बात का विश्वास नहीं है कि हमारी रचना अच्छी होती है और साहित्य-प्रेमी उसे रुचि के साथ पढ़ते हैं कुछ समय तक अपना प्राकृत नाम न देकर कल्पित नाम दिया करते हैं। कुछ काल के पश्चात्, ज्योंही उन्हें यह निश्चय होने लगता है कि हमारी रचना का आदर किया जाता है, त्योंही वे प्राकृत नाम देने लगते हैं। इस उद्देश्य से भी नाम छिपाना कुछ बुरा नहीं है। परन्तु इस अवस्था में लेखक को उचित है कि उसने "उम्मेदवारी के कार्य-काल में" जो रचना कर डाली हो उसे वह अपनी न बनावै—वह रचना बनावटी नाम को ही अर्पित कर दे और जनता के सन्मुख उस नाम के साथ अपना कोई संबंध प्रकट न करे। बनावटी नाम ग्रहण करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा नाम न चुना जाय जो दूसरों का नाम हो। ऐसा करने से ही साहित्य-क्षेत्र में पवित्रता, उच्चता और सात्विकता रह सकती है।

कई लेखक जब ऐसे लेख लिखते हैं जिनका सम्बन्ध वर्तमान राजनीति से होता है अथवा जिनके संबंध में उनका अनुमान रहता है कि यथार्थ नाम प्रकट कर देने से उन्हें आपत्ति में पड़ना होगा, तब वे बनावटी नाम धारण कर लेते हैं। इस प्रकार, टट्टी की ओट शिकार खेलने के लिए, कल्पित नाम का सहारा लिया जाता है। आजकल के अनेक "राष्ट्रीय कवि" इस प्रथा का अवलम्बन बहुत अधिक कर रहे हैं। इस उद्देश्य से अपना नाम छिपाना यद्यपि लेखक की नैतिक निर्बलता सूचित करता है, तथापि साहित्य को लाभ ही पहुँचता है। साहित्य में स्वतंत्र विचार संचित होते हैं और साहित्य श्री-सम्पन्न होता है। दब्बूपन साहित्य के लिए कलंक है और उस कलंक को दूर करने के उद्देश्य

† दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शंकया।
मदीय पद्यरत्नानां मंजूषैषा मया कृता॥
(भामिनीविलास ४-४६)

अर्थात्, दुष्ट स्वभाव वाले रंडापुत्र कहीं मेरी कविता की चोरी न करें इस आशंका से मैंने अपने पद्यों की यह पेटी बनाई है!

से यदि प्राकृत नाम छिपाना पड़ता है, तो कुछ बुरा नहीं है; परंतु इस उद्देश्य के पक्षपाती और अनुयायी लेखकों को स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ साहित्य में स्वतंत्र विचारों की सृष्टि होती है वहीं उन साहित्य-भूषण लेखकों के शुभ नाम अन्धकार-विस्तार में विलीन होते हैं। कुछ काल पश्चात्, उनकी भावी सन्तान इस बात का संदेह कर सकती है कि ये स्वतंत्र विचार हमारे ही पूर्वजों के हैं अथवा दूसरे जनों के। इसलिए, साहित्य के कल्याण की दृष्टि से, इस बात की आवश्यकता है कि लेखक अपनी नैतिक निर्बलता दूर करें, और जिन विचारों को प्रकट करना वे आवश्यक समझते हैं उनको वे अपने प्राकृत नाम से प्रकट करने का आत्मिक बल दिखावें। अंत में सत्य की विजय होती ही है। सत्य के लिए यदि आत्म-बलि-दान भी करना पड़े, तो उसके लिये तत्पर रहना चाहिए।

अपने को आपत्ति से बचाने के लिये कल्पित नाम देनेवालों को यह भी सोचना चाहिए कि जिस आपत्ति से वे बचना चाहते हैं वह आपत्ति उस पत्र के संचालक पर जिसमें वे वैसे लेखों को छपाते हैं आ सकती है। कल्पना कीजिए, आपने अपने एक लेख में बनावटी नाम देकर उसे "उद्दण्ड" नामक मासिक पत्र में छपा दिया; पर यदि वह लेख सचमुच में आपत्ति-योग्य है, तो वह आपत्ति आप पर न आकर, सबसे पहले उस पत्र के संचालक पर आवेगी; और यह बहुत बुरा है। अपनी आपत्ति को दूसरे के सिरपर डालना भारी भीरुता है। कल्पित-नाम-धारी लेखकों को इस बात का विचार करना चाहिए।

कई लेखक भिन्न भिन्न पत्रों में भिन्न भिन्न नाम दिया करते हैं। किसी पत्र में वे अपना नाम "इच्छुक" रखते हैं, तो किसी दूसरे में "मौजी"। यदि किसी पत्र के पाठक उन्हें "अभिलाषी" नाम से जानते हैं, तो दूसरे पत्र के पाठक उन्हें "विमल" समझते हैं। यह प्रथा अब इतना बल पकड़ रही है कि कल्पित नाम देना नियम और प्राकृत नाम देना अपवाद हो रहा है। किसी किसी सामयिक पत्र में तो यहाँ तक देखा जाता है कि यदि उसमें दस लेख छपे हैं, तो सात लेखों में लेखकों के कल्पित नाम ही छापे गये हैं। कल्पित नाम की ओट में कहीं कहीं बड़े अन्याय हो रहे हैं। "पाँचवें सवार" बनने की अभिलाषा अन्य प्रतिष्ठित लेखकों के लेखों को अपने कल्पित नाम से छपाने में कोई संकोच नहीं करती। इस प्रकार, बहुरूपियों के समान, रंग-रूप बदलते रहने से, कोई लाभ नहीं; प्रत्युत बहुत हानि दिख रही है। पत्र-सम्पादकों का कर्त्तव्य है कि वे कल्पित नामों की प्रथा को निरुत्साहित करें। जबतक कि लेखक कल्पित नाम के लिए कोई विशेष कारण न बतावें और जबतक वह कारण अत्यन्त प्रबल न होवे, तबतक कल्पित नाम वालों के लेख कभी न छापना चाहिए।

अंत में स्मरणीय बात यह है कि नाम नाम ही है—प्रधान बात है काम। काम ही के लिए नाम की आवश्यकता होती है, और वह काम चाहे किसी भी दिशा में होवे; परंतु साहित्य-क्षेत्र में पवित्रता उत्पन्न और व्यक्तित्व स्थिर रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि ऐसा अवसर न दिया जावे कि एक मनुष्य के किये गये काम के सम्बन्ध में, मनुष्य-स्वभाव-सुलभ यश-लाभ के वशीभूत होकर, भिन्न भिन्न व्यक्ति यह कह सकें कि यह काम हमारा है, उसका नहीं।

तिलाञ्जलि ।

(लेखक—पंडित शुकनालप्रसाद पाण्डेय)

गृह-सर के सुस्नेह—सलिल में आदर-संयुत
खाती हुई सुहाग-वायु सुख-सौरभ-सुरभित
तरुणी-तरणी हंत ! जो थी नाचती सदैव
काल-ग्राह-आक्रमण से डूबेगी हा दैव !—
था न मैं जानता ॥ १ ॥

कर्णधार मैं बना हुआ था उसका आहा !
किन्तु डुबाया उसी एकको विधि ने हा हा !
शोक—भ्रमर के मध्य पड़ होकर आश्रय—हीन
उबुक चुबुक अब हो रहा, मिलती थाह कहीं न,
त्राहि जगदीश हे ! २ ॥

हा ! जीवन—सहचरी, स्नेह की पुतली प्यारी,
हा ! मनोज्ञ छविमयी, सुमन सी अति सुकुमारी,
हा ! गृह-लक्ष्मी, प्रियतमे, हे असह्य विच्छेद
मुझे अकेला कर यहाँ मर्म-स्थल को भेद,
गई तू है कहाँ ? ३ ॥

हे अनुपम माणिक्य, ज्योति जीवन के पथ की,
हे मेरी वर-शक्ति, देह-रूपी इस रथ की,
हे हृद्-वन-विकसित सुमन, हे सुख-जीवन-स्रोत !
दयामयी हृदयेश्वरी, हे दुख-सागर-पोत !
तुझे देखूं कहाँ ? ४ ॥

सुधि-बुधि अपनी भूल होय वचनामृत-आशा,
खंजनाक्षि, तज लाज, प्रिये दर्शन की आशा
लता-कुंज में, पुंज में नवलाओं के जाय,
उझक उझक झुक झाँक कर ढूँढ़ा आँख गड़ाय—
मिली तब भी न तुम ॥ ५ ॥

हँस हँसा शशि, पता पूँछता जब सुमुखी तब
क्या बतलाऊँ हाल, कुसुम-लतिकाओं का नव
सुमन-सुंदरी मोड़ मुख लखै अन्य ही ओर
लता हिला सिर नाचती आपस में झकझोर ।
हाय ! अब क्या करूँ ? ॥ ६ ॥

जिसे मलिन अवलोक, विश्व तममय दिखता था,
जिसके आँसू देख वज्र सिर पर गिरता था,
जिसको काँटे-गड़े सुन आ लगता था बाण,
उसके महा प्रयाण में गये न पामर प्राण
यही आश्चर्य है ! ७ ॥

कमलावली-विहीन सरोवर दिखता जैसे,
कुसुम-कामिनी बिना महीरुह दिखता जैसे,
ज्यों मयंक-ज्योत्स्ना-रहित नभ दिखता छवि-हीन,
त्योंही तव विरही बना मैं हो क्षीण—मलीन
दीन हूँ हो गया ॥ ८ ॥

नित्य शुभानन के प्रसाद से सुषमाशाली,
मम गृह में था उदित पूर्ण शशि कर उजियाली,
आहा ! क्या ही भाव था उसका मोहक रम्य !
बन चकोर था मानता वासव से भी धन्य
स्वतः को लोक में ॥ ९ ॥

कृष्ण-निशा में विधु-दर्शन की अभिलाषा कर,
नभ को ताक निराश कुमुद होता ज्यों सत्वर,
त्यों बाहर से घर पहुँच तुम्हें विलोक न भ्रम,
बतलाऊँ कैसे तुम्हें होता हूं ज्यों व्यग्र
प्रिये प्राणाधिके ! १० ॥

जाता था अवरोध-बिना पहले घर ऐसे
लोहा चुम्बक-निकट होय आकर्षित जैसे,
रही नहीं वह बात अब, जगे न अब अनुरक्ति,
जब न वहाँ तू ही रही गृह-आकर्षण शक्ति !
शून्य अब सब है ॥ ११ ॥

यह सुधांशु जो सुधा, विश्व में बरसाता है,
हो अंतर्हित पुनः दृष्टि-पथ में आता है :
पर तुम उर-नभ-चन्द्रमा, हो आँखों की ओट
एक बार भी आजतक हाय ! न आई लौट
महा आश्चर्य्य है ! १२ ॥

तप्त-हृदय को एक बार जुड़वा दो आओ,
वह निज मुख अप्सरा-विनिंदक दिखला जाओ।
शीतल ज्योत्स्ना से रुचिर शीघ्र पूर्व-अनुसार,
कर दो तममय गेह में दिव्य-प्रभा-विस्तार,
देवि ज्योतिर्मयी ! १३ ॥

उसी भुवन-मोहिनी हँसी से फिर तो हँस दो,
नत-मुख हो, हँस ताक प्रिये ! लो 'प्रियतम' कह दो।
क्रोड़-स्थल में बैठ मम होकर प्रेमासक्त,
शची-शक्र, घन-तड़ित की शोभा करके व्यक्त,
स्वर्ग जग को करो ॥ १४ ॥

है जग को झाँकता पूर्णिमा का जब शशधर,
तब मैं समझूँ मुझे झाँकती हो तुम हँसकर,
उषःकाल में पक्षिगण गाते हैं जब गीत,
तब मैं हूँ यह जानता, साखि-गण-संग विनीत
प्रिया मम गा रही ! १५ ॥

हेतु जताने विरह-वह्नि में उलट पलट कर,
दो कोयल कूकतीं अहर्निशि बाहर भीतर।
बाहर की "कुहहू ! कुहू" करके करती शोर,
भीतर की हो अधमरी पा मानो दुख घोर
रटे उहहू ! उहू !! १६ ॥

पद-नूपुर-झंकार-सहित, हृद्-मथनकारी,
मृदु मृदु हँसते अहा ! चाल चलते अति प्यारी
गृह-लक्ष्मी सी मूर्तिमय वह तव पुन-आह्लाद
गेह-आजिर-पर्यटन की हा ! होते ही याद
हृदय उठता कसक ॥ १७ ॥

किसे देख चिंता-समुद्र में थाह मिलेगी,
किससे पा सान्त्वना हृदय की आह मिटेगी,
कंठ-स्वर किसका मधुर सुनकर गान-समाज,
बाज उठेगी हृदय की तंत्री मम सुख मान,
सती साध्वी शुभे ! १८ ॥

तव सँग सुख सब गये त्याग मुझको यौवन में,
जीवन नीरस हुआ, रहा उत्साह न मन में।
पाप निशा कटती नहीं बन द्रौपदी-दुकूल
शैया मुझको हो गई हाय ! विपाक्त त्रिशूल
बड़ी है यातना ! १९ ॥

होगी अब स्वर्लोक—मध्य वह प्रिया सुशीला,
होते होंगे चकित देख सुर पतिव्रत—लीला,
मैं भी इसके पुण्य से मिलूँ उसे सुख मान,
देव दयामय, दीजिए बस यह ही वरदान—
यही है चाहना ॥ २० ॥

("उद्भ्रान्त प्रेम" के आधार पर लिखित)

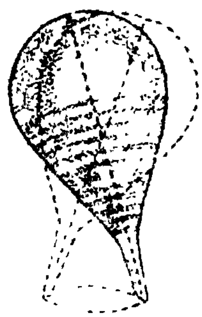
संसार-चक्र और लट्टू का खेल।

(लेखक—अध्यापक रामदास गौड़, एम० ए०)

अणोरणीयान्महतो महीयान
आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
(श्वे० ३।२०)

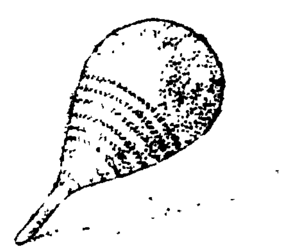
अनेक सुन्दर मनोहारिणी मूर्त्तियाँ अनगढ़ पत्थर की चट्टानों और लकड़ी के कुन्दों में छिपी पड़ी हैं। उन्हें प्रकट करने के लिए चित्रकार—शिल्पी—चाहिए। सृष्टि और कृष्ण के अद्भुत रहस्य रजकण तक में छिपे हुए हैं। उनके आविर्भाव के लिए ऋषि-मुनि-महात्माओं के हृदय और बुद्धि की आवश्यकता है। कूड़ा-करकट में बहुमूल्य रत्न गड़े हैं जिन्हें निकालने के लिए अन्वेषक

चित्र १



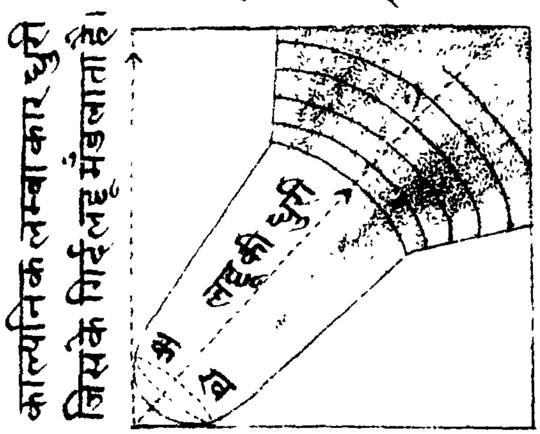
नाचते हुए भूमि पर गिरते ही मँडलाने लगता है। धीरे धीरे मँडलाने का चक्कर छोटा होता जाता है।

चित्र २

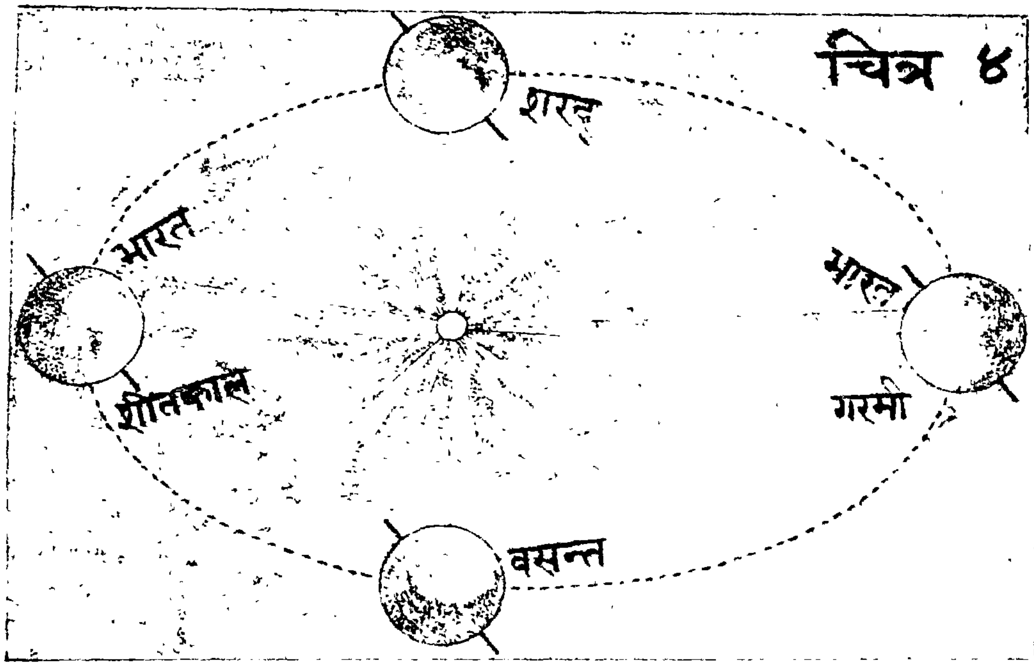


वायु का विरोध और पृथ्वी का आकर्षण न होता, तो जिस बल लट्टू नाचते हुए गिरता उसी बल नाचता रहता। मँडलाने की आवश्यकता न थी।

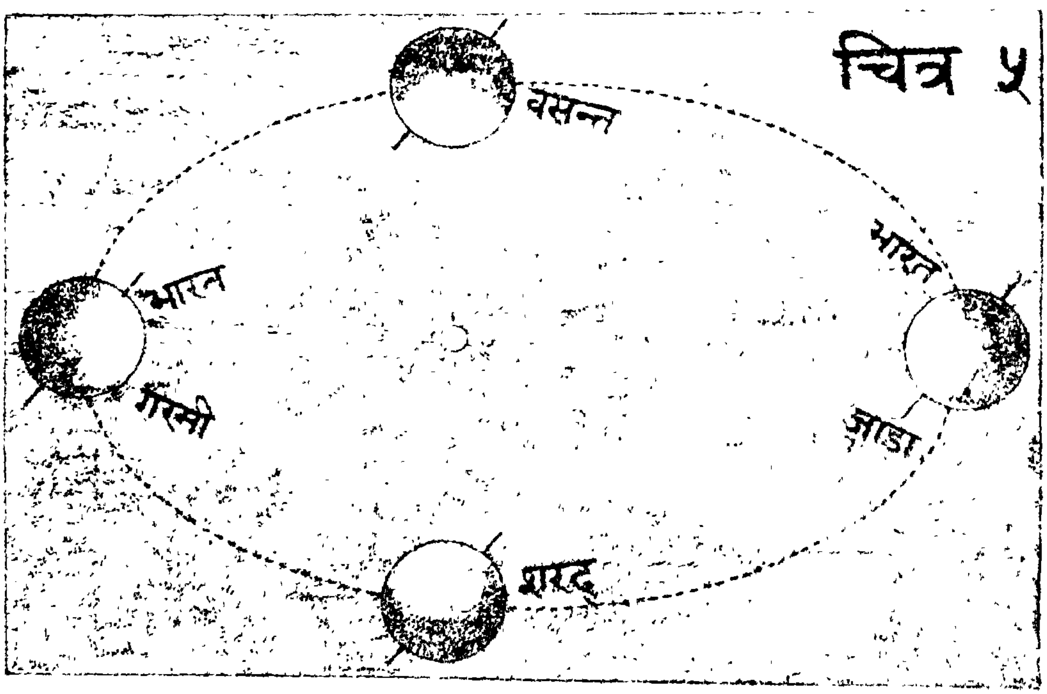
चित्र ३



लट्टू की नोक वस्तुतः गोल होती है। नोक का ठीक केन्द्र धरती को छू नहीं रहा है। क. ख. आदि वृत्त के बिन्दु ही से स्पर्श होकर लट्टू काल्पनिक धुरी के गिर्द मँडलाता है और बड़े वेग से अपनी धुरी के गिर्द भी चक्कर लगाता है।



आजकल ऋतु सूर्य्य के समीप होते भी जाड़े की होती है; क्योंकि किरणें तिरछी पड़ती हैं। दूर होते भी गरमी पड़ती है; क्योंकि किरणें सीधी पड़ती हैं। झुकाव की दिशा ही इसका कारण है।



१३००० वर्ष पीछे ऋतुएँ उलट जायँगी। गरमी और जाड़ा दोनों अति तीव्र हो जायँगे जैसे कि विषवरेखा के दक्षिण के भूभागों में अब हैं।

चाहिए। नित्य के साधारण खेलों के गर्भ में भविष्य के बड़े बड़े आविष्कार गुप्त हैं और उन्हें प्रकट करने को सच्चा व्यवहार-कुशल वैज्ञानिक चाहिए। ऐसी ही एक अत्यन्त साधारण खेल की चीज़ है भौंरा या लट्टू। खेल की यह वस्तु जो बचपन में अपूर्व मनोरञ्जन का कारण होती है कोई अनोखा यन्त्र नहीं है। बहुत प्राचीन काल से लट्टू या भौंरा नचाना एक साधारण खेल समझा जाता है। हज़ारों बच्चे अपना बहुतसा समय इस खेल में देते हैं; परन्तु ऐसे बहुत कम हैं जो इस के सच्चे महत्त्व को जानते हों, जो इस तुच्छ लकड़ी के टुकड़े की शक्ति से संसार की सभ्यता में उलटपलट कर देनेवाले परिणामों पर विचार करते होंगे। पर वस्तुतः लट्टू का महत्त्व इससे अधिक है, कम नहीं। आजकल का समुद्र में बड़े वेग से चलनेवाला जहाज़, आकाश में वायु से अधिक वेग से स्वच्छन्द विचरने वाला विमान, भूतल पर एक ही छड़ के ऊपर सीधी सधी सी चलनेवाली घंटा दौड़ने वाली रेलगाड़ी, ये सब इसी लट्टू की चाल के करामात हैं—इसी भौंरे के खेल हैं जिन्हें देख कर हम आश्चर्य-चकित होते हैं और जिन चमत्कारों पर हम स्वतः लट्टू हो रहे हैं। विचारवान् वैज्ञानिक के लिए लट्टू का खेल यहीं ख़तम नहीं होता। असंख्य प्राणियों को अपने वक्षःस्थल पर धारण किये हुए हमारी पूज्या धरती माता अतुल वेग से निरन्तर भगवान् भुवन-भास्कर की परिक्रमा कर रही है यह बात भूगोल का प्रत्येक विद्यार्थी भली भाँति जानता है। पर यह थोड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि यह पृथ्वी स्वयं भौंरे की चाल पर लट्टू है। उसीकी तरह अपनी धुरी पर घूमती है। उसी तरह मँडलाती है। उसकी बाँकी तिरछी चाल में भी हमारे नन्हें खिलौने लट्टू का ही अनुकरण है। परन्तु क्या केवल पृथ्वी ही इस भौंरे की चाल पर मोहित है? क्या बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, बल्कि चन्द्रमा भी इसी लट्टू का अनुकरण नहीं कर रहे हैं? अवश्य। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् भास्कर और उनसे भी बड़े बड़े आकार और तेज के तारे जो देखने में बहुत ही मन्द जुगजुगाते हुए होते हैं सभी इसी भ्रमर-भगवान् की चाल का अनुकरण कर रहे हैं। ज्योतिष इसका साक्षी है, गणित इसका गवाह है। सारा ब्रह्माण्ड इसी भौंरे की चाल पर घूम रहा है। और, ब्रह्माण्ड के बड़े बड़े पिण्ड ही भौंरे की चाल पर चलते हों इतनी ही बात नहीं है। विचारवान् वैज्ञानिक यहाँ तक राय देते हैं कि अणुओं, परमाणुओं और विद्युत्कणों की चाल भी लट्टू के अनुरूप है। एक भन्नाते हुए लट्टू की चाल में जब "अणोरणीयान्महतो महीयान्" की कल्पना भरी हुई है, तब हमको समस्त विश्व की इस परा शक्ति के प्रतीक लट्टू की उपासना में तनिक भी बाधा नहीं दीखती। लट्टू को अखिल ब्रह्माण्ड-व्यापिनी "भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" शक्ति की एक मूर्ति मान कर आज यदि हम उसके ध्यान में प्रवृत्त हों और उसके चरित और गति पर विचार करें, तो असंगत न होगा।

खेलनेवाले लट्टू के भी कई प्रकार हैं। यों तो साधारण लट्टू नासपाती के अनुरूप सफ़ाई से खरादा हुआ लकड़ी का टुकड़ा होता है जिसकी नोक पर एक कील जड़ी रहती है। इस कील की नोक तेज़ नहीं होती। नोक जान बूझकर खोथरी और वर्त्तुलाकार रखी जाती है। नोक पैनी हो तो लट्टू नाचते समय वह धरती में घुस जाय और रगड़ से नाचना बन्द हो जाय। नासपाती के अनुरूप होने से नोक की ओर ढालू होता है। इसी दिशा में लपेट के अनुसार धारियाँ या चूड़ियाँ कटी रहती हैं जिनपर से लत्ती लपेटी जाती है। नोक से आरंभ करके पेट के मोटे अंग तक कसकर लत्ती लपेटते हैं। चतुर नचाने वाले तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच कसे, लट्टू की नोक ऊपर किये हुए पकड़ते हैं, साथ ही लत्तीका सिरा शेष अँगुलियों में दृढ़ता से कस लेते हैं, और सिर तक ऊँचा उठाकर पटकते समय नोक अधोमुख करके ज़ोर का झटका देते हैं। जितने ही वेग से यह क्रिया होती है उतना ही अधिक लट्टू में दम आता है। लट्टू बड़े वेग से नाचता हुआ भूमि से लगता है यदि नोक ने पृथ्वी से समकोण बनाया, तो लट्टू नोक पर सीधा खड़ा

भन्नाता रहेगा। यदि रेखा समकोणसे छोटी बड़ी हुई तो लट्टू मँडलाता है और उसका मँडलाना प्रत्येक चक्कर में घटता जाता है, क्रमशः लट्टू सीधा नोक के बल खड़ा भन्नाने लगता है। दम टूटने के समय भी मँडलाने की क्रिया होती है। इसी क्रियाके बढ़ने से लट्टू का पार्श्व धरती को जहाँ छू पाता है लट्टू लुढ़कता कुछ दूर जाकर चक्कर खाते रुकता है। जो कुछ हमने यहाँ वर्णन किया है वह खिलाड़ियों का नित्यका अनुभव है। (देखिए चित्र १)

बजने वाले लट्टू धातु के बने होते हैं और उनमें जगह जगह पर नियमपूर्वक छेद बने होते हैं। लट्टू के फिरते समय इन्हीं छेदों में वायु का प्रवेश होने से सुरीला शब्द निकलता है। एक प्रकार के लट्टू की बनावट ऐसी होती है कि उसे कोड़ा मारते रहने से उसका घूमना यथेष्ट काल तक जारी रखा जा सकता है। एक चौथे प्रकार का लट्टू, खेलने का जैरस्कोप है जिसमें साधारण फिरकी की तरह दोनो ओर धुरी की कील रहती है। दोनों नोक एक चक्र में घुसे रहते हैं और यह चक्र में मध्यभाग से समकोण बनाते हुए एक और चक्र से संयुक्त और स्थिर रहता है। धुरी के एक ओर नन्हासा छेद रहता है, इसी में डोरी फँसाकर लपेट देते हैं। वेग से खींचने पर बीच की फिरकी लट्टू की तरह नाचती है। यह जैरस्कोप बड़े महत्व का यंत्र है। इसकी चर्चा आगे चलकर की जायगी।

लट्टू नचाने के पहिले ज़रा वैज्ञानिक दृष्टि से उसकी परीक्षा कर लीजिए। स्थिति-विद्या में प्रत्येक ठहरे हुए पदार्थ को साम्यावस्था में मानते हैं। यह साम्यावस्था तीन तरह की होती है— स्थिर, अस्थिर और तटस्थ। लट्टू को उसकी नोक ऊपर की ओर करके रख दीजिए। यह स्थिर साम्यावस्था है; क्योंकि उसकी नोक को पकड़ कर दाहिने बायें कहीं भी झुकाइये; परन्तु छोड़ देने पर पुनः नोक ऊपर पीठ नीचे सीधा हो जायगा। अब इसे नोक पर खड़ा करने का प्रयत्न कीजिए। खड़ा नहीं रहता। लुढ़क जाता है। यह अस्थिर अवस्था है। लुढ़क कर लट्टू एक करवट हो जाता है, अब इसे आप लुढ़काइये तो स्थान त्याग और स्थिति त्याग करते हुए भी करवट ही रहेगा। यह तटस्थ साम्य है। स्थिर साम्य में पूर्व-स्थिति पर ही लौटता था; परन्तु तटस्थ में स्थिति-त्याग करके ठहर जाता है।

जिस नोक के बल स्थिर दशा में लट्टू खड़ा नहीं रह सकता उसी नोक पर नाचते हुए सीधा खड़ा रहता है। जिस पहिये के सहारे पैरगाड़ी या बैसिकल सीधी खड़ी नहीं हो सकती, उसी के सहारे को मनका बोझ लेकर सीधे चलती रहती है। सारांश यह कि ठहरी हुई वस्तु की साम्यावस्था जहाँ अस्थिर होती है वहाँ चलती हुई वस्तु की साम्यावस्था प्रायः स्थिर हो सकती है। यह है बड़ी अद्भुत बात; परन्तु प्रत्यक्ष देखने में आती है।

अब ज़रा लट्टू के नचाने पर विचार कीजिए। यदि लत्ती खींचते समय लट्टू में कोई विरुद्ध गति न होती तो लट्टू लत्ती से खिंचा हुआ हाथ की ही ओर चला आता। लट्टू के पटकने में आप उसे जो झटका देते है वह लत्ती के खिंचाव से अधिक वेगका होता है; इसीलिए लट्टू लत्ती के खिंचाव के विरुद्ध भागता है; परन्तु जो लत्ती लिपटी हुई है उसे छुड़ाना अनिवार्य है। छुड़ाने के लिए लट्टू को लाचार हो बड़े वेग से घूमना पड़ता है। हमारे दिये हुए झोंके का बहुतसा अंश इसी दिशा में लग जाता है और हमारे दिशा-निर्देश और धरती के आकर्षण के कारण वह भूमि पर आजाता है। चक्कर का आरंभ वायु में ही हुआ। वायु के भाग अवश्य उसके चक्कर के विरोधी थे; पर अब पृथ्वी के साथ संघर्ष दूसरा विरोधी पैदा हुआ। यह संघर्ष केवल नोक पर पड़ने से फिर भी कम ही है।

लट्टू भूमि पर गिरते ही सीधा नहीं नाचता, मँडला कर धीरे धीरे सीधा होता है। ऐसी दशा में उसमें दो तरह की गतियाँ हुईं—एक तो अपनी नोक पर का सीधा चक्कर और दूसरा मँडलाना। मँडलाने का कारण क्या है? स्पष्ट यही जान पड़ता है कि पृथ्वी के साथ संघर्ष होने से ही मँडलाने की क्रिया होती है।

यदि लट्टू पृथ्वीपर न गिरता, हवा में ही नाचता रहता, तो मँडलाने की कोई आवश्यकता न थी, जिस दल लत्ती से खुलकर अलग हो जाता उसी बल बराबर फिरा करता। (देखिए चित्र २) इसी बात को विज्ञान इन शब्दों में कहता है कि "घूमते हुए पिंड की धुरी में निरन्तर एक ही दशा में रहने की प्रबल प्रवृत्ति होती है।" हम लोग इस नियम को इन शब्दों में नहीं भी जानते तोभी इससे बराबर काम लेते हैं। नदी या तालाब में बालक "छिछली" खेलते हैं। एक खपरे का टुकड़ा लेकर उसे ज़रा चक्कर देते हुए तिरछा पर बलसे जल-तल पर फेंकते हैं तो खपरा दूर तक उछलता "छिछलाता" हुआ चक्कर खाता और जल को चतुर्दिक् फेंकता चला जाता है। खाइयों पर छुड़ी फेंकने का भी एक खेल होता है। इसमें छुड़ी में भी चक्कर वाली गति देकर न फेंकें तो छुड़ा अपनी गति-दिशा बदल दे। गोलियाँ खेलने वाले लड़के अँगुलियों के बीच गोली रखकर उसमें चक्कर वाली गति देकर ही मारते हैं। निश्चित दिशा में और ठीक निशाने पर पड़ने के लिए प्राचीन भारतीय योद्धा "चक्र" नामक अस्त्र बड़ी कुशलता से चलाते थे। अँगुलियों पर वेगसे घुमाकर फेंकना बड़े कौशल का काम था जिसमें इनेगिने जन ही सिद्ध-हस्त होते थे। कृष्ण भगवान का सुदर्शन चक्र तथा विष्णु भगवान् का ही सुदर्शन चक्र अमोघ अस्त्र कहा गया है। पहिले सिक्ख भी इसका अभ्यास करते थे। आस्ट्रेलिया द्वीप के मूल निवासी प्राचीन काल से "भ्रमरम्" [Boomerang] नाम का अस्त्र चलाते आये हैं। यह आकार में नागरी के ओ-कार की मात्रा या एकार के आधे अंग के अनुरूप डेढ़ बिलस्त का लकड़ी या लोहे का, पैनी धार का, अस्त्र होता है। इसे चलाने में आस्ट्रेलिया वाले ही सिद्ध-हस्त होते हैं। निशाने पर चोट करके फेंकने वाले के पास लौट आना ही इसका चमत्कार है। सुदर्शन चक्र और श्रीरामचन्द्र जी के बाणों में भी यही चमत्कार बताया गया है। ये सब हाथ के खेल हैं, शिक्षा और अभ्यास से इनके रहस्य का पता लग सकता है।

पुरानी बन्दूकों की अपेक्षा नयी से गोली को निशाने तक पहुंचाने में अधिक सुभीता है। अब आजकल बन्दूक वालों ने लट्टू से शिक्षा ग्रहण करके बन्दूक की नली के भीतर चूड़ियाँ काट रखी हैं। जब गोली निकलना चाहती है तो नली के भीतर वेग से चक्कर खाकर लट्टू की तरह भन्नाती निकलती है। फिर मँडलाने का काम नहीं, वह सीधे लक्ष्य पर ही गिरती है।

लट्टू का मँडलाना ठीक उसी कारण से है जिससे गेंद या कोई पहिया बिना मँडलाए भूमि पर नहीं आ रहता। पहिये का किनारा जो भूमि के संघर्ष में आता है, धरती से रुकना चाहता है; परन्तु उसके और भाग रुकना नहीं चाहते; क्योंकि उनसे धरती से अभी भेंट नहीं। जब धरती उन्हें रोकना चाहती है तब अन्य भाग पहले की तरह घूमते ही रहते हैं, इसी तरह पहिया गड़गड़ाती चली जाती है। "गडारी" के खेल में लड़के नित्य इसका अनुभव करते हैं। लट्टू की नोक यद्यपि देखने में बिन्दुमात्र है, तथापि पहिये के अनुरूप वस्तुतः गोल है। जब लट्टू एक ओर को झुका हुआ धरती को छूता है, तब नोक का मध्य भाग पृथ्वी से अस्पृष्ट रहता है। लट्टू ऐसी दशा में मँडलाकार नोक या धुरी की मध्यस्थ-रेखा में किसी बिन्दु को केन्द्र मानकर एक वृत्त बनाता है। यही वृत्त छोटा होते होते नोकवाले केन्द्र-बिन्दु से मिल जाता है और लट्टू ठीक सीधा भन्नाने लगता है।

(देखिए चित्र ३) दिये हुए चित्र में लट्टू की नोक का बहुत बढ़ाया हुआ रूप दिखाया गया है और धुरियाँ भी दिखायी गयी हैं, एक तो लट्टू की धुरी और दूसरी वह काल्पनिक धुरी जिसके गिर्द लट्टू मँडलाता है। लट्टू की धुरी धीरे धीरे इस काल्पनिक धुरी से मिलकर एक हो जाती है। लट्टू का अत्यन्त वेग से जो चक्कर हो रहा है वह अपनी धुरी के गिर्द है। मँडलाना काल्पनिक धुरी पर है और लट्टू के भन्नाने वाले चक्कर से उससे कोई सरोकार नहीं। वैज्ञानिक लोगों ने गणित के द्वारा इस तथ्य को सिद्ध कर दिया है कि यदि

लट्टू जैसी वेग से चक्कर खाने वाली वस्तु किसी काल्पनिक धुरी के गिर्द मँडलाती हो, तो प्रवृत्ति यह होगी कि चक्करवाली धुरी मँडलानेवाली धुरी के अनुकूल हो जाय। यही बात लट्टू में प्रत्यक्ष देखने में आती है जिसे वैज्ञानिक जन **गति—साम्य** कहते हैं।

लट्टू का चक्कर जब धीमा होता है, तब फिर मँडलाता है। परंतु इस बार मँडलाने का कारण कुछ और ही है। लट्टू पर गुरुत्वाकर्षण निरन्तर काम करता रहता है। पहले झोंके के बल से चक्कर वेगवान था और धरती के खिंचाव पर प्रबल था; पर अब हवा की रगड़, पृथ्वी की रगड़ और पृथ्वी के बराबर के खिंचाव से चक्कर का बल घटते घटते गुरुत्वाकर्षण से कम हो गया है; इसीलिए धरती का खिंचाव चारों ओर से अबाध बल लगाने लगा, मँडलाना बढ़ा, अन्ततः धरती से लगकर कुछ मचल मचलाकर लट्टू पृथ्वी माता की गोद में सो गया।

कई सौ बरस पहले सारे संसार में धरती को 'अचला' मानते थे। भारतवर्ष में दो मत प्रचलित थे। सभ्यता की वृद्धि ने पृथ्वी का घूमना सिद्ध किया; परन्तु उस सम्बन्ध की अनेक बातें तभी समझ में आयीं जब वैज्ञानिकों का ध्यान लट्टू की ओर गया। धरती लट्टू की तरह अपनी धुरी के गिर्द घूमती रहती है और एक चक्कर नित्य पूरा होता है। साथ ही सूर्य देवता के गिर्द भी बराबर घूमती रहती है; परंतु यह चक्कर साल भर में पूरा होता है। उसकी एक तीसरी चाल भी है जिसका चक्कर आज कल की नाप से लगभग छब्बीस हज़ार और महाभारत के समय के गर्ग पराशरादि की नाप से सत्ताइस हज़ार बरसों में पूरा होता है। यह परिवर्त्तन इतना सूक्ष्म है और इतने अधिक काल में होता है कि साधारण अनुभव में नहीं आ सकता। यंत्रों के सहारे ही इसे नाप सकते हैं। कुछ लोगों का मत है कि प्राचीन और आधुनिक नापों में अन्तर का कारण आजकल के यंत्रों का अधिक शुद्ध होना है; परंतु बहुत से विद्वानों का मत है कि इस अंतर का कारण गति का ही अंतर है, प्राचीन गणकों के समय में गति का क्रम वैसा ही था। जो हो, परन्तु २७ के अंक से ज्योतिष शास्त्र का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि निश्चयपूर्वक अन्तर का कारण नहीं बताया जा सकता। इस तीसरी तरह की गति में सन्देह तो नहीं है? इसी गति को पृथ्वी का मँडलाना कहते हैं। धरती अपनी धुरी से कुछ झुकी हुई मँडला रही है। यह झुकाव बड़े महत्त्व का तथ्य है, इसे समझने के लिए ही लट्टू की कथा अत्यन्त उपयोगी है।

हमारी धरती नारंगी की तरह गोल है, दोनों धुरों पर कुछ चपटी हो गयी है, और बीच के भाग में उसका पेटा कुछ मोटा हो गया है। इसीलिए धुरी के दोनों सिरों पर फिरने वाली लपेट पेटी की अपेक्षा छोटी है। स्पष्ट है कि पेटी में पृथ्वी का अंश अधिक है। इसीपर सूर्य देवता का खिंचाव अधिक पड़ता है, इसीलिए लट्टू की नाईं फिरती धरती उसी की तरह कुछ मँडला रही है। लट्टू का मँडलाना हम उसके अक्ष या धुरी के झुकाव से नाप सकते हैं। यह धरती की धरातल पर का झुकाव होगा, पृथ्वी—रूपी लट्टू का धरातल क्या होगा।

(देखिए चित्र ४) वर्ष में भास्कर भगवान् एक बड़ा चक्कर बनाते दीखते हैं। इसी चक्कर में चन्द्रमा और सूर्य्य के ग्रहण होते हैं। इसे क्रान्तिवृत्त कहते हैं। मान लीजिए कि इसी बड़े चक्कर में एक समधरातल ने ऐसा प्रवेश किया कि सम्पूर्ण वृत्त इसी धरातल में स्थित होगया। इसे ही क्रान्तिवृत्त का धरातल कह सकते हैं। कल्पना कीजिए कि सूर्य्य और पृथ्वी रूपी दो चपटे लट्टू एक समधरातल के समुद्र में बह रहे हैं और पृथ्वी नामक लट्टू की धुरी जल की ओर ६६॥ अंश झुकी हुई है। पृथ्वी बड़े वेग से चक्कर खा रही है। सूर्य्य-रूपी लट्टू के गिर्द घूमती भी जाती है। साथ ही, वह धुरी का झुकाव वही ६६॥ अंश बना हुआ है। फिर भी अत्यन्त धीरे धीरे यह झुकाव अपनी

दिशा बदलता जाता है। साथ ही, झुकाव के परिणाम में अन्तर नहीं पड़ता। यह झुकाव आज कल ऐसी दिशा में है कि जाड़ों में उत्तरी ध्रुव सूर्य्य से ओझल रहता है। परन्तु झुकाव बने रहते भी दिक्-परिवर्त्तन धीरे धीरे होते रहने से, हिसाब से, जाना गया है कि तेरह सहस्र वर्षों में ठीक इसीका उलटा हो जायगा। अर्थात् झुका हुआ धरती-रूपी लट्टू धीरे धीरे मँडलाकर २५८०० वर्षों में एक चक्कर पूरा कर लेगा। लट्टू का मँडलाना भी ऐसा ही है कि धुरा एक ओर झुका है। वह झुका ही रहता है; परन्तु दिक्-परिवर्त्तन-पूर्वक मँडलाना चक्कर होता ही रहता है। पृथ्वी-रूपी लट्टू के मँडलाने में कोई बाधा न होने के कारण इसका मँडलाना बराबर जारी रहता है।

यही मँडलाना अयनांश वा सम्पात अर्थात् निश्चित तिथियों पर दिन रात के बराबर होने एवं ऋतु-परिवर्त्तन का कारण है। धरती की इस गति से बड़े महत्व के परिणाम उपस्थित होते हैं। धीरे धीरे संसार की, इसी भूलोक की, ऋतुएँ बदलती जाती हैं। १३ हज़ार वर्षों में ऋतुएँ बिलकुल उलट जायँगी और २६ हज़ार वर्षों में फिर अबकी सी ऋतुएँ हो जायँगी। (देखिए चित्र ५)

अंकों के अध्ययन से अनुमान होता है कि प्राचीन भारतके ज्योतिषी इन महत्व के परिवर्त्तनों से अनभिज्ञ नहीं थे। गर्ग-पराशरादि के अनुसार क्रान्तिवृत्त से अयनांश के खसकने का ४८.०२ विकला परिमाण था और आधुनिक मान के अनुसार ५०.२ है। साल भर में केवल इतने सूक्ष्म परिवर्तन पर विचार किया जाय तो प्राचीन गणितज्ञों की प्रयोग-कुशलता को सराहे बिना नहीं रह सकते। ३६० अंश में परिधि का विभाग यहाँ केहीज्योतिषियों का है। यह इसोलिए हुआ कि वर्ष में प्रायः ३६० दिन समझे जाते थे। २७ नक्षत्रों में आकाश-मण्डल का विभाग इसीलिए हुआ कि चन्द्रमा २७ दिनों में एक चक्कर लगाता दीखता है। सप्तर्षियों की गति एक एक नक्षत्र से दूसरे पर एक एक सहस्र वर्ष की मानी गयी। सप्तर्षियों का वर्ष २७००० भू-वर्षों का हुआ।

इस २७००० को १६ से गुणा कीजिए तो चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष हुए जो कलियुग की आयु है। इस प्रकार

१६	सप्तर्षि वर्षों का		कलियुग
३२	,,	,,	द्वापर
४८	,,	,,	त्रेता
६४	,,	,,	सतयुग

१६० स० वर्षों की एक चतुर्युगी।

अंकों के इस सामंजस्य से जान पड़ता है कि ऋतुओं के परिवर्त्तन पर पूरा विचार करके प्रत्येक युग के चरण, संध्याप्रवेशादि का विभाग किया गयाहै।

लट्टू के खेल से पृथ्वी के भ्रमण का ही रहस्य स्पष्ट हो जाता हो इतनी ही बात नहीं है। अन्य ग्रहों और पिंड-समुदायों की चाल का भी स्पष्टीकरण हो जाता है जिसपर अधिक गहरी डुबकी लगाने वाले विचार कर सकते हैं। हमने तो भूगोल की साधारण बात लट्टू के द्वारा समझाकर केवल इतना दिखाने का प्रयत्न किया है कि पृथ्वी सरीखे बड़े बड़े पिंडों की गति लट्टू से बहुत भिन्न नहीं है।

लट्टू की गति से प्रकृति देवी को इतना लाभ उठाते देख पार्थिव यंत्रशास्त्रियों ने भी अनुकरण करके अपने गति-यंत्रोंमें उससे काम लेना आरंभ किया। लट्टू की गतिमें यह चमत्कार की बात देखने में आती है कि ठहरी हुई दशा में जिसे 'अस्थिर साम्य' समझते हैं वही उसकी चक्कर खाती हुई दशामें अवरुथा होजाती है। चलनेवाली मशीनों में लट्टू की गति से क्यों न काम लिया जाय जिससे कि डगमगाते हुए भी उनके उलट जाने का डर न रहे? जैरस्कोप लट्टू जिसकी चर्चा और रूप-वर्णन हम ऊपर कर आये हैं इस कामके लिए बहुतही उपयुक्त ठहरता है। इसे नचाइये, या साधारण लट्टू को ही नचाइये और आहिस्ता आहिस्ता धक्के दीजिए तो भी लट्टू अपनी जगह नहीं छोड़ता, अपनी गति बनाये रहता है, मँडला कर फिर सीधा हो आता है। जहाज़ों में जो भाफ़ के बल से बड़े वेग से चलते हैं आजकल जैरस्कोप लगाते हैं जिससे

उनकी गति में साम्य आजाता है। डगमगाहट होते हुए भी जहाज़ बड़े से बड़े तूफ़ान में उलट नहीं जाते। दो पहियों के सहारे दो छड़ों पर होकर चलने वाली रेलगाड़ी जितने वेग से चलती है उससे दूने वेग से चल सके यदि दो छड़ों के संघर्ष के बदले एक ही छड़ का संघर्ष बाकी रह जाय। विलायत में इसी सिद्धान्त पर एक ही पहिये के ऊपर, जो अब मध्य में रहता है और एक ही छड़पर चलता है, रेलगाड़ी चलती है और घंटे में २०० मील वा अधिक वेग से चलती है। इसके एंजिन का एक अंश बड़ा जैरस्कोप है जो इसको उलटने या गिरने नहीं देता, धरती के आकर्षण का पूरा मुक़ाबिला किये रहता है। सब से अधिक महत्व का उपयोग वायुयानों में वा विमानों में है। यदि एक छड़वाली गाड़ी के उलटने का भय एक समझिये तो विमानों के उलटने के भय को सौ मान लेने में विशेष बाधा नहीं है। विमान में एक बिजली का पंखा आगे की ओर लगा रहता है। यही असीम वेग से घूम कर हवा में मानों छेदता चलता है। यही वायुयान को निश्चित दिशा में घसीटे लिये जाता है। यही उसका बल है। परन्तु इसे इस महा वेग से घुमाने के लिए जो यंत्र विमान में लगा रहता है उसमें मोटरकार या हवागाड़ी के ही सिलिंडर या बेलन होते हैं। यही चलाते हैं। पर ये बेलन कई होते हैं और पहिये की तरह एक धुरी में लगे रहते हैं और इसी धुरी पर वह सम्पूर्ण चालक यंत्र लट्टू वा जैरस्कोप की तरह भयानक वेग से भ्रमणशील है। इसी के वेग से विमान डगमगाकर भी, वायु के झोंके खाकर भी, शून्यों और वायु भ्रमगर्त्तों में पड़ कर भी अछूता और बिना उलटे पुलटे निश्चित दिशा में चलता रहता है। वायु महासागर में वा महाऽऽवरण में जो गति विमान की है वही गति जल महासागर वा महाऽऽवरण में पनडुब्बी वा जलमग्न नावों की है। पनडुब्बी में भी ठीक दशा और निश्चित दिशा में रखने के लिए महात्मा जैरस्कोप महावेग से चक्कर खाते रहते हैं। बड़वानल आग्नेयास्त्र टारपीडो यदि जैरस्कोप यंत्र गर्भ में न रखता हो, तो सीधे निशाने पर जाकर शत्रुपोहित को नष्ट करने में सक्षम नहीं हो सकता।

लट्टू और भौंरा नचाने वाले बालकों ने सभ्यता का रूप ऐसा बदल दिया है कि पचास बरस पहले के ही बूढ़े जो इस समय हमारे मध्य में सकुशल हैं, जिनके अनुभव और शिक्षा से हम लाभ उठा सकते हैं, जब भूतकाल पर विचार करते हैं, तो आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। बैसिकिल, मोटरकार, पनडुब्बी, विमान आदि गमन-यंत्रों ने देश और काल दोनों को अत्यन्त संकुचित कर दिया है। बेतार के तार और टेलीफ़ोन ने तो संसार का रूप ही बदल दिया है। लट्टू खेलने वाले बालक यह न समझें कि यह साधारण लट्टू केवल मनोरंजन की सामग्री है। यह प्रकृति के एक पूज्य सम्मानित नियम का अद्भुत, अजेय अपरिमित शक्ति का प्रतीक है। इसकी जितनी पूजा की जाय थोड़ी है, इसकी उपासना में जितना समय लगाया जाय उचित है।

अमेरिका में विज्ञापन-कला।

(लेखक—अमेरिका प्रवासी श्रीयुत सुकुमार चटर्जी, आय. ई.)

अमेरिका में संपादन-कला के कई विभागों में से विज्ञापन कला भी एक मुख्य विभाग है। यह कला मनुष्यों का चित्ताकर्षण करके उनकी स्मृति में किसी विशेष विचार का चित्र खींच देती है। इसी कला पर संसार का व्यापार-धंधा निर्भर रहता है। बड़े बड़े व्यापारी विज्ञापन के प्रचार के निमित्त अपने मूलधन का पौन हिस्सा तक लगा देते हैं।

अब देखना चाहिए कि विज्ञापन-कला के कौन कौन से अंग हैं। सबसे पहिले वह सब

प्रकार से चित्ताकर्षक हो। द्वितीयतः जिन विषयों का विज्ञापन करना हो उनके संबंध के भाव पाठकों के मन में इस प्रकार उत्पन्न किए जावें कि अधिक काल तक रह सकें। तृतीयतः सर्वसाधारण का चित्ताकर्षण करते हुए उस विशेष जनसमूह का चित्ताकर्षण किया जावे जिससे विज्ञापन-दाता का अधिक संबंध हो।

अमेरिका में विज्ञापन देने के लिए कंपनियाँ बनाई गई हैं जो अल्प मूल्य में सब प्रकार के विज्ञापनों का प्रचार करती हैं। प्रचार का कार्य कई प्रकार से किया जाता है: जैसे, विद्युत प्रदीप के द्वारा, ग्रामोफ़ोन के द्वारा, ट्रामगाड़ियों के द्वारा, किराये की साधारण गाड़ियों के द्वारा, लड़कों की टोपियों के द्वारा, गुब्बारों के द्वारा, इत्यादि।

विज्ञापन की भाषा ऐसी मधुर और ललित होनी चाहिए कि उसे पढ़ या सुनकर वह भाषा दूसरों को भी बतलाने की आवश्यकता मालूम हो। दूसरे, द्व्यर्थक शब्द होने से अधिक काल तक स्मरण रहता है। तीसरे, हास्य-जनक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। चौथे, ऐसे विषयों के साथ संबंध रहता है जो सर्वसाधारण के जीवन से अधिक संबंध रखें। पाँचवें, इस बात पर अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि विज्ञापन विज्ञापित विषय से कहीं अधिक बढ़-चढ़कर न होने पावे, नहीं तो सर्व साधारण धोखा खाते और उनके हृदय में निराशा होती है और वे भविष्य में उस वस्तु विशेष की ओर से छड़क जाते हैं। भारतवर्ष में म्युनिसिपालिटी के तथा सरकारी विज्ञापन बहुधा भय उपस्थित करने वाले होते हैं; परन्तु अमेरिका में वे ऐसे शिष्टाचार-पूर्ण होते हैं कि उनसे अधिक अच्छा फल होता है। उदाहरण के लिए देखिए—

भारतवर्ष में:—Trespasser will be prosecuted. (यहाँ चलनेवाले का चालान कर दिया जावेगा।)

अमेरिका में:—This is my property; as a guest you are welcome. (यह मेरी सम्पत्ति है। यदि आप अतिथि हैं, तो यहाँ आपका शुभागमन हो सकता है।)

भारतवर्ष में:—Spitting strictly prohibited. (थूँको मत)

अमेरिका में:—Ladies do not expectorate in public places, why should gentlemen do so? (सभ्य स्त्रियाँ सार्वजनिक स्थानों में नहीं थूँकती, फिर भद्र पुरुष ही ऐसा क्यों करें?)

भारतवर्ष में:—Keep off the grass. (घास पर मत चलो।)

अमेरिका में:—Keep off the would-be grass, which would be grass, if you would keep off. (होनहार घास से दूर रहिए जोकि आपके दूर रहने से ही बढ़कर घास होगी।)

भारतवर्ष में:—Do not make noise. (हल्ला मत करो।)

अमेरिका में:—Silence is the only poultice which heals the blows of sound. (मौन ही शब्दाघात को आरोग्य करने की औषधि है।)

इन उदाहरणों से आप देख सकते हैं कि कौनसे विज्ञापन अधिक रोचक मालूम होते हैं। अमेरिका

के विज्ञापनों के प्रिय होने का एक यह भी प्रमाण है कि हमें अभीतक उनका स्मरण है।

अमेरिका में बड़ी २ गगन-स्पर्शी अट्टालिकाओं के ऊपर तड़िदालोक का संक्षिप्त संवाद दिया जाता है। सैनफ्रान्सिस्को शहर में इसी तरह के एक तड़ित-विज्ञापनात्मक यंत्र में २५००० छोटे प्रदीप के ग्लोब हैं। वहाँ ५ मील तक तारों का संयोग है। प्रत्येक रात्रि का ८ से ११ बजे तक का व्यय ५००० रुपये और लाभ ११००० रुपये है। इसमें आगामी दिवस के मुख्य समाचारपत्रों के शीर्षक और प्रधान घटनाओं का समावेश रहता है। इस विशाल साइनबोर्ड में ऐसे खाने बनाए गए हैं जिनसे ए (A) से जेड (Z) तक सब अक्षर प्रत्येक खाने में बन सकें। नीचे बने हुए चित्र को देखिए। इसमें अंग्रेजी के सब अक्षर बन सकते हैं:—

इसीमें घूमते हुए तख्ते (Switch Board) की सहायता से किसी भी अंश को अथवा सम्पूर्ण तख्ते को प्रकाशित कर सकते हैं। इसी तरह जिन तारों की सहायता से जो जो अक्षर बनते हैं उनको एक एक स्विच के साथ लगा देते हैं और उनके अन्त में उन्हीं अक्षरों का नाम छपा रहता है। एक व्यक्ति बैठ कर, टाइप-राइटर के समान, छापता जाता है और वे ही शब्द बनते और चमकने लगते हैं। इसी प्रकार चलती हुई गाड़ी, दौड़ते हुए मनुष्य आदि सब बिजली की सहायता से बनाये जाते हैं। यदि एक के बाद एक ग्लोब शीघ्र ही बुझाये और जलाये जावें, तो एक ठहर ठहर कर जलती हुई रेखा बन जाती है। यदि एक सेकंड में इस तरह के २४ ग्लोब बुझें और जले तो वे बराबर क्रम-बद्ध दिखाई पड़ते हैं।

ऐसे ही वाक्य-विन्यास के द्वारा जनता को उत्सुक करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे M. G. B. Coffee. Why? इससे Why-क्यों-का उत्तर जानने की इच्छा होती है और केवल इस उत्सुकता को मिटाने के लिए काफी की दूकान में जाना पड़ता है। जो सैनफ्रान्सिस्को शहर को गये होंगे उन्होंने देखा होगा कि भीड़ की किसी भी जगह में एक पुरुष नाक के ऊपर प्रश्न का चिन्ह बनाकर प्रश्न के भाव को प्रकट करता हुआ फिरता है। यही पुरुष M. G. B. Coffee का विज्ञापन-प्रचारक है।

इसी प्रकार प्रत्येक भोजन-शाला में जहाँ कि सुस्वादु भोजन मिलता है बाहेमियों के छोटे क़दवाले पुरुष दरवाजे पर खड़े रहते हैं।

प्रत्येक दफ्तर में इस प्रकार के नोटिस पाये जाते हैं:—

LOST.

Somewhere between the hours of sunrise and sunset two golden hours, each set with 60 diamond minutes. No reward is offered for them, for they are lost for ever.

बहुधा दफ्तरों में कार्यारंभ के समय अथवा भोजन के उपरान्त मध्याह्न में कर्मचारी लोग

घंटे दो घंटे तक कुछ शिथिलता के साथ कार्य करते हैं। यह नोटिस उन्हीं लोगों के लिए इशारा है। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जिनसे विज्ञापन-कला का यथार्थ उपयोग दिखलाई पड़ता है। इसी तरह के विज्ञापन समाचार-पत्रों में भी कभी वाक्य-छटा से और कभी चित्रों से चित्ताकर्षण करते हैं। दैनिक समाचारपत्रों में रविवार का प्रत्येक अंक ८० से ८४ पृष्ठों तक का होता है और उसमें प्रत्येक अंश भिन्न भिन्न विषयों का होता है। कुछ अंश राजनैतिक, कुछ सामाजिक, कुछ औपन्यासिक, कुछ स्वास्थ्य-विषयक, कुछ चित्त-विनोदक, कुछ वैज्ञानिक तथा कुछ विज्ञापन-विषयक होता है। विज्ञापन-विषयक अंश २० से २५ पृष्ठ का होता है। उसमें व्याख्यान आदि की सूचनाओं से आरंभ करके जमीन बिकने तक का नोटिस रहता है। मैं यहाँ पर विज्ञापन के विषयों की एक सूची देता हूं जिससे साधारणतः कुछ अनुमान हो सकेगा—

Lecture notices.	Business opportunities
Church notices.	Machinery and Supplies
Educational.	Old and second-hand sales.
Male help wanted.	Matrimony.
Female ,, ,,	Government notices.
Situations wanted —Male.	Exchange.
Situations wanted —Female.	Hotels and house-keeping.
Real State.	Rooms for rent or sale.
Motor.	Miscellaneous.

इनके अतिरिक्त संवादों के साथ भी विज्ञापन रहते हैं। यदि बड़ा विज्ञापन दिया जावे तो पत्र-सम्पादक निज संवाद-अन्वेषक (रिपोर्टर) भेजकर उसके विषय में एक लेख प्रकाशित करते हैं। उपयुक्त मूल्य देने से विज्ञापक-कहानी (advertising story) नामक विज्ञापन भी प्रकाशित किया जाता है। इनमेंसे कई प्रकार के विज्ञापन भारतवर्ष में प्रचलित हो चुके हैं।

विज्ञापन देने की जो कंपनियाँ बनती हैं वे बहुधा ऐसे स्थानों में अनेक बड़े चित्र (posters) लगा देती हैं जहाँ बहुधा अधिक मनुष्य आतेजाते हैं। बड़े मकानों की दीवालों पर सुन्दर चित्र अथवा अक्षर रँग दिए जाते हैं। इससे मकानवालों को भी लाभ होता है। अमेरिका-निवासियों ने हमसे कई बार प्रश्न किया है कि भारतवासियों को इतने अधिक अशिष्ट रोग क्यों हुआ करते हैं; क्योंकि प्रत्येक देशी भाषा के तथा अंग्रेज़ी के भारतीय समाचार-पत्रों में सदा नपुंसकता की दवा, प्रमेह की दवा, सुजाकबिन्दु, धातुपुष्टि की गोलियाँ आदि के विज्ञापन अधिक रहते हैं। पाठको, इन्हीं विज्ञापनों के देखने से और साथ ही हमारे द्वेषी व्यक्तियों की चुगलियों से भारतवासी बड़े दुश्चरित्र समझे जाते हैं। एक विख्यात भारतीय समाचार-पत्र के संपादक से इस विषय में वार्तालाप होने पर उन्होंने कहा था कि ऐसे विज्ञापन वालों से अधिक रुपये मिलते हैं; अतएव अश्लील विज्ञापनों को भी लेना पड़ता है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि भारतीय संपादकगण इस निन्द्य स्वार्थ को त्याग कर भारतवर्ष के कलंक को हटाने का प्रयत्न अवश्य और शीघ्र ही करेंगे? मोहिनी विद्या, जागता जादू और विचित्र बीज के भी असत्य विज्ञापन मनमाने प्रकाशित किए जाते हैं। इनसे जनसाधारण के भावों पर बड़ा बुरा परिणाम होता है और

वे धोखे में फँस जाते हैं। यदि देश-हितैषी संपादक-गण चाहें तो वे लोगों को ऐसे भ्रम-जालों से बचा सकते हैं।

चित्ताकर्षण करने के लिए कई प्रकार के विज्ञापन बनाए जाते हैं। कभी तो जान बूझकर वर्णविन्यास में ग़लती कर देते हैं जिससे पाठकों की दृष्टि उस ओर पड़ती है और कभी एकही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ से अभीष्ट विषय का निरूपण किया जाता है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

मोटर के टायर का विज्ञापन:—It is time to retire. इसके साथ ही एक चित्र रहता है जिसका भाव यह रहता है कि कुछ बालक हाथ में मोमबत्ती लेकर सोने के लिए जा रहे हैं। कुछ समय के उपरान्त उसी चित्र के ऊपर एक दूसरा चित्र दीख पड़ता है जिसमें एक मनुष्य मोटर के टायरों को बदल रहा है।

चाय का विज्ञापन:—Safety first= Safe tea first.

जब सब प्रकार के रोज़गारियों ने इस तरह से विज्ञापन देना आरंभ किया, तो दाँत के डाक्टरों ने विज्ञापन देना बन्द कर दिया। जहाँ सब विषय के विज्ञापन दिये जाते हैं वहाँ एक विषय का विज्ञापन न देना ही उस विषय को ज़ाहिर करने के बराबर हो जाता है। कुछ लोग बड़े बड़े अक्षरों में "हम विज्ञापन नहीं देते" (We do not advertise) ऐसा भी लिखते हैं।

एक सभ्य महाशय के घर के पास ही एक अँधेरी गली थी। लोग बहुधा वहाँ पेशाब किया करते थे। दुर्गंधि से व्याकुल होकर गृह-स्वामी ने एक नोटिस लिखा और उसे दीवाल पर रँगा दिया। मज़मून यह था:— Commit no nuisance here अर्थात "यहाँ पेशाब मत करो"। परन्तु शैतान लड़कों ने No अर्थात निषेधवाचक शब्द को मिटा दिया। गृह-स्वामी को फिर अक़्ल खर्च करने की ज़रूरत आ पड़ी। उन्होंने चालाकी से उस सूचना के वाक्य में कुछ शब्द और जोड़ दिये और उसे बढ़ाकर Commit nuisance here, but facing the road अर्थात "यहाँ पेशाब कीजिए; परन्तु सड़क की ओर मुँह करके" ऐसा बना दिया। इस चालाकी से लड़के सन्तुष्ट हो गये और अपनी शरारत से बाज़ आगये। सारांश यह है कि विज्ञापन में चित्ताकर्षण और हास्य-रस से बड़ा लाभ होता है।

इसी प्रकार रोगों के कारण, परिणाम और चिकित्सा बतलाने के लिए मोम के पुतले बनाये जाते हैं जो प्रत्येक रोग का परिणाम प्रत्यक्ष नाड़ियों और नसों से बतलाते हैं। बड़ी बड़ी दुकानों में सामयिक बिक्री (Season sale) के समय छोटे छोटे काग़ज़ के पर्दे बनाये जाते हैं जिनपर किसी न किसी वस्तु का चित्र और मूल्य लिखा रहता है। वे चित्र घूमते फिरते रहते हैं। लेनेवाला एक बन्दूक लेकर उसके मूल्य में निशाना मारता है। यदि ठीक निशाना लग जावे, तो वह वस्तु उसी मूल्य में मिल जाती है। ऐसे ही स्कूल के लड़कों के लिए खेलने के ताश बनाये जाते हैं जिनमें उनके पाठ्य विषय रहते हैं। इस तरह, खेल का खेल और पाठ का पाठ हो जाता है। ऐसे ही बटन बनते हैं जो स्कूल के लड़कों के कालर में लगा दिये जाते हैं। उनमें

कई विषयों का विज्ञापन रहता है। वह इश्तिहार स्कूल के शिक्षकों और विद्यार्थियों के माता-पिताओं की दृष्टि को आकर्षित करता है। टोपियों में भी विज्ञापन रहते हैं।

अब हमारे पाठकगण समझ सकते हैं कि अमेरिका में कितने प्रकार के कला-कौशलों-द्वारा इश्तिहार दिये जाते हैं। पर मनुष्य के सभी धंधों की तरह अब विज्ञापन-कला भी पतित हो चली है। कुछ वर्ष पूर्व बंकिमचन्द्र की ग्रंथावली के विषय में एक विज्ञापन निकला था:—"बंकिमचन्द्र की ग्रंथावली मुफ्त बाँटी जा रही है। डाक-व्यय १२) रुपये।" और, "खटमल मारने की तरकीब—२॥) रुपये" में एक छोटी सी चिमटी, एक छोटा मूसल और एक ओखली मिलती थी और एक कागज़ में "चिमटी से पकड़ो, ओखली में रक्खो और मूसल से कुचल दो" लिखा रहता था। "बिना मूलधन के द्रव्य-उपार्जन का एक दूसरा विज्ञापन" था। विज्ञापन-दाता को लिखने पर इमली के ४ बीज भेज दिये जाते थे और यह सन्देश मिलता था कि "इन को बो दो, जब वृक्ष हो जावे, तो इमली बेच लेना और फिर लकड़ी भी बेच लेना।" ऐसे ही नीच व्यवहारों को रोकने के लिए "विज्ञापन-समिति" (Advertising Conference) बनाई गई। इस समिति की प्रबल चेष्टा से अध्यात्म विद्या और वैद्यक के झूठे इश्तिहारों का छापना बन्द कर दिया गया, तथापि अभी अनेक क्षेत्रों में सुधार करने की बड़ी भारी आवश्यकता है।

अमेरिका में विज्ञापन बनाने और लिख देने वालों की एक कंपनी है जिसकी शाखाएँ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक वहाँ फैली हुई हैं। जिसे विज्ञापन देने की आवश्यकता होती है वह अभीष्ट बातें लिखकर उनके कर्मचारियों को बतलाता है। तब वे ऐसा प्रबन्ध करते हैं जिस से विज्ञापन सुन्दर और आकर्षक बने। अमेरिका में यह कहावत प्रचलित है कि जो व्यापारी विज्ञापन-कला की शरण नहीं लेते वे उस मूर्ख के समान हैं जोकि लालटेन लेकर चलता है; पर उसे जलाता नहीं। यह वास्तव में सच है; क्योंकि यदि विज्ञापन न दिया जावे तो एक दूसरे को किसी वस्तु का ठीक ठीक पता नहीं चल सकता। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुओं का विज्ञापन देते हुए हम कहीं स्वयं अपना ही विज्ञापन देकर अपना ही गुणानुवाद न प्रारंभ कर दें। आजकल तो स्वहस्त-लिखित जीवनी का प्रचार हो रहा है जो वास्तव में अपनी ही डींग आप हाँकना है।

विविध विषय।

(१) पृथ्वी का अन्य ग्रहों से संबंध।

(लेखक—बाबू श्यामसुन्दरदास, बी० ए०)

बेतार की तार के आविष्कर्ता मारकोनी महाशय ने इंगलैंड के एक समाचार-पत्र में यह सूचना प्रकाशित की है कि न्यूयार्क और लंडन के बेतार के तारघरों में, यंत्रों में ऐसे संकेतों के शब्द प्रायः दिन और रात बराबर सुनने में आते हैं जिनमें संसार की किसी ज्ञात भाषा का कोई

शब्द बनता नहीं जान पड़ता और जिनका कोई अर्थ समझ में नहीं आता। इन सांकेतिक शब्दों में "स" अक्षर का संकेत अधिकता से सुनाई पड़ता है। उनका कहना है कि यूरोपीय महायुद्ध के समय में ये संकेत पहिले पहल सुनाई पड़े थे; पर उस समय इनकी कुछ जाँच नहीं की जा सकी। अब जाँच हो रही है। मारकोनी महाशय का अनुमान है कि पृथ्वी के वायुमंडल में कुछ प्राकृतिक गड़बड़ के कारण ही, ये संकेत सुनाई पड़ते हैं; पर वे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहने में असमर्थ हैं। एक महाशय ने उनसे यह प्रश्न किया कि कहीं ये संकेत किसी दूसरे ग्रह से तो नहीं आरहे हैं। इसपर उन्होंने कहा कि यह संभव है; पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। मारकोनी महाशय ने जो अनुमान किया है उसका भी कोई प्रमाण नहीं है। वह भी अभी अनुमान-मात्र है। यूरोपीय ज्योतिषियों ने मंगल ग्रह की बहुत कुछ जाँच-पड़ताल की है। उनका कहना है कि इस ग्रह में जो लोग बसते हैं वे पृथ्वी-वासियों से कहीं बढ़कर सभ्य और उन्नत हैं। उन्होंने विज्ञान में बहुत उन्नति की है। परंतु उस ग्रह में अब जल का अभाव सा हो रहा है; इससे वहाँ वाले बड़े कष्ट में हैं तथा अनेक वैज्ञानिक उपायों से अपने अभाव की पूर्त्ति कर रहे हैं। ये बातें निरा अनुमान नहीं हैं। दूरदर्शक यंत्र-द्वारा बहुतसी बातें जानकर ये सिद्धांत स्थिर किये गए हैं। हम नहीं कह सकते कि मंगल ग्रह के वासियों का रूप और आकृति कैसी है तथा वे किस भाँति के जीवधारी हैं। हमारे शास्त्रों में तो वहाँ सूक्ष्म शरीर धारण करने वाली आत्माओं का वास है। इनको ऐसे पदार्थों की आवश्यकता नहीं है जो हमारे पार्थिव शरीर के पोषण के लिये आवश्यक हैं। यूरोपीय ज्योतिषियों का कहना है कि मंगल ग्रह पृथ्वी से पुराना है; पर हमारे यहाँ उसे पृथ्वी का पुत्र माना है जिसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि किसी समय, किसी अन्य ग्रह से टक्कर खाने अथवा किसी अन्य प्रलयकारी प्राकृतिक घटना के कारण, पृथ्वी का एक अंश टूटकर अलग होगया और अन्य ग्रहों के आकर्षण से लुड़क लुड़का कर आकाश में एक नियमित मार्ग का परिभ्रामक बन बैठा। यदि इस अनुमान में कुछ सार है, तो इस बात की संभावना मानी जा सकती है कि मंगल ग्रह के निवासी हमारे ही समान जीवधारी हैं और उनकी आकृति आदि भी वहाँ की प्राकृतिक अवस्था के अनुसार परिवर्तित होकर हमसे मिलती-जुलती है। इन बातों को हम मान भी लें, तो यह विकट प्रश्न साम्हने उपस्थित होता है कि मंगल ग्रह के वासियों की भाषा क्या है। इसका भी उत्तर देना कठिन है। यदि मंगल पृथ्वी का अंश है और उसके वासी पृथ्वी-वासियों के समान हैं, तो क्या यह संभव नहीं है कि उनकी भाषा पृथ्वी की किसी प्राचीन भाषा का रूपांतर हो? जो कुछ हो, ये प्रश्न वैज्ञानिकों के सम्मुख उपस्थित हैं। इधर फ्रांस की अकाडेमी ने यह घोषणा प्रकाशित की है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे ग्रहों से बात-चीत करने अथवा समाचार भेजने और लेने का कोई उपाय निकाल देगा तो उसे एक लाख फ्रांक (१५ लाख रुपये) पुरस्कार दिया जायगा। अतएव यह निश्चय है कि वैज्ञानिकों के विचार में यह कोई असंभव बात नहीं है। देखना है कि इन उद्योगों का क्या परिणाम निकलता है।

मंगल ग्रह अन्य ग्रहों की अपेक्षा पृथ्वी के बहुत निकट है; अतएव यदि किसी ग्रह से संबंध स्थापित होसका तो उसके मंगल में ही होने की अधिक संभावना है। यदि यह संबंध स्थापित हो गया, तो हमारी धारणाओं और वैज्ञानिक सिद्धांतों में बड़ा भारी परिवर्तन होगा। विज्ञान ने बहुतसी असंभव मानी जानी वाली बातों को संभव कर दिखाया है। इस नवीन उद्योग में भी सफलता हो जाय, तो क्या आश्चर्य है। धन्य हैं वे देश जहाँ ऐसे ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं और उनका यथातथ्य जानने के लिए उद्योग होता है।

(२) नये लेखकों को उपदेश।

अमेरिका में प्रकाशित होने वाला "राइटर" नाम का एक पत्र नये लेखकों को कुछ उपदेश देता है। उसका अधिकांश हिंदी के नये लेखकों के लिए भी लागू हो सकता है; अतः वह नीचे लिखा जाता है:—

१. लेख भेजते समय संपादक के पास अत्यंत आग्रह-पूर्ण पत्र मत भेजो। यदि तुम्हारे लेख में कुछ गुण है, तो वह अवश्य छप जायगा।

२. सिफ़ारिशी चिट्ठी लेकर संपादक के पास जाना उचित नहीं। केवल अपना लेख लेकर पहुँचो।

३. बहुत विनोद-प्रिय बनने का प्रयत्न मत करो। यदि तुम्हारे स्वभाव में विनोद की कुछ भी मात्रा है, तो वह स्वभावतः तुम्हारे लेख में प्रकट हो जायगा—विशेष प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

४. यदि किसी लेखक के विचार अपने लेख में लेना है, तो एक लेखक के विचार न लेकर कई लेखकों के वैसे विचार सम्मिलित करो।

५. यह कभी मत समझो कि सुन्दर लिपि में लिखने से ही लेख स्वीकृत हो जायगा। रूप के साथ गुण की भी आवश्यकता होती है।

६. किसी लेख को लिखकर उसे अपने विरोधियों को दिखाओ, पश्चात् कहीं छपने को भेजो।

७. यदि कोई लेख अस्वीकृत हो गया, तो संपादक से अस्वीकृति का कारण मत पूँछो; क्योंकि संपादक के मन की थाह पाना बहुत कठिन है। कभी कभी तो स्वयं संपादक ही अपने मन की थाह नहीं पा सकते हैं।

८. यदि तुम पढ़ा नहीं करते हो, तो इसकी कल्पना मत करो कि तुम लिख सकते हो।

९. यदि तुम सोचते हो कि तुम मौलिक लेख लिख सकते हो, तो तुम मर जाओगे; पर कभी लिख न सकोगे। "मौलिकता" संसार में कोई वस्तु नहीं है।

१०. कभी मत कहो कि अमुक पुरुष के लेख केवल इस कारण छप जाते हैं कि वह एक "प्रसिद्ध" लेखक है। तुम क्यों नहीं प्रसिद्ध बन जाते? पहले "साधारण" लेखक बनना पड़ता है, तब कहीं प्रसिद्धता प्राप्त होती है।

११. जो कुछ तुमने लिखा है उसे भूल जाओ। यदि वह स्मरण रखने योग्य है, तो दूसरे जन उसे स्मरण रक्खेंगे। जो कवि अपनी कविता को स्मरण रख सकता है वह औरों के लिए बड़े त्रास का कारण है।

१२. यह मत समझ बैठो कि तुम कुछ नहीं कर सकते हो। काम कितना ही कठिन क्यों न हो, प्रयत्न अवश्य करो।

१३. "कार्य-भार के कारण मुझे अवकाश नहीं है"—ऐसा कभी मत कहो। जिसके पास जितना अधिक कार्य होता है वह समय का मूल्य उतना ही अधिक जानता है।

१४. स्मरण रखो कि मूर्ख लोग ही नियमों के अनुसार चला करते हैं। जो बुद्धिमान जन हैं नियम उनके अनुसार चला करते हैं।

(३) शब्दों का अर्थ-परिवर्तन।

भाषा-विज्ञान का सिद्धांत है कि समय-परिवर्तन के साथ साथ शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी होता रहता है। जो शब्द आज किसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, सम्भव है, वे कुछ समय पूर्व, भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हों। यह परिवर्तन बहुत स्वाभाविक है और यह इतने धीरे धीरे होता रहता है कि कठिनाई से दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन-प्रवाह रुक नहीं सकता, यद्यपि इसको रोकने का प्रयत्न अवश्य किया जाता है और इस साहस का श्रेय वैयाकरण को है। वैयाकरण अपने कठोर नियमों की दीवाल खड़ी करके भाषा के प्रवाह को कुछ समय के लिए अवरुद्ध करता है, और तत्कालीन शब्द-कोष-कार इस कार्य में योग देकर भाषा की स्थिरता में सहायक होते हैं। भाषा-भाषियों का भी कर्त्तव्य है कि वे इस स्थिरता में सहायक बनें।

"माननीय" शब्द का अर्थ "आदर के योग्य" है। इस प्रकार अनेक सज्जन "माननीय" हो सकते हैं; पर आजकल इस शब्द का प्रयोग लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों के संबंध में होने लगा है, यद्यपि यह अंग्रेज़ी के honourable शब्द का अनुकरण है। पर जब यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, तब उसे इसी अर्थ में रखना चाहिए। इसी प्रकार का एक शब्द "अध्यापक" है। व्युत्पत्ति के अर्थ के अनुसार जो अध्यापन-कार्य करता है वह "अध्यापक" है, और इस प्रकार छोटे से छोटे शिक्षक से लेकर बड़े से बड़ा शिक्षक भी 'अध्यापक' हो सकता है। पर आजकल जब यह शब्द किसी के नाम के पूर्व आता है; जैसे, 'अध्यापक जगदीशचन्द्र बोस', तब उसका अर्थ "प्रोफ़ेसर" अर्थात किसी कॉलिज का अध्यापक होता है। भाषा-भाषियों का कर्त्तव्य है कि वे शब्दों के इन नवीन प्रयोगों पर विचार करें।

(४) नेत्र-हीनों की शक्तियाँ।

लोग कहते हैं कि नेत्र-हीन मनुष्यों का जीवन इस संसार में व्यर्थ है; किन्तु यह बात सर्वांश में ठीक नहीं। यदि उनकी परिस्थिति ठीक हो और उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया जाय, तो उनकी बराबरी आँखवाले नहीं कर सकते। नेत्र-हीन मनुष्य अपनी समस्त शक्तियों को बहुत शीघ्र अपने वश में कर लेता है; इसलिए उसकी स्पर्शेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियाँ बहुत प्रबल हो जाती हैं। नेत्र-हीन महाराज धृतराष्ट्र के समान बली जन पौराणिक काल में दूसरा नहीं हुआ। कवि-सम्राट् महात्मा सूरदासजी के समान महाकवि दूसरा नहीं। अँगरेज़ी में 'पेरेडाइज़ लास्ट' और 'पेरेडाइस रीगेन्ड' सरीखे उच्च कोटि के काव्य-ग्रन्थों के रचयिता नेत्र-हीन मिल्टन थे। इतना ही नहीं,

आजकल के कुछ नेत्र-हीन विज्ञान-वेत्ताओं की बात देखिए, तो मालूम होगा कि नेत्र-हीन जन नेत्रवालों से कई बातों में चढ़-बढ़ कर हैं।

नोभास्कोशिया नामक स्थान में सी. एफ़. फ्रेज़र नाम के एक प्रसिद्ध विज्ञानाचार्य्य हैं। वे स्वयं अन्धे हैं और उन्होंने अपनी कल्पना, अनुभव और परीक्षा से नेत्र-हीनों की शक्तियों के विषय में कुछ बातें प्रकट की हैं। आपका कहना है कि अन्धा मनुष्य किसी वृक्ष, दीवाल या एतादृश अन्य वस्तु से टकरा नहीं सकता; क्योंकि मनुष्य चलते समय अपने साथ वायु के झोंके लेता जाता है। जब उसके सामने कोई चीज़ नहीं रहती, तो वे झोंके आगे बढ़ते जाते हैं; पर ज्योंही कोई वस्तु सामने आपड़ी कि झोंके उससे टकरा कर फिर लौटते हैं और उनके लौटने का धक्का मनुष्य को अपने चेहरे पर लगता हुआ मालूम पड़ता है। बस, वह तुरन्त जान लेता है कि कोई चीज़ सामने है। इस बात का अनुभव आँखवाले मनुष्य भी, एक बन्द काली कोठरी में रहकर, सरलता से कर सकते हैं।

ऐसाही अनुभव आवाज़ करने से भी हो जाता है। जब मुँह से आवाज़ की जाती है, तो वह सामने के पदार्थों से टकरा कर लौटती है। पास और दूर के पदार्थों से टकराकर लौटी हुई आवाज़ों में भिन्नता रहती है और मनुष्य तुरन्त जान लेता है कि उसके सामने कोई पदार्थ है या नहीं। नेत्र-शक्ति न होने से अन्धे मनुष्यों के कान बड़े तेज़ होते हैं; क्योंकि वे कहीं खटका होते ही अपने कानों से देखते हैं कि कहाँ क्या हुआ। हमें एक हेड मास्टर सा० का हाल मालूम है जिनके नेत्र वृद्धावस्था में बहुत कमज़ोर हो गए थे। वे प्रत्येक मास्टर को उसकी आवाज़ या पैर की चाल से पहिचान लेते थे और उनकी इस पहिचान में कदाचित् कभी भूल नहीं देखी गई। किसी मास्टर के मुँह से 'गुड मार्निंग' शब्द निकलते ही आप झट उनका नाम लेकर उसका उत्तर देते थे, कमरे के सामने से निकलने पर पैर की आवाज़ पहिचान कर उन्हें, कार्य के लिए, पास बुला लेते थे।

एक अँगरेज़ी मासिक पत्र में एक अन्धी लड़की का विवरण प्रकाशित हुआ है कि उसकी हथेली पर कितने भी सपाटे से शब्द लिखे जाने पर वह उन्हें एकदम पढ़ लेती है। इतना ही नहीं, यदि कोई कुछ लिखता हो और वह उसका हाथ पकड़ ले, तो बता देती है कि उसने क्या लिखा। वह बाजे के स्वरों पर अँगुली रखने की चाल बड़ी जल्दी सीख लेती है।

प्रोफ़ेसर फ्रेज़र का कथन है कि स्पर्शेन्द्रिय, जीभ और अँगुलियों के छोरों पर बहुत तेज़ रहती है। वे एक व्यक्ति का हाल बताते हैं जो जीभ से वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया करता था। उसे वृद्धावस्था में एक दिन एक फल दिया गया। उसने उसे जीभ पर रखकर कहा कि इस फल को मैंने पचास साल पहले अमुक स्थान में खाया था। उसने जिस स्थान का नाम लिया वह फल वहाँ के अतिरिक्त उस प्रान्त में और कहीं होता ही न था। प्रोफ़ेसर सा० ने अपने शिष्यों की स्थिति से अनुभव कर यह कहा है कि जिनकी आँखें आठ या दस वर्ष की अवस्था में चली गई हैं वे फिर से नेत्र पा सकते

हैं; पर जिनकी ८ वर्ष के पहिले ही नष्ट हो गई हैं या जन्म से ही नहीं हैं वे सदैव के लिए इस इन्द्रिय से वंचित रहते हैं।

एक गूँगी, बहरी और अन्धी लड़की का हाल बतलाया जाता है कि वह गानेवाले मनुष्य के मुँह के पास अपना हाथ रखकर गाने के शब्द, राग और रस पहिचान लेती है और बुरे-भले आदि का भेद ठीक ठीक बता देती है कि कौनसा गाना अच्छा गाया गया और कौनसा बुरा।

अन्धे मनुष्य रंग की पहिचान आवाज से करते हैं; जैसे, यदि लाल रंग की चीज उनके सामने आवे, तो उन्हें कानों को सनसनाहट पहुँचाने वाली पतली आवाज सी मालूम पड़ती है; यदि वह हरे रंग की हो तो अच्छे मधुर गीत की सी ध्वनि सुनाई देती है।

प्रोफेसर सा० का कथन है कि यदि अन्धे लोगों को अभ्यास कराया जावे, तो वे रेशम, घी, इत्र, कपड़ा, लकड़ी, कागज आदि वस्तुओं की इतनी अच्छी परख कर सकते हैं जितनी नेत्र-वालों से होना सम्भव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि इन वस्तुओं की बारीक परख के लिए चित्त की स्थिरता चाहिए जो नेत्र-हीनों में अधिक पाई जाती है।

हमें एक साधारण अन्धे आदमी का हाल मालूम है जो एक तहसील में रहता था। वह दिन को या रात को, अपनी इच्छा के अनुसार, शहर में यहाँ वहाँ, रोजगार के लिए, घूमा करता था। वह दूसरे अन्धों के समान धीरे धीरे नहीं चलता था; किन्तु नेत्र-युक्त मनुष्यों के समान सपाटे से। विशेषकर रात को तो वह इतनी तेजी से जाता था मानो कोई छोटा लड़का दौड़ लगाता हो। ऐसा देखा गया था कि वह रात के समय, सड़क पर खड़े मिलने वाले पुलिसवालों से जै रामजी किया करता था। इस बात में उसकी कई बार परीक्षा ली गई कि वह बिना आवाज सुने कैसे पहिचान लेता है कि यहाँ कोई खड़ा है या नहीं; पर वह हमेशा उस परीक्षा में पास निकला। जिस किसी दिन पुलिसमैन यहाँ वहाँ आड़ में छिपकर खड़ा हो जाता, तो वह अन्धा मनुष्य वहाँ से निकलते समय जै रामजी नहीं करता था, या जब कभी पुलिसमैन अपना स्थान बदल कर और दूसरी जगह खड़ा हो जाता तो वह अन्धा आदमी वहाँ पहुँचने पर जै रामजी करता था। और, यह बात बिल्कुल सच है कि वह बनावटी अन्धा नहीं था। वह खाट और पलँग बुनता, आटा पीसता, चाँवल कूटता, और गद्दे सीता था। इन कामों में उसे कभी किसीकी सहायता नहीं लेनी पड़ती थी। वह सूँघ कर चाँवल के पुरानेपन और तेल की शुद्धता की बड़ी बारीक परख करता था। तेल सूँघकर एकदम बता देता था कि इसमें सफेद तिल्ली, काली तिल्ली, मधेल या दूसरा मिश्रण कितना है। इस पहिचान के काम में वह आँखवालों के कान काटता था।

फ्रेजर साहिब कहते हैं कि आँखवाले की अपेक्षा नेत्र-हीन मनुष्य कई ओर देखता है; जैसे, यदि नेत्र-हीन और नेत्र-युक्त—इन दो मनुष्यों के हाथ में कोई सन्दूक, डिब्बी या कोई वस्तु दी जावे, तो नेत्रवाला मनुष्य एक बार में उस वस्तु के केवल एक ओर देखेगा; पर नेत्र-हीन सन्दूक के छै ओर या कम से कम दो या

तीन ओर। इसके सिवा जो बारीकियाँ अन्धा मनुष्य थोड़े ही समय में देखेगा उन्हें नेत्रवाला उतने ही समय में कभी न देख पावेगा। इस प्रकार नेत्र-हीन जन नेत्रवाले से कहीं अधिक देखता है।

वैज्ञानिकों ने ऐसे यंत्र और ऐसी युक्तियाँ ढूँढ़ निकाली हैं और ढूँढ़ रहे हैं जिनकी सहायता से नेत्र-हीन अपने ज्ञान को बढ़ा सकेंगे तथा संसार का हाल जान सकेंगे। अन्धों को पढ़ाने-लिखाने के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक एक शाला होनी चाहिए जिसमें समाज उनकी शक्तियों का उपयोग कर सके और समाज की सहायता का उपयोग वे लोग।

साहित्य-सुमन।

(१) भाषा-विकाश में साधारण मनुष्यों का प्रभाव।

कई लोगों का खयाल है कि भाषा का विकाश केवल शिष्ट लोगों के द्वारा ही होता है, उसमें साधारण मनुष्यों का कुछ भी भाग नहीं रहता; पर ध्यानपूर्वक देखने से मालूम हो जाता है कि यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। यह मानना होगा कि भाषा का शुद्ध रूप शिष्ट लोगों के द्वारा ही स्थिर होता है और उसी के अनुसार व्याकरण के नियम गढ़ दिये जाते हैं; पर साधारण लोग उन नियमों की कुछ भी परवा न करके, अपनी सुविधा के लिए, शब्दों का रूप और उपयोग बिलकुल बदल देते हैं। जब कि साधारण लोगों की संख्या अधिक है, तब बातचीत में अधिक व्यवहृत होने पर, शिष्ट-समाज भी उस रूप और उपयोग को ग्रहण कर लेती है और इस प्रकार फिर शब्द का वह रूप और उपयोग व्याकरण में स्थान पा जाता है। यह हाल किसी एक भाषा का नहीं है; किन्तु सभी में पाया जाता है, यहाँ तक कि संस्कृत भी इससे अछूती नहीं है। इस विषय का श्रीयुक्त नरेन्द्रदेव, एम. ए., एल. एल. बी., लिखित "भाषातत्व के कतिपय स्थूल नियम" शीर्षक लेख 'विज्ञान' की नवम्बर, १९१९, की संख्या में प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने उदाहरण द्वारा बतलाया है कि साधारण लोगों का प्रभाव भाषा-विकाश पर कैसा पड़ता है। उदाहरण के लिए, आप ही के शब्दों में, रूप-परिवर्तन का विवरण सुनिए—

"बहुत से शब्दों में वर्ण-व्यत्यय होने से रूप बदल जाता है; यथा, लखनऊ के लिए नखलऊ, लार के लिए राल, वाराणसी के लिए बनारस, तिलक के लिए टिकली इत्यादि। ये प्रयोग केवल असावधानता के कारण होते हैं। शिष्ट लोग ऐसी असावधानता को दोष समझते हैं और उनकी सदा चेष्टा रहती है कि दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें। पढ़े-लिखे लोग जब कभी किसी को 'नखलऊ' कहते सुनते हैं तो उसका उपहास करते हैं। परन्तु जब एक बिगड़े शब्द का व्यवहार अधिक हो जाता है और लोग उसके मूल स्वरूप को भूल जाते हैं तब वह विकृत शब्द शिष्टों की भाषा में कभी कभी स्थान पा जाता है। शहर के लोग 'राल' शब्द का ही प्रयोग करते हैं; यथा, "तुम्हारी राल क्यों टपकती है;" यद्यपि ग्रामीण लोग 'लार' शब्द का प्रयोग करते हैं जो संस्कृत के 'लाला' शब्द से बना है।

प्राकृत में ही ऐसी असावधानता नहीं पाई जाती है; परन्तु संस्कृत में भी वर्ण-व्यत्यय के उदाहरण मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि उनकी संख्या कम हो। उदाहरण के लिए 'सिंह' संस्कृत का एक शब्द है। परन्तु यह 'हिंस्' धातु से बना है जिसका अर्थ हिंसा करना है। अतः यह शब्द वर्ण—व्यत्यय के नियम के अनुसार बना है। 'कश्यप' एक मुनि हो गये हैं। यह शब्द 'पश्' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना है। पहले इसका रूप 'पश्यक' रहा होगा।"

यह तो हुई शब्द के रूप-परिवर्तन की बात। कभी कभी अक्षर बदल दिये जाते हैं; जैसे, हरिद्रा—हलदी, दरिद्री-दलिद्री, पर्यंक-पलंक या पलंग। कहीं कहीं एक ही अर्थ में अक्षर बदले हुए और न बदले हुए दोनों शब्दों का भी उपयोग होता है; जैसे, फरना—फलना, तरे—तले, चाउर—चाँवल, बैरिस्टर—बलहटर (या बालस्टर)। लेखक ने संस्कृत शब्दों के विकृत रूप के भी उदाहरण दिये हैं; जैसे, रोहित—लोहित, रोम—लोम, शुक्र—शुक्ल, मिश्र—मिश्ल, इत्यादि। इसका कारण लेखक महाशय शब्दोच्चारण की क्लिष्टता बतलाते हैं। लोगों को 'र' के बदले 'ल' का उच्चारण करने में सुभीता होता है; इसलिए वे कठिनाई की ओर अग्रसर ही नहीं होते। यही हाल 'श' के बदले 'स' का है। कहीं कहीं इसके विपरीत उदाहरण भी मिलते हैं। आगे आप स्वरों के बढ़ा दिये जाने की बात बतलाते हुए लिखते हैं:—

"उच्चारण की सुगमता के लिए यह देखा गया है कि जब कोई शब्द एक संयुक्त वर्ण से आरम्भ होता है, तब उसके पूर्व एक स्वर की वृद्धि हो जाती है। शब्द के मध्य अथवा अवसान में जब संयुक्त वर्ण प्रयुक्त होता है तब उच्चारण में उतनी कठिनाई नहीं होती। कारण यह है कि पूर्ववर्ती स्वर सहायक होता है; परन्तु बिना पूर्ववर्ती स्वर की सहायता के एक संयुक्त वर्ण का उच्चारण करना दुष्कर होता है। इसी कारण व्यवहार में लोग एक स्वर का सहारा लेते हैं; यथा, स्नान—अस्नान, स्त्री—इस्त्री, स्कूल—इस्कूल, स्टेशन—इस्टेशन। भाषातत्त्व का एक व्यापक नियम जो भाषा-विकास में विशेष रूप से सहायक होता है 'मिथ्या सादृश्य' (false analogy) है। भाषा को सुगम बनाने का यह सहज उपाय है।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट मालूम हो सकता है कि साधारण मनुष्यों का प्रभाव भाषा—विकाश में कितना अधिक पड़ता है।

(२) पर्दे की चाल।

आजकल पर्दे का प्रश्न जहां तहां उठने लगा है। उसके दोषों का समर्थन करने वालों की संख्या भी बढ़ती जारही है। एक भारतीय महिला ने इस विषय में अपने विचार एक अंगरेजी पत्र में प्रकाशित किए हैं। वे लिखती हैं कि—

इस प्रथा के सम्बन्ध में प्रायः सबका यह ख्याल है कि इसकी उत्पत्ति मुसलमानी समाज से हुई है; परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। मुसलमानी धर्म-पुस्तकों में ऐसा कहीं नहीं लिखा गया जिसके बल पर यह कहा जावे कि यह प्रथा मुसलमानों की चलाई हुई है। हाँ, कुछ अंश ऐसा बतलाया जाता है जिसे लोग पर्दे के समर्थन में उपस्थित करते हैं; परन्तु उससे

स्त्रियों को पिंजड़े में बन्द रखना प्रमाणित नहीं होता। कुरान में यह लिखा है कि ऐसा दण्ड उस स्त्री को दिया जाना चाहिए जिसने अपने पति से विश्वास-घात किया हो। फिर ई० सन् ६६१-७४९ में समाज के नैतिक ह्रास के कारण यह प्रथा विश्वास-पात्र और विश्वास-घातक दोनों के लिए कर दी गई।

पर्दे के पक्ष में जो यह कहा जाता है कि इससे भारतीय महिलाओं का प्रभाव किसी भी प्रकार कम नहीं होता सो वास्तव में ठीक है, और इसके समर्थन में भोपाल की बेगम साहिबा तथा अन्य महारानियों के उदाहरण दिए जाते हैं। साथ ही, यह भी न भूल जाना चाहिए कि कई स्त्रियाँ जो अभीतक पर्दे में रही हैं इस प्रथा को तोड़ना पसन्द नहीं करती और उनसे जबरदस्ती यह प्रथा तुड़वाना भी ठीक नहीं। कुछ लोग जैसा समझ बैठे हैं, यथार्थ में, हिन्दुस्थान की पर्दानशीन स्त्रियों की दशा वैसी नहीं। रानियों की ही बात लीजिए तो मालूम होगा कि उन्हें अनेक प्रकार की स्वतन्त्रता है।

लेखिका महाशया के उपरोक्त कथन से पाठक जान सकते हैं कि उनके विचार एकपक्षीय नहीं है। अब इस प्रथा के दोष क्या हैं सो भी उन्हींके शब्दों में सुन लीजिए—

इन सब अधिकारों के होते हुए भी पर्दे की चाल में कई असुविधाएँ हैं। उसमें जीवन इकंगा और केवल स्वार्थी होता है। मन की उत्कण्ठा तथा किसी पदार्थ को देखने की प्रवृत्ति मारी जाती है, अज्ञानता और अन्धविश्वास बढ़ता है तथा शिक्षा की पूरी पूरी कमी बनी रहती है। इतना ही नहीं, स्त्रियों को पर्दे में रखने का विचार करना ही बतलाता है कि उनके आचरण पर सन्देह है। इसका यह मतलब हुआ कि उनके सद्गुणों पर विश्वास ही नहीं किया जा सकता और ऐसा सन्देह करने से वे अविश्वसनीय होने के बराबर हैं।

इसके अतिरिक्त पर्दे से स्त्रियों का जीवन सदैव रोगी बना रहता है। ऐसे बहुत कम लोग होते हैं जिनके यहाँ निजी बाग़-बगीचे हों। गरीब आदमियों को तो अपने दिन एक छोटे से मकान में ही व्यतीत करना पड़ते हैं। बड़ों के घर में भी कई प्रकार की असुविधाएँ होती हैं। जब पर्दानशीन स्त्रियाँ बाहर निकलती हैं तो वे एक ऐसी डोली में निकाली जाती हैं जो चारों ओर से बन्द रहती है और जिसमें बाहर की हवा भी अन्दर नहीं जा पाती। डोली को चार आदमी टाँग कर लेजाते हैं और वे बेचारी बन्द हुई चली जाती हैं; या कभी ताँगे में जाती हैं तो उसके चारों ओर भी कपड़ा तान दिया जाता है जिसमें से वे कभी २ केवल झाँक सकती हैं। जब कभी उन्हें यात्रा पर जाना पड़ता है तब उनकी दुर्दशा का ठिकाना नहीं रहता। वे सिर से पैर तक ढँकी-मुँदी सीधी कमरे में बैठा दी जाती हैं। जाते समय उनके केवल नंगे पैर दिखाई देते हैं जिनमें चाँदी के मोटे कड़े या कई पतली चूड़ियाँ पड़ी रहती हैं। ऐसी और भी कई असुविधाएँ हैं जिनका अधिक लिखना यहाँ ठीक नहीं।

अब समय आगया है जब कि इस प्रथा का मूलोच्छेद कर दिया जाय। यह बहुत पुरानी चाल है और इससे छुटकारा पाना सरल नहीं;

परन्तु पुरुषों और स्त्रियों को चाहिए कि वे इसको उठा देने के लिए पूर्ण प्रयत्न करें जिसमें भारतीय महिला-समाज दूसरे सभ्य देशों की स्त्रियों से किसी बात में कम न रहे।

(३) सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत मित्रता।

लाला लाजपतराय लिखते हैः—

"सार्वजनिक कार्य करते समय हमें धक्के मारने और धक्के खाने का अभ्यास करना पड़ेगा। इतना कर लेनेपर भी किसीसे हमारी मित्रता और सहयोगिता ज्यों की त्यों रह सकती है। सार्वजनिक जीवन के पाश्चमात्य ढंग से मैंने तो यही शिक्षा ग्रहण की है। यदि हम भारतवर्ष में सार्वजनिक जीवन की पश्चिमी पद्धति का प्रचार करना चाहते हों, यदि हम अपने देश में पाश्चमात्य राजनैतिक संस्थाओं की सृष्टि करना चाहते हों, यदि हम सार्वजनिक जीवन को भ्रष्टता से बचाये रखना चाहते हो और यदि हम सार्वजनिक जीवन में उत्साह, ज़िन्दादिली और जोश की आवश्यकता समझते हों, तो हमें एक दूसरे की आलोचना करते समय अधिक स्पष्टवक्ता और दृढ़ हृदय बनना पड़ेगा। हमें यह सीखना चाहिए कि सार्वजनिक विवादों में जिस कटु भाषा का प्रयोग किया जाता है वह ईर्षाद्वेष और व्यक्तिगत कपट का प्रमाण नहीं है। उसके कारण हमें एक दूसरे की मित्रता का त्याग न करना चाहिए और न सार्वजनिक जीवन से ही उदासीन बन जाना चाहिए।"

(४) दूध देनेवाले और खेती के पशु।

हमारे कृषि-प्रधान भारतवर्ष में कृषि के आधार-स्तम्भ गाय-बैलों की जो शोचनीय दशा हो रही है वह विचारशील जनों को रुलाये बिना नहीं रह सकती। गाय-बैलों की शक्ति का ह्रास हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के गोपालन और माखन-मिश्री की बातें आज स्वप्न सी भास रही हैं। हमारे कृषक मुट्ठी २ भर अनाज के लिए तरस रहे हैं। घर घर दरिद्रता देवी का अभिनय हो रहा है। इसका कारण क्या है?

"इंडियन ह्यूमैनीटेरियन" में मिस्टर के० एम० खाँडवाल लिखते हैं—

"भारत में साँड़, गाय और पड़े—ये ही मुख्य पशु हैं जिनसे खेती का काम लिया जाता है। सन १९१३—१४ में ब्रिटिश भारतवर्ष में बैलों की संख्या ४८,०००,००० थी। इनमें से दो तिहाई, अर्थात ३२,०००,००० बैल वृद्ध एवं कृषि-कार्य के लिए नितान्त अयोग्य थे। कृषि-कार्य कर सकने योग्य बैलों की संख्या लगभग १६,६००,००० थी। यह संख्या जमीन की जुताई के लिए अपर्याप्त है। प्रतिवर्ष भारत में लगभग २,२०,०००,००० एकड़ ज़मीन जोती जाती है। अतः एक जोड़ी बैल को २७ एकड़ ज़मीन जोतना पड़ती है। परंतु ऐसा अनुमान किया गया है कि दो एकड़ ज़मीन जोतने के लिए एक जोड़ी बैल आवश्यक हैं। इससे स्पष्ट है कि भारत में ज़मीन की उचित जुताई के लिए बैलों की संख्या पर्याप्त नहीं है। खेती के लिए जितने बैल चाहिए उसके हिसाब से यह संख्या कुछ नहीं के बराबर है। ऊपर दी हुई संख्या से पता लगता है कि भारत में किस प्रतिकूल परिस्थिति में खेती की जाती है। संख्या की बात जाने दीजिए, जो थोड़े बहुत बैल हैं भी वे आरोग्य दशा में नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि उनको पेट भर खाने को नहीं मिलता।"



लेने के देने

चित्रकार—
श्रीयुत टी. जे. पटेल

दुधार ढोरों की कमी और उनकी शोचनीय स्थिति के कारण दूध मिलना भी कठिन हो रहा है। "जो दूध १० वर्ष पहिले दो पैसे सेर मिलता था वही आज गाँवों में भी मुश्किल से छै पैसे सेर मिलता है। दूध और मक्खन जो हम लोगों के भोजन की प्रधान सामग्री थी अब देखने को नहीं मिलते। फल यह हो रहा है कि राष्ट्र की चैतन्य शक्ति का ह्रास होता जाता है। शारीरिक शक्ति घटने से मनुष्य हैज़ा, मलेरिया, इन्फ्लूएंज़ा आदि भयंकर बीमारियों के शिकार बन रहे हैं। इन बातों को देखते हुए दुधार और खेती के पशुओं का प्रश्न बड़े महत्व का हो रहा है। उसकी उपेक्षा करना राष्ट्र की हत्या करने के बराबर है।"

आगे चलकर लेखक ने इस दशा को सुधारने के लिए कुछ उपाय भी बताये हैं—

"अमेरिका के कई भागों और केनेडा में कृषि-विभाग ने पालतू पशुओं की एक विशेष शाखा खोली है। भारत में भी यही किया जाना चाहिए। कृषि-विभाग को एक पालतू-जानवर-विभाग खोलना चाहिए जिसका काम ढोर पालने के उद्यम को उन्नतिशील बनाने का होगा। दूसरी बात है चरोखर के लिए जंगलों में बड़े बड़े मैदान रखना; किन्तु इसमें भी किसानों को असुविधा होती है। जंगल, गाँवों से दूर होने तथा वहाँ की रास्ता ठीक न होने के कारण, किसान इनसे उचित लाभ नहीं उठा सकते। अतएव वहाँ वालों को गाँवों के पास के मैदान चरोखर के लिए मुफ्त में दिये जाना चाहिए। गर्मी के दिनों में पानी की भी बड़ी अड़चन होती है। अकाल और आपत्ति के समय, यह अड़चन बहुत चिंताजनक हो जाती है। आपत्ति-काल में बहुधा सैकड़ों पशु, पानी न मिलने के कारण, प्राण खो बैठते हैं। गत वर्ष के ही अकाल में लाखों पशु, घास तथा पानी न मिलने के कारण, पञ्चत्व को प्राप्त हो गए। यदि गाँवों में तालाब खुदवाने की प्राचीन प्रथा का समर्थन किया जाय, तो यह कठिनाई बहुत कुछ दूर की जा सकती है। ज़िला और लोकल बोर्ड को चाहिए कि वे गाँवों में और तालाब और कुएँ खुदवावें। इसके अतिरिक्त, आरोग्य बछड़ों का वध प्रतिबन्धक लेसंसों द्वारा रोका जाना चाहिए।

"किसानों को पशु-पालन की वैज्ञानिक रीतियाँ समझाने से भी बहुत लाभ हो सकता है। इस विषय की छोटी २ पुस्तकें लिखी जायँ और उनका वितरण कृषि—विभाग को करना चाहिए। गाँवों में पशु-चिकित्सालय अधिक संख्या में खोले जाना चाहिए; क्योंकि भारत में साधारण रोगों से होने वाली ढोरों की मृत्यु-संख्या कम नहीं है। सम्प्रति भारतवर्ष भर में इस तरह के ३५३ ढोर-अस्पताल हैं, और देश के समस्त पशुओं की संख्या १४७, ३३५, ८५२ के लगभग है। अतः इतने ढोरों के लिए ये इने-गिने अस्पताल पर्याप्त नहीं कहे जा सकते हैं।"

(५) भरी हुई थैली की महिमा।

भरी हुई थैली की महिमा अद्भुत होती है। आधुनिक संसार में, नई सभ्यता के प्रवाह में, आज के समाज में, इस बात पर पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि हमारे पास कितनी पूँजी है। योग्यता प्राप्त करना, मन की शांति बनाये रखना और अधिक क्या कहें, जीवित रहना भी अपनी आमदनी पर, अनेक अंशों में, अवलंबित है। भरी

हुई थैली के बिना योग्यता, मन की विशालता, उदारता, दयार्द्रता आदि उच्च भावों का अस्तित्व निर्बल हो जाता है। इस विषय में विवाद करने की आवश्यकता बिलकुल नहीं है। यह एक प्रत्यक्ष बात है; अतएव हमें उसपर ध्यान देना होगा। इस बात की सत्यता को न तो कोई सबल व्यक्ति ही बदल सकता है और न कोई बलाढ्य राष्ट्र ही। यदि किसी कोने का एकाध व्यक्ति ऊँघते हुए इस सत्यता से घृणा करे, तो उसे बड़े शौक़ से करने दो। परन्तु तुम ध्यान रक्खो कि यह एक महान सत्य है।

—मिस्टर टी० एम० देसाई।

विश्व-वैचित्र्य।

(१) इल्लियों का कुम्भकर्णी भोजन।

इल्लियों का छोटा सा डील देखकर कौन कहेगा कि वे अपने वज़न से दुगुना भोजन हज़म कर जाती हैं? आलुओं की इल्ली तो अपने वज़न से पाँच गुना भोजन करती है। सारांश यह कि इल्लियाँ जितना खाती हैं उतना ही काछी को नुकसान उठाना पड़ता है। ईश्वर की सृष्टि वैचित्र्य की खानि है। इतनी सी जान में इतनी अधिक पाचन-शक्ति! यहाँ मनुष्य का यह हाल है कि वह पाव डेढ़ पाव में ही जोकि उसके वज़न का लगभग २५० वाँ हिस्सा होता है, पाचक की गोलियों का सहारा लेता है। वहाँ टिड्डे को देखिए तो वह स्वस्थ दशा में अपने वज़न से दस गुना अधिक भोजन साफ़ कर जाता है!

(२) हरिण की दौड़।

जानवरों में हरिण बड़ा फुर्तीला और तेज़ दौड़नेवाला है। अच्छी उड़ान भरते समय कोई भी जानवर उससे बाज़ी नहीं मार सकता; पर वह एक घण्टे में कितने मील के हिसाब से दौड़ता है, यह कम लोग जानते होंगे। मंगोलिया के एक मोटर चलानेवाले ने वहाँ के हरिण की दौड़ साठ मील प्रति घण्टा बतलाई है। वह एक दिन ४० मील प्रति घण्टे के हिसाब से मोटर उड़ाता जाता था। बीच में हरिणों का झुण्ड बिचक कर उसके साथ होगया। जब उसने बन्दूक चलाई, तो हरिण लगभग ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से भागे। तेज़ी से दौड़ने के लिए ही ईश्वर ने उन्हें मज़बूत पतली टाँगें दी हैं।

(३) एक मन दूध देने वाली गाय।

अमेरिका में कुछ समय से इस बात का प्रयत्न चल रहा है कि गाय किन उपायों से अधिक दूध दे सकती है। वहाँ, आंटेरियो में, एक गाय है जो एक बार में २० सेर, अर्थात् २४ घंटों में एक मन दूध देती है। अमेरिका-निवासी इससे भी संतुष्ट नहीं हैं। वे प्रयत्न कर रहे हैं कि वह इससे भी अधिक दूध देवे।

(४) विलक्षण श्रवण-शक्ति।

मिस्टर जान प्रिमशा विल्किनसन की श्रवण-शक्ति और स्पर्श करने की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। ये २२ वर्षों से अन्धे हो गये हैं। जब ज़ोर से हवा चलती है अथवा पानी बरसता है, तब वृक्षों से जो ध्वनि होती है उसको सुनकर आप बता सकते हैं कि वे किस वृक्ष के समीप खड़े हैं। आपका कहना है कि प्रत्येक वृक्ष से भिन्न २ प्रकार की ध्वनि निकला करती है। आप वृक्षों का स्पर्श करके उनका नाम बता सकते हैं। इस समय आप ८०० वृक्षों के नाम इस प्रकार बता सकते हैं।

चित्र-परिचय।

(१) रंगीन चित्र श्रीनाथद्वारा-निवासी श्रीयुत घासीराम-द्वारा अंकित किया गया है। चित्र का भाव इस प्रकार है—गोपियाँ स्नान कर रही हैं, और श्रीकृष्णचन्द्र लता-कुञ्ज में स्थित रह कर उनका सौन्दर्य्य निरीक्षण कर रहे हैं। ज्योंही श्रीकृष्ण ने देखा कि स्नान हो चुके हैं, त्योंही वे इन्हें लज्जित करने के लिए, दबे पैर, आगे बढ़े; पर पैरों ने धोखा दे ही दिया। आहट मिलगई और जल-पक्षी भड़भड़ाकर उड़े। गोपियों ने उस ओर दृष्टिपात किया और देखा कि श्रीकृष्णचंद्र हँसते हुए, सद्यःस्नाता गोपियों को लज्जा-समुद्र में मग्न कर रहे हैं। चतुर चित्रकार ने भावों के व्यंजन, रंगों के सुखद संमिश्रण तथा प्रकृति के सौन्दर्य्य—चित्रण में जो कौशल प्रकट किया है वह देखते ही बनता है। (२) दूसरा सामाजिक चित्र मनुष्य—स्वभाव की कोमल और कर्कश वृत्तियों को प्रकट करता है। एक ओर तो जरा-जर्जरित-शरीर दरिद्र भिक्षुक, पेट की भीषण ज्वाला से सन्तप्त होकर, एक धनाढ्य सेठ के द्वार पर उपस्थित हुआ है। दूसरी ओर सेठ ने उसकी करुण पुकार सुनी अनसुनी करनी चाही; पर भिक्षुक चिल्लाता ही रहा। अंत में सेठ ने, उसे भगाने के विचार से, अपना कुत्ता उसपर दौड़ाया। अब भिक्षुक को प्राण लेकर भागना ही पड़ा। उसकी डंडी-कुंडी वहीं गिर गई और बेचारे को "लेने के देने" पड़ गये।

चित्र-परिचय।

(१) रंगीन चित्र श्रीनाथद्वारा-निवासी श्रीयुत घासीराम-द्वारा अंकित किया गया है। चित्र का भाव इस प्रकार है—गोपियाँ स्नान कर रही हैं, और श्रीकृष्णचन्द्र लता-कुञ्ज में स्थित रह कर उनका सौन्दर्य्य निरीक्षण कर रहे हैं। ज्योंही श्रीकृष्ण ने देखा कि स्नान हो चुके हैं, त्योंही वे इन्हें लज्जित करने के लिए, दबे पैर, आगे बढ़े; पर पैरों ने धोखा दे ही दिया। आहट मिलगई और जल-पक्षी भड़भड़ाकर उड़े। गोपियों ने उस ओर दृष्टिपात किया और देखा कि श्रीकृष्णचंद्र हँसते हुए, सद्यःस्नाता गोपियों को लज्जा-समुद्र में मग्न कर रहे हैं। चतुर चित्रकार ने भावों के व्यंजन, रंगों के सुखद संमिश्रण तथा प्रकृति के सौन्दर्य्य-चित्रण में जो कौशल प्रकट किया है वह देखते ही बनता है।

(२) दूसरा सामाजिक चित्र मनुष्य-स्वभाव की कोमल और कर्कश वृत्तियों को प्रकट करता है। एक ओर तो जरा-जर्जरित-शरीर दरिद्र भिक्षुक, पेट की भीषण ज्वाला से सन्तप्त होकर, एक धनाढ्य सेठ के द्वार पर उपस्थित हुआ है। दूसरी ओर सेठ ने उसकी करुण पुकार सुनी अनसुनी करनी चाही; पर भिक्षुक चिल्लाता ही रहा। अंत में सेठ ने, उसे भगाने के विचार से, अपना कुत्ता उसपर दौड़ाया। अब भिक्षुक को प्राण लेकर भागना ही पड़ा। उसकी डंडी-कुंडी वहीं गिर गई और बेचारे को "लेने के देने" पड़ गये।

जबलपुर के शारदाभवन-पुस्तकालय ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

Shri-Sharda-Reg. No. N. 241.

वर्ष १, खण्ड १] आषाढ़, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ४



वार्षिक मूल्य ६)] संरक्षक—श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक
साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

लेख-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। एक प्रति का मूल्य ॥) और पुरानी प्रति का ॥।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ॥) भेजना चाहिए अथवा ॥=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा, उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—
प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

लेखकों के लिए—

१—वर्तमान राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा"-कार्यालय से मिलता है।

४—अपूर्ण लेख प्रकाशित नहीं किये जाते हैं। बड़े लेख, स्थान के अनुसार, एक वा एकाधिक संख्याओं में प्रकाशित किये जाते हैं।

५—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

६—किसी लेख वा कविता को प्रकाशित करने वा न करने, घटाने वा बढ़ाने, एवं लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

७—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

८—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

९—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

१०—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

११—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—
सम्पादक, "श्रीशारदा,"
दीक्षितपुरा, जबलपुर।

विज्ञापकों के लिए—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषयके पहिले और पीछेके,,	१४)

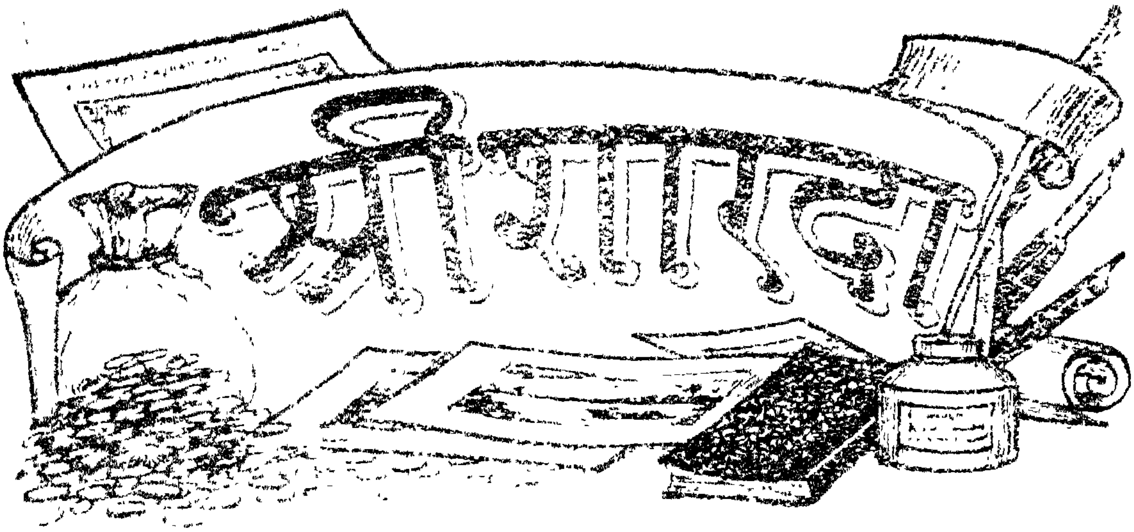
उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिए—
प्रबंधक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

—:०:—





साहित्य-[illegible]-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड १] आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ — १७ जून, १९२० [संख्या ४

भारत के सामाजिक क्षेत्र में कार्य करने की आवश्यकता।

[illegible] — [illegible] एम० ए० ([illegible])।

वर्तमान [illegible] में भारतीय जनता की विशेष [illegible] राजनैतिक कार्यों की ओर है। यदि सामाजिक क्षेत्र में काम करने की [illegible] आवश्यकता भी [illegible] है, तो यह कहकर उसकी [illegible] जाती है कि [illegible] [illegible] अधिकार जनता के [illegible] [illegible] कि सारे सामाजिक [illegible] निवारण हो जाय। अतः [illegible] [illegible] के काम में पड़ कर [illegible] [illegible] करने की कोई [illegible] नहीं है। [illegible] यदि यही समय केवल राजनैतिक [illegible] में ही लगाया जाय, [illegible] लोगों को राजनैतिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अधिकार शीघ्र मिल सकता है, और [illegible] [illegible] सब समाज-संबंधी कार्य थोड़े समय [illegible] [illegible] जा सकेगा। इन लोगों के मतानुसार [illegible] सब सामाजिक आवश्यकताओं को [illegible] पूरा कर सकती है; किन्तु वे इस [illegible] को भूल जाते हैं कि सरकार जनता के [illegible] कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सरकार का [illegible] कार्यक्षेत्र सीमित ही होना चाहिए, और सभी सुव्यवस्थित शासन में इस सिद्धान्त पर विशेष ध्यान दिया जाता है। विद्वान राजनैतिकों का कथन है कि यदि समाज के प्रत्येक [illegible] में सरकार को अधिकार दे दिये जाँय, तो [illegible] सरकार अपना काम [illegible] [illegible] आधुनिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सकेगी। [illegible] सरकार के हाथ इतना अधिकार [illegible] [illegible] कि जनता और व्यक्तिविशेषों की स्वतंत्रता में [illegible] लगेगा और सरकार अत्याचार करने लग [illegible]। [illegible] समाज को [illegible] हानि होगी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का आधिक [illegible] [illegible]। सरकार के द्वारा सामाजिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सरकार के कार्य को किसी परिमाण तक सीमित रखना ही

समाज के लिए लाभदायक समझा गया। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन देशों में भी जहाँ सरकार के ऊपर जनता का पूर्ण अधिकार है सरकार बहुतसी सामाजिक बातों में बिलकुल हाथ नहीं डालती, और उन्हें बिगाड़ने और बनाने का भार समाज की कुछ स्वयं-सेवी संस्थाओं के ऊपर रहता है। समाज में बुराइयाँ होते हुए भी, सरकार इन बुराइयों को दूर करने में अपने को अशक्य समझ, इन कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती। फ्रान्स, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में इसीलिए बहुतसी प्रचलित सामाजिक कुरीतियों के निवारण का भार सार्वजनिक संस्थाओं के ऊपर है। जब इन देशों में भी सरकार का कार्य-क्षेत्र परिमित कर दिया गया है, तो यह कैसे संभव है कि हमें स्वराज्य के अधिकार मिलते ही हम सरकार की शक्ति-द्वारा अपने समाज की दशा सुधार सकेंगे। सुशासन के लिए हमें अपनी सरकार का अधिकार सीमित करना होगा। अन्य देशों की तरह, हमें भी, दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं से काम लेना होगा। जब हमें सामाजिक सुधार के लिए, प्रत्येक दशा में इनकी सहायता लेनी है, तो राजनैतिक कार्य के साथ २ सामाजिक कार्य भी क्यों न चालू रखा जाय? अपने नये अधिकारों को योग्य रीति से उपयोग में लाने तथा अपनी नई सरकार को उचित रीति से संगठित करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हम तुरंत अपनी सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान दें और उनके सुधार में लग जावें।

सामाजिक क्षेत्र में हमें क्या करना चाहिए इस विषय में विचार करने के पूर्व अन्य देशों की समाज-सुधारक संस्थाओं का संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। इंग्लैंड की स्वयं-सेवी संस्थाओं में जनरल बूथ के 'सालवेशन आर्मी' का नाम सबसे प्रथम आता है। महाशय बूथ ने लन्दन के निवासियों की दुर्दशा देखी। उन्होंने देखा कि बड़े २ शहरों में जहाँ कारखाने अधिक थे बहुत से लोग अत्यंत दरिद्र स्थिति में रहते हैं। उनकी दशा हीन होने के कारण, उनकी स्त्रियों में चरित्र-हीनता तथा पुरुषों में अत्याचार करने की आकांक्षा बड़ी प्रबल रहती है। बूथ ने विचार किया कि यदि इन पतित लोगों का उद्धार नहीं हुआ, तो सभ्यता का राग अलापना केवल ढकोसला मात्र होगा। इसलिए इस वीर पुरुष ने, लोगों के द्वारा अनुत्साहित किये जाने पर भी, इस कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। जब लोगों को यह पता लगा कि जनरल बूथ का कार्य देश के लिए हितकारक है तथा बहुतसे पतित-जन-समुदाय के उद्धार का एक मात्र कारण है, तब उन्हें विश्वास हो गया कि जनरल बूथ बिना किसी स्वार्थ के इस काम में लगे हैं। यह देख जनता ने तन-मन और जन-धन से उनकी सहायता करना आरंभ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज कल यूरोप में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ साल्वेशन आर्मी का यह पवित्र कार्य न होता हो।

साल्वेशन आर्मी के बाद इंगलैंड की ऐसी संस्थाओं में डाक्टर बर्नार्डो के "चिल्ड्रन्स होम" का नाम है। डाक्टर बर्नार्डो ने देखा कि गरीबों के बहुतसे बच्चे बिना उचित भोजन तथा आश्रय के प्राण खो देते हैं। उनको यह भी मालूम हुआ कि बहुतसी युवतियाँ जो कुमारावस्था में ही माता बन जाती हैं वे अपनी सन्तानों को इधर उधर कर देती हैं जिससे प्रतिवर्ष सहस्रों बालक माता-पिता से वंचित रहते हैं। इस सभ्यता के युग में निष्पाप बच्चों के साथ इस तरह का घोर अन्याय केवल सभ्यता के ही प्रतिकूल नहीं, वरन देश के लिए अत्यन्त हानिकर प्रतीत हुआ। इसलिए उन्होंने पहिले अपने ही व्यय से, कुछ गरीब बच्चों को लेकर, एक संस्था की स्थापना की। जब लोगों को इनके कार्य पर विश्वास हो गया और देश के तथा समाज के हित के लिए इस संस्था की उपयोगिता प्रमाणित हो गई, तब सबने इनकी सहायता की और आज उसका यह परिणाम हुआ है कि इस संस्था के द्वारा लगभग एक लाख बच्चों का, जिनका जीना बिना इस संस्था के असम्भव हो जाता, पालन-पोषण किया जा रहा है।

इसी संबंध में रेडक्रास सोसाइटी तथा सेंट जान एम्बुलेन्स का भी वर्णन करना

आवश्यक है। क्रिमियन युद्ध के पूर्व, घायलों की सेवा-सुश्रूषा का जो कुछ प्रबन्ध होता था वह सरकार की ओर से ही रहता था। बहुधा समुचित प्रबन्ध न होकर घायलों को असीम कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता था; किन्तु कभी कभी अपने प्राण से भी हाथ धोना पड़ता था। मिस नाइटिंगेल ने, स्त्री होते हुए भी, इस बात पर कमर बाँधी कि युद्ध के घायलों को वह कुछ आराम अवश्य देगी—उसने क्रिमिया के युद्ध से ही अपना काम आरंभ कर दिया। पहिले पहिले लोगों ने उचित सहायता नहीं दी, किन्तु ज्यों २ लोगों की दृष्टि में मिस नाइटिंगेल के कार्य की उपयोगिता सिद्ध होती गई, त्यों त्यों इनके प्रति जनता की श्रद्धा और विश्वास भी बढ़ता गया और इसके साथ २ धन तथा जन द्वारा इनकी सहायता भी की जाने लगी। धीरे २ इन संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र विस्तृत किया जाने लगा और शरीर से पीड़ित जनता की सहायता के लिए चाहे वह युद्ध में हो या साधारण काल में इसने कार्य आरंभ किया। इसके फल-स्वरूप आज यूरोप के प्रत्येक स्थान में रेडक्रास तथा सेंटजान एम्बुलेन्स कोर की स्थापना हो गई है, जो दुःखित तथा पीड़ित जनता को अवर्णनीय सांत्वना दे रही है।

ऐसी लोकोपकारी संस्थाओं के वर्णन करते समय परोपकार-व्रत में लीन कुमारी आक्टेविहया हिल के कार्यों का उल्लेख न करना अत्यंत अनुचित होगा। इन्होंने लन्दन शहर में, मज़दूरों के घर में, उनके परिवार की दुर्दशा देखी। उन्होंने रोग से आक्रांत बच्चों तथा स्त्रियों को देखकर सोचा कि यदि इन निराशा-पूर्ण गृहों में आशा की एक भी किरण ले जा सकूं, तो मैं अपने को धन्य समझूँगी। यदि मैं किसी भी दुःखित परिवार के क्लेश को कुछ भी कम कर सकी, तो मैं समझूँगी कि मेरा परिश्रम सफल हो गया। बहुत लोगों ने इस उदार-हृदया देवी का साथ दिया और लन्दन के गरीबों में इसने कई वर्षों कार्य किया और उनके निराशा-मय जीवन में एक नयी ज्योति का संचार कर दिया।

विदेश की उपकारी संस्थाओं का दिग्दर्शन कर यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि भारत वर्ष में इसी तरह काम करने वाली संस्थाओं का कुछ वर्णन किया जावे। ऐसी संस्थाओं में बंबई की सोशियल सर्विस लीग, पूने की अछूतोद्धारक सभा, कर्वे-विधवाश्रम, रामकृष्ण मिशन तथा प्रयाग की सेवा-समिति विशेष उल्लेख-योग्य हैं। इन संस्थाओं के कार्य-क्षेत्रों पर संक्षेप में कुछ विचार अवश्य किया जावेगा। बंबई में पुतलीघरों में काम करने वाले मज़दूरों की दशा अत्यंत शोचनीय है। सदैव बंद मकानों में रहने के कारण उनका तथा उनके कुटुम्ब वालों का स्वास्थ्य बहुत शोचनीय रहता है। शुद्ध वायु के अभाव से कई बीमारियों ने इन मज़दूरों के बीच अपना अटल अड्डा जमा लिया है। सूदखोर महाजन इनकी सब कमाई हड़प कर जाते हैं और तब भी उनके चंगुल से इनका छुटकारा नहीं होता। इनकी आर्थिक अवस्था दिन प्रति दिन बिगड़ती ही जाती है। यही नहीं, इनमें विद्या के अभाव से, बहुतसी बुराइयाँ भी आ गई हैं। इन्हीं को दूर करने के लिए सोशिल सर्विस लीग की स्थापना हुई थी। इसमें संदेह नहीं, लीग का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत है, और लीग के वर्तमान योग्य संचालक भारतीय-सेवक-समिति के सदस्य देवधर जी का विशेष प्रयत्न इसी ओर है और इससे यहाँ के पुतलीघरों के मज़दूरों की स्थिति बहुत कुछ सुधर भी गई है। उनके रहने के लिए अच्छे स्थानों का प्रबन्ध किया जा रहा है। इनके बच्चों को बंबई के बाहर गाँवों में भी ले जाते हैं जिससे उन्हें शुद्ध हवा से वंचित न रहना पड़े। कर्ज़दारों के पंजों से छुड़ाने के लिए भी को-आपरेटिव सोसाइटियों की स्थापना की जा रही है। मज़दूरों की शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं की भी स्थापना की गई है।

अछूतोद्धारक सभा पूना का भी कार्य अत्यंत सराहनीय है। हमने हिन्दू होते हुए भी, इन अछूतों पर अकथनीय सामाजिक अत्याचार किया है। इनकी संख्या भारत में करोड़ों में है और

हमारा यह कर्तव्य है कि हम अब इनको अपनावें। इस संस्था ने अछूतों के लिए बहुत कुछ काम किया है। इसमें संदेह नहीं कि केवल इस तरह की एक संस्था-द्वारा विशेष काम नहीं हो सकता। हमें इस तरह की बहुतसी संस्थाओं की आवश्यकता है, तथापि इनका प्रयत्न अत्यंत प्रशंसनीय है।

यही बात प्रोफ़ेसर कर्वे-द्वारा स्थापित विधवा-आश्रम, पूना, की है। हमारे समाज में विधवाओं की दशा अत्यंत शोचनीय है। इन्हींकी स्थिति सुधारने के लिए उक्त आश्रम की स्थापना हुई है। इसका काम और फल इतना बढ़ गया है कि इसने स्त्री-शिक्षा-विद्यालय का रूप धारण कर लिया है। इसका संचालन इतनी योग्यता से किया जा रहा है कि इसके संस्थापकों के प्रति सर्वसाधारण का विश्वास दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

इस सम्बन्ध में रामकृष्ण मिशन के प्रशंसनीय कार्य के विषय में कुछ कहना अत्यंत आवश्यक है। मिशन के संस्थापक का मुख्य उपदेश यही था कि दुःखित और पतित मनुष्यों की सेवा करते समय तुम यह न समझो कि तुम मनुष्य की सेवा कर रहे हो। तुम यही समझो कि तुम नर के रूप में नारायण की आराधना कर रहे हो। एक कारीगर की प्रशंसा करने का सबसे अच्छा उपाय उसकी बनाई हुई चीज़ को उपयोग में लाना है। केवल मौखिक प्रशंसा करने से तुम वास्तव में उसकी प्रशंसा नहीं कर रहे हो। मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सबसे अच्छा नमूना है, इसलिए ईश्वर को प्रसन्न करने का उपाय इधर-उधर घूम कर उसकी प्रतिमाओं में फूल चढ़ाना नहीं है, बल्कि उसकी सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट मुकुट मनुष्य की दुःख में सहायता करना है। इसी कथन को ध्यान में रख कर रामकृष्ण मिशन के सन्यासी भारत के कई स्थानों में रोगियों की सेवा का पुण्य-पूर्ण कार्य कर रहे हैं। बनारस का औषधालय दिन प्रति-दिन अधिक ख्याति पा रहा है।

यदि प्रयाग की सेवा-समिति का विवरण इस स्थान में न दिया जाय, तो यह लेख अवश्य अपूर्ण रहेगा। गढ़वाल के दुष्काल में, हरद्वार तथा इलाहाबाद के कुंभ मेलों में और मार्शल लॉ के पश्चात् पंजाब में जनता की निष्काम भाव से सेवा कर जिस संस्था ने देश भर में अपना यश फैला दिया उसका परिचय देना निःसंदेह अत्यंत आवश्यक है। इसकी स्थापना पवित्रात्मा देश-भक्त मालवीय जी के सभापतित्व में हुई। इसके सुयोग्य मंत्री पंडित हृदयनाथ कुंजरू तथा पंडित वेंकटेश नारायण तिवारी ने इस संस्था के संचालन में जिस योग्यता से काम लिया है वह इसी से स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दी बोलनेवाले प्रान्तों में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां इसके विमल यश की कथा न कही जाती हो। समिति की ओर से केवल दुष्काल तथा मेलों में ही काम नहीं होता, बहुत कुछ काम स्थायी रूप से भी चल रहा है। प्रयाग में इसके द्वारा स्थापित रात्रि-पाठशालाओं में कम से कम १५०० मज़दूर शिक्षा पा रहे हैं। समिति की ओर से लगभग १० औषधालय रोगियों को मुफ्त औषध दे रहे हैं। एक वनिताश्रम की भी स्थापना की गई है जिसका उद्देश्य विधवा स्त्रियों की सहायता देना है। आजकल स्कूल के लड़कों में समाज-सेवा का भाव जागृत कराने के लिए स्थान स्थान में बॉय स्काउट (Boy Scout) के दलों की स्थापना की जा रही है। इस विषय में प्रयाग के पं० मदनमोहन मालवीय प्रभृति व्यक्तियों की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, विशेष कर इस दशा में जब कि वे अपने व्यक्तिगत कामों के लिए कुछ भी समय न देकर, दिनरात सामाजिक उन्नति का उपाय ही सोचा करते हैं।

अपने देश में काम करने वाली संस्थाओं का संक्षेप में वर्णन कर अब यह बतलाना आवश्यक है कि हमारे यहां समाज-सेवी को किन २ क्षेत्रों में कार्य करना चाहिए। समाज से किन २ बुराइयों को दूर कर वे समाज को सुदृढ़ बना सकते हैं इसको भी जानना आवश्यक है। यह कथन बहुत कुछ ठीक है कि जब तक हम अपनी सामाजिक

कुरीतियों को दूर न करेंगे, तबतक हमारी राजनैतिक स्थिति इतनी सुदृढ़ नहीं हो सकती। इसलिए सब सामाजिक कार्यों को हम दो भागों में विभक्त करेंगे—पहिला स्थायी काम और दूसरा अस्थायी। पहिले विभाग में वे सामाजिक कार्य सम्मिलित हैं जिनकी आवश्यकता समाज को सब समय एक सी रहती है; उदाहरण के लिए, अछूतोद्धार का काम। दूसरे विभाग में उन कार्यों का विचार किया जायगा जिनकी आवश्यकता समाज को सदैव न रहकर समय समय पर हुआ करती है; जैसे, दुर्भिक्ष निवारण का कार्य। हमारे सामने निम्न लिखित कार्य हैं जिन्हें स्थायी रूप से करने के लिए हम बद्ध-परिकर हो सकते हैं।

इन सब कामों में मुख्य काम अछूतोद्धार का है। इस काम को प्रधान स्थान देना हमारे लिए इसलिए आवश्यक है कि यदि हम इनको नहीं अपनावेंगे तो ये हमारी उन्नति के मार्ग में रोड़ा होकर विदेशियों की सहायता करेंगे। भारत को हिन्दू और मुसलमानों की फूट से बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ा है और वर्तमान राजनैतिक स्थिति इसी फूट का कटु परिणाम है। ईश्वर की दया से अब हिन्दू और मुसलमान दोनों एक होने का प्रयत्न कर रहे हैं और इस कारण भारत की स्थिति कुछ सुधरती सी जान पड़ती है। हमें अब भारत के लिए अछूतों की समस्या नहीं खड़ी करनी चाहिए। इनपर सामाजिक अत्याचार जैसा कि ऊपर कहा गया है बहुत हुआ है। हम लोगों ने इनके साथ पशु से भी बुरा व्यवहार किया है। हमपर इनका क्रुद्ध होना अत्यन्त न्यायोचित है। विदेशी इनकी पीठ ठोंक हमारे ही विरुद्ध इन्हें उभाड़ रहे हैं। हमारा कर्तव्य है कि जो कुछ हमने अतीत काल में इनके साथ अन्याय किया उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए। दोनों हाथों से उन्हें उठा अपने समाज में शामिल कर इन्हें उचित स्थान देना अब उचित है। हमारे ये भाई हैं और इनके साथ भायप का व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हमें चाहिए कि इनके बीच शिक्षा का प्रचार कर—इनको अपनाकर—देश की कठिनाइयों को हल करें। अभी ये हमारे साथ मिलने के लिए तय्यार हैं। हमारी बुराइयों को भी भूलने को प्रस्तुत हैं किन्तु यदि अब भी हमने इनकी अवहेलना की, तो हमारी देशोन्नति के लिए ये बड़े हानिकर होंगे। मद्रास में तो इनकी दशा भारत के और प्रान्तों से अधिक शोचनीय है। एक अछूत के स्पर्श मात्र से या छाया से ब्राह्मण अपवित्र हो जाता है। वहाँ अछूतों का रास्ता भी चलना कठिन हो रहा है। हमारा कर्तव्य है कि हम इनका प्रतिवाद करें और बहुतसी अछूतोद्धारक समितियों की स्थापना कर इन भारतवासियों को जो हमसे अलग हो रहे हैं अपने में शामिल कर लें। जबतक हम अपने आश्रित जनों के साथ न्याय करने को तय्यार नहीं हैं, हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम दूसरों से न्याय की आशा करें। जबतक भारतवर्ष से अछूत का प्रश्न न उठ जायगा, जबतक प्रत्येक अछूत अपने को भारतवासी कहने में गौरव न मानेगा, तबतक हमारी राजनैतिक उन्नति कदापि न होगी।

अछूतोद्धार के साथ ही आजकल हिन्दू-समाज के सामने विधवाओं का प्रश्न भी बड़ा कठिन है। उनकी दशा कितनी हृदय-द्रावक है इसका अनुभव प्रायः सभी लोग करते हैं। भारत की जन-संख्या ३२ करोड़ है। इसमें से विधवाओं की संख्या २ करोड़ ६८ लाख है। इनमें अधिकतर बाल-विधवाएँ ही हैं। उनमें शिक्षा का अभाव है। पति-प्रेम क्या वस्तु होता है इसका इन्हें अनुभव भी नहीं है। बहुतों को यह भी नहीं मालूम कि उनका विवाह कब हुआ था। हमारी समाज इन सबसे आशा रखती है कि ये अपने पति के ही ध्यान में जिन्हें इन्होंने देखा भी नहीं है अपना जीवन व्यतीत करें। प्रत्येक स्थान में 'अशुभ' कही जाकर इन्हें जो अनंत अपमान उठाना पड़ता है उसके अतिरिक्त सारी ज़िन्दगी बिना किसी सहारे तथा कार्य के बिताने को इनसे कहा जाता है। समाज को पूर्ण रूप से ज्ञात है कि सौ बाल-विधवाओं में से कठिनता से ५ भी अपनी सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकतीं।

समाज को यह भी ज्ञात है कि दिन प्रतिदिन जो वेश्याओं की संख्या बढ़ती जा रही है उसका मुख्य कारण विधवाओं की संख्या-वृद्धि ही है। भारत में जितनी वेश्याएँ हैं उनमें आधे से अधिक हिन्दू स्त्रियाँ हैं जिन्होंने कई कारणों से इस निर्लज्ज व्यवसाय को स्वीकार किया है। प्रत्येक हिन्दू को यह विदित है कि जिसके घर बाल-विधवाएँ हैं उन्हें क्या २ कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। झूठे सम्मान के रक्षार्थ कितने गर्भ-पात तथा बाल-हत्याएँ इस पुण्य-भूमि भारत में दिन-प्रतिदिन की जा रही हैं क्या यह किसी से छिपा है? आँख बंद कर कोई बाहरी दृश्य से अवश्य छुटकारा पा सकता है, किन्तु जो बात उसके हृदय में अंकित है उससे मुक्त नहीं हो सकता। इन्हीं विधवाओं के कारण प्रत्येक स्थान में व्यभिचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। पंडे, पुजारी तथा सन्यासी के प्रलोभनों में पड़, कितनी ही हिन्दू बालाएँ अपने सतीत्व को खो, सामाजिक कुरीतियों का शिकार बन चुकी हैं। समस्त सभ्य संसार हमारी हँसी उड़ा रहा है, तब भी हम इस ओर ध्यान नहीं देते। यदि हम अब समाज को, विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या से बचाना है, तो हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम इनकी दशा सुधारें। जिस घर में दूसरी स्त्रियाँ विलासिता-पूर्वक अपना जीवन काटें, कामोद्दीपक कार्यों में भी अपना समय व्यतीत करें, उसी घर में आप एक युवती बाल-विधवा को सूखे सतीपन का उपदेश देकर, गढ़े में गिरने से कभी नहीं बचा सकते। आपको बाल-विधवाओं का विवाह कर देना होगा चाहे वह धर्म के अनुकूल हो या प्रतिकूल। धर्म की दुहाई देकर समाज में व्यभिचार का प्रचार नहीं होने देना चाहिए। वह धर्म, धर्म ही नहीं है जिससे पवित्रता के स्थान में व्यभिचार के प्रचार को सहायता मिलती है। यदि विवाह नहीं किया जा सके तो इनके लिए स्थान २ में विधवाश्रम की स्थापना होनी चाहिए जहाँ इनके रहने के उचित प्रबन्ध के साथ २ इनको धर्म-शिक्षा भी दी जावे और इनसे समाज-सेवा के उचित काम भी लिये जावें। यदि समाज-सेवा के उच्च भाव इनके हृदय में जागृत हो गये और उस के तत्वों को इन्होंने समझ लिया तो कितने भी प्रलोभन इनको नहीं डिगा सकेंगे। अतएव यह अत्यंत आवश्यक है कि प्रत्येक स्थान में विधवाश्रमों की स्थापना की जावे।

समाज-सेवियों के सन्मुख तीसरा कार्य वेश्याओं तथा कैदियों की स्थिति सुधारना है। हमें इस बात पर हँसी आती है कि हमसे कोई वेश्याओं की दशा सुधारने की बात कहे। हम यह कहते हैं कि पतित वेश्या की दशा कौन सुधार सकता है? किन्तु यदि पक्षपात-रहित दृष्टि से विचार किया जाय, तो हममें कई इन वेश्याओं से भी अधिक पतित हैं। सामाजिक नियमों के कारण किसी थोड़ी सी भी भूल के कारण, अपने घर से निकाल दिये जाने वाली विधवा के लिए, वर्तमान स्थिति में पेट पालने के लिए, केवल वेश्यापन के अतिरिक्त कौनसा उपाय रह जाता है? दोनों में अधिक पतित कौन है, हम, जो अपनी लालसाओं की, पैशाचिक कामनाओं की पूर्ति करने के लिए एक निरीह अबला को पाप के पंक में सदैव के लिए डाल देते हैं, या वह, जो अपनी परवशता के कारण, अपनी पेट की ज्वाला को शांति करने का कोई उपाय न देखकर, हमारी पापमय कामनाओं को तृप्त करती है? यदि हम चाहते तो कितनी ही इस तरह गिरती हुई अब-लाओं को क्या नहीं बचा सकते थे? जब हमारे समाज में वेश्या-वृत्ति में लाने वाले मनुष्यों का तिरस्कार नहीं होता, तो यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इन बेचारी वेश्याओं का तिरस्कार हो। इनमें से बहुतसी ऐसी हैं जो केवल अपने पेट-पालन के लिए यह पतित धंधा स्वीकार करती हैं। यदि इनकी स्थिति सुधारी जावे, और इनके लिए वे साधन इकट्ठे कर दिये जावें जिनसे इन्हें पेट की ज्वाला से सन्तप्त न होना पड़े, तो इसमें संदेह नहीं कि इन्हीं वेश्याओं में से बहुतसी ऐसी निकलेंगी जो हममें से बहुतों से अधिक चरित्रबली होंगी। इसी सम्बन्ध में बाइबिल की एक घटना का उल्लेख अत्यंत आवश्यक है। बहु-

दियों के नियमानुसार व्यभिचार का दंड था पत्थरों से मार मार कर प्राण लेना। मेरी माड लीन नाम की एक स्त्री बड़ी व्यभिचारिणी थी। इसी कारण उसे पत्थर से मार कर प्राण-दंड की आज्ञा दी गई। लोग पत्थर मारते हुए उसके पीछे दौड़ रहे थे। क्राइस्ट ने देखा, और लोगों से कहा कि तुम लोगों में से, इसे केवल वही पत्थर मारे जिसने कभी व्यभिचार न किया हो। उस भीड़ में से ऐसा कोई नहीं निकला। मेरी माडलीन क्राइस्ट की इतनी भक्त हुई और उसने आत्मिक बल इतना प्रकट किया कि आज उसका नाम संतों में लिया जाता है। भारत में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। चिन्तामणि तथा पुराण के गणिका की कथा सब जानते हैं। भारत में वेश्याओं के प्रति घृणा दर्शाने वाले, उनको पतित और कलंकित कह कर उनके दुःख में भी सहानुभूति न करने वाले ऐसे कितने हैं जो हृदय पर हाथ रख कर कह सकते हों कि इन्होंने कभी व्यभिचार नहीं किया? कितने ऐसे हैं जो यह कह सकें कि एक अज्ञान, हित-अनहित न समझने वाली बाला को अपनी काम-वासनाओं के लिए फँसाने में उन्होंने पूर्ण उद्योग न किया हो? तात्पर्य इसका यह कि हमें पहिले से ही ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि हम इनके लिए कुछ नहीं कर सकते और इनका सुधरना असंभव है। प्रयत्न करने पर इनमेंसे बहुतसी सीधे मार्ग पर आ सकतीं और समाज का, अपकार के बदले, उपकार कर सकतीं हैं।

कैदियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इनमें से भी बहुत ऐसे हैं जो सुधर सकते हैं और सुधर कर समाज की सेवा कर सकते हैं। विदेशों में लोगों का ध्यान इस ओर विशेष आकर्षित हो रहा है; किन्तु हम भारतवासी इनको नीच समझ इस ओर कोई ध्यान नहीं देते। इनके प्रति भी हमारा कर्तव्य है, और समाजसेवियों को इस ओर भी ध्यान देना चाहिए।

समाज-सेवियों के सम्मुख चौथा काम लोगों के लिए औषधि आदि का प्रबन्ध करना है। भारत में सरकारी अस्पतालों की संख्या बहुत परिमित है। गाँववालों को इसलिए किसी तरह की सहायता नहीं मिल सकती। बहुतसे या तो बिना औषधि के ही चल बसते हैं और बहुतसे बुरी औषधि के कारण अपने प्राण से हाथ धोते हैं। इन्हीं चिकित्सालयों के अभाव से नीम हकीमों की उन्नति होती जा रही है, और विज्ञापनबाज़ धन्वंतरि भारत में इतनी अमृतवर्षा एक २ रुपये में कर रहे हैं कि अबतक सब भारतीयों को नीरोग और अमर हो जाना चाहिए था। हमारा कर्तव्य है कि अन्य देशों की तरह हम लोग स्थान २ में सार्वजनिक औषधालय खोल देवें ताकि लोगों का कष्ट दूर हो। इस कार्य में हमारे लिए सेवा-समिति तथा रामकृष्ण मिशन के सन्यासियों का काम अनुकरणीय है।

सामाजिक क्षेत्र में सुधार-सम्बन्धी अन्तिम कार्य मज़दूरों को शिक्षित करना है। बालक-बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था तो सरकार करती जा रही है; परन्तु इस ओर उसका ध्यान ही नहीं है। हमारे यहाँ इन्हीं मज़दूरों तथा कृषकों की संख्या अधिक है जो अब पाठशाला में जाकर विद्याध्ययन नहीं कर सकते। इनका शिक्षित होना हमारी सामाजिक उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम प्रत्येक स्थान में रात्रि-पाठशाला स्थापित करें और इनकी शिक्षा का पवित्र कार्य आरंभ कर दें। इस विषय में सेवा-समिति की रात्रि-पाठशाला तथा बाम्बे सोशियल लीग की पाठशालाओं से हम बहुत कुछ उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

अन्त में यह बताना आवश्यक है कि सामाजिक कामों में अस्थायी कार्यों की ओर भी ध्यान देना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक देश में अवश्य एक न एक स्थान में आकस्मिक आपत्ति आ ही जाती है, और प्रत्येक पुरुष को इसके लिए तय्यार रहना चाहिए। आज कल पढ़े-लिखे लोगों पर सबसे भारी आक्षेप यह किया जाता है कि ये लोग अपने स्वार्थ के ही लिए काम करते हैं। जनता का न इनपर विश्वास ही है और न जनता

के लिए ये कुछ करते हैं। इस कथन में बहुत कुछ सत्य का अंश भी है। इसलिए जनता की सेवा के लिए कोई कार्य करना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भारतीय शिक्षित समाज अपने अशिक्षित भाइयों के लिए बहुत कुछ करने को तय्यार है। इससे शिक्षित और अशिक्षित दोनों के बीच का बंधन अधिक दृढ़ होता है और हमारी राजनैतिक उन्नति के लिए इस पारस्परिक विश्वास की अत्यंत आवश्यकता है। मेलों आदि में जाकर जनता की सेवा करने से सबमें सेवा-भाव का प्रचार होता है जिससे राजनैतिक कार्यों में भी सफलता होती है। प्रयाग के माघ-मेले में सेवा-समिति द्वारा यात्रियों की सेवा जनता में कई राजनैतिक व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक जागृति लाने का कारण हुई है। सेवा-समिति ने पंजाब में दुर्भिक्ष पीड़ितों के सहायतार्थ जो कुछ किया उससे भी भिन्न भिन्न प्रान्तों का पारस्परिक मेल अधिक दृढ़ हुआ। सामाजिक दृष्टि से भी ऐसे कामों का महत्व अधिक है। इसलिए समाज-सेवा के कार्य में ऐसी संस्थाओं का हाथ भी आवश्यक है।

उपरोक्त लेख में समाज-सेवा के मोटे मोटे सिद्धान्तों पर विचार किया गया है। हमारे प्रान्त में इस ओर लोगों का ध्यान बहुत कम है, इसलिए आशा है कि इस कमी को हम शीघ्र पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे।

जापान की स्त्रियाँ।

[लेखक—बाबू [illegible]]

बाल्यावस्था।

जापानियों में, सन्तान उत्पन्न होने पर, चाहे वह लड़का हो चाहे लड़की, विशेष आनन्द मनाया जाता है। ज्योंही बालक उत्पन्न होता है, त्योंही उसके जन्म की सूचना मित्रों तथा सम्बन्धियों के पास भेजी जाती है। ये लोग अपने साथ कुछ खिलौने, कपड़े आदि भेंट लेकर बालक को देखने के लिए जाते हैं। सातवें दिन बालक का नामकरण होता है। इस समय कोई विशेष रीति नहीं होती और कुटुम्ब के सब लोग इस दिन को विशेष आनन्द-दायक मानते हैं। नामकरण पिता-द्वारा किया जाता है। लड़कों के नाम प्रायः तत्सम्बन्धी पूर्व पुरुषों के और नीची श्रेणी के लोगों में शेर, रीछ आदि के नामों के अनुसार रक्खे जाते हैं, और लड़कियों के नाम विशेषतः पुष्प, सोना, चाँदी, प्रकाश आदि सुन्दरता-सूचक नामों के समान।

लड़के और लड़कियों के कपड़ों में आरम्भ से ही भिन्नता रहती है। बहुत छोटे बच्चों को विशेषतः लाल और पीले कपड़े पहनाये जाते हैं। लड़के थोड़े ही बड़े होने पर नीले, भूरे, हरे और खाकी कपड़े पहिनने लगते हैं। लड़कियों के चटकीले—विशेषतया लाल रंग के—कपड़े पहिनने का समय अधिक रहता है। कोई भी किसी जापानी बच्चे को देखकर, उसके कपड़ों के रंगों से, बतला सकता है कि वह लड़का है या लड़की।

जापानी बच्चों को आरम्भ से ही घुटनों के बल बैठना सिखाया जाता है। बड़े होने पर लड़के तरकियों के सहारे कुर्सी, बेन्च आदि पर बैठना सीखते हैं; परन्तु लड़कियाँ सदैव घुटनों के बल ही बैठती हैं। उनका इस प्रकार बैठना बुढ़ापे तक ज्यों का त्यों बना रहता है, अर्थात् जापानी स्त्रियाँ और किसी दूसरी तरह से कभी नहीं बैठती हैं।

जापानी घरों में चटाई का उपयोग अधिक किया जाता है। बहुधा उनमें कुर्सी, मेज़, मूढ़ा आदि बहुत कम रहते हैं। जब बच्चे इन चटाइयों पर थोड़ा चलना सीख जाते हैं, तब वे हलकी लकड़ी की छोटी २ खड़ाउओं पर, जो कि पाँव में मुलायम फ़ीते या रस्सियों के सहारे पहनी जाती हैं, बाहर सड़कों पर निकलते हैं। चार चार छः छः छोटे लड़के और लड़कियों के झुंड रंग-बिरंगे कपड़े और खड़ाऊँ पहने हुए सड़कों पर खेलते हुए बहुत प्यारे मालूम होते हैं।

कुटुम्बी लोगों का छोटी लड़कियों के ऊपर विशेष प्रेम रहता है। सब लोग उनको आदर की दृष्टि से देखते तथा आदरणीय नामों से पुकारते हैं। यही समय उनकी शिक्षा का होता है। ज्यों २ वे बड़ी होती जाती हैं, त्यों २ उनको घर और गृहस्थी के कामों की भी शिक्षा धीरे २ मिलने लगती है। पढ़ना, लिखना और गणित अब जापानी लड़कियों को विशेष रूप से सिखाये जाने लगे हैं; क्योंकि इन विषयों का जानना अब व्यवसायी-जापान की स्त्रियों के लिए बहुत आवश्यक प्रतीत होने लगा है। इन्हें करने के लिए घर के कई काम छोड़ दिये जाते हैं। घर में आये हुए मेहमानों के लिए चाय-पानी का प्रबन्ध करना, प्रातःकाल बिछौनों को उठा कर उचित स्थान पर रखना, मच्छड़दानी को हटाना, कमरों को साफ़ करना, दहलान और बरामदों को धोना उनके पहले काम हैं। इनके बाद वे जलपान तैयार करके घर के सब लोगों को खिला-पिला कर बर्तन साफ़ करके उन्हें यथोचित स्थानों में रखती हैं। फिर दोपहर के भोजन के लिए भाजी, तरकारी, मछली आदि लाने के लिए या तो बाजार की दूकानों पर वे जाती हैं या घर पर ही उन लोगों से मोल ले लेती हैं जो सिर पर टोकने रखे हुए सड़कों में बेचते फिरते हैं। इन कामों से निपटने पर, उनको सीने-पिरोने, पढ़ने-लिखने आदि अन्य कामों के लिए अवकाश मिलता है। जापानी लड़कियों को सीने का काम अधिक रहता है, क्योंकि कई जापानी कपड़े ऐसे बनते हैं जिनके भिन्न २ हिस्से धोते समय अलग अलग करना पड़ते हैं। उनको पहले के समान जमाने तथा उनको फिर रँगने में भी लड़कियों का बहुतसा समय लग जाता है।

जापानी लड़कियों को आजन्म पुरुषों के अधीन रहना पड़ता है। इस कारण बाल्यावस्था में वे जितना आज्ञा-पालन करना, स्वच्छ रहना और चित्त प्रसन्न करने वाली बातें सीख लेती हैं उनपर लोगों का उतना ही प्रेम रहता है। उनको बाल्यावस्था में पिता, यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र की आज्ञा के अनुसार चलना पड़ता है, क्योंकि उनके उदर-पोषण का प्रश्न इनके ही द्वारा हल होता है। यदि वे पश्चिमीय रमणियों की भाँति स्वतन्त्रता-पूर्वक किसी भी व्यवसाय का अनुसरण कर सकतीं, तो वे स्वतन्त्र जीवन भी व्यतीत कर सकतीं; परन्तु ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से वे भारतीय स्त्रियों की पंक्ति में ही बैठती हैं उनको विद्योपार्जन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी आत्म-संयम की है। उनको केवल दुःख, क्रोधादि के भाव ही नहीं रोकना चाहिए, किन्तु मुख-मण्डल पर मृदु-हास्य की रेखा प्रकट करने की आवश्यकता होती है जिससे उपस्थित सज्जनों का हृदय प्रसन्न रहे तथा कष्ट-जनक परिस्थितियों

में उनके घावों पर मरहम लगता रहे। बचपन से ही लड़कियों को इस गुण की शिक्षा दी जाती है। यह उनकी नीति का प्रथम पाठ और आचार-व्यवहार का मुख्य सिद्धान्त होता है। आत्म-त्याग का ऊँचा आदर्श अपने सन्मुख सदैव रखना चाहिए। यदि वह आनन्द-मय जीवन व्यतीत करना चाहती है तो उसमें शिष्टाचार भी उसी कोटि का होना चाहिए। इसको प्रत्येक जापानी स्त्री में ये गुण मिलते हैं। आप छोटी २ लड़कियों में भी इनके छोटे २ अंकुर पायेंगे। न तो उनके बोलचाल में इतना रूखापन होता है कि जो हृदय में खटके और न इतना शिष्टाचार ही होता है कि जो बनावटी मालूम पड़े। स्वार्थ-त्याग के साथ भोलापन और कुटुम्ब तथा समाज का ध्यान उनमें स्वर्गीय गुणों की छटा दिखाता है।

किशोरावस्था।

जापान का ध्यान स्त्री-शिक्षा की ओर पहले की अपेक्षा अब अधिक है। इस कारण जापानी लड़कियों में से अधिकांश इस अवस्था में स्कूल और कॉलेजों में आप देखेंगे। निर्धनता के कारण जो लोग अपनी लड़कियों को नहीं पढ़ा सकते वे घर पर ही थोड़ी बहुत शिक्षा देने का प्रबन्ध करते हैं तथा गृहस्थी के अन्य कार्य्य सिखाते हैं। उनका समय व्यर्थ नष्ट नहीं होने पाता। घर के कपड़े धोना, सुखाना, उनको यथा नियम रखना, रसोई बनाना आदि कुमारियों के प्रतिदिन के काम रहते हैं। जो लड़कियाँ स्कूल और कॉलेजों में पढ़ती हैं उनकी भी रसोई के काम की शिक्षा की ओर माता-पिता का पूरा ध्यान रहता है। विवाह के पश्चात 'श्रीशारदा' के प्रथमांक में प्रकाशित 'बीसवीं शताब्दी के दम्पती' के सदृश उनके पतियों की दशा नहीं होती। ग़रीब और धनवान सब जापानियों की कुमारियाँ भोजनादि कार्य में पूर्णतया दक्ष रहती हैं। इस अवस्था में उनको मनोरंजन के लिए समय न मिलता हो यह बात भी नहीं है। वर्तमान जापान में कुमारियाँ अपनी माताओं और बहिनों के साथ प्रायः नाटक घरों में मनोरंजनार्थ पहुँचती हैं। ऐतिहासिक वीर-रस-पूर्ण नाटक मनोरंजन के साथ २ इनके हृदयों में उच्च भाव भी उत्पन्न करते हैं। अपने आदर्श पूर्वजों की राज-भक्ति और वीरता के उदाहरण, इनकी आँखों के सामने उपस्थित होकर, हृदय पर बड़ा प्रभाव डालते हैं। नाटकों-द्वारा उनको यह शिक्षा मिलती है कि अपने माता-पिता, कुटुम्बियों तथा पति की ओर उनका क्या कर्तव्य है, उनके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए तथा उनके लिए उनको अपने स्वार्थ का ध्यान कहाँ तक छोड़ देना चाहिए। विवाह के योग्य अवस्था हो जाने पर आप पाश्चात्य देशों के समान यहाँ पर 'लाज-लवर' न पायेंगे। यहाँ कोर्टिंग (Courting) आदि कुछ नहीं होता। जापानी लड़कियाँ लज्जा की मूर्ति होती हैं। उनका यह ध्यान रहता है कि पुरुष जाति बहुत उच्च और बुद्धिमान है तथा उसकी सेवा करने के लिए ही उनका जन्म हुआ है। लगभग सोलह वर्ष की अवस्था तक गृहस्थी के समस्त कार्यों में वे दक्ष कर दी जाती हैं। उनकी शिक्षा में सबसे ऊँचा स्थान आज्ञा-पालन का होता है। यही कारण है कि जापानी गृहस्थों के यहाँ लड़ाई-झगड़े प्रायः देखने में नहीं आते। जिस

प्रकार विवाह के पूर्व वे माता पिता की आज्ञा पालन करती हैं उस प्रकार विवाह के पश्चात वे पति की आज्ञाकारिणी रहती हैं। आत्म-संयम और स्वार्थ-त्याग के गुण उनमें कूट २ कर भर दिये जाते हैं, जिससे ईर्षा-द्वेषादि अवगुणों के लिए स्थान ही नहीं रहने पाता।

जापानी स्त्रियों के जीवन का सबसे उत्तम अंश यही समय रहता है। इस समय में वे माता-पिता तथा इष्ट मित्रों की प्रेम की मूर्ति रहती हैं, तथा उनका यह समय बहुत कुछ स्वतन्त्रता के साथ निकलता है। इसके पश्चात लगभग सोलह वर्ष की अवस्था हो चुकने पर विवाह का समय आता है।

यौवनावस्था।

जापानी लड़कियों का विवाह न तो हमारे देश के समान उनकी इच्छा को बिना जाने अथवा उसकी परवा न करके माता-पिता ही करते हैं और न पाश्चात्य देशों के समान वे स्वयं ही पति ढूँढ़ती फिरती हैं अथवा 'स्वतन्त्र जीवन' ही व्यतीत कर सकती हैं। जन्म के साथ जिस प्रकार मरण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार स्त्री-जीवन के साथ विवाह का। यदि भावी पति लड़की की इच्छा के प्रतिकूल हो तो वह उससे ही विवाह करने के लिए बाध्य नहीं की जाती। विवाह-सम्बन्ध बहुत कुछ इस प्रकार होता है। कोई भी पुरुष जो कि विवाह करने का इच्छुक होता है अपने किसी गृहस्थ मित्र से उस विषय में चर्चा छेड़ देता है। वह मित्र किसी सुन्दर और शिक्षित लड़की की खोज में रहता है। उसके मिलने पर वह लड़की के माता-पिता के सन्मुख, अपने मित्र के लिए विवाह का प्रस्ताव उपस्थित करता है। यदि माता-पिता सहमत हुए, तो वर और कन्या के माता-पिता के किसी मित्र के यहाँ 'पार्टी' का प्रबन्ध किया जाता है जिसमें भावी पति और पत्नी एक दूसरे को देख सकें तथा बातचीत कर सकें। यदि भावी विवाह दोनों की इच्छा के अनुकूल हुआ तो मित्र-गण दोनों को परस्पर उपहार दिला देते हैं और इस प्रकार विवाह-सम्बन्ध का श्रीगणेश होता है।

इसके पश्चात बीच वाले लोगों के द्वारा विवाह का प्रबन्ध होता है जो विवाह की सफलता तथा दाम्पत्य-सुख के जिम्मेदार समझे जाते हैं। यदि भविष्य में कभी, किसी कारण, पति-पत्नी अपना सम्बन्ध तोड़ देना चाहें, तो इन लोगों को ही बीच में पड़ना पड़ता है। विवाह न तो हिन्दुओं के समान बिलकुल धार्मिक और न ईसाइयों के समान बिलकुल क़ानूनी सम्बन्ध समझा जाता है। विवाह की रीति-रस्में सब वर के यहाँ होती हैं। कन्या को इनमें सम्मिलित होने के लिए वर के यहाँ जाना पड़ता है। उसको प्रायः सम्बन्धी स्त्रियाँ ले जाकर वर के यहाँ पहुँचा आती हैं। यदि कन्या किसी भले आदमी की लड़की हुई, तो उसकी सेवा के लिए एक दो टहलनियाँ भी जाती हैं जो उसकी नवीन स्थिति में साथ रहती हैं। विवाह के समय कन्या के माता पिता के यहाँ से, प्रायः ये चीज़ें उसको दी जाती हैं:—लिखने-पढ़ने के लिए एक हलका डेस्क और मेज़, एक सन्दूक, भोजनादि परोसने के लिए दो एक छोटे मेज़ तथा इसी सम्बन्ध की कुछ अन्य वस्तुएँ और दो जोड़ी या अधिक ओढ़ने-बिछाने

के कपड़े। इनके अतिरिक्त, कन्या को प्रत्येक ऋतु में पहनने योग्य कई जोड़े कपड़े तथा बिना सिले हुए कपड़ों के कई थान आदि भी दिये जाते हैं। यदि कन्या के माता-पिता धनवान हुए, तो उसको प्रायः इतने कपड़े मिलते हैं जो उसको जीवन भर के लिए पर्याप्त होते हैं। इन कपड़ों की सुन्दरता और बहुमूल्यता से माता-पिता का प्रेम नापा जाता है। इस कारण इन कपड़ों में माता-पिता बहुधा अपनी आर्थिक स्थिति से अधिक खर्च कर डालते हैं। [जितनी चीजें कन्या को इस प्रकार दी जाती हैं उन पर हमारे यहाँ के 'स्त्री-धन' के सदृश उसका अधिकार रहता है। यदि भविष्य में कभी विवाह-सम्बन्ध टूटने की बारी आगई, तो वह इन सब चीजों को अपने साथ लौटा लाती है।] इनके अतिरिक्त, कन्या के अन्य सम्बन्धी तथा मित्र लोग वर के सम्बन्धियों को भी उपहार भेजते हैं। छोटे से लेकर बड़े तक और स्वामी से लेकर सेवक तक को कुछ न कुछ भेंट भेजी जाती है। वर और कन्या दोनों के लिए भी उनके अन्य सम्बन्धी और मित्र उपहार-भेंटादि भेजते हैं।

पहले विवाहोत्सव तीसरे प्रहर मनाया जाता था; किन्तु अब सन्ध्या समय मनाया जाता है। निकट सम्बन्धी और मित्र लोग एक कमरे में बैठते हैं और वर, कन्या, कुछ बीच वाली स्त्रियाँ तथा एक लड़की दूसरे कमरे में। वह लड़की एक ही प्याले में बारी बारी से वर-कन्या दोनों को मद्य-पान कराती है। एक ही प्याले में मद्य-पान करने का यह अर्थ समझा जाता है कि अब से दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख में साथी रहेंगे। इसके पश्चात् उपस्थित मित्र तथा सम्बन्धी लोग भी इस 'पार्टी' में सम्मिलित हो जाते हैं; सब लोगों को भोज दिया जाता है और नाच, रंग आदि किया जाता है।

विवाह के तीसरे दिन दम्पती पत्नी के माता-पिता के यहाँ जाते हैं। उस दिन वहाँ बड़ी २ तैय्यारियाँ होती हैं, सम्बन्धी और मित्र लोग बुलाये जाते हैं। दम्पती अपने साथ बहुतसी चीजें भेंट देने के लिए ले जाते हैं। दोपहर से सन्ध्या तक नाच-रंग होता है। सन्ध्या समय, उपस्थित लोगों को भोज दिया जाता है। लड़की अपनी माँ के साथ सब लोगों का स्वागत करती तथा बधाइयाँ स्वीकार करती है और अन्त में सब लोगों की बिदाई करती है।

विवाह के समय दम्पती के केवल घनिष्ठ सम्बन्धी और मित्र ही उत्सव में सम्मिलित होते हैं। इस कारण विवाह के दो तीन महीनों के बाद वे अपने अन्य सम्बन्धी और मित्रों को विवाह की शुभ सूचना देते हुए उन्हें आमन्त्रित करते हैं। इस बार भी, प्रायः पहले के समान ही उत्सव मनाया जाता है। दम्पती धन्यवाद-सूचक लाल चाँवल प्रायः उन सब लोगों के यहाँ भेजते हैं जो विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए हों। इसके पश्चात् फिर कोई उत्सव नहीं मनाया जाता।

विवाह-सम्बन्ध पर क़ानून की छाप लगाने के लिए एक बात और करनी पड़ती है। वह यह कि सरकारी रजिस्टर में माता-पिता के कुटुम्बियों के नामों में से उस नव-विवाहिता स्त्री का नाम कटवा कर उसके पति के कुटुम्बियों के नामों के साथ उसे सम्मिलित कराना पड़ता है।

ऐसा होने पर, फिर उसका अपने माता-पिता तथा उनके कुटुम्बियों से कोई भी आन्तरिक सम्बन्ध नहीं माना जाता।

हम लोगों में—हिन्दुओं में—विवाह एक चिर स्थायी धार्मिक सम्बन्ध माना जाता है। इस कारण हम उसको तोड़ नहीं सकते। परन्तु जापान में यह बात नहीं है। पुरुष या स्त्री दो में से कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार तथा भी कानून के अनुसार विवाह-सम्बन्ध तोड़ सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि [illegible] वह सम्बन्ध तोड़ने के लिए प्रोत्साहन सा पहुँचता है और [illegible] कर स्वतन्त्र हो जाता है। अदालत को इस [illegible] में बहुत अर्ज़ियाँ पहुँचती हैं। [illegible] होने के कारण इस स्वतन्त्रता का [illegible] परन्तु साधारण स्त्रियों के [illegible] जो लगातार [illegible] स्त्रियों के [illegible] विवाह [illegible] होने। इतना [illegible] कि जापानी कानून के अनुसार सन्तान पर स्त्रियों का कोई अधिकार नहीं होता। इस कारण [illegible] के कारण, पुरुषों के समान [illegible] विवाह-सम्बन्ध तोड़ डालने का साहस नहीं कर सकतीं। यदि किसी प्रकार का थोड़ा बहुत उन को दुःख भी होता है तो वे अपनी सन्तान के मोह के कारण उसको सहन करती हुई अपने पतियों के पास रहना ही पसन्द करती हैं। उन के विवाह सम्बन्ध को आसानी से न तोड़ने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे पाश्चात्य स्त्रियों के सदृश स्वतन्त्रता-पूर्वक कोई व्यवसाय नहीं कर सकतीं, क्योंकि अभी तक स्त्रियों के यों तो जापान में बहुत थोड़े व्यवसायिक मार्ग खुले पाये हैं। इसलिए विवाह—सम्बन्ध तोड़ने पर या तो उन्हें कोई दूसरा पति ढूँढ़ना चाहिए या माता-पिता के गले पड़ना चाहिए। आज्ञा-पालन करने तथा पति को परम इष्ट से देखने की जो शिक्षा उनको माता-पिता द्वारा बाल्यावस्था में मिलती है वह भी कुटुम्ब के रूप को स्थायी बनाये रखने में बहुत सहायता पहुँचाती है।

गंगा—शान्तनु—मिलाप ।

[लेखक—बाबू भगवतीचरण वर्मा]

१—तमस् छाई थी काली काली,
लोप हो गई अरुणिमा की लाली,
कुमुदिनी भ्रम रही थी मतवाली,
प्रकृति शोभा थी मन हरने वाली।
लहरों का वह कलकल नाद अहा!
हृदय में उपजाता आह्लाद महा!

२—प्रेम के फन्दों पर हँसने वाले,
युवतियों के मन में बसने वाले,
उमड़ते यौवन-मद में मतवाले,
हृदय निश्छल मन के भोलेभाले,
युवक दो घूम रहे थे कानन में,
किलोलें करते थे जो उपवन में।

३—अहा! मन्द मन्द समीर भी चलता था,
कानन हरणों का दुख जो टलता था,
आगमन रजनी का, दिन ढलता था,
चकोरों का चित्त दुख से जलता था,
सृष्टि ने अपना सजा नव-साज अहा!
बना कानन सु-स्वर्ग का राज अहा!

ऐसा होने पर, फिर उसका अपने माता-पिता तथा उनके कुटुम्बियों से कोई भी क़ानूनी सम्बन्ध नहीं माना जाता।

हम लोगों में—हिन्दुओं में—विवाह एक चिर-स्थायी धार्मिक सम्बन्ध माना जाता है। इस कारण हम उसको तोड़ नहीं सकते। परन्तु जापान में यह बात नहीं है। पुरुष या स्त्री दो में से कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार, कभी भी, क़ानून के अनुसार विवाह-सम्बन्ध तोड़ सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिसके जी में आता है वह सम्बन्ध तोड़ने के लिए अदालत जा पहुँचता है और नाम कटवा-कर स्वतन्त्र हो जाता है। समाज को इस स्व-तन्त्रता से बहुत हानि पहुँचती है। भले और सभ्य घरानों में लज्जास्पद होने के कारण इस स्वतन्त्रता का उपयोग कुछ कम होता है; परन्तु साधारण स्थिति के लोगों में तो ऐसे कई लोग मिलते हैं जो लगातार कई विवाहों को बना और बिगाड़ चुके होंगे। इतना अच्छा है कि जापानी क़ानून के अनुसार, सन्तान पर स्त्रियों का कोई अधिकार नहीं होता। इस कारण वे वात्सल्य-प्रेम के कारण, पुरुषों के समान, जी चाहे तब ही विवाह-सम्बन्ध तोड़ डालने को खड़ी नहीं हो सकतीं। यदि किसी प्रकार का थोड़ा बहुत उनको दुख भी होता है तो वे अपनी सन्तान के मोह के कारण उसको सहन करती हुई अपने पतियों के पास रहना ही पसन्द करती हैं। उनके विवाह-सम्बन्ध को आसानी से न तोड़ने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे पाश्चात्य स्त्रियों के सदृश स्वतन्त्रता-पूर्वक कोई व्यवसाय नहीं कर सकतीं; क्योंकि अभी तक स्त्रियों के योग्य जापान में बहुत थोड़े व्यवसायिक मार्ग खुल पाये हैं। इसलिए विवाह-सम्बन्ध तोड़ने पर या तो उन्हें कोई दूसरा पति ढूँढ़ना चाहिए या माता-पिता के गले पड़ना चाहिए। आज्ञा-पालन करने तथा पति को पूज्य दृष्टि से देखने की जो शिक्षा उनको माता-पिता द्वारा बाल्यावस्था में मिलती है वह भी कुटुम्ब के रूप को स्थायी बनाये रखने में बहुत सहायता पहुँचाती है।

गंगा-शान्तनु-मिलाप।

[लेखक—बाबू भगवतीचरण वर्म्मा]

१—घटाएँ छाई थीं काली काली,
लोप हो गई अरुणिमा की लाली,
कुमुदिनी झूम रही थी मतवाली,
प्रकृति-शोभा थी मन हरने वाली,
जाह्नवी का वह कलकल नाद अहा!
हृदय में उपजाता आह्लाद महा।

२—प्रेम के फन्दों पर हँसने वाले,
युवतियों के मन में बसने वाले,
उमड़ते यौवन-मद में मतवाले,
हृदय निश्छल जिनके भोलेभाले,
युवक दो घूम रहे थे कानन में,
किलोलें करते थे जो उपवन में।

३—अहा! सन सन समीर भी चलता था,
क्लान्त हृदयों का दुख जो दलता था,
आगमन रजनी का, दिन ढलता था,
चकोरों का चित दुख से जलता था,
सृष्टि ने आज सजा नव-साज अहा!
बना कानन सु-स्वर्ग का राज अहा!

४—व्योम पर विकट कालिमा छाई थी,
जलधरों की वह कठिन चढ़ाई थी,
हराकर दिन को रजनी आई थी,
विजय, बस, अन्धकार ने पाई थी,
हुआ रजनी का आविर्भाव वहाँ,
सूर्य्य का फैला था आलोक जहाँ।

५—एक ने पूछा कुछ विचलित होकर,
"किधर आ गये मार्ग को हम खोकर?"
मिला उत्तर, "क्या जागे हो सोकर?
कौन करता विलाप है रो रो कर?"
जाह्नवी ओर मचा चीत्कार महा,
कि जिसमें सारा कानन गूँज रहा।

६—बढ़ाए अश्व, बढ़े वे दोनों ही,
काम से स्वयं गढ़े वे दोनों ही,
रूप-रथ-बीच चढ़े वे दोनों ही,
ज्योति से अहा! मढ़े वे दोनों ही,
वहाँ जाकर देखा जो दृश्य नया,
निकल ही गया, हृदय बस निकल गया।

७—"कौन है?" गूँज उठा बस कानन में—
"रुदन कर रहा खड़ा जो इस वन में"।
रुक गये कुछ कहते कहते मन में,
कालिमा दौड़ गयी कुछ कुछ घन में।
मिला उत्तर, "असहाया, रोती हूँ,
दीन हूँ सुख-सम्पत्ति-विहीना!"

८—हृदय को टूक टूक करने वाली,
हृदय को लुभा लुभा हरने वाली,
हृदय में नव-ज्वाला भरने वाली,
उमड़ते यौवन-मद में मतवाली,
एक युवती को खड़ा देख आगे
प्रेम के सोये भाव पुनः जागे।

९—"नाम क्या?" "गंगा!" उत्तर उन्हें मिला,
नया सा मानो एक प्रसून खिला।
मधुर-ध्वनि सुनकर उनका हृदय हिला,
किसीने उनको अमृत दिया पिला।
खड़े हो गये मुग्ध होकर दोनों,
विकल हो गये हृदय खोकर दोनों।

१०—"आपका नाम?", उन्हें सुन पड़ा वहाँ,
मुग्ध हो स्तंभित थे वे खड़े जहाँ।
सुनेत्रों ने देखा सौन्दर्य्य कहाँ?
सुना कर्णों ने मीठा शब्द महा!
तृषित नेत्रों ने देखा जी भरके
हृदय हो पड़ा विकल सब खो करके।

११—"शान्तनु!" दिया एकने यह उत्तर
खींच कर एक श्वास ठंढी ऊपर।
विकल हो ज्योंही कुछ देखा नभ पर,
योग दे अश्रु बहा रोये जल-धर।
लगी रिम झिम रिम झिम पड़ने बूँदें,
पवन से लगीं वहाँ लड़ने बूँदें।

१२—"आपका हृदय-दान किसने पाया?"
"प्रेम ने" किसी युवक से कहलाया।
पवन ने भी चलते चलते गाया,
वायु-झोंकों ने हृद को ललचाया,
आह भर, देख गगन पर फिर भू पर,
गड़ गए नेत्र कामिनी के ऊपर।

१३—उधर थे गड़े नेत्र उस युवती पर,
इधर थी लगी टकटकी पृथ्वी पर,
मचाते शोर गरजते थे जल-धर,
चमकती चपला हँसता नटनागर,
मृदुल निस्तब्ध मनोहर रजनी थी,
बनी सज धज कर सुन्दर रजनी थी।

संशोधित लिपि के टाइपों का नक़्शा

स्वर और मात्रायें

४	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
११/१५		ा	ि	ी	ु	ू	े	ै	ो	ौ	ं	ः

व्यंजन

क	क्		च	च्	ट	ट्		त	त्	
ख	ख्	ा	छ	छ्	ठ	ठ्		थ	थ्	
ग	ग्		ज	ज्	ड	×		द	द्	·
घ	घ्		झ	झ्	ढ	ढ्		ध	ध्	
ङ	ङ	·	ञ	ञ्	ण	ण्		न	न्	
	५	२		५	×	४	×		५	×

प	प्		य	य्		श	श्	क्ष	क्ष्	
फ	×		र	र्		ष	ष्	त्र	त्र्	
ब	ब्		ल	ल्		स	स्	ज्ञ	ज्ञ्	
भ	×		व	×		ह	ह्	ळ	ळ	
म	म्		ॐ	×	ॐ	श्री	श्र	।	अ	अ
	३	×		३	१		५	१	५	×

संयुक्त अक्षर		संकेत आदि			
द् + य	द्य	र, ट, ्र	विराम —ः	ए ए, ऐ	स्वर ४
ह् + य	ह्य	हलन्त — ्	आश्चर्य !	क़ क,	मात्रायें ११
ह् + म	ह्म	अर्धचंद्र — ँ ×	प्रश्न — ?		व्यंजन ३९
प्	प्य	ऑ — ॅ ×	कोष्ठक — ([{	।	सं. अक्षर ६
क	क	कामा — ,	डैश — —		संकेत १६
क्र	क्र, ६	फुलस्टाप — .	कोलन — :— ×		७६
		अनुस्वार — ं ×		७ २	

संशोधित लिपि के टाइपों का नक़्शा

स्वर और मात्रायें

४ अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः

११ / १५ ा ि ी ु ू े ै ो ौ ं ः

व्यंजन

क	क	ा	च	च	ट	ट	त	त		
ख	ख	ा	छ	छ	ठ	ठ	थ	थ		
ग	ग		ज	ज	ड	×	द	द		
घ	घ		झ	झ	ढ	ढ	ध	ध		
ङ	ङ	·	ञ	ञ	ण	ण	न	न		
५	३		५	×	४	×	५	×		

प	प		य	य	श	श	क्ष	क्ष		
फ	×		र	र	ष	ष	त्र	त्र		
ब	ब		ल	ल	स	स	ज्ञ	ज्ञ		
भ	×		व	×	ह	ह	ळ	ळ		
म	म		ॐ	× ॐ	श्री	श्र	।	अ	अ	
३	×		३	१	५	१	५	×		

संयुक्त अक्षर		संकेत आदि		
द + य	द्य	र, ट, ्र	विराम —ः ए ए, ऐ	स्वर ४
ह + य	ह्य	हलन्त — ्	आश्चर्य ! क़ क,	मात्रये ११
ह + म	ह्म	अर्धचंद्र — ॅ ×	प्रश्न — ?	व्यंजन ३६
प	प्य	ऑ — ॅ ×	कोष्ठक — ([{	संःअक्षर ६
क	क	कामा — ,	डेश — —	संकेत १६
ऋ	ऋ ६	फुलस्टाप — .	कोलन — :- ×	
		अनुस्वार — ँ	७ २	७६

महाशय काळे निर्मित संकेत और मात्रायें आदि ।

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ अं अः

स्वर चिन्हें

T ( ) ˎ ˏ c 6 66 T6 T66 ˙ :

आणखी कांहीं चिन्हें

रेफ चंद्र पायमोड (हलन्त)

\ ᴗ ˎ

कांहीं नमुन्यादाखल शब्द - का- हा- नम-न्यादाखल शब्द .

पूर्वी बँड गृहलक्ष्मी सूर्यफूल तोंड

प^र व)· ब-ड ग-हलक्ष्-म) स^यफ^ल त॥ ड.

मम निर्मित संकेत और मात्रायें आदि ।

स्वर

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ अं अः

स्वर चिन्हें

) T ( ) 7 7 c ९ ९ T ף

कुछ दूसरे चिन्ह

रेफ चंद्र हलन्त

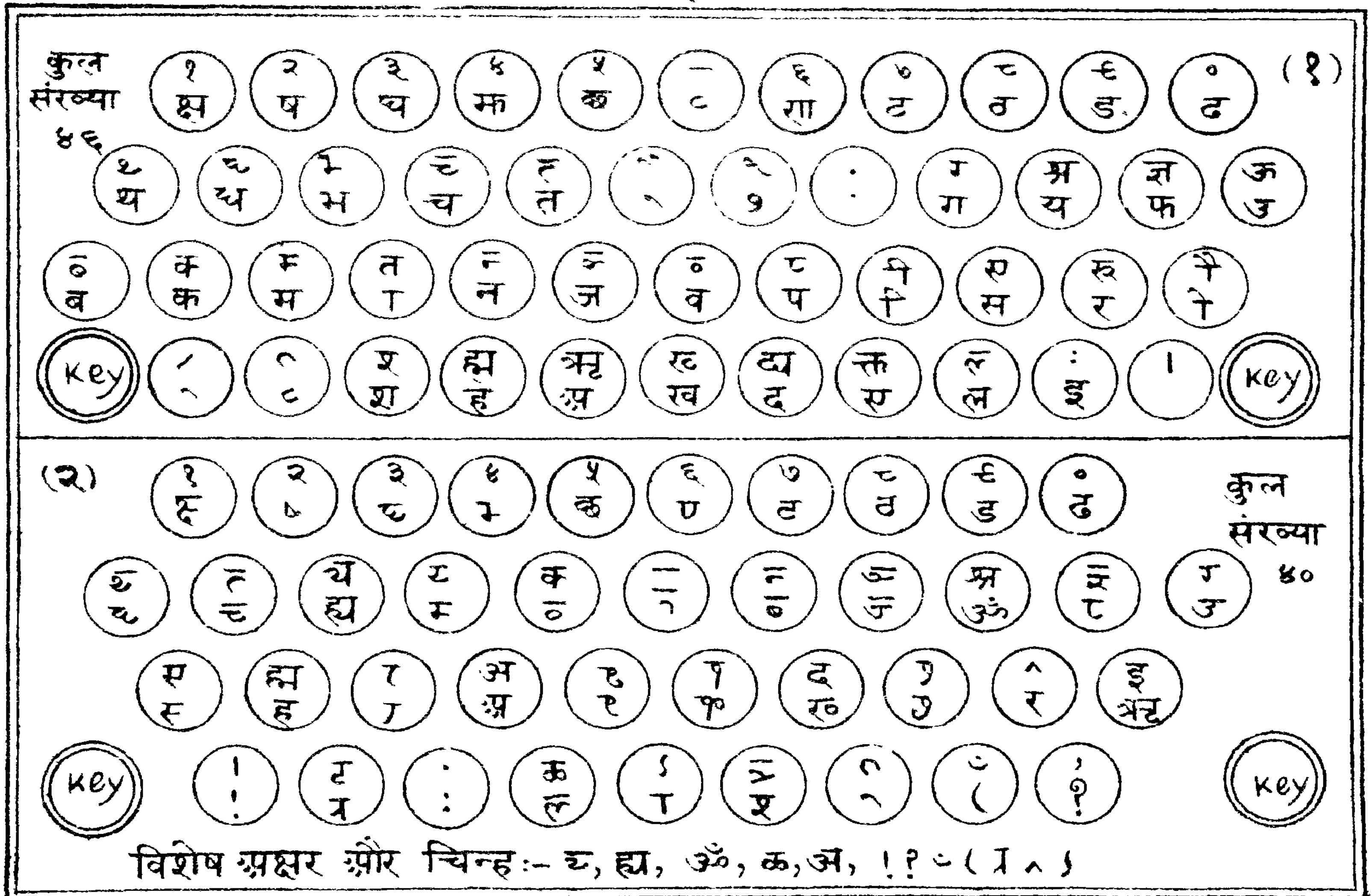
∩ ᴗ \

नमूने के लिये कुछ शब्द । नमगनर कार लयर कग्छ शब्द

पूर्वी बेंड गृहलक्ष्मी सूर्य फूल तोंड

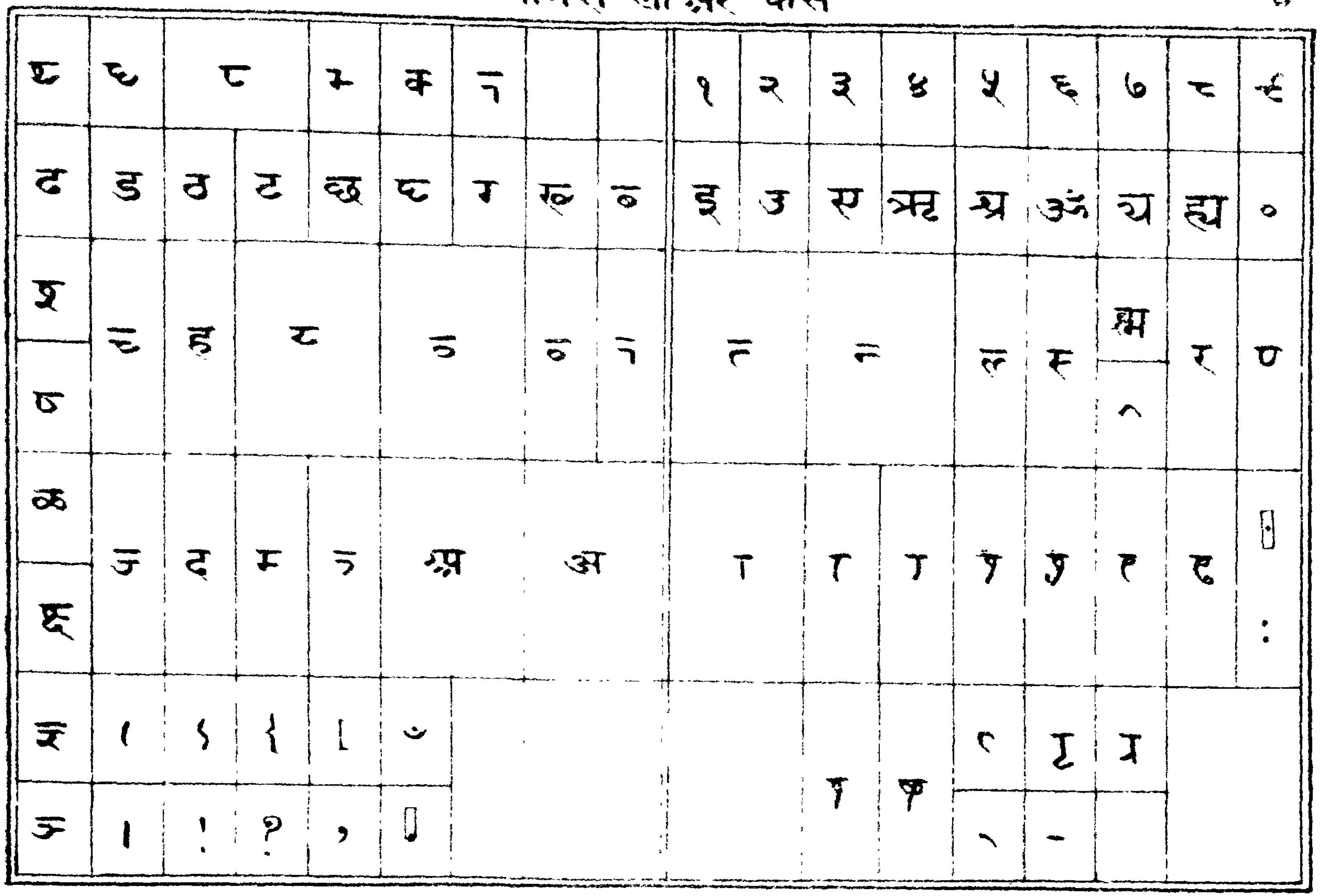
प∩व)· ब-ड गृहलक्ष्मा) स∩य फ∩ल त∩ड

क का (क क) क) क७ क९ क६ का क९ कं कः।



(१) प्रचलित लिपि के टाइपराइटर का "की" बोर्ड ।

(२) नूतन अनुमानित लिपि का "की" बोर्ड ।



एक ही केस में नूतन लिपि टाइपों का समावेश।

१४—"क्या हृदय-दान हृदय पा सकता है?
प्रेम के मधुर गीत गा सकता है?
हृदय-उपहार दीन ला सकता है?
उसे हृद-देवि पर चढ़ा सकता है?"
रुक गये शान्तनु यह कहते कहते,
प्रेम-नद में मानो बहते बहते॥

१५—"आह! क्या प्रेम करोगे प्रेमी तुम?
हृदय में हर्ष भरोगे प्रेमी तुम?
क्लेश-सन्ताप हरोगे प्रेमी तुम?
हृदय-मन्दिर के पावन नेमी तुम?
प्रेम का हृदय सदा से इच्छुक है,
किन्तु कुछ वरदानों का भिक्षुक है॥

१६—"हृदय तैयार खड़ा है देने को,
वहीं तुम आओ उसके लेने को
हृदच्छा की नव-नौका खेने को,
मानवी प्रेम-वृत के सेने को"—
कहा शान्तनु ने प्रेम-विवश होकर;
सुना गंगा ने ही प्रसन्न जी भर॥

१७—"हृदय-इच्छानुकूल मैं कर पाऊँ,
कहूँ जो तुमसे वह मन भर पाऊँ,
न हस्त-क्षेप तुम्हारा मैं पाऊँ,
हुआ जिस दिन यह, उस दिन घर जाऊँ—
यही बस मेरी वह अभिलाषा है,
इसी पर प्रेम-प्रणय की आशा है॥"

१८—"दिया तुमको मैंने वरदान यही,
पड़ रहीं बूँदें चपला चमक रही,
गर्जना सुन कर कम्पित पड़ी मही,
चलें घर बस अब हो विश्राम वहीं"॥
उठा कर डाल अश्व पर युवती को,
लिया बैठाल अश्व पर युवती को॥

१९—चीरते हुए समीर-झकोरों को,
जलाते व्याकुल दीन चकोरों को,
सहन कर वर्षा के झकझोरों को,
बादलों के सुन सुन कर शोरों को—
लगे दौड़ाने अश्व पवन-गति से,
हुए विह्वल वे निज हृद की क्षति से!

देवनागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता।

(लेखक—पं० गणेशराम मिश्र)

इस विषय पर मार्च, सन १९१८, की 'सरस्वती' में मैंने एक लेख लिखा था। उसकी एक प्रति इंदौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य-कर्त्ताओं के पास भी भेजी गई थी। साथ ही एक प्रार्थना-पत्र भी भेजा गया था। प्रेस-प्रोप्राइटरों को निमंत्रण देने तथा इस विषय पर विचार करने के लिए एक पृथक अधिवेशन करने की प्रार्थना भी की गई थी। उस लेख का क्या हुआ, वह सम्मेलन में पढ़ा गया अथवा नहीं—इसका कुछ पता न चला। अनुमान होता है कि सम्मेलन के प्रथम "सरस्वती" में इस लेख के निकल जाने से उस पर कुछ भी विचार न किया गया होगा।

मैंने आशा की थी कि इस विषय पर अन्य पत्र-पत्रिकाएँ भी आन्दोलन करेंगी। किन्तु वैसा न हुआ। इसे उदासीनता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? और यह उदासीनता कदाचित् इस कारण हो कि यहाँ कई मास से नोलस साहिब ने चुटकी लेना छोड़ दिया है।

बात तो यह है कि हम लोग बिना किसी के द्वारा चुटकी लिए चैतन्य होते ही नहीं। देखा गया है कि जब जब नागरी के विषय में नोल्स सा० ने हलचल की, तब तब हम लोगों ने चैतन्य-चूर्ण सा फाँक कर उनका पीछा किया और जहाँ वे थोड़े शांत हुए कि फिर हम भी सो गये।

अभी तक तो नोल्स सा० ही इस विषय में अपनी टाँग अड़ाते थे, पर अब 'सरस्वती' में प्रकाशित पं० बदरीनाथ भट्ट के लेख से मालूम हुआ कि एक बंगाली बाबू भी नागरी को नजर लगाने लगे हैं। अब देखना चाहिए कि नागरी के सेवक, पत्र-पत्रिकाओं के संचालक और संपादक इस विषय की ओर कृपा-दृष्टि करना अपना कर्तव्य समझते हैं या नहीं।

नागरी-लिपि-प्रचारकों को चाहिए कि इसे राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए सर्वतोभावेन ऐसी योग्य कर दें कि उसके द्वारा प्रत्येक भारतीय भाषा का लिखा जाना और ठीक ठीक पढ़ा जाना सुगम और सरल हो जावे। वह ऐसी सुगम बनाई जाय कि वह प्रेस के प्रत्येक आधुनिक आविष्कारों का साथ दे सके।

हमारी यह लिपि कितनी उपयुक्त और सुन्दर है—इस पर अब तक बहुत विचार किया जा चुका है। देश की बड़ी बड़ी आत्माएँ इसके अनुकूल अपने अपने विचार, समय समय पर, प्रकाशित कर चुकी हैं और अब भी करती जा रही हैं। हाँ, यह बात अलग है कि उसमें कुछ त्रुटियाँ हों; पर हमें उनकी विघातक टीका न कर विधायक टीका करनी चाहिए। टीका ही नहीं, वरन उसे आवश्यक साँचे में ढाल कर निर्दोष बना लेना चाहिए।

छापे की कला हमारी शिक्षोन्नति में अधिक सहायक हुई है और होगी। इस दशा में यह आवश्यक है कि छपाई के काम का मार्ग सरल और शीघ्रगामी बनाया जाय। उसमें इतना सुधार हो जाय कि टाइप राइटर, लाइनोटाइप, मोनोटाइप आदि यंत्र भी सरलता पूर्वक बनाये जा सकें।

इसलिए मेरे विचार से नागरी लिपि के संबन्ध में निम्न लिखित बातों पर विचार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है:—

(१) आ, ई, ऊ, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन्हें अलग ढालने की आवश्यकता नहीं।

(२) ए, ऐ के उच्चारण में बड़ी गड़बड़ है। ऐसा, पैसा, जैसा, जेसा इन दोनों में ए, ऐ के उच्चारण से भिन्न उच्चारण करना पड़ता है। इसके लिए कोई संकेत होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में भट्ट जी का मत है कि इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ की शकलें अि, अी, अु, अू, अे, अै—इस प्रकार लिखी जावें और मूल स्वरों का त्याग कर दिया जाय; परन्तु मेरे विचार से अक्षरों का बिलकुल निकाला जाना उपयुक्त न होगा। प्राचीन शास्त्रोक्त वर्ण-विन्यास में वे ही परिवर्तन होने चाहिए जो ठीक योग्यता तथा नूतन व्यवस्था के साधक हों।

(३) ख को र, व के भ्रम से दूर करना।

इसके विषय में भट्टजी लिखते हैं कि 'ष' से काम लिया जाय, अर्थात् 'ख' की खबर तक भुला दी जाय। उपाय है ठीक और अनेक वृद्ध जन 'ष' का उच्चारण 'ख' किया करते हैं; पर 'ख' का रूप 'ख' सरीखा रहते हुए भी भ्रम-रहित

करना अच्छा होगा । 'ष' को निकाल देना भी उचित नहीं ।

'र' के आगे 'व' न लिखकर ()—ऐसा लिखने से पहिचान अधिक न बदलेगी और भ्रम भी दूर हो जायगा । उसमें प्रचलित 'ख' और र()— में स्पष्ट भेद आ जायगा ।

(४) 'र' अक्षर दूसरे अक्षरों से दोस्ती करने में जहां देखिए वहाँ अव्यापारी का झोला टाँगे रहता है । जिसके साथ दोस्ती करता है उसके साथ अपना बहुरूप धारण किया करता है । इसका यह बहुरूपियापन अवश्य मिटाना चाहिए ।

(५) ॐ और श्री का अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है । 'श्री' और 'ॐ' जैसे पवित्र बीज मंत्र का निकाला जाना बहुत अखरेगा । उनका निकाला जाना मानो वर्णमाला को "श्री"—रहित करना है ।

(६) 'ण' के बदले 'ग' का प्रचार होना चाहिए । यह रूप बहुत कुछ प्रचलित भी हो गया है ।

(७) संयुक्त अक्षरों की कठिनाई दूर की जावे ।

(८) मात्राओं की कठिनाई भी दूर होना चाहिए ।

(९) अन्य भाषाओं के उपयोगी चिह्न प्रचलित किये जायँ जिनसे कोई भी भाषा लिखी जा सके और उसका उच्चारण भी उसी भाषा के सदृश किया जा सके ।

उपर्युक्त नौ प्रकार के सुधारों में सबसे अधिक विचारणीय और विवाद-ग्रस्त बातें संयुक्त अक्षर और मात्राओं की हैं । इन्हीं विवाद-ग्रस्त बातों को हल करने के लिए नागरी-सेवकों को अग्रसर होना चाहिए ।

प्रेस-टाइपों के सम्बन्ध में संयुक्त अक्षर और मात्राओं ने ही सबसे ज्यादा गड़बड़ मचा रक्खी है । इन्हीं के कारण टाइप का ढालना बड़ा कष्ट-साध्य कार्य हो गया है । यदि इन दोनों का झगड़ा तय हो जाय, तो नागरी लिपि अपनी सरलता से और प्रेस की दृष्टि से संसार में अग्रगण्य हो जाय ।

इन्हीं अड़चनों के कारण ५२ अक्षर होते हुए भी ५०० या ६०० प्रकार से भी अधिक प्रकार के टाइप ढालना पड़ते हैं और तब भी पूरा नहीं पड़ता । ये ही कठिनाइयाँ टाइप-राइटर आदि यंत्रों के सुगमता से बनाये जाने में आगे आती हैं ।

नागरी का प्रायः प्रत्येक अक्षर हाथ पैर तोड़कर जोड़ा जाता है । हाथ से तो अक्षरों के हाथ पैर तोड़ना सरल है; पर प्रेस इस प्रकार की मारकाट करने में असमर्थ रहता है । जैसे टाइप ढाल कर दिये जाते हैं वैसे ही काम में लाये जाते हैं । बारंबार उनके हाथ-पैर नहीं काटे जा सकते । इसीलिए संयुक्त अक्षरों के टाइप अलग अलग ढालना पड़ते हैं । सुभीते के लिए आज तक कितने ही प्रकार के टाइप ढाले गये; तो भी ५०० या ६०० से ज्यादा न ढाले जा सके और असुविधा बनी ही रही ।

कहने को तो नागरी में ४६ अक्षर हैं; पर ढालते समय कोई दस गुने हो जाते हैं । यह सब वृद्धि संयुक्त अक्षरों की कृपा का फल है ।

संयुक्त अक्षरों का यह क्रम ही नागरी का टाइप-राइटर बनाने में पैर अड़ाता है। रेमिंगटन ने अंग्रेजी टाइप-राइटर के अनुसार हिन्दी का भी टाइप-राइटर बनाया है; पर उसका 'की बोर्ड' पूरे और आधे अक्षरों से भरा पड़ा है। यदि नागरी लिपि में संयुक्त अक्षरों का झगड़ा न होता, तो छोटे बड़े दो प्रकार के अक्षर टाइप-राइटर में रक्खे जा सकते; और यदि इतना भी सुभीता न रक्खा जाता, तो कम से कम "की बोर्ड" वर्तमान "की बोर्ड" से तो अवश्य ही छोटे रूप में आ जाता।

हिन्दी के ४६ अक्षरों में से कम महत्व के अक्षरों को छोड़कर और संयुक्त अक्षरों का झगड़ा मिटा कर यदि शेष अक्षरों से ही काम लिया जाय, तो हिन्दी का "की बोर्ड" भी ऐसा ही बन सके और छापेखाने के अंग्रेजी केस में अथवा नागरी के लोअर केस में ही हिन्दी के सब टाइपों का समावेश हो जाय। संयुक्त अक्षरों में यह आवश्यक फेर-फार केवल टाइप-राइट यंत्रों के लिहाज से ही नहीं, वरन मामूली छापेखानों के सुभीते के लिए भी होना चाहिए।

इस झगड़े को मिटाने के दो उपाय हो सकते हैं। पहिला बिल्कुल साधारण है और वह यह कि आधा अक्षर लिखने के बदले पूरा लिखकर हलन्त का चिह्न आगे लिखा जावे जैसा कि आजकल कुछ संयुक्त अक्षरों के सम्बन्ध में किया भी जाता है। दूसरा, यह कि यदि प्रत्येक अक्षर का काना अलग कर लिया जाय तो अक्षर आधा रह जाता है। अब यह बचा हुआ आधा रूप सरलता-पूर्वक दूसरे अक्षरों से जोड़ा जा सकता है; अतएव यदि यह युक्ति मान्य हो सके, तो फिर कुछ ऐसे अक्षर रह जाते हैं जिनके साथ काना नहीं है; जैसे ङ, छ, ड, ढ, ह, ट, ठ, द, ह और छ। ये हलन्त-द्वारा आधे दर्शाये जा सकते हैं।

अब दूसरी कठिनाई मात्राओं की है। इनका लिखा जाना तो बिलकुल सरल है; पर छापेखाने के लिए ये बहुत कठिनाई उपस्थित करती हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार का झगड़ा न होने से कम्पोजिंग बड़ी आसानी से होता चला जाता है; पर हिन्दी में एक लकीर कम्पोज करना तीन लकीरों के कम्पोज करने के बराबर है। अक्षरों के विस्तार के विचार से, ऊपरी भाग में केवल ई, ए, ऐ, ओ, औ, अनुस्वार, रेफ और अर्ध-चन्द्र, मध्यभाग में अक्षर तथा नीचे के भाग में उ, ऊ, ऋ, ऌ तथा हलन्त रहते हैं। इस प्रकार एक लकीर के बदले तीन लकीरें बनाना पड़ती हैं, अर्थात् जहाँ ये ऊपर नीचे की मात्राएँ नहीं रहतीं वहां मात्राओं के बदले साद [illegible] उठा उठाकर भरना पड़ते हैं और इन सब करने के लिए तिगुना समय लग जाता है। दूसरे, इसी कठिनाई के कारण, न तो अच्छा टाइप-राइटर बन सकता है और न लाइनोटाइप आदि ही।

इसके अतिरिक्त केस आदि सम्बन्धी अनेकों कठिनाइयाँ प्रेस वालों को होती हैं जिनका वर्णन विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जा सकता।

इन मात्राओं की कठिनाई दूर करने के लिए मेरे विचार से यह उचित होगा कि उनका ऊपर नीचे का स्थान छुड़ाकर उन्हें अक्षरों के आगे पीछे जगह दी जावे। इस पद्धति से ज्यादा विचित्र उकार, रकार, अनुस्वार चिह्नों का

लिखा जाना दिखेगा; पर बहुधा नवीनता में अटपटापन रहता ही है।

इन नवीन मात्राओं के सुधार-संबन्ध में श्री—रा. रा. पु० वा० काले, बी० एसमी० द्वारा दिये गये मात्रा-चिह्न तथा लेख के उदाहरण अन्यत्र दिये गये हैं।

आपने अपने ही छापेखाने में अपनी कम्पोज़िटरी के अभ्यास-क्रम की कथा दी है और कठिनाइयों के सम्बन्ध में अच्छा विवेचन करते हुए लिखा है कि "अंग्रेज़ी टाइप की रचना अत्यन्त सरल है; पर नागरी लिपि के कम्पोज़िंग में समय और परिश्रम अधिक लगता है"। आपने इन्हीं दो बातों पर विचार कर इस लेख के साथ दिये गये मात्रा-संकेत निर्माण किये थे।

जो लोग मराठी समझ सकते हैं तथा इस विषय के रुचिया हैं उन्हें चाहिए कि वे काले महाशय के लेख का मनन करें। यह लेख फरवरी, १९१५ के मराठी "मासिक मनोरंजन" में निकला था। मैं काले महाशय के विचारों से सहमत हूँ। केवल संकेत-मात्र में मेरा मत-भेद है। मैंने संकेत-निर्माण दूसरे प्रकार से किये हैं जो इस लेख के साथ अन्यत्र दिये गये हैं। पाठकगण उन्हें देखकर उनपर विचार करने की कृपा करें।

मेरा भी विश्वास है कि किसी भी प्रकार से क्यों न हो, मात्रा और संयुक्त अक्षरों का झगड़ा निपट जाय और एक ही पंक्ति में लिखे जाने की, पुस्तक-प्रकाशकों, पाठकों तथा ग्रंथकारों की बड़ी भारी कठिनाई दूर हो जावे।

इस सुधार से जब ऊपर नीचे की पंक्तियों का अस्तित्व न रहेगा, तब कम्पोज़िंग कम जगह में शीघ्रता और सरलता के साथ हो सकेगा। कानों और मात्राओं की जो कठिनाई प्रूफ-संशोधन के समय होती है वह दूर हो जायगी। दो केस के बदले एक से ही काम निकल सकेगा। एक ही खाने में कई प्रकार के टाइप रखे जाने से उनके ढूँढ़ने में जो समय लगता था वह बच जायगा। सारांश यह कि इस सुधार के होने से नागरी लिपि के साहित्य की वृद्धि होगी, तथा प्रेस, प्रकाशक, प्रणेता और पाठक सबको सस्ते काम का सुभीता हो जायगा।

इस नवीन योजना के अनुसार कितने अक्षर तथा मात्राएँ और अन्य चिह्न आदि ढालना पड़ेंगे यह नक़्शों द्वारा बताया गया है।

इस लेख के साथ जो नक़्शे दिये गये हैं उनका ब्योरा इस प्रकार है—

पहिला नक़्शा।

इसमें यह बतलाया गया है कि अक्षरों की टाँगें तोड़ देने से वे इतने सीधे हो जाते हैं कि चाहे जिस अक्षर से दोस्ती कर सकते हैं। दूसरे जो इस बात से रूठते हैं उनमें से कुछ के भिन्नों के रूप अलग बना दिये गये हैं। शेष जो अपने अपने रूप पर ही रूठ कर दूसरों से मिलना ही नहीं चाहते उनके पैर में हल लगाने के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं। जो किसी दूसरे से सहायता पाकर बन सकते हैं उन्हें छुट्टी दे दी गई है; जैसे, आ, ई, ऊ, ओ, औ, अं, अः, ब, फ, झ, ङ, ड़। छुट्टी देने का अर्थ वर्णमाला से निकाल देने का नहीं है; पर अलग टाइप न ढालने का है।

ऐसा करने से ४ स्वर ३९ व्यंजन और ६ संयुक्त अक्षर तथा विशेष अक्षर—ऐसे कुल

मिलाकर ४९ टाइप ढालने से ही सब काम चल सकता है।

मात्राओं के संकेत बनाने में इस बात का विचार किया गया है कि उनका रूप आधुनिक रूपों से समानता रखता हुआ हो। वे अक्षर के साथ सिर से सिर मिलाकर बैठ सकें। कम्पोज़ करने में शीघ्रता और सुगमता हो।

इन मात्राओं में पाठक-गण एक और सुभीता पावेंगे कि ये बिना किसी अड़चन के अक्षरों के साथ साथ प्रचलित मात्राओं की अपेक्षा शीघ्र लिखी जा सकेंगी। इसके लिए बाराखड़ी की लिखावट देखिएगा।

यद्यपि संकेत यथासाध्य पूरे निर्माण किये गये हैं; पर मेरे विचार से वे अधूरे हैं। इनमें वे सब उच्चारण होना चाहिए जो दूसरी भाषा के लिखने में काम आवेंगे। इनका निर्णय बहु-भाषा-विज्ञ जन ही कर सकते हैं। उनके संकेत मिलने पर कार्यपूर्ण किये जाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

कई संकेत-चिह्न से दूसरा काम निकालने का निश्चय किया है। ऐसा करने से टाइप की संख्या में कमी होगी। इसी कारण कुछ गिन्ती में नहीं लिये गये हैं; जैसे, अनुस्वार को उलटा देने से पूर्ण विराम का काम ले सकते हैं। वैसे ही विराम से अवतरण चिह्न का काम लिया जा सकता है। विसर्ग और डॅश कोलन का काम दे सकते हैं। आधे (र्) का (॒) चिह्न उलटा कर ऑ के लिए और रेफ उलटाने पर अर्धचंद्र का काम दे सकती है।

ए, ऐ के बीच का उच्चारण बताने के लिए और क़ाफ़, ग़ैन आदि का द्योतक नुक़ता फुलस्टाप का भ्रम पैदा कर सकता है। इसलिए हलन्त का चिह्न (्) बीच में लगाना उपयुक्त हो सकता है।

'र' के 'री' रूप को 'ऋ' से भी लिख सकते हैं अथवा इस प्रकार जैसा **प्रि** में। ऐसा करने से 'र' का एक रूप और भी कम हो जायगा। जो संकेत लिखे गये हैं वे १५ होते हैं जिनमें कोष्ठक आदि भी शामिल हैं। यदि ये रूप मिला भी दिये जायँ, तो भी संख्या में अधिक वृद्धि नहीं होती। नक़्शे में मैंने चारों संकेत ले लिये हैं।

यदि प्रस्तावित संकेत और मात्राएँ उपयुक्त हैं तो इसमें संदेह नहीं कि बहुत ही थोड़े टाइप से समस्त कार्य चल निकलेगा। नई टाइपों की संख्या कुल मिलाकर इस प्रकार होगी—

स्वर	... ४
व्यंजन	... ३९
मात्राएँ	... ११
संकेत	... १६
विशेष अक्षर	... ६
कुल	... ७६

इतने पर भी मान लिया जाय कि कुछ और नवीन फेरफार करने पर अन्य संकेत मिलाने पर संख्या बढ़ जायगी, तो भी १०० से अधिक न होगी।

दूसरा नक़्शा।

दूसरे नक़्शे में महाशय काळे कृत मात्राएँ तथा कुछ लेख के नमूने दिये गये हैं। उसीके नीचे मेरी निर्माण की हुई मात्राएँ तथा नमूने हैं।

पाठकगण दोनों का निरीक्षण करें। अंत में क की बारहखड़ी भी दिखाई है जिसमें हस्तलिपि में मात्राओं के सरलतापूर्वक लिखे जाने के सुभीते पर विचार रक्खा गया है।

तीसरा नक़्शा।

तीसरे नक़्शे में आधुनिक रेमिंगटन टाइप-राइटर का नमूना दिया गया है और साथ ही उसके नीचे मैंने अपनी लिपि का नमूना भी दिया है।

नूतन लिपि के "की बोर्ड" में ६ स्थान (कीज़) कम हैं और तिस पर भी ५ अक्षर तथा ७ संकेत चिह्न अधिक सम्मिलित हैं।

यदि "कीज़" की संख्या उतनी ही रक्खी जाय, तो और कई संकेत तथा अक्षर-विशेष इस में शामिल कर टाइप-राइटर अच्छे नमूने का बन सकता है; और यदि थोड़े से काम चलाना है तथा संकेतों की अधिक आवश्यकता न समझी जाय तो ४० से भी कम "कीज़" से काम चल सकता है।

ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि आगे से टाइप-राइटर के बनाने में उसकी "कीज़" ऐसी रक्खी जाना चाहिए जिससे 'टच मेथड' से नागरी लिपि छापी जा सके। आधुनिक टाइप-राइटर का काम "साइट मेथड" से चलता है। इससे काम अधिक समय में होता है।

चौथा नक़्शा।

यह नक़्शा गुजराती टाइप फाउन्डरी के लोअर केस का है। इसी एकही केस में नूतन सब टाइप बन सकता है और जगह खाली पड़ी रहती है।

नागरी लिपि के दो बड़े केस होते हैं। एक ऊपर का और एक नीचे का। किस केस में कितने अक्षर आदि रहते हैं इसका ब्यौरा नीचे दिया जाता है:—

अक्षर आदि	अपर केस	लोअर केस
पूरे अक्षर	७९	४०
मात्रा सहित अक्षर (उ, ऊ और ऋ की मात्राएँ)	४२९	×
संयुक्त अक्षर	११९	४
मात्राएँ	×	३२
चिह्न	×	२६
स्पेस, सम आदि ...	×	(६ खानोंमें)
अंक आदि	×	१५
योग ...	६२७	११७

इस प्रकार समस्त टाइपों की संख्या ७४४ होती है। अब इसमें से यदि मात्राएँ, चिह्न और अंकों की संख्या घटा दी जाय, तो प्राचीन टाइपों की संख्या ६७१ रह जाती है। इस संख्या से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि टाइप ढालते समय टाइप फाउन्डरी वालों को कितना परिश्रम और व्यय करना पड़ता होगा।

मँगानेवालों को भी यही अड़चन है। इस नूतन टाइप के मँगाने में यह बात न रहेगी। पूरा एक सैट मँगाने में पहले से लगभग एक सप्तांश व्यय होगा, या उतना पूरा व्यय करने पर नूतन टाइप सात गुना अधिक आवेगा।

अंत में, विस्तार-भय से, छपाई के बक्स के अंक इत्यादि का ब्यौरा, व्यापारिक दृष्टि से न

लगाकर, कुछ विशेष निवेदन कर इस लेख को समाप्त करता हूँ।

उपर्युक्त बातों के निर्णय के लिए प्रथम नागरी-प्रेमियों को चाहिए कि वे अपने अपने (प्रतिकूल या अनुकूल) विचार प्रकट करें। उसके बाद इस सम्बन्ध में टाइप फाउन्डरी वाले प्रेसों के अध्यक्षों की एक सभा की जाय जिसमें इस विषय पर विचार हो। पश्चात समाचार-पत्रों द्वारा वाद-विवाद उपस्थित कर अंतिम निर्णय के लिए समस्त भारत के प्रतिनिधियों की एक समिति, सम्मेलन की ओर से, संगठित की जाय और इस संगठित समिति का निर्णय अंतिम निर्णय हो।

इससे भी प्रथम जो टाइप फाउन्डरी वाले इन विचारों से पूर्णरूप से सहमत हो और कार्य-प्रेमी हों वे प्रथम केवल मात्राएँ ढालने का प्रयत्न कर इस लिपि का छापना प्रारम्भ कर दें। समाचार-पत्र प्रथम बोल्ड टाइप में हेडिंग और एकाध कालम में मनोरंजक चुटकले छापें।

अन्य सहमत होनेवाले सम्पादकगण इस बात में योग दें तथा कुछ स्थान अपने पत्रों में भी दें (चाहे वह आलोचना के लिए ही क्यों न हो) तो सम्भव है सब जगह से इस पर शीघ्र विचार होने लगे और कार्य शीघ्र होने लगे। ऐसे नोट छापते समय उन पर देश के नेताओं की सम्मतिएँ भी मँगाकर प्रकाशित की जावें।

इसमें सुधार करते समय यदि नीचे लिखे महाशयों से भी (जिनने कि इस विषय पर विचार किया है) पत्र-व्यवहार किया जावे तो विशेष लाभ होने की आशा रहेगी—श्री० विनायक श्री कृष्ण घारपोरे, श्री० काशीनाथ वामन लेले, श्री० पु० बा० काळे, बी. एस-सी, श्री० काशीनाथ रघुनाथ मित्र। इन महाशयों का पता श्री० रा. रा. काशीनाथ, रघुनाथ मित्र, सम्पादक, मराठी मासिक मनोरंजन, गिरगाँव, बम्बई से मिल सकेगा।

गुड़िया।

(लेखक—बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी. ए.)

जीवन का मतलब समझना कठिन है। विधाता ने जगत में अस्थिरता की सृष्टि क्यों की है? चंचला की चमक की तरह जीवन में क्षण भर ज्योति उदित होकर फिर क्यों लीन हो जाती है? मनुष्य संसार के अनन्त कार्यों में व्याप्त रहकर कभी कभी ऊपर की ओर दृष्टि डालता है। सुनील, प्रशान्त, अनन्त आकाश फैला हुआ है। नीचे शस्य-श्यामला वसुंधरा निश्चिन्त लेटी हुई है। दोनों स्थिर हैं, दोनों स्मरणातीत काल से निश्चल होकर ठहरे हुए हैं। पर इन दोनों के मध्यवर्ती मनुष्य के ही जीवन में अस्थिरता है, चंचलता है। न जाने कब से काल का यह अविराम स्रोत प्रवाहित हुआ है। थोड़ी भी शान्ति नहीं है। इस जीवन-प्रवाह में पड़कर हम आगे ही बहते चले जाते हैं, न जाने कहाँ इसका अन्त होगा।

संध्या का समय था। मैं अपने स्कूल की क्रीड़ा-भूमि पर अकेला बैठा हुआ था। सब लड़के

चले गए थे। फुटबाल ग्राउन्ड का क्रीड़ा-क्षेत्र अन्धकारमय हो रहा था। मैं उसी अन्धकार में बैठ कर अपने जीवन की अतीत बातें सोच रहा था। बाल्यकाल के दृश्य उदीयमान तारिकाओं की तरह मेरे अन्धकारमय हृदयाकाश में एक एक कर प्रकट होने लगे। मेरी वह आशा, मेरा वह सुख-स्वप्न, मेरी वे अभिलाषाएँ सब कहाँ गईं? जीवन के प्रभात काल में मैंने जिस ज्योति का दर्शन किया था वह कब अन्धकार में लीन हो गई। सब तो वैसे ही हैं। वही गाँव है, वही नदी है और वही स्कूल है। सब कुछ जैसे पहले थे वैसे ही हैं। केवल मैं ही दूसरा हो गया हूँ। अब वे भाव नहीं, अब वे आशाएँ नहीं। एक बार मैंने जो अनुभव किया था वह आज स्वप्न के समान केवल स्मृति में रह गया है। अब—

सहसा मेरी मोह-निद्रा भंग हो गई। मुझे ज्ञात हुआ कि वर्तमान काल में मेरी कुछ स्थिति है; क्योंकि उसी समय वीरसिंह ने आकर कहा, "मास्टर साहब, एक हॉकी स्टिक का पता नहीं है।" मैं दीर्घ निश्वास लेकर उठा और वीरसिंह के साथ जाकर सब सामान देखने लगा, सचमुच एक स्टिक नहीं था। अब रात हो गई थी, उसका पता लगना मुश्किल था। इसलिए वह काम दूसरे दिन के लिए छोड़ कर मैं घर लौटा। रास्ते में पण्डित विष्णुराव का मकान मिलता था। जाते जाते एकबार मैंने उनके मकान के भीतर दृष्टि डाली, देखा, पण्डित जी कुछ लिखने में व्यग्र हैं। आगे बढ़ने पर देवेन्द्र बाबू के मकान से संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी। मैं ठहर कर सुनने लगा। कोई गा रहा था—"कहूँ किससे मन की बात"। इसके बाद एक घर से किसी शिशु की रोदन-ध्वनि के साथ किसी स्त्री के हँसने की आवाज आई। रोदन और हास्य का यह संमिश्रण देख मैं अपने मन में कहने लगा, "यही तो संसार है, एक ओर हाहाकार है और दूसरी ओर अट्टहास, एक ओर वियोग और दूसरी ओर संयोग।" इसके बाद—

इसके बाद कुछ सोचने का अब अवसर ही नहीं मिला। इन्दिरा के एक "मास्टर" से मेरी दार्शनिक भावना नष्ट हो गई। मैं उसे गोद में लेकर भीतर घुसा भी नहीं था कि पार्वती ने आकर कहा "इधर कहाँ चले? आज मेरी गुड़िया का विवाह है। पहले उधर चलो।" पार्वती का अनुरोध मैं टाल न सका। मुझे उसके साथ जाना ही पड़ा।

भीतर जाकर मैंने देखा कि पार्वती ने अपनी गुड़िया के विवाह का बड़ा आयोजन कर रखा है, बड़ी तैयारी की गई है। आँगन के बीचोंबीच मण्डप बनाया गया है। वह फूलों से खूब सजाया गया है। चारों तरफ़ मुहल्ले की लड़कियों का झुण्ड है। मुझे ले जाकर पार्वती ने एक अच्छे स्थान पर बैठा दिया। मेरे बैठ जाने पर विवाह का कार्य आरंभ हुआ; पर वर-वधू के मण्डप में प्रवेश होते ही मैंने कहा, "पार्वती, तुमने सब ठीक किया पर एक बात में भूल कर गई हो।" पार्वती ने आग्रह से पूछा, "वह क्या?" मैंने कहा "पुरोहित तो है ही नहीं। बिना पुरोहित के कहीं विवाह होता है?" पार्वती ने भूल तो स्वीकार करली पर अब वह इसलिए मेरे पीछे पड़ गई कि मैं पुरोहित बनूँ।

मैंने उसे यह बात समझाने में अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया कि कायस्थ को पुरोहित का आसन ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। पर पार्वती क्यों मानने लगी। अन्त में मुझे ही पुरोहित का आसन ग्रहण करना पड़ा। विवाह आरंभ हुआ और यह कहने की जरूरत नहीं, कि वह विधिपूर्वक निष्पन्न हुआ। जब, विवाह के अन्त होने पर, पार्वती वर-वधू को उठा कर भीतर ले जाने लगी तब मैंने उसे रोक कर कहा, "यह क्या अन्याय कर रही हो। बिना पुरोहित को दक्षिणा दिये तुम वर—वधू को नहीं ले जा सकती।" पार्वती ने कहा, "अच्छा, फूफा, अभी ले जाने दो। कल तुम्हें एक रूमाल बुन कर दे दूँगी।" मैंने तब जाने दिया। दूसरे दिन पार्वती ने मुझे एक रूमाल दे दिया। उसे सन्दूक में रख छोड़ा।

ज्यों ज्यों समय जाता है त्यों त्यों हम लोगों का कार्य-भार गुरुतर होता जाता है। १८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर मैंने अपने को उस अवस्था में पाया जब मनुष्य अपनी चिन्ता छोड़ दूसरे की ही चिन्ता में लगा रहता है। इन १८ वर्षों में मैं फिर दूसरा ही आदमी हो गया। मुझे अब अपने परिवार की ही चिन्ता रहती थी। एक जगह से दूसरी जगह जाना मेरे लिए एक तो वैसे ही कष्टदायक, फिर जब मुझको सागर ऐसे अपरिचित स्थान में जाने की आज्ञा हुई तब तो एक बार इस्तीफा देकर घर चले आने की इच्छा हुई। फिर सोचा, चलो, साल भर की बात है, एक बार सागर में भी रह कर देख लें। जबतक घर का प्रबन्ध न हो तबतक परिवार ले जाना अच्छा नहीं, यह सोच कर मैंने अकेले ही जाना निश्चय किया। दूसरे दिन मैं ट्रेन से सागर के लिए रवाना हुआ। शाम को मैं बिलासपुर पहुँचा। गाड़ी से उतर कर, नौकर को सामान सम्हालने के लिए कहकर मैं हाथ मुह धोने के लिए बाहर नल पर गया। लौटकर आकर देखता हूँ कि बाबू प्यारेलाल जी खड़े हुए मेरे नौकर से बातें कर रहे हैं। मैं खूब उत्साह से उनसे मिला। कुछ देर इधर उधर की बातें होती रहीं। फिर जब उन्होंने सुना कि मैं उसी दिन की गाड़ी से सागर जाने की इच्छा करता हूं तब तो वे बड़े बिगड़े। आखिर उस दिन मेरा जाना नहीं हुआ। मुझे उनके घर एक दिन टिक जाना पड़ा। नौकर को पीछे से सामान लाने के लिए कहकर मैं उनके साथ चला।

सन्ध्या हो गई थी। स्कूल के लड़के हाथ में हॉकी स्टिक लिये हुए प्रफुल्लबदन चले आ रहे थे इधर मैं ४० वर्ष के जीवन का भार लिये हुए जा रहा था। जीवन का विपर्यय! खैर, किसी तरह हम लोग घर पहुँचे। तबतक रात होगई थी। बाहर के कमरे में कुछ देर हम लोगों ने बैठे बातें कीं। फिर मैं भीतर गया। देखा, आँगन में लड़कियों की भीड़ लग रही थी। पूछने से मालूम हुआ कि आज गुड़िया का विवाह है। मुझे १८ वर्ष पहले का दृश्य दिखाई दिया। सब तो वैसा ही है भेद इतना ही है कि आज पार्वती के स्थान में उसकी लड़की, सुशीला अपनी गुड़िया का विवाह कर रही है। मैं खाने के लिए नहीं गया। वहीं अपने मन से पुरोहित का आसन ग्रहण कर मैंने सुशीला की गुड़िया का विवाह कराया और वर—वधू को अन्तःकरण से आशीर्वाद दिया। पार्वती खड़ी देख रही थी। विवाह होजाने पर

दक्षिणा—स्वरूप उसने हँसते हँसते मुझे एक दूसरा रूमाल दिया। जब मैं खा पीकर बाहर के कमरे में आया तब मैंने सन्दूक खोलकर अपना पुराना रूमाल निकाला। फिर मैंने अतीत और वर्तमान को एक ही सूत्र में बाँध दिया। इतना कर भगवान् की प्रार्थना कर मैंने ऊपर आकाश—मण्डल पर दृष्टिपात किया. देखा कि अनन्त के वक्षःस्थल पर द्वितीया का बालचन्द्रमा हँस रहा है।

प्रमाण (सबूत)।

The law of Evidence.

(लेखक—पं० जनार्दन रामचंद्र परांजपे, एम.ए., एल.एल.बी.)

हम एक लेख में यह बतला चुके हैं कि प्राचीन काल में किस तरह की न्याय-पद्धति थी। इस लेख में इस विषय पर विचार किया जावेगा कि प्राचीन काल में प्रमाण संबंधी नियमों का स्वरूप कैसा था। वादी तथा प्रतिवादी अपने वक्तव्य चार प्रकार से प्रमाणित करते थे। वे ये हैं—(प्रमाणं—लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितं एषामन्यतमाभावे दिव्यन्यतममुच्यते—दस्तावेज, कबजा और गवाह यह प्रमाण है। इनका यदि अभाव होवे तो दिव्य भी एक प्रमाण है।)

लिखितम्—दस्तावेज (Documentary evidence)। दस्तावेज तीन प्रकार के होते थे; जैसे, राजलेख, (Documents bearing the royal seal) स्थानकृत—कोई विशेष स्थान पर लिखे हुए स्वहस्तलिखित—वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने केवल दो प्रकार के लेख कहे हैं—जैसे, लौकिक और राजकीय—(लौकिकं राजकीयं च लेख्यं विद्याद्द्विलक्षणं-वसिष्ठ तत्र लेख्यं द्विविधं-शासनं जानपदंश्च—मिताक्षरा)। ये स्मृतिकार स्थानकृत तथा स्वहस्तलिखित लेखों को लौकिक में गिनते हैं।

लौकिक अर्थात साधारण जनों के व्यवहार के दस्तावेज सात प्रकार के होते थे:—

(१) भाग—(Partition Deed) अर्थात पितृविक्थ के विभाग समय लिखा हुआ लेख, (२) दान—(Deed of Gift); (३) क्रय—(Sale deed) बैनामा, (४) आधान—(Deed of Pledge or mortgage) रहननामा या पट्टा, (५) संवित—(Agreement-Contract), (६) दास—(Slave's deed) अर्थात दास होना स्वीकृत है इसका दर्शक लेख, (७) ऋण—(A money bond)।

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के लौकिक लेख होते थे। राजलेख तीन प्रकार के होते थे। वसिष्ठ ने चार प्रकार के राजलेख माने हैं—(१) शासन (Mandate, Royal grants), (२) जयपत्र—(Decree) डिकी, (३) आज्ञापत्र—(Edict) मांडलिक तथा सेनाधिपति आदि सरकारी नौकरों के लिखे हुए पत्र, (४) विज्ञापनपत्र—(A letter of Request) अर्थात राजा के द्वारा पुरोहित तथा अन्य पूज्य जनों को लिखे हुए पत्र।

लौकिक लेख के भिन्न प्रकार से और भी वर्गीकरण किये हैं; जैसे, (१) स्वहस्तलिखित—अर्थात् जिसे दस्तावेज लिख देनेवाले ने अपने हाथ

से लिखा हो । (२) अन्यलिखित–(written by a serila) अर्थात दूसरे से लिखवाये हुए लेख । स्वहस्तलिखित—यदि दस्तावेज लिख देने वाला स्वयं लिपिज्ञ हो तो लेख पर गवाह के दस्तखत आवश्यक नहीं थे; किन्तु बल याने जबरदस्ती से डर आदि दिखाकर (force) तथा उपाधि याने किसी प्रकार के छल (fraud) से लिखवाये हुए दस्तावेज नाजायज माने जाते थे। साधारण तौर पर दस्तावेज में नीचे लिखी हुई बातें लिखी जाती थीं ।—याज्ञवल्क्य ८४, ८५, ८६, ८७ ।

जो कुछ निश्चित हुआ हो, वह तथा धनिक या जिसके नाम पर दस्तावेज लिख दी जावे, उसका नाम, वर्ष, मास, पक्ष, दिन, तिथि, लिखने वाले के नाम, दोनों के पिता के नाम, जाति और शाखा ये सब उसमें लिखे जाते थे । अन्त में लिखने वाला लिखता था कि जो कुछ ऊपर लिखा है वह उसे कबूल है । फिर लिखनेवाले के हस्ताक्षर, इसके उपरान्त गवाह के हस्ताक्षर । गवाह लिखते थे कि उन लोगों के सामने दस्तावेज लिखा गया । गवाहों की संख्या सम होना चाहिए और दोनों की समान स्थिति (Equal status) के होना चाहिए । यदि दस्तावेज किसी लेखक से लिखवाया गया हो, तो लेखक को–दोनों की संमति से लिखना पड़ता था कि ऊपर का लिखा हुआ लेख उसके द्वारा लिखा गया है और उसे अपना नाम पितृनामसहित लिखना पड़ता था ।

नीचे लिखे हुए लेख नाजायज माने जाते थे; बृहस्पति—(१) मरणोन्मुख अवस्था में लिखा हुआ (२) शत्रु द्वारा लिखा हुआ (३) डरे हुए मनुष्य का लिखा हुआ (४) व्याधि-पीड़ित का लिखा हुआ (५) स्त्री के द्वारा लिखा हुआ (६) मत्त, याने पागल द्वारा लिखा हुआ (७) आपत्ति में लिखा हुआ (८) रात्रि को लिखा हुआ (९) छल से लिखवाया हुआ और (१०) बल, याने जबर्दस्ती से लिखवाया हुआ ।

प्रचलित न्याय-पद्धति में भी इन सब कारणों का विचार किया जाता है । विशेषता केवल यह है कि जिस लेख में एक गवाह है और वह यदि समाज की दृष्टि से दोषी हो, या दस्तावेज लिखनेवाला भी दोषी हो तो दस्तावेज नाजायज या फर्जी माना जाता था । फर्जी दस्तावेज लिखनेवाले को तथा गवाहों को भी सजा दी जाती थी । यदि दोनों पक्ष स्वीकार करें तो निम्नलिखित अवस्था में दूसरा दस्तावेज लिखा जा सकता था, और व्यवहार में उसको प्रमाण मानते थे:—

(१) यदि मुख्य दस्तावेज दूर देश में हो, (याज्ञवल्क्य ९०) (२) यदि अर्थबोध स्पष्ट न हो, (३) मुख्य दस्तावेज का नाश हो गया हो, (४) मुख्य दस्तावेज की स्याही उड़गई हो, (५) असल दस्तावेज की चोरी हो गई हो, (६) असल दस्तावेज के टुकड़े हो गये हों, (७) असल दस्तावेज जल गया हो, और (८) असल दस्तावेज फट गया हो ।

यदि दोनों पक्ष राजी न हों तो गवाह से असल सबूत किया जाता था (Secondary Evidence) और यदि गवाह भी न हों तो दिव्य प्रमाण (Ordeal) से निर्णय होता था । साधारणतः संदेहयुक्त दस्तावेज उसी दृष्टि से देखे जाते थे जो सांप्रत में भी प्रचलित हैं—(याज्ञ-९२ मिताक्षरा टीका) ।

साधारण नियम यह था कि जहाँ दस्तावेज लिखा हुआ है, ऐसा कहा गया हो वहाँ दस्तावेज से ही निर्णय होता था। इस अवस्था में दिव्य या गवाह प्रमाण नहीं माने जाते थे। पूग, श्रेणी या गण†—इनके नियमों के विषय में लेख के अतिरिक्त दूसरा प्रमाण नहीं माना जाता था। दस्तावेज के विषय में ऊपर लिखे हुए नियम सांप्रत की न्याय-पद्धति में भी प्रचलित हैं।

भुक्तिः अर्थात् कब्जा।
(Possession)

इसे भी न्याय में प्रमाण मानते थे। प्रचलित न्याय-पद्धति में भी कब्जे को यथायोग्य स्थान दिया है। साधारणतः यह नियम है कि जिसका कब्जा हो वह स्वामी के अतिरिक्त दूसरों के लिए स्वामी के समान माना जाता है और प्रायः यह स्वामित्व का ही लक्षण माना जाता है। कब्जा नीचे लिखे हुए विशेषण से युक्त होना चाहिए (नारद—**सागमो दीर्घ कालश्च अविच्छेदो ऽपरवोज्झितः** प्रत्यर्थिसन्निधानश्च पंचा गो भोगमिष्यते)

अर्थात् आगम से युक्त होना चाहिए—आगम (Title) याने स्वामित्व। स्वामित्व के आठ भाग स्मृतिकारों ने लिखे हैं। रिक्थ (Inheritance) याने गत स्वामी से संबंध होने के कारण मिला हुआ धन; क्रय (Purchase), संविभाग (Partition), अधिगम (first finder), लब्ध (Gift) दान में मिला हुआ धन, विनिर्जित (Conquest), निर्विष्ट अर्थात् सेवा या व्यापार से मिला हुआ धन। दीर्घकाल (Long possession) अर्थात् स्मार्तकाल से अधिक—स्मार्तकाल साधारण १०० वर्ष का माना जाता था—अविच्छेद (Continued) या निरन्तर, अर्थात् एक ही पुरुष का या उसके वारिसों का कब्जा होना चाहिए। अपरवोज्झित (undisturbed or peaceful) अर्थात् दूसरे से कब्जे के विषय में झगड़ा आदि नहीं होना चाहिए प्रत्यर्थिसन्निधानश्च अर्थात् जिसके विरुद्ध कब्जे का झगड़ा हो उसका परोक्ष कब्जा नहीं होना चाहिए-(It must be to the knowledge of the person against whom it is pleaded) यह नियम स्मार्तकाल में था। किन्तु जहाँ अस्मार्तकाल से कब्जा चला आया हो वहाँ कब्जे से ही स्वामित्व का निर्णय होता था। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकार के कब्जे के साथ आगम है ऐसा माना जाता था। किन्तु यदि अस्मार्तकाल से कब्जेवाले का स्वामित्व नहीं है, ऐसा लोगों को मालूम हो, तो केवल कब्जे से स्वामित्व का निर्णय नहीं होता था। तात्पर्य यह कि चोरी से मिले धन पर केवल कब्जे से स्वामित्व नहीं हो सकता था।

जिसने धन प्राप्त किया हो उसीसे यदि स्वामित्व के विषय में झगड़ा हो तो उसे कब्जे के सिवा धन की प्राप्ति जिस मार्ग से हुई हो वह भी दिखाना पड़ता था। किन्तु यदि उसके वारिसों से हो, तो उन्हें केवल कब्जा ही दिखलाना पड़ता था और प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई को यह दिखाना पड़ता था कि प्राप्ति का मार्ग दोष-युक्त है; किन्तु यदि धन प्राप्त करनेवाले के समय में

† पूग—भिन्न जाति और भिन्न व्यापार के मनुष्यों का समुदाय, (Corporation as Bombay Corporation) श्रेणी—भिन्न जाति के किन्तु एक ही व्यापार करने वालों का समुदाय। (Trade Guilds) गण—एक ही जाति के मनुष्यों का समूह।

यदि न्याय-सभा में वाद होता हो तो वारिस को भी आगम शुद्धता प्रमाणित करनी पड़ती थी। नीचे लिखे हुए मुकदमों में कब्जे ही को प्रमाण मानते थे (कात्यायन द्वारमार्ग क्रिया भोग जलवाहादि के तथा भुक्तिरेव हि गुर्वीस्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः) अर्थात् आने जाने के मार्ग या दरवाजे के विषय में तथा जलमार्ग के विषय में कब्जा ही प्रमाण है। इस विषय में लेख तथा गवाह प्रमाण नहीं हैं।

साक्षिणः—याने गवाह।

(About witnesses)

साधारण नियम यह था कि साक्षी याने गवाह को सबूत किए जाने वाले विषय को प्रत्यक्ष देखना चाहिए या यदि ध्वनि हो तो सुना होना चाहिए। (समक्ष दर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति—मनु)। नारद ने भी यही लक्षण कहा है। कात्यायन मत से ११ और बृहस्पति के मत से गवाहों के १२ भेद हैं: यथाः—

(१) लिखित—जिसका नाम दस्तावेज में गवाह के स्थान पर लिखा हो। बृहस्पति ने इसी के दो भेद मानकर—जिसका नाम वादी ने लिखा हो और जिसका नाम वादी के कहने पर प्रतिवादी ने लिखवाया होवे—१२ की संख्या लिखी है। (२) स्मारित—जिसको बार बार प्रसंग का स्मरण कराया गया हो। (३) यदृच्छाभिज्ञ—जो स्वयं साक्षी दे। (४) गूढ़-जिसे दीवाल आदि के पीछे बैठाकर वादी प्रतिवादी का हाल सुनाया गया हो। (५) उत्तरसाक्षी—जो दूसरे गवाहों की साक्षी सुनकर गवाही देता है। (६) ग्राम— (Villge as a whole) (७) प्राड्विवाक—न्यायाधीश। (८) राजा। (९) कार्येष्वधिकृतो—न्यायसभा के अधिकारी। (१०) दूत। और (११) कुल्याः (Members of the family) कुटुम्बी जन।

गवाहों की संख्या कम से कम दो की आवश्यक मानी जाती थी। किन्तु राजा तथा राजा के अधिकारी इनकी अकेले की भी साक्षी प्रमाण मानी जाती थी। यदि वादी प्रतिवादी कबूल करें तो एक धर्मशील गवाह की जबानी बयान से भी निर्णय होता था। (उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोपिधर्मवित्—याज्ञवल्क्य—) जिसके सत्य बोलने की प्रतीति हो ऐसे धर्मशील एक गवाह से निर्णय होता था। विशेष करके साहस याने (मनुष्यमारणं Murder चौर्यं shift of gold पर-दारा भिमर्षनम् Adultery पारुष्यं slander & Assault) के बड़ेबड़े फौजदारी मुकदमों में यह नियम लागू था। उसीप्रकार अप्रकाशित निक्षेप तथा विवाह के समय माँग कर लाये हुए अलंकार आदि के विषय में एक गवाह से भी निर्णय होता था—(कात्यायन)। व्यास मत से यह नियम बाज़ार में बिक्री की चीज़ों के विषय में भी लागू है। याज्ञवल्क्य—मत से मध्यम वर्ग के गवाहों की संख्या कम से कम तीन होनी आवश्यक है। (६९)

जो जन साक्षी देने के योग्य नहीं माने जाते थे (याज्ञवल्क्य) वे ये हैं—(१) वचनात्-जिनके विषय में शास्त्रों में साक्ष लेने का कारण नहीं दिया है। श्रोत्रिय, तापस, वृद्ध, प्रव्रजित (सन्यासी) और जो पुत्र पिता से कलह करे। (२) दोषतः—चोर, जुवारी आदि जो सच नहीं बोलते। (३)भेदात्—दस्तावेज में लिखे गवाहों में

से यदि एक गवाह की जबानी से और दूसरों के जबानी बयान से अंतर दिखाई दे तो सब झूँठे माने जाते थे। (४) स्वयंभुक्तिः–जो बिना बुलाये स्वयं आकर इजलास में साक्षी दे। (unsummoned) प्रचलित पद्धति में भी यही नियम है। (५) मृतान्तर–जिनका वाद हो वे यदि गवाह बतलाय बिना मरगये हों और उस गवाह को जानने का दूसरा कोई मार्ग न हो तो ऐसे समय में स्वयं बने हुए गवाह। इनके अतिरिक्त नीचे लिखे हुए गवाह भी वर्ज्य समझे जाते थे:—स्त्री, बाल (minor)। प्रचलित न्याय-पद्धति में नाबालिग योग्य गवाह समझा जाता है। कितव (जुवारी), मत्त, उन्मत्त, अभिशस्तक (Infamous) रंगावतार (actors on the stage) पाखंडी–(Infidel) कूटकृत (forger) विकलेन्द्रिय-अंगहीन लंगड़े-लूले आदि, पतित आप्त-(Relatives i.e. Interested persons) अर्थात् माता पिता पितृव्यश्च भार्यायाः भ्रातृमातरौ, भ्राता, सखा, जामाता (सांप्रत में भी दोनों तरफ के वकीलों का यह दिखाने का प्रयत्न रहता है)। गवाह का मुद्दई या मुद्दाले से संबंध है (i. e. The witnesses should not be interested); दास आदि।

इस नियम का अपवाद भी है। जब दूसरे गवाह का मिलना असंभव हो तो स्त्री, दास आदि वर्ज्य गवाह लेना भी शास्त्रसंमत है (मनुः स्त्रिया-प्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेणवा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा)। वैसेही संग्रहण (Adultery) चौर्य, पारुष्य (Slander assault-battery) साहस (Heneus offence) के मुकद्दमों में वर्ज्य साक्षी भी प्रमाण माने जाते थे। साक्षी सच्चा या झूँठा है यह जानने के कुछ लक्षण शास्त्रकारों ने लिखे हैं–(नारद-याज्ञवल्क्य)। जो गवाह सबूत देते समय आत्मदोष के कारण कुछ अस्वस्थ दिखाई दे, बारबार स्थानान्तर करे, कपाल प्रदेश पर जिसको पसीना निकलने लगे, क्षण क्षण में जिसके मुख की छाया बदले, जिसके ओंठ सूख जावें, जो ऊपर और चहुँओर देखे, जो पाँव से भूमि को घिसे, जो अस्पष्ट और जल्दी जल्दी बोले और जिस पर गवाह होने के बाद ७ दिन में कोई दैवी आपत्ति आपड़ी हो तो उसे भी झूँठा मानते थे। सांप्रत न्याय-पद्धति में इनमें से बहुत से लक्षण लागू नहीं होते; किन्तु न्यायाधीश को साक्षी पर ध्यान देकर देखना चाहिए, ऐसा कायदों की पुस्तकों में लिखा है।

बनावटी गवाह पर कठोर शासन करना उचित समझा जाता था। जो कोई ऐसे बनावटी गवाह लावे उसका सब वित्त हरण किया जाता था और उसे दावा तो देना ही पड़ता था। साक्षी लेने के पूर्व गवाहों को शपथ लेनी पड़ती थी [सांप्रत में भी "ईमान से सच कहेंगे" ऐसा कहना पड़ता है, और क्रिस्तानुयायियों को कसमें (oath) लेनी पड़ती है।] वह शपथ वर्णभेद से भिन्न भिन्न प्रकार की है। (मनु–सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः। गोबीजकांचनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः।) ब्राह्मण को सत्य की कसम खानी पड़ती थी, क्षत्रिय को शस्त्रविद्या वाहन की, वैश्य को गाय-बैल, तथा अन्य द्रव्य की कसम खानी पड़ती थी। यदि झूँठ कहूँ तो सबके पाप मेरे माथे पर पड़ें–ऐसा कहना पड़ता था। साधारण नियम यह था कि न्यायाधीश मुद्दई मुद्दाले के सामने सब गवाहों को बुलाकर उनसे कहता था "इस मुकद्दमे में तुम लोग गवाह हो, मुद्दई मुद्दाले के झगड़े के बारे में क्या जानते हो, सच सच बतलाओ।"

गवाह पूर्वाह्न में बुलाये जाते थे। उनको पूर्वाभिमुख या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके साक्षी देनी पड़ती थी। जिस विषय में जो गवाह हो उसे यथाशक्ति सन्निध रहकर साक्षी देनी पड़ती थी। साक्षी होना कबूल करने पर यदि कोई गवाह ठीक ठीक न बतावे तो उसे दंड होता था—सांप्रत में भी सम्मन लेने पर गवाह यदि हाजिर न हो तो उसे 'वारंट' से पकड़कर लाते हैं और उससे हाजिर न होने का कारण पूछते हैं। यदि गैरहाजिरी का योग्य कारण न दे सके तो उसे दंड होता है।

कात्यायन ने लिखा है कि नीचे लिखे हुए मामलों में केवल गवाह से निर्णय होना चाहिए:—

(१) स्वामी और नौकर में वेतन के देने या न देने के मुकदमें। (२) बाजार में क्रय-विक्रय विषयक झगड़े। (३) द्यूत—जुआ। (Gambling) और (४) समाह्वय—जन, पक्षी तथा अन्य सजीव प्राणी जुए में फाँसे के स्थानपर उपयोग में आता है तो उसे जुए को समाह्वय कहते हैं। विवाह-निर्णय का साधारण नियम था कि यदि एक जाति के गवाह हों तो जिस पक्ष के गवाह की संख्या अधिक हो उसको सच मानते थे यदि सम संख्या हो तो जिसके गवाह गुणवान हों उसे सच मानते थे, और यदि दोनों पक्ष के गवाह गुणवान हों तो विद्या के न्यूनाधिक प्रभाव से निर्णय होता था।

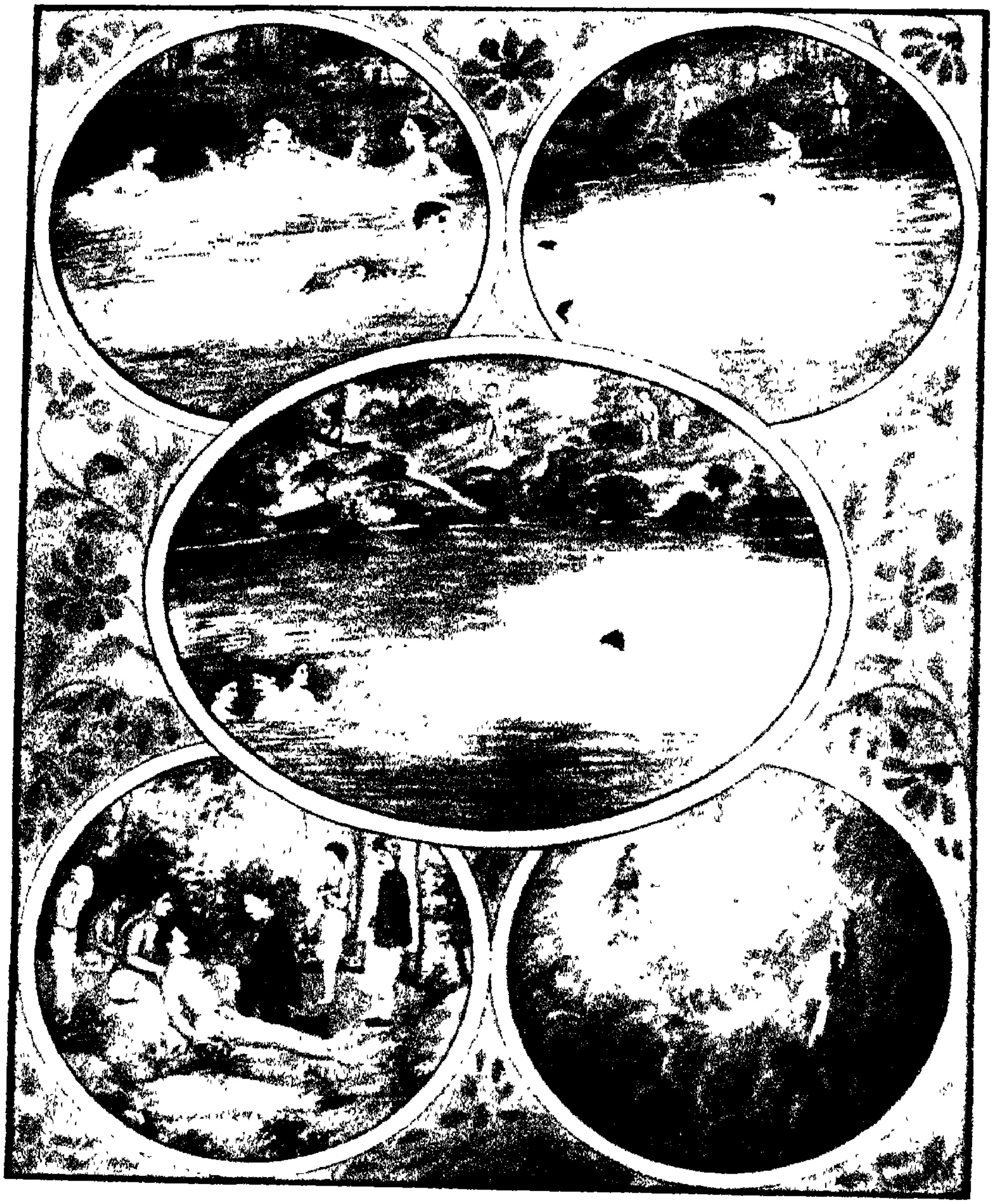
दिव्य प्रमाण।
(ordeals)

दिव्य प्रमाण सात प्रकार के होते हैं—घट, अग्नि, उदक, विष, कोश, तण्डुल और तप्तमाषक। साधारणतः यह नियम था कि जहाँ साक्षी तथा लेख प्रमाण संभव है वहाँ दिव्य प्रमाण का अवलंबन नहीं करते थे। किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं; जैसे—मणि, मोती, माणिक (Coins) बनावटी हैं या सच्चे हैं इस विषय के मुकदमों में, या न्यास (Secret deposits) परदाराभिगमन (Adultery) के विषय में तथा महापाप के विषय में यदि वादी दिव्य प्रमाण से निर्णय पसन्द करता हो तो गवाह नहीं लिये जाते थे। साधारण प्रकार के वाक्पारुष्य (Scandel-libel) तथा भूमि के विषय में यदि वाद हो तो दिव्य प्रमाण से निर्णय कभी भी नहीं होता था। (वाक्पारुष्ये च भूमौ च दिव्यं न परिकल्पयेत् (कात्यायन) स्थावरेषु (गैरमनकूला Immoveable property) विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्पितामह।)

दिव्य प्रमाण में निर्णय करने के पूर्व वादी को यह कबूल करना पड़ता था कि दिव्य प्रमाण में जो निर्णय होगा वह उसे मान्य होगा। साधारणतः यह नियम था कि जिसके विरुद्ध मुकदमा हो उस प्रत्यर्थी को दिव्य का विषय होना पड़ता था। किन्तु यदि दोनों पक्षों को कबूल हो तो वादी भी दिव्य का विषय हो सकता था। राजा के विरुद्ध जो अपराध होते थे उनमें तथा पातक के विषय में दिव्य मान्य है या नहीं यह पूछने का कारण नहीं रहता था। दिव्य प्रमाण की विधि प्रातः काल में होती थी, अपराधियों को स्नान करके शुद्ध होना पड़ता था। यह विधि राजा और ब्राह्मण के निकट होती थी। कोई कोई शास्त्रकारों के मत में जल-विधि मध्याह्न में होती थी। विष-विधि रात्रि को होती थी।

घट-विधि का ब्राह्मण, अग्नि का क्षत्रिय, जल का वैश्य और विष का शूद्र अधिकारी था। तुला-विधि के अधिकारी स्त्री, बाल, वृद्ध, अन्ध, पंगु, ब्राह्मण, तथा रोगी थे।

इस विषय में स्मृति-ग्रंथों में विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है; किन्तु लेख विस्तार के भय से तथा प्रचलित पद्धति में उसका प्रचार न होने के कारण हम उसे यहाँ लिखना योग्य नहीं समझते।



जल-समाधि

भद्रे, पति सुभद्र, यह ले,
अंकित हो हो गया चित्र,
तेरे हृदयस्पर्शी भावों से
आंसू क्या बह चले, बन गया

तेरे आग्रह के अनुसार
जो तेरे विमल करों स्वीकार
मुझको बहुत छला डाला
रंग, चित्र गदला डाला।

—गणेशराम मिश्र।

जल-समाधि ।

(लेखिका—श्रीमती सुभद्रा कुमारी देवी)

अति कृतज्ञ हूँगी मैं तेरी
　　ऐसा चित्र बना दे तू ।
दुखित हृदय के भाव हमारे
　　उस पर सब दिखला दे तू ॥
प्रभु की निर्दयता, जीवों की
　　कातरता दरसा दे तू ।
मृत्यु-समय के गौरव को भी
　　भलीभाँति झलका दे तू ॥
भाव न बतलाये जाते हैं
　　शब्द न ऐसे पाती हूँ ।
इसीलिए हे कुशल चितेरे
　　तुझको विनय सुनाती हूँ ॥
देख, सम्हलकर, खूब सम्हलकर,
　　ऐसा चित्र बनाना तू ।
सुन्दर इठलाती सरिता पर
　　मन्दिर-घाट दिखाना तू ॥
वहीं पास के पुल से बढ़ कर
　　धारा तेज बहाना तू ।
चट्टानों से टकरा कर फिर
　　भारी भँवर घुमाना तू ॥
उसी भँवर के निकट किनारे
　　युवक खेलते हों दो चार ।
हँसते और हँसाते होवें
　　निज चञ्चलता के अनुसार ॥
किन्तु हाय ! धारा में गिर कर
　　तीन युवक बह जाते हों ।
थके हुए फिर किसी शिला से
　　टकरा कर रुक जाते हों ॥
उनके मुख पर बच जाने का
　　कुछ सन्तोष दिखा देना ।
किन्तु साथ ही घबराहट में
　　उत्कण्ठा झलका देना ॥
गहरी धारा में नीचे अब
　　एक दृश्य यह दिखलाना ।
रो रो उसे बहा मत देना
　　देख, सम्हलकर रुक जाना ॥
धारा में सुन्दर बलिष्ठ तन
　　युवक एक दिखलाना हो ।
क्रूर शिलाओं में फँसकर
　　जो तड़फ तड़फ रह जाता हो ॥
तो भी मन्द हँसी की रेखा
　　उसके मुख पर दिखलाना ।
नहीं मौत से डरता था वह
　　हँस सकता था, बतलाना ॥
किन्तु साथ ही धीरे धीरे
　　बेसुध होता जाता हो ।
क्षण क्षण में सर्वस्व दीन का
　　मानो लुटता जाता हो ॥
ऊपर आसमान में धुँधला
　　कुछ प्रकाश दिखला देना ।
एक ओर श्यामा तरुणी का
　　सुन्दर रूप बना देना ॥
बिखरे बाल विरस वदना कुछ
　　व्याकुल सी दिखलाती हो ।
गोदी में दुध मुँही बालिका-
　　लिए वहाँ पर आती हो ॥
आशा भरी दृष्टि से प्रभु की
　　ओर देखती जाती हो ।
दुखिया का सर्वस्व न लुटने
　　पावे,—यही मनाती हो ॥
इसके बाद चितेरे जो तू
　　चाहे वही बना देना ।
अपनी ही इच्छा से अन्तिम
　　दृश्य यहाँ दिखला देना ॥
चाहे तो प्रभु के चेहरे पर
　　करुणा-भाव दिखाना तू ।
अथवा मंद हँसी की रेखा
　　या निर्लज्ज बनाना तू ॥

निद्रारोग।

(लेखक—डाक्टर प्रसादीलाल झा, एल. एम. एण्ड एस.)

पेंचकृमि या पेंच की आकृति वाले कृमि, जिन्हें आजकल यूरोप वाले लैटिन भाषा में "ट्राइपैनोसोम" कहते हैं, निद्रारोग के मुख्य कारण माने जाते हैं। यह रोग मनुष्यों, घोड़ों तथा अन्य चौपायों को हुआ करता है। हिन्दुस्थान के शिक्षित समाज को इसका परिचय अब अवश्य ही रहना चाहिए, क्योंकि वे लोग अब आफ्रिका से अधिक व्यवहार आरंभ कर रहे हैं। यह रोग आफ्रिका के किसी किसी प्रान्त में जूड़ी बुखार (मलेरिया) की तरह प्रचलित है। इसके पेंचकृमि को अंग्रेज लोग "ट्राइपैनोसोम गैम्बियन्सी" कहते हैं। इस कृमि का दूसरा भेद जो ब्रेजिल के मनुष्य-रोगियों में देखा गया है "ट्राइपैनोसोम क्रूज़ाई" कहलाता है। ये कृमि रुधिर में पेंच की तरह घूमते हुए धीरे चलते हैं और इतने सूक्ष्म होते हैं कि अणुवीक्षण यंत्र के बिना नहीं दिखाई पड़ते।

इसके हेतु।

इस रोग का मुख्य कारण कृमि माना गया है, किन्तु आफ्रिका के पश्चिमी भाग के किनारों पर सेनिगाल और लोआन्दा नदियों के मध्य वाले देशों में से होता हुआ, हजारों मील तक भीतरी देशों में भी वह बहुत दिनों से देखा जा रहा है। हाल में उगंडा और अन्य प्रान्तों में भी वह पाया गया है; किन्तु पिछले हिस्सों में इस रोग के रोगी के मिलने पर यह समझना चाहिए कि वह पहिले आफ्रिका में रह चुका है। अब तक यह रोग वहाँ के बसने वालों (Negroes) के अतिरिक्त औरों में कम देखने में आया है। यह तरुण वृद्ध सभी अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों को होता है। बहुत वृद्ध और कुमार अवस्था में यह कदाचित् कम होता है। मलेरिया ज्वर के सदृश यह भी एक रोगी से दूसरे नीरोग पुरुष में एक प्रकार की विषैली मक्खी के द्वारा फैलता है।

इसके लक्षण, चिह्न आदि।

इस रोग के कृमि कभी कभी रुधिर में बहुत काल तक रहने पर भी कुछ कष्ट नहीं देते और न कोई रोग प्रगट करते हैं। कभी कभी वे स्वयं मर भी जाते हैं। इस रोग में, प्रारंभ में, कुछ घंटों या दिनों तक ज्वर आया करता है। इस ज्वर के उतर जाने पर फिर ज्वर आता है। इन दोनों ज्वरों में प्रायः एक से चार सप्ताह तक का अन्तर हुआ करता है। इस काल में नाड़ी और श्वास की गति तीव्र रहती है। सुस्ती और कमजोरी मालूम होती है। कलाई, केहुनी और घुटनों में दर्द रहता है। कहीं कहीं त्वचा पर लाल लाल खून झलक आने के दाग पड़ जाते हैं। पैर और मुँह पर कहीं कहीं थोड़े समय तक रहने वाली सूजन भी आ जाती है। तिल्ली और रस-ग्रंथि अथवा गिल्टियाँ भी बढ़ जाती हैं। एक रोगी में ज्वर के बढ़ने के साथ साथ जूड़ी, तीव्र नाड़ी, रुक रुक और जल्दी जल्दी चलते चलते धीरे होकर रुक जाने वाली साँस के पीछे मृत्यु होते देखी गई है।

इस रोग के कृमियों के मस्तिष्क और सुषुम्ना के भीतरी आवरण के मध्य में पहुँचने ही पर मस्तिष्क के विकारों का उदय होता है। इसका पहिला लक्षण झपकी का आना है। यह विकार धीरे धीरे

बढ़ता चला जाता है और फिर गहरी नींद या सुषुप्ति अवस्था में बदल जाता है। अन्त में बेहोशी या मृत्यु-सूचक नींद आ जाती है जिससे रोगी को किसी तरह भी जगाना असंभव होता है। प्रारंभ में रोगी अपना थोड़ा बहुत काम कर सकता है; किन्तु वह सोता हुआ, अशक्त और शिथिल मालूम पड़ता है। चेहरा अचेतन सा मालूम पड़ता है। ऊपर की पलकें नीचे को झुकी पड़ती हैं। नीचे के ओंठ इतने लटक जाते हैं कि दाँत खुले दिखाई देते हैं। ओंठ सूखते और फट जाते हैं। मुख की आकृति के बदल जाने के पीछे रोगी का मुँह सूजा सा मालूम पड़ता है और उसकी जीभ और हाथ काँपते हैं। एक दो महीने के भीतर कमज़ोरी या शिथिलता बहुत बढ़ जाती है। इस रोग से ग्रसित मनुष्य छड़ी के सहारे भी बड़ी कठिनाई से चल फिर सकता है और नीचे के लटके ओंठों पर से थूक या लार बाहर टपकती रहती है। सायंकाल में शरीर-ताप बढ़ जाता है और नाड़ी की चाल तेज़ हो जाती है। अधिकांश रोगियों में रस-गिल्टियाँ भी बड़ी हो जाती हैं।

अन्त में रोगी सन्नाटे या चुप्पी की दशा में किसी भी ओर करवट लेकर, एक ही स्थिति में, सोता पड़ा रहता है। इस अवस्था के कुछ पूर्व वह मुँह में पहुँचाये गये या पास लाये हुए भोजन को खा-पी लेता है; परन्तु थोड़ी देर में तो यह दशा हो जाती है कि वह मुँह में रखे भोजन को भी न चबा सकता और न खा ही सकता है; अथवा खाते खाते चुप हो जाता है। ऐसे रोगी दूसरों के भोजन कराये बिना स्वयं कुछ नहीं खाते-पीते और यदि उनकी पूरी सम्हाल न की जावे, तो वे भूखों मर जाते हैं। ऐसी गहरी नींद की दशा में रोगी मल-मूत्र अथवा पसीने में ही पड़ा रहता और रातदिन लेटे रहने के कारण उसके शरीर में बहुतेरे घाव हो जाते हैं। कभी कभी हाथ पैर ऐंठने लगते हैं। शरीर बहुत शीघ्र सूख जाता है और दस्त होने लगते हैं। त्वचा रूखी और खुरखुरी हो जाती है और उसपर फोड़े-फुन्सी निकल आती हैं। किसी किसी रोगी में पागलपन (या उन्माद) पैदा हो जाता है। पाँच महीने से पंद्रह महीने तक रोग की अवधि होती है। यह रोग प्रायः असाध्य होता है।

रोग-निर्णय।

इस कार्य में सूक्ष्मदर्शक यंत्र से आजकल बड़ी सहायता मिलती है। इसके कीड़े रुधिर में गिल्टी के रस में मिलते हैं और मस्तिष्कादि के स्नेह-जनक में भी पाये जाते हैं।

रोग की साध्यता।

यह किसी तरह भी संभव नहीं है, किन्तु रोग के स्थान से रोगी को उठा ले जाने से और ठीक ठीक इलाज करते रहने से कभी कभी रोगी अच्छे भी हो जाते हैं।

चिकित्सा।

इसकी अचूक चिकित्सा अभीतक कुछ भी नहीं मिली। आजकल प्रायः संखिया, पारद आदि से बने प्रयोग काम में लाये जाते हैं। वे भी प्रायः त्वचा और मांस में पिचकारी द्वारा भरने से कुछ लाभ करते हैं; किन्तु बहुधा चंगे हुए रोगी भी मर जाते हैं।

मालिक और मज़दूर ।

(लेखक--पं० श्रीकृष्ण मिश्र एम. ए., बी. एल.)

वर्तमान औद्योगिक युग की आयु लगभग डेढ़ सौ वर्ष की है। औद्योगिक क्रान्ति आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का जन्मदाता है। टायनबी ने १७६० ई० को औद्योगिक क्रान्ति की तिथि माना है। इसी समय आर्कराइट, हारग्रीव्स ने सूतकातने के यंत्र बनाए। अन्यान्य वैज्ञानिकों ने उनका पादानुसरण किया। जो पदार्थ मनुष्य के हाथ से प्रस्तुत होते थे वे कलों में बनने लगे। जगह जगह फैक्टरी और पुतलीघर खड़े हो गए। कलों के आविष्कार का परिणाम यह हुआ कि बृहत परिमाणों में माल तय्यार होने लगा। कलों को चलाने के लिए बहुसंख्यक मज़दूरों को एक स्थान में एकत्र होना पड़ा। मालों को खपाने के लिए बाज़ार की ज़रूरत हुई। मनुष्य स्वभाव से आराम पसंद होते हैं। साधारण उपयोग की चीज़ों की माँग बढ़ने लगी; अतएव नये बाज़ारों की सृष्टि हुई। उद्योगियों को बहुत लाभ हुआ। नव औद्योगिक रंगभूमि में वीरों की संख्या बढ़ने लगी। होड़ होने लगा। जो कोई कच्चा माल सस्ता खरीद कर और सस्ता माल तय्यार कर के सस्ता बेंच सकता है होड़ की दौड़ में वही आगे रह सकता है। व्यापार का यह साधारण नियम है। उद्योग का एक सिद्धान्त यह भी है कि जितना अधिक माल तय्यार होगा उतना ही कम खर्च में माल प्रस्तुत होगा। उद्योग का आकार बड़ा हो इस के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता है। इस पूँजी को बढ़ाने के लिए सम्भूय-समुत्थान कम्पनियों का प्रचार हुआ। सम्मिलित पूँजी के साहाय्य से बड़े बड़े उद्योग स्थापित हुए। पूँजीवालों का एक वर्ग बन गया जिसके धन की कोई सीमा नहीं और जो अपने धन की प्रभुता से अंतर्राष्ट्रीय शासन और नीति पर अपना अधिकार जमाये हुए हैं। दूसरी ओर पूँजी का उपयोग करके कच्चे माल से संसार के लिए नाना प्रकार के पदार्थ प्रस्तुत करनेवाले असंख्य श्रमजीवी या मज़दूर हैं। उनको पेट भरने के लिए पसीना बहाना पड़ता है। अपने शारीरिक बल और मेहनत बेंचने के सिवा जीविकोपार्जन का उन्हें और उपाय नहीं। जो जिस उद्योग में हैं उसके सिवा दूसरे उद्योग के विषय में श्रमजीवियों को कुछ ज्ञान और हुनर नहीं। श्रमजीवी या मज़दूर अपने घर में काम नहीं कर सकते, उन्हें मालिक के कारखानों में काम करना पड़ता है। मालिकों की संख्या से मज़दूरों की संख्या बहुत अधिक है।

जब फैक्टरी सिस्टम की नींव नहीं पड़ी थी तब उद्योगियों और श्रमजीवियों में निकट सम्बन्ध था। मालिक अपने मज़दूरों को पहचानता था; क्योंकि उनकी संख्या कम थी और उनके सुख दुःख पर ध्यान रखता था। दोनों में परस्पर सहानुभूति थी। फैक्टरी सिस्टम ने मालिक और मज़दूरों के इस सामाजिक बंधन को तोड़ दिया। सहस्र सहस्र मज़दूरों की देख-रेख करना मालिकों के लिए असम्भव है। मज़दूर भी लोहे की मशीनों की भाँति सजीव मशीन से बन गए। फैक्टरी सिस्टम के प्रारम्भिक काल में इसका भयानक परिणाम हुआ। स्वार्थ और अज्ञान ने मिलकर श्रमजीवियों का जीवन अत्यन्त शोचनीय बना दिया। मालिकों

ने कम मज़दूरी देकर अधिक काम लेना शुरू किया। मज़दूर अठारह अठारह घण्टे काम करने पर बाध्य हुए। स्त्रियाँ सस्ती मज़दूरी के कारण फैक्टरियों में जोती गईं। बच्चे भर्ती हुए। इतना ही नहीं, फैक्टरियों की सफाई अथवा मज़दूरों के स्वास्थ्य-रक्षा की कुछ भी चिन्ता न की गई। मालिकों का ध्यान केवल लाभ पर था। उद्योग की चक्कियों में ग़रीब मज़दूर, असहाय स्त्रियाँ और नन्हें बच्चे पिस रहे थे, उनकी शोचनीय दशा पर उन्हें तरस नहीं आई। तब कुछ परोपकारी महानुभावों का ध्यान अशिक्षित मज़दूरों की दुर्दशा की ओर आकर्षित हुआ। श्रमजीवियों की ओर से आन्दोलन हुआ। कई एक "फैक्टरी ऐक्ट" बने। इन क़ानूनों ने अवश्य मज़दूरों की दशा में कुछ परिवर्त्तन किया। मज़दूरों के काम करने का समय कम कर दिया गया। फैक्टरियों की सफाई और मज़दूरों की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध हुआ।

परन्तु मज़दूरी का रेट उचित रूप से नहीं बढ़ा। उद्योगी लाभ का अधिकांश स्वयं लेकर मज़दूरों को यथा सम्भव कम वेतन देते थे। अर्थशास्त्र का सिद्धांत है कि मज़दूरी मज़दूरों की संख्या (Supply) और उनकी मिहनत की माँग (demand) पर निर्भर है। नियम ठीक है; परंतु कई कारणों से मालिक मज़दूरों को न्यायोचित मज़दूरी से वंचित रखते थे। अब भी श्रमजीवियों को पूरी मज़दूरी नहीं मिलती; किन्तु वर्तमान समय से पहिले की हालत और भी गई बीती थी। मज़दूर अशिक्षित थे। वे उद्योगों के कार्य्य-क्रम से अनभिज्ञ थे। वे अपने काम के ज़िम्मेदार थे। कहाँ से माल आता है, कहाँ जाता है, कितना लाभ होता है इत्यादि विषयों का उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। उन्हें अपना महत्त्व विदित न था। मज़दूरी को वे मालिक की दया समझते थे। दूसरी बात यह थी कि उनका कोई संगठन न था। संघ शक्ति का अभाव था। प्रत्येक श्रमजीवी अपना काम और अपनी मज़दूरी स्वयं मालिक से तय कर लेता था। मालिक, धनिक और प्रभुताशाली होते हैं; परन्तु मज़दूर ग़रीब और कमज़ोर। इन दोनोंके ठेके में मज़दूर के स्वत्व की रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। मज़दूरों के पास पूँजी नहीं, संचित धन नहीं। अच्छी मज़दूरी की आशा से बिना काम के वे बेकार नहीं बैठ सकते। बेकार बैठें तो भूखों मरना पड़े। इन कारणों से मज़दूरों को अपने स्वत्वों के उपयोग करने का अवसर और सामर्थ्य नहीं था। फल यह हुआ कि पूँजीवालों की प्रभुता बढ़ती गई। श्रमजीवी किसी प्रकार जीविकोपार्जन करने लगे।

अज्ञान और अन्याय का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। १८३२ ई० के उपरांत वोटरों अर्थात् प्रतिनिधि चुननेवाले मतदाताओं की संख्या इंगलैंड में बढ़ गई। जनता को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। साथ साथ शिक्षा की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। जन समुदाय अपने स्वत्वों को पहिचानने लगा। जागृति का युग आया। यूरोप में कार्लमार्क्स, सेंटसाइमन, इत्यादि विद्वानोंने समाजवाद का झंडा खड़ा किया। पूँजी और मज़दूरी की दशाओं में जो आकाश-पाताल का अंतर था उसका विशद चित्र खींचकर श्रमजीवियों के अधिकारों की घोषणा की गई। मज़दूर जग उठे। संसार ने उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की।

जब श्रमजीवियों को आत्मज्ञान हुआ तब वे अपनी कमज़ोरियों को दूर करने की चेष्टा करने

लगे। व्यवसाय-संघ स्थापित हुए। मज़दूर एक हुए। ऐक्य से उनकी शक्ति बढ़ी। व्यवसाय-संघों के द्वारा उनका काम और उनका वेतन ठीक होने लगा। व्यवसाय-संघ श्रमजीवियों के रक्षक हुए। वे धन से और अपने कुल अस्त्र-शस्त्रों से उनकी सहायता करने लगे। मज़दूरों ने अपना छापाखाना स्थापित किया। उन लोगों के पक्ष में अनुकूल व्याख्यान भी होने लगे। उनका स्वर ऊँचा हुआ। पूँजीवाले मालिकों ने उनकी उन्नति के पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ खड़ी कीं; परन्तु औद्योगिक प्रजातंत्र की बाढ़ को रोकने में वे समर्थ न हुए।

रूढ़ि का प्रभाव सहज में दूर नहीं होता। विशेष करके यदि उसकी स्थितिके साथ शक्तिशाली जनसमुदाय का स्वार्थ संगठन रहे तो वह जनसमुदाय उसकी रक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। मज़दूरों की जागृति से पूँजीवालों को मनमाना करने में बाधा पहुँची। अभी-तक पूँजीवाले मज़दूरों की आमदनी को निगला करते थे; अब मज़दूर उसके हकदार होते हैं। कम काम और अधिक वेतन की आवाज़ औद्योगिक आकाश में गूँज रही है। मज़दूर अपने को कमज़ोर अशक्त दास नहीं समझते, बल्कि उद्योग-राज्य के समान अधिकारी और प्रधान स्तम्भ समझते हैं। मज़दूरों के उत्साह और मालिकों की हिचकिचाहट के कारण इन दोनों महान वर्गों में खींचातानी और मुठभेड़ हुआ करती है जिससे वर्तमान आर्थिक समाज को भारी हानी पहुँचती है। पूँजी और मिहनत की पारस्परिक ईर्ष्या और कलह सभ्य समाज की पुरानी बीमारी हो गई है। हड़ताल ने स्थायी स्वरूप धारण किया है और संक्रामक रोग की असीम वृद्धि के साथ मज़दूरों का साहस भी खूब बढ़ा हुआ है। राष्ट्रीयता की सीमा का अतिक्रमण करके श्रमजीवियों के संगठन ने अन्तर्जातीय आकार धारण किया है। कई देशों में मालिकों के अत्याचार ने मज़दूरों को ऐसे उपायों और ऐसी संस्थाओं को स्थापित करने पर बाध्य किया है जिनसे सभ्यता की जड़ हिल गई है। बोलशेविज़्म और कुछ नहीं, समाजवाद का ही उच्चतम शिखर है।

संसार के कल्याण के लिए मालिक और मज़दूरों में मेल होना परमावश्यक है। समाज के दो विशाल समुदायों में अनबन रहना लाभकारी नहीं हो सकता। जिस तरह शरीर के विविध अंगों में सहानुभूति और सुशृंखला न रहने से शरीर की रक्षा नहीं हो सकती, उसी तरह उद्योगों के अभ्युदय में मालिकों और मज़दूरों का परस्पर विरुद्ध सम्बन्ध बाधक है। धनोत्पादन के लिए दोनों वर्गों की अनिवार्य आवश्यकता है। एकके बिना दूसरेका काम नहीं चल सकता। मालिकों को समझना चाहिए कि मज़दूर यंत्र नहीं—जानदार मनुष्य हैं। स्वतंत्रता, समानता, और भ्रातृत्व के युग में किसी स्वत्व का अपहरण होना संसार सह नहीं सकता। अर्थ-सिद्धान्त के प्रमाणित नियमों के अनुसार और व्यवसाय तथा समय के अनुकूल वेतन से मज़दूरों को वंचित रखना अन्याय है और उसे, जहाँतक सम्भव हो, दूर करना चाहिए।

मालिक और मज़दूरों में मेल बनाये रखने के अनेक उपाय हैं। उनके उल्लेख मात्र से लेख का विस्तार बहुत बढ़ जायेगा। ध्यान रखना चाहिए कि मज़दूरों का बल दिनोंदिन बढ़ेगा। शिक्षा और धन के समुचित विस्तार के कारण जनता के रहन-

सहन का क्रम उन्नत होगा। सौंदर्य्य और उच्चादर्शों की भक्ति बढ़ रही है और बढ़ेगी। आर्थिक समाज के संगठन में ऐसा परिवर्तन होगा और शासन-नीति ऐसी संस्थाओं की स्थापना करेगी जिसमें राजनैतिक समानता के साथ साथ आर्थिक समानता भी सम्भव होगी। आर्थिक समानता के कारण रूस की भाँति समस्त संसार में आर्थिक और सामाजिक अराजकता की आग सुलगकर पश्चिमी सभ्यता को भस्म न कर डाले इसके लिए पूँजी वालों को कृपणता त्याग कर विवेक से काम लेना चाहिए। और विवेक यही कहता है कि न्याय की गर्दन पर छुरी न चलाओ। जिसके हिस्से में जो कुछ है उसे वह चीज दे डालो।

चेतावनी।

(लेखक—पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, साहित्यरत्न)

चौपदे

आ रही हैं जम्हाइयाँ यों क्यों।
काम क्यों चोर की तरह न करें।
है उबरने अगर उबर लेवें।
साँस हम ऊब ऊब कर न भरें ॥१॥

और बातें भूल दें तो भूल दें।
चोट जी की किस तरह है भूलती।
हैं बरसते फूल मौसिम में नहीं।
फिर हमारी साँस क्यों है फूलती ॥२॥

मर मिटें पर काम से मोड़ें न मुँह।
आ बने जी पर मगर सच्ची कहें।
साँसतें सह छोड़ दें साहस नहीं।
साँस रहते तक उबरते हम रहें ॥३॥

और सब जो खोगया तो खोगया।
पर कभी हिम्मत न खोनी चाहिए।
नास हो तो हो निरास कभी न हो।
साँस होते, आस होनी चाहिए ॥४॥

खुल कहें और बार बार कहें।
बात वाजिब सदा कही जावे।
बन्द तब तक न मुँह करें अपना।
साँस जब तक न बन्द हो जावे ॥५॥

जान ही जब नहीं किसी में है।
तब भला मान क्यों रहे मन में।
किस तरह साँस ले भला कोई।
साँस ही जब रही नहीं तन में ॥६॥

हो भला जिससे वही जी से करें।
पीटते हैं हम पुरानी लीक क्या।
साँस क्यों ले जाति हित करते चलें।
साँस आई या न आई ठीक क्या ॥ ७ ॥

सब तरह से न जायँ जुट जबतक।
जीत तब तक न हाथ आती है।
आस कैसे न टूट जाती तब।
साँस जब टूट टूट जाती है ॥ ८ ॥

कर्म और ज्ञान।

(ले०—पं० माधवलाल शर्म्मा)

जो पुरुष कर्म करके उनके परिणाम के अनुभव से ऐसा सिद्ध कर दिखाता है कि मनुष्य का समग्र जीवन उसके मन से ही उत्पन्न होता है और जब कि मन आदतों का एक समुदाय है, तो वह मन की आदतों को धैर्य्यतापूर्वक अभ्यास करके इच्छानुसार सुधा-

फिरा और सुधार सकता है, और ऐसा करके वह अपने मन पर पूर्ण अधिकार जमा सकता है, तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य को मुक्ति के द्वार की कुंजी प्राप्त हो गई है।

जिसे जीवन के पापों अर्थात् दुःखों से मुक्त होना हो उसे आंतरिक शुद्ध क्रियाओं की निरन्तर वृद्धि करते रहना चाहिए। यह मुक्ति तुरंत बाहर से मिलने वाली वस्तु नहीं है। इसको प्राप्त करने के लिए मन में प्रत्येक क्षण निष्कलंक और सद्विचार उत्पन्न करने की आदत डालनी चाहिए, और जब मन दुष्कर्म, क्रोध अथवा किसी दूसरे पाप में फँस जाता हो, तो उस समय अपने मन की प्रवृत्ति को बदल कर उसे अच्छे मार्ग पर लेजाने तथा उन पापों से अपने मन को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह कि मन को प्रमादरूपी अग्नि से बचाना चाहिए।

शिल्पकार को एक मूर्ति बनाने के लिए बेडौल पत्थर को अपने औजारों से धैर्य्य और शांति पूर्वक गढ़ना पड़ता है। वह अपने प्रशंसनीय उद्योग द्वारा उस बेडौल पत्थर को एक अच्छी भाव-पूर्ण मूर्ति के रूप में परिणत करता है। जिस प्रकार वह बेडौल पत्थर अविराम प्रयत्न से पहिले साफ किया जाता है और फिर इच्छित रूप में लाया जाता है, उसी प्रकार सज्जीवन के चाहने वाले पुरुष को सबसे पहले अपने अशिक्षित और अस्थिर मन को, धैर्य्य धारण करते हुए, सद्विचार रूपी औजारों द्वारा गढ़कर संस्कृत करना चाहिए। यदि मन निर्मल और शुद्ध हुआ, तो कार्य्य भी शुद्ध और अच्छे होते हैं। निरंतर सुकर्म्म करते रहने से ही सज्जीवन प्राप्त होता है।

सज्जीवन प्राप्त करने के लिए पहिले पहिल छोटे छोटे और सरल सुकार्य्य करना आरम्भ करना चाहिए। पश्चात् बड़े और कठिन सुकार्य्यों को आचरित कर सिद्ध करने की आवश्यकता है। कुदाली को एक बार जमीन पर मारने से कुछ कुआ नहीं खुद जाता और न केवल एक ग्रास से ही पेट भरता है। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य्य के करने में निरन्तर आगे बढ़ते चले जाने से सिद्धि प्राप्त होती है। आरम्भ, वृद्धि, विस्तार और पूर्णता के क्रम से कार्य्य करना चाहिए, अर्थात् आरम्भ करने के पश्चात् धैर्य्यतापूर्वक उस कार्य्य को पूर्ण होने तक करते चले जाने का नियम रखना नितांत आवश्यक है। जीवन के प्रत्येक कार्य्य को इस रीति के अनुसार करने से अंत में ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से कर्म्म और कर्म्म से फिर विज्ञान की उत्पत्ति होती है। कर्म्म बिना सत्कर्म्म नहीं हो सकते।

कर्म्म करने से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनसे अनुभव की वृद्धि होती है और अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्त होने से प्रथम किया हुआ कर्म्म यदि अच्छे परिणाम वाला होता है, तो वह कार्य्य फिर से किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान और कर्म्म दोनों में कर्म्म मुख्य है। इसी कारण श्री गीता में कर्म्मयोग का महत्व सिद्ध कर उसका साधन करने के लिए अधिक आग्रह किया गया है और यह स्पष्ट कहा गया है कि सन्यास से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। देखिए, जीवन-मुक्त विदेह जनक, विश्वामित्र, नारद, महा-

वीर, व्यास प्रभृति महात्माओं ने कर्म्म करके ही उच्च पदवी प्राप्त की है। इसकी साक्षी स्वयं भगवान् श्री कृष्ण इस प्रकार देते हैं:—

'कर्मणैवहि संसिद्धि मास्थिता जनकादय:।
लोक संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥'

जीवन के प्रत्येक कार्य्य में यह नियम अक्षरशः लागू है और जिस कर्म्म की इस नियम के विपरीत वृत्ति रहती है, उस कर्म्म का फल असिद्धि और नाना प्रकार के दुःख हैं। किन्तु शोक और आश्चर्य की बात है कि विद्या, हुनर या कला सीखने में अथवा व्यापार करने में, या दुनियाँ के दूसरे सब कार्य्यों के करने में इस नियम का थोड़ा बहुत पालन किया जाता है; परन्तु आत्मविद्या वा सत्य का अध्ययन करने में जीवन को सदाचारी बनाने में, ऐसे ही उच्च और श्रेयस्कर विषयों का अभ्यास करने में अथवा उन्हें कार्य्यरूप में परिणत करने में यह नियम नहीं पाला जाता—प्रायः सभी उसका उल्लंघन करते हैं। प्रेम और बुद्धि का जितना उपयोग इन सांसारिक कार्य्यों में किया जाता है, उतना आध्यात्मिक विषयों में नहीं किया जाता। आजकल लोग आध्यात्मिक सुख की अपेक्षा सांसारिक सुख को उत्तम समझते और पसन्द करते हैं। इस मान्यता का कारण उनकी अज्ञान अवस्था है। इसी विपरीत मार्ग का अनुसरण करने से ही नीति, सत्य और उच्च एवं पवित्र जीवन को देश निकाले की सजा हुई है। कोई भी उसका सत्कार नहीं करता। यही कारण है कि उसका कोई अभ्यास नहीं करता और न उसे पहिचानने का कष्ट ही उठाता है।

शारीरिक और सांसारिक सुख के मोह में फँसकर पामर मनुष्य आत्मिक सुख की परवा नहीं करता। सच पूछिए तो सच्चा सुख आत्मा का ही है, शरीर का नहीं। आत्मा का सुख ही स्वर्ग है और शरीर का नर्क। इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीर का सुख हम एक दम त्याग दें और त्यागी बन और शरीर को कष्ट दे आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने में लग जावें। यद्यपि यह सत्य है कि जब तक हम इस संसार में अपना जीवन व्यतीत करते हैं तब तक उसे उत्तम रीति से निर्वाह करने के लिए हमें सांसारिक प्रपंच-शास्त्र में पटु होना चाहिए; परन्तु यदि मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त कर अपने जीवन के कार्य्य करेगा, तो वह निस्सन्देह प्रत्येक कार्य्य को द्विगुणित वेग, उत्साह और शक्ति से कर सकेगा। सफलता देवी स्वयं आकर उसे आशीर्वाद देगी। सारांश यह है कि इस संसार में जीवन व्यतीत करने के लिए उच्च से उच्च सांसारिक सुख प्राप्त करने की आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह संसार में यथाशक्ति उन्नत और समृद्धिशाली होवे। ऐसा करने के लिए अनेक मनुष्य अनीति का व्यवहार करते हैं। कभी कभी उनकी अनीति सफल हो जाती है; परन्तु अंत में उनका पराजय ही होता है। अतएव सच्चा सांसारिक सुख इसी मार्ग पर चलने से प्राप्त होता है। इस मार्ग पर चलने से मनुष्य में आत्मिक और मानसिक बल आजाता है जिसके कारण शारीरिक बल पहिले से कई गुना अधिक शक्ति शाली हो जाता है। जब कर्तृत्व-शक्ति इतनी बढ़ जाती है, तब कार्य्य भी पहिले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह होता है। परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य कई गुना

अधिक सुख प्राप्त करता है और यह सिद्ध ही है कि उसी मनुष्य का जीवन आदर्श कहा जा सकता है जिसे सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों सुख प्राप्त होते हों। सांसारिक सुख और आध्यात्मिक सुख पृथक् पृथक् नहीं हैं। सांसारिक सुख का मूल आध्यात्मिक सुख में समाया हुआ है। अतएव आध्यात्मिक ज्ञान की सहायता से सांसारिक सुख प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। सुख की सार्थकता आत्मिक एवं सांसारिक दोनों सुख प्राप्त करने से हो सकती है।

वर्तमान समयानुसार धर्म्म पुस्तकों को केवल पढ़ जाने से, वेदांत या विज्ञान शास्त्र की कल्पनाओं को अनुभव किये बिना स्वीकार करने से, या उन पर श्रद्धा रखने से, अथवा जप–तप, पूजा–पाठ, दान–पुण्य, देवदर्शन, इत्यादि नित्य–कर्म्म करते रहने से यदि कोई समझता हो कि जीवन उच्च होता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है, आध्यात्मिक सिद्धांत वा नियम समझ में आ सकते हैं, मुक्ति प्राप्त हो सकती है, तो उसका ऐसा मान लेना बिलकुल मिथ्या है। ऐसा करने से वेदांत शास्त्र के सिद्धांत और नियम समझ में नहीं आते हैं और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। उच्च विमल विचार और कर्म्मशील जीवन ही आदर्श स्वर्ग-तुल्य है और आध्यात्मिक नियमों वा सिद्धान्तों का वह ज्ञान जो मनुष्य मात्र में अन्तस्थ रहता है, सदाचरणों का बहुत दिनों तक अभ्यास करने और कृति में लाने से ही प्राप्त होता है।

जिस प्रकार किसी भाषा की कोई पुस्तक पढ़ने के पहले उस भाषाके मूलाक्षर तथा उसकी किसी सरल पुस्तक का ज्ञान चाहिए उसी प्रकार सरल वस्तुओं का ज्ञान दुर्बोध ज्ञान की प्राप्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। जिस भाँति मूलाक्षर और शब्द शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर किसी भाषा की पुस्तकें सदैव पढ़ते रहने से उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है वैसे ही किसी विषय को अच्छी तरह समझ कर उसका सदैव अभ्यास करने से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। किसी भाषाके पढ़ने से जो लाभ होते हैं, उनका अनुभव प्राप्त होने के पश्चात् ही उस भाषा का सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतएव किसी कार्य्य या कर्म्म का वास्तविक ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता है, जब तक उसके फल का अनुभव न हो जावे। अनुभव की अनुपस्थिति में ज्ञान की उपस्थिति होना शक्य नहीं है और न कार्य्य और कर्म्म के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा अनुभव का प्राप्त होना ही शक्य है।

जब कोई बालक शिल्प शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना आरम्भ करता है, तब उसके हाथ में साधारण और सामान्य औज़ार दिये जाते हैं और उसे इन औज़ारों द्वारा कार्य्य करना सिखाया जाता है। उस समय उसे इस शास्त्र के गहन सिद्धांतों की शिक्षा नहीं दी जाती। उसे तो सब ज्ञान प्राकृतिक पद्धति के अनुसार दिया जाता है। जैसे जैसे वह औज़ारों के प्रयोग में कुशलता प्राप्त करता जाता है, वैसे वैसे वह उस शास्त्र के कठिन सिद्धांतों को समझने के योग्य होता जाता है और अन्त में सब बातों में इतना दक्ष हो जाता है कि फिर सिद्धांतों को कभी नहीं भूलता। प्रत्येक शास्त्र का ज्ञान इसी तरह प्राप्त किया जाता है और इसी प्रकार किया भी जाना चाहिए।

सुव्यवस्थित घर में बालक को पहिले आज्ञा-कारी होना और प्रत्येक दैनिक कार्य्य को अच्छी

तरह करना सिखाया जाता है। उस समय उसे यह कोई नहीं सिखाता कि इनके पालन की आवश्यकता क्यों है, अथवा किन सिद्धांतों के अनुसार ये सद्गुण कहे जाते हैं। जब वह गुणों के लाभ और महत्व का अनुभव कर लेता है और उन गुणों से अपने आचरण को विभूषित कर लेता है, तब नैतिक शिक्षा की आवश्यकता आप ही आप उसकी समझ में आजाती है और यही समय है जब कि उसे नैतिक शिक्षा के सिद्धांतों की शिक्षा देना योग्य है। कोई भी पिता इतना मूर्ख न होगा, जो इस प्रणाली के अनुसार कार्य्य करना न सिखाकर अपने छोटे से बालक को नैतिक या वेदांत के गहन सिद्धांतों की शिक्षा देना आरम्भ कर देगा। ऐसा पिता अपने कार्य्य में कभी कृतकृत्य नहीं हो सकता।

अतएव, किसी शास्त्र के सिद्धांतों के ज्ञान के पूर्व उस शास्त्र का प्रयोज्य ज्ञान और अभ्यास उपस्थित होते हैं। यह नियम संसार की सब बातों के लिए अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार यह आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में भी सत्य है। अतः आध्यात्मिक उन्नति के लिए इस नियम को मानना नितांत आवश्यक है। सदाचार, सत्य, इत्यादि सब गुणों का वास्तविक ज्ञान उनको कृति में लाने से ही हो सकता है। उनके अभ्यास की जितनी पूर्णता होती है, उतनी ही उनके ज्ञान की परिपक्वता होती जाती है। ज्ञान और आचार—कर्म्म—में अत्यन्त घना सम्बन्ध है। एककी स्थिति के बिना दूसरे की स्थिति हो ही नहीं सकती। इस से यह सिद्धांत स्थिर होता है कि ज्ञान की अभिलाषा रखने वाले को कर्म्म अवश्य करना चाहिए।

कितने ही वेदांती इस संसार को असार एवं असत्य मानकर अकर्म्मण्यता का प्रतिपादन करते हुए आचरण करते हैं और दूसरों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा देते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। अर्धदग्ध ज्ञानियों के ही ऐसे सिद्धांत हो सकते हैं और भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति के कारण भी ये ही कहे जा सकते हैं; किन्तु, यथार्थ में कर्म्म तो इन्हें भी करने पड़ते हैं। इसी कारण गीता आदि सब धर्म्म शास्त्रों में कर्म्म का महत्व सबसे अधिक माना गया है। सांसारिक उन्नति को ही केवल एक मात्र ध्येय समझ कर नीति अनीति का बिना विचार किये कार्य्य करने से जो परिणाम होते हैं, वे यूरोपीय महायुद्ध ने अच्छी तरह से प्रकट कर दिये हैं। अतएव प्रत्येक कार्य्य केवल कायिक लाभ के लक्ष्य से ही नहीं, प्रत्युत ज्ञान और उन्नत अवस्था प्राप्त करने की इच्छा से ही किया जाना चाहिए। इन्हें प्राप्त करने के लिए कर्म्म करने की नितांत आवश्यकता है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान आवश्यक है और सांसारिक एवं पारलौकिक मोक्ष प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कर्तव्य होना चाहिए। उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ है जिसे सांसारिक एवं पारलौकिक मोक्ष का महत्व विदित नहीं है और जो उसे प्राप्त करने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न नहीं करता।

सत्य, परोपकार, सहनशीलता, इत्यादि सदाचारों के ज्ञान की प्राप्ति आप ही आप नहीं हो सकती। इनके ज्ञान की प्राप्ति नैतिक शिक्षा के सरलतम पाठ से आरम्भ कर कठिनतम पाठ तक धीरे धीरे अभ्यास करने और कृति में लाने से

होती है। ऐसा करने के लिए अपने मन और इंद्रियों को अभ्यस्त बनाना चाहिए जिससे सदाचार स्वभाव-सिद्ध हो जावे।

बालक जब शाला को भेजा जाता है, तब पहिले पहिल उसे अत्यन्त सरल बातें सिखाई जाती हैं, फिर क्रमशः कठिन। वह सतत परिश्रम के साथ धैर्य्यवान, सहनशीलता, आज्ञाकारी और श्रद्धालु बनकर इनका अभ्यास करता है। उसके अभ्यास में अनेक बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। अनेकबार वह पढ़े और याद किये हुए पाठों को भूल जाता है। जब उसे विदित होता है, तब उसे खेद अवश्य होता है, परन्तु यदि वह शोक करता हुआ बैठा रहे अथवा उस शोक से पराजित हो पढ़ना छोड़ दे, तो अवश्य असफलता के कलङ्क से वह कलङ्कित होगा। किन्तु कर्तव्यपरायण विद्यार्थी ऐसा नहीं करता। वह अपने कार्य्य में दत्तचित्त रहता है और जब तक उसे अपना पाठ अच्छी तरह याद नहीं होता, तब तक वह उससे विमुख नहीं होता। इस दृष्टांत से सत्य, सहनशीलता, इत्यादि सदाचरणों के अभ्यासी को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ज्यों ज्यों वह उनका अभ्यास करता हुआ चला जायगा, त्यों त्यों उसे नाना प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। यही उसकी परीक्षा का समय है। इस युद्ध में विजयी अथवा पराजित होने पर उसकी सफलता और विफलता अवलम्बित है। राजर्षि भर्तृहरि ने ठीकही कहा है:—

> प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
> प्रारभ्य विघ्न विहिता विरमन्ति मध्याः।
> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रति हन्यमानाः
> प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

राजर्षि ने मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। नीच वे हैं जो विघ्नों के भय से कोई कार्य्य आरम्भ ही नहीं करते; मध्यम वे हैं जो कार्य्य आरम्भ करते हैं, किन्तु कार्य्य करने में अनेक बाधाएँ आ पड़ने पर उसे अधूरा ही छोड़ देते हैं; उत्तम पुरुष वे हैं जो विघ्नों और कष्टों को उठाकर अपना आरम्भ किया हुआ कार्य्य पूरा करते हैं। यह हम पर अवलम्बित है कि हम अपने को इन तीन श्रेणियों में से जिसमें चाहें, रखें। हमें निराशा, विपत्तियाँ आदि से परास्त न होकर धैर्य्य और उत्साहरूपी शस्त्रों की सहायता से इनका विनाश करना चाहिए और फिर अपने मन, वाणी और कर्म्म को शुद्ध करना चाहिए। इस प्रकार जैसे जैसे इन कार्य्यों के सम्पादन करने का स्वभाव दृढ़ होता जावेगा, वैसे वैसे ज्ञान की प्राप्ति होने से भय, दुःख और सब प्रकार की अनिष्ट, अप्रिय एवं अवाञ्छनीय बातें आप ही आप नष्ट होती जावेंगी और तब हमें मोक्ष का मार्ग प्राप्त कर लेना कठिन न होगा।

ज्ञान प्राप्त करने की इस प्रणाली द्वारा ही प्रत्येक प्रकार का सुख और शांति प्राप्त हो सकती है। श्रीगीता में इसी को ज्ञान-योग अथवा बुद्धि-योग कहा है। इसी प्रकार का अभ्यास निरन्तर करते रहने को ही योग कहते हैं। जो कोई सब सिद्धियों के देने वाले इस महायन्त्र का अभ्यास तथा मनन नहीं करता वह मनुष्य होकर भी पशुवत आचरण करता है। उसे न तो इहलौकिक सुख मिल सकता है और न पारलौकिक सुख की उसे आशा ही करनी चाहिए। अतएव सुख, शांति और स्वतंत्रता के अभिलाषी को इस मार्ग पर अवश्य चलना चाहिए।

मकड़ी।

(लेखक—पण्डित [illegible])

मकड़ी सर्वप्रिय जीव नहीं है। यदि कोई आठ या दस लम्बी मकड़ी अचानक दीख पड़ती है, तो लोग भयभीत हो जाते हैं; पर इस जाति के सब [illegible] नहीं पहुँचाती। यह जीव बड़ा परिश्रमी और बुद्धिमान होता है; पर इसमें क्रोध की मात्रा भी कम नहीं रहती। थोड़ी सी [illegible] लड़ बैठता है और सर्प की तरह, दाँतों के द्वारा अपना विष अपने प्रतिस्पर्धी के शरीर में छोड़ देता है। यदि अपनी जाति के किसी [illegible] से लड़ पड़े, तो वह उसे खा लेता है।

मकड़ी के जाल पर ओस की बूँदें जमा होती हैं, तब वह बहुत ही सुन्दर दिखाई देता है। पर इन बूँदों को देखकर कोई मकड़ी [illegible] अर्थात् उसे परिश्रम [illegible] है। इसलिए पहिले [illegible] से, सोकर उठने पर, मकड़ी अपने जाले के पास में जा पहुँचती है और एक एक झटके से इन बूँदों को गिराकर अपने आस-स्थान की ओर जाती और भोजन की आशा से भयरहित हो बैठ रहती है। यह बहुत शीघ्र जाल बुनती है। [illegible] खुलने के पहिले ही [illegible] के लिए उसको जाले सुधार लेती है। कोई कोई मकड़ियाँ [illegible] अपना जाल सुधार लेती हैं जिससे [illegible] दिन भर एकदम शिकार मिल जाय।

नर मकड़ी मादा से छोटी, लम्बी और पतली होती है और अपनी मादा पर [illegible] है। वह मादा के जाल के आसपास [illegible] लगाया करता है और बड़ी नम्रता के साथ [illegible] के बाहरी भाग को कभी कभी [illegible] करता है मानो कोई दरबारी [illegible] हो। इस पर यदि श्रीमती जी [illegible] पड़ीं, तो नर महाशय को उनके पास जाने का साहस होता है और यदि वे श्रीमान की ओर दौड़ीं, तो फिर उन्हें अपने प्राण लेकर भागना ही पड़ता है; क्योंकि यदि वे न भागें, तो उन्हें तुरन्त ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़े।

यदि मादा दुष्ट न हुई, तो नर उसके जाल के पास जाल बना लेता है; पर उसीके जाल में रहने का दुस्साहस कभी नहीं कर सकता। यहाँ से वह कभी कभी मादा से भेंट कर लिया करता है। इस भेंट के समय भी यदि श्रीमती कुपित हो गईं, तो फिर श्रीमान की खैर नहीं। परन्तु सब मादा मकड़ियाँ ऐसी नहीं होतीं।

विचित्रता यह है कि पति की ओर ऐसी क्रूर होते हुए भी मकड़ियाँ अपनी संतति की ओर बड़ी दयालु रहती हैं। ये अपने अंडों-बच्चों को आने वाली आपत्तियों से बहुत बचाती हैं। ककून बनाने के लिए अपने अंडों पर रेशम की वर्षा सी करती है और फिर उसे पैरों से दबाकर उसके आस-पास रेशम के धागे पूर देती है। इस ककून के द्वारा शीत वायु और वर्षा से अंडों की रक्षा होती है।

कुछ समय के पहिले फ्रांस में मकड़ी के ककून के रेशम का उपयोग साधारण रेशम के स्थान करने का उद्योग किया गया था। उसके कुछ मोजे बनाये भी गये थे। यद्यपि वे देखने में बड़े सुन्दर थे, तथापि इतने नाजुक थे कि पहने ही न जा सकते थे। साथ ही यह भी कठिनाई थी कि आध सेर रेशम के लिए सात हज़ार मकड़ियाँ पालनी पड़ती थीं। मकड़ी-दम्पती के परस्पर वैमनस्य के विषय में लिखा ही जा चुका है, फिर जहाँ सात सहस्र इकट्ठी हों वहाँ का क्या कहना।

कोई कोई मकड़ियाँ अपने अंडों के लिए एक पत्ते के नीचे पालना बना देती हैं। वह पत्ता [illegible] और वर्षा से पालने की रक्षा करता है। कोई कोई बेढंगा ककून बनाती हैं और कोई उसे [illegible] में सजाती हैं। एक प्रकार की मकड़ी पहले जापानी लालटेन के रूप का ककून बनाकर उसे मिट्टी से लपेट देती है। फिर वह इसके ऊपर

रेशम पूर देती है जिससे वह मिट्टी वर्षा से धुल कर बह न जावे।

कुछ मकड़ियाँ ककून बनाकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती हैं; परन्तु कोई कोई अपने ककून या बच्चों को तब तक नहीं छोड़तीं जबतक वे स्वावलम्बी न हो जावें। कुछ मकड़ियाँ ऐसी भी होती हैं जो बड़े ककून नहीं बनातीं; पर छोटे छोटे कई ककून बनाकर उन्हें एक माला के रूप में, जाल के ऊपरी भाग में, अपने सन्मुख लटका लेती हैं।

एक प्रकार की मकड़ी प्रसव के पहिले किसी गुप्त स्थान में रेशम का एक डेरा तान लेती है जिसके ऊपरी भाग में प्रसव का कमरा रहता है। जबतक अंडे नहीं फूट जाते, तबतक वह उसके नीचे वाले कमरे को छोड़ कहीं नहीं जाती। अंडे फूटने पर बच्चे कुछ दिनों तक अपनी माके पास रहते हैं। वह उन्हें भोजन भी दिया करती है।

अंडों से निकलने पर बच्चे अशक्त रहते हैं। न तो वे कुछ खा सकते और न कोई काम ही कर सकते हैं; क्योंकि उस समय वे एक सफेद चोगा सा पहिने रहते हैं। जब वे एक ही स्थान में रहते रहते ऊब उठते हैं, तो अपना यह चोगा अलग करके बाहर निकल पड़ते हैं। किसी किसी मकड़ी के बच्चे, ककून से निकलने पर, ठंड से बचने के लिए एक दूसरे से चिपक कर एक गोली से बन जाते हैं। बगीचों या खेतों में ये गोलियाँ देखने को मिलती हैं। यदि आप इन्हें धीरे से स्पर्श करें या जिस डाल पर ये हों उसे थोड़ा हिला दें, तो ये बच्चे अपना अपना मार्ग पकड़ते हैं। थोड़ी देरके बाद ये फिर आ मिलते हैं और पूर्ववत गोली के रूपमें हो जाते हैं। बच्चे होने पर भी ये अपनी रक्षा का उपाय पहिले से ही कर रखते हैं, अर्थात उस गोली से कई दिशाओं में रेशम के बारीक धागे लगाये रहते हैं जिनके द्वारा समय पड़ने पर ये यहाँ वहाँ चल देते हैं।

इस दशा में उन्हें विशेष भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो कुछ उन्हें पत्तों की ओस पर मिल जाता है वही उनके लिए पर्याप्त होता है। पर, यह दशा बहुत समय तक नहीं रहती। वे क्षुधित होकर भोजन की चिन्ता में यहाँ वहाँ फिरते हैं! यदि उन्हें भोजन न मिला तो एक दूसरे को ही खाने लगते हैं। ऐसी दशा में वे शांति से नहीं रह सकते। अनन्तर उनमें से जो बच जाते हैं उन्हें अपना अपना घर बनाने की चिंता पड़ती है। यदि ये सब एक ही स्थान पर अपने जाल बना लें तो सैकड़ों जालों में फँसने के लिए वहाँ यथेष्ट भोजन ही न मिले और बहुतों को उपवास करना पड़े; इसलिए उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों को चले जाना पड़ता है। यात्रा करने के लिए न तो इनके पंख होते और न ये अपने पैरों पर ही निर्भर रहते हैं। ये अपने बनाये वायुयान द्वारा यात्रा करते हैं।

वायुयान बनाने के लिए ये छोटी मकड़ियाँ पहिले किसी ऊंचे स्थान पर चढ़ जाती हैं। फिर एक धागा निकालकर वहां से उसे हवा में उड़ाती हैं और उस धागे धीरे बढ़ाती जाती है। जब वह जाकर किसी स्थान में अटक जाता है, तब उसकी दृढ़ता की परीक्षा करने के लिए उसमें झटके मारती हैं। यदि वह सुदृढ़ जान पड़ा, तो वे जान लेती हैं कि वायुयान तयार हो गया और अपनी यात्रा का आरम्भ कर देती हैं। ऐसे ही एक विशेष प्रकार के वायुयान द्वारा मकड़ियां कभी कभी समुद्र पार भिन्न भिन्न देशों में जा पहुंचती हैं।

जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो अपना काया-पलट करते हैं। मकड़ी के लिए यह बड़ा कठिन कार्य होता है। दो तीन दिन पहिले से वह खाना-पीना छोड़ देती है और बेचैन हो जाती है। फिर काया पलटते समय अपने आठों पैरों को धागे से बांधकर उलटी लटक जाती है और खूब हिल-डुल कर बड़े परिश्रम से अपनी कांचुली छोड़ती है। इस क्रिया के उपरान्त वह बेचारी बड़ी अशक्त हो जाती है और नये चमड़े को सुखाकर कड़ा करने के लिए १५ मिनट तक उसी दशा में लटकी रहती है। सम्भव है, इस काया-पलट के समय उसके एक दो पैर टूट जावें; पर मकड़ी

के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है; क्योंकि दूसरे कायापलट के समय तक वह फिर ज्यों की त्यों हो जाती है।

मकड़ी के सब बच्चे नहीं जीते। उनके कई शत्रु होते हैं; जैसे ततैया, पक्षी, मेंढक आदि। यदि ये भी न हों, तो वे एक दूसरे को खा लेते हैं। यही कारण है कि छःसात सौ अंडे रखने पर भी एक दो बच्चे ही गृहस्थ बनने योग्य हो पाते हैं। यह अच्छा ही होता है, नहीं तो सारा संसार मकड़ियों से भर जाता!

इनके जाल कई प्रकार के होते हैं। कोई त्रिभुजाकार, कोई वृत्ताकार, कोई छोटे और कोई गाड़ी के चाक के समान बड़े रहते हैं। ये बड़े जाल इतने सुदृढ़ होते हैं कि इनमें कभी कभी छोटे छोटे पक्षी और चूहे भी फँस जाते हैं। पर मकड़ी इन्हें खाती नहीं, वह तो टिड्डे, टिड्डी बड़ी बड़ी मक्खियाँ ही खाया करती है। वह नहीं चाहती है कि ऐसे बड़े बड़े जीव फँसकर उसे अपना जाल सुधारने का व्यर्थ कष्ट दें।

सब मकड़ियाँ जाल नहीं बुनतीं। एक प्रकार की मकड़ी पुरानी दीवालों की दरारों में अपना घर बनाती है और वहीं अपने भक्ष्य के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है। यदि कोई मक्खी उस गुफा का अनुसंधान करने गई, तो उसका लौटना कठिन ही समझिए। कभी कभी मक्खी के स्थान में वहाँ बर्रैया पहुँच जाती है। यदि सामना पड़ गया, तो मकड़ी और बर्रैया के बीच में बड़ा भारी युद्ध होता है। दोनों के पास समान अस्त्र होने से कभी इसकी और कभी उसकी विजय होती है। यदि मकड़ी की जीत हुई, तो वह बर्रैया को खा लेती है और यदि बर्रैया की जीत हुई, तो वह मकड़ी उसके बच्चों का भोजन बनती है।

बहुत सी मकड़ियाँ तलघरों में रहती हैं और दिनको बाहर नहीं निकलतीं। इन्हें रात्रिचर (राक्षस) ही कहना चाहिए; क्योंकि ये रात्रि को सोये हुए जीवों पर आक्रमण करती हैं। इनमें सबसे विचित्र वह मकड़ी होती है जो अपने सुदृढ़ दाँतों से सूखी धरती खोदकर अपना वासस्थान बनाती है और उसकी दीवालों को रेशम पूरकर सजा लेती है। यह रेशम ही से उस वासस्थान का द्वार बनाती है जो डब्बे के ढक्कन के समान एक ओर को खुलता है और उस द्वार पर ऐसा सटकर जमता है जैसे शीशियों में काँच का डाँट। जिस पर भी जब मकड़ी उसके भीतर रहती है तब उसे भीतर की ओर खींचे रहती है। कुछ तलघरों में नीचे से दूसरा द्वार भी रहता है। इन तलघरवासिनी मकड़ियों में से कोई कोई तो द्वार के पास की भूमि पर जाल भी बनाती हैं और जो कुछ फँसा उसे अपनी माँद में बैठकर खाती है। यह जाल प्रतिदिन संध्या समय बनाया जाता है और सबेरे नष्टकर दिया जाता है। इन तलघरों के द्वार का पाना सहज नहीं है; क्योंकि वे उन्हें बड़ी सावधानी से मिट्टी, काई, पत्तों आदि से छिपा देती हैं।

कोई कोई मकड़ियाँ पत्थरों के नीचे अपना जीवन बिताती हैं। इन्हीं से कुछ मिलती-जुलती शिकारी मकड़ियाँ होती हैं। ये जाल नहीं बनातीं और अपने शिकार का पीछा पैदल ही करती हैं। इनमें से कोई कोई तो आक्रमणकारों से अपनी रक्षा के हेतु, धरती में एक छोटी सी नाली बनाकर उसे रेशम पूर कर बंद कर लेती हैं। पर कोई सर्वथा गृह-विहीन रहती और अपने ककून सँभाले यहाँ वहाँ फिरा करती है। जब अंडों से बच्चे हो जाते हैं तब वे अपनी माता की पीठ के बालों से चिपककर उसी के साथ घूमा करते हैं। एक सप्ताह तक तो इन्हें भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर जब वे भूखे होते हैं तब वे भी अपने मा-बाप का अनुकरण कर बिल्ली अथवा शेर के समान अपने शिकार पर जा टूटते हैं।

मकड़ियाँ नृत्य भी किया करती हैं। जब कोई नर-मकड़ी किसी मादा को मोहित करना चाहती है, तब वह उसके साम्हने नाचती है। यदि श्रीमती प्रसन्न हो गईं, तो वे भी नाच में सम्मिलित हो जाती हैं और यदि अप्रसन्न हो

गईं, तो श्रीमान को यमपुर की यात्रा करा देती हैं।

बड़ी मकड़ियों से मनुष्यों को उतनी हानि नहीं होती जितनी छोटी मकड़ियों से होती है। न्यूज़ीलैंड की एक प्रकार की छोटी मकड़ी के काटने से बड़ी पीड़ा होती है और बहुधा ज्वर हो आता है। इस मकड़ी के सम्बन्ध में न्यूज़ीलैंडवासियों का अन्धविश्वास× बड़ा विचित्र है। वे कहते हैं कि इसके काटे हुए मनुष्य को चंगा करने के लिए उस मकड़ी को ढूँढकर अवश्य मार डालना चाहिए। कभी कभी जब यह नहीं मिलती तो ये मूर्ख उसे मारने के लिए सारे घर को जला देते हैं।

कोई कोई मकड़ियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं और भिन्न भिन्न रंगों से चित्रित रहती हैं। ये मकड़ियाँ बहुधा पहिचान में नहीं आतीं। इनमें से कई 'नील रंग रँगे गीदड़' का अनुकरण करती हैं; क्योंकि इनके बहुत से शत्रु होते हैं; जैसे पक्षी, सर्प, बन्दर, छिपकिली, चिड़िया, बर्रैया आदि। परन्तु यह शृङ्गार अपनी रक्षा की अपेक्षा अपने भक्ष्य को धोखा देने के लिए विशेष रूप से काम में लाया जाता है। ये बहुरूपियों को मात करती हैं। कभी ये पत्तों के समान, तो कभी टहनीनुमा, कभी चींटी के समान, तो कभी गुबरीले के अनुरूप हो जाती हैं। कभी कभी लोग इन्हें काँटा, फली, सूखी लकड़ी की गाँठ आदि समझ लेते हैं।

× भारतवर्ष में भी मकड़ियों के संबंध में अन्धविश्वास है। यदि भूरी मकड़ी किसी के शरीर पर चढ़े, तो दक्षिण-पुराण के अनुसार उसे शीघ्र ही नये कपड़े मिलेंगे। इँग्लैंड में भी मकड़ियाँ शुभ समझी जाती हैं। इन्हें मारना मानों आपत्ति मोल लेना है। यदि कभी किसी नव परिणीता वधू के माथा में मकड़ी मिल जाय तो समझा जाता है कि उसके सुख-सौभाग्य की वृद्धि होगी। दूसरा अंधविश्वास यह भी है कि यदि कुछ लोग किसी कमरे में बैठे हों और मकड़ी उनके बीच से चलती हुई किसी मनुष्य की ओर जावे तो उसे शीघ्र ही बहुत सा द्रव्य प्राप्त होगा—ऐसा समझा जाता है। श्री० सं०।

कहने का मतलब यह नहीं है कि वे स्वयं उन रूप की बन जाती हैं; वे स्वाभाविक ही वैसी बनी रहती हैं। हाँ, वे अपने स्वाभाविक शरीर का यथोचित उपयोग करने में बड़ी ही चतुर होती हैं और सदैव ऐसे स्थान में मिला करती हैं जहाँ वे सरलता से नहीं दीखतीं।

साधारण मकड़ियाँ अपनी रक्षा दूसरे ही प्रकार से करती हैं। भय होते ही वे एकदम धरती पर आ गिरती हैं और यदि उन्हें स्पर्श करो तो वे अपने पैर मोड़कर मृतक सी हो जाती हैं। कोई कोई मकड़ियाँ भागने का समय न मिलने पर जाल का धागा पकड़कर बड़ी तेज़ी से आगे पीछे झूलती हैं और कुछ ही क्षणों के पश्चात अपने जाल सहित अंतर्ध्यान हो जाती हैं।

लेखक और सम्पादक का सम्बन्ध।

(लेखक—श्रीयुत सुकुमार चटर्जी, आई.जे.)

लेखक कई प्रकार के होते हैं। सबसे पहले तो Cub reporters (कनिष्ठ संवाद खोजक) होते हैं। इनका काम किसी विशेष संवाद के विषय में सब प्रकार का विवरण लेना होता है। फिर उस विवरण को सहकारी सम्पादक सम्पादन-कला के अनुसार लिपि-बद्ध करता है। दूसरे Agents (दूत) होते हैं। ये केवल खोज करके विशेष घटना-स्थल अथवा घटना का संवाद कनिष्ठ संवाद-खोजक को देते हैं। तीसरे, Reporters—ये संवाद खोजते हैं, और उन्हें सम्पादन-कला के अनुसार भी लिखते हैं। ये लोग छान-बीन करते हैं और Agents, Cub Reporters तथा Detective Department के मुखिया माने जाते हैं। चौथे, Star reporter हैं जो Reporters से भी बड़े तथा Detective Department के अधिकारी होते हैं। इनको

प्रभावशाली होना पड़ता है और ये प्रायः सब स्थानों में पहुँचने की शक्ति रखते हैं। इनसे सामाजिक तथा राजनैतिक सब पुरुष डरते हैं और सहायता की याचना करते हैं। जब किसी राजनैतिक मनुष्य को हराने की आवश्यकता होती है तब इन्हींकी सहायता से उस मनुष्य के जीवन का गुप्त इतिहास संग्रह किया जाता है और उसे प्रकट करके वह मनुष्य बदनाम कर दिया जाता है। Star reporter की गति सब कहीं होती है और उससे बड़े आदर-सत्कार के साथ बर्ताव किया जाता है। इसे सब विषयों में निपुण होना पड़ता है।

Agents जो बहुधा साधारण व्यवसायी या कर्मचारी होते हैं उनको या तो नाममात्र को मासिक वेतन दिया जाता है या संवाद की मुख्यता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता है। Cub reporters को ४० डालर अर्थात् १२०) रु. से प्रारंभ करके ६० डालर अर्थात् १८०) रु. तक वेतन और संवाद की उपयोगितानुसार कुछ और भी पुरस्कार मिलता है। Reporter को ६० डालर से प्रारंभ करके १०० डालर तक वेतन मिलता है। बाहर जाने पर उसे वेतन के सिवा, प्रति मील १० पैसे और १½ डालर भत्ता प्रतिदिन मिलता है। Star reporter को १०० से ५०० डालर तक वेतन मिलता है और बाहर जाने पर जो कुछ उचित व्यय होता है, दिया जाता है।

रिपोर्टर को इतनी जल्दी संवाद खोजना पड़ता है कि उसकी व्याख्या ऐसी बन गई है कि जो घटना होने के पहिले ही संवाद जान सके उसे रिपोर्टर कहते हैं—(A reporter is one who knows a thing before it happens)। इसके बाद Correspondents होते हैं। इन्हें भी या तो मासिक ८० से १०० डालर तक वेतन दिया जाता है या शब्द के हिसाब से पैसे दिये जाते हैं। ये केवल किसी विशेष विषय पर लिखते हैं और अपने विषय में अधिक प्रवीण होते हैं। इनके ऊपर Journalist होते हैं जो सम्पादन-कला का अध्ययन करके पास हो चुके हों तथा कई वर्षों तक संवाद-विभाग में निपुण हो गये हों। उनका वेतन निश्चित नहीं होता। वे या तो ठेके से काम करते हैं या शब्द के अनुसार मूल्य लेते हैं। ये लोग बहुधा किसी विशेष उद्देश्य की पत्रिका या संवाद-कंपनी के साथ सम्बन्ध रखते हैं और कभी कभी अपने अनुभव को किसी पत्र में छापते हैं, या बहुधा पुस्तकाकार लिपि-बद्ध करते हैं। इनको प्रतिशब्द दो पैसे से लगाकर ६) रु. तक मिलता है।

Free lance journalist सबसे ऊँचे गिने जाते हैं। ये किसी भी दल के नहीं होते और बहुधा International journalistic club के सभासद होते हैं। ये किसी भी विषय पर लेख लिख सकते हैं और सम्पादन-कला के धुरन्धर ज्ञाता होते हैं। इनका प्रभाव प्रकाशकों के ऊपर अत्यन्त अधिक होता है और प्रकाशकों की समिति (Publisher's club) की ओर से इनका मूल्य निर्धारित किया जाता है। बड़े बड़े शासन-कर्ता इन्हीं के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय काम निकालते हैं। Marie corcli, Rudyard Kipling, Jack Landon, Winston churchhill, John De Barry, James Hermann, Teddy Roosevelt, Woodrow Wilson इत्यादि इसी प्रकार के Free lance journalist हैं। R. Kipling को ५) रु.

प्रति शब्द मिलता है, J. Landon को ६) रु., M. corelli को ६) रु., W. C. को ६) रु., Barry को ४॥) रु. और Wilson को १४) रु. प्रतिशब्द मिलते हैं। आजतक किसी ने भी इस से अधिक प्राप्त नहीं किया। हमारे हिन्दुस्थानियों में से केवल तीन जर्नलिस्ट हुए हैं जिनमें से श्रीशरतकुमार घोष केवल गल्प और उपन्यास कला में प्रवीण हैं और ॥) प्रति शब्द लेते हैं और श्रीबसंतकुमार केवल राजनैतिक विषय पर लेख लिखते हैं और कोइ बंधा मूल्य न रहने पर भी उन्हें १) प्रति शब्द तक मिल चुका है; पर पहले वे सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखने में १० पैसे प्रति शब्द भी पा चुके हैं। (इस प्रबंध के लेखक १४ पैसे प्रति शब्द पाता है और International [illegible] का मेम्बर होने के सिवा, [illegible] का Representative (प्रतिनिधि) है। इस विषय का अधिक विस्तार "नामी पुरुषों से साक्षात्कार" नामक लेख में किया जावेगा।)

लेखकों के लेखों में बहुधा त्रुटियाँ रह जाती हैं और साथ ही कई सम्पादक विशेष रुचि के होते हैं जिससे वे केवल एक प्रकार के लेख को ही अच्छा समझते हैं। इसके लिए कई चतुर व्यक्तियों ने जो संवाद-शास्त्र में दक्ष हैं, कंपनियाँ खोल रक्खी हैं और जो लेख किसी के उपयुक्त नहीं होते उन्हें वे ठीक कर देते हैं और ठीक स्थान पर भेजकर मूल्य प्राप्त करा देते हैं। ये कम्पनियाँ सैकड़ा पीछे प्रायः १०) रु. कमीशन लेती हैं। इनके द्वारा बहुत उपयोगी समालोचनाएँ भी होती हैं। लेख को सुधारने के तीन नियम होते हैं। एक तो लेख की केवल त्रुटियों को ही ठीक कर देना, दूसरे लेखक को परामर्श देना कि उसे किस विशेष ढंग से लिखने का प्रयत्न करना चाहिए, और तीसरे, लेख को फिर से लिखना जिसमें वह बेचने लायक हो जावे। प्रथम कार्य के लिए यदि लेख १००० से २००० शब्द के विस्तार का हो तो १ डालर और यदि कोइ गल्पादि हो तो २ डालर लिये जाते हैं। दूसरे कार्य के लिए ५० सेण्ट और परामर्श के लिए भी ५० सेण्ट। तीसरे के लिए १½ डालर से ५ डालर तक लेते हैं।

ऐसी कई कंपनियाँ हैं और कई पुस्तकें भी हैं जिनसे तो लेखक को सब प्रकार का परामर्श मिल जाता है। ऐसे कई मासिक पत्र भी हैं जो इन्हीं कठिनाइयों को हल करते हैं। एक ऐसी पुस्तक भी निकली है जिसमें प्रत्येक समाचार तथा मासिक पत्र की तालिका रहती है। उसमें यह भी रहता है कि कौन समाचारपत्र किस विशेष विषय को अधिक पसंद करता है, किस भाव के लेख चाहता है, प्रकाश-विभाग की कौनसी विशेषता रखता है और कितना मूल्य देता है। प्रत्येक लेख के प्रकाशित होने पर मूल्य दिया जाता है, पर कई पत्रिकाएँ लेख लेते ही पुरस्कार दे देती हैं। यदि किसी लेख प्रकाशक को पसंद आ गया तो उसी से ठीक और लेख लिखवाने का ठेका कर लिया जाता है। बहुधा प्रकाशक होनहार लेखकों को अधिक द्रव्य देकर ऐसा ठेका कर लेते हैं जिसमें वह लेखक नियमित समय तक कोई लेख किसी दूसरी पत्रिका को न दे।

किसी दूसरे लेख में उन पुस्तकों का तथा लेखकों को सहायता देनेवाली उन कंपनियों

और मासिक पत्रों का पता दिया जायगा। Dr. Essenwien लिखित 'How to write short Story' एक बहुत उपयोगी पुस्तक है। उसका मूल्य ३) रु. है। बहुतसे बड़े बड़े लेखकों को भी आरंभ में बहुत कष्ट उठाना पड़ा है। Charles Dickens ने एक ही लेख को ४६ बार ४६ प्रकाशकों के पास भेजा, पर फिर भी वह प्रकाशित नहीं हुआ था। ऐसे बहुत कम प्रकाशक हैं जो नये लेखकों का लेख मनोयोग के साथ पढ़ते हैं; परन्तु लेखकों को हताश न होना चाहिए। लेख की दो नकलें होनी चाहिए और दोनों टाइप में छपी हों। असली इम्तिहान के पर्चे की तरह मोड़कर रजिस्ट्री करके भेजना चाहिए और साथ में एक लिफाफा अपना पता समेत और टिकट लगा हुआ भेजना चाहिए। यदि प्रकाशक के पसंद न आया तो वह लौटा देगा। साधारणतः शिष्टाचार के लिए "स्थानाभाव, ढंग में अन्तर" इत्यादि बहाने बतला दिए जाते हैं; परन्तु निराश न होकर दूसरे प्रकाशकों के पास भेजना चाहिए। एक ही लेख एक ही बार कई प्रकाशकों के पास कभी न भेजा जावे। यदि लेख अच्छे मार्के का होगा तो अवश्य ही प्रकाशित हो जायगा। हमारा ऐसा ही एक लेख प्रकाशित ही नहीं हुआ; क्योंकि उसमें हिन्दुओं की वीरता और श्वेतांगों की निष्ठुरता दिखाई गई थी। हमने भी हठ से उस लेख को प्रत्येक प्रकाशक के पास भेजा; पर किसीने भी न लिया। फिर उसे एक समालोचक कम्पनी के पास भेजा। उसने लिखा—"या तो निष्ठुर हिन्दू और श्वेतांग वीर हो, या निष्ठुर श्वेतांग और वीर श्वेतांग हो; नहीं तो निष्ठुर हिन्दू और वीर हिन्दू हो, तब कहीं यह छप सकता है।" यद्यपि इससे बहुत संकीर्ण मन का परिचय मिलता है और हमें इसे पढ़कर अत्यंत दुःख हुआ था, तथापि यह सराहनीय एकता है। हमारे यहाँ तो अपने ही धर्म, समाज तथा देश के विरुद्ध प्रकाशित करने के लिए बहुत से प्रकाशक प्रस्तुत हैं। "हिन्दी संपादकों की कार्य-प्रणाली" शीर्षक लेख में हम इस विषय का अधिक विस्तार करेंगे।

अमेरिका में Copy right (सर्वाधिकार रक्षित) प्रणाली बहुत ही प्रचलित है। अपने लेख का एक नमूना Copy right office, Washington, को भेजकर एक डालर देने से वह copy right हो जाता है। कापीराइट के लिए यदि कोई कला या विद्या का कार्य हो अथवा चित्र, लेख, नाटक, पुस्तक आदि हो तो उसकी एक अविकल नकल कापीराइट आफिस में भेजी जानी चाहिए और निम्नलिखित में से किस विषय की है सो भी लिखा जाना चाहिए:—

(१) पुस्तकें, (२) पत्रिकाएँ, (३) लेख जो कि वक्तृता के लिए लिखे गये हों, (४) नाटक वा नाट्य संगीत, (५) संगीत, (६) नक्शे, (७) कला विद्या के कोई भी कार्य, (८) किसी कला विद्यान्तर्गत वस्तु की नकल, (९) ड्राइंग वा मूर्तिकारी, किसी वैज्ञानिक वा औद्योगिक ढंग की, (१०) फोटो, और (११) सचित्र पुस्तकें आदि।

सर्वाधिकार रक्षित होने का प्रमाण-पत्र देने के पश्चात् एक नोटिस उस प्रकार से दिया जाता है कि अमुक समय के भीतर उस विशेष विषय के दो

सर्वोत्तम नमूने जमा कर दिये जावें। निश्चित समय के भीतर न देने से १०० डालर का दंड और फुटकर मूल्य का दुगना मूल्य देना पड़ता है और कापीराइट छीन लिया जाता है। यदि कापीराइट के रहते भी कोई दूसरा व्यक्ति उसकी नकल करे, या किसी प्रकार से उससे लाभ उठावे तो जो कुछ लाभ उठाया हो और जितना कापीराइट वाले का नुकसान हुआ हो वह सब भर देना पड़ता है। इसके सिवा उसे दंड भी भोगना पड़ता है।

इस प्रकार लेखक अपने लेख की मौलिकता की रक्षा कर सकता है और फिर दूसरे नकलची उससे लाभ नहीं उठा सकते।

पुस्तकों के छापने के नियम कई प्रकार के होते हैं। एक तो यदि किसी पत्रिका में किसी पुस्तक का कुछ अंश छप चुका हो तो पत्रिका का प्रकाशक ही स्वयं उसका पूर्ण स्वत्व ले लेता है या छपाई का मूल्य लेखक से लेकर २५) रु० सैकड़ा कमीशन पर प्रथम संस्करण की बिक्री करने का ठेका लेता है, अथवा पुस्तक स्वयं छापता है और Royalty के हिसाब से मूल्य देता है। दूसरी रीति यह है कि लेखक उस पूर्ण हस्तलिपि को उस विषय के प्रकाशकों के पास भेजता है। जब कोई प्रकाशक उसके लाभदायक होने का विश्वास पा लेता है तो उसका पूर्ण स्वत्व ले लेता है और एक बारगी कुछ दे देता है, अथवा प्रत्येक संस्करण की बिक्री का भार लेकर, अपना खर्चा व लाभ काट कर, बाकी का मूल्य लेखक को देता है। पुस्तक का प्रचार अधिक करने के लिए Dummy book बनाई जाती है जिसमें पहिले ५ या ६ पन्ने छपे रहते हैं और पुस्तक की आकृति आदि ठीक रखी जाती है; पर शेष पन्ने खाली रहते हैं। ऐसी पुस्तकें समालोचकों को उपहार दी जाती हैं। समालोचक यदि चाहे तो असली पुस्तक को मँगाता है और उसकी समालोचना या तो स्वयं करता है नहीं तो संवाद-पत्रों के समालोचकों को दे देता है। वे लोग बड़ी बड़ी पत्रिकाओं में उसकी समालोचना करते हैं। इस तरह प्रचार आरंभ करके उसीके बल पर विज्ञापन दिये जाते हैं। कई कंपनियाँ अनेक प्रकार की पत्रिकाओं को प्रकाशित करती हैं। उन्हें कुछ थोड़ा द्रव्य देने से उनकी सब पत्रिकाओं में विज्ञापन पहुँच जाता है। ऐसे सुलभ उपायों से हित के कार्य परस्पर हो जाते हैं। प्रकाशक संसार के मनुष्यों के मन की गति को जानने के लिए सब प्रकार के संवाद-पत्रों में प्रकाशित लेखों का विषय-विन्यास और प्रचार जान लेते हैं। उनका प्रत्येक सम्वाद-दाता के साथ सम्बन्ध रहता है जो विशेष प्रचलित लेखों के विषय में उन्हें सन्देश देते रहते हैं। इस प्रकार प्रकाशक को लेखकों का और लेखकों को प्रकाशक का पूरा ज्ञान बना रहता है।

विविध विषय।

(१) मंगलग्रह और मारकोनी।

(लेखक—अध्यापक रामदास गौड़, एम० ए०)

"श्रीशारदा" के गत मास के अंक में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का लिखा एक नोट, मंगलग्रह से बेतार के तार द्वारा समाचार पाने के सम्बन्ध में, निकला था। बाबू साहब ने जिस समय यह नोट लिखा था उस समय लंदन के कई पत्रों ने यह गप उड़ाई थी। हाल में ही उसका प्रतिवाद स्वयं मारकोनी ने किया है। मारकोनी का कहना है कि उसने कभी ऐसा प्रयत्न नहीं किया है, अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों की बात सर्वथा निःसार है।

मंगल ग्रह कितना ही दूर हो; परन्तु तड़ित की तरंगों की गति से बाहर नहीं है और मारकोनी की तड़ित तरंगों की रीति से मंगल ग्रह से किसी भविष्य–काल में किसी संकेत का उत्तर वा प्रति-संकेत मिलना असंभव नहीं है। यहाँ तक विज्ञान से संभव है। कल्पना समीचीन है; परन्तु हमारे संकेत को मांगलिक और मांगलिक संकेत को पार्थिव (हम) कैसे समझेंगे? यह विचारणीय है।

इस धरती पर जितनी वस्तुएँ हैं सब गुणों के द्वारा जानी जाती हैं। जितनी क्रियाएँ हैं सबके लिए ऐसे इशारे हो सकते हैं जो देखकर दूसरा मनुष्य इशारा करने वाले का अभिप्राय समझ सके। नाम और नामी का सम्बन्ध हम बिना बोले भी किसी को समझा सकते हैं। चाँवल के लिए करनाटकी शब्द न जानने वाला कर्णाटक देश में वहाँ के निवासी को चाँवल की ओर इशारा करके समझा सकता है। "हमें पुस्तक चाहिए" इस वाक्य का अर्थ हम इसीलिए समझते हैं कि पुस्तक नामधेय पदार्थ को कहने वाले और सुननेवाले दोनों भलीभाँति जानते हैं। "हमें" और "चाहिए" इन दोनों का अभिप्राय समझने को भी परस्पर शब्द और अर्थ कहने सुननेवाले समझे हुए हैं। तार–समाचार यद्यपि "गरगट्ट" रूप में ही सुन पड़ता है, तथापि इस "गरगट्ट" के प्रस्तारानुसार मार्स की संकेतावली (Morse's Code) बनी हुई है जिसका अभ्यास संसार भर में किया जाता है। इसीसे कहीं से समाचार आवे "अक्षर" से शब्द बन जाते हैं और अर्थ समझ लिया जाता है। आज यदि दो तारबाबू परस्पर परामर्श से, नागरी अक्षरों द्वारा व्यक्त करने के लिए, एक नयी संकेतावली× स्थिर करके आपस में वाक्य-विनिमय करें तो कोई भी अनभिज्ञ तारबाबू वाक्यों को न समझ सकेगा। मनुष्य के मस्तिष्क में जो विचार उठते हैं, उन्हीं की मूर्ति, प्रतिमा वा रूप शब्द, लेख वा संकेत हैं। जब दो व्यक्तियों के विचार और उसकी मूर्ति, प्रतिमा वा रूपमें समानता होती है तभी "विचार-विनिमय" होता है। मूर्ति, प्रतिमा वा रूप का विनिमय, अथवा शब्द, लेख वा संकेत का विनिमय होने से ही विचार का विनिमय संभव नहीं, यदि विचार की समानता निश्चित नहीं है। अब सोचने की बात है कि पार्थिव और मांगलिक प्राणियों में विचार की समानता का निश्चय कैसे संभव है? संकेत–विनिमय संभव हो भी जाय तो

× लेखक का विचार है कि देवनागरी अक्षरों की एक नई संकेतावली बहुत उपयुक्त होगी। इस पर कुछ प्रयत्न हुआ भी है। —लेखक।

विचार-विनिमय कैसे संभव है? अनुभव की समानता कहाँ है? यह बात अभी वैज्ञानिक की कल्पना से बाहर है। बेसिर-पैरकी बातें फैलानेवाले कभी ऐसी बातों में वैज्ञानिकों से सलाह नहीं लिया करते।

जबतक पार्थिव और मांगलिक एक दूसरे की परिस्थिति तथा एक दूसरे के भाव न जान सकें, केवल संकेत—विनिमय हो भी, तो निरर्थक है।

(२) हड़ताल तीन हज़ार वर्ष पहले भी होती थी!

कुछ दिनों से, जहाँ-तहाँ, हड़ताल ही हड़ताल के समाचार सुनाई देते हैं, और प्रायः प्रत्येक का कारण वेतन की कमी है। अभी तक यह समझा जाता था कि हड़ताल का आरम्भ कुछ ही वर्षों से हुआ है, पर अब पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन स्थानों की खुदाई कर ऐसे चिह्न पाये हैं जिनसे पता लगता है कि प्राचीन काल में मज़-दूरों की सबसे पहिली हड़ताल आज से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व हुई थी। यह हड़ताल मिश्र देश में हुई थी और उसका कारण आजकल के समान वेतन की कमी माना गया है। उन दिनों मिश्र देश में फरोह नामक बादशाह था और उसके नियुक्त किये हुए कोतवाल का नाम था माहू। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि बाद-शाह द्वारा नियुक्त कोतवाल, माहू ही हड़तालियों का मुखिया हो गया था, और यह इसलिए नहीं कि उसे हड़तालियों से कुछ मिलने की आशा थी, पर वह न्यायप्रिय था और उसने हड़तालियों का साथ देकर बादशाह से न्याय कराया।

माहू ने जो काम उस समय मज़दूरों के प्रति किया उससे सम्भव है किसी दिन मिश्र या यूरोप के मज़दूरों का प्रतिनिधि-मण्डल माहू की मूर्ति स्थापित करे।

मिश्र देश में जो खुदाई का काम हुआ है उसमें एक मकान का हिस्सा मिला है जिसमें चित्र द्वारा यह बतलाया गया है कि हड़तालियों का झुण्ड माहू से मिलने को आया है। दूसरेमें माहू हड़तालियों को सलाह दे रहा है। माहू के कब्रस्तान का भाग भी मिला है जिसमें एक पत्थर पर माहू के आदर्श कार्यों का वृहत् वर्णन है।

जब मिश्र देश के मज़दूरों ने काम करना छोड़ दिया, तब वहाँ के धनिकों ने बादशाह को सलाह दी कि मज़दूर लोग कोतवाल के द्वारा दबाये जायँ और यदि पुलिस से यह कार्य न हो सके, तो सैनिक शक्ति का उपयोग किया जाय। मज़दूरों के हड़ताल करने का उद्देश यह था कि उनका वेतन बढ़ाया जाय, उनकी दशा सुधारी जाय और उन्हें कम घण्टे काम करना पड़े। माहू मज़दूरों का इन बातों को ठीक समझता था। अभी तक यह पता नहीं लगा कि माहू ने मज़दूरों का पक्ष क्यों लिया? हो न हो, माहू अपने आरम्भिक जीवन में मज़दूर रहा होगा और मज़दूरों की कठिनाइयों को भलीभाँति जानता रहा होगा। अस्तु, बादशाह से आज्ञा दी जाने पर भी, माहू ने कुछ नहीं किया, प्रत्युत मज़दूरों को भरपूर उत्तेजना दी, यहाँ तक कि जब मज़दूर—दल बादशाह के महल पर जाकर अपनी पुकार सुनाने और गड़बड़ मचाने लगे, तब भी माहू ने कुछ न किया। जब देखा कि मज़दूरों की दशा सुधारने का कुछ भी उपाय मंत्रिमण्डल ने नहीं किया, तब माहू बड़ा दुखी

से बादशाह के पास गया और उनको मज़दूरों की सब कठिनाइयाँ कह सुनाईं। बादशाह समझदार और न्यायी थे। उन्होंने साहू की सम्मति का आदर किया और मज़दूर जो कुछ चाहते थे ठीक वैसी ही आज्ञा घोषित कर दी।

मज़दूर-दल की इस विजय का संवाद सुनकर मिश्र देश में जहाँ—तहाँ हड़तालें हुईं और सबमें मज़दूर-दल की ही जीत हुई। अब मज़दूर-दल साहू की, देवता के समान, पूजा करने लगा।

कोई कोई इतिहासज्ञ कहते हैं कि साहू स्वयं हृदय से मज़दूरों का पक्ष लेना नहीं चाहता था, पर परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि उसे उनका पक्ष लेना पड़ा। जो मनुष्य पुलिस में इसके अधीन थे, तथा सेना में जो लोग सिपाही थे वे सब मज़दूर-दल की जाति के ही थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी ही जाति के लोगों पर कभी हथियार न उठाते। ख़ैर, बात जो कुछ हो, पर साहू के साहस की प्रशंसा अवश्य करनी होगी। इतिहास में कदाचित् मिस्र देश की यह हड़ताल ही सर्वप्रथम हड़ताल है।

(३) द्वन्द्व-युद्ध के नियम।

जब दो आदमी, बिना किसी तीसरे की सहायता के, आपस में, युद्ध करते हैं तब वह द्वन्द्व-युद्ध कहाता है। ऐसे युद्ध में गदा, तोमर, भाला, बन्दूक आदि अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग किया जाता है। ऐसे युद्ध में जो मारा जाय या घायल हो जाय वही पराजित माना जाता है। द्वन्द्व-युद्ध बहुधा दूसरों के सामने या कभी कभी एकान्त में हुआ करते हैं। भीम और दुर्योधन का, भीष्म और परशुराम का, लक्ष्मण और मेघनाद का द्वन्द्व-युद्ध भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। उस काल में तो ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे। उनमें नीति का पालन भी किया जाता था। अंग्रेज़ी राजत्व-काल में वारन हेस्टिंग्ज़ और उसके प्रतिद्वन्द्वी फ्रांसिस का द्वन्द्व-युद्ध एकान्त में हुआ था जिसमें फ्रांसिस घायल होकर इंग्लैण्ड लौट गया था। तो, ये सब तो हुए अस्त्रशस्त्रों के द्वन्द्व-युद्ध।

पर, मुँह से द्वन्द्व-युद्ध भी कहीं होता है? पाठक शायद सोचेंगे कि हमारे यहाँ ग्रामीण स्त्रियाँ या कुंजड़िनें मुँह से द्वन्द्व-युद्ध करती हैं। हाँ, बात कुछ ठीक है; पर इन लोगों के द्वन्द्व-युद्धों में गाना, बजाना या न्यायाधीश-मण्डल नहीं होता। उत्तर अमेरिका के उत्तर में ग्रीनलैण्ड नामक एक प्रदेश है। वहाँ के पहाड़ी भाग में एस्किमो नाम की एक जाति रहती है। उस जाति के लोगों की यह प्रथा है कि वे मुँह से द्वन्द्व-युद्ध करते हैं, अर्थात् द्वन्द्व-युद्ध में अस्त्रशस्त्र का उपयोग न करके एक दूसरे को पारी पारी से केवल गालियाँ सुनाते हैं। इन लोगों के इस युद्ध की कुछ और बातें भी मनोरञ्जक हैं, सो भी सुन लीजिए। जब युद्ध होना है तो आसपास के गाँव के लोग जमा हो जाते हैं। फिर दोनों प्रतिद्वन्द्वी बीच में आकर खड़े होते हैं। उनमें से एक के यह कहने पर—'तू नीच, पाजी, गधा है। तेरी सूरत देखकर मुझे बन्दर की याद आती है'—युद्ध का श्रीगणेश होता है। गालियों में बाप-दादे किसी पर रियायत नहीं की जाती, पर अश्लीलता बहुत कम आने पाती है, केवल दोषों का वर्णन चुभते हुए शब्दों में किया जाता है। जिसकी बात सुनकर सब लोग हँस पड़ें उसीका सिर ऊँचा समझा जाता है। ऐसी

हँसी का लेखा रखा जाता है। जिसके पक्ष में हँसी की संख्या अधिक हो वही विजयी गिना जाता है। ये लोग बीच बीच में एक दूसरे की नक़ल उतारते, एक दूसरे को चिढ़ाने के गाने गाते और नाचते भी जाते हैं; पर ये सब काम पारी पारी से होते हैं। जब तक एक बोलता है, तब तक दूसरा खड़ा खड़ा सुना करता है।

(४) प्रसन्नता द्वारा पाचन-क्रिया में सहायता।

हिन्दुस्थानी कहावत है कि—"खाने में कुत्ते को भी नहीं मारते"—इसका भाव यह भी है कि जब खाते समय कुत्ते को नहीं मारते तो मनुष्य पर तो क्रोध भी नहीं करना चाहिए। एक बार एक स्त्री बहुत बीमार हो गई। डाक्टर ने इलाज करके उसे अच्छा किया। डाक्टर सुबह-शाम उसकी जाँच करता था। एक दिन उसने देखा कि सुबह का खाया हुआ भोजन शाम तक बिलकुल नहीं पचा, वह ज्यों का त्यों आमाशय में रखा हुआ है। कारण मालूम करने पर विदित हुआ कि जब वह स्त्री भोजन कर रही थी, तब उसका पति उस पर बहुत क्रोधित हुआ था। यही हाल उनका भी होता है जो भोजन के कुछ ही पहिले, भोजन करते समय, या भोजन के कुछ ही बाद, किसी पर क्रोधित होते हैं।

वैद्यक शास्त्र का नियम है कि भोजन के पहिले आधा घण्टा और पश्चात् एक घण्टे तक, शान्तचित्त हो, विश्राम करना चाहिए। बहुधा देखा गया है कि जो लोग धीरे धीरे तथा प्रेम से भोजन करते हैं वे सदैव स्वस्थ रहते हैं। जो भोजन यहाँ-वहाँ की मनोरञ्जक बातें होते हुए किया जाता है वह शीघ्र पचता तथा लाभदायक होता है। प्रोफेसर डब्लू. बी. केनन शरीर-शास्त्र के धुरन्धर आचार्य्य हैं। आपने सतत परिश्रम करके देखा है कि भोजन करते समय यदि मनुष्य प्रसन्न चित्त रहता है तो उसके शरीर के भीतर के अवयव अपना कार्य बड़ी शीघ्रता से करते हैं और पाचन-क्रिया भी शीघ्र होने लगती है; पर यदि मनुष्य क्रोधी, भयभीत, या किसी गम्भीर विचार में लगा रहता है तो फल विपरीत देखा गया है। उन्होंने इसका प्रयोग एक कुत्ते पर किया था। एक कुत्ते को भोजन दिया गया। जब वह खाने लगा तब एक्स-किरण तथा एक विशेष यंत्र से उन्होंने उसके पेट के भीतर के अवयवों का संचालन देखा; पर ज्यों ही एक बिल्ली उस कुत्ते के सामने लाई गई, त्यों ही कुत्ता गुर्रा कर उस पर झपटने के लिए बढ़ने लगा, किन्तु बँधा होने के कारण, आगे बढ़ न सका। इसके बाद उसने रोटी का कुछ टुकड़ा खाया। वह बीच बीच में भोंकता भी जाता था। जब यह नाटक हो रहा था, तब प्रोफेसर साहब ने ध्यान-पूर्वक देखा कि वे अवयव जो पहिले पाचन-क्रिया में सहायता पहुँचा रहे थे, अब सिकुड़ गये हैं और उनकी क्रिया बन्द है। जो लोग भोजन करते समय भी कोई गम्भीर या विचारशील विषय पढ़ने की आदत डालते हैं वे भूल करते हैं।

प्रोफेसर साहब का कथन है कि क्रोध, भय आदि के समय शरीर के भीतर की वे इन्द्रियाँ जिनमें पाचन-क्रिया के लिए रस बनता है प्रायः बन्द हो जाती हैं। उदाहरण में आप बतलाते हैं कि जैसे खेल में तन-मन से लगे रहने पर चोट की पीड़ा नहीं मालूम होती या युद्ध में अंग-भंग हो

जाने या गोली लग जाने की बात युद्ध की गर्मी में नहीं मालूम पड़ती, यहाँ तक कि पीड़ा का संकेत देनेवाली नसें भी उस समय शिथिल रहती हैं और उस गर्मी से शान्त होते ही पीड़ा मालूम होने लगती है वैसे ही क्रोध, भय आदि में वे इन्द्रियाँ शिथिल रहती हैं और चित्त के स्थिर तथा शान्त रहने पर ही संचलित होती हैं। आपकी राय है कि छोटे बच्चों को, मचल जाने, रोने या भय खा जाने के बाद कभी भोजन न दिया जाय। ऐसे ही रोगी भी भोजन के समय खूब प्रसन्न रखा जावे। आप कहते हैं कि भोजन के समय यदि बाजा आदि बजता रहे तथा मनोरञ्जक बातें होती जावें तो रोगी बहुत शीघ्र स्वस्थ हो सकता है और स्वस्थ मनुष्य पूर्ण नीरोगी रहेगा। हिन्दुओं के विवाहोत्सव में, भोजन के समय, मीठी गाली गाने की प्रथा के प्रचार का एक उद्देश कदाचित् उपरोक्त बात रही हो।

(५) जापान और भारत का फ़ौजी खर्च।

जापान और भारत की आय और शक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर है। जापान का व्यापार बहुत उन्नत दशा में है; पर भारत का उसके विपरीत है। जापान को अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए जल और थल-सेना रखनी पड़ती है। भारत में थल-सेना ही है; जल-सेना नहीं। तिस पर भी उसे बेहिसाब खर्च उठाना पड़ता है।

सन १९१८-१९ में जापान में उसकी ४५·९ प्रतिशत आय जो लगभग १७ करोड़ २० लाख होती है जल-सेना में व्यय हुई। उसी साल भारत में ६६ करोड़ रुपया खर्च हुआ जो आय का ५१·५ प्रतिशत था! अर्थ-सचिव ने बताया है कि १९२०-२१ में भारत में फ़ौजी खर्च करने के लिए उसकी आय का ४३ प्रतिशत रुपया खर्च होगा।

जापान को तो अपना सिर संसार में उठाये रखना पड़ता है और अपने विस्तृत साम्राज्य की रक्षा करनी पड़ती है; पर भारत दब्बू ही बना रहता है और खर्च उसे जापान से लगभग चौगुना करना पड़ता है।

जापान के पदाधिकारियों के वेतन की बात और भी आश्चर्य-जनक है। वहाँ के बड़े से बड़े पदाधिकारी (प्रधान सचिव) को १८ हजार रुपये वार्षिक वेतन मिलता है। यहाँ गवर्नर जनरल को २,५०,८००) वार्षिक वेतन, २१,०००) ऊपरी वार्षिक खर्च और २,६१,०००) रुपया दौड़े का खर्च। जापान के बड़े से बड़े सेनापति को ११,२५०) वार्षिक वेतन दिया जाता है और यहाँ एक लाख! कुछ ठिकाना है!!

(६) मध्यप्रान्तीय तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

इस वर्ष मध्यप्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन बाबू गोविन्ददासजी के सभापतित्व में १७, १८ और १९ मई को सागर में बहुत सफलता के साथ होगया। बाबू सा० का भाषण अनेक प्रान्तीय आवश्यकताओं का परिचायक, विचारपूर्ण, और सामयिक है। आपने भाषण के आरम्भ में काव्य, इतिहास, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, सम्पादन-कला, महिला-साहित्य आदि विषयों की आलोचना करते हुए साहित्य को उन्नत करने के उपाय बतलाये हैं, और फिर प्रान्त में हिन्दी-साहित्य की वर्तमान शोचनीय दशा का दिग्दर्शन किया है। शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा का माध्यम और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं पर भी आपने अपनी सम्मति प्रकट की है। आपके भाषण में हमें दो चार कुछ विशेष प्रयोजनीय बातें पढ़ने को मिलीं जिनकी कुछ चर्चा यहाँ की जाती है।

सबसे पहिली और हिन्दी संसार के लिए बिलकुल नई बात "हिन्दी मन्दिर" की स्थापना है। बाबू सा० की धारणा है कि—"साहित्य विभाग में शिथिलता तथा मौलिक साहित्य निर्माण न होने का मुख्य कारण यह मालूम होता है कि हिन्दी के लेखकगण स्वतन्त्र रहकर केवल ग्रन्थ-रचना का कार्य नहीं कर सकते। अपनी सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें कोई न कोई अन्य व्यवसाय करना पड़ता है। जब मनुष्य अपने जीवन का बहुमूल्य काल दूसरे कार्यों में लगा देता है, तब साहित्य-कार्य के लिए उसके उत्साह और उच्च विचारों का क्या उपयोग हो सकता है? × × × यह परिस्थिति देखकर ही दशम-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने × × × हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता समझी है जिसमें भिन्न भिन्न विषयों पर ग्रन्थ लिखने के लिए लेखक नियुक्त किये जायं।" पाठकों ने समाचार-पत्रों में पढ़ा ही होगा कि वह संस्था "हिन्दी मन्दिर" के नाम से, माननीय पं० मदनमोहनजी मालवीय की संरक्षिता में, जबलपुर में, स्थापित हो गई है। इस संस्था का कार्यारम्भ जितने शीघ्र किया जाय उतना ही लाभकारी है। सुना है, इस कार्य के लिए लगभग ५४,०००) एकत्र हो चुके हैं।

आपने शिक्षा के माध्यम की चर्चा करते हुए दिखाया है कि सी. पी. यूनीवर्सिटी में हिन्दी की पहुँच इसलिए विशेष नहीं हुई है कि जनता का लक्ष्य उस ओर नहीं है। यदि यही बात है तो जनता का कर्तव्य है कि वह उस ओर विशेष ध्यान दे और इस प्रकार उदासीन न रहे।

'कौन्सिल में राष्ट्रभाषा' और 'सरकारी हिन्दी' पर आपके विचार बहुत ध्यान देने योग्य हैं। अभी कौन्सिल का कार्यआरम्भ नहीं हुआ है; और समय है जब कि कौन्सिल तथा ज़िला-दरबारों में हिन्दी की पहुँच की जावे। मध्यप्रान्त सरीखे हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त में यदि 'सरकारी हिन्दी' बनी रही और कौन्सिल में राष्ट्रभाषा की पहुँच न हुई, तो ग्राम-निवासी नये सुधारों के विषय में क्या जान सकेंगे और अपनी आवाज़ सरकार तक कैसे पहुँचा सकेंगे?

आपने पुस्तकालय और वाचनालय की आवश्यकता बतलाई है और जो कुछ इस विषय में कहा है वह उचित मालूम होता है। ग्रामों में हिन्दी—साहित्य के प्रचार का प्रधान उपाय पुस्तकालय और वाचनालय हैं। अतएव इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि इन्हें ग्राम ग्राम में स्थापित करने तथा ग्राम-निवासियों के लिए रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के मार्ग में किस नीति का अवलम्बन किया जाय और कौन कौन से उपाय काम में लाये जावें? ग्राम-निवासियों को इस समय कैसे साहित्य की आवश्यकता है और उसके निर्माण कराने का कर्तव्य किसका होना चाहिए? भारतवर्षीय-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के प्रचार-विभाग के समान, क्या प्रान्तीय सम्मेलन की ओर से कोई कार्य हाथ में नहीं लिया जा सकता? बाबू सा० ने गाँव गाँव में चलते-फिरते पुस्तकालयों की सृष्टि करने की सम्मति प्रकट की है। अच्छा हो, यदि प्रान्तीय सम्मेलन प्रचार का कार्य हाथ में लेकर प्रत्येक गाँव में न हो सके, तो कम से कम, प्रत्येक मुख्य स्थान में एक एक पुस्तकालय और वाचनालय की स्थापना इस वर्ष करा दे।

इस वर्ष के सम्मेलन में एक विशेषता थी और वह थी कवि-सम्मेलन का अधिवेशन, जो साहित्यभूषण पं० विनायकरावजी के सभापतित्व में सफलतापूर्वक हुआ।

साहित्य-सुमन ।

["श्रीशारदा" के इस विभाग में देशी तथा विदेशी सामयिक पत्रों के कतिपय उपयोगी लेखों के अंश उद्धृत किये जाते हैं जिससे अनेक पत्रों को पढ़ने का अवकाश न पानेवाले पाठक भी उत्तमोत्तम लेखों का कुछ लाभ उठा सकें ।]

(१) साहित्य-सेवकों का अभाव ।

लगभग अर्ध शताब्दी पहले बंग भाषा के धुरन्धर आचार्य स्वर्गीय बंकिमचंद्र चटर्जी ने बंगीय साहित्य-सेवियों को जो उपदेश दिया था वह आज दिन हिन्दी-साहित्य-सेवियों पर अक्षरशः लागू होता है । उनका उपदेश था—"यदि तुम साहित्य-सेवक बनना चाहते हो तो साहित्य के गले मत पड़ो, साहित्य को अपनी जीविका का अवलम्ब मत बनाओ ।"

इस उपदेश पर "श्री० वेंकटेश्वर समाचार" की यह टीका बहुत सत्य जँचती है कि "हिन्दी-साहित्य-सेवी (अधिकांश) साहित्य की सेवा में प्रवृत्त होकर के भी केवल जीविका-उपार्जन के यंत्र से बन जाते हैं और तिसपर भी समुचित जीविका का प्रबन्ध करने में असमर्थ होते हैं । इसलिए जो लोग साहित्य के गले पड़ जाते हैं वे साहित्य की रचना की शक्ति रखते हुए भी ऐसी रचना नहीं कर सकते जिससे भाषा ऊँचे ऊँचे भावों की भेंट को पाकर समुन्नत हो सके ।

× × ×

साहित्य को जीविका का अवलम्ब बनाने वाले (ये लोग) विशेष कर भारतीय साहित्य की वर्तमान स्थिति में—और सबसे बढ़कर हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति में—अत्यावश्यक जीविका की प्राप्ति के लिए इतना अधिक परिश्रम करने को लाचार होते हैं कि उनसे सत् साहित्य की रचना तो अलग रही, उपयोगी साहित्य तक की रचना प्रायः असम्भव होती है । उत्तम साहित्य की रचना तो दूर की बात है, उनसे प्रायः यह भी नहीं बन पड़ता कि लोक-व्यवहार की अत्यावश्यक चिट्ठियों को भी वे लिखें और हृदय के माधुर्य्य का समुचित विकास कर सकें ।"

साहित्य के गले पड़ने की बात ही का यह कारण है कि जहाँ-तहाँ अनुवाद-ग्रन्थों के सिवा मौलिक ग्रंथों के दर्शन बहुत कम होते हैं और जो होते भी हैं उनमें से ऐसे बहुत ही कम रहते हैं जिनमे भाव उच्च हों, विचार परिष्कृत हों, उपाय सहज और शक्ति के भीतर हों तथा बातें क्रियात्मक हों । या तो 'कहीं की ईंट और कहीं का रोरा' रहता है या दस पाँच प्रमुख नेताओं की वाक्यावली का संग्रह । मौलिकता बात ही और है जिसके सामने अनुवाद, संग्रह आदि नक्षत्रों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है । आवश्यकता समय के अनुसार भिन्न भिन्न होती है । अब समय है जब कि हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों की संख्या बढ़े । यदि तुलसी, सूर आदि की रचना किसी आत्मिक और क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिए होती

तो क्या वह इतनी उत्कृष्ट हो पाती? जिन बंगाली ग्रंथों ने अनुवाद के रूप में हिन्दी के नवीन साहित्य को भरा है उनके लेखक यदि ऐसे ही ध्येय वाले होते तो क्या वे इतनी ख्याति प्राप्त कर सकते? अतएव आवश्यकता है ऐसे साहित्य-सेवकों की जो दाल-रोटी की चिन्ता से विमुक्त होकर हिन्दी के साहित्य को समुन्नत करने के लिए, अपनी मौलिकता का भाण्डार ग्रन्थों के रूप में परिणत करें।

(२) विद्यार्थियों का कार्य-क्षेत्र।

श्रीयुक्त पी. के. तैलंग महाशय ने 'यंग कालेजियेट' पत्र में विद्यार्थियों के लिए कुछ उपदेश की बातें लिखी हैं। हम उन्हें उपयोगी जान यहाँ लिखते हैं। आशा है, विद्यार्थिगण उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे और अपना कार्य-क्षेत्र निश्चित करेंगे:—

ऐसे कई विद्यार्थी मिलेंगे जो अपना काम स्वयं अपने हाथों से कर सकते हैं और कई ऐसे भी होंगे जो अपनी शक्ति और बल से शारीरिक कार्य अधिक कर सकते हैं; परन्तु ऐसे बहुत कम मिलेंगे जो सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को हल कर सकें या उनपर सोच-विचार कर कोई उपाय बता सकें। प्रत्येक देश में उथल-पुथल के समय ऐसे मनुष्य बहुत मिल जाते हैं जो, कार्य की दिशा जानने पर, काम करने के लिए तैयार रहते हैं; पर वे मनुष्य नहीं मिलते जो दृढ़ता से यह बता सकें कि हमें करना क्या चाहिए।

विद्यार्थियों का, विशेष कर कॉलेजों के विद्यार्थियों का, कर्त्तव्य है कि वे जनता के अधिकारों तथा समाज की कठिन समस्याओं का अध्ययन करें और उनके दूर करने का उपाय ढूँढ निकालें। यह काम विद्यार्थियों से ही सरलता से हो सकता है; क्योंकि वे विशेष अध्ययन कर सकते हैं, और अपनी सुमति से कोई सिद्धान्त स्थिर कर उसे कार्य-रूप में परिणत कर सकते हैं। इस कार्य के लिए जितने धैर्य, अध्यवसाय, खोज और परिश्रम की आवश्यकता है वह सब उन्हीं में—केवल उन्हीं में—पाई जा सकती है। यदि वे जनता की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का विशेष अध्ययन करेंगे, तो उन्हें अपने शालीय अध्ययन में सहायता मिलेगी तथा वे ऐसा क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करेंगे जिसकी आवश्यकता देश को होगी, न कि वह जो केवल पुस्तकों में लिखा रह कर शाला की दीवालों के भीतर बना रहता है। ये विषय हमारे कॉलेजों में उन पुस्तकों तथा उन अध्यापकों द्वारा पढ़ाये जाते हैं जो दूसरे ही (पश्चिमी) वायु-मण्डल में उत्पन्न हुए हैं और इस कारण पूर्वी सिद्धान्त तथा देश की स्थिति या तो बिलकुल भुला दी जाती है या उसका वर्तमान आदर्श नितान्त नीचा बतलाकर छोड़ दिया जाता है; अतएव इन विषयों की ओर समय और शक्ति लगाने से अध्ययन में सहायता ही पहुँचेगी, बाधा नहीं।

इस ध्येय को फलवान देखकर कोई यह दृढ़ आशा कर सकता है कि जब हमारे विद्यार्थि गण इन सामाजिक प्रश्नों को जैसे, गृह-निर्म्माण, वेतन, मज़दूरों की समस्या, अनाथ कष्ट-निवारण, स्वच्छता, स्वास्थ्य-रक्षा आदि को अपने हाथ में ले लेंगे और इनको, सुयोग्य नेताओं द्वारा पूरी पूरी जाँच-पड़ताल कराके, उत्तम रीति से कार्यरूप में लावेंगे, तो हम ऐसे दूसरे कार्य हाथ में लेंगे जिन का होना विद्यार्थियों की वर्तमान शक्ति और परिस्थिति के बाहर है। भारत-सेवा-समिति ऐसा ही कार्य कर रही है और उससे यह आशा की जा सकती है कि वह अपने नेतृत्व में विद्यार्थि-संघ को लेकर इन कार्यों को आरम्भ कर दे। हाँ, एक बात पर ध्यान रखना होगा। हम जब इन विषयों का अध्ययन करने लगें, तब पाश्चात्य विचारों से लाभ उठाना न भूल जायँ। साथ ही, प्राच्य आदर्श सामने रखकर उनमें वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल हेर-फेर करें जिससे हम अपने आदर्श

आर्ष सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए वर्तमान काल में अपने पैरों पर, दूसरी सभ्य जातियों के सामने, दृढ़ता से खड़े हो सकें। कोई भी बात निश्चित करते समय हमें यह न भूल जाना चाहिए कि हम में भारतीयता की जो बातें हैं वे विलग न होने पावें; क्योंकि वे ही हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी तथा कल्याण-प्रद हैं।

(३) अतीत भारत की श्रेष्ठता।

भारतवर्ष प्राचीन काल में संसार का गुरु था। उसमें ही सबसे पहिले सब कलाओं और विद्याओं की उन्नति हुई। संसार भारत का किन किन बातों में ऋणी है इसका दिग्दर्शन डाक्टर सुधीन्द्र बोस ने अपने एक भाषण में किया है जो उन्होंने शिकागो (अमेरिका) में दिया था। उसी भाषण का सारांश पाठकों के लाभार्थ यहाँ दिया जाता है:—

"भारतवर्ष में संसार की आबादी के एक पञ्चमांश मनुष्य निवास करते हैं। उसकी मुख्य भाषा संस्कृत रही है जो संसार की आदि भाषाओं में विशेष संस्कृत और पूर्ण है। उसका व्याकरण जैसा नियमबद्ध और बृहत् है वैसा आज तक किसी भाषा का नहीं बना। भारत के दो ग्रन्थ-रत्न 'रामायण' और 'महाभारत' इतने बड़े और उत्तम हैं जितने 'इलीयड' और 'एनीड' भी नहीं।

"भारतवासियों ने ही सबसे प्रथम दशमलव, अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित का आविष्कार किया है। उन्होंने शून्य का उपयोग तथा जोड़, बाकी, गुणा, भाग ईसा की कई शताब्दी पहिले मालूम कर लिया था। उनसे ही ग्रीस और अरब देशवासी इन विषयों का ज्ञान ले गये हैं। कलाओं में उन्होंने कितनी दक्षता प्राप्त करली थी यह उनके प्राचीन ग्रन्थों से आज भी प्रकट हो सकता है। इतना सूक्ष्म भेद अभी भी दूसरे लोग नहीं कर पाये हैं जितना शताब्दियों पूर्व हिन्दू ऋषियों ने कर लिया था। एलोरा आदि स्थानों की सुरंग और गुफाओं की बनावट देखकर कोई भलीभाँति जान सकता है कि हिन्दू लोग इञ्जीनियरी में कितने प्रवीण हो गये थे। आज दिन भी जो लोह–स्तम्भ जहाँ-तहाँ खड़े हैं और जिन पर जल–वायु–प्रकाश पड़ते शताब्दियाँ हो चुकीं, वे बिना जंग खाये ज्यों के त्यों बने हैं। उन्होंने धातुओं के उपयोग का ज्ञान इतने ऊँचे दर्जे का प्राप्त किया था जितना कि अभी आधुनिक संसार नहीं कर पाया है।

"वैद्यक शास्त्र में सबसे पहिली सीढ़ी भारतवासियों ने ही पार की थी। जब एलेक्जेण्डर भारत आया था तब यहीं के वैद्यों ने उसके कई रोगी सिपाहियों को अच्छा किया था—यहाँ तक कि अन्त में हिन्दुस्थानी वैद्य ही उसके दल में औषधि का प्रयोग करते थे। सर्जरी (काट-छाँट) भी यहाँ ईसा के बहुत पहिले से होती आई है।

"विकासवाद पर भारत के ऋषियों ने स्पेन्सर और डारविन के जन्म के सैकड़ों वर्ष-पूर्व बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले थे। ऐसे ही राजनीति, धर्मनीति आदि का पूर्ण ज्ञान यहाँ वालों को सब राष्ट्रों से प्रथम हुआ है। इसके समर्थन के लिए शुक्रनीति, मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का नाम ले देना ही बस है।

"भारत में दूसरे प्राचीन राज्यों के समान गुलामों का व्यापार नहीं होता था। यहाँ के निवासी प्रजासत्तात्मक राज के लक्षण भलीभाँति जानते थे। जब यूरोपवाले जंगलों में रहते थे तब भारत के उपनिवेश दूर दूर स्थापित हो चुके थे। भारत के प्राचीन साहित्य से आज भी किसी भाषा का साहित्य टक्कर नहीं खा सकता। वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि को देखकर बड़े बड़े विदेशी विद्वान और पादरी लोग दाँतों तले अँगुली दबाकर रह गये हैं। श्रीमद्भागवत् गीता को पढ़कर सैकड़ों विदेशियों ने भारत के गौरव को मस्तक झुकाया है। जब शकुन्तला का अंग्रेजी अनुवाद यूरोप के देशों में पहिले पहिल पहुँचा तब कहीं लोगों ने जाना कि भारत असल में कैसा देश हो चुका है। उसके पूर्व भारत के सम्बन्ध में यूरोपवालों के ख्याल कुछ और ही थे। जब जर्मन विद्वान गेटी ने शकुन्तला का अनुवाद पढ़ा तो वह एक एक पद पर लट्टू हो गया। इतना ही नहीं, जिन जिन विद्वानों ने एक भी उपनिषद् पढ़ा है वे यह कहे बिना नहीं रहे कि संसार को दूसरे देशों से ताराओं का प्रकाश मिला है, पर भारतवर्ष से पूर्ण चन्द्र का।"

बोस महाशय ने जो कुछ अपने व्याख्यान में कहा है सो केवल कल्पना या भारतीय विद्वानों की सम्मति के आधार पर नहीं; किन्तु विदेशी विद्वानों की सम्मति के बल पर। उन्होंने अपने व्याख्यान में जहाँ-तहाँ अंग्रेज, जर्मन, अमेरिकन आदि विदेशी पंडितों की सम्मति देकर अपने मत की पुष्टि की है। अन्त में, उन्होंने बताया है कि अतीत भारत का उद्देश, महाकवि रवीन्द्रनाथ टगोर के शब्दों में, संसार को—जीवन का उद्देश, स्वतन्त्रता का मार्ग और ईश्वर की प्राप्ति—बतलाने का रहा था।

(४) गो-पालन।

प्राचीन समय में भारतवर्ष घी और दूध की खानि था। राजा लोग 'गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक' कहे जाने में अपना गौरव समझते थे। प्रत्येक हिन्दू अपने घर कम से कम एक गाय अवश्य रखता था; किन्तु अब खेड़ों तक में यह हाल देखने को नहीं मिलता। लोग समझते हैं कि गो-पालन बड़ी टेढ़ी खीर है। उसके खाने-पिलाने में ही सारी आमदनी खर्च हो जाती है—यहाँ तक कि उससे कुछ प्राप्त होने के बदले उलटे गाँठ के रुपये निकल जाते हैं; पर बात ऐसी नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत गोपालनारायणसेनसिंह, बी. ए., का एक विचार-पूर्ण लेख 'स्वार्थ' में प्रकाशित हुआ है। उसीकी कुछ विशेष बातें यहाँ दी जाती हैं:—

१००) रु. कीमतवाली एक नागौरी या हिसार गौ के पालने का दैनिक खर्च १=)॥। कूता है। इसमें खली, घास या भूसा, गुड़, नमक आदि सबका लेखा कर लिया गया है। रखवाली, नाद या घमला, खूटा, पगहा आदि की कीमत मिलाकर मासिक खर्च ३६।-) होता है। यदि पाँच आना गोबर आदि की बिक्री में निकाल दिया जाय तो ३६) रु. प्रतिमास खर्च होगा। लेखक महाशय का अनुभव है कि गाय १५ वें मास दूसरा बछड़ा देती है। इस विचार से १५ मास का खर्च ५४०) रु. होगा। अस्पताल, मवेशी-खाना और खर्च किये हुए रुपयों पर सूद

का हिसाब भी लगाया जावे तो सारा खर्च पौने छः सौ के लगभग होगा।

अब आय का विचार सुनिए। गाय प्रतिदिन १० सेर दूध देगी; पर यह प्रमाण सदैव नहीं रहता। घटती का ख्याल कर हिसाब इस प्रकार होगा—पहिले तीन मास १० सेर, दूसरे तीन मास ७ सेर और फिर छः मास पाँच सेर। शेष तीन मास दूध प्रायः कुछ न मिलेगा। यदि ४ सेर की दर लगाई जावे तो ६०७॥) आय होगी। इसमें एक बछड़े की कीमत १०) जोड़ दी जावे तो कुल आय ६१७॥) होती है।

आय में से व्यय निकाल दिया जावे तो मोटे हिसाब में ४०) रुपये की बचत होगी। कहिए, गो-पालन में लाभ होगा या हानि? इसके सिवा घी, दूध, दही खाने से जो स्वास्थ्य बनेगा उसका हिसाब मन में लगा लीजिए। लेखक महाशय लेख के अन्त में गो-पालन के विषय में लिखते हैं कि—

"यदि आपने कोई साधारण देशी गौ खरीदी तो नागौरी गौ के मुकाबले गौ का खर्च आधा होगा; परन्तु दूध आधे से भी कम होगा। कहने का तात्पर्य्य यह है कि देशी गौ पालने में फायदा नहीं है। परन्तु जिसके पास इतनी पूँजी नहीं है वह विवश होकर देशी गाय खरीदा ही चाहे। साधारण गौ पालने के अधिक खर्च का हिसाब करें तब भी किसी सूरत से यह नहीं कहा जा सकता कि गौ पालने वाले को तनिक भी इस बात का भय है कि वह गौ पालने के पीछे दिवालिया हो जाय। यदि हम इस ओर से उदासीन हो रहे हैं तो उसका वास्तविक कारण यह है कि हिन्दू सभ्यता और जीवन-आदर्श से हम विमुख और बेसुध हो रहे हैं। विलायती चूहा और खरगोश, शिकारी कुत्ता, चीनी मुर्गी इत्यादि पालने में हमें 'कल्चर्ड' और 'मैन आव टेस्ट' की उपाधि मिलेगी, गौ पालने पर वही पुराने बछिया के ताऊ कहलावेंगे। बेशक!"

विज्ञान-संसार।

(१) कलियुगी शुक्राचार्य।

पाठकों को राजा ययाति के असमय ही में वृद्ध हो जाने की कथा विदित होगी। साथ ही यह भी मालूम होगा कि शुक्राचार्यजी की कृपा से उन्हें युवावस्था पुनः कैसे प्राप्त हुई थी। आज कल पेरिस के डाक्टर वोरोनोफ़ का नाम जगत् प्रसिद्ध हो रहा है। आप बुड्ढे को जवान करने की युक्ति खोजने में लगे हुए हैं। दो एक पर आपने परीक्षा भी की है और कुछ सफल भी हुए हैं। इसलिए यदि आप को कलियुगी शुक्राचार्य कहें, तो अत्युक्ति नहीं।

यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि माली पौधों की क़लमें कैसे करता है और एककी क़लम दूसरेमें कैसे लगा देता है? डाक्टर वोरोनोफ़ भी सड़ी-गली हड्डियों की क़लमें कर देते हैं और उनके स्थान में अन्य जीवधारियों की हड्डियाँ जोड़ देते हैं। जिस जगह का चमड़ा बेकाम हो गया हो उस जगह झिल्ली का चमड़ा बैठा देते हैं। आपका कथन है कि बन्दर के

जोड़ों की गिलटियाँ बुड्ढे मनुष्य के जोड़ों की गिलटियों से बदल दी जावें तो मनुष्य फिर से जवान हो सकता है। आपने बन्दर के भिन्न भिन्न अवयवों को मनुष्य के सड़े-गले अवयवों के स्थान में लगाकर पूरी सफलता प्राप्त की है।

डाक्टर वोरोनोफ़ के सिद्धान्त को लेकर ब्राउन स्क्वार्ड नामक एक महाशय युवावस्था का दान करने के लिए एक नया उपाय सोच रहे हैं। आपने तरुण जीवधारियों के शरीर से एक प्रकार का रस निकाला है। चमड़े के भीतरी भाग में उसके प्रवेश करने से आप आशा करते हैं कि मनुष्य फिर से युवा हो सकेगा। अभी तक इसकी परीक्षाओं में विशेष सफलता नहीं हुई और निराशा के चिह्न भी दिखाई नहीं दिये। सम्भव है, कुछ और उन्नति करने पर पूर्ण सफलता मिल जाय।

(२) मर कर भी अमर।

ऐसा उदाहरण कहीं भी देखने में नहीं आया था कि किसी जीवधारी की मृत्यु होने के बाद भी वह जीता रहा हो; पर डाक्टर आलबर्ट एच. एवालिंग ने यह भी बहुत कुछ अंशों में सम्भव कर दिखाया। आपने सन १९१२ में एक मुर्गी के बच्चे को मार कर उसके हृदय को अलग रख छोड़ा। पाठकों को सुनकर आश्चर्य होगा कि उसके हृदय का वह टुकड़ा आज ७ साल बाद भी जीवित है और बराबर बढ़ता जाता है।

डाक्टर सा० ने हृदय के टुकड़े को एक प्रकार के रस में तर कर के रख दिया है। वह रस प्रति दूसरे दिन बदला जाता है और फिर उसमें हवा नहीं लगने पाती। रस अनेक ओषधियों का मिश्रण है जिनमें से अधिकांश भाग नई काटी हुई मुर्गियों के खून का रहता है।

(३) जूड़ी की जड़।

मलेरिया या जूड़ी-बुखार मच्छड़ों द्वारा फैलाया जाने वाला कहा जाता है। विदेशी डाक्टरों ने बड़ी बारीक जाँच करके यह पता लगाया है कि मादा मच्छड़ ही जूड़ी-बुखार को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर फैलाती है। अभी हाल में अमेरिका में इसकी जाँच फिर से हुई और डाक्टर लोग इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि जूड़ी-बुखार को फैलाने वाले मनुष्य ही हैं, न कि मच्छड़। उन्होंने ऐसे समय, जब कि जूड़ी-बुखार शहरों में न था, अनेक मच्छड़ पकड़ कर परीक्षा की; पर एकको भी ऐसा न पाया जिसमें रोग के कीटाणु हों। फिर मनुष्यों की परीक्षा की गई और १२०० में ५०० मनुष्य ऐसे मिले जो रोग फैलाने वाले निकले, अर्थात् उनके शरीर में रोग के कीटाणु पाये गये। यद्यपि उस समय वे उस रोग से पीड़ित न थे; पर ऋतु आने पर उससे स्वयं पीड़ित होते और दूसरों को करते।

(४) स्त्रियों की कृत्रिम सुन्दरता में विद्युत् की सहायता।

अनेक स्त्रियाँ अपनी सुन्दरता कृत्रिम उपायों से बढ़ाया करती हैं। हमारे यहाँ स्त्रियों के सोलह शृंगार प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक—ओठों को रंगना—को छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा शृंगार नहीं है जिससे काला सफ़ेद और सफ़ेद गुलाबी बना दिया जावे; पर यूरोप आदि सभ्य देशों में चेहरे पर सफ़ेदी होने पर भी पाउडर आदि लगाकर चेहरे की सुन्दरता बढ़ाई जाती है। इतना ही नहीं, इस कृत्रिम सुन्दरता में सैकड़ों न्यौछावर कर दिये जाते हैं।

हिन्दुस्थान के समान गुदना गुदाने की चाल अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रान्स आदि देशों में भी है। हिन्दुस्थान में गुदना बहुधा नीले रंग से ही गूदे जाते हैं; पर उन देशों में लाल या गुलाबी गुदने भी लगवाये जाते हैं। ये लाल या गुलाबी गुदने बहुधा स्त्रियाँ ही गुदवाती हैं। वहाँ कपोलों की सुन्दरता, गुलाबीपन की दृष्टि से, अधिक या कम मानी जाती है। अतएव वहाँ की स्त्रियाँ अपने कपोल और अधर गुलाबी या लाल रंग से गुदवाया करती हैं। इस इच्छा की पूर्ति में भी एक और कभी दो दो सप्ताह बड़े कष्ट से व्यतीत होते हैं; पर तब भी स्त्रियाँ 'सह वेदन सब काय औ तुलसी भो सुन होय' की उक्ति के समान इस कष्ट को सहती हैं जिससे उनके कपोलों की तुलना गुलाब के फूल की सुन्दरता से की जाय!

हाल में एक विज्ञानवेत्ता ने स्त्रियों के इस कष्ट को दूर कर दिया है। आपने एक विद्युन्-सुई तैयार की है। इससे बिना कष्ट के कपोल और अधर गुलाबी बना दिये जा सकेंगे। इस सुई में एक विशेषता और भी है कि वह चमड़े के भीतर आवश्यकता से अधिक प्रवेश नहीं करती। गुदना लगाते समय थोड़ीसी झनझनाहट होती है। जहाँ पहले सप्ताह लगते थे, वहाँ अब अधिक से अधिक १ घण्टा और कम से कम १० या १५ मिनिट लगते हैं। विद्युन्-सुई १ मिनिट में ५ हजार टोंचे मारती है। सुई के आविष्कर्त्ता का यह भी कथन है कि इससे मनचाहे रंग के गुदने गूदे जा सकते हैं। बलिहारी है उस सुई की जो यूरोप की स्त्रियों की इच्छा-पूर्ति करते हुए कृत्रिमता की सृष्टि का प्रसार करेगी! धन्य है विज्ञान के आचार्यों को जो, एक ओर पदार्थों का वास्तविक रूप प्रकट करते हैं, और दूसरी ओर यह कृत्रिमता सिखाते हैं!

(५) वायुमण्डल की बातें।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार वायुमण्डल में प्रवाह, आवह, परिवह आदि सात प्रकार की वायु बहती हैं। प्रत्येक का स्थान, मार्ग और कार्य अलग अलग बतलाया गया है। विदेशी मत के अनुसार वायु-मण्डल अधः और ऊर्द्ध्व दो भागों में विभक्त है। महायुद्ध में उड़ाकों ने वायुमण्डल में २० मील तक ऊपर जाकर, कई नवीन बातों की खोज की है। अभी तक स्कूल की पुस्तकों से यह मालूम था कि प्रत्येक ३०० फुट की ऊँचाई पर फेरिनहीट थर्मामिटर का पारा १ डिग्री नीचे आ जाता है, पर बात ऐसी नहीं है। यह नियम बहुत थोड़ी ऊँचाई तक लागू होता है। तीन मील के ऊपर प्रति १३० फुट पर फेरिनहीट का पारा १ डिग्री कम हो जाता है। दो से लगाकर पाँच मील तक यह नियम बराबर लागू होता है। सात मील के ऊपर एक आश्चर्य-जनक बात होती है। वह यह है कि पारा फिर ऊपर चढ़ने लगता है। इसके ऊपर ६७° शून्यांश हो जाता है और १८ मील के बाद केवल ४५° शून्यांश रह जाता है। जहाँ पारा फिर से चढ़ने लगता है वहीं से ही ऊर्द्ध्व विभाग माना गया है। इस ऊर्द्ध्व विभाग में न तो बादल रहते, न तूफान उठते और न कुछ हलचल ही होती है। इसमें करबन द्विओषिद और जलकण-युक्त वायु नहीं पाई जाती। वहाँ अधोभाग में पाई जानेवाली वस्तुओं में से केवल धूल पाई जाती है। धूल के सम्बन्ध से तो एक विज्ञानवेत्ता का यहाँ तक कथन है कि धूल न केवल वायु में, किन्तु समस्त अंतरिक्ष में पाई जाती है। देखें, विज्ञान की सहायता से भविष्य में वायुमण्डल के ये दो ही विभाग स्थिर होते हैं या आर्यों के स्थिर किये हुए सात।

जबलपुर के शारदाभवन-पुस्तकालय ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

श्रीशारदा



श्रीशारदा

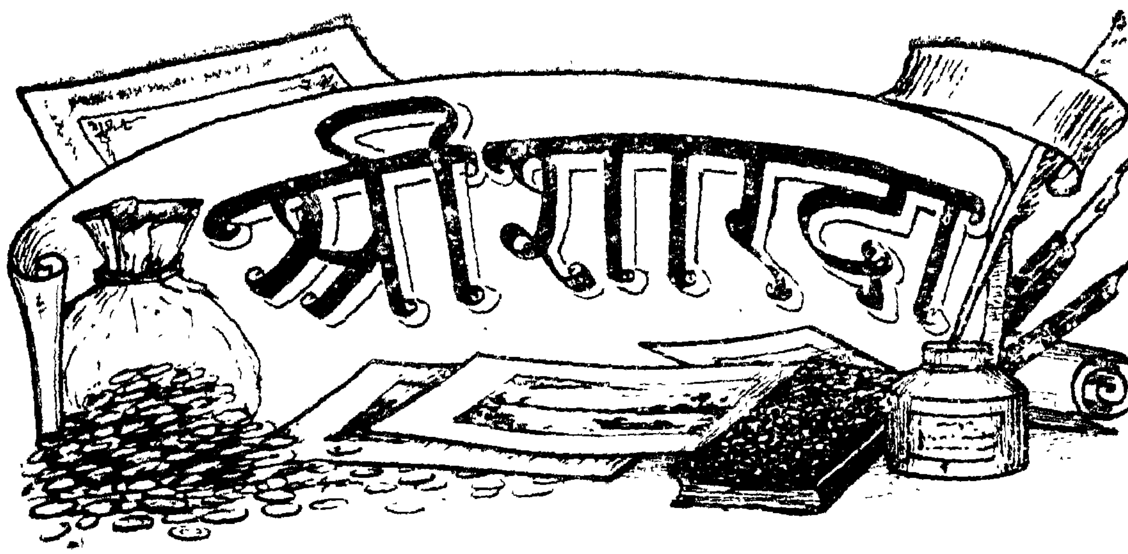


पुष्पांजय।

चित्रकार

बाबू वीरेश्वर सेन,

बी० ए०।



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड १] श्रावण शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ ॥ १६ जुलाई, १९२० [संख्या ५

जीवन-रहस्य।

(पुराने और नये सिद्धान्त)

(लेखक—अध्यापक रामदास गौड़, एम ए.)

जीवन के सम्बन्ध में हमारे प्राचीन सिद्धान्त किसी एक ग्रंथ वा दर्शन में सीमित नहीं हैं। जीवन क्या है, इसका आरंभ कब हुआ और अन्त कब और कैसे होता है इन जटिल प्रश्नों पर अनेक मुनियों, ऋषियों और विद्वानों ने विचार किया है। यदि जीवन का अन्त मरने पर ही हो जाता और आरंभ केवल माता के गर्भ में होता, अथवा ऐसा ही समझकर संतोष कर लिया जाता, तो बहुत अधिक गंभीर और रहस्य की बात न थी। आधुनिक, अर्थात् गत दो तीन सौ बरसों की उठती हुई सभ्यतावाले विद्वान, जिन्हें प्रत्यक्ष पर अधिक भरोसा है और जो कोरे अनुमान को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं जीवन के रहस्य को उस गौरव के साथ नहीं देखते, उसपर उस आदर से विचार नहीं करते, जो आदर और गौरव हमारे आस्तिक विद्वानों के विचार के साथ अपरिहार्य्य समझा जाता है। आजकल के विचार पाठकों के सामने रखने के पहले अपने यहाँ के प्राचीन सिद्धान्तों का कुछ दिग्दर्शन मात्र यहाँ कर देना अनुचित न होगा। पाठक यह देखेंगे कि आजकल के प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक जो कुछ इस सम्बन्ध में कहते हैं वह हमारे पुराने सिद्धान्तों को कहाँ तक पुष्ट करता और कहाँ तक उनका विरोध करता है।

"हमारे ब्रह्मांड के चारों ओर ऐसे ही अनन्त करोड़ ब्रह्मांड आवरणों के साथ 'प्रज्वलित' हैं।"[1] "रजकण की संख्या हो भी सके पर ब्रह्मांडों की गिनती नहीं।"[2] "उसने अपने शरीर से बहुतों को उत्पन्न करने की इच्छा से पहले द्रव वा सलिल सृजा और सलिल में बीजारोप किया उससे एक स्वर्ण के समान महा तेजोमय सूर्य्य की

१. अस्य ब्रह्मांडस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि ब्रह्मांडानि सावरणानि ज्वलन्ति। (आथर्वण महानारायण, ६)

२. संख्या चेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन। (देवी भागवत, ६।३।७)

तरह चमकता अंडा हुआ। इसी अंडे में से सब लोकों को उत्पन्न करनेवाले इस ब्रह्मांड के ब्रह्मा उत्पन्न हुए।"[1] विष्णुपुराण के अनुसार यह ब्रह्मांड सात आवरणों से घिरा हुआ है—अप, तेज, वायु, आकाश, आदिभूत, महत् और प्रकृति। देवी भागवत के अनुसार "मूल वा आदितत्त्व से आकाश, उससे वायु, वायु से तेजस्, तेजस से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।"[2] ब्रह्मा ने अमैथुन वा मानसिक रीति से पहले दैत्यों और देवों की जाति उत्पन्न की। विष्णुपुराण के अनुसार महत्, पञ्चभूत तथा इन्द्रिय शक्तियों की उत्पत्ति के पीछे, ब्रह्मा ने अचरों को उत्पन्न किया—अर्थात् खनिजों और वनस्पतियों को। वनस्पतियों के पीछे तिर्यक स्रोतों को—पक्षी आदि तथा पशुओं को—उत्पत्ति हुई। मनुष्य का जन्म सबसे पीछे हुआ। शिवपुराण का मत है कि ब्रह्मा ने अपने उत्पन्न किये जगत को जड़ पाया, तब विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु भगवान ने विराट रूप से विश्व में प्रवेश किया, सारा ब्रह्मांड जड़ से चेतन हो गया।[3] योगवासिष्ठ के अनुसार इस जगत में किसी युग में चट्टान और पहाड़ ही पहाड़ थे। फिर वनस्पतियों की बारी आयी। जगन्मात्र हरियाली से परिपूर्ण हो गया। वनस्पतियों से भरे संसार में पहले पशुओं की उत्पत्ति हुई, पीछे मनुष्य की। पुराणों में साधारणतया यह बात सब जगह मिलती है कि जलशायी नारायण से ही सृष्टि हुई और अवतारों की कथा से स्पष्ट है कि पहले मत्स्यावतार हुआ, पीछे कच्छप जो स्थल से भी सम्बन्ध रखनेवाला जन्तु है। अन्य अवतारों की चर्चा पीछे आती है। पुराणों का पंचलक्षण कहते ही हैं और सृष्टि का वर्णन करना उनका एक आवश्यक कर्त्तव्य है[1]।

पुराणों में भिन्न भिन्न कल्पों की सृष्टि के वर्णन में भी इतनी समानता पाई जाती है कि "यथापूर्वमकल्पयत्" की उक्ति में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

विज्ञान के अनुसार इस धरती की सृष्टि हुए करोड़ों बरस हो गये। आरंभ में यह ज्वलन्त वाष्पका गोला था जो बड़े वेग से अपनी धुरी पर और सूर्य के चारों ओर घूमता था। भिन्न भिन्न अंशों की भिन्न भिन्न गति थी। किसी अंश पर दो घंटे में और किसी पर चार-छः घंटों में दिनरात का चक्कर पूरा होता था। लाखों बरस में यह गोला इतना ठंढा हुआ कि वाष्पय पदार्थ जमकर द्रव अवस्था में आये। आज कल जो अत्यन्त दृढ़ चट्टान हैं वही उस समय अत्यन्त तरल और आग्नेय द्रव थीं। इसी युग में धरती के दक्षिण गोलार्ध में इस ज्वलन्त द्रव-समुद्र में महा क्षोभ उत्पन्न हुआ और एक बड़ा खंड टूटकर व्योममंडल में धरती की परिक्रमा करने लगा। वही चन्द्रमा है। उस समय तक धरती पर उस पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हुई थी जिसे आज हम "जल" कहते हैं। इसीसे चन्द्रमा निर्जल है। [आर्यभट्टादि ज्योतिषियों ने इसे जलमय शायद इसी विचार से कहा कि सूर्य की किरणें चन्द्रमा से प्रतिफलित होती हैं।] चन्द्रमा की उत्पत्ति के बहुत पीछे, जब ज्वलन्त द्रव ने आज कल के पत्थर और चट्टानों का रूप धारण किया, आँच घटी, तब उद्जन और ओषजन के संयोग से जल बना। बहुत काल तक यह जल भी निराकार वाष्पय रूपमें था। ठंढा होते होते, उबलते हुए जलके रूप में, धरती पर वर्षा होने लगी। गड्ढे धीरे धीरे भरने लगे। समुद्र लहराने लगे। विज्ञान का अनुमान है कि इसी कालमें, पहले पहल, पृथ्वी के गर्भ से ही, जल में जीवन का आविर्भाव हुआ।

१. सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥
(मनु, १।८-९)

२. देवी भागवत ७।३४ देखिए। "आकाशाद्वायुः वायोरग्निः" आदि श्रुति के वाक्यों से इसमें पूर्ण मतैक्य है।

३. शिवपुराण ४।६ (१-२०)।

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

जीवन कहीं और से नहीं आया, पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही बीज-रूप से उसमें ही स्थित था। अनुकूल समय पाकर ही इस सुरक्षित बीज ने उगना आरंभ किया। जीवन-रक्षा जल का ही काम है। शिव के वीर्य्य की रक्षा जल ने ही की, तब षडानन की उत्पत्ति हुई। नारायण का नाम ही जल की इस क्रिया का साक्षी है। जल विष्णु-रूप है। जल में ही वटपत्र पर जीवनमूल बालकरूप परमात्मा की कल्पना कल्पान्त में की जाती है। जल और वायु के नितान्त अभाव में पार्थिव जीवन का अस्तित्व ही असंभव समझा जाता है।

विज्ञान-विशारदों में जीवनोद्भव के विषय में कल्पना-भेद है। लार्ड केल्विन समझते थे कि उल्कापात द्वारा जीवन किसी अन्य ग्रह से पृथ्वी पर आया; परन्तु इस कल्पना का अब आदर नहीं है।

जीवन के बीज का उगना ज्योंही आरंभ हुआ, त्यों ही तरह तरह की योनियों की उत्पत्ति होने लगी। पहले पहले जलचरों की ही उत्पत्ति हुई होगी; क्योंकि स्थल स्वयं अभी बना नहीं था। ज्यों ज्यों स्थल जल से बाहर निकलता आया, त्यों त्यों वनस्पति और स्थलचरों का जीवन बढ़ने लगा। (मत्स्यावतार और धरती का जलमय होना, कूर्म्मावतार और धरती का मंथन और वाराहावतार के साथ धरती का पुनरुद्धार शायद इसी काल की कथाएं हैं।) स्थल-वर्ग के शरीर में, वनस्पतियों के शरीर में, जल का इतना प्राचुर्य्य है कि इन्हें जल के ही पिंड कहें, तो बहुत अनुचित न होगा। जल में अनेक प्राणी ऐसे हैं कि उनके शरीर में सौ में ९९.९ भाग जल ही है; परन्तु उनका वैयक्तिक जीवन निश्चित और उसी शरीर में सीमित है। मनुष्यों और पशुओं के शरीर में भी ठीक समुद्र का सा खारा जल भरा हुआ है। इसी खारे पानी में रक्त के असंख्य कण तैरते रहते हैं जिनके कारण रक्त लाल और गाढ़ा दिखता है।

प्राचीन सानातनिक और अर्वाचीन वैज्ञानिक दोनों इस बात में सहमत हैं कि जीवन का आरंभ अमैथुनिक सृष्टि से हुआ है। पौराणिक जन इस विषय में प्राचीन कथा को प्रमाण मानते हैं और वैज्ञानिक वर्त्तमान प्रथा को। वैज्ञानिक अपने अणुवीक्षण यंत्र से प्रत्यक्ष देखता है कि एक कोषमय अत्यन्त सूक्ष्म प्राणी जिसे अमीबा कहते हैं देखते ही देखते बढ़ता है। बढ़ते बढ़ते कुछ लम्बोत्तरा हो जाता है। फिर बड़ी ही विचित्र रीति से एक से दो हो जाता है। अब एक से दो अमीबा हो गये। दोनों अलग अलग जीवन रखनेवाले प्राणी हैं। दोनों की जीवन-वृत्ति एक सी है; परन्तु व्यक्ति दो हैं। दोनों अपनी अपनी जीवन-रक्षा, पोषण-वृद्धि अलग अलग प्राणी की तरह करते हैं। बढ़ते हैं और लम्बोत्तर होकर फिर एक एक के दो दो हो जाते हैं। इस प्रकार एक अमीबा से ४ हुए। इन्हीं ४ से, इन्हीं क्रियाओं से, तीसरी आवृत्ति में ८, चौथी में १६ इसी प्रकार दूने होते जाते हैं। जिस जगह एक अमीबा देखा गया था उसी जगह कुछ काल में असंख्य अमीबा देखे जाते हैं। अमीबा में स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है। मुखादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। भोजन के पदार्थ सर्वांग से प्रवेश करते हैं और मलत्याग, एक ओर से, अद्भुत रीति से, हो जाता है। शरीर में जल भरा हुआ है जिसमें इने-गिने सत्व पदार्थ पाये जाते हैं। पाचन आदि की क्रिया भी यद्यपि सूक्ष्म है, तथापि मनुष्य के लिए दुर्बोध है। अमैथुन सृष्टि का यह बड़ा ही सरल और सूक्ष्म नमूना है।

अमैथुन सृष्टि परमात्मा की सृष्टिकल्पना की मूर्ति है। अमीबा मानो "एकोऽहं बहुस्याम्" वाले महावाक्य को निरन्तर चरितार्थ करता रहता है। एक से अनेक होता रहता है; परन्तु जल यहाँ भी जीवनमूल ही सा है। जल के बिना यह अमैथुन सृष्टि असंभव है। अब भी ईसाइयों की उक्ति कि "परमात्मा का आत्मा आदि में जल पर तैरता था," और हमारे यहाँ पौराणिकों की उक्ति कि "नारायण जलशायी हैं और कल्पान्त में वटपत्र पर, बालरूप से, महाप्रलय के

जल पर शयन कर रहे हैं" प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित होती है। जीवन वस्तुतः जल पर शयन कर रहा है और नारायण वा विष्णु के प्रवेश से ही संसार की सृष्टि सजीव हो रही है।

मैथुन सृष्टि, बिना दो के, संभव नहीं है। शब्द ही इस बात को स्पष्ट करता है। समस्त प्राणियों में, चाहे वे किसी योनि में क्यों न हों, मैथुन सृष्टि की क्रिया एक सी है। पुरुष का वीर्याणु स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करता है अथवा डिम्ब से मिल जाता है। इसी संयोग से नवीन व्यक्ति का आरंभ होता है। आदि में यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है; परन्तु इसकी वृद्धि बड़े वेग से होती है। अनेक अमैथुन सृष्टि वाले प्राणी इस व्यक्ति के अंग अंग की रचना में लग जाते हैं; जैसे, ईंटों के जोड़ने से इमारत बनती है, वैसे ही इस बड़े प्राणी की देहरूपी इमारत इन्हीं छोटे प्राणियों की शरीररूपी ईंटों से बनती है। इन छोटे प्राणियों में भी अनेक जातियाँ हैं। कुछ तो अमैथुन सृष्टि द्वारा बढ़ती रहती हैं और कुछ वंध्या होती हैं। हमारे यहाँ देवता लोग भी इसी प्रकार संतानहीन और वृद्धिहीन समझे जाते हैं। आरंभ में इस मैथुनसृष्टि द्वारा निर्मित देह समस्त मैथुनीसृष्टि में, समस्त प्राणियों में, एक ही आकार की होती है; परन्तु ज्यों ज्यों गर्भ बढ़ता है त्यों त्यों रूप में विकार उत्पन्न होता जाता है और प्रसव के समय योनि-भेद स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। बकरी, गाय और मनुष्य का गर्भस्थ बच्चा पहले मास में एक ही रूप का होता है; परन्तु प्रसवकाल में तीनों के शरीररूपी यंत्र एकदम अलग अलग रूप और रचना के दीखते हैं और ज्यों ज्यों जन्म के बाद वृद्धि होती है योनि-भेद अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है।

वनस्पतियों की भी मैथुन-सृष्टि होती है। इनमें पराग और मकरन्द वही काम करते हैं जो पशुओं और मनुष्यों में रज और वीर्य करते हैं; परन्तु वानस्पतिक शरीर भी अनन्त प्राणियों के शरीरों का समूह होता है जो वृक्ष के वैयक्तिक जीवन से अलग अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और वृक्ष-रूपी इमारत की ईंटें हैं।

उद्भव, स्थिति, संहार अथवा सृष्टि, रक्षा और नाश ये तीनों परमात्मा की प्रवृत्ति-मार्गानुसारिणी शक्तियाँ हैं। जहाँ सृष्टि है वहाँ उसकी रक्षा और नाश निरन्तर होता रहता है। प्राणी का आविर्भाव होते ही रक्षा के लिए उसे भोजन चाहिए। साथ ही यह न भूलना चाहिए कि यदि परिवर्त्तन या विकार प्रकृति का अटल नियम न होता, तो सृष्टि ही न होती। यह विकार निर्विकार है, यह परिवर्त्तन अपरिवर्त्त है। विकार निरन्तर एक रूप से होता ही रहता है, इसका प्रवाह अनन्त और अबाध है, प्रकृति का यही रूप है, यही उसका जीवन और उसकी स्थिति एवं लक्षण है। **विकृति** का निरन्तर अबाध रूपसे, अनादि अनन्त कालतक, होते रहना ही **प्रकृति** है। यही उसकी **अव्ययता** है। शरीर बनता जाता है, रक्षार्थ भोजन मिलता है जिससे नये सूक्ष्मावयव बनते जाते हैं, पुराने क्षीण होते जाते हैं। वृद्धि और क्षय का सिलसिला चलता रहता है। जबतक वृद्धि का वेग क्षय की अपेक्षा अधिक रहता है शरीर बढ़ता रहता है। जब क्षय का वेग बढ़ता है शरीर घटने लगता है। अन्त में वृद्धि शून्य हो जाती है और क्षय पूरा होता है—इसी से यह शरीररूपी अटारी गिर जाती है और व्यक्ति मृत्युवश कहलाता है। परन्तु वे ईंटें जिन्होंने रचना में सहायता की थी अन्यत्र लगती जाती हैं या आवे में पड़ती और फिर से पककर निकलती जाती हैं और नित्य नयी इमारतें बनाती जाती हैं। घड़े के फूटने से जैसे आकाश नष्ट नहीं होता, यद्यपि घटाकाश नष्ट समझा जाता है, उसी तरह इमारत के ढल जाने से "**जीवन**" नष्ट नहीं होता, केवल उसका मटका फूट जाता है। मरने पर स्वजन वियोग-दुःख से पीड़ित हो रोते हैं; परन्तु प्रकृति की पत्थरसी छाती पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। विकार अनिवार्य है—अबाध है। जीवन

का सिलसिला तो जारी ही है। जीवन तो नष्ट हुआ ही नहीं। समुद्र में तरंगें उठती और विलीन हो जाती हैं, उनकी जगह दूसरी तरंगें उठती और विलीन होती रहती हैं। तरंगें तो केवल उस महाशक्ति के भौतिक रूप हैं जिससे महासागर विलोडित हो रहा है, बड़ी प्रबल हलचल मची हुई है। तरंगों के मिटने से शक्ति नहीं मिटती है, वह तो अनेक तरंगों में कल्लोल कर रही है।

हम नहीं जानते कि और लोगों में या और ब्रह्मांडों में जीवन किस प्रकार का होगा; परन्तु विज्ञान अभीतक पार्थिव जीवन के विषय में ही कुछ धारणाएँ रखता है। इस पार्थिव संसार में जीवन मात्र एक ही है। कमसे कम उसका प्रकार या स्वभाव सृष्टि, रक्षा और लय में एक ही है। जो वस्तु वनस्पतियों के लिए विष है वही मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर और बहुत सूक्ष्म कीटों के लिए भी विष है। यहाँतक कि खनिजों या धातुओं तक के लिए, जिन्हें हम जड़ समझते हैं संखिया घातक है। विज्ञानाचार्य सर जगदीश-चन्द्र वसु एफ़. आर. एस. ने* बीस बरस हुए अनेक प्रयोगों से यह बात सिद्ध की है। रसायन और भौतिक विज्ञान के पंडित एकमत हो यह सिद्ध कर चुके हैं कि जिन मसालों से यह सौर ब्रह्मांड बना है, प्रायः उन्हीं मसालों से दूरवीक्षणद्वारा-दृश्य समस्त ब्रह्मांड बने हुए हैं। यदि सर जगदीश की साक्षी का इसमें संयोग किया जाय तो यह निष्कर्ष भी निकल सकता है कि जीवन समस्त विश्व में एक ही होना संभव है; परन्तु उसके रूपों में अत्यन्त ताप या अत्यन्त चाप, तथा अत्यन्त शैत्य एवं अत्यल्प चाप के तारतम्य से बड़े भारी भारी अन्तर पड़ सकते हैं। जीव-विज्ञान के पंडित अभी अन्य वैज्ञानिकों से सहमत नहीं हैं। वे आत्मा एवं जीवात्मा के अस्तित्व को मानने को भी राज़ी नहीं हैं; क्योंकि जीवन का उनको शरीरातिरिक्त कोई अनुभव नहीं है।

"जीवो जीवस्य जीवनं" अथवा "जीवै जीव अहार, बिना जीव जीवै नहीं" यह हमारे यहाँ की पुरानी कहावत है। यही जीव-विज्ञान की मज़बूत नींव है, जीवन की विद्या का मूल सिद्धान्त है। संसार के रग रग में, रेशे रेशे में इसी सिद्धान्त की धारा बह रही है। ज़र्रा ज़र्रा पुकार पुकार कर इसकी गवाही दे रहा है। एक एक क्षण में इसके असंख्य प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण बुद्धि की आँखों के सामने नाच रहे हैं। मैं अपने पुस्तकालय में बैठा लिख रहा हूँ। नन्हीं लड़की पास ही खेल रही है। उसके पास एक संतरा पड़ा है, वह उसका भोग लगाने की फ़िक्र में है। सामने के बरंडे में एक तोते का पिंजरा टँगा है। एकाएकी पक्षी चीखने लगा। देखता हूँ कि बिल्ली उसकी ताक में है। बिल्ली भगा दी गयी। सामने भीत पर निगाह पड़ी तो छिपकली एक चींटे की फ़िक्र में है, और चींटा स्वयं एक दाना मुँह में दबाये भागा जा रहा है। क्या दृश्य है! मनुष्य का बच्चा संतरे के बच्चे को खाने की चिन्ता में है। पक्षी के बच्चे को पशु का बच्चा निगलकर मोटा होना चाहता है। छिपकली का बच्चा चींटे के बच्चे को और चींटे का बच्चा नाज के बच्चे को पेट में डालना चाहता है। हरएक दूसरे को चट कर जाने का अपने को अधिकारी समझता है। हम बड़े कट्टर वैष्णव या जैन हों, अहिंसा हमारा परम व्रत हो, पर नाज के जीवन को नष्ट किये बिना कहीं भगवान् को भोग लग सकता है। जैसे देशभक्त अपने जीवन को देश के लिए हवन कर देता है, जैसे भगवद्भक्त भगवान् के चरणों पर अपना जीवन निछावर करता है, जैसे मनुष्य किसी उद्देश्य, किसी अभीष्टरूपी देवाधिदेव पर अपना जीवन वार देता है, वैसे ही पशु-संसार

* एफ़. आर. एस. अर्थात् रॉयल सोसायटी का सदस्य होना वैज्ञानिक संसार में सबसे बड़ा गौरव है। अँगरेज़ लोग यह गौरव भारतीयों को जल्दी नहीं देना चाहते। अब तक यह प्रतिष्ठा दो ही भारतीयों को मिली है, एक तो स्व० रामानुजम को, दूसरी विज्ञानाचार्य वसु को। वसु महोदय को अपने आविष्कारों के मनवाने में बीस बरस झगड़ना पड़ा है, सो भी विदेशों के अखाड़ों में। —लेखक।

भी प्रकृति के किसी अभीष्ट पर निछावर है, वनस्पतिसंसार पशुसंसार की वृद्धि पर अपने को बलि दे देता है और खनिज-जगत् वनस्पति-संसार पर हवन हो जाता है। इसका फल? प्रकृति के महदुद्देश्य की पूर्ति, न्यौछावर वा बलि हो जाने वाले की वृद्धि। रावण ने शंकर जी को अपने सिर चढ़ा दिये। फल यह हुआ कि—

"एक एक के कोटिन्ह पाये"।

मरने से संसार का उपकार होता है। हाँ, कहीं कम कहीं अधिक। जो अपने छोटे से वैयक्तिक जीवन को ही "स्व" वा अपना आपा समझता है, "स्वार्थ" के लिए मरता है वह उतना उपकार नहीं कर सकता जितना कि वह प्राणी करता है जो संसार के समस्त जीवन को एक "स्व" वा अपना आपा समझता है और उस बड़े आपे पर जान देता है। उसका जीवन बढ़कर ऊँचा और विस्तृत हो जाता है—वह व्यापक और विष्णु हो जाता है।* गीता में इसी को अनेक बार समझाया है। "स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य", "स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः", "श्रेयान्स्वधर्म्मो विगुणः", "स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः", "अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः", "तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर", "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम्, जोषयेत्सर्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्"। कहाँतक कहें, एक स्थान पर इसी महान यज्ञ पर कहा है:—

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

(इत्यादि)

× प्रज्ञापारमितासूत्र के अन्त में बुद्ध भगवान की प्रार्थना है—

"प्रज्ञा पारमितां स्तुत्वा यन्मयोपचितं शुभम्।
तेनास्त्वाशु जगत्कृत्स्नं प्रज्ञापारपरायणम्।"

देखिए, स्तुति का फल अपने लिए नहीं माँगते, उसके बदले सारे जगत् को "प्रज्ञापारपरायण" बनाना चाहते हैं।

जीवन का रहस्य बहुत बड़ा विषय है। इसकी तहों के भीतर तह हैं, रहस्य के भीतर रहस्य हैं। इस जीवननाटक के असंख्य खेल हैं, बेशुमार पर्दे हैं, अगणित खिलाड़ी हैं, सभी किसी गुप्त सूत्रधार के आदेश पर चलते हैं। इस लेख का तात्पर्य्य रहस्य का उद्‌घाटन नहीं था, वरन् उस रहस्य के महत्व की एक झलक मात्र दिखानी थी। यदि पाठकों ने इस झलक का आनन्द पाया तो लेखक कृतकृत्य होगया।

मध्यप्रदेश के प्रशस्तिकार कवि।

(लेखक—"एक जबलपुरिया")

मध्यप्रदेश सतजातिया[1] होने के कारण इसे किसी ने अपनाया नहीं। बाहर से आई हुई जातियाँ अपने पुरखों के निवासस्थान को स्वदेश मानती रहीं और अब भी मानती हैं। मूल निवासी गोंड़ों को 'स्व' का गर्व ही न था। वे सदैव से निरक्षर ही रहे हैं; इसलिए साहित्य-सम्बंधी बातों में तो और भी 'स्व' का स्वाहा हो गया। तब क्या अचरज कि इस प्रदेश के कवियों का लेखा और उनका जीवन-वृत्तान्त या उनके कार्यों की सूची न मिले। इतनी उदासीनता होने पर भी छिपे हुए तारों की झिलमिलाहट अकस्मात कभी कभी आँखों पर पड़ ही जाती है।

यह सतपुड़िया प्रदेश (सतपुड़ा पर्वत पर और उसके आसपास बसा हुआ प्रांत) गत अढ़ाई हजार वर्ष के भीतर चौगुन सतराजिया[2] रहा है।

१. अर्थात् हिन्दुस्थानी, मरहठी, मालवी, तिलंगी, उड़ियानी, झारखंडी, और गोंड़वानी—इन सात प्रमुख जातियों के मेल से बने हुए जनसमूह का निवास।

२. अर्थात् सात राजवाला, उसका चौगुना २८ राजवंश द्वारा शासित।

यहाँ मौर्य,गुप्त, हूण, परिव्राजक, राजर्षितुल्यकुल, उच्चकल्पीय और सोमवंशियों का राज रहा है। यहाँ शरभपुरीय, वाकाटक, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चालुक्य, शैलवंशी और नागवंशियों ने राज ही नहीं किया, वरन अधिकांश ने अपनी राजधानियाँ स्थापित कर ली थीं। परमार, काकतीय, यादव, चन्देल, परिहार,भोंसले और गोंड़ों ने भी अपना दबदबा जमाया और तुर्क, तुग़लक, मुग़ल, फारूखी ख़िलजी, बहमनी और इमादशाहियों ने अपना दौरदौरा रक्खा। इस सूची में अनेक शिक्षित जातियाँ थीं जो साहित्य का मान करती थीं और जिनके यहाँ राजकवि उपस्थित रहते थे। वे, समय समय पर, उनका और अन्य विद्वान पंडितों का सम्मान यथोचित दानमान से करते थे और उनकी सहायता से अपने गौरव और प्रतिष्ठा का सञ्चार करते थे। ये "चौगुन सतराजिया" जो अनेक प्रशस्तियाँ और ताम्रपत्र छोड़ गये हैं उनमें इन विद्वानों और कवियों का कुछ कुछ पता लगता है। इस प्रदेश में अभी तक प्रायः २०० प्रशस्तियाँ मिली हैं। उनमें से कई प्रशस्तियों में प्रशस्तिकार का नाम नहीं दिया गया। शेष में जो नाम पाये जाते हैं उनके विषय में यहाँ चर्चा की जाती है।

उपरि-दर्शित राजकुलों के प्रथम सप्तक के १९ लेख मिले हैं। उनमें से मौर्यों के दो हैं। उनमें लेखक का नाम नहीं दिया गया। सागर ज़िले के एरन ग्राम में आदिगुप्तों के चार और मध्य एशिया के हूणों का एक लेख है; परंतु उनमें भी लेखक का नाम नहीं लिखा गया। इसी प्रकार उनके माण्डलिक राजर्षितुल्यकुल की प्रशस्ति के लेखक का नाम नहीं मिलता। हाँ, उनके उत्तरीय माण्डलिक परिव्राजकों के लेखों में अवश्य नाम अङ्कित कर दिया गया है। उनमें लेखक का सूर्यदत्त या उसका लड़का विभुदत्त और इनके पीछे के लेखों में ईश्वरदास नाम मिलता है।

उच्चकल्प अर्थात् उचहरा के महाराजाओं का लेख जबलपुर ज़िले में मिला है। उसका लेखक भोगिक गुंजकीर्ति है। यह स्वयं कवि था या दरबार के कवि–द्वारा उसने लेख लिखाया इसका कुछ ठीक पता नहीं लगता। ताम्रपत्र के अंत में लिखा है—"सम्वत्सरशते चतुःसप्तते आषाढ़-मासस्य चतुर्दशमे दिवसे अस्यां दिवसपूर्व्वायाम् लिखितम मया भोगिक राज्यिलामात्यनप्तृ भोगिक ध्रुवदत्त पुत्र भोगिक गुंजकीर्तिना"। अर्थात्, "संवत् १७४ आषाढ़ मास चतुर्दशी को मैं भोगिक गुंजकीर्ति भोगिक अमात्य राज्यिल्य के नाती या भोगिक ध्रुवदत्त के पुत्र ने लिखा"। इस लेख में जो संवत दिया है वह गुप्त संवत् है और ख्रीष्टीय सन ४९३ में पड़ता है।

द्वितीय राजकुल सप्तक के भोगकाल में कविता का प्रचुर प्रचार दीख पड़ता है। प्रशस्तियाँ प्रायः छन्दो-बद्ध लिखी गई हैं; परंतु शरभपुरीय, वाकाटक, राष्ट्रकूट और चालुक्यों के लेखों में बहुधा लेखकों का नाम छोड़ दिया गया है। अन्य तीन वंशों, अर्थात् शैलवंश, सोमवंश और कलचुरियों के लेखों में बहुधा नाम मिलता है।

शैलवंशी राजा विन्ध्या पर्वत पर राज्य करते थे। उनकी राजधानी रामटेक के पास थी। इनका एक ताम्रपत्र सर अर्नेस्ट लो साहब बहादुर ने बालाघाट ज़िले में पाया था। उसका लिखनेवाला महाचण्डपाल नामी कवि था। उसने अपना

परिचय केवल इतना ही दिया है:—"श्री श्रीवर्द्धनदेवस्य पादपद्मोपजीविना । श्री महा-चण्डपालेन लिखितम् शासनम् शुभम्" ।

महाकोशल अर्थात् छत्तीसगढ़ के सोमवंशियों के दस लेखों में भास्करभट्ट और चिन्तातुरांक ईशान इन दो कवियों के नाम मिलते हैं। ये दोनों कवि बड़े उद्भट थे।

महाकोशल की पूर्व राजधानी चाँदा ज़िले के भांदक (प्राचीन भद्रावती वा भद्रपत्तन) में थी। चीन देश का प्रसिद्ध यात्री युवान च्वांग सन ६३६ ईस्वी में वहाँ गया था और उसने वहाँ बौद्ध धर्मावलम्बी राजा पाया था। ज्ञात होता है कि उन्हीं के किसी वंशधर ने एक युवराज के महल पर से गिर कर मर जाने पर, उसके स्मरणार्थ एक बौद्धमंदिर बनवाया था। उसमें एक प्रशस्ति लगवाई थी। इस प्रशस्तिकार का नाम भास्करभट्ट था। 'सद्वर्णा जातिसुभगा विद्वान मधुकरप्रिया। कृता भास्करभट्टेन प्रशस्तिः स्रगिवोज्वला'। आपके पूरे लेख को पढ़ने से मालूम होता है कि आप कादम्बरी और वासवदत्ता अच्छी तरह जानते थे। पीछे से राजधानी रायपुर ज़िले के श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) को परिवर्तित कर दी गई। कुछ काल में सोमवंशी पुनः हिन्दू-धर्म पालन करने लगे। राजवंश शिव–उपासक था; परंतु वैष्णवों से विवाहादि संबंध होने पर भी रानियों को पंथ बदलने की आवश्यकता नहीं रहती थी। चिन्तातुरांक ईशान ने जो प्रशस्ति लिखी थी वह हरि के मन्दिर में लगाई गई थी जिसको मगध के राजा सूर्य्यवर्मा की लड़की और श्रीपुर के राजा महाशिवगुप्त की माता वासटा ने बनवाया था। उसका लड़का शैव था; परंतु वह वैष्णवी थी। ईशान बड़ा शानदार कवि जान पड़ता है। उसने विविध छन्दों में प्रशस्ति प्रस्तुत की। स्रग्धरा से आरंभ कर उसने क्रमशः हरिणी, वसन्ततिलका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीड़ित, प्रहर्षिणी, उपजाति, अनुष्टुप, वंशस्थविल, द्रुतविलम्बित, वैतालीय, आर्या आदि छंदों का उपयोग किया है। लीजिए, उसके लेख की बानगी। पहिला ही छन्द चकाचौंधी डाल देता है:—

> अन्योन्यप्रान्तरान्तर्विचलदुरुमरुत्पुञ्जगुञ्जारवोग्रै—
> रंगुल्यग्रैः स्फुरद्भिर्नखकिरणशिखा स्पष्टदंष्ट्रा करालैः ।
> क्रामन्वः पातु पञ्चानन इव चरणः प्रक्षिपन् स घनौघा—
> न्विध्वस्यध्वान्तधाम्नःकरिणःइवकिरन्मौक्तिकाभानिभानि ॥

अर्थात् "उस चक्रधारी का चरण तुम्हारी रक्षा करे। वह चरण जिसकी उग्र अंगुलियों के अंतरों से होकर वायु के वेगपूर्वक गमन से गुञ्जाफलों के समान बाद होता था और जिसके नखों से प्रकाश की किरणें निकल कर कराल जबड़े को उज्वलित कर उस समय अत्यन्त भयानक रूप दिखलाती थी, जब उन्होंने आकाश के बादलों को फाड़कर छिन्न भिन्न कर दिया, जिससे आकाश के तारे मोतियों के समान झिलमिलाने लगे। यह ठीक उस सिंह के कर्तव्य के समान था जो अंधकार के ढेर (हाथी) के मस्तक को फाड़ चहुँओर चमकते हुए गजमुक्ता को फैला देता है"।

मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार यह श्लोक नृसिंह का बोध कराता है; परंतु एक विद्वान् शास्त्रीजी कहते हैं कि इसमें त्रिविक्रम अवतार का का हवाला दिया गया है। दूसरे श्लोक में

नृसिंह का नाम खोल कर दे दिया गया है। उसको भी सुन लीजिए:—

लब्धो निर्भेत्तुमेभिर्न रिपुरिति रभसादत्तचक्षुर्नखेषु,
त्रासात्तत्क्रोडरन्ध्रोदरकुहरदरीमेव लीनं विलोक्य।
हासोल्लासावहेलं तदितरकरजाग्रेण निर्भिद्य सद्यः,
क्रोधाद्विक्षेप तज्ज्ञं मलमिव दनुजं यः स वोऽव्यान्नृसिंहः ॥

अर्थात्, "वह नृसिंह तुम्हारी रक्षा करे जिसने अपने नखों से विदीर्ण करने के लिए रिपु न पाकर उनकी ओर व्यग्रता से दृष्टि फेरी, तो क्या देखा कि शत्रु उन्हीं के गंभीर गह्वर में छिपा हुआ बैठा है। उसको पा प्रसन्न होकर, परन्तु उसकी मूर्खता पर हँस कर, उस तुच्छ जीव को दूसरे नख से निकालकर इस तरह फेंक दिया जैसे कोई नख से मैल निकालकर फेंक देता है"।

चिन्तातुराङ्क ईशान की उपमाएँ ईशान ही समझें। औरों को तो वे चिन्तातुर करके हैरान कर डालती हैं। जी चाहता है कि इस प्रशस्तिकार के पूर्ण लेख का उल्लेख यहाँ पर कर दिया जाय; परंतु वह बड़ा भारी लेख है—३ फ़ुट ८ इंच लंबा और २ फ़ुट एक इंच चौड़ा है और पौन इंची अक्षर में लिखा हुआ है। इस छत्तीसगढ़ी कवि का विवरण समाप्त करने के पूर्व उसकी उपमाओं का एक और नमूना देख लीजिए, जिससे महाकोशल में, सहस्र वर्ष पूर्व, नाटकों का विशेष प्रचार झलकता है। ईशान जी अपने राजा के पिता की प्रशंसा में लिखते हैं:—

क्षुण्णाभित्तिरनेकधा विघटिताः संध्यश्च सन्धयो,
वीथ्यंगान्यपि विक्षतानि परितः शुष्कास्थिबन्धक्रमः।
चित्रं प्रच्युतमामुखादपि कथं किं वीक्षितं साम्प्रतं,
यस्येति द्विषतां कुनाटकमिव द्विष्टं पुरं प्रेक्षकैः ॥

अर्थात्, "उसके शत्रुओं के नगर देखनेवालों के मन में घृणा उत्पन्न करते हैं; क्योंकि नगरों की दीवालें क्षुण्ण हो गई हैं, सन्धियाँ टूटगई हैं, सड़कें उखड़ गई हैं और चहुँओर सूखी हड्डियाँ फैली हुई हैं। दर्शक कहते हैं कि यहाँ क्या देखें, द्वार तक का तो पता नहीं है, ये तो उन कुनाटकों से भी गये बीते हैं जिनके पर्दे फट गये हैं, कथा नीरस है, जोड़ निकल गये हैं और बन्ध-क्रम टूट गया है।"

रसिकजन ही इसका रसास्वादन करेंगे।

तेली का बैल।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल० एल० बी०)

[१]

आँख खोलकर देख ज़रा तो, भोले-भाले बैल।
नन्दीपुर जाने के हित यह, रही कौनसी गैल ॥

[२]

पर-हित-निरत समझ तेली को, कर उसपर विश्वास।
आत्म-शक्ति और श्रमके बल पर, रखभविष्यकीआस।
कठिन परिश्रम करता है तू, चलता है दिनरात।
पर तूने न अभीतक समझी, इस तेली की घात ॥

[३]

बात बनाकर उलटी सीधी, कर तेरी मति-भंग।
तेरे श्रम-फल से वह अपना, जमा रहा है रंग ॥
भूलभुलैयाँ में पड़ कर तू, अपने हित को छोड़।
सौख्य-गान की तान निरन्तर, व्यर्थ रहा है तोड़ ॥

[४]

समझ रहा है यही अभी तक, धीरज मन में धार।
चलने से हो गई होयँगी, कई मञ्जिलें पार ॥
अब थोड़े ही दिन में दुख से, होवेगा उद्धार।
नन्दीपुर में तुझे मिलेगा, अक्षय-सुख-भण्डार ॥

[५]

इसीलिए छोड़ा है तूने, अपना हास-विलास।
आज्ञा-पालन करता है तू, खाकर सूखा घास॥
जो कुछ भी तेली देता है, उसमें कर सन्तोष।
सुन कर तू कटु वचन न मन में, लाता है कुछ रोष॥

[६]

हाथ बाँधकर खड़ा हुआ है, तू तेली के पास।
सुख-आशा से बना हुआ उस, मायावी का दास॥
किन्तु स्वार्थ-हित तुझे रखा है, उसने भ्रम में डाल।
भोला-भाला पाकर तुझको, खेल रहा है चाल॥

[७]

जिसको तूने समझ रखा है, द्रुतगामी हित-तन्त्र।
मायावी के मतलब का है, वह कोल्हू षड्यन्त्र॥
तू चलता है सीधा पर वह, गति देता है मोड़।
तेरा श्रम निष्फल कर लेता, है वह तेल निचोड़॥

[८]

चला सदा पर बढ़ा न बिलकुल, हो न तुझे यह ज्ञान।
तेरे श्रम के फल का तू कुछ कर न सके अनुमान॥
भ्रम ही में तू रहे और वह, किया करे आनन्द।
इस कारण तेली ने तेरे, चक्षु किये हैं बन्द॥

[९]

भाग न सके ताड़ भी जावे, यदि तू उसकी चाल।
इससे उसने नथनों में भी, डोर रखी है डाल॥

× × ×

पिण्ड छुड़ाने का कोल्हू से, अब कीजे उपचार।
प्रद्युम्नजी ! नन्दीपुर का, फिर करना सुविचार॥

सच्चे समाज-सुधारक।

(लेखक—बाबू मावलीप्रसाद श्रीवास्तव)

समाज-सुधार के प्रश्न पर लोगों का ध्यान बहुत समय से है। भारतवासी इस बात को जानते हैं कि भारतीय समाज अपने प्रकृत रूप में नहीं है और वे मानते हैं कि उसके दोषों को शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न आरंभ कर दिया गया है, तथापि समाज-सुधार के विषय में मत-भिन्नता की ही अधिकता पाई जाती है। मत-भिन्नता की मात्रा के अधिक होने से किसी कार्य-क्षेत्र में पूरी, दृढ़ तथा स्थायी सफलता नहीं दिखाई पड़ती; अतएव देश के हित की दृष्टि से, सम्मिलित प्रयत्न किया जाना अत्यंत आवश्यक है। जबतक हमारे समाज-सुधारक-गण इस बात की उपादेयता पर ध्यान न देंगे, तबतक लाभ की कोई संभावना नहीं है। इस लेख में यह बतलाने का प्रयत्न किया जावेगा कि समाज-सुधारकों को किस मार्ग पर चलना चाहिए।

आजकल भारतवर्ष में ऐसे महात्माओं की कमी नहीं है जो समाज-सुधार के पवित्र नाम का आश्रय लेकर, समाज के मत्थे, अपनी मनमानी मढ़ना चाहते हैं। ऐसे पुरुषों में उन्हीं लोगों की संख्या अधिक पाई जाती है जो अवस्था में तरुण और संस्कारों में पश्चिमी शिक्षा की बाहरी मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध हैं। ये लोग समाज-सुधार का परवाना लेकर मनचाही करने लगते हैं। वे चाहते हैं कि पाश्चात्य समाज का प्रत्येक आदर्श भारतीय समाज में बलपूर्वक ठूँस दिया जावे। उनका मत

यही होता है कि यदि भारतवर्ष अपने को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करना चाहता है तो उसे आँखें बंद कर पश्चिमी समाज का अनुकरण करना होगा। वे इस बात का विचार एक क्षण के लिए भी नहीं करना चाहते कि पूर्वी और पश्चिमी देशों की सभी परिस्थितियों में अंतर है। उनके समस्त उपदेशों का पहिला अध्याय यह होता है कि जबतक भारतीय समाज का पुनर्संगठन एक बिलकुल नई नींव पर न होगा, तबतक न तो भारतवासी सभ्य कहे जा सकते और न वे स्वतंत्र बनने के पात्र ही हो सकते हैं। अपने मतों की पुष्टि में वे कुछ अंधविश्वास, स्त्रियों की मूर्खता, व्यभिचार आदि का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन कर दिया करते हैं। इस वर्ग के सुधारकों के मत में सचाई का अंश बहुत ही थोड़ा और वस्तु-स्थिति तथा मनुष्य-स्वभाव के अज्ञान का अंश बहुत अधिक है।

एक दूसरे प्रकार के लोग और भी पाये जाते हैं, जिनका मत उपर्युक्त वर्ग के सुधारकों से बिलकुल भिन्न रहता है। इस वर्ग के लोगों को किसी भी विदेशी बात में उत्तमता और सद्गुण दिखाई ही नहीं पड़ता। उन्हें भारतवर्ष के बाहर की सभी चीजें दूषित दिखाई पड़ती हैं। उनका मत है कि यदि ईश्वर ने संसार में किसी देश को गुण, रूप, धर्म, उच्च साहित्य, उच्च संगीत, श्रेष्ठ कला-कौशल्य और उत्तम जलवायु का ठेका दे रक्खा है, तो वह भारतवर्ष ही है। वे चाहते हैं कि सभी महत्वपूर्ण तथा आश्चर्यकारक बातों का श्रेय केवल भारतवर्ष को दिया जावे; इसीलिए वे प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण ढूँढ़ ढूँढ़ कर और प्रमाण के अभाव में मनगढ़ंत बातें कहकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया करते हैं कि जब पश्चिमी देशों के निवासी जंगलों में, असभ्य अवस्था में, घूमा करते थे तब भारतवासी बिजली, रेडियम, सबमेरिन आदि सभी वस्तुओं का पूरा पूरा उपयोग जानते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्ग के लोग एक दूसरी सीमा के हैं और पहिले वर्ग की तरह इनका भी मत एक-पक्षीय तथा वृथाभिमान-पूर्ण है।

ऊपर के दोनों वर्गों के सुधारकों का मार्ग सफलता से कोसों दूर है। कहा जाता है कि किसी कार्य के लिए सबसे अच्छा उपाय मध्य मार्ग ही होता है और इसी सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि जहाँ एक ओर हमारे प्राचीन रीति-रस्मो, रूढ़ियों और आचार-विचारों को शीघ्र सुधारने की अनिवार्य आवश्यकता है, वहाँ दूसरी ओर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि हमारी प्राचीन सभ्यता में बहुतसी बातें प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं। जिन बातों को हम लोग कुछ दिनों के पहिले अपने पूर्व-पुरुषों की मूर्खता से भरी हुई, कपोल-कल्पित, झूठ और असंभव कहा करते थे उन्हें आज पश्चिम का वैज्ञानिक संसार सत्य और विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुकूल सिद्ध कर रहा है, जिससे आँखें खोल कर देखने से हमें मालूम होता है कि प्राचीन भारत की सभी बातों की निन्दा और तिरस्कार करना और पश्चिम का अंधानुकरण करना सर्वथा भ्रमपूर्ण तथा हानिकारक होगा। समय बदल गया है और आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं। जो आदमी केवल शुष्क वेदान्त के स्वप्नों का देखने वाला होगा उसे अखिल भूमंडल की परिवर्तित अवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। संभव है कि

कुछ बातें मनु और पाराशर के जमाने में सुभीते की ही नहीं, आवश्यक भी, रही हों; परंतु आज, बीसवीं शताब्दी में, उनकी आवश्यकता न रही हो। इसी तरह यह भी संभव है कि यदि हम वर्तमान युग के अनुकूल कुछ ऐसे नये आचार-व्यवहार प्रचलित कर लें, जो उन लोगों के समय में असुविधा-जनक और अज्ञात रहे हों, तो इसका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि हम लोग मनु अथवा प्राचीन भारतवर्ष के अभिमानी नहीं हैं। जबतक प्राचीनता तथा नवीनता का उचित और उदार मिश्रण न किया जावेगा, तबतक लाभ की आशा नहीं। यह तभी हो सकता है जब हम भारतवर्ष अथवा यूरोप की अनुचित प्रशंसा करना, नई बातों पर वृथा घृणा प्रगट करना और अपनी प्राचीन बातों पर अंधप्रेम रखना छोड़ दें तथा संसार के सभी स्थानों के गुणों का आदर करना सीखें।

समाज-सुधारकों के मार्ग में कठिनाइयों, बाधाओं और विरोध की कमी नहीं है। समाज के कुछ वयोवृद्ध नेता तथा प्राचीनता-प्रेमी सज्जन सुधारकों पर कड़े आक्षेप किया करते हैं। उनके आक्षेपों में सत्यांश का अभाव नहीं रहता। जब तक ऐसे व्यक्तियों को इस बात का विश्वास न दिलाया जावेगा कि सुधारकों का सच्चा उद्देश सचमुच स्वजाति का उत्थान है और जबतक कुछ व्यावहारिक उन्नतिकारी कार्य करके न दिखलाया जावेगा, तबतक विरोधियों की आंतरिक सहानुभूति का संपादन नहीं हो सकता। हमारे अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त अधिकांश नवयुवक बंधुगण कहा करते हैं कि समाज-सुधार के क्षेत्र में, प्राचीनताभिमानी बड़े बूढ़ों के अनुचित विरोध के कारण, अधिक कार्य हो नहीं पाते। यह आक्षेप कुछ अंशों में सत्य और अधिक अंशों में निर्मूल है। जब सब लोगों को यह मालूम हो जावेगा कि हमारे नवशिक्षित युवक अपने अदम्य उत्साह के साथ समाज का वास्तविक सुधार कर रहे हैं और उस सुधार से किसी तरह का बिगाड़ नहीं हो रहा है, तब आक्षेप करनेवालों और बाधा डालनेवालों की संख्या घट जावेगी। तात्पर्य यह कि लोगों के आक्षेपों और विरोधों पर विजय पाना सदिच्छा-प्रेरित तथा धैर्य-पूर्ण दृढ़ता के कार्यों पर अवलंबित है। जाति-हित तथा देश-कल्याण की व्यापक दृष्टि रखने पर और प्रेम-भाव की पुण्य-सलिला गंगा में अवगाहन करने पर सभी विरोध क्षण भर में विलीन हो सकते हैं। कठिनाइयों की परवाह न कर जाति-सेवी सज्जनों तथा शिक्षित समुदाय को एक सुसंगठित दल में आगे बढ़ना चाहिए।

सुधारकों को पहिले अपना सुधार करना होगा। उन्हें प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा यह बतलाना होगा कि वे जिन बातों का विनम्र उपदेश देते फिरते हैं, उनका प्रयोग वे स्वयं, अपने घर में भी, किया करते हैं और करने को सदा प्रस्तुत हैं। समाज-सुधारकों का कर्तव्य निन्दा करना नहीं है, न उन्हें यह अधिकार ही है कि वे किसी पर आक्षेप, कटाक्ष अथवा दोषारोपण किया करें। उनका पवित्र कर्तव्य सदिच्छापूर्ण कार्य करना, सब कुछ सहना और प्रत्येक परिस्थिति में आशा की शरण लेना है। निराश होने से सारा खेल बिगड़ जाता है और शीघ्रता करने से मुँह के बल गिरना पड़ता है; परन्तु आशा, धैर्य, बंधु-भाव और दृढ़ता रखने से अवश्य ही इष्ट-सिद्धि

होती है। जिस कार्य का आरंभ चरित्र-बल, ईश्वर-निष्ठा और विवेक-बुद्धि के आधार पर किया जाता है उसमें सफल होना कठिन नहीं है। समाज के विकृत रूप का सुधार करना देशोन्नति का प्रधान साधन है। आजकल भारतवर्ष में समाज-सेवा का भाव बढ़ रहा है और सेवा के महान उद्देश को लक्ष्य में रखकर अनेक समितियाँ स्थापित हो रही हैं। यह हर्ष की बात है। परन्तु कुछ समितियों में यह भ्रमात्मक विचार पाया जाता है कि समाज-सुधार और समाज-सेवा दो बिलकुल भिन्न भिन्न विषयों के नाम हैं। थोड़ा सा तात्विक विचार करने पर मालूम हो सकता है कि समाज—सुधार के कार्यों में सहायता पहुँचाना ही समाज की सच्ची सेवा करना है। समाज-सुधार का अर्थ जनता में स्वास्थ्य-संबंधी नियम प्रचलित करना, अंधविश्वास घटाना, नाशकारी रूढ़ियों को दूर करना, शिक्षा का प्रचार करना, पशुओं का बलिदान बंद करना, मद्यपान घटाना आदि है। क्या ये विषय समाज-सेवा के अंतर्गत नहीं समझे जा सकते? अस्तु, भारतमाता ऐसे सच्चे सुधारकों का स्वागत करना चाहती है जो इन प्रश्नों पर अपना जीवन अर्पण करने को तैयार हों। वह उन नामधारी सुधारकों को दूर ही से प्रणाम करना चाहती है जो सुधार के नाम पर भारतीय समाज में पश्चिमी समाज की बुराइयां और मूर्खता-पूर्ण तड़क भड़क को लादना चाहते हों।

हिन्दी में छायावाद।

(१) काव्य-स्वातन्त्र्य।

(लेखक—पंडित मुकुटधर पाण्डेय)

एक ओर कविता अपनी जन्म-कुटीर से निकल कर बाहर पैर रखती है, दूसरी ओर उसे नियमों और रीतियों-द्वारा चारों ओर से घेर रखने का यत्न आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार, थोड़े थोड़े काल के अन्तर पर, साहित्य के दो विभाग खड़े हो जाते हैं। प्रचलित भाषा में इसका नाम है—'उन्नति'। पर इसके साथ ही, एक बड़ी भारी हानि का जो सूत्रपात होता है उसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। कविता के लिए एक रीति अथवा नियम आवश्यक अवश्य है; पर यह नहीं कि वह साहित्य में हिमाचल सा अचल बना रहे, उसमें कोई परिवर्त्तन न किया जा सके और न कोई नवीनता ही लायी जा सके। यह मानना पड़ता है कि निश्चित रीति से कविता करने में कवि को अपनी प्रतिभा-धारा बहाने के लिए मार्ग ढूँढ़ निकालने को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। उसे खुदी-खुदाई नहर मिल जाती है, जिससे उसके श्रम और शक्ति की बचत होती है: किन्तु इससे उसे अपनी स्वतन्त्रता तथा सार्हसिकता दिखलाने का अवसर बिलकुल नहीं आता। अपने बच्चों को अनिष्ट की आशंका से, साहस के कामों से दूर रख कर, अधिकांश माता-पिता समझते हैं कि हमने उनका बड़ा कल्याण किया। वे यह नहीं सोचते कि ऐसा करके हम उनके साहस-पूर्ण

कार्य्य करने की इच्छा और शक्ति को दबा रहे हैं, उन्हें भीरु बना रहे हैं। बस, यही हाल यहाँ भी समझिए। बेचारा कवि धीरे २ इन रीतियों के दबाव में यहाँ तक आ जाता है कि वह उनकी सीमा से एक पग भी आगे बढ़ाना पाप समझता है। इसका फल यह होता है कि साहित्य चमत्कार–पूर्ण नये नये आविष्कारों से एकदम रिक्त रह जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि जिसे लोग 'उन्नति' कहते हैं उसी से इतनी बड़ी हानि होती है। इसका एकमात्र कारण है—'सभ्यता'। जिस देश की सभ्यता जितनी प्राचीन होगी उसके साहित्य की यह हानि भी उतनी ही बड़ी होगी। सभ्यता साहित्य में रीति–ग्रंथों का पहाड़ खड़ा कर देती है, जिसमें मौलिकता का द्वार रुक जाता है। मौलिकता का अभाव व्यक्तित्व का बाधक है जो कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना व्यक्तित्व दिखलाए, कवि-प्रतिपत्ति किसी को नहीं मिल सकती। वह व्यक्तित्व चाहे भाव में हो, भाषा में हो, छंद में हो या प्रकाशन-रीति में हो, पर कविता में हो ज़रूर। जिसकी कविता में व्यक्तित्व नहीं उसे कवि नहीं, अनुकरणकारी कहना चाहिए। इस अनुकरणकारिता का सब दोष यद्यपि रीति-ग्रन्थों ही के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता, प्रतिभा का अभाव भी उसके लिए बहुत कुछ ज़िम्मेदार है, तथापि एक बात तो ज़रूर है कि उनके फंदे में पड़ कर कवि बहुत कुछ परतन्त्र हो बैठता है। उसकी प्रतिभा स्वतन्त्र उड़ान नहीं ले सकती। वह घेरे से बाहर जाने के लिए पंख फड़फड़ाती है; पर उसके पंखों से लगी हुई रस्सी मानों उसे खींच रखती है। विचार कर देखा जाय, तो कवि की दुर्बलता ही इसका मुख्य कारण जान पड़ेगी। संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता की इच्छा रखता है, फिर उसे मानसिक-भूमि में परतन्त्र रहना क्यों पसन्द होगा यह बात समझ में नहीं आती। किन्तु नैतिक साहस के अभाव से कवि रीति–ग्रन्थों की सीमा को नहीं लाँघ सकता। वह यह नहीं सोचता कि कविता इन रीति–ग्रन्थों की अनुगामिनी नहीं, बल्कि रीति–ग्रन्थ ही कविता के 'अनुगामी' हैं। पहले कविता जन्म लेती है, फिर आलोचक-गण अपने सामने उसका आदर्श खड़ा कर नियम और रीतियाँ निश्चित करते हैं। यही बात कविता के भिन्न भिन्न भेदों के विषय में भी कही जा सकती है। महा-काव्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य आदि नाम आलोचकों ही के दिए हुए हैं। कवि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वह न तो 'महा-काव्य' लिखता, न 'खण्ड–काव्य', न 'गीति-काव्य'। वह तो केवल अपने हृदय के आवेशों को प्रकट करता है। ये आवेश जिन रूपों से बाहर होते हैं उनकी विशेषताओं पर दृष्टि रख कर आलोचक अपने आलोचन-कार्य के सुभीते के लिए उन्हें भिन्न भिन्न नाम दे देते तथा भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त कर देते हैं। साथ ही, प्रत्येक का लक्षण निर्धारित कर उसके लिए कुछ विशेष प्रकार के नियमों की सृष्टि भी कर देते हैं। यदि कोई स्वतन्त्रता-प्रिय कवि इन नियमों की साँकल को तोड़ डालता है, तो आलोचक उसे ऐसा करने से रोक तो सकता ही नहीं, लाचार उसकी इस उच्छृङ्खलता को अपवाद या किसी अन्य रूप में स्वीकार कर लेता है। कभी कभी उसे अपने नियमों में सुधार करना पड़ता है, सुधार ही नहीं,

एक नियम को रद्द कर दूसरा नियम बनाना पड़ता है। इस हेर-फेर में पड़ कर काव्य का एक रूप धीरे धीरे अन्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, यह बात साहित्य के क्रम-विकाश से सम्बन्ध रखती है। सारांश यह है कि कवि इन नियमों को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उसकी इच्छा पर ही काव्य-भेदों के जीवन-मरण का प्रश्न निर्भर है। वह स्वेच्छा-नुसार नई नई रीतियों से काम ले सकता है। अँग्रेजी का एक काव्य-मर्मज्ञ कहता है:—

"There are not only three or ten or a hundred literary kinds; there are as many kinds as there are individual poets."

अर्थात् "साहित्य के दश या पांच या सौ ही प्रकार नहीं हैं। जितने कवि हैं उसके उतने ही प्रकार हो सकते हैं।" यथार्थ में बात ठीक जान पड़ती है। यहाँ 'कवि' शब्द से तुकड़ों का बोध नहीं, प्रतिभाशाली कवियों का संकेत है। ऐसे कवि साहित्य की धारा को मोड़ कर उसे एक नई गति प्रदान करते हैं, जाति के विचार-भवन की बन्द खिड़कियों को आघात-पूर्वक खोल देते जिससे उसमें बाहर की हवा और आलोक बे-खटके आने जाने लगता है। वे परम्परा के दास नहीं रहते, साहित्य में कुछ न कुछ अपना व्यक्तित्व छोड़ जाते हैं—नवीनता स्थापित कर जाते हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया उससे मालूम हुआ होगा कि 'काव्य-स्वातन्त्र्य' भी कोई चीज़ है। अब यह देखना है कि आज दिन संसार में उसकी स्थिति क्या है? यह तो किसी से छिपा नहीं कि यह बीसवीं शताब्दी स्वतन्त्रता और नवीनता का युग है। नये नये विचारों ने आज पृथ्वी पर एक बड़ा भारी परिवर्त्तन खड़ा कर दिया है। चारों ओर से नये नये आविष्कार देखने सुनने में आ रहे हैं। यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों का तो कुछ कहना ही नहीं, वृद्ध भारत भी आज अपनी पुरानी नींद से जाग कर करवट बदलने लगा है। विज्ञान के इस नये युग में लोग देश-जाति के प्राण-स्वरूप साहित्य से उदासीन रहें—भला यह कैसे सम्भव है। आज संसार में जहाँ स्वतन्त्रता के लिए भयङ्कर लड़ाइयाँ हो रही हैं, लाखों आदमी कट रहे हैं, रक्त की नदियाँ बह रही हैं, अनेक षडयन्त्र रचे जा रहे हैं, जहाँ स्वतन्त्रता की वेदी पर बड़े बड़े राजे महाराजे बलि चढ़ाए जा रहे हैं, वहाँ उसके भाव-राज्य में भी बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ हो रही हैं। प्राचीन रीतियों और नियमों का गला कट रहा है, नई नई शैलियाँ, नई नई प्रणालियाँ उनका स्थान ले रही हैं। लोग नवीन आविष्कार करके ही नहीं रह जाते हैं। कुछ गरम दल वाले ऐसे भी हैं जो प्राचीन-पद्धति को समूल नष्ट कर देना चाहते हैं। उनका सिद्धान्त है कि जो नई रीति निकाली गई उसके प्रचार के लिए उसकी प्रशंसा और पुरानी रीति की निन्दा करनी ही चाहिए। अस्तु, यहाँ हम यह बतलाना चाहते हैं कि इन क्रांतियों के फल-स्वरूप आज साहित्य की भिन्न भिन्न रीतियों और शैलियों की संख्या इतनी बढ़ गई है कि 'अमुक इस समय का सर्वोत्तम कवि है' यह कहा ही नहीं जा सकता। दूर न जाकर बङ्ग-साहित्य को ही देखिए। वीणा, वंशी, मृदङ्ग आदि की तरल-मधुर-अस्पष्ट-स्वर-लहरी-पूर्ण 'गीताञ्जलि'-प्रणेता जो एक कवि है तो भेरी, तुरही और शङ्ख के वीरत्व-पूर्ण, विद्युत्-प्रवाही,

निनाद—मय 'मेघनाद-वध' का कर्त्ता भी कोई कवि है। इन दोनों में कोई छोटा बड़ा नहीं। उनकी परस्पर तुलना ही नहीं की जा सकती। दोनों ने अपने साहित्य को नया रूप प्रदान किया है। जो बात 'मेघनाद-वध' में है वह 'गीतांजलि' में नहीं और जो 'गीतांजलि' में है वह 'मेघनाद-वध' में नहीं।

इन क्रान्तियों का ज़ोर पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में ही अधिक है। पूर्व में जो कुछ हो रहा है उसे पश्चिमीय-क्रान्तियों का असर समझना चाहिए। भारतीय साहित्य भी इस प्रभाव से बचा नहीं। बङ्ग-साहित्य तो नवीनताओं और परिवर्त्तनों के लिए अपना दरवाजा बहुत पहिले ही खोल चुका है। हिन्दी-साहित्य यदि जागृत रहता, तो वह भी शायद ऐसा करने मे नहीं चूकता। पर, उसकी अभी नींद ही नहीं टूटी। दूर जाना तो कठिन है, वह अपने पड़ोसी साहित्यों की ओर भी एक नज़र नहीं देखता।

इन परिवर्तनों और नवीनताओं को विरोध और प्रतिवाद का सामना न करना पड़ता हो, यह बात नहीं है। संसार में 'रक्षणशील' और 'उन्नति-शील' दो दल सर्वत्र है। एक दल प्राचीन-रीति की पूज्य-सीमा की रक्षा करता है तो दूसरा उसे पैरों से कुचल डालना चाहता है। पश्चिमीय साहित्य में इस समय जो क्रान्तियाँ हो रही हैं उनके विरोधी-दलों की कमी नहीं। क्रान्तिकारियों को वे 'साहित्य-संहारक', 'उन्मार्गगामी', 'अधोगामी' कह कर गाली दे रहे हैं। बदले मे, दूसरी ओर से भी, कुछ कमी नहीं की जाती। हमारे विचार में ये दोनों बातें ठीक नहीं। दूरदर्शी और विवेकशील व्यक्ति इस दशा से मध्य—मार्ग का ही अनुगमन करते हैं। कोई नई वस्तु केवल इसीलिए त्याज्य नहीं कि वह नई है। यदि उसमें कुछ विशेषता और लाभ है, तो उसे ले लेने में हानि ही क्या ?

इस प्रकार की नवीनता—पूर्ण क्रान्तियाँ पश्चिमीय सभ्यता ही के परिणाम हैं, यह नहीं कहा जा सकता। नवीनता स्वाधीन-चेता मनीषी मात्र का ध्येय है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा का यह लक्षण ही निर्धारित किया है कि वह प्राचीन-पद्धति को छोड़ नवीन—मार्ग करती है। 'प्रज्ञा नवनवोन्मेष—शालिनी प्रतिभा मता।' कविवर बिल्हण का कथन है:—

प्रौढ़प्रकर्षेण पुराणरीति—
—व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नत—स्फोटित—कञ्चुकानि
वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥

अर्थात् "पदों को अधिक प्रौढ़ कर पुरानी परिपाटी से उलटा चलना ही अच्छा है, जिस प्रकार अत्यन्त बढ़ जाने के (या उन्नति के) कारण कञ्चुकी (चोली) को फाड़ देने वाले कान्ता के कुच—मण्डल (स्तन—युगल) की प्रशंसा की जाती है।"

कवि—कुल—गुरु कालिदास ने भी कहा है:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

अर्थात् "पुरानी होने से ही कोई बात माननीय और नई होने से ही कोई बात निन्दनीय नहीं हो सकती। पढ़े-लिखे लोग अच्छी तरह जाँच—पड़ताल कर पक्की बात को ही मानते और अज्ञानी लोग दूसरे की लकीर के पीछे लट्ठ ले चल पड़ते हैं।"

पाठको, देखिए कैसा न्याय-संगत और पक्षपात-रहित कथन है। स्वाधीन-चिन्ता इसीका नाम है।

साहित्य में इस समय जो २ क्रान्तियाँ हो रही हैं उनमें छायावाद भी एक है।

दूसरे लेख में हम यह दिखलावेंगे कि वह है क्या चीज़।

जय नर्मदे !

(लेखक—श्रीयुत भीकाजी विनोद, बी. ए.)

नर्मदे ! है नमन तुझको,
सतत निज-जन-भूति-दे !
अमरकंटक-नग-किरीटिनि !
गद्गदध्वनि-मय-सुहासिनि !
संगमर्मर-चमर-शोभिनि !
भक्त-जन-मन-काम-दे ! १ ॥
नक्रवाहिनि ! वक्रगामिनि !
विमल-तोय-सुचीर-धारिणि !
रुचिर-तुंग-तरंग-मालिनि !
अखिल-सुर-नर-शर्म-दे ! २ ॥
ओंकार-मणि-तनु-मध्य-धारिणि !
विन्ध्य-गिरि-परिसर विहारिणि !
भव्यरूपिणि ! जगत-मोहिनि !
दुरित-नाशन-वर्म दे ! ३ ॥
वन्य-कुसुमामोद-गंधिनि !
मधुप-गुञ्जित-चारु-कूलिनि !
चन्द्र-कण-मय-पुलिन-शालिनि !
सिद्धजन-मन-शान्ति-दे ! ४ ॥
समुद-नर्तित-शफर-लोचनि।
असुर-सुर-नर-गण-विलोभिनि !
दिव्य-सुखमा-खनि-विकासिनि !
निखिल-मन-सुविचार-दे ! ५ ॥

स्वामि-सेवक-नीति।

(नित्शे के नैतिक सिद्धांत)

(लेखक—पण्डित रामदयालु तिवारी, बी. ए., एल. एल. बी.)

"श्री शारदा" के तीसरे अंक में पाठकों को नित्शे के जीवन-चरित्र का कुछ परिचय दिया जा चुका है। साथ ही उसके विलक्षण विचारों का दिग्दर्शन भी किया गया है। आचरण, व्यवहार तथा नीति—संबंधी विषय पर इस विद्वान ने बड़े मौलिक सिद्धान्त प्रगट किये हैं। अतः उन में से मुख्य सिद्धान्तों का परिचय उसीके शब्दों में यहाँ दिया जाता है। प्रत्येक मननशील व्यक्ति को इनपर विचार करना चाहिए।

नीति—विषयक जितने सिद्धान्त संसार में प्रचलित हुए हैं उन सबकी छान-बीन करने पर मुझे मालूम हुआ कि नैतिक सिद्धान्तों के मुख्यतः दो विभाग किये जा सकते हैं, और इन दोनों में एक बड़े महत्त्व का अन्तर दिखाई देता है। पहिला विभाग है—स्वामियों की नीति, और दूसरा, सेवकों की नीति। संसार में आजकल ये ही दो प्रकार के नैतिक सिद्धान्त पाये जाते हैं। स्वामि—नीति के प्रवर्त्तक वे लोग हुए जिन्होंने अपने बाहु-बल से कमज़ोर लोगों को परास्त कर उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और वे अपने को उनसे सदैव श्रेष्ठ समझते रहे। वे लोग अपनी परिस्थिति के स्वामी थे और अपने समय के अधिकारी थे। उन्हें इस बात का स्वभावतः अभिमान भी था। आगे चल कर कुछ नैतिक सिद्धान्तों के प्रचारक वे लोग भी हुए जिन्हें

अपनी अशक्तता के कारण इन बलवान् लोगों से परास्त होकर, दास बनकर, रहना पड़ा। ये लोग सेवक-वर्ग के थे और अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के मनुष्य थे। इनकी संख्या बहुत अधिक थी। इस तरह दो भिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार अधिकारियों और गुलामों के द्वारा हुआ।

यूरोपीय सभ्यता के प्रारंभ काल की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो हमें यही बात स्पष्टतया दिखाई देती है। एक मनुष्य-जाति जो सशक्त और सुसंगठित है दूसरी अशक्त जाति पर आक्रमण करती है तथा विजय प्राप्त करके उसपर अपना प्रभुत्व जमाती है—उसको हज़ारों तरह से हानि पहुँचा कर अपना श्रेय-सम्पादन करती है। यूनानी और रोमन सभ्यता का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ। अभी अभी हाल में ट्यूटनस लोगों ने रोम पर इसी प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित किया। अब विचार करना चाहिए कि अधिकार जमाने वाले इन आदमियों के नैतिक विचार भलाई और बुराई के सम्बन्ध में क्या थे और वे किन तत्वों पर निर्भर किये गये थे। जिन नियमों के पालन करने से वे अपना अधिकार और प्रभुत्व बनाये रख सकते थे और उन्हें लाभ होता था उन नियमों का पालन करना उन्होंने, अपने हित-संपादन की दृष्टि से, ठीक समझा और वे स्वामि-वर्ग के लिए कर्तव्य माने गये। इसी प्रकार जिन व्यवहारों से उन्हें अपनी स्वत्व-रक्षा में बाधा जान पड़ी उन्हें इन लोगों ने अन्याय और अधर्म ठहराया। इन लोगों की दृष्टि में भले आदमी वे ही लोग थे जो उनके समान सशक्त, बलवान और अधिकारी थे। इसके सिवा जो कमज़ोर और पराधीन थे उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते थे।

यह एक स्वाभाविक बात है कि मनुष्य अपने में जिन गुणों को अच्छा समझता है उन्हीं गुणों को वह दूसरों में पाकर प्रसन्न होता और उन्हें सम्मान देता है। इसी प्रकार प्राचीन काल में स्वामि-वर्ग के लोग शारीरिक और मानसिक शक्ति को, दूसरों पर शासन करने के अधिकार को तथा शासित जाति पर कठोर और निष्ठुर होने के मानसिक बल को मनुष्योचित गुण समझते थे।

इसके विपरीत वे ही लोग गुलाम-वर्ग के लोगों में साधारणतया पाई जाने वाली कमज़ोरी और डर, चापलूसी, नीचता, विनीत भाव, और झुठाई, आदि दासत्व के गुणों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा करते थे। अधिकारी और शक्तिमान् लोग करुणा और विरक्ति को कुछ भी महत्त्व नहीं देते थे, बल्कि उन्हें मनुष्य के लिए दुर्गुण समझते थे। परन्तु आजकल यूरोप में दास-श्रेणी के लोगों की संख्या अधिक होजाने से इन दुर्गुणों की बड़ी पूजा हो रही है। उन लोगों की यह धारणा थी कि जो पुरुष है, जो अधिकारी, स्वामी और नेता होने का दावा करता है उसे अपना हृदय कट्टर, अभेद्य और कठोर बनाना चाहिए। उसे वीर, साहसी और बली होना चाहिए। उसे, समय पड़ने पर, छल और क्रूरता से भी काम लेना चाहिए; क्योंकि इन गुणों से युक्त होने पर ही, वह समर में शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। उसे दया, सहानुभूति, करुणा इत्यादि कमज़ोर भावों को भूल कर भी हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए, अन्यथा वह अपनी प्रतिष्ठा खो बैठेगा, स्वामी से सेवक हो जावेगा, अपने पुरुषत्व से हाथ धो बैठेगा।

उन लोगों का यह भी विश्वास था कि हम स्वामि-वर्ग के सिवा दूसरे लोगों से किसी भी प्रकार का व्यवहार, चाहे वह अत्यन्त क्रूरता का भी क्यों न हो, कर सकते हैं। इसके लिए हम जवाबदार नहीं। इसी बात को आजकल के गिरे हुए लोग मनुष्य-स्वभाव की एक रोमांचकारी भीषणता समझते हैं। परंतु अपनी बराबरी के लोगों से वे और ही प्रकार की नीति का पालन करते थे। चाहे बदला लेने में हो, चाहे कृतज्ञता-प्रकाश करने में हो, वे सदैव ईमानदारी से काम लेते थे और भलाई के लिए भलाई और बुराई के बदले बुराई का व्यवहार वे नियमपूर्वक किया करते थे। अपने नेता, मित्र और वयोवृद्ध लोगों के प्रति असीम भक्ति प्रकट करना वे अपना परम धर्म समझते थे। प्राचीन परिपाटी को वे बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। प्रत्येक नवीनता और परिवर्तन में उन्हें बुराई की जड़ दिखाई देती थी।

स्वामि-वर्ग के इन विजयी लोगों की संख्या प्रायः थोड़ी रहती थी और वे चारों ओर गुलाम-दल के विजित लोगों से सदैव घिरे रहते थे। इसीलिए उन्हें अपने वीरोचित गुणों की रक्षा करनी पड़ती थी और जिन शक्तियों से वे उस पद पर पहुँचे थे उनका विकास और वर्द्धन करना उन्हें अपनी अधिकार-रक्षा के लिए परमोच्च कर्त्तव्य प्रतीत होता था। अतएव उन्होंने इसे अपनी नीति और अपना परम धर्म मान लिया। उन्हें इस बात का निश्चय होगया कि हमारे जीवन और मरण दोनों इसी एक बात पर निर्भर हैं। इसीलिए उन्होंने बालकों की शिक्षा, विवाह तथा वयोवृद्ध और नवयुवकों के पारस्परिक-व्यवहार-संबंधी नियम बहुत कड़े बनाये। जिन आचरणों से उन्हें अपने प्राचीन शारीरिक और मानसिक गुणों के खो जाने का भय हुआ उन्हें उन लोगों ने एकदम बंद कर दिया। उन्हें इस बात की भी बड़ी सावधानी रखनी पड़ी कि भावी संतति में किसी भी विजातीय रुधिर का प्रवेश न होने पावे। अपनेमें जिन गुणों का उत्कर्ष उन्होंने देखा और जिन गुणों का संपादन करना अपने लिए उन स्वामियों ने उचित और लाभदायक समझा उन्हीं गुणों की कल्पना उन्होंने अधिकांश रूप में अपने देवताओं के लिए भी की। उनकी उपरोक्त कल्पना से उत्पन्न हुआ ईश्वर कैसा था? वह उपयोगी था, वह क्षति पहुँचाने वाला भी था; वह मित्र था, और शत्रु भी; कल्याणकारी था और अनर्थकारी भी।

सारांश यह कि अपनी शक्तियों का विकास करना ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। इसी इच्छा से प्रेरित होकर स्वामि-वर्ग के लोगों ने अधिकार प्राप्त करके कमज़ोरों पर अपनी प्रभुता स्थापित की। इसी इच्छा के प्रभाव से वे संसार में सुखी और शक्तिशाली भी हुए। शक्तिमान, सुखी और सौंदर्यशाली होना ही उन्होंने अपने जीवन का ध्येय स्थिर कर लिया था।

उपरोक्त स्वामि-नीति से तुलना करने पर हमें अशक्त और विजित जातियों की नीति इसके बिलकुल विपरीत मालूम होती है। अधिकार का मद, अपने बड़प्पन का ध्यान, और जीवन का आनन्द, ये स्वामि-हृदय के सब भावों में प्रधान थे। इसके विपरीत गुलामों के भाव क्या थे और क्या हो सकते थे? संसार की निस्सारता, मनुष्य-जीवन पर घोर अविश्वास और अधिकारियों से घृणा। अधिकारी मनुष्यों को वे घृणा की दृष्टि से

इसलिए देखते थे कि वे उनसे तंग किये जाते थे। इसमें संदेह नहीं कि संसार के आदिकाल से आजतक विजेतावर्ग के लोगों ने विजित जातियों पर मनमाना अत्याचार किया है और इसी के बल पर उन्होंने अपनी स्वत्व-रक्षा भी की है। आपस में बड़े लोग एक दूसरे से सम्मान और प्रेमपूर्वक मिले; परंतु विदेशी लोगों से व्यवहार करने में ये लोग सदैव निरंकुश, उच्छृंखल और स्वतंत्र होते आये। अपनी बराबरी वालों से व्यवहार करने में उनकी जो कुछ थोड़ी बहुत स्वतंत्रता छिन जाती थी वह विजित जातियों से व्यवहार करने में पूर्ण हो जाया करती थी।

उनकी धारणा थी कि हम विजित जातियों से चाहे जैसा व्यवहार कर सकते हैं। हम शेर और सिंह के बराबर हैं, और ये निरे भेड़ और बकरी के समान हैं; हम चाहे इन्हें कष्ट दें, इनका सर्वस्व हरण कर लें, इन्हें मार भी डालें, तो हमारा हाथ रोकने वाला कोई नहीं। हम अपने इन व्यवहारों के जवाबदार नहीं हैं। हम स्वामी हैं, और ये गुलाम हैं। इनकी सृष्टि केवल हमारे सुख और आनन्द के लिए हुई है। हम इनका मनमाना उपयोग कर सकते हैं। इन विचारों से प्रेरित होकर स्वामी लोग इन अशक्त आदमियों का शिकार करके प्रसन्नता पूर्वक लौटते और समझते थे कि हमने कवि वाणी के योग्य पौरुष-प्रदर्शन किया है। उनके व्यवहारों का प्रभाव गुलामों के मन पर यह हुआ कि स्वामी लोग राक्षसों के समान घृणास्पद समझे जाने लगे।

स्वामियों के इस साहस, अशक्त लोगों के प्राण और संपत्ति के लिए उनकी यह डाकुओं वृत्ति, उनके इस अपूर्व आत्म-संतोष, संहारकारी कार्यों में उनके विलक्षण आनन्द और जय, क्रूरता, निष्ठुरता, इत्यादि बातों को गुलामों ने दुर्गुणों की कक्षा में डाल दिया और उन्हें असभ्य और जंगली जातियों का प्रधान लक्षण माना। इसका निष्कर्ष यह निकला कि स्वामियों की नीति के अनुसार जो मनुष्य शक्तिमान्, अतएव भला, समझा जाता था वही गुलामों की नीति में बुरा माना गया। हृदय की कठोरता, निष्ठुरता, भयंकरता आदि भयोत्पादक बातें गुलामों की नीति में बुरी समझी गईं, और इन गुलामों की नैतिक दृष्टि में वे सब बातें अच्छी और अनुकरणीय मानी गईं जिनसे स्वामियों को स्वाभाविक घृणा थी; जैसे, सहनशीलता, करुणा, नम्रता, धैर्य, परिश्रम-शीलता, परोपकार-बुद्धि, इत्यादि।

अब हम इस बात का विचार करेंगे कि गुलामों द्वारा स्थिर किये हुए आचरण-संबंधी नियमों का विकास किस प्रकार हुआ। ईसाई मत का जन्म इन्हीं गुलामों की मंडली में हुआ और वर्तमान में प्रचलित नीति-संबंधी हमारे विचार और सिद्धान्त इन्हीं गुलामों द्वारा स्थिर किये हुए हैं।

संसार में जितने अशक्त और पतित मनुष्य हैं वे सब पुरोहित धर्मगुरु की शरण जाते हैं। यह पुरोहित क्या चीज है? यह पुरोहित स्वयं एक नीच और अधम श्रेणी का मनुष्य है; क्योंकि यह जीव अधम और पतित मनुष्यों के मनोगत भावों को अच्छी तरह पहचानता तथा उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण रीति से समझता है; परंतु उसमें अधिकार-प्रियता अवश्य है। वह अपनी प्रभुता स्थापित

करने की इच्छा से इन नीच व्यक्तियों को बहकाता और कष्ट में फँसे हुए लोगों को स्वर्ग-प्राप्ति की आशा देकर अपने ऊपर उनका विश्वास जमाता है जिससे उनके मन में झूठे भय और विश्वास का संचार होवे और वह उनका पथ-प्रदर्शक और स्वामी बन बैठे।

अपनी प्रभुता-संपादन के लिए सबसे पहले वह कमज़ोरों का पक्ष लेता और शक्तिमान मनुष्यों से उनकी रक्षा करने की कोशिश करता है। परिणाम यह होता है कि वह शक्तिशाली मनुष्यों का—स्वामियों का—कट्टर दुश्मन बन बैठता है। फिर जिनका नेता और सहायक बनकर और जिन्हें वह सदैव भ्रम में डालकर अपनी प्रभुता का आनन्द लेता है उनसे भी उसे आत्मरक्षा करनी पड़ती है। उसे इस बात की चिन्ता रात-दिन बनी रहती है कि उसके अनुगामी कहीं बुद्धिमान और विचार-शील न हो जायँ; क्योंकि उसके वैभव की इमारत लोगों की अज्ञानता की नींव पर खड़ी रहती है। पुरोहित की यही "पोपलीला" है, उसके सच्चे स्वरूप की यही झलक है। यह एक तरह से अच्छा भी है; क्योंकि अज्ञानी और अशक्त व्यक्तियों को व्यवस्थित रखकर वह उन्हें कई आपत्तियों से बचाता है, परंतु पुरोहित का यह काम इस अर्थ में बुरा है कि वह लोगों के शारीरिक और मानसिक विकास को रोक देता है। ऐसे बीमार, रोगी, अशक्त और मलीन मनुष्यों की अंतिम गति क्या है? मृत्यु और नाश। यह उनके लिए ठीक भी है; क्योंकि संसार सक्षम मनुष्यों के लिए है— निर्बलों के लिए नहीं। निर्बलों को संसार में रहने का कोई अधिकार नहीं है, और सशक्तों के द्वारा नष्ट होना ही उनकी अन्तिम गति है।

यहूदियों की जाति अत्यंत नीच और घृणित थी। उन्हीं लोगों में यह पुरोहित नामक जीवधारी पहले प्रख्यात हुआ। ये पुरोहित स्वामि-नीति के बड़े विरोधी हुए। इन मूर्खों ने तर्क का दिखावा करके स्वामि-नीति का खंडन किया और उस नीति के बिलकुल विरोधी विचार संसार में प्रचलित कर दिये। उनका कहना था कि केवल दुःखी और अनाथ प्राणी ही अच्छे हैं! केवल अशक्त, क्षीण, रोगी, कष्ट-ग्रस्त लोग ही कल्याण के भागी हैं—वे ही धर्मात्मा हैं, वे ही ईश्वर के प्यारे हैं, वे ही स्वर्ग-सुख के अधिकारी हैं। और, शक्तिमान! अधिकार के अहंकारियो! तुम्हारी गति अत्यंत शोचनीय है। न जाने भविष्य में तुम्हारी कैसी दुर्दशा होने वाली है, तुम सदैव दुःख के आँसू बहाओगे, भयंकर नरक ही तुम्हारे लिए उचित स्थान है।

ईसाई मत इस यहूदी धर्म का उत्तराधिकारी हुआ। ईसाई पुरोहितों ने भी इसी प्रकार लोगों के लिए जाल फैलाना प्रारंभ किया और आज दो हज़ार वर्ष के पश्चात् हम देखते हैं कि वे नीच भी अपनी प्रभुता चारों ओर जन-समुदाय में फैलाये हुए आत्म-गौरव में मग्न बैठे हैं।

स्वामि-नीति में उलटफेर करते हुए आत्म और इच्छा-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त भी लोगों ने दास-नीति-माला में पिरो दिये। सच पूछा जाय तो शरीर से भिन्न आत्मा ऐसी चीज़ कोई है ही नहीं। इच्छा-स्वातंत्र्य भी एक थोथी बात है। मनुष्य अपनी इच्छाओं में न स्वतंत्र है और न परतंत्र। संसार में केवल बलवती इच्छाओं का

अस्तित्व है, जो कठिन से कठिन समस्याओं को बात की बात में हल कर डालती हैं। इसके सिवा ऐसी कमजोर इच्छाएँ भी यत्र तत्र पाई जाती हैं जिनसे कुछ भी नहीं होसकता।

यह कहना कि बिजली चमकती है या बड़ा आदमी अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है एक प्रकार की आलंकारिक और भ्रम में डालने वाली भाषा है। बिजली ऐसी कोई चीज नहीं जो कभी चमके और कभी न चमके। बिजली की संज्ञा उसे उसी क्षण दी जाती है जिस क्षण वह चमकती है। वह चमक और प्रकाश से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, वह चमक और प्रकाश ही है। उसी प्रकार एक शक्तिमान् आदमी में कर्मों के द्वारा जो शक्ति प्रकट होती है उसका अस्तित्व तभी तक है जबतक उसका बाह्य जगत् में परिणाम दृष्टिगत हो रहा है। इससे अधिक वह कुछ भी नहीं है। इसके विपरीत मूर्ख आदमी यह सोचता है कि इच्छा एक शक्ति है जो अपने आविर्भाव से भिन्न है। उसकी यह भी धारणा रहती है कि मनुष्य एक जीव है जो अपने कर्मों के द्वारा प्रकट की हुई शक्तियों से भिन्न है। यथार्थ में ऐसी कोई भिन्नता नहीं है।

लोगों ने यह सिद्धान्त निकाला कि मनुष्यों में कर्मों और इन्द्रियों के द्वारा बाह्य व्यापारों को चलाने वाली एक भिन्न शक्ति छिपी हुई है जो आत्मा कहलाती है। यह आत्मा स्वतंत्र है और मनचाहा व्यापार स्वतंत्रतापूर्वक कर सकती है। एक बार इच्छा-स्वातंत्र्य का यह भ्रमात्मक सिद्धान्त ज्योंही निकाला गया त्योंही गुलाम-दल के लोगों ने उसे जकड़ कर पकड़ लिया; क्योंकि इस सिद्धान्त ने उन्हें अपने स्वामियों के बराबर सिद्ध करने का अच्छा अवसर दिया। यदि कर्मों से नहीं, तो कम से कम अपनी कल्पना में वे ऐसा समझने का साहस करने लगे कि हममें भी उतना ही इच्छा-स्वातंत्र्य है जितना स्वामियों में। हम भी यदि चाहें तो उनके बराबर—बराबर ही क्या, उनसे कई गुणा बढ़कर—हो सकते हैं।

उनकी एक दलील यह थी कि मनुष्य का मूल्य या बड़प्पन केवल उसके शक्ति-प्रदर्शन या शक्तिशालिता में नहीं, किंतु उसके बुद्धि-स्वातंत्र्य के उपयोग में है। अतएव कमजोर मनुष्य भी अपनी स्वतंत्रता का अच्छा उपयोग करके बलवान से श्रेष्ठ हो सकता है। बलवान मनुष्य सर्वत्र, प्रत्येक प्रसंग में, अपनी शक्ति से काम लेता है और बल के घमंड में फूला फिरता है। यह बुरा है। परंतु, कमजोर आदमी सदैव नम्रता से काम लेता है; क्योंकि वह इसे ठीक समझता है। उसके लिए यही आचरण ठीक भी है। निष्कर्ष यह निकला कि नम्रता से पेश आने वाला अशक्त आदमी बल और प्रभुता के मदोन्मत्तों से हजार दरजे बढ़ कर है। इन्हीं वेतुके और निर्मूल विचारों से प्रेरित होकर अशक्त, निकम्मे, नीच और सिड़ी लोग अपने दुर्गुणों और कमजोरियों को गुणों का स्वरूप देकर अपने को साधु और महात्मा समझने लगे।

गुलाम-दल के मूर्ख महात्माओं ने स्वामि-गुणों की अवहेलना करके और अपने दुर्गुणों को गुणों का स्वरूप देकर संसार को भ्रम में डालने का जो प्रयत्न किया उसका निट्शे ने बड़ा ही प्रभावशाली और चटकीला चित्र खींचा है। वह लिखता है—

भाई! इस दुनियाँ में मनुष्य-जीवन के लिए जो झूठे आदर्श तैयार किये जा रहे हैं उनका

रहस्य क्या कोई देखना चाहता है ? इतना साहस किसका है ? इस गंदे और अँधेरे कारखाने में अपने को महात्मा, ईश्वर के भेजे हुए दूत, संसार के कल्याण-कर्त्ता समझने-वाले कुछ अज्ञानी नीच आदमी मनुष्य-जीवन का ध्येय स्थिर कर रहे हैं और उसकी प्राप्ति के लिए नये नियमों का निर्माण कर रहे हैं। अरे साहसी आदमी! तू इस जगह को देखना चाहता है, तो देख। कैसा अंधेर हो रहा है! यह दुनियाँ कैसे भयानक भ्रम-जाल में पड़ रही है! अच्छा, देखो तो, वहाँ क्या है? क्या सुनाई देता है? मुझसे कहो, मैं चुपचाप सुन रहा हूँ।

(उत्तर मिलता है—) मुझे वहाँ कुछ भी नहीं दिखाई देता। केवल प्रत्येक कोने से एक प्रकार की फुसफुसाहट सुनने में आती है। मुझे मालूम होता है कि यहाँ अवश्य कुछ न कुछ दगाबाजी की जा रही है। इसमें कोई शक नहीं कि जो तुम कहते हो वही यहाँ पर हो रहा है। संसार भर में जितनी कमजोरियाँ हैं उन पर गुणों की कलई चढ़ाई जा रही है और उन्हें मनुष्य-धर्म का स्वरूप दिया जा रहा है।

अच्छा, क्या हो रहा है? कुछ वर्णन तो करो। सुनो, वह नामर्दी जो अपने प्रति किये हुए अपकार का बदला नहीं ले सकती भलाई और अच्छेपन का स्वरूप पा रही है। भीरुता और कायरता शालीनता के नाम से विभूषित हो रही है। जिन्हें हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं उनसे, अपनी शक्ति-हीनता के कारण, डर से दब जाने और उनकी इच्छा के अनुसार विवश होकर काम करने के दुर्गुण आज्ञापालन और आज्ञाकारी स्वभाव में परिणत हो रहे हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर एक है और उसकी आज्ञा हम सबको माननी चाहिए। ये लोग अपनी कमजोरी के कारण किसी को हानि नहीं पहुँचा सकते। यदि कोई इन्हें तंग करता है, तो ये अपने डरपोंकेपन के कारण उसी तंग हालत में चुपचाप पड़े रहते हैं; क्योंकि इससे अधिक वे कर ही क्या सकते हैं? तंग हालत में इस प्रकार चुपचाप पड़े रहने के ओछे और निंद्य स्वभाव को भी वे गुण समझते हैं। उसे वे "धैर्य" के नाम से पुकारते हैं। बदला लेने की असमर्थता को बदला लेने की अनिच्छा का स्वरूप दे रहे हैं। इस नामर्दी को वे 'क्षमा' कहते हैं। आगे चलकर वे कहते हैं कि शत्रु को भी प्यार करना चाहिए। क्यों? इसलिये कि शत्रु को जीतने की शक्ति तो इन निकम्मों में है ही नहीं। फिर, क्या करें? अपनी कायरता को किसी प्रकार छिपाना चाहते हैं। शत्रु का कुछ न कर सके, तो उससे प्यार ही सही।

ठीक है, मैं समझ गया, कुछ और सुनाओ।

भाई, ये लोग बड़ी बुरी हालत में हैं। इनकी स्थिति सब प्रकार शोचनीय है; परंतु ये लोग कहते हैं कि हमारी वर्तमान दशा ईश्वर की असीम कृपा का लक्षण है; क्योंकि ईश्वर जिससे प्रसन्न होता है उसे दुःख देता है। दुःख की हालत में मनुष्य बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञान के प्रभाव से वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है; अतएव ईश्वर ने यह हीनावस्था हमें हमारी भलाई के लिए दी है। इन कष्टों का अंतिम पुरस्कार हमारे लिए परमानन्द और शांति है।

और कहो। इन मूर्खों की मूर्खता सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है।

अब वे कहते हैं कि पृथ्वी के मालिक, शक्तिमान आदमियों से वे अभी तो अच्छे हैं ही, पर भविष्य में उनकी स्थिति और भी अच्छी होने वाली है। छोटे मुँह बड़ी बात! इन मूर्खों की ढिठाई तो देखिए; लेकिन अब बस करो, यहाँ की हवा दुर्गंधि से भरी हुई है। मैं यहाँ अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। यह कारखाना जहाँ मनुष्यों के दुर्गुण गुण कहे जाकर आदर्श बनाये जा रहे हैं बहुत ही गंदा है और नीच एवं घृणित आदमियों से भरा हुआ है। इन्हें देखकर कै होना चाहता है।

नहीं, थोड़ी देर और ठहरो, कुछ थोड़ा और सुनाओ।

हाँ, हाँ; अब मैं एक बात और सुनता हूँ। वे कहते हैं कि हम लोग ही उच्च-कोटि के हैं और न्यायप्रिय हैं। जो कुछ वे चाहते हैं उसे वे न्याय की जय कहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि हम अपने शत्रुओं से घृणा नहीं करते; परंतु उनके असंगत व्यवहार और निरंकुशता को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि हम किये हुए अपकारों का बदला लेना नहीं चाहते, किन्तु अनीश्वर—वादियों पर ईश्वर की जय चाहते हैं। दासत्व, रोग और अशक्तता के कारण जो यातनाएँ इस जीवन में सहनी पड़ती हैं उनको चुपचाप संतोषपूर्वक सह लेने के लिए इन मूर्खों ने एक अनोखा ढंग निकाला है। वे कहते हैं कि हमारे वर्तमान कष्टों का अंत हो जायेगा, और भविष्य जीवन में हमें चिरकाल तक शांति और सुख प्राप्त होंगे। फिर वे कहते हैं कि एक दिन ऐसा आने वाला है कि हमारे कर्मों की जाँच होगी और ईश्वर हमारी अंतिम अवस्था का निर्णय करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे सरीखे आशा, विश्वास और श्रद्धा रखने वालों को स्वर्ग प्राप्त होगा। हम वहाँ सुख से ईश्वर के पास रहेंगे।

बस करो, बस करो, अब इससे अधिक मैं नहीं सुनना चाहता।

भारतीय माताएँ और बाल-हितकारिणी प्रदर्शनी।

(लेखिका—श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधुरानी)

भारतीय माता और बाल-हितकारिणी प्रदर्शनी का द्वारोद्घाटन भारत की राजधानी दिल्ली में माननीया लेडी चेम्सफोर्ड ने २१ फरवरी, १९२० को किया। उस दिन भारत की माताओं और उनके प्राणाधार बाल—बच्चों की जीवन रक्षा के लिए एक महान फलोत्पादक वृक्ष का बीज बोया गया। उसके अमृत—रूपी फलों से हमारी भावी सन्तानों को दीर्घायु प्राप्त होगी। उस वृक्ष की वृद्धि के लिए इस देश के राजा—प्रजा, नर-नारी सबकी सम्मिलित चेष्टा और यत्न की विशेष अपेक्षा है। आज तक भारत में उन्नति—विधायिनी असंख्य सभाएँ और समितियाँ स्थापित हुई हैं; परंतु ऐसी सर्वजन—हितैषिणी सभा दृष्टि में कोई नहीं आती। इस महान परमोपकारी कार्य से भारतीय नारी-जाति के जीवन में विशेष परिवर्तन होगा। उनके लिए एक महान सुखकारी नन्दन—वन का द्वार खुल गया। इस प्रदर्शनी का प्रधान उद्देश्य है माताओं के स्वास्थ्य की रक्षा



विदुर श्रीकृष्ण के प्रति

तन। मम विनती मनहु, जनि करहु जनि जाहु।
तम का वद रहहु, तम का मुसकाहु ॥

(एक प्राचीन कवि)

सर्वाधिकार श्रीशारदा
द्वारा प्रकाशन

चित्रकार
पं०



करना और उनके बच्चों को अकाल-मृत्यु से बचाना। इसमें सन्देह नहीं कि प्रसूतियों की स्वास्थ्य-रक्षा के द्वारा ही हमारी भावी सन्तान की जीवन-रक्षा और दीर्घायु होगी।

मातृ-धर्म्म परम पवित्र है। माता की पदवी सारे जगत में सबसे अधिक पूजनीय है। परन्तु बड़े ही खेद का विषय है कि माताओं की अज्ञानता, देशवासियों की दरिद्रता और हमारे प्रचलित कुसंस्कारों की अधिकता के कारण हमारे देश में २० लाख नवप्रसूत बच्चे प्रति वर्ष अकाल मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं। क्या यह असामान्य दुःख केवल बेचारी माताओं के लिए ही है? नहीं, सारे परिवार और देश का भी दुर्भाग्य है। वन्ध्या नारी का जीवन कैसा अन्धकारमय होता है! उस बेचारी को कितनी लोक लांछना सहनी पड़ती है, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। पुत्रवती नारी सबकी आदरणीया और परम सौभाग्यवती होती है। जिस गृह में बच्चों की तोतली बोली नहीं सुनाई देती वह तो श्मशान-तुल्य है। हमारे शास्त्रकारों ने भी कहा है "सा भार्या या पतिप्राणा, सा भार्या या प्रजावती"। जिस उपवन में पक्षियों का सुमधुर कलकण्ठ सुनाई नहीं देता या जिस उद्यान में सुन्दर फूल नहीं खिलते वह उपवन और उद्यान किसे आनन्ददायी होते हैं वंश-रक्षा के कारण ही नारी जीवन का इतना गौरव हुआ है। हिन्दू विवाह का प्रधान लक्ष्य वंश-वृद्धि करना है; परन्तु जिस देश में प्रति वर्ष २० लाख कोमल बाल-कुसुम विकसित होने के पहिले या आरम्भ में ही सूख कर मुर्झा जाते हों वहाँ वंश या जाति-रक्षा और वृद्धि की आशा केवल निराशा है।

हमारी सदाशया लाट-पत्नी स्वयं सन्तानवती हैं। वे मातृत्व के सुख और गौरव को अच्छी तरह जानती हैं, इसीसे उनके कोमल मातृ-हृदय में भारतीय बच्चों की मृत्युसंख्या की वृद्धि सुनकर पुत्र-शोकाकुला माताओं के साथ समवेदना उदित हुई है। भगवान ने उन्हें जिस उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है उसपर वे यदि चाहें, तो एक दिल्ली ही में क्यों, भारत के प्रत्येक नगर और ग्राम में ऐसी हज़ारों प्रदर्शनी दिखाने का प्रबन्ध कर सकती हैं। केवल चार रोज़ का तमाशा दिखाने के लिए तो प्रदर्शनी का उद्योग हुआ नहीं है। इससे लोगों के ध्यान और दृष्टि को आकर्षण करके उनको अपनी भीतरी अवस्था दिखाकर, उन्हें भावी नवयुग के लिए तैयार होने को वे आह्वान कर रही हैं। जागो, भारत-माताओ! अपने मातृत्व का प्रकाश करो। तुम्हारी मातृशक्ति के अभाव से ही तुम्हारी सन्तान आज मृतवत हो रही हैं। मृत्युगामी वंशधरों को मृत्यु के कराल मुख से बचाओ। सन्तान का लालन-पालन और उसकी रक्षा करना केवल माता का ही काम नहीं है, पिताओं को भी इस महान् उद्देश्य के साधन में अपनी शक्ति का प्रयोग करना होगा।

स्त्री-शिक्षा का एक प्रधान अंग स्वास्थ्य-रक्षा और गृह-प्रबन्ध है जिसमें बहुत शीघ्र सुधार होना चाहिए। केवल पुरुषोचित विषयों का पाठ करके उच्च उपाधि-धारिणी बनने से ही स्त्रियाँ सुशिक्षिता नहीं होंगी। इस देश की नारियों को नारी-धर्म्म और मातृ-धर्म्म की उपयोगी शिक्षा देने का प्रबन्ध प्रत्येक पुत्री-पाठशाला में होना चाहिए। बच्चों की जीवन-रक्षा कर उन्हें देश के

स्वस्थ और बलवान अधिवासी बनाने के लिए समस्त सुसभ्य जातियों में कई वर्षों से यत्न होरहा है। पहिले इंग्लैंड में बाल-मृत्यु की संख्या में बहुत बढ़ती देख वहाँ के राजा, रानी और देश-हितैषियों को बड़ी चिन्ता हुई। श्रीमती सम्राज्ञी मेरी ने छोटे छोटे बच्चों की प्रदर्शनी करवाई। उस में बच्चों के वज़न, माताओं की वेश-भूषा, स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिए पुरस्कार दिया। सम्राज्ञी की सहृदयता और देश–हितैषियों के उद्योग से आजकल इंग्लैंड में बाल-मृत्यु बहुत घट गई है। वहाँ अब तो माताओं को शिक्षा देने के लिए अशेष उपाय हुए हैं। बच्चों का स्वास्थ्य पहिले से बहुत सुधर गया है। मृत्यु-संख्या बहुत घट गई है। अब वहाँ सबको यह विश्वास हो गया है कि हम पूर्ण चेष्टा और यत्न से अकाल मृत्यु को भी रोक सकते हैं।

हमारे देश के लोग दैवेच्छा के ऊपर अपना सारा भरोसा छोड़ बैठते हैं और स्वयं कुछ उद्योग नहीं करते। यूरोपीय महायुद्ध में जितने लोग हत हुए उनकी अपेक्षा अधिक मनुष्य इस देश में प्रतिवर्ष अनेक रोगों के द्वारा मर जाते हैं। कलकत्ते के एक सुप्रसिद्ध डाक्टर ने स्पष्ट रूप से सप्रमाण कहा है कि हिन्दूजाति दिन प्रति दिन क्षीण हो रही है। यदि इसी तरह इसका क्षय होता रहा, तो एक समय वह आवेगा (परमात्मा वह समय न दिखावे) जब हिन्दू जाति का चिह्न मात्र भी पृथ्वी पर नहीं रहेगा। क्या हमारी जाति के लिए ये सब बातें रोमाञ्चकारी नहीं हैं? हमें दैवेच्छा के ऊपर भरोसा रखना चाहिए; परन्तु अपनी शक्ति भर उद्योग भी करते जाना चाहिए। दैव–कृपा और मनुष्य का उद्योग दोनों प्रयोजनीय हैं। मृत्यु के मुख से बचकर तो कोई भी चिरकाल जीवित होकर इस दुनियाँ में नहीं रहेगा; परन्तु अकाल-मृत्यु का निवारण करना हम लोगों का परमव्रत होना चाहिए। मातृ-जाति के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए उन्हें शुद्ध पवन, जल, पुष्टिकर भोजन, और अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए हवादार घर का प्रबन्ध प्रत्येक गृहस्थ को अपनी परिस्थिति के अनुसार करने का पूर्ण प्रयत्न करना होगा। मातृ-शक्ति सब उन्नति का मूल है। उसकी वृद्धि सबको अवश्य करनी चाहिए। उसीके अभाव से हमारे देशवासी नर-नारी दिन पर दिन क्या मानसिक, क्या शारीरिक, क्या धार्मिक सब प्रकार से दुर्बल होते जाते हैं। केवल ओषधियों के प्रयोग और पेटेन्ट टानिक के सेवन से ही लाभ नहीं होगा। इसके लिए पूर्ण उद्योग और साधना की आवश्यकता है।

अब यहाँ दिल्ली की महोपकारिणी प्रदर्शनी का वर्णन संक्षेप में दिया जाता है। दिल्ली के पर्दा गार्डन के एक विशाल रम्य उद्यान भूमि में प्रदर्शनी की तैयारी की गई थी और बीच में एक छोटा सा मण्डप बनाया गया था। २१ फरवरी को ३ बजे दिन में लेडी चेम्सफोर्ड महोदया ने सभास्थल में पधार कर प्रदर्शनी का द्वार खोला। बहुतसे गण्यमान्य यूरोपियन और देशी नर-नारी और नाभा के महाराजा अपने राजकर्म्म-चारियों सहित वहाँ उपस्थित हुए थे। मण्डप के सामने कुर्सियाँ लगी हुई थीं। दर्शक–दर्शिका-गण वहाँ बैठे; परन्तु स्थान की कमी के कारण बहुतेरों को खड़े होकर ही वक्तृता सुननी पड़ी। दर्शकों के मनोरञ्जन के लिए सरकारी हाइलेण्डर बाजा भी बज रहा था। पास ही चा, पान आदि

का भी प्रबन्ध था। पर्दानशीन औरतों के लिए मण्डप के पास ही चिक से घिरा हुआ स्थान बना था; किन्तु उस दिन बहुतेरी भद्र महिलाएँ उस स्थान में न आकर भद्र पुरुषों के साथ ही सभा-मण्डप में बैठी थीं। लेडी महोदया और प्रदर्शनी के सभापति महोदय की वक्तृता बड़ी सहृदय और चिन्ता-पूर्ण थी। वे वक्तृताएँ संवाद-पत्रों में प्रकाशित होचुकी हैं; इसलिए यहाँ उनका विस्तृत उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।

प्रदर्शनी के सात विशेष विभाग ये थे:—शिशु के जन्म के पहिले का आयोजन, प्रसूतिका-गृह, प्रारम्भिक काल, बाल्यावस्था, आहतों की प्रारम्भिक चिकित्सा, गृह-सेवा, और स्वास्थ्य-उपयोगी गृहप्रबन्ध। मद्रास की मातृ और बाल-हितकारिणी सभा के काम का आदर्श भी बतलाया गया था। प्रथम पुरस्कार मद्रास की सभा को ही मिला।

लाहौरवासी लाला भगत ईश्वरदासजी के प्रबन्ध से महाभारत के समय भारत में सूतिका गृह का आदर्श कैसा उपकारी और स्वास्थ्य को उपयोगी था उसका नमूना दिखाने के लिए अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा का प्रसूतिका-गृह दिखाया गया था जो भारतीयों के लिए बड़ा गौरवास्पद था। मद्रास की निष्पीड़ित जाति की उन्नति—विधायिनी सभा ने अपने कार्यों के नमूने, जैसे, गरीबों के निवासस्थान, उनकी झोपड़ियाँ, उनकी शिक्षा, उनके स्वास्थ्य आदि विषयों में कैसे कैसे उन्नति प्राप्त हुई है, इन सबका सुन्दर दृश्य दिखाया था। एक ओर पुराने समय के नगरों की गलियाँ, संकीर्ण मार्ग, अस्वास्थ्यप्रद वायु-रुद्ध गृहों के नमूने, बहुत गन्दी मोरियों के दृश्य, और उसके निकट ही नवीन आदर्शानुयायी नगर थे जिनमें वासोपयोगी स्वास्थ्य-कर गृहश्रेणी, प्रशस्त मार्ग आदि दिखाये गये थे। उन्हें देखकर दर्शकों के चित्त पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था।

एक स्थान पर बच्चों की शिक्षा-प्रणाली, खेल-कूद, और उनके चित्त-विनोद के साधनों का वर्णन दिखाया था। दूसरे स्थान में मादक पदार्थों के सेवन से मनुष्य-देह में कैसे विकार उत्पन्न होते हैं, और उनसे उनकी भावी सन्तति का जीवन कैसा दुःखमय हो जाता है, इस विषय का दृश्य चित्रों-द्वारा बड़ी खूबी से दिखाया गया था। मक्खी, मच्छड़ और चूहे संक्रामक रोगों के कीटाणुओं को स्वस्थ मनुष्य की देह में कैसे प्रवेश करते हैं, इसका भी अच्छा चित्र खींचा गया था। स्त्री-दर्शकों के चित्त-विनोद के लिए लेडी हार्डिंज कॉलेज की कन्याओं ने शकुन्तला नाटक का अभिनय किया था। दर्शकों में केवल स्त्रियाँ ही थीं। स्थान की कमी और दर्शकों की बहुसंख्या के कारण अभिनय में पूर्ण सफलता नहीं हुई। इस प्रदर्शनी का उद्देश्य बड़ा महान् और उच्च था; परन्तु यह अप्रिय सत्य कहना उचित है कि जितने लाख रुपये इसके लिए व्यय किए गए उन्हें देखकर इसका प्रबन्ध आशानुरूप नहीं हुआ।

११॥ बजे से ४ बजे तक का समय स्त्रियों के लिए निश्चित था। ५ बजे से पुरुषों का आगमन होता था। भोपाल की बेगम साहिबा हमारी भारत-वासिनी नारियों के हितकारी कामों में सदैव सहायता देती हैं। उन्होंने इस प्रदर्शनी में भी केवल धन से नहीं, किन्तु स्वयं उपस्थित होकर और "अशिक्षित स्त्रियों के प्रति शिक्षित स्त्रियों

का कर्तव्य" विषय पर एक अच्छा भाषण उर्दू में दिया था। आपके सिवा अन्य कई महिलाओं ने भी अपने अपने भाषण सुनाये थे। एक डाक्टर सा० ने "पत्नी और बच्चों के प्रति पुरुषों का कर्तव्य" इस विषय पर एक महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया। आपने बतलाया कि पुरुषों को अपनी कन्याओं के प्रति वैसी ही उदारता प्रकट करनी चाहिए जैसी वे पुत्रों के प्रति करते हैं।

दयाशीला लेडी चेम्सफोर्ड के इस शुभ उद्योग की प्रशंसा जहाँ तक की जाय सब थोड़ी है। उन्होंने हमारी मातृजाति की जीवन-रक्षा के लिए केवल प्रदर्शनी ही नहीं करवाई, किन्तु इस देश की नारियों का स्वास्थ्य-परिदर्शन करने और उन्हें घर की सफाई और सन्तान-पालन का ज्ञान दान कराने के लिए स्वास्थ्य-परिदर्शिका-श्रेणी दिल्ली में खोली है, जो इस श्रेणी से निकलेंगी उन परिदर्शिकाओं का यह कर्तव्य होगा कि वे देशी दाइयों को शिक्षा और सहायता देंगी और मुहल्ले मुहल्ले में जा जाकर वहाँ के गृहस्थों के अन्तःपुर की सफाई, माताओं का बच्चों को पालना, बच्चों के भोजन का प्रबन्ध, आदि बातों को देखेंगी और समुचित शिक्षा देंगी। परन्तु, खेद का विषय यह है कि इस श्रेणी में पढ़ने वाली अधिकांश ईसाई हैं, हिन्दू केवल दो एक हैं। कारण कुछ हो, किन्तु मालूम होता है कि ऐसे महोपकारी कार्य सीखने के लिए हिन्दू नारियों में उदासीनता और कुछ अर्थाभाव है। सर्कारी छात्र-वृत्तियाँ अधिकतर ईसाइयों को मिलती हैं। हिन्दू मुसलमान लड़कियों के लिए प्रत्येक प्रदेश में ऐसी श्रेणी जनाना अस्पतालों के साथ खुलनी चाहिए और यथोचित व्यय के लिए वृत्तियाँ दी जानी चाहिए, और सबसे विशेष बात तो यह है कि उन्हें मातृभाषा में ही शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जावे। दिल्ली में जो श्रेणी खुली है उसमें मैट्रिक तक पढ़ी हुई लड़कियों को प्रवेश होने का अधिकार है। अंग्रेजी भाषा में स्वास्थ्य-विषयक वक्तृता समझने वाली लड़कियों को ही भर्ती करते हैं। हमारे देश में अभी तक स्त्री शिक्षा इतनी उच्च श्रेणी की नहीं हुई कि हिन्दू या मुसलमान लड़कियाँ अंग्रेजी लेक्चर समझ सकें, और यह काम जब इसी देश की औरतों में करना है तब तो हिन्दी भाषा में ही शिक्षा-दान होना उचित है। परिदर्शिकाओं को १००) रु० से २५०) रु० तक मासिक वेतन, वासगृह और मुहल्लों में परिदर्शन करने के लिए सवारी मिलेगी। पढ़ाई का काम केवल ६ महीने का है। यह सारा आयोजन हमारी नारि-जाति और उनके प्यारे बच्चों की जीवनरक्षा के लिए है। यदि देश की दशा विचार कर व्यापक रूप से इस महत् कार्य का प्रबन्ध किया जाय तो इसमें अवश्य ही सफलता होगी। ऐसे बड़े देश के लिए ऐसे अनुष्ठानों में कितने धन की आवश्यकता न होगी? यह धन इस समय कहाँ से संगृहीत हुआ? लेडी चेम्सफोर्ड महोदया ने बड़े आग्रह से धन की सहायता के लिए प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना को सुनते ही दाताओं ने धन-दान दिया। इस धन से दिल्ली में प्रसूतिकाओं के लिए एक अस्पताल बनेगा। भारत के बड़े नगरों में स्वास्थ्य-परिदर्शिका और सुशिक्षिता दाइयाँ नियुक्त होंगी। परिदर्शिका और दाइयों को शिक्षा देने के लिए विद्यालय या श्रेणियाँ खुलेंगी। पढ़नेवाली लड़कियों को वृत्तियाँ दी जावेंगी और उनके रहने के लिए आश्रम बनेंगे।

अन्त में हमारा निवेदन है कि केवल माताओं की अज्ञानता और सामाजिक रीतियाँ ही माताओं और बच्चों के अकाल-मृत्यु का कारण नहीं हैं। जिस भारत-भूमि में दूध और घी के समुद्र भरे रहते थे, जहाँ के लोग दूध-दही बेचना अनुचित समझते थे और प्यासे अतिथि की तृष्णा दूध-दही के द्वारा निवारण करते थे, आज उसी देश की यह दशा हुई है कि अपने प्राण-प्यारे बच्चों के लिए पाव भर विशुद्ध दूध नहीं मिलता। २०-२५ साल पहिले भी भारत में रुपये का १५-१६ सेर दूध और १॥ सेर घी मिलता था। जिस देश की माताओं के गर्भ से भीम, अर्जुन, राम, लक्ष्मण जैसे महाबली वीर पुरुषों का जन्म हुआ था, जो चिरकाल से वीर माता की पदवी से भूषित रही है आज उसी भारत की नारी-जाति का स्वास्थ्य इतना शोचनीय हो रहा है कि एक दो बच्चे प्रसव करते ही वह मृत्यु-गामिनी हो जाती है। न तो माताओं को पहिले जैसा भोजन मिलता है और न उनकी उचित सेवा ही होती है। दुर्बलता के कारण माता अपने बच्चे को दूध भी नहीं पिला सकती; इसलिए विदेशी कृत्रिम दूध और खाद्य जो टीन के डिब्बों या बोतलों में भर कर बाज़ार से बिकता है बच्चों को दिया जाता है। उससे आशानुरूप उपकार कैसे हो सकता है? बच्चे दुर्बल होकर मर जाते हैं। शोक-ताप से माता का हृदय दग्ध होता है। शरीर के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर और मन दोनों जब दुर्बल होते हैं तो नैतिक शक्ति भी घट जाती है। इस अभाव को दूर करने के लिए प्रत्येक नगर की म्यूनिसि-पालिटी और धनवान लोगों को उचित है कि वे अपने नगरों में विशुद्ध दूध-दही की दूकाने खोलें। उसमें सर्कार को भी सहायता करनी चाहिए जिससे गरीब माताओं को और उनके बच्चों को उचित मूल्य में विशुद्ध दूध मिल सके। इंग्लैंड और अमेरिका की सर्कार ने अपनी प्रजा-रक्षा के लिए जैसा नियम किया है वैसा ही भारत में भी प्रबन्ध होना चाहिए। राजे-महाराजों को भी उचित है कि वे अपने अपने राज्य में प्रजा के हित के लिए ऐसी ही डेरी (Dairy) स्थापित करें।

कहीं कहीं मुसलमान भाइयों ने तो गोवध-निवारण करने की प्रतिज्ञा की है; परन्तु हमारी सर्कार को उचित है कि वह भारत की प्रजा की प्राण-रक्षा के लिए इस देश में गोवध सम्पूर्ण रूप से बन्द कर दे। देह-रक्षा के लिए औषध और चिकित्सक की प्रयोजनीयता जैसी आवश्यक है वैसे ही पुष्टिकर विशुद्ध भोजन की भी ज़रूरत है। यदि राजा-प्रजा दोनों मिलकर पूर्ण यत्न करें तो इस अभाव को दूर करना कुछ भी कठिन न होगा।

संसार और हम।

(लेखक—पण्डित गिरिधर मिश्र, बी. ए.)

[१]

यह विश्व अनोखा कैसा है?
 क्या सुन्दर दृश्य दिखाते हैं।
लो, देखो, आगे सब कुछ है,
 पर पल भर में सब जाते हैं॥
वन, उपवन सुन्दर फैल रहे,
 पुष्पों का सौरभ आता है।
अरविंद, चमेली, कुंद, जुही
 को देख हृदय ललचाता है॥
तुम कहते—"मिलते हमें कहाँ,"
 तो इसमें इनका दोष नहीं।
यदि रखते दृढ़ इच्छा तो वे
 मिल सकते तुम रहो कहीं॥

[२]
यह जगती उन वीरों की है
जो शक्ति हृदय में रखते हैं।
मिल सकता क्या न भला उनको?
जो साहस-रत्न परखते हैं॥
यह कर्म-क्षेत्र समरांगण है,
जो डरते वे ही खोते हैं।
जो बढ़ते, पाते रत्न वही,
जो हटते वे ही रोते हैं॥
क्या कहते? "कितनी अड़चन हैं?"
वे रहें भले, परवाह नहीं।
दुस्साध्य उसीको जँचता है,
है चित में जिसके चाह नहीं॥

[३]
जब लगन लगी, तब पाओगे,
कटिबद्ध हुए तब साध्य सभी।
है नहीं असम्भव कुछ भी तब,
विश्वास शक्ति पर जमा जभी।
संदेह हुआ, बस भीरु हुए,
पग पग पर विघ्न सतावेगा।
रहने को भी ठौर नहीं वह
कायर इस जग में पावेगा॥
जो रहे जंगली अभी अभी
वे अब अति सभ्य कहाते हैं।
सागर की छाती फाड़ चुके,
अब उड़कर ऊपर जाते हैं॥

[४]
ऊसर में महल उठाते हैं,
जंगल में मंगल होता है।
बाधाओं का गुरु गिरिवर भी
ठोकर से रज-कण होता है॥
क्या कहा "असम्भव"? छिः भाई,
यह शब्द न मुख पर फिर लाना।
है तुमको जग में रहना तो
यह मंत्र न पल भर बिसराना—
"है जग में बाधा एक नहीं
जिसको न टाल हम सकते हैं।
विकराल काल से भी तो, हाँ,
हम ताल ठोंक लड़ सकते हैं।"

जड़विज्ञान और मानवी सभ्यता।

(लेखक—श्रीयुक्त सुखसम्पत्तिराय भण्डारी)

कुछ दिन हुए इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र 'लीडर' में प्रो० जकोब कुँभ ने उपरोक्त विषय पर एक विचार-पूर्ण और मार्मिक लेख लिखा था। इस लेख में प्रो० महाशय ने अनेक मार्के की बातें कही थीं। हमारे भारत-वर्ष ने मानवी सभ्यता के विकास में क्या सहायता पहुँचाई, इस बात पर भी आपने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। इस नई दुनियाँ में आजकल सभ्यता का कुछ विचित्र अर्थ लिया जा रहा है। दूसरे राष्ट्रों के स्वार्थों का घात कर ज्यों-त्यों अपना मतलब गाँठ लेना, दूसरों को पैरों तले दबाकर उन पर अपना आतंक जमाना वही सभ्यता समझी जाती है। इसके विपरीत कई लोग इस प्रकार की घृणित और स्वार्थपूर्ण सभ्यता को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका ख्याल है कि जिसके कारण मानवी विकास में सहायता पहुँचे, जिससे संसार में सुख, शान्ति, सहानुभूति और बंधुत्व के पवित्र भावों का प्रचार हो, जिसके कारण सृष्टि देवी के नये नये

रहस्य खुलते जावें, जिससे मानवी सुख-वृद्धि के नये नये उपायों की सृष्टि होती जावे, जिसके कारण मानवी हृदय में पवित्र और दिव्य भावों का विकास हो वही सभ्यता है। हम भारतवासी इसी दूसरी प्रकार की सभ्यता को वास्तविक सभ्यता मानते आ रहे हैं। समस्त संसार को शुभ दृष्टि से देखना, संसार के हित में अपना हित समझना, यही पवित्र उद्देश भारतवासियों का सदा से रहा है। उनकी सभ्यता का यह मूल सिद्धान्त है कि "अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्, उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्," अर्थात "यह मेरा और यह दूसरे का, ये विचार छोटे हृदयों के होते हैं, उदारहृदय मनुष्यों के लिए सारा संसार ही कुटुम्ब के समान है।" यही कारण है कि भारतवासियों ने प्राचीन-काल में भी, जब उनकी सभ्यता और शक्ति का सितारा खूब चमक रहा था, दूसरे राष्ट्रों के स्वार्थों का हनन कभी नहीं किया, क्योंकि संसार में सुख, शांति और दिव्य भावों का प्रचार करना ही उन्होंने अपनी सभ्यता का मुख्य उद्देश समझ रखा था।

पर, आधुनिक समय में सभ्यता का अर्थ कुछ और ही समझा जाता है। अब आधिभौतिक उन्नति ही सभ्यता का जीवन समझी जाती है। संसार में जो नये नये आविष्कार हो रहे हैं, चाहे वे मानवजाति के लिए कितने ही विनाशक क्यों न हों, सभ्यता के विकास के कारण समझे जाते हैं। जड़विज्ञान की वृद्धि को ही लोग सभ्यता का जीवन-स्वरूप मानने लगे हैं। पर प्रो० जेकोब महाशय का कथन है कि जड़-विज्ञान चाहे जैसा महत्वपूर्ण और मनोरंजक क्यों न हो, पर यह सभ्यता का मूल अथवा फल नहीं कहा जा सकता। अणु, परमाणु और इलेक्ट्रोन की अद्भुत क्रियाएँ तथा चमत्कार और उनकी आश्चर्यकारक और प्रचण्ड शक्तियों का पता आधुनिक जड़ विज्ञान ने लगाया है; पर इनका सम्बन्ध जड़ सृष्टि ही से है। भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, आदि सभी का सम्बन्ध भौतिक सृष्टि से ही है। आधुनिक मनोविज्ञान नैसर्गिक शास्त्र होते हुए भी जीव और चेतनशक्ति को अस्वीकार करता है। शरीर-शास्त्र सजीव और निर्जीव पदार्थ में कुछ अन्तर नहीं समझता। आधुनिक जीव-विज्ञान मनुष्य और पशुओं की तुलना कर मनुष्य और पशुओं की बराबरी सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इतना ही नहीं, कुछ बातों में तो वह मनुष्य को पशुओं से भी निकृष्ट बतलाता है। इसके सिवा, विज्ञान के व्यावहारिक उपयोग ने जहाँ मानवजाति का असीम कल्याण किया है, उसकी सुविधाओं को बहुत कुछ बढ़ाया है, वहाँ हानि भी भयंकर की है जिसका ध्यान कर हृदय काँपने लगता है। ४२ सेन्टीमीटर की बड़ी बड़ी तोपें, प्राणनाशक गैस, सबमैराइन, सुपरड्रेडनॉट, टॉर्पिडो आदि भौतिक विज्ञान ही के परिणाम हैं और इनसे मानवजाति का जो भयंकर और कल्पनातीत नाश हुआ है या होगा उससे संसार-हितैषी मनुष्यों के कोमल हृदयों में भौतिक उन्नति के इन दुष्परिणामों के लिए क्या भाव उठ रहे होंगे इसका अनुमान हमारे सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं। यूरोप के वे देश जो केवल जड़विज्ञान ही में आगे बढ़े हुए हैं किस प्रकार एक दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे हैं और हुए हैं—इस बात को सब संसार

जानता है। इसका कारण जड़उन्नति की प्रधानता ही है। उदाहरण के लिए देखिए, जीवविज्ञान सिखलाता है कि जीवन एक विशाल रण-क्षेत्र है। इसमें अपनी अपनी जीवन-रक्षा के लिए जो द्वन्द्व हो रहा है उसमें वही विजय पाता है जो अधिक योग्य और सक्षम है। पाठक, बतलाइए कि जहाँ इस प्रकार के विचार हैं वह देश दूसरे देशों के साथ कैसे प्रेम-भाव से रह सकता है। वह तो हमेशा यह चाहता है कि दूसरे देशों को पैरों तले कुचल कर जैसे बने वैसे अपनी उन्नति और विकास करना चाहिए। जर्मनी जड़ उन्नति में आगे बढ़ा हुआ है, उसीका यह परिणाम है कि उसके हाथों से भयंकर से भयंकर अत्याचार होगए। उस देश के विद्वानों के सिद्धान्त भी मनुष्य-जाति के लिए बड़े भयंकर हैं। जहाँ संसार मानव कल्याण के लिए शांति और बंधुभाव की आवश्यकता समझता है वहाँ जर्मनी के विद्वान युद्ध को मानव जाति के विकास के लिए नैसर्गिक रूप से आवश्यक बतलाते हैं। इन्हीं विचारों का परिणाम गत महाभीषण संग्राम था। कहने का तात्पर्य यह है कि जड़ विज्ञान की उन्नति से जहाँ मनुष्य-जाति का कुछ कल्याण हुआ है वहाँ उसकी भयंकर हानि भी होती जा रही है। इससे आज कल संसार के कई विचारवान लोग जड़-उन्नति के साथ आत्मोन्नति का सम्मेलन कर संसार के इन भयानक विचारों को हटाना चाहते हैं। भारत के प्रतिभाशाली पुत्र विश्व-विख्यात कवि डॉक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जापान और अमेरिका में कहा था कि भौतिक और आत्मिक उन्नति का सम-सम्मेलन हुए बिना संसार में स्थायी शांति स्थापित नहीं हो सकती। मि० जेकोब ने भी इस जड़-उन्नति-प्रधान समय में आत्मिक उन्नति की आवश्यकता बतलाई है। आत्म-धर्म की उन्नति की आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए आपने लिखा है—

"इस भयंकर जड़वाद से रक्षा पाने के लिए अब हमें धर्म की बहुत आवश्यकता आ पड़ी है। धर्म मानवी आत्मा की पुकार है। हे भगवन्! अब तू इस जड़वाद की सभ्यता की धधकती हुई आग से मेरी आत्मा और मेरे प्रियजनों की रक्षा कर। अहा! धर्म कैसा दिव्य पदार्थ है? वह हमारे मार्ग में आनंद के फूलों की वर्षा करता है। वह हमारे हृदय में शान्ति और प्रेम के कोमल भाव उत्पन्न करता है। धर्म ही हमारे नीतिशास्त्र का अर्थ कोष है। धर्म के सहारे ही विज्ञान मनुष्य-जाति के हित में प्रवृत्त हो सकता है। धर्म में ईश्वरीय राज्य समाया हुआ है। निर्वाण ही हमारे जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश है। यह वह उद्देश है जहाँ वियोग के आँसुओं का गिरना बंद हो जाता है, जहाँ आपसी झगड़े और कलह का लेश नहीं है, जहाँ प्रेम और शांति का अटल राज्य है। धर्म इस भौतिक संसार के परे उस दिव्य संसार का दरवाजा खोल देता है, जहाँ पूर्ण सत्य और न्याय, अलौकिक सौन्दर्य और उच्च प्रेम का अखण्ड प्रताप छाया हुआ है। यही हमारी आत्मा को उस ज्योति के दर्शन कराता है जो बड़ी ही दिव्य और पवित्र है।"

यूरोप के आधुनिक जड़वाद के कारण मनुष्य-जाति की जो भयानक हानि हुई और हो रही है, उसमें जिस तरह अशांति और द्वेष बढ़ रहा है

उसीसे घबराकर उक्त प्रो० महाशय जड़वाद की भयंकर अग्नि से रक्षा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। सच है, किसी भी बात का बहुत बढ़जाना ठीक नहीं। किन्तु यह सम्भव नहीं कि जड़वाद का बिलकुल ही अस्तित्व मिट जाय और ऐसा होना ठीक भी नहीं। इसीसे आज कल के विचारशील महानुभाव जड़विज्ञान और आत्म-विज्ञान का प्रेम-सम्मिलन करवाना चाहते हैं, और इसीमें वे संसार की भलाई देख रहे हैं। प्रो० साहब ने इस सम्बन्ध में प्राचीन भारत की बड़ी प्रशंसा की है। आपने कहा है कि जहाँ प्राचीन समय में भारत आध्यात्मिक उन्नति के सर्वोत्कृष्ट आसन पर विराजमान था वहाँ उसने बाह्य बातों में भी बहुत उन्नति की थी। संसार की सभ्यता की वृद्धि में भारत ने भी अच्छी सहायता की थी। बीजगणित, दशमलव और पाटीगणित के आदि-जनक भारतवासी ही थे।

बाबू साहब की नब्ज़।

(लेखक—श्रीयुक्त गोपालनारायण सेन सिंह, बी. ए.)

एक दिन हम ५. ७ पड़ोसी मित्र बैठक में जमा थे। किसीने कहा, यह देखिये रामपुर के बहुतही पुराने हकीम और नब्बाज आये हुए हैं, जिन्हें हाथ दिखाना हो, आगे आवे। जैसे तैसे हकीम का स्वागत हुआ। अब हाथ कौन दिखलाता है? सभी एक दूसरे का मुँह ताकते थे। इस पर यह साफ़ साफ़ कहा गया कि लेने देने की कुछ बात नहीं है। हकीम जी शहर में किसी दूसरे काम से आये हुए थे। आप लोग भी अपने अपने इल्म और हुनर में एक ही हैं, सो मिलने मिलाने की ग़रज़ से ले आया। कुछ देर तक योंही हम लोग बक झक करते रहे। हकीम जी किसी बहाने उठे और चलते हुए।

वहाँ हम लोग जितने आदमी बैठे थे सबोंको बाद में बड़ा रञ्ज हुआ; इसलिए नहीं कि हमने हकीम जी को अपनी सौजन्यता का बुरा परिचय दिया, और न इसलिए कि हम सब जितने ही अधिक पढ़े-लिखे होते हैं उतने ही अधिक रोगी होते हैं, वरन इसलिए कि हम अब इस बात को सर्वसाधारण से अधिक दिन नहीं छिपा सकते कि शिक्षित मनुष्यों में कोई सत्व-बल नहीं होता। हम बराबर जी में सोचते रहे—कौन जानता है कि हमारे शरीर की रग और पेशी, दिल और आमाशय की क्या दशा है। लिखने, पढ़ने और साधारण काम-काज करने भर का सामर्थ्य होना चाहिए, बस बहुत है, और है भी तो यह विचार-युग। पाशविक बल (Brute force) का जमाना गया, फिर काहे की चिन्ता? परन्तु अब बात खुली जाती है। वर्तमान समय में हम जैसे निकम्मे हो गये हैं उससे काम भी नहीं चलता और सब से बड़ी बात तो यह है कि हमारी शोचनीय शारीरिक स्थिति के कारण 'उच्च शिक्षा के आदर्श' पर लाञ्छना लग रही है। हम लोगों को देख देख कर लोग उच्च शिक्षा को गाली देने लगे हैं। सर्व-साधारण के लिए उच्च शिक्षा के गुण-दोष देखने की और कोई सूरत नहीं। वे लोग तो उच्च शिक्षा पाये हुए हम लोगों के शरीर, चरित्र और कार्य से ही उच्च शिक्षा की बुराई-भलाई बता सकते हैं। हम जिस पद्धति पर चले हैं

उसके परिणाम-स्वरूप हमारा जीवन जौहरियों की कसौटी पर चढ़ रहा है। जीवन के खोटा होने के कारण पद्धति खोटी बतायी जा रही है।

इस समय हममें और आपमें सत्य-प्रियता और साहस हो तो आगे आवें, हाथ उठाकर क़बूल करें 'सारी गलती हमारी है। हमने अपना जीवन नहीं सम्हाला। अपने साथ उच्च शिक्षा की मिट्टी पलीत की। यदि हमको देखकर दुनियाँ उच्च शिक्षा के विषय में अनुचित धारणा करेगी, तो धोखा खायगी। हम स्वयं जानते हैं कि उच्च शिक्षा ने हमें सदा ऊपर को उठाया, नीचे नहीं गिराया। हमारी दुर्दशा देखकर अन्य भारतीय जनता को उच्च शिक्षा से विमुख न करो, वंचित न रखो। ऐसा करोगे तो तुम्हारी बड़ी भ्रान्ति होगी। हमारे खिन्न, सुख-विहीन जीवनमें भी उच्च शिक्षा ने अमृत-तुल्य सहारा दिया है-इत्यादि—' पर यहाँ इस मौखिक उपदेश को सुननेवाला कौन है? सब हमको देखते हैं, हमारे काम की समालोचना करते हैं, हमारी बातों पर कोई कान नहीं देता।

दुनियाँ की व्यावहारिक बुद्धि बड़ी जबरदस्त होती जाती है। असलीयत पर सबकी निगाह होती है। कोरी बातों की सफाई से किसी के मन पर असर नहीं होता। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बिगड़े हुए आदर्श को देखकर हमारे देशवासी भ्रम में पड़ने से बचें तो इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं कि पहिले हम अपना स्वास्थ्य और जीवन सब प्रकार से सुधारें तथा अपनी संतान और भाई-भतीजों की दिनचर्या भी नियमपूर्वक बनाकर इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण दें कि उच्च कोटि की शिक्षा ग्रहण करने और मानसिक कार्य में अच्छी तरह लगे रहने पर भी, बाहु-बल और पौरुष में, शिक्षित मनुष्य किसी से कम नहीं होता।

जब दस बीस साल तक लोग देखेंगे कि पढ़े-लिखे आदमी डाक्टर-वैद्य के चक्कर में नहीं पड़े रहते, यात्रा, घोड़े की सवारी या किसी और परिश्रम के कार्य में पूरे ठहरते हैं, दिनरात में १०-१२ घंटे नित्य काम किया करते हैं, सुखी और दीर्घायु होते हैं तो बुरी धारणाएँ क्रमशः आप ही उठ जायँगी। दिल में चोट तो सिर्फ इतनी थी कि किसी तरह ऊँची तालीम की शिकायत करने वालों से पीछा छुड़ावें; पर ध्यानपूर्वक देखा तो बात यह मालूम हुई कि जब हम अपने दोषों से अपने को मुक्त करें और अपना कलेवर बदल डालें, तभी यह संभव है। अब चिन्ता यह लगी कि कुछ न कुछ ज़रूर करना चाहिए और जल्द करना चाहिए; पर किया क्या जाय? बहुत छान-बीन से पता लगा कि हमारे रहन-सहन का जो सिलसिला बिगड़ा है उसको ठीक करना चाहिए। सामाजिक बंधन और रीति-रिवाज को भी वर्तमान अवस्था के अनुकूल बनाना आवश्यक है। अपने जीवन में, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, नियम, सुव्यवस्था, अवसरोपयोगी व्यवहार, स्वास्थ्य-सहायक बातों पर सदा चलने और परम्परागत अनुचित बातों का त्याग करने का दृढ़ संकल्प और अभ्यास करना भी मुख्य है। इसमें समय लगेगा; परन्तु इसे साधना ही पड़ेगा।

जिन दिशाओं में हमें अपनी और अपने कुटुम्बियों की आदत बदलनी है वे संक्षेप में यहाँ बताई जाती हैं:—

(१) हमें अपने आहार, शौच, निद्रा, व्यायाम, मनोरंजन आदि सबके लिए समय बाँध लेना उचित है। हम माह में शायद ही तनि दिन एकही समय पर खाने को वा बिस्तर पर जाते होंगे। वैसे तो समय आपस में कटता है या काम की भीड़ में व्यायाम और दिल-बहलाव के लिए कोई गुंजायश ही नहीं रहती। जिसने अपने जीवन का क्रम ठीक कर लिया है वह साधारण मनुष्य से अधिक काम भी कर लेता है और उसे आमोद-प्रमोद, मित्रमंडली में जाने, साहित्य देखने या संगीत के अनुशीलन के लिए समय निकल आता है। वह अपने नियम का ऐसा दृढ़ पालन करता है कि दूसरे लोग उसके क्रम में विघ्न डालने की हिम्मत नहीं करते।

(२) अपनी रुचि, स्वास्थ्य इत्यादि के अनुकूल सदा खाना-पीना चाहिए। किसी की बातों में आकर नियम भंग करना चरित्र की कमज़ोरी है।

(३) काम करते समय और निठल्ले में, घूम फिर कर बाहर काम करते समय और घर के भीतर बैठकर केवल मानसिक श्रम करते समय, स्वस्थ दशा में और रोगी होने पर, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में, साल की भिन्न भिन्न ऋतुओं में, एकसा और एक परिणाम में भोजन करना बड़ा अनर्थकारी है।

(४) अपने काम-काज, दिलबहलाव और खाने-पीने का ऐसा समय निश्चित करना चाहिए जो आरोग्य-शास्त्र के विरुद्ध न हो और जो सुभीते का हो। दृष्टान्त के लिए, शहरों में सब जगह शाम का भोजन देर से खाने की प्रथा है। कई लोग अन्तिम भोजन करने के बाद तुरन्त ही सो जाते हैं। यह बहुत ही हानिकर है। जल्द खाने वालों को 'जैनी' कह कर हँसने वालों पर वैद्यक हँसता है।

(५) हमारे यहाँ बहुत कम लोगों को इस बात का पता है कि किस खाद्य पदार्थ में कितनी पुष्टि है; इसीलिए भोजन करते समय इसपर बिलकुल ध्यान नहीं देते। केवल स्वाद और क्षुधा-तृप्ति हमारे खाने का उद्देश रह गया है। भिन्न भिन्न पदार्थों की तुलनात्मक पुष्टि का कुछ विवरण जाने बिना कल्याण नहीं।

(६) पहले सब बातों में किफ़ायत कर जब हार जाँय, तभी खाने-पीने के सामान में किसी प्रकार की कमी करनी चाहिए। यहाँ तो पुरानी प्रणाली यह है कि चाहे और बातों में किफ़ायत न हो; पर खाने के खर्च में ज़रूर कमी की जाय। कहिए, फिर स्वास्थ्य कैसे अच्छा रहे?

(७) जिन लड़के और लड़कियों को उनकी बाढ़ के दिनों में घी और दूध देखने को नहीं मिलता उनकी शादी में धूमधाम करना और अपने घर का नाम बनाये रखने के लिए पैसा बहाना अब मनुष्यता नहीं, महा नीचता है।

(८) लाल मिर्च, खटाई, चटनी, अचार, कचौरी, मिठाई चाहे घर की हो वा बाज़ार की, महा दरिद्र भोजन है। आये गये का सत्कार रोटी, भात, बेसन की चीज़, शाक-भाजी से करना चाहिए।

(९) समय पर एक ही ढँग का अच्छा सादा भोजन ग़रीब और अमीर सबको करना चाहिये जिसमें पूड़ी और कचौड़ी की विलासिता में न अमीर बिगड़ें और न सूखी रोटी और नमक से ग़रीब मरने पावें।

(१०) देश भर में इस बात पर घोर आन्दोलन होना चाहिए कि सारे देश के लिए सरकार आहार-द्रव्य की मिलावट के विरुद्ध कड़े नियम बना दे जिससे बाजार में शुद्ध चीजें मिलने लगें। खाने-पीने का सामान बहुत ही सावधानी और परिश्रम के साथ ढूँढ ढूँढ कर खरीदने, घी, तेल, चीनी, आटा शहरों में न लेकर गाँवों से संचय करने और अपने हाथों परखकर संतोषजनक होने पर लेने से बहुत बचत होती है।

(११) हमारी समाज में यात्री, व्यापारी और विद्यार्थियों को सुख-पूर्वक बहुत दिन तक रहने का अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं है। जहाँ तक हो, अपने पुराने नियमों को ढीला कर, दूर का नाता लगा कर या किसी तरह परिवार के भीतर खाने-पीने की प्रथा चलानी चाहिए। आज हम किसी दूसरे की सुविधा देखेंगे तो कल हमारे विदेश में जाने या हमारे लड़कों के विद्याभ्यास के लिए निकलने पर उनको बहुत कुछ सहारा हो जायगा।

(१२) सूर्योदय के बाद पहिला पूरा भोजन और मध्याह्न में दूसरा भरपूर भोजन बहुत स्वास्थ्यकर है। ४, ५ बजे संध्या तक हल्का कलेवा, जैसे, हलवा, दूध, एक दो रोटी और मक्खन, थोड़ी खीर या ऐसी ही कोई एक चीज खाकर भोजन समाप्त कर देना चाहिए। दिन को कड़ी मिहनत करते समय हम लोग खाली या आधा पेट रहते हैं। सवेरे कई घंटे संध्या-वन्दन इत्यादि के बखेड़े में कुछ नहीं खा पाते; इससे शरीर बड़े घाटे में रहता है। पाचन-क्रिया जितनी शिथिल रखी जाती है, उतनी ही एक प्रकार हम आत्महिंसा करते हैं।

(१३) सुखी परिवार में भी बहुतेरों की यह धारणा है कि फल-फूल केवल पूजा अर्चन या त्योहारों के लिए हैं। इनको बीच बीच में सेवन करने से स्त्री, बच्चे और युवा सभी के शारीरिक संगठन में सहायता मिलती है। कुछ फल तो केवल ग्रीष्म काल में मुँह को मीठा करने और स्वाद बदलने के लिए होते हैं; परन्तु बहुतेरे जैसे, बेल, आम, अमरूद, बेर, केले, नासपाती, सेब, अंगूर, नारंगी, छुआरा, मुनक्का, किसमिस पौष्टिक होते हैं। यदि हम किसी वक्त रोटी न खाकर पाव भर दूध में उतना ही अंजीर मिलाकर खावें तो उससे अधिक बल प्राप्त हो सकता है। दूध और छुआरे का भी साथ अच्छा होता है और भोजन का काम देता है। ये चीजें ऐसी हैं जिनका व्यवहार खास कर उन लोगों के करने योग्य है जो छूत-छात के विचार से बहुधा यात्रा में या घर से बाहर काम में लगे रहने और रोटी बनाने की फुरसत न होने के कारण कई दिन और रात, लाचार हो, भूखे मरते हैं। ऐसी चीजों के होते हुए सूखे चबेने, सत्तू या चूड़ा इत्यादि खाकर आमाशय को क्यों बिगाड़ना चाहिए?

(१४) यदि कभी हम हिसाब लगाने बैठें कि लड़कपन से लेकर बड़े होने तक किन किन अवसरों पर और कैसे कैसे हमने जान-बूझकर अपना स्वास्थ्य बिगाड़ा है तो फिर आश्चर्यान्वित हो कर रह जाना पड़ता है। एक शब्द 'अतिशय' हमारे सब पापों का संकेत कर सकता है। भारतवासियों के लिए अपने गार्हस्थ्य जीवन से इस 'अति' को निकाल ही डालना चाहिए। बाजी लगा लगा कर खाना, एक दिन आध सेर रबड़ी उड़ा जाना और फिर छः महीने तक उससे

वैराग्य, आधी रात को किसी चटपटी चीज़ का नाम लिया तो सेर आध सेर खाने को तैयार, खेल-तमाशे, नाच-रंग, और घर बैठे ताश-गंजीफा में बैठे बैठे रात बिता देना, वर्षा में गीले कपड़े दिन भर पहने फिरना, स्कूल से छुट्टी लेने के बहाने भीगना, दिन दिन भर धूप-पानी में खेलना और थकना, स्कूल के दिनों में खाने के बाद नित्य मील दो मील दौड़ना, कसरत न करना, दिन भर भूखा रहना या बाज़ार का कच्चा पक्का दूषित द्रव्य खाना—अचम्भा है कि इसपर भी हम लोगों के स्वास्थ्य की दशा इतने दिनों बाद शोचनीय समझी जाती है ! ऐसी दशा में यदि वह और भी शीघ्र बिगड़ जाय तो उसमें आश्चर्य न होना चाहिए।

स्वास्थ्य-पालन का बीज मंत्र संयम बताया जाता है और जब तक पूरा पूरा संयम न साधा जावेगा, तब तक इस मार्ग में सफलता के कुछ भी चिह्न देख सकना असम्भव है। पढ़े-लिखे लोगों में ही स्वास्थ्य-सम्बन्धी दोष बहुत देखे जाते हैं और वे ही इस ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। हम नहीं समझते कि यह विषय समाज-सुधार या देश-सुधार से किसी प्रकार कम महत्त्व का है।

वीणा-ध्वनि ।

(लेखक—पण्डित द्वारकाप्रसाद मिश्र)

मिलाऊँ निज वीणा-संगीत ॥
मृतक अमर कवियों के स्वर से
गाऊँ क्या मैं गीत ?
ये कवि-गण अब भी हैं करते
उन हृदयों में वास।
जिन्हें किया निज छन्दों-द्वारा,
विश्व-प्रेम का दास ॥
लिया है मीच-शत्रु को जीत ॥
मन्द रुधिर को अब भी करते
ये कवि—गण गतिमान।
जीवन—बल इनसे ही पाती
है इनकी सन्तान ॥
हृदय हैं जिनके अब भी भीत ॥
कपट कार्य—प्रति घृणा हृदय में
भरते इनके छन्द।
मन को वे इच्छाएँ तजतीं
जो हैं विष—सम मन्द ॥
हर्ष से होता काल व्यतीत ॥
ज्यों राका-रजनी में करते
तारा—गण निज धाम।
त्यों निज काव्य-कुंज में करते
ये अब भी विश्राम ॥
यदपि है बीता काल अतीत ॥
हृदयंगम कर हृदय इन्हीं के
उठते हैं अब भाव ॥
कोकिल बन भारत में गाऊँ
मन में होता चाव ॥
कण्ठ से निकला पड़ता गीत ॥

अधिकार-विभाजन ।

Separation of powers.

(लेखक—"एक इतिहासज्ञ")

[१] प्रत्येक राज्य-प्रबंध में मुख्यतः तीन कार्य रहते हैं—(क) क़ानून का बनाना। जिन नियमों से जन-समाज के परस्पर बर्ताव नियंत्रित होते हैं वे नियम ही यदि मालूम न हों तो नियंत्रण हो ही कैसे सकता है? नियमों को लोगों पर प्रकट करना राज्य-प्रबंध का प्रथम कर्त्तव्य है। एक मामूली क्लब स्थापन करने के पहले जब उसके नियम बना लेना पड़ते हैं, तो एक राज्य-प्रबंध के नियम निश्चित करने की कितनी आवश्यकता है यह पाठकगण स्वयं ही अनुमान कर लें। इसीलिए हमारे प्राचीन विद्वानों का कथन है कि जहां राजा न हो वहां न रहना चाहिए। क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता वहाँ अंधेर नगरी की सी स्थिति रहती है। इसलिए जायदाद और माल, क़रार, अपराध, अधिकार इत्यादि के नियम निश्चित होना चाहिए। (ख) नियम निश्चित करने पर लोगों के हक़ों का रक्षण करना, तथा नियमों के अतिक्रमण होने पर दण्ड देना। नियम बनाकर पुस्तक में रख देने से कार्य नहीं चल सकता, उनका पालन भी होना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले न्याय-विभाग होना चाहिए। लोगों का वास्तविक स्वातंत्र्य और सुख इसी पर विशेष निर्भर है। (ग) निर्णय होने के बाद तदनुसार कार्य किया जाना चाहिए। मूल पुरुष की वस्तु, हक़ अथवा हानि की भरपाई, आदि जो कुछ हो उसे मिल जाना चाहिए। यदि कोई दण्डनीय ठहराया जाय तो उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। सारांश यह है, न्याय का पूरा पूरा उपयोग किया जाना चाहिए।

मोटी तरह से प्रत्येक राज्य-प्रबंध के, क़ानून, न्याय और अमल—ये तीन मुख्य भाग हैं। शेष बातें बहुधा इन्हीं कार्यों की पूर्ति के लिए की जाती हैं अथवा देशहित के नये प्रश्न अपने हाथ में लेकर सरकार अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ा लेती है; तथापि वास्तविक कार्य व्यवस्था रखने का है, और इसलिए क़ानून का बनाना, उसके अनुसार निर्णय करना और तदनुसार अमल कराना ही प्रत्येक राज्य प्रबंध के मुख्य भाग हैं।

[२] मान लीजिए, जो पुरुष कायदे बनाते हैं वे ही उनके अनुसार निर्णय भी करते हैं। ऐसी दशा में पहले तो उनके मन में इसी बात की गड़बड़ हुआ करेगी कि कायदा क्या है और कैसा होना चाहिए था। कायदा जैसा होना चाहिए वैसा निर्णय करने की प्रवृत्ति उन लोगों में अधिक हुआ करेगी। 'चाहिए' और 'है' का भेद उनके ध्यान में कम रहेगा। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि लोगों का परस्पर संबंध जिन नियमों से निश्चित और नियंत्रित करना है उन्हें निर्णय करने के पहले लोगों पर प्रकट कर देना चाहिए। यदि क़ानून बनाने का अधिकार और तदनुसार निर्णय करने का अधिकार एक ही हाथ में रहा, तो कायदा निश्चित होकर भी अनिश्चित हो जावेगा।

(क) "कैसा होना चाहिए" और "कैसा है" की गड़बड़ में कायदा अनिश्चित रहेगा। दूसरे जब क़ानून के बनाने वाले और मामूली लोगों में

झगड़ा उपस्थित होगा, तो निर्णय कौन करेगा? क्या वे अपना निर्णय पक्षपात-रहित हो स्वयं करेंगे? यह आशा करना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है। तीसरे, श्रमविभाग के तत्व का भी स्मरण रखना चाहिए। ज्यों ज्यों समाज के नियम संख्या में पढ़ते और क्लिष्ट होते जाते हैं, त्यों त्यों यह आवश्यकता होने लगती है कि एक पुरुष एक ही तरह का कार्य करे। ऐसा करने से कार्य अच्छा होता है। वही काम करते करते लोग उसमें प्रवीण हो जाते हैं। नाना तरह के कार्य करने से श्रम और समय बँट जाता है, और कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता। चौथे, जैसा आगे चल कर देखेंगे, क़ानून बनाने वालों को राज्य-प्रबंध-संबंधी और भी अनेक कार्य करने पड़ते हैं; इसलिए निर्णय का कार्य उन्हीं लोगों पर लादना अनुचित होगा। पाँचवें, क़ानून बनाने वाली सभा में बहुधा अनेक लोग हुआ करते हैं, और कार्य की दृष्टि से उसमें बड़ी संख्या आवश्यक भी है। यदि इतने लोगों से न्याय का अच्छा होना असंभव न माना जावे, तो अशक्य अवश्य मानना पड़ेगा। सारांश यह कि क़ानून बनाने वाले लोगों से न्याय करने वाले लोगों का विभाग सदैव भिन्न होना चाहिए।

(ख) अब सोचिए कि यदि क़ानून बनाने वालों को ही न्याय-विभाग के किये हुए निर्णय के अनुसार अमल करने का भी अधिकार दिया जाय, तो क्या होगा। लोक-दृष्टि से अमल का काम बड़े महत्त्व का है। यदि अमलदारों को ही क़ानून बनाने का भी अधिकार रहे तो अमलदार चाहे जो अंधेर कर सकेंगे। न्याय-विभाग को तो क़ानून के अनुसार निर्णय करना ही होगा। क़ायदा कैसा होना चाहिए इस बात का प्रश्न फिर उनके सामने रहा ही नहीं। उन्हें केवल यही जानना होगा कि क़ायदा क्या है। वास्तव में अमल का कार्य ऐसा है कि उसके करने वालों पर किसी न किसीकी कड़ी दृष्टि बनी रहनी चाहिए। यदि क़ानून बनाने वाले को ही अमल का अधिकार रहा तो वह क्या नहीं कर सकेगा। उस राज्य में 'टका सेर भाजी, टका सेर खाजा' की कहावत सहजही में चरितार्थ हो जावेगी—अल्लाउद्दीन खिलजी का ज़माना लौट आवेगा। इसलिए अमलदारों के कार्यों पर किसीकी दृष्टि बनी रहना आवश्यक है, और क़ानून बनाने वालों को ही अमल के अधिकार देना नितांत अनुचित है। एक दूसरी बात और भी है। अमल-विभागका कार्य बिना द्रव्यके नहीं चल सकता। लोगोंसे द्रव्य लेकरही राज्य-प्रबंध चलता है। कितना द्रव्य किस कार्य के लिए चाहिए, यह अमल-विभाग बतला सकता है; पर उतना यथार्थ में चाहिए या नहीं, इस बात का निर्णय होना चाहिए। फिर, वह दिया हुआ द्रव्य बराबर निश्चित कार्यमें खर्च किया जाता है या नहीं, इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। इन दो कार्यों का भार किस पर रहे यह विचारणीय है। इतिहास से पता चलता है कि अभी तक ये दोनों कार्य-भार क़ानून बनानेवाले पर ही रहते थे। किन्तु ऐसा होना ठीक नहीं; क्योंकि यदि क़ानून बनाने वाला ही उसे अमल में लावे तो वह क़ायदे को चाहे जितना संदिग्ध बनाकर उसका चाहे जैसा अमल कर सकता है। जिन देशों में ये अधिकार एकत्रित हैं वहाँ का इतिहास पढ़ने से इसके भयंकर परिणाम मालूम हो सकते हैं। इसलिए अमल करने और क़ानून बनाने के अधिकार यथाशक्य अलग अलग रहें।

(ग) इसीप्रकार यह भी उतनाही आवश्यक है कि न्याय और अमल के अधिकार अलग अलग रहें। न्याय शब्द अत्यन्त पवित्र है। न्याय करते समय विकार-रहित रहना बहुत आवश्यक है। विकारों को मन में स्थान देना नितांत अनुचित है। ऐसे समय पक्षपात न हो, किसी पर अन्याय न किया जावे, किसी का हक़ न मारा जाय, किसी का स्वातंत्र्य अकारण नष्ट न किया जाय, बदला लेने की इच्छा न हो इस सब के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मन शान्त, स्थिर और पूर्व-प्रवृत्ति-रहित हो। यदि न्याय के साथ उसके अमल का भी अधिकार रहा तो न्याय का तो कहीं पता ही न रहेगा, और फिर तो जुल्म करने का अच्छा यंत्र तैयार हो जावेगा। अमल का अधिकार बड़े महत्त्व का है, और लोगों का उससे बहुत घनिष्ट संबंध है। अमल-विभाग के पुरुषों से लोग डरते हैं; क्योंकि ये लोग चाहें तो लोगों को चाहे जैसा कष्ट, कायदे के चुंगल में फँसे बिना भी, दे सकते हैं। इन कार्यों का क़ानून सदा संदिग्ध रहता है। इसलिए न्याय और अमल को एकत्र करने से, न्याय के नाम पर, बड़ी आसानी से जुल्म किया जासकेगा। इस तरह लोगों का स्वातंत्र्य चाहे जैसे नष्ट किया जा सकता है। इन दो अधिकारों को एकत्र रखने के विरुद्ध केवल यही आक्षेप नहीं है। इससे निकलने वाला एक दूसरा बड़े महत्त्व का आक्षेप यह है कि यदि इन अमल-विभाग के अफ़सरों ने क़ायदे का उल्लंघन किया तो उनका न्याय कौन करे? जिन लोगों पर कायदों के पालन करवाने का बोझ है यदि वे लोग कायदा तोड़ें, तो उन्हें वास्तव में अधिक दण्ड होना चाहिए। 'उत्तरदायी राज्यप्रबंध' का अर्थ केवल यह नहीं कि राज्यप्रबंध में लोगों का भाग रहे और वे अमल-विभाग पर दृष्टि बनाये रहें। इससे अधिक महत्त्व का दूसरा तत्त्व यह है कि शासन करनेवाले भी मामूली लोगों के समान मामूली अदालतों में अभियुक्त हो सकें। तभी वे अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण न करेंगे। कायदा सबको एक समान लागू हो—इसके लिए न्याय और अमल के अधिकारों का अलग अलग रहना आवश्यक है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि इन तीन विभागों का—इन तीन अधिकारों का—अलग रहना, लोगों के स्वातंत्र्य और सुख की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक है।

[३] इससे यह न समझना चाहिए कि इन राज्यांगों के कार्य बिलकुल विशिष्ट हैं या इन्हें दूसरे राज्यांगों के कार्यों का अधिकार बिलकुल नहीं रहता।

(क) कायदे का मुख्य स्वरूप यह है कि वह सामान्य हो, अर्थात् कानून बनाने का यही अर्थ है कि वे सब लोगों को अथवा सरकार के नौकरों को एक समान लागू हों और उनका उल्लंघन करने पर किसी एक तरह का दण्ड दिया जाय, परन्तु सरकार के नौकरों के लिए ऐसे नियम बनाना कि वे उनसे अपना अपना कार्य ठीक करते रहें, क़ानून बनाने वाली सभा के लिए अशक्य है। काम लेने के नियम वे ही अच्छी तरह बना सकते हैं जो कार्य लेते हैं। फिर प्रत्येक बात के विशिष्ट नियम बनाना असंभव सा है। परिणाम यह निकलता है कि इन नियमों का बनाना अमल-विभाग के सर्वोच्च अधिकारियों पर छोड़ देना चाहिए, अर्थात् इस संबंध के क़ानून (क्योंकि ऊपर की परिभाषा के

अनुसार ये क़ानून ही हैं) का बनाना अमल विभाग का कार्य हो जाता है। इतना ही नहीं, कभी कभी सामान्य नियम बनाने पर विशिष्ट नियम बनाने का कार्य भी बहुधा अमल-विभाग पर छोड़ दिया जाता है। जिन्हें अमल करना है वे ही जान सकते हैं कि विशिष्ट परिस्थिति में कौनसे नियम चाहिए। इतना ही नहीं, परिस्थिति के परिवर्तन के साथ विशिष्ट नियम भी परिवर्तित करने पड़ते हैं। फिर यह भी आवश्यक है कि अमल-विभाग के सर्वोच्च शासक—सर्वोच्च अधिकारी की सम्मति क़ायदों का स्वरूप मिलने के लिए अनिवार्य हो ताकि यह देखा जा सके कि अमुक कायदे से काम चलेगा या नहीं, या अमुक कायदे से किसी का स्वातंत्र्य अथवा संपत्ति तो नहीं हरण की जाती, किसी व्यक्ति विशेष पर जुल्म तो नहीं किया जाता। ये सब बातें वे ही अच्छी तरह जान सकते हैं जिन्हें कायदों का अमल करना होता है। इसलिए अमल-विभाग के सर्वोच्च शासक की संमति कायदे के बनाने में आवश्यक समझनी चाहिए।

फिर कायदे बनाने का अप्रत्यक्ष कार्य थोड़े बहुत अंश में न्याय-विभाग को भी करना पड़ता है। जैसा ऊपर बताया गया है कि किसी देश के कायदे इतने स्पष्ट और विशिष्ट नहीं हो सकते कि कायदों के अनुसार निर्णय करते समय एक खास नियम उठाकर उस प्रकार रत्ती रत्ती न्याय बराबर किया जा सके। कायदों का स्वरूप सामान्य होता है, वे नियम सब लोगों के लिए बनाये गये हैं, किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी विशेष प्रसंग के लिए नहीं बनाये जाते। उनकी सामान्यता के कारण प्रत्येक समय निर्णय करना होता है कि अमुक कायदे का—अमुक शब्दों का—विशिष्ट स्थल पर क्या अर्थ है और इस विशिष्ट प्रसंग पर वह कहाँतक लागू हो सकता है। कभी ऐसा अर्थ करने में वह कायदा बिलकुल बदल भी जाता है। कायदों का अर्थ विशिष्ट और सदा स्पष्ट न होने के कारण न्याय-विभाग को उसका अर्थ निश्चित करने का, और इस तरह अप्रत्यक्षरीत्या क़ानून बनाने में भाग लेने का कार्य करना ही पड़ता है। कभी कभी तो किसी किसी प्रसंग के लिए कायदा बिलकुल ही निश्चित नहीं रहता। उस समय तो कायदे का अर्थ खींचातानी में कुछ का कुछ हो जाता है। इसप्रकार कायदा बनाने का थोड़ा बहुत कार्य न्याय-विभाग से भी होता रहता है। बहुतसे कायदे अनेक देशों में इसी प्रकार बने हैं।

सारांश, क़ानून बनाने का कुछ कार्य अमल-विभाग और न्याय-विभाग दोनों को करना पड़ता है—उनसे वह बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता।

फिर क़ानूनकारिणी सभा को ही अनेक तरह के कार्य करने पड़ते हैं। ऊपर दो कार्यों का उल्लेख हो ही चुका है। अमल-विभाग पर नजर रखने का और उसके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार देश की व्यवस्था के नियमों के बनाने वालों को ही होना चाहिए। § यह कार्य न तात्विक रीति से उनसे अलग करना चाहिए, न ऐतिहासिक दृष्टि से ही इन

§ अधिकार-विभाजन का मुख्य हेतु लोक-स्वातंत्र्य की रक्षा है। अमलविभागके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार यदि क़ानूनकारिणी ले तो अमल-विभाग पर कोई दबाव न रहेगा और उसकी मनमानी कार्रवाई चलने लगेगी। परिणाम यह होगा कि अधिकार-विभाजन के तत्वों का हेतु ही इस तरह निष्फल हो जावेगा; इसलिए इन अधिकारों को विभक्त करने के तत्व अच्छी तरह जान लेना आवश्यक है।

कार्यों के लिए एक भिन्न राज्यांग की आवश्यकता ही दीख पड़ती है। द्रव्य के मार्ग निश्चित करने का और उसका उचित विनियोग करवा लेने का कार्य भी उसे ही करना चाहिए। फिर कोई देश-हित का आवश्यक कार्य करवा लेने का भार भी उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण उसी पर आ गिरता है। नियम के अनुसार राज्य के मंत्री बहुधा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी नियत करता है; पर कई देशों में विशिष्ट राज्यघटना के कारण व्यवहार में उन्हें कानूनकारिणी ही नियत करती है।* फिर सभा के भीतर की कार्रवाइयों के नियम, तदनुसार निर्णय और अमल इत्यादि बातें उसी को करनी पड़ती हैं। इस प्रकार कानूनकारिणी समिति को बहुविध कार्य करने पड़ते हैं।

(ख) अमल-विभाग को भी सिर्फ अमल का ही कार्य नहीं करना पड़ता। ऊपर बतलाया गया है कि सामान्य नियमों के विशिष्ट उपनियम बनाने का, और इस तरह कानून बनाने का कार्य इस विभाग को करना ही पड़ता है। फिर न्याय का अधिकार न रहने पर भी इन अफसरों को थोड़ा बहुत न्याय का काम करना पड़ता है। मान लीजिए कि किसी ने कुछ जुल्म किया। कभी उसे बिना वारंट के पकड़ सकते हैं, कभी गिरफ्तारी के लिए वारंट निकालना पड़ता है। किसी भी तरह उसकी गिरफ्तारी की जावे। बुद्धि से उसी तरह का—न्याय का निर्णय करने का—कार्य लेना होगा। किसी पर कर लगाते समय जिस बुद्धि का निर्णय होगा उसीका किसी माल के हक्कदार का निर्णय करते समय करना होगा। यथा, जेलखाने में कैदियों के लिए नियम बने रहते हैं। उनका उल्लंघन होनेपर, उनके अनुसार दण्ड देने के लिए भी, न्याय-बुद्धि का ही उपयोग करना होगा। इसी प्रकार कई उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ अमल-विभाग को भी न्याय का कार्य थोड़ा बहुत, और कभी कभी बड़े महत्त्व का, करना होता है। इसके विपरीत, न्याय-विभाग को भी अमल-विभाग के अधिकारियों की बुद्धि रखनी पड़ती है। क्या इस पुरुष को इस सजा से कुछ लाभ होगा या नहीं? वह किस प्रकार की और कितनी होनी चाहिए कि वह फिर गड़बड़ न मचावे—यह बात न्यायाधीश को भी ध्यान में रखनी होती है। वारंट निकालने का थोड़ा बहुत अधिकार न्यायालयों को होना ही चाहिए, यद्यपि यह वास्तव में अमल-विभाग का कार्य है। न्याय के कार्य की व्यवस्था, पक्षकारों से अदालत के नियमों का पालन करवाना, अदालत के समय शांति रखना, गवाहों को बुलाना, और किसी विशिष्ट प्रसंग पर कौनसी रीति से जाँच-पड़ताल करना, इत्यादि बातें अमल-विभाग के कार्यों के समान ही हैं। इस प्रकार इन दो विभागों को थोड़ा बहुत दूसरे विभाग का कार्य करना ही पड़ता है।

सारांश, इन कार्यों को बिलकुल अलग करना असंभव है। कुछ अंशों में ये तीन विभाग परस्पर के विभाग का कार्य करते ही रहेंगे।

[४] पहले बतलाया गया है कि कानून बनानेवालों की दृष्टि अमल-विभाग पर बनी रहनी चाहिए और उसके कार्य की आलोचना उसके सर्वोच्च अधिकारियों के सामने होनी चाहिए। इतना ही नहीं, उन्हें अव्यवस्था दूर करने का अधिकार भी कानून बनाने

* इंग्लैंड इसका एक बड़ा भारी उदाहरण है।

वालों के हाथ में रहे; पर न्याय-विभाग की वैसी बात नहीं है। इस विभाग के कार्य पर लोगों की स्वतंत्रता अवलंबित रहती है; क्योंकि अमल-विभाग के पुरुष भी कायदों के पालन करने के लिए उतने ही बाध्य हैं जितने कि मामूली लोग। इसके लिए न्याय-विभाग पर दूसरे दो विभागों का दबाव बहुत कम होना चाहिए। कायदों के अनुसार उन्हें स्वतंत्र होकर निर्णय करने देना चाहिए। फिर उसमें शेष दो विभाग किसी तरह हस्तक्षेप न करें। न्याय-कार्य के लिए न्याय-विभाग बिलकुल स्वतंत्र रहे। इसके लिए आवश्यक है कि जबतक न्यायविभाग के पुरुष कायदे और नियमों का उल्लंघन न करें, तबतक अपने कार्य से दूर न किये जावें। उन्हें दूर करने का अधिकार बहुधा कानूनकारिणी सभा को ही रहता है और वह भी न्याय की रीति से। उनका वेतन भी अमल-विभाग की मर्जी पर न छोड़ा जाय-उसका भी स्वतंत्र प्रबंध कर दिया जाय, जिससे न्यायाधीश दूसरों पर किसी प्रकार अवलंबित न रहें और अपना कार्य स्वतंत्रता से करते रहें। अधिकार-विभाजन की बड़ी भारी आवश्यकता यही है।

[५] सारांश, अधिकार-विभाजन का तत्त्व लोगों की स्वतंत्रता की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। यह दिखाया जा चुका है कि उनको बिलकुल अलग करना या एक दूसरे से (न्यायविभाग को छोड़कर) अलग अलग करना अशक्य है, और न उचित ही है। कहीं कहीं पर एक को दूसरे के प्रान्त में हस्तक्षेप करना पड़ता है यह भी दिखला दिया गया है। अधिक दखल करते समय दूसरे देशों की राज्य-प्रणाली की ओर दृष्टि देना आवश्यक है। मोटी तरह से कहना हो तो ये तीनों कार्य भिन्न हैं और प्रकृति की ओर देखने से यही जँचता है कि वे भिन्न राज्यांगों के हाथ में रखे जायँ। अधिकार-बाहुल्य से मन अपना कार्य ठीक नहीं कर सकता। इस संबंध में प्रसिद्ध स्वदेशाभिमानी संयुक्त अमरीका के प्रथम प्रेसिडेन्ट जार्ज वाशिङ्गटन की उक्ति स्मरण रखने योग्य है। वे कहते हैं—"इसी प्रकार यह भी बहुत महत्त्व की बात है कि शासनाधिकारियों को स्वतंत्र देशों की विचार-पद्धति के कारण अपने अधिकार का उपयोग करते समय स्मरण रखना चाहिए। वे अपने सीमाबद्ध अधिकार का अतिक्रमण न करें—एक विभाग के अधिकारों का दूसरे विभाग के अधिकारों पर कोई परिणाम न होने पावे। इस प्रकार एक बार (दूसरे के) अधिकारों में हस्तक्षेप करने की आदत पड़ गई तो अंतिम परिणाम यह होता है कि सारे अधिकार एक जगह आकर संकलित हो जाते हैं। फिर राज्य-घटना किसी भी तरह की क्यों न हो, वह सच्चा अत्याचारी राज्य बन जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही अधिकार का प्रेमी है और उसका दुरुपयोग करता है। इस कारण जो कुछ यहाँ कहा गया है, उसकी सत्यता अधिक दृढ़ हो जाती है। राज्याधिकार को विभक्त करके अलग अलग विभागों में बाँटने की और परस्पर उनके दबाव की और इस प्रकार जुल्म रोक कर लोक-सुख की रक्षा की आवश्यकता प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास से जँच चुकी है। ये राज्यांग प्रस्थापित करना आवश्यक तो है ही; पर अलग अलग रखना भी उतना ही आवश्यक है।" हमें केवल यही कहना है कि स्वतंत्र देशों की अपेक्षा परतंत्र देशों में यह आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है।

जन्तुओं में आत्मोत्सर्ग का भाव।

(लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी. ए.)

दूसरों के लिए अपने प्राण दे देना एक अत्युच्च नैतिक गुण है जो आज तक भूतल के सर्वोच्च प्राणी मनुष्य में ही माना जाता रहा है। मनुष्य में इससे बढ़ कर और कोई प्रेम नहीं कि वह अपने मित्रों के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दे; परन्तु यहाँ कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जिनसे यह जान पड़ेगा कि अन्य जन्तुओं में भी, मनुष्य के सदृश ही, यह गुण पाया जाता है।

कुछ समय हुआ, दो लोमड़ियों का वृत्तान्त अँगरेज़ी पत्रों में प्रकाशित हुआ था। एक लोमड़ी के पीछे बहुतसे शिकारी कुत्ते और मनुष्य भागे। लोमड़ी दौड़ते दौड़ते बेहद थक गई और एक झाड़ी में घुस गई। कुत्ते झाड़ी में उसके पीछे नहीं गये; क्योंकि एक ताज़ी और चालाक लोमड़ी उनके सामने आकर भागने लगी और वह थकी हुई ग़रीब लोमड़ी एक जगह छिपकर आराम करने लगी। एक मज़दूर और दो पथिक सड़क के किनारे खड़े खड़े यह तमाशा देख रहे थे। जब थकी हुई लोमड़ी झाड़ी में घुसी, तब मज़दूर ने पथिकों से कहा, तनिक चुपचाप ठहरे रहिए और देखिए क्या होता है। उन्होंने देखा कि कुत्तों से फिर पीछा किये जाने पर वह दूसरी लोमड़ी यहाँ वहाँ चक्कर लगाने लगी और जब थकने पर हुई तो तुरंत झाड़ी में घुस गई और उसके स्थान में एक ताज़ी लोमड़ी जंगल से निकल कर कुत्तों के सामने दौड़ने लगी। तब मज़दूर बोला, यह तीसरी बार है कि मैं लोमड़ी को यह चाल चलते देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इन लोमड़ियों ने आपस में कोई समझौता कर रक्खा है। जब एक भागते भागते थक कर गिरने लगती है, तब वह झट इस छोटी सी झाड़ी में घुस जाती है, और दूसरी उसके बदले भागने लगती है। पथिकों को तो बड़ा आश्चर्य हुआ; परन्तु मज़दूर बात समझ गया था। एक पथिक बोला— मैं समझ गया। कुत्तों के थक जाने के कारण ताज़ी लोमड़ी साफ़ बच जाती है। मज़दूर ने कहा—ठीक यही बात है। दोनों मित्र लोमड़ियाँ एक दूसरे के भाव को ख़ूब समझती हैं और कुत्तों के साथ व्यवहार करना जानती हैं।

इसी प्रकार दो और लोमड़ियों का वृत्तान्त है। वे कुछ वृक्षों के चारों ओर दौड़ दौड़ कर चक्कर लगा रही थीं जिससे उनमें तथा उनके आस-पास की घास में उनकी गंध भर जाय। एक सैनिक अफ़सर उन्हें वहाँ चक्कर लगाते देख रहा था। वह कौतूहलवश निकट पहुँचा। वहाँ जाकर उसने देखा कि लोमड़ियों के दो नवजात नन्हें नन्हें बच्चे कुण्डली मारे, एक वृक्ष के पास, पड़े हैं। थोड़ी देर बाद शिकारी कुत्ते वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देख दोनों लोमड़ियाँ एक ओर भाग गईं। लोमड़ियों की गंध चारों ओर इतनी तेज़ फैल रही थी कि शिकारी कुत्तों ने उन अशक्त बच्चों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया और एकदम लोमड़ियों का पीछा किया। लोमड़ियाँ चाहती भी यही थीं। वे अपने बच्चों के लिए अपने प्राणों को संकट में डाल रही थीं।

अब भी अनेक लोग ऐसे हैं जो समझते हैं कि जन्तुओं में सोचने और समझने की शक्ति नहीं होती है। वे उन्हें केवल सजीव यन्त्र मात्र समझते हैं; परन्तु ऐसे लोगों को इन जीवों का वास्तविक ज्ञान ही नहीं। उन्होंने इनकी जीवनी का अध्ययन ध्यानपूर्वक कभी नहीं किया, उनसे प्रेम कभी नहीं किया। कुत्ता एक मशीन या यन्त्र नहीं। वह अपने स्वामी से प्रेम करता है। जब उससे कोई भूल हो जाती है, तब वह झट जान जाता है और अपराधी की भाँति गिड़गिड़ाता है।

डबलिन नगर के चिड़ियाघर में एक सिंहनी थी। उसे चूहे बहुत तंग किया करते थे। उनसे अपनी रक्षा करने में वह अशक्त थी। एक दिन एक कुत्ते ने उसके पिंजरे में घुस कर एक चूहे को मार डाला। बस, उसी समय से सिंहनी और कुत्ते में मित्रता हो गई और वे मृत्यु-पर्यन्त एक दूसरे से अलग न हुए। आप कहेंगे कि सामान्य अवस्था में बिल्ली की जाति के जन्तु कुत्ते की जाति के जन्तुओं के मित्र कभी नहीं होते; उपर्युक्त मित्रता के समझने में कुछ भ्रम हुआ होगा। यदि पिंजरे से बाहर निकलने पर भी वे उसी प्रकार मित्र रहते तो संसार में कैसा विचित्र दृश्य होता। परन्तु, उनकी मित्रता नैमित्तिक थी। उपर्युक्त लोमड़ियों का प्रेम अधिक स्वाभाविक और स्थायी था। साधारण दशा में ही लोमड़ियाँ ऐसे ऐसे आश्चर्य-जनक छल करती हैं कि शिकार के समय उनके परस्पर सहायता करने की कल्पना तैयार कर लेना कोई असम्भव बात नहीं।

विपत्ति से जन्तुओं में अनभ्यस्त भाव उत्पन्न हो आते हैं। कैनेडा के जङ्गलों में जब आग लगती है तब डरी हुई भेड़ें, बकरियाँ, घोड़े, बैल, हरिण, भेड़िये, शेर और चूहे सब एक स्थान पर प्रीतिपूर्वक इकट्ठे हो जाते हैं। एक बार एक भेड़ पीठ के बल, निस्सहाय अवस्था में पड़ी हुई मृत्यु का आह्वान कर रही थी। एक बैल को उसपर दया आई और उसने उसे अपने सींगों के सहारे उठा कर पाँव पर खड़ा कर दिया। लण्डन के चिड़िया-घर में एक भयंकर वन-मानुष को चौकीदार पर आक्रमण करते देख उसी पिंजड़े में बंद एक कातर वानर झट उछल कर वन-मानुष की गर्दन पर जा बैठा और इस प्रकार उसने चौकीदार की प्राण-रक्षा की।

पशु और पक्षी मृत्यु का भय रखते हैं। वे मनुष्य को मृत्यु का मूल समझते हैं और संसार के समस्त प्राणियों की अपेक्षा उससे अधिक डरते हैं; परन्तु लेपविंग नाम की चिड़िया के घोंसले के पास यदि आप जायँ तो वह घोंसले से निकल कर आपके सामने कुछ ही फुट की दूरी पर झट आ बैठती है और ज्योंही आप उसके पीछे भागते हैं वह लँगड़ाती हुई आपके आगे आगे दौड़ती जाती है। न तो वह आपके हाथ की पहुँच में आती है और न इतनी दूर भाग जाती है कि आप उसे पकड़ने की आशा ही छोड़ दें। वह इसी प्रकार भागते भागते आपको अपने बच्चों से दूर ले जाती है। लेपविंग सदा ही ऐसा करती है।

और लीजिए। बन्दर मनुष्य से डरते हैं। उसकी बन्दूक का शब्द सुनते ही वे भाग जाते हैं। परन्तु देखिए, कभी कभी वे मनुष्य और

बन्दूक दोनों का कैसी वीरता से सामना करते हैं। एक समय एक शिकारी ने जंगल में एक बंदरिया को मार डाला और उसे वहाँ से उठाकर वह अपनी झोपड़ी में ले आया। यद्यपि बंदर उससे डरते थे, तो भी वे चालीस पचास मिलकर उसके पीछे पीछे आये। उन्होंने उसकी झोपड़ी को चारों ओर से घेर लिया, और क्रोध से इस प्रकार चिल्लाने लगे मानो आक्रमण किया चाहते हैं। शिकारी ने उनकी ओर बन्दूक दिखाई। इस भयङ्कर यन्त्र को देखते ही सब के सब भाग गये। केवल एक बंदर, जो खूब मजबूत और जवान था, क्रोध से दाँत पीसता हुआ धीरे धीरे झोपड़ी की ओर बढ़ा; परन्तु क्रूरता का कुछ परिणाम न देख मंद और खिन्न स्वर से विलाप करने लगा। हाथों को आगे बढ़ाये हुए वह ऐसा जान पड़ता था मानो बंदरी की मृतक देह को माँग रहा हो। उसे देख शिकारी करुणा-सागर में निमग्न हो गया। उसने वह शव उसे दे दिया और बंदर उसे उठाकर अपने साथियों के पास ले आया। वह बंदर वस्तुतः दूसरों की अपेक्षा अधिक निर्भीक था। उसने शिकारी के पास पहुँचने के लिए जानबूझ कर अपने आपको जोखिम में डाला था।

अब पक्षियों का उदाहरण लीजिए। एक व्याधा ने एक कबूतर के एक जोड़े को घोंसले में अपने बच्चों को चोगा खिलाते देखा। उसने उन्हें उड़ा दिया और उनके चार बच्चों में से तीन को मार डाला। चौथा बच्चा उसने इसलिए छोड़ दिया जिससे बड़े पक्षी फिर वहाँ आकर बैठें और मैं उन्हें गोली का निशाना बना सकूँ। इस क्रूर कर्म में उसे सफलता भी मिली। बड़े पक्षी घोंसले में लौट आये और उसने उन्हें बन्दूक से मार डाला। दूसरे दिन उसने वहाँ आकर देखा कि दो और बड़े कबूतर उस छोटे बच्चे को चोगा दे रहे हैं। उस दुष्ट ने उन दो को भी मार डाला। तीसरे दिन फिर वैसा ही हुआ। अनुकम्पा के वशीभूत हो कबूतर का एक तीसरा जोड़ा, मृत्यु की कुछ भी परवा न करके, उस छोटे बच्चे को चोगा देने आया। उस नर-पिशाच ने उसे भी गोली का निशाना बना दिया। देखिए, छः पक्षियों ने उस निःसहाय बच्चे के लिए अपने जीवन को जोखिम में डाला। जब उनमें बच्चे को ढूंढ़ने एवं उसे भूखा समझ चोगा देने की बुद्धि थी तब क्या वे यह न समझते रहे होंगे कि उसके माता-पिता मर गये हैं, और हमें, अपने जीवन को संकट में डाल कर भी, उस असहाय की सहायता करनी चाहिए?

एक चिड़िया-घर में बहुत से तोते थे। उनमें से एक शीत के कारण अन्धमरा और लँगड़ा हो गया था। एक को छोड़ सब तोते उस गरीब लँगड़े पर आक्रमण करते थे; और यदि वह एक तोता उसका मित्र न होता तो वे अवश्य ही उसे मार डालते। वह बड़ी उदारता से उसकी रक्षा करता था। वह उसे भोजन खिलाता था, उसके नोचे हुए परों को ठीक करता था, और जब दूसरे तोते उसे मारने आते, तब वह बाज और शिकरे की तरह लड़ कर उसकी रक्षा करता था।

एक साहब लिखते हैं कि मेरे खलयान में एक मुर्गी छोटे छोटे बच्चे छोड़ कर मर गई। मेरे यहाँ एक बतक भी थी। उसने उन बच्चों को अपनी शरण में ले लिया। वह उन्हें प्रति-

दिन चुगने ले जाती और जब तक उनका पेट न भर जाता वापिस न आती। फिर पानी पिलाने के लिए वह उन्हें नदी ले जाती। जब बच्चे चुगते थे, तब वह लड़ भिड़ कर दूसरे मुर्गे और मुर्गियों को उनके पास न आने देती थी जिससे वे खूब पेट भर खा लें। वह बुद्धिमती बदक उन छोटे बच्चों के कल्याण के लिए अनेक प्रकार के उपाय किया करती थी। कई बार तो उसे अपने प्राणों को भी जोखिम में डालना पड़ा था।

लेखक के गाँव में एक मनुष्य को तोते पालने का शौक़ था। एक बार वह गाँव की पुरानी मसजिद में से तोते का बच्चा पकड़ लाया। उसे उसने पिंजड़े में बंद करके घर की दहलान में लटका दिया। संध्या समय पता देखा कि बच्चे की माता तोती पिंजड़े पर बैठी हुई बाहर से उसे चोगा खिला रही है। माता कई दिन तक हर रोज़ बच्चे के पास आती रही परन्तु एक दिन उस मनुष्य की असावधानी से एक बिल्ली उस बच्चे को खा गई। उस दिन से फिर वह तोती वहाँ नहीं आई।

कहते हैं, एक शिकारी जंगल से लोमड़ी का एक बच्चा पकड़ लाया। उसने उसे अपने तहखाने में रख दिया। वहाँ उसके शिकारी कुत्ते और कुछ मुर्गियाँ भी रहती थीं। कुत्तों का डर रहते हुए भी उस बच्चे की माता और पिता लोमड़ी प्रतिदिन रात को उस तहखाने में आते थे। चौकीदार ने पहले तो समझा कि शायद ये मुर्गियों के लालच से आते हैं; परन्तु पीछे से मालूम हुआ कि दोनो लोमड़ियों के अपने जीवन को जोखिम में डालने का कारण उनका अपत्य-स्नेह है। इस स्नेह के बिना वे जङ्गल को छोड़ कर नगर में आने का कभी साहस न करतीं।

डार्विन साहब ने पालतू मुरग़ाबियों के विषय में लिखा है कि ये एक अंधी मुरग़ाबी को भोजन खिलाया करती थीं। फ़रांसीसी सेना के एक कप्तान ने घोड़ों के विषय में भी इसी बात का वर्णन किया है। तीन घोड़े एक ही खूँटे से बाँधे जाते थे। उनमें से एक बहुत बूढ़ा था। उसके दाँत इतने दुर्बल हो गये थे कि वह न दाना खा सकता था और न सूखी घास ही। यह रोग घोड़ों को प्रायः हो जाया करता है। सलोतरी लोग एक अरडाकार रेती से दाँतों को रेत कर उनमें फिर काटने की शक्ति पैदा कर देते हैं. परन्तु वहाँ उस बूढ़े के दोनो साथी घोड़े उसके लिए 'रेती' (वाय) का काम करते थे। वे घास को कुछ देर चबा कर उस बूढ़े घोड़े के सामने रख देते। इसी प्रकार वे दाने को पीस कर उसे खिलाते थे। वे तीनों दो मास इकट्ठे रहे और इस काल में उन्होंने उसे इसी रीति से मोटा-ताज़ा बनाये रक्खा।

सुना है, लड़ाई में एक घोड़े का सवार मर गया। वह घोड़ा बंदूक और तोप की गोलियों की वर्षा में बराबर दो दिन और दो रात उसके सिरहाने भूखा-प्यासा खड़ा रहा। एक मनुष्य ने देखा कि घोड़ा भूख और प्यास से मर रहा है; परन्तु अपना स्थान नहीं छोड़ता। वह मनुष्य कुछ साथियों को साथ लेकर, अँधेरे में रेंगता हुआ घोड़े के पास गया; परन्तु जब तक घोड़े की आँखों पर पट्टी न बाँधी गयी तबतक वह अपने स्थान से नहीं हिला। मृतक के साथ इससे बढ़ कर प्रेम किसी मनुष्य ने शायद ही कभी दिखलाया हो।

पशु प्रेम-परीक्षा में पूरे उतरते हैं। शूरता और अनुकम्पा की कसौटी भी उनको सच्चा सिद्ध करती है। चिउँटियाँ अपने आहतों को उठाकर घर ले जाती हैं। मधुमक्खियाँ वंश-नाश के डर से, अपनी रानियों की आज्ञा पाते ही, छत्ते को छोड़ दूसरी जगह चली जाती हैं। वन-मानुष भी एकता की कसौटी पर पूरे उतरते हैं। एक अफरीकन वन-मानुष एक बार बारकों में से सिपाहियों के कुछ कपड़े उठा ले गया। एक अफसर ने बीस सिपाही लेकर वन-मानुषों की गुफा को घेर लिया। वह अफसर लिखता है कि वे हमारी सब चेष्टाओं को ध्यानपूर्वक देखते थे। वे कोई पचास वन-मानुषों को द्वाररक्षा के लिए छोड़कर, शेष सब अपने२ स्थान पर डट गये। उन्होंने हम लोगों पर फेंकने के लिए बड़े बड़े पत्थर और दूसरी चीजें इकट्ठी कीं। एक वृद्ध वन-मानुष जो प्रायः हमारी बारकों में आया करता था सेनापति के समान उन्हें घूम घूम कर आज्ञाएँ देता हुआ दिखाई दे रहा था। हमने उनपर आक्रमण किया। बस, फिर क्या था, बूढ़े वन-मानुष ने एक चीख मारी और हमपर पत्थरों की वर्षा होने लगी। निदान हमें वहाँ से लौटना पड़ा। जंगल में रहनेवाले जन्तु भी अपने दलों में कुछ सन्तरी रखते हैं। जब कोई शत्रु उनके दल पर आक्रमण करने आता है, तब सन्तरियों का यह कर्तव्य होता है कि वे सारे दल को उसकी सूचना दें और जबतक सारा दल सुरक्षित स्थान में न चला जाय वे सन्तरी अपने प्राणों को जोखिम में डालकर शत्रुओं को रोक रखते हैं। यदि दल का एक हाथी आहत हो जाय, तो दूसरे उसके गिर्द इकट्ठे होकर, अपने कंधों के सहारे, उसे उठा ले जाते हैं। प्रतिदिन के जीवन में ऐसी अनेक घटनाओं को देख यह मानना पड़ेगा कि जीव-जन्तुओं के विषय में साधारण लोग जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक उच्च, सूक्ष्म, और श्रेष्ठ उनका मन होता है। यदि कोई ऐसा साधन हो जिससे हम पशु-पक्षियों की भाषा समझ सकें तो न मालूम हमारा ज्ञान कितना और बढ़ जाय। अभीतक तो हम उनके विषय में जो कुछ जान सके हैं वह सब अनुमान पर ही स्थित है।

विविध विषय।

(१) ऑलिम्पिक गेम्स में भारतवासी।

ग्रीस देश में ऑलिम्पिया नामक एक स्थान है। लगभग पौने तीन हजार वर्ष पूर्व, जब ग्रीस की सभ्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, वहाँ प्रति चौथे वर्ष कुछ खेल-कूद हुआ करते थे जो "ऑलिम्पिक गेम्स" कहलाते थे। इन खेल-कूदों में समस्त ग्रीस देश के लोग भाग लेते थे। इतना ही नहीं, अन्य देशों के लोग भी जहाँ की सभ्यता और संस्कृति उच्च समझी जाती थी वहाँ पहुँचते और अपना कौशल प्रदर्शित करते थे। ये खेल-कूद लोगों में प्रेम-भाव उत्पन्न करते और वीर-भाव जागृत करने में सहायक होते थे। इनका महत्त्व इतना बढ़ा-चढ़ा था कि जबतक ये होते थे, तबतक के लिए युद्ध स्थगित कर दिये जाते थे। ग्रीस के पतन के साथ वहाँ की विशेषताएँ ध्वंस होने लगीं और ऑलिम्पिक गेम्स नामशेष हो गये। यह बात यूरप वालों को बहुत खटकती थी और

उन्होंने इन्हें पुनरुज्जीवित करनेका प्रयत्न किया। उनके प्रयत्न से ये खेल-कूद सन् १८९६ से फिर होने लगे और सन् १९१६ ई. में ये बर्लिन नगर में होनेवाले थे , इतने में विश्व-व्यापी महायुद्ध की भेरी बज उठी और समस्त संसार का ध्यान खेल-कूदों से हटकर महायुद्ध की ओर आ लगा।

अब, किसी प्रकार, महायुद्ध समाप्त हो चुका है और ऑलिम्पिक गेम्स इस वर्ष १० अगस्त को बेलजियम देश के एन्टवर्प नामक नगर में होनेवाले हैं। इसके लिए बहुत दिनों से तैयारी की जा रही है। प्रायः सभी सभ्य देशों के लोग इन खेल-कूदों में भाग लेंगे। इस देश में भी कुछ दिनों से इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि भारतवासी खिलाड़ी भी इन खेलों में भाग लेवें। इसके लिए गत नवंबर मास से पूना का डेक्कन जिमखाना प्रयत्न करता रहा है और यह लिखते बहुत हर्ष होता है कि उसके प्रयत्न सफल हुए हैं और अब भारतवासियों को भी ऑलिम्पिक गेम्स में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त हो चुका है।

जो खिलाड़ी सम्मिलित होनेवाले हैं उनका चुनाव हो चुका है और वे गत जून मास में यूरप के लिए प्रस्थान भी कर चुके हैं। इस समय तक वे एन्टर्प पहुँचे होंगे। उनके नाम इस प्रकार हैं:— (१) श्री० पी. डी. चौगुले, बेलगाँव, (२) श्री० एच. डी. कैकाडी, सतारा, (३) श्री. बी.वी. दातार, साँगली, (४) श्री० के. टी. नवले, पूना, (५) श्री० पी. सी. चटर्जी, कलकत्ता, और (६) श्री. डी. आर. शिंदे, कोल्हापूर। इंडियन ऑलिम्पिक एसोसिएशन के जनरल सेक्रेटरी श्रीयुत शंकरराव भागवत भी इस दल के साथ जानेवाले थे; परन्तु कार्यवशात नहीं जा सके। क्रिकेट के प्रसिद्ध खिलाड़ी राणा रणजीतसिंह भी पधारे हैं और उन्होंने उदारता-पूर्वक चंदा भी दिया है।

यह पहलाही अवसर है जब भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय खेलों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह आर्यभूमि वीर-जननी है। इसके सुपुत्र किसी भी जाति से विद्या, बल, बुद्धि आदि में कम नहीं हैं-इस बात को डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० सर जगदीशचन्द्र बोस, राणा रणजीतसिंह, पहलवान गामा आदि ने संसार को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिखाया है। हमें विश्वास है, उपरोक्त छै भारतीय वीर भी अपना कौशल प्रकट करके भारत-माता का मुख उज्ज्वल करेंगे।

(२) भारतवर्ष में पाताली रेल।

यह पाताली रेल क्या है ? पृथ्वी की सतह पर तो रेलगाड़ियाँ दौड़ती ही हैं; पर क्या पृथ्वी के नीचे भी रेल गाड़ियाँ चलती हैं ? जी हाँ, लंदन में इस प्रकार की भी रेलगाड़ियाँ चला करती हैं। पृथ्वी के नीचे लोहे के बड़े बड़े पीपे लगाये गये हैं और इन्हीं के भीतर ये रेलगाड़ियाँ दौड़ा करती हैं। इन पीपों को अंग्रेज़ी में "ट्यूब" (Tube) कहते हैं और इनके भीतर चलनेवाली गाड़ियों का नाम रखा गया है "ट्यूब रेलवेज"। इन्हीं ट्यूब रेलवेज को हिन्दी में "पाताली रेल" कह सकते हैं।

ये पाताली रेलें बिजली की शक्ति से चलती हैं। लंदन में इन रेलों के लगभग १५० स्टेशन हैं जहाँ मशीनों के द्वारा टिकटें मिला करती हैं। आप मशीन में पैसा डाल दीजिए। आपको तारीख छपी हुई टिकट तुरंत मिल जायगी। गाड़ियों के

पास पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ और लिफ्ट लगे रहते हैं। लिफ्ट के बिगड़ जाने पर सीढ़ियों से काम लिया जाता है। इन गाड़ियों में दर्जों का कोई भेद नहीं। सभी यात्रियों को एकसा किराया देना पड़ता है और कोई भी मनुष्य कहीं भी बैठ सकता है। स्त्री और पुरुष एक साथ ही बैठा करते हैं। थूकने की सख्त मनाई रहती है; बीड़ी या सिगरेट पीने के लिए अलग कमरे बने रहते हैं जिनके भीतर जाकर जो बीड़ी पीना चाहें पी सकते हैं। पाठकों को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि ज़मीन के भीतर चलने पर भी, यात्रियों को, बिजली के पंखों तथा गाड़ी की गति के कारण, अच्छी स्वच्छ वायु का अनुभव हुआ करता है। जाड़े और बरसात के दिनों में इन गाड़ियों से आना-जाना बहुत पसन्द किया जाता है; क्योंकि इनमें बैठने से ठंडी हवा के झोकों और कीचड़-पानी से बचाव होता है। हां, गर्मी के दिनों में अवश्य कुछ कष्ट होता है।

इस प्रकार की रेलगाड़ियों को खोलने का विचार भारतवर्ष में किया जा रहा है। अभी इस विषय की चर्चा यहां के सामयिक पत्रों में बहुत कम देखने में आती है, पर अमेरिका के संयुक्त राज्यों में इसकी खूब चर्चा हो रही है। पहली पाताली रेल सम्भवतः कलकत्ते में बनेगी। अभी, उस दिन, कलकत्ता कारपोरेशन के सभापति ने कहा था कि जहाँतक मैं जान सका हूं, हुगली के नीचे पाताली रेल बनाने के मार्ग में ऐसी कोई बड़ी भारी अड़चन नहीं है। खर्च के सम्बन्ध में बारीक हिसाब लगाकर कूता गया है कि एक मील रेल बनाने में लगभग एक करोड़ रुपये, आजकल, खर्च होंगे। इतना द्रव्य कहां से आवेगा? रुपयों के सिवा, निपुण इंजीनियर भी चाहिए। बहुत सम्भव है, यह रुपया और इंजीनियर आदि अमेरिका या अन्य देशोंसे आवें। यदि ऐसा होनेवाला हो, तो हमें पाताली रेल नहीं चाहिए। हम मर्त्य हैं, हम मर्त्यलोक में ही रहना चाहेंगे। पाताल जाने की कोई आवश्यकता नहीं। भारतवर्ष बहुत अधोगति को पहुँच चुका है। अब उसके निवासियों को पाताल न भेजा जाय। अस्तु, यदि कुशल इंजीनियर यहाँ नहीं मिल सकते, तो वे दूसरे देशों से आ सकते हैं। पर रुपया तो हमारे देश का ही रहना चाहिए ताकि देश का धन देश ही में रहे। यदि दूसरों के धन से हमारे कल-कारखाने चलेंगे, तो हम कहते हैं कि वे न चलें, तो अच्छा—हम बिना कल-कारखानों के ही अपनी गुज़र कर लेंगे और जब हमारे पास रुपया होगा, तब हम उन्हें खोल लेंगे; पर इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि यदि इस समय हमारे पास रुपया नहीं है, तो हमारा घर और उसका सुख दूसरों को दे दिया जावे और हमारे तथा हमारी भावी सन्तानों के लिए उसका दरवाज़ा सदैव को बंद कर दिया जावे।

(३) एक भारतीय गणितज्ञ का परलोकवास।

रॉयल सोसायटी का सदस्य (फैलो) होना विद्वानों के लिए एक बड़े गौरव की बात है। इस पद का महत्व इसी बात पर से जाना जा सकता है कि यह गौरव भारतवर्ष के केवल दो ही विद्वानों को प्राप्त है। एक हैं डाक्टर सर जगदीशचंद्र बोस और दूसरे हैं मि० रामानुजम्। खेद की बात है, मि० रामनुजम् का शरीरान्त, अभी हाल में, केवल ३२ वर्ष की अवस्था में,

हो गया । "संसार का एक प्रकार से सबसे अधिक प्रसिद्ध गणित-विद्या-विशारद चल बसा" —यह भारत-वर्ष का दुर्भाग्य है ।

मि० रामानुजम् का जन्म सन् १८८८ ई० में कुंबकोनम में हुआ । जब आप स्कूल में प्रारंभिक शिक्षा पा रहे थे तभी आपकी गणित-विद्या की ओर असाधारण अभिरुचि देखकर लोग चकित होते थे । आपको यूनीवर्सिटी की बहुत ऊँची शिक्षा नहीं मिली । आप केवल एफ.ए. तक शिक्षा पाकर मद्रास के पोर्ट ट्रस्ट में नौकरी करने लगे । वहाँ भी आपका गणित-प्रेम छिपा न रहा और आपको अवसर दिया जाता रहा कि आप गणित-विद्या में नई खोज करें ।

सन १९१३ में सर गिलबर्ट वाकर ने मद्रास यूनीवर्सिटी के सिनडीकेट से अनुरोध किया कि वह मि० रामानुजम् के गणित-विषयक कार्यों का परीक्षण करें । इस बीच में मि० रामानुजम् केम्ब्रिज के एक अध्यापक से पत्र-व्यवहार करते थे । उन अध्यापक ने भी एक पत्र लिखकर अनुरोध किया कि मि० रामानुजम् के कार्यों की जाँच-पड़ताल की जावे । फल यह हुआ कि आपको अच्छी छात्रवृत्ति दी गई और आप अपने प्रिय विषय के अध्ययन में अपना पूरा समय और ध्यान देने लगे । आगे चलकर, आपको २५० पौंड की वार्षिक छात्रवृत्ति दी गई और आप केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में गणित-विद्या की आधुनिक प्रणालियों का अध्ययन करने लगे । केम्ब्रिज में आपका साक्षात्कार कई धुरंधर गणित-विद्या-विद्वानों से हुआ और वे आपकी असाधारण योग्यता पर मुग्ध हुए । उनमें से एक का तो यहाँ तक कहना था कि मि० रामानुजम् ने कई ऐसी बातों का आविष्कार किया है जिन्हें भारी भारी विद्वान् गत १०० वर्षों के भीतर नहीं कर सके हैं ।

आप गणित-विद्या के अध्ययन में बहुत अधिक परिश्रम करते थे । एक तो आपका शारीरिक स्वास्थ्य पहले से ही बहुत अच्छा नहीं था । फिर इस कठोर परिश्रम ने उसे और भी बिगाड़ दिया । आप अभी गत मार्च मास में भारतवर्ष लौटे ही थे कि आपके स्वास्थ्य की दशा चिन्ता-जनक हो उठी । मनुष्य की शक्ति के भीतर जितने उपचार थे वे सब किये गये; पर होना वही था जो हो चुका । केवल ३२ वर्ष इस संसार में रह कर आज आप का स्थूल शरीर यहाँ नहीं है ।

(४) भारत में काग़ज़ के कारखानों की आवश्यकता ।

अब यह बात किसी से छिपी नहीं है कि काग़ज़ का मूल्य कितना अधिक बढ़ गया है और दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है । छापेखानों के मालिक और पुस्तक प्रकाशक तो इसका अनुभव प्रति दिन कर ही रहे हैं; पर पाठक-गण भी भिन्न भिन्न पत्रों और पुस्तकों की मूल्य-वृद्धि देख कर अनुमान कर सकते हैं । पूर्व समय में जब काग़ज़ का उपयोग नहीं किया जाता था या कम किया जाता था, तब काग़ज़ की कमी इस प्रकार नहीं अखरती थी जैसी इस समय अखर रही है जब कि प्रत्येक कार्य में—क्या लिखना पढ़ना, क्या जमा-खर्च, क्या लेन-देन यहाँ तक कि रद्दी वस्तुओं के फेंकने और उत्तम से उत्तम वस्तुओं के रखने में भी—काग़ज़ का उपयोग किया जाता है । भारत सरीखे देश में, जहाँ कि उन्नत राष्ट्रों की तुलना में एक—दशांश काग़ज़

भी खर्च नहीं होता, काग़ज़ की मँहगी का यह हाल है, तब उन राष्ट्रों का क्या हाल होगा—इसका अनुमान भलीभाँति किया जा सकता है। अमेरिका को ही लीजिए। वहाँ के व्यापारी इंग्लैण्ड, स्कनडेनेविया आदि देशों में दुगुनी, तिगुनी क़ीमत ही नहीं, मुँहमाँगे दाम देने को तैयार हैं, फिर भी उन्हें समय पर यथेष्ट और यथेच्छित काग़ज़ मिल जाने का वचन नहीं मिल रहा है। जिन देशों में काग़ज़ के कारखाने हैं वे इस समय अपने ही देश के लिए काफ़ी काग़ज़ नहीं बना रहे हैं। फिर वे दूसरों की माँग की पूर्ति कर ही कैसे सकते हैं?

काग़ज़ बनाने के लिए एक मसाले की आवश्यकता होती है जो एक प्रकार की लकड़ी के चूरे से बनाया जाता है। वह लकड़ी यूरुप और अमेरिका के जंगलों में अब नहीं पाई जाती। काग़ज़ के व्यवसायियों ने मसाला तैयार करने के लिए दूसरे उपाय सोचे हैं। उन्होंने नारियल के पत्तों से काग़ज़ का मसाला तैयार किया है; परन्तु उसका काग़ज़ सफ़ेद नहीं होता। सफ़ेद काग़ज़ का मसाला जैसा कुछ बाँस से तैयार किया जा सकता है वैसा दूसरी वस्तु से नहीं। भारत में बाँस के जंगलों की कमी नहीं। अतएव भारत में काग़ज़ के कारखाने खोलने की बहुत भारी आवश्यकता है। महायुद्ध के समय काग़ज़ का मसाला भारत की अपेक्षा विदेशों में सस्ते दाम में मिलता था; इसलिए उस समय यहाँ कारखाने खोलने में लाभ न था; पर अब विदेशों में मसाले का भाव पहिले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गया है। इस दशा में, भारत में काग़ज़ के कारखाने खोलने से लाभ ही होगा, हानि कदापि नहीं।

बेली पेपर मिल के मैनेजर का कथन है कि भारत में काग़ज़ का मसाला इतना अधिक तैयार किया जा सकता है और कारखाने खोलने के लिए इतनी अधिक सुविधाएँ हैं कि यदि कार्य अच्छे ढंग से चलाया जावे, तो काग़ज़ के संबंध में भारत पूर्णतया स्वतंत्र हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि वह चाहे तो दूसरे देशों को भी काग़ज़ भेज सकता है। कहा जाता है कि केवल लंका द्वीप में २ लाख ७० हजार मन काग़ज़ का मसाला प्रति वर्ष तैयार किया जा सकता है।

यूरुप में नार्वे और स्वीडन काग़ज़ के मसाले के घर हैं; पर वहाँ कारखानों की संख्या में कुछ भी वृद्धि नहीं हुई। महायुद्ध से अबतक केवल एक नई मिल खोली गई है। विदेशी व्यवसायियों का अनुमान है कि साल दो साल ही में प्रत्येक देश को अपने घर के काग़ज़ के कारखानों पर ही अवलम्बित रहना होगा। अमेरिका में काग़ज़ का मसाला तैयार करने के लिए पूर्ण उद्योग हो रहा है। पर, भारत में सब प्रकार की सुविधाओं के रहते हुए भी, इस ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भारत में इस समय काग़ज़ के केवल ५ बड़े कारखाने हैं। इनका काग़ज़ अभी तक विदेशी मिलों के अच्छे काग़ज़ की टक्कर का नहीं होता। हाँ, पहिले की अपेक्षा अब यह कुछ बढ़िया अवश्य बनने लगा है और क्रमशः उन्नति होने की पूरी सम्भावना है। सुना है, ब्रह्मदेश में दो विदेशी कम्पनियों ने काग़ज़ के कारखाने अभी हाल में खोले हैं; पर देशी कम्पनियों के खुलने के समाचार कहीं नहीं सुनाई दिये। यदि देशी कम्पनियाँ इस अवसर का सदुपयोग नहीं करती हैं, तो शीघ्र

ही देश को काग़ज़ की भारी महँगाई भोगनी पड़ेगी जिसका परिणाम पुस्तक-प्रकाशक और जनता दोनों पर बहुत अधिक होगा और फिर पछताने और उपाय करने से भी काम न चलेगा; इसलिए इस समय भारतवर्ष में काग़ज़ के अनेक कारखाने खोलने की आवश्यकता है।

(५) भिक्षा में ४३ करोड़ !!

भारत में भिक्षुकों की संख्या जैसी अधिक है वैसी कदाचित ही किसी देश में होगी। सैकड़ों-हज़ारों नहीं, लाखों आदमी केवल भिक्षा पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं और देश को दुहरी हानि पहुँचा रहे हैं। एक तो स्वयं कुछ नहीं करते और दूसरे, जनता से माँग कर उसका द्रव्य, निठल्ले बैठ कर, उड़ाते हैं। सन १९०१ की मनुष्य-संख्या में भिक्षुकों की संख्या ५२ लाख मानी गई थी। यदि प्रत्येक भिक्षुक का मासिक खर्च ३) रु० मान लिया जावे, तो साल भर में भिक्षुकों के लिए १८ करोड़ ७२ लाख रुपये दान में दिये गये होंगे।

बंगाल के एक सज्जन ने 'भिक्षुकों की समस्या' शीर्षक एक पुस्तक अंग्रेज़ी में लिखी है। उसमें आपने बतलाया है कि यदि प्रत्येक भिक्षुक प्रति मास ४) रुपये ही कमा सके, तो सब की वार्षिक आय २४ करोड़ ९६ लाख होगी। इस प्रकार वे जनता से दान लेकर और निठल्ले बैठे रह कर ४३ करोड़ ६८ लाख रुपये की हानि करते हैं। यदि केवल इन निठल्ले भिक्षुकों को एक वर्ष कुछ न दिया जाय और वही पैसा जमा किया जाय, तो एक वर्ष के भीतर हिन्दू-विश्व-विद्यालय सरीखे कम से कम १८ विश्व-विद्यालय स्थापित हो सकते हैं।

लेखक महाशय ने इस अपव्ययता के दो कारण बतलाये हैं—एक तो दान का दुरुपयोग और दूसरा, सरकारी सत्ता की कमज़ोरी। उपायों में सरकारी शासन की आवश्यकता के अतिरिक्त, आपकी सम्मति है कि, जहाँ-तहाँ कार्यालय, विद्यालय, औषधालय और धर्मालय स्थापित किये जायँ जिनमें भिक्षुक अपनी अवस्था और आवश्यकता के अनुसार कार्य सीखें, पेट पालें, विद्या पढ़ें, और अन्धे, लूले-लँगड़े धर्मालय में रहकर अपनी शक्ति के अनुसार काम करके जीवन व्यतीत करें। इसमें सन्देह नहीं कि इन उपायों को कार्यरूप में परिणत करने से देश को बड़ा लाभ होगा; पर बाधक प्रश्न यह है कि क्या भिक्षुकों को दान देने वाले इन कार्यों का आरम्भ करने के लिए पहिले से दान देंगे?

(६) भारत में मज़दूरों की हलचल।

आजकल खाद्य तथा अन्य पदार्थों की महँगी के कारण जहाँ-तहाँ मज़दूर लोग, अपनी माँग पूरी कराने के लिए, हड़ताल कर देते हैं। भारत भी इस रोग से अछूता नहीं बचा है। गत जून के 'माडर्न रिव्यू' में इस विषय का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें बतलाया गया है कि केवल दो मास, जनवरी और फर्वरी, १९२० में कितनी हड़तालें हुईं और उनमें कितने मनुष्य शामिल थे। लेखक ने आरम्भ में भारत का सन्देश कहीं से उद्धृत किया है जिसमें बतलाया गया है कि—"कि भारतवर्ष तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति छोड़ मानव-समाज की सेवा के लिए, द्रव्य के सम-वितरण के लिए, विलासिता छोड़ भ्रातृप बढ़ाने के लिए, व्यापारिक झगड़ों को त्याग सह-

कारिता के लिए, सम्पत्ति को अन्तिम ध्येय न समझ केवल साधन समझने के लिए, सांसारिक झगड़ों में फँसे रहकर आत्म-पोषण के भावों को मान न देकर जाति और समाज के कल्याण के लिए सदैव तैयार है।"

यह तो हुआ पाश्चात्य देशों को भारत का सन्देश। अब दो मास में मजदूरों की हलचल का कैसा रूप था सो देखिए। कपास और जूट के कारखानों में ११० हड़तालें हुई जिनमें से प्रत्येक में लगभग २५०० मजदूर शामिल थे। इञ्जीनियरी के कामों में १० हड़तालें हुई और प्रत्येक में ४१५० मजदूर थे। ऐसेही म्यूनीसिपल के मजदूर तथा व्यवसाय के लोगों ने चार हड़तालें की जिनमें से प्रत्येक में ६००० मजदूर शामिल थे। केवल बम्बई में ही ८५ हड़तालें हुई। बम्बई, मद्रास और कलकत्ते के हड़तालियों की संख्या २,४०,००० मानी गई है। इनमें से प्रायः सभी में वेतन-वृद्धि माँगी गई।

पश्चिम में मजदूरों की माँग का निपटारा करने के लिए दो प्रकार की सभाएँ हैं। उनमें से एक में मजदूरों के प्रतिनिधि और कुछ जनता के चुने हुए प्रतिनिधि रहते हैं। सभापति और उपसभापति के पदों के लिए किसी एक के मजदूर लोग चुनते हैं और दूसरे पद के लिए जनता। फिर एक समिति और रहती है जिसके सभापति और उपसभापति गैरसरकारी कर्मचारी होते हैं। यह समिति समय समय पर अधिवेशन करके मजदूरों की समस्याओं को हल किया करती है। जब कभी मालिक और मजदूरों में मत-भेद हो जाता है, तो इन दो प्रकार की सभाओं द्वारा वह दूर कर दिया जाता है और हड़ताल विराट् रूप धारण नहीं कर पाती। भारत में भी ऐसे ही मजदूर-संघ और प्रतिनिधि-संघ स्थापित करने की बहुत आवश्यकता है। भारत को अपना सन्देश पश्चिम को देते हुए उसके अनुसार स्वयं भी चलना चाहिए।

साहित्य-सुमन।

(१) हड़ताल का अधिकार।

जिस प्रकार पूँजीवालों को यह अधिकार है कि वे चाहे जिसे नौकर रखें या न रखें—चाहे जिसे जब नौकरी से अलग कर दें, उसी प्रकार मजदूरों को भी अधिकार है कि उन्हें जहाँ अधिक मजदूरी मिले वहाँ नौकरी करें और यदि कोई मालिक उनपर अत्याचार करता हो, तो वे उसकी नौकरी छोड़ दें। पर किसी भी मजदूर को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने साथ काम करनेवाले दूसरे मजदूरों को, उनकी इच्छा के विरुद्ध, भड़कावे और यदि वे नौकरी न छोड़ें, तो उन्हें उसके लिए बाध्य करे। किसी मजदूर को यह भी अधिकार नहीं कि वह किसीकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करे। इस सम्बन्ध का एक लेख "पार्लिटिविस्ट रिव्यू" में प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक मजदूरों को यह उपदेश देते हैं:—

"मजदूरों से हमारा कहना है और आशा है, वे हमारे कथन से सहमत होंगे कि वे हड़ताल को कठोर, कठोर ही नहीं, पवित्र शस्त्र समझें और उसे ग्रहण करने के पूर्व एक,

दो, बल्कि तीन बार विचार करें। स्वयं कान्टे भी जो यह स्वीकार करने के लिए उत्सुक हैं कि मज़दूरों को हड़ताल करने का अधिकार है यही सलाह देते हैं। उनका कथन है कि हड़ताल को अन्तिम साधन समझना चाहिए और उसका उपयोग तभी करना चाहिए जब दूसरे साधन विफल हो चुके हों और सो भी बहुत गंभीरता और अनिच्छा के साथ तथा उसे सामाजिक युद्ध समझकर। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार मज़दूर और नेता-गण काम करेंगे, तो कौटुम्बिक शांति और सुरक्षा का अनुभव होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हड़ताल और उसके अधिकार का जैसा उपयोग अभी तक किया गया है और आजकल किया जा रहा है वह समाज में विरोध के बीज बोने वाला है। हड़ताल अन्तिम साधन न समझी जाकर, खेल खेल में उसका उपयोग किया जाता है- गंभीरता और विचार के साथ काम न लिया जाकर शीघ्रता और हँसी में उससे काम लिया जाता है, ऐसा करने से हड़ताल के प्रति आदर और आतंक के भाव उत्पन्न होना तो एक ओर रहा, वरन घृणा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मज़दूर यह समझते हैं कि उन्हें राजनीति-विशारदों से यह कहने का अधिकार है कि वे सैनिक शक्ति का उपयोग बहुत विचार के साथ करें, उसी प्रकार उन्हें भी हड़ताल रूपी शस्त्र को ग्रहण करते समय खूब सोच-विचार कर लेना चाहिए।''

उपरोक्त वाक्य प्रत्येक श्रमजीवी के मनन करने योग्य हैं।

(२) हिन्दी-पत्र-सम्पादकों पर एक नई ज़िम्मेदारी।

अप्रैल, सन् १६२० की 'सरस्वती' में एक अत्यन्त उपयोगी विषय पर बाबू मातादीनप्रसाद श्रीवास्तव लिखित "हिन्दी-समाचार-पत्रों के लिए एक नया कार्यक्षेत्र" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। हम उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं। लेखक ने सिद्ध किया है कि देश के किसी उलझन भरे प्रश्न पर तथा अन्य "महत्त्वपूर्ण विषयों पर नेताओं, उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारियों और समाज के प्रतिष्ठित तथा प्रभावशाली पुरुषों के मत जानने की सदैव बड़ी आवश्यकता रहती है और वर्तमान युग में इस कार्य का भार पत्र-सम्पादकों पर विशेषतया आ पड़ा है।" बात सच है। "जनता में विशेष प्रकार की जागृति उत्पन्न करना, संसार के प्रत्येक कोने की महत्वपूर्ण बातों और हलचलों का पूरा पूरा ज्ञान रखना और लोगों की प्रवृत्ति को अपनी मुट्ठी में कर लेना सम्पादकों के लिए बड़े आवश्यक और महत्त्व के काम हैं। उनके लिए यह भी आवश्यक और उपयोगी कर्तव्य है कि वे महत्त्व के किसी गम्भीर सामयिक प्रश्न पर ज़ोरदार और प्रमाण-पूर्ण मत दे सकें तथा राष्ट्र की नाज़ुक समस्याओं के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित सरकारी कर्मचारियों की तथा देश के नेताओं की राय का पता लगावें।"

आगे चलकर कहा गया है—

"इन कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए अनेक साधनों का आश्रय लिया जाता है। कोई तार द्वारा खबरें मँगाता है। कोई अपने सम्वाददाताओं द्वारा समाचार-संग्रह करता है। कोई अन्य समाचारपत्रों की सहायता से यह काम करता है, और कोई सम्पादक खास खास अवसरों पर, समाचार संग्रह करने के लिए, अपना प्रतिनिधि भी भेजता है।........परन्तु राय जानने के लिए

मुलाक़ात करने को प्रतिनिधि भेजने की जो— Interviewing-वैयक्तिक भेंट की प्रणाली यूरोपीय देशों में खूब प्रचलित है उसका भारतवर्ष में बहुत अभाव है। इस प्रणाली के द्वारा सार्वजनिक हित के बड़े बड़े कार्य, कभी कभी, अत्यन्त सरलतासे हो जाते हैं। इस ओर हिन्दी के समाचारपत्रों ने बहुत कम कार्य किया है। अतएव इस ओर अग्रसर होने की नितांत आवश्यकता है।"

आरम्भ में प्रत्येक कार्यक्षेत्र में कठिनाइयों और बाधाओं का आना स्वाभाविक है। इसका वर्णन करते हुए लेखक ने कहा है:—

"साम्पत्तिक बाधाएँ भी आगे आवेंगी। कभी कभी रूखे स्वभाववालों से भी सामहना करना पड़ेगा। कभी अत्यन्त मितभाषी से काम पड़ेगा और कभी ऐसे व्यक्ति से भेंट होगी जो या तो ऐसे प्रतिनिधियों से किसी तरह अपना पिंड छुड़ाना चाहते हों या जो इन्हें नगण्य समझते हों, अथवा जिन्हें सचमुच ही अवकाश न हो। परन्तु उद्दिष्ट कार्य करने के लिए सब कुछ करना और सहना पड़ेगा।"

लेखक-प्रतिनिधि चतुर और विश्रम्भ हो। उन्हें मनुष्य-स्वभाव के मनोविकारों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कहा गया है:——

"(किसी विद्वान, प्रभावशाली या अधिकारी पुरुष से) मुलाक़ात करके मत-संग्रह करना बड़ी ज़िम्मेदारी और बुद्धिमानी का काम है। यह काम करनेवालों को बहुतसी बातोंपर ध्यान देना पड़ता है; जैसे, नम्रतापूर्वक बातचीत करना, अपनी बातें स्पष्ट रीति से संक्षेप में बतलाना, अनावश्यक बातों से दूर रहना, दूसरे के आशय को एक बार सुनते ही समझ लेना, थोड़े समय में अधिक काम कर लेना, सब बातें समझ कर ज्यों का त्यों लिखना, आदि।"

"उसे मानसशास्त्र का अच्छा ज्ञान हो और वह दूसरी बार भेंट करने का पुछल्ला भी न लगावे। जिस विषय पर बातचीत अथवा प्रश्नोत्तर होनेवाला हो उस विषय में भेंट करनेवाले प्रतिनिधि को अच्छी योग्यता और सन्तोषजनक ज्ञान भी होना चाहिए। जो कुछ प्रकाशित किया जावे उसमें अज्ञान, मूर्खता, असत्य अथवा ईर्षा-द्वेष-जनित बातें न हों, अन्यथा सार्वजनिक उपकार होना तो दूर रहा, बहुत बड़े अपकार की नौबत आ सकती है।"

हिन्दी के समाचार-पत्र-सम्पादकों ने इस नई प्रणाली की ओर सचमुच बहुत कम ध्यान दिया है। यह विषय पश्चिमी देशों में आजकल सम्पादन-कला का एक प्रधान अंग हो गया है। वहाँ इस काम के लिए छापेखानों के स्वामी तन, मन, और धन से दृढ़तापूर्वक और निरन्तर प्रयत्न किया करते हैं; परन्तु "भारतवर्ष के पत्र-सम्पादक बड़े लोगों के पास अपने प्रतिनिधि बहुत कम भेजते हैं। इसके कारण ऊपर बतलाये जा चुके हैं। प्रतिनिधि को कभी तो असफल और निराश होकर लौटना पड़ता है, कभी बहुत सा द्रव्य खर्च करना पड़ता है। कभी मुलाक़ात होने में ही अत्यन्त सन्देह रहता है और कभी सूखा जवाब मिलने की आशंका रहती है। सम्भव है कि कोई महाशय इस प्रणाली को अनावश्यक समझते हों। परन्तु प्रयोग करने से इसकी उपयोगिता अपने आप प्रकट हो जावेगी। हिन्दी के दो-एक समाचारपत्रों ने इस विषय पर थोड़ा

सा ध्यान अवश्य दिया था; परन्तु अब वे भी इस ओर उदासीन हैं। आशा है, सर्वसाधारण की जागृति के लाभ का महत्व समझने वाले हमारे हिन्दी-समाचार-पत्रों के सम्पादक इस सामयिक विषय पर समयानुसार पूरा ध्यान देंगे।"

लेखक ने यथार्थ में एक समयपयोगी विषय और सम्पादन-कला के एक महत्वपूर्ण अंग की ओर हिन्दी-पत्र-सम्पादकों का ध्यान आकर्षित किया है। इससे लोकहित भी होगा और समाचार-पत्र की माँग और प्रभाव भी बढ़ेगा। आशा है, जनता के हित का स्मरण रख कर सम्पादक-गण अपनी इस नई ज़िम्मेदारी का पालन करने में कुछ उठा न रखेंगे।

(३) अधिकारी और अनधिकारी जातियाँ।

'प्रबुद्ध भारत' में स्वामी विवेकानंद का एक लेख छपा है जिसका सार यह है—"समाज में नीति (Politics) अधिकारी और अनधिकारी वर्ग के लोगों के बीच का झगड़ा ही है जिसकी उत्पत्ति सुखों के अ-सम विभाग से होती है। इन असमान अधिकारों के झगड़ों में पड़ कर भारत पतित होकर निर्जीव सा बन रहा है। इसलिए इसे विदेशी राष्ट्रों से समता का व्यवहार स्थापित करना चाहिए। जब तक वह अपने भीतर समता न स्थापित कर सकेगा, तब तक पुनरुत्थान की आशा करना निराशा मात्र होगा। वास्तव में जाति-भेद दोष-पूर्ण नहीं है; किन्तु उनके बीच के अधिकारों की विभिन्नता ही समाज के लिए हानिकर है; अतएव अपना कर्तव्य जाति-भेद नष्ट करना नहीं, किन्तु सबको बराबर बराबर अधिकार देना होना चाहिए। हमारे जीवन का यह ध्येय होना चाहिए कि हम चांडाल तक को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का अधिकार दिलाने में सहायता देवें।"

आजकल पुरोहिती के काम को छोड़कर अन्य सभी रोज़गार-धंधे सब हिन्दू, एक समान, करने लगे हैं। अतः जाति-विभाग की व्यवसायिक नींव बहुत उखड़ गई है और समय पाकर उसका बिलकुल नष्ट हो जाना अनिवार्य है। स्वामीजी का कथन है कि कुछ समय में जातियों के अधिकार भी जाते रहेंगे; तब फिर केवल वर्ण-विभाग ही रह जायगा। जब भारतवर्ष में वर्ण-भेद निरर्थक और हानिकर सिद्ध हो रहा है, तब देश के उत्थान के लिए उसका समूल नाश कर देना ही उचित है। एक स्थान पर स्वामीजी कहते हैं—

तीन प्रकार के भय हमारे सामने उपस्थित हैं:—(१) अब्राह्मण जातियाँ सम्मिलित होकर प्राचीन काल के बुद्ध-धर्म के समान एक नये धर्म की स्थापना करेंगी। (२) वे किसी विदेशी धर्म का अवलंबन करेंगी। (३) भारत के सम्पूर्ण धार्मिक विचार सदैव के लिए लुप्त हो जायँगे। पहिले भय का फल यह होगा कि भारत पूर्ण अधोगति को पहुँच जायगा, अपने प्राचीन ऐश्वर्य को भूल जायगा और उन्नति की ओर धीरे धीरे पैर बढ़ावेगा। दूसरे का परिणाम यह होगा कि भारतीय सभ्यता और आर्य्य जाति शीघ्र ही नामशेष हो जायगी। तीसरे का भी परिणाम भयंकर होगा। धर्म की ही दीवाल पर व्यक्तित्व एवं किसी जाति का जीवन स्थित रहता है। उसके नष्ट होने से वह व्यक्ति—वह जाति—

एकदम मटियामेट हो जाती है। आर्य्य-जाति का जीवन धर्म-भित्ति पर ही स्थित है और जब उसका ही विनाश कर दिया जायगा, तब आर्य्य-जाति का पतन अवश्यम्भावी होगा।

(४) जापान में मज़दूरों और मालिकों की सहकारिता।

हड़ताल के समाचार इंग्लैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका आदि सभी देशों से आये; किन्तु जापान के मज़दूरों की हड़ताल सुनने में नहीं आई। इस का कारण क्या है? जापान-प्रवासी एक हिन्दुस्थानी महाशय ने इसका कारण एक गुजराती पत्र में प्रकाशित किया है। आप के लेख में कई बातें मालिकों के बड़े काम की हैं और ऐसी भी हैं जिनसे हमारे शिक्षित मज़दूर लाभ उठा सकते हैं।

लेखक ने कोबी और ओसाका नामक दो स्थानों की मिलों को देखकर अनुभव प्राप्त किया है। वहां मालिक और मज़दूर में ठीक वैसा ही प्रेम पाया जाता है जैसा पिता और पुत्र में। मालिक लोग सदैव इस बात की चेष्टा में लगे रहते हैं कि मज़दूरों को आराम मिले, उनका स्वास्थ्य बिगड़ने न पावे, और उन्हें उन्नति करने का पूरा पूरा अवसर मिले। यहां छोटे छोटे नौकर को भी मालिक सम्मान-सूचक शब्द से सम्बोधित करते है। ज्यों ही मालिक को यह मालूम हो जाता है कि अमुक मज़दूर अमुक कार्य करने में कुशल है या अमुक तरुण मज़दूर परिश्रमी और बुद्धिमान है, त्यों ही उसका विशेष प्रबन्ध कर दिया जाता है और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सीखने के लिए तीन, चार घण्टे का समय निकाल दिया जाता है। यदि कोई मज़दूर अपने अनुभव से कोई नई बात सोच निकालता है तो वह उसे अपने अधिकारी को बता सकता है अथवा लिखकर एक सन्दूक़ में डाल देता है जो इसी कार्य के लिए प्रत्येक कारखाने में टँगी रहती है। जब मालिक को यह बात मालूम हो जाती है कि अमुक मजदूर की सोची हुई बात बिलकुल नई है अथवा उसकी सम्मति के अनुसार कार्य करने से कार्य्यालय को लाभ होगा, त्यों ही उस मज़दूर को यथेष्ट पुरस्कार दिया जाता है और नई नई खोज करने के लिए उसे सुभीते कर दिये जाते हैं।

वहाँ कामपर जाने वाली स्त्रियों के लिए जो सुविधाएँ हैं वैसी कदाचित किसी भी देश में नहीं। वहाँ मज़दूरनियों को यह कठिनाई नहीं सताती कि वे अपने छोटे छोटे बच्चों को कहाँ छोड़ जावें। प्रत्येक मिल में एक ऐसा स्थान रहता है जहाँ चतुर परिचारिकाएँ बच्चों की देखरेख के लिए नियुक्त रहती हैं और वहाँ मज़दूरनियाँ अपने अपने बच्चों को बेखटके छोड़ जाती हैं। जो लड़के कुछ अधिक अवस्था के होते हैं उनके लिए मिल में ही एक पाठशाला रहती है जहाँ उन्हें 'किन्डरगार्टन' की पद्धति से शिक्षा दी जाती है। वहाँ मज़दूरों के लड़कों को स्वच्छन्दतापूर्वक हँसते, खेलते और पढ़ते देख कोई नहीं कह सकता कि ये कुलियों के बाल बच्चे हैं।

जापान के मज़दूर दरिद्र भी नहीं होते। उन्हें १० या ११ घण्टे काम करना पड़ता है और ।~) मज़दूरी मिलती है। मज़दूरों का मुख्य भोजन भात है। वे मछली, मांस आदि अमावस पूनों खाते हैं और इन वस्तुओं को वे विलास-

सामग्री समझते हैं। जापान में मज़दूरों की संख्या लगभग ११ लाख है जिसमें से ५ लाख पुरुष, ५ लाख स्त्रियाँ और १ लाख बालक हैं। वहाँ कारखानों के ऐसे कई क़ानून नहीं हैं जो यूरोप या भारत में आवश्यक हैं। वहाँ मज़दूर और अधिकारियों के आचरण की जाँच करने के लिए एक अफ़सर नियुक्त रहता है जिसके कारण कोई चरित्र-भ्रष्ट नहीं हो पाता। यदि कोई ऐसा अपराधी पाया जाता है तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाता है। मज़दूरों की अपेक्षा अधिकारी अपराधी को विशेष दण्ड दिया जाता है। मज़दूरों को गाली या अपमानसूचक शब्द कहना या उनपर मारपीट करना सख्त मना है।

अब, तनिक भारत के मज़दूरों और मालिकों की दशा का ध्यान कर लीजिए। सोचिए, कितना भारी अन्तर है। यदि इतना अन्तर होने के कारण भारत के खंड खंड में हिन्दुस्थानी माल न पहुंच कर जापानी माल पहुँचता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

(५) हेडम्ब राज्य।

सिलहट के पूर्व में जो वर्तमान कचार ज़िला है वही प्राचीन समय में हेडम्ब राज्य के नाम से प्रख्यात था। वह राजनैतिक संगठन और न्याय-विधान की दृष्टि से बड़े महत्त्व का हो गया है। 'माडर्न रिव्यू' के किसी गतांक में इस विषय पर श्रीयुक्त सोरेन्द्रचन्द्र पुरकायस्थ, एम. ए. का एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उसका मुख्यांश यहाँ दिया जाता है:—

कचार वाले हेडम्ब-वंशीय हैं। उनकी उत्पत्ति मंगोलियन जाति के बोडो वंश (अर्थात् वृद्ध की सन्तान) से है। ईस्वी सन् १५३६ में उनकी राजधानी दिमापुर में थी। दिमापुर में खोज करने पर पता लगा है कि कचारी राजा हिन्दू-देवी-देवता पूजने लगे थे और उनका वंश पुराण-वर्णित हिडम्बा नाम की राक्षसी से आरम्भ हुआ था।

उस समय के दूसरे राज्यों के समान हिडम्ब राज्य एक राजा के अधीन था और उसकी राजगद्दी पर एक ही वंश (कचार-वंश) के लोग बैठते थे। राजा के मंत्री की उपाधि "वज़ीर" थी। जब राजा अपराधियों को दण्ड देने के लिये बैठते, तब उनके पास मंत्री, राज-पुरोहित, कुछ शास्त्रज्ञ विद्वान तथा बड़े मज़मदार रहते थे। उस समय जिस राज-दरबार में बड़े बड़े राज-नीतिज्ञ और अच्छा मंत्रि-मण्डल रहता था वह बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। न्याय कराने के लिए धन खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती थी।

कचारी राजाओं के न्याय-विभाग दो प्रकार के थे—एक तो वे जिनमें सब प्रकार के छोटे छोटे अपराधों का निर्णय किया जाता था; और दूसरे वे जिनमें फाँसी आदि की सज़ा दी जाती थी। इसके सिवा, राज्य के भिन्न भिन्न भागों में, दीवानी के छोटे छोटे न्यायालय और भी थे। समस्त राज्य कई भागों में विभक्त था जो 'राज' कहलाते थे। फिर प्रत्येक 'राज' कई 'खेल' में बँटा था जिसे मौज़ा या कस्बा कह सकते हैं। प्रत्येक 'खेल' की देख-रेख और लगान वसूल करने के लिए, खेल के निवासियों की ही ओर से, एक प्रतिनिधि चुना जाता था जो 'खेल-मुख्तार' कहलाता था। ऐसे प्रत्येक 'राज' की देख रेख, लगान की

मुसलमानों और 'राज' का स्वार्थ वर्णन के लिए, 'राज' के भिन्न भिन्न 'खेलों' की ओर से, एक प्रतिनिधि चुना जाता था जो 'राज-मुख्तार' कहलाता था। 'खेल-मुख्तार' अपने खेल का लगान अपने 'राज-मुख्तार' के पास जमा करता था और फिर 'राज-मुख्तार' सारे 'राज' का लगान वसूल कर राज-कोष को भेजता था। खेल के छोटे छोटे मुकदमे 'खेल-मुख्तार' ही निपटा देता था। 'राज' के बड़े बड़े दीवानी और छोटे छोटे फौजदारी मुकदमे 'राज-मुख्तार' निपटाता था। शेष बड़े बड़े दीवानी और फौजदारी मुकदमे राज-दरबार में पेश किये जाते थे जहाँ चतुर मंत्रि-मण्डल की सहायता से निर्णय किया जाता था। 'राज-मुख्तारों' और 'खेल-मुख्तारों' को, उनके 'राज' और 'खेल' के हिसाब से अनुसार, भूमि दी जाती थी। राज कर्मचारियों को भी वेतन भूमि के ही रूप में दिया जाता था। अच्छा काम करने पर, पारितोषक और उपाधियाँ भी दी जाती थीं। सबसे बड़ी उपाधि 'बड़ा मजूमदार' की थी। राजा 'राज-मुख्तारों' और 'खेल-मुख्तारों' को भूमि जोतने के लिए दे देता था जिसे 'राजवाले' और 'खेलवाले' आपस में अपना मन निश्चय कर जोतते थे, अर्थात् जनता अपना बँटवारा आपस में करती थी। सारे कछार राज्य का लगान एक लाख रुपया आता था। राज्य में कौड़ियों का चलन था। सिक्कों में एक चाँदी का सिक्का चलता था जो 'कहन' कहलाता था और जिसकी क़ीमत वर्तमान चौअन्नी के बराबर होती थी।

वहाँ के मजदूरों और नौकरों को दिन भर की मजदूरी आध आना मिलती थी और यदि उन्हें भोजन भी दिया जाता, तो मास भर में केवल २ या ४ आने दिये जाते थे। एक लड़के या मुहर्रिर आदि को अधिक से अधिक २) या ३) रु० मासिक वेतन पर मिल जाते थे। उस समय वहाँ अनाज बहुत सस्ता था। उस समय का तो ठीक ठीक पता नहीं लगता है पर सन् १८४८ तक एक मन धान की क़ीमत ४ आने ६ पाई था। पश्चिम में १८६१ ई० सन के बाद में कहीं भी आसानी से मिल जाता था।

वहाँ बहुत कुछ अंश में हिन्दू-धर्म शास्त्र ही प्रचलित था। न्याय विधान की तीन पुस्तकें थीं—कण्टक-शोधन, धर्मसर्वस्व और प्रायश्चित्त। पहली दो, बहुत खोज और परिश्रम के पश्चात् प्रकाशित हो चुकी हैं। तीसरी शीघ्र प्रकाशित होने वाली है।

खोज से पता चला है कि ये पुस्तकें मनुस्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर लिखी गई हैं; इनमें भिन्न भिन्न संहिताओं से भी यथेष्ट सहायता ली गई है। वहाँ की दण्ड-विधि का अंश बहुत कुछ परिवर्तित है; वहाँ के मंत्रि-मण्डल ने उसमें समयानुकूल बहुत सा परिवर्तन कर डाला है। उसमें लिखा है कि जो स्त्री अपने पति पुत्र या किसी व्यक्ति को मार डाले उसे स्वद शारीरिक कष्ट दिया जावे। दण्ड-विधि में लिखा है कि स्त्री अवध्य है। उसी में अधिक क्षति-पूर्ति की बात भी दी गई है। सब विधानों को देखने से भलीभाँति विदित होता है कि हेडम्ब राज-वंश हिन्दू धर्म का पक्का समर्थक था और उसने हिन्दू-धर्म शास्त्र को ही आदर्श मानकर अपने राज्य का संगठन तथा संचालन किया करता था।

विश्व—वैचित्र्य ।

(१) बाइबिल का अभूतपूर्व संस्करण।

बाइबिल ईसाइयों का धर्म-ग्रन्थ है। उसके सैकड़ों संस्करण निकल चुके हैं पर अब जो निकलने वाला है वह सबसे बड़ा और बढ़िया होगा और छपा हुआ न होगा, हस्त-लिखित होगा। इस समय १२००० अंग्रेज़ पुरुष और स्त्रियाँ उसके लिखने में लगी हुई हैं। तैयार होने पर उसकी प्रति ३ फुट चौड़ी और और ४ फुट ऊँची होगी। सम्राट् और सम्राज्ञी का भी उसमें भाग होगा। उसकी सिलाई, बँधाई के लिए विशेष धागा और चमड़ा तैयार कराया गया है।

पूर्ण हो जाने पर वह इंग्लैण्ड, कनेडा, आस्ट्रेलिया और अमेरिका में प्रदर्शिनी के लिए भेजी जावेगी।

(२) अद्भुत परी।

डाक्टर निवशान का निवास-स्थान सान फ्रान्सिसको है। आपने एक अद्भुत परी बनाई है। आपका कहना है कि वह सब कुछ कर सकती है, सिर्फ़ बोल नहीं सकती।

डाक्टर सा० ने बलूची स्त्रियों के समान उसकी सूरत सजाई है और स्वर्गीय परियों के समान उसे कपड़े पहिनाये हैं। इस अद्भुत परी के शरीर में लकड़ी और लोहे की लगभग ४०० कलें भरी हुई हैं। वह बाजा बहुत ही अच्छा बजाती है। वह भी एक ही राग का नहीं, ३४ राग-रागिनियाँ निकालती है। उसका बाजा दूर से सुनकर कोई भी नहीं कह सकता कि वह काठ की बनी हुई है।

(३) टिकटों का अपूर्व संग्रह।

कैलीफोर्निया के पादरी बुकों ने अपने कमरे की सजावट डाक-टिकटों से की है। सजावट केवल दो दीवालों की गई है; पर उसीमें एक लाख पाँच हज़ार टिकटें लग गई। ये टिकटें ३४ देशों की हैं और उनके संग्रह करने में पादरी सा० को १० वर्ष लग गये। फिर छः मास में सजावट हुई। टिकटें यों ही, बिना सिलसिले के, नहीं लगाई गई, उनमें भी क्रम रक्खा गया है, और अमेरिका तथा इटली की राष्ट्र-पताकाओं के आकार के रूप में वे टिकटें चिपकाई गई हैं। पादरी सा० के १०१ वर्ष के परिश्रम का क्या उद्देश है सो तो वे ही जानें; पर हाँ, उनका धैर्य अवश्य प्रशंसनीय है।

(४) चूहों और लोमड़ियों की जासूसी।

जापान में ये जानवर फ़ौज के एक अंग माने जाते हैं। यद्यपि इनको सिखाने में बहुत समय लगता है; पर काम भी इनसे पहले दर्जे का निकलता है। चूहे शत्रु के डेरों में से कागज़ चुरा लाते हैं जिनसे शत्रु का बहुत सा भेद मालूम हो जाता है। उन्हें इस बात की भी शिक्षा दी जाती है कि रात के समय जब सेना निद्रा में मग्न हो और अचानक शत्रु-सेना दीख पड़े, तो वे अपनी सेना को चिचयाहट मचाकर या रक्खे हुए बाजों पर कूद कर सचेत कर दें।

ऐसे ही लोमड़ी अनेक कामों में सहायता देती है। वह मनुष्य की बोली भी बोल सकती है। जहाँ रास्ता नहीं है, अथवा वह अगम्य है वहाँ लोमड़ी पथ-प्रदर्शक होती है। वह अपनी कमर से रस्सा बाँधकर ऊपर चढ़ जाती है और वहाँ

किसी पेड़ या चट्टान से उसे बाँध देती है। फिर जासूस सिपाही उस रस्से के सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं। वह शत्रु-सेना की चाल देखकर अपने मालिक को बतला देती है। यदि उसका मालिक दूर हो तो भिन्न भिन्न प्रकार की आवाज़ करके वह असली भेद की सूचना दे देती है। धन्य हैं वे लोग जो चूहे लोमड़ी जैसे चपल जन्तुओं को भी वश करके उनसे मनचाहा कार्य निकाल लेते हैं।

(५) क्या मछलियाँ भी पीड़ा का अनुभव करती हैं?

यह मानी हुई बात है कि मनुष्यों के समान गर्म खून वाले लोगों को पीड़ा का परिज्ञान मछली जैसे ठंडे रक्त वाले जीवधारियों की अपेक्षा अधिक होता है। मछलीमारों का कहना है कि मछली को पीड़ा नहीं होती। इसके लिए वे अपना नित्य का प्रत्यक्ष अनुभव देते हैं। बहुधा देखने में आता है कि मछली बंसी के काँटे में बार बार ठोकरें मारती है। चोट लगने के कारण उसके गले से रक्त-स्राव होने लगता है। फिर भी वह पीछा नहीं छोड़ती; क्योंकि दैवयोग से जब वह काँटे में फँस जाती है और बाहर निकाली जाती है, तब उसके गले में चोट के बहुत से चिह्न दीख पड़ते हैं। एक मछलीमार का कहना है कि मैंने एक बार एक मछली पकड़ी जो खाने में खूब लगी थी। काँटे की चोट से उसके पेट में लगभग एक इंच लंबे भारी घाव हो गये थे। एक घाव से तो भीतर का मांस तक निकल आया था, परन्तु इतने पर भी वह खाने में ऐसी मग्न थी मानो उसे कुछ हुआ ही न हो। यदि कहीं किसी उष्ण रक्तवाले जीवधारी को ऐसा घाव लगा होता, तो वह पड़ा पड़ा कराहता, खाने-पीने की बात तो बहुत दूर की है।

विनोद-बिन्दु।

सेठजी ने बड़ी जल्दी मचाई; पर आपको बम्बई की डाकगाड़ी न मिली। आप बहुत घबराये और एक पोर्टर से पूछने लगे—"क्यों भैय्या, बम्बई की डाकगाड़ी मुझे मिल जायगी?" पोर्टर ने गंभीरता-पूर्वक कहा—"हाँ सेठजी, यदि आप ज़रा जल्दी दौड़ सकें, तो वह अवश्य मिल जायगी। उसे रवाना हुए अभी १२ मिनट ही तो हुए हैं।"

पुरुष (स्त्री से)—तुम्हारा यह कहना कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक बुद्धि होती है सरासर भूल है। तुमने कल डाक्टर सा० के मुँह से सुन ही लिया है कि पुरुषों का भेजा ४८ औंस होता है और स्त्रियों का ४३ औंस।

स्त्री—पर आपने भी सुना होगा कि हाथी का भेजा १४४ औंस और व्हेल मछली का ६० औंस होता है।

गुरुजी—कहिए, आज तो आप लोग सेठजी के घर भोजन को गये थे न? फिर इतनी जल्दी कैसे लौट चले?

चौबेजी—(अपना बड़ा पेट दिखाते हुए) मैंने केवल कुछ जलपान किया था, सो यहाँतक आ सका। जिन्होंने भोजन किया है वे तो वहीं करवट ले रहे हैं।

यजमान—महाराज, कच्ची खावेंगे या पक्की?

पुरोहित—(सुबह से बैठे बैठे १२ बज जाने के कारण व्यंग से) तू तो खिलाने में ही कच्चा हो रहा है, और हम तो सुबह से बेशर्म बने बैठे हैं, सो हम क्यों कच्ची खावें, हम तो पक्की ही खावेंगे।

यजमान—ना महाराज! तुम्हारे चरणों की सौगन्ध, मैंने अभी तक कुछ नहीं खाया—न कच्ची और न पक्की।

रामजीलाल—कहिए, आप बारात में नहीं चलते ? मैं तो इसी ट्रेन से जा रहा हूं।

लालजीराम—मैं भी आऊँगा। आप किस ट्रेन से जा रहे हैं ?

राम०—मेल ट्रेन से। और आप ?

लाल०—फ़ामिल से।

राम०—(जल्दी जल्दी जाते हुए रुककर) अरे, फ़ामिल से ट्रेन कौनसी ?

लाल०—मोटर कार।

भभूती—दद्दा ने कहा है कि ये जूते लौटा आओ, और दाम वापिस ले आना।

दूकानदार—इतने छोटे जूते हम किसको बेचेंगे ? ये तो तुमने तुम्हारे छोटे भाई के लिए बनवाये थे।

भभूती—पर काटता तो है।

दू०—कहाँ, लाओ, ठीक कर दें।

भभूती—नहीं जूता नहीं काटता, छोटा भाई जूते को काटता है। जब बड़ा हो जावेगा, तब पहनने को देंगे।

बुड्ढा कुत्ता—अरे ! वह आदमी खाने की कोई चीज़ बाँट रहा है, चलो ले।

युवक कुत्ता—सावधान ! वह विष की गोली दे रहा है।

बुड्ढा कुत्ता—ऐसे बेटे, तुम्हीं सब कुछ जानते हो। हम बुड्ढों को अनुमान कुछ भी नहीं।

इतना कहकर वह गया और गोली खाकर तड़फड़ाने लगा। यह देख युवक कुत्ता पास जाकर बोला—क्यों, कैसे प्रसन्न हो रहे हो ? कौनसा माल उड़ाया है ? अनुभव तो दिखाओ।

बुड्ढे ने मरते हुए कहा—खाकर देख लो।

चित्र-परिचय।

'पुष्पोच्चय' नामक जो रंगीन चित्र इस अंक में प्रकाशित हुआ है वह जितना सरल है उतना ही भावपूर्ण है। प्रकृति देवी की मनोहारिणी मूर्त्ति मानवी प्रकृति को किस प्रकार अपनी ओर आकर्षित करती है—यह चित्र इसका अच्छा निदर्शन है। नन्हा बालक सुन्दर फूल को देखकर मचल पड़ता है और पुत्र-वत्सला माता उसके आग्रह का पालन करने के लिए उस फूल को तोड़ती है।

दूसरा चित्र अपना परिचय आप ही देता है। आशा है, यह भाव-पूर्ण चित्र, विदुर महाराज के समान, अनेक भक्तों के हृदयों में भक्ति-भाव का उदय कर उसे अश्रु-विन्दुओं के रूप में प्रकट करेगा। यह चित्र मध्यप्रदेश के उदीयमान चित्रकार पं० गणेशराम मिश्र की सुन्दर कृति है।

"श्रीशारदा" के ग्राहकों को

सूचित किया जाता है कि पत्रिका का आगामी, अर्थात भाद्र मास का, अंक भाद्र शुक्ल प्रतिपदा (तदनुसार १३ सितंबर, १९२०) को यथा-नियम प्रकाशित होगा। यह सूचित करने की आवश्यकता इसलिए जान पड़ी कि इस वर्ष में दो श्रावण मास होने के कारण, ग्राहकगण कहीं श्रावण के दो अंक पाने की आशा न करने लगें और द्वितीय श्रावण का अंक न पाकर हमें पत्र लिखने का कष्ट न उठावें। श्रावण के दो अंक न निकालने से ग्राहकों की कोई हानि नहीं है; क्योंकि १२ मास में १२ अंक अवश्य प्रकाशित किये जायँगे।

निवेदक—

व्यवस्थापक, "श्रीशारदा"।

Shri-Sharda-Reg. No. N. 241.

वर्ष १, खण्ड १] भाद्रपद, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ६

श्री शारदा



वार्षिक मूल्य ५)] संरक्षक—श्रीमान बाबू गोविन्ददासजी [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक

साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

लेखकों के लिए—

१—वर्तमान राजनीति और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्त्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने या न करने, घटाने या बढ़ाने, एवं लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

७—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

९—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

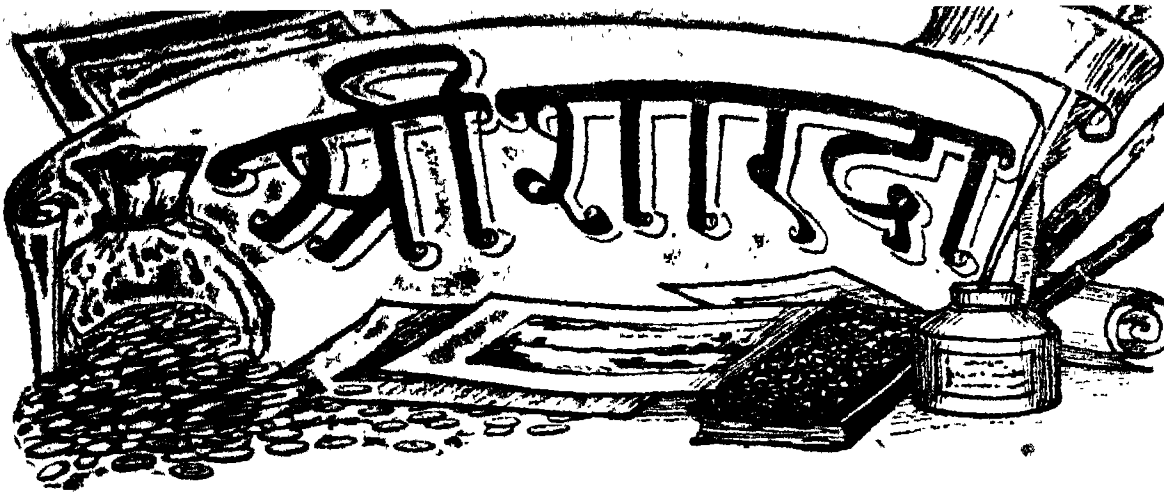
१०—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—

सम्पादक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।



लोकमान्य भगवान तिलक ने
देवलोक प्रस्थान किया !
वज्रपात ने भारत-मन्दिर
हा ! हा ! आज श्मशान किया !!
१—८—२०

चित्रकार
श्रीयुक्त गजानन



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड १] भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * १३ सितंबर, १९२० [संख्या ६

शोकोच्छ्वास।

(लेखक—एक भारतीय आत्मा)

सदियाँ बीतीं, खो दिया मैंने वह गोपाल,
हाय! आज सहसा चला मेरा प्यारा बाल।
हुआ कठिन उन्मादिनी भारत—माँ का क्लेश,
भावों की जगदीश्वरी बोली कर आदेश—
आँसू से भींगा कुम्हलाता सुध बिसराता यह वेश सुने,
सदियों काँटों पर चलवाता वह जीवन-साथी क्लेश सुने।
मुझ से मेरा धन लुटवाता यह टुकड़े टुकड़े देश सुने,
रोता धोता सा अकुलाता महि-भार-दबा वह शेष सुने।
नभ की ग्रह-राशि सुने चुप हो यदि जीवित हो देवेश सुने,
विनती न सुने, अनुरोध सुने, अनुरोध नहीं, आदेश सुने।
नदियों का कलकल नाद रुके झोंकों का सनसन शोर थमे,
मृगराज मृगों के साथ रुके मदमस्त गजों का जोर थमे।
रवि का रथ ऊपर को न बढ़े ऊषा न उठे, वह भोर थमे,
विहगावलि का मृदु गान रुके, यह प्रकृति—चक्र सब ओर थमे।
उस मोहमयी व्रज-वीथी से भारत का माखनचोर गया,
ढूँढ़ो, मिट जाने तक ढूँढ़ो, वह लोकमान्य किस ओर गया।
क्या से क्या होने लगा इस गोदी में आज,
लाज रखो, पड़ने न दो यों स्वराज्य पर गाज।

छवि-मय छटा।

(लेखक—बाबू द्वारकाप्रसाद गुप्त)

"आयेंगे" कह गये; पर न दर्शन दिये;
तरस रहे हैं नेत्र शुभाशा ही लिये।
श्रावण की यह सुखद हरित छवि देखकर—
खिंच जाता है चित्त उसी ब्रज-भूमि पर।

भूमि वही है बनी, और स्मृति भी वही;
किन्तु नाथ के बिना अनाथा बन रही।
यमुना का तट वही, वही रव मच रहा;
पर मुरली के बिना शान्त सा जँच रहा।

पड़े हिंडोले, वृष्टि हुई, घन भी घिरे;
किन्तु सभी के चित्त खिन्न हो क्यों गिरे?
पावन परम प्रकाश प्रकट मिलता नहीं;
रवि की छवि के बिना कमल खिलता कहीं?

अँधियारी झुक रही, हिंस्र पशु अड़ रहे;
भ्रम में जकड़े हुए अजड़ नर पड़ रहे।
सूझ न पड़ता पन्थ, रहा है भय समा;
बहुत प्रतारण हुआ, दोष अब हों क्षमा।

हाथ पकड़ लो हरे! और तम दो हटा;
छिटका दो, हाँ वही—वही छविमय छटा।

जीवन-संग्राम और समाज-नीति।

(लेखक—पं० श्रीकृष्ण मिश्र, एम. ए., बी. एल.)

संसार संग्राम-भूमि है। उसमें सदैव समर की धूम रहती है—वह भी अविश्रांत अजस्र समर जिसका अंत नहीं। समस्त जीव परस्पर सांघातिक मुठभेड़ में संलग्न हैं। इस निरंतर युद्ध में दया का भाव नहीं, क्षमा को स्थान नहीं, उदारता का लेश नहीं। केवल स्वार्थ साधन की घोर आकांक्षा और तदर्थ सर्वव्यापी उद्भ्रान्त चेष्टा। रासायनिक शक्तियों में जिस प्रकार निरंतर आघात—प्रतिघात और परिवर्त्तन होते रहते हैं, यद्यपि साधारण मनुष्यों को उसका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही संज्ञा—संयुक्त पदार्थों में भी आघात-प्रतिघात होता रहता है। हमारा प्रत्येक इंद्रिय-संचालन दाँव—पेंच है जिसका उपयोग हम अपने प्रतिद्वंद्वी को नीचा दिखाने के उद्योग में करते हैं। यह वृत्ति स्वाभाविक हो गई है। जिस तरह चलने फिरने में आप ही आप पैर उठते हैं उसी तरह जीवन के संग्राम में उद्देश्य बहुधा मस्तिष्क की निम्न तह में छिपा रहता है। क्रिया आप ही आप हुआ करती है। अभ्यास के कारण उसमें कुछ नवीनता नहीं दिख पड़ती; अतएव कल्पना को चकित करने की उसमें शक्ति नहीं, तथापि यह निर्भ्रांत सत्य है कि जीवन एक संग्राम है और प्रत्येक चेतन उसका योद्धा है। एक क्षण अपने व्यक्तित्व को सांसारिक परिस्थितियों से पृथक कर के यदि इस महान रणभूमि पर दृष्टिपात किया जाय, तो आश्चर्य और आतंक उत्पन्न होता है। सब पागल की तरह न मालूम

जिसमें व्यस्त हैं। सब सवेग दौड़ रहे हैं। सब की चेष्टा है सबसे शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुँचने और सब से आगे जाने की। लक्ष्य क्या है? स्वार्थ, आत्म-रक्षा और आत्म-समृद्धि। स्वार्थ की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के उपायों की शरण ली जाती है। छल, बल, कल सबका उपयोग होता है। मकड़ा शनैः शनैः सतर्क गति से सरक कर कृमियों को अपने जाल में फँसाता और अपनी क्षुधा मिटाता है। छिपकली चुपचाप दीवाल से चिपटी रहती है। मौक़ा पाते ही झपट कर पतंग को साफ़ कर जाती है। बिल्ली चूहों की ताक में रहती है। सिंह और व्याघ्र अन्य पशुओं के शत्रु हैं। पशु ही क्यों, बड़े वृक्ष की परिधि में छोटे पौधे नष्ट हो जाते हैं। वृक्षों की छाया में घास नहीं उगती। मनुष्य-समाज में जीवन-संग्राम अधिक भीषण रूप धारण करता है; क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है।

आदिम मनुष्य, सभ्यता की बाल्यावस्था में, पशुओं के शिकार के लिए प्रतिद्वंद्विता करते थे। वर्त्तमान युग में भी मनुष्य विविध आवश्यकताओं की पूर्ति की सहायक सामग्रियों के लिए प्रतिद्वंद्विता करते हैं। यह सब होता है इसलिए कि प्रकृति का कोष परिमित है। संसार में इतनी भोज्य-सामग्री नहीं कि सब जीवों का पालन-पोषण हो सके। माल्थस ने पहले पहल इस सिद्धांत की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। माल्थस के अनुसार सब जीव यदि कुछ दिन बेरोक-टोक बढ़ने पावें तो उनके रहने के लिए संसार में स्थान न मिले। जन-संख्या की भी यही दशा है। इसीलिए जीवन के लिए संग्राम होता है। इस संग्राम में जो सबसे योग्य होता है वही बचता है, जो कमज़ोर होते हैं, समय के अनुकूल अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं कर सकते हैं उनको नीचा देखना पड़ता है और उनका नाश हो जाता है। यही प्राकृतिक चुनाव (Principle of natural selection) का सिद्धांत है। होड़ के द्वारा प्रकृति सक्षम की रक्षा और समृद्धि करती और अक्षम का नाश करती है। चुनाव कृत्रिम भी होता है; परंतु उसका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। प्राकृतिक चुनाव डारविन के सिद्धांतों का प्रधान-स्तम्भ है और जीवन-संग्राम प्राकृतिक चुनाव का दृष्टिगोचर रूप है।

सब जीव अपनी रक्षा और अपने वंश की वृद्धि का उद्योग करते हैं। इस उद्योग में उनको अपनी इंद्रियों, अपनी बुद्धि और अपनी स्वार्थ-परता से काम लेना पड़ता है। अतएव इंद्रियों में उस तरह का परिवर्त्तन होता रहता है जिसमें समय और परिस्थिति के अनुकूल जीव बने और अपने शत्रुओं के लोहे के साथ लोहा बजा सके। संसार में जितने जीव आज कल दीख पड़ते हैं, उनका आधुनिक स्वरूप ऐसे ही परिवर्त्तनों (Variations) का परिणाम है। उनका आदि-स्वरूप वैसा नहीं था। जिन जीवों में समय के अनुसार और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्त्तन न हो सका वे नष्ट हो गये। उनके शेषांश अब भी समय समय पर उपलब्ध हुआ करते हैं। बंदर का रूप परित्याग कर मनुष्य ने भी वर्त्तमान स्वरूप धारण किया।

अब मनुष्य के शारीरिक संगठन में कोई विशेष परिवर्त्तन होने की संभावना नहीं; क्योंकि प्राकृतिक चुनाव (natural selection) का

कार्य्य-क्षेत्र अब मानसिक जगत् है, भौतिक जगत् नहीं। मनुष्यों को अब यह आवश्यकता नहीं कि वे जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए शरीर के अवयवों का अन्य रीति से उपयोग करें। मानव जगत् में अब विचारों का युद्ध होता है, विचक्षणता की लड़ाई होती है। जिसके विचार सब से योग्य और श्रेष्ठ हुए उसका जनता ने आदर किया। उस विचार का बल बढ़ा और सब लोग उसी के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हुए। एक जाति ने अपने बुद्धि-बल से प्रबल अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार करके अन्य जातियों पर आधिपत्य जमाया। दूसरी जाति ने अपनी राजनीतिज्ञता के बल से दोनों को अपने अधीन किया। प्रतिदिन का यही दृश्य है। आर्थिक, धार्म्मिक, सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्रों में मस्तिष्क की लड़ाई प्रति क्षण हुआ करती है और श्रेष्ठ के सिर पर मुकुट पहनाया जाता है।

"श्रेष्ठ की रक्षा" (Survival of the fittest) भ्रामक पद है। जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करके श्रेष्ठ कहाने वाले वास्तव में उन गुणों से सम्पन्न नहीं कहे जा सकते जिनको "गीता-रहस्य" में मनुष्यत्व का परिचायक कहा है। उनमें वे गुण हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते। अनेक सफल-जीवन मनुष्यों के जीवन-क्रम का पर्य्यवेक्षण करने से विदित होगा कि वे दुराचार, संकीर्णता, अर्थ-लोलुपता और नीचता के अवतार हैं। अनेक गरीब असहाय व्यक्तियों का हृदय दया, दाक्षिण्य और परोपकार से भरपूर रहता है। जीवन-समर में वही श्रेष्ठ कहाता है जो समयानुकूल हो और जो शत्रुओं को परास्त कर सके—धर्म्म से हो या अधर्म से, बल से हो या छल से। हमारे बहुतसे नये सुधारक इसी तरह की समयानुकूलता की शिक्षा देते हैं। विधवा-विवाह कर डालो, इसलिए नहीं कि व्यभिचार रुके, बल्कि इसलिए कि व्यभिचार पर क़ानून का पर्दा पड़ जाय और सभ्य कहलाने वाले हमारी सामाजिक पवित्रता की सराहना करें। वैदिक सम्बंध को स्थिरता तोड़ डालो, अंतर्जातीय विवाहों का प्रचार करो; इसलिए नहीं कि हमारा वैवाहिक नियम दोष-पूर्ण है, बल्कि इसलिए कि हम भी उन्नत राष्ट्रों के दरबार में अप-टू-डेट समझे जायँ। संभव है कि उपर्युक्त उपायों के अवलम्बन से जीवन-संग्राम में हमें कुछ सुविधाएँ हों; परंतु उससे भारतीयता की रक्षा (जिसकी आवश्यकता अत्यन्त वांछनीय है) कहाँ तक होगी यह निस्सन्देह संशयात्मक है।

जीवन-संग्राम से परिवर्त्तन होता अवश्य है; पर उससे उन्नति होती है यह नहीं कहा जा सकता। यदि परिवर्तन से हमारी शक्तियों का विकास हो, नये गुणों का उद्भव हो तब तो उन्नति अवश्य है; किन्तु यदि ऐसी अवस्था आ जाय जिससे हमारे बल का ह्रास हो तो वह अवनति का सूचक होगा। उदाहरण लीजिए। यदि किसी द्वीप में साधारण कुत्ते और खरहे रहें, तो कुछ दिनों में खरहों में दौड़ने की उतनी शक्ति आजायगी जिससे वे कुत्तों से अपनी रक्षा कर सकें। उस दौड़ने की तेज़ी से कुत्तों और खरहों की संख्या उस द्वीप में नियत हो जायगी। अब उस द्वीप में तेज़ शिकारी कुत्तों को बसा दीजिए। अब खरहे अधिक तेज़ी से दौड़ कर प्राण-रक्षा

करेंगे या नष्ट होंगे। कुछ दिनों में खरहों की दौड़ने की शक्ति अवश्य बढ़ जायगी। इस दशा में परिवर्त्तन से उन्नति हुई। यदि कुत्ते द्वीप से बाहर कर दिये जायँ, तो खरहों को अपनी प्राण-रक्षा के लिए तेज भागने की आवश्यकता न होगी। उनकी दौड़ने की शक्ति कम हो जायगी। भारत-वर्ष में जितनी विदेशी जातियाँ आईं वे जबतक पहाड़ी और शीत देशों में रहीं जहाँ प्रकृति अधिक कंजूस है तबतक उनकी शारीरिक और नैतिक दशा अच्छी रही। भारत में आते ही जीवन-संग्राम की भीषणता कम हो गई और उनकी शक्ति का ह्रास हुआ।

जीवन-संग्राम का परिणाम सर्वथा सुखद और हितकर नहीं—यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होगया होगा। डारविन ने भी कहीं नहीं कहा कि प्राकृतिक चुनाव की कार्रवाई कष्टकर नहीं। उनकी किताबों में अनेक स्थलों पर उसकी निष्ठुरता का निर्देश किया गया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हक्सले ने भी जीवन-संग्राम की भयंकरता का विशद चित्र खींचा है। जीवन-संग्राम की इन बुराइयों का विचार कर स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि समाज को उसकी घटनाओं में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। इस विषय पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक विद्वानों में बहुत मतभेद था। हर्बर्ट-स्पेंसर वैयक्तिक स्वतंत्रता के कट्टर पक्षपाती थे। उनका सिद्धांत है कि समाज, जहाँतक संभव हो, व्यक्तियों की स्वतंत्रता में कुछ बाधा भी डाले। जीवन-संग्राम ऐसी कसौटी है जिस पर योग्य और अयोग्य की जाँच हो जाती है। समाज के हस्तक्षेप से व्यक्तियों के आत्मावलम्बन पर धक्का पहुँचता है और जनसाधारण की योग्यता घट जाती है। इसके विपरीत यदि मनुष्यों को अपने पैरों खड़े रहने के लिए छोड़ दिया जाय तो वे अपनी निगूढ़ शक्तियों का उपयोग करने में प्राण-पण से चेष्टा करेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि समाज मातापिता की तरह व्यक्तियों की रक्षा और जीवन-यात्रा का प्रबंध किया करे, उनके प्रत्येक कार्य्य-क्षेत्र में अपना हाथपैर फैलावे तो उचित स्वतंत्रता में बाधा पड़ेगी और उद्योग और श्रम करने की प्रेरणा कमजोर पड़ जायगी। किन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि समाज पर व्यक्तियों की उन्नति का बहुत भारी उत्तरदायित्व है। समाज का संगठन और उसके अस्तित्व को बनाये रखने-का उद्देश्य यही है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थिति संगठित करे जिससे मनुष्य अपनी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित और पुष्ट करके पूर्णता तक पहुँच सके। सब मनुष्यों को अपनी उन्नति करने के लिए निष्कण्टक मार्ग मिले और सब रुकावटें दूर हो जावें—यही समाज का मुख्य ध्येय है।

अब वर्त्तमान जगत् की ओर दृष्टिपात करने से क्या यह कहा जा सकता है कि सब लोगों को जीवन-संग्राम में एकही तरह का सुअवसर प्राप्त है? जिनकी पाँचों उँगलियाँ घी में हैं वे कहेंगे कि है और जरूर है। पूँजी के लक्षाधिप स्वामी अठारवीं शताब्दी से लेकर आजतक ऐसा ही कहते आये हैं। ये नये कुबेर, मजदूरों की दरिद्रता और असहायता देख कर, कहते थे कि होड़ अच्छी है, उसका निर्णय न्याय-संगत है। योग्य की जीत अवश्यम्भावी है। उन लोगों ने

अगणित मनुष्यों को फ़ैक्टरियों में भरना शुरू किया। बीस बीस घंटे काम लेकर उनके लोहू से रुपया बनाया। स्त्रियों को उनके दुधमुँहे बच्चों से अलग करके मशीनों का ख़ुराक बनाया। इतना ही नहीं, शासन का सूत्र अपने हाथ में लेकर फ़तवा जारी किया कि व्यक्तियों की स्वतंत्रता की बाढ़ मत रोको। जो तैर सकें तैर जावें, जो न तैर सकें उन्हें डूबने दो। ऐसी दशा में सामाजिक हस्तक्षेप का अभाव कहाँ तक न्याय-संगत है पाठकों के विचार पर छोड़ा जाता है।

वर्त्तमान भारत में यह प्रश्न और भी महत्व-पूर्ण है। बहुत से लोगों की सम्मति है कि हमारी समाज में जो बुराइयाँ हैं वे समय पर स्वयं दूर हो जायँगी। सुधारों के लिए अधिक माथापच्ची करना अनावश्यक है। समय सब कुछ कर लेगा और लोग आपसे आप रास्ते पर आ जायँगे। अन्य विद्वानों की चेष्टाएँ स्वल्प समय में अनेक व्यापी परिवर्त्तन कर डालने की ओर हैं। जीवन-संग्राम की निष्ठुरता, उसके अन्याय का विचार और समाज के लक्ष्य का ध्यान करते हुए सामाजिक हस्तक्षेप आवश्यक प्रतीत होता है। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जिनमें समयानुकूलता नहीं है और जो अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं; परंतु उनमें अन्यान्य गुण वर्त्तमान हैं जिन से समाज की शोभा है और जो सभ्यता के सहायक हैं। क्या ऐसे लोगों का मर मिटना उचित है? बूढ़े-बच्चे, लँगड़े-लूले, रोग-ग्रस्त, दुर्भिक्ष-पीड़ित और आवारे इनके प्रति क्या समाज का कोई कर्तव्य नहीं? कितनी ही रूढ़ियाँ ऐसी हैं जो घुन की तरह समाज को जर्जरित कर रही हैं। उनकी गति को निर्बाध छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं। ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है। सभ्यता के विकास के साथ सामाजिक संगठन में दृढ़ता आगई है और सामाजिक चेतना और सामाजिक विचार में वह बल आगया है जिसका व्यक्तियों की नीति-रीति पर असर पड़े। अब हममें उतनी दूरदर्शिता आगई है कि अपने लक्ष्य को देख सकें। ऐसी दशा में यदि हम पतवार को अपने हाथ में न लें और नाव को वायु के झकोरों के साथ बहने दें तो निरी मूर्खता होगी। हमारी प्रत्येक संस्था ऐसी होनी चाहिए जो प्रतिपल में ध्येय की ओर अग्रसर करे। जीवन-संग्राम का अंत नहीं होगा; किंतु जीवन-संग्राम में अराजकता, अनियम, एवं अनुचित क्रूरता का पालन न होना चाहिए। जीवन-संग्राम में सबको समान अवसर मिले इसका प्रबंध करना समाज का परम धर्म्म है।

यूरोप में साम्यवाद का उदय।

(लेखक—अध्यापक प्राणनाथ विद्यालङ्कार)

यूरोप की समृद्धि पर साम्य-वादियों के विचार।

साम्यवादी यूरोप की वर्तमान स्थिति को पसन्द नहीं करते हैं। उनका ख़्याल है कि धन बटोरने की लालच ने इस ज़माने में अपना पैशाची रूप प्रगट किया है। पुराने ज़माने में व्यवसायी लोग अलग अलग अपने इच्छानुसार धन बटोरते थे। उनके इस काम से राज्यों का कुछ

भी लगाव न था। जमाना बदला। यूरोपीय जातियों का उदय हुआ। उन्होंने धन को शक्ति तथा बल का स्रोत समझा और धन बटोरने के लिए संसार में फिरना शुरू किया। धीरे धीरे व्यापार ने अपना चमत्कार दिखाया और व्यवसाय ने अपना दिव्य रूप प्रगट किया।

अमेरिका की सोने-चाँदी की खानों को स्पेन-पोर्तगाल ने खोदना शुरू किया और अमेरिका की संपत्ति को अपने देश में पहुँचाया। इनसे कुछ समय पूर्व ही वीनस, फ्लारन्स, जिनोआ आदि राष्ट्रों ने संपत्ति प्राप्त करने के नये तरीक़े को यूरोप के सामने रखा था। यूरोपीय जातियों ने इसी तरीक़े को पसंद किया। यह तरीक़ा एक प्रकार से जातीय राजकीय विधि पर लूट-मार या चोरी-डाके का तरीक़ा था। एशिया बुरी तरह से लूटा गया। इसी लूट से यूरोप समृद्ध हुआ।

कार्ल मार्क्स का * विचार है कि यूरोपीय पूँजी का उदय बलात्कार तथा लूटमार से सम्बद्ध है। निस्सन्देह शुरू शुरू में कुछ छोटे छोटे श्रमियों तथा संघ-स्वामियों ने अपने परिश्रम से पूँजी एकत्रित की। परन्तु कालान्तर में उन्होंने भी श्रमियों तथा मजदूरों को लूट कर अपने आपको धनाढ्य पूँजी-पति बनाया। आजकल तो जाति की सारी की सारी संपत्ति इन्हीं लुटेरों के हाथ में पहुँचती है। येही लोग उस पूँजी के कुछ भाग को मेहनतियों तथा कारीगरों में बाँटते हैं। पूँजी पर ब्याज के मिलने से इनका लुटेरापन और भी अधिक भयंकर हो गया है। यही कारण था कि यूरोपीय स्मृतिकारों ने सूद का लेना पाप कहा है। व्यवसाय-पति का जाति की संपूर्ण संपत्ति पर स्वत्व होना और उसीको धन बाँटने का अधिकार देना एक प्रकार से लुटेरों और बदमाशों को जज बना देना है। आज से कुछ सदियों पूर्व यह बात न थी। उन दिनों यूरोपीय देशों की शासन-पद्धति ही ऐसी थी कि साधारण पूँजी लूटमार या अत्याचार के कामों में न लग सकती थी और न वह व्यावसायिक पूँजी का रूप धारण कर सकती थी। नागरिक संघ तथा पुराने कारीगर इस काम के बाधक थे; परन्तु इस नये युग में ये बातें नहीं हैं। लुटेरे अमरि तथा ताल्लुकेदार लोग ही हमारे मालिक हैं। वही हमको अन्न और पानी देते हैं। इस परिवर्तन का छोटा-मोटा इतिहास नहीं है। अमेरिका में सोने-चाँदी की खानों पर कब्ज़ा करना, अमेरिका के बेचारे मूल निवासियों को दास बना कारखानों में डालना तथा उनसे जबरन् खानि खुदवाना, भारत के धन-धान्य को लूटना, और भारत की कारीगरी को तबाह करना, आफ्रिका में काले आदमियों का शिकार करना और उनकी जमीनों को छीन कर अपने उपनिवेशों को बसाना --इत्यादि अनेकों पापमय और घृणित कामों से यूरोपीय जातियों के धनाढ्य पूँजी-पतियों तथा ताल्लुकेदारों ने अपने आपको अमीर बनाया है। इसी लूटमार के लोभ में यूरोपिय जातियों ने आपस में लड़ना शुरू किया और संसार-रूपी नाटकागार में नये नये पैशाची युद्धों के दृश्य दिखाये। नीदर्लैण्ड ने अपने आपको स्पेन से पृथक् किया और इंग्लैण्ड ने अफीम-युद्ध के द्वारा चीन को मदक्की बनाया। आफ्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया के आदि निवासियों का शिकार करके और

* Karl Marx: "Capital," Chapter XXXI, P. 776.

उनकी भूमि को छीनकर यूरोपीय लोगों ने अपने उपनिवेश बसाये। इन उपनिवेशों में खेती का काम करवाने के लिए इधर उधर से दास एकत्रित किये गये। इस काम में भी यूरोपीय अमीरों ने अपनी राक्षसी प्रकृति को अच्छी तरह से संसार के सन्मुख रखा। हाविट महाशय ने ठीक लिखा है कि "संसार के प्रत्येक प्रदेश पर तथा विजित जातियों के प्रत्येक मनुष्य पर ईसाई जातियों ने जो अत्याचार तथा असभ्यतापूर्ण व्यवहार किये है उनका भयानक से भयानक, क्रूर से क्रूर, निर्लज्ज एवं अशिक्षित जातियों में किसी भी जाति के कार्यों से मुक़ाबला करना कठिन है'....हालैण्ड का औपनिवेशिक शासन तो धोखेबाजी, कमीनापन, मक्कारी, छल-कपट, घात, घूंस, आदि पापिष्ठ पैशाची कामों का घर था।....हालैण्ड-निवासी जावा से मनुष्यों को दास बनाने के लिए चुराते थे, उनको उपनिवेशों में जाकर बेंचते थे और इस प्रकार बहुत सी पूँजी एकत्रित करते थे। लोगों को चुराना भी एक विद्या बन गई थी और बहुत से हालैण्ड-निवासी इसी विद्या को सीखते थे। सेलिबीज में गुप्त कारागार थे, जिनमें चुराये हुए आदमी क़ैद कर दिये जाते थे। क़ैदखाने में बहुत आदमी इकट्ठे हो जाने पर वे जहाज़ों द्वारा उपनिवेशों में भेज दिये जाते थे। हालैण्ड की सरकारी रिपोर्ट में लिखा है" कि 'मकासर का नगर सैकड़ों गुप्त कारागारों से भरा हुआ था। इनमें बिचारे चुराये हुए दुःखित लोग ठूँसे गये थे। इस १९२० के नये युग में इसी प्रकार की घटनाएँ दिन रात बराबर सुनाई पड़ती हैं। फिजी उपनिवेश में हजारों भारतवासी धोखा देकर कुली के रूप में भेजे गये हैं। उनके विषय में एण्ड्रूज महाशय लिखते हैं कि "पहिले फिजी में एक नियम प्रचलित था। वह यह कि ओवरसियरों में आपस में होड़ कराई जाती थी कि देखें, कुलियों से अपने काम को कौन जल्दी खतम कराता है? इस बढ़ाचढ़ी के कारण कुलियों पर असम्य अत्याचार किये जाते थे। इन अत्याचारों की कथा मुझसे युरोपीयन ओवरसियरों ने ही कही थी। फल यह होता था कि एक ओवरसियर दूसरे के मुक़ाबिले में खड़ा कर दिया जाता था, और यह शर्त रखी जाती थी कि जो ओवरसियर कुलियों से कम खर्च में अधिक काम करा लेगा वही रक्खा जावेगा और जो ऐसा नहीं करा सकेगा वह बरखास्त कर दिया जायगा। इस कारण हिन्दुस्थानी मजदूर ठोकरें खाते थे, धमकाये जाते थे, उनको कोड़े लगाये जाते थे और उनकी सारी शक्ति काम लेते लेते चूस ली जाती थी। इन भयंकर राक्षसी अत्याचारों से तंग आकर निराश हो अनेक हिन्दुस्थानी आत्मघात कर लेते थे।....यह आत्मघात प्रायः रात के तीन और चार बजे के बीच हुआ करते थे। इसी समय घंटे की आवाज़ से कुली की नींद खुल जाती थी। उसके थके-थकाये दिमाग़ में यह घृणोत्पादक आवाज़ घुस जाती थी। उस समय उसके जीवन की नाड़ी अत्यन्त मन्द गति से चलती होती थी। वह कुली दिल में ख्याल करता था कि खून का पसीना बना डालने वाली इस मजदूरी का अन्त न होगा। एक

(1) William Howitt: "Colonisation and Christianity" A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeons in all their colonies. London, 1838.

(2) Thomas Stamford Raffes, Late Lieuf. Gov. of that island: "History of Java and its dependencies," Lond. 1817.

साल के बाद दूसरी साल, इस प्रकार हर साल यही काम करना पड़ेगा। इस कष्ट का परिणाम यह होता था कि एक दिन प्रातःकाल कुली फाँसी लगाकर लटकता हुआ पाया जाता था"। फ़िजी द्वीप के नर-पिशाचोंने भारतीय कुलियों का आचार भी बहुत ही अधिक बिगाड़ा है। लगभग प्रत्येक हिन्दुस्थानी को गरमी, सूज़ाक आदि भयंकर रोग हो गये हैं। यूरोपीय धनाढ्यों के लिए यह अत्याचार तो साधारण सी बात है। वह तो धनधान्य तथा संपत्ति के पीछे मनुष्यों का शिकार खेल चुके हैं। यही कारण है कि हैरिक्स जैसे नरपिशाच ने फ़िजी की व्यवस्थापक सभा में यह प्रस्ताव पेश किया था कि "फिजी–सरकार ऐसे उपाय करे जिनसे युद्ध के बाद हिन्दुस्थानी लोग फिजी आने के लिए उत्साहित किये जा सकें और उनका मजदूरी के लिए यहाँ आना पुनः आरम्भ हो जाय"। इतनाही नहीं, उसने संसार में सत्य पर पर्दा डालने की तद्बीरें फिजी-निवासियों के सन्मुख रखी हैं और भारतीय कुलियों की दुरवस्था को छिपाने के लिए उपाय सोचे हैं। सारांश यह है कि यूरोपीय पूँजी की जड़ लूटमार तथा अत्याचार है। एशिया का खून पीकर जर्मनी, फ्रान्स, इटली आदि यूरोपीय राष्ट्र समृद्ध हुए हैं। इतने अत्याचारों पर भी इनकी खून की प्यास ज्यों की त्यों बनी है।

पुतलीघरों का खुलना तथा ख़ूनी क़ानून।

साम्यवादियों का ख्याल है कि ताल्लुकेदारों तथा पूँजीपतियों ने लूटमार, घातघूँस, अत्याचार से कमाई हुई पूँजी से बड़े बड़े कारखाने तथा पुतलीघर खोले हैं। इन पुतलीघरों के सहारे वे एशिया की प्राचीन कारीगरी को तबाह करना चाहते हैं और एशिया की संपत्ति पर खुद मालिक बन बैठने की फ़िक्र में है। किसी किसी पुतलीघर में एक एक लाख मज़दूर काम कर रहे हैं और केवल मजदूरी पर अपना जीवन निर्वाह करते है। इन पुतलीघरों के मालिक अरबों रुपयों से संपन्न व्यवसाय-पति हो गये हैं। ये लोग अपने माल के लिए इधर उधर बाज़ार ढूँढ़ते हैं और अपने अपने राज्यों को नये नये देश जीतने के लिए बाधित करते हैं। इन्हीं बाज़ारी झगड़ों में यूरोपीय राज्यों का प्रायः आपस में भी झगड़ा हो जाता है। इन झगड़ों को शान्त करने के लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं और बिचारे मेहनती मजदूर जाति तथा जातीयता के नाम पर लड़ाइयों में कटवाये जाते हैं। यही बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि जैसे यूरोपीय धनाढ्य लोग एशिया का खून पीते हैं, वैसे ही वे लोग अपनी जाति के ही श्रमजीवियों तथा मज़दूरों का खून चूसते हैं और उनसे रातदिन काम करवाते हैं और लड़ाइयो में उन्हींको लड़ाते हैं। यदि वे लोग कुछ भी चूँ चाँ करें तो राज्य-द्वारा नये नये क़ानून बनवा कर उनपर अत्याचार किये जाते हैं। इन अत्याचारों तथा राक्षसी कामों का इतिहास बहुत ही शिक्षाप्रद है।

क्रूसेड के दिनों में इंग्लैण्ड की आबादी दो लाख थी। इसके बाद तीन सदियों तक वहाँ की आबादी बहुत ही कम बढ़ी। एडवर्ड तृतीय के बाद वहाँ की हालत कुछ कुछ सुधरी और यही कारण है कि ऐलिज़ाबेथ के समय में उसकी आबादी पचास लाख तक जा पहुँची। उस समय से लेकर अट्ठारवीं सदी तक इंग्लैण्ड की आबादी स्थिर रही। इस प्रलम्ब काल के बीच में इंग्लैण्ड में

भयंकर परिवर्तन हुए। भारत की संपत्ति तथा तथा यूरोपीय व्यापार से समृद्ध होकर आंग्ल व्यापारी व्यवसायियों ने पुतलीघरों को खोलना शुरू किया। उनके व्यापार में लाभ के अधिक होने से ताल्लुकदारों ने किसानों से जमीनें छीन लीं और उनको भिखमंगा बना दिया। जमीनों पर आदमी के स्थान पर भेड़ें पाली गईं; क्योंकि इससे ताल्लुकेदारों को वहुत रुपया मिलता था। * हरीसन का कथन है कि ताल्लुकदार को विचारे किसानों की क्या परवाह है? किसानों की झोपड़ियों तथा मजदूरों के मकानों को उन्होंने जमीन में मिला दिया है। प्रत्येक ग्राम में १७ से २० तक मकान उजड़ गये हैं। नगरों की भी यही हालत है। स्थान स्थान पर भेड़ों के मालिक ताल्लुकेदारों का ही साम्राज्य तथा राक्षसी प्रभाव दिखाई पड़ता है।† धर्म-संशोधन (Reformation) के काल में चर्च की संपत्ति राजदर्बारियों के हाथ में आ गई। इससे किसानों की हालत और भी अधिक बिगड़ गई। देश में भिखमंगों की संख्या बहुतही अधिक बढ़ गई। विलियम आफ औरेन्ज के समय ताल्लुकेदारों का ज़ोर राज्य में और भी अधिक बढ़ा। १८ वीं सदी में इंग्लैण्ड की सारी की सारी ज़मीनें ताल्लुकेदारों के निरंकुश प्रभुत्व में आ गईं। स्थान स्थान पर चरागाहें बनाई गईं और उन पर भेड़ें पलने लगीं। विचारे गरीब दुखियों का किसीने कुछ भी ख्याल न किया। हज़ार हज़ार की संख्या में वे लोग इधर उधर मारे मारे फिरने लगे। बहुतसे अमीर मदान्ध आंग्ल ताल्लुकेदारों ने स्थान स्थान पर नये नये जंगल बनाये और उनमें हरिणों का पालना शुरू किया। उनको इसकी क्या परवाह थी कि हजारों की संख्या में आंग्ल लोग भूखों मर रहे हैं। उन्होंने जगह जगह पर से किसानों तथा उनके मकान उखाड़कर ऐसे फेंक दिये जैसे कि कोई जंगली पौधों तथा काँटेदार झाड़ियों को उखाड़ के फेंकता हो।† ग़रीब, दुःखी, दरिद्रता तथा अत्याचार से पीड़ित आंग्ल काश्तकार इधर उधर भीख माँगने लगे। परन्तु राज्य को उनपर दया नहीं आई। राज्य तो उन मदान्ध ताल्लुकेदारों का साथी था। यही कारण है कि ८ वें हैन्री के समय में यह राज्य-नियम बना कि जो भीख माँगे और काम न करे वह बेतों से पीटा जाय और उस पर कोड़े लगाये जायँ। उससे ज़बरन काम लिया जाय।‡ १५४७ में छठवें एडवर्ड के समय में नियम बना कि जो काम न करे और भीख माँगे वह दास बना लिया जाय। मालिक अपने दासों से प्रत्येक प्रकार का काम—चाहे वह काम कैसा ही बुरा क्यों न हो—करवा सकता है और यदि दास काम न करे तो वह उनको बेतों तथा कोड़ों से मार सकता और क़ैदखाने में डाल सकता है। यदि कोई दास १५ दिन तक मालिक के यहाँ अनुपस्थित रहे तो उसके माथे पर (S) इस चिन्ह की छाप लगा दी जाय और

* Hobson: The Evolution of Modern Capitalism. Growth of English Industry by Cunningham, Vol. iii, P. 985.

† Harrison: "Description of England, prefixed to Holished's Cronicle."

† Karl Marx: Capital, Ch. XXVII.

‡ Karl Marx: Capital, Ch. XXVIII [P. 738.

यदि वह तीन बार घर से भाग चुका हो तो मालिक उसको फाँसी दे सकता है। पशुओं के सदृश ही दास खरीदे तथा बेचे जा सकते हैं। यदि दास मालिक का विरोध करे तो वह क़तल किया जा सकता है। यदि कोई भागा हुआ अथवा इधर उधर आवारा फिरता हुआ मिले तो उसकी छाती पर V अक्षर की छाप बना दी जाय और दास के समान उसके साथ व्यवहार किया जाय। यदि कोई आवारा मेहनती अपनी जन्म-भूमि का ठीक ढँग पर पता न दे तो उसपर S छाप लगाकर वह जीवन भर के लिए दास बना लिया जाय। इधर उधर बेकार फिरते हुए मेहनतियों के बच्चों को प्रत्येक मनुष्य छीनकर ले जा सकता और उनसे अपना काम करवा सकता है। यदि वे बच्चे अपने मालिक के यहाँ से भाग जायँ तो वे जबरदस्ती दास बनाये जा सकते हैं और वे जीवन भर दासता से न छूट सकेंगे। प्रत्येक मालिक अपने दासों के गले में आजकल के कुत्ते के समान लोहे की हँसुली डाल सकता है। यह इसीलिए कि वे आसानी से पहिचाने तथा पकड़े जा सकें। ‡ ऐलिज़ाबेथ ने इन बेकार ग़रीब काश्तकारों के साथ और भी अधिक अत्याचार किये। उसने क़ानून बनाया कि राज्य की आज्ञा बिना जो भीख माँगे उसको पकड़ कर बेतों तथा कोड़ों से पीटना चाहिए। यदि इस पर भी वह भीख माँगने से न रुके तो वह क़तल कर दिया जाय। * इस पर भी जब भीख माँगना न रुका और बिचारे ग़रीब किसान इधर उधर पेट के लिए भटकने लगे तो राजा प्रथम जेम्स ने यह क़ानून बनाया कि प्रत्येक भीख माँगने वाला ग़रीब ६ महीने के लिए क़ैद में डाल दिया जाय और इसके बाद यदि वह पुनः भीख माँगे तो उसे दो वर्ष की क़ैद की सज़ा दी जाय। क़ैद-खाने में वे कोड़ों से खूब पीटे जायँ और उनसे कठोर से कठोर मेहनत का काम करवाया जाय।

फ्रान्स में भी इसी प्रकार के खूनी क़ानून बनाये गये और ग़रीब दुःखीजन बुरी तरह से सताये गये। १६ वें लूई का यह राज्यनियम था कि प्रत्येक बेकार ग़रीब यदि इधर उधर खाली फिरता हो तो सूली पर चढ़ा दिया जाय। † नीदर्लैण्ड में पाँचवे चार्लस ने ‡ और संयुक्त अमेरिका ने १६४९ में इसी प्रकार के अमानवी खूनी क़ानूनों को अपने देशों में प्रचलित किया था और मदान्ध पूँजी-पतियों तथा ताल्लुकेदारों का साथ दिया था। संसार की गति विचित्र है। मनुष्यों ने अपने खूनी अत्याचारों से इस संसार को ग़रीब, दुःखियों तथा दुर्बलों के लिए नरक बना दिया है।

ईश्वर के अद्भुत नियम से यूरोपीय पूँजी-पतियों का एशिया पर शासन हुआ। एशिया की कारीगरी तथा कारोबार चौपट किया गया। धीरे धीरे अपने देश से माल बनाकर उन्होंने एशिया के लोगों को बेकार करना शुरू किया। दरिद्र एशिया-निवासियों को धोखा देकर कुली बनाया और उनसे उपनिवेशोंमें काम लिया गया।

‡ Karl Marx: Capital, Ch. XXVIII [P. 738.

* Statutes, 18 Elizabeth. C. 13 and another of 1587.

† Ordinance of July 13th, 1777.

‡ Ordinance of October, 1537.

राजभक्त और देशभक्त लोगों को उनकी भक्ति के लिए जो जो पुरस्कार दिये गये सो किसी से छिपे नहीं। तन-मन-धन न्यौछावर करने के बदले जो कुछ कृपापूर्वक दिया गया सो सब लोहिताक्षरों से इतिहास के पृष्ठों में लिखा ही गया है।

ऐसे अनेकों अन्याय तथा अत्याचार हैं जिनके कारण साम्यवादियों का जन्म हुआ है। साम्यवादी लोग ऐसे राज्यों की उच्छृंखल मूर्ति को चकनाचूर करना चाहते हैं। पुरानी ग्रामीण पंचायतों का पुनरुद्धार कर धन की असमानता से उत्पन्न अत्याचारों को दूर करना उनका मुख्य उद्देश्य है। वे दयालु तथा मधुर स्वभाव के हैं। वे काले-गोरे के प्रपंचों तथा जाति-पाँति के झगड़ों को तुच्छ समझते हैं। संसार का प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है। धन के पीछे एक दूसरे का गला घोंटना बुरा है। इसी ढँग के विचार वर्तमान राज्यों को उनका जानी दुश्मन बना रहे हैं। बोल्शेविस्ट (साम्यवादियों) के प्रति द्वेष तथा घृणा की बातें क्यों फैलाई जाती हैं इसका रहस्य बहुत कुछ इसीमें छिपा है।

नीच जाति।

(लेखक—बाबू शिवनारायण वर्मा)

[१]

गया था जब मन्दिर की ओर,
मेरे मन के संशय भागे।
देखा—वृक्ष खड़े हैं आगे।
शाखाओं पर हँसमुख पक्षी बैठे करते शोर ॥
इतर-जाति-प्रति घृणा हमारी।
बदल गयी श्रद्धा में सारी।
फिर जो देखा उससे मेरा नाच उठा मन-मोर ॥

[२]

जड़ वृक्षों में मन्दिर तेरा।
चिड़ियों का भी वहीं बसेरा।
त्रिविध-ताप-हर मञ्जु त्रिवेणी लेती जहाँ हिलोर ॥
हम मानव हैं और अधम हैं।
ये ऋषि-मुनि हैं, गुरु के सम हैं।
कैसे? कहाँ? क्षमा पाऊँगा? हूँ अपराधी घोर ॥

हिन्दी में छायावाद।

(लेखक—पण्डित मुकुटधर पाण्डेय)

(२) छायावाद क्या है?

हिन्दी में यह एक बिलकुल नया शब्द है; अतएव पाठक पूछ सकते हैं कि वह क्या है? अंग्रेज़ी या किसी पाश्चात्य-साहित्य अथवा बङ्ग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायँगे कि यह शब्द 'Mysticism' के लिए आया है। पर सिर्फ़ हिन्दी जानने वालों की जिज्ञासा इससे और भी बढ़ जायगी कि यह कौनसा हौआ है। वास्तव में है भी यह कुछ ऐसा ही।

मैंने इस विषय में पाश्चात्य-लेखकों की 'Maeterlinck' की दो एक छोटी-मोटी रचना छोड़कर और कोई किताब नहीं पढ़ी। हाँ, कवीन्द्र रवीन्द्र के मौलिक-साहित्य की कुछ पुस्तकें अवश्य पढ़ी हैं। यद्यपि इस अल्पातिअल्प ज्ञान को लेकर एक नवीन और गहन विषय पर कुछ लिखने बैठना हास्यास्पद है, तथापि हिन्दी में उसका नितान्त अभाव देखकर, इधर उधर की कुछ टीका-टिप्पणियों के सहारे, मैं यह दुस्साहस कर रहा हूँ।

'छायावाद' एक ऐसी माया-मय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक ठीक वर्णन करना असम्भव है। उसका एक मोटा लक्षण यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य बहुत कम रहता है। कहीं कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है; पर मतलब उसका कुछ और ही निकलता है। किन्तु पाठक इस शब्द-अर्थ के विरोध को देख अलंकार-शास्त्र के रूपक अथवा व्यंग का विभ्रम न होने दें। इसमें ऐसा कुछ जादू भरा है कि प्रत्येक पाठक अपनी रुचि और समझ के अनुसार इससे भिन्न भिन्न अर्थ निकाल सकता है और भिन्न भिन्न रीति से, परन्तु समान-भाव से, उसका आनन्द अनुभव कर सकता है। कवि का अभिप्राय उसके लिखने से चाहे जो रहा हो, इससे पाठकों का सम्बन्ध कुछ भी नहीं।* अतएव यदि यह कहा जाय कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक-चिह्न-मात्र हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

छायावाद के कवि वस्तुओं को एक असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की सम्पूर्ण विशेषताएँ उनकी इस 'दृष्टि' पर ही अवलम्बित रहती है। अतएव 'छायावाद' को ठीक ठीक समझने के लिए इस 'दृष्टि' का रहस्य जानना आवश्यक है। इसमें स्थैर्य और पूर्णत्व का नितान्त अभाव रहता है, जिससे वह क्षण भर में, बिजली की तरह, वस्तु को स्पर्श करती हुई निकल जाती है। पर यह स्पर्श इतना क्षीण होता है कि प्रायः वस्तु को उसका ठीक ठीक ज्ञान भी नहीं होता। हाँ, इस अस्थिरता और क्षीणता के साथ साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अन्तरंगता होती है जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं, किन्तु एक अन्य रूप में, दीख पड़ती है। उसके इस अन्य रूप का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत् से रहता है। जिस प्रकार किसी भंगभवानी-भक्त के रञ्जित लोचनों में कोई वस्तु, उसकी भावना या लहर के अनुसार कुछ और ही सूझने लगती है, वही हाल इन कवियों की दृष्टि का भी समझिए।

यह अन्तरंग दृष्टि ही 'छायावाद' की विचित्र प्रकाशन-रीति का मूल है। उसमें किसी दृश्य का ज्यों का त्यों चित्र उतारा जाता है; पर शब्द ऐसे वेग वाले प्रयुक्त किये जाते हैं कि भाषा उड़ती हुई जान पड़ती है। पाठक उस चित्र को पकड़ना चाहता है; पर अभी वह उसकी आँखों के सामने हुआ ही था कि न जाने कहाँ अनन्त-आकाश में लीन हो जाता है। फिर प्रयत्न करने पर भी उसका कोई पता नहीं चलता। ऐसी कविताओं में शब्द सजीव होते हैं। वे आदमियों की तरह चलते-फिरते और इशारा करते हैं। बोलते भी हैं; पर भाषा उनकी ऐसी विलक्षण होती है कि मृत्यु-लोक में उसका कोई व्याकरण ही नहीं। उनमें रूप-रंग और छाया तथा प्रकाश भी पाये जाते हैं। पर चित्र दृश्य वस्तु की आत्मा का ही उतारा जाता है। चित्रकार को कवि की आत्मा ही समझिए। अतएव पाठक आत्मा द्वारा ही उसे देख कर उसका आनन्दानुभव कर सकता है। पर यदि

---

* आमार मनेर भावे आमि एक गेये जाव
तोमार मनेर मत तुमि बुझे जावे आर (रवीन्द्रनाथ)

वह चाहे कि इस आनन्द का उपभोग मैं पूर्ण रूप से करूँ तो वह ऐसा कभी नहीं कर सकता। रचना के किसी एक भाव को हृदयंगम कर अथवा किसी एक वाक्य की मधुरता का आस्वादन करके ही उसे संतोष मानना पड़ेगा। सम्पूर्ण रचना का पूरा पूरा स्वाद वह कभी नहीं ले सकेगा। साथ ही, उसकी यह आनन्दानुभूति स्थायी नहीं हो सकती। वह किसी क्षण भी यह नहीं कह सकता कि काव्य की सम्पूर्ण सुषमा इस समय मुझे अनुभूत हो रही है। वह बिजली की तरह निरन्तर लुकती-छिपती ही रहती है। इसके सिवा ऐसी कविता के मर्म के विषय में पाठक को सदैव संदिग्ध ही रहना पड़ता है। उसे यह शंका बनी ही रहती है कि मैं प्रयत्न करके जिस निर्णय पर उतरा हूँ, कवि का मतलब वही है या यह केवल मेरी कल्पना की तरंग-मात्र है। इसका कारण यह है कि कवि जान-बूझकर अपनी रचना को इसी प्रकार माया-मय बनाने की चेष्टा करता है। अपनी प्रणाली के अनुसार भावों को स्पष्ट कर दिखाने में वह सक्षम भी नहीं रहता। उसे अपने लक्ष्य और पाठक के बीच में एक पर्दा डाल देना पड़ता है; पर यह पर्दा इतना बारीक नहीं होता कि पाठक उसके भीतर का दृश्य अनायास देख सके। ऐसा करने के लिए उसे अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। अनेक अंशों में अनुमान और कल्पना पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। यही कारण है कि जिस कविता के पाठ से एक पाठक आनन्द-सागर में डूब जाता है, उसीका दूसरे पाठक के चित्त पर ऐसा करुणार्द्र प्रभाव पड़ता है कि उसके नेत्र निर्झर बन जाते हैं।

कविता की इस अस्पष्टता का प्रधान हेतु है कवि के भावों की अनिर्वचनीयता। जिस प्रकार कोई समाधिस्थ योगी समाधि से जागने पर ब्रह्मा-नन्द के सुख का वर्णन वचनों से नहीं कर सकता, उसी प्रकार कवि भी अपने हृद्गत-भावों को स्पष्ट रूप से शब्दों में नहीं लिख सकता।* कविता लिखने के पूर्व उसके हृदय में जो भावावेश प्रकट हुए थे वे शब्द-सीमा के भीतर से नहीं आये थे। वे केवल उसके अनुभूति-राज्य की सामग्री थे। अतएव उन्हें शब्द-बद्ध करने में वह अस्पष्टता को किसी प्रकार दूर नहीं कर सकता।

यथार्थ में छायावाद भाव-राज्य की वस्तु है। उसमें केवल संकेत से ही काम लिया जाता है। भाषा उसमें भाव-प्रकाशन का एक गौण साधन मात्र है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस तरह की अस्पष्टता लोगों को कैसे रुचिकर हो रही है? किन्तु उसके हल करने में 'छायावाद' के कवियों ने अपूर्व निपुणता प्रकट की है। इस निपुणता ने ही लोगों को ऐसा मन्त्र-मुग्ध कर रक्खा है कि वे छायावाद के अस्पष्टता—दोष की कोई परवाह न कर उसके परम-भक्त बन बैठे हैं।

अब देखना है कि यह मोहन-मन्त्रवाली निपुणता है क्या? यह है काव्य में चित्रकारी और संगीत का अपूर्व एकीकरण। कवि तारल्य और माधुर्य का ऐसा स्रोत बहाता है कि पाठक उसमें तल्लीन हो जाता है। फिर उसे इस बात का ध्यान तक नहीं रहता कि मैंने क्या पढ़ा और क्या समझा। उसके काव्य में एक तरह की आकुलता, उत्कण्ठा, उद्वेग,

---

* They come and ask me "who is he?" I know not how to answer them. I say, "Indeed I cannot tell."

(Gitanjali)

भ्रांति और आशंका का एक ऐसा स्वाभाविक समावेश होता है कि पाठक उनके भीतर अपने हृदय के समत्व को या कभी कभी भावावेश में अपने अस्तित्व को ही खो बैठता है। उपर्युक्त मनोविकारों में एक अनिर्वचनीय व्याकुलता-पूर्ण सौन्दर्य का संमिश्रण रहता है। यह इस सौन्दर्य ही का जादू है जो पाठक को अपने जाल में बेतरह फँसा रखता है। एक बंगाली लेखक के शब्दों में छायावाद यथार्थ में ही 'संगीत और चित्र-शिल्प की मध्य-भूमि में स्थित रखा और सुरों के आभास-पूर्ण एक माया-पुरी की सृष्टि है!'

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे पाठक समझ गये होंगे कि छायावाद में भाषा गौण होती है और उसके मर्म की उपलब्धि अनिश्चित। अतएव यह कहा जा सकता है कि छायावाद के कवि लाभालाभ पर कुछ ध्यान न देकर केवल भावावेश और आनन्द-स्पन्दन में ही निरत रहते हैं; पर यह आनन्द-स्पन्दन उपर्युक्त बंगाली लेखक के कथनानुसार "ताल-मान-पूर्ण रोशनचौकी के अमूर्त्त अधृत आनन्द-स्पन्दन से भिन्न कोई वस्तु नहीं। उसे बुद्धि के मार्ग से समझने की चेष्टा करना व्यर्थ है। ऐसा करने से एक तरह की पीड़ा पहुँचेगी। उसे स्नायु के स्पन्दन में से अनुभव करना चाहिए—तब वह अमृत सा बोध होगा।"

छायावाद के कवि भाषा के प्रयोग करने में बड़े कुशल होते हैं। भाषा को गौण समझ कर वे उसके व्याकरण की भले ही उपेक्षा कर बैठें, पर उसका सौन्दर्य कभी नष्ट नहीं होने देंगे। वे प्रायः सरल और बोल-चाल की भाषा में ही अपने भाव व्यक्त करते हैं; किन्तु भाषा की यह सरलता अनेक स्थलों में अर्थ की जटिलता को छिपाने के लिए ही होती है। दूसरी बात यह है कि वे अपनी कविता के लिए विषय-वस्तु बड़ी दूर दूर से ढूँढ़ कर लाते हैं। उनकी कविता देवी की आँखें सदैव ऊपर की ही ओर उठी रहती हैं। मर्त्य-लोक से उसका बहुत कम सम्बन्ध रहता है। वह बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा को अतिक्रम करके मन-प्राण के अतीत-लोक में ही विचरण करती रहती है; क्योंकि यहाँ उसे अपनी रुचि तथा इच्छा-पूर्त्ति का यथेष्ट अवसर मिला करता है।

यहीं छायावादिता से आत्मिकता तथा धर्म-भावुकता का मेल होता है। यथार्थ में उसके जीवन के ये दो मुख्य अवलम्ब हैं। अतएव छायावाद के कवि इन दोनों क्षेत्रों की सीमा से बहुत कम बाहर निकल सकते हैं। वे प्रायः 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' तथा 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्' के गूढ़ातिगूढ़ रहस्य में ही मग्न रहते हैं। इन्हीं दोनों व्यापक विषयों को लेकर ही 'छायावादिता' ने विश्व-साहित्य के दरबार में निर्बाध प्रवेश किया है।

अभी कहा गया है कि छायावादिता में विषय-वस्तुएँ दूर दूर से लानी पड़ती हैं; पर यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उनकी भित्ति हमारे दैनिक-जीवन की वे क्षुद्र क्षुद्र घटनाएँ अथवा वस्तुएँ ही होती हैं जिनसे कि हमारा चिर-परिचय रहता है। स्वभाव से ही प्रिय घटनाएँ कवि के हाथों में पड़कर अपरूप-सौन्दर्य धारण करती हैं और हमें एक तरल-मादक पिला कर उन्मत्त सा बना देती हैं।

सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र-समूह, वसन्तानिल, शरदाकाश, ज्योत्स्ना-रात्रि, सन्ध्या और प्रभात की अरुणिमा, सरिता का कल-रव, मेघों का गर्जन, तथा पुष्पित-कानन आदि प्राकृतिक दृश्य और घटनाएँ 'छायावाद' की प्रिय सामग्री हैं। वे सांकेतिक-रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में साहाय्य पहुँचाती हैं।

छायावादियों की राय में कविता कैसी होनी चाहिए सो सुन लीजिए:—

'Poetry is to be something vague, intangible, evanescent, a winged Soul in flight toward other skies and other lives.'

इन लोगों की राय में कविता में कुछ न कुछ अस्पष्टता जरूर रहनी चाहिए। वे कविता का नामकरण भी नहीं चाहते।

"कविता में हमेशा दृष्टिकूटक बातें रहनी चाहिए। किसी वस्तु का नाम दे देने से कविता का तीन चौथाई मजा निकल जाता है। वह तो उसी समय मालूम होता है जब उसका रहस्य धीरे धीरे मालूम होता है और अन्त में मालूम होता है कि कवि का सुख-स्वप्न यह था।" अतएव 'छायावादिता' को 'नाम-गोत्र से हीन' ही समझिए। हाँ, उसकी अस्पष्टता का एक प्रमाण लीजिए। कवीन्द्र रवीन्द्र का प्यारा शिशु अपनी माँ से पूछता है:—

"तुम कहती हो कि पिता अनेकों पुस्तकें लिखते हैं; पर वे लिखते क्या हैं सो तो मैं बिलकुल नहीं समझता। वे तुम्हें सन्ध्या समय बहुत कुछ सुनाते रहे; पर यह तो कहो, क्या तुम सचमुच सब कुछ समझ गई?"

इन अवतरणों से पाठकों को 'छायावाद' की प्रकृति का बहुत कुछ ज्ञान हुआ होगा। आप कहेंगे—वाह, क्या विचित्र इन्द्रजाल है। हम कहते हैं कि जितना अधिक उसके भीतर प्रवेश कीजिए वह उतना ही अधिक माया-मय जान पड़ेगा। एक अंग्रेजी लेखक ने उसे जो एक 'मनोरंजक व्याधि' (interesting disease) कहा है सो बहुत ही ठीक है। व्याधि भी यदि कहीं मनोरंजक हो पाई है तो यहीं।

छायावाद के पाठक को बीच बीच में चौंक उठना पड़ता है। उसे लिखते समय स्वयं कवि की भी वही दशा रहती है। आप कहेंगे इस पचड़े में पड़ कर चित्त की स्वस्थता खोने से क्या लाभ? पर इस पचड़े का स्वाद एक बार चखिए, फिर शायद आप उसे कठिनता से भूलेंगे। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर चाहे जो हो, हम यहाँ सिर्फ इतना ही बताते हैं कि 'छायावाद' के प्रतिनिधि-कवि अपनी कविता की उपयोगिता के विषय में क्या राय रखते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने 'Crescent Moon' नामक पुस्तक में 'मेरा गीत' में लिखा है:—

"वत्स, यह मेरा गीत प्रेम-पूर्ण-भुजाओं की तरह अपने सुर और लय के जाल से तुम्हें वेष्टित करेगा।

"यह मेरा गीत स्नेह-स्निग्ध चुम्बन के समान तुम्हारे कपोलों का स्पर्श करेगा।

"जब तुम अकेले रहोगे, तब वह तुम्हारे पास बैठकर दुख-सुख की बातें करेगा और जब भीड़-भड़के में रहोगे, तब यह तुम्हें उसके संघर्ष से बचा रखने में चहारदीवारी का काम देगा।



गो-दोहन ।

श्रीयुत गोविन्दराम उदयराम
चित्रकार
जयपुर ।

"यह मेरा गीत तुम्हारे स्वप्नों को पंख प्रदान करेगा और तुम्हारे हृदय को अज्ञान के किनारे लेकर उतार देगा।

"जब तुम्हारे मार्ग पर रात्रि का घोर अन्धकार छा जायगा तब यह तुम्हें रास्ता बतलाने में विश्वस्थ तारे का काम देगा।

"यह मेरा गीत तुम्हारी आँखों की पुतलियों पर जा बैठेगा और तुम्हें ऐसी दिव्य-दृष्टि प्रदान करेगा कि तुम पदार्थों के अन्तर्प्रदेश में प्रवेश कर सकोगे।

"और जब मेरी वाणी मृत्यु-लीन होकर मौन हो जायगी, तब यह मेरा गीत ही तुम्हारे जागृत हृदय में वार्त्तालाप करेगा।"

उन्हों ने अपने गीतों के विषय में जो कुछ कहा है वही यहाँ सम्पूर्ण 'छायावाद' के लिए कहा जा सकता है।

अधिकार-विभाजन-तत्त्व के ऐतिहासिक परिणाम।

(लेखक—"एक इतिहासज्ञ")

१. प्रत्येक राज्य-प्रबंध के मुख्य तीन भाग हैं—(१) क़ानून बनाना, (२) उनके अनुसार न्याय करना, और (३) तदनुसार अमल करना। इन तीन कार्यों के लिए प्रत्येक राज्य-प्रबंध में मुख्य तीन अंग होते हैं—(१)—क़ानूनकारिणी समिति, (२) न्याय-विभाग, और अमल-विभाग। ये तीनों कार्य अच्छे चलें, लोगों की स्वतंत्रता निर्बाध रहे और एक कार्य से दूसरे कार्य में रुकावट न हो, इसके लिए आवश्यक है कि ये तीनों कार्य करने वाले राज्य-प्रबंध के तीन भिन्न अंग, एक दूसरे से अलग रहें। एक से अधिक अधिकार एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में न रहें। साथ ही वे स्वतंत्र भी हों, एक किसी के अधिकार के कार्यों में कोई दूसरा किसी भी प्रकार का का दबाव न डाल सके। यह तत्त्व मोटी रीति से ग्राह्य हो सकता है, तथापि अमल-विभाग पर क़ानूनकारिणी की दृष्टि रहना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि ऐसा न होने से अमल-विभाग चाहे जैसा कार्य कर सकता है और बड़ी भारी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। हाँ, यह अत्यंत आवश्यक है कि न्याय-विभाग सब बातों में सर्वथा स्वतंत्र रहे; क्योंकि स्वतंत्र अवस्था में ही वह न्याय का कार्य पक्षपात-रहित होकर सकेगा और फिर लोगों की वैयक्तिक स्वतंत्रता को उस से भय कम रहेगा। अधिकार-विभाजन-तत्त्व का प्रचलित अर्थ यही है।

२. मांटेस्क्यू ने पहले पहले जब इस तत्त्व का प्रतिपादन अठारहवीं सदी में बड़े ज़ोर से किया, तब इसका अर्थ ठीक यही नहीं था। अन्य देशों में इस तत्त्व के जो अर्थ किये गये उनमें भी कुछ भेद हो गया है और इस कारण उन देशों के राज्यप्रबंध की रचना में भी कुछ कुछ भिन्नता हो गई।

मान्टेस्क्यू का यह मत था—"यदि क़ानून बनाने और उनको अमल करने के अधिकार एक ही व्यक्ति-समूह को दे दिये जायँ, तो वैयक्तिक स्वतंत्रता न रहेगी; क्योंकि उसमें आशंका रहेगी कि कहीं वे ज़ुल्मी क़ानून न बना डालें और उनका बड़ी सख्ती के साथ अमल करें। क़ानून बनाने और अमल करने के अधिकार से यदि न्याय का कार्य अलग न किया जाय तो भी स्वतंत्रता न रहेगी। यदि वह क़ानून बनाने के अधिकार के साथ जोड़ दिया जाय, तो लोगों के जान-माल का कोई रक्षक न रहेगा; क्योंकि जब न्यायकर्त्ता ही क़ानून बनाने वाला है, तब वह चाहे जो क़ानून बना डालेगा। और, यदि वह अमल के अधिकार के साथ जोड़ दिया जाय तो न्यायकर्त्ता अत्याचारी हो जावेगा।"

सारांश यह कि ये तीनों अधिकार एक दूसरे से बिलकुल अलग और स्वतंत्र रहें।

३. मान्टेस्क्यू ने यह तत्त्व ब्रिटिश राज्य-प्रबंध की रचना को देखकर ही सोचा। इंग्लैंड और फ्रान्स में वैयक्तिक स्वतंत्रता में जो भेद दीख पड़ा उसका कारण इस ग्रंथकार ने यह ठीक ही सोचा कि फ्रान्स में कम वैयक्तिक स्वतंत्रता होने का कारण यह है कि वहां सब अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को दे दिये गये हैं। उस समय फ्रान्स की स्थिति सब प्रकार से बिगड़ चली थी। राज्यप्रबंध का सर्वोच्च अधिकारी राजा था; पर राज्य के सूत्र प्रभावशाली स्त्रियों तथा अन्य लोगों के हाथ में चले गये थे। आर्थिक दशा को जाने दीजिए, लोगों के साथ ठीक ठीक न्याय होना कठिन था। सरकारी अफ़सर अपनी मनमानी चलाते थे। इस प्रकार लोगों की स्वतंत्रता का कहीं ठौर-ठिकाना न था। उसी समय इंग्लैंड में सुखदायक राज्यप्रबंध पहले से ही स्थापित था। ईस्वी सन् १२१५ से अर्थात् जब राजा जॉन और उसके प्रधानों में झगड़ा हुआ था, तब से राजा के अधिकार धीरे धीरे नियंत्रित हो चले थे, प्राचीन संस्थाओं में से नई नई संस्थाएं विकसित हो चली थीं और राजा के अधिकार उनमें धीरे धीरे बट गये थे। फिर सत्रहवीं सदी में राजा और पार्लिमेण्ट के बीच जो झगड़े हुए उनका परिणाम यह हुआ कि क़ानून बनाने, कर लेने और अमल-विभाग पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष दृष्टि रखने और उनके कार्यों की आलोचना करने के अधिकार पार्लिमेण्ट को पूर्णतया मिल गये। उसी समय न्याय-विभाग भी बिलकुल स्वतंत्र बना दिया गया, न्यायकर्त्ताओं के गिरफ्तारी-संबंधी अधिकार भी बिलकुल निश्चित हो गये और इस तरह लोगों की जान और माल पूर्णतया सुरक्षित हो गये। इन दोनों राज्यप्रबंधों की तुलना कर उसने इंग्लैंड के लोगों की अच्छी स्थिति का कारण सोचा और उसे यह जान पड़ा कि राज्यप्रबंध के इन तीनों भिन्न अधिकारों के अलग और स्वतंत्र होने से ही इंग्लैंड में स्वतंत्रता अधिक है।

ऊपर इंग्लैंड के राज्यप्रबंध का जो सूक्ष्म वर्णन दिया गया है उससे पाठक जान सकेंगे कि मान्टेस्क्यू का विवेचन सर्वथा ठीक नहीं—केवल मोटी रीति से वह ठीक कहा जा सकता है। इंग्लैंड की पार्लिमेण्ट को केवल क़ानून ही बनाने का अधिकार न था, वह अमल-विभाग के कार्यों को भी नियंत्रित करती थी और उनकी आलोचना भी करती थी। दूसरे, अमल-विभाग के सर्वोच्च अधिकारियों तथा पार्लिमेण्ट का प्रत्यक्ष घनिष्ठ संबंध था। वे उसके सदस्य रहते थे जैसा कि आजकल है। इस कारण उनसे दूसरे सदस्य अनेक प्रश्न कर सकते थे और सरकारी कार्रवाइयों का सारा हाल ठीक ठीक मालूम हो जाता था। फिर अमल-विभाग के अफ़सर भी मामूली लोगों की तरह, मामूली रीति से, किसी भी अदालत में अपने अनुचित कामों के लिए अभियुक्त किये जा सकते थे। सारांश यह कि अमल-विभाग क़ानून-कारिणी से बिलकुल अलग और स्वतंत्र न था; पर माण्टेस्क्यू की दृष्टि में ये बातें न आईं और उसने उपरि-निर्दिष्ट तत्त्व ऐसा प्रतिपादित किया कि अमल-विभाग भी कानून-कारिणी और न्याय-विभाग से पूर्णतया स्वतंत्र रहे। अधिकारों के अलग रखने की बात कुछ भिन्न है और विभाग का पूर्णतया स्वतंत्र रहना बात ही दूसरी है। इंग्लैंड में अब भी क़ानून और अमल के अधिकार अलग अलग हैं; पर क़ानूनकारिणी अमल-विभाग के कार्यों की आलोचना द्वारा नियंत्रित कर सकती है, और इस प्रकार अमल-विभाग क़ानूनकारिणी से दबा रहता है। हां, न्याय के अधिकार और विभाग पूर्णतया स्वतंत्र हैं और उसकी आवश्यकता भी है।

४. अब देखिए कि फ्रान्स और इतर देशों में, अठारहवीं सदी में, जो नई नई राज्य घटनाएं हुईं उनपर यह तत्त्व कैसे लागू हो सका।

फ्रान्स के क़ानून बनाने वालों ने इस तत्व का यह अर्थ किया कि मामूली न्यायाधीश अमल-

विभाग से स्वतंत्र रहें और उन्हें अपने स्थान से कोई दूर न कर सके, साथ ही सरकारी अफ़सर और उनके मातहतों पर इन मामूली अदालतों का कुछ भी अधिकार न रहे और वे इनसे अपने सरकारी ओहदे में पूर्ण स्वतंत्र रहें। दूसरे भाग का अर्थ होता है कि यदि अमल-विभाग के अफ़सरों ने सरकारी ओहदे से कोई बेकायदा काम भी किया, तोभी इंग्लैंड के समान उनपर मामूली अदालतों में अभियोग न चल सके। ऐसा दुरर्थ करने का एक विशेष कारण यह था कि फ्रान्स की परिस्थिति भिन्न थी। फ्रान्स में न्याय की अंतिम अदालत पार्लिमेण्ट थी। नीचे की अदालतों से यहाँ अपील हो सकती थी। इसके सिवा नीचे के अदालतों का कोई भी मामला वह अपने सामने प्रस्तुत करवा सकती थी। आगे चलकर परिणाम यह हुआ कि इस अदालत ने अमल-विभाग के अफ़सरों के कामों में बहुत बाधा डाली। इस कारण फ्रान्स के विचारकों को ऐसा जान पड़ा कि अमल-विभाग को स्वतंत्र किये बिना उसका कार्य ठीक तरह न चलेगा। इस कारण वहाँ की राज्य-घटना में अमल-विभाग के अफ़सरों पर न्यायविभाग का अधिकार अनुचित कामों के सम्बन्ध में भी कुछ न रहा। इस विभाजन का परिणाम यह हुआ कि सरकार और उसके कर्मचारियों से प्रजा का जो सम्बन्ध होना चाहिए उसके नियम अलग बनाये गये। जनता के अधिकारों के झगड़ों और अन्य अभियोगों का फ़ैसला मामूली अदालतों में किया जा सकता है; पर सरकारी ओहदे की हैसियत से सरकारी अफ़सर के किये हुए अपराध का विचार इन अदालतों में नहीं हो सकता। इसके लिए 'अमल-विभाग संबंधी अदालतें' स्थापित हुई हैं। यदि किसी को सरकारी अफ़सर के किसी कार्य के विरुद्ध कुछ कहना हो तो उसे इन 'अमल-विभाग-संबंधी अदालतों' की शरण लेनी चाहिए। परन्तु इन नामधारी अदालतों का स्वरूप अर्द्ध-न्यायालय के समान ही हो गया है। जब अमल-विभाग-संबंधी कायदों के प्रश्न उपस्थित होते हैं, तब उसी विभाग के अफ़सर उनका विचार करते हैं। मामूली अदालतों की न्याय-रीति भले ही थोड़ी बहुत उनमें ले ली गई हो; पर यहाँ उन सरकारी अफ़सरों की दृष्टि सरकारी हो हो जाती है और इस कारण उनका न्याय उसी प्रकार का रहता है। इन अदालतों के कारण एक तीसरे तरह की अदालतों की आवश्यकता हुई है जो 'अनाश्रिताधिकार की अदालतें' कहाती हैं। जब कभी यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक मामला किस तरह की अदालत में पेश हो, तब इस बात का निर्णय ये नई अदालतें किया करती हैं। इन अदालतों में पहले दोनों तरह की अदालतों के अफ़सर निपटारा करते हैं

अब स्पष्ट होगया होगा कि एक ही बात का दुरर्थ करने से कैसी भिन्नता हो सकती है। इंग्लैंड में सरकारी अफ़सर अपने बेकायदा सरकारी कामों के लिए भी मामूली अदालतों में अभियुक्त किया जा सकता है; पर फ्रान्स में अधिकार-विभाजन के तत्त्व को इतना खींच डाला है कि अमल-विभाग पर मामूली अदालतों का कोई अधिकार ही न रहा और अपने कार्यों के विचार का अधिकार उन्हें ही दे दिया गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई कभी अपने ही अपराध का निर्णय पक्षपातरहित हो कर सकता है? उत्तर स्पष्ट है कि कदाचित् कभी नहीं। अब पाठक विचार करें कि सच्ची वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रेसिडेंटवाले फ्रांस में अधिक हो सकती है या राजावाले इंग्लैंड में? अठारहवीं सदी में फ्रान्स में वहाँ की परिस्थिति के कारण राजकीय विचारों की अनेक लहरें उठीं और करीब करीब सब यूरोप ने उसमें गोते लगाये। इस कारण फ्रान्स ने जिन तत्त्वों का पालन किया वही दूसरे देशों को भी ग्राह्य हो गया। केवल इंग्लैंड इनसे दूर रहा। वास्तव में इंग्लैंड की नकल करने के प्रयत्न में फ्रान्स ने राज्य-क्रांति उत्पन्न की और उसकी नकल यूरोप के अन्य देशों ने की।

अमेरिका में कुछ दूसरा ही परिणाम हुआ। वहाँ जब संयुक्तराज्य संगठित न हुआ था, तब से ही इस तत्त्व पर खूब ज़ोर दिया जाता था। एक स्थान पर तो यहाँतक कह डाला गया है कि

जहाँ कानून, अमल और न्याय के अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को दिये जाते हैं वह राज्य-प्रबन्ध अन्यायी कहाता है। इंग्लैंड के मंत्रियों का नवीन नियमों के निर्माण पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। जिन नियमों के कारण अमेरिका को स्वतंत्रता की घोषणा करनी पड़ी, वे नियम इंग्लैंड के मंत्रियों के कहने से ही बनाये गये थे। इस कारण अमेरिका वालों ने सोचा कि मंत्रियों अर्थात् 'अमल-विभाग' का, क़ानून बनाने में कोई भाग न रहे। परिणाम यह हुआ कि वहाँ के मंत्री नियम निर्धारिणी-समिति के सदस्य नहीं हो सकते, और न वहाँ का प्रेसिडेण्ट कांग्रेस के दो अंगों में से किसी भी अंग के कार्यालय में जाकर अपना मत प्रत्यक्ष बतला सकता है। इसतरह अमल-विभाग और नियम-विभाग बिलकुल अलग अलग और स्वतंत्र हैं; पर यह पद्धति अमेरिका में ही विशेष उपयोग में आई है, अन्यत्र नहीं है। आधुनिक तत्त्वों के अनुसार यह पद्धति अच्छी नहीं समझी जाती। इस पद्धति के कई अन्य परिणाम आते हैं। पहले तो प्रेसिडेण्ट को यदि कोई कायदे आवश्यक जान पड़ें तो उनके लिए कांग्रेस के पास 'संदेश' भेजना पड़ते हैं। दूसरे, नियम-विभाग और अमल-विभाग का एक दल होने की आवश्यकता सब ही देशों में है। दूसरे देशों में बहुधा वे ही लोग मंत्री नियुक्त किये जाते हैं जिन्हें नियम-विभाग के बहुमत मिलने की संभावना है और यह सरलता से जाना जा सकता है; क्योंकि ये बहुधा नियम-निर्धारिणी समिति के सदस्य रहते हैं। पर, यहाँ मंत्री कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते, इसका कारण एकपक्षतंत्र-पद्धति (party-system) पैदा हो गई है। अमेरिका में पक्षतंत्र इतना बढ़ गया है कि कुछ कहते नहीं बनता। अमेरिका के प्रेसिडेण्ट के निर्वाचन में इनका बहुत हस्तक्षेप रहता है, और मंत्रि-मंडल में उसके नियत किये लोग ही रहते हैं। इस प्रकार कांग्रेस में जिनका बहुमत रहता है, उन्हींके पक्ष के लोग अमल-विभाग में भी आजाते हैं। पर, यह रीति अच्छी नहीं, इसके परिणाम बहुत अंश में ठीक नहीं होते। अमेरिका के वर्तमान प्रेसिडेण्ट वुड्रो विल्सन ने ही अपने ग्रंथ में कहा है—"आजकल के राज्य-प्रबन्धों में सब जगह अमल-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी नियम-निर्धारिणी-समिति के सदस्य हो सकते और उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं। इस तरह इन दो विभागों में ऐसा कुछ सम्बन्ध हो जाता है कि मंत्री लोग नियम-विभाग के अधिकारी न होते हुए भी उसके नायक बन जाते हैं, और नियम-विभाग मंत्रियों के कार्यका नियंत्रण कर डालता है। इससे राज्यप्रबन्ध के दो अंग परस्परानुकूल हो जाते हैं और मिलजुलकर कार्य करते हैं। परिणाम यह होता है कि एक के कार्य में संगति बनी रहती है और दूसरे के कार्य को ज़ोर मिल जाता है।"

अमेरिका के उपराज्यों में तो इस विभाजन के तत्त्व को उसकी चरम सीमा तक पहुंचा देने का प्रयत्न किया है। वहां नियम-विभाग के सदस्य और गवर्नर चुने तो जाते ही हैं; पर अमल-विभाग के कई अफ़सर और न्याय-विभाग के न्यायाधीश भी चुने जाते हैं। दूसरे देशों में नियम विभाग से नियम पास होने पर अमल विभाग, अर्थात् देश के सर्वोच्च अधिकारी की सम्मति बहुधा आवश्यक होती है। यह अधिकार वहाँ के गवर्नर को बहुत कम है; परन्तु इस पद्धति से कई दूसरे परिणाम उत्पन्न हुए हैं।

५. सारांश. अधिकार विभाजन के तत्त्व का भिन्न भिन्न अर्थ करने से यूरोप और अमेरिका में भिन्न भिन्न परिणाम हुए हैं। माण्टेस्क्यू ने यह तत्त्व जनता के स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए प्रतिपादित किया था पर दुरर्थ हो जाने से अमल विभाग को बहुत अधिकार मिल गये और जनता की स्वतंत्रता की रक्षा होने के बदले उसके नष्ट होने का ही डर अधिक रहता है। नियम-विभाग के अधिकार में अमल-विभाग कोई हस्तक्षेप न करे, इस विचार से इन दो अंगों को ऐसा अलग बना डाला है कि उनका प्रत्यक्ष एकमत होना और मिलजुल कर कार्य करना साधारण रीति से अशक्य है। फल यह हुआ है कि दलबंदी शुरू हुई है जिससे अनेक दुष्परिणाम हुआ करते हैं।

इसलिए इस तत्त्व का उपयोग अथवा प्रतिपादन करने के पहले उसका उचित अर्थ समझ लेना चाहिए। फिर यह भी देखना चाहिए कि वह किस प्रकार अमल में लाया जाय। इसके निर्णय के लिए इंग्लैंड, अमेरिका और फ्रान्स देशों की राज्य-घटना के इतिहास पर ध्यान रखना बहुत उपयोगी होगा।

उद्योग-धंधे-संबंधी एक समस्या।

(लेखक:—पंडित गोपालराव तामसकर, एम. ए., एल. टी.)

जब से कल कारखाने निकले हैं, तब से उद्योग-धंधों के क्षेत्र में एक नया ही युग उत्पन्न हो गया है। जो चीज़ें पहले घर घर बनती थीं वे अब बड़े बड़े कारखानों में बनने लगी हैं। वहाँ हज़ारों मज़दूर एकत्र होकर काम करते हैं। अनेक सुभीतों के कारण एक तरह के कारखाने बहुधा एक ही स्थान में एकत्रित होते जाते हैं। हिन्दुस्थान में बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर, कलकत्ता आदि इस बात के उदाहरण हैं। इस तरह के परिवर्तन से केवल लाभ ही लाभ हुआ हो सो नहीं। कल-कारखानों की संख्या-वृद्धि से, अनेक मज़दूरों के एक जगह काम करने से, इस तरह श्रम-विभाग के तत्वों को अमल में लाने से और एक तरह के कारखानों के एक जगह एकत्रित होने से अनेक बुराइयाँ भी उत्पन्न हुई हैं। यूरोपीय देशों में इन बुराइयों ने गत सौ वर्षों में तो बड़ा ही भयंकर स्वरूप धारण किया है। युद्ध-काल में उनकी भीषणता कम मालूम होने लगी थी; पर उसके बंद होते ही उन्होंने अब विकराल स्वरूप धारण कर लिया है। कारखानों के मज़दूरों की स्थिति का विचार करने से रोम खड़े हो जाते हैं। गंदी जगह में ठूँस ठूँस कर भरे रहना, दिन भर किये गये काम की थकावट को दूर करने के लिए मादक पदार्थों—विशेषतः शराब—का सेवन करना, इस तरह अपनी परिमित आय के सर्वांश को क्षणिक सुख में लुटा देना, फलतः कौटुम्बिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न अत्यन्त कठिन होना, अन्त में कौटुम्बिक बंधनों का शिथिल हो जाना, फिर विविध दुराचारों का बढ़ना, इन कारणों से स्त्री और छोटे बच्चे तक को भी मज़दूरी करने के लिए बाध्य होना इत्यादि अनेक बातों को देखने से सुदूर देहात में रहने वाले के मन में घबराहट और चिन्ता पैदा हो जावेगी। इन सबका परिणाम यह होता है कि मज़दूर लोग समय समय पर अपनी स्थिति सुधारने के लिए हड़ताल किया करते हैं। इन बुराइयों को दूर करने के लिए सब देशों की सरकारों ने बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और प्रत्येक देश में इन बुराइयों के संबंध में अनेक कायदे-क़ानून भी बनाये गये हैं। इन बुराइयों ने हिन्दुस्थान में यद्यपि अभी बिलकुल उग्र स्वरूप धारण नहीं किया है, तथापि यहाँ के बड़े शहरों में उनका बीज अच्छी तरह उगने लगा है। सरकार जो अनेक कायदे बनाती आ रही है उनसे उन बुराइयों का स्वरूप कुछ सौम्य अवश्य हो गया है; परन्तु यह तात्कालिक है। कुछ समय के बाद वे अपना सिर फिर से ऊँचा करती ही हैं।

इस महा प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न भी सम्मिलित है। देहात के लोगों पर भी इस नई 'सभ्यता' का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणाम पड़ रहा है, और उनका आर्थिक कष्ट बढ़ता जा रहा है। देहाती लोग अवकाश के समय जो थोड़ा-बहुत कमाऊ उद्योग-धंधा कर लेते थे, वह कल-कारखानों की सस्ती और आकर्षक वस्तुओं के आने से छिन गया—अब उन्हें अपने बचे हुये समय को निरर्थक कामों में व्यतीत करना पड़ता है।

उपर्युक्त दोनों तरह की बुराइयों को दूर करने का एक ही उपाय है। वह उपाय देहाती और घरू उद्योग-धंधों की उन्नति करना है। जब तक देहातों में नये उद्योग-धंधों की सृष्टि न की जावेगी और आधुनिक बड़े बड़े कारखानों की आवश्यकता न घटाई जावेगी, तबतक उक्त दोनों कठिन प्रश्न हल न हो सकेंगे। खेद की बात है कि हिन्दुस्थान के देहातों के उद्योग-धंधे प्रायः नष्ट हो गये हैं और जो कुछ कहीं बचे हैं वे अब होते जा रहे हैं। वे या तो विदेशियों के हाथों में चले गये हैं या उनका काम करने वाले बड़े बड़े कारखाने इसी देश के बड़े बड़े, अतएव खर्चीले, शहरों में एकत्रित हो रहे हैं। क्या इस स्थिति और उस के अनिष्ट परिणामों को दूर करने का प्रयत्न करना जनता तथा सरकार का कर्त्तव्य नहीं है ?

हमारे कथन का यह तात्पर्य नहीं कि सब बड़े कारखाने तोड़ दिये जावें। यह न तो इष्ट है और न संभव ही; परन्तु इस नई स्थिति की बुराइयाँ बहुत कुछ कम की जा सकती हैं और इस प्रकार मजदूरों के साथ किसानों की भी स्थिति सुधर सकती है। गत दिसंबर मास के "को-आपरेटिव कार्टली" नामक मासिक पत्र में मिस्टर एच. डब्ल्यू. बुल्क कहते हैं कि "देहात के रहने वाले केवल एक दो खेतों के मालिक किसानों को ही छोटे छोटे उद्योग-धंधों की विशेष आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे इन्हीं को अपना प्रधान कार्य बना लें। इसका आशय यही है कि वे अपने बचे हुए और व्यर्थ नष्ट होने वाले समय को इन कामों में लगाकर थोड़ी बहुत ऊपरी आमदनी पैदा करें। यूरोप के कई भागों में जो ऐसे छोटे छोटे उद्योग-धंधे और कारखाने चल निकले हैं उनसे जाना जा सकता है कि वे कितने लाभकारी हैं।" वही सज्जन उदाहरण देते हुए कहते हैं कि "हिन्दुस्थान से जापान दूर नहीं है। वहाँ के लोगों की भी परिस्थिति वैसी ही है। जिस प्रकार जापानी किसान अनेक छोटे-मोटे धंधे करके अधिक आमदनी कर लेता है उसी प्रकार हिन्दुस्थानी किसान क्यों नहीं करता? यथार्थ में हिन्दुस्थान छोटे मोटे उद्योग-धंधों की जगह ही है।"

अब प्रश्न यह होता है कि क्या ये छोटे उद्योग-धंधे बड़े बड़े कारखानों के सामने टिक सकेंगे? उत्तर में बुल्क महाशय कहते हैं कि "यदि छोटे मोटे उद्योग करने वालों ने ठीक और समयानुकूल चीज़ें बनाने के लिए चुन निकालीं, तो नहीं जान पड़ता कि ये छोटे धंधे क्यों न चल सकेंगे?" परन्तु इसके लिए सहकारिता की और लोगों की आवश्यकताओं को जानने के लिए सतत प्रयत्न करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। यदि यूरोपादि देशों के देहातों और घरों में बनी हुई चीज़ें यहाँ बन सकती हैं, तो यहाँ भी प्रबल प्रयत्न क्यों

न किया जावे ? स्मरण रहे कि यदि देहातियों में जीवन का थोड़ा भी संचार करना है, तो देहाती और घरू उद्योगों का पुनर्जन्म और संगठन करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि नई पद्धति के अनुसार खेती के सुधार की आवश्यकता है, तो उतनी ही आवश्यकता इस बात की भी है कि छोटे छोटे उद्योगों का पुनर्संगठन किया जावे। "इकानामिस्ट" नामक पत्र के एक लेख में इसी विषय पर ज़ोर देते हुए कहा गया है कि "देहाती धंधे दो तरह के हो सकते हैं—एक तो वे जो खेती से प्रत्यक्ष संबंध रखते हैं, दूसरे वे जो खेती पर अवलंबित हैं। मक्खन, खोवा आदि पहिले प्रकार के धंधों के और खिलौने, धातु की कई चीज़ें, लकड़ी के सामान, नक्काशी के काम, गोटा, दरी इत्यादि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं।" यह भी आवश्यक नहीं कि सब ही देहाती धंधे बिलकुल छोटे ही रहें। "देहाती धंधे भी यथेष्ट वृहत् प्रमाण पर स्थापित किये जा सकते हैं। आजकल का यह मुख्य सिद्धान्त ही है। हर तरह के देहाती धंधों के नियंत्रण के लिए एक एक केन्द्रस्थान रहे। वे अपनी अपनी चीज़ें लें और बेचें। इस प्रकार के बड़े बड़े उद्योगों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हज़ारों आदमी एक ही जगह पर ठूँस ठूँस कर भर दिये जावें।" यूरोपीय देशों में बिजली से अनेक छोटे कारखाने और उद्योग चलते हैं और इस कारण वहाँ उक्त दोनों कठिन प्रश्न अधिक सरल हो गये हैं। बिजली से चलने वाले उद्योग बहुत खर्चीले नहीं होते, उनकी चीज़ें सस्ती भी पड़ती हैं और फलतः वे बड़े बड़े कारखानों में बनी हुई चीज़ों का साम्हना भी कर सकती हैं। हिन्दुस्थान में इस स्थिति के आने के लिए बहुत समय लगेगा; तथापि पहिले कहे अनुसार जनता का और सरकार का भी कर्त्तव्य है कि वह इस प्रश्न पर खूब ध्यान दे। हमें यह देखकर बड़ा खेद होता है कि कर्मवीर महात्मा गांधी को छोड़कर अन्य नेताओं ने इस अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर बहुत कम व्यावहारिक ध्यान दिया है। हिन्दुस्थान में सभी दृष्टियों से "नया युग" आ रहा है। औद्योगिक उन्नति का प्रश्न इस समय सरकार और जनता दोनों के साम्हने है ही। ऐसे समय पर इस प्रश्न का तिरस्कार कर, औद्योगिक उन्नति का कोई विचार और कार्य करना, उचित न होगा।

स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।

(अति संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त)

लोकमान्य तिलक के वियोग में सारा देश आँसू बहाता हुआ उनका गुण-गान कर रहा है। लोकमान्य का जीवन सार्वजनिक सेवा में ही व्यतीत हुआ है। उनके जीवन में देश का गत ४० वर्षों का इतिहास भरा है और उसका साधारण वर्णन भी लिखने के लिए "श्रीशारदा" के कई अंक चाहिए। यहाँ केवल ४-५ पृष्ठों का स्थान है और उसमें उनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख-मात्र किया जाता है।

(१) बाल्यावस्था और शिक्षा।

लोकमान्य का जन्म रत्नागिरी में एक सच्चरित्र ब्राह्मण-कुल में २३ जुलाई, सन् १८५६ ई० को हुआ था। आपके पिता पं० गंगाधर

रामचन्द्र तिलक पहिले रत्नागिरि में शिक्षक थे। पश्चात् थाना में डिपुटी इन्सपेक्टर हो गये थे। जब लोकमान्य केवल १६ वर्ष के थे उस समय पिता का देहावसान हो गया। एन्ट्रेन्स परीक्षा पास करने के बाद आप डेक्कन कॉलेज में भर्त्ती हुए और केवल २० वर्ष की अवस्था में बी. ए. की परीक्षा में विशेष सन्मान के साथ उत्तीर्ण हो गये। पश्चात् क़ानून का अध्ययन कर आपने तीसरे वर्ष एल. एल. बी. पास कर डाला।

(२) जीवन का उद्देश्य।

लोकमान्य ने क़ानून की परीक्षा तो पास कर डाली; पर उनका विचार न तो वकालत करने का ही था और न सरकारी नौकरी का ही। उनकी बुद्धि इतनी कुशाग्र थी कि यदि वे चाहते, तो वकालत करके खूब धन और नाम पैदा करते; पर आपने जीवन का उद्देश 'देश-सेवा' निश्चित कर लिया था। बस, फिर क्या था। अध्ययन-कार्य से छुट्टी पाते ही आप उद्देश-सिद्धि में लग गये। अपने मित्र आगरकर तथा तत्कालीन प्रसिद्ध मराठी—लेखक चिपलूणकर महाशय के सहयोग से आपने २ जनवरी, सन १८८० में "पूना न्यू इंग्लिश स्कूल" स्थापित किया जो आगे चलकर फ़र्ग्यूसन कॉलेज के नाम से प्रख्यात हुआ।

(३) "केसरी" और "मराठा" पत्रों का सम्पादन।

उस समय ऐसा कोई पत्र नहीं था जो, जनता के लाभ की दृष्टि से, भिन्न भिन्न त्रुटियों को दिखाता और निर्भीक एवं पक्षपात-रहित सम्मति देता। लोकमान्य और आगरकर ने मराठी में "केसरी" और अंग्रेजी में 'मराठा' पत्र प्रकाशित करना प्रारंभ किया। ये पत्र जनता के हृदय को इतना आकर्षित करने लगे कि बहुत ही शीघ्र इनकी हज़ारों प्रतियाँ निकलने लगीं। इन पत्रों में दोषों का उद्घाटन निर्भीकता के साथ किया जाता था। कोल्हापुर राज्य के कारभारी की कड़ी आलोचना करने के कारण लोकमान्य और आगरकर महाशय पर पहिली बार अभियोग चलाया गया और दोनों को चार चार मास की सादी सज़ा दी गई। पश्चात्, १८८८ ई० में, मि० आगरकर ने सामाजिक और धार्मिक मत-भेद के कारण अपना सम्बन्ध इन पत्रों से छोड़ दिया। तब लोकमान्य ने स्वयं इन दोनों का पूर्ण भार ग्रहण कर लिया।

(४) दक्षिण शिक्षा-समिति।

नामजोशी महाशय की सहकारिता से, सन १८८४ में लोकमान्य ने दक्षिण शिक्षा-समिति की स्थापना की। इस समिति के सदस्यों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे आजन्म या किसी निश्चित अवधि तक, अल्प वेतन पर, शिक्षण-कार्य करेंगे। दूसरे वर्ष प्रसिद्ध फ़र्ग्यूसन कॉलेज खोला गया जिसमें कई देशभक्त विद्वानों ने अल्प वेतन पर शिक्षक होना स्वीकार किया। स्वर्गीय महात्मा गोखले भी पहिले इसी कॉलेज में शिक्षक रहे थे। कॉलेज खुलने के पाँच वर्ष बाद लोकमान्य ने उससे अपना सम्बन्ध त्याग दिया।

(५) सामाजिक विचार।

लोकमान्य तिलक अपने सामाजिक विचारों के बड़े पक्के थे। वे सुधार अवश्य चाहते थे; पर ऐसे सुधार में भाग लेना वे सामाजिक सिद्धान्त

के प्रतिकूल समझते थे जिसमें जनसमाज अधिक संख्या में भाग न ले। उनका सिद्धान्त था कि अधिकांश जनता को साथ लेकर जो कुछ सुधार किया जायगा वही सफल होगा और वही किया जाना चाहिए। वे जीवन भर इस बात के प्रबल विरोधी रहे कि सामाजिक सुधार में सरकार कुछ भी हस्तक्षेप करे। इसलिए जब बम्बई प्रान्त में सरकार की ओर से सामाजिक सुधारों में हस्तक्षेप किया गया, तब लोकमान्य ने उसका घोर विरोध किया। इस विरोध का फल यह हुआ कि पूना में शिक्षित समाज के दो दल हो गये—एक, 'रिफ़ार्मर' जो सुधार चाहता था और दूसरा, 'कन्सरवेटिव' जो पुराने सिद्धान्तों की ही रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मानता था।

(६) स्वाध्याय और "ओरायन"।

अंग्रेज़ी और मराठी के दो साप्ताहिक पत्रों का सम्पादन तथा राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में काम करने के अतिरिक्त लोकमान्य ने पूना में क़ानूनी शिक्षा देने के लिए एक क्लास खोल रक्खी थी जिसमें वे वकालत सीखने वालों को तैयार किया करते थे। इतने काम करते हुए भी लोकमान्य स्वाध्याय के लिए प्रतिदिन समय निकाल लेते थे। इसी समय आपने वेदों का सूक्ष्म अनुशीलन किया और वेदों की प्राचीनता के विषय में कई लेख लिखे। इसी समय, अर्थात् सन् १८९२ में, प्राच्य-विद्या-विशारदों की एक सभा लन्दन में हुई। आपने "ओरायन" नामक अपने लेखों का संग्रह उस सभा में भेजा। सभा ने इस लेख-माला को अपूर्व पाया और लोकमान्य की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की जिससे आप का नाम संसार में प्रसिद्ध हो गया। मोक्षमूलर, वेबर, जैकोबी, ह्विटने आदि विद्वानों ने आपको अद्वितीय एवं महान् पंडित माना। अमेरिका की विद्वत्समिति ने भी आपकी योग्यता स्वीकार की और जॉन हापकिन्स ने वहाँ की प्राच्य-विद्या-समिति के मुखपत्र में आपकी प्रचुर प्रशंसा प्रकाशित की।

(७) राजनैतिक कार्य-क्षेत्र और समाज-सेवा।

आप सामाजिक, साहित्यिक आदि क्षेत्रों में कार्य करते हुए भी अपना प्रधान लक्ष्य राजनीति को बनाये हुए थे। आप डेक्कन-कांग्रेस-कमेटी के मंत्री और बम्बई-प्रान्तीय-कान्फ़रेन्स के सञ्चालक कई वर्षों तक रहे। बम्बई में एक बार हिन्दू और मुसलमानों के बीच झगड़ा हुआ। आपने सरकार की कड़ी आलोचना की और झगड़े के सारे दोष का कारण यह बतलाया कि सरकार 'भेद-नीति' से काम लेती है। जनता आपको बहुत चाहती थी; इससे आप बम्बई की प्रान्तीय कौन्सिल के सदस्य दो बार चुने गये और एक बार बम्बई-विश्वविद्यालय के 'फ़ैलो' भी मनोनीत हुए। आपका हाथ जहाँ रहा वहीं आपने अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय दिया। सन् १८९५ में आप पूना की म्यूनिसिपैल्टी के सभासद चुने गये। उसी साल पूना में कांग्रेस का ११ वाँ अधिवेशन होने वाला था। आप उसकी स्वागत-समिति के मंत्री बनाये गये; पर कुछ मत-भेद के कारण आपने उस पद को त्याग दिया, यद्यपि आपने कांग्रेस की सफलता में अन्त तक पूर्ण योग दिया।

सन् १८९६ में देश में भारी अकाल पड़ा। आपने उस समय समाज-सेवा में तन-मन-धन

सब कुछ लगा दिया। जगह जगह सस्ते दाम पर अनाज बेचने वाली दूकानें खुलवाईं और पीड़ित प्रजा की सहायता की। आपने सरकार के साथ मिलकर कार्य करने का प्रश्न उठाया; पर सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया। जब पूना की जनता प्लेग से पीड़ित हुई, तब भी आपने उसकी अपार सेवा की। इन कारणों से तो आप बहुत ही अधिक लोक–प्रिय हो गये थे।

(८) शिवाजी–जयन्ती और पहिला अभियोग।

प्लेग के काम से छुटकारा मिलने पर, लोकमान्य ने जनता में स्वाभिमान उत्पन्न करने के विचार से, शिवाजी-जयन्ती मनाने का प्रस्ताव किया और 'केसरी' में देश-भक्ति-पूर्ण बड़े लेख और कविताएँ प्रकाशित कीं। सन् १८९७ की १३ जून को उत्सव मनाया गया। उत्सव में जो पद्य गाया गया था वह दूसरे सप्ताह "केसरी" में प्रकाशित हुआ। उन्हीं दिनों मि० रैण्ड और लेफ्टिनेण्ट एयर्स मार डाले गये। सरकार ने इस हत्या का कारण वही गायन बताया और लोकमान्य को २७ जून को गिरफ्तार किया। लोगों ने जमानत देने की प्रार्थना की; पर सब निष्फल हुई। अभियोग का निर्णय ६ अंग्रेज और ३ हिन्दुस्थानी लोगों की जूरी ने किया। केवल अंग्रेज़ जूरी ने उन्हें दोषी ठहराया और १८ मासकी सख्त सज़ा दी। प्रिवी कौन्सिल में भी सुनाई नहीं हुई। अन्त में लोकमान्य के मित्र अध्यापक मोक्षमूलर और मि० विलियम हन्टर ने महारानी विक्टोरिया से निवेदन कर आपको मुक्त कराया। ६ सितम्बर, १८९८ को मुक्त हो आप स्वास्थ्य सुधारने के लिए सिंघाद में ६ मास रहे।

(९) "सुमेरु पर हमारे पितरों का निवास।"

कितना ही काम क्यों न आ पड़े लोकमान्य का अध्ययन चलता ही रहता था। भिन्न भिन्न क्षेत्रों में काम करते हुए आप अपना अभ्यास नियमित रूप से करते रहते थे। 'ओरायन' के प्रकाशित होने के लगभग १० वर्ष के अध्ययन के पश्चात्, आपने "सुमेरु पर हमारे पितरों का निवास" नामक एक अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का परिचय इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें आपने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों के आदिम रचयिता उत्तर ध्रुव के हिम-प्रदेश के निवासी थे। इस ग्रन्थ से प्राच्य-विद्या-विशारदों के मन पर भारतीय-अन्वेषण-शक्ति की धाक जम गई और सबने लोकमान्य की अतुल-पूर्व प्रशंसा की।

(१०) ताई महाराज का मुकद्दमा।

उपरोक्त प्रसिद्ध ग्रन्थ के प्रकाशित होने के थोड़े ही दिन पश्चात्, लोकमान्य को एक व्यर्थ झगड़े में फँसना पड़ा। पूना के प्रसिद्ध सरदार श्रीबाबा महाराज ने लोकमान्य को अपना सुहृद् समझकर अपनी जायदाद का एक ट्रस्टी बना दिया। श्री बाबा महाराज की मृत्यु के बाद लोकमान्य ने रियासत का ऋण-भार हलका करने और एक योग्य पुत्र को गोद बिठाने की चेष्टा की। ऐसा करने में विधवा श्रीताई महाराज के खर्चे को कम करना पड़ा। श्रीताई महाराज और दूसरे ट्रस्टी इसके विरुद्ध हो गये। मुकद्दमा चलने पर लोकमान्य दोषी ठहराये गये

और उनपर अनुचित अधिकार-प्राप्ति की चेष्टा तथा मिथ्या-भाषण का अभियोग लगाया गया; पर हाईकोर्ट ने लोकमान्य को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया और इस प्रकार कड़ी परीक्षा से निकलने पर, तप्त स्वर्ण के समान, आपका चरित्र समाज की दृष्टि में और भी पवित्र और उज्ज्वल हो गया।

(११) प्रथम क्रियात्मक आन्दोलन।

सन १९०५ में बंग-भंग किया गया। लोकमान्य ने इस अवसर पर क्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ किया। इसके पहिले आप प्रस्तावों के अनुमोदन और समर्थन में लगे रहते थे; पर अब आपने सब से पहिला क्रियात्मक आन्दोलन, "बॉयकाट," शुरू किया। उस वर्ष कांग्रेस के अधिवेशन में जो बनारस में हुआ था, बॉयकाट की उपयोगिता स्वीकृत की गई। दूसरे वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होने वाला था। उसके सभापति के पद के लिए लोकमान्य का नाम लिया गया। इस प्रस्ताव से कांग्रेस-प्रेमियों के दो दल हो जाने की आशंका थी। अन्त में महामति दादाभाइ नौरोजी उस वर्ष सभापति चुने गये और स्वदेशी और बॉयकाट के प्रस्ताव कांग्रेस में स्वीकृत हुए जिसका सारा श्रेय लोकमान्य को ही है।

(१२) दूसरा अभियोग।

सन् १९०८ के अप्रेल मास में एक मनुष्य ने मुजफ्फरपुर के कलेक्टर के कुटुम्ब की दो महिलाओं की हत्या कर डाली। इससे अधिकारि-वर्ग में बड़ी सनसनी फैली। कई लोग पकड़े गये और कई सम्पादकों पर मुक़दमा चलाया गया। "केसरी" में एक लेख प्रकाशित करने के मामले में लोकमान्य भी गिरफ्तार किये गये। जूरी में ऐसे लोग बैठे जो मराठी भाषा नहीं जानते थे। लोकमान्य ने अपनी पैरवी स्वयं की। बड़ी ही बुद्धिमत्ता और स्पष्टता से उन्होंने अपने ऊपर लगाये गये अभियोगों का उत्तर दिया; पर क्षमा-प्रार्थना नहीं की; क्योंकि वे अपने को निर्दोष समझते थे। अन्त में जूरी ने उनके विपक्ष में सम्मति दी और जज ने उन्हें १०००) जुर्माने और ६ वर्ष काले पानी की सज़ा दी। लोकमान्य ने दण्ड सुनकर जो शब्द कहे थे वे उनके चरित्र की दृढ़ता और निर्भीकता सिद्ध करते हैं। उनका कथन 'हिन्दी-केसरी' ने पद्य-रूप में इस प्रकार लिखा था कि —

आज मुझे जूरी ने यद्यपि अपराधी ठहराया है।
तो भी मेरे मन ने मुझको निर्दोषी बतलाया है॥
मानव शक्ति कहीं भी जिसके आगे कोई चीज़ नहीं।
ऐसी ऊँची शक्ति सदा संसार-चक्र है चला रही॥
ईश्वर का संकेत मनोगत ऐसा मुझको दीख पड़े।
मेरे संकट सहने ही से इस हलचल का वेग बढ़े॥

लोकमान्य के निर्वासन से देश भर में उदासी छा गई और बम्बई में तो कई दिनों तक हड़ताल जारी रही।

(१३) कारागार में ग्रन्थ-निर्म्माण।

लोकमान्य ने जेल में भी अपना समय व्यर्थ नहीं बिताया। आप वहाँ अपने जीवन-सर्वस्व 'गीता' का अनुशीलन निरन्तर किया करते थे। छुटकारा पाते ही उन्होंने गीता का अनुपम भाष्य 'गीता-रहस्य' के नाम से प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का मान लोगों ने कैसा किया इसका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि एक सप्ताह के भीतर, उसकी ५००० प्रतियाँ, हाथों

हाथ बिक गई। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद भी हो गया है।

(१४) महायुद्ध में साम्राज्य-सेवा।

१९१४ में महायुद्ध छिड़ जाने पर, आपने देशवासियों को ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता के लिए उत्तेजित किया। फल यह हुआ कि जनता ने तन-मन-धन से साम्राज्य की सहायता की। कारावास में आपका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था; इसलिए इस वर्ष आप कोई दूसरा कार्य न कर सके। दूसरे वर्ष कांग्रेस की बिखरी शक्तियों को एकत्रित कर आपने सन् १९१६ के लखनऊ के अधिवेशन में कांग्रेस में नया उत्साह और संगठन-शक्ति उत्पन्न कर दी। इसी अधिवेशन में कांग्रेस-लीग-स्कीम उपस्थित की गई जिसके फल-स्वरूप देश को नवीन सुधार मिले हैं।

(१५) स्वराज्य-प्रचार।

उसी वर्ष लोकमान्य ने 'स्वराज्य-संघ' स्थापित किया और जगह जगह उसका प्रचार किया। पूना के मजिस्ट्रेट ने लोकमान्य के कुछ व्याख्यानों को विद्रोहात्मक बताया और उनसे जमानत माँगी। पर, हाइकोर्ट में अपील करने पर, मुक़दमा रद्द कर दिया गया। इससे स्वराज्य-प्रचार का दरवाजा खुल गया और जगह जगह स्वराज्य का नाद होने लगा। सन् १९१७ के अगस्त मास में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने दायित्वपूर्ण-शासन-सम्बन्धी घोषणा प्रकाशित की जिससे देश भर में अपूर्व उत्साह फैल गया। अब आपने लन्दन जाने की तैयारी की। वहाँ आप दो विचारों से गये थे। एक तो शिरोल-केस के सम्बन्ध में, और दूसरे वहाँ की जनता को भारत की वस्तु-स्थिति दिखाने के विचार से। यद्यपि आप शिरोल-केस में हार गये; पर आपने विलायत में प्रशंसनीय देश-सेवा की। वहाँ लेबर-पार्टी से मिलकर खूब आन्दोलन किया। 'डेली हेराल्ड' द्वारा भारत की दशा का यथार्थ ज्ञान विलायत-वासियों को कराया और पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित कीं। आप स्वयं प्रेसीडेन्ट विल्सन से मिले और संधि-कान्फरेन्स को लम्बा पत्र लिखा। इस प्रकार जहाँ-तहाँ भारतवर्ष की चर्चा फैला दी। देश को लौटते ही, आप सीधे अमृतसर कांग्रेस में सम्मिलित होने गये और वहाँ नवीन सुधार पर अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया जो सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ। साथ ही, आपने यह भी बतलाया कि हमको नवीन सुधार में जो कुछ दिया गया है उसे हम स्वीकार करेंगे।

(१६) अन्तिम स्मरण।

गत २३ जुलाई को आपकी ६४ वीं वर्ष-गाँठ बड़े समारोह के साथ मनाई गई। उस समय कौन जानता था कि आप इतने शीघ्र यहाँ से उठ जावेंगे? अभी देश को आप सरीखे नेता की बड़ी भारी आवश्यकता थी। पर होना वही था जो हो चुका। अपने अंत समय तक आपने धैर्य नहीं छोड़ा। कड़ी बीमारी में भी आप विचलित नहीं हुए। अन्त अन्त तक आप कहते रहे कि अब स्वास्थ्य अच्छा है। मृत्यु होने के थोड़े ही पहिले आपने गीता का यह श्लोक कहा था—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

बस, यह कह कर, थोड़े ही समय बाद, आप ने अपना नश्वर शरीर ३१ जुलाई को रात्रि को १२.४५ पर छोड़ स्वर्ग को प्रस्थान किया। आपकी मृत्यु का दुःखद समाचार सुन देश भर में शोक छा रहा है।

लोकमान्य पूर्ण कर्मयोगी थे। उनका धार्मिक विश्वास अत्यन्त गहन था। वे अब स्थूल शरीर से इस देश में नहीं हैं; पर उनकी आत्मा ने देश के प्रत्येक हृदय में अपना विशेष स्थान पा लिया है जो चिरकाल तक बना रहेगा। इतना ही नहीं, जब तक भारत का अस्तित्व है, जब तक "स्वराज्य" शब्द संसार के इतिहास में बना है, जब तक "ओरायन" और 'आरक्टिक होम इन दी वेदाज़' का मान संसार के विद्वानों के हृदयों में स्थान पा रहा है, जब तक गीता का सन्देश भारत में सुनाई देता है और जब तक देश-भक्ति का गुण संसार में वर्त्तमान है, तब तक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का नाम मिट नहीं सकता।

शोक—बधाई।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल० एल० बी०)

सुखी हो भारत के दुख-मूल!
आज उठ गया जगतीतल से तेरे हिय का शूल॥१॥
तेरी करतूतों की माया,
डाल न सकी जहाँ निज छाया,
उसी हृदय पर आज छागये मृत्यु-मेघ विष-तूल॥२॥
भारत-माता के सुभाल का,
राष्ट्र-नीति-कुंकुम विशाल का,
दिव्य तिलक मिट गया हुआ है तुझे दैव अनुकूल॥३॥
देव—तुल्य भारत का नेता,
कर्म—योग का सिद्ध विजेता,
रहा नहीं जो उड़ा रहा था कुटिल-नीति की धूल॥४॥
शक्ति—चक्षु की जो अंजन थी,
जो तेरे मद की गंजन थी,
उसी सिंह—गर्जन से तुझको अब न उठेगी हूल॥५॥
रहा न वह जिसके आते ही,
निष्कामुकता लख पाते ही,
बन जाते थे फूल देश—हित तेरे बये बबूल॥६॥

लोकमान्य के कुछ स्फुट विचार।

(१)

यदि भारतवर्ष सुखी हो जावे, तो इंग्लैण्ड को भी एक प्रकार की कीर्ति, एक प्रकार का बल और एक प्रकार का महत्त्व मिलेगा।

(२)

हमें यह भलीभाँति निश्चय हो गया है कि ब्रिटिश को छोड़कर कोई दूसरी जाति हमारे साथ न तो भलाई कर सकती है और न हमारी उन्नति में सहायता ही पहुँचा सकती है।

(३)

सरकार के लिए अपनी जान न्यौछावर कर दो, सब तरह से उसकी सहायता करो; पर यह

न भूल जाओ कि स्वराज्य ही हमारा ध्येय है और इसीमें हमारा भला है।

(४)

जो लोग सरकार के लिए लड़ते हैं उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि वे अपने अधिकार के लिए युद्ध कर रहे हैं, न कि अपने ही गले में फाँसी लगाने के लिए।

(५)

हमारी राजनीति में दो नये शब्दों का प्रवेश हाल ही में हुआ है। वे हैं—'नरम' और 'गरम'। इन शब्दों का सम्बन्ध समय के साथ अति घनिष्ठ है, और इसलिए वे समय के साथ बदलते रहेंगे। जो आज 'गरम' कहलाते हैं वे कल उसी प्रकार कहे जावेंगे जिस प्रकार कि जो मनुष्य आज 'नरम' कहे जाते हैं कल 'गरम' कहे जाते थे। इस प्रकार आप देखते हैं कि **गरम** उन्नति का द्योतक है। हम आज 'गरम' कहे जाते हैं; परन्तु हमारी सन्तान स्वयं, अपने को 'गरम' कहेगी और हमें 'नरम'। प्रत्येक नया दल आरंभ में 'गरम' कहाता है और अन्त में 'नरम' कहा जाने लगता है।

(६)

राजनीति में उदारता नहीं होती। स्वार्थ की घोषणाओं पर शक्कर की चाशनी चढ़ाने में उदारता का उपयोग किया जाता है।

(७)

महाभारत में लिखा है कि यहाँ तो श्रीकृष्ण संधि के लिए कौरवों के पास गये थे और वहाँ कौरव और पाण्डव दोनों ही इसलिए सैन्य-संग्रह कर रहे थे कि यदि संधि न हुई तो उस दशा में युद्ध करेंगे। बस, यही राजनीति है।

(८)

जब कोई जनता शिक्षित हो जाती और यह जानने लगती है कि अब हमें अपना काम स्वयं सम्हालना चाहिए तब यह एक स्वाभाविक बात है कि वह प्रबन्ध करने के लिए अपना वह अधिकार माँगती है जिसका उपयोग दूसरे लोग कर रहे हैं।

(९)

हमारे काम-काज के प्रबन्ध का अधिकार हमारे ही हाथ में रहे, इसकी माँग करना ही स्वराज्य है।

(१०)

तात्पर्य यह कि मैं अपने देश में मालिक होकर, न कि गैर बनकर, ठीक उसी प्रकार रहना चाहता हूँ जैसे कि अंग्रेज लोग अपने देश या उपनिवेश में अपने मालिक होकर रहते हैं।

(११)

(स्वदेशी के प्रचार के लिए) हमें सबसे पहिले स्वावलम्बी, फिर दृढ़-निश्चयी और अन्त में आत्मत्यागी होना चाहिए।

(१२)

हमें "गीता" से यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को इस संसार में कर्म करना चाहिए। चाहे किसीने अपने ज्ञान या भक्ति से ईश्वर को भी पा लिया हो तब भी उसे इस संसार में कर्म करना चाहिए।

(१३)

स्वराज्य प्राप्त करना हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। इतना ही नहीं, मैं यहाँ तक कहता हूँ कि वह हमारा 'धर्म' है। जिस प्रकार कि कोई मनुष्य अग्नि से ताप दूर नहीं कर सकता वैसे ही कोई हमसे 'स्वराज्य' अलग नहीं कर सकता।

(१४)

यदि तुम स्वाधीन होना चाहते हो तो स्वाधीन हो सकते हो; परन्तु यदि तुम स्वाधीन होना नहीं चाहते, तो नीचे गिरोगे और सदैव ही गिरे रहोगे।

(१५)

आपको सुबह-शाम, उठते-बैठते, सदैव यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं अपना जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त करने के लिए भर-सक प्रयत्न करूँगा।

(१६)

अपने ही घर का प्रबन्ध करना तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। कोई दूसरा उसका अधिकारी तब तक नहीं हो सकता जब तक कि तुम नाबालिग या पागल न होओ।

(१७)

भारतवर्ष को स्वराज्य दे देने में ही ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और भलाई है।

(१८)

अब हमें यह बताने की ज़रूरत नहीं कि कठोर और कण्टकमय मार्ग आप लोगों के सामने है। आप लोग उसे निश्चल होकर अपने साहस से पार कीजिए। उसे पार करना कठिन है और इसीलिए वह पार करने योग्य है। मूल्यवान वस्तुएँ कठिनाई से प्राप्त होती हैं और जो सहज में प्राप्त हो जाती हैं वे मूल्यवान नहीं होतीं।

(१९)

कहावत है कि किसी मनुष्य ने तीन प्रश्न पूछे और दूसरे ने उन सब का एक ही उत्तर दिया। वे तीन प्रश्न ये थे—"घोड़ा अड़ा क्यों? पान सड़ा क्यों? पापड़ जला क्यों?" उत्तर मिला—"फेरा नहीं गया।" ठीक इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि हमारे देश में शराब का व्यापार क्यों कम नहीं किया जाता, जंगलों में मनुष्यों पर ज़ुल्म क्यों किये जाते हैं, शिक्षा के लिए रुपये क्यों खर्च नहीं किये जाते, इत्यादि तो इन सब प्रश्नों का एक उत्तर यही है कि तुम्हारे हाथ में कोई अधिकार नहीं है।

(२०)

बुद्धिमान्, विद्वान्, और विचारशील पुरुषों ने भारतवर्ष के कल्याण के लिए जो कुछ निष्कर्ष निकाला है वह 'स्वराज्य' है।

(२१)

जिस राष्ट्र में आगे बढ़ने के लिए क्षेत्र खुला हुआ है, अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है, वहीं अच्छे अच्छे गुणों की वृद्धि होती है।

(२२)

चाहे धर्म हो और चाहे राजनीति, किसी में भी, दृढ़ता की आवश्यकता होती है और चित्त की वह दृढ़ता साहस के बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

(२३)

कठिनाइयों से डरना मानो मनुष्यत्व से हाथ धोना है। कठिनाइयाँ हमें बहुत लाभ पहुँचाती हैं। वे हममें साहस का मंत्र फूँकती हैं और हमें आपत्तियों के सहन करने योग्य दृढ़ बना देती हैं। यदि किसी राष्ट्र के मार्ग में कठिनाइयाँ न आवें, तो वह उन्नत कदापि नहीं हो सकता।

(२४)

तुम्हें आवश्यकता है साहस की, और ऐसे साहस की जिससे कि तुम यह बतला सको कि अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए वैध आन्दोलन करना कोई राजद्रोह नहीं है। तुम इसी

साहस के साथ आन्दोलन करते जाओ, चाहे तुम्हें कितना भी भय क्यों न दिखाया जावे।

(२५)

वीर–पूजा से हममें साहस का गुण उत्पन्न होता है और वह साहस जिसके कारण वीर पुरुष आदरणीय माने जाते हैं। उससे हम कभी हताश नहीं होते। वीर–पूजा एक प्रकार का खाद्य है जिससे उत्साह और राष्ट्रीयता के भावों का बीज-वपन होता है।

(२६)

जब तक कि तुम कष्ट सहने के लिए तैयार नहीं हो, तब तक तुम्हें कुछ भी नहीं मिल सकता।

(२७)

तुम्हें अपने शासकों का अनुकरण एक बात में करना चाहिए। जैसे एक पुराने कलेक्टर के चले जाने पर दूसरा नया कलेक्टर उसका स्थान ग्रहण कर उसीके समान कार्य चलाने लगता है, वैसे ही एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के चले जाने पर दूसरे व्यक्ति को उसका कार्य-भार उठा लेना चाहिए।

(२८)

मैं उन मनुष्यों में से हूँ जिनकी यह सम्मति है कि भारतवर्ष की उन्नति उस समय बहुत शीघ्र हो सकेगी जब कि देश में मातृभाषाओं का प्रचार खूब बढ़ा दिया जाय।

(२९)

हम अपनी समाज के मनुष्यों पर अपनी ही भाषा द्वारा जितना अधिक प्रभाव डाल सकते हैं उतना अंग्रेज़ी के द्वारा नहीं।

(३०)

जिस राष्ट्र के हाथ में अपने देश को शिक्षित करने की बागडोर नहीं है उसकी सामाजिक, राजनैतिक और बुद्ध्यात्मक उन्नति कभी शीघ्र नहीं हो सकती।

(३१)

राष्ट्रीय शिक्षा की शालाओं में हमारा ध्यान सबसे पहिले धार्मिक शिक्षा की ओर जाना चाहिए। हमारा दूसरा कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि विद्यार्थी विदेशी भाषाओं के भार से मुक्त हो सकें। फिर हमारा ध्यान व्यावसायिक और राजनैतिक शिक्षा की ओर जाना चाहिए।

(३२)

अमेरिका में स्वाधीनता की घोषणा का इतिहास पाँचवीं और छठवीं कक्षाओं में पढ़ाया जाता है और इस प्रकार वहाँ के लड़के राजनीति में दक्ष बनाये जाते हैं।

(३३)

यदि तुम देश को एक सूत्र में बांधना चाहते हो, तो देशभर में एक राष्ट्र–भाषा का प्रचार करो। इससे बढ़कर दूसरी शक्ति नहीं है।

(३४)

धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्त्व है।

(३५)

हमें अपनी ही भूमि में राष्ट्रीयता उत्पन्न करनी चाहिए। राष्ट्र-प्रेमी होना मनुष्य का पहिला कर्त्तव्य है, धर्म और राज-निष्ठ होना दूसरा। अतएव राष्ट्र की सेवा करना ही हमारा पहिला कर्त्तव्य हो।

(३६)

स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है। जब तक कि यह भावना मेरे हृदय में जागृत है, तब तक मैं वृद्ध नहीं हूँ। इस इच्छा को शस्त्र भुला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता और हवा उड़ा नहीं सकती।



स्वर्गीय
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।



c c p. लोकमान्य के अन्तिम दर्शन।

लोकमान्य का "गीता-रहस्य"।

(लेखक-पं० रामदयालु तिवारी, बी. ए., एल. एल. बी.)

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

कर्म-योगी लोकमान्य तिलक ने, अपनी परिस्थिति की दुर्दमनीय प्रतिकूलता में, जिस बृहत् "गीता"–भाष्य की रचना की है वह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसपर भविष्य में, सदियों तक, वाद, विवाद, खंडन और मंडन चलता रहेगा। तत्त्व-चिन्तन-शील विद्वानों के लिए उनका यह भाष्य कितने महत्त्व की वस्तु है यह कहने के अधिकारी केवल वे ही पुरुष होंगे जिन्होंने आजीवन इस विषय का अभ्यास किया है। केवल संस्कृत जानने वाले दर्शन-शास्त्रज्ञों के लिए इसकी जाँच करना उतना ही कठिन है जितना कि केवल यूरोपीय तत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों से परिचित विद्वानों के लिए है।

तिलक महाराज में तत्त्व-चिन्तन-शीलता, विलक्षण विद्वत्ता, वाक्पटुता, मौलिकता, विचार-स्वातंत्र्य, आत्म-विश्वास इत्यादि जितने लोकोत्तर गुण विराजमान थे उन सभी का परिचय इसी एक ग्रन्थ से छिद्रान्वेषियों को भी मिल सकता है। अधिक न कहकर केवल इतना ही कह देना बस होगा कि शंकर, रामानुज, माधवाचार्य, वल्लभ, निम्बार्क इत्यादि भिन्न २ आचार्यों के लिखे हुए जितने गीता-भाष्य आज दिन प्रचलित हैं उन्हीं ग्रन्थों में तिलक महाराज के इस भाष्य को भी गौरव का स्थान प्राप्त होगा। यदि भविष्य के विद्वान् योगेश्वर कृष्ण की कही हुई गीता के सिद्धान्तों पर पक्षपात-रहित बुद्धि से विचार करेंगे, तो यह भी संभव है कि कर्मयोग-प्रतिपादक तिलक महाराज का गीता-भाष्य अन्यान्य भाष्यों से कहीं अधिक सर्वमान्य ठहराया जावे। लोकमान्य तिलक इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि गीता पर आज तक जितने भाष्य उपलब्ध हैं वे सबके सब सांप्रदायिक दृष्टि से लिखे गये हैं और इसी कारण भाष्यकारों ने गीता के सांप्रदायिक मथितार्थ निकालने के लिए कई स्थानों में श्लोकों के अर्थ की बड़ी खींचातानी की है। इसीसे इस ग्रन्थ के सच्चे रहस्य का उद्घाटन अब तक नहीं हो सका। वे यह भी लिखते हैं कि यह "गीता-रहस्य" ग्रंथ किसी भी व्यक्ति विशेष अथवा संप्रदाय के उद्देश से नहीं लिखा गया है। हमारी बुद्धि के अनुसार, गीता के मूल श्लोकों का जो सरल अर्थ होता है वही हमने लिखा है। ऐसा सरल अर्थ कर देने से यदि इसमें संप्रदाय की गंध आ जावे, तो वह गीता का है, हमारा नहीं।

चाहे जो हो, इस ग्रंथ को लिखकर विद्वान ग्रंथ–कर्ता ने इस विषय के अधिकारियों पर जो उपकार किया है वह शब्दों से प्रगट नहीं किया जा सकता। आज इस ग्रंथ को अपने सामने देख कर हमें कई बार यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन हो जाता है कि उनके पांच वर्ष का कारागृह-वास लोगों के लिए उनकी स्वच्छंद अवस्था से अधिक कल्याण-प्रद हुआ या नहीं। ज्योंही वे कर्म-क्षेत्र से अलग किये गये उनकी तत्त्वानुसंधायिनी बुद्धि कर्माकर्म के तत्त्वानुसंधान में लग गई। जूरी के द्वारा अपराधी ठहराये जानेपर उनके अंतःकरण से जो वाक्य निकले थे वे अब भी कई मर्मज्ञ लोगों को कंठस्थ हैं। उन्होंने कहा था—

"जूरी द्वारा अपराधी ठहराये जाने पर भी मैं विश्वास-पूर्वक कहता हूँ कि मैं निर्दोष हूँ। संसार के भाग्य की बागडोर ईश्वर के हाथ में है। अतएव यह संभव है कि जिस पक्ष का मैं समर्थन कर रहा हूँ मेरे कष्टों द्वारा उसका कल्याण-साधन करना उस अदृश्य शक्ति को अभीष्ट हो।"

उनके इन शब्दों पर विचार और चिन्तन करते हुए कम से कम इन पंक्तियों का लेखक यह कहने का साहस करता है कि उनके कारागृह-वास से निस्संदेह लोगों का विशेष लाभ हुआ। जिस बुद्धि से प्रेरित होकर वे संसार में अपना कर्तव्य करते थे उनका वह कर्म-योग-प्रतिपादन गीता-रहस्य के रूप में अन्यथा क्यों कर और कब प्रकट हुआ होता? उनके लोकोपकार-रत जीवन का मार्मिक रहस्य उनके देश-निवासियों को कब और किस प्रकार ज्ञात हुआ होता? उनके आध्यात्मिक जीवन की दिव्य झलक लोगों को किन प्रसंगों की अनुकूलता पाकर मिली होती? योगेश्वर कृष्ण के धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में गाये हुए सुधा-स्रावी समर-संगीत का मर्म कौन कब खोलकर दिखाता? इसीलिए कहना पड़ता है कि मंडाले जेल के क़ैदियों के कुत्सित-भावना-पूर्ण पंक-मय प्रदेश में यह पंकज खिला जिसके विकास से मनुष्य-जीवन का विकास उतना ही निश्चित है जितना कि उसके क्षय से मनुष्य जाति का क्षय भी निश्चित है।

पुत्र, पुत्रियों और स्वदेश प्यारी धर्म-भूमि का वियोग, कारागृह का परतंत्र वास, प्रणयिनी धर्म-पत्नी की अनुपस्थिति से एकांत और चिर वियोग, जरावस्था की शारीरिक अस्वस्थता, पुस्तकों का अभाव — इतनी बातों की प्रतिकूलता का सामना करते हुए भी गीता गौरव-प्रदर्शक यह ग्रंथ लिखा गया! पूना के एक लोकमान्य ब्राह्मण क़ैदी ने बेड़ियों की झनकार से आत्म-स्वातंत्र्य की वह मधुर स्वर-लहरी छेड़ दी जो सुननेवालों को अब भी सुनाई दे रही है।

लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य साढ़े आठ सौ पृष्ठों का एक बड़ा भारी ग्रंथ है। इसके मुख्यतः दो विभाग हैं। पहले विभाग में ग्रंथकार का गीता-तात्पर्य-निरूपण है। यह लगभग ६०० पृष्ठों में है। इस विभाग में ग्रंथकार ने अपना तात्पर्य सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क इत्यादि भाष्यकारों के गीता के तात्पर्य-संबंधी विचारों का बड़ी योग्यतापूर्वक खंडन किया है। इसके सिवा कर्म-जिज्ञासा, सुख दुःख-विवेक, आधिभौतिक सुखवाद, कर्मयोग और संन्यास, सिद्धावस्था और व्यवहार इत्यादि कई महत्व विषयों पर विचार करना पड़ा है। इस रहस्य-विभाग के दो विभाग हैं। पहले विभाग में गीता की अंतरंग परीक्षा है और दूसरे में बहिरंग-परीक्षा। कई इसाई मतावलंबियों का कहना है कि गीता का भक्तियोग बाइबिल से लिया गया है। बहिरंग-परीक्षा के इस विभाग में ग्रंथकर्ता ने इस बात को भी निर्मूल सिद्ध किया है। यह इतना एक अत्यन्त मनोरंजक विषय है। इस प्रकार यह रहस्य-विभाग समाप्त हो जाता है।

दूसरे विभाग में गीता के श्लोकों का सरल अर्थ है और आवश्यकतानुसार, स्थान स्थान पर विस्तृत टिप्पणियाँ भी दी हुई हैं जो विशेष महत्व की हैं। इन टिप्पणियों से यह मालूम

होता है कि श्लोकों के अर्थ करने में अन्य भाष्यकारों ने सांप्रदायिक बुद्धि से प्रेरित होकर कितनी खींचातानी की है और जहाँ वे सफल नहीं हुए हैं वहाँ उनका वह प्रयत्न कितने स्पष्ट-रूप से दिखाई देता है।

"गीता-रहस्य" के इस विभाग-परिचय के बाद थोड़े शब्दों में हम पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि गीता-तात्पर्य के विषय में स्वयं रहस्यकार का क्या विचार है।

विद्वान् पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्रस्थानत्रयी नाम से जो ग्रंथ प्रख्यात हैं उनमें उपनिषद्, वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता इन तीन ग्रंथों का समावेश किया जाता है। ये तीनों ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के माने जाते हैं और आध्यात्मिक ग्रंथों में इनका स्थान सर्वोच्च है। गीता में तो उपनिषदों का निचोड़ ही है। मेद इतना है कि उपनिषद् अधिकांश में निवृत्ति-प्रधान हैं और गीता-रहस्यकार की सम्मति में प्रवृत्ति-प्रधान है।

इन ग्रंथों की सर्वमान्यता का विचार करके भिन्न भिन्न संप्रदायों के आचार्यों ने इन पर अपना अपना भाष्य लिखकर अपने अपने मत का समर्थन किया है। इसी दृष्टि से गीता पर भी सभी आचार्यों ने अपने अपने मत समर्थन के लिए अलग अलग भाष्य लिखे हैं। तब यह देखने में आता है कि गीता ग्रंथ एक ही है; पर उसके भिन्न भिन्न तात्पर्य और उद्देश निकाले गये हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि एक ही ग्रंथ से निकलने वाले ये भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी सिद्धान्त किस प्रकार ठीक हो सकते हैं। प्रायः सभी भाष्यकारों का कहना है, चाहे वे ज्ञान-पक्ष वाले हों या भक्ति-पक्ष के समर्थक हों, कि गीता एक निवृत्ति-प्रधान ग्रंथ है। तब दूसरा और पहले से भी अधिक महत्त्व का प्रश्न यह उठता है कि अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए जिस गीता-ज्ञान का उपदेश दिया गया है उसे निवृत्ति-प्रधान क्यों होना चाहिए? रहस्य के ग्रंथकार को भी गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ने की प्रेरणा इसी संदेह-बुद्धि से हुई।

रहस्यकार के गीता-तात्पर्य-विषयक विचारों का परिचय देने के पहले यह बतला देना आवश्यक है कि पूर्व के भाष्यकारों ने गीता का क्या तात्पर्य निकाला है। शंकराचार्य की सम्मति है कि गीता निवृत्ति-प्रधान है। कर्मों के द्वारा यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद कर्मों का सन्यास कर देना मोक्ष-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। रामानुजाचार्य की सम्मति है कि यद्यपि गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का वर्णन है, तथापि आचार-दृष्टि से वासुदेव-भक्ति ही गीता का सारांश है। माधवाचार्य कहते हैं कि यद्यपि गीता में निष्काम कर्म के महत्त्व का वर्णन है, तथापि वह केवल साधन है और भक्ति ही अंतिम निष्ठा है। वल्लभाचार्य ने भी गीता को भक्ति-प्रधान माना है। निम्बार्काचार्य की भी गीता-तात्पर्य के विषय में यही सम्मति है।

इन आचार्यों के विचारों का यह थोड़ासा परिचय पाकर हमें यह कहना पड़ता है कि रहस्यकार का गीता-तात्पर्य उपरोक्त सिद्धान्तों में से किसी से नहीं मिलता और इस कारण वह एकदम नवीन और मौलिक है। ग्रन्थ-कर्ता ने इस पुस्तक का नामकरण इन शब्दों में किया है—

श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य या कर्मयोगशास्त्र। यह नाम ही उनके सिद्धान्त का परिचय आपही आप दे देता है। उनके विचारों का स्पष्टीकरण करने के लिए न हमारे पास इतना समय है, और न बुद्धि ही है। तथापि जब इस विषय को उठाही लिया है, तब थोड़ा बहुत लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है।

अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में रहस्यकार को और सभी आचार्यों से तो लड़ना ही पड़ता है; परन्तु उन्हें इसमें शंकराचार्य का विशेष साम्हना करना पड़ा है। जैसा कि कह आये हैं, शंकराचार्य का कथन है कि कर्म की उपयोगिता वहीं तक है जहाँ तक कि वे ज्ञान-संपादन में सहायक होते हैं। कर्मों के द्वारा एक बार जहाँ मनुष्य को ज्ञान होगया तहाँ उसे कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, कर्म-बंधन ही जन्म-मरण के कारण हुआ करते हैं। अतएव जब तक समस्त कर्मों का सन्यास न किया जावे, तब तक ज्ञानी भी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। कर्म गौण है और ज्ञान प्रधान है। शंकराचार्य अपने भाष्य में गीता का यही सारांश निकालते हैं।

रहस्य-कार को यह मत मान्य नहीं है। उनका कहना है कि गीता कर्मयोग का प्रतिपादन करती है और कर्मयोग का तत्त्व गीता में इतना व्यापक है कि योग शब्द ही गीता में कर्मयोग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। उनके तर्क का सिलसिला इस प्रकार आरंभ होता है।

जिज्ञासु अर्जुन ने बार २ कृष्ण भगवान से यह प्रश्न किया है कि महाराज, इधर उधर की बहुत सी बातों की उलझन में मुझे न डाल कर एक ही निश्चित मार्ग बतलाइये। यदि अर्जुन का यही आग्रह था, तो कभी संभव नहीं है कि कृष्ण ने गीता में दो चार मार्गों का प्रतिपादन किया हो; क्योंकि अर्जुन पूरी गीता सुनने के बाद स्वयं कहते हैं—"हे महाराज, मेरा मोह नष्ट हो गया। अब मैं विगत-संदेह हो गया हूँ।" तब यह स्पष्ट ही है कि अर्जुन को कोई एक निश्चित बात अवश्य मिल गई होगी, जिससे उसका संदेह अन्त में दूर हो गया। इससे यह निर्विवाद है कि गीता में एक ही तात्पर्य होना चाहिए।

तब यह प्रश्न उठता है कि वह तात्पर्य क्या है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रसंग में गीता का उपदेश दिया गया है उसकी कड़ी परीक्षा की जाय। दोनों ओर से पांडवों और कौरवों की सेनाएं कुरुक्षेत्र के रण-स्थल में उपस्थित थीं। शस्त्र-संपात का समय आ गया था। इसी समय अर्जुन अपने स्वजनों को वहाँ उपस्थित देखकर और यह विचार कर कि मुझे अपने स्वजनों का यहाँ वध करना होगा, सहसा अपने प्रस्तुत कार्य में विरक्त हो उठा और कहने लगा —"महाराज, मैं सब कर्मों का परित्याग करके द्वार २ भिक्षा माँगकर पेट भर लेना उचित समझता हूँ; पर इस युद्ध में शामिल होकर कुलक्षय करना उचित नहीं समझता। अतएव अब मैं इस युद्ध में प्रवृत्त न होऊँगा।"

अर्जुन की इस मूढ़ावस्था को देखकर भगवान् को गीता-ज्ञान देने की आवश्यकता हुई। इस गीता-ज्ञान का परिणाम क्या हुआ? अर्जुन युद्ध करने के लिए सहर्ष प्रवृत्त हो गया—"करिष्ये

वचनं तव।" ऐसी गीता का तात्पर्य निवृत्ति-प्रधान किस बुद्धि के अनुसार हो सकता है ?

यहाँ पर यह कह देना प्रासंगिक होगा कि रहस्य-कार ने गीता के मॉथतार्थ निकालने के लिए एक अत्यन्त प्राचीन और सर्वमान्य प्रणाली का अनुसरण किया है। यह प्रणाली इस प्रकार श्लोक-बद्ध है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

किसी भी ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय करने के लिए उक्त सात बातें साधन-स्वरूप हैं। ग्रंथ का आरंभ और अंत—इन दोनों का सबसे पहले विचार किया जाता है। जो तात्पर्य ग्रंथ के आदि और अंत में स्पष्टता से झलकता है वही उसका सरल अर्थ होता है। तत्पश्चात् यह देखना पड़ता है कि ग्रंथकार किस बात को बार २ कहा करता है। जिस बात को वह बार २ कहता है वही उसका प्रधान उद्देश रहा करता है। चौथा साधन यह देखना है कि एक ग्रंथ में अपूर्वता या नई बात क्या है। पाँचवाँ साधन फल है, अर्थात् यह देखना पड़ता है कि ग्रंथ के पढ़ने या सुननेवाले पर क्या परिणाम हुआ। छठवाँ साधन है अर्थवाद, और सातवाँ है उपपत्ति।

विस्तार-भय से हम यहाँ इतना ही कह कर इस विषय को छोड़ देते हैं कि यह श्लोक अत्यंत महत्त्व का है और इससे इस बात का परिचय मिलता है कि प्राचीन विद्वानों की ग्रंथ-निरीक्षण-प्रणाली कितनी तर्क-सिद्ध थी। इसी प्रणाली का अवलंबन रहस्य-कार ने गीता का तात्पर्य निकालने में किया है। पढ़नेवाले को यह प्रगट होगा कि उन्होंने इस नियम का पालन बड़ी योग्यता और सफलता के साथ किया है।

अब हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि उनके अनुसार गीता का तात्पर्य क्या है। वे कहते हैं कि गीता मनुष्य को ज्ञान-निष्ठ होकर संसार से विरक्त होते हुए कर्म-सन्यास कर देने का आदेश बिलकुल नहीं देती, प्रत्युत गीता का यह उपदेश है कि मनुष्य आजीवन चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार अपना कर्त्तव्य करता जावे। कर्म बंधक होते हैं। अतएव वे मनुष्य को, जन्म-मरण के चक्कर में डालने के कारण हुआ करते हैं सही; परन्तु उनका बंधकत्व नष्ट करने का एक उपाय है। मनुष्य अपनी इंद्रियों को विषयों से विरक्त करके साम्य-बुद्धि प्राप्त करता हुआ 'लाभालाभौ जयाजयौ" से उदासीन हो जावे। इस प्रकार निःसंग होकर वह साधारण मनुष्य के समान अपने सब शास्त्र-निर्दिष्ट कर्म किया करे। कर्म बंधक होते हैं यह विचारकर उन्हें एकदम छोड़ न बैठे, वरन उनका उपरोक्त रीति से निःसंग होकर आचरण करे; क्योंकि ऐसा करने से कर्म जारी भी रहते हैं और मोक्ष के मार्ग में वे कोई रुकावट भी नहीं डाल सकते।

प्रत्येक मनुष्य को इंद्रिय-निग्रह-पूर्वक साम्य-बुद्धि प्राप्त करते हुए ज्ञान-निष्ठ होजाना चाहिए; क्योंकि मोक्ष के लिए ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँ तक शंकराचार्य और रहस्यकार का कोई मतभेद नहीं है। परंतु इसके आगे शंकराचार्य का सिद्धान्त है कि ज्योंही मनुष्य को उपरोक्त ज्ञान प्राप्त हो जाय, त्योंही उसे सब

कर्मों का त्याग कर देना मोक्ष के लिए अत्यंत आवश्यक है और उनका कहना है कि गीता इसी कर्म-सन्यास-युक्त ज्ञान-निष्ठा का प्रतिपादन करती है। रहस्यकार का कहना है कि शंकर-भाष्य की भूल यही है। गीता इतना तो अवश्य कहती है कि ब्रह्मात्मैक्यत्व-ज्ञान मोक्ष के लिए अत्यंत आवश्यक है। परंतु गीता का यह भी कहना है कि इस प्रकार ब्रह्म-निष्ठ होकर भी मनुष्य निःसंग-बुद्धि से संसार के सब कर्म मृत्यु-पर्य्यंत करता रहे। गीता में ज्ञान, पातंजल-योग और भक्ति की चर्चा है सही; पर ये सब कर्म-योग की सफलता के लिए साधन-रूप है। गीता का अंतिम तात्पर्य ज्ञान-मूलक भक्ति-प्रधान कर्म-योग है।

तब प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्मात्मैक्य--ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही मोक्ष का द्वार खुल जाता है, तब कर्म करने की क्या आवश्यकता रह जाती है? मनुष्य के लिए मोक्ष ही सब कुछ है। यह प्रश्न अर्जुन ने स्वयं कृष्ण भगवान से किया है। इसका उत्तर रहस्यकार गीता के ही अनुसार यों देते हैं। एक तो कर्म त्याग करने का प्रयत्न करना ही उपहासास्पद और एक प्रकार से विडंबना मात्र है; क्योंकि कर्म कभी छूट ही नहीं सकते। कर्मों का सर्वथा छूट जाना इस शरीर के रहते असंभव है। फिर असंभव बात का प्रयत्न कोई क्यों करे? कर्मों का न छूटना जब निश्चित ही है, तब उनका आचरण मनुष्य सहर्ष क्यों न करे। केवल इतना ही ध्यान रहे कि निःसंग बुद्धि-द्वारा उनका बंधकत्व नष्ट कर दिया जाय। कर्म न छोड़ने के पक्ष में गीता की दूसरी दलील यों है—

संसार के साधारण लोग बड़ों का अनुकरण किया करते हैं। "महाजनो येन गतः स पंथाः" की नीति का पालन प्रायः प्रत्येक श्रद्धावान् मनुष्य किया करता है। इस जन-साधारण की धारणा का विचार करके प्रत्येक ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह भटके हुए संसार के लिए मार्ग-प्रदर्शक का काम करे। जिन कर्मों और आचारों के द्वारा वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है उन्हीं का आचरण करके लोगों के सामने आदर्श रखते हुए उन्हें भी मोक्षमार्ग में लाना प्रत्येक ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य है। यदि आत्म-रहस्य को समझ कर ज्ञानीजन संसारका परित्याग करदे और इस बात की परवाह न करे कि संसार के आर और लोग भी अपनी मोह और अज्ञान की दुरवस्था से मुक्त हो जायँ, तो कहना पड़ता है कि ऐसा मनुष्य ज्ञानी होकर भी स्वार्थी है। अतएव उसे चाहिए कि यद्यपि उसे स्वयं अपने लिये कर्म करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि लोकसंग्रह की दृष्टि से वह कर्म करता रहे। स्वयं भगवान् कृष्ण के नाम से प्रख्यात हैं। गीता में वे कहते भी हैं कि हे पार्थ! यद्यपि तीनों लोकों में भी मेरा कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहा है, तथापि लोकसंग्रह के विचार से मैं बार २ जन्म लेता हूं हूं और इस प्रकार मैं किसी न किसी कर्म में लगा ही रहता हूं।

इतने से 'गीतारहस्य' का सारांश संक्षेपमें पाठकों को विदित हो जावेगा। इस ग्रंथ में लोकमान्य तिलक ने गीता के प्रायः सभी भाष्यकारों का विरोध किया है। इसके साथ २ उन्होंने मीमांसकों की भी खबर ली है। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए आजकल के नये सुधा-

रकों को भी उन्होंने अप्रसन्न कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने विचारों में इस समय वे अकेले और अद्वितीय हैं। उनके प्रायः सभी ग्रंथों में यह विशेषता पाई जाती है। राजनैतिक आंदोलन के कार्य-क्षेत्र में यदि उनका जन्म न बीतता, तो न जाने उनकी विशाल बुद्धि से और भी कितनी ज्ञातव्य बातें प्रगट हुई होतीं। उनका जराजीर्ण भौतिक शरीर जल कर भस्म हो चुका है; परंतु उनका दर्शनीय अंतःस्वरूप "गीतारहस्य" के रूप में अब भी हमारे सामने प्रस्तुत है और सदैव रहेगा।

सुमेरु पर हमारे पितरों का निवास।

(लोकमान्य तिलक की खोज)

[लेखक—अध्यापक रामदास गौड़, एम० ए०]

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा*

नक्तं ददृश्रे कुहचिद्दिवेयुः।

ऋग्वेद १।२४।१०

भारत के हृदयाकाश का जो सततपूर्णचन्द्र अधिक श्रावण की काली प्रतिपदा को एकाएकी अस्त हो गया, राजनीति की रंगभूमि का जो अप्रतिम सूत्रधार खेल पूरा करने के पहले ही परदे की ओट में छिप गया, ब्रिटिश द्वीपों को अपनी प्रखर किरणों से उत्तप्त करनेवाला जो प्रभाकर अपनी रश्मियों को समेट अस्ताचल को चल दिया, जिस महान आत्मा ने उस दिन हमें सदा के लिए वियोगी करके इस नश्वर शरीर को तज दिया,—"तदात्मानं सृजाम्यहम्", "संभवामि युगे युगे" आदि आशा बँधाने वाली प्रतिज्ञाओं का उच्चारण करते करते अपने बन्दी-सहवासियों को रोते-बिलखते छोड़ बाहर हुआ है, जिस महात्मा के जी में, सोते-जागते, स्वतंत्र और बन्दी दोनों दशाओं में, देशहित की लौ लगी थी वह आज भवबंधनों से छुटकारा पाकर, आध्यात्मिक शक्तियों का पूरा स्वामी होकर, अपने प्यारे देश के भावी कल्याण से कभी विच्छिन्न नहीं हो सकता, हमारी सारी प्रार्थनाओं के होते हुए भी, देश के स्वतंत्र होने के पूर्व आध्यात्मिक शान्ति का उपभोग कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

हमारी इस अलौकिक धारणा के लिए कारण है, और प्रबल कारण है। अपने उत्कट परिश्रमी और विविध संकटमय जीवन में उस पुरुष सत्तम को तीन बार कारावास भोगना पड़ा; परन्तु बन्दी-दशा में भी वह एक क्षण के लिए देशसेवा से विरत नहीं हुआ। संकट की आँच में जब जब यह सोना तपाया गया कुन्दन हो चमका गया। अब वही मुक्तदशा में कैसे अकर्मण्य रह सकता है, जब कि उसका कार्यक्षेत्र हमारी आँखों से ओझल होते हुए भी बहुत विस्तीर्ण है और जब कि इन परिच्छिन्न इन्द्रियों के नष्ट होने से उसकी शक्तियाँ अपरिमित और अपरिच्छिन्न सी हो गयी हैं।

दूसरी और तीसरी बार के कारावास में अवकाश का सदुपयोग करके लोकमान्य ने दो काम किये जिन्हें, भारत के उद्धार हो जाने पर भी, राजनीति के समस्त संकटों के दूर हो जाने एवं युगान्तर उपस्थित हो जाने पर भी, लोकमान्य के इस पार्थिव उद्देश की सिद्धि हो जाने पर भी इस देवीप्रकृति-सम्पन्न आत्मा को कोई विचारशील भारतीय भूल नहीं सकता। इन दो अवसरों से दो बड़े मार्के के ग्रंथों का अवतार हुआ। पहले का नाम "वेदों में सुमेरु-निवास" [The Arctic Home in the Vedas] और दूसरे का नाम "भगवद्गीता-रहस्य" है। यह "रहस्य"

* ऋक्षों अर्थात् सप्तर्षियों को यहाँ "उच्चाः" अर्थात् सिर के ऊपर बताया है। यह सुमेरुमंडल में ही संभव है।

आजकल घर घर व्याप रहा है; क्योंकि गीता हमारी सभ्यता का प्राण है और "रहस्य" सरीखी व्याख्या आजतक हुई ही न थी। सुमेरु-निवास-वाली खोज यद्यपि अंग्रेज़ी जाननेवाले विद्वत्-संसारमें प्रसिद्ध है और प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों में समान रूप से बड़े ऊँचे दरजे का आविष्कार और अतुल आदर की वस्तु है, तथापि हिन्दी पाठक उससे कम अभिज्ञ हैं। इसी दृष्टि से हम आज उसकी चर्चा करेंगे।

संवत् १९५० के पहले संसार के समस्त अ-भारतीय विद्वानों की, विविध युक्तियों और प्रमाणों से, यह दृढ़ धारणा थी कि वेदों के प्राचीन से प्राचीन अंश ईसा से २४०० वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। उस वर्ष लोकमान्य ने "ओरायन" वा "अग्रहायण" नामक एक अपूर्व ग्रंथ अंग्रेज़ी में प्रकाशित करके अकाट्य युक्तियों और प्रमाणोंसे जो विशेषतः वैदिक ज्योतिष-सम्बन्धी थे यह सिद्ध कर दिखाया कि वेद के प्राचीन अंशों का संग्रह ईसा से साढ़े चार हज़ार वर्ष से कम का कभी हो ही नहीं सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस खोज ने एक नया मार्ग निकाला और पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोल दीं। इन के सिद्धान्तों का बड़ा आदर हुआ। स्वयं आविष्कारक को वेदों की प्राचीनताके प्रश्न को सुलझाने में अनेक और रहस्यों की झलक दिखाई दी। उसने खोज का काम अनेक झंझटों के होते भी, अपने अवकाश में जारी रखा। चार ही वर्ष पीछे, बम्बई सरकार की क्रोध की आग इनके बढ़ते हुए राजनैतिक प्रभाव और कार्य्यक्षेत्र को देखकर भड़क उठी और इनपर राजद्रोह का दोष लगाकर डेढ़ वर्ष का कठिन कारावास दिया गया। इस विद्वान के अनदेखे मित्र और इनकी खोजोंपर मुग्ध जगत्प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने उनके पास कारावास में अपना ऋग्वेद भेजा और अन्य पुस्तकें दिलवायीं और अन्ततः एक वर्ष के दंड के पीछे ही मुक्त करा देने में भी समर्थ हुए। छः वर्ष पीछे लोकमान्य ने "सुमेरु-निवास" नामक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें यह सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि अन्तिम प्रलय के पहले आर्य्यों के पितरों का निवास सुमेरु-मंडल में था जहाँ लम्बी रातें और लम्बे दिन होते थे और जहाँ कई दिनों तक उषाएँ आकाशमंडल में सुमेरु की परिक्रमा करती रहती थीं।

सुमेरु का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में आया है। श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और इतिहासों के भूगोल में प्रायः एक ही रीतिपर सुमेरु की चर्चा है। यह पर्वत है जो भूमि के मध्यभाग में स्थित है। इसकी ही सीध में, ऊपर, खस्वस्तिक पर, ध्रुव नामक तारा है जिसकी परिक्रमा सप्तर्षि उत्तानपाद आदि करते हैं। सुमेरु के चतुर्दिक् सूर्य्य परिक्रमा करता है। यह परिक्रमा सालभर में पूरी होती है। इससे सुमेरुपर छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता है। सुमेरुपर ही देवताओं का निवास है। यहाँ सदैव वसन्त ऋतु बनी रहती है। निदान इस भूलोक में सुमेरु ही स्वर्ग है।

यह सुमेरु कहाँ है? आजकल के भूगोल-ग्रन्थ में भी कहीं इसका पता है? यह किसी स्थान का नाम है अथवा कोरी कल्पना ही है? जब हम सुमेरु पर्वत के विषय में विचार करते हैं ये प्रश्न सहज ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं।

बड़े बूढ़ों के मुहँसे भी सुनते आये हैं और पुराणों की भी कथा है कि "उत्तराखंडमें" सुमेरु है जहाँ साल भर में एक ही रात और दिन होता है; परन्तु पाश्चात्य देशीय पढ़ेलिखे इन कथाओं की हँसी उड़ाने के सिवा इनमें कोई ऐतिहासिक या भौगोलिक तत्त्व नहीं पाते थे और हमें भी इनका महत्व समझ में नहीं आता था। कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने कभी कभी इनमें विकृत भौगोलिक तत्त्वों का सन्देह किया सही; पर स्वर्गीय तिलक ही का यह काम था कि उन्होंने इसे वैज्ञानिक रूप दिया और वे माया और अज्ञान के आवरण को हटाने में समर्थ हुए। इस कार्य्य में उन्होंने भूगर्भविद्या, पुरातत्त्व, ज्योतिष, गणित, भूगोल

आदि विज्ञानों के सिवा अपने यहाँ के वैदिक और संस्कृत साहित्य को मथकर जो बातें निकालीं वे डिमाई अठपेजी आकार के ४०० पृष्ठों की चुस्त इबारत में लिखी हैं जिनमें के प्रति पृष्ठ से हम पाँच शब्द भी लें, तो इस छोटे से लेख में हम उसका यथेष्ट सारांश देने में समर्थ न होंगे।

शब्द-विज्ञान, पुराण-विद्या (मैथोलाजी) तथा मानव-विज्ञान का अनुशीलन करके पाश्चात्यों की यह धारणा हुई है कि आर्य्य जाति कहीं मध्य-एशिया से ही यूरोप, ईरान और भारत में भिन्न भिन्न कालों में फैली, इसीसे पुरानी रीतियाँ, कहानियाँ और साधारण वस्तुओं, विचारों और सम्बन्धों के शब्द मिलते हैं। भूगर्भविद्या वालों ने यह भी ठहराया कि मनुष्यमात्र की जंगली दशा जब कि वह धातुओं का प्रयोग नहीं जानता था प्रायः ईसासे पाँच हज़ार बरसों से अधिक प्राचीन काल की नहीं है। मनुष्य अवश्य कहीं अधिक पुराना है और लाखों बरस पहले पृथ्वी पर था; परन्तु उसकी सभ्यता आज से सात हज़ार बरस से अधिक पहले की नहीं है।

भूगर्भविद्या से सिद्ध हो चुका है कि इस भूमंडल की रचना लाखों बरसों में हुई है और इस रचना-काल में अनेक बार ऐसे प्रलय हो चुके हैं जिनमें कुछ ही अंशों को छोड़ कर सारी धरती बरफ़ से ढक गयी थी और हरियाली और कीट, पशु, पक्षी एवं मनुष्यों का नाश हो चुका था। ऐसे प्रलय कम से कम दो अवश्य समझे जाते हैं। यद्यपि "प्रलय" शब्द से हम साधारणतया "जलमय" हो जाना वा डूब जाना और अन्य मतवाले अग्निवर्षा आदि उपद्रव समझते हैं, तथापि पाणिनि के अनुसार [केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ७।३।२] जब प्रलय शब्द से ही "हिम" के अर्थ में "प्रालेय" शब्द बनता है तब प्रलय में हिम और जल दोनों का "ओघ" असंगत नहीं है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। लगभग सभी जातियों की प्राचीन कथाओं में ऐसे प्रलय का वर्णन पाया जाता है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में "ओघ" के ही नाम से मनु के समय के जलप्लावन का निर्देश है, और यद्यपि अन्य स्थलों में भी यही कथा कही गयी है, तो भी कहीं यह नहीं बताया गया कि मनु-मत्स्य-संवाद वाली घटना किस स्थान में हुई। इतना पता अवश्य लगता है कि मनु की नाव जल के घटते समय हिमालय प्रदेश में ठहरी। बहुत संभव है कि पृथ्वी के उत्तरीय भागों में हिमाधिक्य से जलप्लावन दक्षिणी भागों में बढ़ गया हो और वहीं "ओघ" कहा गया हो। छन्द अवस्था में जो पारसियों का वेद है [वेंदिदाद, फर्गर्द २] अहुरमज्द ने (ईश्वर ने) 'विवन्हाओ' के पुत्र 'यिमसे' (**वैवस्वत यमसे**) कहा है कि "इस संसारमें हिम-प्रलय आवेगा, सारी धरती बरफ से ढक जायगी, निरन्तर पाला पड़ेगा, इसलिए गिरि-शिखरों, घाटियों और भयानक स्थानों से पशुओं और प्राणियों को हटाकर सुरक्षित स्थान में लेजा; क्योंकि आगे आगे जल की और उसके पीछे पीछे बरफ की बाढ़ आवेगी।" अन्य वर्णनों से पता लगता है कि इस बाढ़ से बचे बचाये मनुष्य भाग कर दक्षिण के देशों में आ बसे।

अन्तिम हिमप्रलय का समय अमेरिका के भूगर्भवेत्ताओं ने ईसा से लगभग आठ हज़ार बरस पहले रखा है और अब यही बात सर्वसम्मत हो रही है। ज्योतिष की गणना से भी यही निश्चित होता है कि पृथ्वी में जैसी ऋतु अब है अयनांश के पीछे खसकते रहने के कारण तेरह हज़ार * बरस पहले न थी और तेरह हज़ार बरस पीछे न होगी। एक और तरह के कम्पनमय भ्रमण के कारण यह गणना दस हज़ार बरसों के लगभग रह जाती है, अर्थात् दस हज़ार बरसों में पृथ्वी में ऐसा ऋतु-परिवर्तन हो जाता है—और यह एकाएकी नहीं, बरन धीरे धीरे होता है, कि जहाँ रहने योग्य आज अनुकूल ऋतु है वहाँ अत्यन्त शीत से या तो बरफ़ का साम्राज्य हो

* श्रीशारदा के तीसरे अंक में "संसारचक्र और लट्टू का खेल" वाले लेख में पाठक इस विषय का स्पष्टीकरण एवं चित्र पाएँगे।

जाता है अथवा अनेक प्रदेशों की तरह आग सी बरसने लगती है।

काल-गणना में इस सिद्धान्त के तथ्य को स्वर्गीय तिलक ने अपने यहाँ के युग परिमाण से मिलाया है। मनु और महाभारत के अनुसार कलि एक, द्वापर दो, त्रेता तीन और कृत [जिसका अर्थ "चार" है] या सत्ययुग चार हजार बरस के होते हैं और चारों मिलाकर दस हजार बरसों की एक चतुर्युगी हुई। संध्याओं को, जो प्रत्येक का दशमांश होती है, दूना करके जोड़ने से बारह हजार बरस होते हैं। पुराणों में इनकी टीका स्वरूप से करके, जो कि मानववर्ष से ३६० गुना बड़ा माना जाता है, इन्हें बहुत बढ़ा दिया गया है। तिलक महाराज ने इसपर पूर्ण मनन करके यह बतलाया है कि इन संख्याओं को मानव वर्ष ही मानना ठीक है। इस रीति से अन्तिम प्रलय यदि विक्रम से ८००० बरस पहले माना जाय तो असंगत नहीं जँचता और वैज्ञानिक अनुमान और पौराणिक कथा दोनों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

अब यह देखना चाहिए कि प्रलय के पहले या "युग" काल में आर्य जाति कहाँ रहती थी। यह मध्य एशिया है जहाँ आज भी गुमरूखंड (?) नाम का नगर विशेष है अथवा और कोई स्थान भारत और ईरान से अत्यधिक उत्तर में है? ऐतरेय ब्राह्मण [८।१४] में हिमालय से सुदूर उत्तर में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र के 'वैराज्य' का वर्णन है। उसी में अन्यत्र [८।२३] यह भी कहा है कि यहाँ देव लोग रहते हैं। रामायण [किष्किंधाकांड, ४३।३८] में भी उत्तरकुरु का वर्णन इसी ढंग पर है और महाभारत में भी इसका उल्लेख है। पतलीमूस (टालेमी) नामक प्राचीन यवन ज्योतिषी ने भी उत्तरकुरु (Ottorocorra) नाम के पहाड़, नगर और जाति का वर्णन किया है और लासेन के मत से मेगस्थनीज़ ने "Hyperborean" शब्द "उत्तरकुरु" के लिए ही व्यवहृत किया है। उत्तरकुरु का जैसा वर्णन है उससे सर्वतोभावेन यही सिद्ध होता है कि वर्णन करने वाले ऐतरेय ब्राह्मण के रचना-काल से अब तक उत्तरकुरु नामक वास्तविक भौगोलिक स्थान ऐसा अगम और दूर समझा गया है कि यहाँ इधर के लोगों का आना-जाना अत्यन्त कम होता था। यह स्थान यदि मध्य एशिया या समरकन्द होता तो ऐसी बातें उसके सम्बन्ध में न कही जातीं क्योंकि मध्य एशिया तो पास-पड़ोस का देश है। यहाँ से आना जाना इतिहास काल में कभी बन्द ही नहीं हुआ है। इसलिए अनुमान करना पड़ता है कि उत्तरकुरु आज कल के साइबेरिया का उत्तरी भाग है जो श्रीतकटिबन्ध या उत्तरध्रुव के पास, उत्तर महासागर के किनारे का भूभाग है।

ईरानी और हिन्दू प्राचीन साहित्य में मध्य एशिया का वर्णन द्वारा उत्तरकुरु, उत्तरमद्र आदि का विशेषतया होना इन्हीं दो जातियों के परस्पर सम्बन्ध पुराने परम्परा से प्राप्त है जिससे इनके आरम्भ का पता लग सकता है। अब प्रश्न आर्यों के उस ऐसी प्राचीन सामग्री का अभाव है। ये मध्य एशिया को आर्यों की जन्मभूमि मानने के लिए कोई दृढ़ युक्ति नहीं मिलती।

[illegible] वैज्ञानिकों की [illegible] सम्बन्ध से तिलक महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि (१) ईसा से पाँच हजार बरस पहले यूरोप में आजकल के यूरोपीय आर्यों के पूर्व पुरुष रहते थे परन्तु यह पता नहीं चलता कि वे यूरोप में ही कहीं से आकर बसे। (२) धातुओं का प्रयोग यूरोपियों को बाहर से सिखाया गया। (३) सिन्धु देश के निवासी उस समय यूरोपीय मनुष्यों से अधिक सभ्य थे। (४) दोनों हिम-प्रलयों के मध्यस्थ युग में जलस्थल का विभाग आजकल से बिलकुल भिन्न था और ध्रुव-प्रदेशों में ऋतु बड़ी ही मृदु और समान थी, सदा वसन्त ऋतु बना रहता था। गर्मियों में ठंडक और जाड़ों में सुखद गर्मी रहा करती थी। जिस ध्रुव प्रदेश में आज बर्फ के पहाड़ पानी में तैरते फिरते हैं, और निर्जन हिमाच्छादित वनस्पति-पशु मनुष्य-हीन भयंकर जलस्थल है, वहाँ उभय प्रलयों के मध्य

युग में फलफूलों से लदे उपवन, नदी, सरोवर आदि थे, जहाँ बारहों मास पशुपक्षी कल्लोल करते थे और सभ्य-जनाकीर्ण नगर-ग्राम थे। खेती बारी होती थी और मनुष्य सुख से रहते थे। इसी स्वर्ग सुख को हिम प्रलय ने सत्यानाश कर डाला। (५) प्रोफ़ेसर गीकी का अनुमान है कि पृथ्वी पर कम से कम पाँच हिम-प्रलयों और चार मध्य-कल्पों के चिह्न मिलते हैं, जिनमें से प्रायः हिम-प्रलय उतने ही दिनों तक रहते आये हैं जितने दिनों तक मध्यकालीन कल्प। (६) पृथ्वी की रचना से यह सिद्ध है कि भूखंड पहले पहल ध्रुवप्रदेशों में ही ठंढा हुआ होगा; अतः सृष्टि का आरंभ भी ध्रुवप्रदेशों में ही होना संभव है। ऐसी दशा में यदि वेदों से यह साक्षी मिले कि पुराकल्प में वा प्राचीन काल में आर्य्यलोग ध्रुव प्रदेश में रहते थे तो यह कहने की जगह नहीं होगी कि धार्मिक पक्षपात से यह बात गढ़ ली गई है।

इस धारणा पर आकर ग्रन्थकार ने वैज्ञानिक रीतियों से उन समस्त दृश्यों की कल्पना की है जो ध्रुवप्रदेश में रहने वाले मध्यकल्पवर्ती मनुष्यों को दृष्टिगोचर होंगे। जो पाठक गणित के प्रमाण चाहें वे मूलग्रन्थ * अवश्य पढ़ें। यहाँ न तो स्थानाभाव से देना संभव है और न साधारण पाठकों को वह रोचक ही होगा। **सारांश यह कि ध्रुव प्रदेश में जो मनुष्य ठीक ध्रुव पर होगा उसके लिए**

(१) सूर्य दक्षिण में निकलता है। तारों का उदयास्त नहीं होता, वे ध्रुव तारे के चारों ओर चक्कर लगाते रहते, और बराबर एक समान दीखते रहते हैं। खगोल का उत्तरी भाग किसी क्षण अदृश्य नहीं होता। दक्षिणी गोलार्द्ध कभी दीखता ही नहीं।

(२) वर्ष एक दिन और एक रात का होता है, प्रत्येक की अवधि हमारे छः महीने की होती है।

(३) एक ही सुबह और एक ही शाम होती है जो हमारे प्रत्येक दो महीने के बराबर होती है। एक ही स्थान में एक ही समय दो नहीं पड़ती। पौ फटना क्षितिज पर जहाँ आरंभ हुआ वहाँ से बराबर क्षितिज पर ही दाहिने वाले के दहने दहने प्रकाश फैलने लगा, २४ घंटों में परिक्रमा करके फिर उसी स्थल में पहुँचा। इतने में वहीं जो मंद प्रभा थी ज़रा और उज्ज्वल हो गयी और फिर वहीं परिक्रमा आरंभ हुई। इस तरह घड़ी की सुई की तरह गोल क्षितिज पर आठ परिक्रमाएँ हुईं। प्रभा बराबर बढ़ती गयी यहाँ तक कि एक अट्ठाईसवीं प्रदक्षिणा के आरंभ में सूर्य का बिम्ब क्षितिज पर झलकता दीखा और यह बिम्ब भी परिक्रमा करता हुआ बढ़ने लगा यहाँ तक कि दूसरी परिक्रमा तक पूरा बिम्ब दिखाई देने लगा। अब सूर्य भी बराबर परिक्रमा करता और ऊँचा होता जाता है। परंतु यह ऊँचाई थोड़ी ही होकर रुक जाती है फिर निचाई बढ़ने लगती है, धीरे धीरे हमारे छठे मास के अन्त में सूर्योदय की ठीक उलटी रीति से सूर्यास्त भी हुआ।

(४) सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों का दृश्य बड़ा मनोरम होगा। श्यामनीलिमायुक्त मृदुश्वेत से बदलते २ सुन्दर सुनहले, रक्त, पीत आदि रंगों की छटा बादलों के टुकड़ों के साथ कभी कभी जो हमें कुछ क्षणों के लिए बहार दिखा जाती है, वही मनोहर दृश्य वहाँ दो मास तक दीखता होगा। चार मास के प्रखर प्रकाश के पीछे की दो महीने की सांझ, आनेवाली चार मास की अँधेरी के कारण, जितनी निराशाजनक होगी उतनी ही सुखदायक और आशा-जनक प्रभात की मनोहर उषा भी होगी।

(५) रात पड़ जाने पर चन्द्रमा का दृश्य भी अपूर्व होगा। चन्द्रमा का बिम्ब पूरे पक्षभर परिक्रमा करता और धीरे धीरे घटता-बढ़ता

* The Arctic Home in the Vedas (1903). pp. 39-60.

रहेगा। साथ ही, रात भी उतनी अँधेरी न होगी जितनी हमारी निरभ्र तारावली-मण्डित रातें होती हैं; क्योंकि वहाँ विचित्र वर्णों से रंजित विद्युत्पातका मनोहर प्रकाश होता रहता है।

परन्तु यह भूलना न चाहिए कि ठीक ध्रुवके पास का प्रदेश अत्यन्त थोड़ा हुआ। ध्रुवके इर्दगिर्द हज़ारों कोस के चक्कर में, ध्रुव से दूर जो मनुष्य होंगे उन्हें यह दृश्य कुछ भिन्न दीखेंगे। उनके दृश्यों की भी कल्पना आवश्यक है। इस महाद्वीप के अनेक अंशों में—

(१) सूर्य्य, देखने वाले के सिरके ठीक ऊपरी आकाश से, वा खस्वस्तिक से, सदैव दक्षिण ही रहेगा। तारे बहुत से तो परिक्रमा करते रहेंगे और उदय अस्त न होंगे और बहुतेरे उदय अस्त भी होते रहेंगे।

(२) वर्ष तीन भागों में बँटा होगा—(अ) एक लम्बीरात, जो जाड़े में मकर संक्रांति पर होगी और उस स्थान की देशान्तर-रेखाके अनुसार २४ घंटे से अधिक और छः महीने से कम अवधि की होगी। (इ) दूसरा, ठीक उतनाही लम्बा एक दिन जो कर्कसंक्रान्ति पर होगा। (उ) तीसरा साधारण रातदिन प्रत्येक २४ घंटों का, शेष वर्षभर, जिसमें लम्बी रात के पीछे जो पहला दिन होगा रातकी अपेक्षा अत्यन्त छोटा होगा, वही धीरे धीरे बढ़ेगा, रात घटती जायगी, यहाँतक कि गरमियों के आते आते रातें बहुत छोटी हो जायँगी और अंततः उस लम्बे दिन का आरंभ हो जायगा जो २४ घंटे से अधिक और छः महीने से कम अवधि का होगा। इस दिन के अन्त में अत्यन्त छोटी रात होगी और वह रात बढ़ते बढ़ते और दिन घटते घटते उस लम्बी रातका आरंभ होगा जिसकी अवधि ठीक लम्बे दिनके अनुमान होगी।

(३) उषाकाल जो लम्बी रातके अवसान में होगा कई दिनों का होगा; परन्तु देशान्तर रेखाके अनुसार ध्रुवकेन्द्र की उषाओं की अपेक्षा अवधि कम होगी। ध्रुवके पासके देशमें, केन्द्रसे सैकड़ों कोस दूर होते हुए भी, उषाओं की परिक्रमा और शोभा का दृश्य ध्रुवकेन्द्रका सा होगा, अवधि में ही अन्तर होगा, अर्थात् जहाँ ध्रुवपर हमारे दो मास की उषाएँ होंगी वहाँ पास के देश में एक मास वा कम अवधि की उषाएँ हो सकती हैं। जहाँ ध्रुवपर छः मास की रात होती है वहाँ उससे कुछ दूरीपर सात वा नव मास का दिन और पाँच वा तीन मास की रात हो सकती है। ज्यों ज्यों ध्रुव से दूर हटते हैं त्यों त्यों रातदिन के परिवर्त्तन में भेद पड़ता जाता है।

ये दोनों प्रकार के दृश्य ज्योतिष से सिद्ध हैं और ध्रुवस्थल के सनातन से एक ही केन्द्रपर बने रहने से ये अनुमान सदैव के लिए ठीक उतरते हैं।

जिन दृश्यों का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं हमारे श्रुति, स्मृति, पुराणों और इतिहासों में और साथ ही पारसियों के प्राचीन साहित्य में उनकी बार बार चर्चा है। जो वर्णन इस सम्बन्ध में पाये जाते हैं वे ऐसे शब्दों में हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि ज्योतिष और गणित द्वारा आर्य्यों के पूर्वजों ने कल्पना कर ली होगी। ऐसे स्थलों में श्रुति में बहुधा "पुरा" कल्प का निर्देश हुआ है और सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि तैत्तिरीय संहिता में [कांड ४, प्रपाठक ३, अनुवाक ११] तीस उषाओं का उल्लेख है जिसका ठीक मर्म न समझकर सायणादि भाष्यकारों ने उन्हें तीस दिन की अलग अलग उषाएँ मानी हैं, यद्यपि पन्द्रहवें मंत्र

"एका सती बहु धोषो व्युच्छसि—

अजीर्णा त्वं जरयसि सर्वमन्यत्"

में यह स्पष्ट हो जाता है कि उषाएँ अलग अलग दिनों की नहीं हैं, एक ही हैं। इसके सिवा इस के पहले के मंत्रों में "परियन्ति" (परिक्रमा करती हैं) "प्रयवेण" (साथ मिलकर चलती हैं) 'अनुसञ्चरन्ती' (आगे पीछे साथ साथ चलती हुई)

इत्यादि शब्द साफ़ कहे देते हैं कि यह तीस दिनों की तीस उषाएँ नहीं हैं, वरन एक लम्बे दिन के उषःकाल में तीस बार क्षितिज में परिक्रमा करने वाली उषाएँ हैं, और प्रत्येक परिक्रमा की उषा की अलग गणना करने से तीस हुईं; पर अन्त में यह स्पष्ट कर दिया गया कि ये एक ही उषा जिसके ये तीस रूप हैं। तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मण भाग [कांड ५, प्रपा० ३, अनुवाक ४। ७] में स्पष्ट कहा है कि

"न वा इदं दिवा न नक्तमासीद् व्यावृत्तं, ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन् ता उपादधत, ततो वा इदं व्यौच्छद्यस्यैता उपधीयन्ते व्येवास्मा उच्छत्यथो तम एवापहते।"

अर्थात् "न यह दिन ही था, न रात ही थी, अस्पष्ट था, उन देवताओं ने इन व्युष्टियों को [उपर्युक्त १५ मंत्रों के द्वारा शंसित उषारूपी ईंटों को] देखा, उन ईंटों को जोड़ दिया। तब यह प्रकाशित हो गया। इसीलिए जिस किसी के लिए ये ईंटें) रखी जाती हैं उसको प्रकाश मिलता है और (उसका) अन्धकार नष्ट हो जाता है।"

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उषएँ एक ही दिन की हैं, यद्यपि उनको परिक्रमा के क्रम से भिन्न रूप दिये गये हैं। और, तीस उषाएँ भी इसलिए कि यह वर्णन ध्रुव केन्द्र से किसी दक्षिण-वर्ती प्रदेश का है जहाँ ३० परिक्रमाओं पर ही सूर्योदय हो जाता था।

ग्रंथकार ने "नवग्व," "दशग्व," "सप्त आदित्य," "दीर्घ तमस," "प्रदक्षिणा," "अति-रात्र," "सप्तास्य बृहस्पति," "आदित्याना मयनम्," "दशमे युगे," "दशप्रपित्वे," "दशद्यु," "वृत्र", दिविष्टि" आदि पर खूब बहस की है और यह सिद्ध किया है कि मेरु प्रदेश का पंचांग वहाँ की परिस्थिति के अनुसार हमारे अबके पंचांग से बहुत कुछ भिन्न था। वे दो मास तक की लम्बी रात्रि को न गिनकर केवल दस मास का बरस मानते थे।

कहीं कहीं पाँच महीने रात्रि रहने के कारण सात मास के सात आदित्य कहे जाते थे जैसे हमारे युग में बारह आदित्य हैं। ऐसे स्थलों में वेदों में "पुरा" कल्प कहकर ऐसा स्पष्ट निर्देश है कि ये कथाएँ प्रलय के पहले की हैं जो परम्परा से प्राप्त हुई। ये मंत्र पुराने हैं वा इनका आशय पुरा कल्प का है; परन्तु शब्दावली नये कल्प की है।

प्राचीन वैदिक और संस्कृत साहित्य में जिस मेरु वा सुमेरु का जगह जगह पर वर्णन आया है वह मेरु "पृथ्वी के मध्य में" स्थित "उत्तराखंड" का मेरु यही ध्रुव वा ध्रुव-प्रदेश है। महाभारत वनपर्व में लिखा है—

एनं त्वहरहर्मेरुं सूर्याचन्द्रमसौ ध्रुवम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥
॥१६३॥३७॥

ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघ सर्वतः।
परियान्ति महाराज गिरिराजप्रदक्षिणम् ॥
॥१६३॥३८॥

स्वतेजसा तस्य नगोत्तमस्य, महौषधीनां च तथा प्रभावात्,
विभक्तभावो न बभूव कश्चिदहोनिशानां पुरुषप्रवीर।
बभूव रात्रिर्दिवसश्च तेषां, संवत्सरेणैव समानरूपः।
॥ १६३ ॥ १२,१३ ॥

मेरु की रात यद्यपि लंबी होती है, तथापि वह पर्वत "स्वतेजसा" और "महौषधीनां प्रभावात्" इतना प्रकाशमान है कि दिनरात में भेद नहीं पड़ता।

तैत्तिरीय आरण्यक में [१,७] अदिति के आठ पुत्र ("आरोगो भ्राजः पटरः पतंगः। स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः। ......कश्यपोऽष्टमः। समहामेरुं न जहाति। त अस्मै सर्वे कश्यपाज्ज्योतिर्लभन्ते") गिनाये हैं।

यही आठ आदित्य हैं जिनके नाम "आरोग, भ्राज, पटर, पतंग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान्, विभास और कश्यप" हैं। इनमें से सात तो परिक्रमण करते हैं। आठवाँ कश्यप है। वह महामेरु को नहीं छोड़ता। हम सब लोगों को (सातों आदि-

त्यों के लिए जानेपर वा लंबी रात पड़ जानेपर) कश्यप से ज्योति मिलती है।

सायण आदि कोई भी इस आठवें पुत्र की ठीक व्याख्या न कर सके। यह कश्यप जो सुमेरु को नहीं छोड़ता उसके "स्वतेज" का कारण है और यही आजकल के वैज्ञानिकों का "विद्युत्पात" [Aurora=उषा, *Borealis*=उत्तरीय] वा उत्तरीय उषा है जो रात के दीर्घतमस को मिटाती और सुमेरु को प्रकाशित रखती है।

ग्रंथकार ने जितने प्रमाण अपनी प्रत्येक धारणा के लिए दिये हैं वे वस्तुतः उनकी अद्भुत प्रतिभा और प्रगल्भता के परिचायक हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार यदि आर्य्यजाति का इतिहास लिखा जाय, तो काल-विभाग इस प्रकार होगा—

विक्रम से पहले

१०,०००—८,००० वर्ष—सुमेरुखंडमें अन्तिम हिम-प्रलय और प्रलयानन्तर वा प्रलय के युग का आरंभ।

८,०००—४,००० वर्ष—सुमेरुखंड से आर्य्यजाति का निष्क्रमण। शेष आर्य्यपितरों का एशिया और यूरोप के उत्तरी भागों में नया अधिवास। उससे भी अच्छे भूभाग की खोज। उस समय पुनर्वसु नक्षत्र में सूर्य्य का प्रवेश होने पर वसन्त-सम्पात होता था। इसे अदिति-काल कहना चाहिए।

४,०००—३,००० वर्ष—इस समय वसन्त-सम्पात मृगशिरा में था। वैदिक ऋषियों के अनेक मंत्र इसी समय कहे गये और उनमें "पुरा" कल्प की कथा ग्रथित हुई। पंचांग और यजन रीति का संशोधन हुआ।

३,०००—१,४०० वर्ष—वसन्त-सम्पात कृत्तिकाओं में था। तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों का अधिकांश इसी समय बना। संहिताओं में सूक्तों का संग्रह इसी काल के आरंभ में हुआ। सुमेरु का परम्परा अस्पष्ट और मंत्रों के अर्थ दुरूह हो गये। वेदांग ज्योतिष का निर्माण, वा कम से कम अयनसम्पातों पर विचार और संशोधन।

१४००—५००—बौद्धकाल के पूर्व सूत्रों और दर्शनों का आविर्भाव।

जिस प्रकार उपर्युक्त निष्कर्ष निकाले गये उनसे यह भी परिणाम निकलता है कि युग के गणनानुसार जिसे अदितिकाल कहा गया है है, अर्थात् विक्रम से ८,०००-४,००० वर्ष, उसे कृत युग वा सतयुग कहना चाहिए जिसमें स्थानकी खोज में आर्य्यजाति घूम रहा था।* पीछे के काल को त्रेतायुग कहना चाहिए जिसमें भिन्न भिन्न देशों में आर्य्य जाति बस गयी। उनमें से एक भारतवर्ष भी हुआ। विक्रमसे पहले एक हजार वर्ष तक द्वापर समझा जाना चाहिए और विक्रम तक कलियुग। पुराणोंकी रचना वा संग्रह वास्तविक कलियुग के अन्त वा सत्ययुग के आरंभ में हुआ; परन्तु देश की दशा और काल पर विचार करके पौराणिकों ने अपना होना कलियुग में ही समझा एवं वर्ष को देववर्ष वा मानववर्ष का ३६० गुणा करके कलि की आयु अत्यधिक बढ़ा दी।

ऊपर जितनी बातें कही गयी हैं उनकी पुष्टि में तिलक महाराज ने छन्द अवस्था के भी प्रचुर प्रमाण दिये हैं। इन प्रमाणों से यह ग्रन्थ भरा पड़ा है।

इन प्रमाणों के अध्ययन में इन प्रतिभाशाली विद्वान् ने देशविदेश के विद्वानों से सहायता, परामर्श आदि लेने में कोई बात उठा नहीं रखी।

---

* कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
—ऐतरेय ब्राह्मण, ७ । १५

भारत के एक छोर से दूसरी छोर तक वे घूमे। विद्वानों से खोज खोजकर विचार किये और कट्टर सनातनधर्मी होनेपर भी तनिक भी पक्षपात या साम्प्रदायिक भाव से अपने विचारों को कलुषित नहीं होने दिया। इस ग्रंथ की रचना सचमुच एक बड़े साहस की बात है और यह आविष्कार इस शताब्दी की आविष्कारमाला का वास्तविक सुमेरु हो गया है।

अविचार।

(लेखक—बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०)

औ[illegible] [illegible]नकी के विवाह में निमंत्रण पाकर [illegible] मैं [illegible] गया। वहीं कमलाकान्त बाबू से मेरा परिचय हुआ। कमलाकान्त बाबू का स्वभाव बड़ा गंभीर था। लोगों से मिलने-जुलने में कम थे पर यदि किसी से उनका परिचय हो जाता, तो उससे खूब बातें करते। उनका हृदय दया का आगार था। दूसरों के दुःख की कल्पनामात्र से वे व्यथित हो जाते थे। इन्हीं के सम्बन्ध में एक बार उन्होंने मुझसे एक बड़ी हृदयद्रावक कथा कही। मैं कह नहीं सकता कि वह उनके मस्तिष्क की उपज थी, यथार्थ घटना थी अथवा किसी आख्यायिका-लेखक की कल्पना थी। पर उससे उनकी सहानुभूति अवश्य प्रगट होती है। वे कहानी नहीं कहा करते; पर उस दिन एक ऐसी घटना ही होगई कि उन्हें वह कहानी कहनी पड़ी। बात ऐसी हुई—

विवाह-विधि के सम्पन्न हो जाने पर मैं पुरुषोत्तम बाबू के यहाँ गपशप करने के लिए गया। वहाँ मालूम हुआ कि पार्वती का नथ खोगया है। मैंने अपनी बहुज्ञता दिखलाने के लिए कहा, "देखो, मैं इसका पता लगा देता हूँ।" इतना कहकर मैंने कागज़ कलम लेकर एक कुण्डली बनाई और कुछ गणना करने लगा। कमलाकान्त बाबू एक कोने में बैठे चुपचाप देख रहे थे। कुछ इधर-उधर दो चार लकीरें खींच कर मैंने कहा—"[illegible]।" मैं आगे कुछ कहना चाहता था कि कमलाकान्त बाबू ने उठकर कहा, "बस, किसी के जीवन के साथ उपहास मत करो। मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, इतना तुच्छ नहीं है कि वह तुम्हारे उपहास की सामग्री हो।" मैं घबरा गया और मेरा मस्तक नत हो गया। कमलाकान्त बाबू ने फिर कहा "सुनो, मैं तुम्हें एक ऐसी ही घटना सुनाता हूँ।" कमलाकान्त बाबू कहने लगे:—

सुशीला ने उच्च कुल में जन्म लिया था। उसका बाल्यकाल महलों में, दास-दासियों के संरक्षण में, व्यतीत हुआ था; पर दैव के विपर्यय से उसे अपनी प्रौढ़ावस्था में दुर्दिन देखने पड़े। उसके पिता ने उसको एक सुयोग्य पति के हाथों में समर्पण कर, कन्या—ऋण से मुक्त होकर, परलोक-वास किया। माता की मृत्यु बाल्यकाल में ही हो गई थी। इस प्रकार जब ३५ वर्ष की अवस्था में वह मातृ-पितृ-सुख से वंचित होगई तब उसका पति उसे छोड़कर सदा के लिए चल बसा, तब वह सुख-सौभाग्य-विहीन हो सर्वथा निराश्रय होगई। गोद में पाँच साल का एक लड़का था। इसके पहिले दो लड़के और हुए थे; पर उनकी शैशवकाल में ही मृत्यु होगई। निस्सहाय होकर शहर में रहना असम्भव था। इसलिए उसने अपने एक मामा का आश्रय

ग्रहण करना ही समुचित समझा। उसके मामा पास के एक गाँव में रहते थे, बड़े धनी और प्रतिष्ठित थे। सुशीला एक बैलगाड़ी लेकर रवाना हुई और १२ बजे दिन को वह अपने मामा के घर पहुँच गई।

उस दिन उसके मामा के यहाँ पुत्र-जन्म का उत्सव हो रहा था। विराट् आयोजन था। दूर दूर के रिश्तेदार आये थे। घर में खूब चहल पहल थी। स्वर्णालंकारों से भूषित स्त्रियाँ कभी इधर और कभी उधर आ जा रही थीं। बाहर भिक्षुकों की भीड़ थी और खास कमरे में इष्ट मित्रों की। सुशीला ने भीतर जाकर अपनी मामी को प्रणाम किया, पर वह अपने काम में ऐसी व्यस्त थी कि उसने इसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। बिचारी सुशीला एक कोने में जाकर बैठ गई। दो घंटे होगये। किसी ने उससे एक बात तक नहीं पूछी। लड़का खाने के लिए हठ करने लगा। सुशीला अपने साथ कुछ मिठाई लाई थी। उसीको देकर उसने लड़के को शान्त किया। तीन बजने के बाद उधर से एक रमणी निकली। उसने सुशीला को देख कर कहा, "सुशीला, तुम हो! कब आई?" सुशीला ने उत्तर दिया, "अभी तो आई हूँ, कुछ ही देर हुई है।" रमणी ने पूछा, "आज बड़ी गड़बड़ है। तुमने तो कुछ खाया पिया न होगा।" सुशीला ने लज्जित होकर कहा, "नहीं।" "देखो, मैं कुछ लाती हूँ" कह कर वह रमणी चली गई। थोड़ी देर में वह एक पत्तल में कुछ मिठाई और पूरियाँ ले आई; पर वे न जाने कब की बनी थीं। उनसे बड़ी दुर्गन्धि आती थी। सुशीला भूख से व्याकुल थी। उसने किसी तरह उनसे ही अपनी क्षुधा शान्त की।

पाँच बजे घर में बड़ा हल्ला हुआ। किसी ने कहा— "अभी तो वह यहीं खेल रहा था।" दूसरे ने कहा—"मैंने अभी तो उसकेगले में हार देखा था।" किसी तीसरे की आवाज आई—"फिर ले कौन गया? बाहर का तो कोई आदमी आया नहीं"। सुशीला भी हल्ला सुनकर भीतर गई। उसे देखकर उसकी मामी ने कहा, "यह तो बड़ा अन्धेर है।"

सुशीला ने पूछा— "क्या हुआ मामी?"

मामी— "क्या हुआ? जैसे तुम कुछ जानती ही न हो।" सुशीला सहम कर खड़ी हो गई।

एक रमणी ने कहा— "लल्ला अभी यहीं खेल रहा था। उसके गले का हार किसी ने उतार लिया।"

मामी बोल उठी— "मैं जानती हूँ, सब पहचानती हूँ, किसने हार निकाल लिया है। भला चाहे तो वह दे दे। बाहर का कोई आदमी आया नहीं है।"

दूसरी रमणी— "हम लोग इतने दिनों से हैं, पर ऐसी चोरी कभी नहीं हुई।"

एक दासी ने कहा— "यह तो आफत है। हम लोग गरीब हैं, हमीं पर सब सन्देह करेंगे।"

मामी— "तुमसे कौन कहेगा? इतने दिन काम करते होगये, कभी एक तिनका इधर का उधर नहीं हुआ।"

दासी— "सभी तो कहती हूँ, माजी! अब तो यहाँ रहना मुश्किल हो गया। ऐसी होगी तो हम लोगों का ठिकाना कहाँ?"

मामी— "अच्छा, उन्हें आ जाने दो। भेद खुल जायगा।"

सब स्त्रियाँ चली गईं। सुशीला बैठी रही। थोड़ी ही देरके बाद एक वृद्धा आई और उससे कहने लगी, "बहिन, एक बात कहती हूँ, बुरा तो न मानोगी?"

सुशीला—"कहो ना।"

वृद्धा—"बात यह है कि यदि तुमने हँसी करने के लिए हार निकाल लिया हो, तो मुझे दे दो। मैं चुपचाप जाकर दे आऊँगी। किसी को मालूम नहीं होगा।"

सुशीला चकित होकर बोली—"मैं हार निकालूँगी?"

वृद्धा—"हँसी के लिए सब किया करते हैं।"

सुशीला—"मैं मर जाऊँगी; पर दूसरे की चीज़ नहीं छुऊँगी।"

वृद्धा—"मैं समझाकर कहती हूँ, तुम मेरी बेटी के समान हो। नहीं तो इसका अच्छा फल नहीं होगा।"

सुशीला रोने लगी। तब वृद्धा उठ कर चली गई।

इसके बाद उसकी मामी आई और उससे कहा, "जरा खोजो तो, लज्जा का हार कहाँ गिरा है।"

सुशीला बोली—"मामी, मैंने तो लज्जा को अभी देखा तक नहीं है। कहाँ खोजूँ?"

मामी क्रुद्ध होकर बोली—"चालाकी छोड़ो। कहीं से खोजकर हार निकाल दे। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। उन्हें मालूम होगा तो न जाने क्या कर डालेंगे।"

सुशीला ने अपने बच्चे के सिर पर हाथ रख कर कहा—"मामी," मैं शपथ खाकर कहती हूँ, मैं कुछ नहीं जानती"। मामी क्रुद्ध होकर चली गई। सुशीला रोकर कहने लगी "भगवान," मैंने कौन से बुरे काम किये हैं जिनके फल मुझे दे रहे हो। प्रभो, तुम्हीं मेरा कलंक दूर करो।"

इतने में ज्योतिषी जी को लेकर सुशीला के मामा आये। ज्योतिषी ने आकर सुशीला से कहा "बाई, ज्योतिष-शास्त्र झूठा नहीं होता। मैंने गणना करके देख लिया है, तुम्हीं ने यह हार निकाला है। अपनी भलाई चाहो, तो अभी निकाल दो।"

सुशीला ने उसके पैरों पर गिर कर कहा—"महाराज, मेरी रक्षा कीजिए। मुझपर मिथ्यापवाद मत लगाइए।" ज्योतिषी जी को भी क्रोध आगया। उन्होंने मामा साहब की ओर देख कर कहा—"अब यह किसी तरह नहीं मानेगी। पुलिस के सुपुर्द कीजिए।" पुलीस का नाम सुन कर सुशीला की अन्तरात्मा काँप उठी। सुशीला अपने मामा के पैरों पर गिरकर गिड़गिड़ाकर कहने लगी—"मामा, मुझपर विश्वास करो, मैं शपथ खाकर कहती हूँ, मैंने तुम्हारा हार नहीं लिया।"

पर उसकी बात पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। रात हो गई थी। इसलिए यह निश्चय किया गया कि सुबह होते ही पुलीस-जमादार को बुलाकर सुशीला को उसके सुपुर्द कर देंगे। सब चले गये।

सुशीला बैठे बैठे सोचने लगी कि सुबह होते ही मेरा सब मान और मर्यादा मिट्टी में मिल जायगी। बच्चा सोया हुआ था। उसे देख कर

वह बोली—"बेटा, तुम्हें नहीं मालूम, तुम्हारी माँ पर क्या बीत रही है।"

१२ बज गये, सब सो गये। पर सुशीला की आँखों में नींद कहाँ? आँसुओं का प्रवाह बह रहा था। आकाश की ओर दृष्टि थी—"प्रभो, तुम तो दयासिन्धु हो।"

दो बज गये। सुशीला उसी तरह अश्रु-पूर्ण नेत्रों से आकाश की ओर देख रही थी। भगवान ने उसकी प्रार्थना सुन ली। उसकी मान-मर्यादा को रख लिया। उसने मृत्यु को भेज दिया। सुशीला को कै पर कै होने लगे। शरीर अवसन्न होने लगा। वह लेट गई।

... .

चार बज गये। सुशीला अर्धमूर्च्छिता थी।

बाहर दरवाजे पर कोई हल्ला करने लगा।

भीतर से किसी ने कहा—"कौन है?"

बाहर से आवाज आई—"पुलिस–जमादार।"

सुशीला का हृत्कम्प बन्द हो गया।

भीतर से किसी ने फिर कहा—"क्या है?"

बाहर से आवाज आई—"यह दासी आपका हार लेकर भाग रही थी। मैं पकड़ कर लाया हूँ। देखिए, आप ही का हार है।"

सुशीला संज्ञा-शून्य हो गई थी। हार और दासी को देखकर सुशीला के मामा और मामी चकित होकर एक दूसरे को देखने लगे। जमादार ने देखा कि स्त्री-पुरुष दोनों के चेहरे फीके पड़ गये हैं, प्रसन्न होने के बदले दोनों आत्म-ग्लानि से संतापित हो रहे हैं। उसी समय सुशीला के बच्चे ने पुकारा—"माँ"!

प्राचीन हिन्दू-समाज में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा।

(लेखक–पं. जनार्दन रामचंद्र परांजपे, एम. ए., एल. एल. बी.)

प्राचीन हिन्दू-समाजमें पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा किस तरह होता था इस बात को जानने के लिए यह देखना पड़ेगा कि उस समय समाज का घटकावयव (unit) क्या था। प्राचीन समाज के विषय में जानने के लिए कई मार्ग हैं। परन्तु प्राचीन कायदे–क़ानून तथा सामाजिक नियमों से जो सिद्धान्त निकलते हैं वे विशेष विश्वास-योग्य होते हैं; अतएव यहाँ उसी मार्ग का अवलम्ब लिया गया है।

समाज-शास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि समाज अपने स्वास्थ्य और रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहता है, और इसी रक्षा के लिए सब लोग परस्पर-व्यवहार-योग्य नियम बनाते हैं। इन नियमों के सूक्ष्म निरीक्षण से सामाजिक अवस्था की विश्वसनीय कल्पना हो सकती है। आधुनिक समाज का घटकावयव कुटुंब नहीं, किन्तु व्यक्ति है, अर्थात् आजकल एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से व्यवहार करता है। पिता और पुत्र में तथा एक कुटुंब में भी कुटुंबीजनों में परस्पर व्यवहार हो सकते हैं। एक पुरुष अपनी भिन्न भिन्न व्यक्ति-विशेषता में अनेक पुरुषों से अनेक व्यवहार कर सकता है। यह अवस्था प्राचीन समाज में नहीं थी। प्राचीन समाज का घटक कुटुंब था। एक कुटुंब दूसरे कुटुंब से ही व्यवहार

करता था। घर में बहुत से स्वामी नहीं होते थे। कुटुम्बाधिपति के अधिकार की ओर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में कुटुंबीय द्रव्य का स्वामी कुटुंबाधिपति था; किन्तु यह स्वामित्व कुटुंब के व्यवहारों को यथायोग्य चलाने के लिए ही था। उस समय में कुटुंबाधिपति को कुटुंबीजनों का स्वामित्व भी एक प्रकार से क़बूल करना पड़ता था। (स्वं कुटुंबाविरोधेन देयम्। नान्वये सति सर्वस्वम्। याज्ञवल्क्य, व्यव.-१७५)। कुटुंब के हित-संबंध से यदि विरोध न होवे तो द्रव्य का त्याग करे। यदि संतति अथवा आश्रितजन न होवे तो संपूर्ण द्रव्य भी छोड़ देवे।

वर्तमान समय में दो प्रकार के कुटुंब दिखाई देते हैं—एक विभक्त और दूसरा अविभक्त। अविभक्त कुटुम्ब में कुटुम्बी द्रव्य पर सबका समान अधिकार दिखलाई देता है। प्रत्येक कुटुम्बीजन द्रव्य का स्वामी होता है। किसी के मरने से या उत्पन्न होने से इस स्वामित्व पर कोई भी परिणाम अविभक्त अवस्था में नहीं होता। कुटुम्बाधिपति कुटुम्ब की ओर से व्यवहार करता है और यदि व्यवहार न्यायपूर्ण होवे तो वह कुटुम्ब को मान्य होता है। दूसरी दृष्टि से भी विचार करने पर यह सिद्धान्त मान्य होता है कि किसी प्राचीन समय में, जोकि मनुस्मृति-काल से भी प्राचीन है, समाज का घटक कुटुम्ब ही रहा होगा; क्योंकि मनु ने दो प्रकार के विभाग लिखे हैं—(ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुः यथैव पितरं तथा) पितृधन को केवल ज्येष्ठ पुत्र ग्रहण करे और शेष सब उसके वैसेही आश्रित रहें जैसे अपने पिता के आश्रित थे। (ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्) ज्येष्ठ पुत्र पितृद्रव्य का $\frac{1}{20}$ वाँ हिस्सा तथा अपनी ज्येष्ठता से हक़ के कारण किसी सबसे श्रेष्ठ पदार्थ को ले। उद्धारे अनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना। एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठपुत्रो— अर्थात् यदि ज्येष्ठ पुत्र ने अपनी जिठाई का हक़ न लिया हो तो वह एक हिस्सा अधिक ले। (मनुः—पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं) लड़कों में पितृद्रव्य का सम विभाग करना चाहिए। इससे यह सिद्धान्त निकालना अनुचित न होगा कि किसी प्राचीन समय में ज्येष्ठ पुत्र ही पितृ-द्रव्य का स्वामी होता था और कालान्तर से उसका यह अधिकार नियंत्रित होता गया। इस नियंत्रण का कारण व्यक्ति-स्वातंत्र्य की वृद्धि है। आपस्तम्भ ने भी जिठाई के हक़ को देशाचार मानकर उसका निषेध किया है और सम विभाग के अनुकूल अपना मत प्रकाशित किया है। याज्ञवल्क्य-काल में, जो मनु और आपस्तम्भ-काल के कई सौ वर्षों के बाद का है दशान्तर की अवस्था पूरी हो चुकी थी और पितृद्रव्य पर सब पुत्रों का समान अधिकार होने का मत सर्वमान्य हो गया था (विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थं ऋणं समम्, याज्ञ०—व्यवहार ११७) मातापिता के पश्चात् सब पुत्र द्रव्य तथा ऋण में बराबर बराबर भाग लें। याज्ञवल्क्य-काल के बाद के स्मृति-ग्रंथों में बराबर बराबर बँटवारे का ही प्रतिपादन किया गया है। ऊपर लिखे हुए संपूर्ण स्वामित्व का कारण यह होगा कि उस प्राचीन काल में पिता के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र कुलाधिपति होता था और कुलाधिपति होने से संपूर्ण द्रव्य का स्वामी भी होता था। किन्तु जैसे जैसे व्यक्तिस्वातंत्र्य बढ़ता गया वैसे वैसे कुटुम्बाधिपति को कुटुम्बी

द्रव्य पर व्यक्ति का स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा और सम्पूर्ण द्रव्य का स्वामित्व के अनुरूप पृथक्करण शीघ्र ही होने लगा। पहले पहल पुत्र का कुटुम्बी द्रव्य पर केवल हक माना गया। बंगाल प्रान्त में प्रचलित दायभागमत के अनुसार पिता के जीवन-काल में पुत्रों को कुटुम्बी द्रव्य पर कोई भी अधिकार नहीं है; किन्तु मिताक्षरा-मत के अनुसार (जो बंगाल के अतिरिक्त सारे हिन्दुस्थान में माना जाता है) पुत्र को जन्म से ही कुटुम्बी द्रव्य पर स्वामित्व प्राप्त होता है। मिताक्षरा में विज्ञानेश्वर ने अनेकों प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि पुत्र का जन्म से स्वत्व होता है—(तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, पृ० २०८, याज्ञ० मिताक्षरा टीका)। इसलिए पुत्र जन्म से पिता तथा पितामह के द्रव्य का स्वामी होता है। इस विषय में दायभाग विशेष प्राचीन मत का दर्शक है। मिताक्षरा-मत सांप्रत काल की ओर विशेष झुका हुआ है। कालापगम से पुत्र को पिता के अर्थात् कुटुम्बाधिपति के जीवन-समय में भी, आरंभ में विशेष अवस्था में और धीरे धीरे किसी भी अवस्था में, विभाग का अर्थात् अपना द्रव्य अलग करा लेने का अधिकार प्राप्त हुआ—(अकामे पितरि, रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि दीर्घरोगिणि च—हारीत) पिता की इच्छा न होने पर भी यदि वह वृद्ध हो, अधर्म से चलने वाला हो अथवा दीर्घरोग से पीड़ित हो तो पुत्र विभाग करा लेने का अधिकारी है। वर्तमान काल में सब अवस्थाओं में पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पुत्र द्रव्य-विभाग करा सकते हैं और यदि आपसी तौर से विभाग न मिले, तो न्यायालय का सहारा लेने पर उसे [illegible] जाता है। [illegible]

प्राचीन काल में हिन्दुस्थान में अविभक्त-कुटुम्ब-प्रणाली ही विशेष प्रचलित थी। आजकल भी उसका कुछ अवशेष दिखाई देता है। कहीं कहीं संपूर्ण गाँव में एक ही कुटुंब का विस्तार दिखाई पड़ता है। घर के मृतक स्वामी के द्रव्य ग्रहण करनेवालों की ओर दृष्टि डालने से भी हम यही अनुमान कर सकते हैं कि कुटुंब की कल्पना का प्रभाव यहाँ भी दिखाई देता है। जहाँ तक हो सके, पैतृक संपत्ति को अपने कुटुम्ब में ही रखने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। पुत्र के अभाव में पहले पत्नी, तदनन्तर दुहिता और उसके बाद दुहितृपुत्र, फिर समान गोत्र, फिर सपिण्ड और समानोदक वाले और अन्त में असमानगोत्र के (बन्धु) सपिण्ड धन-ग्राही होते हैं। धनग्राहिणी स्त्रियों की संख्या इतनी कम है कि मिताक्षरा-मत में वह केवल पाँच ही है, अर्थात् पत्नी, दुहिता, माता, पितामही और प्रपितामही। इनमें दुहिता को छोड़ अन्य स्त्रियाँ द्रव्य को कुटुम्ब में ही रखने वाली हैं। केवल दुहिता ही द्रव्य को अन्य गोत्र में ले जाने वाली है। परन्तु लड़की का भी अधिकार नियंत्रित है। यदि उसका पुत्र न हो तो द्रव्य फिर कुटुंब में लौटता है। "मयूख" में नीलकंठ भट्ट ने धनग्राहिणी स्त्रियों की संख्या कुछ अधिक मानी है और उनके स्वामित्व को भी विशेष पूर्ण माना है। किन्तु यह निर्विवाद है कि मयूख-मत केवल कुछ ही प्रदेशों में मान्य है और वह सामाजिक दशान्तर का दर्शक है। स्त्रियों की संख्या इतनी कम होने का तथा समानगोत्र तक के ही बंधुओं को धन के ग्राही मानने का कारण यही है कि प्राचीन समाज का घटक कुटुम्ब था—व्यक्ति नहीं। यदि स्त्रियों की संख्या अधिक मानते तो फलस्वरूप में द्रव्य का कुटुंब से बाहर चला

जाना संभव था। कुटुंब से द्रव्य को बाहर ले आनेवाली दुहिता धनग्राहिणी वर्ग में प्रथमवर्ग में मानी गई है; इसका कारण एक तो वात्सल्य और दूसरा पुत्री को पुत्र मानने की प्राचीन-समाज की रूढ़ि है।

मनु तथा अन्य स्मृतिकारों ने भी १२ प्रकार के पुत्र माने हैं। उनमें से औरस और दत्तक पुत्र आजकल भी सब हिंदुस्थान में धन ग्राही माने जाते हैं। मिथिला में कृत्रिम पुत्र भी धनग्राही माना जाता है। इनके भी निरीक्षण से ऊपर के सिद्धान्त का ही समर्थन होता है। दत्तक पुत्र का सम्बन्ध जन्मकुल से टूट जाता है और दत्तक पिता के कुल से संपूर्ण संबंध और तादात्म्य हो जाता है। फलतः दत्तक पुत्रको दत्तक-कुटुम्बद्रिव्य पर अधिकार प्राप्त होता है। इसका भी यह ही अर्थ है कि दत्तकविधि के उपरान्त दत्तक पुत्र का जन्मकुल से संबंध न होने के कारण वहाँ के द्रव्य पर भी हक नहीं रह जाता और दत्तक कुलमें अन्तर्भाव होने के कारण वहाँ उसे अधिकार प्राप्त होता है। दत्तकविधान के उपरान्त यदि औरस पुत्र उत्पन्न हो जावे तो दत्तक की अवस्था विचार-योग्य हो जाती है। कुटुम्ब में अन्तर्भाव न होने के कारण जन्मकुल के द्रव्य पर तो उसका अधिकार नहीं रहता। किन्तु औरस पुत्र दत्तक से विशेष माननीय होता है। अतएव उसका हक बलवान् रहता है। इस अवस्था में स्मृतिकारोंने दत्तक को औरस का चतुर्थांश अधिकार देना योग्य समझा है। इतने पुत्र मानने का तथा औरस पुत्र की उत्पत्ति होने पर भी दूसरों को द्रव्यांश मिलने का कारण उपरोक्त ही होगा।

विविध विषय।

(१) लोकमान्य तिलक का देहावसान।

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवित-मुच्यते बुधैः" की सत्यता प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हुए भी आज समस्त भारतवर्ष लोकमान्य तिलक के चिर-वियोग से व्याकुल हो रहा है। आज उनके विपक्षी भी जो जन्म भर उनके सिद्धान्तों और मत का विरोध करते रहे उनके लिए, भक्ति-भाव से, आँसू बहा रहे हैं। लोकमान्य का देहावसान क्या हुआ, भारत-माता के क्रोड़ का शृंगार और उसका अतुलित-बल-धाम पुत्र जाता रहा, और तब जाता रहा जब भारतवर्ष को स्वराज्य-मन्दिर की पवित्र वेदी पर अधिष्ठित करने के लिए उसके अनवरत परिश्रम का फल पकने पर आया। यह देश का दुर्भाग्य है और यदि कृतज्ञता के सूत्र में बँधा हुआ देश अपने दुर्भाग्य पर रोवे, तो कोई आश्चर्य नहीं।

लोकमान्य ने अपने जीवन में वह कर दिखाया है जो केवल उन्हीं से हो सकता था। उन्होंने जन्मभूमि के उत्कर्ष के लिए जो उत्कृष्ट स्वार्थ-त्याग प्रदर्शित किया वह उन्हीं का काम था। निष्काम कर्ममय उनका जीवन था और देशभक्ति उनके जीवन का परम पुनीत व्रत था। अपने स्वार्थ का त्याग करने में उन्होंने देश के स्वार्थ की साधना और सिद्धि समझी। साधना के मार्ग में अनेक बाधक विघ्न उनके सामने आये; पर आये केवल उनका उत्साह बढ़ाने के लिए। जिस शान से उन्होंने अपना सार्व-

जनिक जीवन आरंभ किया—और, उनके समस्त-जीवन का स्वरूप सार्वजनिक है—वह शान जीवन भर उनके साथ रही और विरोधी तत्वों के प्रभाव से अस्पृष्ट रह कर उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं देखी गई। जनता में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का मंत्र फूँकने वाले वे ही थे, और देश को मानसिक स्वराज्य और स्वाधीनता देने का श्रेय उन्हीं को है। देश के आधुनिक इतिहास पर उनका सिक्का इस प्रकार बैठा है कि उनका जीवन गत ४० वर्षों के भारतवर्षीय इतिहास में परिवर्तित हो गया है।

वे गुणाकर थे—अनेक गुणों ने उनमें आश्रय पाकर अपने को धन्य समझा था। उनका प्रत्येक गुण पराकाष्ठा को पहुँचा था और अपने आश्रय-स्थान की लोकमान्यता के लिए पर्याप्त था। वे स्वार्थ-त्याग के अवतार और विद्या-बुद्धि की जीवित प्रतिमा थे। अदम्य उत्साह और निर्भीकता सदैव उनके साथ रहीं। उनकी प्रतिभा ऐसी थी कि जिस क्षेत्र में उन्होंने पैर बढ़ाया वहीं आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाया। "स्व" का उन्हें अभिमान था और उस पर किस प्रकार बलिदान होना चाहिए—इसका साक्षी उनका जीवन था। जीवन भर वे अन्याय के विरोधी रहे, और अन्यायी के साथ सहयोग का दिखावा उन्होंने एक क्षण भर भी नहीं किया।

साहित्य-सेवा करते समय भी वे स्वाभिमान को नहीं भूले। उनकी साहित्य-सेवा जनता में स्वदेशाभिमान जाग्रत करने वाली और भूले-भटकों को उचित मार्ग पर लाने वाली है। उनका लिखा साहित्य उनका है। इस मौलिकता ने भी देश और विदेश को उन पर मुग्ध किया है और उनके विपक्षियों ने भी मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा की है। कारागार का कठोर दण्ड उनके लिए परम-शांति-विधायक और उनके अमर ग्रंथों का साक्षी हुआ।

उनका आत्म-बल भी बहुत विशाल था। सहस्रों विघ्न बाधाओं से घिरे रहने पर भी, अंगीकृत पथ से विचलित होना उन्होंने कभी नहीं जाना और उनके जीवन ने लोगों को बतला दिया कि अपने सिद्धान्तों का पालन किस प्रकार किया जाता है। उनके जीवन में कार्य और विचार का विरोध कभी नहीं देखा गया—उन्होंने जो कार्य किया उसीका उपदेश किया।

ऐसे अनेक गुणों के बल पर उन्होंने अपने जीवन-काल में जो सन्मान प्राप्त किया वह निराला था—भारतवर्ष में जन्म ग्रहण कर और भारत का ही कार्य करके वे 'लोकमान्य' हुए और जब तक इस लोक में रहे, तब तक जनता के सिर-माथे पर रहे और लोकान्तरित होते ही हृदय-धाम में आ विराजे। ऐसे महापुरुष के चिर-वियोग से समस्त भारतवर्ष का दुःखी होना स्वाभाविक है। उनका जीवन देशोद्धार का संदेशा सुनाने के लिए था और जब तक उसके अनुसार कार्य किया जायगा, तब तक वे उस लोक में रह कर भी इसी लोक में हैं। जिस 'जन्मसिद्ध अधिकार' की प्राप्ति के प्रयत्न में उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया उसी के लिए जनता को प्रयत्न करते देख उनकी आत्मा को शांति मिलेगी। और, वही प्रयत्न उनका चैतन्य स्मारक होगा। उनके कुटुम्बी-जनों के साथ समस्त देश समवेदना प्रकट कर रहा है।

जिन्होंने समस्त देश को अपना कुटुम्ब माना उन के कुटुम्ब के साथ, इस राष्ट्रीय आपत्ति के समय, समस्त देश के गूँगे आँसू अत्यन्त नम्रता और सन्मान के साथ पारस्परिक समवेदना प्रकट करते हैं।

(२) नवयुवक नेता।

यह राजनीति का युग है। देश स्वतंत्रता के वातावरण में श्वासोच्छ्वास ले रहा है। हमारा साहित्य उसीमें उत्पन्न होकर परिपुष्ट हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमारे मस्तिष्क में राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं का उदय होना बहुत स्वाभाविक है। देश के अनेक होनहार नवयुवक राजनीति-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर अपनी मति-गति के अनुसार कार्य करते हुए जीवन को सफल समझ रहे हैं। यह बात बुरी नहीं है। राजनीति-क्षेत्र में बहुत कार्य करने की आवश्यकता है और हमारे नवयुवक जो अपनी बढ़ती हुई शक्ति का उपयोग उसमें कर रहे हैं वह देश और उनके लिए किसी अंश में कल्याणप्रद अवश्य है। पर, यह कहने में संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं कि राजनीति क्षेत्र में सफलता पा-लेना कोई बड़ी भारी बात नहीं है और न ऐसी ही बात है जिसका हमारे नवयुवकों को गर्व ही करना चाहिए। इस क्षेत्र में काम करनेवालों में जिन योग्यताओं का होना आवश्यक है उनमें मुख्य हैं—वाक्पटुता, अनेक विषयों का थोड़ा थोड़ा ज्ञान, निर्भीकता और स्वार्थ-त्याग। इनके अतिरिक्त बड़ी भारी आवश्यकता "ढँग" की है। ढँग से हमारा अभिप्राय व्यवहार-कुशलता से है। जो मनुष्य प्रत्येक जन के साथ सफलता के साथ व्यवहार कर सकता है वही सच्चा व्यवहार-कुशल है। इस व्यवहार-कुशलता के पीछे कई बार अपने सिद्धान्तों को शिथिल करना और अपने ऊँचे ध्येय और आदर्शों को नीचे खिसकाना पड़ता है। नेता वही है जो लोकप्रिय हो और लोकप्रियता व्यवहार-कुशलता की नींव के बिना स्थिर नहीं रह सकती। लोकमान्य तिलक की बात जाने दीजिए जिनकी मृत्यु पर उनके ऐसे विपक्षी भी आँसू बहा रहे हैं जो जन्म भर उनके साथ सिद्धांतों की लड़ाई लड़ते रहे। उनकी लोकप्रियता इतर नेताओं की लोकप्रियता से भिन्न है—वह अपवाद है और रहेगी। पर साधारण नेताओं को व्यवहार-कुशलता के द्वारा ही लोकप्रियता संपादित करनी पड़ती है; और, यह स्पष्ट है कि जो अपने सिद्धान्तों को जन-समुदाय की इच्छा के अनुरूप जितना परिवर्तित कर सकता है वह उतना ही व्यवहार कुशल है। इस प्रकार, नेतृत्व पद, नैतिक दृष्टि से बहुत समादरणीय नहीं है।

नवयुवकों में नेतृत्व-पद पर अधिष्ठित होने की अभिलाषा कोई उच्चतम अभिलाषा इसलिए नहीं कही जा सकती कि चरित्र के सम्यक् संगठन के अभाव में उनका नैतिक आदर्श कदापि ऊँचा नहीं रह सकता है। और भी बुरापन तो यह है कि उन्हें अपना जो समय संगठित-शिक्षा प्राप्त करने में लगाना चाहिए वही समय व्यवहार-कुशलता सदृश वस्तु के प्राप्त करने में लग जाता है और इसका फल यह होता है कि उनकी बुद्धि और चरित्र अपरिपक्व रह जाते हैं। नवयुवक राजनेता होने की अभिलाषा अवश्य रक्खें और आगे चलकर राजनीति-क्षेत्र में उस अभिलाषा का मूर्त्ति-स्वरूप भी देखें; परन्तु उन्हें स्मरण

रखना चाहिए कि यदि वे युवावस्था का आरंभिक काल विविध विषयों की क्रमबद्ध शिक्षा प्राप्त करने और संसार की रीति-नीति के अध्ययन करने में लगावें तो उनका जीवन उनके, उनकी अभिलाषाओं और उनके देश के लिए अधिक उपयोगी हो सकता है। हमारा अभिप्राय यह है कि नवयुवक-गण जिस क्षेत्र में कार्य करना चाहते हों उसके लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करें और ऐसा चरित्र-बल प्राप्त करें कि वे अपने सिद्धान्तों से कदापि न डिग सकें, प्रत्युत उनके सिद्धांत ही ऐसे हों जिन्हें मानने को जनता सदैव प्रस्तुत रहे। सुसंगठित एवं व्यर्थ हठ से रहित चरित्र-बल ऐसी वस्तु है जिसके बल पर नर नारायण के समान पूजा जा सकता और साक्षात नारायण बन सकता है।

एक बात और है। राजनीति-क्षेत्र मे रहकर जितना देश-हितकर कार्य किया जा सकता है उससे कहीं अधिक दूसरे क्षेत्रों में किया गया है और किया जा सकता है। कौन कह सकता है कि महात्मा तुलसीदास जिनकी भक्ति-रस-पूर्ण कविता करोड़ों संसार-सन्ताप-विदग्ध मनुष्यों के हृदयों में शांति का संचार करती है सच्चे देशभक्त नहीं थे? जिन लूथर बरबेंक ने वनस्पति-संसार में नवीन आविष्कार करके प्रकृति को अपना दास बनाया है किसी राजनीति-विशारद या देशभक्त से कम उपयोगी काम नहीं किया है। फिर केवल राजनीति-क्षेत्र में कूदकर ही हमारे सब नवयुवक देशोत्थान कर लेंगे यह समझ में नहीं आता। देश-हितकर कार्य करने के लिए राजनीति का भी एक क्षेत्र है और जो नवयुवक उसमें कार्य करना चाहते हैं वे पहले अपेक्षित योग्यता सम्पादित करें और फिर कार्य आरंभ करें।

(३) हमें अपने ही देश में ठौर नहीं।

अर्थशास्त्र में द्रव्योत्पादन के जो चार साधन माने गये हैं उनमें एक, भूमि भी है। भूमि की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि उसका परिमाण प्रायः परिमित रहता है। यदि हम चाहें कि जितनी भूमि हमारे देश में है उससे अधिक भूमि हमें मिले, तो यह सम्भव नहीं। हाँ, तालाबों आदि को पूर कर कुछ भूमि भले ही बढ़ जाय, पर वह बढ़ती कोई बढ़ती नहीं। अर्थशास्त्र की दूसरी बात यह है कि प्लेग, महामारी आदि से मनुष्य-संख्या घटते रहने पर भी वह बराबर बढ़ती ही जाती है, यहाँतक कि प्रत्येक तीस वर्ष में वह दुगनी हो जाती है। इस बढ़ती हुई मनुष्य-संख्या को भी रहने के लिए स्थान चाहिए। वहाँ भूमि परिमित है, यहाँ रहने को अधिक भूमि चाहिए। इन दोनों के सामञ्जस्य के लिए इकतले पर दुतले हो रहे हैं और दुतले पर तिनतले; पर इन तलों की भी सीमा है। अधिक ऊँचे घरों के कारण स्वच्छ वायु और प्रकाश कम मिलता है और यह कभी प्लेग, हैजा आदि के रूप में अपना घातक स्वरूप प्रकट किया करती है। इसके सिवाय, औद्योगिक क्रांति के कारण हमारे छोटे छोटे घरू व्यवसाय नष्ट हो रहे हैं। देहाती लोग अपने घर की सुख-शांति और स्वतंत्रता छोड़ कर शहरों के गँदले कारखानों में, हृदयहीन स्वामियों की परतंत्रता में, पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए अपना जीवन सार्थक समझ रहे हैं। फलतः देहात उजड़कर शहर ठसाठस भर रहे हैं। कुछ भारतीय भाई उपनिवेशों को गए, परंतु उनके साथ वहाँ जो व्यवहार किया गया उसने हम लोगों की आँखें खोल दीं और अब



आधुनिक विलासिनी युवती की दिनचर्या।

बूढ़ी सास रोटी बना रही है !

चित्रकार-
श्रीयुक्त टी० जे० पटेल

हम अपने घर की सूखी रोटी छोड़ कर बाहर की पूड़ी-कचौड़ी के लिए नहीं ललचाये जा सकते हैं। ये सब कारण एकत्रित होकर शहरों पर अत्यधिक बोझ डाल रहे हैं। शहरों में मकानों का मिलना दिन पर दिन कठिन हो रहा है। मकान बनकर तैयार होता नहीं और किराये पर उठ जाता है। इतना ही नहीं, कई महीनों का किराया पेशगी दे दिया जाता है। शहरों के बड़े बड़े भवन बाहर से भले ही भव्य दिखें, पर उनकी भीतरी दशा देखकर हृदय काँप उठता है। भवन क्या हैं, खासे कबूतरखाने हैं। एक या दो कमरों में लोग अपनी स्त्री, पुत्र तथा पुत्र-वधू, कन्या तथा जामाता के साथ निर्वाह कर रहे हैं! इतने पर भी सुख और शांति नहीं। दिनरात यही चिन्ता रहती है कि कहीं मकान-मालिक किराया न बढ़ा दे। इस प्रकार मजदूर तथा मध्यम-वित्त के मनुष्य शिकंजे में कसे हुए हैं। देहातों में रहना अपनी सन्तानों को उच्च शिक्षा से वंचित कर उन्हें संसार-संग्राम के लिए अयोग्य बनाना है, और शहर में रहना क्या है मानो अपने जन्म भर के अर्थ-संचय को साल दो साल के भीतर खर्च कर अपना दिवाला निकालना है। इस प्रकार नगर-निवास की स्थिति दिन पर दिन चिंताजनक हो रही है।

यह दशा केवल भारतवर्ष की ही नहीं है, प्रायः सभी पाश्चात्य देश इसका अनुभव कर रहे हैं। घरों की कमी सर्वत्र हो रही है। श्रमजीवी लोग कूकर-शूकर के समान जीवन बिताते हुए नरक-यन्त्रणा का अनुभव कर रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता है मानों नरक में भी अब घरों की कमी है और इसीलिए बेचारे श्रमजीवियों के लिए यह संसार ही नरक बनाया जाता है। भगवन! हमें आपका स्वर्ग नहीं चाहिए। मृत्यु के पश्चात् हमें चाहे स्वर्ग देना या नरक। पर जब तक हम इस संसार में हैं, तबतक तो हमें अपने घरों में सुख और शांति का उपभोग करने दो।

कहा जाता है, अमेरिका के संयुक्त प्रदेश में इस समय पाँच लाख घरों की कमी है। केवल शिकागो नगर को एक लाख घर चाहिए। ब्रिटेन को लगभग पाँच लाख घरों की आवश्यकता है। इस प्रकार, पाश्चात्य देशों में भी घरों की कमी सिद्ध होते हुए वहाँ और यहाँ की स्थिति में एक बड़ा भारी अन्तर यह दिखाई देता है कि वहाँ इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जा रहा है; परन्तु यहाँ कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। इंग्लेंड में "लोकल हाउसिंग बॉंड" की स्कीम बनाई गई है। इस स्कीम के अनुसार स्थानीय संस्थाएँ अपने अपने नगरों में घर बनाने के लिए उसी प्रकार क़र्ज़ लेंगी जिस प्रकार सरकार युद्ध आदि के प्रसंगों पर लिया करती है। इस क़र्ज़ के रुपयों से घर बनवाकर किराये पर दिये जावेंगे और किराये से क़र्ज़ की अदाई होगी। क़र्ज़ देने वालों को सूद का लोभ होगा और साथ ही यह विश्वास रहेगा कि उनका रुपया न डूबेगा। आशा है, इस स्कीम के अनुसार भारतवर्ष में भी कार्य किया जायगा। यदि कुछ नेता-गण इस ओर ध्यान दें, तो यह कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो सकता है। जब तक यह कार्य नहीं होता, तब तक मध्यमवित्त के नगर-निवासी जनों को नगर का मोह छोड़कर नगर के पास के गाँवों में घर बना कर रहना कुछ बुरा न होगा। गाँवों में रहने से जीवन में सरलता आवेगी, विलासिता का व्यय

बचेगा, शुद्ध वायु का उपभोग होगा और डाक्टरों का बिल न चुकाना होगा। शहर के पास रहने से संतानों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का भी अवसर रहेगा। वैसे तो, जिन नगरों में प्लेग का आगमन प्रति वर्ष होता है वहाँ नागरिक जनों को, नगर-निवास से नाता तोड़कर, नगर से बाहर झोपड़ियों में या समीपस्थ ग्रामों में कुछ मास रहना ही पड़ता है। फिर यदि बारह महीने नगर के पास के ग्रामों में रहा जाय, तो नागरिकता में कलंक नहीं लग सकता।

(४) एक्स-किरण का व्यापारिक उपयोग।

बीसवीं शताब्दी में जितने आविष्कार हुए हैं उनमें से अधिकांश मनुष्य की जान लेने के लिए ही किये गये हैं। यह बात दूसरी है कि उनसे दूसरा लाभ भी उठाया जा सकता है; और, शान्ति के समय उठाया जाता है। शेष आविष्कारों में से एक्स-किरण का आविष्कार मानव-समाज के लिए इतना अधिक उपयोगी हुआ है जितना शायद ही दूसरा होगा। यह माना कि कुछ दूसरे आविष्कार मानव-समाज के लिए इससे कहीं अधिक उपयोगी हैं; पर उनके उपयोगी होने के साथ ही साथ उनसे, समय पड़ने पर, हानि भी कम नहीं होती। किन्तु, इस एक्स-किरण से लाभ ही लाभ हैं, और भविष्य में और भी अधिक होंगे।

अभी तक इस किरण का उपयोग शरीर की टूटी हुई हड्डियाँ देखने में, शरीर के भीतर प्रविष्ट हुई बन्दूक की गोली या छर्रे ढूँढ़ने में, बालक के द्वारा निगली हुई बटन, पैसा, कौड़ी आदि निकालने में या ऐसे ही शरीर के भीतरी भाग को देखने और सुधार करने में किया जाता रहा है। महायुद्ध में इसकी बदौलत सैकड़ों नहीं, सहस्रों की जानें बची हैं। सर्जरी के काम में तो इससे अपरिमित लाभ हुआ है। सर्जरी में बहुधा जो विषम समस्याएँ आती हैं वे इसी की सहायता से हल होती हैं।

अब इसका उपयोग व्यापार में भी किया जाने लगा है। पाठक जानते ही हैं कि बढ़ई, लुहार आदि कारीगर अपने कार्य के दोष, ऊपर पालिश करके, ढाँक देते हैं और अपना रद्दी माल भरपूर क़ीमत में भोले व्यापारियों के गले मढ़ देते हैं। भोले ही क्यों, कभी कभी तो वे अच्छे अच्छे इञ्जीनियरों की भी आँखों में धूल झोंक देते हैं। पर, अब एक्स—किरण की बदौलत उनकी दाल न गलेगी। इससे पालिश के भीतर का असली फोटो देखा जा सकता है। बाज़ारों में बढ़ई लोग पलंग के फटे पाये या पाटी पर अच्छा चमकता हुआ पालिश करके उन्हें बहुधा बेचा करते हैं और उनकी यह चालाकी कोई नहीं ताड़ पाता। इन साधारण बढ़इयों की बात जाने दीजिए, विलायती और अमेरिकन माल को देखिए। जब नया नया माल सामने आता है, तब आप उसमें अपना मुँह देख सकते हैं; पर घिसते घिसते जब ऊपर छिलके और गाँठ निकलती है, तब उनकी चालाकी की तारीफ़ ही करते बनती है। जापानी माल तो इसके लिए बहुत ही बदनाम है।

एक बार एक लम्बा पटिया हवाई जहाज में लगाने के लिए तैयार कराया गया। यंत्र में लगाने के पूर्व जब उसकी परीक्षा एक्स-किरण से की गई, तो मालूम हुआ कि उसके भीतर दरारें हैं

और वह कहीं कहीं पोला भी है। ऐसे ही दो पटियों का जोड़ देखा गया तो मालूम हुआ कि ये कीलें ठीक जोड़ पर बीच में नहीं लगाये गये हैं। यदि ऐसे पटिये हवाई जहाज़ में लगा दिये जाते, तो न मालूम वे कब टूट पड़ते और उसमें बैठने वालों की जान लेते।

अभी तक एक्स-किरण डाक्टरों के ही काम का था; पर अब इञ्जीनियरों और व्यापारियों के काम की भी होगया है। एक जहाज़ के लिए लोहे की चद्दरें तैयार कराई गई। परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि दो चद्दरों में दो दो तीन तीन छेद हैं। अब सोचिए, यदि एक्स-किरण का यह उपयोग न होता, तो परिणाम क्या हुआ होता। भविष्य में लकड़ी और लोहे के सब कारखानों में एक्स-किरण-यंत्र रखा जावेगा।

आजकल जो साइकिलें जापान से आती हैं उनमें देखा गया है कि कई ऊपर से तो बहुत साफ़ और मज़बूत मालूम होती हैं; पर ज़रा से ही धक्के से उनका डंडा टूट जाता है या चमटा जवाब दे देता है। यदि एक्स–किरण का उपयोग करके देखा जावे, तो असली हालत मालूम हो कि जोड़ कहाँ था। अच्छा हो कि एक्स-किरण का उपयोग व्यापारिक उन्नति के लिए भारतवर्ष में शीघ्र किया जाय।

(५) स्त्री-जाति की श्रेष्ठता।

संस्कृत का यह श्लोकार्द्ध 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' हिन्दुओं में स्त्रीजाति की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। इतना ही नहीं, हमारे यहाँ तो स्त्रियाँ अर्द्धांगिनी मानी जाती हैं और राधाकृष्ण, सीताराम आदि देववाची प्रचलित शब्दों में स्त्रीजाति का नाम पूर्वार्द्ध में रहना स्त्रीजाति को और भी अधिक मान देता है। यूरोपीय जातियों में भी स्त्री को प्रथम पद दिया जाता है। नमन करना या हाथ मिलाना हो, तो पहिले स्त्रियों से, पश्चात् पुरुषों से; भोजन परोसना हो, तो पहिले स्त्रियों को, पश्चात् पुरुषों को। ऐसे ही, पहिले स्त्रियाँ बैठ जाती हैं, तब पुरुष अपना स्थान ग्रहण करते हैं। यह तो हुई मान-सम्मान की बात। पढ़ने, लिखने या परिश्रम के कार्य में भी स्त्रियाँ कम नहीं ठहरतीं। जिस शाला में समान अवस्था के लड़के और लड़कियाँ एक साथ पढ़ती हों वहाँ ध्यान-पूर्वक देखने से मालूम हो जायगा कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ बुद्धि, परिश्रम और शिष्टता में अधिक योग्य हैं। ऐसे ही, वृद्धावस्था में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक काम कर सकती हैं और बहुधा अधिक काल तक जीवित भी रहती हैं।

महायुद्ध के थोड़े ही काल पहिले से स्त्रियों ने अपना अधिकार पुरुषों के समान पाने का प्रयत्न किया है; पर अन्य जीवधारियों में मादा–वर्ग ने बहुत प्राचीन काल से अपना अधिकार पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राप्त कर रखा है। फ्रान्स के प्राणि-शास्त्र-विशारदों ने अनेक जीवधारियों के मादावर्ग के अधिकारों का पता लगाया है। उनका कहना है कि कीड़े-मकोड़ों में मादा-वर्ग की श्रेष्ठता बहुत अधिक पाई जाती है। उनमें मादा, नर-कीड़े की अपेक्षा बड़ी, बलवती और चतुर होती है। नर-कीड़ा मादा की इच्छा के प्रतिकूल रहकर क्षण भर भी नहीं जी सकता। उसे मादा का रुख देख कर काम करना पड़ता है। मादा-कीड़ों के सम्बंध में तुलसीदास जी की

चौपाई का यह एक चरण—'नरपति (यहाँ इस का अर्थ राजा लोग न लेकर नर-कीड़ा लीजिए) रहहिं सकल रुख ताके'—पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है।

कीड़ा-वर्ग में बिच्छू एक बड़ा जीव है। इस जाति में मादा-बिच्छू नर की अपेक्षा बहुत बड़ा होता है। जब उसे किसी से प्रीति करना होता है, तो वह अपने बिल के सामने बैठ जाती है और बड़े प्रेम से अपनी काँतरें इस प्रकार हिलाती है मानो किसी को बुलाती हो। यदि उसके इस कृत्य को कोई नर-बिच्छू देख लेता है, तो वह प्रेमभिक्षा पाने के लिए, डरता हुआ, धीरे धीरे पास जाता है। फिर मादा-बिच्छू अपनी काँतरों से नर की काँतरों को पकड़ती और चक्कर लगाती है। जब यह चक्कर-नाच पूरा हो जाता है, तब वह अपने बिल में पीछे सरकती जाती है और नर-बिच्छू को वैसे ही, काँतरें पकड़े हुए, ले जाती है। यदि नर-बिच्छू नाच में ही घबरा गये या जरा ही कुछ फिसले अथवा मादा के रुख के अनुसार न चले, तो मादा महारानी उन्हें उसी जगह उदरस्थ कर जाती हैं। यदि बड़े भाग्य से नर—महाराज पहिली परीक्षा में पास हो गये, तो भीतर से बच कर नहीं लौट पाते। दो चार दिन तो मज़े में कटते हैं। पर, ज्यों ही नर यह समझ बैठता है कि मैं इस बिल का अधिकारी हूं, त्यों ही उसे यमपुर की रास्ता देखनी पड़ती है। ठीक यही हाल मकड़ी-वर्ग के प्राणियों का है। अच्छा सुन्दर जाल बुनना, सफ़ाई से मक्खियों को फँसाना और गृहस्थ धारण करना मादा-मकड़ी का ही साहस है। बर्रैया जाति में एक मादा-बर्रैया रानी होती है जिसकी आज्ञा उस दल के सब प्राणियों को माननी पड़ती है। ऐसे ही दीमक जाति में भी मादा की ही श्रेष्ठता है। सिंहनी जितनी भयानक और क्रोधी स्वभाव की होती है वैसा सिंह नहीं होता। गोरीला और चिम्पेनजी बन्दर—जाति में मादा—वर्ग रूप, डीलडौल और बुद्धि में नर की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। इतिहास से विदित होता है कि पूर्वकाल में अनेक रानियों ने जो वीरता प्रदर्शित की है वैसी किसी राजा से नहीं बन पड़ी। आज भी अनेक महिलाएँ हैं जो बुद्धि में पुरुषों से कम नहीं। समय के प्रवाह में स्त्री-जाति की श्रेष्ठता और भी बढ़ेगी, घटेगी नहीं।

साहित्य—सुमन।

(१) वकील नेताओं से हानि।

यूरोप और अमेरिका का इतिहास देखने से मालूम होता है कि वहाँ कुछ समय पहिले बहुधा वकील लोग ही नेता हुआ करते थे। फ्रान्स में तो उनकी प्रभुता अभी तक है। गत नवम्बर मास में वहाँ जो चुनाव हुआ उसमें वकीलों की ही संख्या अधिक रही। अमेरिका का संयुक्त राज्य जब इंग्लैंड का उपनिवेश था तब वहाँ भी वकील लोग ही नेता चुने जाते थे; किन्तु अब यह बात नहीं रही। वहाँ अब वकीलों में से बहुत ही कम लोग नेता-पद के लिए चुने जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इसका कारण क्या है? 'सेञ्चरी मैगज़ीन' में इसका यह उत्तर दिया है कि पहिले, औपनिवेशिक स्थिति में, देश को क़ानून की रू से अपनी माँगें पूरी करने के लिए, क़ानून जानने वालों की आवश्यकता हुआ करती थी; किन्तु अब

जब देश स्वतंत्र हैं उसे क़ानून जानने वालों की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं है जितनी कि आर्थिक, सामाजिक, व्यापारिक तथा शिक्षा आदि विषयों का ज्ञान रखने-वालों की है।

वकीलों के विषय में इंग्लैंड के बादशाह तीसरे एडवर्ड के प्रधान न्यायाधीश का कथन सुनने लायक़ है। उन्होंने एक बार कहा था कि वकील लोग शान्ति स्थापित करने की अपेक्षा झगड़ा बढ़ाने की अधिक चेष्टा किया करते हैं और वे न्याय के लिए क़ानून की दुहाई नहीं देते; पर अपने मत की पुष्टि के लिए क़ानून के शब्दों को तोड़-मरोड़ डालते हैं। निपोलियन बादशाह वकीलों को 'झगड़ों की जड़' कहा करते थे। इस सम्बन्ध में सर टॉमस मूर ने "ओटोपीया" में जो कुछ लिखा है वह सबसे निराला है। उन्होंने वकीलों को बिल्कुल बन्द कर दिया था। न्यायालय में दोनों पक्ष वाले स्वयं अपने अपने मत की पुष्टि करते थे और इसका लाभ वे यह बतलाते थे कि वकीलों के न होने से निर्णय शीघ्र हो जाता और असली बात भी प्रगट हो जाती है।

'सेञ्चरी मैगज़ीन' का मत है कि झगड़े उत्पन्न करने में इनका जैसा स्वार्थ रहता है वैसा ही जनता के नेता होने में, किसी दूसरे रूप में, रहता है। जब वे देखते हैं कि अमुक बात उठाने में उन्हें प्रेसीडेन्ट का विरोध करना पड़ेगा अथवा अमुक नियम को 'पास' कराने में उनकी आमदनी में धक्का पहुँचेगा, तो वे पीछे हट जाते हैं। उनके ऐसा करने से जनता को हानि होती है। ऐसे कामों से जनता का विश्वास उनपर से उठ गया है।

कोई यह कहे कि नेता बनने में तो वकीलों की आमदनी मारी जाती है, उन्हें लाभ कुछ भी नहीं होता। 'माडर्न रिव्यू' ने इसीकी चर्चा करते हुए गत जुलाई के अंक में लिखा है कि हिन्दुस्थान में "राजनैतिक नेता" होने पर वकीलों की आमदनी बहुधा बढ़ती है, घटती नहीं। हाँ, कुछ वकील नेता ऐसे हैं जिन्हें इस नेता-पद के पीछे अपना कार्य ही छोड़ देना पड़ा है; पर उन्हें नियम नहीं, अपवाद समझना चाहिए। इसी सम्बन्ध में उसने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी के अन्त में बहुत ही उचित सम्मति प्रगट की है कि—"हमारी कुछ सार्वजनिक कठिनाइयों को हल करने के लिए क़ानून जाननेवालों की आवश्यकता है; पर साथ ही हमारे सामाजिक, शिक्षा-विषयक, आर्थिक और व्यापारिक प्रश्न किसी भी प्रकार कम महत्त्व के नहीं हैं; इसलिए हमारे वकील नेताओं या भावी नेताओंको इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की भी भारी अपेक्षा है, और यदि वे अपना कर्त्तव्य भलीभाँति पालन करना चाहते हैं, तो उन्हें कुछ स्वार्थ-त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

(२) ग्रंथकार और पत्र-सम्पादक।

हिंदी में ग्रंथकार और पत्र-सम्पादक का अन्योन्य सम्बन्ध देखा जाता है—जो व्यक्ति ग्रंथ-रचना की योग्यता रखता है वह बहुधा पत्र-सम्पादक बन बैठता है और जो अच्छा पत्र-सम्पादक हो सकता है वह ग्रंथ-प्रसव करके स्वयं कष्ट में पड़ता और दूसरों को कष्ट में डालता है। बात यह है कि ग्रंथ लिखना और किसी दैनिक या साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करना भिन्न भिन्न बातें हैं। दोनों के कार्यक्षेत्र परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न हैं। ग्रंथकार को जितनी विद्वत्ता अपेक्षित है उतनी पत्र-सम्पा-

दक को नहीं। यही कारण है जो अच्छे ग्रंथकार बहुधा सफल पत्र-सम्पादक नहीं बन सकते हैं। पं० बदरीनाथ भट्ट का लिखा हुआ, इस विषय का एक लेख जुलाई, १९२०, को "सरस्वती" मे प्रकाशित हुआ है। उसमें कई रोचक तथा काम की बातें हैं। भट्टजी लिखते हैं—

"बड़े भारी विद्वान और गंभीर-हृदय सज्जन अकसर पत्र-सम्पादन-कला के आचार्य नहीं हो पाते; क्योंकि उनके लेख उनके विचारों की गंभीरता से कुछ दबे से रहते हैं। सफल पत्र—सम्पादक होने के लिए कुशाग्रबुद्धि, चटपटापन, भाषा पर पूरा अधिकार, सर्वतोमुखी प्रतिभा और विशेष रूप से उन्नत विवेचना तथा विचार-शक्ति की आवश्यकता है—चरित्र-बल भी जितना हो उतना ही अच्छा; क्योंकि इसके बिना दूसरे लोगों के मन पर काफ़ी प्रभाव पड़ना कठिन है। अब इन गुणों में से जिसमें जितने जहाँ तक हों उसको उतनी की सफलता मिलती है। सम्पादक जितना बहुज्ञ हो उतना ही अच्छा, यानी उसको इधर-उधर की—धर्म—शास्त्र से लगाकर ढोलामारू के किस्से तक की—बातें खूब मालूम होनी चाहिए, चाहे वह उन बातों की तह तक भले ही न पहुँच सका हो। किसी विषय की तह तक पहुँचना विद्वानों का काम है जो परिश्रमपूर्वक अध्ययन और मनन करते हैं। हर एक विषय का कुछ न कुछ—काम-चलाऊ—ज्ञान रखना सम्पादक के लिए अनिवार्य है।"

यह तो हुई ज्ञान की बात; पर सम्पादक को व्यवहार-कुशल भी होना चाहिए—दुनियादारी का अनुभव भी सम्पादक के लिए अनिवार्य है; पर "ग्रंथकारों में इसका होना आवश्यक नहीं। बल्कि बढ़िया ग्रंथकारों में तो अकसर इसका अभाव ही पाया जाता है। जो सचमुच प्रतिभा-सम्पन्न लेखक होते हैं वे अकसर अलहड़-पंथी होते हैं—यानी ज़िम्मेदारी का कोई भी काम वे लगातार नहीं कर सकते। और, बिना ऐसा किये अखबार-नवीसी चल नहीं सकती। अखबार—नवीसी मौजियों के लिए नहीं, और न वह साधु-संतों ही के लिए है; वह तो असली चलते-पुर्ज़े जीवों के लिए है जिनको रोज़ कोई न कोई नई बात सूझती है। × × × × समुचित रूप से विकसित विवेचना—शक्ति का होना भी ज़रूरी समझिए। चरित्र की उज्ज्वलता और सचाई का पक्ष रखते हुए भी कभी कभी अखबार-नवीस को अपनी आत्मा के विरुद्ध कुछ न कुछ लिखना पड़ता है। अतएव, जो अपनी आत्मा से सचमुच ही डरता होगा वह, चाहे नामी ग्रंथकार भले ही हो जाय, उतना अच्छा अखबार-नवीस नहीं हो सकता।"

ग्रंथकार का काम एक प्रकार से अधिक महत्त्व का है और वह इस प्रकार कि "विद्वान और सफल ग्रंथकार की कृति साहित्य-संसार में सदा अमर रहती हुई उस ग्रंथकार की कीर्ति-ध्वजा को फहराया करती है; सफल पत्र-सम्पादक का काम थोड़े ही दिनों की वाहवाही के बाद भुला दिया जाता है। × × × ग्रंथ—साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र में जो भाव, रत्न की सी झलक दिखाते हुए, सदा लोकोत्तरानन्ददायी हो सकते थे, वे आज किसी साप्ताहिक पत्र की पुरानी फाइलों में पड़े सड़े रहे हैं। न कोई उन्हें देखता है और न भविष्य में ही कोई उन्हें देखेगा। गये सो गये!"

इसीलिए, लगभग दस वर्ष पूर्व, लखनऊ के बाबू गोपाललाल खत्री ने "अपूर्व संग्रह" नामक एक वृहत् ग्रंथ निकालने का विचार किया था। इस ग्रंथ में साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों में निकल चुके उपयोगी तथा विचार-पूर्ण लेखों का संग्रह होनेवाला था। विचार बहुत अच्छा था; पर खेद है, वह अभी तक कार्य-रूप में परिणत नहीं हो सका। अब यदि कोई पुस्तक-प्रकाशक यह कार्य-भार स्वीकार करे, तो एक अच्छा ग्रंथ तैयार हो सकता है।

(३) निवास-प्रदायिनी सहयोग-समितियाँ।

आजकल प्रत्येक बड़े शहर में मकानों का किराया बढ़ रहा है। लोग यों ही मँहगी से तंग हैं, फिर किराया बढ़ने से घर के सुख से भी वंचित हो रहे हैं। अन्य स्थानों की अपेक्षा कलकत्ते में यह कठिनाई बहुत सालों से चली आ रही है। प्रोफ़ेसर पी० मुकर्जी, एम. ए., इसके ये कारण बताते हैं:—

(१) व्यापार और उद्योग-धंधों की वृद्धि होने के कारण दूसरे स्थानों के मनुष्य कलकत्ते में आ बसे हैं; (२) युद्ध-काल में ख़ूब माल पैदा कर व्यापारियों ने इस आशा से कई मकान मोल ले रखे हैं कि आगे चलकर इनकी क़ीमत और अधिक आवेगी; (३) कलकत्ते के इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट ने बहुत सी ज़मीन अपने काम के लिए ले ली है और इस प्रकार जिन लोगों के मकान गिरा दिये गये हैं उन्हें अन्यत्र जगह नहीं दी गई है; (४) सार्वजनिक संस्थाओं ने अपना बढ़ा हुआ ख़र्च निकालने के लिए ज़मीदारों से मकान का किराया बढ़वा दिया है, (५) सामान की मँहगी के कारण नये मकान नहीं बने; (६) नगर के बाहरी स्थानों को माल लाने-लेजाने की सुविधा नहीं और इसलिए नगर के भीतर ही जन-संख्या बढ़ रही है; (७) कलकत्ते के धनवान मनुष्यों को, ख़ासकर मालदार मारवाड़ियों को, यूरोपियन लोगों के समान, अपने सुख के लिए, ख़ूब लम्बी-चौड़ी जगह में रहने की इच्छा उत्पन्न हो गई है।

'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक ने एक और कारण यह बताया है कि जैसे भिन्न भिन्न वस्तुओं की कमी और मँहगी के कारण दूकानदारों तथा व्यापारियों ने अपने माल की क़ीमत चौगुनी अठगुनी बढ़ा दी है वैसे ही मकान-मालिकों ने मकानों का किराया भी बढ़ा दिया है। आगे चलकर मुकर्जी महाशय ने कुछ उपाय बतलाते हुए लिखा है:—

"सबसे मुख्य उपाय तो यही है कि रहने के लिए स्थान बढ़ाया जावे और बहुत से नये मकान शीघ्र बनाये जावें। बात यह है कि कलकत्ते में रहने वालों की संख्या तो बढ़ती जाती है; पर उसी हिसाब से मकानों की संख्या नहीं बढ़ रही है। यदि धनवान लोग नये नये मकान नहीं बना रहे हैं और लालच से तथा धन खींचने की इच्छा से किराया बढ़ा रहे हैं, तो किरायेदारों को चाहिए कि वे 'निवास-प्रदायिनी सहयोग-समितियाँ' बना लें और नये नये मकान बनाकर ग़रीब तथा कम वेतन वालों का कष्ट दूर करें। सर्कार को चाहिए कि वह इन समितियों की संरक्षक बनकर इन्हें धन और भूमि से सहायता करे।"

मुकर्जी महाशय का यह अन्तिम उपाय निस्सन्देह ठीक है। यदि जहाँ-तहाँ ऐसी समितियाँ बन-जावें, तो मध्यम स्थिति वालों का बड़ा हित हो। यह बहुत सम्भव है कि धनाढ्य लोग इन समितियों में योग न देंगे; पर समितियों को अपने बल का भरोसा रखना चाहिए; और हमें आशा है कि सर्कार, आवश्यकता पड़ने पर, उनकी सहायता अवश्य करेगी।

(४) मस्तिष्क-वालों के अधिकार।

कुछ दिनों से मजदूर-दल के हाथ में 'हड़ताल' नामक एक ऐसा अच्छा अस्त्र आ गया है जिसके बल से वे, आवश्यकता पड़ने पर, अपनी मजदूरी बढ़ा लेते हैं। अधिक मजदूरी देने के कारण, मालिक लोग अपने माल का भाव ऊँचा चढ़ा देते है। अब रहे वे लोग जो एकान्त में चिन्तन और मनन करके मानव-जीवन को सुखी बनाने के प्रयत्न में दिनरात लगे रहते हैं। इन मस्तिष्क-वालों की स्थिति आजकल क्या है सो गत जून के 'इंडियन रिव्यू' नामक अंग्रेज़ी मासिक पत्र में मिस्टर एम. जेकमन कोलमन ने बताई है। आप लिखते हैं—

"प्रायः सब देशों में 'बुद्धि' की अपेक्षा 'बल' को अधिक वेतन देने की चाल दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। सारांश यह कि मानसिक परिश्रम से उतना धन प्राप्त नहीं होता जितना शारीरिक परिश्रम से होता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नवयुवक उसी विभाग में काम करना पसन्द करते हैं जिसमें उन्हें अधिक द्रव्य मिलने की आशा रहती है, और जहाँ मानसिक परिश्रम करना पड़ेगा, कम वेतन मिलेगा तथा कई वर्षों तक शिक्षा ग्रहण करनी होगी उसका नाम तक नहीं लेते।"

इतना ही नहीं, भिन्न भिन्न व्यावसायिक कार्यालयों में भर्ती होने के लिए खूब प्रलोभन दिया जाता है जिससे वे व्यक्ति भी जो मानसिक परिश्रम कर कुछ कर दिखला सकते हैं उन कार्यालयों में जाने के लिए ललच जाते हैं। यहाँ उन्हें मानसिक परिश्रम करने के लिए ऐसी कोई उत्तेजना ही नहीं दी जाती जिसकी आशा पर वे अपना जीवन व्यतीत करें और बुढ़ापे की चिन्ता से छुटकारा पावें। संसार को मस्तिष्क-वालों की आवश्यकता सदैव रही है और रहेगी। उन्हींके कारण व्यवसायी लोग आज मजा उड़ा रहे हैं। उनके पूरे परिश्रम के बदले में उतना ही द्रव्य देना तो असम्भव है; पर हाँ, इतना तो उन्हें अवश्य दिया जाना चाहिए जिसमें वे आर्थिक चिन्ता से मुक्त हो अपना कार्य भलीभाँति कर सकें। लेखक महाशय ने कुछ उदाहरण देकर आगे यह दिखाया है कि मस्तिष्क वालों ने हाल ही में मानव-समाज के लिए क्या क्या किया है। वे कहते हैं—

"यदि एक आविष्कारक जूड़ी बुखार के कीटाणुओं का नाश करने का उपाय न ढूँढ निकालते, तो पनामा की नहर आजदिन न बन पाती। यूरोपीय महायुद्ध में एक डाक्टर ने मोतीझिरा का टीका निकालकर केवल फ्रान्स के दस लाख आदमियों को मृत्यु के मुँह से बचाया। यदि ऐसे ऐसे आविष्कार न हों, तो मानव-समाज का क्या हाल हो?"

लेखक महाशय आगे लिखते हैं कि आजकल इंग्लैण्ड में कई व्यक्ति पुलिसमैन होना स्वीकार करते हैं; पर मानसिक परिश्रम करना नहीं चाहते हैं। कारण स्पष्ट है कि पुलिसमैन होने से उन्हें जो

कुछ आर्थिक लाभ हो सकेगा वह मानसिक परिश्रम से न होगा। आप अन्त में कहते हैं कि जिस देश में मानसिक उन्नति को मान और उचित पुरस्कार दिया जावेगा वहाँ लेखक और अध्यापक, कलाविज्ञ और दार्शनिक, धर्माचार्य और आविष्कारक सभी उत्पन्न होंगे।

यह तो कोई स्वीकार न करेगा कि देश को मस्तिष्क-वालों की आवश्यकता नहीं है। फिर लेखक ने उनके जो अधिकार दिखाये हैं वे आवश्यक हैं या नहीं, पाठक स्वयं इसका विचार कर लें।

(५) शब्द और समाज।

इतिहासकार प्राचीन ग्रंथों, शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों आदि के आधार पर किसी देश का इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ होता है; परन्तु शब्द-शास्त्र-वेत्ता, शब्दों के रूपों और अर्थों की सहायता से, वही कार्य कर सकता है। समाज ज्यों ज्यों परिवर्तित होता है, त्यों त्यों उस समाज में प्रचलित शब्दों के रूप और अर्थ भी परिवर्तित होते हैं; और, इन्हीं रूपों और अर्थों पर ध्यान देकर शब्द-शास्त्र-वेत्ता सामाजिक स्थिति का पता लगा सकता है। यह खोज इतिहासकार की खोज से कहीं अधिक महत्त्व की है, क्योंकि इतिहासकार के साधन तो परिमित रहते हैं; परन्तु शब्द-शास्त्र-वेत्ता के साधन, शब्दों के रूप में, प्रायः अपरिमित होते हैं।

गत अगस्त मास के "माडर्न रिव्यू" मासिक पत्र में श्री मुहम्मद शाहेदुल्ला, एम० ए०, का लिखा एक छोटा सा लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें कई संस्कृत शब्दों के आधार पर भारतवर्ष की प्राचीन सामाजिक स्थिति का पता लगाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्दों को लीजिए—

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश था। भारतवासियों का सुख और दुःख कृषि पर ही अवलंबित था। "सुख" और "दुःख" शब्द ही इसके द्योतक हैं। जब भारतवासी (सु) "सरलता से" (ख) "खोद सकते थे" तब वे "सुख" मानते थे; और जब वे (दुः) "कठिनाई से" (ख) कृषि-कर्म करते थे तब वे "दुःख" पाते थे। जिन लोगों की "गोशाला" (गोत्र) एक होती थी वे सगोत्र कहलाते थे।

"विवाह" शब्द वह धातु से बना है। वह का अर्थ होता है "ले जाना", और विवाह के समय कन्या पिता के घर से पति के घर को ले जाई जाती थी। जो ले जाता था उसे "वोढ़ा" (दुलहा) कहते थे और जिसे ले जाते थे उसे "वधू" (दुलहिन) कहते थे। "परिणय" शब्द (परि=आसपास, नय=ले जाना) भी विवाह का वाचक है; क्योंकि विवाह के समय वर वधू के साथ अग्नि के चारों ओर घूमता था। "पाणिग्रहण" शब्द भी विवाह के अर्थ का वाचक है; क्योंकि विवाह के समय वर वधू का 'पाणि' (हाथ) 'ग्रहण' करता था।

प्राचीन समय में एक मनुष्य कई स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था। यह बात "दारा" शब्द से विदित होती है, जिसका अर्थ "स्त्री" होता है और जो व्याकरण के अनुसार सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होता है। "विधवा" (वि=रहित, धव=पति, अर्थात् पति से रहित) शब्द से प्रकट होता है कि स्त्रियाँ कभी कभी जन्म भर दूसरा विवाह नहीं करती थीं। "विधवा" शब्द का पुल्लिंग व्याकरण में नहीं होता है जिसका अर्थ यह हो सकता है कि पुरुष एक स्त्री की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह कर लिया करते थे।

"दम्पति" शब्द से सूचित होता है कि घर पर पुरुष और स्त्री दोनों का अधिकार होता था; पर "भर्त्ता" (पालन-पोषण करने वाला) होने के कारण पुरुष का कर्त्तव्य होता था कि वह अपनी स्त्री का भरण-पोषण करे।

"नगर" (नग=पहाड़) पहले पहल पहाड़ के पास बसाये गये थे। ऐसा होने से नगर गढ़ के समान सुरक्षित रहते थे।

"वर्ण" का अर्थ होता है "रंग" और "जाति"। इससे विदित होता है कि रंग भी वर्ण-भेद का कारण था। एक रंग वाले मनुष्य एक जाति के समझे जाते थे।

"पुरोहित" (पुरो=सामने, हित=रखा गया) यजमान के सामने बैठकर धर्म-कार्य कराया करते थे और उन्हें "दक्षिणा" में यजमान के दाहिने (या दाहिने) हाथ की ओर बैठी हुई गाय दी जाती थी।

इसी प्रकार और भी अनेक शब्द हैं जिनके अर्थ पर सूक्ष्म विचार करने से आर्यों की सामाजिक स्थिति का पता लगता है। "माडर्न रिव्यू" के उक्त लेखक ने अपने लेख में कतिपय संस्कृत शब्दों के अर्थ पर ही विचार किया है। इस प्रकार के शब्द हिन्दी भाषा में भी मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए "गँवार" शब्द को ही लीजिए। "गँवार" शब्द "गाँव" से बना है और उसका अर्थ होना चाहिए "गाँव में रहने वाला"; परंतु गाँव में रहनेवालों में बुद्धि कम होने के कारण "गँवार" का अर्थ "मूर्ख" होता है। यदि हिन्दी के कोई वैयाकरण महाशय व्याकरण के कड़े नियम रचकर भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकने का काम स्थगित कर, उपरोक्त रीति से, भाषा के विकास का अनुसंधान करें, तो हिन्दी-साहित्य में एक नया विषय—व्याकरण सदृश रूखे विषय से लगाव रखता हुआ भी रोचक विषय—उत्पन्न हो सकता है।

पुस्तकादि-परिचय।

१—हालेण्ड की स्वाधीनता का इतिहास—लेखक, ठाकुर छेदीलाल, एम० ए०; प्रकाशक, ठा० छोटेलाल, अकलतरा, बिलासपुर (सी० पी०); पृष्ठ-संख्या, ११५+७; मूल्य, तेरह आने। छपाई साधारण अच्छी।

'स्वातंत्र्य-सोपान-सीरीज' का यह प्रथम सोपान है। आरम्भ में ४३ पृष्ठों की एक विज्ञप्ति सम्पादक द्वारा लिखी गई है। सम्पादक कौन हैं सो पता नहीं। पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। इस पुस्तक में हालेण्ड का इतिहास १६ वीं सदी से लिखा गया है। इतिहास परिश्रम तथा खोज से लिखा गया जान पड़ता है। पुस्तक का विषय दस परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। स्वाधीनता का लक्ष्य रखकर प्रायः प्रत्येक बात का समावेश रोचक और अच्छे ढंग से किया है। मत-समर्थन के लिए, अंग्रेजी के अवतरण पाद-टीका में दिये गये हैं। आशा है, आगामी संस्करण में इनका अनुवाद कर दिया जायगा। पुस्तक बहुत उपयोगी है और प्रत्येक देशभक्त को पढ़नी चाहिये।

२—कर्म—लेखक, पं० लक्ष्मीनारायण दीनदयाल अवस्थी; प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-भण्डार, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या, ७६; मूल्य, ७ आने। छपाई साधारण।

आरम्भ में हिन्दी-चित्रमय-जगत् के सम्पादक द्वारा लिखित दो पृष्ठों का प्राक्कथन है। पुस्तक में कर्म, स्वावलम्बन, भाग्य, धर्म्म तथा कर्त्तव्य, आत्मश्लाघा और साहस, शान्ति और सफलता, रोग आदि विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। विषय के आदि में कहीं भाव के पद्य रक्खे गये हैं। नवयुवकों के काम की चीज़ है।

३—गृहरोगचिकित्सा—लेखक, श्रीयुत डाक्टर वासुदेवसहाय; प्रकाशक, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद; पृष्ठ-संख्या, लगभग चार सौ; मूल्य, कर चित्र १॥)

"यह पुस्तक १८ वर्ष डाक्टरी करने के बाद लिखी गई है। इसमें गर्भिणी के स्वास्थ्य-नियम अर्थात् गर्भवती स्त्री को किस तरह से रहना चाहिए ताकि खुद आरोग्य रहे और गर्भ का बालक भी भली प्रकार बढ़े और संसार में पुष्ट आवे। जो जो रोग गर्भ के समय में स्त्रियों को होते हैं उनका हाल, इलाज और जच्चा और जच्चाखाने का वृत्तान्त और फिर बालकों को दूध पिलाने के नियम और उनके रोगों का बयान जो प्रायः बच्चों को सताते हैं और उनका इलाज लिखा गया है।" इस पुस्तक की एक

विशेषता यह भी है कि इसमें देशी और अंग्रेज़ी दोनों प्रकार की ओषधियें लिखी गई हैं। पुस्तक की उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं। ऐसी उत्तम पुस्तकों का प्रचार प्रत्येक शिक्षित कुटुम्ब में होना चाहिए।

४—गन्ना और शक्कर—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत एस. सी. बेनरजी, कृषि-कालेज, कानपुर; पृष्ठ-संख्या, ११०, मूल्य, एक रुपया।

लेखक ने भूमिका में लिखा है—"ईख से शक्कर बनाने की कला में मेरा अनुभव बहुत पुराना है। बिहार की दो सब से बड़ी और उत्तम शक्कर-मिलों में ५ वर्ष तक रसायन-शास्त्री के पद पर रहकर आज १३ वर्ष से मैं संयुक्त-प्रांतीय सरकार के सहकारी कृषि-रसायनज्ञ के पद पर प्रतिष्ठित हूँ। इस समय में मेरा संबंध केवल एक अति उत्तम शक्कर-विषयक रसायनिक खोज की प्रयोगशाला ही से नहीं रहा है, किन्तु इक्षु की कार्यात्मक खेती के अनुभव का भी पूर्ण अवसर मिला है"। वास्तव में इसी प्रकार के अनुभवी और विद्वान् लेखक अपने अधीत विषय की पुस्तकें लिखने के अधिकारी हैं। पुस्तक में गन्ने की खेती और गन्ने का रस, राब, शक्कर आदि बनाने का सविस्तर वर्णन है। पुस्तक जिन लोगों के लिए लिखी गई है उनकी योग्यता का विचार कर यदि सरल भाषा व्यवहृत की जाती, तो पुस्तक की उपयोगिता निःसन्देह बहुत बढ़ जाती।

५—जैनीजी की तीन पुस्तकें—'जैन-प्रभात' के सम्पादक बाबू मंजमल जी जैनी ने अपनी लिखी ये तीन पुस्तकें भेजी हैं—(१) मनुष्य-जीवन के कर्तव्य—पृष्ठ-संख्या ६२; मूल्य, ५ आने। पुस्तक में सच्चरित्रता, मितव्ययता, उद्योग, स्वावलम्बन आदि १६ विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार प्रकट किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक विषय में विचारों की प्रौढ़ता तथा उदाहरणों की उपयुक्तता पाई जाती है। (२) मेरी व्यापक शिक्षा अथवा आत्मोद्धार; पृष्ठ-संख्या, २७४; मूल्य, १।=), डा० बुकर टी० वाशिंगटन का नाम समस्त शिक्षित संसार में प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ उन्हीं के आत्मचरित का उत्तरार्द्ध है। वाशिंगटन ने अपने जीवन में जो कुछ किया है उस सबका अन्तिम फल तथा उन कार्यों से जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है वह सब इस पुस्तक में दिखाया गया है। "वाशिंगटन के अनुभवों से हमें क्या शिक्षा मिलती है और हमें क्या करना चाहिए इसकी संक्षिप्त सूचना इस पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में पहले कर दी गई है।" पुस्तक उपादेय है। भूमिका में लेखक प्रस्तुत पुस्तक को अनुवाद-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। फिर न मालूम, मुख-पृष्ठ पर "अनुवादक" के बदले "लेखक" क्यों लिखा गया है। (३) स्त्री-जीवन—पृष्ठ-संख्या १४०, मूल्य पुस्तक पर नहीं छपा है। स्त्री-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी मुख्य बातें इस पुस्तक में, संक्षेप में, लिखी गई हैं। पुस्तक दस अध्यायों में पूरी हुई है। आरम्भ में स्त्री-जीवन के महत्त्व का अच्छा चित्र खींचा गया है। फिर बाल्यकाल का वर्णन करते हुए स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता दिखाई गई है। प्रेम, स्वार्थ-त्याग, मिष्ट भाषण, लज्जा, विनय, गृह-व्यवस्था, मातृ-जीवन, गृह-शासन आदि अनेक उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है। कुछ स्थलों पर पाठकों को मत-भेद दीख पड़ेगा; पर यह मानना होगा कि प्रायः सभी बातें विचार-पूर्ण हैं। अशुद्धियों की अधिकता के कारण डेढ़ पृष्ठों की 'शुद्ध्यशुद्धि-पत्रिका' लगाई गई है। फिर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं।

पहली दो पुस्तकें मल्हारगंज, इन्दौर के पते पर, जैनी जी से मिल सकती हैं और तीसरी मध्यभारत-हिन्दी साहित्य-समिति, इन्दौर से।

६—सोने का चाँद—सम्पादक और प्रकाशक, पं० शिवसहाय चतुर्वेदी, देवरी, सागर, म० प्र०; आकार, मझोला, पृष्ठ-संख्या ३५; मूल्य, ‍=)॥

इसमें आठ छोटी छोटी कहानियाँ हैं जिनमें कुछ कहानियाँ विज्ञान-मूलक, कुछ रोचक तथा कुछ शिक्षाप्रद हैं। पुस्तक बालकों के लिए लिखी गई है और उनके लिए उपयोगी जान पड़ती है। वैज्ञानिक कहानियों को बालक कहाँ तक समझेंगे इसमें सन्देह है।

७—भारतीय नीतिकथा—लेखक, पं० शिवसहाय चतुर्वेदी; प्रकाशक, नागरी-हितचिन्तक-कार्यालय, देवरी, सागर, म० प्र०; आकार, मझोला; पृष्ठ-संख्या १७०; मूल्य, ॥।)

इस पुस्तक में महाभारत की २४ अत्यंत रोचक एवं उपदेशप्रद कथाएँ सरल भाषा में लिखी गई हैं। पुस्तक नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी है। अध्यापक-गण, इसके आधार पर, छोटी अवस्था के विद्यार्थियों को, नीति-शिक्षा दे सकते हैं।

८—जबलपुर-ज्योति—लेखक, राय बहादुर हीरालाल सा., डिपुटी कमिश्नर, वर्धा; प्रकाशक का नाम पुस्तक पर नहीं छपा है, कदाचित् लेखक ही प्रकाशक होवें; पृष्ठ-संख्या, १८३; आकार, मझोला; मूल्य, एक रुपया।

राय बहादुर सा० मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता हैं। आपने अपने प्रिय विषय पर अनेक पुस्तकें अंग्रेज़ी में लिखकर अच्छी ख्याति उपलब्ध की है। कुछ समय से आप हिन्दी में लिखने लगे हैं। यह हर्ष की बात है।

मध्यप्रदेश का इतिहास जानने के लिए उसके भिन्न भिन्न जिलों का विस्तृत विवरण डिस्ट्रिक्ट गेज़ेटियर के रूप में, अंग्रेज़ी में, विद्यमान है। हिन्दी में इसका अभाव देखकर राय बहादुर सा० ने निश्चय किया है कि भिन्न भिन्न जिलों तथा रियासतों का विवरण दो वर्षों के भीतर प्रकाशित हो जाय। प्रान्तीय शिक्षा-विभाग ने इस शुभ विचार का अनुमोदन किया है और इस प्रान्त के कई लेखकों तथा विद्वानों को उक्त विवरण लिखने का भार सौंपा गया है। राय बहादुर सा० ने दमोह और जबलपुर जिलों का विवरण स्वयं लिखकर प्रकाशित किया है। इस प्रकार आपके द्वारा कार्य का सूत्रपात देखकर यह विश्वास होने लगा है कि मध्यप्रदेश के २५ जिला-विवरण शीघ्र ही तैयार होंगे जो प्रान्तीय-साहित्य में स्थायी-महत्त्व की वस्तु और राय बहादुर हीरालाल सा० की हिन्दी-हितैषिता के उत्तम परिचायक होंगे।

"जबलपुर-ज्योति" में आठ "किरणें" हैं जिनमें जबलपुर का रूप, इतिहास, निवासी, भूमि, व्यवसाय, शासन आदि का वर्णन है। वर्णन की प्रामाणिकता के लिए लेखक का नाम ही पर्याप्त है। विषय रूखा होते हुए भी उसमें जो रोचकता लाई गई है वह लेखक के लेखन-कौशल को प्रकट करता है। भाषा असमान है; और, लेखक ने जान-बूझकर उसका प्रयोग किया है। जबलपुर जिले का रंगीन नक्शा तथा कई प्रसिद्ध स्थानों के छाया-चित्र देने से पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे गये हैं वे भी पहुँच गई हैं और साभार स्वीकृत की जाती हैं—

(१) **हमारी अवनत स्थिति और उससे बचने का उपाय**—लेखक, पं० जगन्नाथ प्रभाशंकरजी, बड़ौदा; अनुवादक, बाबू रामयश गुप्त, बालोतरा, मारवाड़, मूल्य, ≈)॥

(२) **शिक्षांजली**—संग्रहकर्ता, पं० एन. पी. चन्द्रभूषण शर्मा, देहरादून; मूल्य, ≈)

(३) **आदर्श-चरितावली**—लेखक, पं० शिवसहाय चतुर्वेदी; प्रकाशक, नागरी-हितचिन्तक-कार्यालय, देवरी, सागर; मूल्य, ।≈)

श्रीशारदा

सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष १, खण्ड १

चैत्र—भाद्रपद,

संवत १९७७.

सम्पादक

नर्म्मदाप्रसाद मिश्र

प्रकाशक

शारदा-भवन-पुस्तकालय

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये]   जबलपुर   [एक प्रति का मूल्य आठ आने

कर्मवीर प्रेस, जबलपुर में मुद्रित।

लेख-सूची

चित्र-सूची।

रंगीन-चित्र ।

सादे चित्र ।

रंगीन चित्र	...	६
सादे ,,	...	३३
कुल ,,	...	३९

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ।।) और पुरानी प्रति का ।।।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ।।) भेजना चाहिए अथवा ।।=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

विज्ञापकों के लिए—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२।।)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषय के पहिले और पीछे के,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिए—

प्रबंधक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

जबलपुर के शारदाभवन-पुस्तकालय ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

Shri-Sharda-Reg. No. N. 241.

वर्ष १, खण्ड २] कार्तिक, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या २

श्री शारदा



वार्षिक मूल्य ५)] [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक
साहित्यशास्त्री नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए. विशारद

जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर द्वारा प्रकाशित।

लेख-सूची।

संख्या | पृष्ठ

चित्र-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

लेखकों के लिए—

१—मत-मतान्तर और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा"-कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने या न करने, घटाने या बढ़ाने, एवं लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

७—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

९—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

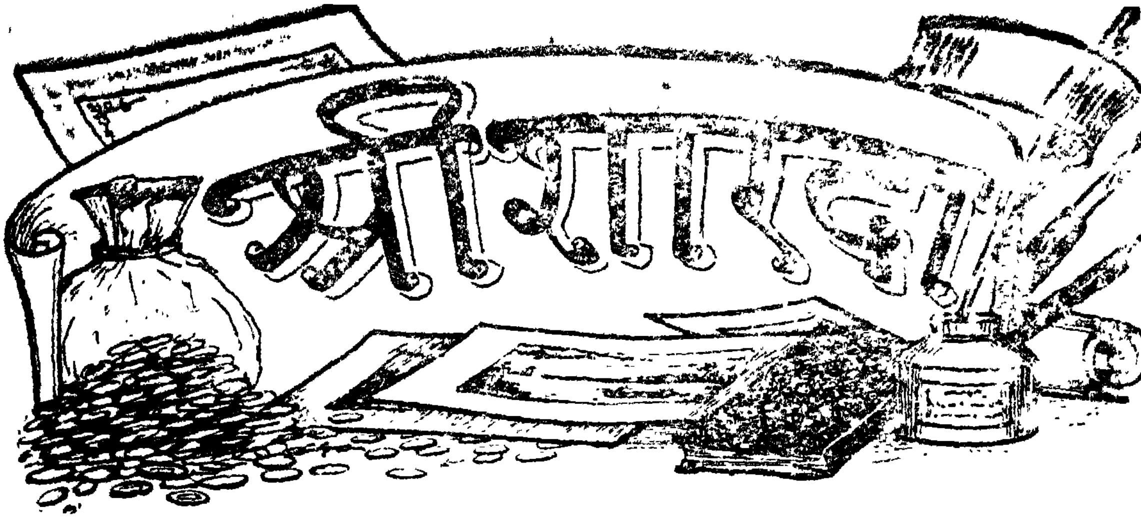
१०—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—

सम्पादक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।



कलकत्ताकी स्पेशल कांग्रेसके कुशल कर्णधार

श्रीयुक्त लाला लाजपतराय।



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड २]   कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * ११ नवंबर, १९२०   [संख्या २, पूर्ण संख्या ८

देशोद्धार।

(लेखक—पं० रूपनारायण पाण्डेय।)

आओ करें देश उद्धार, आओ करें देश उद्धार।

स्वाभिमान के साथ विनय हो,
स्वावलम्ब के साथ विजय हो,
राष्ट्र-भक्ति से भरा हृदय हो,
धर्म एक आधार, आओ करें देश उद्धार ॥१॥

सत्य-मार्ग से हम न टलेंगे,
औरों को भी नहीं खलेंगे,
द्रोह दम्भ का नाम न लेंगे,
होंगे उच्च विचार, आओ करें देश उद्धार ॥२॥

राम-कृष्ण की सन्तति हम हैं,
कौन बात में किससे कम हैं?,
सज्जन-बन्धु, दुष्ट से यम हैं,
उद्यम के अवतार, आओ करें देश उद्धार ॥३॥

मर कर अमर कहाने वाले,
प्रण पर प्राण गँवाने वाले,
गुण से गौरव पाने वाले,
हम हैं आर्य उदार, आओ करें देश उद्धार ॥४॥

हम स्वदेश के, देश हमारा,
उस पर हमने जीवन वारा,
ईश्वर का है हमें सहारा,
रूठे सब संसार, आओ करें देश उद्धार ॥५॥

घिरें विपद के बादल काले,
चलें जुल्म के भीषण भाले,
पड़ें कठिन कष्टों के पाले,
रहे देश का प्यार, आओ करें देश उद्धार ॥६॥

ज्ञान-ग्रन्थ का पाठ पढ़ा है,
देश-प्रेम का रंग चढ़ा है,
देश-भक्ति का भाव बढ़ा है,
खुला सफलता-द्वार, आओ करें देश उद्धार ॥७॥

देश-दुर्दशा दुख हरने को,
भुजा फड़कती कुछ करने को,
हृदय मचलता है मरने को,
हम सब हैं तैयार, आओ करें देश उद्धार ॥८॥

हिन्दू मुस्लिम या ईसाई,
भारतीय हम हैं सब भाई,
सब के मन में यही समाई,
करें अब देश-सुधार, आओ करें देश उद्धार ॥९॥

माता के दुख दूर करेंगे,
चिन्ता चित की चूर करेंगे,
मरना भी मंजूर करेंगे,
जो हो देश-सुधार, आओ करें देश उद्धार ॥१०॥

जय भारत की, जय स्वदेश की,
पर्वा हमको नहीं क्लेश की,
ममता भाषा भाव भेष की,
भूलें कभी न यार, आओ करें देश उद्धार ॥११॥

एका तत्परता संबल है,
उन्नति का उत्साह प्रबल है,
हम सबका भविष्य उज्ज्वल है,
होगा बेड़ा पार, आओ करें देश उद्धार ॥१२॥

राज्यक्रान्ति तथा राजनैतिक प्रभुत्व का सिद्धान्त।

(लेखक—अध्यापक प्राणनाथ, विद्यालंकार)

राज्य संशोधन (Reform) तथा राज्य-क्रांति (Revolution) में बड़ा भेद है। राज्य-संशोधन तभी तक है जब तक कि (१) संपूर्ण परिवर्त्तन प्रचलित राज्यनियमों तथा शासनपद्धति की धाराओं के अनुसार ही किये जाएँ और (२) प्राचीन-शासनपद्धति की आकृति तथा आधार को सर्वथा ही न पलट दें। यदि यह बात न हो और शासनपद्धति की आकृति तथा आधार ही कुछ संशोधनों के द्वारा पलटे जाएँ, तो उसको राज्यक्रान्ति समझना चाहिए[1]। राज्यक्रान्ति में सफल न होने का नाम ही विद्रोह (Rebellion) है[2]। राज्यक्रान्ति बाह्य तथा अन्तर्गीय दो प्रकार की है। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र की पराधीनतामयी कठोर जञ्जीरों से अपने आपको अलग करना 'बाह्य राज्य-क्रान्ति' करना है। अमेरिका का इंगलैण्ड से पृथक होना और दक्षिणी अमेरिका का स्पेन से पृथक होना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। राष्ट्र का अन्तर्गीय रीति से प्रभुत्व-शक्ति को बदलना 'अन्तर्गीय राज्य-क्रान्ति' के नाम से पुकारा जाता है। जर्मन राष्ट्रात्मक शासन-पद्धति का उदय इसी राज्यक्रान्ति का परिणाम है।[3]

अमास महाशय के अनुसार अन्तर्गीय राज्य-क्रान्ति तीन प्रकार की होती है[4]:—

(१) **अराजकवादी राज्यक्रान्तिः**—स्थित राज्य को किसी स्थिर उद्देश्य तथा सुधार को सोचे बिना नष्ट करने का यत्न करना अराजकवादी राज्यक्रान्ति है।

(२) **शासन-पद्धति-विषयक राज्य-क्रान्ति**—इसमें शासन-पद्धति के पलटने या आधारभूत भयंकर परिवर्त्तन करने का ही मुख्य उद्देश्य होता है।

(३) **राज्य-विषयक राज्यक्रान्ति**—राज्य के कठोर या स्वीकार करने योग्य कार्य्यों को रोकने के लिए जो राज्यक्रान्ति की जाती

1. The Theory of the State by Bluntschli pp, 508
2. Gettell: Introduction to Political Science ; p- 104
3. Ibid pp. 105
4. Amos, the Science of Politics, PP. 430-431

है उसको राज्यविषयक राज्यक्रान्ति कहते हैं।

यदि परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार राज्य का संशोधन निरन्तर न होता रहे तो राष्ट्र का जीवन तथा प्राण स्वरक्षित कभी नहीं रह सकते। भारत के सदृश यदि किसी राष्ट्र की जनता को इस नैसर्गिक अधिकार से वञ्चित रखा जाय तो इसका यह तात्पर्य है कि राज्य उन्नति का विरोधी है और राज्यक्रान्ति के बीज बो रहा है।

जनता को राज्यक्रान्ति का अधिकार है या नहीं? यह एक विकट प्रश्न है; क्योंकि प्रचलित राज्य-नियमों के साथ 'राज्यक्रान्ति के अधिकार' का नैसर्गिक विरोध है। राजनीतिज्ञ जन राज्यक्रान्ति करने में जनता का अधिकार न मानते हुए भी इसको एक अवश्यभावी ऐतिहासिक घटना समझते हैं जो कि संशोधन या परिवर्तन के विरोधी राज्यों के समूल नाश के लिए उत्पन्न होती है और राष्ट्र का जीवन स्वास्थ्य-प्रद परिस्थिति में रखने का यत्न करती है। शासकों का कर्तव्य है कि जनता की इच्छाओं के अनुसार राज्य में उचित परिवर्तन करते हुए राज्यक्रान्ति को उत्पन्न न होने दें।

राष्ट्र की स्थिति के नाश का ही यदि सन्देह हो तो जनता को यह अधिकार है कि वह राज्यक्रान्ति कर दे। राज्य तो राष्ट्र का एक अंग है। यदि राष्ट्ररूपी शरीर के नाश की ही संभावना है या राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र के राज्य के कारण अपनी स्वतंत्रता खो बैठा हो तो राज्यरूपी अंग को काटकर संशोधन करना आवश्यक है। सारांश यह है कि राज्यक्रान्ति आपद्धर्म्म होने से नितान्त आवश्यक है। राज्य तथा राज्यनियम शान्ति के लिए हैं, न कि आपत्ति के लिए। नवेर ने ठीक कहा है—"आपद्धर्म्म की सत्ता का अपलाप करना भयंकर से भयंकर अत्याचारों के लिए दरवाज़ा खोलना है। जब एक जाति पैरों तले रौंदी जा रही हो और अमानुषी अत्याचारों से पीड़ित हो, और जहाँ स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों का कोई ख्याल न हो, ऐसी भयंकर आपत्ति में अत्याचारी राज्य के विरुद्ध राज्यक्रान्ति करने से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और जो इस सिद्धान्त को नहीं मानता उससे बढ़कर कोई पापी नहीं।"[1]

भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञों ने भी राज्यक्रान्ति को कभी बुरा नहीं समझा। उन्होंने किसी भी स्थल पर यह नहीं लिखा कि प्रजा को राज्यक्रान्ति न करना चाहिए। वे लोग राज्यक्रान्ति को अत्याचार तथा क्रूर-व्यवहार का आवश्यक परिणाम समझते थे। चाणक्य ने लिखा है कि शासक लोग जब काम या क्रोध से शासन करते हैं तो जंगल में रहने वाले वानप्रस्थ तक कुपित हो जाते हैं, गृहस्थियों का तो कहना ही क्या है?[2] शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के पीछे पड़ कर सार्वभौम राजा भी शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है। दाण्डक्य नामक भोज राजा ने काम के वशीभूत हो ब्राह्मणकन्या को खराब करना चाहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सपरिवार नष्ट हुआ। यही दशा विदेह के राजा कराल को भोगनी पड़ी। अधिक क्या, ब्राह्मणों पर एकमात्र क्रोध करने से ही महाराज जन्मेजय मृत्यु को प्राप्त हुए। भृगुओं में तालजंघ ने जन्मेजय का भाग्य देखा। लालच में आकर महाराज ऐल ने चारों वर्णों के लोगों को सताना शुरू किया और इसीका अनुकरण सिन्धु तथा काठियावाड़ गुजरात के राजा अजबिन्दु ने किया। दोनों ही नष्ट हुए। रावण दूसरों की औरतों को छीन कर, दुर्योधन दूसरों के राज्य का हिस्सा लेकर, और हैहय अर्जुन अन्यों का अपमान कर अभिमान से भयंकर गति को प्राप्त हुए।[3] शुक्रनीति के लेखक ने भी चाणक्य के विचारों को पुष्ट किया[4] और

---

1. The Theory of the State by Bluntschli, Third Edition p. p- 508
२. कौटिल्नीयं अर्थशास्त्रम्, १ अधि, ४ अध्याय, प्रकरण २ (६-५-१०-१)
३. कौटिलीयं अर्थशास्त्रम, १ अधि, ६ अध्याय, प्रकरण ३ (१२.१—१३.१)
४. शुक्रनीतिसार, द्वितीय संस्करण, पृ. ३४ (जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित)

यहाँ तक लिख दिया कि बहुत कठोर शासन करने वाले राजा को प्रजा छोड़ देती है[1]। यदि प्रजा राजा की निन्दा करती हो तो राजा को राज्य में संशोधन करना चाहिए; परन्तु प्रजा का अपमान कभी भी न करना चाहिए;[2] क्योंकि जो राजा प्रजा में अपनी निन्दा को सुन कर अत्याचार करते हैं, राष्ट्र से रुपया ज़बरन् ग्रहण करते हैं, अपराधों को क्षमा नहीं करते उनके प्रति प्रजा राज्यक्रान्ति कर देती है।[3] जिस राजा से प्रजा रुष्ट हो और जिसके कामों की निन्दा करती हो वह राजा बहुत ही नीच तथा अधम होता है[4]। प्रजा राजा को धन देती है; इसलिए राजा प्रजा का नौकर है[5]। सारांश यह है कि राष्ट्र की प्रभुत्वशक्ति जनता में है, न कि राजा में। भारत में नई नई शासन-पद्धतियों के प्रचलित होने पर भी प्राचीन भारतीयों का उपर्युक्त विचार शिथिल नहीं हुआ। यही बात थी जिससे वाल्मीकि महाराज रामचन्द्र को युवराज बनाते समय जनता की परिषद् को आमन्त्रित करने में विवश हुए।[6] ब्रह्म पुराण के लेखक तथा महाभारत के रचियिता देशकालीन राज्यक्रान्ति को दिखाने में तथा ब्राह्मण वर्गों पर राजा की प्रभुत्वशक्ति को नष्ट करने में प्रवृत्त हुए और पुरोहितरूपी संस्था को राजा के ऊपर बैठाते हुए प्रजा की प्रभुत्वशक्ति को पूर्ण रीति से सिद्ध कर गये।[7] भारत की प्राचीन जनता को अपनी प्रभुत्वशक्ति का बहुत ही अधिक ख्याल था। यदि यह न होता तो राज्याभिषेक के समय अध्वर्यु (पुरोहित) उसकी पीठ पर दण्ड क्यों मारता? शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि 'राजा को राज्याभिषेक के समय दण्ड से धीरे धीरे मारा जाता है। यह इसीलिए कि राजा की प्रभुत्व शक्ति अपरिमित नहीं। वह भी दण्ड के अधीन है। यही कारण है कि राजा दण्डय है[1]।

यूरोप में मध्य काल में ही राजनीतिज्ञों का ध्यान इस विचार की ओर गया। उनको अनुभव हुआ कि राज्य के संशोधन या पलटने के लिए जनता का साधन बनना आवश्यक है। राज्यों के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार तभी तक हैं जब तक कि जनता संगठित होकर राज्यक्रान्ति नहीं करती। फरासीसी राज्यक्रांति में जनता के प्रभुत्वशक्ति विषयक विचार ने अपूर्व चमत्कार दिखाया। फ़रासीसी जातीय सभा ने राज्य का तख्ता पलटने के लिए १७९२ को २० अप्रेल को रूसो के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए कहा कि "प्रत्येक जाति को अपने क़ानून बनाने तथा बदलने का अधिकार है। यह सारी जनता के सिवा और किसी का अधिकार नहीं"। १८४८ की बात है कि फ्रान्स की जनता ने परिमित शक्तियुक्त एकतंत्र राज्य को पलट कर प्रतिनिधितंत्र राज्य की स्थापना की। उस समय जो उद्घोषणा की गई उसके शब्द हैं कि "प्रत्येक युवा फरासीसी फ्रान्स का नागरिक है। प्रत्येक नागरिक निर्वाचक और प्रत्येक निर्वाचक राष्ट्र का राजा या प्रभु है। सब नागरिकों का समान अधिकार है। कोई एक नागरिक दूसरे नागरिक से यह नहीं कह सकता कि राष्ट्र पर तुम्हारी अपेक्षा मेरा अधिक प्रभुत्व है। अपनी शक्ति को समझो और काम में लाओ। अपनी प्रभुत्वशक्ति के उचित अधिकारी बनो।"[2]

जब से राजनीतिज्ञों ने जनता में प्रभुत्वशक्ति को मान कर राज्यक्रान्ति करवाना शुरू किया तब से राज्यों का स्वेच्छाचार बहुत कम हो गया। जनता की सम्मतियों के अनुसार ही राज्यनियम बनाना तथा शासन करना आजकल राज्यों का

१. शुक्रनीतिसार, द्वितीय संस्करण पृ. ३३ श्लो. १४८ (जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित)

२. शुक्रनीतिसार, द्वितीय संस्करण पृ. ३१ श्लो. १३३–१३४

३. शुक्र. पृ. ३१ श्लो. १२८–१३०-१३१

४. शुक्र. पृ. ३० श्लो. १२७

५. शु. पृ. ४४ श्लो. १८८

६. ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २.

७. पं. प्राणनाथ विद्यालंकार लिखित सामाजिक प्रश्न सिद्धान्त

१. शतपथ, काण्ड ५ ब्राह्मण ४ अनुवाक ७१.

2. Bluntschli, The Theory of the State, Third Edition P. P. 488—499

मुख्य उद्देश्य है। स्थानीय राज्य, जनसम्मतिविधि, निर्वाचन का विस्तृत अधिकार, प्रतिनिधियों द्वारा काम करना, इत्यादि अनेकों तरीके हैं जिनसे यूरोपीय राज्य राज्यक्रान्तियों से अपने आपको बचाते हैं।[1]

यूरोप तथा भारत के प्राचीन राजनीतिज्ञ जनता में राजनैतिक प्रभुत्व समझते थे और इसीलिए राज्य-क्रांति को उचित समझते थे। गंभीर विचार करने से राजक्रान्ति तथा राजनैतिक प्रभुत्व का प्रश्न बड़ा पेचीला हो जाता है।

स्वेच्छाचारी राज्यों में राजा ही सर्व-शक्तिमान् तथा राष्ट्र का प्रभु समझा जाता है। परन्तु प्रायः यह देखने में आया है कि वह भोगविलास में मस्त होने से अपना काम मन्त्रियों पर छोड़ देता है और इस प्रकार मन्त्री ही राष्ट्र का प्रभु तथा सञ्चालक बन जाता है। वंशागत मन्त्री भी प्रायः राजा को कठपुतला बना देते हैं।[2] कभी कभी पुरोहित लोग भी अपनी धार्मिक शक्ति के बल पर राजा को निःशक्त कर देते हैं और राष्ट्र की प्रभुत्वशक्ति को स्वयं ही काम में लाते हैं।[3] प्राचीन भारत में नियमनिर्माण राजा के हाथ में न होने से,[4] ब्राह्मणों को दण्ड देने में राजा के असमर्थ होने से,[5] और नियमों की समस्याएं सरल करना एकमात्र ब्राह्मणों के हाथ में होने से, एकतन्त्र राज्य-पद्धति के होते हुए भी राष्ट्र पर प्रभुत्व ब्राह्मणों का ही था। ब्रह्महत्या का पाप बनना इसी प्रभुत्व-शक्ति के साथ सम्बद्ध है।

प्रतिनिधितन्त्र राज्यों में देखने में तो प्रतिनिधियों का राज्य होता है; परन्तु वस्तुतः उनके पास निर्वाचन के सिवा और कुछ भी नहीं होता। निर्वाचित होने के बाद प्रतिनिधि स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और प्रायः मनमाने ढंग पर चलने लगते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि प्रतिनिधि-निर्वाचन में धनशक्ति का प्रयोग होने से धनिक या कुलीन लोग ही प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इससे राष्ट्र की प्रभुत्वशक्ति चिरकाल तक एक ही दल या एक ही श्रेणी के लोगों के पास रहती है। आधुनिक राष्ट्रों में पूंजीपतियों को विशेष शक्ति प्राप्त है। इससे राष्ट्र की प्रभुत्व-शक्ति श्रमियों तथा दरिद्रों के स्वार्थ में न प्रयुक्त होकर, पर-राष्ट्रों के धन-शोषण में खर्च की जाती है। साम्राज्यवाद की ओर यूरोपीय राष्ट्र क्यों झुक रहे हैं इसका रहस्य भी इसीमें छिपा है। प्रोफेसर डीसी ने ठीक कहा है कि "राज्यनियमों के अनुसार जो राजा समझा जाता है प्रायः वह किसी दूसरे का कठपुतला होता है। दूसरा जैसे उसको नचावे उसको वैसे ही नाचना पड़ता है।"[6] प्रोफेसर सिज्विक[1] ने ऐसे राज्य का पता लगाने का यत्न किया है जो राज्यनियमों के अनुसार राजा होते हुए वास्तव में भी राजा हो। उनका कथन है कि वह स्वेच्छाचारी प्रधान (ir-responsible dictator) जोकि जनसभा से निर्वाचित हो और पुनर्निर्वाचन का अनिच्छुक हो, उसी को राज्यनियम-प्रतिपादित तथा वास्तविक राजा या प्रभु समझना चाहिए। परन्तु यदि वह पुनर्निर्वाचन का इच्छुक हो तो उसको जनसभा की इच्छा का विशेष ध्यान रखना पड़ेगा। इस हालत में उसको मुख्य शासक या मुख्य प्रभु समझ लेने में भूल होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्यनियमों के अनुसार एक व्यक्ति या सभी के पास प्रभुत्वशक्ति के होते हुए भी वास्तव में वह राष्ट्र का प्रभु नहीं होता। कहीं पुरोहित, कहीं सेनापति या पूँजीपति, कहीं कुलीन या दर्बारी

1. Willoughby, the Nature of the State P. 302 Gettell Introduction to Political Science P. 101
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र १३-४—१५-५.
३. महाभारत, शान्तिपर्व, राजपुरोहित का लक्षण।
४. मनु ३२ श्लो. १२.
Pramthanatha: Public Administration in Ancient India.
५. प. प्राणनाथ कृत सामाजिक सिद्धान्त
6. A. V. Dicey: Law of the constitution.

1. Sidgwick, Elements of Politics, Chap XXXI.

राज्यक्रान्ति करना ही वास्तविक धर्म्म है। जनता तथा वैयक्तिक-स्वतन्त्रता तभी स्वरक्षित हो सकती है जब कि 'राज्यक्रान्ति' अपराध न बनकर अच्छा काम समझा जाय और जनता मनमानी रीति से स्वतन्त्रतापूर्वक रक्त की एक बूँद बिना बहाये राज्य के तख्ते को पलट सके। महाभारत के एक अति प्राचीन संस्करण में तो यहाँतक लिखा था कि "जो राजा प्रजाकी रक्षा के लिए वचन देकर प्रजा की रक्षा ठीक ढँग पर न करे, उस समय प्रजा को चाहिए कि सम्मिलित होकर उसको कुत्ते की तरह बोटी बोटी काटकर फेंक दे"।[1] सारांश यह है कि राज्यक्रान्ति को प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ कुछ भी बुरा न समझते थे और वह बुरी हो ही कैसे सकती है जब कि जनता ही राजनैतिक प्रभुत्व का स्रोत है।

जापानी प्रेस।

(लेखक—माननीय ब्यौहार रघुवीरसिंह)

समाचार-पत्र उतने ही पुराने हैं जितनी कि सभ्यता। सभ्यता की उन्नति के साथ ही साथ समाचारपत्रों की भी उन्नति हुई। परंतु आधुनिक समाचार-पत्रों की उन्नति पश्चिम में छापे की कल के आविष्कार के बाद शुरू हुई। सुनते हैं कि कई हज़ार वर्ष पूर्व चीन में छापे की कल थी। पश्चिम में छापे की कल का आविष्कार उसके बाद हुआ, तभी से समाचार-पत्रों की उन्नति शुरू हुई।

जापान में अभी अन्य बातों की उन्नति के साथ समाचार-पत्रों की उन्नति हुई। १९ वीं सदी के मध्य में जापान में पहिला पत्र निकला। ५० वर्ष में जापान ने इतनी उन्नति कर ली कि आज केवल जापान की राजधानी टोकियो से २१ दैनिक पत्र निकलते हैं। १९१५ में कुल जापान से प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों की संख्या ८९१ और मासिक पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं की कुल संख्या २७१९ थी।

जापानी-प्रेस भारतीय प्रेस से बहुत अधिक स्वतंत्र है, यद्यपि कुछ क़ानून ऐसे हैं जिनसे प्रेस की स्वतंत्रता में कुछ बाधा आती है। जापान सरकार हर एक पत्र से कुछ जमानत जमा करा लेती है और न्यायालय के फ़ैसले के अनुसार उसमें से जुर्माना काट लेने आदि का अधिकार रखती है। बिना अदालत के फ़ैसले के उस जमानत में कोई हाथ नहीं लगा सकता। एक और अच्छी बात यह है कि जमानत की रकम कुछ बँधे हुए नियमों के अनुसार निश्चित की जाती है, न कि मजिस्ट्रेट के इच्छानुसार। इन बातों में भारतीय प्रेस की अपेक्षा जापानी प्रेस अधिक स्वतंत्र है। जापानी प्रेस में एक बात बड़ी विचित्र है। जब कोई पत्र किसी व्यक्ति के विषय में कोई मान-हानि-सूचक बात छापता है, तब वह पत्र अपने पूर्व लेख के विरुद्ध उतने ही बड़े कालम में, उतने ही बड़े टाइप में और उतनी ही जगह में एक एक लेख छापने पर बाध्य किया जाता है। अगर वह ऐसा न करे तो दंड का भागी होता है। समाचार-पत्र सरकार के द्वारा जप्त कर लिये जा सकते हैं या उनकी बिक्री बंद कर दी जा सकती है। अदालत के फ़ैसले के अनुसार पत्र सदा के लिए या कुछ दिनों के लिए बंद कर दिये जा सकते हैं। परंतु ऐसे फ़ैसले बहुत कम होते हैं।

१. महाभारत—शान्तिपर्व।

जापानी भाषा में छपने वाले पत्रों के सिवा अंग्रेज़ी में भी कुछ पत्र निकलते हैं जिनकी बिक्री बहुत कम होती है। इन पत्रों के मालिक अधिकतर विदेशी लोग हैं और इनका प्रचार भी विदेशियों में ही है।

उपरिलिखित बातों से पाठकों को मालूम होगा कि जापानी प्रेस कुछ तो अवश्य दबाये जाते हैं। परन्तु जापानी पत्र पढ़ने से पाठकों को यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जायगी कि उनकी स्वतंत्रता कुछ बातों को छोड़कर पश्चिमी प्रेसों की स्वतन्त्रता से कम नहीं है। प्रेस के क़ानून की धाराएँ तो कुछ कड़ी अवश्य हैं। परंतु वे बहुत कम काम में लाई जाती हैं। असल में जापानी प्रेस अमेरिकन प्रेसों के बराबर स्वतंत्र हैं।

जापान में हमारे देश के समान सरकारी कर्मचारी तथा विद्यार्थी राजनैतिक पत्रों के ग्राहक बनने पर बाध्य नहीं किये जाते। वहाँ तो सरकारी कर्मचारी भी पत्रों को स्वतंत्रतापूर्वक चला सकते हैं। उस देश में प्रायः सभी प्रधान राजनैतिक नेताओं के स्वतंत्र पत्र हैं।

जापानी पत्र सरकार का विरोध करने में उतने ही स्वतंत्र है जितने कि अमेरिकन पत्र। ऊँचे ऊँचे पदों पर स्थित सरकारी कर्मचारी भी पत्र-संपादकों को भोजन के लिए बुला कर उनको सरकार की नीति समझाने की कोशिश करते हैं और उन लोगों से सलाह लेते हैं। ऐसे भोजन के अवसरों पर अपने पक्ष के और विपक्ष के सब पत्रों के संवाददाता बुलाये जाते हैं और उन्हें स्पष्ट रूप से सरकार की नीति समझाई जाती है जिसमें किसी को नासमझी न पैदा हो। इस तरह जापानी प्रेस सरकार से बहुत घनिष्ठ संबंध रखता है और सरकार उस पर विश्वास करती है। बड़े से बड़े राष्ट्रीय मामलों में भी पत्र-संपादकों की सलाह ली जाती है। बहुतसे ऐसे अवसर भी आते हैं जबकि सरकार इन पत्रों के संपादकों को अपनी नीति समझा सकने में असमर्थ होती है और इसलिए इनसे कड़ी आलोचना सुनती है।

जापान के प्रधान पत्र संसार के प्रत्येक देश की राजधानी में अपने निज के संवाददाता रखते हैं, दूसरों के संवादों पर वे बहुत कम अवलंबित रहते हैं। वहाँ के संपादक लोग संसार की राजनीति के विषय में अच्छे जानकार होते हैं। अभी तक वे लोग भारतीय मामलों पर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं समझते थे; परंतु हर्ष की बात है कि अब उनका ध्यान कुछ कुछ हमारी ओर खिंचा है।

जापान के प्रत्येक प्रधान पत्र के दफ़्तर में काम करने वालों की संख्या बहुत अधिक रहती है। वहाँ लेखक भी कार्यालय में रहते हैं। एक दैनिक पत्र के दफ़्तर में केवल लेखकों की संख्या ३०० है। समाचार-पत्रों के दफ्तरों के अलग अलग विभाग हैं। एक विदेशी विभाग है जो विदेशी मामलों से संबंध रखता है। इस विभाग में विदेशों में घूमे हुए विद्वान् काम करते हैं जो विदेशी मामलों को अच्छी तरह समझ सकते हैं। साहित्य, व्यापार, खेती, राजनीति आदि के भी विभाग हैं जिनमें इन्हीं विषयों के विद्वान् काम किया करते हैं।

संपादकों का वेतन भी मामूली रहता है। जापान में सबसे अधिक तनख्वाह पाने वाला संपादक

५०० येन (जापानी सिक्का) पाता है।

लगभग सब समाचार-पत्र अपने अपने प्रतिनिधि विदेशों में, वहाँ की राजनीति आदि का अध्ययन करने के लिए, भेजते हैं। बिना उस स्थान पर गये किसी जगह की असली बात मालूम होना कठिन होता है। इन लोगों को विदेश भेजने में बहुत खर्च होता है। ये लोग विदेशों की राजनीति अच्छी तरह से अध्ययन करके स्वदेश को सच्चा समाचार भेजते हैं। इस तरह जापानी पत्र विदेशी मामलों से भी बहुत अच्छा परिचय रखते हैं। ऐसा कोई भी पत्र न होगा जिसके खर्च से एक न एक मनुष्य विदेश न भेजा गया हो। सब पत्र विदेशों में अपने संवाददाता रखते हैं। हर एक पत्र के कार्यालयों में विदेश से लौटे हुए अनुभवी लोग काम करते हैं।

अब जापान की दशा से भारत की दशा का मिलान कीजिए। हमारे यहाँ के पत्र इतने धनवान नहीं हैं कि विदेशों में अपने खर्च से अध्ययन के लिए प्रतिनिधि भेज सकें या अपने संवाददाता विदेशों में रख सकें। यदि कहीं विदेश में भारत के संवाददाता हैं तो केवल लंदन में हैं। वहाँ भी अपने देशी लोग नहीं रक्खे जा सकते और विदेशियों पर पूरा विश्वास नहीं किया जाता। फिर ठीक ठीक संवाद कैसे मिलें? जो कुछ विदेशी समाचार आते भी हैं वे घटना के बहुत बाद प्रकाशित होते हैं।

इसीलिए विदेशी मामलों में हमारी बहुत अधिक अज्ञानता रहती है। धन का अभाव सब बातों में आड़े आता है।

असली बात तो यह है कि बिना भारतीय उद्योग-धंधों और कलाकौशल में उन्नति हुए, प्रेस की उन्नति कदापि संभव नहीं। व्यापार ही प्रेस को चलाता है, न कि ग्राहक-संख्या। फिर, ग्राहकसंख्या भी तो हमारे यहाँ बहुत कम है। हमारे यहाँ समाचार-पत्र सस्ते भी नहीं हैं और जनता में अज्ञानता भी है। फिर ग्राहक-संख्या बढ़े तो कहाँ से बढ़े। यहाँ पत्रों का महँगा होना अनिवार्य है; क्योंकि पत्र तो अधिक विज्ञापनों ही के कारण सस्ते होते हैं और विज्ञापनों की अधिकता तभी संभव है जब कि वाणिज्य-व्यापार और कला-कौशल की उन्नति हो। जापान में व्यापार की उन्नति के कारण पत्रों को विज्ञापनों के मारे जगह नहीं मिलती; इसीलिए वे सस्ते भी होते हैं और शिक्षित जनता के कारण उनका प्रचार और भी अधिक होता है; परंतु हमारे यहाँ इन तीनों बातों का अभाव है। विज्ञापनों तथा अन्य कठिनाइयों के कारण पत्र-संपादकों को पत्र महँगे करना ही पड़ते हैं, और इसीलिए अज्ञान जनता में उनका प्रचार भी नहीं होता। जापान में प्रायः प्रत्येक स्त्री पुरुष शिक्षित है; परन्तु हमारे यहाँ सैकड़ा पीछे ३। फिर कहाँ तक पत्रों और पुस्तकों का अधिक प्रचार हो सकता है? ग्राहक-संख्या काफी न होने से संपादकों को बाध्य होकर अपने पत्रों का दाम अधिक रखना पड़ता है और अधिक दाम के कारण ग्राहक-संख्या भी नहीं बढ़ पाती। जो लोग थोड़ा बहुत पढ़े लिखे भी हैं उन्हें समाचार-पत्रों में मजा नहीं आता। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते। परन्तु विदेशों में समाचार-पत्रों का इतना प्रचार है कि बिना पत्र पढ़े वहाँ के लोगों का खाना

हज़म नहीं होता । उन्हें हमेशा यह बात जानने की इच्छा रहती है कि संसार में क्या होता है । परंतु हम कूप-मन्डूकों को अपने काम से काम, दूसरों से हमें क्या पड़ी है ।

हमारे देश में दूसरों से माँगकर पुस्तकें और पत्र पढ़ने की बड़ी खराब आदत पड़ गई है । हम लोग जहाँ तक बनता है, दूसरों के मँगाये हुए अथवा किसी पुस्तकालय में आते हुए पत्रों को पढ़ कर काम निकाल लेते हैं । दरिद्रता भी इसका एक कारण हो सकती है; परन्तु देखा गया है कि जो लोग पुस्तक या पत्र मँगाने में समर्थ हैं उन्हें या तो पढ़ने का शौक़ नहीं है, या है भी, तो किसी दूसरे के पास से काम निकाल लेते हैं । इससे पत्र या पुस्तक मँगाने वाले को कष्ट उठाना पड़ता है; क्योंकि वह उससे पूरा लाभ उठा नहीं सकता और यदि कभी पुस्तक मनोरंजक हुई तो उसके पुनःदर्शन होना ही असम्भव हो जाता है । हम लोगों में यह बहुत खराब आदत है । हम लेखक या प्रकाशक को कुछ सहायता पहुँचाना अपना कर्तव्य ही नहीं समझते । इसीलिए बेचारे उत्साही लेखक भी धनाभाव के कारण निराश होकर अपना काम छोड़ देते हैं । जिन लोगों के लिए वे इतनी मेहनत करते हैं उन के द्वारा कुछ उत्साह न पाकर वे लोग अपना मूल्य भूल जाते हैं । हम लोग कदर करना जानते ही नहीं । जापान और पश्चिमी देशों में तो समाचार-पत्रों के संपादक, पुस्तक-लेखक, और प्रकाशक मालामाल हो जाते हैं । कोई भी अच्छी पुस्तक निकलते ही उसके बीसों संस्करण हो जाते हैं । परन्तु हमारे यहाँ उत्तम से उत्तम पुस्तक का पहिला संस्करण ही बिकना कठिन रहता है । हम लोगों को लेखकों के मानसिक और शारीरिक परिश्रम का मूल्य समझना चाहिए । लेखकों को आर्थिक व्यय, और मानसिक परिश्रम का जितना भी बदला दिया जाय थोड़ा है ।

पत्रों के प्रचार में इतने बाधक कारण होते हुए भी सबसे प्रधान बाधक हमारी व्यापारिक हीनता है । यद्यपि अमेरिका, जापान और इंग्लेन्ड में पत्रों का बहुत प्रचार है; परंतु यदि उन पत्रों के संचालक केवल पत्रों की आमदनी पर ही अवलंबित रहते तो अभी तक उनका दिवाला निकल गया होता । वहाँ के पत्रों के सस्ते होने का केवल यही कारण है कि उन्हें बहुत विज्ञापन मिलते हैं । जब हम देखते हैं कि लन्दन टाइम्स सरीखा बड़ा भारी पत्र एक आने में और 'इंडियन डेली न्यूज़" दो पैसे में मिलता है तब हमें आश्चर्य होता है । अमेरिका में तो पत्र और भी सस्ते हैं । जापानी पत्र अमेरिकन पत्रों से भी सस्ते हैं । यह सब इन देशों की व्यापारिक उन्नति का ही कारण है कि पत्रों को इतने अधिक विज्ञापन मिल सकते हैं और वे इतने सस्ते बिक सकते हैं । परन्तु भारत में न तो यथेष्ट व्यापार है और न विज्ञापन । हमारे पत्रों को विज्ञापन मिलते हैं तो केवल कुछ नवयुवकों की बीमारी की दवाइयों के मिलते हैं जिनको पढ़ना और छापना भी लज्जा-जनक है । पर बेचारे धनहीन पत्रों को उन्हें छापना ही पड़ता है । दूसरा उपाय ही क्या है ?

हमारे देश में लोग किसी पत्र के कार्यालय में रुपया फँसाने में भी डरते हैं और इस तरह उन्हें धनिकों की सहायता से हाथ धोना पड़ता है ।

सचमुच हमारे पत्र बहुत गिरी दशा में हैं। धनाभाव से वे कुछ नहीं कर सकते। इस दशा में यह अच्छा होगा कि कुछ ऐसे पत्र जिनकी आर्थिक दशा बुरी नहीं है मिल कर अपना एक प्रतिनिधि विदेश में अध्ययन करने भेजें और वहाँ अपने संवाददाता स्थापित करें।

जापानी प्रेस के विचार-पूर्ण अध्ययन से मालूम होता है कि वह एक जीती-जागती शक्ति है। जापानी प्रेस की शक्ति अंग्रेजी और अमेरिकन प्रेसों की अपेक्षा अधिक ही है, कम नहीं। जापान के बड़े बड़े राजकर्मचारी पत्रों को अपनी ओर खींचने के प्रयत्न में लगे रहते हैं; परन्तु जब वे ऐसा न कर सकने के कारण पत्रों से अच्छी फटकार सुनते हैं तब वे उनकी शक्ति का अनुभव करते हैं। बात यह है कि जापानी पत्र वहाँ के सच्चे लोकमत के प्रगट करनेवाले हैं। वहाँ के पत्रों में एक दो आदमियों का ही हाथ नहीं है, वरन् सारी जनता उन्हें अपनाए हुए है और सारा विद्वत्समाज उनके लिए सिरतोड़ प्रयत्न करता है। सैकड़ों अनुभवी विद्वान उनमें सलाह कर के लिखते हैं, हज़ारों धनिकों का उनमें पैसा लगा है और लाखों मनुष्यों का उनमें हृदय लगा है, फिर क्यों न वहाँ का प्रेस एक ऐसी महान शक्ति हो जिसके सामने सत्ताधारियों का भी सिर झुके?

महर्षि नारद।

(लेखक—पण्डित रामचरित उपाध्याय)

(१)

दिनेश हैं आप अशेष उक्ति के
नदीश हैं आप सुकर्म-युक्ति के।
निदेश हैं क्लेश-कुठार आपके
चला रहे हैं मुनि! सत्र मुक्ति के॥

(२)

स्ववंश के हंस-समान आप हैं
सुवाद्य-संगीत कला कलाप हैं।
मुनीश! हैं भागवत प्रधान भी
सदा हमारे उर के प्रताप हैं॥

(३)

परोपकारी तुमसा न अन्य है
अघापहारी तुमसा न अन्य है।
कृपाण हैं दुर्जन-वंश के लिए
त्रिलोक में नारद! आप धन्य हैं॥

(४)

निचिन्त हैं आप हुए कभी नहीं
नहीं रुके दो दिन भी कभी कहीं।
कहीं मही भारत की न हो दुखी
सदैव चिन्ता यह आपको रही॥

(५)

बढ़ी जहाँ राक्षस-शक्ति लोक में
पड़े तहाँ नारद! आप शोक में।
बिना घटाये उसको न आपके—
हुई कभी शान्ति उरस्क-ओक में॥

(६)

निशाचरों के कर से दुखी मही—
जहाँ हुई, युद्ध हुआ तभी वहीं।
महामुने ! देव जयी रहे सदा
दशा मही की अब देखते नहीं॥

(७)

दबे रहें दैत्य जिसी प्रकार से
भरे रहे आप उसी विचार से।
बताइए क्यों चुप आप आज हैं
न चूकिए देव ! परोपकार में॥

(८)

न युद्ध में जाति प्रवृत्त जो रहे
न क्यों खलों से वह दुःख को सहे ?
रहे लड़ाते इस हेतु ही सदा—
स्वजाति को धन्य न क्यों तुम्हें कहें ?

(९)

न साम से काम चला जहाँ कभी
विभेद से काम लिया वहाँ तभी।
प्रसिद्ध हैं आप विभेद-नीति में
भरे हुए हैं गुण आपमें सभी॥

(१०)

अशंक हैं आप सुकर्म-लीन हैं
कभी किसी के न हुए अधीन हैं।
सशंक है लोक नितान्त आपसे
मुने ! खलों से बनते न दीन हैं॥

(११)

न लोभ में आप पड़े कहीं अभी
सहायता आप न चाहते कभी।
सहाय हो सज्जन के तुम्हीं स्वयं
महर्षि की है पदवी मिली तभी॥

(१२)

कहाँ छिपे, शीघ्र महर्षि ! आइए
समंत्र वीणा अपनी बजाइए।
भगै हमारी भय-नींद, नीति की
सुधा-भरी तान हमें सुनाइए॥

(१३)

व्यथाब्धि में जो हम डूब जायँगे
बताइए क्या यश आप पायँगे ?
कुनीति के शृंखल तोड़ दीजिए
अभी नहीं तो कब काम आयँगे ?

(१४)

बँधे हुए हैं हिलते न हाथ हैं
मिली हुई है रसना, अनाथ हैं।
कहीं न कोई इस भाँति है दुखी
चलो, हमारे यदि आप नाथ हैं॥

(१५)

हमें निराशा-निशि दुःख दे रही
मुने ! ठिकाना लगता कहीं नहीं।
दया करो अग्रज हो, नयज्ञ हो
रहे सहारा अब एक आपही॥

प्लेटो और उसका "रिपब्लिक"।

(लेखक—पं० [illegible] मिश्र, एम. ए., विशारद)

प्लेटो (अथवा जिसे अफ़लातून भी कहते हैं) ग्रीस के उन प्राचीन विद्वद्रत्नों में से एक श्रेष्ठ रत्न था जिसकी प्रभा का प्रकाश समस्त यूरोप के प्रत्येक ज्ञान-विभाग में आज दिन भी पड़ रहा है। इसकी प्रतिभा और विद्वत्ता बहुत उच्च कोटि की थी।

इसकी ख्याति इसके समय में चारों ओर भली-भाँति व्याप्त हो चुकी थी, और सभी इसको अपने समय का अद्वितीय दार्शनिक मानने लगे थे। परंतु इतना सब होते हुए भी इसका व्यक्तिगत इतिहास बहुत कुछ अन्धकार ही में रह गया है। प्राचीन काल के ग्रीस लोग इतिहासप्रेमी थे। वे छोटी से छोटी बात का भी उल्लेख करने का बड़ा प्रेम रखते थे, तो भी ऐसे धुरंधर विद्वान के जन्मस्थान और जन्मसम्वत् के विषय में निश्चित रूपसे कहीं कुछ भी नहीं लिखा गया। कोई कहते हैं कि वह ईसामसीह के ४३० वर्ष पूर्व पैदा हुआ था, तो कोई कहते हैं कि वह ४२८ वर्ष पूर्व हुआ। कई विद्वानों की राय है कि उसका जन्मस्थान एथेंस है, कुछ का कहना है कि उसने इजिप्ट में जन्मग्रहण किया। कहा जाता है कि उसकी मृत्यु ईसामसीह के ३४७ वर्ष पूर्व हुई। परंतु निश्चयपूर्वक कोई कुछ भी नहीं कह सकता।

उसके विषय में जो कुछ जाना जा सका है उससे यह ज्ञात होता है कि प्रकृति देवी ने उसे सभी प्रकार की सुलभता दे दी थी। उसे प्रायः किसी ज्ञातव्य विषय में न्यून रह जाने का कोई भी अवसर प्राप्त नहीं हुआ। वह एक धन-सम्पन्न व्यक्ति का पुत्र था। शरीर से सुदृढ़ और स्वास्थ्य का मानो अवतार था। उस समय की ऐसी कोई भी विद्या नहीं थी जो उसे न पढ़ाई गई हो। जान पड़ता है कि उसे सैनिक शिक्षा और समयानुकूल राज्य-कार्य-शिक्षा भी अवश्य दी गई थी। प्रसिद्ध तत्व-वेत्ता महात्मा सुकरात (सॉक्रेटीस) उसके गुरु थे। अतः सभी प्रकार के ऐसे सुअवसर पाकर प्लेटो की स्वाभाविक बुद्धिमत्ता और विवेक-शक्ति का सहसा लहलहा होकर फूल और फल उठना और अपने सौरभ से दिगन्त मुग्ध कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

प्लेटो ने राजकीय कार्यों में स्वयम् बहुत ही कम भाग लिया है। यदि उसकी कुछ प्रवृत्ति थी भी, तो वह महात्मा सुकरात के मरवा डाले जाने पर बिलकुल लुप्त सी हो गई। अपने जीवन की उच्च नीच सभी प्रकार की कई अवस्थाओं को पार कर अन्त में वह एथेन्स ही में आकर स्थित हो गया और वहीं अध्यापन तथा अध्ययन में अपने जीवन का शेष भाग शान्ति और सुखपूर्वक बिता कर अन्त में परमधाम को पहुँचा।

प्लेटो में आत्म-श्लाघा की मात्रा बहुत ही कम थी। वह अपनी वाहवाही हाँकना कभी पसंद नहीं करता था। यहाँ तक कि उसने जितने ग्रंथ लिखे हैं उन सबमें उसने अपने विचार अपने गुरु सुकरात ही के मुँह से कहलवाये हैं। प्लेटो एक महान कवि था। उसका प्रत्येक ग्रंथ ओत-प्रोत (गद्य) काव्यमय है। उसने निबंध के ढंग से कोई भी ग्रंथ नहीं लिखा। वह अपने गुरु के समान "वादे वादे जायते तत्वबोधः" सिद्धान्त का सच्चा अनुयायी था। प्रश्न और उत्तर (पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष) के ही ढंग पर इसने अपने सब ग्रन्थ रचे हैं। उनमें उसने स्वसिद्धान्त का प्रतिपादक सुकरात को बनाया है और किसी को अनुयायी तो किसी को श्रोता, किसी को विपक्षी तो किसी को उद्दण्ड वितंडावादी, इसी प्रकार किसी को कुछ और किसी को कुछ बनाया है।

"रिपब्लिक" नामक ग्रंथ में भी उसने इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। इसमें उसने समाज-

सुधारक की दृष्टि से समाज के कई दुर्गुणों के समूलोच्छेदन का प्रयत्न किया है; किन्तु विधिविधान से यह ग्रंथ इतना अनुपम बन गया है कि इसमें न केवल सामाजिक ही, किन्तु दार्शनिक, साहित्यिक, नैतिक, तार्किक इत्यादि सभी प्रकार की समस्याओं का समावेश भलीभांति हो गया है।

इस एकही ग्रंथ के कारण प्लेटो अद्वितीय, उद्भट विद्वान् और कुछ अंशों में सर्वदर्शी कहा जा सकता है। उसकी ऐसी विलक्षण शक्ति देख कर आजकल के कई पाश्चात्य विद्वान उसे अप्रबुद्ध हेगेल (आर्वाचीन काल का एक विश्व-विख्यात तत्ववेत्ता) मानने लगे हैं और कोई कोई तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि यदि हम प्लेटो के लेखों का मर्म भलीभाँति जान लें तो उसके बाहर हमें कोई भी दार्शनिक तत्व न मिलेगा। (All philosophic truth is Plato correctly understood.)

"रिपब्लिक" को नीतिविषयक, शिक्षाविषयक, दर्शनविषयक, या जो चाहें सो, ग्रंथ कह सकते हैं। यह वास्तव ही में महाकाव्य है। जिस दृष्टि से देखिए, उसी दृष्टि से इसमें कुछ न कुछ आनंद की सामग्री मिल ही जाती है। यह वस्तुतः बड़ा रमणीय ग्रंथ है; क्योंकि यह जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही बार इसमें कुछ न कुछ नवीनता का अनुभव होता है। यह ग्रंथ दश पाँच वर्ष ही के लाभ के लिए नहीं लिखा गया है; किन्तु यह सार्वकालीन-ग्रंथ कहा जा सकता है। प्लेटो ने अपने गहन विचार और निर्मल विवेक की दिव्य-दृष्टि से भावी सहस्रों वर्ष आगे तक की मानव-समाज की दशा भलीभाँति देख ली थी। इसकी दूरदर्शिता के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन सामाजिक समस्याओं को हल करने में आजकल भी प्रचण्ड पांडित्यमय प्रखर प्रतिभापूर्ण बड़े बड़े पण्डितों के विराट् मस्तिष्क कई बार मूर्छा को प्राप्त हो चुके हैं उन सब प्रश्नों को दो हज़ार वर्ष पूर्व एथेन्स के एक कोने में बैठ कर इस विलक्षण जीव ने किस सुगमता से हल कर डाला था।

इस छोटे से लेख में रिपब्लिक के तत्व को भलीभाँति व्यक्त कर देना यद्यपि नितान्त कठिन है तौभी उसके विषय की केवल बाहिरी बातें देकर ही रह जाना उचित नहीं; अतः कुछ परिचय देना योग्य जान पड़ता है।

रिपब्लिक दश खण्डों में विभक्त है। परन्तु जान पड़ता है कि ये खण्ड पीछे किये गये हैं; क्योंकि विषय देखने से जान पड़ता है कि वह या तो दो खण्डों में या अधिक से अधिक पाँच खंडों में विभक्त हो सकता है। परन्तु ये बातें इस समय विशेष उल्लेख-योग्य नहीं हैं। रिपब्लिक के वर्णित विषय को इन्हीं दश खण्डों में विभक्त करके लिखना अभीष्ट होगा।

खण्ड १—

एक नये उत्सव का अवसर था। एथेन्स के सभी पुरुष उसमें सजधज के साथ सम्मिलित थे। साक्रेटीज़ और ग्लाकन भी उत्सव देखने गए। सहसा उन्हें पालिमार्कस, एडेमेन्टस तथा निसेरेटस मिल गये। इन लोगों ने साक्रेटीज़ को पालिमार्कस के पिता सिफेलस से यहाँ चलने को कहा। वहाँ इधर उधर की बातें होते होते प्रसंगवश प्रश्न उठ पड़ा कि 'न्याय' (Justice) क्या है ? अनुभवी वृद्ध सिफेलस ही उचित उत्तरदाता

माना गया; परंतु उस बेचारे सीधे साधे स्थविर ने इस विषय में दो चार अनुभव-सिद्ध बातें ही कह कर इस विषय का विशेष अनुसन्धान प्रगल्भ युवा वक्ताओं पर छोड़ अपनी राह ली। तब उत्तर का भार उसके पुत्र पालिमार्कस पर पड़ा। उसने झट 'न्याय' की परिभाषा में साइमोनाइडस नामक एक कवि की एक पंक्ति कह दी जिसका तात्पर्य होता है कि 'जो कुछ जिस मनुष्य को योग्य हो वह उसको देना'। पालिमार्कस का नैतिक ज्ञान (Ethical Knowledge) केवल इस प्रकार के उद्धृत वचनों ही तक था। अतः ज्यों ही प्रसिद्ध नैयायिक सुकरात की तर्कगुम्फित प्रश्नों की वर्षा प्रारम्भ हुई त्यों ही वह विह्वल हो उठा और उसने अपने इन्हीं अच्छे सिद्धान्तों को नितान्त संकुचित और क्षुद्र सिद्ध कर दिया। जब ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ तब थ्रेसिमेकस नामक एक उद्दण्ड वितंडावादी अपनी तर्कबुद्धि का अभिमान रखते हुए उस मधुर विवाद में शामिल हो गया और उसने "सबलों की (स्वार्थसंयुक्त) अभिरुचि" ही को "न्याय" बताया। मत्त पुंगव की भाँति उसने पहिले बहुत पैंतड़े बदले, परंतु अंत में सुकरात के सिद्ध तर्कास्त्रों के विषम प्रहार से अभिभूत होकर वह बिलकुल ही विनत हो गया। साक्रेटीज़ ने उसे समझा दिया कि "राज्यं तस्य बलं यस्य" अथवा "शक्ति ही न्याय है" यह सिद्धान्त उचित नहीं। स्वार्थपर अन्याय ही सच्चा न्याय नहीं कहा जा सकता तथा अन्यायी मनुष्य कभी भी चतुर, अच्छा, तथा शक्तिमान नहीं हो सकता। सब प्रकार से यही सिद्ध होता है कि चातुर्य, कल्याण, शक्ति और आनंद सब न्यायी मनुष्य ही के हिस्से में है; क्योंकि "न्याय" ही आत्मा का वह प्रधान सद्गुण है जिससे वह अपना कार्य भलीभाँति सम्पादित कर सकता है तथा न्याय का सिद्धान्त और नियम रह सकता है और इसके कारण ऐक्य का प्रादुर्भाव होता है। ये बातें अन्याय में कभी नहीं प्राप्त हो सकतीं।

खण्ड २—

इसके बाद ग्लाकन और एडेमेण्टस बड़े विनय के साथ सुकरात से ही 'न्याय' का वास्तविक स्वरूप पूछने लगे। उन्हों ने पूछा कि फल की ओर आसक्ति न दिखाते हुए, उसकी ओर दृष्टिपात तक न करते हुए केवल 'न्याय' में ही वास्तविक गुण क्या है। सभी कहते हैं कि न्याय से चलने वाला इस जग में सुखी रहता है और परलोक में स्वर्गसुख भोग करता है; परंतु देखने में तो यह आता है कि अन्यायी ही इस जग में सुख पा रहे हैं, न्यायी भूखों मरते और अन्यायी हलुआ उड़ाते हैं। रही स्वर्ग की बात, सो क्या अन्यायी धनिक यज्ञ और आहुतियों से देवताओं को भी अपने पक्ष में नहीं मिला सकता? यदि न्याय और अन्याय के फलों की ओर दृष्टिपात कीजिये तो ऐसा परिणाम निकलता है। फिर, न्याय को क्यों उच्च स्थान दिया जाय, और इसका क्यों अनुकरण क्यों किया जाय? इसका उत्तर तभी दिया जा सकता है जब 'न्याय' का फल-विरहित वास्तविक मूल्य बताया जाय!

सुकरात ने प्रश्न की महत्ता स्वीकार की। उसने कहा कि अच्छा होगा यदि न्याय का अनुसंधान हम एक व्यक्ति में न कर एक छोटे समाज अथवा राष्ट्र में करें। उसमें अच्छी सुग-

मता होगी। अतः उसके लिए उसने एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की जिसमें केवल अत्यावश्यक इच्छाओं की पूर्ति, प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा और पारस्परिक ऐक्यभाव—इन्हीं तीन बातों की प्रधानता थी। इस आदर्श-राष्ट्र के व्यक्तियों में से रक्षक-विभाग के पुरुष बड़े महत्व के होंगे। अतः उन्हें कैसे रहना चाहिए और उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिए इसका ज्ञान होना अत्यावश्यक है। रक्षक-श्रेणी में वे ही सम्मिलित माने जाना चाहिए जो सशक्त, निरलस, और शूर हों तथा साथ ही उदार और धीर हों, और दर्शन (तत्व-ज्ञान की ओर अभिरुचि रखते हों।

रक्षक-श्रेणी के मनुष्यों को बाल्यावस्था में ऐसी कहानियाँ सिखाई जायँ जिनमें तत्व और और सत्य के भाव भरे हों। ईश्वर पर लाञ्छन लगी हुई कहानियाँ उन्हें कभी न सिखाई जायँ। दुर्गुण-प्रदर्शक गल्पों का उनके अनुकरण-शील मन में बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। उन्हें केवल ऐसी कथाएँ सुनाई जानी चाहिए जिनसे सत्य, साहस, और आत्म-दमन—इन तीनों सद्गुणों का उनमें भलीभाँति विकास हो।

खण्ड ३—

कथाओं के विषय ही में नहीं, बरन उनकी वर्णन-शैली में भी सुधार की आवश्यकता है। काव्यों और पद्यों में केवल उसी बात पर विशेष लक्ष्य दिया जाय जिसके अनुकरण करने से वे उन्नत हो सकें। वर्णन-शैली सुस्पष्ट, सरल तथा गंभीर होनी चाहिए।

इसी तरह संगीत और वादन-यंत्रों में भी सुधार की आवश्यकता है, केवल सादगी ही का व्यवहार उचित है। न केवल गान और तान ही पर प्रधान लक्ष्य रखना उचित है; किन्तु व्यायाम की ओर ध्यान रखा जाय। व्यायाम से शरीर ही की उन्नति नहीं होती, किन्तु इससे आत्मा के रजोगुण की भी उन्नति होती है। अतः इसमें सादगी और संयम की आवश्यकता है। 'अति' यहाँ भी ठीक नहीं।

इस तरह उनकी शिक्षा होनी चाहिए। फिर उनमें जो सबसे अधिक अनुभवी, बुद्धिमान, समर्थ, स्वदेश-भक्त और स्वार्थ-त्यागी हैं वे उस राष्ट्र के लिए मजिस्ट्रेट बनाये जायँ और वही सच्चे संरक्षक कहलावें और शेष रक्षक लोग 'सहायक' के नाम से पुकारे जायँ। इस प्रकार उस राष्ट्र को 'संरक्षक' (True guardians), 'सहायक' (auxiliaries) और 'साधारण' (husbandsmen and craftsmen) इन तीन जातियों में सर्वदा के लिए विभक्त कर देना ही राष्ट्र के लिए कल्याणप्रद है। इसके लिए तो ऐसे उपाय भी करने चाहिए जिसमें उस भेद को लोग ईश्वर-कृत समझें।

संरक्षक-वर्ग के मनुष्यों का व्यक्तिगत स्वार्थ बिलकुल विनष्ट हो जाना चाहिए और व्यक्तिगत पत्नी, पुत्र और सम्पत्ति न रखना चाहिए तथा समाज से केवल जीविका-मात्र का इच्छा रखनी चाहिए।

खण्ड ४—

संरक्षकों का प्रथम कर्तव्य साम्यवाद का प्रचार करना होगा। न कोई नितान्त कंगाल हो और न कोई अत्यन्त धनशाली हो। दूसरा कर्तव्य साम्राज्य को अत्यधिक विस्तार से

रोकना होगा। तीसरा कर्तव्य संगीत और व्यायाम पर यथोचित दृष्टि रखना होगा। शेष छोटी मोटी बातें वे स्वयम् सोच कर तय कर सकते हैं। इस प्रकार आदर्श राष्ट्र की कल्पना पूरी हो चुकी। पूरा राष्ट्र बन कर तैयार हो गया। अब देखना चाहिए कि इसमें 'न्याय' कहाँ पर घुसा हुआ है। वह इस राष्ट्र के किसी खास भाग में हैं, अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र ही में व्याप्त है।

अपना राष्ट्र आदर्श है; अतः इसमें चारों सद्गुण ज्ञान (Wisdom), साहस (Courage), आत्मदमन (Temperance) और न्याय (Justice) पूर्ण रूप से विद्यमान होंगे। इनमें ज्ञान संरक्षकों में, साहस सहायकों में और आत्म-दमन तीनों वर्गों की क्रमवृद्धि की पारस्परिक संधि में हैं। इनके अतिरिक्त एक बात जो रह गई वह है परस्पर सम्बद्ध होकर अपने अपने कर्तव्य का भलीभाँति पालन करना—यही 'न्याय' है। और इसके विरुद्ध यदि एक मनुष्य दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप करे और ऐसे लक्षण राष्ट्र में जहाँ कहीं पाये जायँ वहीं 'अन्याय' है।

इस प्रकार समाज और राष्ट्र में 'न्याय' का तत्व मिल चुका। अब देखना चाहिए कि व्यक्ति में यह तत्व कहाँ विराजमान है। प्रत्येक मनुष्य के मन में दो विरुद्ध गुण वर्तमान हैं—एक सतोगुण [ध्यान रखना चाहिए कि ये सब पारिभाषिक शब्द हैं, अतः इनका सोलहों आने वैसा ही अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नहीं है जैसा अर्थ कि भारतीय दर्शन-ग्रंथों में अथवा साधारण व्यवहार में पाया जाता है। यहाँ 'न्याय', 'ज्ञान', 'मन', 'आत्मा', 'संरक्षक', 'तमोगुण' इत्यादि शब्दों में बिलकुल प्रचलित अर्थ ही न लेना चाहिए] और दूसरा तमोगुण। एक बुद्धि-युक्त है और दूसरा अबुद्धि-मय। एक तीसरा और भी गुण है जिसे रजोगुण कह सकते हैं। यह है तो अबुद्धि-युक्त ही; परंतु पक्ष सर्वदा सतोगुण का ही करता है। अतः राष्ट्र में संरक्षकों के समान मानवीय मन अथवा आत्मा में सतोगुण है, सहायकों के समान रजोगुण है और साधारण जनों के समान तमोगुण है। 'ज्ञान' सतोगुण में, 'साहस' रजोगुण में, 'आत्म-दमन' तमोगुण और रजोगुण पर सतोगुण के अनुमति-पूर्ण शासन में और 'न्याय' तीनों गुणों के अपना अपना कार्य भलीभाँति करने में है। यह आत्मिक ऐक्य, संगठन और संबद्ध कार्य क्रम किसे श्रेयस्कर और कांक्ष्य न प्रतीत होगा? 'अन्याय' में भला यह कहाँ है?

खण्ड ५—

इस प्रकार अपने काल्पनिक साम्राज्य की उन्नति के बाद सुकरात उसका अधः पतन और कारण बतलाने की चेष्टा कर ही रहा था कि पालिमार्कस, एडेमेण्टस इत्यादि ने उसे रोका तथा स्त्री-शिक्षा और वित्त और वनिता को सार्वजनिक बनानेवाले विचार का भलीभाँति स्पष्टीकरण करना चाहा।

इन प्रश्नों का उत्तर सुकरात ने टालना ही चाहा था; परन्तु जब बहुत आग्रह किया गया तब उसने इस प्रकार दिया—स्त्री और पुरुष इन दोनों में विशेष भेद नहीं है। यदि विभेद है तो केवल अभ्यासवश हो गया है। परिस्थिति बदल देने से भेद भी मिट सकता है। सन्तानोत्पत्ति का भेद केवल बाहरी भेद है। अतः उन दोनों को

समान ही शिक्षा देनी चाहिए। जिस ढँग की शिक्षा रक्षकों के लिए बताई गई है वही इनके लिए भी उपयुक्त है। ये मनुष्यों के साथ ही रह कर संगीत, व्यायाम इत्यादि सब प्रकार के अभ्यास कर सकती हैं।

दूसरा गंभीर प्रश्न वित्त और वनिता के सार्वजनिकपन का है। इसके विषय में सुकरात का कहना है कि जिस स्त्री की अभिरुचि युद्ध और तत्वज्ञान की ओर दीख पड़े उसका संबंध संरक्षकों से कराया जाय; परन्तु वह भी इस प्रकार कि जब इच्छा हो तब तोड़ा भी जा सके और वे अपने लड़कों को न पहिचान सकें। संबंध मजिस्ट्रेट की अनुमति से हो और सन्तान स्टेट के खर्च से पाली जावें। [सुकरात इन दोनों प्रश्नों को समुद्र की दो बड़ी बड़ी लहरें कहता है और समाज में इनका उपयोग में लाया जाना बहुतही दुष्कर मानता है। परन्तु न जाने क्या सोच कर वह अपने आदर्श राज्य की समृद्धि और स्थिरता में इन्हें इतना अधिक आवश्यक समझता है। कई लोगों ने प्लेटो के इन विचारों का अर्थ कई प्रकार से निकाला; परन्तु इन बातों का समर्थन करना किसी ने उचित नहीं समझा। सामाजिक अवनति के इन प्रधान कारणों को प्लेटो ने न जाने कैसे उन्नति के आधार-स्तंभ मान लिए हैं।]

तीसरा और भी भयंकर प्रस्ताव यह है कि दार्शनिक तत्ववेत्ता ही स्टेट के राजा बनाये जायँ। यदि ऐसा हो जाय तो वह काल्पनिक आदर्श राष्ट्र प्रत्यक्ष हो जायगा; परंतु राजा बनाने के समय ढोंगी और सच्चे दार्शनिकों का भेद जान लेना चाहिए। जिसने इधर उधर का ऊपरी ज्ञान प्राप्त कर लम्बीचौड़ी बातें हाँकना आरंभ कर दिया हो वह निरा ढोंगी है। सच्चा दार्शनिक वही है जिसने प्रत्येक ज्ञात-विषय का तत्व भलीभाँति ग्रहण किया हो तथा जिसने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के लिए गहरा गोता लगाया हो। वही हर एक काम भलीभाँति कर सकता है और वही राजा बनाये जाने योग्य है। [जैसेकि भारतवर्ष में जनक इत्यादि थे।]

खण्ड ६—

इन सच्चे दार्शनिकों को (१) सच्चे ज्ञान-प्रखर जिज्ञासु, (२) असत्य के शत्रु और सत्य के प्रेमी, (३) शारीरिक सुख से विमुख, (४) द्रव्य से उदासीन, (५) उन्नत, मनस्क और उदार हृदय, (६) न्यायी और धीर, (७) प्रतिभा और मेधामय तथा (८) काव्यमय जीवन वाले होना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह ऐसे मनुष्यों का अनुसंधान करे। वे स्वयम् अपनी ओर से अपने को क्यों बन्धन में डालने लगे। स्टेट को चाहिए कि वह तत्वज्ञान के अभ्यास में भी दृष्टि रखे जिससे ढोंगी लोग तत्वज्ञानी न कहलावें और सच्चे लोग शीघ्रही मिल जायँ।

सुकरात ने मजिस्ट्रेट होने के पहिले तक रक्षकों की शिक्षा का हाल दे दिया था; परंतु मजिस्ट्रेट होने पर ही शिक्षा का अन्त नहीं हो जाता। शिक्षा तो जीवन भर के लिए है। वह तो आत्मा को अन्धकार की ओर से हटाकर प्रकाश की ओर ले जाने की शक्ति है, फिर वह मजिस्ट्रेट ही तक क्यों रुकने चली। इन मजिस्ट्रेटों को क्रमानुसार उच्चतम तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन सब श्रृंखला-बद्ध और क्रमोन्नत तत्वों (Ideas or Foms) में 'शिव'-तत्व (Good) सर्वश्रेष्ठ है। यही प्रत्येक जीवन का सच्चा ध्येय है।

प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का प्रधान कारण है और सृष्टि का सृजक और पालक है। जैसे इन्द्रियानुभूत जगत् में सूर्य है वैसे ही ज्ञान के जगत् में यह 'शिव'-तत्व है।

इस प्रकार क्रमानुसार मन की चार अवस्थाएँ पाई जाती हैं जिनसे क्रमशः किसी भी पदार्थ का ज्ञान स्पष्ट होता जाता है। वे अवस्थाएँ ये हैं--(१) अस्पष्ट बोध (कविता आदि के द्वारा ज्ञान या conjecture), (२) स्पष्ट बोध (इन्द्रिय-जन्य ज्ञान या Belief), (३) स्पष्ट ज्ञान (या इन्द्रिय-जन्य विषयों से बुद्धि-जन्य विषयों का ग्रहण या Understanding) और (४) शुद्ध तत्वज्ञान (Reason).

खण्ड ७—

इस खण्ड में सुकरात ने (गुफा के क़ैदियों वाली) एक लम्बी कहानी कहकर यह व्यक्त कर दिया है कि तत्ववेत्ता लोगों के शासन की कैसी स्थिति रहेगी और वे इस कार्य में किस तरह योग्य रह सकते हैं।

सुकरात के मत में शिक्षा का प्रधान कार्य आत्मा को इन्द्रिय-जन्य विषयों की ओर से शुद्ध बुद्धि-जन्य विषयों की ओर उत्तेजित करना है। इसके लिये क्रमशः (१) गणित, (२) साधारण रेखागणित (Plane Geometry), (३) घन ज्यामिति (Solid Geometry), (४) गणित ज्योतिष (Astronomy), (५) समता-शास्त्र (science of Harmonics) और (६) शुद्ध न्याय शास्त्र (Dialectics) पढ़ने की आवश्यकता है। सुकरात ने इन सबके पढ़ने के लिए समय निर्धारित किया है जिसका यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक है।

खण्ड ८—

इसमें सुकरात ने फिर वही "साम्राज्य की अवनति" वाला प्रश्न उठाया। उसने कहा कि मुख्यतः पाँच प्रकार के साम्राज्य और पाँच ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें से पहिले प्रकार के साम्राज्य और पहिले प्रकार के मनुष्य का वर्णन हो चुका। इस साम्राज्य को श्रेष्ठजन (Aristocracy) तंत्र कह सकते हैं। परंतु ऐसा साम्राज्य सर्वदा के लिए नहीं रह सकता। उन्नति के बाद अवनति का प्रादुर्भाव आवश्यक है। अतः इस साम्राज्य के बाद मानीतंत्र (Timocracy) का उद्भव स्वाभाविक है। इसमें रजोगुण का प्राबल्य रहता है, 'सहायक' लोगों ही की बन आती है और 'साधारण' लोग बिलकुल दासों ही के समान रखे जाते हैं। इसमें केवल मान और गौरव ही का प्राधान्य है। इसके बाद धनीतंत्र (Oligarchy) का जमाना आता है जिसमें मान की जगह 'धन' ही प्रधानता पाता है। इसमें धनी और मज़दूर दो परस्पर-विरोधी दलों का विकास होता है। इस तरह जब निर्धन दल बेतरह ऊब जाता है तब वह शस्त्र लेकर धनियों के विरुद्ध उठ खड़ा होता है और उस अवस्था में (Democracy) सर्व साधारणतंत्र अथवा सर्वतंत्र स्वतंत्र शासन का आधिपत्य जम जाता है। प्रधानता मारी मारी फिरती है। सब ओर मनमानी होने लगती है, न कोई नियम और न कोई कायदा रहता है। सब बराबर और सब ही न्याय और कानून से भी स्वतंत्र !! न उनके लिए कोई कायदा और न वे किसी कायदे के लिए। परंतु यह अवस्था कुछ सालों तक भी नहीं रह सकती। इसके बाद अत्याचारी तंत्र (Tyranny) का

प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है। इनमें सभी प्रकार की इच्छाएँ और उनकी पूर्ति की वासना लगी रहती है। निर्घृण, निष्करुण, निष्प्रभ, कुटिल, दुराचारी, उद्दण्ड, नियम-विहीन व्यक्ति का प्राधान्य रहता है।

इन्हीं पाँचों साम्राज्यों के समान पाँचों प्रकार के मनुष्य भी होते हैं—श्रेष्ठ, मानेच्छु, धनेच्छु, स्वेच्छाचारी अविचारी, और अत्याचारी।

खण्ड ९—

इस खण्ड में सुकरात ने विविध प्रकार से यह दिखा दिया है कि न्याय-युक्त मनुष्य को सर्वदा सबसे बढ़ कर ही आनंद प्राप्त होता है। अन्यायी उसके समान सुखी कदापि नहीं हो सकता। थ्रेसीमिकस का यह कहना कि 'मनुष्य को पूर्णतः अन्यायी होना बड़े फ़ायदे की बात है' नितान्त अयुक्त है। अतः जहाँ तक हो सके मनुष्य में इस 'न्याय' सद्गुण का विकास कराना चाहिए। यदि आप ही आप अन्तःकरण से हो जाय तो ठीक ही है, नहीं तो बाहर से ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिसमें आत्मा में इसी गुण का प्राधान्य हो।

खण्ड १०—

प्लेटो को कवियों और काव्य के सुधार की बड़ी आवश्यकता दिखाई देती है। तत्कालीन काव्यों से उसे बड़ी अश्रद्धा सी हो गई है; अतः इस ग्रंथ के अन्त में वह फिर इसी विषय को उठाता है। उसका कथन है कि काव्य से पदार्थों का केवल अस्पष्ट बोध ही होता है, तत्व-ज्ञान नहीं होता तथा इसमें क्षुद्र रसों ही की जागृति होती है, उच्च विचारों की नहीं। [परंतु काव्य में कई प्रकार के गुण हैं। उससे समाज को कई प्रकार से लाभ पहुँच सकता है] अन्त में सुकरात ने सद्गुणों के उपहार के विषय में 'आत्मा की अमरता' का उल्लेख किया है। जब आत्मा अमर है तब सद्गुणों के फल की—उनके उपहार की—मात्रा और भी बढ़ गई। केवल 'आत्मा की अमरता' का उल्लेख कर के ही वह चुप नहीं हो रहा; किन्तु सद्गुणों के बदले देवताओं के प्रसाद पर उसने एक बड़ी मनोरंजक कहानी का भी उल्लेख किया है। वह कहानी कई सिद्धान्तों से भरी हुई है। इससे ज्ञान होता कि आत्मा भिन्न भिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई अन्त में मुक्तिपद प्राप्त करती है। मनुष्य अपने भाग्यका विधाता है; परंतु ज्योंही एक बार उसने अपना भाग्य चुन लिया कि फिर वह उस कर्म का फल-भोग अवश्य करता है। मनुष्य स्वर्ग अथवा नरक में रह कर इसी लोक में फिर किसी न किसी योनि में आकर पैदा होता है, इत्यादि इत्यादि।

इस लम्बी तथा तत्वों से भरी हुई कहानी के साथ ही साथ यह अद्भुत, विशद और विविध सिद्धांत मय "रिपब्लिक" ग्रंथ भी समाप्त होता है।

उपसंहार।

इस प्रकार संक्षेप में प्लेटो का दिग्दर्शन करा दिया गया है; परंतु ऐसे दिग्दर्शन से रिपब्लिक के वर्णित विषय का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। कई आवश्यक और महत्वपूर्ण बातें लेख के विस्तार-भय से छोड़ दी गई हैं। फिर भी जो कुछ लिखा गया है उससे इस विषय का कुछ

न कुछ ज्ञान अवश्य हो सकता है। प्लेटो के समय में यूनान देशवासियों से अच्छा सम्पर्क था। केवल व्यवसाय में ही नहीं, शिल्प तथा अन्य शास्त्रों में भी दोनों का प्रभाव दोनों पर पड़ा है। प्लेटो के इस जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ में कई ऐसे सिद्धान्त (जातिभेद, ज्ञानी-राजा, कर्मबंधन, आवागमन, योनि, अमर-आत्मा, इत्यादि) पाये जाते हैं, जिनसे भारतीय बहुत दिनों से भलीभाँति परिचित थे तथा यूनानी लोग अधिकांश में अनभिज्ञ थे। अतः अर्वाचीन यूरोप के निर्माणकर्ताओं में प्रमुख प्लेटो के रिपब्लिक-सम्बन्धी विचारों का यदि अतीत भारतीय शासन-शैली और तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो इस ग्रंथ के पढ़ने में और भी अधिक आनंद आ सकता है।

सरकार की मुद्रा-नीति।

(लेखक—अध्यापक, प्राणनाथ, विद्यालंकार)

[२]

मुद्रा-समिति और रिवर्स काउन्सिल का विक्रय।

१८९३ के बाद जो मौद्रिक घटनाएँ घटित हुईं उनका वर्णन गतांक में किया जा चुका है। उन दिनों भारतसरकार ने रुपये में चाँदी कम न कर विनिमय की दर को ही स्थिर कर काम चलाने का यत्न किया। एक रुपया एक शिलिंग चार पेन्स के बराबर नियत किया गया। इससे सोने चाँदी के क्रय-विक्रयमें सरकार को अपना एकाधिकार स्थापित करना पड़ा। वह भारत में सोने चाँदी के गमनागमन को इस प्रकार नियन्त्रित करती रही जिससे विनिमय की दर में विशेष विक्षोभ न उपस्थित हो सके। भारत का निर्यात आयात से कहीं अधिक था और एक दो वर्षों को छोड़कर इस उत्तम दशा में परिवर्त्तन न हुआ। सपक्ष व्यापारीय संतुलन (Favourable balance of trade) के कारण भारत को जो सोना मिलना चाहिए था वह लन्डन में भारतीय स्वर्ण-कोष में जमा कर दिया जाता था। भारत में सोना न भेजकर भारत-सचिव भारत में सोने को सस्ता होने से रोकते रहे और सोना उसी राशि में भारत के अन्दर भेजते थे जिससे उनकी नियत की हुई विनिमय की दर स्थिर बनी रहे।

विपक्ष व्यापारीय संतुलन होने पर उनके कृत्रिम साधन निरर्थक थे; क्योंकि ऐसी हालत में भारतसरकार सोने के दाम को बढ़ने से रोकने में असमर्थ थी। निर्यात से आयात के अधिक होने पर भारतीय व्यापारी विदेश में सोना भेजने के लिए यदि बाधित हों और सोना यथेष्ट राशिमें मिलता न हो तो स्वाभाविक है कि सोना मँहगा हो जाय और १ शिलिंग ४ पेन्स के बराबर एक रुपया नियत करनेवाली विनिमय की दर को चकनाचूर करदे। सौभाग्य से भारत-सरकार को इस भय का सामना चिरकाल तक नहीं करना पड़ा और यही कारण है कि काम चलता रहा।

युद्ध के शुरू होने के बाद ऊपर लिखा भय सोने पर न पड़ चाँदी पर ज़ोर से आकर पड़ा। सहसा ही चाँदी मँहगी हो गयी और पाउन्ड स्टर्लिंग में जो सोना था वह उसके बाजारी भाव से बहुत कम हो गया। सारांश यह है कि युद्ध से पूर्व जो रुपये की स्थिति थी वही पाउन्ड स्टर्लिंग की स्थिति हो गयी। जिस प्रकार युद्ध से पूर्व रुपये के बाजारी भाव से रुपये में चाँदी कम थी उसी प्रकार पाउन्ड स्टर्लिंग के बाजारी भाव से पाउन्ड स्टर्लिंग में सोना कम हो गया। इधर संयुक्त प्रान्त, अमेरिका, ने कारखेद पर से २० मार्च, १९१९ को अपना नियन्त्रण हटा लिया। इससे लन्डन-न्यूयार्क रेट का भारत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगा। संसार का मौद्रिक केन्द्र (The monetary Centre) लन्डन न रहकर

न्यूयार्क हो गया। चाँदी के व्यापार का केन्द्र अमेरिका है। स्वाभाविक है कि डालर-स्टर्लिंग का जो अनुपात है उसका रुपये या स्टर्लिंग के अनुपात पर प्रभाव पड़े।

प्रश्न जो कुछ था वह यही कि क्या भारतवर्ष पुनः स्टर्लिंग में अथवा सोने में रुपये की विनिमय की दर नियत कर काम करे? पहले तो स्टर्लिंग तथा सोने के दामों में फ़र्क न था; परन्तु अब यह बात नहीं है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि बैबिंगटन स्मिथ कमीशन के सभी सभ्य स्टर्लिंग में रुपये की विनिमय दर नियत करने के विरुद्ध थे; क्योंकि भिन्न भिन्न जातियों के व्यापार के हिसाब से स्टर्लिंग का दाम भिन्न भिन्न होता है। फिर स्पष्ट है कि सोने के सिवा कोई दूसरी चीज़ ऐसी नहीं जिससे रुपये की विनिमय-दर नियत की जा सकती।

इस निश्चय के बाद कमीशन को यह निर्णय करना था कि रुपये में चाँदी कम कर विनिमय की वही दर रहने दें अथवा रुपये में चाँदी पूर्ववत् रखते हुए विनिमय की दर बदल दें। यह भी संभव था कि सरकार सोने-चाँदी के गमनागमन को कृत्रिम साधनों से नियन्त्रित कर विनिमय की पुरानी दर को ही चलती रहने देती। कुछ समय तक तो यह संभव था; परन्तु चिरकाल तक इससे सफलता की आशा करना दुराशामात्र था। कदाचित् भारतीय जनता को भी यह पसन्द न हो। क्योंकि सरकार ने अपनी मौद्रिक नीति में भारतीय-हितों की भरपूर उपेक्षा की। ऐसी सरकार के हाथ में इतनी अधिक शक्ति का होना किसको पसन्द हो सकता है? विनिमय की पूर्ववर्ती दर को स्थिर रखने के लिए रुपये में कम चाँदी कर देना भी लोगों को कदाचित् पसन्द न हो। इस में सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इस रद्दी सिक्के के निकलते ही पुराने, अच्छे और अधिक चाँदी वाले रुपये चलने से रुक जायँगे। उन रुपयों को कोई पिघलायेगा, कोई सन्दूकों में रख छोड़ेगा और कोई गहने गढ़वाने के काम में लावेगा। सरकार की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह पुराने करोड़ों रुपयों की कमी को सहसा ही पूरा कर सके। इतना ही नहीं, पीढ़ियों से लोग रुपये को जानते हैं। रुपये की चाँदी तथा भार प्रामाणिक माना जाता है। तौल तक में रुपये का प्रयोग है। रद्दी तथा कम चाँदी वाले रुपये के निकलते ही लोगों का भड़कना स्वाभाविक है। लोग तो यही समझेंगे कि सरकार ने जनता को लूटने का एक और नया तरीका निकाला है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विनिमय की दर को बदलने के सिवा मुद्रा-समिति के पास कोई उपाय न था।

(१) बैबिंगटन स्मिथ की मुद्रा-समिति तथा उसका निर्णय।

भारतीय जनता इस बात पर बहुत ही अधिक असन्तुष्ट है कि भारतीय प्रश्नों का विचार अंग्रेज़ लोग करें और भारतीय व्यापारियों तथा व्यवसायियों से सलाह तक न लें। बैबिंगटन स्मिथ की मुद्रा-समिति इंग्लैंड में बैठी और उसमें एक ही भारतीय सदस्य था जिसके विचार समिति के अनुकूल न थे। माना कि विनिमय की दर का बदलना आवश्यक था; परन्तु वह दर हो क्या इसपर प्रबल मतभेद है। बहुतों का विचार है कि यदि विनिमय की दर १ शि. ४ पेन्स से १ शि० ८ पेन्स कर दी जाती तो वह आर्थिक परिस्थिति के प्रतिकूल न होती। दो शिलिंग पर विनिमय की दर रख कर और २ शि. १० पेन्स की बाजारी रेट कम समझकर रिवर्स काउन्सिल बेचा गया। इससे भारत को जो नुकसान पहुँचा उसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। इस ढँग की नीति कभी भारत का हित नहीं कर सकती। आज तो यह हाल है, कल समिति झूठ मूठ ही २ शि. ६ पैन्स पर विनिमय की दर नियत कर और ३ शि. ६ पैन्स पर स्टर्लिंग के अदलबदल को कमज़ोर प्रगट कर रिवर्स काउन्सिल के विक्रय की सलाह दे, तो नुकसान किसका है? नुकसान तो भारत का ही है। इंग्लैंड के दोनों हाथों में लड्डू होंगे। मुद्रा-समिति की सलाहों से यदि विदेशीय माल कुछ प्रतिशतक तक सस्ता होता हो तो क्या यह न्याय-युक्त नहीं है कि उसी प्रतिशतक विदेशीय माल पर बाधक सामुद्रिक कर लगा दिया जाय? इस

बाधक सामुद्रिक कर से जो आमदनी हो वह उनको सहायता के तौर पर दी जावे जिनको कि सरकार की मौद्रिक नीति से नुकसान पहुँचा है। यदि सरकार नियन्त्रण तथा शान्ति की दुहाई देकर अधिक लाभ कर ले सकती है तो क्या उसके लिए यह उचित नहीं है कि उसकी दोषपूर्ण नीति से जिन जिनको नुकसान पहुँचा हो उनका नुकसान पूरा किया जावे।

यदि असावधान होना बुरा है तो अति अधिक सावधान होना भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता है। चाँदी का दाम चढ़ना स्थिर नहीं है। ग्रेट ब्रिटन तथा अन्य सभ्य देशों में चाँदी के प्रचलित सिक्कों में चाँदी को कम करने का यत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में निकल की अठन्नी चला ही दी जा चुकी है। इंग्लैंड में भी निकल के सिक्कों के चलाने का प्रश्न उठा हुआ है। अमरीका में एक तथा दो डालर से कम दाम के नोटों को चलाने का यत्न हो रहा है। इन सब घटनाओं का प्रभाव यही है कि चाँदी की माँग कम हो जायगी और चाँदी का दाम बहुत समय तक न चढ़ा रहेगा।[1]

चाँदी की उपलब्धि (Supply) पर विचार करने से भी यही बात स्पष्ट हो सकती है। १८६० में चाँदी की उत्पत्ति २,००,००,००० आउन्स थी। परन्तु यही उत्पत्ति युद्ध से पूर्व २३,२०,००,००० आउन्स तक जा पहुँची। इसका ३ उत्तरीय अमरीका तथा मैक्सिको से प्राप्त होता था। कनाडा की खानों में अब चाँदी दिन पर दिन कम निकल रही है, परन्तु इस कमी को अमरीका की खानों ने पूरा कर दिया है। चाँदी के मामले में आस्ट्रेलिया, रूस तथा बर्मा से बहुत ही आशा की जाती है। अर्थ-तत्त्व-विज्ञों का ख्याल है कि मेक्सिको में शान्ति स्थापन तथा विप्लव से नष्टभ्रष्ट खानों के सुधरने के बाद संसार से चाँदी की उपलब्धि पूर्वापेक्षा बहुत ही अधिक बढ़ जायगी। सारांश यह है कि चाँदी का भविष्य बहुत भयंकर नहीं है।[2]

इस दशा में यदि मुद्रा-समिति २ शिलिंग को एक रुपये का विनिमय नियत कर १ शि० ८ पैन्स को विनिमय दर नियत करती तो भारत के लिए अधिक हितकर होता। कदाचित् रिवर्स काउन्सल के बेचने तथा दस रुपये की गिन्नी नियत करने के कारण देश को जो नुकसान पहुँचा है, वह नुकसान भी न पहुँचता।

(२) रिवर्स काउन्सिल का बेचना।

भारतसरकार का सोने चाँदी के गमनागमन में एकाधिकार है और किसी हद तक वह विदेशीय व्यापार का संशोधन भी करती है। चिरकाल से भारत का व्यापारीय सतुलन अनुकूल था। यही कारण है कि इङ्गलैण्ड के लोगों को भारत में अधिक धन भेजने के लिए भारत सचिव के पास जाना पड़ता था। वह उनसे धन लेकर उतने ही धन की भारतीय मुद्राध्यक्ष (the controller of currency) के नाम की हुन्डी दे देता था। इसी हुन्डी को अंग्रेज़ी भाषा में काउन्सिल कहते हैं। जब कभी भारतीयों को इंग्लैण्ड में अधिक धन भेजने की ज़रूरत पड़ती थी तो वह भारतीय मुद्राध्यक्ष से भारतसचिव के नाम हुण्डी प्राप्त कर लेते थे और इस प्रकार अपना धन इंग्लैण्ड में भेज देते थे। इस हुण्डी को रिवर्स काउन्सिल कहते हैं।

महायुद्ध के दिनों में भारत ने योरुप के अन्दर लगातार सामान भेजा; परन्तु अपनी ज़रूरतों के अनुसार माल न पाया। इसका यह परिणाम हुआ कि भारतवर्ष योरुप से बहुतसे धन का लेनदार हो गया। भारत का अपरिमित धन भारतसचिव ने अपने हाथों में कर लिया और उसके बदले भारतीय मुद्राध्यक्ष ने भारतीयों को रुपये तथा रुपये के नोट्स पकड़ा दिये। भारतीय स्वर्ण-कोश का जो दुरुपयोग किया गया उसका विस्तृत वर्णन गतांक में किया जा चुका है। यहाँ पर जो कुछ लिखना है वह केवल रिवर्स काउन्सिल्स के विषय में ही है।

महायुद्ध के अन्त होने पर भारतसरकार तथा भारतसचिव ने सोने चाँदी के गमनागमन

1. Journal of the Indian Economic Society. (March 1920).

2. The Pioneer, Friday, March 26, 1920.

मता होगी। अतः उसके लिए उसने एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की जिसमें केवल अत्यावश्यक इच्छाओं की पूर्ति, प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा और पारस्परिक ऐक्यभाव—इन्हीं तीन बातों की प्रधानता थी। इस आदर्श-राष्ट्र के व्यक्तियों में से रक्षक-विभाग के पुरुष बड़े महत्व के होंगे। अतः उन्हें कैसे रहना चाहिए और उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिए इसका ज्ञान होना अत्यावश्यक है। रक्षक-श्रेणी में वे ही सम्मिलित माने जाना चाहिए जो सशक्त, निरलस, और शूर हों तथा साथ ही उदार और धीर हों, और दर्शन (तत्व-ज्ञान की ओर अभिरुचि रखते हों।

रक्षक-श्रेणी के मनुष्यों को बाल्यावस्था में ऐसी कहानियाँ सिखाई जायँ जिनमें तत्व और और सत्य के भाव भरे हों। ईश्वर पर लाञ्छन लगी हुई कहानियाँ उन्हें कभी न सिखाई जायँ। दुर्गुण-प्रदर्शक गल्पों का उनके अनुकरण-शील मन में बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। उन्हें केवल ऐसी कथाएँ सुनाई जानी चाहिए जिनसे सत्य, साहस, और आत्म-दमन—इन तीनों सद्गुणों का उनमें भलीभाँति विकास हो।

खण्ड ३—

कथाओं के विषय ही में नहीं, वरन उनकी वर्णन-शैली में भी सुधार की आवश्यकता है। काव्यों और पद्यों में केवल उसी बात पर विशेष लक्ष्य दिया जाय जिसके अनुकरण करने से वे उन्नत हो सकें। वर्णन-शैली सुस्पष्ट, सरल तथा गंभीर होनी चाहिए।

इसी तरह संगीत और वादन-यंत्रों में भी सुधार की आवश्यकता है, केवल सादगी ही का व्यवहार उचित है। न केवल गान और तान ही पर प्रधान लक्ष्य रखना उचित है; किन्तु व्यायाम की ओर ध्यान रखा जाय। व्यायाम से शरीर ही की उन्नति नहीं होती, किन्तु इससे आत्मा के रजोगुण की भी उन्नति होती है। अतः इसमें सादगी और संयम की आवश्यकता है। 'अति' यहाँ भी ठीक नहीं।

इस तरह उनकी शिक्षा होनी चाहिए। फिर उनमें जो सबसे अधिक अनुभवी, बुद्धिमान, समर्थ, स्वदेश-भक्त और स्वार्थ-त्यागी हैं वे उस राष्ट्र के लिए मजिस्ट्रेट बनाये जायँ और वही सच्चे संरक्षक कहलावें और शेष रक्षक लोग 'सहायक' के नाम से पुकारे जायँ। इस प्रकार उस राष्ट्र को 'संरक्षक' (True guardians), 'सहायक' (auxiliaries) और 'साधारण' (husbandsmen and craftsmen) इन तीन जातियों में सर्वदा के लिए विभक्त कर देना ही राष्ट्र के लिए कल्याणप्रद है। इसके लिए तो ऐसे उपाय भी करने चाहिए जिसमें उस भेद को लोग ईश्वर-कृत समझें।

संरक्षक-वर्ग के मनुष्यों का व्यक्तिगत स्वार्थ बिलकुल विनष्ट हो जाना चाहिए और व्यक्तिगत पत्नी, पुत्र और सम्पत्ति न रखना चाहिए तथा समाज से केवल जीविका-मात्र की इच्छा रखनी चाहिए।

खण्ड ४—

संरक्षकों का प्रथम कर्तव्य साम्यवाद का प्रचार करना होगा। न कोई नितान्त कंगाल हो और न कोई अत्यन्त धनशाली हो। दूसरा कर्तव्य साम्राज्य को अत्यधिक विस्तार से

रोकना होगा। तीसरा कर्तव्य संगीत और व्यायाम पर यथोचित दृष्टि रखना होगा। शेष छोटी मोटी बातें वे स्वयम् सोच कर तय कर सकते हैं। इस प्रकार आदर्श राष्ट्र की कल्पना पूरी हो चुकी। पूरा राष्ट्र बन कर तैयार हो गया। अब देखना चाहिए कि इसमें 'न्याय' कहाँ पर घुसा हुआ है। वह इस राष्ट्र के किसी खास भाग में हैं, अथवा सम्पूर्ण राष्ट्र ही में व्याप्त है।

अपना राष्ट्र आदर्श है; अतः इसमें चारों सद्गुण ज्ञान (Wisdom), साहस (Courage), आत्मदमन (Temperance) और न्याय (Justice) पूर्ण रूप से विद्यमान होंगे। इनमें ज्ञान संरक्षकों में, साहस सहायकों में और आत्म-दमन तीनों वर्गों की क्रमवृद्धि की पारस्परिक संधि में हैं। इनके अतिरिक्त एक बात जो रह गई वह है परस्पर सम्बद्ध होकर अपने अपने कर्तव्य का भलीभाँति पालन करना—यही 'न्याय' है। और इसके विरुद्ध यदि एक मनुष्य दूसरे के कर्तव्यों में हस्तक्षेप करे और ऐसे लक्षण राष्ट्र में जहाँ कहीं पाये जायँ वहीं 'अन्याय' है।

इस प्रकार समाज और राष्ट्र में 'न्याय' का तत्व मिल चुका। अब देखना चाहिए कि व्यक्ति में यह तत्व कहाँ विराजमान है। प्रत्येक मनुष्य के मन में दो विरुद्ध गुण वर्तमान हैं—एक सतोगुण [ध्यान रखना चाहिए कि ये सब पारिभाषिक शब्द हैं, अतः इनका सोलहों आने वैसा ही अर्थ यहाँ पर अभीष्ट नहीं है जैसा अर्थ कि भारतीय दर्शन-ग्रंथों में अथवा साधारण व्यवहार में पाया जाता है। यहाँ 'न्याय', 'ज्ञान', 'मन', 'आत्मा', 'संरक्षक', 'तमोगुण' इत्यादि शब्दों में बिलकुल प्रचलित अर्थ ही न लेना चाहिए] और दूसरा तमोगुण। एक बुद्धि-युक्त है और दूसरा अबुद्धि मय। एक तीसरा और भी गुण है जिसे रजोगुण कह सकते हैं। यह है तो अबुद्धि-युक्त ही; परंतु पक्ष सर्वदा सतोगुण का ही करता है। अतः राष्ट्र में संरक्षकों के समान मानवीय मन अथवा आत्मा में सतोगुण है, सहायकों के समान रजोगुण है और साधारण जनों के समान तमोगुण है। 'ज्ञान' सतोगुण में, 'साहस' रजोगुण में, 'आत्म-दमन' तमोगुण और रजोगुण पर सतोगुण के अनुमति-पूर्ण शासन में और 'न्याय' तीनों गुणों के अपना अपना कार्य भलीभाँति करने में है। यह आत्मिक ऐक्य, संगठन और संवद्ध कार्य क्रम किसे श्रेयस्कर और काम्य न प्रतीत होगा? 'अन्याय' में भला यह कहाँ है?

खण्ड ५ —

इस प्रकार अपने काल्पनिक साम्राज्य की उन्नति के बाद सुकरात उसका अधः पतन और कारण बतलाने की चेष्टा कर ही रहा था कि पालिमार्कस, एडेमण्टस इत्यादि ने उसे रोका तथा स्त्री-शिक्षा और वित्त और वनिता को सार्वजनिक बनानेवाले विचार का भलीभाँति स्पष्टीकरण करना चाहा।

इन प्रश्नों का उत्तर सुकरात ने टालना ही चाहा था; परन्तु जब बहुत आग्रह किया गया तब उसने इस प्रकार दिया—स्त्री और पुरुष इन दोनों में विशेष भेद नहीं है। यदि विभेद है तो केवल अभ्यासवश हो गया है। परिस्थिति बदल देने से भेद भी मिट सकता है। सन्तानोत्पत्ति का भेद केवल बाहरी भेद है। अतः इन दोनों को

समान ही शिक्षा देनी चाहिए। जिस ढँग की शिक्षा रक्षकों के लिए बताई गई है वही इनके लिए भी उपयुक्त है। ये मनुष्यों के साथ ही रह कर संगीत, व्यायाम इत्यादि सब प्रकार के अभ्यास कर सकती हैं।

दूसरा गंभीर प्रश्न वित्त और वनिता के सार्वजनिकपन का है। इसके विषय में सुकरात का कहना है कि जिस स्त्री की अभिरुचि युद्ध और तत्वज्ञान की ओर दीख पड़े उसका संबंध संरक्षकों से कराया जाय; परन्तु वह भी इस प्रकार कि जब इच्छा हो तब तोड़ा भी जा सके और वे अपने लड़कों को न पहिचान सकें। संबंध मजिस्ट्रेट की अनुमति से हो और सन्तान स्टेट के खर्च से पाली जावें। [सुकरात इन दोनों प्रश्नों को समुद्र की दो बड़ी बड़ी लहरें कहता है और समाज में इनका उपयोग में लाया जाना बहुतही दुष्कर मानता है। परन्तु न जाने क्या सोच कर वह अपने आदर्श राज्य की समृद्धि और स्थिरता में इन्हें इतना अधिक आवश्यक समझता है। कई लोगों ने प्लेटो के इन विचारों का अर्थ कई प्रकार से निकाला; परन्तु इन बातों का समर्थन करना किसी ने उचित नहीं समझा। सामाजिक अवनति के इन प्रधान कारणों को प्लेटो ने न जाने कैसे उन्नति के आधार-स्तंभ मान लिए हैं।]

तीसरा और भी भयंकर प्रस्ताव यह है कि दार्शनिक तत्ववेत्ता ही स्टेट के राजा बनाये जायँ। यदि ऐसा हो जाय तो वह काल्पनिक आदर्श राष्ट्र प्रत्यक्ष हो जायगा; परंतु राजा बनाने के समय ढोंगी और सच्चे दार्शनिकों का भेद जान लेना चाहिए। जिसने इधर उधर का ऊपरी ज्ञान प्राप्त कर लम्बीचौड़ी बातें हाँकना आरंभ कर दिया हो वह निरा ढोंगी है। सच्चा दार्शनिक वही है जिसने प्रत्येक ज्ञात-विषय का तत्व भलीभाँति समझ लिया हो तथा जिसने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के लिए गहरा गोता लगाया हो। वही हर एक काम भलीभाँति कर सकता है और वही राजा बनाये जाने योग्य है। [जैसेकि भारतवर्ष में जनक इत्यादि थे।]

खण्ड ६—

इन सच्चे दार्शनिकों की (१) सच्चे ज्ञान-प्रखर जिज्ञासु, (२) असत्य के शत्रु और सत्य के प्रेमी, (३) शारीरिक सुख से विमुख, (४) द्रव्य से उदासीन, (५) उन्नत, मनस्क और उदार हृदय, (६) न्यायी और धीर, (७) प्रतिभा और मेधामय तथा (८) काव्यमय जीवन वाले होना चाहिए। राज्य को चाहिए कि वह ऐसे मनुष्यों का अनुसंधान करे। वे स्वयम् अपनी ओर से अपने को क्यों बन्धन में डालने लगे। स्टेट को चाहिए कि वह तत्वज्ञान के अभ्यास में भी दृष्टि रखे जिससे ढोंगी लोग तत्वज्ञानी न कहलावें और सच्चे लोग शीघ्रही मिल जायँ।

सुकरात ने मजिस्ट्रेट होने के पहिले तक रक्षकों की शिक्षा का हाल दे दिया था; परंतु मजिस्ट्रेट होने पर ही शिक्षा का अन्त नहीं हो जाता। शिक्षा तो जीवन भर के लिए है। वह तो आत्मा को अन्धकार की ओर से हटाकर प्रकाश की ओर ले जाने की शक्ति है, फिर वह मजिस्ट्रेट ही तक क्यों रुकने चली। इन मजिस्ट्रेटों को क्रमानुसार उच्चतम तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन सब शृंखला-बद्ध और क्रमोन्नत तत्वों (Ideas or Foms) में 'शिव'-तत्व (Good) सर्व-श्रेष्ठ है। यही प्रत्येक जीवन का सच्चा ध्येय है।

प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का प्रधान कारण है और सृष्टि का सृजक और पालक है। जैसे इन्द्रियानुभूत जगत् में सूर्य है वैसे ही ज्ञान के जगत् में यह 'शिव'-तत्व है।

इस प्रकार क्रमानुसार मन की चार अवस्थाएँ पाई जाती हैं जिनसे क्रमशः किसी भी पदार्थ का ज्ञान स्पष्ट होता जाता है। वे अवस्थाएँ ये हैं—(१) अस्पष्ट बोध (कविता आदि के द्वारा ज्ञान या conjecture), (२) स्पष्ट बोध (इन्द्रिय-जन्य ज्ञान या Belief), (३) स्पष्ट ज्ञान (या इन्द्रिय-जन्य विषयों से बुद्धि-जन्य विषयों का ग्रहण या Understanding) और (४) शुद्ध तत्वज्ञान (Reason).

खण्ड ७—

इस खण्ड में सुकरात ने (गुफा के क़ैदियों वाली) एक लम्बी कहानी कहकर यह व्यक्त कर दिया है कि तत्ववेत्ता लोगों के शासन की कैसी स्थिति रहेगी और वे इस कार्य में किस तरह योग्य रह सकते हैं।

सुकरात के मत में शिक्षा का प्रधान कार्य आत्मा को इन्द्रिय-जन्य विषयों की ओर से शुद्ध बुद्धि-जन्य विषयों की ओर उत्तेजित करना है। इसके लिये क्रमशः (१) गणित, (२) साधारण रेखा-गणित (Plane Geometry), (३) घन ज्यामिति (Solid Geometry), (४) गणित ज्योतिष (Astronomy), (५) समता-शास्त्र (science of Harmonics) और (६) शुद्ध न्याय शास्त्र (Dialectics) पढ़ने की आवश्यकता है। सुकरात ने इन सबके पढ़ने के लिए समय निर्धारित किया है जिसका यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक है।

खण्ड ८—

इसमें सुकरात ने फिर वही "साम्राज्य की अवनति" वाला प्रश्न उठाया। उसने कहा कि मुख्यतः पाँच प्रकार के साम्राज्य और पाँच ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें से पहिले प्रकार के साम्राज्य और पहिले प्रकार के मनुष्य का वर्णन हो चुका। इस साम्राज्य को श्रेष्ठजन (Aristocracy) तंत्र कह सकते हैं। परंतु ऐसा साम्राज्य सर्वदा के लिए नहीं रह सकता। उन्नति के बाद अवनति का प्रादुर्भाव आवश्यक है। अतः इस साम्राज्य के बाद मानतंत्र (Timocracy) का उद्भव स्वाभाविक है। इसमें रजोगुण का प्राबल्य रहता है, 'सहायक' लोगों की बन आती है और 'साधारण' लोग बिलकुल दासों ही के समान रखे जाते हैं। इसमें केवल मान और गौरव ही का प्राधान्य है। इसके बाद धनीतंत्र (Oligarchy) का जमाना आता है जिसमें मान की जगह 'धन' ही प्रधानता पाता है। इसमें धनी और मज़दूर दो परस्पर-विरोधी दलों का विकास होता है। इस तरह जब निर्धन दल बेतरह ऊब जाता है तब वह शस्त्र लेकर धनियों के विरुद्ध उठ खड़ा होता है और उस अवस्था में (Democracy) सर्व साधारणतंत्र अथवा सर्वतंत्र स्वतंत्र शासन का आधिपत्य जम जाता है। प्रधानता मारी मारी फिरती है। सब ओर मनमानी होने लगती है, न कोई नियम और न कोई कायदा रहता है। सब बराबर और सब ही न्याय और कानून से भी स्वतंत्र!! न उनके लिए कोई कायदा और न वे किसी कायदे के लिए। परंतु यह अवस्था कुछ सालों तक भी नहीं रह सकती। इसके बाद अत्याचारी तंत्र (Tyranny) का

प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है। इनमें सभी प्रकार की इच्छाएँ और उनकी पूर्ति की वासना लगी रहती है। निर्घृण, निष्करुण, निष्प्रभ, कुटिल, दुराचारी, उद्दण्ड, नियम-विहीन व्यक्ति का प्राधान्य रहता है।

इन्हीं पाँचों साम्राज्यों के समान पाँचों प्रकार के मनुष्य भी होते हैं— श्रेष्ठ, मानेच्छु, धनेच्छु, स्वेच्छाचारी अविचारी, और अत्याचारी।

खण्ड ९—

इस खण्ड में सुकरात ने विविध प्रकार से यह दिखा दिया है कि न्याय-युक्त मनुष्य को सर्वदा सबसे बढ़ कर ही आनंद प्राप्त होता है। अन्यायी उसके समान सुखी कदापि नहीं हो सकता। थ्रेसीमेकस का यह कहना कि 'मनुष्य को पूर्णतः अन्यायी होना बड़े फायदे की बात है' नितान्त अयुक्त है। अतः जहाँ तक हो सके मनुष्य में इस 'न्याय' सद्गुण का विकास कराना चाहिए। यदि आप ही आप अन्तःकरण से हो जाय तो ठीक ही है, नहीं तो बाहर से ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिससे आत्मा में इसी गुण का प्राधान्य हो।

खण्ड १० —

प्लेटो को कवियों और काव्य के सुधार की बड़ी आवश्यकता दिखाई देती है। तत्कालीन काव्यों से उसे बड़ी अश्रद्धा सी हो गई है; अतः इस ग्रंथ के अन्त में वह फिर इसी विषय को उठाता है। उसका कथन है कि काव्य से पदार्थों का केवल अस्पष्ट बोध ही होता है, तत्व-ज्ञान नहीं होता तथा इससे क्षुद्र रसों ही की जागृति होती है, उच्च विचारों की नहीं। [परंतु काव्य में कई प्रकार के गुण हैं। उससे समाज को कई प्रकार से लाभ पहुँच सकता है] अन्त में सुकरात ने सद्गुणों के उपहार के विषय में 'आत्मा की अमरता' का उल्लेख किया है। जब आत्मा अमर है तब सद्गुणों के फल की—उनके उपहार की—मात्रा और भी बढ़ गई। केवल 'आत्मा की अमरता' का उल्लेख कर के ही वह चुप नहीं हो रहा; किन्तु सद्गुणों के बदले देवताओं के प्रसाद पर उसने एक बड़ी मनोरंजक कहानी का भी उल्लेख किया है। वह कहानी कई सिद्धान्तों से भरी हुई है। इससे ज्ञात होता कि आत्मा भिन्न भिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई अन्त में मुक्तिपद प्राप्त करती है। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है; परंतु ज्योंही एक बार उसने अपना भाग्य चुन लिया कि फिर वह उस कर्म का फल-भोग अवश्य करता है। मनुष्य स्वर्ग अथवा नरक में रह कर इसी लोक में फिर किसी न किसी योनि में आकर पैदा होता है, इत्यादि इत्यादि।

इस लम्बी तथा तत्वों से भरी हुई कहानी के साथ ही साथ यह अद्भुत, विशद और विविध सिद्धांत मय "रिपब्लिक" ग्रंथ भी समाप्त होता है।

उपसंहार।

इस प्रकार संक्षेप में प्लेटो का दिग्दर्शन करा दिया गया है; परंतु ऐसे दिग्दर्शन से रिपब्लिक के वर्णित विषय का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। कई आवश्यक और महत्वपूर्ण बातें लेख के विस्तार-भय से छोड़ दी गई हैं। फिर भी जो कुछ लिखा गया है उससे इस विषय का कुछ

न कुछ ज्ञान अवश्य हो सकता है। प्लेटो के समय में यूनान देशवासियों से अच्छा सम्पर्क था। केवल व्यवसाय में ही नहीं, शिल्प तथा अन्य शास्त्रों में भी दोनों का प्रभाव दोनों पर पड़ा है। प्लेटो के इस जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ में कई ऐसे सिद्धान्त (जातिभेद, ज्ञानी-राजा, कर्मबंधन, आवागमन, योनि, अमर-आत्मा, इत्यादि) पाये जाते हैं, जिनसे भारतीय बहुत दिनों से भलीभाँति परिचित थे तथा यूनानी लोग अधिकांश में अनभिज्ञ थे। अतः अर्वाचीन यूरोप के निर्माणकर्ताओं में प्रमुख प्लेटो के रिपब्लिक-सम्बन्धी विचारों का यदि अतीत भारतीय शासन-शैली और तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो इस ग्रंथ के पढ़ने में और भी अधिक आनंद आ सकता है।

सरकार की मुद्रा-नीति।

(लेखक—अध्यापक, प्राणनाथ, विद्यालंकार)

[२]

मुद्रा-समिति और रिवर्स काउन्सिल का विक्रय।

१८९३ के बाद जो मौद्रिक घटनाएँ घटित हुईं उनका वर्णन गतांक में किया जा चुका है। उन दिनों भारतसरकार ने रुपये में चाँदी कम न कर विनिमय की दर को ही स्थिर कर काम चलाने का यत्न किया। एक रुपया एक शिलिंग चार पेन्स के बराबर नियत किया गया। इससे सोने चाँदी के क्रय-विक्रयमें सरकार को अपना एकाधिकार स्थापित करना पड़ा। वह भारत में सोने चाँदी के गमनागमन को इस प्रकार नियन्त्रित करती रही जिससे विनिमय की दर में विशेष विक्षोभ न उपस्थित हो सके। भारत का निर्यात आयात से कहीं अधिक था और एक दो वर्षों को छोड़कर इस उत्तम दशा में परिवर्तन न हुआ। सपक्ष व्यापारीय संतुलन (Favourable balance of trade) के कारण भारत को जो सोना मिलना चाहिए था वह लन्डन में भारतीय स्वर्ण-कोष में जमा कर दिया जाता था। भारत में सोना न भेजकर भारत-सचिव भारत में सोने को सस्ता होने से रोकते रहे और सोना उसी राशि में भारत के अन्दर भेजते थे जिससे उनकी नियत की हुई विनिमय की दर स्थिर बनी रहे।

विपक्ष व्यापारीय संतुलन होने पर उनके कृत्रिम साधन निरर्थक थे; क्योंकि ऐसी हालत में भारतसरकार सोने के दाम को चढ़ने से रोकने में असमर्थ थी। निर्यात से आयात के अधिक होने पर भारतीय व्यापारी विदेश में सोना भेजने के लिए यदि बाधित हों और सोना यथेष्ट राशिमें मिलता न हो तो स्वाभाविक है कि सोना मँहगा हो जाय और १ शिलिंग ४ पेन्स के बराबर एक रुपया नियत करनेवाली विनिमय की दर को चकनाचूर करदे। सौभाग्य से भारत-सरकार को इस भय का सामना चिरकाल तक नहीं करना पड़ा और यही कारण है कि काम चलता रहा।

युद्ध के शुरू होने के बाद ऊपर लिखा भय सोने पर न पड़ चाँदी पर ज़ोर से आकर पड़ा। सहसा ही चाँदी मँहगी हो गयी और पाउन्ड स्टर्लिंग में जो सोना था वह उसके बाजारी भाव से बहुत कम हो गया। सारांश यह है कि युद्ध से पूर्व जो रुपये की स्थिति थी वही पाउन्ड स्टर्लिंग की स्थिति हो गयी। जिस प्रकार युद्ध से पूर्व रुपये के बाजारी भाव से रुपये में चाँदी कम थी उसी प्रकार पाउन्ड स्टर्लिंग के बाजारी भाव से पाउन्ड स्टर्लिंग में सोना कम हो गया। इधर संयुक्त प्रान्त, अमेरिका, ने कास्नेंद पर से २० मार्च, १९१९ को अपना नियन्त्रण हटा लिया। इससे लन्डन-न्यूयार्क रेट का भारत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगा। संसार का मौद्रिक केन्द्र (The monetary Centre) लन्डन न रहकर

न्यूयार्क हो गया। चाँदी के व्यापार का केन्द्र अमेरिका है। स्वाभाविक है कि डालर-स्टर्लिंग का जो अनुपात है उसका रुपये या स्टर्लिंग के अनुपात पर प्रभाव पड़े।

प्रश्न जो कुछ था वह यही कि क्या भारत-वर्ष पुनः स्टर्लिंग में अथवा सोने में रुपये की विनिमय की दर नियत कर काम करे? पहले तो स्टर्लिंग तथा सोने के दामों में फ़र्क न था; परन्तु अब यह बात नहीं है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि बैबिंगटन स्मिथ कमीशन के सभी सभ्य स्टर्लिंग में रुपये की विनिमय दर नियत करने के विरुद्ध थे; क्योंकि भिन्न भिन्न जातियों के व्यापार के हिसाब से स्टर्लिंग का दाम भिन्न भिन्न होता है। फिर स्पष्ट है कि सोने के सिवा कोई दूसरी चीज़ ऐसी नहीं जिससे रुपये की विनिमय-दर नियत की जा सकती।

इस निश्चय के बाद कमीशन को यह निर्णय करना था कि रुपये में चाँदी कम कर विनिमय की वही दर रहने दे अथवा रुपये में चाँदी पूर्ववत् रखते हुए विनिमय की दर बदल दे। यह भी संभव था कि सरकार सोने-चाँदी के गमनागमन को कृत्रिम साधनों से नियन्त्रित कर विनिमय की पुरानी दर को ही चलती रहने देती। कुछ समय तक तो यह संभव था; परन्तु चिरकाल तक इससे सफलता की आशा करना दुराशामात्र था। कदाचित् भारतीय जनता को भी यह पसन्द न हो। क्योंकि सरकार ने अपनी मौद्रिक नीति में भारतीय-हितों की भरपूर उपेक्षा की। ऐसी सरकार के हाथ में इतनी अधिक शक्ति का होना किसको पसन्द हो सकता है? विनिमय की पूर्ववर्ती दर को स्थिर रखने के लिए रुपये में कम चाँदी कर देना भी लोगों को कदाचित् पसन्द न हो। इस में सबसे बड़ा दोष तो यह है कि इस रद्दी सिक्के के निकलते ही पुराने, अच्छे और अधिक चाँदी वाले रुपये चलने से रुक जायँगे। उन रुपयों को कोई पिघलावेगा, कोई सन्दूकों में रख छोड़ेगा और कोई गहने गढ़वाने के काम में लावेगा। सरकार की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह पुराने करोड़ों रुपयों की कमी को सहसा ही पूरा कर सके। इतना ही नहीं, पीढ़ियों से लोग रुपये को जानते हैं। रुपये की चाँदी तथा भार प्रामाणिक माना जाता है। तोल तक में रुपये का प्रयोग है। रद्दी तथा कम चाँदी वाले रुपये के निकलते ही लोगों का भड़कना स्वाभाविक है। लोग तो यही समझेंगे कि सरकार ने जनता को लूटने का एक और नया तरीका निकाला है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विनिमय की दर को बदलने के सिवा मुद्रा-समिति के पास कोई उपाय न था।

(१) बैबिंगटन स्मिथ की मुद्रा-समिति तथा उसका निर्णय।

भारतीय जनता इस बात पर बहुत ही अधिक असन्तुष्ट है कि भारतीय प्रश्नों का विचार अंग्रेज़ लोग करें और भारतीय व्यापारियों तथा व्यवसायियों से सलाह तक न लें। बैबिंगटन स्मिथ की मुद्रा-समिति इंग्लैंड में बैठी और उसमें एक ही भारतीय सदस्य था जिसके विचार समिति के अनुकूल न थे। माना कि विनिमय की दर का बदलना आवश्यक था; परन्तु वह दर हो क्या इसपर प्रबल मतभेद है। बहुतों का विचार है कि यदि विनिमय की दर १ शि. ४ पेन्स से १ शि० ८ पेन्स कर दी जाती तो वह आर्थिक परिस्थिति के प्रतिकूल न होती। दो शिलिंग पर विनिमय की दर रख कर और २ शि. १० पेन्स की बाजारी रेट कम समझकर रिवर्स काउन्सिल बेचा गया। इससे भारत को जो नुकसान पहुँचा उसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। इस ढँग की नीति कभी भारत का हित नहीं कर सकती। आज तो यह हाल है, कल समिति झूठ मूठ ही २ शि. ६ पेन्स पर विनिमय की दर नियत कर और ३ शि. ६ पेन्स पर स्टर्लिंग के अदलबदल को कमज़ोर प्रगट कर रिवर्स काउन्सिल के विक्रय की सलाह दे, तो नुकसान किसका है? नुकसान तो भारत का ही है। इंग्लैंड के दोनों हाथों में लड्डू होंगे। मुद्रा-समिति की सलाहों से यदि विदेशीय माल कुछ प्रतिशतक तक सस्ता होता हो तो क्या यह न्याय-युक्त नहीं है कि उसी प्रतिशतक विदेशीय माल पर बाधक सामुद्रिक कर लगा दिया जाय? इस

बाधक सामुद्रिक कर से जो आमदनी हो वह उनको सहायता के तौर पर दी जावे जिनको कि सरकार की मौद्रिक नीति से नुकसान पहुँचा है। यदि सरकार नियन्त्रण तथा शान्ति की दुहाई देकर अधिक लाभ कर ले सकती है तो क्या उसके लिए यह उचित नहीं है कि उसकी दोषपूर्ण नीति से जिन जिनको नुकसान पहुँचा हो उनका नुकसान पूरा किया जावे।

यदि असावधान होना बुरा है तो अति अधिक सावधान होना भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता है। चाँदी का दाम चढ़ना स्थिर नहीं है। ग्रेट ब्रिटन तथा अन्य सभ्य देशों में चाँदी के प्रचलित सिक्कों में चाँदी को कम करने का यत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में निकल की अठन्नी चला ही दी जा चुकी है। इंग्लैंड में भी निकल के सिक्कों के चलाने का प्रश्न उठा हुआ है। अमरीका में एक तथा दो डालर से कम दाम के नोटों को चलाने का यत्न हो रहा है। इन सब घटनाओं का प्रभाव यही है कि चाँदी की मांग कम हो जायगी और चाँदी का दाम बहुत समय तक न चढ़ा रहेगा।[1]

चाँदी की उपलब्धि (Supply) पर विचार करने से भी यही बात स्पष्ट हो सकती है। १८८० में चाँदी की उत्पत्ति ९,००,००,००० आउन्स थी। परन्तु यही उत्पत्ति युद्ध से पूर्व २३,३०,००,००० आउन्स तक जा पहुँची। इसका ३/४ उत्तरीय अमरीका तथा मेक्सिको से प्राप्त होता था। कनाडा की खानों से अब चाँदी दिन पर दिन कम निकल रही है, परन्तु इस कमी को अमरीका की खानों ने पूरा कर दिया है। चाँदी के मामले में आस्ट्रेलिया, रूस तथा बर्मा से बहुत ही आशा की जाती है। अर्थ-तत्त्व-विज्ञों का ख्याल है कि मेक्सिको में शान्ति स्थापन तथा विप्लव से नष्टभ्रष्ट खानों के सुधारने के बाद संसार से चाँदी की उपलब्धि पूर्वापेक्षा बहुत ही अधिक बढ़ जायगी। सारांश यह है कि चाँदी का भविष्य बहुत भयंकर नहीं है।[2]

इस दशा में यदि मुद्रा-समिति २ शिलिंग की एक रुपये का विनिमय नियत कर १ शि० ८ पैन्स की विनिमय दर नियत करती तो भारत के लिए अधिक हितकर होता। कदाचित् रिवर्स काउन्सिल के बेचने तथा दश रुपये की गिन्नी नियत करने के कारण देश को जो नुकसान पहुँचा है, वह नुकसान भी न पहुँचता।

(२) रिवर्स काउन्सिल का बेचना।

भारतसरकार का सोने चाँदी के गमनागमन में एकाधिकार है और किसी हद तक वह विदेशीय व्यापार का संशोधन भी करती है। चिरकाल से भारत का व्यापारीय संतुलन अनुकूल था। यही कारण है कि इंग्लैण्ड के लोगों को भारत में अधिक धन भेजने के लिए भारत सचिव के पास जाना पड़ता था। वह उनसे धन लेकर उतने ही धन की भारतीय मुद्राध्यक्ष (the controller of currency) के नाम की हुन्डी दे देता था। इसी हुन्डी को अंग्रेज़ी भाषा में काउन्सिल कहते हैं। जब कभी भारतीयों को इंग्लैण्ड में अधिक धन भेजने की ज़रूरत पड़ती थी तो वह भारतीय मुद्राध्यक्ष से भारतसचिव के नाम हुण्डी प्राप्त कर लेते थे और इस प्रकार अपना धन इंग्लैण्ड में भेज देते थे। इस हुण्डी को रिवर्स काउन्सिल कहते हैं।

महायुद्ध के दिनों में भारत ने योरुप के अन्दर लगातार सामान भेजा परन्तु अपनी ज़रूरतों के अनुसार माल न पाया। इसका यह परिणाम हुआ कि भारतवर्ष योरुप से बहुतसे धन का लेनदार हो गया। भारत का अपरिमित धन भारतसचिव ने अपने हाथों में कर लिया और उसके बदले भारतीय मुद्राध्यक्ष ने भारतीयों को रुपये तथा रुपये के नोट्स पकड़ा दिये। भारतीय स्वर्ण-कोश का जो दुरुपयोग किया गया उसका विस्तृत वर्णन गतांक में किया जा चुका है। यहाँ पर जो कुछ लिखना है वह केवल रिवर्स काउन्सिल के विषय में ही है।

महायुद्ध के अन्त होने पर भारतसरकार तथा भारतसचिव ने सोने चाँदी के गमनागमन

1 Journal of the Indian Economic Society. (March 1920).

2 The Pioneer, Friday, March 26, 1920.

तथा विदेशीय विनिमय-दर से अपना नियंत्रण इस देश से उठाया जिससे भारत का करोड़ों रुपया पानी में मिल गया और भारत के बाह्य व्यापार तथा अन्तरीय व्यवसाय को भयंकर आघात पहुँचा।

बहुतसे अर्थ-तत्व-विज्ञों का विचार है कि भारत की व्यापारिक स्थिति ऐसी न थी कि रिवर्स काउन्सिलस बेचे जा सकते। यह सब भारत के धन को लूटने के लिए किया गया है। क्योंकि भारत का निर्यात पूर्ववत् आयात से अधिक था। शर्मा महाशय के प्रश्न के उत्तर में आय-व्यय-सचिव हेली ने कहा था कि 'रिवर्स काउन्सिल की बिक्री में व्यापार की ज़रूरत एक मुख्य कारण है'; परन्तु वही २३ फर्वरी के काम्यूनिक में प्रगट करते हैं कि 'रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री का कारण व्यापार न था; किन्तु युद्ध काल में जो अधिक लाभ अंग्रेज़ों तथा अन्य विदेशियों को हुआ है उसको इंगलैण्ड में पहुँचाना था'। उसी काम्यूनिक में सरकार ने यह स्वीकृत किया है कि उसके कार्यों से देश में सट्टा बढ़ गया है। यह तो स्वाभाविक ही है। क्योंकि जब सरकार अपनी विनिमय-दर में ३ से ४ पैन्स तक प्रलोभन देती हो (जोकि एक ही दिन में १० प्रतिशतक के लगभग लाभ होता है) तो सट्टा न बढ़ेगा तो होवेगा ही क्या? इस प्रलोभन का ही यह प्रभाव था कि भारतीय मुद्राध्यक्ष के पास अनन्त राशि में धन भेजने के लिए प्रार्थना-पत्र पहुँच गये। इस प्रकार के प्रार्थनापत्र भेजने वालों में सबको रिवर्स काउन्सिल नहीं दिये गये। ५,००० पाउन्ड से कम धन वाले प्रार्थनापत्र तो रद्दी की टोकरी में फेंक दिये गये। २,५०,००० पाउन्ड धन का प्रार्थनापत्र भेजना पड़ता था। और २०% के स्थान पर ५० % शतक धन पहिले ही जमा करना पड़ता था, तब रिवर्स काउन्सिल किसी को मिलता था। इतने धन का प्रार्थनापत्र सिवा अंग्रेज़ी बैंकों तथा व्यापारियों के और कौन भेज सकता है? सारांश यह है कि रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री में जो भारत का धन लुटाया गया वह भी भारतीयों को न मिला। योरूपीय लोगों तथा अंग्रेज़ों की ही जेबें इससे भरी गयीं।

रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री से भारत का कितना अधिक धन नष्ट हुआ इसका हिसाब, प्रोफेसर प्रियनाथ चटर्जी ने बहुत ही प्रामाणिक विधि पर लगाया है। उनका कहना है कि लन्डन में काउन्सिल की बिक्री से भारतसरकार को ३१.२ लाख पाउन्ड धन प्राप्त हुआ और रिवर्स काउन्सिल की बिक्री से २४.७ लाख पाउन्ड धन खर्च हुआ। इस प्रकार सरकार को कुल आमदनी ६.५ लाख पाउन्ड की हुई। इसी प्रकार भारत के ख़ज़ाने में काउन्सिलों के कारण ३४.५ करोड़ रुपयों की कमी हुई और रिवर्स काउन्सिल की बिक्री से १८.४ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई। सारांश यह है कि भारत के ख़ज़ाने को १६.१ करोड़ रुपयों का नुकसान पहुँचा।

१५ रुपयों का पाउन्ड मानकर यदि लन्डन तथा भारत के कोश के आय-व्यय की गणना की जावे तो कुल हानि ६.३ करोड़ रुपयों की होती है। आय-व्यय-सचिव ने भी इस हानि को स्वीकृत किया है।

रिवर्स काउन्सिल की बिक्री का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि इंगलैण्ड भारत को वह धन न दे सका जोकि उसने भारत से महायुद्ध के समय में लिया था। भारतसचिव ने काउन्सिलों की बिक्री की और धन की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। इधर भारतसरकार भी धन के न होने से परेशान थी। अतः उसने रिवर्स काउन्सिल की बिक्री का सहारा लिया।

रिवर्स काउन्सिल की बिक्री तथा पेपर करन्सी रिज़र्व का भारत में भेजना तथा सोने का खरीदना आदि अनेक बातों में भारत को ४० करोड़ रुपयों का नुकसान उठाना पड़ा है?

उपरिलिखित धन के नुकसान के साथ साथ अन्य भी बहुतसे दोष रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री के हैं जोकि भुलाये नहीं जा सकते हैं।

दृष्टान्त-स्वरूप उसके बेचने का सबसे बड़ा प्रभाव तो यह है कि भारत की अधिकांश पूँजी एकमात्र विनिमय की रेट के कारण ही इंग्लैण्ड के बैंकों में जा सकती थी। क्योंकि व्यापारियों को यह तो मालूम ही है कि कुछ ही महीनों के बाद एक रुपये के बदले केवल दो ही शिलिंग मिलेंगे। यदि आज उनको एक रुपये के बदले दो शिलिंग ग्यारह पैन्स मिलते हों तो कदाचित् ही कोई व्यापारी होगा जो अपने रुपयों को विदेश में न भेज दे। तीन ही मास में यदि निश्चित रूप से ग्यारह पैन्स का लाभ होता हो तो वह हाथ से क्यों निकलने दिया जाय? क्योंकि यह उसको एक प्रकार से सैकड़े से अधिक लाभ है।

भारत की अधिकतर पूँजी के विदेश में चले जाने से भारत के व्यावसायिक देश बनने में बहुत विघ्नों का होना स्वाभाविक ही है। पाँच वर्ष के भयकर युद्ध में भारत ने जो धन कमाया उससे यदि कल-यंत्र आदि खरीदे जाते तो भारत की उत्पादक शक्ति को बहुत ही लाभ पहुँचता। ऐसे बुरे अवसर पर हेली का रिवर्स काउन्सिलस को बेचना न्याय-युक्त नहीं कहा जा सकता है। सरकार का प्रजा के समस्त धन को सट्टे तथा आकस्मिक लाभों में लगवा देना कहाँ तक उचित है। रिवर्स काउन्सिलस के बेचने का भारत की व्यावसायिक उन्नति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भारत की उत्पादक शक्ति के अतिरिक्त भारत के बाह्य व्यापार को भी इससे चोट पहुँचने की संभावना है। जिन जिन व्यापारियों ने विदेश को माल रवाना किया है उनको भयंकर घाटा उठाना पड़ेगा। पत्रों के देखने से मालूम पड़ा है कि रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री के दिनों में कराँची के अन्दर सैकड़ों टन कच्चा माल पड़ा था। रिवर्स काउन्सिलस की बिक्री के कारण वह विदेश न जा सका।

बाह्य व्यापार भारत का जीवन है। बिना अन्न बेचे भारत को एक तुच्छ पदार्थ नहीं प्राप्त हो सकता। कच्चे माल का बाहर जाना रुकतेही भारत का व्यापारीय संतुलन बिगड़ जाना स्वाभाविक है। इससे भारत दूसरे देशों का क़र्ज़दार हो जायगा। यदि भारत जितना पदार्थ विदेश से मँगावे उतना पदार्थ विदेश न भेज सके तो स्वाभाविक है कि भारत को अपना सोना और चाँदी विदेश में भेज देना पड़ेगी।

महाशय हेली का रिवर्स काउन्सिलस बेचना और शुरू शुरू में बाजारी भाव से तीन पैन्स अधिक देना भारत के लिए हितकर नहीं सिद्ध हुआ। इस समय जो रुपया कल-यन्त्र के मँगाने में और देश की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने में खर्च किया जाता वह सब रुपया करन्सी कमेटी तथा हेली के रहस्य पूर्ण चक्र में पड़कर लन्दन भेज दिया गया। इसी विचार से बम्बई के प्रसिद्ध अर्थतत्वज्ञाता महाशय वोमनजी ने यहाँ तक कह दिया कि भारत के धनधान्य तथा संपत्ति को लूटने के लिए सब लोग आपस में मिल गये हैं।[1] महाशय चिन्तामणि भी बहुत सोचने के बाद इसी सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि 'भारत की पूँजी का अर्वाचीन प्रयोग बहुत ही अन्याय-पूर्ण है। सरकार का रिवर्स काउन्सिलस बेचना कभी भी न्याय-युक्त नहीं कहा जा सकता है'। महाशय शर्मा ने व्यवस्थापक सभा में यह स्पष्ट कहा कि भारतीयों को अपने व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए इस समय एक एक पाई की ज़रूरत है। नकली तरीकों से भारत की पूँजी इस समय विदेश में ले जाना पूर्णतया अन्याय-युक्त है।[2] पंडित मदनमोहन मालवीय जी को भी महाशय हेली की वाक् चातुरी पसन्द

1. We are led to support the conclusion of a critic that the sale of Reverse Councils at present is a most unjustifiable dissipation of India's resources. The Leader, March 11, 1920.

2. To allow the export of money in that artificial way from India when they wanted every pie they could to increase industry was absolutely unjustifiable. The Statesman, March 11, 1920.

नहीं आयी और उन्होंने भी व्यवस्थापक सभा के भारतीय सभ्यों का ही साथ दिया। मर फजलभाई करीमभाई तो इस परिणाम पर पहुंचे कि करन्सी कमेटी की रिपोर्ट ही न्याय-युक्त नहीं है, क्योंकि सोने का दाम कुछ समय के बाद पुनः अपने स्थान पर आ पड़ेगा। अतः सरकार को विनिमय की रेट पूर्ववत् ही रखना चाहिए।[3] महाशय बोमन जी ने कहा है कि भारतसरकार की नीति भारत के व्यवसाय और व्यापार की उन्नति तथा हितसाधन के अनुकूल नहीं है। हमारे देश के हित पर तनिक सा भी ध्यान नहीं किया जाता है[4]।

फजलभाई करीमभाई के विचार में एक विशेषता है जिसको कभी न भुलाना चाहिए। करेन्सी कमेटी के अनुसार यदि विनिमय की दर न बदली जाती तो भारत का व्यापारीय संतुलन सपक्षीय से विपक्षीय न होने पाता। जिस प्रकार रिवर्स काउन्सिलस की रेट भारत के बाह्य व्यापार की घातक थी और भारत की पूंजी को विदेशों में भेजती थी, उसी प्रकार विनिमय पूर्ववर्ती रेट भारत के बाह्य व्यापार की सहायक थी और विदेशीय राष्ट्र अपनी पूंजी को भारत में भेजने पर बाध्य थे। यदि यही स्थिति बनी रहती तो भारतवर्ष कुछ ही वर्षों मे व्यावसायिक देश हो जाता। विनिमय की रेट से इंग्लैण्ड का बना माल भारत में न पहुंचने से भारत स्थिर तौर पर ऋणदाता बना रहता और भारत की पूंजी की कमी का प्रश्न बड़ी सुगमता से हल हो जाता।

दुःख की बात तो यह है कि भारतसरकार के हाथ में विनिमय की दर नियत करने का काम होने से वह भारत के व्यापार-व्यवसाय में सदा अनुचित सीमा तक बढ़ता जाता है। जिस प्रकार स्वेच्छाचारी राज्य में जानमाल की रक्षा का कुछ भी विश्वास नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आर्थिक नीति से चलने वाले अनुसरदायी विदेशी राज्य में व्यापार-व्यवसाय की रक्षा का कुछ भी भरोसा नहीं हो सकता है। सरकार किस मौके पर क्या करेगी और किस नीति का अवलम्बन करेगी इसको कौन जान सकता है? अचेतन जड़ जगत के नियम किसी हद तक अनुमान में आ सकते हैं; परन्तु राज्यों की चालों का कौन अनुमान कर सकता है? जब देश का व्यापार राज्य की इच्छाओं तथा नीति का ही प्रतिबिम्ब हो तो व्यापारियों का विवेक कम हो जाता है। स्थिर आधार न पाकर वह गिरानी की ओर झुकता है। सट्टा तथा जुए की आदतों का व्यापारियों में बढ़ना बहुत भयंकर है। क्योंकि इससे देश की समृद्धि की आशा कोसों दूर चली जाती है। रिवर्सकाउन्सिल की बिक्री का यह प्रभाव अति स्पष्ट है। इसपर पूर्व में भी प्रकाश डाला जा चुका है।

इन्हीं बातों पर विचार करके भारतीय व्यापारियों की समिति (the committee of Indian Merchants Chamber and Bureau) ने १६ मार्च को भारतसरकार के आय व्यय विभाग को तार दिया था कि "भारतीय व्यापारियों की समिति भारतसरकार से प्रार्थना करती है कि रिवर्स काउन्सिल का विक्रय शीघ्र ही बन्द कर दिया जावे; क्योंकि इससे देश की आय तथा समृद्धि को बड़ा भयंकर धक्का पहुंच रहा है। १६१६ के इंडियन पेपर करेन्सी एक्ट के संशोधन का प्रस्ताव भ्रम-पूर्ण नीति का फल है। यह इस लिए किया जारहा है कि भारतीयों को यह पता न लगने पावे कि रिवर्स काउन्सिल की बिक्री से भारत के खज़ाने को कितना घाटा उठाना पड़ा है।"

जिन दिनों में भारत का बाह्य व्यापार उन्नति पर था और भारतवर्ष दूसरे यूरोपीय देशों का ऋणदाता था इंग्लैण्ड की दशा बड़ी भयंकर थी। महाशय वैल्व अपने विजयी ब्रिटेन

3- The Statesman, March 1920.

4- No language is strong enough to show the utter disregard paid to our interests by each and every act of Government who pose as the guardians of the interest of Indian trade and Industry The Leader, March 11, 1920.

(Britain Victorious) नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि "Increasing adverse foreign exchanges, still higher prices, a growing shortage of necessaries, more unemployment and misery, a still severe struggle for existence. Social dissipation of a desperate character followed eventually by a forced exodus of our surplus population to other lands, inability to produce sufficient to meet our country's obligations, national bankruptcy and the fall of Britain to the position of a third rate power in the world."

अर्थात् "युद्ध की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड का बाह्य व्यापार उन्नत न हुआ। व्यापारीय संतुलन (Balance of trade) के विपक्षीय होने से विनिमय की दर चढ़ी रही। महँगी दिन पर दिन भयंकर होता गयी। जीवनोपयोगी पदार्थ बहुतही कम होगये, बेकारी ने उग्र रूप धारण किया, आधे पेट खाकर विपत्ति में लोगों ने जीवन निभाया। इससे जीवन संघर्ष का इंग्लैण्ड में बढ़ना स्वाभाविक था। इतनाही नहीं, सामाजिक विक्षोभ ने भी प्रचण्ड रूप धारण किया। मेहनती मजदूर लोगों को दूसरे देशों में भागना पड़ा। अपने ऋणों को चुकता करने के योग्य पदार्थों की राशि के उत्पन्न करने में इंग्लैण्ड असमर्थ होगया। यह सब इंग्लैण्ड के दिवालिये होजाने के चिह्न हैं। इनसे इंग्लैण्ड ने यदि अपने आपको न बचाया तो इंग्लैण्ड संसार में तीसरे दर्जे का राष्ट्र हो जावेगा।"

महाशय बैल्ब के शब्द ध्यान देने योग्य हैं। महाशय हेली अपने कार्यों की चाहे कुछ ही व्याख्या क्यों न करें, परन्तु अब इसमें कुछभी सन्देह नहीं है कि इंग्लैण्ड जब अपने व्यापारीय संतुलन को सपक्षीय करने के लिए छटपटा रहा था और महाशय बैल्ब तक घबड़ा गये थे, ठीक उसी समय हेली ने भारत का बाह्य व्यापार बिगाड़ा और इंग्लैण्ड के बाह्य व्यापार को उत्तेजित करने के लिए भारत के खून तथा पसीने से कमाये धन को इंग्लैण्ड के पीछे पानी की तरह बहा दिया और इसके साथही साथ भारत का ४० करोड़ रुपया कुछ ही दिनों में स्वाहा कर दिया।

रिवर्स काउन्सिल की बिक्री के सदृश ही दश रुपये की गिन्नी का रहस्य है जिसकी चर्चा आगामी अंक में होगी।

जातीयता-आवाहन।

(लेखक—श्रीयुत आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव)

त्रिंश-कोटि-नर-निकर-भवन-भू-
तल का केलि-केन्द्र उपवन।
अज-अनन्त-प्रिय प्रकृति-सुवन ऋतु-
पञ्च-सहित-ऋतुराज-मदन॥
जिसका छवि वर्धन हिम-धवलित
हिम-गिरि-शिखर उधर करते।
जिसमें इधर मनोहरता-सह
विपुल-विभव सागर भरते॥
जातीयते, उसी उपवन में,
उसी भवन में आ जाओ
यहाँ भरी मात्सल्य पवन में,
देवि, सुरभि सी छा जाओ॥ १॥
निज कृत्यों से प्रगति-शिखर से,
भारतवर्ष गिरा जब से।
तव निवास के योग्य, देवि, यह
बनता आया है तब से॥
दण्ड प्रचण्ड पाप का, पश्चात्—
ताप-ताप सहता आया।
वक्र काल की चाल, विषमतर-
विपज्जाल सहता आया॥

उक्त ताप से, देवि, बहुत कुछ,
शुद्धि हुई इसकी, आओ।
कष्ट-सहन से शक्ति बढ़ी, दृढ़
बुद्धि हुई इसकी, आओ ॥ २ ॥

बची अपावनता है इसमें
इधर-उधर कुछ यद्यपि अभी।
पुण्य-धाम देवी-देवों का
है तजनीय न तदपि कभी ॥
दास-दासियाँ तव पवित्रतम
कर देंगी कोना कोना।
तव-भूषण-आभा विचित्रतम
कर देगी कोना कोना ॥

शशि-शीतल-कर-प्रभा-युक्त हे
देवि, सहर्ष बढ़ी आओ।
सजल-नयन स्वागत-हित-भारत-
माता द्वार खड़ी, आओ ॥ ३ ॥

गंगा जमुनादिक का निर्मल
शोभित धारा-जाल जहाँ।
हिन्द-हृदय-नाड़ी-समूह-गत
दिखती शोणित-चाल जहाँ।
मध्य सितासित-जल-सीमित है,
दो आब-भूमि सिंहासन।
कृपा-दृष्टि से अमृत-वृष्टि के
हेतु जमे उसपर आसन ॥

आत्मिकता की प्रभा सत्य के
बल से दीप्त-सदन, आओ।
भारतमाता का हे देवी,
आकर देख बदन जाओ ॥ ४ ॥

अगणित-रवि-मद-हरण-प्रभा-मय,
खानि अलौकिकता-छवि की।
स्वार्थ-भाव-तृण-दहन अनल, शुचि
जननी आत्म-त्याग-रवि की ॥
मूर्तिमान ब्रह्माण्ड-हृदय, प्रभु-
प्रेम-मयी उज्ज्वल प्रतिमा।
प्रणत-व्यथा पर द्रवण-शील है
हिय की छिपी हुई गरिमा ॥
क्षीर-सहानुभूति-सागर-भव,
हे सुस्मिते रमे, आओ।
विविध-सुभग-भावों की जननी
हे सुव्रते क्षमे, आओ ॥ ५ ॥

विषम-आत्म-विस्मरण-अविद्या—
तम-विनाश-हित रवि बनना।
विमल आत्म-सम्मान-बरसने
हेतु पयोद सछवि बनना ॥
पादप-दमनोपाय-नाश-हित
संहारक मारुत बनना।
यह-अशक्तता-विषम-ताप के
हेतु अलौकिक ऋतु बनना ॥
कृत-अदृष्ट-घन-विपति-वृष्टि-घैन
में गिरिधर बनकर आओ।
'दृढ़-साहस युत-कार्यशीलता'-
गोवर्धन कर पर लाओ ॥ ६ ॥

त्रिंश-कोटि-कर-द्वय-विभिन्न सब
युक्त एक तन में करना।
धनिक-जनों का भोजन वितरित
सब भूखे जन में करना ॥
नेतागण को बदल एक-तन-
लसित मुण्ड-गण में देना।
भारत को गजतन, जनता को
बदल शुण्ड-गण में देना ॥

१ दमन करने की विधियाँ, २ धनी।

प्रान्तीयता तथा प्रान्तों की
उथल-पुथल करती आओ।
उन्हें हिन्द-क्यारियां बना कर
समता—जल भरती आओ ॥ ७ ॥

पद-कुञ्जों से अवनी-तल पर
सुमन बिछाती आ जाओ।
तत्सुवास से लोलुपता की
गन्ध नशाती आ जाओ॥
पद-नख-अरुण-अमल-आभा से
तम-अनैक्य हरती आओ।
मिस-नूपुर-कलकल ध्वनि-गुंजित
ऐक्य-गीत करती आओ ॥
मंगल-बाल-भानु-द्युति-रंजित
शुद्ध-वसन-पट पहिने आओ।
करुणा-सलिला-सुरगंगा की
रशना भी पहिने आओ ॥ ८ ॥

स्तन से विविध—शक्तिमय-जीवन-
क्षीर-स्रवण करती आओ।
सुरभित शुचि स्वर्गीय-श्वास से
रोग-दोष हरती आओ ॥
वदन-रूप में परम-ज्ञान-मय
ज्योति व्यक्त करती आओ।
चितवन में चहुँदिश मुसकाना-
सुमन-वृष्टि करती आओ ॥
मन्द हास से हर्षम मुदिता-
लहर जनन करती आओ।
ईश्वरीय-आशिष सम कर से
आश्वासन करती आओ ॥ ९ ॥

पीत-भानु सी समता-केशर-
खौर लसी जिसपर मनहर।
शीतल—शान्ति—प्रकाशोदधि ही
भाल तुम्हारा है सुन्दर ॥
महा-कालिकाऽतुलित शक्ति की
केशराशि शोभित उसपर।
मानव-हृदय-सुमन-निर्मित है
हार अनूप पड़ा उर पर।
क्रूर-आततायी-विनाश हित
हे धृत-करवाले, आओ।
यहाँ व्याप्त होने को पावन-
प्रभा-राशि-माले, आओ ॥ १० ॥

ओछे भावों का रखकर या
अशुचि मूर्तियों का रखके।
नाम तुम्हारा, किया कलंकित
वह जिन देशों ने जग के ॥
उनकी निद्रित-मलिन-बुद्धि को,
देवि, सजग करती आओ।
उनकी इष्ट देवियों को द्युति-
हीन, अजग करती आओ ॥
विश्व-बन्धुता के भावों को
हे अग्रज-तनुजे, आओ।
हे उदारते चरम, अहिंसा
की अतिप्रिय अनुजे, आओ ॥ ११ ॥

भारत-क्रन्दन सुनाने को हो
पुरुषोत्तम के कान तुम्हीं।
भारत-दशा उन्हें दिखलाने
को हो आँख-समान तुम्हीं॥
उनसे इष्ट लाभ लहने को
एक-मात्र हो युक्ति तुम्हीं।
चिर-परतन्त्र दीन भारत की,
सदय देवि, हो मुक्ति तुम्हीं ॥
तीस करोड़ सुमन गुँथने को
रज्जु विशाल बनी आओ।
परवशता-पाश-नाश के हित
तुम करवाल बनी आओ ॥ १२ ॥

अरब का भीष्म-व्रत-धारी कवि।

(लेखक—राव महेशप्रसाद, मौलवी फ़ाज़िल)

अपनी भीष्म-प्रतिज्ञाओं के बल पर अनेक लोगों ने इतिहास में नाम पाया है। भारतवर्ष के इतिहास में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है। राज-ऋषि भीष्म ने अपने व्रत पर आरूढ़ रहकर ही अक्षय यश प्राप्त किया है। अरब में इसी प्रकार सामवेलबिन आदिया नामी कवि भी अमित कीर्ति का भागी हो गया है। यह कवि कोई मामूली मनुष्य नहीं था, बल्कि एक प्रतापी सरदार था। यह पैग़म्बर हज़रत मूसा के सगे भाई हज़रत हारून का वंशज था। जाति का यहूदी था। इसका जन्म-मरण कब हुआ इन बातों का उत्तर किसी इतिहास में नहीं मिलता; परन्तु यह बात निर्विवाद है कि यह कवि मुसलमानी धर्म की स्थापना से बहुत पहले हुआ है।

अरब मरुस्थल की नैर्ऋत्य विदिशा में तैमा नाम का एक स्थान है। वहीं इसकी एक मज़बूत गढ़ी थी। उस गढ़ी का नाम अबलक़ था। यह कवि कुटुम्बियों सहित वहीं रहता था। इसमें प्रतिज्ञा-पालन का विशेष गुण था और वह कैसा था इसका परिचय आगे मिलेगा। यहाँ उसकी कविता के विषय में यह बतलाना है कि इस कवि की कविताओं का जो संग्रह* बेरुत में छापा गया है उससे इसकी अनेक उत्तम कविताओं का पता लगता है। परन्तु इस कवि की सबसे अधिक सुप्रसिद्ध और उत्तम कविता वह है जो "दीवान हमासा" नाम के एक सुप्रसिद्ध अरबी-संग्रह में है। यहाँ उसीमें से कतिपय पद्यों का अनुवाद नीचे दिया जाता है:—

यदि मनुष्य की मर्यादा कंजूसी (के अवगुण) से दूषित नहीं हुई, तो चाहे जिस चादर को ओढ़े वही उसपर शोभायमान होगी। अपने ऊपर आये हुए दुःखों को जो मनुष्य नहीं सहता उसके लिए उत्तम यश की प्राप्ति का कोई मार्ग ही नहीं।

मेरी पत्नी ने मुझे इस बात पर लज्जित किया कि मेरे कुटुम्बी संख्या में थोड़े हैं। मैंने उत्तर दिया कि संसार में भद्र पुरुष थोड़े ही हुआ करते हैं।

हमारे युवक और बूढ़े दोनों उच्च पद के स्वामी हैं; अतः जिनकी सन्तान उन्हीं के समान श्रेष्ठ हो, निःसंदेह वे संसार में थोड़े नहीं हैं। 'हम थोड़े हैं' यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं, क्योंकि हमारे पड़ोसी हमारी वजह से अच्छी हालत में हैं, और दूसरों के पड़ोसियों की दशा बड़ी हीन है।

हम एक ऐसे पहाड़ के मालिक हैं जिसकी ऊँचाई देखने वाले की दृष्टि को थकाकर लौटा देती है, और हम जिस को अपनी शरण में लेते हैं, अथवा जिसको आज्ञा देते हैं, वही उस पहाड़ पर डेरा डाल सकता है। हमारे पहाड़ की जड़ पाताल तक पहुँची हुई है और उसकी चोटी सप्त-ऋषियों तक ऊँची है जहाँ तक किसी अन्य की ऊँचाई नहीं है।

* बेरुत नगर सिरिया में एक प्रधान देश है जिसको शाम भी कहते हैं।

हम ऐसे शूरवीर हैं कि रण-स्थल में उस अवसर पर भी खेत होने को बुरा नहीं समझते जिस अवसर पर आमिर और सलूल ऐसे बहादुर वंश के रणवीर भी मृत्यु से कतराते हैं। हमारा कोई सरदार बिछौने पर पड़ा हुआ नहीं मरता, और हमारा कोई मनुष्य भी ऐसा नहीं है जो कि मारा गया हो और हमने उसका बदला न लिया हो।

हमारा रक्त तलवारों की धारों पर बहता है, और तलवारों की धारों को छोड़कर अन्य किसी स्थान पर नहीं बहा करता। जब हमारा कोई सरदार मर जाता है, तब दूसरा उसके स्थान की पूर्ति करता है और वह (युवक) योग्यता तथा अनुभव में अधेड़ लोगों के समान होता है।

हमारी लड़ाइयाँ शत्रुओं में विख्यात हैं और उनके सिर से पैरों तक के चिह्न जोकि हमारी लड़ाइयों के कारण उनपर हो गये हैं स्वयं साक्षी हैं। हमारी तलवारों के विषय में पूर्व और पश्चिम में सब कहीं यह बात विख्यात है कि जिराबकतर वाले रणधीरों के साथ बहुत खटाखटी होने के कारण वे जर्जर हो गये हैं। हमारी तलवारों का यह स्वभाव है कि जब वे मियान से निकलती हैं तो उस समय तक मियान में वापस नहीं जातीं जब तक कि किसी समुदाय का खून नहीं पी लेतीं।

हम चाहते हैं तो लोगों की बातों को टाल देते हैं; लेकिन जो कुछ हम कहते हैं उसे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

यदि तुझको (हे मेरी पत्नी!) हमारा और हमारे शत्रुओं का हाल मालूम नहीं, तो यह सब हाल जानने वाले लोगों से पूछ। सुजान और अजान बराबर नहीं होते।

इन उदाहरणों से प्रकट है कि सामवेल एक वीर कवि था। उसने अपनी काव्य-शक्ति की बदौलत बहुत यश प्राप्त किया था; परन्तु वास्तव में सामवेल को अरब तथा अरबी संसार में जो अक्षय कीर्ति मिली है उसका वृत्तान्त इतिहास के कथनानुसार यह है कि कवि-सम्राट् इमरुल क़ैस ने शत्रुओं से पीड़ित होकर इसके यहाँ पनाह ली। फिर यहाँ से वह रूम के बादशाह के यहाँ कुस्तुन्तुनियाँ गया। पर उसके निठुर शत्रुओं ने वहाँ भी पीछा न छोड़ा, और अन्त में लौटते समय वह राह में मर गया।

जब कवि-सम्राट् कुस्तुन्तुनियाँ जाने लगा था उस समय वह अपने बापदादों की पाँच मौरूसी जिरहें और कुछ दूसरी चीजें धरोहर के तौर पर सामवेल के यहाँ रख गया था। जब वह मर गया, तो गस्सान के बादशाह ने जिरहों को अपने अधिकार में लेना चाहा। इस विचार से हारिस इब्न मालिक को सेना सहित सामवेल के यहाँ भेजा। सामवेल ने जिरहों को देने से इनकार किया। हारिस ने सामवेल की गढ़ी घेर रक्खी थी। उसी काल एक दिन क्या हुआ कि सामवेल का एक छोटा बालक धाय के साथ गढ़ी से बाहर आया। हारिस ने उसको पकड़ लिया, फिर सामवेल को धमकाकर कहा कि यदि तुम जिरहें न दोगे, तो तुम्हारा पुत्र तलवार के घाट उतार दिया जावेगा।

ऐसा सुन कर लोगों ने सामवेल को सलाह दी कि जिरह देकर लड़के की जान बचा लेना

ही अच्छा है । परन्तु सामवेल के धैर्य्य में तनिक भी फर्क़ न आया और गढ़ी की दीवार पर खड़े होकर उसने ज़ोर से कहा—"मैं ज़िरहें नहीं दे सकता और न अपने वचन से मुँह मोड़ सकता हूँ । लड़के का जो चाहो करो । विश्वास-घात गले का ऐसा हार है जोकि उतर नहीं सकता । यह लड़का अपने पीछे अपने भाइयों को छोड़ जायगा ।"

सामवेल से ऐसा उत्तर पाकर हारिस ने बड़ी बेरहमी के साथ बच्चे को मार डाला । बड़े ही आश्चर्य्य की बात है कि यद्यपि इतनी बड़ी रोमांचकारी दुर्घटना सामवेल की आँखों के सामने हुई, तथापि उसका कलेजा न दहला । वह अपने वचन से न टला और बड़ी सावधानी के साथ अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा का परिचय देते हुए उसने जो पद्य कहे उनमें से दो का भावार्थ यह है—"मैंने अलकिन्दी (इमरउलक़ैस) की ज़िरहें रखने में वफ़ा किया, जब कि अन्य जातियों की निन्दा वफ़ादारी के विषय में हुई, निस्सन्देह उस समय मैंने वफ़ा किया ।" आदिया ने एक दिन मुझे उपदेश दिया, "हे सामवेल ! जिस (मान, मर्यादा या वफ़ादारी) को मैंने बनाया उसे गिराना तुझे न चाहिए ।"

हारिस के ऐसे निठुर प्रयत्न पर भी सामवेल ने ज़िरहें न दीं और वह अपनी भीष्मप्रतिज्ञा पर ही डटा रहा । अन्त में यह हुआ कि हारिस लड़ाई किये बिना ही मजबूरन् वापिस चला गया फिर जब हज्ज का समय आया, तो सामवेल सारी धरोहर अपने साथ लेकर हज्ज को गया । तत्पश्चात् ओकाज़ के मेले में उसने इमरुलक़ैस के वारिसों के हवाले किया । अस्तु, ऐसा करने से सामवेल को जो यश मिला, उसके बतलाने की आवश्यकता अब नहीं रही, पाठक स्वयं अनुमान कर लें । हाँ, इस प्रसंग में यह अवश्य जान लेना चाहिए कि अरबी में सामवेल के नाम की एक कहावत बन गई है और प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहने वाले को सामवेल की उपमा दी जाती है ।

हिन्दी में छायावाद ।

(३)

(लेखक—पं० मुकुटधर पाण्डेय)

पिछले लेख से पाठक 'छायावाद' का स्थूल-रूप समझ गये होंगे । अब उसीके आधार पर संक्षिप्त तुलना-द्वारा वह स्पष्ट कर दिया जाता है ।

(१) साहित्य की जो प्राचीन प्रणाली है उसमें शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है । हमारे प्राचीन कवि 'वागर्थप्रतिपत्ति' के लिए प्रार्थना किया करते थे । पर 'छायावाद' वालों की गति ठीक इसके विपरीत है । वे वागर्थ का सम्बन्ध काट देने में ही अपनी काव्य-कला की पराकाष्ठा समझते हैं ।

(२) प्राचीन-प्रणाली में सरलता, स्पष्टता, सम्बद्धता और समता का विशेष ख़याल रखा जाता है; पर इसमें जटिलता, अस्पष्टता, असम्बद्धता और विषमता आदि विपरीत गुणों का ही प्राधान्य रहता है ।

(३) पहली प्रणाली के काव्य-पाठ से एक विशेष-प्राप्ति होती है; पर इसमें प्राप्ति के विषय में पाठक को संशय बना ही रहता है ।

(४) पहले प्रकार में "प्रासादाकिता" का बड़ा आदर है; पर 'छायावाद' के साथ उसका नाम तभी लिया जा सकता है जबकि उसका सम्बन्ध अर्थ की स्पष्टता से तोड़ा जाकर केवल एक तरह के भावावेश की सनसनाहट अथवा हृदय के आनन्द-स्पन्दन से ही जोड़ दिया जाय।

(५) वर्त्तमान प्रणाली में रूपक का अभाव नहीं है। 'छायावाद' का तो वह शरीर ही है। पर इन दोनों के रूपक में बहुत अन्तर है। प्रथम प्रकार के रूपक वस्तु-संगति और पूर्वापर-सम्बन्ध की पूर्ण रक्षा करते हैं; पर दूसरे प्रकार के रूपक को 'तूफ़ान' से कम न समझिए।

अच्छा, अब 'छायावाद' के गुण-दोषों पर आइए। इस विषय पर श्रीयुत शशांकमोहन सेन ने अपने 'यूरोपे रवीन्द्रनाथ' नामक प्रबन्ध में विद्वत्ता-पूर्ण विवेचन किया है। एक अंश का मर्म यहाँ दिया जाता है।

छायावाद एक श्रेणी के पाठकों को जिस प्रकार प्रिय है, उसी प्रकार वह दूसरी श्रेणी के पाठकों को अप्रिय भी हो सकता है। भाव, भाषा और विषय-वस्तु की सुदृढ़-संगति ही साहित्य का सनातन-लक्षण है। रचना के मर्म का आभास मात्र पाने से काम नहीं चल सकता। पाठक के चित्त पर जो भाव अंकित होता है पदों और वाक्यों से उसकी सामञ्जस्य-रक्षा होने से जो विरक्ति हो सकती है, वह केवल 'साधारण अर्थ-बोध' के आनन्द से दूर नहीं की जा सकती। बड़े बड़े काव्यों में यह दोष उतना खटकने पर भी छोटी छोटी रचनाओं के पक्ष में वह घातक हो सकता है। लेखक की साधुता पर ही निर्भर रहना अवश्य विराग उत्पन्न करने वाला है। अतएव 'छायावाद' के आदर्श-माहात्म्य को देखते हुए भी उसे एक प्रकार 'चरम-पन्थी' कहने में कुछ भी संकोच नहीं होता। आगे चल कर यह ठहर सकेगा या नहीं यह बात भी अभी संशयात्मक ही है। यथार्थ में अलंकार-शास्त्र का दोषाध्याय काल्पनिक नीति-नियमों की समष्टि-मात्र नहीं है। उसकी नींव शिल्प-तत्व और मनुष्यों के मनस्तत्त्व के अलंघनीय नियमों पर रक्खी गई है। न्याय-शास्त्र को अतिक्रम करके कोई कार्य विद्वानों की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकता, चाहे वह कार्य कितना ही बड़ा क्यों न हो। छायावादियों का कहना है कि तर्क (Logic) के पीछे पीछे चलने से सब समय अच्छी कविता नहीं बनती। किन्तु इसके अनुसार ही भला वे कब कार्य कर सकते हैं। मनुष्यों का मन सदैव एक ही अवस्था में नहीं रह सकता। कौन कह सकता है कि आज जो पदार्थ, एक कवि के हाथ में, उसकी भाषा और प्रणाली की विवशता से अपरिहार्य रूप से अस्पष्ट बोध हो रहा है, वही कल किसी दूसरे समर्थ कवि द्वारा वागर्थ के राज्य में स्थैर्य लाभ कर पाठकों के प्राप्ति-भाण्डार की वृद्धि कर दे। कहने का मतलब यह है कि साहित्य अथवा प्रतिभा की कोई सीमा नहीं है। सीमा है तो कवि की शक्ति की। इस स्थान पर बड़े से बड़े साहित्यिक की सम्मति भी अग्राह्य हो सकती है। कौन कह सकता है कि इस दुर्बलता को लेकर ही साहित्य का अन्त है? हमारे ही यहाँ 'छायावाद' के विषय में लोगों के दो दल हो रहे हैं, एक समर्थक और दूसरा विरोधी। इस देश के इतिहास में दोनों ही दल विचार की दृष्टि से तुलना-रहित हैं। मनुष्यों के सनातन मनस्तत्त्व

के भीतर ही इसका रहस्य छिपा है। मनुष्य चिरकाल से अपनी शिक्षा-दीक्षा, कथोपकथन, कार्याकार्य आदि जीवन की सब बातों में न्याय-नीति की संगति साधित करता आ रहा है। समाज में भी मनुष्य मनुष्य में जो पारस्परिक अन्तर है, अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, सुबोध-अबोध इनमें जो प्रकृत पार्थक्य हैं, उनका ज्ञान हमें अपने वाक्य और अर्थ, आलाप और चिन्ता के द्वन्द्व-क्षेत्र में से होकर न्याय-साधना से ही प्राप्त होता है।

मनुष्य जान बूझ कर न्याय-आदर्श को अस्वीकार करके केवल अस्पष्टता-जीवी बन कर कदापि नहीं रह सकता। केवल काव्य-उपभोग के लिए वह अपने चिर-जीवन के न्यायादर्श को कदापि अस्वीकार नहीं कर सकता। साहित्य यदि स्पष्ट-रूप से तर्क को अस्वीकार कर दे तो जन-समाज में उसका माहात्म्य बहुत कम पड़ जाय। फिर तो पाठकों के पक्ष में उसका 'प्रसादोऽपि भयङ्करः' हो जाय तथा मनुष्य-समाज के शास्त्रकार अथवा हितचिन्तकों को उनकी 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' नीति को सुदृढ़ करने के लिए एक और साधन मिल जाय। छायावादी इस अस्पष्टता के आदर्श को समाज के सामने कभी प्रतिष्ठित नहीं कर सके हैं और न धर्म के क्षेत्र में ही। अव्यक्त लोक के विषय में भी मानव-भाषा की अस्पष्टता यथार्थ में अपरिहार्य अथवा न्याय-संगत है। क्या मनुष्यों की यह जिज्ञासा चिरदिन बनी रहेगी?

हाँ, अब आइए, दूसरी पहलू से देखें। मनुष्य की दृष्टि के सामने इस समय चारों ओर एक सीमा बोध हो रही है। यह सीमा चिरकाल बनी रहेगी इसमें भी संशय नहीं। विज्ञान की परम-प्राप्ति के बाद भी अनन्त अज्ञान बना ही रहेगा। मनुष्य इस अस्पष्टता को कभी दूर नहीं कर सकता। अतएव मनुष्य-जीवन में अस्पष्ट-कविता का एक संभव-क्षेत्र सदैव विद्यमान समझना चाहिए। आज जो बात अस्पष्ट है, वह कल स्पष्ट हो सकती है। पर इतना होने पर भी, इस अनन्त-गति-शील भूत चक्र की रंग-भूमि मनुष्यों की दृष्टि में उसके आदि-अन्त के विषय में चिरकाल अव्यक्त ही बनी रहेगी। इस विषय में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। गीता के 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत' आदि वाक्य सृष्टि के प्रारम्भ में जिस प्रकार सत्य थे, उसी प्रकार यदि कभी सृष्टि का अन्त सम्भव हो तो उस समय भी उसी प्रकार सत्य बने रहेंगे। जिस प्रकार पूर्वोक्त विषय की मीमांसा के लिए चिर-काल तक अभिज्ञ-व्यक्ति की अपेक्षा बनी रहेगी उसी प्रकार मनुष्यों के भाव-राज्य की इस अव्यक्त-विलासिता तथा छायावादिता की प्रवृत्ति को भी अमर समझना चाहिए। अतएव साहित्य में वह एक तरह अपरिहार्य है।

इस स्थल पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि इन चरम-पन्थों का उपार्जन सर्व-सम्मत और सनातन-प्राप्ति है या नहीं। इस विषय में संशय बने रहने पर भी अब उसके प्रचार को अधिकांश लोग विद्वेष अथवा घृणा की दृष्टि से नहीं देखते। संसार के बड़े बड़े साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् इस सिद्धान्त पर आ उतरे हैं कि भविष्यत् में इस मार्ग से साहित्य की एक स्थायी प्राप्ति घटित होगी।

अब हम यह देखते हैं कि भारतीय-दृष्टि से 'छायावाद' का क्या गौरव है।

हम कह आये हैं कि 'आध्यात्मिकता' और 'धर्म-भावुकता' छायावाद के अभिन्न अंग हैं। सांसारिकता (materialism) के दृढ़-पाश से जकड़े हुए पश्चिमीय-हृदय को वे नवीनता-पूर्ण भले ही मालूम हों; पर भारत की तो वे एक तरह चिरन्तन वस्तुएँ हैं। अतएव 'छायावाद' के स्वागत करने में हमारी राय में, उसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उसके धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक-जीवन की नितान्त सामान्य-घटनाएँ भी भावुकता से भरी हुई हैं। बहुतसे लोग कहते हैं कि उसकी वर्त्तमान दैन्य-दुर्बलता का भी मूल कारण यह भावुकता ही है। पर धन्य उसका आध्यात्म-प्रेम कि वह इन बातों की कोई परवाह न कर सांसारी अधिकारों को एक तरह अन्य जातियों के हवाले कर आप प्रकृति देवी की पुण्य-गोद में—शान्त तपोवन में समाधिस्थ होकर—अव्यक्त-चिन्ता में ही मग्न रहा। आज उसका सर्वस्व हरण हो चुका है। इस समय यह भावुकता ही उसका एकमात्र गर्व है। वही उसके पंगु-जीवन की निर्भर-यष्टि है।

जिस हिन्दू-जाति के सैकड़ों मनुष्य बीसवीं सदी की सभ्यता और विज्ञान के आलोक में भी घर-द्वार और संसार से मुख मोड़ कर अरण्य में चले जाते और अकिञ्चन-भाव से अध्यात्म-चिन्ता में जीवन बिताते हैं उस जाति का साहित्य भी यदि 'शीतल पवन और चटक चाँदनी' का उपभोग करके ही जीवन धारण कर सके अथवा उस अव्यक्त की ओर कुहेलिका-पूर्ण दृष्टि डाल कर ही वर्द्धित हो सके तो इसमें कोई विचित्रता नहीं।

अगले लेख में 'छायावाद' को लेकर हिन्दी-साहित्य की वर्त्तमान स्थिति-गति पर कुछ विचार कर यह लेख समाप्त किया जायगा।

स्वार्थ और राजनीति।

(लेखक—श्रीयुत "इंद्र")

न्याय और अन्याय के बीच में बहुतही सूक्ष्म भेद है। यदि किसी काम को एक व्यक्ति करे तो वह अन्याय कहाता है और वही काम समस्त राष्ट्र करे तो वह न्याय हो जाता है। यदि एक पुरुष अपने पड़ोसी के घर को लूट ले, या अन्य उपायों से उसकी सम्पत्ति का हरण करले तो मनुष्य-समाज उसके साथ कोई सामाजिक व्यवहार नहीं करती। वह मनुष्य इतनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है कि मानो उसके साथ रहना नीच-वृत्तिवाले मनुष्य के साथ से भी बुरा हो। इससे विपरीत, जब एक देश के कुछ लोग, अन्य देश के भोलेभाले लोगों पर आक्रमण करते हैं, तब उस देश के लोग विजयी, बहादुर, पराक्रमी तथा अन्य सुन्दर सुन्दर विशेषणों से विभूषित किये जाते हैं। अपने पड़ोसी का घर लूटने वाले को समाज कायर, नीच तथा मनुष्य-जाति का शत्रु समझेगा; परन्तु विजयिनी जाति की तलवार की चमक से अन्याय का न्याय बन जाता है तथा कायरता वीरता में, नीचता सज्जनता में और मनुष्य-जाति की शत्रुता संसार-सुधार के महान उद्देश में परिणत हो जाती है। अतएव मन में यह विचार आसकता है कि संसार में ऐसी विशृंखलता क्यों है।

कोई कुछ भी कहे, हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि संसार स्वार्थ के सूत्र में बँधा हुआ है। कहा जाता है कि अमुक जाति के निकट-सान्निध्य से अमुक जाति का उत्थान हुआ। परमेश्वर ने अमुक जाति को केवल रक्तपात और अन्याय

रोकने को भेजा। मृदङ्ग के मुँह पर आटा लगाने से जिस प्रकार उसकी आवाज बढ़ जाती है, उसी प्रकार जिन लोगों के मुँह में विजयिनी जाति ने स्वार्थ का आटा लगादिया है वे लोग ऊपर कहे अनुसार दुरंगी रागिनी अलापने लगते हैं। यदि स्वतंत्रता-पूर्वक विचार किया जावे—अपने लाभालाभ की परवा न की जावे—तो प्रत्येक विचारशील हृदय मे यह एक ही आवाज़ निकलेगी कि संसार स्वार्थ-सूत्र से बँधा हुआ है, और जिसमें मनुष्य का स्वार्थ होता है उसी विचार को वह सर्वोपरि समझने लगता है।

इतिहास-भक्तों का कथन है कि प्रजा के सुभीते के लिए राजा की सृष्टि हुई। जब दस पाँच लोग एक जगह रहने लगे, तब कार्य की सुव्यवस्था के लिए उनको किसी मुखिया या राजा की आवश्यकता हुई। जो व्यक्ति बलवान होता था वही मुखिया बन सकता था। धीरे धीरे ये मुखिया लोग किसी और बड़े बलवान के अधीन हुए, तथा समयानुसार राजवंश की परम्परा स्थापित हो गई। राजा का अर्थ महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इस तरह बतलाया है:—

"प्रकृतिरंजनात् राजा" (स. ४, श्लो. १२) अर्थात् जो प्रजा को आनन्द में रखे वही राजा है। अन्य देशों के नैतिक ग्रंथों में भी राजा का यही कर्त्तव्य बतलाया गया है। ऐसा होने पर भी राजा के कर्त्तव्यों के साथ देश जीतने की लालसा भी संसार के आरंभ से चली आरही है, यहाँ तक कि हमारे भारतवर्ष के कुछ राजनीतिज्ञ तो "असंतुष्टाश्च महीभुजः" अर्थात् संतुष्ट राजा नष्ट हो जाते हैं—इस मंत्र से यह कहते हैं कि राजा हमेशा अपना राज्य बढ़ाता रहे। संसार के सारे संसारी लोग यही करते आये हैं। यह स्वार्थ नहीं तो और क्या है? मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि देशों के आक्रमणों और अन्य देशों के धन-जन लूटने पर ही संतुष्ट नहीं होती; परन्तु वह अपने से कम बल वाले प्राणी पर, चाहे वह मनुष्य भले न हो, सदा से अत्याचार करती आई है। शहद के लिए मधुमक्खियों को मारना तथा रेशमी वस्त्रों के लिए रेशम के कीड़े को उबालना दो साधारण उदाहरण हैं। क्या आवश्यकता थी कि मनुष्य बेचारी परिश्रमी मधुमक्षिकाओं तथा रेशम के कीड़ों का अन्न और वस्त्र छीन ले? इसका उत्तर एक यही हो सकता है कि 'मनुष्य की स्वार्थ बुद्धि बड़ी प्रबल है।' संसार के सब जीवों में अपने को श्रेष्ठ समझने वाले मनुष्य को इस बात पर लज्जित होना चाहिए।

राजनीति में राज्य बढ़ाना राजा का एक कर्तव्य बतलाया गया है यह माना, तथापि श्रेष्ठ राजालोग राज्यवर्द्धन के स्थान में कीर्ति-वर्द्धन ही किया करते थे। भारत के सूर्यवंशके राजा प्रजापालन तथा कीर्ति वर्द्धन के तत्व को प्रत्यक्ष कार्य-क्षेत्र में लाने वाले ज्वलन्त उदाहरण हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघु-राजाओं के राज्य-विस्तार का वर्णन है। जब रघु अपने राज्य पर अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो गया, तब वह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर चारों दिशाओं में देश जीतने के लिए गया। यहाँ यह भी कह देना अयुक्त न होगा कि रघु केवल भारतवर्षीय नृपति-समूहों को ही जीतने के लिए नहीं निकला था, किंतु वह पार-

सीक (ईरान), काम्बोज (कंदहार) इत्यादि देशों को जो आज भारतीय सीमान्तर्गत नहीं हैं, जीतने के लिए निकला था। सब देशों को जीतने के पश्चात् वह सम्राट् माना गया और अन्य पराजित नृपति सामन्त कहलाये। सम्राट् का कर्त्तव्य होता था कि वह विश्वजित नामक यज्ञ करे। इस यज्ञ में सब सामन्त बुलाये जाते थे तथा विजयी सम्राट् का सर्व धनकोष इस यज्ञ में दान कर दिया जाता था, अर्थात् सम्राट् की शक्ति की भयंकरता इस प्रकार कम कर दी जाती थी। जो सामन्त लोग जीते जाते थे उनके राज्य लौटा दिये जाते थे। शर्त केवल यह थी कि वे सम्राट् की अधीनता स्वीकार करें। कालिदास ने एक जगह कहा है :--

"आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव"

(रघु०, स०४ श्लो० ८६)

अर्थात्, "बादलों की तरह सत्पुरुषों का संग्रह दान के लिए ही होता है।" देश जीतने की लालसा से नहीं, धन बढ़ाने की इच्छा से नहीं, बस एक कीर्ति-वर्द्धन की अभिलाषा से ही आर्य-नृपति-गण अन्य देशों पर आक्रमण करते थे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब धन या देश की सीमा बढ़ाने की इच्छा नहीं थी, तो ये नृपतिगण वृथा जीवहत्या कर अपनी कीर्ति-ध्वजा को नर-रक्त के धब्बों से क्यों अपवित्र करते थे? इसका उत्तर सरल है। मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ-बुद्धि की मात्रा अधिक है। यदि किसी व्यक्ति के स्वार्थ को सीमाबद्ध करने वाली कोई अन्य शक्ति न हो, तो वह अलक्षेन्द्र (अलेक्जेंडर अथवा सिकंदर) के समान संसार—विजय की अभिलाषा करेगा तथा अपनी जाति—मनुष्य-जाति—को संकट के अथाह समुद्र में डुबा देगा। ऐसे पुरुषों की शक्ति का दमन करने के लिए किसी अधिक शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। यह व्यक्ति राजा-पद को शोभित करता है, तथा अपनी शक्ति को लोक-हित के कार्य में खर्च कर देता है। ऐसे राजाओं का कर्त्तव्य होता है कि संसार-कार्य की सरलता के लिए वे अत्याचारियों पर अपना प्रभाव जमावें तथा स्वयं अत्याचार करने की शक्ति भी न रखें।

भारतवर्षीय राजाओं के लिए आर्यों का यही आदर्श रहा है। भारतवर्ष के राजनैतिक अखाड़ों में कई वीरों ने मल्ल-युद्ध किया; किन्तु आक्रमण-कारियों में से एक भी विजेता-जाति ने भारतीय आदर्श को पूरा नहीं किया। पुराने आक्रमणकारी तो जन हिंसा, स्त्री-छल, पशुता इत्यादि का ठेका लेकरही भारतवर्ष में आये थे। उनके पश्चात् जिनके चरण भारतभूमि पर टिके हैं उन्होंने भी अपने स्वार्थ के साम्हने 'राजशक्ति के आदर्श' का कुछ भी विचार नहीं किया। इसके लिए किसी को दोष देने की आवश्यकता नहीं। यह मनुष्य-स्वभाव है। मुँह से चाहे उपकार की लम्बी गप्पें निकाली जावें; किन्तु हृदय का तार सदैव स्वार्थ की ही मधुर ध्वनि निकालता है। आश्चर्य और खेद उन दुम हिलानेवालों पर है जो इन बातों को नहीं समझते और समझें भी कैसे? वे भी तो मनुष्य स्वभाव के अनुसार स्वार्थ में लिप्त हैं।

भारत-विनय।

(लेखक—अध्यापक भगवानदीन)

(आलोचना)

इन्दौर में श्रीमान् होलकर महाराज की कृपा से हिन्दी-हितैषिता के लिए एक साहित्य-समिति स्थापित है। इसी समिति की ओर से 'भारत-विनय' नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक के लेखक हैं हिन्दी-प्रेमियों के चिर-परिचित श्रीमान् मिश्र-बंधु महोदय। आप लोग कैसे उत्कट हिन्दी-प्रेमी, उद्भट विद्वान, धुरंधर लेखक, अनोखे राज-भक्त, अकपट देश-भक्त, विकट समालोचक, गंभीर गवेषणैषी और नवीनता प्रिय खोजी हैं, यह बात मेरे बतलाने की नहीं है, पाठकों को स्वयं विदित होगी। परंतु यह बात शायद कम लोगों को मालूम होगी कि आप लोग कैसे विलक्षण कवि और अद्भुत भाषाभिज्ञ हैं शायद इसी बात के प्रकाशनार्थ उक्त समिति ने मिश्रबंधुओं की इस पुस्तक को अपनी ग्रंथमाला की पहली मनिका बनाया है। अस्तु, इसी मनिका की चमक-दमक, तराश-खराश और आकार-प्रकार की आलोचना अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार करता हूँ। पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक को स्वयं पढ़ कर जाँचें कि मेरा कथन कहाँतक सत्य है।

पुस्तक का विषय—भारतवर्ष ईश्वर से विनती करता है। अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण दशा का वर्णन न करते हुए अपनी अवनति के कारण भी गिनाता जाता है, और अफ़सोस के साथ अपने पुत्रों को कोसता और फटकारता हुआ ईश्वर से प्रार्थना करता है कि अब मेरी दशा सुधारो।

पुस्तक के विषय के सोचने में मिश्र-बंधुओं ने वास्तव में एक सहृदय कवि की सी प्रतिभा दिखलाई है। वह कवि ही कैसा जिसे अपने देश की वास्तविक दशा का ज्ञान न हो। उक्त पुस्तक मिश्र-बंधुओं ने संवत् १९६७ में लिखी है। इसके तीन चार वर्ष पीछे बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी 'भारत-भारती' लिखी। पर यह पुस्तक देर से प्रकाशित हुई और भारत-भारती पहले निकल गई। दोनों पुस्तकों के बहुत से विचार मिलते-जुलते से हैं। पर मिश्र-बंधुओं ने अपने विचारों को ऐतिहासिक कालक्रम से रक्खा है। भारत-भारती में कालक्रम नहीं के बराबर है।

इसी संबंध में (यदि आत्माभिमान न समझा जाय तो) मैं यह भी निवेदन किये देता हूँ कि संवत् १९६४ में इसी प्रकार के विचार प्रगट करने की इच्छा मुझे भी पैदा हुई थी और मैंने निज सम्पादित 'लक्ष्मी' पत्रिका के जुलाई और अगस्त के अंकों में 'देश-दशा'' नामक काव्य लिखना आरंभ किया था; पर अब स्मरण नहीं कि उसका लिखना मैंने क्यों बंद कर दिया था। यदि कालक्रम का विचार किया जाय तो प्रगट ही है कि संवत् १९६४ में मैंने वे विचार प्रगट किये थे, संवत् १९६७ में मिश्रबंधुओं ने उन्हीं विचारों पर लिखा, और संवत् १९७०-७१ में उन्हीं पर बाबू मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपनी पुस्तक तैयार की। पाठकों के विनोदार्थ मैं यहाँ पर तीनों के विचार एकत्र किये देता हूँ।

(संवत् १९६४ में प्रकट किये हुए मेरे विचार)

इस देश के पंडे व बरहमन व मठाधीश।
आलस्य के अगुवा हैं व आराम के अवनीश॥

बनते हैं महामान्य बड़े धर्म के आधीश।
पर अस्ल में लोभीश हैं, क्रोधीश हैं कामीश॥
हम सबकी नहीं कहते, मगर हैं अधिक ऐसे।
बद कामों में व्यय करते हैं, सब पुन्य के पैसे॥
इनसे कोई पूछे कि य धन तुमने जो पाया।
क्या आपने मेहनत से है कुछ इसको कमाया॥
निज धर्म की उन्नति के लिए सबने जुटाया।
क्या सोच के तब आपने बेकार उड़ाया॥
उस धन से तुम्हें धर्म का कुछ काम था करना।
जिससे कि न होता बुरी बदनामी से मरना॥
इन बातों से महाराज जी नाराज न होना।
दें दोष किसे खोटा हो अपना ही जो सोना॥
तुम चाहते हो हिन्द की नैया को डुबोना।
हम झूठ जो कहते हों तो इन्साफ करो ना॥
पुरखा थे कभी आपके इस देश के रक्षक।
अब आप तो हैं सिर्फ दही पेड़ों के भक्षक॥
(लक्ष्मी, जुलाई, १९०७ ई.)

(संवत् १९६७ में मिश्र-बंधुओं के विचार)

मुद्रा यों बीस करोड़ साल में ये पुरुषाधम खाते हैं।
अरु अति दरिद्र होकर भी अंधे मम सुत इन्हें खिलाते हैं॥
फिर गंगापुत्र और पंडे त्यों गयावाल इत्यादि।
सब छकते हैं बेकाम किये कुछ मूरखता बल नादि॥ ४३४॥
मम पुत्र सोचते विस्वनाथ पर हमने द्रव्य चढ़ाया है।
पर यह न विचारैं चढ़ा हुवा धन अब तक किसने खाया है॥ ४३५॥
यों सदा महा धनरासि सुवन मम तीर्थों में लुटवाते हैं।
पुनि उसके बदले कार्यकुसल को भी आलसी बनाते हैं॥ ४३६॥
मरने पर महाविप्रगन मुद से धन पुत्रों से लेते हैं।
पुनि आलस को धर सीस, कार्य को नित फट कारें देते हैं॥ ४३७॥
इस विधि का अनुचित दान हानि दुहरी मुझको पहुँचाता है।
पहले तो होकर द्रव्य अकारथ वृथा नष्ट हो जाता है॥
फिर दानपात्र आलस के बस हो जाते उद्यमहीन।
सो यह उदारता करती जाती मुझको दिन प्रति दीन॥ ४६२॥

(संवत् १९१०-७१ में बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त के विचार)

वे तीर्थ-पंडे, हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया।
है निन्द्य कर्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया॥
वे हैं अविद्या के पुरोहित अविधि के आचार्य हैं।
लड़ना, झगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं॥१९२॥
वे आप तो हैं ही पतित, कामी, कुपथ-गामी बड़े।
पर पाप के भागी हमें भी हैं बनाने को खड़े॥
हम भस्म में घृत के सदृश देते उन्हें जो दान हैं।
बस वे उसीसे दुर्व्यसन के जोड़ते सामान हैं॥१९३॥
हा! पुण्य के भण्डार में हैं भर रहीं अघ-राशियाँ।
हैं देव आप महन्तजी ही, देवियाँ हैं दासियाँ॥
तन, मन तथा धन भक्तजन अर्पण किया करते जहाँ।
वे भण्ड साधु सुकर्म का तर्पण किया करते वहाँ॥१९५॥



"वीरपञ्चरत्न" के रचयिता

अध्यापक लाला भगवानदीन।

इन ऊपर लिखे हुए काव्यांशों में विचारों का साम्य और भाषा का वैषम्य भली भाँति दृष्टि-गोचर हो रहा है।

तात्पर्य यह कि पुस्तक का विषय उत्तम होने और पहले लिखे जाने पर भी 'भारत-भारती' के निकल जाने पर अब यह पुस्तक अच्छी नहीं जँचती।

पुस्तक की भाषा—पुस्तक को मैंने बहुत ध्यान से पढ़ा; परन्तु समझ में न आया कि इसकी भाषा को किस भाषा के अन्तर्गत मानूँ। यह न शुद्ध व्रजभाषा है न खड़ी बोली, न अवधी न बुंदेल-खंडी, न पूर्वी न पश्चिमी, वरन एक प्रकार भाषाओं का पंचामृत कहा जाय तो अच्छा होगा। मिश्र-बंधुओं के समान लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की भाषा या तो शुद्ध व्रजभाषा होती या खड़ी बोली, तो अच्छा होता।

वर्ण-विन्यास—मिश्र-बंधु महाशयों ने इस पुस्तक में वर्ण-विन्यास भी विलक्षण ही रक्खा है। ऐसा वर्ण-विन्यास सौ पचास वर्ष पहले अच्छा समझा जाता रहा हो; पर इस समय तो, जिस समय पुस्तक प्रकाशित हुई है, यह अमान्य है। आप लोगों ने अधिकतर प्राचीन वर्ण-विन्यास ही रक्खा है। उदाहरण के लिए सिच्छा, आत्मित, तीजे, गुपित, बिरछ, सिस्य, सिच्छित, उस्का, कोआपरेसन (Co-operation), सिंगार, इत्यादि रूप लिखे हैं जो आजकल अच्छे नहीं माने जाते।

व्याकरण—कौन कह सकता है कि मिश्र-बंधु से धुरंधर विद्वान् हिन्दी का व्याकरण न जानते होंगे, परन्तु पुस्तक प्रत्यक्ष कह रही है कि और नहीं तो लिंग-प्रकरण में मिश्रबंधुओं ने प्रच-लित प्रणाली को तोड़ ही सा दिया है। ऐसी उच्छृंखलता मिश्र-बंधुओं को शोभा नहीं देती, और न इससे हिन्दी भाषा का लिंग-भेद मिट ही सकता है। नीचे लिखे कुछ उदाहरणों से हमारा कथन स्पष्ट हो जायगा:—

(१) रावरे बदन सों बताय उतपति निज बाँभनन पुन्य मिस लूटि ही **मचायो** है।

(२) पाहि पाहि नाथ कत **बिलम लगायो** है।

(३) कर महावीर का मान **अहिंसा सीखा**।

(४) पाकर बुध से गुरु ज्ञान **समाधि लगाया**।

(५) कर नीति सहित नित राज **कामना**
छोड़ा।

(६) यह **ध्वजा** प्रबल सब देसों में **उड़वाया**।

(७) उनके मस्तक पर सो पद **रज चढ़वाया**।

(८) मम पुत्रों ने गुन भूल सब **छुवाछूत**
जारी **किया**।

मिश्र-बंधुओं की अन्य-पुस्तकों में भी मैंने ऐसी ही भूलें देखी थीं; पर छापे की भूलें मान कर कभी ध्यान नहीं दिया था; परंतु अब निश्चय हो गया कि मिश्र-बंधु या तो जानते ही नहीं या जानबूझकर उस ओर ध्यान न देकर लिंगप्रकरण की कठिनाई दूर करने के लिए व्याकरण का नियम तोड़ना चाहते हैं। पर मेरा विचार है कि लिंग-भेद तोड़ा नहीं जा सकता, और ये प्रयोग गलत ही समझे जायँगे।

भाषा-शैथिल्य—कई एक स्थानों पर मुझे भाषा में शिथिलता भी नजर आती है। उदाहरण लीजिए।

(१) जासों फैले कुगुन विविध विधि के **दुख-दाना**। 'महाना' का तुकान्त भिड़ाने के लिए 'दुखदाना' शब्द अच्छा नहीं जँचता।

(२) भारत सुख सूरज पच्छिम से अब **जागा**। उदय होने के अर्थ में 'नसीबा' के साथ तो 'जगना' का प्रयोग अच्छा जान पड़ता है, पर सूर्य के साथ मुझे तो भद्दा सा जँचता है।

(३) इसी प्रकार 'अभ्र' के लिए 'उतंग', जातीयता के लिए 'महान' विशेषणों का प्रयोग खटकता ही है। 'आकर' की जगह 'अकर, और 'आलय' की जगह 'आल' शब्द लिखना अब अच्छा नहीं समझा जा सकता। अस्तु।

समस्त बातों के विचार से इस पुस्तक के विषय में संक्षेप से मेरी तो यह सम्मति है कि विचार तो अवश्य अच्छे, नवीन और ऊँचे हैं, पर जिस भाषा में यह पुस्तक लिखी गई है वह मिश्रबंधुओं की कीर्ति का कारण नहीं हो सकती, न इसके प्रकाशन से इन्दौर की साहित्य-समिति का ही गौरव बढ़ सकता है; वरन् इसके विरुद्ध अवश्य हो सकता है।

कलाविद्या का विश्लेषण।

(लेखक—अमेरिका-प्रवासी श्रीयुत सुकुमार चटर्जी, आई. जे.)

अनन्त ज्ञानार्णव के गर्भ से जिन अमूल्य रत्नों का उद्धार होता आया है उनमें प्राप्त हुए ज्ञान तथा विज्ञान के भिन्न भिन्न विषयों की यदि आलोचना की जावे तो विभिन्नता के भीतर एक अन्तर्निहित समता पाई जाती है। इस समता को ही साम्यदर्शन कहते हैं और इसीसे सब सांसारिक नियम निकले हैं। किसी भी दार्शनिक, वैज्ञानिक अथवा कला-विद्या-विषयक तत्वानुसन्धान करने से प्रतीत होता है कि सब विषय तीन अवस्थाओं में क्रमशः विकाश पाते हुए अन्त में उत्कर्षता और कृतित्व में परिणत होते हैं। ये तीन अवस्थाएँ हैं—दार्शनिक, वैज्ञानिक, और कला-विषयक। किसी भी विषय की समालोचना करते समय इन तीनों अवस्थाओं का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। दार्शनिक अवस्था में उत्पत्ति, परस्पर सम्बन्ध, लाभालाभ, सीमा और भविष्यत् विकाश की सम्भावना आदि सम्मिलित हैं। वैज्ञानिक अवस्था में इन्हीं विषयों पर विचार करते हुए नियम-बद्ध शृंखला में उसका रूप परिणत होता है। फिर तीसरी अवस्था में दार्शनिक अवस्था के आदर्श को जहाँतक बन सके कृतित्व में परिणत करने के लिए जो उपाय काम में लाये जाते हैं उन्हींके समूह को कला-विषयक-अवस्था कहते हैं। विज्ञान के साथ उस आदर्श के शृंखलीभूत नियमों का सम्बन्ध है और उसीमें कारण के अनुसंधान की चेष्टा भी शामिल है। फिर कला-विद्या से उन्हीं नियमों का अवलम्बन करके उस आदर्श तक पहुँचने और अनादर्श को परित्याग करने में सहायता मिलती है। यदि और गंभीरता से आलोचना करें तो यह कहा जावेगा कि (Philosophy defines, Science refines and Art designs) तीनों अवस्थाएँ सत्य, अनुधावन और अनुशीलन के रूप हैं। कला-विद्या इन्द्रियात्मक ज्ञान के द्वारा चिदाकाश में तरंग उत्पन्न करती है, विज्ञान उन तरंगों को विशेष नियमों के अन्तर्भूत करता है और दर्शन उनके फल को लेकर उपलब्धि करता है। यह तो बहिर्जगत से अन्तर्जगत को

को पहुँचने का नियम है। अन्तर्जगत से बहिर्जगत में आने के लिए ठीक उसीका उल्टा क्रम चलता है। अब यदि आलोचना करके देखा जाय तो सौन्दर्य्य ही सब विद्याओं का आदर्श है। इसीकी उपलब्धि करने के लिए दर्शन, अनुधावन के लिए विज्ञान और उत्कर्षता के लिए कला-विद्या है। इन्द्रियात्मक ज्ञान के लिए ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ही की आवश्यकता है; क्योंकि पहिले बतलाया जा चुका है कि दर्शन के अन्तर्गत आदर्श तक पहुँचना ही कलाविद्या का उद्देश्य है और इस उपलब्धि के लिए स्मृति की आवश्यकता है। स्मृति इन्द्रियों के द्वारा बनती है। नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और हाथ, पाँव, मुख आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। अब कलाविद्या ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के द्वारा अव्यक्त भाव को प्रकाश करती है और व्यक्त भाव को हृदयंगम करने की चेष्टा करती है। चक्षु आकार, रूप तथा रंग का उपलब्धि करता है। कर्ण से ध्वनित शब्दों का ग्रहण, नासिका से गन्धादि का ज्ञान, जिह्वा से रसास्वादन और त्वचा से कोमल तथा दृढ़, उत्ताप तथा शीतलता का अनुभव होता है। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयोजित होकर उनके भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु ये दोनों के भाव स्मृति-रूप में स्थायी हो जाते हैं।

अब और आगे देखिए, कलाविद्या का कार्य ज्ञानेन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रत्येक इन्द्रिय को भिन्न भिन्न रूप से प्रसन्न करना है। इसी कारण चित्रविद्या, गानविद्या, पाकविद्या इत्यादि अनेक विद्याएँ हैं जिनमें से सबसे श्रेष्ठ विद्याएँ वे ही हैं जो चक्षु और कर्ण के द्वारा किसी भी प्रकार के उच्च भावों को सूक्ष्मेन्द्रियों तक पहुँचाकर रस उत्पन्न करके स्मृति तक पहुँचा सकती हैं। जितना अधिक रस-मय भाव उत्पन्न होकर स्मृति को पहुँचेगा उतने ही अधिक समय तक उस भाव का स्मरण रह सकेगा। कलाविद्या के इस विभाग को illustrative, expressive and practical arts कहते हैं। इसमें ज्ञान के लिए मुख्य उपयुक्त दो द्वार हैं, दर्शन तथा श्रवण। माधुरी का उत्पन्न करना ही कलाविद्या का प्रथम उद्देश्य है। माधुरी से प्रेम और प्रेम से सौन्दर्य अथवा इसका विरुद्ध क्रम समझिए। कुछ महाशयों का ऐसा कथन है कि art is autocratic, परन्तु यह सर्वसम्मत नहीं। कला के समान उदार, सम्मिलन-प्रार्थी, विभिन्नता के संघर्ष में भी जो साम्यवादी हो ऐसी और कोई विद्या नहीं दीख पड़ती। वे जो उसे autocratic कहते हैं कला की सीमा को संकुचित करते हैं और वे स्वभाव वा लोकाचार-जनित अभ्यासों के विकाश को कला कहते हैं। यथार्थ में सौन्दर्य्य के निकट जाने का मार्ग कला है। श्रुति तथा दृष्टि की माधुरी को उत्पन्न करना ही कलाविद्या का मुख्य धर्म है। दृष्टि माधुरी का आलोचन पहिले ही करें तो अच्छा होगा। विभिन्नता में अन्तर्निहित समता का विकाश ही उत्कर्ष माधुरी का समावेश है। इसीलिए प्राकृतिक सौन्दर्य्य को ही सबसे अधिक सुन्दर कहते हैं। समवादी और विवादी रंगों का समावेश, विरुद्ध भाव-जनित Symmetry and perspective का एकत्री-भूत करना है। ये ही आदर्श सौन्दर्य्य और माधुरी के विकाशक हैं। इसके पश्चात् क्षणस्थायी भाव तथा चित्रों से

सदा के लिए आबद्ध करने का प्रयत्न करना है। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए चित्रांकन विद्या और लेखनकला का विकाश हुआ। दोनों एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए हैं; परन्तु चित्रांकन लेखन-कला से कहीं श्रेष्ठ है। लिखे हुए भावों का चित्र बन सकता है; परन्तु कई प्रकार के चित्रों का भाव लिपिबद्ध नहीं हो सकता। दोनों ही अव्यक्त भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं एवं व्यक्त भाव को सदा के लिए आबद्ध करके रखने का प्रयत्न करते हैं। एक शब्द-चित्र है दूसरा स्पष्ट चित्र है। दोनों के आधार और नियम एक ही हैं।

शब्द-चित्र के भी दो भाग होते हैं। एक वक्तृत्व-कला और दूसरा सम्पादन-कला। पहले और दूसरे में कुछ भेद है। वक्तृत्व—कला में स्वर, भाव, तथा हस्त-पादादि परिचालन करने का प्रयोग होता है। सम्पादन-कला में लेखनी के द्वारा ही उन भावों का जहाँ तक हो सके वर्णन करने का प्रयत्न होता है। सम्पादन-कला के अन्तर्जातीय कई विभाग हैं जिनमें से औद्योगिक और सम्पत्ति-शास्त्रीय विभाग को छोड़कर यहाँ केवल लेखनकला के विभाग पर कुछ विचार किया जाता है। मुख्य विभाग ये हैं—

१. संवाद-पत्र-लेखन (Newspaper writing) इसके दो विभाग हैं—

(अ) संपादकीय मुख्य लेख (editorial or leader-writing)

(ब) संवाद-लेख (news-story-writing)

२. मासिक पत्र लेखन-प्रणाली (Magazine-writing)। इसके भी दो विभाग हैं।

(अ) गल्प (story-writing)

(ब) विषयात्मक लेख (article-writing)

३. पुस्तक-लेखन-कला (Authorship)—इसके अन्तर्गत बहुतसे विषय आजाते हैं; जैसे, पुस्तक, आकार, विषयानुकूल कागज़ का प्रयोग, स्थान विशेष में चित्रादि का उपयोग, कविताओं का हर प्रकार से स्थान-भेद में उपयोग, पुस्तक का नामकरण, गल्पगुच्छ, विविध-विषयक लेख, निबंध, मुखबन्ध, प्रकरण, नाटक, सिनेमा में बतलाने योग्य नाटक, इत्यादि।

४. मत-पत्रिकाएं (writing campaign) जैसे, छोटी छोटी पत्रिका या पुस्तिका छपाकर किसी विशेष उद्देश्य को सफल करने का प्रयत्न करना। राजनैतिक कार्यों में इनकी [illegible] से अनेकानेक [illegible] निकलते हैं, विशेषकर [illegible] के चुनाव [illegible]।

इसकी विशेष चर्चा फिर कभी की जायगी।

प्रेम-प्रताप।

(लेखक—श्रीयुत [illegible])

सहज-सिद्ध वह कौन तन्त्र या यन्त्र मन्त्र है?
परतन्त्रों को जो [illegible] बना देता स्वतन्त्र है॥
सचराचर संसार बँधा जिसमें दरशाता।
सुर मुनि की क्या बात, ईश को वश कर लाता॥

स्वर्गापवर्ग—सुख सिद्धि—कर,
दायक संतत क्षेम है।
वह ढाई अक्षर का महा—
मन्त्र—राजवर प्रेम है॥ १॥

जोकि सूक्ष्म से सूक्ष्म, दृष्टि-पथ में नहिं आता ।
होकर महा महान रूप पल में दरशाता ॥
बिन्दुमात्र से सिंधु, शैल कण से बन जाता ।
कभी कली में बन्द, कभी उपवन कहलाता ॥
लेता लपेट उर-बीच रख,
कभी सकल संसार है ।
विस्तार बढ़ाकर फिर वही
करता स्वयं विहार है ॥ २ ॥

जड़ चेतन में एक रूप से रमा हुआ है ।
अविचल सदा समान जगत में जमा हुआ है ॥
देख देख भी जिसे न कोई लख पाते हैं ।
एक रंग के रूप अनेकों बतलाते हैं ॥
क्या पराधीन स्वाधीन क्या,
सब इसके आधीन है ।
सुर असुर नाग नर हो रहे
प्रेम-नीर के मीन हैं ॥ ३ ॥

एक रूप से हो विरक्त त्यागी बन जाते ।
अपर रूप में वही पूर्ण आसक्त लखाते ॥
जिससे होते विमुख उसे ही सन्मुख लाते ।
माना जिसको दुःख उसे ही सुखमय पाते ॥
जब मिटा मोह—मद तज दिया
तमाच्छन्न भ्रम—कूप को ।
तो लेते हैं पहचान उस
बहुरूपी के रूप को ॥ ४ ॥

है यह मादक वस्तु जिसे सब जन पाते हैं ।
पा जिसका अवलम्ब सभी जग में जीते हैं ॥
तो भी पूरा नशा नहीं सब पर चढ़ता है ।
जिसके चढ़ते चाव चौगुना हो बढ़ता है ॥
बावला कहाता है वही,
पाता है सुख शान्ति का ।
जो मुआ हुआ वह ही अमर,
छूटा तम भ्रम-भ्रान्ति का ॥ ५ ॥

जो वसुधा पर सुधा-सिन्धु हो लहराता है ।
जिसे देख कर वीर हृदय भी थहराता है ॥
जो साहस कर दौड़ उसीमें बह जाता है ।
हुआ पार बस वही परम-पद पा जाता है ॥
मिल गया रत्न-भाण्डार फिर,
रही अपर आशा नहीं ।
आनन्द-रूप हो जगत में,
थिरै फिरै चाहै जहीं ॥ ६ ॥

बो देती है बीज-रूप से प्रकृति सभी में ।
उगाता है वय साथ वही बढ़ता उर ही में ॥
सीमाबद्ध तथापि संकुचित हो रहता है ।
यद्यपि दिन प्रति अधिक अधिक बढ़ना चहता है ॥
पर तो भी कर्म्म-विपाक-वश,
कुरुचि-अजा चरती सदा ।
हो निम्न गुल्म सा व्यक्तिगत,
नहि उन्नत होता कदा ॥ ७ ॥

सिंचित होकर वही सुकृत से बढ़ जाता है ।
सत साहित्य सुसंग सुपालक जब पाता है ॥
रंग विरंगे सुमन मनोहर फिर खिलते हैं ।
सहृदय सज्जन भृंग आप ही आ मिलते हैं ।
उस कल्पवृक्ष की छाँह में,
जीव स्ववश बसता जहीं ।
ईर्ष्या-विषाद की ताप से,
कभी तप्त होता नहीं ॥ ८ ॥

कुछ का कुछ हो जगत दृष्टि में उसको आता ।
वह नैसर्गिक दृश्य पुराना लय हो जाता ॥
मित्र-मरीची मधुर सुरस सिंचित हो आती ।
कलित कौमुदी सुधा-बूँद सादर बरषाती ॥
वन--बाग -तड़ागादिक सभी,
दिव्य रूप के हो चले ।
उत्तुंग शैल कंकड़ उपल,
कैसे कुछ लगते भले ॥ ९ ॥

अहा ! चहक में आज खगों की कैसा स्वर है।
इन नदियों का नीर हुआ कैसा निर्झर है।।
कलित कछार निकुंज-पुञ्ज मन को हरते हैं।
हरे हरे मैदान चित्त वश में करते हैं।।

यह मनोज्ञता लावण्य यह,
प्रकृत नहीं कृत्रिम नहीं।
जब खुले प्रेम-मय नेत्र तब
लख पड़ती यह छवि कहीं।। १० ।।

उन्मत्तों का यह प्रलाप यद्यपि सच्चा है।
कच्चा समझे तदपि इसे वह ही कच्चा है।।
यहाँ नहीं आश्चर्य असम्भव की सत्ता है।
अहमिति का न विकाश न मति ही दुर्वृत्ता है।

यह सत्य सहायी प्रेम की
महिमा ही का दृश्य है।
जीवन्मुक्तों के तत्त्व का
अनुपम गूढ़ रहस्य है।। ११ ।।

है यह कायाकल्प अनूठा कष्ट नहीं कुछ।
सरल साधना-मार्ग जटिल अस्पष्ट नहीं कुछ।।
साधक ही का अंग नहीं पलटा खाता है।
सारे जग का रंग और ही हो जाता है।।

फिर शत्रु मित्र नीचोच्च त्यों
सुगम अगम थल कौन है।
इसका उत्तर ही है कहाँ
जहाँ भारती मौन है।। १२ ।।

बाह्यान्तर निर्मल दर्पण सा दमक रहा है।
एक रूप सर्वत्र वही बस चमक रहा है।।
सुधा-सिक्त स्वर मधुर वही कानों में आता।
वही मनोरम दृश्य सभी थल में लख पाता।।

मिट गया विकार विचार-भ्रम,
निराकार साकार है।
सारा संसार प्रमोद-मय
अनुपम एकाकार है।। १३ ।।

सुत पितु बन्धु कुटुम्ब जाति या नेही नाते।
जहाँ तुम्हारा प्रेम वही प्रिय तुम्हें लखाते।।
जिनको लख कर हृदय तुम्हारा सुख पाता है।
सारा श्रम औ कष्ट विसर्जन हो जाता है।।

जो उन्हें कष्ट दे तुम भला,
क्यों बैरी उसके बने?
बस यही न कारण है कि तुम
प्रेम-पंक में हो सने।। १४ ।।

वह देखो वरवीर न यम से डरनेवाला।
महा समर में कभी न पीछे टरनेवाला।।
विरुदैतों का मान खड्ग ले हरनेवाला।
दल विपक्ष का रुण्ड-मुण्ड-मय करनेवाला।।

सिर झुका दर्प तज नम्र हो,
सिसक रहा किस आह से।
समझे कुछ? कोमल हो गया
हृदय प्रेम की चाह से।। १५ ।।

पत्थर को भी सिझा सिझा कर मोम बनाना।
व्याघ्रादिक हिंस्रक जीवों को वश में लाना।।
महा भयंकर तोप तुपक की गर्ज दबाना।
समरानल उद्दण्ड दण्ड में दौड़ बुझाना।।

ये कार्य्य अलौकिक कर सके,
ऐसी किसमें शक्ति है।
बस वही कि जिसके हृदय में,
पूर्ण प्रेम की भक्ति है।। १६ ।।

जब सूर्य्योदय पूर्ण प्रेम का उर में होता।
द्वेष तिमिर का अंश एक पल में है खोता।।
प्राणि मात्र में आत्म--अंश वह लख पाता है।
सबमें एकीभाव एक ही सा नाता है।।

फिर कहाँ अटक रह जाय वह,
जहाँ कि जा सकता नहीं।
वह कौन व्यक्ति है जो उसे,
अपना पा सकता नहीं।। १७ ।।

ऐसे ऐसे उच्च भाव के प्रेम-पुजारी।
हुए अनेकों यहाँ समय-सम बारी बारी॥
विश्व-प्रेम में रँगे हुए तन मन वारे थे।
अमित कष्ट सहकर भी अपना व्रत धारे थे॥
कर दिया युगान्तर देश में,
हरा-भरा वह हो गया।
दौर्बल्य द्वेष ईर्षादि का,
बड़ा हुआ बल खो गया॥ १८॥
इस दुर्दिन में भी महिमा उस महा मन्त्र की।
समझ जायँ यदि लोग रीति ले ऐक्य-तन्त्र की॥
तो न पुरानी कथा कहानी मम हृ पड़ें फिर।
एक एक अक्षर उनके उर-बीच अड़ें फिर॥
अरु उसी शक्ति का हृदय में,
अभिनव फिर संचार हो।
पल में भारतवर्ष का,
बेड़ा इकदम पार हो॥ १९॥

अँगूठी-विनिमय।

(लेखक—श्रीयुत गोविन्दवल्लभ पंत)

[१]

श्रावण की अनन्त-सलिला गंगा कलकल छलछल शब्द से बह रही थी। बड़ा मनोहर दृश्य था।

ज्योंही मैंने स्नान के लिए गंगा में प्रवेश किया, त्योंही किसी की करुणा-पूर्ण आर्तध्वनि ने मेरा ध्यान खींच लिया। घबड़ा कर मैंने देखा, वेगवती गंगा के वक्ष में एक सुन्दरी दोनों हाथों को ऊपर किये रक्षा के लिए चिल्ला रही है। उसे देखते ही मैं तैर कर उसके पास गया और शीघ्र ही उसे तटस्थ कर फिर स्नान के लिए जाने लगा। मुझे जाते हुए देख कर सुन्दरी ने निराश स्वर में कहा—"मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ—" किन्तु वह अधिक न कह सकी, भय से उसका अंग-प्रत्यंग उस समय भी काँप रहा था।

मैंने कुछ लज्जित होकर कहा—"आपको क्या पूछना है?"

"आपका शुभ नाम?"

मैंने साश्चर्य उत्तर दिया—"कुलललना को एक अपरिचित के नाम से कोई सम्बन्ध नहीं।"

उसने स्मितवदन से उत्तर दिया—"आपने मेरी रक्षा क्यों की? एक डूबती को बचाने से आपका सम्बन्ध?"

"वह मेरा कर्त्तव्य था; मैंने उसे पूरा किया।"

"तब क्या आपका नाम जानना मेरा कर्त्तव्य नहीं?"

"एक अपरिचित से बोलने में आर्य-ललना के शील की रक्षा नहीं हो सकती—यह अधर्म्म है।"

"उपकारी का परिचय प्राप्त न करूँ—पुनर्जन्म देनेवाले को भूल जाऊँ, यह कहाँ का धर्म्म है?"

अन्त में मैंने हार मानकर उत्तर दिया—"मेरा नाम सोमदत्त है।"

"निवासस्थान?"

"इसे जानकर क्या करोगी?"

रमणी ने कृतज्ञता-पूर्ण स्वर में कहा— "आपके इस ऋण का परिशोध यदि इस जन्म में न कर सकूँ तो ?"

"मेरे तुच्छ कार्य का परिहास न करो"— कह कर मैं स्नान करने चला गया।

[२]

उक्त घटना के कुछ दिन बाद एक दिन में काशी की एक तंग गली से क़दम बढ़ाए हुए जा रहा था। रिमझिम वर्षा हो रही थी। समीप के किसी मन्दिर में सकरुण स्वर में सन्ध्या की नौबत झर रही थी। अचानक किसी के चंचल अंचल ने मेरा स्पर्श कर अपने कोमल हाथों से मुझे पीछे को खींच लिया। इतने ही में मुझसे दस क़दम आगे का एक जीर्ण मकान भयानक शब्द करता हुआ भूमि पर गिर पड़ा। उपकारी का दर्शन करने को मैंने पीछे को दृष्टि फेरी, तो मुझे कुछ भी नहीं दिखाई दिया। अलंकारों की झंकार को अपने पीछे छोड़कर वह इस प्रकार अन्तर्हित हो गई थी जिस तरह विद्युत-रव को पीछे छोड़कर चंचला छिप जाती है। अंतर यही था विद्युत-रव जितना भयंकर होता है उसके अलंकारों का रव उतना ही मधुर था।

भूमि पर मेरी दृष्टि गई तो मैंने देखा, निर्माल्य बिखरा हुआ था, एक जगह एक पुष्पहार छिन्न होकर पड़ा था। जान पड़ता है, रमणी मंदिर से देवी की पूजा कर लौट रही थी, पर आश्चर्य! मेरे जीवन की रक्षा करने को वह वहाँ पर स्वयम् देवी बन गई! एक जगह कीचड़ में सद्यः अंकित पदांक था। वह बहुत ही कोमल और कमनीय था, केवल अपनी सत्ता बनाने को कीचड़ के ऊपरी भाग में अंकित था— मैं कवि नहीं हूँ। पर मैंने पद के स्थान में उस पद-चिह्न को ही कमल की उपमा दे दी। मैं इन्हीं विचारों में मग्न था कि अचानक मेरी दृष्टि एक अँगूठी पर पड़ी। उसे हाथ में उठाकर देखा। बड़ी सुन्दरता से उसमें तीन अक्षर खुदे थे—मो-हि-नी।

इस घटना से मैं चकित होगया! जिसने मेरी प्राणरक्षा की मैं उसे एक सूखा धन्यवाद भी न दे सका। किन्तु इसमें मेरा दोष ही क्या? मैं उसके दर्शन ही न कर सका। मुझे मृत्यु-मुख में पड़ते देख उसके करुणार्द्र हृदय ने मेरी रक्षा की; पर लज्जाशीला रमणी मेरा धन्यवाद ग्रहण करने में सकुचित होकर अपराधी के समान तड़ित गति से चली गई—जल्दी के कारण उसकी अँगूठी वृन्त-च्युत कुसुम के समान भूमि पर गिर पड़ी और उसका निर्माल्य परमेश्वर की करुणा के समान मेरे ऊपर गिर पड़ा। मैंने ईश्वर से प्रार्थना की—"परमेश्वर! तूने मुझे मेरा उपकारी न दिखाया—मेरी स्मृति में उसको स्थान दिया, किन्तु तू मुझे उसके नाम से भी वंचित न करना, इस अँगूठी में अंकित 'मोहिनी' ही उसका नाम हो!"

मेरे पास मेरी माता की दी हुई हीरे की एक अँगूठी थी। उसे मैं समय समय पर ही पहिनता था और फिर निकाल कर चाँदी की एक छोटी डिब्बी में बड़ी सावधानी से रख देता था। मैंने सोचा कि इस अँगूठी को भी उसीके साथ रख दूँ; किन्तु घर आकर क्या देखा कि डिब्बी में हीरे की अँगूठी नहीं है। मैं सोचने लगा कि वह कहाँ गई। यहाँ से कोई ले जा सकता नहीं। बहुत देर बाद स्मरण हुआ कि उसे कुछ दिन हुए दशहरे के अवसर पर निकाल

कर पहिना था; पर फिर रक्खी नहीं। बहुत सोचा; पर याद न आया कि कहाँ गई। अस्तु, उस रिक्त डिब्बी में मैंने 'मोहिनी'-अंकित इस अँगूठी को रख दिया। डिब्बी इतनी छोटी थी कि उस में केवल एक अँगूठी ही रह सकती थी। मैं सोचने लगा, क्या इसी कारण पहिली अँगूठी खो गई। किसी प्रकार मैंने हीरे की अँगूठी का स्मरण भुला दिया; और इस अँगूठी के तीन अक्षर मूर्तिमान होकर मेरे स्मृति–मन्दिर में प्रतिष्ठित हुए।

[३]

जिस साल में एल. एल. बी. पास हुआ उसी साल मेरा विवाह हुआ। मैंने वकालत आरम्भ की। 'मोहिनी' को अभी तक न भूल सका। मोहिनी से अधिक सरल, शुचि और सुहावना शब्द मेरे कोष में न था। इसी मोहिनी नाम के प्रत्येक बिन्दु में मेरे अतीत की एक पुण्य स्मृति केन्द्रित थी, मुझे उस दिन जीवन–दान देने वाले की पवित्र मूर्ति इसी मोहिनी-मुकुर में प्रतिबिम्बित थी। उसे मैं कैसे भूल सकता था?

वसंत की राका थी। रात्रिविकासी सुमनराशि खिल गई थी। पुष्पगंध अभिसार-यात्रा कर रही थी। इतने दिन बाद मैं आज अपनी चाँदी की डिब्बी में से वह अँगूठी निकाल लाया था। वह मेरे बाएँ हाथ में थी। दाहिने हाथ से मैंने अपनी प्रियतमा का मृणाल-कर पकड़ कर कहा—

"मालती, तुम्हें कुछ आपत्ति होगी?"

"किस चीज में?" प्रियतमा ने उत्कण्ठित होकर पूछा।

"अगर मैं तुम्हें आज से "मालती" न कह कर "मोहिनी" कहूँ तो।

मालती ने स्मित वदन से सुधा की वृष्टि कर कहा—"मेरा सौभाग्य!"

"लो प्रिये, आज मैं तुम्हें अपनी एक निधि सौंपता हूँ, इसकी रक्षा करना। यह मेरे जीवन की अत्यन्त अमूल्य वस्तु है। इसका इतिहास पवित्रता से परिपूर्ण है,"—कह कर मैंने वह अँगूठी प्रियतमा की अनामिका में पहिना दी। उस समय मेरे हृदय–मरु का सिंचन करने वाली दो सरिताएँ, मालती और मोहिनी मिलकर एक हुई—उनका संगम हुआ। स्मृति और स्वप्न के साम्राज्य में मोहिनी का जो कुछ मेरे पास संचित था वह सब मैंने मालती को सौंप दिया और उसी की मूर्ति में मोहिनी को देखने का प्रयास करने लगा।

"कृपा से कृतार्थ हुई"—कहकर मालती के रक्त-राग-रंजित अधरों में हँसी की एक क्षीण रेखा अंकित हुई। कुछ क्षण स्तब्ध रह कर उसने फिर कहा—"प्रियतम की इस करुणा से आज मुझे कुछ साहस हुआ। मैं भी आपको अपनी निधि सौंपना चाहती हूँ, वह आपकी अँगूठी से कहीं अधिक मूल्यवान और पवित्र है, क्या आप उसे स्वीकार न करेंगे?" वाक्य शेष होते ही उसने न जाने कहाँ से निकाल कर एक दूसरी अँगूठी मेरी अनामिका में पहना दी।

चन्द्रालोक में मैंने अँगूठी देखी—वह मेरी इतने दिनों से खोई हुई हीरे की अँगूठी थी। मैंने आश्चर्य-चकित होकर मालती से कहा—

"यह तुम्हारी निधि कैसे? यह तो मेरी अँगूठी है? तुमने यह कहाँ पाई?"

"प्रियतम! इतनी जल्दी भूल गये। क्या गंगा-तट याद नहीं है? जिस डूबती हुई को आपने उस दिन बचाया था वह मैं ही हूँ। आपकी अँगूठी मुझसे बातें करते समय वहाँ गिर गई थी। आपके चले जाने पर उस पर मेरी दृष्टि पड़ी। परमेश्वर को धन्यवाद देकर उस अँगूठी को अपने उपकारी की एक पवित्र स्मृति समझ कर उठा कर मैं चली गई। आपने अपना निवासस्थान मुझे नहीं बतलाया था। इसे पाकर मैंने इसे ही आपके हृदय का निवासस्थान समझ अपने हृदय में बड़ी सावधानी से रख छोड़ा और अपने को धन्य माना। यही इस अँगूठी का इतिहास है स्वामी!" इतना कह कर मालती मुग्ध दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी।

मैंने तत्क्षण कहा—"प्रिये! मेरे उपकारी की अँगूठी का इतिहास सुनोगी?"

"धृष्टता क्षमा हो प्रियतम! उसे भी मैं स्वयम् कहती हूँ।"

एक कोमल अर्लालित हास्य के साथ मालती ने शुरू किया—"संध्या का समय था। मैं अन्नपूर्णा के मंदिर से लौट रही थी। आप भी उसी गली से तन्मय होकर जा रहे थे। अचानक समीप के घर की ईंटें गिरती देख आपका हाथ खींच कर मैं अपने भीतर चली गई, वहीं पर मेरा घर था। जल्दी में मेरे हाथ की अँगूठी वहीं गिर गई। प्रियतम! यही मेरी अब आपकी अँगूठी है। यही उसका इतिहास है।"

मैंने साश्चर्य कहा—"किन्तु मालती तुम्हारा नाम तो मोहिनी नहीं!" मालती ने कहा—"बालकाल में मेरी जीजी मुझे मोहिनी के ही नाम से पुकारा करती थीं। उन्होंने मेरे जन्म-दिवस पर इस अँगूठी के साथ अपने स्नेह का उपहार दिया था।"

मैं चमत्कृत होगया। आकाश का चन्द्रमा श्याम घन के प्रभाव से उस समय अच्छी तरह मुक्त हो गया था। धवल चाँदनी प्रियतमा के ऊपर सौंदर्य्य की वृष्टि करने लगी थी। मैंने मालती की "निधि" उसे लौटा दी और उससे अपनी "मोहिनी"—अंकित अँगूठी ले नयनों से निहार कर कहा—"मालती! नहीं नहीं, मोहिनी!"

भारत-लक्ष्मी।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल० एल० बी०)

[१]

चली गई भारत से क्यों तू,
हे लक्ष्मी, कब आवेगी?
कब अपने कंगाल देश को,
फिर वह रूप दिखावेगी?

[२]

तूने योगेश्वर का गीता-
ज्ञान भुलाने वालों को,
कपट-नीति के सन्मुख अपना
शीश झुकाने वालों को,
स्वाभिमान-गौरव-च्युत होकर
भी न लजाने वालों को,
पराधीनता की बेड़ी में
गला फँसाने वालों को,



श्रीलक्ष्मी

चित्रकार—
श्रीयुक्त एस. एन. गोरक्षाकर

[३]
स्वत्व-हीन मृत-वत् हो करके,
समय बिताने वालों को,
ईर्षा-द्वेष अग्नि से अपना
देश जलाने वालों को,
आर्य-रक्त को पानी करके
तेज गँवाने वालों को,
मरते मरते भी न कभी कुछ
कर दिखलाने वालों को,

[४]
छोड़ दिया, यदि त्याग दिया तो
दोष न था इसमें तेरा,
दुर्दिन ही ने अब तक उनको
था चारों दिशि से घेरा,
इसीलिए मति भ्रष्ट हुई थी,
वे अपने को थे भूले,
दास बने दासत्व-रूप पर
ही वे रहते थे फूले।

[५]
किन्तु समय ने पलटा खाया,
उनने अपने को जाना,
राष्ट्र-भाव का उदय हुआ अब,
निज स्वत्वों को पहचाना,
आत्म-शक्ति औ पौरुष-बल का
अब उनको कुछ ज्ञान हुआ,
मान हुआ जाग्रत अब मन में,
अब सच्चा अभिमान हुआ।

[६]
राष्ट्र-भाव स्वातन्त्र्य-प्रेम वे
लगे आप अब अपनाने,
आते हैं यद्यपि "सुधार" से
उनको अब भी बहकाने,
नौका उनकी यदपि जीर्ण है,
प्रबल-वेग-युत धारा है,
पर खेकर वे पार करेंगे
उनने यही विचारा है।

[७]
चार जने ही जब मिल कर हैं
बस पर्वत तक ढाने को,
मिल करके तेतीस कोटि तब
बस हैं क्या न दिखाने को,
ठन ही चुकी ठान ली उनने
ठन ठन उन्हें दिखाने की,
हो जा तू तैयार तुझे भी
देर नहीं है आने की।

[८]
करके स्नान हिन्द-सागर में
म्लेच्छी दाग मिटाने को,
कस ले कमर मुकुट धारण कर
अपने गृह में आने को,
शंख-नाद कर गदा-चक्र ले
दुर्दिन-दैत्य भगाने को,
कर ले पद्म मुदित मन होकर
मा को भेंट चढ़ाने को।

[९]
भारत-माता की वेदी पर
राष्ट्र-यज्ञ करने वाला,
कर्मवीर गांधी स्वागत-हित
हाथों में लेकर माला,
बाट जोहता कब से तेरी
किन्तु न माना, आई तू,
हैं हम लालायित दर्शन-हित
दे अब शीघ्र दिखाई तू।

\+ + + + +

[१०]

जिस क्षण हम देखेंगे उस क्षण
दीपावली मनायेंगे,
चरणों का स्वागत करने को
अपने नेत्र बिछायेंगे।

विविध विषय।

(१) गेहूँ अब विदेश जायगा।

सरकार हमारे खाद्य पदार्थों पर अपना नियंत्रण दिन पर दिन अधिक बढ़ा रही है। अप्रेल, १९१५, में सरकार ने अपनी ओर से गेहूँ विदेशों को भेजना प्रारंभ किया। गेहूँ की दर भी सरकार द्वारा नियत की गई। इस अकाण्ड व्यापार से यहाँ के व्यापारियों का पेट कटने लगा। देश में महँगी होने लगी; परन्तु सरकार के कान पर जूँ न रेंगी। सन १९१७ और १९१८ में लाखों टन गेहूँ, इस देश की भूखी प्रजा के देखते देखते, विदेशी जहाज़ों में लदकर इस देश से सदैव के लिए चला गया।

यदि हमारे यहाँ अधिक गेहूँ होता--इतना होता कि हमारे खान-पान पर बच रहता--तब तो कोई बात न थी। पर देश की दुर्दशा तो यह है कि करोड़ों भारतवासी दिन में एक बार भी भोजन नहीं पाते हैं।

पं० दयाशंकर दुबे, एम. ए., ने सरकारी रिपोर्टों आदि के आधार पर अच्छी तरह सिद्ध करके बताया है कि सन १९१६-१७ में, जो कि कृषि की दृष्टि से बहुत अच्छा वर्ष था, आधे पेट भोजन पाने वालों की संख्या ३३ करोड़ थी और यह संख्या १९१३-१४ में १० करोड़ तक पहुँच गई थी! सन १९११ से १९१८ तक के ८ वर्षों का औसत निकालने पर प्रकट होता है कि ४२.७ फी सैकड़ा युवा मनुष्यों को, या यों कहिए कि देश के आधे जवान स्त्री-पुरुषों ही को, हमेशा आधा पेट भोजन करके ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

बड़े शोक और लज्जा की बात है कि इस देश के कई करोड़ स्त्री और पुरुष, खोटी और एड़ी का पसीना एक करके भी उतना भोजन नहीं पाते जितना जेलखानों में अपने दुराचारों की सज़ा भोगने वाले कैदियों को मिलता है। इस अधपेट रहने का फल यह हो रहा है कि भारतवर्ष प्लेग, इन्फ्लुएंज़ा आदि भयंकर रोगों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन रहा है। "ये नाना निर्बल सुता यहाँ, राजा पातक रोग"। अन्न की कमी के कारण शरीर में रोग रोकने की शक्ति नहीं और इन रोगों का आक्रमण होने से करोड़ों भारतवासी मृत्यु के मुख में चले जा रहे हैं। गत दस वर्षों में मृत्यु-संख्या ३१.२ प्रति सहस्र प्रति वर्ष तक पहुँच गई है। शायद ही किसी देश में इतनी मृत्यु-संख्या होगी। इतना ही नहीं, इसी कारण हमारे जीवन-काल की औसत अवधि भी केवल २४.७ वर्ष की है और वहाँ इंग्लैंड में ५७ वर्ष और न्यूज़ीलैंड में ५० है। ये सब बातें भयंकर हैं और ऐसी हैं जो जो कुछ न करें थोड़ी सी थोड़ी है। भूखे रहकर भक्ति--चाहे वह राजभक्ति, देशभक्ति या ईश्वरभक्ति हो--नहीं हो सकती है। इस समय देश में जो असन्तोष की लहर उठ रही है और जिसने कई देशों की काया पलट दी है उसका एक कारण किसान और लोगों की अतिशय दरिद्रता है। भारत-सरकार को दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए और लोगों के बढ़ते हुए असन्तोष को और भी अधिक बढ़ाने के कारण न उपस्थित करना चाहिए।

अन्न की कमी यहाँ सदैव बनी ही रहती है जो नीचे लिखे अंकों से विदित होगा:--

(लाख टन में)

सन्	देश में अनाज की माँग	अनाज की पूर्ति	न्यूनता
१९११–१२	६४३.३	५६५.०	७८.३
१९१२–१३	६४०.०	५१६.०	१२४.०
१९१३–१४	६४१.१	४९६.१	१४५.०
१९१४–१५	६४७.९	५४३.६	१०४.३
१९१५–१६	६४८.१	५८४.३	६३.८
१९१६–१७	६५०.३	६००.८	४९.५
१९१७–१८	६४९.०	५७१.३	७७.७

ऊपर लिखी संख्या लाख टन की है। एक टन लगभग २७ मन का होता है। इस प्रकार १९१७–१८ में इस देश में अन्न की कमी थी ७७.७× २७ लाख मन, अर्थात् २० करोड़ मन से अधिक!

इस कमी को दूर करने के उपाय केवल दो ही हैं और वे ये हैं कि (१) देश में अनाज की पैदावारी बढ़ाई जाय, और (२) यहाँ का अनाज विदेशों को न भेजा जाय। पहले उपाय के अवलंब में बहुत से बाधक कारण हैं जिनमें से कृषिकारों की अत्यंत दरिद्रता और उनका अज्ञान प्रधान है। इस दशा में दूसरा उपाय ही रह गया है और उसीका अवलंब करना होगा, अर्थात् हमारे यहाँ का अनाज विदेशों को तबतक न भेजा जाय जबतक वह इस देश के लोगों की आवश्यकता को पूर्ण करने के बाद बच न रहे। यहाँ आवश्यकता का यह हाल है कि अनाज की कमी सदा बनी ही रहती है जो नीचे के कोष्टक से विदित होगा–

(लाख टन में)

सन्	देश में अनाज की कमी	विदेशों को भेजा गया अनाज
१९१५–१६	६४.८	२०.८
१९१६–१७	४९.५	२[illegible]
१९१७–१८	७७.७	४५.[illegible]

इससे पता लगता है कि देश के अनाज का एक दाना भी बाहर नहीं भेजा जा सकता है।

सुकाल में भी इस देश में अन्न की इतनी कमी रहने पर, गत ३० सितम्बर को शिमला-शैल से भारत-सरकार की सूचना निकली है कि अब यह निश्चय कर लिया गया है कि ३१ मार्च, १९२१ तक चार लाख टन, अर्थात् लगभग सवा करोड़ मन, गेहूँ कराँची से विदेशों को भेजा जायगा। और, सो भी किस भाव से? अच्छा बढ़िया गेहूँ ८=)६ मन के भाव से खरीदा जायगा। यह व्यापार सरकार करेगी और इससे जो कुछ लाभ होगा सो सब सरकारी खज़ाने में जायगा। हिन्द महासागर के देशों को जो गेहूँ भेजा जाता है उसे ऊपर लिखे चार लाख टन से बाहर समझना चाहिए। यह सब गेहूँ भेजा जायगा भारतवर्ष से जहाँ के लोग महँगी से एक तो वैसे ही तंग हैं और दूसरे, इस वर्षा ऋतु के अन्त में यथेष्ट पानी न गिरने से कई प्रान्तों में धान की फ़सल मारी गई और आगे गेहूँ की फ़सल अच्छी होगी इसकी संभावना कम हो गई है। लोग छटपटा रहे हैं। खेती का भविष्य प्रायः सभी प्रान्तों में चिन्ताजनक है, और इस बात की आवश्यकता है कि सरकार का ध्यान इस ओर तुरन्त जावे; परन्तु माँ-बाप और प्रजा-वत्सल (!) सरकार इस शुभ विचार से प्रेरित होकर कि भूखे भारतवासी जितने शीघ्र अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करें उतना ही अच्छा, भारतवासियों के मुँह का ग्रास छीनकर अपने सगे भाई-बंधुओं को इतना खिलाना चाहती है कि उन्हें पाकाशय की गोली खाने का स्थान न रह जाय। ऐसे ऐसे कृत्यों को देखकर कौन कह सकता है कि ब्रिटिश सरकार की न्याय-बुद्धि और दूरदर्शिता का दिवाला नहीं निकल गया है?

भारत-सरकार के इस प्रकार के दुष्कृत्यों को रोकने के लिए ही भारतवासी आर्थिक स्वतंत्रता चाहते हैं। अपने देश की स्थिति को हम लोग जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं उतनी अच्छी तरह से अपने स्वार्थ में रत विदेशी सरकार नहीं।

(२) एण्टवर्प के ऑलिम्पिक खेल।

पाठकों को ज्ञात होगा कि गत १० अगस्त को बेल्जियम के एण्टवर्प नामक स्थान में ऑलिम्पिक खेल होने वाले थे। ये खेल हो चुके और इस में छै हिन्दुस्थानियों को सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ; परन्तु खेद की बात है कि हमारे भाइयों ने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर दिखाया। "माडर्न रिव्यू" से विदित हुआ है कि यूरोप की जल-वायु इन खिलाड़ियों के लिए अनुकूल नहीं हुई और वहाँ पहुँचते ही इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। इसके अतिरिक्त, इनके भोजन की व्यवस्था भी ठीक नहीं थी जिसके कारण उन्हें बड़ी कठिनाई से अपना काम करना पड़ा। सितम्बर मास के 'व्यायाम' नामक मराठी पत्र में उन खिलाड़ियों के नाम दिये गये हैं जो इन खेलों में प्रथम आये। इन नामों में एक भी हिन्दुस्थानी नाम नहीं दीख पड़ता। २५ मील की मेरेथान दौड़ में बेलगाँव के श्रीयुक्त पी. डी. चौगुले का नम्बर १६ वाँ रहा। उक्त पत्रिका से यह भी विदित होता है कि श्रीयुत दातार और केकाड़ी ने अपनी दौड़ पूरी नहीं की। अन्त में उक्त पत्रिका के सम्पादक महाशय ने हिन्दुस्थानियों के शारीरिक बल के ह्रास के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए लिखा है—"हिन्दुस्थान की ऑलिम्पिक मण्डली की ओर से ये जो जवान भेजे गये थे उन्होंने उल्लेख-योग्य कुछ भी नाम नहीं कमाया। तथापि इन खेलों में सम्मिलित होने का यह पहिला ही अवसर है; इसलिए हमें निराश न होना चाहिए, प्रत्युत आगे के अवसरों के लिए अधिक तैयारी और अच्छा चुनाव करने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रसंग से यह स्पष्ट विदित होता है कि शारीरिक बल में हमारा देश कितना पीछे रह गया है। अब भी हमारे देशबन्धु जागेंगे या नहीं ?"

भारतीय ऑलिम्पिक मण्डली की शाखाएँ भिन्न भिन्न स्थानों में स्थापित हो चुकी हैं। आशा है, अब वे ऐसा प्रयत्न करेंगी जिससे दूसरा अवसर मिलने पर हिन्दुस्थानियों को नीचा न देखना पड़े। साथ ही, जनता का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह इस ओर ध्यान दे और अपने बालकों को तैयार करावे तथा धन से इस मण्डली की सहायता करे।

(३) व्यापार में उलटपुलट।

मार्च, सन् १९२० को विनिमय की दर २ शि. ११ पैन्स थी। सरकार के रिवर्स कौन्सिल्स के बेचने से विदेश में माल भेजनेवाले व्यापारियों को भयंकर हानि पहुँची। गत मास विनिमय की दर १ शि. ३ पैन्स तक जा पहुँची है। भारत सरकार ने २ शि. को विनिमय की दर का स्थिर आधार प्रकट किया था। मार्च मास में विनिमय की दर २ शि. ११ पैन्स देखकर जिन जिन व्यापारियों ने इंग्लैण्ड से करोड़ों रुपयों का सामान मँगाया था आज १ शि. ३ पैन्स से उनका आधा रुपया पानी में बह गया। सारे व्यापारी छटपटा रहे हैं। इस कूट नीति का जिम्मेदार कौन है? भारत के व्यापारियों को तबाह करने का दोष किस पर है? हाँ, और सरकार की १० रुपये की गिन्नी कहाँ है? और सोने को १८ रुपये तोले पर बिकने की कहानी का रहस्य क्या है? व्यवस्थापक सभा में महाशय

हेली के व्याख्यान की कौनसी बात झूठ नहीं निकली ? इससे यह स्पष्ट है कि भारत–साम्राज्य के आय-व्यय-सचिव कितने दूरदर्शी, बुद्धिमान तथा भारत की आर्थिक बागडोर सँभालने के लिए कितने योग्य हैं !

(४) पशुओं की संख्या का ह्रास ।

संयुक्त प्रान्त के गणना-विभाग की १९२० की पशु-सम्बन्धी रिपोर्ट अति दुःखदायी है। १९१६ की तुलना में गौ तथा बैल दो प्रतिशत कम हो गये हैं। मेरठ तथा आगरा में बहुत ही अधिक पशु मरे हैं। बकरी तथा भेड़ें तो ६० प्र० श० कम हो गयी हैं। १९१६ में जहाँ १०० थीं वहाँ अब ४० ही रह गई हैं। प्रान्तीय सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए। भारत सदृश कृषि-प्रधान देश के लिए पशुओं का घटना बहुत ही भयंकर बात है।

(५) विज्ञापन-परीक्षक मण्डली ।

समाचारपत्रों तथा अन्य सामयिक पत्रों का काम इस देश में जितना अच्छा हो रहा है उतना ही बुरा भी। एक ओर तो ये पत्र अपने लेखों, सम्पादकीय टिप्पणियों, समाचारों आदि में सत्यता, निरपेक्षता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता और न मालूम कितने अच्छे 'ता' ओं का दम भरते हैं और दूसरी ओर, अर्थात अपने कलेवरों पर छापनेवाले विज्ञापनों में, ये ही ऐसी बातें छापते हैं जिनकी सत्यता की न उन्होंने कभी परीक्षा ही की और न उस परीक्षा की आवश्यकता ही समझी। प्रेषित समाचारों की सत्यता की जाँच तो उन्हें कभी कभी कर भी लेनी पड़ती है—बहुधा इसलिए कि कहीं कोई क़ानूनी अड़चन में गला न फँस जाय; परन्तु विज्ञापनों में लोगों को कितना ही धोखा क्यों न हो, उनकी सत्यता की जाँच की आवश्यकता नहीं समझी जाती। यदि कहीं सभी विज्ञापनों की सत्यता की जाँच की जाने लगे, तो अवश्य ही बहुत से अश्लील और झूठे विज्ञापन न छप सकेंगे और पत्रों की आय बहुत कुछ मारी जायगी। पर, यदि समाचारपत्र आदि जनता के सन्मुख अपने को उत्तरदाता समझते हैं, तो उनका कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे अपने कलेवर में कहीं भी ऐसी बात न छपने दें जिससे जनता को किसी प्रकार का धोखा खाना पड़े।

पुस्तकें पत्र-सम्पादकों के पास समालोचनार्थ आने के कारण उनकी जाँच तो बहुधा हो ही जाती है, परन्तु दवाओं, तेलों आदि वस्तुओं की भी जाँच होनी चाहिए और उनके विज्ञापन तभी छापे जाना चाहिए जब उनकी सत्यता की जाँच हो जाय।

हमें यह जान कर बहुत प्रसन्नता हुई कि इस देश में "पण्डित एवं मेहता मण्डली" कई वर्षों से ऐसा ही काम कर रही है। उसका कार्य यही है कि विज्ञापन–दाताओं की वस्तुओं को वी. पी. से मँगाना और उनके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट कर जो लोग पूछें उन्हें योग्य सलाह देना। इस वर्ष इस मण्डली ने जो वस्तुएँ मँगाईं और उनकी जिस प्रकार परीक्षा की उसका दिग्दर्शन मण्डली के शब्दों में नीचे लिखी कुछ सम्मतियों से होगा—

१—मण्डली ने 'जन्म भर बाल न जमे' इस नाम की दवा मँगायी। विज्ञापनदाता ने

एक महा-दुर्गन्ध-युक्त पदार्थ भेजकर लिखा— "आपको जिस जगह के बाल उड़ाना हों, उस जगह के बाल चिमटी से ऐसे उखाड़ें कि एक भी बाल रहने न पावे। पीछे मेरी दवा चुपड़ें। इसी तरह चार छै बार करने से उमर भर बाल न जमेंगे।" धन्यवाद!

२—दो जगहों से बाल निकालने के साबुन गुलाब और चमेली के मँगाये गये। नाम साबुन था, किन्तु डब्बी में काले गोंद के समान कोई चीज़ बन्द थी। साबुन को लेप के लिए पानी में घोलकर चटनी जैसा बनाना पड़ता है। घोलने में बड़ी तकलीफ और कठिनता होती है और दुर्गन्ध उठती है। इसी साबुन का नाम है—गुलाब और चमेली का साबुन।

३—वैद्यनाथ जङ्क्शन के के० पी० चटरजी के यहां से गुलाब, आम और लीची के वृक्ष मँगाये गये। आपका काम स्वच्छ, सन्तोषकारक और अच्छा रहा। साबली स्टेशन के बदले आपने पार्सल बड़ोदा स्टेशन को बुक कर दिया, इस गड़बड़ से आधे वृक्ष हमें सूखे मिले।

४—मद्रास गच्छजी हेमजी की कम्पनी से रेशमी पगड़ी मँगवायी। आपकी व्यवस्था अच्छी है और माल भी अच्छा।

५—बिलासपुर के नागचन्द्र दुबे की दूकान से एक दर्जन कोसा के साफे मंगाये। आपका काम अच्छा विश्वास-योग्य पाया।

विस्तारभय से हम अधिक सम्मतियाँ देने में असमर्थ हैं; पर इसमें सन्देह नहीं कि यह मंडली बहुत अच्छा कार्य कर रही है। यह किस प्रान्त में स्थापित है इसका पता "श्रीवेंकटेश्वर-समाचार" के सम्पादक से विदित हो सकेगा। हमें इस मंडली के अस्तित्व का पता इसी समाचारपत्र के १५-१०-२० के अंक से लगा है।

(३) "मैं पतिदेव बेचती हूँ।"

गत महायुद्ध ने पाश्चात्य देशों की शोचनीय दशा कर दी है। वहां समस्त देशों में 'त्राहि त्राहि' मच रही है। अन्न की कमी इतनी है कि लोग दाने दाने को मुहताज हो रहे हैं। कल-कारखाने, मज़दूरों की कठिन माँग के कारण, शिथिल हो रहे हैं। रण-चण्डिका की आराधना में इतने पुरुष बलि हो चुके हैं कि स्त्रियाँ पति-विहीन और बालक पितृ-रहित हो रहे हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस देश को ही लीजिए। वहाँ इस समय दो लाख स्त्रियाँ ऐसी हैं जो माता बनने के योग्य हैं; पर जिनके लिए पति नहीं मिलते हैं। डाक्टर पाल कारनेट का कथन है कि यदि यही दशा रही, तो फरासीसी जाति ४० वर्षों के भीतर ही नामशेष हो जायगी—कोई 'नामलेवा पानीदेवा' न रह जायगा। इस दशा को दूर करने के लिए लोगों की सम्मति है कि या तो फरासीसी स्त्रियों का विवाह विदेशी लोगों के साथ किया जाय या कुछ समय तक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह कर सके—यह बात क़ानूनन जायज़ समझी जाय। दशा भयंकर है। जिस यूरोप में सभ्यताकी यह दशा थी कि स्त्रियों का सेवक बनने में सम्मान मानने वाला पुरुष (bride-groom), विवाह की लालसा से और उसके प्रयत्न में, स्त्री के चरण-कमलों पर नाक रगड़ते रगड़ते नाक-रहित हो जाने की आशंका करता था, आज

वहीं यह दशा है कि स्त्रियाँ विवाह के लिए पुरुषों के पैरों पर नाक घिस रही हैं।

अन्न की कमी से उन देशों की दशा और भी भयंकर हो रही है। "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि" की कुटिल नीति को पालन के प्रयत्न में, पापी प्राणों को पालने के लिए, स्त्रियाँ अपने नन्हें बच्चों को बेंच रही हैं। इतना ही नहीं, स्त्रियाँ अपने आराध्य पतिदेव को बेंच रही हैं। यह सब कार्य गुप्त रीति से नहीं हो रहा है—खुले खज़ाने, समाचार-पत्रों में विज्ञापन देकर के। राश्लेंड की श्रीमती लिलि-यन रसल अपना पति, लाटरी डालकर या नीलाम करके, बेंचने के लिए बाध्य हुई हैं। इसका कारण है—बच्चों के निर्वाह के लिए अन्य किसी साधन का अभाव। श्रीमती रसल के ७ बच्चे हैं और उनके उदर-पोषण का कोई उपाय न होने के कारण उन्हें अपना पति बेंचने के लिए विवश होना पड़ा है। यह समाचार पाकर कुछ समाचार-पत्रों के रिपोर्टर श्रीमती के पास इस अभिप्राय से पहुँचे कि उन्हें विदित हो जाय कि बात कहाँ तक सच है। श्रीमती ने उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा, "मुझे विश्वास है, मैं अपने पति को बेच सकूँगी। उनके शारीरिक सौन्दर्य को देखकर कौन स्त्री न ललचेगी? ज़रा देखिए तो, उनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की है। क़द ऊँचा, भूरे भूरे बाल, नीली आँखें, और सुन्दर दंतपंक्ति है। मैं इन्हें बेंचकर केवल छै लाख रुपये चाहती हूँ। इस द्रव्य के तीन चौथाई से तो मैं अपना और पुत्रों का निर्वाह करूँगी और शेष एक चौथाई मुझे अपने पूर्व पति को, क्षतिपूर्ति के लिए, देना है। मेरी इच्छा है कि मैं, लाटरी के लिए, पन्द्रह पन्द्रह रुपये का टिकट रक्खूँ जिससे इस देश की सब स्त्रियाँ अपने भाग्य की परीक्षा कर इस अवसर से लाभ उठा सकें। यदि लाटरी डालना राज्य-नियम के विरुद्ध समझा जायगा, तो मैं नीलाम करने को तैयार हूँ; परन्तु पहली बोली ६०,००० रुपयों की होनी चाहिए।"

यह है श्रीमती रसल का दिव्य विचार। यह विचार कई लोगों की आँखें खोल देगा। केवल अपना पेट न भर सकने की क्षमता रखने वाले, पर प्रजोत्पादन में शूरवीर, पुरुषों (!) को सोचना चाहिए कि कहीं वे अपनी स्त्री को श्रीमती रसल के समान बाध्य तो नहीं कर रहे हैं। किसी पुरुष को यह अधिकार नहीं कि वह अपना विवाह करे और सन्तति उत्पन्न करे यदि उसमें यह योग्यता नहीं कि वह अपनी स्त्री और सन्तति का समुचित पालन-पोषण कर सके। पर, कई जातियों में "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" का विचार घुसा हुआ है न!

(७) क्या भारतवर्ष आधुनिक हुण्डी की दर से सुखी है?

महाशय सरजूमल लल्लूभाई ने इसी शीर्षक की एक पुस्तिका प्रकाशित की है। उनको मध्यश्रेणी के हितों का विशेष ख़याल है। यही कारण है कि उन्होंने रिफ़ॉर्म कौन्सिल की बिक्री तथा दश रुपये की गिन्नी को पुष्ट किया है। यदि कच्चे माल का सस्ता होना स्थिर होता तो हमको उनके साथ कुछ भी मतभेद न था। विनिमय की दर के कारण इस प्रकारकी उलट-पुलट देश की आर्थिक शक्ति के लिए बड़ी भयंकर होती है। नये व्यवसायों का न खुल

सकना, देश का धन विदेश में जाना, कच्चे माल के सस्ते होने से ७० प्रतिशत किसानों को नुकसान पहुँचना किसको अभीष्ट हो सकता है? आशा है कि महाशय सरजूमल लल्लूभाई इन प्रश्नों पर गम्भीर विचार करेंगे। हमको जो कुछ कहना है वह यही है कि संपूर्ण आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते समय देश के अन्तिम हित को ध्यान में रखना चाहिए। देश के आर्थिक मामलों में स्वावलम्बी होना हितकर है या परावलम्बी? जो नीति देश को स्वावलम्बी बनावे वही देश के लिए अच्छी है। यदि लल्लूभाई इस विचार को सामने रखते तो कदाचित् मध्य श्रेणी के हितों के पीछे पड़कर न भटकते। विचार करते समय सदा दृष्टि भविष्य पर रखनी चाहिए और देश के अन्तिम हित पर। आर्थिक नीति से कभी किसीको लाभ तथा कभी किसीको नुकसान होना ही रहता है; अतः श्रेणी-हित से विचार निरर्थक तथा अहितकर है। देश की उत्पादक शक्ति को सन्मुख रखकर ही आर्थिक प्रश्नों को हल करना चाहिए।

(८) पशुओं का बीमा।

बीमे से बहुत लाभ है। दुर्घटनाओं तथा आकस्मिक कष्टों से बचने में इससे बड़ी सहायता पहुंचती है। आयु तथा जीवन, आग लगना, जहाज आदि का बीमा तो अति प्रसिद्ध है। यूरुप में बेकारी, दुर्घटना, रोग आदि का बीमा भी प्रचलित है। स्विट्ज़रलैण्ड में पशुओं के बीमे की भी चाल है। अंग्रेज़ों की नीति से भारत-वर्ष अब एकमात्र कृषि-प्रधान देश बनगया है, लोग दरिद्र होगये हैं, पशु दुर्बल होते जाते हैं, और उनकी मृत्यु-संख्या भी दिन पर दिन बढ़ रही है। पशुओं के मरने से दरिद्र किसानों के कष्ट का पार नहीं रहता। उनके पास इतना धन नहीं होता कि वे अच्छे पशु खरीद सकें। पशुओं के मामले में यदि बीमा-सम्बन्धी कोई भारतीय कम्पनी बन जाय और अच्छी तरह से अध्ययन कर अपना काम शुरू करे तो देश का पशु-सम्बन्धी कष्ट बहुत कुछ दूर हो सकता है। स्विट्ज़रलैण्ड में तो कई एक अन्तर्वर्ती राष्ट्रों का यह क़ानून है कि प्रत्येक कृषक को अपने अपने पशुओं का बीमा कराना ही चाहिए। जो ऐसा नहीं करता है उसको दण्ड मिलता है। स्विस राज्य तो अपनी ओर से भी बीमा करता है। व्यापारिक कम्पनियाँ भी वहाँ बहुत सी मौजूद हैं जोकि पशुओं का बीमा करती हैं। क्या भारत-सरकार इससे कुछ भी शिक्षा न लेगी और दरिद्र भारतीय किसानों के पशुओं की दशा सुधारने का कुछ भी प्रयत्न न करेगी? यदि भारत-सरकार अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो क्या भारतीय धनाढ्य भी सोये पड़े रहेंगे? उनको अग्रसर होना चाहिए और उन्होंने जो धर्म के लिए धन रख छोड़ा हो उसका प्रयोग इसी ढंग पर करना चाहिए। इससे उनका धर्म्म-धन भी बढ़ेगा और देश का उपकार भी होगा।

(९) अकबर के राजत्व-काल की झलक।

अफ़ग़ानिस्तान में हिन्दू लोग भी रहते हैं। कुछ दिन हुए, उनको बड़ी तकलीफें थीं। उन्होंने अमीर तक आवाज़ लगाई और प्रार्थना-पत्र भेजे। हिन्दू प्रजा के कष्ट दूर करने के लिए दयालु अमीर ने कुछ आज्ञाएँ निकालीं जिन्हें पढ़कर एक बार फिर आँखों के सामने सम्राट् अकबर के राजत्व-काल की झलक आ जाती है। कुछ आज्ञाएँ ये हैं:—

(१) कोई भी हिन्दू जबरदस्ती मुसलमान न बनाया जावे।

(२) हिन्दू लोग अपने धर्मशास्त्र के अनुसार उत्सव मनावें और आपसी झगड़ों का निपटेरा करें।

(३) हिन्दू स्त्रियाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक जहाँ चाहें वहाँ जा सकती हैं।

(४) कोई भी गाय न मारी जाय। उसे अपनी मौत ही मरने दिया जाय।

(५) अमीर की हिन्दू प्रजा अफ़गानिस्तान में जहाँ चाहे वहाँ जमीन खरीद सकती है।

(६) हिन्दू लोगों से मुसलमानों के समान ही कर लिया जायगा।

(७) यदि कोई स्त्री या पुरुष इस्लाम धर्म का अनुयायी हो जावे, तो उसके पति या स्त्री को उस धर्म के मानने के लिए बाध्य न किया जावे।

(८) यदि कोई लड़का अपने पिता के जीते जी मुसलमान हो जावे, तो वह केवल अपने ही माल का हक़दार हो सकता है, न कि पिता की जायदाद का भी।

(९) यदि कोई पुरुष अपने पिता की मृत्यु के बाद इस्लाम धर्म स्वीकार करता है, तो उसे उसके पिता की जायदाद का केवल उतना ही भाग मिलेगा जो उसके हिस्से में बँटवारा करने पर आवेगा; पर यदि वह पिता के जीवन-काल में मुसलमान हो जाता है, तो उसे पिता की जायदाद का कुछ भी भाग न मिलेगा।

(१०) सरकारी कर्मचारी हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रजा के प्रति समान व्यवहार करें।

(११) हिन्दू लोग अफ़गानिस्तान में मन चाहे जब आ जा सकते हैं और मनचाही पोशाक पहिन सकते हैं।

इनके अतिरिक्त अमीर ने राज-सभा में जलालाबाद, गजनी और कन्धार से एक एक हिन्दू प्रतिनिधि भेजने की स्वीकृति भी दे दी है।

साहित्य-सुमन।

(१) दमन-नीति और राज्य-विप्लव।

आज कल जहाँ-तहाँ राज्य-विप्लव के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। इसका कारण क्या है सो भिन्न भिन्न राष्ट्रों के प्राचीन इतिहास को देखने से मालूम हो सकता है। भूतपूर्व राष्ट्रपति विल्सन ने दिसम्बर, १९१९ में एक बार कहा था कि "दमन-नीति ही राज्य-विप्लव का मूल कारण है।" इसकी सत्यता देखने के लिए इतिहास से दो चार उदाहरण लीजिए। इंग्लैंड के बादशाह तीसरे जार्ज ने सन् १७७६ में दमन-नीति का प्रयोग अमेरिका वालों पर किया। फल यह हुआ कि अमेरिका उसके हाथ से निकल गया। फ्रान्स में, १८४८ में, दमन-नीति से काम लिया गया, तो वहाँ भी राज्य-क्रान्ति हुई। इटली की स्वाधीनता आस्ट्रिया की दमन-नीति का ही परिणाम है। रूस में जबरदस्त हाथों से दबाई हुई आग भीतर ही भीतर सुलगती रही और मौक़ा पाकर ज्वालामुखी के समान भभक उठी।

हर्बर्ट स्पेन्सर का कथन है कि "कार्यों की, उत्पत्ति मन से नहीं, किन्तु उमंग से होती है।"

किसी देश की जनता वहाँ की सरकार की बड़ी भलेही होवे; पर जब वह अपनी सरकार के ऐसे कार्य देखती है जो निन्दनीय और अन्याय-युक्त हैं तब उसकी श्रद्धा सरकार की ओर से कम हो जाती है। इतना ही नहीं, जब वह उस सरकार के अत्याचारों को लगातार होते देखती है तब जनता श्रद्धा कम करके ही नहीं रह जाती, किन्तु इतनी उत्तेजित हो जाती है कि राज्य-विप्लव कर बैठती है। आयरलैण्ड का गत दो शताब्दियों का इतिहास इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है।

अक्टूबर, १९२०, के 'माडर्न रिव्यू' में इसी विषय पर लिखते हुए अमेरिका के जॉन हेनीस होमीस और रेव्हरेण्ड सन्डरलेण्ड कहते हैं—"जब हिन्दुस्थान में कष्ट निवारण करने और शासन-सुधार के लिए आन्दोलन होता है तब वहाँ की सरकार रौलट एक्ट और मार्शल लॉ जारी करती है, जनता के श्रद्धास्पद नेताओं को बिना विचार किये कालेपानी की सज़ा देती है, और सरकार से प्रार्थना करने के लिए एकत्रित निःशस्त्र जनता पर गोलियाँ चलाती है। जब यह हाल है तब क्या यह न कहना पड़ेगा कि जो कुछ कार्य उसने किया वह कैसा मूर्खता से भरा और विवेक-शून्य है? इंग्लैण्ड ने अमेरिका और आयरलैण्ड के सम्बन्ध से जो कुछ अनुभव प्राप्त किया है उससे वह क्यों नहीं चेतावनी लेती? फ्रान्स, आस्ट्रिया, इटली और रूस ने दमन-नीति के कारण क्या फल भोगा, यह भी इंग्लैण्ड के सामने है।"

ऐसे समय जब जनता अत्याचारों को मिटाने के लिए और सुधार चाहने के लिए कोई आन्दोलन करे तो सरकार को वैसा ही करना चाहिए जैसा कि फ्रान्स के सम्बन्ध से, सन् १८४८ में राज्य-क्रान्ति के पूर्व, काउन्ट डी टोकी वेली ने कहा था कि "ईश्वर के नाम पर सरकार की नीति को पलट दो, सरकार की इस दमन-नीति को हटा लो; क्योंकि वर्तमान दशा हमें सत्यानाश की ओर ले जा रही है।" काउन्ट का कहना बिलकुल ठीक था। उसकी बात न मानी गई और राज्य-क्रान्ति हुई। लार्ड बेकन ने ऐसी ही स्थिति को देख कर लिखा है—"राज-विद्रोह रोकने की रामबाण औषधि यही है कि उसका कारण दूर कर दिया जाय। यदि सूखे तिनके रहेंगे तो न मालूम कहाँ से एक चिंगारी पाते ही वे जल उठेंगे"।

मनोविज्ञान से हम देखते हैं कि घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार, विज्ञान बतलाता है कि बल लगाने से बल उत्पन्न होता है। ठीक यही बात राजनीति में लागू होती है कि दमन-नीति से राज्य-विप्लव होता है। अतएव देश में शान्ति रखने के लिए सरकार को चाहिए कि वह दमन-नीति का उपयोग न करे और इस प्रकार वह अपना अस्तित्व आप ही मिटाने की चेष्टा न करे।

(२) औरंगज़ेब का हिन्दी-प्रेम।

औरंगज़ेब हिन्दू धर्म के कितने भारी दुश्मन थे—इसका साक्षी इतिहास है; पर वे हिन्दी भाषा के प्रेमी थे—यह आश्चर्य की बात है। उनका यह हिन्दी-प्रेम हमें षष्ठ युक्तप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० पद्मसिंह शर्म्मा के भाषण से विदित हुआ है। शर्म्माजी कहते हैं:—

औरंगज़ेब खुद भी हिन्दी के प्रेमी थे, संस्कृत में भी उन्हें कुछ दखल था। इसके सबूत में उनकी एक तहरीर पेश करता हूँ। औरंगज़ेब के पत्रों का संग्रह जो "रुक्कआते-आलमगीरी" के नाम से फ़ारसी में छपा है, उसमें एक रुक्का बादशाहज़ादा मुहम्मद आज़मशाह बहादुर के के नाम है। इन शाहज़ादे ने कहीं से खास आमों की डाली बादशाह के पास भेजी है और उन आमों का नाम रखने के लिए बादशाह सलामत से इस्तदुआ की है। उसके उत्तर में बादशाह लिखते हैं—

"फ़र्ज़न्द आलीजाह, डाली अम्बा मुर्सले आं फ़रज़न्द बज़ायक़े पिदर पीर खुशगवार आमद, बरायनाम अम्बए गुमनाम इस्तदुआ ने मूदा अन्द. चूं आं फ़रज़न्द जुदते तबादारन्द, ख्वादरं तकलीफ़ पिदर पीर चरा मीशवन्द, बहरहाल 'सुधारस' व 'रसनाविलास' नामीदाशुद।"

इस रुक्के में लफ़ज़ 'डाली' और आमों के नाम 'सुधारस' और 'रसनाविलास' पर ज़रा ध्यान तो दीजिए। डाली लफ़्ज़ फ़ारसी का नहीं है, फिर भी औरंगज़ेब जैसे ज़बरदस्त मुन्शी ने उसकी जगह अरबी या फ़ारसी का लफ़्ज़ गढ़ कर या चुन कर नहीं रक्खा। जो बोलचाल था वही रहने दिया। आमों के नाम तो उन्होंने उस कमाल के रक्खे हैं कि क्या कोई रक्खेगा। 'सुधारस' और 'रसनाविलास' क्या मीठे नाम हैं! सुनते ही मुँह में पानी भर आता है। ये बादशाह के भाषा-विज्ञान, औचित्य-वेदिता और सहृदयता के सच्चे साक्षी हैं। आम हिन्दोस्तान की मेवा है। फ़ारसी या तुर्की नाम उसके लिए मुनासिब नहीं, यही समझ कर बादशाह ने यह नाम तजवीज़ किये।

जो लोग देशी चीज़ों के लिए विलायती नाम ढूँढने में सारी लियाक़त खर्च कर डालते हैं, या वह उर्दू लेखक जो नई नई परिभाषा अपनी भाषा में लाने के लिए काहरा और कुस्तुनतुनिया के अखबारों का फ़ायल टटोलते रहते हैं इससे शिक्षा ग्रहण करें तो भाषा पर बड़ी दया करें।

(३) स्वदेश-प्रेम और विश्व-बंधुत्व।

जब कभी भारतवासियों के सामने उदारता और विश्व-बंधुत्व की बात रखी जाती है, तब "उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम" सुनाकर कहा जाता है कि हमारे यहां तो यह आदर्श पहिले से ही सामने रखा है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि भारतवासी अथवा किसी भी देशवासी के लिए स्वदेश-प्रेम पहिली चीज़ है या विश्व-बंधुत्व? और क्या मनुष्य में विश्व-बंधुत्व होने से स्वदेश-प्रेम आ जायगा? इन प्रश्नों का उत्तर लाला लाजपतराय के शब्दों में सुनिए जो उन्होंने अमेरिका के कोलंबिया नामक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में कहे थे, जहाँ अंग्रेज़ और अमेरिका-वासियों के सिवा हिन्दुस्थानी और चीनी भी थे। आपने कहा था कि—"जब किसी अंग्रेज़ या अमेरिकन के मुँह से विश्व-बंधुत्व की बात सुनाई देती है तब वह आदर्श और सम्माननीय मानी जाती है; पर यदि वही बात किसी हिन्दुस्थानी अथवा चीनी के मुँह से निकले तो कहा जायगा कि यह सब स्वदेश-प्रेम के महान कर्त्तव्य को भुलाने की एक चाल है। मैं अंग्रेज़ों और अमेरिकनों का उनके विश्व-बन्धुत्व के लिए आदर करता हूं; किन्तु हिन्दुस्थानियों और चीनियों को इसलिए तुच्छ दृष्टि से देखता हूं कि उनमें स्वदेश-प्रेम का अभाव है। इनको विश्व-बंधुत्व तभी फबेगा जब कि ये दूसरे

देशवासियों के समान स्वदेश-प्रेमी हो जावें और अपने अपने देश को दूसरे देशों के समान स्वाधीन, स्वात्मावलम्बी एवं गौरवास्पद राष्ट्र बना लें।"

इससे विदित होता है कि "अयं निजः परो-वेति" का गुण इतना नीचा नहीं है जितना कि बतलाया जाता है। वह उस समय अवश्य ही नीचा है जब कि आपस में घटित होता है; पर भिन्न देशों के सम्बन्ध में नहीं। उसके बिना "वसुधैव कुटुम्बकम्" हो नहीं सकता। स्वदेश-प्रेम का गुण कैसे बढ़ाया जा सकता है इसपर भी लालाजी के शब्द ध्यान देने योग्य हैं। आपने "भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या" नामक अपनी एक अंग्रेज़ी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि—

"भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश तबतक कभी पूरा न होगा जब तक कि अन्य विषयों के समान स्वदेशानुराग की शिक्षा शाला में न दी जायगी। इस सम्बन्ध में हमें यूरोप के शिक्षा-क्रम पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र में और अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी, यह व्यवस्था अच्छी तरह कर ली गई है कि स्वदेशानुराग का गुण पाठशालाओं द्वारा बढ़ाया जावे। कोई भी जाग्रत समाज अपने बालकों के सामने अपने राष्ट्रीय भाव और राष्ट्रीय उच्चादर्श एकमात्र पाठशाला द्वारा ही रख सकता है, दूसरी किसी संस्था द्वारा नहीं।"

यूरोपीय राष्ट्रों में राष्ट्रीय शिक्षा के पाठ्य-क्रम में, स्वदेश-भक्ति, सैनिक-शक्ति, शारीरिक-बल-प्राप्ति, राष्ट्र के लाभ के लिए कर की आवश्यकता, प्रजासत्तात्मक राज्य की श्रेष्ठता आदि अनेक उपयोगी विषय रखे गये हैं। जहाँ के बालक छोटी अवस्था से ही ऐसे विषयों का अध्ययन करते हैं वहाँ के राष्ट्र जन-धन और मन की शक्तियों से क्यों न समृद्धिशाली हों? यहाँ तो पाठशालाओं में राष्ट्रीय शिक्षा का नाम भी नहीं है। इसीलिए तो राष्ट्रीय पाठशालाओं की आवश्यकता है।

(४) कलकत्ते की काल-कोठरी से कहीं काला।

रेव्हरेण्ड जे. टी. सण्डरलैण्ड, एम. ए., डी. डी. महाशय का लिखा हुआ इस शीर्षक का एक लेख गत अक्टूबर के "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने लगभग दो शताब्दी पूर्व शत्रुद्वारा शत्रु के प्रति किये गये काल-कोठरी नामक हत्याकाण्ड की तुलना सभ्यातिसभ्य भारत-सरकार द्वारा अपनी ही प्रजा पर, सभ्यता की शिरोमणि बीसवीं शताब्दी में किये गये जालियनवाला बाग़ के पैशाचिक हत्याकाण्ड से की है। पहिले काल-कोठरी की घटना सत्य मानी जाती थी; पर अब ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होगया है कि वह निरी कल्पित है और हिन्दुस्थानियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए ही गढ़ी गई है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि काल-कोठरी की घटना सत्य थी, तब भी कहना पड़ेगा कि जालियनवाला बाग़ की सी राक्षसी कृत्य संसार के इतिहास में कहीं नहीं हुआ—कभी नहीं हुआ।

अब तनिक, लेखक द्वारा की हुई, नीचे लिखी तुलना पर ध्यान दीजिए, फिर आपको मालूम हो जायगा कि कौनसा कृत्य काला-स्याह है? कलकत्ते की काल-कोठरी का कल्पित काण्ड या जालियन-वाला बाग़ का प्रत्यक्ष-घटित पैशाचिक काण्ड? अठारहवीं शताब्दी में एक अंग्रेज़ शासक किसी क्रूरातिक्रूर कृत्य की कल्पना कर सका तो 'काल-कोठरी' की; किन्तु दो सौ वर्ष की सभ्यता के बाद बीसवीं शताब्दी में उससे कहीं बढ़कर राक्षसी कृत्य एक अंग्रेज़ ने संसार के सामने प्रत्यक्ष कर दिखाया। काल-कोठरी को सत्य मानकर भी मिलान इस प्रकार ठहरता है:—

१—"काल कोठरी के आहतों की संख्या १२३ थी; किन्तु जालियनवाला बाग़ की ५०० से १२०० तक, अर्थात् काल-कोठरी की मृत्युसंख्या की अपेक्षा ४ गुनी से लगाकर ८ गुनी अधिक। वहाँ घायल या अधमरे कुल २३ थे, यहाँ २०० से

३६० के बीच में, अर्थात् ८ गुने से लगाकर १५ गुने अधिक।

२—"काल-कोठरी का हत्याकाण्ड लड़ाई के समय हुआ और जो लोग मारे गये वे शत्रु-पक्ष के थे। जलियानवाला बाग़ की घटना शान्ति के समय हुई और जो लोग मारे गये वे सब उसी सरकार की प्रजा थे जिसका अफसर जनरल डायर था।

३-"काल-कोठरी का हत्याकाण्ड १८वीं सदी के मध्य में हुआ जब कि सभ्यता का आभास बहुत कम था। जलियनवाला बाग़ की क्रूर घटना २०वीं सदी के पूर्ण-प्रकाश में हुई।

"इस मिलान पर से दो बातें प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैः— .

१—"यदि इतने वर्ष पीछे की सन् १७५६ की घटना हिन्दुस्थान के एक छोटे से कोने के राज्य की देशी सरकार की बर्बरता का सूचक है तब क्या जलियनवाला बाग़ का भीषण हत्याकाण्ड जो क्रूरता में उससे कहीं अधिक बढ़ गया है, गत वर्ष की पंजाब सरकार के बहुतसे अधिकारियों को बर्बर सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है?

२—"यदि इंग्लैंड को काल-कोठरी के अपराध को प्रमाण मानकर यह कहने का अधिकार है (जैसा कि वह १५० वर्षों से कहता आरहा है और अब भी कहता है) कि हिन्दुस्थानी लोग आत्मशासन के अयोग्य हैं, तब क्या संसार को जलियनवाला बाग़ के कठोरतम नृशंस पैशाचिक कृत्यों को प्रमाण मानकर यह कहने का अधिकार नहीं है कि इंग्लैंड सन् १९१९ तक भी इतना सभ्य नहीं हो पाया है कि वह हिन्दुस्थान पर योग्यता-पूर्वक शासन कर सके?"

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है।

(५) भाषा का स्वराज्य।

पं० दिवाकर शर्म्मा का लिखा हुआ उक्त शीर्षक एक लेख "सरस्वती" के गत सितम्बर के अंक में प्रकाशित हुआ है। लेख में कई ऐसी बातें हैं जिनपर सरकार और हिन्दी-भाषा-भाषी दोनों को ध्यान देना चाहिए।

लेखक ने अपने लेख के अंत में लिखा है—"भाषा एक बड़ी भारी जीवित शक्ति है। भाषा ही इतिहास है, भाषा ही विज्ञान है, भाषा ही समाज है और भाषा ही देश है।" इस कथन की सत्यता में भले ही सन्देह किया जाय—क्यों कि भाषा में इतिहास और विज्ञान होता है और हो सकता है; परन्तु भाषा ही विज्ञान और इतिहास नहीं हो सकती—परन्तु लेखक का अभिप्राय यही है कि भाषा एक महत्त्व की वस्तु है और उसकी उपेक्षा न करनी चाहिए। इस समय जब कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के प्रश्न उठ रहे हैं इस बात को न भूल जाना चाहिए कि राष्ट्रीयता में जातीयता, स्थान और धर्म के तत्त्व होते हुए भी उसमें भाषा का प्रधान तत्त्व है। राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता होना भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है; क्योंकि

"भाषा की विविधता से राष्ट्रीय एकता में बड़ा विघ्न उपस्थित होता है। एक ही शासन में भिन्न भिन्न भाषाओं के होने से लोग अपनी अपनी भाषा का उत्कर्ष बढ़ाने की अलग अलग चेष्टा करते हैं और यथाशक्ति दूसरी भाषा के अधिकारों को नष्ट करने के उपाय सोचते रहते हैं। सम्मिलित-परिवार-संस्था में जैसी कठिनाई और विपत्ति उपस्थित होती है वैसी ही अवस्था सम्मिलित-भाषा-प्रथा में पाई जाती है।"

इसलिए लेखक की इच्छा है कि "भारत को स्वराज्य मिलने पर देशी भाषाओं को भी स्वराज्य मिले और उनके साथ हमारी मातृभाषा हिन्दी भी स्वराज्य की अधिकारिणी समझी जाय जिससे वह अपना शासन आप ही कर सके।"

यह स्वराज्य तभी मिल सकता है जब कि सरकार इन ६ उपायों को सच्चे मन से काम में लायगी—

(१) कोई भी हिन्दी-भाषी प्रदेश अन्य भाषा-भाषी प्रदेश में मिला हुआ न रक्खा जाय, अर्थात् प्रान्तों का विभाग भाषा की नींव पर किया जाना चाहिए।

(२) हिन्दी का आत्म-निर्णय केवल हिन्दी-भाषियों के हाथ में रहे, अर्थात् हिन्दी की विशेष योग्यता के पदों पर कर्मचारियों को नियत करने का अधिकार केवल हिन्दी-भाषी जनता ही के हाथ में रहे।

(३) कचहरियों और कौंसिलों में हिन्दी को अबाध्य स्थान दिया जाय और जो न्याया-धीश अपने निर्णय हिन्दी में लिखना चाहें उन्हें इस काम के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय।

(४) सर्वसाधारण के लिए जो सरकारी सूचनाएँ प्रकाशित की जायँ वे हिन्दी में रहें। सरकारी गज़ट हिन्दी में भी छापा जाय। सिक्कों और नोटों पर हिन्दी भी रहे।

(५) अंग्रेज़ों की हिन्दी-भाषा-सम्बन्धी परीक्षा कुछ कड़ी कर दी जाय और उसके परी-क्षक हिन्दी-भाषी विद्वान् रहें।

(६) हिन्दी-ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य केवल हिन्दी-भाषी विद्वानों को दिया जाय।

ये सब उपाय अत्यंत आवश्यक हैं और सरकार का ध्यान इस ओर जाय इसके लिए, हमारी समझ में, आन्दोलन की आवश्यकता है। साहित्य-सम्मेलन में केवल प्रस्ताव पास करते रहने से काम नहीं चलेगा। एक ऐसी समिति बनायी जाय जिसका कर्त्तव्य यह हो कि वह जनता के पास अपनी मांगों की आवश्यकता बराबर ३६५ दिन समझाती रहे और सरकार के पास अपनी पुकार इस प्रकार पहुँचावे कि वह अनसुनी हो ही न सके।

अपनी भाषा के प्रति हम लोग अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं या नहीं, इसकी जाँच के लिए, लेखक ने जो ५ प्रश्न किये हैं उन्हें प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी को अपने मन में करना चाहिए। वे प्रश्न ये हैं—

(१) क्या हम लोग तन, मन और धन से अपनी भाषा और उसके साहित्य को बढ़ा रहे हैं?

(२) क्या हम अपनी भाषा का अनादर देखकर उसके लिए, जननी और जन्म-भूमि के उद्धार के तुल्य, प्रतीकार करने को उद्यत रहते हैं?

(३) क्या हम अपने दैनिक कार्यों में विदेशी भाषाओं के बदले अपनी मातृभाषा का उपयोग करते हैं?

(४) क्या हमने कुतर्कियों का मुँह बंद करने के लिए अपनी भाषा का पूर्ण अध्ययन किया है?

(५) क्या हमने अपने प्रदेश में अपनी भाषा के एकच्छत्र राज्य के लिए कभी कोई प्रयत्न किया है?

प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी का धर्म है कि सरकार हमारी भाषा के साथ कुछ न्याय और उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करे इसकी आशा करने के पूर्व वह स्वयं अपनी भाषा के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करे।

(६) हिन्दुस्थान के अंग्रेज़ों के नाम महात्मा गांधी का पत्र।

इसी २ नवम्बर के 'इंडिपेण्डेण्ट' में हिन्दु-स्थान के अंग्रेज़ों के नाम महात्मा गांधी का एक खुली चिट्ठी छपी है। उसमें महात्माजी ने यह इच्छा प्रकट की है कि प्रत्येक अंग्रेज़ उसको पढ़े और उसपर विचार-पूर्ण ध्यान दे। पत्र के आरम्भ में महात्माजी ने अपना परिचय देते हुए बतलाया है कि हमने लगातार २६ वर्ष तक ब्रिटिश सरकार से सहकारिता की है और इस

बीच में ऐसे ऐसे अवसर आये हैं जब कि दूसरा मनुष्य सरकार का विरोधी हो जाता; पर हम नहीं हुए। आगे आपने विश्वास दिलाया है कि हमने सरकार के डर से या किसी स्वार्थ से सहकारिता नहीं की थी, किन्तु इस विश्वास पर की थी कि सरकार के सब कार्य हिन्दुस्थान की भलाई के लिए होते हैं। इसी विचार से हमने बोर-युद्ध, ज़ुलू-विद्रोह, महायुद्ध के आरम्भीय काल और लार्ड चेम्सफ़ोर्ड का दिये हुए वचन के पालन के समय—ऐसे बार बार अपनी जान पर खेलकर सरकार की सहायता की और वह सिर्फ़ इस लिए जिसमें भारत को साम्राज्य में बराबरी का भाग मिले। आगे महात्माजी ने लिखा है कि हमें भरोसा था कि मि० लायड जार्ज मुसलमानों को दिया हुआ वचन पालन करेंगे और पञ्जाब के अत्याचारों पर उचित निर्णय करेंगे; पर उन्होंने कुछ भी नहीं किया और आप लोगों (भारतीय अंग्रेज़ों) ने उसे ठीक समझा जिससे हमारा विश्वास सरकार पर से और उसकी सहायता करने वाले राष्ट्र पर से उठ गया।

आगे महात्माजी ने जो कुछ लिखा है वह विशेष ध्यान देने योग्य है; इसलिए उसका एक एक शब्द विचारपूर्वक पढ़िए।

"यद्यपि हमारा विश्वास आपके अच्छे विचारों पर से बिलकुल उठ गया है, तो भी हम आपके साहस को जानते हैं और हम यह भी जानते हैं कि आप लोग न्याय और विचार के लिए लाचार न होंगे; पर साहस के लिए खुशी से सिर झुकावेंगे।

"अब ज़रा देखिए कि ब्रिटिश साम्राज्य हिन्दुस्थान के लिए क्या करता है:—

"ग्रेट ब्रिटन के लाभ के लिए हिन्दुस्थान के धन का अपव्यय;

"सैनिक ख़र्च उत्तरोत्तर बढ़ाना और सिविल सर्विस के लिए इतना अधिक धन व्यय करना जितना संसार में और कहीं नहीं होता है;

"हिन्दुस्थान की निर्धनता पर तनिक भी ध्यान न देकर प्रत्येक विभाग में अन्धाधुन्ध ख़र्च करना;

"शस्त्रहीन करके सारे (भारतीय) राष्ट्र को नपुंसक बनाना जिससे सशस्त्र राष्ट्र आप थोड़े से मनुष्यों की जान न ले डाले;

"शासन को ज़ोरदार बनाने के लिए मादक पदार्थों का प्रचार बढ़ाना;

"राष्ट्र के कष्ट को प्रकट करने के लिए जो आन्दोलन किये जाते हैं उन्हें दबाने के लिए दिन प्रतिदिन कड़े क़ानून बनाना;

"आपके विदेशी राज्य में बसने वाले हिन्दुस्थानियों से बुरा बर्ताव करना;

"आप लोगों ने पंजाब के शासन की प्रशंसा और मुसलमानों के भाव की उपेक्षा करके हम लोगों के विचारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, उन्हें कुछ भी नहीं समझा है।

"हम जानते हैं कि आपको इस बात का बुरा न लगेगा यदि हम आप के हाथ से शासन-सूत्र ले लें। आप जानते हैं कि हम लोग इस काम के लिए असमर्थ हैं; क्योंकि आपने खुले मैदान में मानपूर्वक लड़ने की हमारी सामर्थ्य-शक्ति को नष्ट कर डाला है। युद्धभूमि में इस प्रकार का साहस प्रकट करना हमारे लिए असम्भव है; परन्तु आत्मिक साहस का द्वारा अब भी हमारे लिए खुला है। हम जानते हैं कि आप उसे भी बन्द करने की चेष्टा करेंगे। मैं उसी साहस को उत्तेजित करने में लगा हुआ हूँ। असहकारिता का अर्थ और कुछ नहीं, केवल आत्म-त्याग है। हम लोग आपका साथ क्यों दें जब कि हम लोग जानते हैं कि इस भारी देश का शासन करके आप लोग हमको पर दिन दिन दास बनाते आ रहे हैं।"

इसके बाद महात्मा जी ने बतलाया है कि जनता मेरे प्रभाव के कारण अथवा अली-बन्धुओं की शक्ति के कारण हमारा कहना नहीं मान रही

है। वह स्कूलों की संख्या में हमारी बात मानने को इसलिए तैयार होती है कि हम एक ऐसे राष्ट्र-भाव के लिए हुए कार्य कर रहे हैं जो आपके चुंगल में फँसा हुआ कष्ट भोग रहा है। महात्मा जी कहते हैं कि हम आपसे कुछ दुश्मनी नहीं करते; क्योंकि हमारा धर्म ऐसी आज्ञा नहीं देता और न हम, शक्ति पाने पर भी, आप पर हाथ उठाना चाहते। हम तो हिन्दुस्थान के अधिकार को सामने रखना चाहते हैं और उसके कष्ट को दूर करने के लिए उपाय बतलाते हैं।

पश्चात् महात्मा जी ने सलाह दी है कि यदि आप शान्ति का उपाय चाहते हैं तो अशान्ति के कारण दूर कर दीजिए। आप मि० लायड जार्ज से न्याय करने को कहिए, वाइसराय को इस्तीफ़ा दे देने को कहिए और सर ओडायर और डायर के प्रति अपने विचार बदलिए। आप सरकार को इस बात के लिए राज़ी कीजिए कि वह चुने हुए नेताओं की सलाह लेकर हिन्दुस्थान को मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार स्वराज्य दे डाले। अन्त में, महात्माजी ने भविष्यद्वाणी की है और अंग्रेज़ों से कहा है कि यह कुछ न होगा; क्योंकि न आप हिन्दुस्थानियों को बराबरी का समझोगे और न कुछ कहोगे। उल्टी धरपकड़ होगी जैसी कि कहीं कहीं आरम्भ हो गई है। महात्माजी कहते हैं कि हमने सच्चा मर्म बतला दिया है कि जिनका तुम नमक खाते हो उनसे हेलमेल कर लो। साथ ही यह भी जान लो कि उच्चाशाओं पर पानी फेरना देश के प्रति अराजकता करना है।

पुस्तकादि-परिचय।

१.—वीर-पञ्चरत्न—लेखक, "लक्ष्मी"-सम्पादक श्रीयुक्त लाला भगवानदीन; प्रकाशक, बाबू रामलाल वर्म्मा, १७१ अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या २२६; २१ चित्रों तथा सुन्दर जिल्द से विभूषित; मूल्य केवल ३)।

कवि अपने समय का सच्चा प्रतिनिधि होता है। उसकी कविता में तत्कालीन जनता की भावनाओं का प्रतिबिम्ब तो रहता ही है; पर साथ ही रहते हैं उसमें उच्च आदर्श जो लोगों को उनकी परिस्थिति बताते हुए उन्नति का शुभ संदेश देते हैं। ऐसे कवि देश में आदरणीय होते हैं और उनकी कविता का एक एक शब्द मंत्र का काम करता है। भारतवर्ष में कभी समय था जब कविवर बिहारीलाल और पद्माकर की आवश्यकता थी; पर देश को इस समय आवश्यकता है भूषण की—ऐसे भूषण की जो हिन्दू और मुसलमानों को एक सूत्र में बाँध कर उनसे देशोद्धार कराने में समर्थ हो सकें। इस समय कविता चाहिए राष्ट्रीय भावों से युक्त और वीर-रस-प्रधान।

हर्ष की बात है, लाला भगवानदीन जी उन थोड़े से इने-गिने कवियों में से हैं जो देश के सच्चे प्रतिनिधि बन सकते हैं। आपकी अधिकांश कविताएँ वीर-रस प्रधान हुआ करती हैं और उन्होंने हिन्दी-साहित्य में एक विशेष स्थान पा लिया है। "वीर-पंचरत्न" में वीर प्रताप, वीर बालक, वीर क्षत्राणी, वीर माता और वीर पत्नी इन विषयों की [illegible] कविताएँ हैं। सभी कविताएँ प्रसाद और ओज गुणों से पूर्ण हैं। कदाचित् प्रसाद गुण के निर्वाह के लिए उर्दू के अनेक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं और हिन्दी के कई शब्द विकृत किये गये हैं। भाषा पर विशेष ध्यान देनेवालों को लालाजी की यह भाषा-स्वतंत्रता खटक सकती है, और लालाजी यदि चाहें तो भाषा के माधुर्य का विशेष ध्यान रखकर अपनी कविता को अधिक गुणसम्पन्न और अधिक प्रिय बना सकते हैं। पुस्तक लालाजी की उपलब्ध कीर्ति के अनुरूप ही हुई है। कविता की भाषा का पता नीचे लिखे उदाहरणों से लग सकता है—

'पद्मनाभ' ने कहा कि बला देश के सर है।
पति भाँति बुजुर्गों की बने इसका भी डर है॥
निज धर्म की, निज देश की रक्षा मेरे कर है।
यह पंथ तो पड़ता है कि मुश्किल से गुज़र है॥
पर देह में जबतक है रकत राम की नस का।
दम रहते तो हूंगा न मुसल्मान के बस का॥
ब्याहूंगा न बेटी, न कभी पांव पड़ूंगा।
छेड़ूंगा तो फिर मौत के मैदान लड़ूंगा॥
हो हिन्द का अर्थी जो करे नीच की सेवा।
अच्छा हो जो कालीजी करें उसका कलेवा॥
भेजे जो बहिन बेटी मुसलमान के घर में।
ऐसा न रहे रामजी ! इस नीच के उर में॥

पुस्तक की छपाई-सफ़ाई अत्यंत सुन्दर हुई है और कई सुन्दर चित्रों से उसकी शोभा और भी बढ़ गई है। प्रत्येक शिक्षित कुटुम्ब में इस पुस्तक का प्रचार होना चाहिए। हम लेखक और प्रकाशक दोनों को इस पुस्तक के लिए बधाई देते हैं।

२—भट्ट जी का नागरी-लिपि-विषयक कार्य—

पं० गौरीशंकर भट्ट कई वर्षों से राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि को अलंकृत करने में लगे हुए हैं। हर्ष की बात है, आप अपने प्रयत्न में बहुत सफल हुए हैं और आपने इस दिशा में जो कुछ कर दिखाया है वह ऐसा है जिसका गर्व किया जा सकता है। अभी तक आपका जो कार्य छप कर प्रकाशित हुआ है उसका परिचय यहाँ दिया जाता है—(१) चित्रलिपि-प्रवेशिका, विवरण सहित। मूल्य एक रुपया। चित्रलिपि बड़ी भारी कला है। इसमें शब्द या वाक्य इस रीति से लिखे जाते हैं कि साधारणतया देखने से वे किसी पुष्प, जन्तु या वस्तु विशेष के चित्र प्रतीत होते हैं; परन्तु बारीकी से देखने पर उनका रहस्य और चित्रकार का कौशल प्रकट होता है। अन्य कलाओं के समान, इस कला के लिए भी अभ्यास की आवश्यकता होती है; पर इसके साथ ही, स्व स निरीक्षण और कल्पना-शक्ति की भी। देवनागरी के लिए चित्रलिपि एक बिलकुल नयी बात है और इसे आविष्कृत करने का श्रेय भट्टजी को है। "चित्रलिपि-प्रवेशिका" पुस्तक आपकी चित्रकला कुशलता, अक्षर-कल्पना-शक्ति तथा हिन्दी-हितैषिता प्रकट कर रही है। आपने यह पुस्तक लिखकर बड़ा भारी काम किया है। पुस्तक का विषय तीन भागों में बाँटा गया है। पहले भाग में चित्र-लिपि की वर्णमाला, दूसरे में संयुक्ताक्षर तथा संकेताक्षर (monograms) और तीसरे भाग में चित्र-वाक्य दिये गये हैं। सबकी संख्या ७५० है। "शारदा" के सर्वांक में भट्टजी का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसी के साथ कुछ संकेताक्षर और एक चित्र-बंध भी है। उन्हें देखकर पाठक-गण "चित्रलिपि-प्रवेशिका" की उपयोगिता का अनुमान कर ही चुके होंगे। हिन्दी साहित्य संसार में यह पुस्तक सर्वथा नवीन है और प्रत्येक समर्थ हिन्दी-प्रेमी का कर्तव्य है कि भट्टजी को उनके इस स्तुत्य कार्य में उत्साहित करें। (२) सूक्तिसुधा, अर्थात् संस्कृत के उपदेशपूर्ण छोटे छोटे वाक्य; जैसे, बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, यः परः परं तु सः, मानो हि महतां धनम्, कर्तव्यं हि सतां वचः, बुद्धिश्चित्तविकारिणी, इत्यादि। ये वाक्य अत्यंत सुन्दर लिपि में लिखे गये हैं। इनकी संख्या १४ है और ये सब मोटी तख़्तियों पर छिप का कर कमरे में लगाये जा सकते हैं। इनसे कमरा केवल अलंकृत ही न होगा, बरन बुद्धिमान जनों के उपदेशप्रद वाक्य सदैव आँखों के सामने रहने से हृदय पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। यह संग्रह दो प्रकार के काग़ज़ पर छापा गया है; एक, सफ़ेद काग़ज़ पर काली स्याही से, और दूसरा, कई रंग के पालिशदार काग़ज़ पर सुनहले रंग से। पहले का मूल्य १।।) और दूसरे का २।।) है। (३) आलेख्य-पुस्तक, पाँच भाग, जिनका मूल्य क्रमशः =),=), ।), =) और =) है। इन पुस्तकों में सरल, तिरछी तथा गोल रेखाओं से सुन्दर अक्षर तथा अनेक आकृतियाँ बनाना बताया गया है। प्रत्येक पुस्तक में वर्गकोष्ठों पर आकृतियाँ बनाई और बनाने को बतलाई गई हैं। एक पृष्ठ पर आदर्श आकृति है और उसीके सामने के पृष्ठ पर अभ्यास करने को रिक्त स्थान दिया गया है। वैसे तो अनेक ड्राइंग कापियाँ शालाओं में प्रचलित हैं; पर भट्टजी की इन पुस्तकों में विशेषता है, और वह यह है कि इसकी सहायता से विद्यार्थी हिन्दी तथा अँगरेज़ी की सुन्दर लिपि लिखना सीख सकते हैं। हिन्दी की प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में इनका प्रचार बहुत उपयोगी होगा। (४) नागरी-लिपि-पुस्तक, चार भाग। प्रत्येक भाग का मूल्य =) है। ये पुस्तकें क्रमबद्ध हैं और इन पर से विद्यार्थी सुन्दर नागरी-लिपि लिखने का अभ्यास कर सकते हैं। हिन्दी की प्राथमिक शालाओं के लिए ये बहुत उपयोगी हैं। इन सब पुस्तकों के मिलने का पता है:—

पं० गौरीशंकर भट्ट, गुरुकुल, काँगड़ी, हरिद्वार।

३—लाला कन्नोमल, एम. ए., की कुछ पुस्तकें—(१) प्रश्नोत्तरमणिरत्नमाला. मूल ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य रचित है। उसमें ३२ श्लोक हैं। लालाजी ने मूल श्लोकों के साथ हिन्दी और अँगरेज़ी अनुवाद जोड़ दिया है। "सच्चा, एवं धार्मिक जीवन बनाने के लिए यह पुस्तक एक परमोपयोगी साधन है।" पाकेट-बुक साइज़ के ३२ पृष्ठ हैं। मूल्य श्रद्धानुसार। श्यामकुटी, कैलाश, आगरा से मिलती है। (२) हिन्दू सभ्यता की प्रारम्भिक शिक्षा. पाकेट-बुक साइज़ के २७ पृष्ठों की यह छोटी सी पुस्तक 'अँगरेज़ी पढ़े नवयुवकों को हिन्दू सभ्यता के नियमों से परिचित करना और उन्हें उनको व्यवहार में लाने के लिए दृढ़ और श्रद्धान्वत (श्रद्धान्वित?) बनाने के अभि-

प्राय से रची गई है। इसमें हिन्दू सभ्यता के बहुत मोटे, किन्तु अत्यन्त उपयोगी, नियमों का दिग्दर्शन कराया गया है। मूल्य लिखा नहीं। पुस्तक ऊपर के पते पर मिल सकती है। (३) Lord Krishna's Message—२२ पृष्ठों की यह पुस्तक अंग्रेज़ी में है। मूल्य ४ आने है। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण का सन्देश, भगवद्गीता के आधार पर, लिखा गया है। (४) उपनिषद्-रहस्य। भारत के प्राचीन साहित्य में उपनिषदों का स्थान बहुत ऊंचा है। मुख्य उपनिषद् १२ माने जाते हैं। लालाजी ने इन्हीं १२ उपनिषदों के मुख्य मुख्य श्लोक इस पुस्तक में दिये हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी अनुवाद भी दे दिया गया है। प्रत्येक श्लोक में वह सामग्री भरी है जिसपर जितना मनन किया जाय उतना ही आनन्द मिल सकता है।

४—चौधुरानीजी की पुस्तकें—(१) नारी-पुष्पावली—"स्वदेशीया और विदेशीया (कुल २१) नारियों के जीवनों का संक्षेप से वर्णन इस पुस्तक में किया है।" आकार मझौला, पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य चार आने। यह पढ़ी-लिखी स्त्रियों के काम की चीज़ है। भाषा कहीं कहीं शिथिल है; पर उससे विशेष हानि नहीं। (२) हिन्दी-बंगला-शिक्षा—१६ पृष्ठों की एक आना मूल्य वाली इस पुस्तक को 'हिन्दी-बंगला-शिक्षा' की प्रवेशिका कह सकते हैं। इसकी सहायता से बंगला पढ़े-लिखे लोग हिन्दी और हिन्दी-पढ़ेलिखे लोग बंगला का अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। (३) मनोहर कहानियां—श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधुरानी की सुपुत्री सुजाता देवी ने १३ वर्ष की अवस्था में इस पुस्तक को बंगला में अनुवादित किया है। इसमें १० मनोहर कहानियाँ हैं। अनुवाद सरल हिन्दी में किया गया है। कहानियां बालक-बालिकाओं के पढ़ने योग्य हैं। छपाई, कवर आदि अति सुन्दर पुस्तक में पांच चित्र भी हैं। तीनों पुस्तकें श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी चौधुरानी, लेडी सुपरिंटेंडेंट, विक्टोरिया कन्या-विद्यालय, पटियाला स्टेट से प्राप्त हो सकती हैं।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे गये हैं वे भी पहुँच गई हैं और साभार स्वीकार की जाती हैं—

(१) सदाचार-सोपान—अनुवादक और प्रकाशक, श्रीयुक्त दशरथ बलवंत यादव, देवरी, सागर, म० प्र०; मूल्य, ।)

(२) सदुपदेश—लेखक, पं० कन्हैयालाल उपाध्याय, प्रकाशक, श्रीमध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर; मूल्य, ≈)॥

(३) बालोपदेश—लेखक, पं० कन्हैयालाल उपाध्याय; प्रकाशक, श्रीमध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर; मूल्य, ≈)

(४) नारी-नवरत्न—लेखक, मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ़; प्रकाशक, श्रीमध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर; मूल्य, -)

(५) कौन्सिल की मेम्बरी—लेखक, पं० राधेश्याम मिश्र; प्रकाशक, रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, इटावा, मूल्य, ।)

(६) मंगल-मार्ग—लेखक, पं० उदित मिश्र; प्रकाशक, पं० देवराज मिश्र, गाँव कूँढी, डा० बहागाँव; मूल्य, ≈)

(७) फ्रीहैंड ड्राइंग बुक—नं० १ और २, लेखक और प्रकाशक, श्री. गोपालदत्त सुयाल, ड्राइंग मास्टर, भीमताल, ज़िला नैनीताल; मूल्य प्रत्येक नंबर का ॥=)

(८) नारायण-शतक—लेखक, श्री. नारायणप्रसाद बेताब; प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता; मूल्य, ≈)

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ॥) और पुरानी प्रति का ॥।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ॥) भेजना चाहिए अथवा ॥=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

विज्ञापकों के लिए—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषयके पहिले और पीछेके,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिए—

प्रबंधक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

"श्रीशारदा" पर औरों की सम्मति—

हिन्दी-चित्रमयजगत्—××× एक बात में तो यह हिन्दी की सर्वशिरमौर पत्रिका कही जा सकती है—वह यह कि अपने उद्देश्यानुसार यह पत्रिका एकमात्र मौलिक लेखों को ही प्रकाशित करती है। ××× बाह्यांग इसका सर्वप्रकार श्रेष्ठ है ××× पत्रिका साहित्य में आदर की वस्तु है।

प्रताप—मध्यप्रान्त से एक उच्च कोटि की हिन्दी मासिक पत्रिका "श्रीशारदा" नाम की निकली है। ××× इसका भविष्य बड़ा सुन्दर जान पड़ता है।

अभ्युदय—××× हर प्रकृति के मनुष्य को पत्रिका में रुचिकर बातें मिल सकती हैं। ××× हमारी राय में पत्रिका सब दृष्टियों से प्रशंसनीय है।

विद्यार्थी—लेख उत्तम तथा टिप्पणियाँ गम्भीर होती हैं।

विज्ञान—××× इसमें लेख उपयोगी और विद्वत्ता-पूर्ण होते हैं। चित्र भी अच्छे रहते हैं। छपाई और सफाई की दृष्टि से भी यह पत्रिका बहुत अच्छी है।

प्रभा—××× विविध विषय, साहित्य-सुमन और विश्व-वैचित्र्य संपादक महोदय की योग्यता और सुरुचि के परिचायक हैं। श्रीशारदा में मौलिकता पर विशेष बल दिया जाता है।

लीडर—A welcome addition to the growing ranks of Hindi Journals is 'Shri Sharda'. ××× The contributions, the illustrations and the fine get-up of the journal can very favourably compare with those of the most established of Hindi Journals.

कर्मवीर—××× श्रीशारदा का अन्तरंग और बहिरंग अत्यन्त मनोरम है। ××× सामाजिक चित्र मनोरंजक हैं।

सम्मेलन-पत्रिका—××× इसमें बड़े ही उच्च कोटि के लेख रहते हैं। कविता भी ओजस्विनी तथा भावपूर्ण पाई गई हैं। इसमें राष्ट्रीयता, साहित्य तथा समाज का समयोचित प्रतिपादन किया गया है। छपाई और सफाई की दृष्टि से भी यह पत्रिका बहुत सुन्दर है। इसमें भावपूर्ण चित्र भी रहते हैं।

जबलपुर के राष्ट्रीय-हिन्दी-मंदिर ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

वर्ष १, खण्ड २]　　मार्गशीर्ष, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७　　[संख्या ३



वार्षिक मूल्य ५)]

सम्पादक

साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद.

जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर द्वारा प्रकाशित।

लेख-सूची।

संख्या | पृष्ठ

चित्र-सूची।

"श्रीशारदा" के नियम

लेखकों के लिए—

१—मत-मतान्तर और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा"-कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने या न करने, घटाने या बढ़ाने, एवं लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों को लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

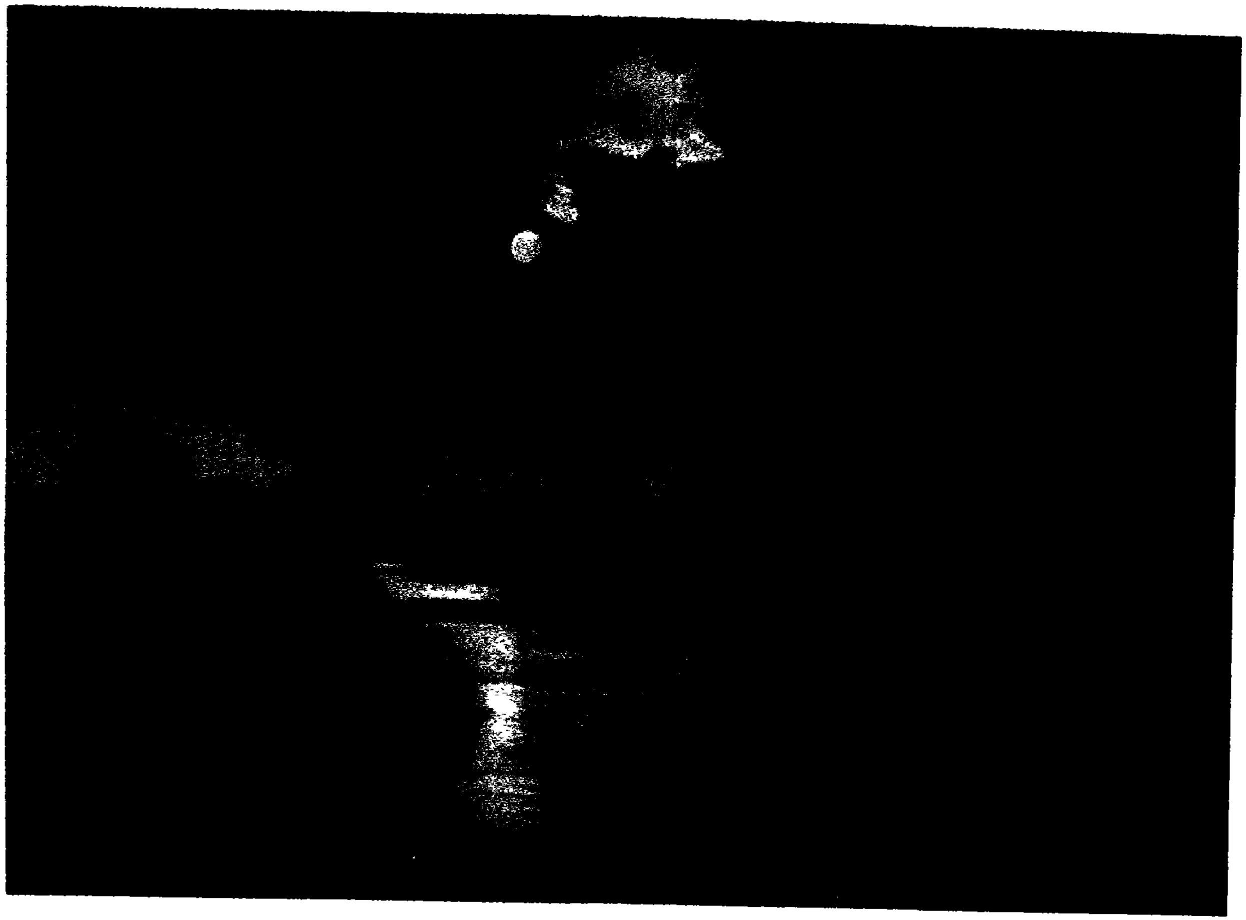
७—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

९—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

१०—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—

सम्पादक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर



चन्द्र-दर्शन।

चित्रकार—
श्रीयुक्त घासीराम



साहित्य-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड २] मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * ११ दिसम्बर, १९२० [संख्या ३, पूर्ण संख्या ९

कागज़ी रुपया और पेपर-करेंसी रिजर्व।

(लेखक—प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे, एम॰ए॰, एफ़॰आर॰ई॰एस)

आज कल सभ्य देशों में चाँदीसोने के अतिरिक्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय में कागज़ी रुपयों का भी बहुत उपयोग होता है। वह देश अधिक सभ्य समझा जाता है जहाँ पर कागज़ी रुपयों का उचित रूप से अधिक प्रचार हो। इंगलैंड में चेक, अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों में बेंकनोट और प्रायः सब देशों में करेंसी नोटों का इतना प्रचार बढ़ गया है कि सोना और चाँदी तो केवल बेंकों और सरकारी ख़ज़ानों में ही रखा रहता है और इन देशों का प्रायः सब लेनदेन इन्हीं कागज़ी रुपयों द्वारा हुआ करता है।

कागज़ को सब से पहिले रुपये के समान उपयोग करने वाले चीन-निवासी थे। उस देश में कागज़ी रुपया कई शताब्दियों से प्रचलित है। यूरोप में भी गत चार पाँच सदियों से उसका प्रचार आरंभ हुआ है; परंतु भारत में अंग्रेज़ों के यहाँ आने के पूर्व कागज़ी रुपयों का प्रचार बिलकुल नहीं था। अब इनका प्रचार भारत में दिन दिन बढ़ रहा है और बड़े बड़े शहरों में चेक भी उपयोग में लाये जाते हैं।

कागज़ी रुपया प्रायः दो प्रकार का होता है, एक तो बेंकनोट जोकि बेंक द्वारा निकाला जाता है और दूसरा करेंसी नोट जो सरकार द्वारा निकाला जाता है। यह ध्यान रहे कि हम कागज़ी रुपयों में हुंडी, प्रामिसरी नोट इत्यादि को शामिल नहीं करते; क्योंकि एक तो ये प्रायः दर्शनी नहीं रहते और दूसरे उनका उपयोग लेन-देन में रुपये-पैसे (Money) के समान नहीं

होता। जहाँ पर चेक तथा दर्शनी हुंडियाँ रुपये-पैसे के समान लेन-देन में लाई जाती हैं वहाँ वे भी काग़ज़ी रुपये में शामिल की जा सकती हैं।

सन् १८४० से बंगाल, मद्रास और बंबई के बेंकों को नोट निकालने का अधिकार था; परंतु वे नोट क़ानूनन ग्राह्य (Legal Tender) न होने के कारण अधिक प्रचलित न हो सके। सन १८६१ में भारत-सरकार ने इन बेंकों से नोट निकालने का अधिकार ले लिया और स्वतः करेंसी नोट निकालना आरंभ कर दिया।

इन करेंसी नोटों में सरकार उनके रखने वालों को उनमें लिखी हुई रक़म माँगने पर उसी समय चाँदी के रुपयों में देने का वचन देती है। ये नोट अपरिमित परिमाण में क़ानूनन ग्राह्य (Unlimited legal tender) भी बना दिये गये हैं।

इनका प्रचार तथा मूल्य सरकार की साख पर निर्भर रहता है। नीचे दिये हुए अंकों से यह मालूम होगा कि सन् १८६५ से प्रत्येक दस वर्षों के बाद इन नोटों का प्रचार ब्रिटिश भारत में कितना बढ़ा—

(करोड़ रुपयों में)

३१ मार्च, सन् १८६५	... ७·४३
„ „ १८७५	... ११·२५
„ „ १८८५	... १४·५८
„ „ १८९५	.... ३०·७०
„ „ १९०५	.... ३९·१८
„ „ १९१५	.... ६१·६३
„ „ १९२०	....१७४·५२

इन अंकों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि गत पाँच वर्षों में नोटों का उपयोग भारत में खूब बढ़ा। पहिले पहिल भारत में करेंसी के पाँच अहाते नियुक्त कर दिये गये थे और एक अहाते का नोट दूसरे अहाते में नहीं भँजाया जा सकता था। इससे इनके प्रचार में बड़ी बाधा होती थी। सन् १९०३ से पाँच रुपये का नोट और सन् १९१० से दस रुपये के नोट सब अहातों में भँजाये जाने लगे हैं और आजकल १००) और उससे कम के नोट भारत में सब जगह भँजाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँतक हो सका वहाँतक सरकार ने भी नोटों के भँजाने में सुविधाएँ कर दीं। फिर सन् १९१८ से एक रुपये और ढाई रुपये के नोट निकाले गये। इन सब कारणों से गत पाँच वर्षों में इनका प्रचार खूब बढ़ गया है।

यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि नोटों के अनियमित परिमाण में प्रचार करने से देश को बहुत नुकसान पहुँचता है। यदि व्यापार की आवश्यकता से अधिक परिमाण में वे निकाले जाते हैं तो उनकी क़ीमत चाँदी तथा सोने के सिक्कों में गिरने लगती है, याने उनपर बट्टा लगने लगता है और देश में सब वस्तुओं की क़ीमत बढ़ जाती है। साथ ही साथ, प्रत्येक वस्तु की दो क़ीमतें हो जाती हैं, अर्थात् काग़ज़ी रुपयों में कुछ और, तथा सोना और चाँदी के सिक्कों में कुछ और। आज कल इंग्लैंड में काग़ज़ी रुपयों का अधिक परिमाण में प्रचार हो गया है और चाँदी तथा सोने के सिक्कों का प्रचार बंद सा हो गया है। इसलिए काग़ज़ी पौंड में प्रत्येक वस्तु की क़ीमत सोने के पौंड (सावरिन) में उसी वस्तु की क़ीमत

से एक तिहाई अधिक बढ़ गई है। अथवा यों समझिए कि काग़ज़ी पौंड की क़ीमत उसकी असली क़ीमत से प्रायः एक तिहाई कम होगई है। कोई कोई सरकार तो इससे भी अधिक परिमाण में नोट निकालने लग जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि काग़ज़ी रुपयों का मूल्य घट कर बहुत कम हो जाता है; क्योंकि आखिर वह काग़ज़ का टुकड़ा ही तो ठहरा। यदि उसको निकालने वाली सरकार की साख की कुछ भी क़ीमत न रहेगी, तो नोटोंकी क़ीमत भी कुछ नहीं रहेगी। यह परिणाम भूतकाल में कई वार हुआ। हाल ही में रशिया की बोलशेविक सरकार ने भी ऐसा ही किया है। उसने इतने परिमाण में रबल नोट निकाले हैं कि उनकी क़ीमत १) से गिर कर दो पैसे तक हो गई है और फिर भी अधिक गिरती जा रही है। प्रत्येक सरकार को इस प्रकार से अधिक परिमाण में नोट निकालने का बहुत लोभ रहता है; क्योंकि बिना टैक्सों के बढ़ाए उसे मनमाना रुपया खर्च करने को मिल जाता है।

इस प्रकार के प्रलोभनों से बचने के लिए भारत-सरकार ने सन् १८६१ के क़ानून के अनुसार एक कोष की स्थापना की है जिसे "पेपर करेंसी रिज़र्व" कहते हैं। जितने रुपयों के नोट सरकार निकालती है उतने ही रुपयों की चाँदी, सोना तथा हुंडिएँ सरकार इस कोष में रखती है। इस कोष का खास उद्देश यह है कि यदि जनता नोटों के बदले रुपये माँगे तो भारत-सरकार उनकी माँग की पूर्ति कर सके। पहिले पहिल इस कोष की सब रक़म चाँदी-सोने के रूप में भारत में ही रखी जाती थी; परंतु सन् १८९८ से इस संबंध में भारत-सरकार की नीति बदल गई और इस कोष का कुछ भाग पहिले सोने में और फिर विलायती हुंडियों (Securities of the U.K.) के रूप में रखा जाने लगा। इस महायुद्ध के पहिले इस कोष का १४ करोड़ रुपया हुंडियों (Securities) के रूप में क़ानूनन रखा जा सकता था जिसमें से केवल ४ करोड़ की हुंडी विलायत में रखी जा सकती थी। इस महायुद्ध के समय में पेपर करेंसी रिज़र्व संबंधी क़ानून में कई परिवर्तन हुए और गत मार्च मास में बने क़ानून के अनुसार भारत-सरकार इस कोष का १२० करोड़ रुपया हुंडियों के रूप में रख सकती थी।

२२ अगस्त, सन १९२० को पेपर करेंसी रिज़र्व नीचे लिखे अनुसार थाः—

सोना और चाँदी	करोड़ रुपयों में
भारत में	९३·१४
विलायत में	....
सरकारी हुंडियाँ (Securities)	
भारत में	४७·३३
विलायत में	२१·५२
	१६१·९९.

उस दिन कुल नोटों का प्रचार १६१·९९.

पेपर करेंसी रिज़र्व का एक बड़ा भाग सरकारी हुंडियों के रूप में रखने से एक बड़ा भारी डर यह रहता है कि सरकार मौक़ा पड़ने पर, जनता की करेंसी नोट के बदले रुपया पाने की माँग की पूर्ति ठीक तरह से नहीं कर सकती। इससे सरकारी साख को बड़ा धक्का पहुँचने की आशंका रहती है। सन १९१९ की करेंसी

कमेटी ने इन्हीं सब बातों को सोच कर पेपर करेंसी रिज़र्व के संबंध में नीचे लिखी सिफ़ारिशें की हैं—(१) जितने रुपयों के नोट निकाले जावें उस रक़म का कम से कम ४० फ़ी सैकड़ा भाग सोना या चाँदी में भारत में रहना चाहिए। (२) कोष में बीस करोड़ रुपया भारत-सरकार की हुंडियों (Govrenment of India securities) में लगाया जा सकता है। (३) कोष में से १० करोड़ रुपया ब्रिटिश साम्राज्य की ऐसी हुंडियों में लगाया जावे जो एक साल से अधिक दिनों में सिकारी जा सके। (४) इससे बची कोष की सब रक़म ब्रिटिश साम्राज्य की ऐसी हुंडियों (Securities of the British Empire) में लगाना चाहिए जो एक वर्ष के अंदर ही सिकारी जा सकें। (५) भारत में जिस मौसम में व्यापार तेज़ रहता है उस समय भारत सरकार ५ करोड़ रुपयों के नोट ऐसी व्यापारी हुंडियों की ज़मानत पर भी निकाले जो तीन महीने के अंदर सिकारी जा सकती हों। गत सितंबर मास की बड़े लाट की व्यवस्थापक सभा की बैठक में पेपर-करेंसी-संबंधी क़ानून नीचे लिखे अनुसार पास किया गया है—(१) जितने रुपयों के नोट निकाले जावें उसके कम से कम ५० फ़ी सैकड़ा की रक़म सोना या चाँदी के रूप में भारत में रखी जावे।

(२) कोष में से केवल २० करोड़ रुपया ही भारत-सरकार की हुंडियों के खरीदने में लगाया जावे।

(३) कोष की शेष सब रक़म इंग्लैंड की सरकार की ऐसी हुंडियों के खरीदने में लगाई जावे जो कि एक वर्ष के अंदर सिकारी जा सकें;

(४) कंट्रोलर आफ़ करेंसी को यह अधिकार दिया गया है कि वह ऐसी व्यापारी हुंडियों की ज़मानत पर जो तीन महीने के अंदर सिकारी जा सके व्यापार की तेज़ी के समय पाँच करोड़ रुपये के नोट निकाल सकता है।

(५) जब तक पेपर करेंसी रिज़र्व में भारत-सरकार की हुंडिएँ २० करोड़ तक कम नहीं हो जातीं तब तक कोष की हुंडियों में लगाई हुई रक़म की अवधि ८५ करोड़ रुपया रहै।

करेंसी कमेटी की सिफारिशों के साथ उपरोक्त क़ानून का मिलान करने से मालूम होगा कि भारत-सरकार ने उसकी कुछ सिफ़ारशों को मान लिया है और कुछ विषयों में उससे भी अधिक उदारता दिखलाने का प्रयत्न किया है जिससे भारत के करेंसी नोट अब सचमुच में बहुत ही सुरक्षित दशा में हो गये हैं और उनकी आवश्यकता से अधिक परिमाण में निकाले जाने की आशंका बहुत कम हो गई है; परंतु यह भलीभांति समझ में नहीं आता कि इस कोष का बहुतसा भाग विलायती सरकारी हुंडियों के रूप में इंग्लैंड में क्यों रखा जाता है। यदि न्याय-दृष्टि से देखा जाय तो भारत का रुपया भारत की ही कृषि, व्यापार और उद्योग इत्यादि बढ़ाने में लगाया जाना चाहिए। हमारे अर्थ-सचिव मि. हेली ने पेपर-करेंसी बिल पर भाषण देते समय कहा था कि हर समय सरकारी खजानों में भी कई करोड़ रुपयों के नोट रखे रहते हैं। इनके बदले में सरकार को सोना और चाँदी के सिक्के कभी भी नहीं देना पड़ेंगे। इनकी तादाद प्रायः २० करोड़ रहती है। इस-लिए उन्होंने कहा कि पेपर-करेंसी-रिज़र्व में से

२० करोड़ रुपये ऐसे कामों में लगाये जा सकते हैं जिनसे रुपये शीघ्र ही वापिस न मिल सकते हों। इसीलिए उन्होंने यह क़ानून बना देने का अनुरोध किया था कि इस कोष का २० करोड़ रुपया भारत-सरकार की हुंडियों के ख़रीदने में लगाया जावे। उचित तो यह होता कि इन रुपयों का बहुत सा भाग काश्तकारों को तक़ावी के रूप में और देशी उद्योगों को बढ़ाने में उधार दिया जाता। इसके सिवा कोष की शेष रक़म विलायत में वहाँ की हुंडियों के रूप में न रखी जा कर भारत में ही भारत-सरकार की हुंडियों में, ट्रेज़री बिलों में, रखी जाती या उसमें से कुछ रक़म स्टेट बैंक या भारत के अन्य प्रतिष्ठित बैंकों को उधार दी जाती। यहाँ तो भारत में भारत-वासी पूँजी के अभाव से कृषि तथा अन्य उद्योगों को इच्छानुसार बढ़ा नहीं पाते, और वहाँ हमारी सरकार हमारे करोड़ों रुपये विलायत में कम ब्याज पर देती है तथा इंग्लेंड की सरकार की हुंडियों के ख़रीदने में लगाती है। सरकार का यह कहना है कि भारत में नोटों के बदले रुपये देने के लिए कभी कभी विलायत में चाँदी ख़रीदने के लिए रुपयों की ज़रूरत पड़ती है; इसलिए यदि पेपर करेंसी कोष का कुछ भाग इंग्लैंड में जमा रहे तो उससे उन्हें चाँदी ख़रीदने में सुविधा होती है। इस दलील में कुछ सार नहीं है। भारत-सचिव के पास रुपये की कमी प्रायः कभी नहीं रहती। गोल्ड स्टेंडर्ड रिज़र्व का पूरा कोष जो अब ३६ करोड़ रुपयों तक बढ़ गया है इंग्लेंड में ही रहता है और भारत-सरकार के खजाने का कुछ भाग भी वहाँ रहता है; इसलिए मौक़ा पड़ने पर भारत-सचिव इन कोषों के रुपयों से चाँदी आसानी से ख़रीद सकता है। इसलिए कभी अनायास मौक़ा पड़ने पर चाँदी के ख़रीदने के लिए पेपर करेंसी रिज़र्व का इतना बड़ा भाग इंग्लैंड में वहाँ की सरकार की हुंडियों के रूप में सदैव रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। सरकार जितनी जल्दी इस घातक नीति को बदले उतना ही देश का कल्याण होगा।

काग़ज़ी रुपयों के प्रचार से देश को तथा सरकार को नीचे लिखे अनुसार लाभ हैं:—

(१) वे बहुत हलके होने के कारण एक जगह से दूसरी जगह आसानी से ले जाये जा सकते हैं। हज़ारों रुपयों के नोट कोई भी आदमी सरलता से ले जा सकता है। उतनेही रुपयों के सिक्कों को उठाने के लिए शायद कुली की ज़रूरत पड़े।

(२) वे रजिस्टरी और बीमा कराकर एक जगह से दूसरी जगह कम ख़र्चे में भेजे जा सकते हैं। १००) मनीआर्डर द्वारा भेजने में १) ख़र्च लगता है; परंतु यदि १००) का नोट रजिस्टरी और बीमा करके भेजा जावे, तो केवल ।)॥ ही ख़र्च होंगे।

(३) यदि किसी आकस्मिक घटना से वह खो जावे या नष्ट हो जावे तो सबूत देने पर उसका रुपया सरकार से वापिस मिल सकता है।

(४) सरकार को एक बड़ा लाभ यह होता है कि जितने रुपयों के नोट निकाले जाते हैं उतने ही रुपयों के चाँदी और सोने के सिक्कों का प्रचार कम होता है और कोष का जितना भाग सरकार हुंडियों में लगाती है उससे उसे ब्याज

मिलता है। यदि भारत में नोट का प्रचार न होता तो सरकार को १६२ करोड़ रुपयों के सिक्कों का प्रचार और करना पड़ता जिसमें ९३ करोड़ के लिए सोना—चाँदी तो कोष से मिल जाता, पर ६९ करोड़ के लिए विदेश से चाँदी खरीदना पड़ती। इसके सिवा हुंडियों के व्याज से प्रायः ३½ करोड़ रुपयों की जो सालाना आमदनी होती है वह बंद हो जाती। इससे शायद उसे कुछ टेक्स भी बढ़ाना पड़ता।

(५) यदि १६२ करोड़ रुपयों के सिक्के और प्रचलित होते तो उनके घिसने से जो हानि होती वह सरकार को उठाना पड़ती।

इन सब लाभों को जान कर प्रत्येक देशहितैषी का यह कर्तव्य है कि जहाँ तक हो सके वहाँ तक वह कागजी रुपयों का प्रचार बढ़ावे; परन्तु साथ ही सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह व्यापार की आवश्यकता से अधिक परिमाण में उन्हें न निकाले और पेपर—करेंसी—रिज़र्व का कुछ भी भाग इंग्लेंड में वहाँ की सरकार की हुंडियों में न रखकर सब भारत में ही रखे और भारत की कृषि, व्यापार, उद्योग इत्यादि के बढ़ाने में उस धन को लगावे।

हिन्दी में छायावाद।

(४)

(लेखक—पं० मुकुटधर पाण्डेय)

पिछले लेख में पाठक "छायावाद" के गुण-दोषों का संक्षिप्त परिचय पा चुके हैं। हमारी इच्छा है कि कोई सुयोग्य व्यक्ति उसकी स्वतन्त्र और विस्तृत आलोचना प्रकाशित करा के साहित्य-प्रेमियों पर यह स्पष्ट प्रकट कर दे कि उसके प्रचार से हानि-लाभ की कहाँ तक संभावना है। इसके लिए यही उपयुक्त समय है। अभी तक वह हमारे साहित्य-मंदिर की सीढ़ियों पर ही है। भीतर प्रवेश प्राप्त कर लेने पर उसे बाहर निकालने का आयास व्यर्थ होगा। हम में से अनेक ऐसे होंगे जिन्हें उसके सीढ़ियों पर के इस आरोहण-प्रयास का कुछ भी ज्ञान न होगा। पर सूक्ष्मदर्शी व्यक्तियों की दृष्टि में यह बात अवश्य आ गई होगी। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में इन दिनों जो पद्य प्रकाशित होते हैं उनमें से अधिकांश में रूपकों की भरमार रहती है। एक अर्थ प्रकट करते हुए अन्य अर्थ की ओर इशारा करना ही इनका मुख्य काम होता है। हम इसे 'छायावाद' के आगम की पूर्व-सूचना समझते हैं।

यद्यपि हिन्दी में इस रीति के मौलिक—ग्रन्थों का क्षेत्र अभी एकदम शून्य पड़ा है, तथापि कल्पना की चोटी से भावाराधन का 'प्रसाद'—स्वरूप एकाध 'झरना' बह चला है। सम्भव है, शीघ्र ही उसकी निर्जलता दूर होकर वह हरा भरा

हो उठे। हमारे काव्य-सागर में भी भावुकता की हलकी तरंगें उठने लगी हैं। वृद्ध नाविक ने एक ओर से अपनी जीर्ण तरी छोड़ दी है और उसपर से वंशी की क्षीण स्वर-लहरी आती हुई सुन पड़ने लगी है। किन्तु किनारे पर के लोगों का कान उस ओर अभी तक नहीं गया है और वे और और बातों में ही उलझे हुए हैं। वह स्वर-लहरी अपना माया-जाल अवश्य विस्तार कर रही है। लोगों का ध्यान उस ओर बिना आकर्षित हुए नहीं रह सकता। पर ऐसा होने में अभी बहुत विलम्ब है। 'छायावाद' का प्रचार साहित्य की चरम उन्नति पर अवलम्बित है।

साहित्य के क्रम-बद्ध अध्ययन से मालूम होगा कि जिस प्रकार किसी एक कवि की रचना-धारा क्रमशः प्राकृतिक, सांसारिक और आध्यात्मिक भूमि पर से प्रवाहित होती है उसी प्रकार सम्पूर्ण साहित्य के प्रवाह को भी उक्त तीनों स्थितियों में से जाना पड़ता है। अन्तिम स्थिति में उसमें 'छायावाद' आ कर मिलता है। हिन्दी-साहित्य का एक पैर अभी दूसरी स्थिति पर ही जमा हुआ है। अतएव 'छायावाद' के सम्पूर्ण आगमन में स्वभावतया कुछ विलम्ब समझना चाहिए। साहित्य के सञ्चालक समाज की साधारण योग्यता का सदैव ध्यान रखते हैं। हिन्दी में 'छायावाद' के पाठकों की संख्या इस समय कितनी होगी? यदि इस समय उसका साहित्य तैयार भी हो जाय, तो उसके पाठ से कतिपय शिक्षित लोगों के सिवा साधारण लोग बहुत कम आनन्द-लाभ कर सकेंगे, यद्यपि इस प्रकार का साहित्य शिक्षित पाठकों के लिए ही होता है और उनकी संख्या सब कहीं परिमित ही होती है, तथापि हिन्दी में वह अत्यन्त ही परिमित कही जायगी। 'झरना' जैसी "मीस्टिक" रचना का आदर जैसा चाहिए वैसा हिन्दी-जनता में न हो सकने का कारण और क्या हो सकता है? जहाँ हमसे उसकी 'अस्पष्टता' दोष का उल्लेख अनेकों ने किया वहाँ उसके 'रत्न' और 'एकतारा' आदि पद्यों की तारीफ़ सिर्फ़ दो एक के मुख से ही सुनी गई।

जो लोग 'छायावाद' को अनावश्यक और हानिकर समझते हैं उनसे हमारा कहना है कि गुण-दोष-मयी तो यह सृष्टि ही है। यदि प्राचीन प्रणाली हृदय को आनन्दित कर बुद्धि को प्रखर करती है, तो वह भी कुछ उसे उदास और मन्द नहीं बनाती, प्रत्युत् जैसा कि कहा गया है, उसे मन-बुद्धि के परे एक अज्ञात प्रदेश में ले जाती है। यद्यपि यह प्रदेश मेघाच्छन्न होता है, तथापि उस पर विद्युल्लता की अपूर्व छटा होती है। उसके दर्शन से जो आनन्द-बोध होता है वह अनिर्वचनीय है, यह प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। इसके सिवा, 'छायावाद' काव्य-कला का एक अपूर्व निदर्शन है। कवि की लेखनी का चातुर्य और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चमत्कार देखना हो तो छायावाद पढ़िए। हम इस विषय पर आलोचना और सम्मति-प्रदान करने की प्रार्थना पहले कर आए हैं। हमारी व्यक्ति-गत क्षुद्र सम्मति तो यह है कि 'छायावाद' को हिन्दी-साहित्य में अवश्य स्थान मिलना चाहिए। हिन्दी में 'आध्यात्मिक-साहित्य' का एकदम अभाव न होने पर भी वह कदाचित् पर्याप्त नहीं। 'छायावाद' से उसकी अभिवृद्धि अवश्यं-भावी है। दूसरी किसी दृष्टि से नहीं तो केवल इस विचार से ही

उसका प्रचार वाञ्छनीय होना चाहिए कि वह आन्तरिक गूढ़ भावों के प्रकाशन की एक नवीन और विलक्षण रीति है। हम यह नहीं चाहते कि वागर्थ-प्रतिपत्ति की सरल, सुन्दर, प्रासादिक रचना प्रणाली को इससे कुछ हानि पहुँचे। यथार्थ में इस विचार से 'छायावाद' का प्रचार करने वाले कुछ थोड़े गरमदल वालों को छोड़ बहुत कम होंगे। उन्हें यदि साहित्य-शत्रु कहा जाय तो अनुचित न होगा। 'छायावाद' आध्यात्म-जगत् को लेकर खेलने की वस्तु है। जीवन-यात्रा में उसका बहुत कम हाथ रहता है। अतएव केवल उसे ही ले कर जो जीना चाहते हैं वे अवश्य भूलते हैं। वह मुट्ठी भर लोगों की क्रीड़ा-भूमि है। उसमें साधारण जगत् का निर्वाह नहीं। यदि पृथ्वी पर स्वर्ग भी उतर आवे, तो भी ऐसा समय नहीं आयगा कि छोटे से लेकर बड़े तक सब लोग 'छायावाद' से आत्म-तृप्ति लाभ कर सकें। तात्पर्य यह कि प्राचीन प्रणाली को किसी तरह हानि पहुँचाए बिना छाया-वाद के योग से साहित्य को परिपुष्ट करना ही अभीष्ट होना चाहिए। प्रासादिक-रचना के महत्व से विज्ञ पाठक अवश्य सुपरिचित होंगे। अभी उस दिन जब हम श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध पढ़ते पढ़ते रो पड़े थे तब हमने सोचा कि ऐसी सरल, सरस एवं स्वाभाविक रचना का भी तिरस्कार क्या किसी हृदय से संभव है? नहीं कदापि नहीं। तो फिर जैसा कि ऊपर लिखा गया है, 'छायावाद' की आवश्यकता हम इसीलिए समझते हैं कि उससे कवियों को भाव-प्रकाशन का एक नया मार्ग मिलेगा। इस प्रकार के अनेक मार्गों—अनेक रीतियों—का होना ही उन्नत साहित्य का लक्षण है।

हिन्दी के लिए छायावाद का समय दूर है। पर यदि उनके कवि और पाठक कुछ ध्यान दें तो थोड़े ही समय में उसका मार्ग साफ हो सकता है। पाठकों को चाहिए कि वे अपनी रुचि का कुछ संस्कार करें। यह सत्य है कि उन्हें 'छायावाद' का मर्म समझने के लिए श्रम करना पड़ेगा। कदाचित् श्रम करने पर भी शीघ्र सफलता प्राप्त न हो। पर स्मरण रखना चाहिए कि जो चीज़ अनायास मिल जाती है उससे श्रम-प्राप्त वस्तु अधिक स्थायी होती है। जिस वस्तु के प्राप्त करने में जितना अधिक समय लगेगा उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। इस प्रकार छायावाद उन्हें अपनी बुद्धि, कल्पना और अनुमान विस्तार करने के लिए उत्तम क्षेत्र का काम देगा। कवियों को और अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

'छायावाद' की कविता करना, जैसा कि बहुत लोग सोचते हैं, सहज नहीं; प्रत्युत अत्यन्त कठिन है। सब से ऐसी रचना अच्छी बनती भी नहीं। बहुत से लोग इधर उधर से बे-सिर-पैर की बातें लाकर जुटा देने को ही 'छायावाद' की रचना समझते हैं। यह सच है कि बाह्य दृष्टि से उसमें असम्बद्धता पाई जाती है; पर कवि के अन्तर्जगत से जरूर उसका सामञ्जस्य रहता है। अतएव वह पागल का प्रलाप-मात्र नहीं है, वह एक उच्च कला है। उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा और छन्द पर पूर्ण अधिकार के साथ साथ कुछ आध्यात्म-ज्ञान रहना भी आवश्यक है।

'छायावाद' के प्रचारेच्छुक कवियों को चाहिए कि वे अपनी रचना को प्रारम्भ में अत्यन्त जटिल न बना कर पाठकों की योग्यता और रुचि के विचार से कुछ सरल और सम्बद्ध रखने की चेष्टा करें। इस उपाय से ही पाठकों का चित्त उसकी ओर आकर्षित होगा।

(समाप्त)

मनोराज्य।

(लेखक—श्रीयुत "निर्गुण")

(१)

जिसे तुम निर्बल समझते हो वह यथार्थ में निर्बल नहीं है। नव-कुसुमित लता की निर्बल काया को पददलित करने के पहले यह समझ लो कि उसके कोमल कलेवर के अंतर्गत एक भयंकर भुजंग सतर्क बैठा है जिसका एक ही दंश तुम्हारे अभिमान-मर्दन के लिए पर्याप्त होगा। दशानन का दुर्दमनीय दानव-कुल क्यों और किस प्रकार नष्ट हुआ? क्या वानरों की सेना उसके नाश का कारण हुई? क्या वह रामचंद्र के अमोघ शरों का शिकार हो गया? नहीं। फिर वह अशोक वृक्ष के नीचे एक किनारे बैठी हुई विरह-संतप्त-हृदया वैदेही के तप्त निःश्वासों से जल कर भस्म हो गया? निस्संदेह वह उस अबला की उमड़ी हुई अश्रु-धाराओं की बाढ़ में बह गया। क्या तुमने यह नहीं सुना? सभ्य-समाज में बलात् खींच कर लाई गई दुर्बल और अपमानित द्रौपदी का कमनीय केश-कलाप भी दुःशासन के रुधिर का प्यासा सहसा बन बैठा! वीर दुर्योधन को तड़पा तड़पा कर मारने वाली शक्ति किसकी थी? क्या भीम-कर्मा भीमसेन की? नहीं, भूल करते हो। वह विध्वंस-कारिणी शक्ति थी सिसकती हुई द्रौपदी की मर्मस्पर्शी वाणी की। निर्बलों की 'हाय' में वह शक्ति है जो चक्रवर्ती सम्राट् के वैभव और विपुल सेना में नहीं पाई जाती। आधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ उसके सामने सिर झुकाती हैं। इसी से कहते हैं कि निर्बल को भूल कर भी निर्बल न समझना।

(२)

इस सभ्यता को हम दूर से नमस्कार करते हैं। इस आधिभौतिक-वाद के संपर्क से हम अपने जन्म-सिद्ध संस्कारों को कलुषित करना नहीं चाहते। इसने ग्रामोफोन की तान तो बहुत सुनाई; पर मशीन-गनों की गड़गड़ाहट से इसने कान की झिल्ली फोड़ डाली। पुतलीघर और कारखाने खोल कर इसने अपने लिए चारोंओर से पैसा तो बहुतसा इकट्ठा किया; पर पुतलीघरों में काम करने वाले सहस्रों स्त्री-पुरुषों को यंत्रों के रूप में परिणत करके उनका अनमोल मनुष्य-जीवन बिलकुल नष्ट कर डाला। इसने उन्नति-सोपान में लोगों को शायद एक ही सीढ़ी चढ़ाया; पर फ्रांस की खाइयों में खड़ा कर के कीचड़ में लोगों के पैर सड़ा डाले। इसने अंत-र्जातिय व्यवहारों में शाब्दिक प्रेम-परिचय तो खूब दिया; पर इसके साथ ही साथ इसने एक दूसरे पर छुरी चलने की धारणा और भी बल-वती कर दी। इसने शरीर स्वच्छ रखने के लिए पियर सोप तो अवश्य तैयार किया; पर इसके साथ ही साथ "लंदन-रहस्य" हाथ में देकर हृदय की और भी सफाई कर दी। इसने एक ओर यह उपदेश दिया कि कोई तुम्हें यदि एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम दूसरा भी गाल उसकी तरफ़ कर दो; पर दूसरी ओर निरपराध और निस्सहाय बच्चों पर गोली चलाने में इसे ज़रा भी शरम न आई। इसने चिल्ला कर यह कहा कि हमारे बाप के महल में बहुत से कमरे हैं; पर कोशिश यह की कि कोई दूसरा वहाँ रहने ही न पावे। इसने न्याय की दुहाई इतनी दी कि संसार का कोना कोना गूँज उठा, पर गोरों की ठोकरों से काले आदमियों

के मरजाने का सबब हमेशा तिल्ली का फूटना ही बताया। इसीसे हम कहते हैं कि इस सभ्यता को दूर से नमस्कार है।

(३)

अपनी जान और माल की भिक्षा हम केवल ईश्वर से माँगेंगे, मनुष्यों से नहीं। मनुष्यों से हम क्यों माँगें? क्या वे दे सकते हैं? संसार के सामने यह भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करके हम अपना उन्नत मस्तक न झुकावेंगे। हमारे पास क्या नहीं है? हम किससे किस बात में कम हैं? क्या हमारी सभ्यता नहीं है? जिसकी ऐसी धारणा है उससे हम पूछते हैं कि दुर्दान्त कठिनाइयों का सामना करते हुए हम सदियों से किस प्रकार जी रहे हैं? यूनान काल-कवलित हो चुका। रोम मर मिटा। इजिप्शियन सभ्यता की इमारत की एक फूटी ईंट भी नजर नहीं आती। अरब में सिर्फ घोड़े रह गये हैं; पर हम अभी जीते-जागते हैं। जो हमें असभ्य कहते हैं उनसे हमारा कहना है कि जब तुम्हारे पूर्व पुरुष वृक्षों पर बैठकर उसकी टहनियों से पूँछ लिपटाया करते थे तब हम पद्मासन लगाकर इंद्रियों को अंतर्मुख करके अव्यक्त का चिंतन करते थे।

तो फिर हम असभ्य क्यों हैं? क्या हमारा साहित्य नहीं है? तुम्हें यदि यह भ्रम है, तो बुद्धि का उपयोग करने वाले अपने देश-बंधुओं से पूछो। मैक्समूलर से पूछो। शोपनहर से पूछो। महात्मा टालस्टाय से पूछो। डायसन से पूछो। तुम्हारा भ्रम तिरोहित हो जावेगा।

क्या हमारा धर्म नहीं है? हम पूछते हैं कि तुमने अपना धर्म कहाँ से पाया। हमारा धर्म है या नहीं, यह प्रश्न तुम यहाँ पर धर्म-क्षेत्र में काम करने वाले अपने सजातीय पादरियों से पूछो। शिकागो की धर्म-सभा के शूर एक हिन्दू धर्मी सन्यासी ने संसार भर के धर्माभिमानियों के सामने जिस समय हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की उस समय किसने छेड़ा था? कह सकते हो?

फिर हम असभ्य क्यों है? क्या हमारी स्त्रियाँ मूर्ख हैं? तुम मूर्ख किसे कहते हो? क्या उसे जो अपने मनोगत विचारों को संकेत-रूप में कागज अथवा किसी पदार्थ पर प्रगट नहीं कर सकता, या उसी प्रकार दूसरों के प्रगट किये हुए विचारों को नहीं समझ सकता? नहीं, मूर्खता मनोवृत्ति से संबंध रखती है। यदि हमारा यह सिद्धान्त तुम्हें स्वीकार है, तो हम कहेंगे कि हमारी स्त्रियाँ मूर्ख नहीं हैं। चाहे जो समझो; पर हम इतना जरूर कहेंगे जिस समय अहंकार के झोके से बल खाती हुई तुम्हारी स्त्रियाँ पुरुषों के किंचित् असद्व्यवहार से अपने को अपमानित समझकर डायवोर्स कोर्ट में जिरह करती हैं उस समय पतिपरायणा भारत-ललनाएँ दुराचारी स्वामी के अत्याचार से दुखी होकर भी प्रणिपात-पूर्वक यही कहती हैं—"तुम लाख अनीति करो तो करो, हमें नेह को नातो निबाहनो है।"

(४)

सामने का कमरा अच्छी तरह सजा हुआ है। कमरे का मालिक भीतर जाकर शांति-पूर्वक अपने आसन पर बैठ जाता है। उसकी सजावट की ओर वह ध्यान नहीं देता; क्योंकि उसके एक एक कोने से वह अच्छी तरह परिचित है। दीवाल पर लटकती हुई तसवीरों की ओर वह

आँख उठाकर भी नहीं देखता; क्योंकि वह उन्हें कई बार ध्यानपूर्वक देख चुका है।

उसी कमरे में एक अपरिचित मनुष्य बाहर से आता है। भीतर आते ही कमरे की सजावट को देखकर उसका मन कौतूहल-वश चंचल हो उठता है। किसी एक स्थान पर बैठने के पहले वह घूम घूम कर चारों ओर निरीक्षण करता है। वयोवृद्ध लोग भी इस प्रकार की बालोचित चपलता प्रगट करते हुए देखे गये हैं। इसका एकमात्र कारण है परिचय का अभाव।

हमारे चारों ओर का यह नैसर्गिक विस्तार एक सजे हुए कमरे के समान है। जिसने इसकी छानबीन कर ली है वह सृष्टि में शांत होकर बैठ जाता है। वह समझ लेता है कि इस बाह्य जगत् में माथापच्ची करने के योग्य कोई बात नहीं है। वह केवल अंतर्जगत् का आभास-मात्र है। इसलिए वह अपनी इंद्रियों को अंतर्जगत् की ओर फेर लेता है। उसका जीवन अधिकांश में आध्यात्मिक हो जाता है। आधिभौतिक विषयों की चिंता वह केवल शारीरिक आवश्यकताओं के लिए करता है।

यह विशेषता केवल संसार की प्राचीन जातियों में पाई जाती है। यह निस्संदेह जातीय प्रौढ़ता का लक्षण है। कल की उत्पन्न हुई जातियों में आधिभौतिकवाद का बाज़ार बड़ा गर्म है। बाह्य सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ की ओर वे टकटकी लगा कर देखती हैं। कंकड़ और पत्थर चुनने में वे अपनी जान लड़ा देती हैं। वे कभी आसमान में उड़ना चाहती हैं, तो कभी स्वभाव की अवहेलना करके पानी में डुबकी लगाती हैं। काँच सी कच्ची काया को गुड़िया के समान सजाने में वे प्रतिदिन कई घंटे खर्च करती हैं। कपोल के एक काले दाग़ को मिटाने के लिए ज़मीन और आसमान छान डालती हैं। यौवन उनके लिए स्वर्ग-प्रद है, वृद्धावस्था दुर्भाग्य है, मृत्यु सर्वनाश है।

संसार के किसी भी पदार्थ से हमें आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि हमें उसका बहुत परिचय है और इसीलिए जड़वाद का भूत हम पर सवार नहीं है। शरीर को हम किसी प्रकार ढाँक लेते हैं। उसकी शोभा बढ़ाना हम नहीं चाहते। इसीलिए हमारे यहाँ 'ब्यूटी राइटर्स' (beauty writers) नहीं हैं। हमारे यहाँ के किसी भी महापुरुष को देखिए। उसकी कमर में एक लँगोटी मुश्किल से मिलेगी। हमारा वर्तमान जीवन भावी मृत्यु के भय से कंपायमान नहीं है, प्रत्युत मृत्यु हमारे इस जीवन को नवजीवन के उत्साह से उत्साहित करती है। तब इस मत-भेद का निपटारा किस प्रकार हो?

(५)

नेता होने की लालसा किसे नहीं है? पर नेतृत्व का रहस्य कौन समझता है? यदि हम यह कहें कि जिनके नेता होने की अभिलाषा तुम करते हो उनके तुम अनुयायी बन जाओ, तो कुछ लोग हमारे मत्थे नासमझी का दोष मढ़ने को तैयार हो जावेंगे। पर हम वास्तव में सच कहते हैं। जन-समाज एक मानिनी स्त्री से कुछ कम नहीं है। वह उसी पुरुष से अपना पाणि-ग्रहण करेगी जो उसकी मान-रक्षा का वचन उसे पहले दे देगा। यह एक ऐसी बात है जो

मिज़ाज से संबंध रखती है। इसमें तर्क और विवेक के लिए स्थान नहीं। यदि तुम बड़े तर्क-शास्त्री हो तो इस पद की अभिलाषा मत करो।

(६)

जो अपने को बुद्धिमान समझते हैं उनसे हमारा कहना है कि ईश्वर के पास अपना उद्देश पूरा करने के कई उपाय हैं। उनकी तुम्हें कल्पना नहीं हो सकती। परन्तु यदि तुम सचमुच दूरदर्शी हो तो संकेत से समझ सकते हो कि किस प्रसंग में ईश्वर का क्या आशय है और वह किस प्रकार पूरा होगा। कदाचित् इतना समझ लेने के लिए मनुष्य को बहुत बुद्धिमान होने की आवश्यकता है।

तुम अपनी अल्प-विषया बुद्धि से संकल्प-विकल्प करते रहो; तुम्हें इसका अधिकार है; पर निश्चय-पूर्वक कुछ भी कहने या करने के पहले ईश्वरीय कार्य-संपादन—शैली का अनोखापन मत भूल जाओ। यदि तुम अकेले किसी मार्ग का अवलंबन करते हो तो कहा जा सकता है कि वह युक्ति-युक्त है अथवा नहीं। क्योंकि ऐसी दशा में किसी दूसरे की तुलना तुमसे की जा सकती है और वह अच्छा और तुम बुरे ठहराये जा सकते हो। परन्तु यदि सारा मनुष्य-समाज किसी पथ का पथिक हो रहा है तो उसे उचित अथवा अनुचित कहने की गुंजाइश कहाँ है? और, कहेगा भी कौन? इसके सिवा, किसी कार्य का अच्छा या बुरा होना परिस्थिति से संबंध रखता है। जो बात आज अच्छी समझी जाती है वही कल बुरी और निंदित ठहराई जाती है। क्या तुम यह नहीं जानते कि भले और बुरे के झगड़े में पड़कर बुद्धिमानों की बुद्धि कई बार चक्कर खा चुकी है? विवेक के अधिकारी इसपर ध्यान दें।

(७)

बुद्धि और हृदय में बड़ा भारी अंतर है। दोनों के व्यापार भी भिन्न हैं। बुद्धि विचार करती है, लक्ष्य स्थिर करती है, ध्येय-संपादन-शैली निर्धारित करती है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकती। हृदय अपने में विश्वास, श्रद्धा, दृढ़ता, सहानुभूति, आत्माभिमान, जातीयता इत्यादि लोकोत्तर भावों को भरकर बुद्धि के अधूरे काम को पूरा करता है।

इस तरह दोनों के व्यापार भिन्न हैं। परन्तु देखने में आता है कि कई प्रसंगों पर इन दोनों में बड़ा विरोध ठन जाता है। इस विरोध में हम देखते हैं कि एक निश्चित लक्ष्य को पूरा करने के लिए जिस समय हृदय वेगवान होकर अग्रसर होता हुआ कठिनाइयों का तिरस्कार करता है उस समय बुद्धि भावी कठिनाइयों की कल्पना करके घबराती है। ऐसे समय बुद्धि हृदय को विवेक-हीन कहती है और हृदय बुद्धि को कायर और डरपोक होने का दोष देता है। पर बात तो यह है कि हृदय विवेक-हीन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विवेक करना उसका धर्म ही नहीं है। उसी प्रकार बुद्धि कायर नहीं हो सकती।

मनुष्य को योग्य और आदर्श बनने के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। ये दोनों शिक्षा से प्राप्त होती हैं। हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि हमें बुद्धि तो थोड़ी बहुत मिल जाती है; पर हृदय बिलकुल

नहीं मिलता। इसीलिए भारतीय शिक्षित समाज अधिकांश में हृदय-हीन है। यहाँ बुद्धिमान् बहुत हैं; पर सहृदय बहुत कम हैं। इसीलिए हम लोगों में कठिनाइयों की कल्पना करने वाले अधिक हैं। पर कठिनाइयों को तिरस्कार-दृष्टि से देखने वाले कम हैं। हम सभा-मंच पर उपस्थित होकर तर्क-सिद्ध व्याख्यान तो दे सकते हैं; पर उनका आचरण हमसे नहीं हो सकता। यही कारण है कि हम मौलिक ग्रंथ तो लिख सकते हैं; परन्तु आत्म-गौरव का विस्मरण कराने वाली, आत्माभिमान को चूर करने वाली, दास-बुद्धि को उत्तेजना देने वाली एक निरर्थक उपाधि का परित्याग नहीं कर सकते। इसीलिए इस देश में व्याख्यान-वाचस्पति बहुत हैं, पर तिलक अकेले थे, गांधी भी एक ही हैं। जिस समय स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि हृदय हीन विद्वान की अपेक्षा सहृदय मूर्ख मुझे अधिक पसंद है उस समय उन्होंने कहीं हमारी इसी हालत का तो इशारा नहीं किया था? हो सकता है।

(८)

न जाने सृष्टि किस अनिर्वचनीय लक्ष्य की ओर लगातार दौड़ती जा रही है। चराचर सृष्टि किसी अप्रगट अंतर्गत शक्ति के आवेग से आंदोलित हो रही है। अचर चलायमान होने के अविराम प्रयत्न में लगा हुआ है और चर अपनी गति की तीव्रता में विघ्नों की परवाह नहीं करता। उमंग-भरी लता के कोमल कलेवर को आज किसी निष्ठुर शस्त्र से काट दो, कल उसी छिन्न स्थान से चार नव-पल्लवित डंडियाँ निकलकर तुम्हारी आसुरी वृत्ति का केवल उपहास करती हैं। वेगवती सरिता का उत्साह-पूर्ण प्रवाह-क्रम आज तुम्हारी दानवी चेष्टा से किसी प्रकार भले ही रुक जाय; पर निस्संदेह वह कल अपनी सहस्र धाराओं से पृथ्वीतल को प्लावित कर देगी। मनुष्य-हृदय की बढ़ती हुई वांछाओं की बाढ़ आज तुम अपनी दमन-शक्ति के दुरुपयोग से चाहे रोक दो; पर कल वह इतनी प्रबल हो उठेगी कि पृथ्वी और आकाश के मध्यवर्ती सारे दृश्य और अदृश्य शक्तियों को लाचार कर छोड़ेगी। इसीलिए हम कहते हैं कि चर-अचर दोनों वेगवान हैं। चर की गति पर कुछ भी आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो यही है कि अचर भी चलाय-मान है। जिसको ईश्वर ने सर्वतोमुखी दृष्टि दी है वह देखे।

अज्ञानी मनुष्य सृष्टि के इस प्रत्यक्ष उद्देश की अवहेलना करता है। कदाचित् उसे यह दिखाई नहीं देता; क्योंकि उसकी आँखों के सामने स्वार्थ की परदा पड़ा हुआ है। नैसर्गिक प्रगति को रोककर वह पृथ्वी को अपनी केवल दो डगों से ही नाप डालने का दम भरता है। विस्तृत जल-राशि को वह केवल एक ही घड़े में भरना चाहता है। भयंकर जल-प्रपात को वह एक तिनके से रोकना चाहता है। ज्वालामुखी की खौलती हुई जठराग्नि को वह एक बूँद पानी से शांत करना चाहता है। उसकी यह नासमझी निन्दनीय नहीं, आश्चर्य और करुणा के योग्य है।

प्रभुता के अहंकारी मूर्ख मनुष्य! तू भी सृष्टि के अंतर्गत है। उसके उद्देश में विघ्न डाल कर तू भी अपने लक्ष्य से गिर रहा है। इसे तू अच्छी तरह समझ ले।

विधवा-विलाप।

(लेखक—बाबू लक्ष्मणसिंह, बी. ए., एल. एल. बी.)

महाभयानक दृष्य ! क्रूरते,
बता कहाँ तेरी सीमा।
ज़रा चिता को तेज जला दे,
यह प्रकाश तो है धीमा॥
दीख पड़ें तेरी करतूतें
हत्यारी न्यारी न्यारी।
चिन्ता की जीवित आहुतियाँ,
आकृतियाँ प्यारी प्यारी॥
बिखरे बाल, भाल है सूना,
इनको दूना लूटा है।
पहिले जीवन-धन छूटा फिर
लाल हृदय का छूटा है॥
दुर्गतियों की प्रतिमाएँ हैं
पति-हीना दीना सतियाँ।
पास पड़ीं सुख की घड़ियों की
स्मित-विहीन ये हैं स्मृतियाँ॥
हिंद देवता के चरणों की
शरण पड़ीं करुणावलियाँ।
निरानन्द निश्चल नयनों मे
चढ़ा रहीं शोकांजलियाँ॥
"हम जीती जलती जाती हैं,
जीवन हुआ स्मशान हमें।
अब तो सहा नहीं जाता है,
दे मैया, विषदान हमें॥
या अपना तिरशूल हूल दे,
मरने दे मर जाने दे।
शुभ चिह्नों से रहित देह यह
इन गिद्धों को खाने दे॥

विधवाओं की देख दशा तू
मन में कुछ करुणा लाना।
मा, तुझसे है यही प्रार्थना,
अब न पुत्रियाँ उपजाना॥
यदि उपजें तो दूर फेंकना,
उनको दूध पिलाना मत।
भूल प्यार मत करना उनको,
अपनी गोद खिलाना मत॥
फिर भी जीवें तो विवाह का
उनको नाम सिखाना मत।
ब्याह हुआ तो विधवा होंगी,
मा, यह दृष्य दिखाना मत॥"
हिंद देवि, यों तेरी लाखों
ललनाएँ लाचार हुईं।
कहता है संसार "अभागी
हैं, दुनिया को भार हुईं"॥
किसे हाय ! इनकी चिंता है,
डायन हैं मर जावें ये।
कोई नहीं सहारा देता,
भले कलंक लगावें ये॥
चाहे अपने चीत्कारों से
नभ-मंडल दहलावें ये।
चाहे अपनी गर्म आह से
हिन्दू जाति जलावें ये॥
जहाँ एक सीता सावित्री,
दमयंती उद्धार करें।
तहाँ हाय ! लाखों ललनाएँ
विधवा हो बेमौत मरें॥
आँख मूँद हिन्दू-समाज, तू
स्वेच्छाचार सिखा इनको।
या आशा का संदेशा दे,
विजयी मार्ग दिखा इनको॥



विधवा-विलाप।

चित्रकार—
श्री॰ रविशंकर पण्डित

राष्ट्रीय शिक्षा और लाला लाजपतराय ।

(लेखक—पं० गोपाल दामोदर तामस्कर, एम. ए., एल. टी)

आजकल हिन्दुस्थान के लोगों के सामने कई जटिल प्रश्न उपस्थित हैं। उन सबमें राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न विशेष महत्वपूर्ण है। इसके पहले भी यह प्रश्न उपस्थित हो चुका है और उस पर अनेक लोगों ने अनेक तरह के विचार प्रदर्शित किये हैं। हालही में लाला लाजपतराय ने इस विषय की एक पुस्तक प्रकाशित की है। आप जैसे नेता के विचार सब लोगों पर प्रकट होना अत्यंत आवश्यक है। इस लिए उसी पुस्तक के आधार पर आपके राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी विचार यहाँ संक्षेप में दिये जाते हैं। सम्भव है, हम जैसे कई लोग आपके कुछ विचारों से सहमत न हों, तथापि लोकप्रसिद्ध पुरुषों के विचार जानना और उनपर विचार करना आवश्यक है।

(१) पहले अध्याय में केवल विषय-प्रवेश है। दूसरे में बड़े महत्व के प्रश्न अर्थात् राष्ट्रीय आदर्श पर आपने विचार किया है। आप लिखते हैं, "राष्ट्रीय आदर्श क्या होना चाहिए, इसके विषय में स्पष्ट विचार होना आवश्यक है। विचार और कार्य द्वारा उन्नति करके, संसार की उन्नति में अपना हाथ बँटाकर क्या हम सभ्य संसार के अंग बना चाहते हैं, अथवा अपने एकान्तवास में सुखी, अपने ही विचारों में मस्त, एक अलग राष्ट्र और दुनियाँ से कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाले होना चाहते हैं? राजकीय स्वातन्त्र्य, आर्थिक स्वाधीनता, सामाजिक संगठन और धार्मिक स्वातंत्र्य हम सब चाहते हैं: पर यह सब किसलिए? क्या येही हमारे उद्देश हैं अथवा ये और किसी उद्देश के साधन हैं।" हिन्दुस्थानियों की मुक्ति के उद्देश की चर्चा करते आप लिखते हैं, "दुःख से, दरिद्रता से, रोग से, अज्ञान से और इस जीवन में अपने को और अपनी संतति को सब तरह के दासत्व से दूर करना ही वास्तविक मुक्ति है।" आपके मत से भारत का यही आदर्श होना चाहिए। इस जीवन को असार मानना आप ठीक नहीं समझते। इसलिए आप चाहते हैं कि जिस साहित्य से संसार की असारता का उद्देश लोगों के मनों पर प्रतिबिम्बित हो उसे न पढ़ना और न पढ़ाना ही चाहिए। आप कहते हैं, "मुझे तो भारत की यही पहिली आवश्यकता जान पड़ती है कि यहाँ सब से पहिले संसार की असारता की प्रवृत्ति का नाश कर दिया जाय।" इसी बात को आपने बार बार कई प्रकार से दुहराया है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति को प्रचलित करना ठीक नहीं। अब बालकों को लोगों के बीच में ही रहकर अनेक तरह की शिक्षा प्राप्त करना उचित है। आपकी सम्मति है कि लड़के और लड़कियों को साथही शिक्षा देना अच्छा है। आप लिखते हैं, "उन्हें एकत्र रखने की अपेक्षा अलग रखने से हो अधिक बुराइयाँ होती हैं। हमें नीति और औचित्य की अपनी कल्पना को अब बदलना चाहिए—हमें उचित है कि शंका और अविश्वास को दूर करदें।" शिक्षण-क्रम के विषय में आपने कोई विशेष विचार प्रकट नहीं किये, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि आज कल की शिक्षा-विधि जिसमें स्वाभाविकता की मात्रा अधिक होती है आपको पसंद है। संस्कृत साहित्य और भाषा की निरुपयोगिता को प्रस्थापित करने का आपने प्रयत्न किया है और प्राचीन इतिहास पर भी आपने कुछ विचार प्रकट किये हैं।

(२) दूसरे और तीसरे अध्याय में इसी विषय के कुछ अंगों का विवेचन है। उन्नति का विवेचन करते हुए आपने लिखा है, "स्वाधीनता की वृद्धि ही उन्नति की असली कसौटी है। अपने ही प्रयत्न से परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने को स्वाधीनता कहते हैं। ......इसलिए योग्य शिक्षा का प्रथम ध्येय यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति यह जान लेवे कि स्वाधीनता की वृद्धि ही सच्ची उन्नति है। प्रत्येक मनुष्य अपने

भाग्य का स्वामी है । हमारी शक्ति के परे न दैव है और न कर्म ।”

दूसरे अध्याय में इस विषय पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है कि भारत का इतिहास पढ़ना चाहिए या नहीं । इस विषय में दो प्रश्न आपके सामने हैं । एक तो यह कि कुछ लोग भारत के इतिहास में सब तरह की उन्नति ढूंढ़ निकालने का यत्न करते हैं । इनका मत है कि वर्तमान समय की ऐसी कोई भी समस्या नहीं जो उसमें न पाई जाती हो । दूसरे वे हैं जो भारत के इतिहास को केवल राजा-महाराजाओं की कहानी मात्र बतलाते हैं और कहते हैं कि भारत का इतिहास पढ़ने से कोई लाभ नहीं । उसमें सभी जगह बतलाया है कि भारत के भाग्य में सदैव गुलामी ही बदी है । इन दोनों प्रवृत्तियों को रोकने के लिए आपने उपदेश दिया है । यदि हम सब कुछ ’ हैं और रहे हैं, तो हमें किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । इस से हमारी उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है । यदि हम यह मानते हैं कि हम ‘कुछ भी नहीं’ थे, तो यह निष्पत्ति निकलती है कि हम कुछ नहीं सीख सकते । हमारी उन्नति होने की संभावना नहीं । फिर यह आत्म-विश्वास पैदा भी न हो सकेगा कि हम उन्नति कर सकेंगे । आत्म-विश्वास बड़ा भारी नैतिक बल है । यदि वह जाता रहा तो उन्नति करने की शक्ति भी जाती रही । इन दो कठिनाइयों के बीच से भारत के इतिहास के लेखकों और शिक्षकों को अपना रास्ता कुशलता पूर्वक तय करना चाहिए । आनंद की बात है कि पहले अध्याय में भारत के इतिहास के अध्ययन का जो थोड़ा बहुत खंडन किया गया है उसका इस अध्याय में उचित रीति से मण्डन कर दिया गया है । धर्मशास्त्रों के पढ़ाने से आप कोई लाभ नहीं मानते । संस्कृत के विषय में आपके विचार हम दिखा ही चुके हैं । इस अध्याय के अन्त में आप कहते हैं, “मेरी सम्मति में यूरोपीय भाषाओं का, यूरोपीय साहित्यों का और यूरोपीय विज्ञानों का अभ्यास और ज्ञान न बढ़ने देना निरी मूर्खता और पागलपन होगा ।......अभी तक हम 2

उनसे दूर रहे । अब हमें इतना ज़ोर लगाना चाहिए कि प्रत्येक भारतीय एक यूरोपीय भाषा से अवश्य अभिज्ञ रहे । उसके पास काफ़ी औज़ार रहें और वह यूरोपीय यंत्रों को सरलता से चला सके ।”

(३) पाँचवे अध्याय में इंग्लैण्ड के शिक्षा-मंत्री मि· फ़िशर के विचार बतलाए गये हैं । छठवें में राष्ट्रीय शिक्षा के लिए देश की सरकार को क्या करना चाहिए यह बतलाया है । सबसे पहले आप कहते हैं, “राष्ट्रीय संरक्षण के लिए सेना और तत्संबंधी संगठन की जितनी आवश्यकता है उतनी ही राष्ट्रीय शिक्षा की भी है । यदि राष्ट्र की सम्पत्ति लाभ की दृष्टि से इस कार्य में लगा दी जाय तो वह बहुत सुरक्षित रहेगी । ऐसा करने से राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा राष्ट्र का बीमा हो जाता है । इसलिए अब यह पुरानी कल्पना न रहेगी कि सरकार केवल प्राथमिक शिक्षा के लिए जवाबदार है ।” धंधे, रोज़गार, उद्योग का शिक्षा देना भी अब देश की सरकार का कर्तव्य है । इसके सिवा उच्च शिक्षा देना उसका कर्तव्य है ही । तीसरी बात जो आपने बतलाई है वह यह है कि लिखना, पढ़ना और हिसाब सीख जाने में ही सारी शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती । बालक के स्वास्थ्य की ख़बरदारी लेना भी उसका कर्तव्य है । सारांश यह, “सरकार का यह कर्तव्य है कि वह बालक का पोषण करे और उसे ऐसी उत्तम शिक्षा दे जिसमें वह अच्छा नागरिक बने । यह भार अब माता पिता की मर्ज़ी पर नहीं छोड़ दिया जा सकता ।” इसका यह अर्थ नहीं कि मातापिता या समाज इस ओर प्रयत्न ही न करे । राष्ट्रीय शिक्षा के लिए लोगों के प्रयत्न होते ही रहें । पर मुख्य काम सरकार करे । राष्ट्र की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं को बतलाते हुए आपने लिखा है कि सब से प्रथम अधिक शालाएँ और अधिक शिक्षक चाहिए । दूसरे, शालाएँ अच्छी हों और शिक्षक अच्छे और संतुष्ट रहें । तीसरे, उद्योग धंधे रोज़गार सिखाने वाली शालाएँ हों । चौथे, कलाविषयक शिक्षा का भी प्रबन्ध रहे । पाँचवे, अकालपीड़ित

(continuation) शालाएँ हों; और, छठवें अधिक हाई स्कूल और अधिक विश्वविद्यालयों की स्थापना हो।"

[४] सातवें और आठवें अध्याय में आपने स्वदेश-प्रेम आदि की शिक्षा पर विचार किया है। आप कहते हैं, "स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता का प्रत्यक्ष शिक्षा न रही तो राष्ट्रीय शिक्षा की योजना कभी परिपूर्ण न होगी। राष्ट्रीय आकांक्षाएँ और आदर्श, शालाओं में जितने स्पष्ट दीख पड़ते हैं उतने अन्य किसी संस्थाओं में नहीं।" परन्तु यह बात जीते-जागते देशों के विषय में ही चरितार्थ होती है। फ्रान्स का उदाहरण देते हुए आपने एक लेखक के वाक्य उद्धृत किये हैं- 'शालाओं में स्वदेश-प्रेम की प्रत्यक्ष शिक्षा दी जाती है और उसमें ये बातें अवश्य सम्मिलित रहती हैं [१] फ्रान्स देश के प्रति प्रेम; [२] योद्धा की स्फूर्ति और सेना में अनिर्बाध्य सेवा; [३] शारीरिक साहस बढ़ाने की आवश्यकता; [४] सेना के प्रबन्ध के लिए कर देने की आवश्यकता मालूम होना; [५] राष्ट्र की रक्षा के प्रबन्ध का उन्हें ज्ञान कराना; [६] वृद्धिशाली शक्ति के राष्ट्रों के पास रहने से और देश में जन संख्या कम होने से राष्ट्र को क्या हानियाँ हैं।" यदि कोई प्रश्न करे कि क्या सिखलाने से भी कहीं स्वदेश-प्रेम पैदा हो सकता है, तो इसपर आप उत्तर देते हैं 'हाँ, अवश्य हो सकता है। इस विषय के लिए यह करना चाहिए कि ग्राम, शहर, नगर अथवा प्रान्त के प्रेम से भिन्न ऐसा स्वदेशप्रेम—सारे भारत का प्रेम—एक मुख्य विषय रहे।" विश्व-बन्धुत्व की कल्पना पर टीका करते हुए आप कहते हैं कि यह पूर्ण स्वार्थी और विषय-विलासी आलसियों का ढकोसला है। वास्तविक विश्व-प्रेम और स्वदेश-प्रेम में कोई विरोध नहीं है। स्वदेश-प्रेमी हुए बिना बहुत कम लोग इस जगत् में विश्व-प्रेमी हो सके हैं। ... प्राथमिक शालाओं की पुस्तकों में ऐसे पाठ रहें जिससे भारतवर्ष का, उसकी नदियों और पर्वतों, रमणीक स्थलों तथा दृश्यों, भाषा और भाव का, प्रेम पैदा हो।" इतिहास के द्वारा इसकी अच्छी वृद्धि हो सकती है। सरकार और लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध भी दिखलाना आवश्यक है। इस विषय को अच्छी तरह समझाने के लिए शिक्षकों को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

[५] नवें अध्याय में शिक्षा के एक महत्त्वपूर्ण अंग यानी शारीरिक शिक्षा पर विचार किया है। आप कहते हैं, "राष्ट्र के बालक ही उसकी मुख्य सम्पत्ति हैं। यह कार्य सरकार का ही है। सरकार की योग्यता दो बातों से प्रकट हो सकती है [१] लोगों की मृत्यु-संख्या से और [२] लोगों का शिक्षा के प्रबन्ध से। किसीका शरीर रोगी रहे या नीरोगी यह उस व्यक्ति पर नहीं छोड़ दिया जा सकता। यह बात सारे समाज से सम्बन्ध रखती है और यही बात मानसिक विकास के विषय में लागू होती है। किसी व्यक्ति के शरीर और मन के विकास का उससे जितना सम्बन्ध है उतना ही उसके राष्ट्र से है। इसलिए शरीर की रक्षा और विकास के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं उन सबका प्रबन्ध होना चाहिए। शरीर और मन की जाँच तथा शाला और घर पर बालक के उपयोग की चीज़ें आरोग्य-वर्धक रहनी चाहिए। बालकों को आरोग्य-विषयक प्रश्नों का ज्ञान कराया जाय, और उनके पास खेलने-कूदने और व्यायाम करने की सामग्री हो।"

(६) दसवें अध्याय में आपने सार्वदेशीय योजना की चर्चा की है। सार्वदेशीय भाषा की आवश्यकता बतलाकर आपने हिन्दुस्थानी भाषा* को इसके लिए उचित समझा है। उसे हिन्दू और मुसलमान अपनी अपनी लिपि में सीखें। पाठ्य विषयों में ये रहना चाहिए (१) लिखना, पढ़ना और हिसाब, (२) स्वदेश-प्रेम, (३) स्वास्थ्य-रक्षा, (४) चित्रकारी, (५) हिन्दुस्थान का भूगोल, (६) दुनियाँ का संक्षिप्त भूगोल, (७) हिन्दुस्थान का इतिहास (इसमें स्थानीय और प्रान्तीय इतिहास और भूगोल सम्मिलित रहे), (८) राज्य-शासन, नागरिक के अधिकार और कर्तव्य, और (९) प्रतिमानिर्माण (Modelling)। यथासंभव सारे देश में एकसी

* हिन्दुस्थानी से कदाचित् लाला जी का अभिप्राय उस भाषा से है जिसे हम लोग हिन्दी कहते हैं।

पाठ्य पुस्तकें भिन्न भिन्न भाषाओं में सिखलाई जायँ। पुस्तकों को प्रकाशित करने का काम सरकार स्वयं करे। प्रान्त के अनुसार उनमें थोड़े बहुत प्रान्तीय विषय भी रखना अनुचित न होगा। परन्तु बहुतसी भाषाएँ होना अनुचित है। जिन भाषाओं को अधिक जन-समाज बोलता हो उन्हें ही पुस्तकों में स्थान देना चाहिए। संस्कृत के विषय में आपके विचार पहले ही लिखे जा चुके हैं। प्राथमिक क्रम के द्वितीय कालभाग में आधुनिक विज्ञान सिखलाना चाहिए। इस समय दो तरह के पाठ्यक्रम होना आवश्यक है। एक तो उनके लिए जो अपने जीवन के कार्यों में शीघ्र लग जाना चाहते हैं और दूसरा उनके लिए जो उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं। अंग्रेज़ी दोनों समय अवश्य सिखलाई जाय, परन्तु वह केवल भाषा के समान। वह शिक्षा का माध्यम न रहे।

(७) ग्यारहवें अध्याय में आपने धंधों की शिक्षा पर लिखा है। आप लिखते हैं, "भारत के लोग ग़रीब, बिलकुल ग़रीब हैं।..........इसका सब को ज्ञान है और बड़े बड़े विदेशीय कर्मचारी भी इस बात को मानते हैं। साथही, हिन्दुस्थान की भूमि बड़ी उर्वरा है। उससे सब तरह की वस्तुएँ पैदा होती हैं।" फिर आपने पहले की सुदशा का वर्णन किया है—"धंधों की शिक्षा संकुचित न होनी चाहिए। किसी एक धंधे से अन्य-धंधों का सम्बन्ध है—यह भी जानना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति वही धंधा करे जिसके वह योग्य हो। यह सत्य है कि धंधे की शिक्षा धंधा करने से ही मिल सकती है, तौभी ऐसा करने से व्यक्ति की दृष्टि संकुचित हो जाती है। इसलिए धंधा करने की तैयारी पहिले पहिल अप्रत्यक्ष हो, प्रत्यक्ष नहीं। उस समय विद्यार्थी की जिन कार्यों में अभिरुचि रहे, वे ही काम वह करे। ....इसी तरह से किसी के मन का झुकाव जाना जा सकता है।" इस बात पर विशेष ध्यान रखा जाय कि उन धंधों से सम्बन्ध रखनेवाली जो जो नई बातें आविष्कृत हों वे शिक्षा से न छूटने पावें।

(८) बारहवें अध्याय में "शिक्षा के आर्थिक मूल्य" पर विचार किया गया है। "हिन्दुस्थानी लोग शरीर और बुद्धि में सबसे बढ़े-चढ़े रहने पर भी दूसरों से कम क्यों कमाते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में आपने शिक्षा का अभाव बतलाया है। "राष्ट्रीय शिक्षा की पद्धति उचित रही तो पहिली बात उससे यह होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अधिकाधिक अच्छा होता जाय और इस कार्य में वह दूसरों की भी सहायता करे। जीवन-यापन अच्छा होने के लिए भोजन, वस्त्र, घर, समाज, मनोरंजन-सामग्री आदि सभी अच्छे होना चाहिए तथा उच्च आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट साधन होना चाहिए। जो राष्ट्र अपने व्यक्तियों को अच्छे जीवन-यापन का मौक़ा नहीं देता, वह जगत को भारवत् है। जो राष्ट्र भारतीय जैसे इकतीस कोटि पचास लाख लोगों के रहते भारत जैसे समृद्ध देश में आधी जनसंख्या की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर सकता, उसे देखकर तो देवताओं के भी नेत्रों से आँसू टपक पड़ते होंगे। हिन्दुस्थानी लोगों की आश्चर्य-कारक दरिद्रता बिलकुल सत्य बात है, और इसका कारण शिक्षा का अभाव है। इसलिए, भारत की सार्वदेशीय शिक्षा का प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए कि उससे यहाँ के लोगों की अर्थोत्पादक शक्ति बढ़े। शिक्षा राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता है। राष्ट्रीय आय का पहिला स्रोत इसी मार्ग में होना चाहिए।" इसके बाद आपने अन्य ग्रंथों के आधार पर दुनियाँ के अन्य राष्ट्रों के लोगों की उत्पादक शक्ति का औसत दिया है। सबसे अधिक शक्ति इंग्लैंड के लोगों की है। वहाँ प्रत्येक आदमी औसतन प्रतिमास तीन पौण्ड कमाता है। फिर आपने पढ़े-लिखे लोगों की अर्थोत्पादक शक्ति बतलायी है और यह दिखलाया है कि साधारणतः पढ़े लिखे लोग अपढ़ लोगों से बहुत अधिक कमाते हैं। इसके दो चार अपवाद भले ही हों, पर साधारण नियम यही है। इसी तरह यह भी दिखलाया है कि जहाँ की शिक्षा जितनी अधिक और अच्छी है, उतनी ही अधिक उस राष्ट्र की सम्पत्ति है।

(९) अन्तिम अध्याय में "शिक्षा की सहकारी पद्धति" बतलाई गई है। शिक्षा-विषयक संस्थाओं का प्रत्यक्ष जीवन से सम्बन्ध होना चाहिए। सांसारिक जीवन और इन संस्थाओं का अन्तर जितना कम किया जाय उतना ही भला होगा। तत्व और व्यवहार का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है। प्रत्येक को किसी न किसी उद्योग में लगना पड़ता है। मालिक की दृष्टि से यह आवश्यक है कि काम करने वाला जितना अधिक योग्य हो उतनाही अच्छा है। उसे अपने काम में रुचि होनी चाहिए। शाला और विद्यार्थी की दृष्टि से आवश्यक है कि तत्व का व्यवहार में यथासम्भव उपयोग किया जाय। इसलिए उद्योग-धंधों के कारखानों, दूकानों और कार्यालयों में विद्यार्थियों को नित्य थोड़ी व्यावहारिक शिक्षा मिले। ऐसा करने से तत्व और व्यवहार में बहुत अन्तर न रहेगा। अमेरिका के संयुक्तराज्य में इसके लिए किस तरह प्रबंध किया है यह आपने संक्षेप में दर्शाया है। इससे प्रकट होता है कि कम से कम बड़े बड़े नगरों में तत्व और व्यवहार में, शाला और उद्योग धंधों के कारखानों में, दूकानों और कार्यालयों में सहकारिता हो सकती है। विद्यार्थियों को अपने धंधों के बहुत कुछ प्रत्यक्ष अनुभव मिल सकते हैं। यह सब जानते ही हैं कि इस बात की हिन्दुस्थान में बड़ी भारी कमी है।

(१०) इस प्रकार यह पुस्तक तेरह भागों में विभाजित है। पुस्तक में पद्धति की, स्पष्ट विचार की, तथा विचार-संगति की कमी कुछ लोगों को भले ही दीखे; पर साधारण लोगों के लिए इसमें बहुत कुछ सामग्री है। स्थानाभाव के कारण हमने बहुत संक्षेप में उक्त लेखक के विचार दिये हैं। यदि कहीं ऐसा करते समय हमसे भूल हो गई हो तो लेखक महाशय से हम क्षमा चाहते हैं। सारांश देते समय सत्य-विपर्यास का बड़ा डर रहता है। इसीलिए यथासंभव हमने पुस्तक के ही भाव ज्यों के त्यों दिये हैं।

दस रुपये की गिनी।

(लेखक—अध्यापक प्राणनाथ, विद्यालंकार)

रिवर्स काउन्सिल्स की बिक्री के सदृश ही दस रुपये की गिनी नियत करने में भारतीय व्यवसायियों, व्यापारियों तथा उत्पादकों को हानि है और अंग्रेज़ पूँजीपति तथा नौकरों को बहुत ही अधिक लाभ है। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक मामलों में प्रायः सारी जनता दो दलों में विभक्त हो जाती है। जिस बात से एक को लाभ होता है उसीसे दूसरे को नुकसान होता है। हिन्दू मुसलमानों के झगड़े में सरकार अपनी जो नीति रखती थी उसी नीति से वह आर्थिक मामलों में काम करती है। इस बात को समझने के लिए दृष्टांत-स्वरूप कपड़े के खरीददारों तथा बेचने वालों को ही लीजिए। खरीददारों को कपड़े के सस्ते होने में और बेचने वालों को कपड़े के मँहगे होने में लाभ है। यही बात संपूर्ण पदार्थों के खरीदने तथा बेचने में है। खरीदने तथा बेचने वालों का स्वार्थ प्रायः एक दूसरे से प्रतिकूल रहता है। यही बात विदेशीय व्यापारियों तथा स्वदेशीय व्यवसायियों में होती है। देश से कच्चा माल बाहर भेजने वाले, देश में विदेशीय माल मँगानेवाले तथा स्वदेशीय व्यवसायों से स्वदेशीय माल को तैय्यार करने वालों का स्वार्थ प्रायः एक दूसरे से नहीं मिलता। स्वदेशीय व्यवसायों तथा कारखाने वालों का हित इसीमें है कि विदेशीय कपड़ा भारत में इतना अधिक मँहगा बिके कि लोग उसको न खरीदें और उनका स्वदेशीय सस्ता माल खरीदें। बहुत से देश तो इसी उद्देश्य से बाधक सामुद्रिक कर तक का प्रयोग करते हैं। परन्तु कपड़ा पहिनने वाले सदैव कपड़ा सस्ता ढूँढते हैं। स्वतन्त्र व्यापार की नीति में अन्य यूरोपीय राष्ट्रों को फँसाने के लिए इंग्लैण्ड ने अपने आप को इन्हीं उपयोग करने वालों का हितैषी प्रगट किया था; परन्तु वे जाल में न फँसे। उन्होंने

अपना उद्देश्य उत्पादक शक्ति को प्राप्त करना ही रखा और स्वदेशीय व्यवसाय तथा व्यापार को उन्नत करने के साथ साथ कृषि की भी उपेक्षा नहीं की। भारतवर्ष में भी भारतसरकार ने नये नये ढंग के जाल बिछाये और भारतीयों के दिल में जमा दिया कि उनका देश कृषि-प्रधान है। वह तो व्यवसाय-प्रधान हो ही नहीं सकता। अब लोग सरकार की सब चालों को समझने लगे हैं। सारांश यह है कि स्वदेशीय व्यवसायी, व्यापारी तथा उपभोग करने वालों का स्वार्थ प्रायः एक दूसरे से भिन्न होता है। सरकार की नीति से किसी न किसी को हानि तथा किसी न किसी को लाभ होता ही रहता है। अतः देश के अन्तिम हित को सामने रखकर ही सरकार की नीति की परीक्षा करनी चाहिए। सरकार ऐसी नीति को काम में ला सकती है जिससे भारत में विदेशीय-माल सस्ता हो जाय और अन्न भी बहुत मँहगा न हो; परन्तु भारत के व्यापारी व्यवसायी चौपट हो जायँगे और भारत उत्तमर्ण से भिखमंगा देश बन जायगा। दस रुपये की गिनी करने में यही बात होती है। इससे भारत के कारीगरों, पूँजीपतियों तथा कारखाने के मालिकों को भयंकर क्षति है। उपभोग करने वाली जनता को क्षणिक लाभ अवश्य ही है; परन्तु इसमें उसकी सारी उन्नति पानी में मिल जायगी। यह निःसन्दिग्ध बात है। क्या भारत-सरकार को जनता का ख्याल है और उसने वर्तमान मुद्रा की नीति का इसीलिए अवलम्बन किया है? इसपर हम किसी अन्य लेख में प्रकाश डालेंगे। यहाँ पर हमको जो कुछ कहना है वह यही है कि दस रुपये की गिनी नियत करने में आर्थिक नियमों के अनुसार भारत में कुछ लोगों को लाभ होगा, पर अधिकांश लोगों को भयंकर हानि होगी। दोनों दलों के लाभालाभ इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं:—

१—लाभ उठानेवाला दल—

(१) अंग्रेज़ नौकर

(२) अंग्रेज़ पूँजीपति

(३) इंग्लैण्ड के कारखाने-वाले

(४) पदार्थों का प्रयोग करने वाली न कि उत्पन्न करने वाली भारतीय जनता।

२—हानि उठानेवाला दल—

(५) खेतीका काम करनेवाले कृषक लोग

(६) कच्चा माल भेजने वाले भारतीय व्यापारी

(७) कारखानों के मालिक तथा मेहनती मज़दूर लोग

(८) नयी मिलों के खोलने वाले।

१—लाभ उठाने वाला दल—

(१) अंग्रेज़ नौकर:—दस रुपये की गिनी करने में वायसराय से लेकर छोटे से छोटे अंग्रेज़ का मासिक वेतन विनिमय की दर के कारण ड्योढ़ा हो जायगा। १,००० रुपया मासिक वेतन वाले अंग्रेज़ को अब १०० गिनी (अर्थात १५ रु० =गिनी) के स्थान पर १५०) ([illegible] =१५०) गिनी मिलेगी। स्पष्ट ही है कि भारत के अंग्रेज़ यही चाहेंगे कि दस रु० की गिनी हो जाय।

(२) अंग्रेज़ पूँजीपति:—अंग्रेज़ नौकरों के सदृश ही भारत के पूँजीपतियों का भी हित दस रुपये की गिनी में है। लड़ाई के दिनों में जो धन उन्होंने कमाया, उस धन को वे अब बड़ी आसानी के साथ इंग्लैण्ड भेज सकते हैं। दस रुपये की गिनी करने से अब गिनी में उनकी आमदनी ड्योढ़ी हो जायगी। यदि वे अपना धन इंग्लैण्ड की कम्पनियों में लगावेंगे तो उन्हें उसमें ५० फ़ी सैकड़ा धन अधिक मिलेगा। यह एक साधारण बात है कि भारत के व्यावसायिक कामों में अब वे अपना धन न लगावेंगे। इससे नुक़सान एक तो भारत के मेहनती मज़दूरों को है और दूसरे भारत के पूँजीपतियों को। भारत में जो अंग्रेज़ी कारखाने खुलते हैं उनके हिस्सों को प्राय

भारतीय पूँजीपति भी खरीद लेते हैं। यह अवसर अब उनको न मिलेगा।

(३) इंग्लैण्ड के कारखाने वाले:—इंग्लैण्ड के मेन्चेस्टर, पैस्ले तथा अन्य व्यावसायिक ज़िलों का लाभ इसीमें है कि दस रुपये की गिनी हो जाय। क्योंकि इससे उनका माल अनायास ही भारत के अन्दर सस्ता बिकेगा। जो कपड़ा वे एक गिनी का भेजेंगे-अब वह १५) रुपये के स्थान पर दस ही रुपये को बिकेगा। इससे उनके पदार्थों की माँग बढ़ेगी। भारतवर्ष के कारखाने उनका मुकाबला न कर सकेंगे। क्योंकि विदेशियों की चीज़ें अनायास ही ३३ फ़ी सैकड़ा सस्ती हो जायँगी। दस रुपये की गिनी कर देने से एक प्रकार से भारतसरकार ने उनको ३३ रुपये फ़ी सैकड़े सहायता पहुँचायी। इससे बढ़कर भारतीय कारखानेवालों के साथ और क्या अन्याय हो सकता है?

(४) भारतीय जनता:—भारतीय जनता को यह लाभ है कि उसको विदेशीय कारखानों का माल ३३ फ़ी सैकड़ा सस्ता मिल सकेगा और अन्न के बाहर जाने में रोक होने से अन्न भी बहुत मँहगा न हो सकेगा। यूरोप में भोज्य पदार्थ बहुत मँहगे हैं। दृष्टान्तस्वरूप भिन्न भिन्न देशों के भोज्य पदार्थ की कीमतों का लेखा इस प्रकार है। इसमें आधार वर्ष १९१३ रखा गया है—

देश		लेखा	मास १९१९
फ्रान्स	...	३३०·०	जून ,,
इटली	...	३२९·४	अप्रेल ,,
जापान	...	२१४·०	मई ,,
स्वीडन	...	३३९·०	अप्रेल ,,
इंग्लैण्ड	...	२५७·२	अगस्त ,,
अमेरिका	...	२०६·०	मई ,,

दस रुपये की गिनी हो जाने से एक रुपया स्वर्ण में २ शिलिंग और स्टर्लिंग में २ शि. ६ पन्स के बराबर होता है। १९१३ में १०० पाउन्ड का जो माल था उसका दस रुपये की गिनी होने से आजकल ८००) रुपया दाम हुआ। परन्तु यदि १५ रुपये की गिनी हो तो इसी का दाम १५००) हुआ। इस प्रकार दस रुपये की गिनी होने से भारत का कच्चा माल विदेश में भेजने वालों को १५००)−८००)=७००) रुपयों का प्रति १०० गिनी पीछे नुक़सान हुआ। यह तो मोटा हिसाब है। यदि माल भेजने आदि का खर्च भी बीच में जोड़ लिया जाय, तोभी ५५७) रुपये से अधिक ही नुक़सान बैठता है। स्वाभाविक बात है कि भारत का कच्चा माल विदेश में कम जायगा और इसीलिए उपरिलिखित देशों के सदृश ही भारत में भोज्य तथा प्रयोज्य पदार्थों की कीमतें न चढ़ेंगी। भारतीय जनता को, जोकि पदार्थों को उत्पन्न न कर प्रयोग ही करती है इससे विशेष लाभ है। भारत में ७० प्रति शतक लोग कृषि के कार्यों में लगे हैं। कृषिजन्य पदार्थों के सस्ते होने से उनके व्यवसाय में लाभ न रहेगा। अन्य लोग जो कि व्यावसायिक पदार्थों को बनाते हैं उनको भी इससे विशेष लाभ नहीं है। इस प्रकार लाभ केवल उन्हीं को है जो सरकार की नौकरी करते हैं या अन्य वैयक्तिक कामधन्धों में नौकरी कर निर्वाह करते हैं। अधिकांश जनता को वास्तव में इस रेट से नुक़सान ही है।

२—हानि उठाने वाला दल।

(५) खेती का काम करनेवाले कृषक लोग—लड़ाई के दिनों में अनाज के मँहगे होने से पंजाब के ज़मींदारों ने बहुत अधिक धन कमाया। अनाज का मँहगा होना कुछ भी अच्छा नहीं है। परन्तु भारतसरकार ने इस प्रकार का जाल बिछाया है कि बिना मँहगी के कृषकों को कुछ भी सहारा नहीं है। बंगाल में स्थिर लगान नियत करते समय सरकार ने ९० फ़ी सदी उत्पत्ति मालगुज़ारी में लेली थी। यदि मँहगी न होती तो बंगाली ज़मींदार कभी के बरबाद हो जाते। दुःख का विषय तो यह है कि सरकार मँहगी को स्थिर समझकर रेल का किराया, राज्यकर तथा मालगुज़ारी बढ़ाती जाती है। इस दशा में किसान लोगों के लिए सस्तापन

कैसे हितकर हो सकता है। मँहगी को देखकर ही उन्होंने रद्दी से रद्दी ज़मीनों को जोत डाला है और जो चीज़ें अधिक मँहगी थीं उन्हीं को बोया है। क्या अब, वे सहसा ही उन पदार्थों के दामों का गिरना पसन्द कर सकते हैं? इतना ही नहीं, इसी मँहगी को आधार बना कर सरकार ने अपने कर्मचारियों की तनख़्वाहें ड्योढ़ी कर दी हैं। क्या सरकार सस्ती करके राज्यकर, रेल का किराया, चुंगी तथा मालगुज़ारी घटाने को तैयार है? यदि नहीं तो सस्ता होना कुछ कम कठिन नहीं और किसानों के लिए हितकर भी नहीं। तालुकेदारों तथा ज़मींदारों ने भी आसामियों से ज्यादा लेना शुरू किया है। अनाज के सस्ते होने का तात्पर्य यह है कि आसामी किसान भयंकर विपत्ति को सहें और मालगुज़ारी आदि के मामलों में झगड़े करना शुरू करें।

(६) कच्चा माल भेजने वाले भारतीय व्यापारीः—यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि दस रुपये की गिनी होने से विदेश में कच्चा माल भेजना लाभ-प्रद व्यवसाय न रहेगा। विदेश में कच्चा माल भेजने वाले व्यापारियों का कारोबार बन्द हो जायगा। भारत को यह काफ़ी नुक़सान है। क्योंकि इन्हीं व्यापारियों के द्वारा ही भारत को विदेशियों का धन मिलता है।

(७) कारख़ानों के मालिक तथा मेहनती मज़दूर लोगः—लड़ाई बन्द होने के बाद भारतीय मज़दूरों तथा मेहनतियों ने अपना वेतन बढ़वा लिया है। कारख़ानेवालों को यह विशेष रूप से खला नहीं। क्योंकि विदेशीय चीज़ों के मँहगे होने से उनके कारख़ाने आमदनी पर चल रहे थे। दस रुपये की गिनी होते ही विदेशियों की चीज़ें ३३ फ़ी सैकड़ा दाम में गिर जायँगी। स्वदेशीय कारख़ाने विदेशीय कारख़ानों का मुक़ाबला करने में असमर्थ हो जायँगे। बहुतों को अपने कारख़ाने बन्द करना पड़ेंगे। परिणाम इसका यह होगा कि मेहनती मज़दूर लोग बेकार फिरेंगे।

यूरोपीय लोगों को इस रेट से कुछ भी विशेष नुक़सान न पहुंचेगा। क्योंकि उनके कारख़ाने ऐसी चीज़ों के हैं जिनके कारख़ाने इंग्लैण्ड में मौजूद नहीं हैं। बंगाल के जूट के कारख़ाने प्रायः यूरोपीय लोगों के ही हैं। उनका जूट के व्यवसाय में एकाधिकार है। यही बात मिट्टी के तेल तथा चाय आदि का व्यवसाय करनेवाले यूरोपीय लोगों की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दस रुपये की गिनी करने से एकमात्र नुक़सान बम्बई तथा अहमदाबाद के कपड़े के कारख़ानों तथा टाटा के लोहे के कारख़ानों को है। क्योंकि इन्हीं चीज़ों में इंग्लैण्ड एकाधिकारी है। वहाँ से इन चीज़ों के सस्ते आने पर भारत के कारख़ानों को नुक़सान पहुंचेगा इसमें सन्देह करना वृथा है। बम्बई वाले क्यों शोर मचा रहे हैं और कलकत्ते वाले क्यों चुप हैं? इसका रहस्य इसीमें है।

(८) नयी मिलों के खोलने वालेः—दस रुपये की गिनी से जब पुरानी मिलों को भयंकर धक्का पहुँचेगा तो नयी मिलों का खुलना तो कोसों दूर हो जायगा। लोगों का ख़याल था कि अब ईस्ट इण्डिया वाली नीति के दर्शन करने का लोगों को मौक़ा न मिलेगा और न जुलाहों को अपने अँगूठे ही कटाने पड़ेंगे। परन्तु वास्तव में वही नीति उससे सैकड़ों गुने ज़ोर पर है। १८८२ में ३½ प्रतिशतक व्यावसायिक कर लगाया गया और ब्रिटिश की रुई भारत में न आने दी गयी। अब दस रुपये की गिनी कर पुनः सरकार ने ३३ फ़ी सैकड़ा विदेशीय माल भारत में सस्ता बेचने का प्रयत्न किया है। भारत के कपड़े तथा लोहे के कारख़ानों को अप्रत्यक्ष तौर पर तोड़ने का यह तरीक़ा नहीं है तो और क्या है?

यही बात सरकार ने रिवर्स काउन्सिल्स को बेचकर की है। यहाँ पर जो कुछ हमको कहना है वह यही है कि भारत का रक्षक इस समय एकमात्र ईश्वर है। ईश्वर की कृपा से यदि इंग्लैण्ड में पुनः हड़ताल पर हड़ताल होना शुरू

हो और पूर्ववत् विक्षुब्ध दशा बनी रहे तो रिवर्स काउन्सिल्स की बिक्री के सदृश ही दस रुपये की गिनी नियत करने वाली कुटिल नीति भी भारत के कारखानों को तोड़ने में असमर्थ हो जायगी। कदाचित् महात्मा गांधी का असहयोग भी भारतीय कारखानों को सहायता पहुँचावे और सरकार की कुटिल नीति की दाल न गलने दे। देखें, भारतवर्ष के भविष्य में क्या लिखा है।

प्रसिद्ध आयरिश वीर

टैरेन्स मैकस्विनी।

स्वाधीनता ईश्वर की बड़ी भारी देनगी है और यह उसकी इच्छा दिखती है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन रह कर अपनी उन्नति करे। प्रकृति के पंच तत्त्व—अग्नि, जल, वायु आदि—भी स्वतंत्र रहना चाहते हैं और परतंत्र होते ही ऐसी भीषण क्रान्ति करते हैं कि संसार प्रलय में मग्न हो जाता है, तुंग गिरि-शिखर भूकम्प से धराशायी हो जाते हैं और ज्वालामुखी की प्रबल ज्वाला संसार के सौन्दर्य को भस्मावशेष करने लगती है, और अपनी क्षीण शक्तियों के बल पर प्रकृति को परतंत्र बनाने के लिए प्रयत्नशील प्रकाण्ड मस्तिष्क वाले वैज्ञानिक अपने ज्ञान-विज्ञान को भूल कर, अनंत समुद्र के तट पर एक अबोध बालक की भाँति, खड़े रह जाते और अपनी पराजय स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जब एक विजयिनी जाति विजित जाति की स्वतंत्रता को हरण करती और उसे दासत्व के शिकंजे में इस प्रकार कसती है कि उनका जीवन क्या, अस्तित्व ही, संशय में पड़ जाता है, तब वह विजित जाति अपनी प्राकृत स्वतंत्रता के लिए एक बार जी तोड़कर प्रयत्न करती है, और जनता की बिथरी हुई, अतः क्षीण, शक्तियाँ किसी अवतार के शरीर में केन्द्रित होकर ऐसा संगठित और प्रबल स्वरूप दिखाती हैं कि अत्याचारी का अत्याचार के लिए उठा हुआ हाथ दूसरों पर न पड़कर, भस्मासुर के समान उसी पर जा पड़ता और वह नामशेष हो जाता है। शासक-वर्ग के अत्याचार से अत्यंत पीड़ित विजित जाति का अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करना और उस प्रयत्न में अपने सर्वनाश की भयंकर मूर्ति को देखकर भी विचलित न होना इस बात का साक्षी है कि मनुष्य सांसारिक सुखों की कौन कहे, अपने प्राणों तक की अपेक्षा स्वतंत्रता को अधिक चाहता है और जो बली मनुष्य निर्बलों को सताकर अपना उत्कर्ष चाहता है वह महा पापी है और उसके पाप का घड़ा उस समय फूटता है जब कि उसमें एक भी बूँद अधिक नहीं समा सकती है। "जीवन-संग्राम में जो अधिक सक्षम होता है उसी की विजय होती है"—इस सिद्धान्त को माननेवाले, उसके अनुसार चलने वाले और उसके अनुसार चलने के प्रयत्न में दूसरों को दबाकर उनकी अशक्तता से अपने को बली बनानेवाले लोग बड़ी भूल करते हैं। संसार साम्य भाव को ही लेकर शांतिपूर्वक चल सकता है और वही व्यवस्था संसार के नाशक प्रभाव के विरुद्ध ठहर सकती है जो ईश्वर की प्रत्येक सन्तान को अपनी उन्नति का समान अवसर प्रदान करे। समान अवसर पाकर भी प्राकृत अन्तर अवश्य रहेगा; परन्तु वह उस कृत्रिम अन्तर से अवश्य भिन्न होगा

जो गिरते हुए को गिरने से न रोककर या उसे एक धक्के से गिरा करके अपना उत्कर्ष चाहने वाले के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। दूसरों के रक्त को चूसकर पुष्ट होने वाले लोग थोड़े समय के लिए, जीवन-संग्राम में भले ही फलते फूलते दिखाई पड़ें; परंतु स्मरण रहे कि निर्बल जनों के एक एक बूँद रक्त से वे रक्त--वीज उत्पन्न होंगे जो संसार की काया-पलट करने की क्षमता रखेंगे। इतिहास इसका साक्षी है और बोलशेविक लोग, बुरे विचारों की तरह, आज जो द्रुत-पद से बढ़ रहे हैं उसमें नीच महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित स्वार्थी मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न की गई कृत्रिम असमानता के बीज हैं।

आयर्लेंड के प्रसिद्ध वीर टेरेन्स मैकस्विनी ने देश की स्वाधीनता-रूपी अग्नि-कुंड में अपने प्राणों ली आहुति देकर यही सिद्ध कर दिखाया है कि पराधीन जीवन की अपेक्षा मृत्यु अच्छी है और स्वदेशाभिमानी पुरुषों के लिए अपने प्राणों तक का त्याग कुछ नहीं है। बेचारा आयर्लेंड आज बरसों से अत्याचारों के बोझ से दब रहा है। उसकी प्रकृति-प्रदत्त स्वतंत्रता अपहरण कर ली गई है। उस स्वतंत्रता का पुनरुद्धार करने के लिए उसका प्रत्येक प्रयत्न, अप्रस्फुटित कलिका के समान, विकसित होने के पूर्व ही स्वार्थी कीड़ों द्वारा नष्ट किया जा रहा है। असन्तोष की चिनगारियाँ भीतर ही भीतर सुलग रही हैं और संभव है, वे आयर्लेंड को ही भस्म कर डालें; पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने साथ अत्याचारिणी जाति को कदापि न छोड़ेंगी और आयर्लेंड के प्रत्येक देशभक्त वीर के साथ, अत्याचारिणी और स्वार्थान्ध ब्रिटिश जाति को बारबार सती होना पड़ेगा।

आयर्लेंड जागृत हो गया है। अब वह अपने किये गये अत्याचारों को और अधिक नहीं सह सकता है। उसके असन्तोष का घड़ा भर गया है और अब इसमें एक भी बूँद अधिक नहीं समा सकती है। उसका प्रत्येक बालक मातृ-भूमि को स्वतंत्र करने के पुनीत व्रत में अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के लिए तैयार है। वह जानता है कि दूसरों के हाथों में गई मातृ-भूमि की स्वतंत्रता घुटने टेककर गिड़गिड़ाने से नहीं प्राप्त की जाती है। वह सदैव लड़ाई जाती है और इसके लिए चाहिए लड़ाने वाले के हाथों में शक्ति, चाहे वह शारीरिक हो या आत्मिक। भारतवर्ष के समान, आयर्लेंड भी आत्मिक बल प्रदर्शित कर रहा है। देश की स्वाधीनता के लिए प्रत्येक निवासी कष्ट सहन करने को तैयार है। धन्य है वह आयर्लेंड की पवित्र भूमि जो टेरेन्स मैकस्विनी सदृश स्वदेश-भक्त वीर को उत्पन्न कर सकती है! देश को दासत्व-पाश से मुक्त करने के शुभ प्रयत्न में, ७४ दिन भूखे रहकर गत २५ अक्टूबर को प्राणोत्सर्ग करने वाले, पर अत्याचारियों के सन्मुख कभी सिर न झुकाने वाले वीरवर मैकस्विनी की जन्म-भूमि यदि धन्य न कही जाय, तो कौनसी भूमि धन्य होगी? यदि कठिनतर दासत्व-शृंखला में जकड़ा हुआ वर्तमान भारतवर्ष यवनों के हाथ से मातृ-भूमि की स्वतंत्रता छुड़ाने के प्रयत्न में सब प्रकार के कष्टों को सहने वाले प्रातःस्मरणीय प्रताप के नाम का अभिमान रखता है, तो आयर्लेंड के प्रत्येक भावी सन्तान को मैकस्विनी के नाम का गौरव है और होना चाहिए और इतिहास के

श्रीशारदा



अपनी जन्मभूमि आयर्लैंड की स्वतंत्रता के लिए,
७४ दिन उपवास करके शरीर छोड़नेवाला
प्रसिद्ध वीर

टेरेन्स मेकस्विनी पत्नी और बालक सहित।

जिस पृष्ठ पर मैकस्विनी का वर्णन होगा उसका प्रत्येक शब्द मंत्र का काम करेगा और प्रत्येक पराधीन जाति को स्वदेशोद्धार का पवित्र संदेश सुनावेगा।

मैकस्विनी की अवस्था अभी केवल ३६ वर्ष की ही थी। उन्हें बी० ए० तक की शिक्षा मिली थी। उन्हें साहित्य से भी प्रेम था और उनके लिखे कई राष्ट्रीय नाटक और कविताएँ प्रसिद्ध हैं। व्यापार-सम्बंधी शिक्षा देना उनका व्यवसाय था।

वे कुछ ही मास पूर्व कार्क के लॉर्ड मेयर बनाये गये थे। इसके पहले उस पद पर मैक कार्टेन थे जिनकी हत्या पुलिस के द्वारा हुई, इसका प्रमाण उपस्थित किया जाता है।

मैकस्विनी सिनफिन-दल के नेताओं में से थे। अधिकारि-वर्ग कई वर्षों से उनपर सन्देह-दृष्टि रखता था। लॉर्ड मेयर का पद ग्रहण करते समय वे अपने जीवन को संशयापन्न समझते थे। उस समय उन्होंने कहा था—"मैं बहुत दिनों तक जी नहीं सकता, या तो मारा जाऊँगा या क़ैद किया जाऊँगा; और यदि क़ैद किया गया तो अनशन व्रत धारण करके स्वयं ही मर जाऊँगा"। यही पिछली बात हुई—वे क़ैद में डाले गये और वहाँ उन्होंने भोजन ग्रहण करना छोड़ दिया। देश में आन्दोलन उठा। अधिकारि-वर्ग से बहुत कुछ अनुनय-विनय किया गया, धमकी-घुड़की दिखाई गई कि निरपराध मैकस्विनी को छोड़ दो; परन्तु अधिकारि-वर्ग अपने विचार पर दृढ़ रहा। उससे भी अधिक दृढ़ रहे मैकस्विनी, जिन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा का निर्वाह किया। अपने दृढ़ आत्मिक-बल के सहारे वे ७४ दिन निराहार रहकर बन्दीगृह के कष्टों को झेलते रहे और एक क्षण के लिए भी अपने कठिन व्रत से विचलित नहीं हुए। अन्त में गत २५ अक्टूबर को इस नश्वर शरीर और संसार को छोड़ कर उनकी आत्मा उस अनन्त एवं अज्ञेय धाम को चली गई जहाँ से कि आजतक कोई लौटकर नहीं आया है।

गत ४ वर्षों से वे अधिकारियों के कोप-भाजन बने थे। कई बार वे जेल में बन्द किये गये। सबसे पहले वे मई, सन् १९१६ में पकड़े गये और बिना कोई अभियोग लगाये और मुक़द्दमा चलाये इंग्लेंड के जेल में रक्खे गये और कुछ दिनों के बाद बिना कोई कारण बताये मुक्त कर दिये गये। फ़र्वरी, १९१७, में वे फिर पकड़े गये; पर चार मास जेल में रहकर वे निकल भागे। इसके चार मास बाद वे फिर पकड़े गये और राजद्रोही व्याख्यान देने के अभियोग में उन्हें ६ मास का कठिन कारावास दिया गया। उस समय उनका स्वास्थ्य बहुत चिन्ताजनक था। जेल में रहकर और वहाँ की यम-यातनाओं को पाकर वह और भी बिगड़ गया और अंत में फ़र्वरी, १९१८ में वे मुक्त कर दिये गये; पर मुक्त किये गये केवल एक मास के बाद फिर गिरफ्तार होने और अस्वस्थता के कारण पुनः छोड़ दिये जाने के लिए। पकड़ने और छोड़ने का यह अभिनय जारी ही रहा। कई बार उनके नाम वारन्ट निकला और उन्हें पकड़ने के लिए भगीरथ-प्रयत्न हुआ। अन्त में वे १२ अगस्त, १९२० को अन्तिम बार पकड़े गये। इस बार

पकड़े जाने के समय उनके पास ऐसे पत्रादि मिले जिनसे विदित हुआ कि वे विद्रोही सेनापतियों के अधिवेशनों का काम करते थे। फिर क्या था, वे अभियुक्त हुए। अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध विद्रोह फैलाने का अभियोग उन पर लगाया गया और इसका निर्णय कोर्ट मार्शल (फौजी अदालत) के समक्ष किया गया। जब अदालत ने उनसे पूछा कि आप क्या कहना चाहते हैं, तब उन्हों ने बहुत निर्भीकता के साथ कहा——"मुझे कहना यह है कि आपकी कार्रवाई क़ानून के विरुद्ध है। यह न समझिए कि मैं अपने को बचाने के लिए ऐसा कह रहा हूँ। मैंने अपने लिखित वक्तव्य में सब कुछ लिख दिया है और उसके कुछ अंशों के कारण इस ग़ैर-क़ानूनी अदालत में मुझ पर कुछ अभियोग भी चलाया गया है। आपको समझ रखना चाहिए और यदि आप नहीं समझते, तो आपको शीघ्र ही समझना होगा, कि आयर्लैण्ड में प्रजातंत्र-शासन वास्तव में स्थापित है। मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि सबसे बड़ा अपराध यदि कोई कर सकता है तो वह अपने राष्ट्र के नेता के विरुद्ध हाथ उठाना है। ऐसा ही अपराध उसका है जो किसी नगर के अध्यक्ष के विरुद्ध हाथ उठावे, और यदि उसे पकड़ने के अतिरिक्त, उसके घर की तलाशी ली जाय और उसके काग़ज़-पत्र उठा लिये जायँ, तो यह अपराध और भी भीषण हो जाता है। मैं चाहता हूँ कि आप थोड़े समय के लिए अपने को मेरे स्थान में समझें। हमारे पास से जो पत्र छीने गये हैं उनमें से एक में हमारा यह निर्णय लिखा है कि हम इस प्रजातंत्र राज्य की विश्वासपात्र प्रजा हैं। दूसरे पत्र में हमारे पहले के लॉर्ड मेयर की मृत्यु की जाँच का उल्लेख है जिसमें जूरी ने सर्वसम्मति से यह स्थिर किया है कि ब्रिटिश सरकार और उसकी पुलिस ने उन्हें मार डाला। आप लोगों को स्पष्ट विदित हो जाना चाहिए कि यदि यह बात सच न होती, तो इस अवैध अदालत में इसीका अभियोग हम पर न लगाया जाता। आपने उन पत्रों को अलग करा दिया है, और मुझे यहाँ आने से इस बात की प्रसन्नता हुई है कि मैं कम से कम यह तो सिद्ध कर सका कि आपने उन पत्रों को अलग करके यह स्वीकार किया है कि वास्तव में आपके ही आदमियों ने हमारे पूर्वाधिकारी लॉर्ड मेयर की हत्या की है। इस दशा में, आप स्वयं देख सकते हैं कि इस पद पर रहना, मेरे लिए कितने जोखिम का काम है। सम्भव है, मैं भी मार डाला जाऊँ। हमें आपकी सेना के लिए पहले से ही बहुत थोड़ा सम्मान है, और अब इन सब घटनाओं को देखकर वह और भी जाता रहा। सेना-सम्बन्धी जो पत्र आपने मेरे पास से छीने हैं उन्हें मेरे ही पास रहना चाहिए। मेरी अनुमति बिना उन्हें कोई नहीं ले सकता।"

थोड़े समय के पश्चात् मैकस्विनी को दो वर्षों के लिए कठिन कारावास का दण्ड सुनाया गया। मैकस्विनी इसे पहले से ही जानते थे। उन्होंने यह भी सोच लिया था कि कारावास होने पर वे क्या करेंगे। वही हुआ और उन्हों ने अनशन व्रत ग्रहण किया। जिस समय वे पकड़े गये उस समय वे ५ दिनों से उपासे थे। फिर वे जेल भेजे गये। वहाँ भी उनका व्रत अखण्डित रीति से चलता रहा। प्रत्येक सभ्य देश की दृष्टि मैकस्विनी की ओर केन्द्रित

हुई। आयर्लैंड वालों तथा अन्य देशों के मनुष्यत्व रखने वाले मनुष्यों ने ब्रिटिश सरकार के मंत्रियों से प्रार्थना की कि मैकस्विनी छोड़ दिये जायँ; पर मंत्रि-गण "न्याय में बाधा" नहीं डालना चाहते थे। सम्राट् ने उन्हें छोड़ देने का आश्वासन दिया; पर वे भी ऐसे समय नहीं छोड़ सके—कदाचित् इसलिए कि कहीं मंत्रि-मण्डल त्यागपत्र न दे दे। इस प्रकार वीर मैकस्विनी कारावास में पड़कर, देश की स्वाधीनता के लिए, आत्म-बलिदान करने लगे। ७४ वें दिन उनका अनुष्ठान पूरा हुआ और उस समय पूरा हुआ जबकि वे मूर्च्छित थे। इसी स्थिति में उन्हें स्वाधीनता मिली।

मैकस्विनी में धीरता और वीरता थी। अंतिम समय तक अपने व्रत को पालने की दृढ़ता थी। देश को स्वतंत्र बनाने की लगन थी। उनका सिद्धान्त था कि पराधीन देश को वही स्वतंत्र कर सकता है जो सबसे अधिक कष्ट सहन करने को तैयार है। देश की स्वतंत्रता बिना कष्ट सहे नहीं प्राप्त होती। सच्चा स्वदेश-भक्त वही है जो अपने देश के लिए अपना सर्वस्व देने को तत्पर रहता है।

अपने अनशन-व्रत के ४० वें दिन उन्होंने अपने देशवासियों को जो संदेशा दिया उसके कुछ शब्द ये थे—"हम लोगों के उपवास का यह चालीसवाँ दिन है। कोई प्राकृतिक कारण नहीं मालूम पड़ता कि हम लोग अभी तक क्यों जीवित हैं। मैं इसका कारण यह समझता हूँ कि प्रतिदिन की ईश्वर-प्रार्थनाओं से मुझे आत्मिक बल मिलता है और शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है। मेरा विश्वास है कि ईश्वर ने अपने दैवी उद्देश से यह अंत प्रकट रूप से रोक दिया है। मेरा विश्वास है कि उसने उसे केवल हमारे ही लिए नहीं रोका है। हमने अपनी भेंट उसके चरणों पर चढ़ा दी है; वह उसे स्वीकार करे या न करे। परन्तु, मेरा विश्वास है कि वह अपनी दयालुता के कारण शत्रु के हित के लिए, आड़ा आया है। विश्वास नहीं होता कि इंग्लैंड की जनता इस हृदयहीन हत्या को पूर्ण होने देगी। सारा सभ्य संसार इसके विचार-मात्र से स्तम्भित हो रहा है। यदि यह हत्या पूरी हुई, तो यह इंग्लैंड के नाम पर ऐसा कलंक छोड़ जायगी जिसकी समता नहीं हो सकेगी। यह कलंक कभी नहीं मिटेगा और जब इंग्लैंड किसी से मित्रता का हाथ बढ़ावेगा तो वह सामने चमकेगा। मैं सोचता हूँ कि ईश्वर उनको रुकने और विचार करने का अन्तिम अवसर दे रहा है। यदि उनका निश्चय रुकने का नहीं है, तो हमारा निश्चय पहले से ही हो चुका है। हम मरने को तैयार हैं। मैं अपनी तथा अपने साथियों की ओर से कह सकता हूँ कि हमें इस बात का विशेष गौरव है कि हम आयर्लैंड की स्वाधीनता और आयरिश प्रजातंत्र की स्वीकृति के लिए संसार भर की प्रशंसा और सहायता उत्पन्न कर सके, और यदि हम मरते हैं तो हमें उन भक्तों की मण्डली में सम्मिलित होने का आनंद तथा गौरव प्राप्त होगा जो आयर्लैंड के लिए मर चुके हैं।"

अब मैकस्विनी संसार में नहीं हैं; पर उनका नाम आयर्लैंड में ऐसे ऐसे वीर उत्पन्न करेगा जिनमें से प्रत्येक अपने देश की स्वतंत्रता के लिए यम-यातनाओं तक को सहने के लिए तैयार होगा,

और अब, इतना हो चुकने पर, वह दिन जब कि आयर्लेंड स्वाधीन होगा—और, इसमें सन्देह नहीं, वह शीघ्र ही होगा—ब्रिटिश सरकार की महान् पराजय का होगा। अब उस स्वाधीनता का श्रेय आयर्लेंड के आत्मत्याग को होगा न कि ब्रिटिश सरकार की उदारता को।

मैकस्विनी सच्चे देशभक्त थे। वे कोई चोर-लुटेरे या राजविद्रोही नहीं थे। बर्नार्ड शॉ का भी कथन है कि "इस प्रकार का सत्याग्रह कोई चोर, उचक्का या पापी मनुष्य नहीं कर सकता और न ऐसा करने मे उसको कोई लाभ ही है। ऐसा सत्याग्रह वे ही महात्मा कर सकते हैं जिन को अपने पक्ष की सत्यता में पूर्ण विश्वास होता है। ऐसे पुण्यात्मा सत्याग्रह करते करते यदि स्वर्ग सिधार जावें, तो उनके देशवासी उनकी पवित्र स्मृति पर श्रद्धा और पूजा के पुष्प चढ़ाते हैं और जिस पक्ष के लिए वे आत्म-बलिदान कर चुके हैं वह और भी प्रबल हो जाता है।"

अवश्य ही, आयर्लेंड के निवासी वीर मैकस्विनी को कदापि नहीं भूल सकते। मैकस्विनी का नाम उनके देश की स्वाधीनता का इतिहास होगा और दुर्दिन में भी वह उनमें नूतन शक्ति का सञ्चार करेगा। आयर्लेंड जाग्रत हो गया है। वह उठ रहा है और शीघ्र ही स्वाधीन होगा।

मैकस्विनी का अन्तिम सन्देश।

(लेखक—श्रीयुत नृसिंह)

(१)

कष्टों को दहलाने वाले,
निष्ठुर, क्रूर कँपाने वाले।
आवें और सतावें हमको,
हम कष्टों के ही हैं पाले॥

तंग करें मनमाने ढँग से,
ज़ुल्मी पापी दिल के काले।
अटल रहेंगे, सह लेवेंगे,
हम दुःखों के नीचे भाले॥

(२)

पराधीन बन्दी रहकर हम
अन्न न मुँह में डालेंगे।
प्राणों पर प्रमुदित खेलेंगे
प्रण को पूरा पालेंगे॥

सात्विक बल से, आत्म शक्ति से,
[illegible] कहलावेंगे।
मातृभूमि पर मर मिट कर हम,
अमर वीर कहलावेंगे॥

(३)

प्रभु के पद-पद्मों पर सादर
उनकी वस्तु समर्पित है।
अचरज यह ईश्वर को अबतक
क्यों न भेंट यह स्वीकृत है॥

संभव है अन्यायी-दल को
समय दयामय देते हैं।

नटवर उसके वज्र-हृदय की
काठिन परीक्षा लेते हैं ।

(४)

इँगलैंड-प्रजा इन्सान बनेगी
इस हत्या को टालेगी ।
स्वेच्छाचार दबावेगी, निज
प्रभु की आज्ञा पालेगी ॥

यदि कहीं फँसी उनके चंगुल,
वह निज नाम मिटावेगी ।
निज गौरव को सिंहासन से
भू पर चित्त लिटावेगी ॥

(५)

कलुषित निज इतिहास करेगी,
अमिट कलंक लगावेगी ।
प्रलय-कारिणी सुप्त शक्तियाँ
जग की शीघ्र जगावेगी ॥

नहीं धुलेगा दाग कभी वह,
ऐसा पाप कमावेगी ।
चिर संचित साम्राज्य-मान वह
नाहक बहक गमावेगी ॥

(६)

जो हो, यदि वह नहीं रुकेगी
तो मैं हूँ तैय्यार खड़ा ।
मरने को प्रस्तुत हूँ प्रमुदित
प्रभु-पद पर है शीष पड़ा ॥

बड़े भाग्य से मातृ-भूमि पर
बलि होने को मिलता है ।
ऐसे बड़भागी का जग में
यश-सरसिज नित खिलता है ॥

(७)

परमात्मा का प्रेम पूर्ण है
हृदय द्वेष से रिक्त पड़ा ।
मातृ-भूमि के अन्तिम रण में
विमल भाव से वहीं अड़ा ॥

परमात्मा है प्रहरी माँ के,
उन्नति में अब देर नहीं ।
मेरी माँ स्वाधीन बनेगी,
होवेंगे अन्धेर नहीं ॥

(८)

विजय-श्री दौड़ी आवेगी,
ऋद्धि-सिद्धियाँ लावेगी ।
से हुए अंगों को मैया
पल में छूटे पावेगी ॥

पूर्ण विजय का मुकुट पहिन कर
फूली नहीं समावेगी ।
उसके यश की चारु चन्द्रिका
जग भर में छा जावेगी ॥

विज्ञान-संसार।

(१) रोगी पेड़ को धूनी देना।

पाठकों ने बालकों को धूनी देना तो देखा ही होगा। जब छोटा बालक कुछ अस्वस्थ हो जाता या शीत से पीड़ित होता है, तब वृद्धा स्त्रियाँ अजवायन या और किसी चीज की धूनी दिया करती हैं। ऐसे ही, प्लेग या अन्य संक्रामक बीमारी के समय, घर की वायु शुद्ध करने के लिए गन्धक, नीम के सूखे पत्ते आदि घर में जलाये जाते हैं। इसमें डाक्टरी सिद्धान्त यह है कि घर के कोनों में जहाँ शुद्ध वायु नहीं पहुंच पाती, गन्धक आदि के जलाने से हानिकारक और रोग फैलाने वाले कीड़े मर जाते हैं। जब गन्धक आदि का धुआँ क्रम से एक एक कमरे में किया जाता है तब वह कमरा चारों तरफ से बन्द कर दिया जाता है; क्योंकि बन्द करने पर ही कीट-नाशक धुआँ कोनों और दरारों में प्रवेश करता और वहाँ छिपे हुए कीड़ों और कीटाणुओं का नाश करता है।

यह सब तो आसान है; क्योंकि कमरा चारों ओर से दीवालों और दरवाजों से घिरा रहता है। पर जब किसी पेड़ में कीड़े लग जाते हैं और उस पेड़ का नाश कर आसपास के पेड़ों को हानि पहुंचाते हैं, तब क्या किया जा सकता है? निरन्तर परिश्रम करने वाले खोजी विद्वानों और वैज्ञानिकों से कुछ नहीं बचा। उन्होंने इसका भी उपाय ढूंढ़ निकाला है।

जब किसी पेड़ में कीड़े लगते और उसकी पत्तियों और जड़ों का नाश करने लगते हैं, तब उस पेड़ की जीवन-रक्षा करने तथा अन्य पेड़ों को उन कीड़ों से बचाने के लिए उस पेड़ को धूनी दी जाती है। आप यह सुनकर कदाचित् आश्चर्य करेंगे कि पेड़ को धूनी देना कैसा? पर बात ठीक है। एक गुब्बारे के द्वारा पेड़ की ऊँचाई-चौड़ाई के अन्दाज का एक तम्बू जो ऊपर तीनों ओर से बन्द रहता है और केवल नीचे की ओर खुला रहता है उस पेड़ के ठीक ऊपर लाया जाता और फिर धीरे धीरे पेड़ पर बैठा दिया जाता है। अन्त में वह पेड़ उस तम्बू से चारों ओर से खूब ढँक जाता है। इसके अनन्तर जीवान्तक वायु के मिश्रण से जीवनाशक गैस तम्बू के भीतर छोड़े जाते हैं जिससे थोड़े ही काल में पेड़ पर के सब कीड़े नष्ट हो जाते हैं। फिर गुब्बारे की ही सहायता से वह तम्बू ऊपर उठा लिया जाता है और किसी दूसरे पेड़ पर ढाँक दिया जाता है। इस प्रकार जंगल के सब पेड़ रोग-मुक्त कर दिये जाते हैं। हिन्दुस्थान में बड़े बड़े पेड़ों पर यदि न हो सके तो कम से कम बगीचे के छोटे छोटे पौधों पर तो यह परीक्षा विज्ञान के छात्रों को करके देखनी चाहिए। यदि इसमें सफलता मिल गई तो मालियों का बहुत सा परिश्रम बच जावेगा।

(२) चन्द्रमा पर अस्त्र-वर्षा।

अभी तक कई वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है; पर सफलता किसी को भी नहीं मिली। हाल में क्लार्क कॉलेज, वॉर्सेस्टर, के प्रोफेसर गोडार्ड ने अपने परिश्रम का जो फल संसार के सामने प्रकट किया है उससे आशा की जाती है कि वे कदाचित् अपने प्रयत्न में सफलता पा लेंगे। अभी तक जिन जिन वैज्ञानिकों ने इस मार्ग में प्रयत्न किया है उनकी अपेक्षा प्रोफेसर गोडार्ड के प्रयत्न में क्या खूबियाँ हैं सो सुन लीजिए।

पहिली बात तो यह है कि जिस यंत्र की सहायता से प्रोफेसर सा० चन्द्रमा के काले भाग पर प्रकाश डालेंगे वह इतना बड़ा है जितना अभी तक कहीं नहीं था और उससे लगातार बारूद की बौछार की जा सकेगी। दूसरे, अभी तक जो यंत्र प्रकाश डालने के काम में लाये जाते रहे हैं उनसे प्रति सेकण्ड १,००० फुट की दूरी तक प्रकाश भेजा जा सका है; किन्तु प्रोफेसर गोडार्ड के यंत्र से प्रति सेकण्ड ७००० फुट तक भेजा जा सकेगा। एक अच्छी राइफिल से प्रति सेकण्ड ३,००० फुट की दूरी तक गोली जाती

है; पर यहाँ तो उससे लगभग २½ गुनी दूरी पार की जावेगी। कहिए, गोडार्ड महाशय ने गज़ब कर दिया न! पर इतना ही नहीं। साधारण प्रकाश-यंत्रों से चन्द्रमा तक प्रकाश भेजने में लगभग १४,२६,००,००,००,००,००० टन मसाला चाहिए; पर गोडार्ड महाशय के यंत्र में सिर्फ़ ६०२ पौण्ड ही लगेगा; क्योंकि चन्द्रमा की दूरी यहाँ से २,४०,००० मील है और साधारण यंत्र की अपेक्षा गोडार्ड यंत्र से सात गुनी दूरी प्रति सेकण्ड पार की जावेगी।

इस प्रकार इतनी तैयारी करके प्रोफ़ेसर गोडार्ड, किसी प्रतिपदा को जब चन्द्रमा का बहुत थोड़ा सा भाग प्रकाशित रहेगा काले भाग पर अपने यंत्र से प्रकाश डालेंगे और अस्त्र-वर्षा करेंगे। अभी तक चन्द्रमा से जितना लाभ उठाया जाता है वह काफ़ी नहीं है; इसीलिए वैज्ञानिक लोग अब उसे अपना दास बनाने पर उतारू हैं। रावण ने तो सभी ग्रहों को गुलाम बना डाला था, तो क्या वह भी वैज्ञानिक रहा होगा?

(३) सोओ और बढ़ो।

जब पुरानी कहानियों में किसी वस्तु के बढ़ने की बात बतलाई जाती है तो कहते हैं कि वह दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती थी। यही बात लिंग या दाढ़ी के बालों के विषय में कही जाती है कि वे दिन में जितने बढ़ते हैं उससे दुगने रात में बढ़ जाते हैं। अब इस बाढ़ के सम्बन्ध में एक नई बात मालूम हुई है। एक वैज्ञानिक ने परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है कि मनुष्य रात्रि में सोते समय ½ इंच बढ़ जाता है और दिन को उतना ही कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि शरीर में सिर सबसे भारी भाग है और उसके बोझ के कारण रीढ़ दब जाती है और दिन में बढ़ नहीं पाती; किन्तु रात्रि में जब मनुष्य सोता है, तब सिर का वज़न रीढ़ पर नहीं रहता और उसे बढ़ने की स्वतन्त्रता मिल जाती है। इसलिए बालकों को क़द में ऊँचे होने के लिए, उनकी बाढ़ की अवस्था में, अधिक सोना चाहिए। उनकी बाढ़ जितनी रात में होती है उतनी ही दिन में कम नहीं होती। कुम्भकर्ण छै माह सोकर जब उठता रहा होगा तब अवश्य ही खूब ऊँचा हो जाता रहा होगा!

(४) नष्टक राग।

कहते हैं कि दीपक राग गाने से दीपक आप से आप जल उठते हैं। कई लोग इसे असम्भव मानते होंगे; पर यह तो सब स्वीकार करते हैं कि राग-रागनियों में विलक्षण शक्ति होती है। सर्प सरीखे ज़हरीले जन्तु और हरिण से फुर्तीले पशु राग की सहायता से वश में किये जाते हैं। अभी हाल में मालूम हुआ है कि एक विशेष प्रकार का राग निकालने से बड़े से बड़े महल भी ज़मीन में मिला दिये जा सकते हैं; यद्यपि इसकी परीक्षा कराने के लिए कोई भी अपना मकान देने को तैयार न होगा; पर यह परीक्षा, अनजान में, कई बार हो चुकी है।

प्रत्येक पदार्थ किसी एक विशेष प्रकार के राग से तरंगित हो उठता है और उससे झनझनाहट उत्पन्न होने लगती है। यदि वही राग अधिक समय तक बजाया जाय तो वह पदार्थ या तो आप से आप टुकड़े टुकड़े हो जायगा या स्थान छोड़ कर अलग जा गिरेगा। यह हाल 'पाइनो' नामक बाजा बजाने पर काँच तथा धातुओं के गिलास, शीशी आदि पदार्थों में देखा गया है। जब किसी फ़ौज को कोई पुल पैदल पार करना पड़ता है, तब पैर की आवाज़ मिलाई नहीं जाती, तोड़ दी जाती है। यदि आवाज़ मिलाते हुए फ़ौज 'मार्च' करे, तो पुल के टूट जाने की सम्भावना रहती है। इस समय सेनापतिगण इस बात का बहुत ध्यान रखते हैं और पैर मिलवाते हुए 'मार्च' नहीं कराते।

कहते हैं, एक तिमंज़िले मकान में काठ, लोहा और टीन के सिवा दूसरी धातु काम में नहीं लाई गई थी। उसके एक भाग में प्रतिदिन बहुत समय तक बाजा एक ही राग से बजाया जाता था। फल यह हुआ कि एक दिन मकान गिर पड़ा। काठ के पटियों की परीक्षा करने

पर मालूम हुआ कि उनसे ठीक वैसीही ध्वनि निकलती थी। जो हो अभी तक जितने राग थे उनमें अब महल ढाने वाले 'नाटक राग' की गणना भी होनी चाहिए।

(५) आयु-वृद्धि का नवीन रहस्य।

विज्ञान में दिन प्रति दिन उन्नति हो रही है। उन्नत देशों के सैकड़ों मस्तिष्क नई नई खोज में लगे हुए हैं। जहाँ एक ओर मनुष्य को घात करने के उपाय सोचे जा रहे हैं वहाँ दूसरी ओर मनुष्य की आयु-वृद्धि के प्रयत्न भी किये जा रहे हैं। पहिले प्रकार के प्रयत्न में लगे हुए विज्ञान-वेत्ताओं को तो बहुत कुछ सफलता मिल गई है; पर दूसरे प्रयत्न में लगे हुए लोगों को अभी तक बहुत ही कम सफलता मिली है। अविराम परिश्रम से उन्हें यह विदित हो गया है कि भविष्य में मनुष्य की आयु बढ़ाई जा सकेगी।

यह सब अनुमान ही नहीं है। डाक्टर लोएब ने कुछ पंछियों को इकट्ठा किया और फिर उनकी लगभग अस्सी पीढ़ियों का अवलोकन किया। इस पर से उन्हें मालूम हुआ कि एक पंछी का जीवन अच्छी दशा में रहते हुए २१ दिन का होता है। इस परीक्षा से उन्होंने मृत्यु की यह परिभाषा की कि शरीर का पोषक द्रव्य जब नष्ट हो जाता है या जब शरीर में हानिकारक द्रव्य बढ़ जाता है, तब मृत्यु हो जाती है। इस पर से यह फल निकाला गया कि यदि हानिकारक द्रव्य बढ़ने न पावे और पोषक द्रव्य शरीर में बना रहे तो मृत्यु देर से होगी। पर यह तो प्रकृति का नियम है कि दिन प्रति दिन पोषक द्रव्य घटेगा और नाशक द्रव्य बढ़ेगा। यह देख डाक्टर लोएब ने एक युक्ति सोची कि यदि इन द्रव्यों के घटने बढ़ने की चाल कम कर दी जाय तो ये द्रव्य बहुत दिनों में घटेंगे और बढ़ेंगे, अर्थात् जितने अधिक समय में घटेंगे बढ़ेंगे उतना ही अधिक समय आयु का बढ़ जायेगा। पर, यह चाल बदली कैसे जाय? इसके लिए एक उपाय सोचा गया। पंछी का तापमान ३०° सेन्टी-ग्रेड होता है। इस ताप-मान में वह २१ दिन जीवित रहती है। ज्यों ज्यों ताप-मान कम कर दिया जाता है त्यों त्यों आयु बढ़ती जाती है। डाक्टर लोएब को अवलोकन करने पर जो कुछ मालूम हुआ वह यह है—

ताप-मान	आयु की अवधि
३० अंश	लगभग २१ दिन
२५ ,,	,, ३९ ,,
२० ,,	,, ५४ ,,
१५ ,,	,, १२४ ,,
१० ,,	,, १७७ ,,

अब पाठक जान सकते हैं कि तापमान कम कर देने से आयु की अवधि बढ़ जाती है। यहाँ यह प्रश्न होगा कि क्या मनुष्य का तापमान भी कम हो सकता है? इस पर डाक्टर लोएब की सम्मति सुन लीजिए।

मनुष्य का तापमान ३७ अंश सेन्टीग्रेड होता है। यदि यह तापमान कम करके ७ अंश सेन्टीग्रेड किया जा सके, तो मनुष्य लगभग १,२०० वर्ष जीवित रह सकता है। परन्तु अभाग्य-वश मनुष्य का शरीर कम तापमान में जीवित नहीं रह सकता। यदि किसी प्रकार रहे भी, तो इस ताप-मान में रह कर मनुष्य को अपना जीवन भार स्वरूप मालूम होगा। इतना ही नहीं, न तो वह सुख-चैन का ही अनुभव कर सकेगा और न दुःख-दर्द का ही; उसे सनसन और घबराहट के सिवा और कुछ भी अनुभव न होगा।

अब यह हाल है तो आयु-वृद्धि कौन चाहेगा? पर इतने से ही डाक्टर लोएब तथा अन्य विज्ञान-वेत्ता हताश नहीं हुए। वे उपाय की खोज में लगे हुए हैं। एकने तो यहाँ तक युक्ति ढूँढ़ निकाली है कि यदि नरट (नाभि के नीचे का भाग) की गिल्टियाँ निकाल कर तरुण बन्दर के नरट की गिल्टियाँ लगादी जावें, तो मनुष्य वृद्ध से युवा हो सकता है। इसका विस्तृत वर्णन 'श्रीशारदा' के चतुर्थ अंक में निकल चुका है।

डाक्टर लोएब का कथन है कि अभी जब तक ऐसा कोई दृढ़ और सुरक्षित उपाय ढूँढ़ा नहीं जाता तब तक आयु बढ़ाने का या पूरी आयु

भोगने का एकमात्र उपाय यही है कि शरीर के पोषक द्रव्य की रक्षा की जाय और नाशक द्रव्य की बाढ़ रोकी जाय। इसका मुख्य उपाय यही है कि मनुष्य को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का पालन सदैव करना चाहिए। उसे यह न समझना चाहिए कि योग्य डाक्टर या वैद्य की सम्मति उसी समय ली जावे जब कि उसमें रोग की शक्ति न रहे। डाक्टर या वैद्य की सम्मति सदैव ली जाया करे जिस से नाशक द्रव्य को शीघ्र बढ़ने का मौक़ा न मिलने पावे। यदि उसकी बाढ़ रोकी जावेगी तो मनुष्य ७५,८० वर्ष की आयु भोग सकेगा।

(६) शुक्त-पुटों पर एक्स किरण का प्रयोग।

शुक्त-पुट (घोंघा) में मोती पाया जाता है; पर सब में नहीं। अभी तक यह होता था कि शुक्त-पुट इकट्ठे कर लिये जाते थे और तोड़ कर देखे जाते थे। जिन में मोती मिलते थे उनका तोड़ना तो सार्थक होता था, परन्तु जिन में नहीं पाये जाते थे वे तोड़ कर व्यर्थ ही नष्ट कर दिये जाते थे। सम्भव था कि यदि वे कुछ काल तक न तोड़े जाते तो उन में मोती पैदा होता। अब इस के लिए एक उपाय निकाला गया है। शुक्त-पुट पर एक्स किरण का प्रयोग करते हैं। जिन में मोती होता है वह एक्स किरण से साफ़ मालूम हो जाता है। इस प्रकार जाँच करने के बाद तोड़ने लायक़ शुक्त-पुट तोड़े जाते हैं और दूसरे समुद्र-जल में छोड़ दिये जाते हैं जहाँ समय पाकर उन में मोती पैदा होजाते हैं। एक्स किरण के इस प्रयोग से एक भी घोंघे की जान व्यर्थ नहीं जाती।

लंका द्वीप और दक्षिण अमेरिका के उत्तरीय भाग में जो शुक्त-पुट पाये जाते हैं उनके ऊपर का ढकन पतला होता है जिससे एक्स किरण के द्वारा यह बहुत स्पष्ट मालूम हो जाता है कि अमुक घोंघे में मोती है या नहीं। पर, जहाँ शुक्त-पुट का ऊपरी आवरण कड़ा और मोटा होता है वहाँ एक्सकिरण से स्पष्ट नहीं मालूम होता है। तब भी विज्ञान-वेत्ताओं को भरोसा है कि दृढ़ आवरण वाले शुक्त-पुटों की परीक्षा करने का उपाय शीघ्र मालूम हो जावेगा।

अभी तक जिन शुक्त-पुटों में मोती नहीं मिलता था व्यर्थ ही नष्ट कर दिये जाते थे। अब उन शुक्त-पुटों से भी कुछ काल बाद मोती प्राप्त हो सकेंगे। परन्तु इस उपाय के ज्ञान हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता है कि घोंघों की जान बचाने से जब मोती अधिक संख्या में प्रति वर्ष प्राप्त होंगे तब मोती कम मूल्य में प्राप्त हो सकेंगे।

(७) चुम्बन के दुर्गुण।

वात्सल्य-भाव या गाढ़ प्रेम प्रदर्शित करते समय मनुष्य बहुधा चुम्बन करते हैं; पर वे उस प्रेम-मोह में उसके दुर्गुणों को भूल जाते हैं। माता अपने बच्चे का चुम्बन करती है; पर यदि वह किसी रोग से पीड़ित है तो वह रोग बच्चे को लग जाना सम्भव है। इंग्लैण्ड में जब १८३९ में महामारी पड़ी थी तब पार्लमेण्ट ने एक क़ानून बनाकर चुम्बन का निषेध कर दिया था। अभी डाक्टरों ने यह बात ढूंढ़ निकाली है कि इन्फ्लूएञ्जा छूत वाला रोग है और चुम्बन द्वारा दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो सकता है। युद्ध के अन्त काल में जब यूरोप में इन्फ्लूएञ्जा का प्रकोप था, आस्ट्रिया और फ्रान्स में यह क़ानून बना दिया गया था कि रेलवे-स्टेशन या रेल-गाड़ियों पर मिलते समय मित्र, भाई-बहिन, पिता-पुत्र कोई भी चुम्बन न करें। कहाँ माता के चुम्बन का निस्स्वार्थ असीम प्रेम और कहाँ यह दुर्गुण!

संवित् अथवा वायदा ।

(COntract)

(लेखक—पंडित जनार्दन रामचन्द्र परांजपे, एम० ए०, एल० एल० बी०)

आधुनिक काल के सदृश स्मृति–काल में भी धन से मनुष्य का संबंध दो प्रकार का माना जाता था, पहला स्वामित्व-संबंध और दूसरा उपभोग। ये दोनों संबंध अलग अलग हैं; इस लिए वे एकही पुरुष तथा अवस्था विशेष में अनेक पुरुषों में भी पाये जा सकते हैं। स्वामी अपने द्रव्य का स्वयं उपयोग करे या अपने तईं स्वामित्व रखकर केवल उपयोग के लिए दूसरों को द्रव्य देवे। उदाहरणार्थः—जब मकान किराये पर दिया जाता है, तब द्रव्य का स्वामित्व तो मकान-मालिक के पास रहता है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के व्यवहार में एक व्यक्ति की स्वत्व-निवृत्ति और दूसरे की स्वत्वोत्पत्ति होती है। द्रव्य की स्वत्व-निवृत्ति-पूर्वक स्वत्वोत्पत्ति तथा केवल उपयोग के लिए हस्तांतर रूपी व्यवहार में संविन (यानी वायदा) मुख्य अंग होता है। पहिले समय में संविन् में नीचे लिखे गुण होना आवश्यक था, जिसमें दोनों पक्ष संवित् से बंधनीय हो जावें। यदि इनमें से एक भी गुण का अभाव होता, तो संविन् व्यवहार-योग्य तथा दोनों पक्षों को बंधनीय नहीं माना जाता था।

(१) दोनों पक्षों की व्यवहार-योग्यता।

हस्तान्तर करने वाला तथा वह जिसके हस्तान्तर करना है यदि बाल (Minor), मत्त, उन्मत्त, मूर्ख (Idiot) आदि ऐसी अवस्था में हो जिसमें व्यवहारोपयोगी बुद्धि का अभाव प्रायः रहता है अथवा ऐसी अवस्था में हो जब कि बल तथा छल के कारण बुद्धि-स्वातंत्र्य का अभाव पाया जाय, तो बंधनीय वायदे का होना असंभव माना जाता था। व्यवहार–योग्य वायदे के बन्धन केवल उसी अवस्था में उत्पन्न हो सकते थे जिसमें स्वाभाविक या कृत्रिम कारणों से मति-स्वातंत्र्य का अभाव न था। ऊपर लिखी अवस्था में पुरुष अपने हित की यथायोग्य रक्षा करने में असमर्थ होने के कारण क़ानून से रक्षा का अधिकारी होता है।

(२) हस्तान्तर करने वाले को द्रव्य का संपूर्ण स्वामी होना चाहिए।

यदि स्वामी के अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य बेचे या दान वगैरः करे तो यह व्यवहार स्वामी को बंधनीय नहीं होता था। सम्पत्ति के स्वामी को यह अधिकार था कि वह इस प्रकार हस्तान्तर किया हुआ द्रव्य दूसरे के पास देख राजा से निवेदन कर न्याय करा वापिस ले लेवे। स्वामी को भी बल से छीन लेने का अधिकार न था। इसका कारण केवल यही है कि यदि आपस में वापिस ले लेवे तो उस पर अपराधी छिपाने का दण्ड लगाया जा सकता था। (स्वं लभेतान्य विक्रीतम् (याज्ञ. १६८ व्य.) अस्वामि विक्रयं दानमाधिं वा विनिवर्तयेत्–) अर्थात् स्वामी के अतिरिक्त दूसरे का हस्तान्तर करना न्याय्य नहीं है और स्वामी को द्रव्य वापिस मिलना चाहिए। ऐसा करने का कारण केवल यही है कि इस प्रकार के हस्तान्तर में साधारण हस्तान्तर के इस मुख्य अंग की रक्षा नहीं होती

कि एक की स्वत्व-निवृत्ति और दूसरे के स्वत्व की उत्पत्ति हो । कुटुंबीजन कौटुम्बिक द्रव्य का हस्तान्तर कुछ विशेष अवस्था में कर सकते हैं। कुटुंब के कर्त्ता को कुटुंबी जनों की सम्मति से हस्तान्तर करने का अधिकार है। साधारण कुटुम्बी को द्रव्य पर नियंत्रित स्वामित्व होने के कारण वायदा कभी तो बंधनीय और कभी अव्यवहार्य होता है। वायदा विफल कराने का अधिकार अन्य कुटुम्बियों को है ।

इसी प्रकार विधवा को मृत पति के द्रव्य पर नियंत्रित स्वामित्व होने के कारण विशेष अवस्था में हस्तांतर का अधिकार स्मृतिकारों ने दिया है। यदि उस विशेष अवस्था का अभाव हो तो वायदा विफल कराने का अधिकार शास्त्रकारों ने दिया है ।

(३) वायदा करने वाले दोनों पक्ष स्वरुचि से वायदा करें ।

लेख के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृति में (यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्—याज्ञ० ८४) लिखा है कि लेख में जो कुछ दोनों पक्षों ने स्वरुचि से स्थिर किया हो वही लिखना चाहिए। इससे यह ज्ञात होता है कि वायदा करने वाले दोनों पक्ष 'स्वरुचि' (free consent) से अपनी सम्मति प्रकाशित करें। यदि छल या बल के कारण सम्मति दी होवे तो बंधनीय वायदे की उत्पत्ति नहीं होती। बलोपधिकृतान्दते, भयोपधि कृतं तथा—इत्यादि वाक्य इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

(४) दोनों पक्ष एकही पदार्थ के विषय में रुचि प्रकट करें ।

यदि वायदा करने वालों में से एक पक्ष विशिष्ट पदार्थ के विषय में सम्मति प्रकाशित करे और दूसरा पक्ष जो दूसरा पदार्थ समझकर अपनी सम्मति देवे, तो एक पदार्थ के विषय में दोनों पक्षों की सम्मति न होने के कारण वायदा बंधनीय नहीं होता था (यः कश्चिदर्थो, याज्ञ. ८४) प्रत्येक वायदे में द्रव्य के स्वामी की प्रवृत्ति ही मुख्य अंग मानी जाती है। ऊपर लिखी अवस्था में दूसरे पक्ष में स्वामी के मन की प्रवृत्ति विदित न होने के कारण वायदे की उत्पत्ति होना असंभव है ।

(५) वायदे का उद्देश राजा तथा प्रजाजन के हित के विरुद्ध नहीं होना चाहिए ।

भाषापत्र अर्थात् अर्जीदावे के विषय में यह लिखा हुआ है कि अर्जीदावों के जो विषय राजा के अथवा समस्त प्रजाजन तथा राष्ट्र के हित के विरुद्ध होवें वे व्यवहार-योग्य नहीं हैं और न्यायाधीश उनपर विचार न करें।—राज्ञा विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत् । राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च । अन्ये वा ये पुरग्राममहाजनविरोधकाः । अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः—याज्ञ., मिताक्षरा टीका, श्लोक ६) जिस भाषापत्र का विषय इस प्रकार का होवे कि जिसके विषय में राजा ने स्पष्ट मनाई कर दी हो या समस्त प्रजाजन, राष्ट्र तथा नागरिकों के हित के विरुद्ध हो उसे नहीं लेना चाहिए (The plaints should not be admitted) । जैसे—देवदत्त और यज्ञदत्त के बीच के दोनों पक्षों ने यह वायदा किया कि यदि यज्ञदत्त चोरी करे तो देवदत्त अपना मकान यज्ञदत्त को देवे । इस वायदे के अनुसार यज्ञदत्त ने चोरी की और देवदत्त से मकान माँगा और

उसके न देने पर राजशासन की मदद के लिए भाषापत्र के द्वारा यह याचना की कि देवदत्त से वायदे के अनुरूप मकान दिलाया जावे; पर यह वायदा प्रजाजन के हित के विरुद्ध होने के कारण बंधनीय नहीं है, और भाषापत्र अनादेय होने के कारण यज्ञदत्त की याचना व्यर्थ है ।

भारत-गीत

६८

(१)

सीधे पन्थ को गहो
गहो जो सीधे पन्थ को प्यारे तो सुखवन्त रहो

(२)

सीधे सीधे बात विचारो, सीधे बात कहो
सीधे बको, झको और झिड़को, सीधे झिड़क सहो
सीधे पन्थ को गहो

(३)

सीधे सीधे कारज साधो, सीधे भार बहो
सीधे करो सन्त-जन-संगत, जो दुख-अन्त चहो
सीधे पन्थ को गहो

श्रीपद्मकोट,
प्रयाग ३-७-१७ } —श्रीधर पाठक

'पूर्ण' कवि कृत 'स्वदेशी कुण्डल'।

(लेखक—पं० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, बी. ए.)

(समालोचना)

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा कही जाती है; परंतु अतीव शोक की बात है कि उसमें देशभक्ति-सम्बन्धी उत्तम काव्यों का प्रायः अभाव है । 'भारत-भारती', 'भारत-गीताञ्जलि' आदि कुछ इने-गिने उत्तम ग्रन्थों को छोड़कर उसमें इस प्रकार की बहुत कम कविताएँ हैं । यह हिन्दी का दुर्भाग्य है ।

हम आज अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कानपुर के स्वर्गीय राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' कृत "स्वदेशी कुण्डल और प्रदर्शिनी-स्वागत" नामक पुस्तक का परिचय पाठकों को कराते हैं । यद्यपि यह २६ पृष्ठों की छोटी सी पुस्तक दिसम्बर, सन १९१० में "सर्वसाधारण के हृदय में स्वदेशी का उत्साह उत्पन्न" करने के निमित्त उस वर्ष की "प्रयाग-प्रदर्शिनी के चिरस्मरणार्थ सच्चे स्वदेशी के सच्चे अनुरागियों को" अर्पण की की गई थी; परन्तु हिन्दी-संसार अभी इससे बहुत कम परिचित है ।

पहिली कविता 'स्वदेशी कुण्डल' ५२ "कुण्डलियों का मण्डल है" । हिन्दी में गिरिधर कविराय और बाबा दीनदयाल के अतिरिक्त बहुत कम लेखकों ने इस छन्द में कविता की है । इसका कारण जो कुछ हो, परन्तु यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि कुण्डलिया छन्द में विशेष प्रकार की मधुरता एवं रोचकता होती है । दूसरी पंक्ति के उत्तरार्ध को तीसरी पंक्ति में दुहराने और आदि के पद को अन्त में लाने से जो श्रुति-माधुर्य की वृद्धि होती है वह पढ़कर ही अनुभव की जा सकती है । कुछ भी हो, उपरोक्त कुण्डलियों में तो इस बात से अवश्य अधिक माधुर्य आगया है । किसी कुण्डलिया में तो दोहे के चौथे चरण का रोला के प्रथम चरण में दोहराना बहुत उत्तमता से किया गया है । छन्द के आदि-पद का अन्त में लाना तो प्रायः सभी

कुण्डलियों में बड़ी उत्तमता से साधा गया है और व्यर्थ पुनरुक्ति न करके कवि ने कहीं कहीं दोनों को भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है जो दूसरे कवियों से बहुत कम बनता।

दृष्टान्त लीजिए—

पुर्जे किसी मशीन के, हों कहने को साठ।
बिगड़े उनमें एक तो, हों सब बाराबाट ॥
हों सब बाराबाट, बन्द हो चलना कल का।
छोटा हो या बड़ा, किसी को कहो न हलका ॥
है यह देश मशीन, लोग सब दर्जे दर्जे।
चलें मेल के साथ, उड़ें क्यों पुर्जे पुर्जे ॥

चीनी ऊपर चमचमी, भीतर अति अपवित्र।
करते हो व्यवहार तुम, है यह बात विचित्र ॥
है यह बात विचित्र, अरे निज धर्म बचाओ।
चौपायों का रुधिर, अस्थि अब अधिक न खाओ ॥
है यह पक्की बात, बड़ों की छानी-बीनी।
करो भूल स्वीकार, करो मत नुक्ताचीनी ॥

ये कुण्डलियाँ खड़ी-बोली में हैं। सन १९०४ में कवि ने "चन्द्रकला भानुकुमार" नाटक की भूमिका के पृष्ठ ८ पर यह भविष्यद्वाणी की थी कि 'जब तक हिन्दी में तुलसी, सूर, केशव इत्यादि कवियों की कविता का आदर है, तबतक और जबतक खड़ी बोली में उनकी कविता के समान सरस, सुन्दर और सर्वमान्य वृहत्काव्य-कलाप प्रस्तुत होकर प्रचलित नहीं होता, तब तक पद्य-भाषा का न मान घटेगा और न खड़ी बोली पद्य में बैठने को जगह पावेगी।" पाठकगण देख सकते हैं कि न तो अभी तक उक्त कवि-रत्नों का हिन्दी में मान ही घटा है और न खड़ी बोली में उनकी कविता का सा 'सरस, सुन्दर और सर्वमान्य' कोई बृहत्काव्य ही बना है। परन्तु छः वर्षों के अनन्तर ही 'पूर्ण' जी ने स्वयं खड़ी बोली में कविता करने का प्रयत्न किया और उन्होंने बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। जिन लोगों ने उनकी रचना को ध्यान से पढ़ा है वे यह कह सकते हैं कि 'पूर्ण' जी शनैः शनैः ब्रजभाषा से खड़ी बोली में खिसक रहे थे यहाँ तक कि हमारे देखने में उनके अन्तिम वर्षों की लिखी हुई केवल खड़ी-बोली ही की कविताएँ आई हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि 'पूर्ण' जी की इस कविता में तो फारसी की बू आती है। ठीक है; पर इसका कारण कवि के शब्दों में ही सुन लीजिए। वे कहते हैं कि "जिसे थोड़ा बहुत हिन्दू, मुसलमान दोनों समझें......और इसके अतिरिक्त इस गाथा में उर्दू-हिन्दी का मेल मानो हिन्दू-मुसलमानों के मेल का नमूना है।" ये हैं राष्ट्रकवि के से विचार।

कवि ने यह स्वीकार किया है कि "इस पुस्तक में स्वदेशी का पूरा विषय" नहीं आया; परन्तु हमारी राय में जो कुछ इन २६ पृष्ठों के अन्तर्गत है वह किसी भी निर्जीव पुरुष में जान फूंकने में समर्थ है। एक बार पुस्तक लेकर पढ़िए, फिर बिना समाप्त किए छोड़ने को जी नहीं चाहता। स्वदेशी-वस्तु के प्रयोग और पारस्परिक एकता का उपदेश बड़ी रोचक, उत्तेजक एवं सरल भाषा में पढ़ने को मिलेगा।

"देशी प्यारे भाइयो! हे भारत-सन्तान।
अपनी माता भूमि का है कुछ तुमको ध्यान?"

इन शब्दों से पुस्तक का प्रारम्भ होता है। तदनन्तर परमेश्वर, राजा, देश के प्रति भक्ति-भावना की आवश्यकता बतलाई गई है। इन

तीन शब्दों—God crown और country—के क्रम में शायद श्रीमती बीसेंट के प्रभाव की झलक है; क्योंकि (for God, crown and country) ये शब्द एक प्रकार से उनके राजनैतिक सिद्धान्तों के मूल मन्त्र हैं और जिसे शक हो वह उनके ग्रन्थों, उनके पत्र "न्यू-इंडिया" तथा थियोसोफ़िकल सोसाइटी के काग़ज़ों में इसकी छाप देख लें। साथ ही, यह इस बात का भी यथेष्ट प्रमाण है कि उन दिनों 'पूर्ण' जी श्रीमती बीसेण्ट के एक प्रकार से उपासक थे।

इस पुस्तक से तथा उनकी लिखी हुई इसकी भूमिका से कवि के राजनैतिक विचारों का भी पता चलता है। उनकी राय है—"एक्स्ट्रीमिस्ट (गर्म) दल की प्रणाली से देश का भला नहीं हो सकता"। हम किसी दल विशेष के पक्ष का मण्डन न करके यहाँ केवल इतना कहेंगे कि इस 'कुण्डल' के लेखक की देशभक्ति में कोई कसर नहीं थी, अभीष्ट बिन्दु तक पहुँचने के लिए वे चाहे जैसे मार्ग के पक्ष में रहे हों। यदि वे आज जीवित होते तो, सम्भव है, उनके विचारों में परिवर्तन हो जाता; परंतु उनके कुछ विचार, जो इस कविता में प्रदर्शित हैं, भारत-राष्ट्र के लिए सदैव उपयोगी हैं। देखिए, किन ज़ोरदार शब्दों में वे हिन्दू-मुसलिम और समस्त भारत की एकता की आवश्यकता बताते हैं—

दामनगीर निफ़ाक़ है, हाय हिन्द! अफ़सोस।
बिगड़ रहा अख़लाक़ है, वाय हिन्द अफ़सोस॥
वाय हिन्द, अफ़सोस! ज़माना कैसा आया।
जिसने करके सितम भाइयों को लड़वाया॥
मुसल्मान हिन्दुओ! वही है क़ौमी दुश्मन।
जुदा जुदा जो करै फाड़कर चोली दामन॥

बरस कई सौ पेश्तर को हक़ के तहरीक।
दो भाई बिछुरे हुए हो जावें नज़दीक॥
हो जावें नज़दीक हिन्द में दोनों मिलकर।
लड़े भिड़े, फिर एक हुए कर मेल बराबर॥
यह दोनों का साथ रज़ाए रब से समझौ।
हम दोनों को मिले हुए अब कई बरस सौ॥

बन्दे हो सब एक के, नहीं बहस दरकार।
है सब क़ौमों का वही ख़ालिक़ अरु करतार॥
ख़ालिक़ अरु करतार वही मालिक परमेश्वर।
है ज़बान का भेद नहीं मानी में अन्तर॥
हो उसके ज़र अक्स करौ मत चर्चे गन्दे।
कह कर 'राम' 'रहीम' मेल रक्खौ सब बन्दे॥

इस प्रकार एकता का उपदेश देकर 'पूर्ण' जी भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति का वर्णन करते हैं—

खेती है इस देश में सब सम्पत की मूल।
कोहनूर इस कोश में हैं कपास के फूल॥

परन्तु भारत के दुर्भाग्य से विदेशी-व्यापारी उसका सब धन लूटे लिए जाते हैं। कवि ने स्वदेशी वस्तु के उपयोग के लिए संकेत करते हुए क्या ही सच्ची दशा दिखाई है कि—

भैंसी की जब मर गई पड़िया चतुर अहीर।
कम्बल की पड़िया दिखा लगा काढ़ने क्षीर॥
लगा काढ़ने क्षीर, भैंस भैसइ बेचारी।
यही समझती रही, यही पुत्री है प्यारी॥
नहीं स्वदेशी बन्धु, बात यह ऐसी वैसी।
हौ मानुष तुम सही, किन्तु हौ सोई भैंसी॥

और भी—

गाढ़ा झीना जो मिलै उसकी ही पोशाक।
कीजै अंगीकार तो रहे देश की नाक॥

परन्तु हम लोगों ने तो—

खोया सब, हाँ रही बुद्धि इतनी अलबत्ता।
देकर चाँदी खरी मोल लेते हैं लत्ता॥

इस दशा को बतलाते हुए कवि विदेशी कल-यन्त्रों की आवश्यकता समझाते हैं—

कल है बल उद्योग का कल उन्नति की मूल।
कल की महिमा भूलना है अति भारी भूल॥
है अति भारी भूल और कोरी कलकल है।
दूरदर्शिता नहीं इसीमें सारा बल है॥
कल से सकल विदेश सबल, निष्कल निर्बल है।
भरतखण्ड! कल बिना तुझे, हा! कैसे कल है॥

एक स्थान पर देशानुराग का उपदेश देते हुए कैसी चोखी बात कही है कि जिसे पढ़कर उत्साह का संचार हुए बिना नहीं रहता।

कूकर भरते पेट हैं पर-चरणों पर लेट।
शूकर घूरों घूमकर भर लेते हैं पेट॥
भर लेते हैं पेट सभी जिनके है काया।
पुरुषसिंह हैं वही भरें जो पेट पराया॥
ठहरौ भागौ नहीं, स्वदेशी चर्चा छूकर।
करौ पूर्ण उद्योग बनो मत शूकर कूकर॥
खारा अपना जल पियो मधुर पराया त्याग।
सीठै को मीठा करै पूर्ण देश अनुराग॥
पूर्ण देश-अनुराग सकल सज्जनो निबाहो।
है जो हाँ पर प्राप्त अधिक उससे मत चाहो॥
बिना विदेशी वस्त्र नहीं क्या गुज़र तुम्हारा।
काफ़ी है जो मिलै होय गाढ़ा या खारा॥

इन पद्यों में कवि ने अपना उपनाम किस खूबी से रखा है! इस पुस्तक को पढ़ते समय हमें तो मौलाना हाली के 'मुसद्दस' की याद आये बिना नहीं रहती। जिस प्रकार सरल एवं प्रसाद-गुणयुक्त भाषा में 'मुसद्दस' की रचना हुई है उसी प्रकार "स्वदेशी कुण्डल" में वैसीही मधुरता की छटा विद्यमान है।

इस पुस्तक में कवि के राजनैतिक विचारों पर प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम होता है कि किस स्वाभाविक सरलता से 'पूर्ण' जी खड़ी बोली में भी प्रसाद-गुण-युक्त रचना कर सकते थे; क्योंकि हमारी सम्मति में 'पूर्ण' जी को प्रधानतः ब्रजभाषा का ही कहा कवि कहना उचित है और उनकी सर्वोत्तम कविताएँ ब्रजभाषा ही में हैं।

अन्त में हम 'पूर्ण' जी की देश-भक्ति, और 'मातृ-वन्दना' की कुछ कुण्डलियाँ उद्धृत कर इस परिचय को समाप्त करते हैं।

पानी पीना देश का, खाना देशी अन्न।
निर्मल देशी रुधिर से, नस नस हो सम्पन्न॥
नस नस हो सम्पन्न, तुम्हारे उसी रुधिर से।
हृदय, यकृत्, सर्वांग, नखों तक लेकर सिर से॥
यदि न देश-हित किया कहेंगे सब "अभिमानी,
शुद्ध नहीं तव रक्त, नहीं तुममें कुछ पानी"॥

सपना हो तो देश के हित ही का हो मित्र।
गाना हो तो देश के हित का गीत पवित्र॥
हित का गीत पवित्र प्रेम बानी से गाओ।
रोना हो तो देश-हेतु ही अश्रु बहाओ॥
देश, देश, हा! देश, समझ बेगाना अपना।
रहें झोपड़ी बीच महल का देखें सपना॥

वन्दे वन्दे मातरम्, सदा पूर्ण-विनयेन ।
श्रीदेवी परिवन्दिता, या निज-पुत्र-जनेन ॥
या निज-पुत्र-जनेन पूजिता मान्याऽनूपा ।
या धृत-भारतवर्ष-देश-वसुमती स्वरूपा ॥
तामहमुत्साहेन शुभे समये स्वच्छन्दे ।
वन्दे जनहितकारी मातरम् वन्दे वन्दे ॥

व्यवस्थापिका या क़ानून सभा का स्वरूप ।

(लेखक—"एक राज्यविज्ञानी")

प्रत्येक राज्य के तीन विभाग होते हैं:—(१) जो क़ानून बनाता है, (२) जो उनके अनुसार न्याय करता है, और (३) जो उनको अमल में लाता तथा कई अन्य प्रबंध करता है। पहिले को क़ानून-विभाग, दूसरे को न्याय-विभाग और तीसरे को अमल-विभाग कहते हैं। क़ानून-विभाग जो नियम बनाता है उसी के अनुसार न्याय-विभाग न्याय करता है और उसको फिर अमल-विभाग अमल में लाता है। इसलिए क़ानून-विभाग का महत्व दूसरों से अधिक है। इतनाही नहीं, क़ानून-विभाग अमल-विभाग के कार्यों की समालोचना करता और उसके कार्यों का नियंत्रण भी करता है। इस कारण उसका महत्व और भी अधिक है। अतः यहाँ पहिले पहिल क़ानून-विभाग का ही विचार किया जायगा।

(१) यदि हम वर्तमान संस्थाओं की ओर दृष्टि न दें और प्रचलित राजकीय विचारों को भूल जायँ और फिर प्रश्न करें कि कायदों के बनाने का कार्य किन लोगों को सौंपा जाय, तो पहिला और सीधा उत्तर यही मिलेगा कि जो कायदों से अच्छी तरह परिचित हों उन्हीं के हाथ यह कार्य सौंपा जाय। जान स्टुअर्ट मिल का मत है—"कायदे बनाने के समान कोई अन्य बौद्धिक कार्य नहीं जिसमें अनुभवी और संस्कृत लोग ही नहीं, किन्तु सतत अभ्यास करके दक्षता प्राप्त हुए लोगों की अत्यंत आवश्यकता है। इस बात का ठीक ठीक और दूरदृष्टिपूर्वक विचार करना चाहिए कि कायदे के एक अंश का दूसरे अंश पर क्या परिणाम होगा। इस प्रकार जो कायदा बने उसका पहिले के कायदों से कोई विरोध न हो, उनमें वह पूरा स्वतंत्र स्थान पा सके।"× जो कायदे बनाने का पेशा करते हैं, वे ही कायदों के अच्छे जानकार हो सकते हैं। जान स्टुअर्ट मिल के तत्वानुसार यदि कार्य किया तो यह आवश्यक होगा कि

× मिल ने आगे यह भी कह डाला है कि एक बड़ी भारी सभा में कायदे के एक एक शब्द पर विचार करना असम्भव है। इसलिए २०-२२ लोगों की एक कानून-समिति रहे और वह कायदों के मसविदे बनाया करे। कानून सभा उसे बतला दे कि अमुक विषय पर अमुक तरह के कायदे का मसविदा बनाओ। एक बार कायदे का मसविदा बन गया कि वह कानून सभा द्वारा बिना किसी परिवर्तन के या तो ज्यों का त्यों स्वीकृत कर लिया जाय या फिर अस्वीकृत किया जाय। यदि उसका केवल कुछ भाग ही ठीक जान पड़े तो पुनर्विचार के लिए कानून-समिति के पास भेजा जाय।

यह योजना देखने में तो ठीक है; पर उसमें एक तो कायदे बनाने की पद्धति में बड़ा भारी परिवर्तन हो जाता है; दूसरे कायदों के बनाने के अधिकारों का इस रीति से कुछ बँटवारा हो जाता है, जो हानिकारक है। हाँ, यह अवश्य किया जा सकता है कि कायदे की स्वीकृति के पहिले उसपर विचार करने के लिए एक समिति बैठायी जाय जो उसके दोषों को दूर कर सके और उसके सूक्ष्म परिणामों को दिखला सके। ऐसी समिति की इन सूचनाओं पर कानून-सभा अवश्य ध्यान देगी और उन्हें स्वीकार भी करेगी। इस प्रकार प्रचलित और नये बनने वाले कायदे में बहुत सुधार हो सकेगा। हाँ, एक बात ध्यान में रहे कि उस समिति की प्रत्येक बात को स्वीकार करने के लिए कानून-सभा बाध्य न होनी चाहिए। यह समिति जो कुछ कहे, वह केवल सूचना-रूप में ही रहे। यदि उसकी कही हुई कोई भी बात छोड़ देने को कानून-सभा स्वतंत्र रहे, तब ही इस समिति से सच्चा लाभ हो सकेगा।

कायदा बनाने के लिए इन पेशेवालों को ही यह कार्य सौंपा जाय। कायदों के मसविदे क़ानून के ज्ञाता ही बनावें और मूल मसविदे में यदि कोई हेरफेर किया जाय, तो उसका विचार ये लोग अवश्य कर लें, पश्चात् क़ानून-सभा उसे कायदे का रूप दे। इस प्रथा के बहुत से विरोधी कारण भी हैं। क़ानून बनाने का पूरा तो क्या, मुख्य भाग भी क़ानून के पेशे वालों के हाथ नहीं सौंपा जा सकता है।

पहिला कारण यह है कि प्रचलित अथवा बनने वाले कायदों के भले-बुरे परिणामों का विचार करना एक बात है और प्रचलित कार्यों का वर्तमान स्थिति से संबंध जानना दूसरी बात है। यद्यपि कायदों का ज्ञान दोनों में आवश्यक है, परन्तु दोनों स्थितियों में ज्ञान का उपयोग, उससे बनने वाली मन की प्रवृत्ति, ध्यान में रखने योग्य मुख्य बातें इत्यादि भिन्न भिन्न होती हैं। कायदों को किसी विषय में लागू करने की योग्यता किसी में स्वभाव और शिक्षा से आ सकती है। यद्यपि न्यायाधीश और वकील आदि यही कार्य करते हैं; परन्तु बहुत सम्भव है कि उनमें उन कायदों को आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की योग्यता भले ही न हो। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कायदों के अनुसार न्याय करते समय न्यायाधीश प्रचलित कायदे को आदर-पूर्ण दृष्टि से देखे। रिशवत, धमकी, पक्षपात, या व्यक्तिविषयक प्रेम के कारण कायदे में परिवर्तन करने की कोई प्रवृत्ति उसके हृदय में न हो। वह उपयोगिता अथवा वास्तविक न्याय के प्रलोभन से लुब्ध होकर अपने कार्य से कभी न डिगे। प्रत्येक न्यायाधीश उपयोगिता अथवा वास्तविक न्याय का अपनी ही दृष्टि से विचार करेगा और इस कारण कायदा इतना बदल जावेगा कि उसमें निश्चितपन रहेगा ही नहीं, वह नितांत अनिश्चित हो जावेगा। ऐसा होने से उसमें कई स्वार्थ का समावेश हो जावेगा। इसलिए न्यायाधीशगण प्रचलित कायदों को पवित्र समझें और उनमें अपने ही हाथ से परिवर्तन करने की प्रवृत्ति न रखें। यदि मन का झुकाव एक बार ऐसा हो गया, तो वे लोग कायदों में हेरफेर करने अथवा नये कायदे बनाने के योग्य न समझे जायँ। इतना ही नहीं, किन्तु हेरफेर करने की प्रवृत्ति उस दशा में उनमें रह ही नहीं सकती। वे तो यही पसन्द करते हैं कि कायदा जैसा कुछ बना हो, वैसाही रहने दिया जाय। अतः कायदों के जाननेवालों को कायदा बनाने में मुख्य भाग नहीं दिया जा सकता।

(२) आदर्श क़ानूनकर्त्ता का काम वकील न्यायाधीश के समान केवल कायदा जान लेने से ही न चलेगा, उसे कई अन्य बातें भी जानना चाहिए। उसे यह भी मालूम हो कि उन कायदों का समाज से क्या संबंध है, जिन लोगों से उनका संबंध है उनपर उनके क्या परिणाम होते हैं, आगे पीछे और क्या परिणाम होंगे, इत्यादि। इतनी दूरदृष्टि उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि समाज की अनेक बातों से वह परिचित रहे। अपने अनुभव के बिना अथवा अनुभवी पुरुषों से वार्तालाप किए बिना ये बातें ज्ञात नहीं हो सकतीं। सामाजिक विकास का मुख्य प्रवाह किस ओर बह रहा है, भिन्न भिन्न सामाजिक कारणों के क्या परिणाम होते हैं, आदि बातें जानना भी आवश्यक है। आजकल की क़ानून-सभाओं के सामने जो जो कठिन प्रश्न उपस्थित होते हैं उन सबको जानने और समझने वाले कितने मनुष्य होते हैं? इसलिए प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन की अनेक बातें जिन्हें निज अनुभव से मालूम हैं, और जिनमें अन्य तरह की योग्यता भी है, ऐसे लोगों का क़ानून बनाने वाली संस्था में सम्मिलित होना आवश्यक है। आजकल की क़ानून-सभाओं में ऐसे ही पुरुष दीख पड़ते हैं।

(३) क़ानून-सभा में इस प्रकार चुने हुए प्रतिनिधियों को रखने का केवल यही एक मुख्य कारण नहीं है। इससे अधिक महत्व की बात यह है कि जिस समाज के लिए कायदे बनते हैं उसके भिन्न भिन्न भागों के हित पर ये लोग लक्ष्य दें। यह अच्छी तरह तब ही सिद्ध हो सकता है जब कि क़ानून-सभा के सदस्य

कुछ नियत काल के लिए लोगों के द्वारा स्वतंत्र रूप से चुने जायँ, अन्यथा नहीं। क्योंकि यदि पद अथवा पुरस्कार के कारण क़ानून-सभा के सदस्य का पद आकर्षक रहा, तो वे लोग फिर से चुने जाने का प्रयत्न करेंगे और वे उसी दशा में फिर से चुने जावेंगे जबकि वे लोगों की भलाई करें, नहीं तो लोग उन्हें फिर क्यों चुनेंगे।

दीवानी के कायदों का एक मुख्य तत्व यह है कि सब प्रौढ़ पुरुष (जिनका दिमाग़ बिगड़ा न हो) अपने हित को जान सकते हैं और उन्हें उसकी रक्षा की पूर्ण इच्छा भी रहती है। इसलिए वे शक्ति रहते अपने हित का साधन खुदही करें। इन बातों में कायदे के हस्तक्षेप की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। इसी तरह लोगों के चुने हुए पुरुष उनकी आवश्यकताओं को भली-भाँति जान सकते हैं, दूसरे नहीं। इसलिए क़ानून बनाने की संस्था में लोगों के प्रतिनिधि ही रहें, अमल-विभाग के अधिकारियों द्वारा नियुक्त पुरुष नहीं।

(४) ऊपर जो कुछ कहा गया है वह कर (Tax) के विषय में तो पूर्णतया लागू होता है। कर के लेने का अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि किसी मनुष्य के निजी धन में से ज़बरदस्ती हिस्सा माँगना। जिन राज्य-शासनों में अधिकारियों पर भरपूर दबाव नहीं रहता, वे अधिक कर वसूल करने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं और शासित लोगों को इसमें सदा हानि होने की संभावना बनी रहती है। हाँ, यह हम मानते हैं कि किसी भी प्रकार के राज्य-प्रबंध में कर के सम्बन्ध से कोई भी पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं ले सकता, तथापि जहाँ कर देने वाले लोगों के प्रतिनिधि रहते हैं, वहाँ यह डर कम हो जाता है। इतिहास से विदित है कि इस पद्धति का यह बड़ा भारी लाभ है। केवल इसी एक कारण से ही प्रतिनिधि-पद्धति नितांत आवश्यक है।

(५) इसीके समान बड़ा भारी एक और कारण है। निर्वाचित लोगों के बनाये कायदे, सम्भव है, पूर्ण बुद्धिमानी से न बने हों। पर यदि वे लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं, तो सर्व-साधारण उनका स्वीकार विशेष रूपसे करेंगे। सरकार द्वारा नियुक्त पुरुषों ने यदि कायदे बनाये तो लोग उनका इतना आदर न करेंगे। इससे जनता और सरकार के बीच विशेष विरोध हो जावेगा। अपने चुने हुए प्रतिनिधि की बतलाई हुई बातों के अनुसार चलने को हम अधिक तत्पर रहते हैं। यही बात कायदों के विषय में भी चरितार्थ होती है। इसलिए क़ानून-सभा में हमेशा लोगों के प्रतिनिधि ही रहें।

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि फिर प्रतिनिधि-रूपी मध्यस्थों की आवश्यकता ही क्या? सारे प्रौढ़ लोगों की सभा बना डालो और उन्हें कायदे बनाने दो। हाँ, कुछ अंश में यह उचित ही नहीं, कभी कभी आवश्यक भी होता है; परन्तु इस पद्धति के विरुद्ध एक बड़ा भारी कारण है। सर्व साधारण को कायदे बनाने के लिए आवश्यक योग्यता और शिक्षा नहीं मिली रहती। कायदा बनाना सरल कार्य नहीं है। यह कला अवगत करने के लिए श्रम और समय चाहिए। साधारण लोग यह नहीं कर सकते। इस कारण कायदों के विषय में निर्वाचक संघ की अनुमति लेने की आवश्यकता होगी; किन्तु इस पद्धति का अनुसरण करना सदैव उचित नहीं।

(६) जो लोग क़ानून-सभा के सदस्य होंगे वे जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हों, ऐसा करने के कुछ और कारण भी बतलाये जा सकते हैं। प्रातिनिधिक राज्य-प्रबंध में लोगों को अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है। सार्वजनिक कार्य करने से उन लोगों को अनेक तरह का ज्ञान मिलता है और उनकी बुद्धि का विकास भी होता है। साथ ही अनेक नैतिक लाभ भी होते हैं। उससे स्वदेशाभिमान, सार्वजनिक कार्य करने की प्रवृत्ति, आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन आदि गुणों का विकास होता है। इतना सब होने पर भी यह कोई न कहेगा कि केवल इन्हीं लाभों की इच्छा से प्रातिनिधिक राज्य-प्रबंध की योजना करनी चाहिए। जो विद्वत्तम होंगे,

वे इस कार्य से शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे, अन्य नहीं। अपने दोषों के परिणामों को कई लोग क्या दूसरे दूसरे कारणों के मत्थे नहीं मढ़ा करते? सब ही अपनी भूलों से शिक्षा प्राप्त नहीं करते। नैतिक गुण और प्रातिनिधिक राज्यपद्धति कुछ अंश में परस्परावलंबी हैं। जहाँ मनुष्यों में ये गुण होंगे, वहां इस प्रकार की राज्य-पद्धति निर्मित हुए बिना न रहेगी। ऐसे ही जहाँ यह पद्धति रहती है, वहाँ इन गुणों का थोड़े बहुत अंश में विकास हुए बिना नहीं रहता।

(७) सारांश यह है कि क़ानून-सभा के सदस्य लोगों के ही प्रतिनिधि हों। ऐसा होने से उनके कायदे, उनके बनाये नियम, उनका निश्चित किया हुआ कर लोगों को स्वीकार होगा। इससे लोगों के हित की रक्षा होगी। कायदों का और समाज का परस्पर मेल बना रहेगा। क़ानून-सभा में सरकार के नियुक्त लोगों का रहना विशेष लाभकारी नहीं। व्यवस्थापिका या क़ानून-सभा का स्वरूप प्रातिनिधिक ही होना चाहिए।

कांग्रेस का ध्येय और संगठन।

(लेखक—श्रीयुक्त सिद्धनाथ)

सन् १८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी राज्य-लीला का संवरण कर स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया की सरकार के हाथों में भारत के भाग्य की कुंजी सौंप दी थी। इसके पूर्व इंग्लैण्ड की व्यापारी कम्पनी सन् १६९९ से १७७२ तक धीरे धीरे अपना व्यापार बढ़ाती रही और भारत के परस्पर लड़ने वाले राजाओं और नवाबों में बीचबचाव करने के बहाने ज़मीन पर स्वत्वाधिकार प्राप्त करती रही। जब उसकी राजनैतिक शक्ति बढ़ गई, अर्थात जब वह एक मामूली व्यापारियों की जमात की हैसियत से बढ़कर विस्तृत भूमि की मालिक बन गई, तब उसने अपने व्यापार की वृद्धि के लिए अपने 'राज्य' का उपयोग करना शुरू किया। राज्य प्रजा के लिए होता है, किन्तु कम्पनी उसे व्यापार की दृष्टि से करती थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड की उस समय की सरकार ने लार्ड नार्थ का क़ानून पास कराया, और १७७२ से १८५८ तक कुछ परिवर्तनों के साथ कम्पनी और इंग्लैण्ड की सरकार दोनों का सम्मिलित अधिकार भारत की प्रजा पर चलता रहा। सन् १८५७ के विद्रोह ने उस समय की प्रचलित शासन-प्रणाली की अनुपयोगिता सिद्ध की और कम्पनी की सत्ता का अन्त होकर नौकरशाही सरकार की उत्पत्ति हुई।

नौकरशाही सत्ता के प्रस्थापित होने पर भी भारत में किये जाने वाले अत्याचारों का अन्त न हो सका। जिस शासन-प्रणाली में अधिकार और सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथों में रहती है, वहाँ अन्याय का परिमाण अधिक रहता है। यद्यपि मनुष्यसमाज आज तक सर्वांग-पूर्ण शासन-प्रणाली उत्पन्न नहीं कर सका है, तथापि शक्ति और अधिकारों को एकसे अधिक आदमियों के हाथों में देने वाली शासन-पद्धति आदर्श शासन-पद्धति के मार्ग की प्रथम सीढ़ी कही जा सकती है। इसी तरह के विचारों के कारण सन् १८८५ में, जब लार्ड डफ़रिन भारत के वाइसराय थे, मि० ह्यूम नामक एक अंग्रेज़ सज्जन की सहायता से शिक्षाप्राप्त भारतवासियों ने एक सभा बनाई जिसका हेतु केवल यही था कि अधिकारियों के पास जनता के मत को पहुंचाया जाय। इस सभा का नाम 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' रखा गया और श्री० डब्लू-सी. बैनरजी महोदय के सभापतित्व में उसका प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ। पहिली सभा में कुल ७२ प्रतिनिधि उपस्थित हुए थे, किन्तु धीरे धीरे इसकी लोकप्रियता बढ़ी और आज हम देख रहे हैं कि ५, ६ हज़ार से अधिक प्रतिनिधि कांग्रेस में सम्मिलित होते हैं।

कांग्रेस के स्थापित होने से देश का एक अंश जो आज वर्तमान नहीं है, किन्तु शुरू 'अंग्रेज़ी' में वर्तमान था, मारकाट के मार्ग से परावृत्त हुआ

और कांग्रेस के मुख से अपनी अड़चनों का रोना रोने की ओर उसकी प्रवृत्ति गई! यह मनुष्य-स्वभाव है कि स्वराज्य के अधिकार खोने वाली पीढ़ी, शस्त्रास्त्र के न रहते हुए भी, अपने पूर्व वैभव की प्राप्ति के लिए सशस्त्र प्रयत्न करने पर उतारू रहती है। जिस समय हमारे यहाँ कांग्रेस का निर्माण हुआ था उस समय वे लोग भारत में मौजूद थे जिन्होंने पेशवाई का अंत देखा था, निज़ाम की पराधीनता का अनुभव किया था, दिल्ली की दौलत का विनाश सहा था और पंजाब की पराधीनता का किस्सा सुना था। आज हम उन लोगों तथा तत्कालीन शासकों के भावों का पूरी तरह अनुभव नहीं कर सकते, तथापि यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि सशस्त्र लड़ाई झगड़े के भावों को धारण करने वाले लोगों के विचारों को 'शान्तिपूर्ण' आन्दोलन के मार्ग में बदल देने के लिए कांग्रेस के जन्म के समय के ब्रिटिश अधिकारियों ने मि० ह्यूम की योजना को अवश्य ही सराहा होगा और शान्ति-स्थापक के नाते उनको हर तरह भीतरी सहायता दी होगी। अस्तु।

कांग्रेस का जन्म होने पर भी करीब २५ वर्ष तक वह अपना ध्येय, संगठन और नियम न बना सकी। सन १८८७ की मद्रास कांग्रेस में नियमादि बनाने की चर्चा हुई, किन्तु मि० ह्यूम ने उसे असामयिक समझा। सन १८८९ की बम्बई कांग्रेस में यह बात स्वीकार की गई कि कांग्रेस-प्रान्त के प्रत्येक दश लाख आबादी के लिए ५ प्रतिनिधि कांग्रेस में लिये जायँ। सन् १८९९ की लखनऊ कांग्रेस में फिर नियम बनाये गये, सन १९०० की लाहोर कांग्रेस में उनपर पुनर्विचार भी हुआ, किन्तु वे काम में नहीं लाये गये। सन १९०५ की बनारस कांग्रेस में फिर नियमादि बनाये गये और सन १९०६ की कलकत्ता कांग्रेस ने उन्हें स्वीकार कर लिया।

उक्त वर्ष की कलकत्ता-कांग्रेस के सभापति 'भारत के दादा' स्व० दादाभाई नौरोजी महोदय थे। आपही ने अपने भाषण में भारत के स्वराज्य का शंख फूंका था। वृद्ध राजर्षि के शुभाशीर्वाद के पश्चात सन १९०७ की सूरत-कांग्रेस में 'सुधारकों' की लड़ाई हुई। इस समय भारत का वह अंश जो कांग्रेस के जन्मकाल के समय मौजूद था, नहीं रहा था। उसका स्थान अंग्रेजी राज्य की सम्यमय सामग्री से पले हुए 'आन्दोलन-कारियों' ने ग्रहण किया था। कांग्रेस की यह दूसरी पीढ़ी थी। इसी प्रकार तीसरी पीढ़ी के नये लोग कांग्रेस में घुस रहे थे और उस समय के राजनैतिक दासता के कटु अनुभव के अलावा उनके पास और कुछ नहीं था। सूरत की कांग्रेस से कुछ दिन पूर्व कांग्रेस जनता की संस्था हो चली थी किन्तु उसके ट्रस्टी उसे जनता के हाथों में देने को तैयार नहीं थे। उन्होंने कांग्रेस के नियम और उद्देश्य निश्चित करने के लिए एक कमेटी मुकर्रर की और सन १९०८ की अलाहाबाद कांग्रेस ने कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार अपना ध्येय निश्चित किया। इस ध्येय को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रीय दल तैयार नहीं था, इसलिए सन १९१५ की लखनऊ कांग्रेस ने निश्चय किया कि "भारत की राष्ट्रीय सभा का उद्देश्य, भारत के लोगों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के स्वयं-शासित उपनिवेशों की तरह शासन-पद्धति और साम्राज्य में उनकी बराबरी के अधिकारों और जिम्मेदारियों को प्राप्त करना है।" यह ध्येय निश्चय करके कांग्रेस ने निश्चय किया था कि "ये उद्देश्य नैतिक मार्गों से, वर्तमान शासन-पद्धति का स्थायी सुधार करके, राष्ट्रीय ऐक्यता की वृद्धि करके, लोगों में सार्वजनिक भाव जागृत करके, और देश के बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक, तथा औद्योगिक साधनों का संगठन तथा विकास करके, सफल किये जायँ।" इस ध्येय के स्वीकृत होने पर सन् १९०८ से 'वनवासी' बना हुआ राष्ट्रीय दल भी कांग्रेस में सम्मिलित होने लगा जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि जनता को अपनी कांग्रेस मिल गई और वह अपने बहुमत के बल पर गत भाद्रपद मास की कलकत्ते की विशेष कांग्रेस में असहकारिता के प्रस्ताव को पास करा सकी।

इधर यूरोप के महायुद्ध ने लोगों के विचारों में परिवर्तन कर दिया था। भारत की युव-

विषयक सहायता, तथा संसार के स्वातंत्र्य-युग के प्रभाव से प्रभावित होकर इंग्लैण्ड की सरकार ने भारत की शासनप्रणाली में सुधार करने का क़ानून पास किया। यह क़ानून बनाकर नौकर-शाही शासन के साथ साथ प्रातिनिधिक शासन का आरम्भ करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु गत दो वर्षों में नौकरशाही ने जिस निष्ठुरता से व्यवहार किया, उसके देखते 'सुधार' का मेवा जनता को बिलकुल फीका मालूम होने लगा। पंजाब के अत्याचार, हण्टर कमेटी की लीपापोती, भारतसरकार का अत्याचारी अधिकारियों को अभयदान, खिलाफ़त का फ़ैसला आदि बातों के लिए कांग्रेस को गत अगस्त मास में एक विशेष बैठक करनी पड़ी, जिसमें यह तय हुआ कि कांग्रेस का वर्तमान ध्येय और संगठन वर्तमान समय के अनुरूप नहीं है, इसलिए श्री० गांधी, श्री० पटेल, श्री० रंगास्वामी अय्यर तथा श्री० नरसिंह चिन्तामणि केलकर महोदय की एक कमेटी बनाई जाय जो नये ध्येय और नये संगठन का मस्विदा बनाकर ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी को पेश करे। इस कमेटी ने अपना मस्विदा प्रकाशित कराया है, जिसमें कांग्रेस को प्रातिनिधिक स्वरूप देने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

इस मस्विदे में जो ध्येय रखा गया है वह इस प्रकार है—"भारत की राष्ट्रीय सभा का उद्देश्य भारत के लोगों द्वारा समस्त न्यायाकूल और शान्ति-पूर्ण मार्गों से स्वराज्य की प्राप्त करना है।"

आजतक कांग्रेस 'वर्तमान शासन' में सुधार कराकर स्वराज्य प्राप्त करना चाहती थी; किन्तु 'सुधार-क़ानून' ने वर्तमान नौकरशाही शासन का सुधार न करके नये प्रातिनिधिक शासन का आरम्भ कराकर उस ध्येय के शब्दों का वैयर्थ्य प्रगट करा दिया है। अतएव कांग्रेस का नया ध्येय समय की वर्तमान गति को देखते बिल्कुल उचित मालूम होता है। इस ध्येय में "ब्रिटिश साम्राज्य के स्वयंशासित उपनिवेशों की तरह" ये शब्द नहीं हैं, जिनकी कोई आवश्यकता भी नहीं मालूम होती, क्योंकि स्व० दादाभाई नौरोजी ने जब से स्वराज्य शब्द का उपयोग किया था तब से अबतक उसका अर्थ 'ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य' ही समझा गया है। कलकत्ता हाईकोर्ट ने भी एक मामले में स्वराज्य का यही अर्थ स्वीकृत किया है। ऐसी अवस्था में जिन शब्दों से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता उनका निकाल दिया जाना उचित ही है। पुराने नियमों में ध्येय-प्राप्ति के लिए "वैध आन्दोलन द्वारा......" ये शब्द हैं, प्रस्तावित नियमों में उनके स्थान में "समस्त न्यायानुकूल और शान्तिपूर्ण मार्गों से" ये शब्द रखे गये हैं। किसी संस्था का ध्येय और उसकी पूर्ति के उपाय जितनी सरलतापूर्वक कहे जाते हैं, उतनी ही शीघ्रता से साधारण जनसमूह जो देश का मूलधन है उसे ग्रहण करता है। इस के सिवा जब 'सत्याग्रह या असहकारिता' जैसे शान्तिपूर्ण उपायों को भारत-सरकार उसके वर्तमान क़ानून के अनुसार गैरक़ानूनी नहीं समझ सकती, और दश दश वर्षों की किश्तों से स्वराज्य देना स्वीकार करती है, तब एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने के लिए जिन शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन किया जायगा, उनके 'वैध' या 'अवैध' होने की क़ानूनी झंझट से साधारण जनता को मुक्त रखना सर्वथा उचित है।

ध्येय के पश्चात् पुराने और प्रस्तावित नये संगठन में जो महत्त्व का अन्तर है वह कांग्रेस के प्रातिनिधिक बनाये जाने के विषय में है। पुराने नियमों के अनुसार कांग्रेस कमेटियों के अलावा अन्य स्वीकृत संस्थाएँ भी कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेज सकती थीं, किन्तु प्रस्तावित नियमों के अनुसार (१) इण्डियन नैशनल कांग्रेस, (२) प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, (३) ज़िला कांग्रेस कमेटी, (४) तालुका कांग्रेस कमेटी (५) ऑलइण्डिया कांग्रेस कमेटी (६) इंग्लैण्ड की कांग्रेस कमेटी तथा अन्य विदेशी स्वीकृत कमेटियाँ और (७) कांग्रेस की स्वागत समिति तथा प्रान्तीय या ज़िला परिषदें—इनको छोड़ और कोई सभा या संस्था कांग्रेस में सम्मिलित नहीं समझी जावेगी।

पुराने नियमों में कांग्रेस के प्रान्त किसी विशेष सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर नहीं बनाये गये थे, किन्तु नये प्रस्तावित नियमों में १२ के स्थान में भाषा के अनुसार ब्रिटिश भारत के १५ विभाग किये गये हैं। इन विभागों के नाम नीचे दिये हैं:—

(१) मद्रास [तामील भाषा]	केन्द्रस्थान	मद्रास।
(२) आन्ध्र [तेलगू]	,,	मद्रास।
(३) करनाटक [कानडी]	,,	बेलगांव या धारवाड़।
(४) महाराष्ट्र [मराठी]	,,	बम्बई या पूना।
(५) गुजरात [गुजराती]	,,	बम्बई या अहमदाबाद।
(६) सिंध [सिंधी]	,,	हैदराबाद।
(७) सीमान्त प्रान्त सहित पंजाब [पंजाबी]	,,	लाहोर।
(८) दिल्ली, अजमेर-मेरवाडा और ब्रिटिश राजपूताना [हिन्दुस्थानी]	,,	दिल्ली।
(९) संयुक्तप्रान्त [हिन्दुस्थानी]	,,	इलाहाबाद।
(१०) मध्यप्रान्त [हिन्दुस्थानी]	,,	नागपुर या जबलपुर।
(११) बरार और मध्यप्रान्त [मराठी]	,,	नागपुर या अमरावती।
(१२) बिहार [हिन्दुस्थानी]	,,	पटना।
(१३) ओड़ीसा [उड़िया] इसमें बंगाल, आंध्र और मध्यप्रान्त के उड़िया भाग सम्मिलित हैं।	,,	कटक।
(१४) बंगाल और आसाम [बंगाली]	,,	कलकत्ता।
(१५) ब्रह्मा [ब्रह्मी]	,,	रंगून।

आज तक कांग्रेस संगठन में देशी रियासतों को कोई स्थान नहीं था, यद्यपि ब्रिटिश भारत के साथ साथ देशी रियासतों में भी राजनैतिक उन्नति के भाव फैल रहे हैं। प्रस्तावित संगठन में उपर्युक्त प्रान्तों के साथ, देशी राज्य भी सम्मिलित किये गये हैं। किस प्रान्त के साथ किस रियासत का सम्बन्ध रहेगा, यह बात कांग्रेस की बैठकों में तय की जायगी।

पुराने नियमों में कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या नियत नहीं है, और कांग्रेस की संस्थाओं को छोड़ अन्य राजनैतिक स्वीकृत संस्थाओं को भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, जिससे यह पूर्णतया सम्भव है कि एक व्यक्ति यदि चाहे तो, अपने सैकड़ों प्रतिनिधि कांग्रेस में भिजवा कर अपने इच्छानुसार प्रस्ताव स्वीकृत करा ले। प्रतिनिधियों की संख्या अधिक होने से और वह प्रान्तों की जन-संख्या के अनुसार न होने से काम में अड़चन उपस्थित होती है और कांग्रेस पूरी तरह प्रातिनिधिक भी नहीं रहती। नई योजना में प्रत्येक जिला कमेटी प्रति एक लाख आबादी के लिए एक के हिसाब से प्रतिनिधि भेज सकेगी, अधिक नहीं। प्रत्येक प्रान्तीय कमेटी नीचे लिखे अनुसार प्रतिनिधि भेजेगी:—

युक्त प्रान्त १५, बंगाल १४, पंजाब १०, मद्रास (तामिल) ९, बिहार ८, आंध्र ७ महाराष्ट्र ६, गुजरात ६, करनाटक ५, सिंध ४, दिल्ली ३, बरार और मध्यप्रान्त (मराठी) ४, ओड़ीसा ३, मध्यप्रान्त (हिन्दी) ३, ब्रह्मदेश ३, कुल मिला कर १०० प्रतिनिधि।

ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी तथा अन्य विदेशी स्वीकृत कमेटियां पांच प्रतिनिधि भेज सकेंगी। इस तरह प्रस्तावित नियमों के अनुसार कुल कांग्रेस में ज़िला कमेटियों की ओर से ३,२०० प्रतिनिधि (इनमें तालुके और तहसीलें भी सम्मिलित हैं), प्रान्तों की ओर से १०० और देश के बाहर से ५ (कभी इनसे अधिक) कुल मिला कर ३३०५ (या इनसे सौ दो सौ कम ज्यादा), प्रतिनिधि कांग्रेस में सम्मिलित हो सकेंगे। इतने प्रतिनिधियों की सभा में कार्य करना उतना कठिन नहीं है जितना ८ और ६ हज़ार की सभा में। अमेरिका की संयुक्त रियासतों में प्रति ३ लाख आबादी के लिए १ प्रतिनिधि 'हौस आफ़ रिप्रेज़ेंटेटिव्ज़' में भेजा जाता है। कांग्रेस में अबतक केवल मत-प्रचार का कार्य होता आ रहा है। इस अवस्था में जितनी अधिक संख्या प्रतिनिधियों की कांग्रेस में सम्मिलित होगी, उतनाही अधिक राजनैतिक मत-

प्रकार का कार्य होता। किन्तु अब कांग्रेस में गंभीर विचार के साथ भविष्य के कार्य की नीति निश्चित करनी पड़ती है जो एक बड़े समूह में करना असम्भव है। यदि प्रतिनिधियों की संख्या प्रति एक लाख आबादी के लिए एकके स्थान में प्रति चार लाख के लिए एकके हिसाब से रखी जाय तो अधिक सुविधाजनक होगा। हमारा भविष्यत् का 'स्वराज्य' राजाओं या नवाबों का स्वराज्य नहीं होगा किन्तु जनता के समूह के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा शासित राज्य होगा। इस बात को ध्यान में रखते हुए व्यक्तियों की संख्या घटाकर जितनी अधिक प्रातिनिधिकता कांग्रेस में आ सके, उतनी आवश्यक है।

विलायत की कांग्रेस कमेटी की ओर सन् १६१७ तक अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, किन्तु जब से विलायत में आन्दोलन करने के लाभ का अनुभव हुआ, तब से वहाँ की कांग्रेस कमेटी की ओर जनता का विशेष ध्यान आकर्षित हुआ है। पुराने नियमों के अनुसार प्रतिनिधियों का आधा शुल्क ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का धन होता था और उक्त कमेटी आवश्यकतानुसार उस धन को विलायती कमेटी पर खर्च करती थी। नये नियमों में प्रतिनिधियों का आधा शुल्क अनिवार्य रीति से विलायती कमेटी को भेजे जाने की योजना की गई है।

ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी, राष्ट्रीय सभा की कार्यकारी कमेटी है। कांग्रेस प्रस्ताव पास करके कार्यकारी कमेटी उनको कार्यरूप में परिणत करने का उपाय करती है। पुराने नियमों में प्रातिनिधिकता का विचार न करते हुए, मद्रास के १४, आन्ध्र के ११, बम्बई के २०, सिंध के ५, बंगाल—आसाम के २४, युक्त प्रान्त के २५, दिल्ली-अजमेर—राजपूताने के ६, पंजाब-सीमान्त प्रान्त के २०, मध्यप्रान्त के १२, बरार के ६, और ब्रह्मदेश के ५, कुल मिलाकर १६६ प्रतिनिधि रखे गये हैं। प्रस्तावित नियमों में इनकी संख्या प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी द्वारा कांग्रेस में भेजे जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या के अनुसार रखी गई है जिसका ब्योरा ऊपर दिया जा चुका है। पुराने नियमों के अनुसार, ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी में ¼ सदस्य मुसलमान होने चाहिए, किन्तु प्रस्तावित नियमों से यह क़ैद निकाल दी गई है। मांटेगू स्कीम ने हिन्दू मुसलमानों में मेम्बरी के लिए जो विरोध पैदा किया था, उसका असर कांग्रेस पर भी हुए बिना नहीं रहा, किन्तु अब जब कि इस तरह के जाति या धर्मगत प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं है, तब कांग्रेस के नियमों से उसका उठा देना बिलकुल ठीक है।

आज तक "विषय-निर्धारिणी" कमेटी के सदस्य की संख्या या चुनाव का कोई नियम नहीं है। इतनाही नहीं, कांग्रेस की बैठक शुरू होने पर विषय-निर्धारिणी सभा विषय-निर्वाचन करते करते एक दो दिन का व्यर्थ विलम्ब कर देती है, जिससे हज़ारों प्रतिनिधियों को असुविधा और अड़चन पड़ती है। गत अगस्त की कलकत्ते की विशेष कांग्रेस में इस बात का पूरा अनुभव हो चुका है। इन सब अड़चनों को मिटाने के लिए नये नियमों में सूचना की गई है कि ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के मेम्बर ही विषय-निर्धारिणी सभा के सदस्य रहें और वे कांग्रेस अधिवेशन के दो दिन पूर्व प्रस्तावों की तैयारी करलें। स्वागत-समिति और कांग्रेस के प्रेसीडेण्टों के भाषण के विषय में प्रस्तावित नियमों में सूचना की गई है कि वे क्रमशः १५ और ४५ मिनटों में पूरे हो जाने चाहिए, और उनकी अंग्रेज़ी, हिन्दुस्थानी (देवनागरी तथा उर्दू लिपि में) और प्रान्तीय भाषा में लिखी हुई प्रतियाँ प्रत्येक प्रतिनिधि को कांग्रेस-मण्डप में घुसते समय ही दे दी जाया करें। जिन लोगों को कांग्रेस में प्रेसीडेण्टों के छपे हुए लम्बे लम्बे भाषणों को सुनते सुनते नींद आ जाया करती है, उन्हें इस सूचना के स्वीकृत हो जाने पर बड़ा आराम मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तावित नियमों में एक महत्वपूर्ण सूचना और की गई है, वह यह है कि "कांग्रेस की कार्यवाही जहाँ तक संभव हो, हिन्दुस्थानी भाषा में

होवे। यदि यह संभव न हुआ तो प्रेसीडेण्ट के इच्छानुसार प्रान्त की देशी भाषा में या अंग्रेज़ी में होवे।" यह सूचना महत्वपूर्ण इसलिए है कि राष्ट्रभाषा के जानने वाले या केवल प्रान्तीय भाषा जानने वाले लोग भी इसमें भाग ले सकेंगे। इस एक ही सूचना से स्पष्ट होता है कि कांग्रेस के कार्यकर्ता इस बात को मान गये हैं कि कांग्रेस अब इने गिने अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की नहीं वरन अखिल भारतवर्षीय जनता की होती जाती है। हिन्दुस्थानी भाषा में कार्यवाही करना असम्भव होने पर प्रान्तीय भाषा में भी कार्य किए जाने की सूचना प्रस्तावित नियमों में है, किन्तु इससे एक प्रान्त के लोगों को कुछ सुविधा होगी, और शेष १४ प्रान्त वाले चुपचाप बैठे रहेंगे। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि आंध्रदेश के मद्रास में कांग्रेस है। अगर वहाँ की प्रान्तीय भाषा में काम लिया जाय तो अन्य प्रान्त वाले क्या समझेंगे? यह अड़चन तभी तक है जब तक हिन्दी सभी प्रान्तों में अच्छी तरह समझी नहीं जा रही है। किन्तु इसके समझने का उपाय भी तो यही है कि कांग्रेस उसे अपनी 'आफ़िशियल लैंग्वेज' करा दे!

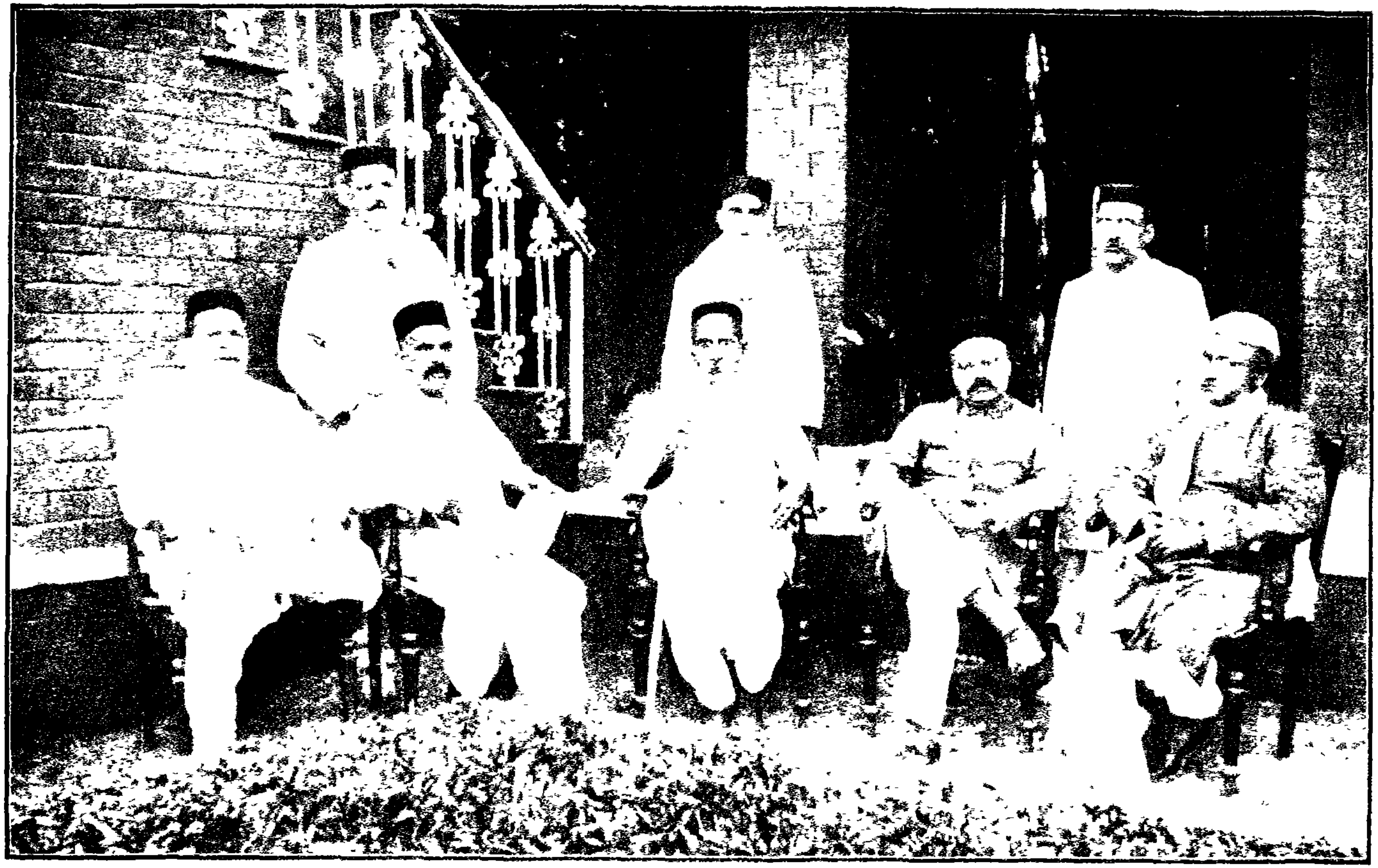
प्रस्तावित नये नियमों के उन अंशों का सार जो पुराने नियमों से भिन्न है, ऊपर दिया गया है। देश की वर्तमान अवस्था और कांग्रेस के कार्य का इतिहास देखते इन नियमों में, थोड़ी बहुत कमी बढ़ी होकर, इनका स्वीकृत होना अत्यंत आवश्यक है। कांग्रेस के अन्य नियमों के स्वीकृत होने में उतनी अड़चन उपस्थित नहीं होगी, जितनी उसके 'क्रीड'—ध्येय के स्वीकृत होने में होगी; क्योंकि वर्तमान नियमानुसार जब तक समस्त प्रान्त के लोग एक मत से न चाहें, तब तक ध्येय नहीं बदला जा सकता। अन्य नियमों के परिवर्तन के लिए ⅔ मत हो जाना पर्याप्त है, इसलिए वे सरलतापूर्वक बदले जा सकते हैं।

कांग्रेस-कमेटी का बनाया हुआ यह मसविदा आगामी २४ दिसम्बर को आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक में नागपुर में पेश होगा और उसके द्वारा स्वीकृत हो जाने पर, खुली कांग्रेस में केवल ज़ाब्ता पूरा करने के लिए वह उपस्थित किया जायगा। समय का वर्तमान प्रवाह तो कहता है, नये नियम अवश्य स्वीकृत होंगे। आगे देखना चाहिए।

विविध विषय।

(१) मध्यप्रदेशीय स्वास्थ्य-विभाग की रिपोर्ट।

उक्त विभाग की गत वर्ष की सरकारी वार्षिक रिपोर्ट अभी हाल में निकली है। आलोच्य वर्ष में यद्यपि प्लेग और इन्फ्लूएंज़ा का ज़ोर बहुत अधिक नहीं था और वृष्टि की दशा प्रान्त भर में अत्युत्तम थी, तथापि लोगों के स्वास्थ्य की दशा इतनी ख़राब रही जितनी अभी हाल में कभी नहीं हुई थी। इसका कारण यह बताया जाता है कि सन १९१८ ई० में समस्त भारत में इन्फ्लूएंज़ा का जो भयंकर प्रकोप हुआ था उसके हानिकारक प्रभाव के कारण लोगों में रोग रोकने की शक्ति कम रही, और दूसरे, मँहगी के कारण भी अधिकांश लोग पूरा पूरा भोजन नहीं पा सके। इन कारणों से जन्म-संख्या बहुत कम और मरण-संख्या बहुत अधिक रही। जन्म-संख्या का यह हाल रहा कि वह प्रति सहस्र ४४ से घटकर ३४ ही रह गई। दूसरी ओर, मृत्यु-संख्या इतनी बढ़ी कि जितनी, इन्फ्लूएंज़ा वाले सन १९१८ को छोड़ कर, पिछले ७ वर्षों में से किसी भी वर्ष नहीं बढ़ी थी। सरकार ने इसके लिए जो कारण बताये हैं वे हमारी दृष्टि में



हिन्दी-व्याकरण-संशोधन समिति के सदस्य।

खड़े — बाईं ओर से

बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामनारायण मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल

बैठे — बाईं ओर से

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० कामताप्रसाद गुरु, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी,

पं० लज्जाशंकर झा और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

सन्तोषप्रदायक नहीं हैं । यदि सरकार के बताये कारण ठीक हैं, तो हमारा प्रश्न यह है कि इन्फ्लूएंज़ा और महँगी का प्रभाव तो ऐसा है जिससे भारतवर्ष का कोई भी प्रान्त नहीं बचा है, फिर क्या कारण है जो अन्य किसी भी प्रान्त में मृत्यु–संख्या इतनी अधिक और जन्म-संख्या इतनी कम नहीं रही ? जो मृत्यु-संख्या मद्रास में गत वर्ष प्रति सहस्र २७·२३ थी वही इस प्रान्त में ४३·२४ थी, अर्थात जहाँ मद्रास में २ आदमी मरे वहाँ मध्यप्रदेश में ३ से भी अधिक ! जन्म-संख्या का भी वही हाल है । जो जन्म-संख्या गत वर्ष पंजाब में ४०·२८ थी वही इस प्रदेश में ३४·३१ ही रही । हमारी समझ में इसका कारण यही है कि मध्यप्रदेश अभी अन्यान्य प्रान्तों से बहुत पिछड़ा है । इस प्रांत का अज्ञानान्धकार अन्य प्रान्तों के अन्धकार की अपेक्षा अधिक निविड़ है । शिक्षा का आलोक यहाँ उतना नहीं फैला है जितना और जगह । यहाँ अस्पतालों की संख्या बहुत कम है और जो थोड़े-बहुत अस्पताल यहाँ हैं भी उनका काम संतोषदायक नहीं है । जिस मध्यप्रदेश के अस्पतालों में २१ साँप-काटे मनुष्यों की चिकित्सा की जाय और उनमें से एक भी अच्छा न हो उस प्रांत के अस्पतालों का काम संतोषप्रदायक कैसे कहा जा सकता है ? यह बात नहीं कि वे सब मनुष्य बहुत देरी से अस्पताल भेजे गये हों । इसका कारण है डाक्टरों की इस ओर उदासीनता और चिकित्सा में भूल । सरकार ने भी इसे अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है । इस दरिद्र देश को आवश्यकता है ऐसे हज़ारों औषधालयों की, जहाँ देशी वैद्यों द्वारा चिकित्सा हो । ऐसा करने से कम खर्च में अधिक लाभ होगा । हमें अस्पतालों की भी आवश्यकता है और वह इसलिए कि अभी हमारे अनेक देशी वैद्य पुरानी शस्त्र-चिकित्सा भूले हुए हैं और जो जानते भी हैं उन्हें अभ्यास करने का यथेष्ट अवसर नहीं मिलता है ।

इस प्रान्त में बालकों की मृत्यु-संख्या गत वर्ष और भी अधिक शोचनीय रही । सन् १९१७ में यह संख्या प्रति सहस्र २२७ थी और वही गत वर्ष २९९ हो गई । कोई ठिकाना है इस मृत्यु-संख्या का ? १००० बालक उत्पन्न होवें और उनमें से २९९ बालक बचपन में ही काल-कवलित हो जावें ! बालकों की मृत्यु-संख्या इंग्लैंड में प्रति सहस्र ९८, आयर्लैंड में ९७, आस्ट्रेलिया में ७२, और नार्वे में ६८ ही है; परंतु अभागे भारतवर्ष में यही संख्या ३०० से ऊपर है । देश के भावी कर्णधारों की दशा हृदय को दहलानेवाली है । जाननेवाले जानते हैं कि बालकों की इस बढ़ती हुई मृत्यु-संख्या के लिए जनता की अज्ञानता और स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों से उनका परिचित न होना अनेकांश में ज़िम्मेदार है । देश में स्त्री-शिक्षा का यथोचित प्रचार न होने के कारण स्त्रियों की बहुत बड़ी संख्या बालकों की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए इसे नहीं जानती । पौष्टिक भोजन के अभाव से उनका शरीर वैसे ही निर्बल रहता है, फिर प्रायः प्रति वर्ष बच्चे उत्पन्न करते रहने के कारण उनके शरीर-यंत्र के पुरज़े ऐसे बेकाम हो जाते हैं कि प्रत्येक प्रसव में उनका जीवन अधिकाधिक संशय में पड़ता जाता है । यह एक मानी हुई बात है कि जिस घर में धन नहीं रहता है वहाँ जन अवश्य अधिक रहते हैं । जिनके पास आज खाने को है तो कल नहीं, उन्हींके यहाँ बच्चे अधिक होते हैं, और

अधिक होते हैं संसार का प्रकाश देखते ही मरने और अपनी माता को शोक-सागर में डुबाने के लिए। इसीलिए तो स्त्रियाँ अधिक मरती हैं। यदि पुरुष मरते हैं १०२, तो स्त्रियों की मृत्यु-संख्या १११ पर पहुँचती हैं। इसी दुर्दशा को देखकर महात्मा गांधी कहते हैं कि अब बच्चे उत्पन्न न किये जायँ। महात्मा जी कहते हैं कि उन्हें गुलाम बनाने के लिए मत पैदा करो और हम इतना और भी कहते हैं कि उन्हें मारने के लिए भी तो मत उपजाओ।

हर्ष की बात है, अब स्कूलों में स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी है और आशा है, प्रत्येक शिक्षित बालक अपने घर में ज्ञानालोक फैलाकर देश की बढ़ती हुई मृत्यु-संख्या को कम करने और जीवित व्यक्तियों को अधिक स्वस्थ और सक्षम बनाने में सहायक होगा। आगामी वर्ष से स्वास्थ्य-विभाग हस्तान्तरित होकर प्रजा के प्रतिनिधियों के हाथों में आवेगा और जनता का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह अपने उत्तर-दायित्व का सम्यक् पालन करने के लिए तैयार हो जाय।

(२) आगामी कांग्रेस के निर्वाचित सभापति।

पाठकों को ज्ञात ही होगा कि कांग्रेस की आगामी बैठक नागपुर में होगी। देश का भविष्य राजनीति की नौका पर आरूढ़ है। शासक-वर्ग का आसन डिग गया है और उनके क्रोध और संकीर्णता के रूप में प्रबल वायु बह रही है जिसमें जनता की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं का दीपक बुझ जावे; पर वे महत्त्वाकांक्षाएँ दीपक नहीं हैं। उन्होंने अग्नि का रूप धारण किया है और वायु का प्रत्येक झोंका उसे और भी प्रज्वलित कर रहा है। हमारी नौका चाहे कितनी ही दृढ़ क्यों न होवे इस समय दूरदर्शिता कहती है कि वह ऐसे कर्णधार की निरीक्षणता में रहे जो उसे सफलता और आनंद के साथ उसके ध्येय के समीप पहुँचा सके। वे कर्णधार निर्वाचित हुए हैं परम आदरणीय सी. विजयराघवाचारियर जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

कांग्रेस इस देश में ३५ वर्षों से अपना काम कर रही है; परंतु मि० विजयराघवाचारियर की सार्वजनिक सेवा का इतिहास कांग्रेस के जन्म के पूर्व से ही आरंभ होता है। आपकी अवस्था इस समय ७० वर्ष से भी अधिक है और आप की सार्वजनिक सेवा की आयु कई नवयुवक नेताओं की वर्तमान आयु से भी अधिक है। आपने देश के लिए जो कुछ किया और सहा है वह अनुकरणीय है। आपका जीवन सत्य और न्याय के पक्ष के लिए उत्पन्न किये गये विरोध से भरा पड़ा है। अपने ज़िले के कलेक्टर के साथ मतभेद होने के कारण आपको आजन्म देश-निर्वासन का कठोर दण्ड दिया गया; पर हाई कोर्ट ने उससे मुक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त, आप अनेक कलेक्टरों और कई गवर्नरों से झगड़ते ही रहे। जब आप म्यूनिसिपल मेम्बर चुने गये, तब गवर्नमेंट आड़े आई और उसने उस चुनाव को रद्द करना चाहा; पर वह ऐसा कर न सकी। आपने मद्रास की कौंसिल में रहकर वहाँ की कार्यकारिणी समिति पर ऐसा आतंक जमाया कि वह आपके नाम से काँपती थी। आप बड़े लाट की कौंसिल में भी रह चुके हैं और इस

समय जब कि लार्ड हार्डिंज पर बम फेंके जाने के पश्चात् अन्य किसी को यह साहस न होता कि वह षड़यंत्र को दबाने के लिए बड़ी कौंसिल में उपस्थित किये गये बिलका विरोध करता उस समय आपही ऐसे थे जिन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ उसका प्रबल विरोध किया था। यद्यपि इस विरोध में उन्हें अपनी पराजय स्पष्ट दिखती थी, तथापि वे पराजय के भय से अपने विचार प्रकट करने से रुकने वाले और इस प्रकार अपनी आत्मा के आदेश के विरुद्ध जाने वाले न थे। उस समय दीवान बहादुरी की खासी बड़ी उपाधि आपको दी जा रही थी और उस समय गवर्नमेंट की दी गई उपाधियों को छोड़ने की मनोवृत्ति लोगों में नहीं थी जैसी कि आज है; परंतु उस समय मि० विजयराघवाचारियर ही ऐसे थे जिन्हें दीवान बहादुरी के बदले में अपनी स्वाधीनता बेचना पसंद नहीं था। लोगों के कृत्यों की जाँच समय की कसौटी पर ही की जाती है और इसलिए इतने वर्ष पूर्व जब कि उपाधि-ग्रहण करने में गौरव समझा जाता था आपका यह उपाधि-त्याग बहुत महत्त्व का है।

आप कट्टर आस्तिक हैं। भोजन में छुआछूत का विशेष विचार रखते हैं। राजनैतिक दलों में आप नेशनलिस्ट (राष्ट्रीय) दल के कहे जा सकते हैं। प्रत्येक देश-हितकारी आन्दोलन में आपका हाथ रहता आया है। ऐसे नेता को पाकर कांग्रेस का आगामी अधिवेशन अपूर्व सफलता के साथ सम्पन्न होगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

(३) असहकारिता और सरकार।

असहकारिता के आन्दोलन की आँच अंत में सरकार तक पहुँच ही गई। उसने अकुलाकर गत ८ नवम्बर को नागपुर से प्रजा को अपनी प्रजा-हितैषिता का शुभ संदेशा देने की आवश्यकता समझी। असहकारिता के विषय में सरकार का कथन इस प्रकार है कि यद्यपि सरकार असहकारिता के आन्दोलन को देश के क़ानून के ख़िलाफ़ समझती है, तो भी उसने इस आन्दोलन के समर्थकों के विरुद्ध अभी तक कोई फ़ौजदारी कार्रवाई न करके केवल उन्हीं पर अपना न्याय-दण्ड छोड़ा है जो उक्त आन्दोलन की सीमा के बाहर गये हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि फिर इस आन्दोलन को अवैध कहने से सरकार का क्या मतलब है। आन्दोलन की सीमा के भीतर काम करने वालों पर सरकार कोई कार्रवाई करने की आवश्यकता नहीं समझती, इससे तो यही समझना चाहिए कि असहकारिता का आन्दोलन देश के क़ानून के विरुद्ध कदापि नहीं है। और, इस निर्णय के लिए इसके प्रवर्त्तक तथा अनुयायी दोनों को प्रसन्न होना चाहिए। भारतवर्ष भर के नेता जिस आन्दोलन की नीति को सर्वथा वैध समझते उसीको सरकार अवैध समझती है। एक विदेशी सरकार और उसकी प्रजा के बीच में हित-विरोध हो सकता है और यह भी सम्भव है कि सरकार के पास हमारे नेताओं से भी बड़े लोग होवें। पर, वह इस आन्दोलन को अवैध समझती हुई भी जो उसका दमन नहीं कर रही है इसमें या तो उसकी उदारता होगी या निर्बलता। राजनीति में उदारता के लिए तो अवकाश ही नहीं रहता; क्योंकि यदि उदारता दिखाई जाती है, तो स्वार्थ में बाधा पहुँचती है और राजनीति स्वार्थ-प्रधान हुआ करती है। यदि सरकार को उदारता ही दिखानी होती, तो पंजाब और खिलाफ़त के प्रश्न उसके सामने थे। और, यदि उसने उन

प्रश्नों के सुलझाने में उदारता से—उदारता से न सही, न्याय से ही—काम लिया होता, तो इस आन्दोलन का जन्म ही न हुआ होता। आश्चर्य की बात तो यह है कि सरकार असहकारिता के आन्दोलन पर तो ध्यान देती है; पर उसके मूल पर अब भी उसकी दृष्टि नहीं जाती है। यदि सुलगती हुई आग के धुएँ को दूर करना है, तो धुएँ के साथ युद्ध करने से काम न चलेगा, काम चलेगा अग्नि को शांत करने से। सरकार इस समय जो शांति-पाठ पढ़ा रही है वह इसी प्रकार का है। वह जो इस आन्दोलन का दमन नहीं कर रही है उसमें उसकी निर्बलता भी नहीं है। उसके पास अब भी मशीन-गन हैं और डायर से बढ़ कर वीर भी उसके पास हो सकते हैं। शायद वह यह समझती हो और उसे यह समझना चाहिए कि इस आन्दोलन में तो सारा देश शामिल है और सारा देश जेल में ठूँसा नहीं जा सकता। यदि ऐसा हुआ तो भारतवर्ष का प्रत्येक घर ही जेल हो जायगा। लोग यही समझेंगे कि पहले भी हम घर में रहते थे और अब भी घर में हैं—पहले भी हम परतन्त्र थे और अब भी परतन्त्र हैं।

सरकार आगे चलकर लिखती है कि वह जो इस आन्दोलन को दबाने में सख्ती नहीं कर रही है उसके कारण ये हैं:—गवर्नमेंट नहीं चाहती कि ऐसे समय में जब कि शासन-सुधार का उषःकाल है लोगों के बोलने और लिखने की स्वतंत्रता में बाधा डाली जाय। सरकार की यह उदारता यदि उसके कामों से प्रकट होती तब तो उसके कथन का कुछ अर्थ भी हो सकता था। पर दिखाई तो यह पड़ता है कि समाचार-पत्रों की जमानतें जब्त की जा रही हैं और सच्चे भावों के प्रकट करने वालों के मुँहों पर ताले लगाए जा रहे हैं। सरकार कदाचित् इस कार्य में और भी आगे बढ़ती; पर सारे देश में ऐसी लहर बह निकली है कि रोके रुक नहीं सकती जब तक कि उसके मूल का मुँह बंद न किया जाय। सरकार का बताया दूसरा कारण यह है कि वह गुमराह, परन्तु नेकनियत रखने वाले, व्यक्तियों के विरुद्ध शस्त्र नहीं ग्रहण करना चाहती; क्योंकि इसका फल यह होगा कि वे शहीद बनेंगे और देश के अन्यान्य लोग उनका साथ देंगे। शहीदों के संबंध में सरकार की यह आशंका सच है। एक गांधी के पकड़े जाने पर अनेक गांधी उत्पन्न होंगे और इस प्रकार जिस आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया जायगा वह और भी बढ़ेगा। तीसरे सरकार का विश्वास है कि भारतवर्ष की जनता समझ से काम लेगी और असहकारिता के आन्दोलन का साथ न देगी जो आन्दोलन कि केवल कल्पना की नींव पर स्थित है और जिसकी सफलता से देश भर में अशांति छा जायगी। सरकार जनता का विश्वास कर सकती है, परन्तु जनता का विश्वास सरकार की प्रजा-हितैषिता पर से उठ गया है और विश्वास का कोई अर्थ तभी हो सकता है जब कि वह पारस्परिक हो। सरकार की इस शक्कर-लपेटी गोली के भीतर जनता हलाहल देख चुकी है और जिनकी आँखें हैं वे उसे कदापि नहीं निगल सकते हैं। मीठे शब्दों में लोग बहुत दिनों तक भूले रहे और अत्याचार सहते रहे। अब लोगों को ज्ञात हो गया है कि जिस अनुनय-विनय के मार्ग पर हम चलते रहे हैं उस मार्ग पर और अधिक चलना निष्फल है। ध्येय जो पहिले था वही अब

भी है। बदला गया है केवल मार्ग। अब जो मार्ग सामने है वह है असहकारिता का—हिंसा-रहित असहकारिता का जिसपर चलते हुए हम सरकार को यह बतावेंगे कि हमारा और आपका संबंध तभी निभ सकता है जबकि हमें आपकी प्रजा-हितैषिता का सच्चा परिचय मिले। यह देश की माँग और पुकार है और जिस दिन यह पुकार सुनी जायगी और उसके अनुसार कार्य होगा उसी दिन यह असहकारिता सहकारिता में परिणत हो जायगी और आज देश की जो शक्तियाँ विघातक कार्य में लगी हैं वेही उस दिन विधायक काम में लगेंगी और सरकार पर ज़रा आँच आते ही देश का प्रत्येक मनुष्य अपने प्राणों पर खेलने को तैयार हो जायगा। अब भी सरकार को चेतना चाहिए और जनता के भावों का निरादर करना छोड़कर आन्दोलन के मूल तक पहुँचने तथा उसे संतोषदायक रीति से दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। दमन-नीति के विरोधी भाव जनता के बढ़े हुए असन्तोष को और भी बढ़ावेंगे और आज की विषम समस्या कल विषम तर हो जायगी।

(४) असहकारिता श्राप नहीं, आशीर्वाद है।

कहा जाता है कि महात्मा गांधी के असहकारिता आन्दोलन से विघातक कार्य हो रहा है, उसमें कोई विधायक तत्त्व नहीं है। पर, देखा जाता है कि लोग किसी जरा-जीर्ण मकान को फिर से बनाने के विचार से उसे पहले नींव से गिरा देते हैं और तब पुनर्निर्माण करते हैं। मकान गिराते समय उन्हें कोई आश्चर्य नहीं होता है और न यह प्रश्न ही उठता है कि इसमें विघातक कार्य हो रहा है; पर इस असहकारिता आन्दोलन में लोगों की दृष्टि विघातक तत्त्व की ओर ही अधिक जा रही है। हमें इस संबंध में एक पौराणिक कथा का स्मरण आता है। एक बार उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र नाचिकेता को श्राप दिया कि "तुझे शीघ्र ही यम का दर्शन हो"। ऋषि के मुँह से श्राप बहिर्गत हुआ नहीं कि ऋषिकुमार नाचिकेता संज्ञा-शून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। एक दिन और रात वह मृतकवत् पड़ा रहा। दूसरे दिन ऋषिने देखा कि पुत्र के शव में कुछ जाग्रति दिखाई देती है। कुछ क्षणों में नाचिकेता उठ बैठा और उद्दालक ने यह विचार कर कि मेरा पुत्र यम के दर्शन कर चुकने के पश्चात् अब अधिक ज्ञानी हो गया है उसे प्रणाम किया। नाचिकेता उल्टी गंगा बहती देख कर भी चकित नहीं हुआ। उसने कहा—"पिता, आपका श्राप भी मेरे लिए आशीर्वाद हुआ। श्राप पाकर मैं यमलोक पहुँचा और यमराज के दर्शन होते ही उन्होंने कहा कि अब तू मर्त्यलोक को जा सकता है। तेरे पिताने यमदर्शन का श्राप दिया था, सो तुझे हो चुके। तब मैंने यमराज से निवेदन किया कि भगवन्! मर्त्यलोक को जाने के पूर्व मैं अपने पुण्य-बल से अर्जित दिव्य लोकों को देखना चाहता हूँ। तब मैंने वे लोक देखे और अब आपके पास खड़ा हूँ।" इस पौराणिक कथा की बात महात्मा गांधी पर घटित होती है। हम इस असहकारिता के आन्दोलन को थोड़े समय के लिए भले ही श्राप समझ लें; परन्तु उस श्राप में छिपी हुई है महात्मा जी की सदिच्छा। ऋषिकल्प गांधीजी की इच्छा है कि भारतवर्ष इस आन्दोलन की

अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर, नाचिकेता के समान, विशेष ज्ञानी और स्वाभिमानी बने— भारतवर्ष अपने अधिकारों को पहचानने लगे और भलीभाँति समझ जाय कि हमारा अस्तित्व इसलिए नहीं है कि हम सदैव दासत्व-पंक में मग्न रहें, वरन हम जीवित राष्ट्र बनें और अपने देश में स्वामी बनकर रहें।

(५) सामग्री-क्रय-समिति की रिपोर्ट।

सर फ्रान्सिस कोचमैन के सभापतित्व में जो सामग्री-क्रय-समिति (The Stores Purchase Committee) बैठायी गयी थी उसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है। रिपोर्ट में भारतीय व्यवसायों के प्रति सहानुभूति प्रकट की गयी है और यही कारण है कि रिपोर्ट बहुत ही महत्वपूर्ण है। मेसर्स कालियर तथा रायन की सम्मति अन्य सभ्यों की सम्मति से न मिलती थी; अतः उन्होंने अपना मत अलग प्रकाशित किया है। समिति का मुख्य उद्देश्य उन चीजों की उपलब्धि का पता लगाना था जोकि सरकारी या अर्ध सरकारी कामों में जरूरी हैं। अभीतक रेल, पुलों का सामान, जहाज, नहर-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ आदि अनेकों पदार्थ इंग्लैंड से ही मँगा लिये जाते थे। यद्यपि ये पदार्थ भारत में भी मिलते हैं, तथापि सरकार इन चीजों को नहीं खरीदती थी। १८६२ के बाद से आजतक भारतसरकार ने सामग्री-क्रय के विषय में जो नीति रखी थी उसपर सामग्री क्रय-समिति का निम्न लिखित आक्षेप है—

(१) भारत के व्यवसायों की उन्नति को सामने रख करके भारत-सरकार ने आजतक आवश्यकीय पदार्थों को नहीं खरीदा और आँखें बंद कर विलायती माल मँगाया, चाहे वह भारत में सस्ता ही क्यों न मिलता रहा हो।

(२) इंडिया ऑफिस के इन्जीनियर तथा अन्य अंग्रेज लोग ही उपरि-लिखित कुनीति में दोषी हैं।

समिति की सम्मति है कि आगे से भारत-सरकार को आवश्यकीय पदार्थों के खरीदने में पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और भारत-सचिव को इस मामले में अपना नियन्त्रण हटा लेना चाहिए। यदि भारतीय व्यवसायों से आवश्यकीय पदार्थ तैयार किया जा सकता है तो उसे अवश्य तैय्यार करवाना चाहिए और उसे विदेश से कदापि न मँगाना चाहिए। स्थानीय राज्यों को भी इसी नीति का अनुसरण करना चाहिए। सरकारी रेल बनाने वाली कंपनियाँ जहाँ से चाहे वहाँ से अपना माल मँगा सकती हैं। परन्तु उनको भी यथासंभव सरकार की नीति की अवहेलना न करनी चाहिए।

इसमें एक कठिनाई यह है कि भारत-सरकार को यह मालूम नहीं है कि कौनसा जरूरी पदार्थ भारत में ही कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समिति ने यह प्रस्ताव किया है कि भारत-सरकार अपनी ओर से एक सामग्री-क्रय एजेन्सी स्थापित करे जो कि यह पता रखे कि कौनसा माल भारत में कहाँ मिल सकता है। इसके साथ ही साथ समिति ने निम्न लिखित प्रस्ताव किये हैं —

(१) कुछ समय के लिए खास क़ीमत पर भारत-सरकार भारतीय व्यवसायियों से ठेका कर लेवे।

(२) ठेके की दर भारतीय व्यवसायों के अनुकूल हो।

(३) रेल्वे रेट्स ऐसे रखे जावें जो भारतीय व्यवसायों को हर तरह से सहायता पहुँचावें।

(४) विनिमय की दर इस प्रकार रखी जावे जिससे वह विदेशीय माल जोकि भारत में भी तैयार होता है भारत में सस्ता न बिक सके।

जहाज़-निर्माण के विषय में भी समिति ने भारतीय व्यवसायियों के साथ पूरी सहानुभूति प्रकट की है और सरकार से प्रार्थना की है वह प्रत्येक प्रकार से भारतीयों को उत्तेजना दे। हम को जो कुछ कहना है वह यही है कि सामग्री-क्रय-समिति की सूचना के अनुसार यदि भारत-सरकार चले, तो भारत का बहुत कल्याण हो सकता है। प्रश्न केवल चलने का ही है। यदि ठेके के रेट भारतीय व्यवसायियों को सख्त मालूम हुए—जो बहुत अधिक संभव है—तो भारत के व्यवसायों को सरकार की सहानुभूति से लाभ पहुँचने के बदले उल्टी हानि पहुँचेगी।

(६) जहाज़ी प्रदर्शिनी।

जापान योरुपीय सभ्यता को जापानी रंग में रँग कर दिन पर दिन आगे बढ़ता जाता है। व्यापार-व्यवसाय में जापान ने जो उन्नति कुछ ही समय के बीच की है वह इस बात की साक्षी है कि स्वराज्य का आर्थिक उन्नति के साथ क्या सम्बन्ध है। अब जापानी व्यापारियों ने सारे जापानी पदार्थों को जिनका कि वे क्रय-विक्रय करना चाहते हैं और जिनके लिए वे संसार में बाज़ार ढूँढ़ना चाहते हैं १० हज़ार टन वाले किफूकूमेरु नामक जहाज़ में सजाकर योकोहामा से २० जुलाई को रवाना कर दिया है। यह सारे संसार का चक्कर लगावेगा और जगह जगह से जापानी पदार्थों के लिए आर्डर लेवेगा। सिंगापुर, कलकत्ता तथा पोर्टसैयद में भी यह कुछ समय तक ठहरेगा। यह विज्ञापन का एक नया आविष्कार है। भारतीय तो अभी ब्राह्मणों के समुद्र-यात्रा-सम्बन्धी पाखन्ड को ही दूर नहीं कर सके हैं। उनको चाहिए कि इन भ्रान्ति-पूर्ण विश्वासों को तिलाञ्जलि देकर संसार में भारत का गौरव बढ़ावें और जापान से कुछ शिक्षा ग्रहण करें।

(७) संसार का बेंकिंग।

अमेरिका के मुद्रा-अध्यक्ष ने प्रकट किया है कि ३,५०,००,००,००,००,००० तीनसौ पचास खरब डालर (एक डालर=लगभग तीन रुपये) धन से अमेरिकन बैंक अपना काम कर रहे हैं। १८९० में जितने धन से संसार भर में सब बैंक कारोबार कर रहे थे उस धन से यह तिगुना है। १८९० में संसार की जो आर्थिक शक्ति थी उससे तिगुनी आर्थिक शक्ति आजकल एकमात्र अमेरिका की है। अमेरिका ने १७८६ से १९१३ तक बैंकों में जो उन्नति की उससे अधिक उन्नति उसने केवल इन सात सालों में ही कर ली है। आजकल अमेरिका संसार के सम्पूर्ण सभ्य

राष्ट्रों का उत्तमर्ण है । दृष्टान्त-स्वरूप, बैंक ऑव् इंग्लैंएड, बैंक ऑव् फ्रान्स, बैंक आफ इटली, नेशनल बैंक ऑव् स्पेन तथा नीदरलैण्ड, बेलजियम, नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क, स्विट्ज़र्लैण्ड, रोमानियाँ, जापान, जर्मनी तथा आस्ट्रिया हंमी के राष्ट्रीय बैंक—इन सबके पास कुल मिलाकर हुंडी की साधारण दर के अनुसार ५,१०,००,००,००,००,००० पांच सौ दस खरब डालर तथा हुंडी की वर्तमान दर के अनुसार १,२०,००,००,००,००,००० बारह सौ खरब डालर धन रिज़र्व है। परन्तु बारह सौ खरब डालर के लगभग धन तो एकमात्र अमेरिका के राष्ट्रिय बैंक के ही पास है। लड़ाई से अमीर बनना इसीका नाम है। भारत ने लड़ाई से यदि कुछ पाया तो वह दुर्भिक्ष, दरिद्रता तथा मार्शल लॉ है।

(८) ठाकुर गदाधरसिंह का परलोकवास।

यह जान कर हमें दुःख हुआ कि हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक ठा० गदाधरसिंह का शरीरान्त, ५१ वर्ष की अवस्था में, गत २७ अक्टूबर को, अलीगढ़ में हो गया। ठाकुर सा० के पिता तथा पितामह सेना-विभाग में नौकर थे। ठाकुर सा० भी, अपने पिता के इच्छानुसार सेना-विभाग में भरती हुए और बढ़ते बढ़ते सूबेदार के पद तक पहुँचे। पीछे, उन्होंने डाक-विभाग में अपनी तबदीली करा ली। सेना में रह कर उन्हें ब्रह्म-देश, चीन, इंग्लैण्ड आदि देशों में भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ और हर्ष की बात है, उन्होंने इन अवसरों का लाभ हिन्दी-जनता को दिया जिसके फल-स्वरूप उनके लिखे "चीन में तेरह मास," "हमारी एडवर्ड-तिलक-यात्रा" और "रूस-जापान-युद्ध" ग्रंथ हैं। इन ग्रन्थों की विशेषता यह है कि ये बड़े ही मनोरंजक और उत्साह-वर्द्धक हैं। इनमें यात्रा और युद्ध का रोचक वर्णन होने के साथ ही राष्ट्रीयता के भाव कूट कूट कर भरे गये हैं; अतः ये ग्रंथ हिन्दी-संसार में अपना विशेष स्थान रखते हैं और इनके कारण ठाकुर सा० का नाम बहुत दिनों तक बना रहेगा। सेना-विभाग सदृश विभाग में नौकरी करके और युद्ध-प्रिय लोगों की संगति में रह कर साहित्य-सेवा सदृश शान्त कार्य करना ठाकुर सा० का ही काम था। इस कारण तथा आँखों-देखी घटनाओं का वर्णन होने से उनके ग्रंथ विशेष प्रामाणिक हैं; और इसलिए उनकी साहित्य-सेवा का महत्व और भी अधिक है। यदि सेना-विभाग के कर्मचारी, ठाकुर सा० के सदृश, हिन्दी-ग्रंथ रचने की रुचि रखें, तो हिन्दी में अच्छा साहित्य तैयार हो सकता है।

ठाकुर सा० युक्त प्रान्त की आर्य-प्रतिनिधि-सभा के बहुत उत्साही मंत्री थे। उनकी मृत्यु से हिन्दी के साथ ही आर्य-समाज को भी बहुत हानि पहुँची है।

साहित्य-सुमन।

(१) हम क्या चाहते हैं?

शासन-सुधार के लिए चिल्लाते हुए वर्षों व्यतीत हो गये। बड़ी मुश्किल से शासन-सुधार प्रकट हुआ। अन्धेरी रात में काम करने वाले कुछ लोगों ने कहा—धन्य है, यह ज्योति भली

प्रकट हुई, अब हमारे दुःख का अन्त आया। दो एकने यहाँ तक कह डाला—ज्योति बहुत तेज़ है, तनिक मन्द कर दो, नहीं तो स्वर्ग का सुख निस्तेज पड़ जायगा। सूर्य के प्रकाश में काम करने वाले अधिकांश भारतवासियों ने कहा, क्यों चिल्लाते हो, ज्योति कहाँ है? यहाँ तो एक छोटा सा तारा टिमटिमा रहा है और उसका भी प्रकाश क्षीण है। इसका उत्तर किसीने न दिया। रंगस्थल पर ज़ोर से सुनाई दिया—असन्तोष। नेपथ्य से एक भण्डारी ने कहा—क्यों, असन्तुष्ट क्यों हो?—क्या चाहते हो? पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय ने 'एशियन रिव्यू' में इसका उत्तर देते हुए लिखा है—

"तुम क्या चाहते हो?—ऐसा प्रश्न करना कितनी धृष्टता से भरा है। जब हम यह सोचते हैं कि ऐसा प्रश्न भी किया जा सकता है, तब हमें मालूम हो जाता है कि बुद्धिमान् मनुष्य भी सैनिक शक्ति प्राप्त करने पर तथा दूसरों पर, बिना उनकी इच्छा के, बहुत समय तक राज्य करने पर कैसे हृदय-हीन हो जाते हैं। हम क्या चाहते हैं? अरे, क्या हम तुम्हारे ही समान मनुष्य नहीं हैं? तुम्हीं सोचो, यदि हमारी सी स्थिति तुम्हारी होती तो तुम क्या चाहते? यदि कोई विदेशी शक्ति तलवार के बल पर तुम पर राज्य करे, यदि विदेशी व्यापारी तुम्हारा व्यवसाय अपने हाथ में ले लेवें, यदि विदेशी लोभी महाजन तुम्हें अपनी आर्थिक उन्नति करने का अवसर न दें, यदि तुम्हारे शासक तुम्हारी सभी पुरानी अच्छी बातों को नष्ट कर दें और तुम्हारे इतिहास, साहित्य और सभ्यता को मटियामेट कर विदेशी इतिहास, साहित्य और सभ्यता तुम्हें सिखावें और तुम्हें ऐसा बना दें कि तुम न घर के रहो, न घाट के, और यदि तुम अपने ऐसे शासकों द्वारा दिन रात धुतकारे जाओ जो तुम पर राज्य करने का दावा करते हैं, जो पैसा और बल को ही अपना देवता समझते हैं और जो तुम्हारी जाति और समाज के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की प्रशंसा तो दूर की बात है समझने तक की बुद्धि नहीं रखते हैं, तब तुम क्या चाहोगे?"

इसके आगे वे बतलाते हैं कि भारतवर्ष क्या चाहता है—

"हम चाहते हैं अपना मनुष्यत्व, संसार में जीवित रहने का अधिकार, अपने काम-काज के प्रबन्ध करने का अवसर, और अपनी जातीयता को स्थिर रखना। हम मनुष्य होना चाहते हैं, न कि गुलाम। हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं और ऐसी शक्ति-सहित जिसमें कि हम अपना प्रबन्ध आप कर सकें और अपना आदर्श प्राप्त कर सकें। हम चाहते हैं कि हम अपनी समाज के एक बलशाली अंग बन सकें; संसार की कला, विज्ञान, कविता, और गान-विद्या के भाण्डार की पूर्ति में अपना योग दे सकें। संसार में शान्ति स्थापित रख सकने में और मानव-जाति की उन्नति की पताका ले जाने में हम अन्य राष्ट्रों का साथ दे सकें।"

(२) क्या मैं पत्र-संपादक हो सकूँगा?

परलोकगत मि० डब्ल्यू टी. स्टेड का नाम पत्र-संपादकों में विशेष उल्लेख-योग्य है। आप सम्पादन-कला के आचार्य माने जाते हैं। आपका

प्रभाव इतना बढ़ा-चढ़ा था कि बड़े बड़े राजा भी आपसे परामर्श लिया करते थे।

एक समय, लगभग ३० वर्ष पूर्व, "टाइम्स" के वर्तमान प्रधान सम्पादक मि० विकहम स्टेड ने उनसे पूछा कि मैं सम्पादक हो सकूँगा या नहीं। इसके उत्तर में मि० डबल्यू. टी. स्टेड ने जो कुछ कहा वह "आज" के शब्दों में इस प्रकार है—

"सम्पादक, मैं क्या जानूँ, आप सम्पादक के योग्य हैं वा नहीं ? इसे जानने का एक ही उपाय है। यदि आप वास्तव में कुछ कहना चाहते हैं तो उसे लिखिए और किसी सम्पादक के पास भेज दीजिए। सम्भवतः वे उसे लौटा देंगे। केवल शब्दालंकार के लिए समय नष्ट मत कीजिए। जो कहना हो बिना आडम्बर के उसे कह डालिए। जब लेख समाप्त हो जाय तब कल्पना कीजिए कि आपको अपने खर्च से उसे तार द्वारा आस्ट्रेलिया भेजना है, एक एक अनावश्यक शब्द चुन कर निकाल बाहर कीजिए और विशेषतः विशेषणों का बहिष्कार कीजिए। इसके बाद यदि कुछ रह जाय तो किसी सम्पादक के पास भेजिए और देखिए क्या होता है। यदि असफल हों तो बार बार प्रयत्न कीजिए। जब तक आप विशेष कहना न चाहते हों तब तक असफलता रक्खी हुई है। इस प्रकार प्रयत्न करने के बाद आप जान सकेंगे कि आप सम्पादक होने योग्य हैं वा नहीं।"

हमारे देश के होनहार लेखकों को भी इसका मनन करना चाहिए। इससे वर्तमान सम्पादकों के अनेक कष्ट कट जायँगे, लेखकों को बहुत कम हताश होना पड़ेगा तथा हिन्दी में भी अच्छे सम्पादक उत्पन्न होंगे।

(३) इंग्लैंड और भारत का पारस्परिक हिताहित।

हमारे भारतवर्ष के विद्यार्थियों को भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ाया जाता है उसमें स्थान स्थान पर यही बताया जाता है कि हम लोग सब प्रकार से अयोग्य हैं, हमारे पूर्वज और महापुरुष मूर्ख थे और आज जो हम जीते-जागते हैं उसका कारण अंग्रेज़ी राज्य की छत्रछाया है। इँग्लेंड के बालकों को भारतवर्ष का जो इतिहास पढ़ाया जाता है उसमें भी यही बात बताई जाती है। उन्हें बताया जाता है कि भारतवर्ष पर राज्य करना तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है—मानों भारतवर्ष अंग्रेज़ों की ही बपौती होवे। यह बात इँग्लेंड में पढ़ाये जाने वाले भारत के इतिहास से विदित होती है। वहाँ "दि सिटीज़न एंड दि स्टेट" नाम की एक पुस्तक पढ़ाई जाती है जिसका कुछ अंश गत नवंबर के "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित हुआ है। उसमें एक जगह लिखा है—

"हिन्दुस्थान के विनाश का अर्थ इँग्लैण्ड का विनाश है—यह बात आसानी से समझाई जा सकती है। यदि हम हिन्दुस्थान पर शासन करने में तनिक भी असावधानी करें या उदासीनता दिखावें और वहाँ की भिन्न भिन्न जातियों और धर्मावलंबियों को आपस में लड़ने दें, तो समस्त देश में वैसी ही राज्य-क्रान्ति और खलबली मच जायगी जैसी कि उस समय मची हुई थी जब कि हम पहिली बार हिन्दुस्थान में पहुँचे थे। यदि ऐसा हुआ तो हिन्दुस्थानियों को इससे बड़ी हानि होगी और संयुक्त साम्राज्य (इंग्लैंड, स्काटलैण्ड, वेल्स और आय-

इंग्लैण्ड) को भी कुछ कम न होगी। यदि हिन्दुस्थान में राज्य-क्रान्ति होगई तो हमको दो बातों में से एक कोई करनी पड़ेगी—या तो उसे फिर से जीतना या उससे हाथ धो बैठना। पर, फिर से जीतना बड़ा टेढ़ा खीर है; इसमें हज़ारों अंग्रेज़ों की जानें जावेंगी, करोड़ों रुपया बरबाद होगा जो इंग्लैण्ड के कर-दाताओं से वसूल किया जायगा।

"यदि हम हिन्दुस्थान को छोड़ बैठें, तो भी कम हानि नहीं है। उसका फल यह होगा कि हम हिन्दुस्थान से जो अपरिमित व्यापार कर रहे हैं वह सदैव के लिए नष्ट हो जावेगा और इसका असर इंग्लैण्ड के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बच्चे पर पड़ेगा। अभी जो लाखों आदमी हिन्दुस्थान के साथ व्यापार में लगे रहकर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं वे सब निठल्ले हो जावेंगे। इतना ही नहीं, रेलवे तथा और और विभागों में जो यहाँ (इंग्लैण्ड) से क़र्ज़ दिया गया है और जिसके सूद पर यहाँ के हज़ारों आदमी जी रहे हैं और यहाँ के कारख़ाने चला रहे हैं उनका क्या होगा। इसलिए यह ध्यान में रखो कि हिन्दुस्थान का नाश होने पर इंग्लैण्ड का भी नाश हुए बिना न रहेगा।"

बेचारा लेखक भारत की नौकरशाही के भावों को बहुत स्पष्टता से कह गया है। उसे क्या मालूम था कि यह पुस्तक भारतवर्ष में पहुँच जायगी।

(४) पर्दे की चाल की उत्पत्ति।

पर्दे की चाल के विषय में अभी तक प्रायः सभी का यह मत रहा है कि इसकी उत्पत्ति का मूल कारण मुसलमान लोग ही हैं। उनके अत्याचारों से तंग आकर हिन्दुस्थानी लोगों ने पर्दे की प्रथा प्रचलित कर दी। हिन्दू-मुसलमानों में अभीतक यों ही मन-मुटाव था; इसलिए इसका असली कारण ढूँढ़ निकालने का कोई प्रयत्न ही नहीं करता था। अब यह बात नहीं है, हिन्दू-मुसलमान समझने लगे हैं कि एक से दूसरे का हित लगा हुआ है। तब यह कारण जानने की आवश्यकता है कि पर्दे की चाल के लिए क्या यथार्थ में मुसलमान लोग दोषी हैं या हिन्दू लोग। 'ब्रिटेन एण्ड इंडिया' नामक एक अंग्रेज़ी पत्र में इसकी खोज की गई है और बतलाया गया है कि पर्दे की चाल का दोष मुसलमानों पर ही नहीं मढ़ा जा सकता। लेखक ने बतलाया है कि—

"यह बतलाना तो कठिन है कि घर के भीतर स्त्रियों को बंद करके रखने की प्रथा भारतवर्ष में कब से चली; पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी उत्पत्ति का कारण भारत ही है, कोई दूसरा देश या विदेशी समाज नहीं।

"एक जगह से दूसरी जगह या एक ग्राम से दूसरे ग्राम को डोली में बैठ कर जाने की जो प्रथा देश भर में, खास कर संयुक्त प्रान्त और बिहार में प्रचलित है वह तो शुद्ध भारतीय ही है। यदि इस प्रथा की उत्पत्ति किसी मुसलमानी देश में हुई होती तो उसका प्रचार पञ्जाब में सबसे अधिक होना था; क्योंकि उसी ओर से ही सब मुसलमान जातियाँ भारत में आईं और प्रत्येक का अड्डा सबसे पहिले वहीं ही रहा। परन्तु पञ्जाब में इस प्रथा का प्रचार इतना अधिक नहीं है। वहाँ शहरों की अपेक्षा ग्रामों में स्त्रियों को बहुत अधिक स्वतंत्रता है और कहीं कहीं तो

इसका नाममात्र भी नहीं है। बम्बई और दक्षिण-प्रान्त में भी मुसलमानों का दौरदौरा बराबर रहा है, और कई वर्षों तक रहा है; पर वहाँ भी संयुक्त प्रान्त और बिहार के समान पर्दे की चाल नहीं है।

"इन सब कारणों से अब यह अनुमान किया जाता है कि भारतीय पर्दे की उत्पत्ति कदाचित् इस प्रकार हुई हो कि पहिले समय में राजा महाराजा लोग बड़े बड़े क़िलों और महलों में रहते थे जहाँ उनकी सेवा और रक्षा के लिए सैकड़ों अस्त्र-शस्त्र-सज्जित सैनिक रहते थे। ऐसे ही उनकी रानियाँ तथा राजकुमारियाँ अपने अपने महलों में अस्त्र-शस्त्र-सज्जित दासियों सहित रहती थीं। यह सब इसलिए था जिसमें दूसरों को उनके वैभव और राजसी ठाटबाट का ध्यान हो जावे। दरबार के सरदार और सामन्त गणों ने भी अपने महलों में इसी ठाठबाट का अनुकरण किया। पश्चात् स्त्रियों को मकान के भीतर बन्द रखना सभ्यता का एक चिह्न हो गया। इस प्रकार का पर्दा भारत के बाहर कहीं भी नहीं पाया जाता—तुर्कों और मुगलों द्वारा स्थापित संस्थाओं में भी इसका कोई चिह्न नहीं मिलता।"

यह लेखक महाशय की दलील है और विचारणीय है। यदि इसकी और भी खोज की जाय तो सम्भव है कि और कई बातें प्रकट हों।

(५) स्वतंत्र समालोचन।

समाज का उपकार कड़ी आलोचनाओं से ही होता है। खरी सुनाने के शब्दों में जो शक्ति रहती है वह 'हाँ हुजूरी' की मजलिस को भी उलट पलट कर देती है; इसीलिए प्रजासत्तात्मक राज्य में स्वतन्त्र समालोचना का महत्व बहुत अधिक माना गया है। चार्ल्स एडवर्ड रसल नामक एक सज्जन लिखते हैं कि जब किसी अमेरिकावासी को समाज वीर मानता है, तो वह केवल इसीलिए कि उसकी सेवा और सम्बन्ध सदैव स्वतन्त्रता और प्रजासत्तात्मक राज्य के लिए रहते हैं।

लेखक यह भी कहते हैं कि "आलोचना प्रजासत्तात्मक राज्य की जड़ है; जहाँ स्वतन्त्र समालोचन नहीं वहाँ प्रजासत्तात्मक राज्य नहीं। प्रतिशत अस्सी आलोचनाएँ निर्मूल रहेंगी और प्रतिशत पचास उपाय मूर्खता से भरे रहेंगे; पर प्रजासत्तात्मक राज्य का जीवन ही आलोचना में भरा है और उसीसे स्थिर रह सकता है। बिना किसी तरह की लगाम के जो आलोचनाएँ की जाती हैं उन्हींकी सहायता से देश को आगे बढ़ने के लिए सच्चा मार्ग मिलता है और उसी मार्ग पर जाने से देश का कल्याण भी होता है, चाहे उस मार्ग में विलम्ब कितना ही क्यों न लगे।"

"प्रजासत्तात्मक और राजसत्तात्मक राज्य में यही एक बड़ा अन्तर है। एकमें तो स्वतन्त्र समालोचनाएँ बिना किसी रोक-थाम के होती हैं और दूसरे में बिलकुल नहीं। राजसत्तात्मक राज्य निदान राजसत्तात्मक ही रहेगा चाहे उस पर नेपोलियन सरीखे अस्त्र-शस्त्र-सज्जित बलशाली वीर का आधिपत्य हो या मुट्ठी भर स्वार्थी धनाढ्यों की सत्ता देश के क़ानून पर हो।"

कुछ लोगों की सम्मति में स्वतन्त्र समालोचना भयंकर है और इसलिए वे दूसरों के

स्वतन्त्र भाषण पर ध्यान ही नहीं देते; पर यह उनकी भारी भूल है। एक अमेरिकन विद्वान् का कथन है कि यदि हमें व्यवस्थित उन्नति करना है तो हमें प्रत्येक की शिकायत सुननी चाहिए, चाहे वह हमारे पक्ष में हो या विपक्ष में। यदि उसका शिकायत अनुचित है तो अपने बुद्धि-बल से उसे वैसी सिद्ध कर दिखाओ। यदि ऐसे मनुष्यों का मत न सुनोगे तो प्रजा-तंत्र की रक्षा न होगी।

आगे चलकर उन्होंने कहा है कि सहिष्णुता समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने वाल्टेअरके उस पत्र का उल्लेख किया है जिसमें उसने अपने एक मित्र को लिखा था कि—"जो कुछ तुमने कहा है उसे मैं तनिक भी पसंद नहीं करता हूँ; परन्तु स्वतंत्र रीति से अपना वक्तव्य कह सुनाने के तुम्हारे अधिकार की रक्षा मैं तबतक करूँगा जबतक मेरे शरीर में प्राण हैं।"

उन अमेरिकन विद्वान् ने अपने लेख में यह सिद्ध कर दिखाया है कि जन-समाज को क्रान्तिकारी भाषणों से उतनी अधिक हानि नहीं होती जितनी कि दमननीति से होती है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है। बीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्र भाषण की वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि मनुष्य जीवन के लिए वायु की।

(६) वसुधैव कुटुम्बकम्।

यूरोपीय महायुद्ध ने सबकी आँखें खोल दी हैं और बतला दिया है कि "मेरा तेरा से काम न चलेगा। यदि विश्व-व्यापिनी शान्ति चाहते हो, तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" का मन्त्र सीखो।" गत जुलाई मास के 'इंडियन रिव्यू' में मि० एस. जेकसन कोलमेन ने इस मन्त्र की उपयोगिता बतलाई है और उसके पालन करने का उपदेश भी ईसाई-मतावलम्बियों को दिया है।

आपने "वसुधैव कुटुम्बकम्" की आवश्यकता बतलाते हुए इसका श्रेय ईडिथ केविल नाम की एक महिला को दिया है जो आहतों की सेवा-शुश्रूषा करते समय जर्मन सैनिकों द्वारा मारी गई थी। ईडिथ केविल के अन्तिम शब्द ये थे—"मैं यह मानती हूँ कि स्वदेश-भक्ति ही सब कुछ नहीं है और इसलिए मैं किसी भी जाति या देश के मनुष्य के प्रति घृणा नहीं करती, प्रत्युत उसे हृदय से चाहती हूँ।"

लेखक महाशय ने आगे चलकर बताया है कि मनुष्य को केवल अपने ही कुटुम्बी को अपना बन्धु और अपनी ही जाति में अपना स्वार्थ तथा अपने ही देश को सब कुछ न समझ लेना चाहिए। प्रत्येक को अपना सिद्धान्त यह बनाना चाहिए कि "वह मनुष्य इंग्लैण्ड को नहीं चाहता जो केवल इंग्लैण्ड को चाहता है।"

जो मनुष्य पड़ोसी से मित्रता का व्यवहार नहीं कर सकता वह अपने भाई-बन्धुओं पर भी सच्चा प्रेम नहीं रख सकता। जो विद्यार्थी दूसरी पाठशाला के शिक्षक को आदर की दृष्टि से नहीं देखता वह अपनी शाला के गुरु को भी हृदय से कभी नहीं चाह सकता। अन्त में लेखक ने ईसाई धर्मावलम्बियों को सम्बोधित करते हुए कहा है—

"यदि ईसाई लोग अपनी जाति का मान रखना चाहते हैं, तो उन्हें अपनी कार्य-प्रणाली सुधारनी

चाहिए। उन्हें अँधेरे में न भटक कर प्रकाश में आना चाहिए। "उन्हें जिसकी लाठी उसकी भैंस" का घोर विरोध कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" का उपदेश देना चाहिए। उन्हें यह सबके सामने रखना चाहिए कि पर्वत, नदी और समुद्र की आड़ आ जाने से जाति-भेद नहीं होता। संसार की सब मनुष्य जाति एक ही है और सबको पारिस्परिक हेल-मेल से रहना चाहिए। यदि हमें संसार में शान्ति स्थापित रखना और नई ज्योति के प्रकाश में सुख भोगना है तो प्रत्येक हृदय और मस्तिष्क में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की धुन समाई रहनी चाहिए।

(७) महात्मा गांधी के दस नियम।

महात्मा गांधी ने भारतवासियों के पालन करने के लिए अपने और अपने साथियों के अनुभव से ये दस नियम निश्चित किये हैं—

(१) लड़के और लड़कियों का लालन पालन ऐसी साधारण और स्वाभाविक रीति से किया जावे जिसमें वे अपने मन में यह विश्वास पक्का बना सकें कि हमारा आचरण शुद्ध है और सदैव पवित्र रह सकता है।

(२) सभी मनुष्यों को उत्तेजक और गर्म पदार्थ जैसे गरम-मसाले, मिर्च और ललचाने वाली वस्तुएँ जैसे मिठाई आदि का सेवन न करना चाहिए।

(३) पति और पत्नी अलग अलग कमरों में शयन करें और एकान्त मिलन त्यागें।

(४) तन और मन की शुद्धि निरन्तर रखी जावे।

(५) रात्रि में जल्दी सोना चाहिए और प्रातःकाल जल्दी उठना चाहिए। इस नियम का पालन दृढ़ता से किया जाय।

(६) गंदा साहित्य सदैव दूर रखा जावे। गंदे विचारों की एकमात्र दवा यही है कि विचार शुद्ध बनाये जावें।

(७) नाटक, सिनेमा आदि ऐसे दृश्य न देखे जावें जिनसे कामोद्दीपन होता हो।

(८) बुरे स्वप्न होने की चिन्ता न की जाय। ऐसी दशा में स्वस्थ मनुष्य के लिए ठंडे जल से स्नान करना एक बड़ी भारी औषधि है। यह कहना भारी भूल है कि कभी कभी प्रसंग करने से बुरे स्वप्न नहीं आते।

(९) इन सबके परे कोई भी मनुष्य यह न समझे कि पति और पत्नी का संयोग न होना इतना कठिन है कि वह प्रायः असम्भव कहा जा सकता है। प्रत्युत उसे यह सोचना चाहिए कि आत्म-संयम करना ही जीवन का साधारण और स्वाभाविक नियम है।

(१०) पवित्रता के लिए प्रतिदिन हृदय से प्रार्थना की जाय। इससे मनुष्य दिन दिन पवित्र होता जाता है।

(८) "वकालत का पेशा कैसा है"?

हिन्दी संसार में, और विशेष कर भारत के राजनैतिक संसार में पटना हाइकोर्ट के प्रमुख वकील बाबू राजेन्द्रप्रसाद, एम॰ ए॰, एम॰ एल॰, का नाम बहुत दिनों से प्रसिद्ध है। आपने अभी हाल में असहकारिता के उन्माद के अनुसार वकालत छोड़ दी है। वकालत के सम्बन्ध में आपके विचार क्या हैं सो आपने उपरिलिखित वर्षांक से महात्मा गांधी के 'नवजीवन' में प्रकट किये

है। उनका सारांश गत् २३ अक्टूबर के 'कर्मवीर' के शब्दों में इस प्रकार है—

"मुकदमेबाजी से हिन्दुस्थान बरबाद हो रहा है। देश इतना निर्धन हो गया है तो भी अदालत और मुकदमों में जितना रुपया ख़र्च होता है उतना किसी काम में नहीं होता। आजकल जैसी अदालतों की प्रथा है उसमें पानी के समान पैसा ख़र्च किये बिना उपाय नहीं।

"सबसे पहले मंगलाचरण के स्वरूप में दावा दायर करने के लिए कोर्ट फीस भरनी पड़ती है जो काफ़ी भारी होती है। फिर अदालतों के छोटे कर्मचारियों को कुछ नैवेद्य चढ़ाना पड़ता है, नहीं तो जहाँ एक से काम चलता है वहाँ दो ख़रचने की नौबत आती है। कोर्ट फी से इतनी आमदनी होती है कि अदालतों का ख़र्च उसीमें से निकलता है और सरकार को बचत होती है और कई प्रान्तों में तो यह आमदनी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है।

"वकील बैरिस्टरों की फीस की तो बात न पूछो। उसका कुछ अंदाज नहीं, न हद है। जिसका तीर एक बार चल गया उसको इतना धन मिलता है कि फावड़ों से नहीं समेटा जा सकता और जो कमबख्त रह गया वह मरा, चाहे जैसी योग्यता हो, उसे कोई पूछता भी नहीं। योग्यता कैसी चाहिए? वाद-विवाद के ज़ोर से, बुद्धि की चालाकी से, झूठ को सच और सच को झूठ साबित कर देना ही योग्यता है। सच का ही पक्ष लेना वकील बैरिस्टरों का काम नहीं। वे कहते हैं यह काम तो जज का है, हमारा काम तो अपने मुवक्किल के पक्ष की बात कहना है, उसके विरुद्ध बातें बताने का काम दूसरे पक्ष के वकील का है। ऐसी हालत में जिसका वकील बुद्धिमान और चालाक होता है उसकी जीत होती है। वकील-बैरिस्टरों का बड़प्पन और गौरव इसी बात में है कि वे कैसाही कमजोर मुकदमा क्यों न हो उसे भी जिता दें। इस काम में जो जितना कुशल होता है उसकी फीस भी उतनी ही भारी होती है।

"अब जरा फीसों पर भी गौर कीजिए। अदालत में पाँच घंटे काम होता है। उसकी तो फीस दी ही जाती है। पर उसके अलावा कई तरह की फीसें दी जाती हैं। यद्यपि वकील बैरिस्टरों को मुकदमे के लिए कागजात पढ़ने ही पड़ते हैं, तोभी कागज़ात पढ़ने की फीस अलग ली जाती है और मुकदमे में बहस करने की अलग। बड़े मुकदमे में कागजात भी बहुत रहते हैं। इसलिए उन्हें देखने की फीस भी बड़ी रहती है। कागज़ात देखने के कहीं कहीं तो ५०,०००) तक लिये गये हैं। प्रति पृष्ठ २) से ५) तक तो साधारण बात है। जहाँ एक पक्ष के कई वकील रहते हैं वहाँ बहस तो एक ही करता है और बाकी बैठे रहते हैं, तब ये लोग कागज़ात देखने की अलग और अदालत में "बैठने" की अलग फीस लेते हैं।

"एक पक्ष के सब वकील मिलकर "कानफरेन्स" करते हैं। इसमें विचार किया जाता है कि मुकदमे की पैरवी किस ढंग से की जावे जिसमें सफलता हो। इस कानफरेन्स की भी फीस ली जाती है। साधारणतया ८५) फी घंटे के हिसाब से और कहीं कहीं इससे भी अधिक ली जाती है। ये बातें तो अदालत के बाहर की हुईं। अदालत में बहस करने के लिए वकील-बैरिस्टरों की फीस कभी कभी ५१०) तक हो जाती है। कभी कभी तो एक दिन में ये लोग दो तीन मुकदमे करते हैं। बहुधा ये लोग अपनी दलील पूरी हो जाने के बाद, अदालत छोड़कर चले जाते हैं, सामने वाले वकील की दलीलें सुनने को नहीं रुकते। यदि मुवक्किल उसकी दलील सुनने को भी इन्हें रोकना चाहे, तो ५१०) और दे। इस प्रकार एक रोज़ का उसे १०२०) तक देना पड़ता है। कई बार तो यह होता है कि फीस लेकर भी वकील हाजिर नहीं होते और न फीस ही वापिस करते हैं। इसके सम्बन्ध में हमने एक वकील को कहते सुना है कि फीस क्यों वापिस की जाय? हमने पहले ही कह दिया था कि वक्त मिलेगा तो हाज़िर होंगे। मतलब यह है कि हम विरुद्ध पक्ष का वकालतनामा नहीं लेंगे।

"हाईकोर्ट से मुफस्सिल में जाने के लिए कभी कभी तो पहले दिन को ५,०००) फीस ली जाती है। दूसरे दिन से १,५२०) पूरे एक महीने की पचास साठ हजार तक फीस ली जाती है।

"यह न मान लेना चाहिए कि मुवक्किल इतनी भारी फीसें खुशी से दिया करता है। मुकदमा बहुत कमजोर होने पर भी उसे यही आशा रहती है कि यदि अच्छे वकील बैरिस्टर मिल जावें तो नीचे की अदालत में नहीं तो अपील में, हाईकोर्ट में नहीं तो प्रिवी कौंसिल में, मैं जरूर जीत जाऊँगा। इस सच को झूठ और झूठ को सच साबित करने वाले वकीलों के कारण न्याय करने वाले की अवस्था इतनी हीन है और कानून की परिपाटी इतनी जड़ है कि मुकदमे की किस्मत वकीलों की बुद्धि पर निर्भर रहती है।

"अदालतों के खर्च से हिन्दुस्थान बर्बाद हो रहा है। परन्तु इस आर्थिक हानि के अलावा एक बड़ी हानि यह हो रही है कि हिन्दुस्थान की प्रजा सत्य का त्याग सीख रही है। ऐसा एक भी मुकदमा नहीं होता जिसमें सब गवाहियां सच्ची होती हों। गवाही (शहादत) का कानून ही ऐसा है कि आँखों-देखी बात भी सरलता से साबित नहीं हो सकती। हमारी जनता इतनी चतुर नहीं और सब काम कायदे के अनुसार नहीं करती और जब किसी मामले में उसे अदालत में जाना पड़ता है तो उसकी कमी झूठी गवाही देकर पूरी करनी पड़ती है। इसीलिए झूठी गवाहियों का अन्त नहीं होता है। यह बात सच है कि सभी वकील गवाहों को झूठी गवाही देने को नहीं कहते, परन्तु वे अपने मुवक्किलों को यह जरूर समझा देते हैं कि फलानी फलानी बातों का पुरावा पेश करना पड़ेगा। बस, उन बेचारों को किसी न किसी प्रकार गवाह तयार करने ही पड़ते हैं। इस प्रकार प्रजा को झूठ बोलने की शिक्षा देने के, प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष, दोष से वकील लोग नहीं बच सकते।

"गाँव गाँव इस प्रकार झूठ का प्रचार करने वाले और मुकद्दमें लड़वाकर अपनी जीविका चलाने वाले लोग आज देश में फैल गये हैं। उनका धंधा ही यह है कि लोगों को आपस में लड़वाना और अपना पेट भरना। यही उनका जीवन-निर्वाह है, यही उनकी प्रतिष्ठा है। उनके जाल में फँसकर अनेकों सीधे और भोले गाँव वाले अपनी सम्पत्ति का पानी कर के अदालतों में जीवन बिगाड़ते हैं और धन, मर्यादा तथा ईमान खोकर वापिस आते हैं।"

विश्व-वैचित्र्य ।

(१) छप्पर पर मनुष्य-संख्या ।

यदि आप कामरून (आफ्रिका) के किसी निवासी पूछिए कि आपके कितने बाल-बच्चे हैं तो वह धीरे से अपने घर के छप्पर की ओर अँगुली बता देगा। आप देखेंगे कि जितने बाल-बच्चे उसके हैं उतने ही छोटे सिर छप्पर पर लगे हैं। सिर से आप यह न समझ लीजिए कि असली सिर [illegible] कर लगा दिये हैं, नहीं केवल नकली। उसकी जितनी औरतें होंगी उतने ही कुछ बड़े सिर छप्पर पर देखने को मिलेंगे और एक बड़ा सिर भी रहेगा जो घर-मालिक की संख्या बतलाता है। इस प्रकार घर में जितने मनुष्य रहते हैं उतने ही सिर छप्पर पर आप देखेंगे। वहाँ जब कभी किसी युवती को किसी मनुष्य से विवाह करना होता है तो वह चुपचाप उसके पीछे हो लेती है और घर पहुँचने पर छप्पर पर नजर फेंकती है। यदि उसे वहाँ स्त्रियों के अधिक सिर दिखे तो वह इकदम पीठ दिखा कर खिसक देती है; पर यदि एक ही दो हुए या एक भी न हुआ तो फिर बातचीत तय करती है। इस प्रकार कामरून में शादी कराने वाली स्त्रियों और मर्दुम-शुमारी करनेवालों के लिए बड़ा सुभीता समझिए।

(२) खिलौनापुर ।

पाठकों ने देशी और विदेशी खिलौने देखे ही होंगे। देशी खिलौनों की अपेक्षा कोई कोई विदेशी खिलौने इतने सुन्दर, मनमोहक और अद्भुत होते हैं कि उन्हें देख कर बनाने वालों की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। यह बात दूसरी है कि वे देशी खिलौनों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ न हों। श्रावण मास में खिलौनों का बाजार कैसा गर्म रहा, और कैसे कैसे नये खिलौने देखने में आये यह पाठकों ने देखा ही होगा। वे जैसे थे वैसे थे ही; यहाँ पाठकों को एक "खिलौनापुर" का परिचय दिया जाता है जो न्यूयार्क (अमेरिका) में एक प्रदर्शिनी में दिखाया गया था।

"खिलौनापुर" हाथ में लेने या टेबिल या आलमारी में रखने का कोई छोटा-मोटा खिलौना नहीं है। उसमें पुर शब्द के जुड़े रहने से ही पाठक समझ सकते हैं कि वह एक पूरे शहर की नकल है। उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्रमशः १६ फुट, ११½ फुट और ६ फुट ८ इंच है। इसके सिवा, सामने एक फ़र्श है जिसका क्षेत्रफल १६×२५ इन्च है और जिसमें बिजली के द्वारा चलाई जाने वाली १०० से अधिक प्रकार की कलें लगी हैं।

इसे खिलौना न कह कर छोटे बालकों का एक छोटा सा शहर ही कहना चाहिए; क्योंकि इसमें वे सब बातें हैं जो एक शहर में होती हैं और सो भी कैसे शहर में? हिन्दुस्थान या अफ़ग़ानिस्तान के शहर में नहीं, किन्तु इंग्लेंड या अमेरिका के। आप उसमें देखेंगे कि ग़रीब, अमीर सबके लिए यथायोग्य मकान बने हुए हैं; अच्छी से अच्छी दूकान से लगाकर मामूली से मामूली दूकान वहाँ है; चौराहों पर पुलिस तैनात है; यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ ट्राम, मोटर आदि गाड़ियाँ दौड़ रही हैं; नाटकघर और खेलघर, पुस्तकालय और वाचनालय, पुलिस-थाना और कचहरी, टौनहाल और विश्राम-भवन, कार्य्यालय और स्टेशन सभी कुछ वहाँ हैं। उसमें पाताली रेल का दृश्य भी देखने को मिलेगा; एक रेलगाड़ी गई, सिगनल गिरा, दूसरी गाड़ी आई, लेटफार्म पर भीड़ है, थोड़ी देर के बाद वह भी चली गई। कोई गाड़ी पहाड़ों के बोगदे में से निकलती चली आ रही है, तो कोई उसमें प्रवेश कर रही है। पोर्टर अपना काम करता हुआ दिखाई दे रहा है। अभी दिन है, फिर रात हुई, सब सड़कों पर बिजली की रोशनी होने लगी। खिलौनापुर के आकाश में बिजली की रोशनी के, टेलीफोन और टेलीग्राफ़ के तारों का जाल लगा हुआ है। संक्षेप में, सभ्य संसार के एक व्यापार-केन्द्र-स्थल में जितनी सुन्दरता और काम-काज, जितनी खचाखची और कारीगिरी की जितनी करामात होना चाहिए वह सब इस "खिलौनापुर" में आप पावेंगे। आप कहेंगे कि यह सब परिश्रम है किसलिए? तो उसके बनानेवाले का उद्देश सुन लीजिए। जब अमेरिका के छोटे छोटे बालक इस खिलौनापुर को देखेंगे, तो उनका मनोरञ्जन होने के साथही उन पर यह असर हुए बिना न रहेगा कि भविष्यत् में हमारा कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण और कठिन होगा और उसके लिए हमें अभी से तैयार होना चाहिए।

अब तनिक भारत का हाल देखिए। हमारे यहाँ श्रावण में कितने तरह के खिलौने आते हैं; पर, क्या कोई भी ऐसे होते हैं जिनसे हमारे बालकों पर अमेरिका के बालकों के समान असर पड़े? इन खिलौनों में तो सिवा समय और धन के ख़र्च होने के कुछ भी लाभ नहीं होता। फिर, भारत में अच्छे खिलौने बनवाये जाने का उद्योग क्यों न किया जाना चाहिए?

(३) मनुष्यों के प्रति पक्षियों का उपकार।

ईश्वर की सृष्टि में कोई भी पदार्थ व्यर्थ नहीं है। कोई कोई मनुष्य कहा करते हैं कि ईश्वर ने अमुक पक्षी क्यों बनाया, अमुक पक्षी से मनुष्य को क्या लाभ है? पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मालूम होगा कि पक्षी मनुष्यों का बहुत भारी उपकार करते हैं। बड़े प्रातःकाल से उठ कर वे

घर-बाड़े में, खेत-खलयान में, बाग-बगीचों में जहाँ पाते हैं वहीं कीड़ों को मारकर खाते हैं। यदि संसार से पक्षियों का नाश हो जावे तो मनुष्य का इस संसार में रहना त्रासदायक हो उठे। अतएव एक विज्ञान-वेत्ता की सम्मति है कि घर-बाहर, खेत-खलयान सभी जगह पक्षियों के घोंसले बनाना चाहिए और वहाँ पक्षी लाकर पालना चाहिए। लगभग ९५ प्रतिशत कीड़े पक्षियों द्वारा खा डाले जाते हैं। एक अबाबील के पेट में दो हज़ार मच्छड़ पाये गये थे। इतना ही नहीं, इसके सिवा सैकड़ों पतंगी और अन्य छोटे छोटे कीड़े भी मिले थे। पक्षियों से जितनी कुछ हानि फ़सल को होती है उससे कहीं अधिक लाभ कीड़ों के मार डालने से होता है। विदेशों में पक्षियों को पालने के लिए बड़े उद्योग किये जा रहे हैं; किन्तु भारत में शायद ही कहीं किसीने इस ओर ध्यान दिया हो। अहल्याबाई की भूतदया तो पुरानी बात हो गई है।

पुस्तकादि-परिचय।

(१)—**गीतादर्शन**—लेखक, श्रीयुक्त कन्नोमल, एम० ए०; प्रकाशक, गीतादर्शन आफिस, धौलपुर; पृष्ठसंख्या, २०० से अधिक; मूल्य, दो रुपये। अपने विचारों को लेकर उनके आधार पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने वालों की हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में बड़ी आवश्यकता है। अतएव हम लाला कन्नोमल जी को धन्यवाद इसलिए देते हैं कि उन्होंने उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, अंग्रेज़ी फ़िलासफ़ी, और अन्य अन्य ग्रंथों से बड़े परिश्रम द्वारा उपार्जन किये हुए अपने ज्ञान को इस ग्रंथ में संग्रह कर एवं उसके आधार पर श्रीमद्भगवद्गीता को स्वतंत्र रीति से क्रमबद्ध कर के प्राचीनता में नवीनता दिखला दी है।

"गीतादर्शन" का अभिप्राय भिन्न भिन्न दर्शन शास्त्रों का उल्लेख करके उनके साथ श्रीमद्भगवद्गीता के सिद्धान्तों की तुलना करने का है। गीता में भक्ति, ज्ञान, कर्मादि के विषय में जो कुछ कहा गया है उसको भिन्न भिन्न स्थलों से चुनकर एकत्र संग्रह किया है और नीचे ग्रंथकार ने अपनी टिप्पणी में गीता का प्रतिपादन उन बातों की अन्य अन्य शास्त्रों के मत से तुलना करते हुए संक्षिप्त, स्वतंत्र और विद्वत्तापूर्ण ढंग से, किया है। इन टिप्पणियों को इन अनेक शास्त्रों की प्रक्रियाओं के ज्ञान बिना समझना कठिन है। इसीसे उपनिषद्, दर्शन शास्त्र और पाश्चात्य विद्वानों के मतों की परिक्रिया और उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन इसके पूर्व भाग में किया गया है। इस अंश में यह ग्रंथ बिलकुल स्वतंत्र है, अर्थात् किसी भाष्य को प्रमाण मान कर उसके आधार पर इसकी रचना नहीं की गई है।

कहीं कहीं मूल गीता के सिद्धान्तों को भी अन्य शास्त्रों की भाषा में समझाने की चेष्टा पाई जाती है, इसीलिए भी उन शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान इस ग्रंथ के लिए उपयोगी है।

हमारी राय में मूल गीता को समझने के लिए अन्य शास्त्रों की परिभाषा जानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि गीता की परिभाषा स्वयं गीता में ही विद्यमान है। इस शास्त्र को दूसरे शास्त्रों के शब्दों में समझने के लिए बहुतसी ऐसी युक्तियों का अवलंबन करना पड़ता है जिनकी गीता में उपेक्षा की गई है। घटाकाश, महाकाश का दृष्टान्त

जिसका कि लाला कन्नोमलजी ने उल्लेख किया है इसी प्रकार की युक्तियों में से है। हमें श्रीगीता जी की यह उपेक्षा इन सब दृष्टान्तों से अधिक भाव-पूर्ण जान पड़ती है। जीव को—जीवमात्र को क्यों, समस्त विश्व को अपना अंशमात्र प्रतिपादन करके अविकृत और अविभक्त अपने नित्य अविनाशी रूप का प्रतिपादन कर देना—जो राक्षस तामस, और सात्त्विक भाव हैं वे सब मुझ में हैं और मैं उनमें नहीं हूँ इतना मात्र कह कर छोड़ देना—परमात्मा की अचिन्त्य महिमा और अनन्त सामर्थ्य की सूचना है। वेद में भी 'पादोऽस्य०' इत्यादि पुरुषसूक्त के मंत्रों में इसी प्रकार का वर्णन आया है। परमात्मा के उस अचिन्त्य स्वरूप, सामर्थ्य, और महिमा को दृष्टान्तादि द्वारा समझाने का प्रयत्न बाला-ख्यायिका की नाईं केवल श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए है। 'जिस जिस प्रकार से आत्मा का निश्चय हो सके वही यहाँ प्रक्रिया हो सकती है'—पंचदशी के इस वचन के अनुसार सभी शास्त्रों की प्रक्रिया प्रमाण किंवा अप्रमाण कही जा सकती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इस बात को युक्ति द्वारा न समझाने का भी कदाचित् यही अभिप्राय हो कि भगवान की यह महिमा अचिन्त्य है—वह वाणी और बुद्धि से परे है।

हम गीतादर्शन के विचारों और उसके नये ढंग की रचना-पद्धति की प्रशंसा मुक्त कंठ से करते हैं, और यह कहे बिना नहीं रह सकते कि यह ग्रंथ बड़े परिश्रम से लिखा गया है और इसके विचार विद्वत्तापूर्ण और उच्च श्रेणी के हैं। फिर भी यह ऐसा विषय है जिसमें सबको स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने का एकसा अधिकार है। इसलिए हमको चाहिए कि जिस प्रकार हम अपने विचारों का आदर करते हैं वैसे ही दूसरों के विचारों का भी करें। जितना ही इन ग्रन्थरत्नों—श्रीगीता, महाभारतादि—का विचार किया जायगा उतना ही अधिक लाभ होगा; क्योंकि अगाध रत्नाकर में पैठनेवाला कोई भी क्यों न हो कम से कम अपनी दोनों मुठियाँ तो रत्नों से भर ही लावेगा। हम अन्त में ग्रन्थ के विद्वान् लेखक लाला कन्नोमल को बहुत बहुत बधाई देते हैं, और यह आशा करते हैं कि गीतादर्शन और उसके सदृश उत्तम ग्रन्थों का प्रचार इस देश में सर्वत्र हो और सब लोग उनसे लाभ उठावें।—**रा. ब.**

(२) **प्रासपुञ्ज**—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत नारायणप्रसाद बेताब, ७ मार्कस स्क्वायर, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या, २३२; मूल्य १)

कविता एक अलौकिक वस्तु है और वह छन्द, अलंकार आदि के बन्धनों में नहीं बाँधी जा सकती। सच्ची कविता बिना अलंकारों के भी अलंकृत होती है, जैसा कि किसी ने कहा है—

नहीं मोहताज ज़ेवर का जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी।
फ़लक पर ख़ुशनुमा लगता है देखो चाँद बेगहने॥

फिर भी, छन्दो-बद्ध कविता अधिक सुन्दर जान पड़ती है; और कवि बनने के इच्छुक विद्यार्थी छन्द, अलंकार आदि सीख कर बहुधा कविता लिखने का अभ्यास करते हैं। इन्हीं अभ्यासी जनों के लिए छन्दो-ग्रंथ रचे गये हैं। छन्दों की रचना में 'प्रास' पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। विद्यार्थियों को प्रास में जिसे हिन्दी में 'तुक' या 'अन्त्यानुप्रास' कहते हैं विशेष कठिनाई जान पड़ती है। प्रास, लेखक

के शब्दों में, स्वर व्यञ्जन का ऐसा मिश्रित पिण्ड है जिसका अन्तिमांश स्थायी और आद्यांश परिवर्तनशील है; जैसे नीर, वीर, तीर, चीर आदि में 'ईर' स्थायी और न, व, त, च परिवर्तनशील हैं। नल, दल, जल में न, द, ज परिवर्तनशील और लकार स्थायी है। 'अमल' के साथ 'विमल' का प्रास करना अशुद्ध है; परंतु 'अमल' के साथ 'कमल' का प्रास शुद्ध है।

प्रास की इन्हीं सब बातों का विचार 'प्रास-पुंज' के आद्य २८ पृष्ठों में किया गया है जो हिन्दी की छन्दोबद्ध तथा सतुकान्त कविता करनेवालों को अवश्य ही बहुत उपयोगी होगा। मान लीजिए, कवि को 'अति' शब्द की तुक मिलाना है। उस समय यदि उसे कोई तुक नहीं मिलती है, तो वह 'प्रास-पुंज' देख कर गति, मति, पति, यति, उन्नति, सम्मति, आदि तुकें खोज सकता है। इस प्रकार वर्णमाला और स्वर के क्रम से प्रत्येक अक्षर की अनेक तुकों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है।

पुस्तक का विषय यद्यपि हिन्दी के लिए नवीन नहीं है, तथापि उस पर व्यवहारोपयोगी पुस्तक लिखने का श्रेय बेताबजी को अवश्य है। बेताबजी से हमारी प्रार्थना है कि आपने पुस्तक के प्रथम २८ पृष्ठों में जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें आगामी संस्करण में बहुत सरल रूप से लिखने की चेष्टा करें। सम्भव है, ऐसा करने से आपका पूरा पाण्डित्य प्रदर्शित न हो सके, तथापि इससे आपकी पुस्तक पढ़नेवालों को अवश्य लाभ होगा।

(३) **साहित्य-सुमन**—लेखक, स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट; प्रकाशक, श्रीयुत महादेव भट्ट, अहियापुर, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या, १२०; मूल्य ॥)

श्रद्धेय भट्टजी आधुनिक हिन्दी-गद्य की नींव डालनेवालों में से हैं। उन्होंने लगभग ३२ वर्ष "हिन्दी-प्रदीप" का सम्पादन कर हिन्दी में अपनी छाप बैठा ली है। उनके लेख उन्हीं के हैं। उनमें मौलिकता, सरसता और ताजगी है। आज भी उन लेखों में वह ताजगी है जो कई वर्ष पूर्व थी। इसी गुण के कारण उनमें स्थायी महत्त्व है, और "साहित्य-सुमन" के रूप में उनके २५ अच्छे लेखों का संग्रह यथार्थ में पठनीय हुआ है। हिंदी सीखनेवाले विद्यार्थियों के लिए यह संग्रह बहुत उपयोगी होगा। अन्य लोग भी इसे पढ़ कर अपना मनोरंजन कर सकते हैं।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे गये हैं वे भी पहुँच गई हैं और साभार स्वीकृत की जाती हैं—

(१) कविता कुसुम-कली—प्रकाशक, कवि-मण्डल, जयपुर।

(२) तमाखू से हानि—लेखक और प्रकाशक, पंडित हनुमानप्रसाद जोशी वैद्य, १६२-२०० कालबादेवी रोड, बम्बई; पृष्ठसंख्या, ८४, मूल्य, =)

(३) शास्त्र सिद्धांत-सार—लेखक, माननीय ब्यौहार रघुवीरसिंहजी, जबलपुर, पृष्ठ-संख्या, ७५; मूल्य, =)

(४) बाल-शिक्षण पहेली—लेखक और प्रकाशक, पं० शुकलालप्रसाद पाण्डेय, सिमगा, रायपुर; पृष्ठ-संख्या, ३८; मूल्य =)

(५) नूतन ब्रह्मचारी [उपन्यास]—लेखक, स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट; प्राप्ति-स्थान, पं० जनार्दन भट्ट, अहियापुर, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या, ४८; मूल्य, =)

(६) सौ अजान और एक सुजान—लेखक, स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट; प्रकाशक, पं० महादेव भट्ट, अहियापुर, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या, १००; मूल्य, ॥)

(७) शिक्षा-दान—लेखक, स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्ट; प्रकाशक, पं० महादेव भट्ट, अहियापुर, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ४४; मूल्य, =)

(८) प्रथम बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, सोनपुर, का कार्य-विवरण तथा लेख-माला—प्रकाशक, स्वागतकारिणी समिति, प्र० वि० प्रा० हि० सा० सम्मेलन, मुज़फ्फरपुर; मूल्य, ॥)

चित्र-परिचय।

(१) "चन्द्र-दर्शन" नामक रंगीन चित्र में सूर्यतनया यमुना के तटपर चन्द्र-दर्शन का सुन्दर दृश्य अंकित किया गया है। यह चित्र हमें श्रीमान् बाबू गोविन्ददास जी की कृपा से प्राप्त हुआ है। (२) दूसरा चित्र जिसका परिचय देना आवश्यक है हिन्दी-व्याकरण-संशोधक-समिति का है। हिन्दी में वैसे तो कई छोटे मोटे व्याकरण ग्रंथ हैं; परन्तु ऐसा कोई सर्वमान्य व्याकरण ग्रंथ नहीं था जो कालेजों में पढ़ाया जा सकता और इस समय जब कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रबल प्रयत्न चारों ओर से हो रहा है और इस बात का भी विचार किया जा रहा है कि हिन्दी में उच्च शिक्षा दी जाय, ऐसे ग्रंथ की बड़ी आवश्यकता थी। हर्ष और सन्तोष की बात है कि मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध कवि पण्डित कामता-प्रसाद जी गुरु, एम. आर. ए. एस., ने ऐसा एक बृहत् व्याकरण ग्रंथ, कई वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्चात् प्रस्तुत कर डाला। इसी ग्रंथ को दुहराने के लिए गत अक्टूबर मास में काशी में एक समिति बैठी थी और अल्प परिवर्तनों के पश्चात् इस ग्रंथ को छापना निश्चय हुआ। इसमें लगभग ५०० पृष्ठ होंगे और इसे प्रकाशित करेगी काशी की नागरीप्रचारिणी सभा। कई लोग कदाचित् सोचते होंगे कि जिस प्रकार गुरुजी की कविता में व्याकरण की विशेष छटा दिखाई देती है उसी प्रकार उनके व्याकरण में काव्य की मनोहर झलक मिलेगी। यह बात तो पुस्तक प्रकाशित होने पर कही जा सकेगी; परन्तु इसमें सन्देह नहीं, यह ग्रंथ अपूर्व होकर गुरुजी की कीर्त्ति-कौमुदी विशेष विस्तृत करेगा और हिन्दी के एक भारी अभाव की पूर्ति करेगा। इस हम उपयोगी ग्रंथ के लिए गुरुजी और नागरीप्रचारिणी सभा को बधाई देते हैं और हर्ष के साथ समिति की चित्र इस अंक में प्रकाशित करते हैं।

"श्रीशारदा" के नियम

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ।।) और पुरानी प्रति का ।।।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ।।) भेजना चाहिए अथवा ।।≡) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—ग्राहकों को अपना नाम और पता स्पष्ट लिपि में लिखना चाहिए जिससे पत्रिका के पहुँचने में सुभीता हो।

४—उत्तर के लिए जवाबी कार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

५—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

६—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

७—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

प्रबन्धक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

विज्ञापकों के लिए—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया आना चाहिए। विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

एक पृष्ठ (या दो कालम)	१२)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२।।)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषयके पहिले और पीछेके,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी, और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिए—

प्रबंधक, 'श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

"श्रीशारदा" पर औरों की सम्मति—

हिन्दी-चित्रमयजगत्—××× एक बात में तो यह हिन्दी की सर्वशिरमौर पत्रिका कही जा सकती है—वह यह कि अपने उद्देश्यानुसार यह पत्रिका एकमात्र मौलिक लेखों को ही प्रकाशित करती है। ××× बाह्यांग इसका सर्वप्रकार श्रेष्ठ है ××× पत्रिका साहित्य में आदर की वस्तु है।

प्रताप—मध्यप्रान्त से एक उच्च कोटि की हिन्दी मासिक पत्रिका "श्रीशारदा" नाम की निकली है। ××× इसका भविष्य बड़ा सुन्दर जान पड़ता है।

अभ्युदय—××× हर प्रकृति के मनुष्य को पत्रिका में रुचिकर बातें मिल सकती हैं। ××× हमारी राय में पत्रिका सब दृष्टियों से प्रशंसनीय है।

विद्यार्थी—लेख उत्तम तथा टिप्पणियाँ गम्भीर होती हैं।

विज्ञान—××× इसमें लेख उपयोगी और विद्वत्ता-पूर्ण होते हैं। चित्र भी अच्छे रहते हैं। छपाई और सफाई की दृष्टि से भी यह पत्रिका बहुत अच्छी है।

प्रभा—××× विविध विषय, साहित्य-सुमन और विश्व-वैचित्र्य संपादक महोदय की योग्यता और सुरुचि के परिचायक हैं। श्रीशारदा में मौलिकता पर विशेष बल दिया जाता है।

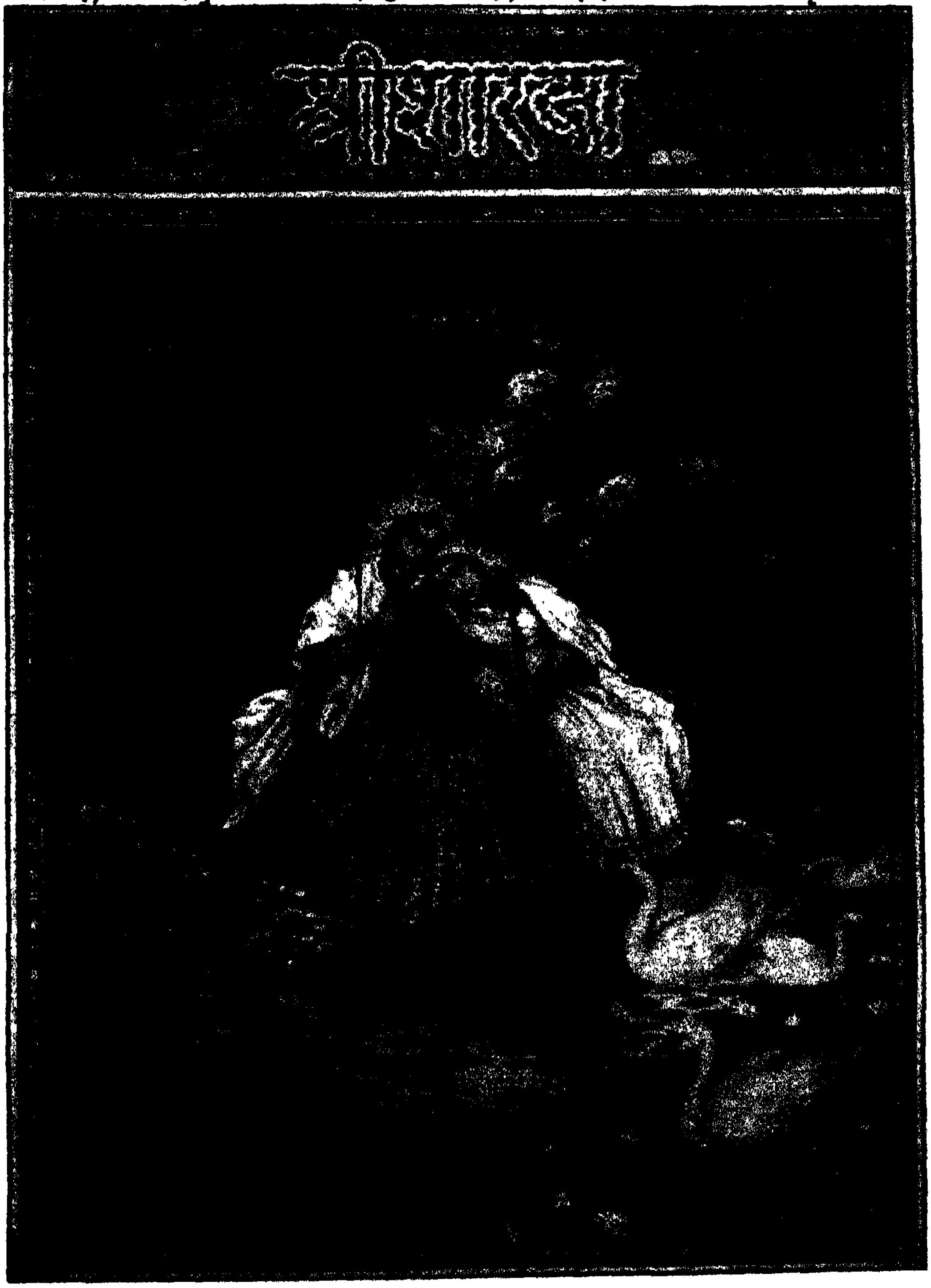
लीडर—A welcome addition to the growing ranks of Hindi Journals is 'Shri Sharda'. ××× The contributions, the illustrations and the fine get-up of the journal can very favourably compare with those of the most established of Hindi Journals.

कर्मवीर—××× श्रीशारदा का अन्तरंग और बहिरंग अत्यन्त मनोरम है। ××× सामाजिक चित्र मनोरंजक हैं।

सम्मेलन-पत्रिका—××× इसमें बड़े ही उच्च कोटि के लेख रहते हैं। कविता भी ओजस्विनी तथा भावपूर्ण पाई गई हैं। इसमें राष्ट्रीयता, साहित्य तथा समाज का समयोचित प्रतिपादन किया गया है। छपाई और सफाई की दृष्टि से भी यह पत्रिका बहुत सुन्दर है। इसमें भावपूर्ण चित्र भी रहते हैं।

जबलपुर के राष्ट्रीय-हिन्दी-मंदिर ने कर्मवीर प्रेस में पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से मुद्रित कराके प्रकाशित किया।

वर्ष १, खण्ड २] पौष, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ४



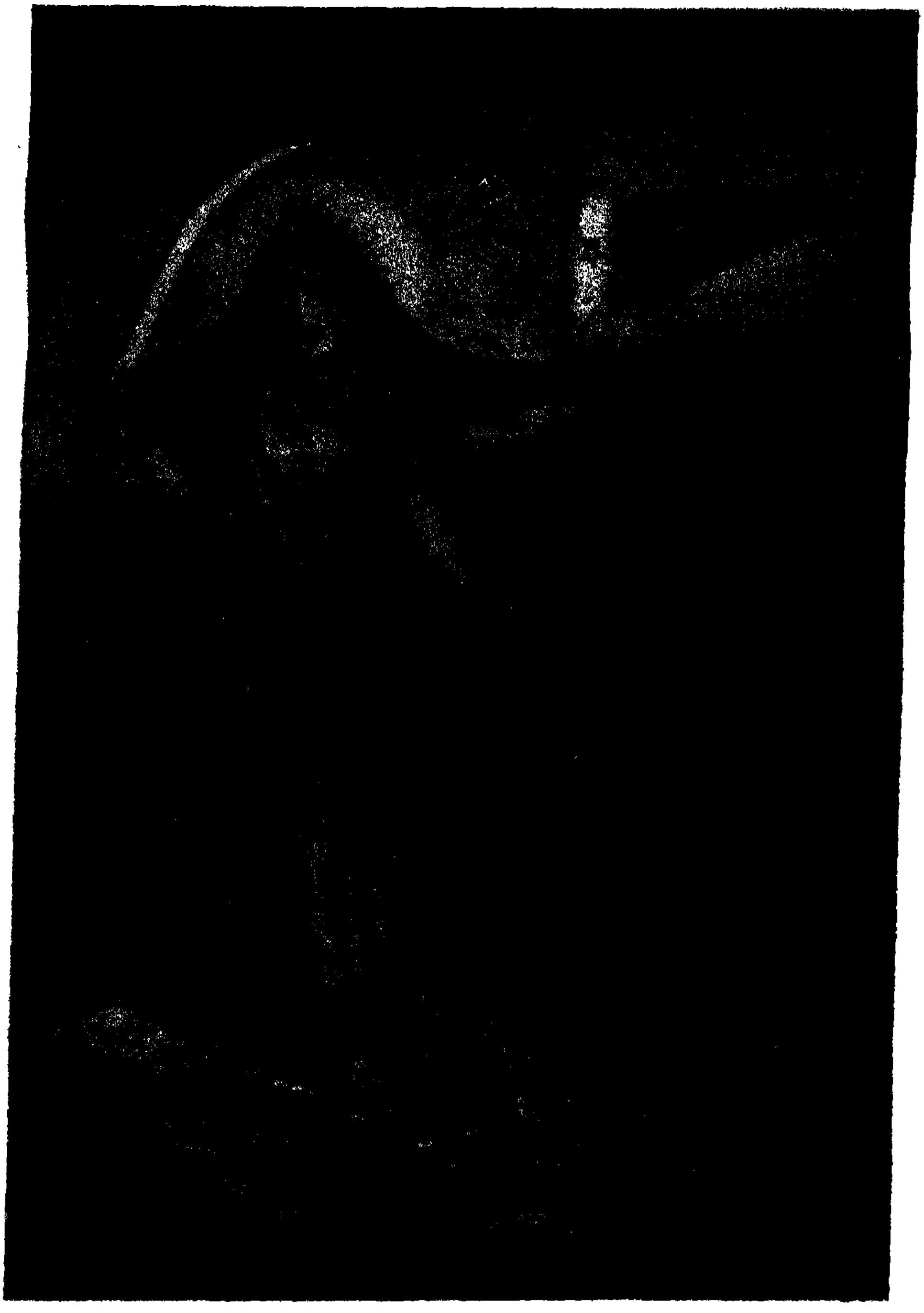
वार्षिक मूल्य ५)] सम्पादक [प्रति संख्या ।।)

साहित्यशास्त्री नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर द्वारा प्रकाशित।

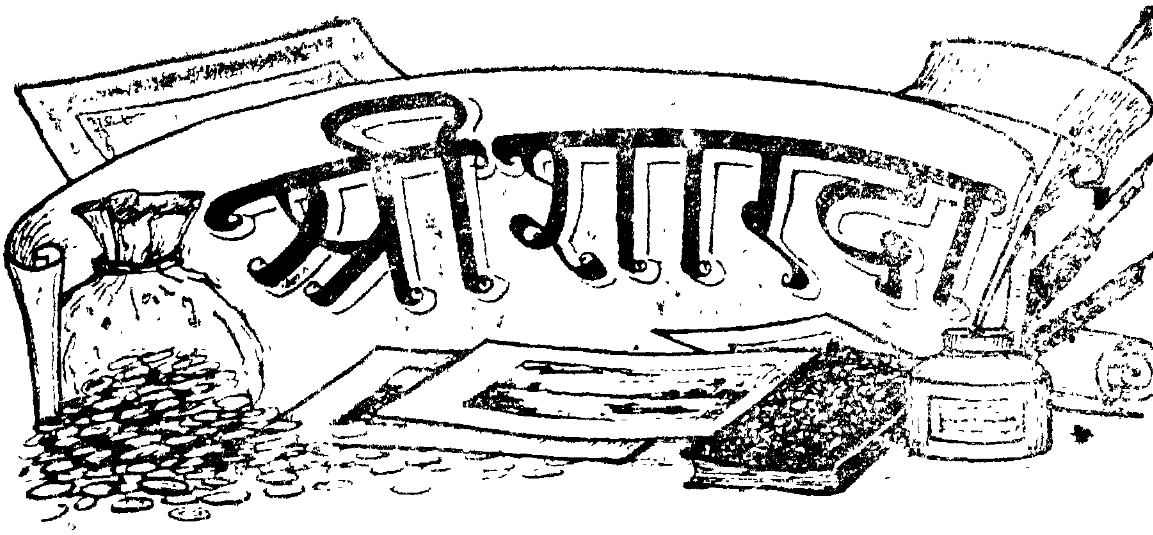
लेख-सूची ।

चित्र सूची ।



मातृभूमि की झाँकी।

चित्रकार—
श्रीयुक्त हीरालाल बब्बनजी



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड १ | माघ शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ । १० जनवरी, १९२१ [संख्या ५, पूर्ण संख्या १०

मातृ-भूमि।

(लेखक - बाबू देवीप्रसाद एम. ए., बी. ए., एल. एल. बी.)

जय जय जय जन्म-करनि,
मोहनि मन मोद-भरनि,
मातृ-भूमि ताप-हरनि,
दुःख-विदारिणी ॥ १ ॥

निरखत उपजत अनन्द,
धवल तेज करत मन्द,
कोटि कोटि भानु-चन्द,
कान्ति-कारिणी ॥ २ ॥

तीस कोटि सुभट धीर,
आलक तुव कर्मवीर,
गरजत नित शक्ति-हीर,
रिपु-संहारिणी ॥ ३ ॥

मारग तुव वेद-विहित,
धर्म्म, कर्म्म, पुण्य अमित,
करुणा-हृदय विश्व-विदित,
श्रुति-विचारिणी ॥ ४ ॥

आरत-जन शरण जान,
पर-हित-हित धरत ध्यान,
निर्भयभुज लै कृपान,
भय-निवारिणी ॥ ५ ॥

मञ्जुल सुख-प्रद स्वरूप,
सुखमा-तरलित अनूप,
ललकत लख विश्व-भूप,
हृदय-हारिणी ॥ ६ ॥

अतुलित-बल-तेज-राशि,
प्रकृति-कोप, जग-प्रकाश,
सुर-नर-मुनि-मन-हुलास,
हिय-विहारिणी ॥ ७ ॥

सजल, सफल, सुथल गात,
शस्य-श्यामला सुहात,
मुदित बदन दुख विलात,
दरिद्-दारिणी ॥ ८ ॥

षट-ॠतु-क्रम कर बिहार,
अद्भुत रँग-रूप धारि,
सजत वेश तुव सँवारि,
सुख-प्रसारिणी ॥ ९ ॥

भारत-भुवि नीति गुञ्ज,
विहरनि जग-हिय-निकुञ्ज,
विद्याऽमृत, ज्ञान-पुञ्ज,
बुधि-सुधारिणी ॥ १० ॥

मञ्जनि हिय-तम समूल,
गञ्जनि दुख-दरिद्र-हूल,
भञ्जनि भव-व्याधि-शूल,
तरणि-तारिणी ॥ ११ ॥

'कुसुमाकर' शरण अम्ब,
दीजहु रक्षाऽवलम्ब,
हरहु विपति बिन विलम्ब,
कष्ट-हारिणी ॥ १२ ॥

जन-संख्या-वृद्धि तथा रोटी का प्रश्न ।

(लेखक—श्रीयुत प्राणनाथ, विद्यालंकार)

जन-संख्या राष्ट्रीय उन्नति तथा जातीय समृद्धि का आधार है। जहाज़ी शक्ति, हवाई शक्ति आदि के सदृश ही मनुष्य-शक्ति भी एक महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति है। भारतवर्ष यदि स्वाधीन होता तो आज भारत की जन-संख्या एक सौभाग्य का चिह्न होती और संसार के शक्तिशाली समृद्ध देशों में भारत की भी गिनती होती। नैटाल, ट्रान्सवाल, फिजी आदि अंग्रेज़ी उपनिवेशों को अपनी करनी का फल मिलता और भारत का मस्तक नीचा करने के लिए वे फिर साहस न करते।

परन्तु दशा बड़ी विचित्र है। सब काम-काज तथा व्यवसाय नष्ट होने से और व्यापार के विदेशियों के हाथ में चले जाने से भारतवर्ष अपनी समृद्धि के समय की बढ़ी हुई आबादी को सम्हालने में अब असमर्थ हो गया है। भारत का कुल क्षेत्रफल १,८३३,००० वर्गमील है। इस पर १९११ में ३१ करोड़ ५० लाख मनुष्यों का निवास था। भारतवर्ष आबादी की दृष्टि से इंग्लैण्ड से सात गुना और भूमि के क्षेत्रफल की दृष्टि से १५ गुना बड़ा है। दृष्टान्त-स्वरूप—

देश	वर्गमील में क्षेत्रफल	जन-संख्या	प्रतिवर्गमील आबादी
संयुक्त इंग्लैण्ड	१२१०००	४५२१७०००	३७३
भारतवर्ष	१८०२५००	३१५१५६०००	१७७

इस सूची से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की आबादी उतनी अधिक नहीं है जितनी कि समझी जाती है। भारतवर्ष में प्रति वर्गमील १७७ मनुष्य और संयुक्त इंग्लैण्ड में ३७३ मनुष्य रहते हैं। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रति वर्गमील की दृष्टि से इंग्लैण्ड की आबादी भारतवर्ष से दुगुनी है। इंग्लैण्ड की आबादी भारतवर्ष से अधिक है यही बात निम्न लिखित सूची से भी स्पष्ट हो जाती है:—

भिन्न भिन्न देशों में प्रत्येक मनुष्य पीछे भूमि का प्रमाण इस प्रकार है—

देश	प्रत्येक मनुष्य पीछे भूमि
	एकड़
ग्रेटब्रिटन	०.९१
आयरलैण्ड	३.०
फ्रान्स	२.३०
जर्मनी	१.७०
रूस	४.६०
आस्ट्रिया	२.०५
इटली	१.७४
स्पेन तथा पोर्तगाल	२.६०
संयुक्त अमेरिका	८.६०
भारतवर्ष	१.७

स्पष्ट है कि ग्रेट ब्रिटन में प्रति मनुष्य पीछे ०.९१ और भारतवर्ष तथा आयरलैण्ड में १.७ तथा ३.० एकड़ ज़मीन के टुकड़े हिस्से में आते हैं। इससे भी यही स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की आबादी भारतवर्ष से एकड़ों की दृष्टि से दुगुनी है। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में प्रति मनुष्य पीछे भूमि का प्रमाण, एकड़ों में, इस प्रकार है:—

प्रत्येक मनुष्य पीछे भूमि।

प्रान्त	सन् १८८१	सन् १८९१	सन् १९०१ १९०२	सन् १९११ —१२
बंगाल	१. ५	०.७	१.१२	×
बम्बई	१. ७	१ ६	१.४१	×
मद्रास	१. ३	०.८	०.६८	०.७६
आसाम	......	०.५	०.७८	०.८५
पंजाब	१. २	१.३	१.०५	१.११
अवध	०.८१	०.७	०.७३	०.७५
उत्तरपश्चिमी प्रान्त	...	०.८	०.७३	०.७५
बर्मा	.....	१.५	१.०८	१.०६
मध्यप्रदेश	१.६७	१.४	१. ६	१.७६

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतवर्ष की आबादी, भूमि—भाग तथा प्रति वर्ग मील मनुष्य-संख्या की दृष्टि से, इंग्लैण्ड की अपेक्षा कम है। यह होते हुए भी भारत में दरिद्रता तथा दुर्भिक्ष है और लोग भूख से छटपटा रहे हैं; परंतु इंग्लैण्ड में इससे उलटी समृद्धि तथा सुकाल है और लोगों को पेट भर भोजन अवश्य ही मिल जाता है। यह क्यों? यह इसीलिए कि इंग्लैण्ड व्यावसायिक देश है और भारतवर्ष एकमात्र कृषिप्रधान है। समस्त जनता का कृषि पर निर्भर रहना और दिन पर दिन व्यावसायिक कार्यों को छोड़ते जाना बहुतही शोचनीय बात है। इससे शक्ति तथा समृद्धि दोनों का ही नाश होता जाता है। इतना ही नहीं, भारत में नगर तथा नागरिकों की संख्या भी इंग्लैण्ड से कम है। दृष्टान्त-स्वरूप लीजिए—१९११ में इंग्लैण्ड तथा भारत में नगरों की स्थिति।

नगरों की आबादी	भारत में नगरों की संख्या	इंग्लैण्ड तथा वेल्स में नगरों की संख्या
पचास हज़ार से ऊपर, पर एक लाख से कम, आबादी के नगर	७५	६८
एक लाख आबादी के नगर	३०	४४
दो लाख आबादी के नगर	१०	१६

भारतवर्ष भूमिक्षेत्र में इंग्लैण्ड से पन्द्रह गुना बड़ा है और इसीलिए आबादी तथा समृद्धि के समान होने पर भारत में इंग्लैण्ड की अपेक्षा नगर सात गुना होना चाहिए। अर्थात्, पचास हज़ार आबादी के नगर (९८×१५), १४७०, एक लाख आबादी के नगर ६६० तथा दो लाख आबादी के नगर २४० होने चाहिए; परन्तु स्थिति यह है कि १४७० के स्थान पर ७५० नगर, ६६० के स्थान पर ३० नगर और २४० नगर के स्थान पर १० नगर भारतवर्ष में हैं। यही बात सारे यूरोप में सिद्ध होती है। एशिया को चूसकर यूरोप समृद्ध हुआ और उसमें नगरों तथा नागरिकों की संख्या भी विशेष रूप से बढ़ गयी।

दृष्टान्त-स्वरूप अमरीका को ही लीजिए।

अमरीका में नागरिकों की वृद्धि।

सन्		फ़ी सैकड़ा नागरिकों की वृद्धि
१८८०	...	२९.५
१८९०	...	३६.१
१९००	...	४०.१
१९१०	...	४६.३

तीस सालों में अमरीका में नागरिकों की वृद्धि फ़ी सैकड़ा २९ से ४६ हो गयी है। यही बात जर्मनी में भी हुई है।

जर्मनी में नागरिकों की वृद्धि।

सन्		फ़ी सैकड़ा नागरिक
१८७१	..	३६
१८८०	..	४१
१८९०	...	४७
१९००	..	५४
१९०५	..	५७

जर्मनी में १८७१ से १९०५ तक ३६ फ़ी सैकड़े से ५७ फ़ी सैकड़े तक नागरिकों की वृद्धि हुई है। फ्रान्स का भी यही हाल है।

फ्रान्स में नागरिकों की वृद्धि।

सन्	फ़ी सैकड़ा नागरिक	फ़ी सैकड़ा ग्रामीण
१८४६	२४.४	७५.६
१९०१	४०.[illegible]	५९.[illegible]

सारांश यह है कि जर्मनी, फ्रान्स, अमरीका, तथा इंग्लैण्ड में दिन पर दिन नागरिकों की संख्या बढ़ी है। परन्तु भारतवर्ष में इससे सर्वथा विपरीत हुआ है।

१८५१ से १९११ तक सैकड़ा पीछे ग्रामीणों की संख्या का बढ़ना।

वर्ष	ग्रामीण सैकड़ा पीछे	नागरिक सैकड़ा पीछे
१८५१	५०.०८	४९.९२
१८७१	६१.८०	३८.२०
१८८१	६७.९	३२.१
१८९१	७२.०५	२७.९५
१९०१	७७.००	२३.००
१९११	७८.१	१९.९

१८५१ में भारत में ४९.९२ नागरिक थे; परन्तु आज कल १९.९ ही हैं। अंग्रेज़ी राज्य में व्यावसायिक कामों के नष्ट हो जाने से छोटे छोटे व्यावसायिक कस्बे नष्ट होकर गाँव के रूप में परिवर्तित हो गये और कुछ कस्बे तथा छोटे नगर बहुत बड़े नगरों के रूप में परिवर्तित हो गये। यूरोपीय राष्ट्रों की राजसी वृत्ति तथा पर-राज्य के कारण भारतवर्ष का दिन पर दिन ग्राम्य कामों की ओर झुकना पड़ा है। भूमिक्षेत्र तथा आबादी को सामने रखते हुए भारत की आबादी यूरोपीय राष्ट्रों की तुलना में बहुत ही कम है। दुर्भिक्ष, रोग तथा दरिद्रता में भारतवर्ष संपूर्ण सभ्य राष्ट्रों से आगे बढ़ता जाता है; क्योंकि एकमात्र कृषि करने से भारत की आर्थिक शक्ति का ह्रास होगया है।

कपड़े-लत्ते, दवा-दारू तथा अन्य छोटे से छोटे पदार्थ के लिए भारतीयों को आज कल अपना अन्न बेचना पड़ता है। सरकार, माल-गुज़ारों, ज़िमींदारों तथा तालुकेदारों का अत्याचार इतना अधिक है कि बेचारे किसानों को एक फ़सल के बिगड़ते ही दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है। महाशय डिग्बी के कथनानुसार मुसलमानों के ५०० साल के राज्य में केवल इने गिने ही दुर्भिक्ष पड़े; परन्तु अंग्रेज़ों के पिछले १०० साल में ही भारत में कुल मिलाकर ८० दुर्भिक्ष पड़े हैं। सरकार ने सेना पर जो खर्चा बढ़ाया है

उसको देखकर हृदय काँप उठता है। दरिद्र भारत पर लगभग ८५½ करोड़ रुपयों को खर्च कर सेना रखना भारत के खून तथा पसीने के धन को पानी में नहीं मिलाना है तो और क्या है? विशेषतः ऐसे समय जब कि कुल आमदनी १३५ करोड़ रुपयों से ऊपर नहीं है।

भारत से माल खींचने के कारण इंग्लैण्ड तथा यूरोप के लोग अमीर हो गये हैं। १९०० में संसार के भिन्न भिन्न लोगों की आमदनी इस प्रकार थी—

देश		प्रति मनुष्य की सालाना आमदनी पाउन्डों में	या रुपयों में
स्काटलैण्ड तथा इंग्लैंड	...	४५	६७५
आस्ट्रेलिया	...	४०	६००
अमरीका	...	३९	५८५
बेल्जियम	...	२८	४२०
फ्रान्स	...	२७	४०५
कनाडा	...	२६	३९०
भारतवर्ष	...	१	१५

कल्पना कीजिए कि सारे संसार में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया। मँहगी का कोई अन्त नहीं रहा। यदि बचे-खुचे अल्प अन्न को खरीदने में सबको समान अधिकार हो तो स्वाभाविक ही है कि सब से पहले इंग्लैण्ड तथा स्काटलैण्ड के लोगों को ही अन्न मिल सकेगा। उसके बाद आस्ट्रेलिया, अमरीका, बेल्जियम, फ्रान्स तथा कनाडा को क्रमशः अन्न मिलेगा। यदि इन लोगों की भूख मिट जाने के बाद भी कुछ अन्न बच गया तो भारतवर्ष को मिल जावेगा। परन्तु होता क्या है? भारत सरकार ने अपनी कुटिल नीति से भारत के अन्न पर यूरोप के गिद्धों को छोड़ दिया है। इससे संसार में जो अन्न की कमी है उसके कारण सारी विपत्ति एकमात्र भारतवर्ष पर आ टूटी है। यूरोपीय लोग अपने रुपयों से भारत का अनाज खरीद लेते हैं और भारतवर्ष को भूख के मारे छटपटा कर रह जाना पड़ता है। दृष्टान्त-स्वरूप गेहूं को ही ले लीजिए।

१९१४ में भिन्न भिन्न देशों में गेहूं की उत्पत्ति तथा उसकी कुछ राशि का विदेश में जाना।

प्रमाण टनों में; एक टन=२७½ मन।

वर्ष	उत्पत्ति	विदेश में जाना	देश में खाने के लिए बचा गेहूँ
अमरीका	२३८९६८८५	४६४७३००	१९१८९५८५
रूस	१५३२४०४७	२३६८५००	१२९५५५४७
भारतवर्ष	८३३६४८४	६९४६८०	७६४१८०४

अमरीका तथा रूस से भारत में तीन गुने आदमी हैं। भारतवर्ष शाकभोगी देश है और अमरीका तथा रूस मांसभोगी देश हैं। यदि मांसभोगी तथा शाकभोगीपने का ख्याल न भी किया जावे और भारतवर्ष को अमरीका तथा रूस के सदृश ही गेहूं खाने को मिले तो निम्नलिखित राशि में भारत में लोगों के खाने के लिए होना चाहिए—

देश	टनों में
भारत को अमरीका के अनुसार इतना गेहूं चाहिए	५,७५,६८,७५५
भारत को रूस के अनुसार इतना गेहूँ चाहिए	३,८८,९६,६४१
भारत में गेहूँ उत्पन्न होता है ...	८३,३६,४८४
विदेश में भेजने के बाद भारत में लोगों को खाने के लिए इतना गेहूँ मिलता है	७६,४१,८०४

इसी को इस प्रकार भी प्रगट कर सकते हैं कि अमरीकन लोगों के भोजन के विचार से भारत में (५,७५,६८,७५५–८३,३६,४८४)४,९२,३२,२७१ टन गेहूं कम उत्पन्न होता है और विदेश भेजने के बाद यह कमी ४,९९,२६,९५१ टन तक आ पहुंचती है। ऐसी कठिन विपत्ति में, जबकि भारत की आबादी के अनुसार भारत में गेहूं बहुत ही कम उत्पन्न होता है भारतसरकार का एक करोड़ दस लाख मन गेहूं विदेश में भेजने के लिए आज्ञा निकालना इस बात को सूचित

करता है कि कोई कहाँ तक कठोर तथा निर्दय हो सकता है। सन् १९१३ तथा १९१४ में भारत से एक सेर गेहूं लिवरपूल में अधेले से एक पैसे तक के किराये में पहुंच जाता था और इस जमाने में भी दो आने से अधिक किराया नहीं बढ़ा है। भारत तथा इंग्लैण्ड की सरकार इस किराये की बाढ़ को घटाने की चिन्ता में है जिसमें भारत का गेहूं विदेश में अधिक राशि में जावे। अभी थोड़े ही दिन हुए कि लन्दन की इम्पीरियल इन्स्टिट्यूट ने यह स्वीकार किया है कि भारत के सरसों, तिली आदि पदार्थों पर भारतसरकार अपना नियन्त्रण स्थापित कर ले और उनको विदेश में अधिक राशि में भिजवावे। रंगूनी चाँवल का नियन्त्रण सरकार के हाथ में पहले से ही है। कोयले की उत्पत्ति पर भी भारतसरकार ने अपना हस्तक्षेप मालगाड़ी के डब्बों के सहारे इस प्रकार डाला है कि भारत के कारखाने बहुत उन्नति न कर सकें। यदि भारतसरकार अपनी इस नीति में सफल हो गई तो भारत के लोग महँगी से तड़प तड़प के मर जावेंगे। दूध, घी, तेल अमीरों का ही भोजन हो जावेगा। तेल के सदृश ही घी विदेश में जाता ही है। बहुत संभव है कि यह और भी अधिक राशि में बाहर जाने लगे। भूख से तड़पा तड़पा कर किसी देश की शक्ति को चूसना और उसको नपुंसक बनाना इसी का नाम है। बलिहारी है भारत-सरकार की!

गीताञ्जली*।

(लेखक—श्रीयुत गुलाबराय, एम. ए., एल. एल. बी.)

आज कल की भाषा में डाक्टर रवीन्द्रनाथ और गीताञ्जली सम्बन्ध-सूचक शब्द बन गये हैं। जो रवीन्द्र बाबू को जानते हैं वे गीताञ्जली को जानते हैं और जो गीतांजली को जानते हैं वे रवीन्द्र बाबू को जानते हैं। गीतांजली का परिचय देना रवीन्द्र बाबू ही का परिचय देना है। यूरोप ने रवीन्द्र बाबू को गीतांजली के द्वारा ही पहिचाना और रवीन्द्र बाबू के साथ भारतवर्ष की प्रच्छिन्न प्रतिभा प्रकट हो गई है। गीतांजली की मधुर तानों ने पूर्व की आवाज़ पश्चिम तक पहुँचा दी है। यद्यपि वर्तमान युग में अर्थ-लोलुपता की तीव्र तप्त वायु ने कविता के स्रोतों को सुखा दिया है, तथापि प्राचीन भारतवर्ष में ऐसे स्थल वर्तमान हैं जहाँ पर आध्यात्मिकता के निर्मल स्रोत अभी तक लहरा रहे हैं और संसार की दौड़-धूप में हाँफते हुए मनुष्यों को शीतलता प्रदान कर रहे हैं। गीतांजली ऐसे स्रोतों में से एक गम्भीर स्रोत है। आइए, थोड़ी देर इसमें अवगाहन करें।

मैं कौन हूँ और कहाँ से आया? यह संसार क्या है? इस संसार और इसके कर्ता से मेरा क्या संबंध है और इस सम्बन्ध के अनुकूल मेरा क्या कर्तव्य होना चाहिए? ये प्रश्न सनातन के प्रश्न हैं और प्रत्येक सुधारक एवं दार्शनिक ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार इनका उत्तर दिया है। रवीन्द्र बाबू के

* मूल बंगाली गीताञ्जली हिन्दी अक्षरों में इंडियन प्रेस, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित हुई है। उसीका अंग्रेजी अनुवाद जिसका माधुर्य मूल से किसी प्रकार कम नहीं है मैकमिलन कम्पनी, लंडन, से प्रकाशित हुआ है। वहां से उसकी २७ आवृत्तियां हो चुकी हैं और अब हाल ही में एक सस्ती आवृत्ति भी उसी कम्पनी ने कलकत्ते से निकाली है। अंग्रेजी अनुवाद प्रायः सभी पुस्तक-विक्रेताओं के पास मिल जाता है। सस्ता संस्करण आगरे में रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स के यहां सुभीते से मिल जाता है। हिन्दी अनुवाद प्रताप प्रेस, कानपुर, से प्रकाशित हुआ है। एक उर्दू अनुवाद भी लाहौर से निकला है। इस लेख में जिन पद्यों का उल्लेख किया गया है वे अंग्रेजी गीताञ्जली से अनुवादित हैं। कहीं कहीं मूल बंगाली और प्रताप प्रेस द्वारा प्रकाशित हिन्दी अनुवाद से भी सहायता ली गई है।

वही उत्तर हैं जो हजारों वर्ष पहिले उपनिषदों में दिये गए हैं। रवीन्द्र बाबू ने इन उत्तरों को साधारण लोगों की भाषा में रख एक अपूर्व नवीनता दे दी है। उन्होंने सत्य को सुन्दरता दे सोने में सुगन्धि पैदा कर दी है। रवीन्द्र बाबू ने मदन देव की भाँति सत्य–रूपी चित्रांगदा को कविता का सौन्दर्य दे जवि–रूपी अर्जुन के लिए ग्राह्य बना दिया है। गूढ़ से गूढ़ बातों को रवीन्द्र बाबू ने साधारण लोगों की भाषा में रख संसार को अनुग्रहीत किया है। सत्य को प्रिय बनाना ही कवि का कार्य है। कविता ही में सत्, चित् और आनन्द का योग होता है। सच्चे कवि और सच्चे दार्शनिक में भेद नहीं। यद्यपि रवीन्द्र बाबू का उपास्य देव अनन्त है, तथापि कविता की भाषा में उसे व्यक्तिता देनी पड़ती है। सान्त की ग्राहकता के लिए अनन्त को भी सान्त बनना पड़ता है और इस प्रकार सान्त अनन्त को ग्रहण कर स्वयं अपनी नैसर्गिक अनन्ता को ग्रहण कर लेता है।

रवीन्द्र बाबू संसार में एक ही सत्ता मानते हैं। वे उसीसे चराचर संसार का उदय मानते हैं। चारों ओर एक ही आत्मा का विकाश और विस्तार दिखाई पड़ता है।

"जो जीवन-तरंग-माला मेरे शरीर की नस नस में दिन रात बहती रहती है वही सारे संसार में लहराती हुई ताल-सुर के साथ नृत्य कर रही है।"

"यह वही जीवन-धारा है जो हर्षोल्लास के साथ पृथ्वी की धूलि में से अनन्त तृण, पल्लव और पुष्पों की शब्दायमान तरंगों के रूप में प्रस्फुटित होती है।"

"यह वही जीवन है जो विश्वव्यापी जीवन-मरण–रूपी महासागर के अन्तहीन ज्वारभाटे के पालने में झूलता रहता है।"

"मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा अंग इस विश्वव्यापी जीवन के मधुर स्पर्श से प्रभावशाली बन गया है और युग–युगांतर–व्यापी जीवन-स्पंदन मेरी नाड़ी में नृत्य कर रहा है।"–(६९)

सृष्टि–रचना के विषय में रवीन्द्र बाबू इस प्रकार कहते हैं—"हे ईश्वर, यही तेरी माया है कि मैं अपने को बड़ा बनाऊँ और अपने अभिमान को चारों ओर लिये फिरूँ जिससे कि मैं तेरे उज्ज्वल आलोक को अपनी रंगीन छाया से रँग दूँ" अर्थात्, तूने मुझको बनाया है और मैं तेरी माया-वश अपने अहंकार द्वारा तुझमें यह संसार देखता हूँ। अब प्रश्न उठता है कि मैं क्या हूँ? इसका उत्तर इसी पद्य में मिल जाता है। "तू अपनी सत्ता को सीमा-सूचक रेखाओं से विभाजित करता है और अपनी विच्छिन्न आत्मा को असंख्य नामों से पुकारता है। तेरे आत्म-विच्छेद ने मेरा रूप धारण किया है।" यहाँ वही सिद्धान्त बताया गया है, जिसका प्रतिपादन श्रुति ने किया है। 'एकोऽहं बहु स्याम्'–संसार में जो कुछ सुख–दुःख है, जो कुछ रोना-चिल्लाना है, जो कुछ आशा और भय है, वह सब इस नानात्व का फल है—एक में इन सबका साम्य हो जाता है।

"तेरे आत्म-विरह से उत्पन्न हुए गीत प्रतिध्वनित होकर गगन-मंडल को नाना रंग के आँसुओं और मुसक्यानों, भय और आशाओं से परिपूरित कर रहे हैं। लहरें उठती हैं और फिर गिरती हैं, नाना भाँति के स्वप्न बनते हैं और

बिगड़ते हैं। मुझमें तेरी आत्मपराजय प्रतीत होती है"। ईश्वर ने मुझे अपने गौरव के लिए नहीं बनाया, वरन् मेरे गौरव के लिए। वह मुझको स्वतंत्र बनाने के लिए आप बंधन में पड़ा। मुझको विजयी बनाने के लिए ईश्वर ने अपने को पराजित किया।

आगे चलकर रवीन्द्र बाबू कहते हैं—"तूने संसार को दिनरात की लेखनी द्वारा असंख्य चित्रों से चित्रित किया है। इसके पिछले भाग में तेरा सिंहासन रहस्यमयी विचित्र बाँकी रेखाओं द्वारा रचा गया है। इसमें अफलवती सीधी रेखाओं के लिए स्थान नहीं।" (ठीक ही है, ईश्वर के समीप पहुँचने के मार्ग सीधे नहीं हैं—टेढ़े हैं, किंतु टेढ़े होने के कारण ही उनका महत्व और माधुर्य बढ़ गया है।)

ऊपर का वर्णन पढ़कर गोस्वामीजी का निम्नलिखित पद याद आता है। "केशव कहि न जाय का कहिये। देखत तव रचना विचित्र अति समुझ मनहिं मन रहिये॥ शून्य भीत पर चित्र-रंग नहिं बिनु तनु लिखा चितेरे। धोये मिटइ न मरइ भीत दुख पाइय यह तनु हेरे॥ रविकर नीर बसै अति दारुण मकर-रूप तिहि माहीं। बदन-हीन सो ग्रसे चराचर पान करन जे जाहीं॥ कोउ कह सत्य झूँठ कह कोऊ युगल प्रबल कर मानै। तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै"॥

इस पद्य की पूर्ति करते हुए रवीन्द्र बाबू लिखते हैं—"मेरी और तेरी महान् प्रदर्शनी से सारा संसार व्याप्त है। तेरे और मेरे गायन से सारा आकाश-मंडल गूँज रहा है। युग के युग तेरी और मेरी आँखमिचौनी में बीतते जा रहे हैं"—(७१)।

आजकल बहुत से दार्शनिक लोग यह मानते हैं कि संसार ईश्वर और मनुष्य के अन्योन्य विचार-विनिमय (Inter-action of spirits) का फल है। उन लोगों का कहना है कि इस संसार में केवल ईश्वर और जीव हैं। जिस प्रकार हमारी आपस की बातचीत से भाषा की उत्पत्ति होती है वैसे ही मनुष्य और ईश्वर के विचार-विनिमय का फल यह संसार है। ऊपर का पद्य-खंड इस कल्पना की पुष्टि स्पष्टतया तो नहीं करता है, तथापि इसका झुकाव बहुत कुछ इसी ओर है। कवि का कहना है कि तेरी और मेरी ध्वनि से संसार गुंजायमान हो रहा है। वेदान्त का भी वचन इस से भिन्न नहीं है। ब्रह्म जीव-रूप होकर अपने में यह संसार देखने लगता है। जीव ब्रह्म है और अपने विस्मृत स्वरूप की खोज करता रहता है। इस खोज को कवि ने अपनी भाषा में आँख-मिचौनी कहा है। जन्म-जन्मान्तर की आँखमिचौनी के पश्चात् जीव ब्रह्म को पा जाता है और स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है।

इस खेल की समाप्ति के विषय में रवीन्द्र बाबू कहते हैं—"और जब रात्रि को तेरी इच्छा इस खेल को समाप्त करने की होगी तो रात्रि के घोर अंधकार में मिल जाऊँगा अथवा श्वेत प्रभातो-त्थित मधुर हास्य की शुभ्रोज्ज्वल शीतलता में शान्ति पा जाऊँगा।" अर्थात्, बहुत दिन की खिल-वाड़ के पश्चात् ब्रह्म में लय हो जाऊँगा। रवीन्द्र बाबू इस खिलवाड़ को वृथा नहीं समझते हैं और न इस रंग-रूप के संसार को मिथ्या ही मानते हैं। इस संसार के अनुभव का वे तिरस्कार नहीं करते हैं। वे साकार में ही निराकार और सान्त

में ही अनन्त को देखते हैं। "आकारों के समुद्र में गोता लगा उन्होंने निराकार-रूपी रत्न पाया है।"—(१००) वे कहते हैं कि "आकारों के इस क्रीड़ा-स्थल में मेरा खेल शेष हो चुका है। यहाँ पर मुझको निराकार की झलक मिली है।" (९६) जिस स्थान में निराकार के दर्शन हों उसका तिरस्कार वे किस प्रकार कर सकते हैं; इसलिए कविवर कहते हैं कि "इस धरणी का नीचातिनीच स्थान दुष्प्राप्य है और इस संसार का तुच्छ से तुच्छ जीवन दुर्लभ है।"—(९२)

संसार के नीच और तुच्छ लोगों में ही वे ईश्वर का दर्शन करते हैं और वहीं पर ही उसकी वंदना करना चाहते हैं। उसकी वंदना के अर्थ हमको अभिमान त्यागना पड़ेगा। सच्चा ईश्वर-भक्त अभिमानी नहीं होता; क्योंकि—

"अभिमान की पहुँच वहाँ तक पहुँच नहीं जहाँ कि तू दीनों के से वस्त्र धारण किये हुए पतित से पतित दरिद्र दीन दुखियों के मध्य में घूमता है।" (१०) यदि हमें ईश्वर की यह वंदना करना है तो हमको उसके चरणों का स्पर्श दीन-दुखियों में ही सकता है—ईश्वर का निवास-स्थान ऐसे ही लोगों में है। देखिए—

"जिस स्थान में कृषक कठिन भूमि को जोत रहे हैं और सड़क बनाने वाले पत्थर की गिट्टियों को तोड़ रहे हैं वहीं ईश्वर वर्तमान है। वह उनके साथ मेह और घाम में रहता है और उसके वस्त्र धूलि-धूसरित हो रहे हैं। अपने पवित्र वस्त्रों को उतार डालो और उसके समान धूलि-भरी भूमि में उतर आओ।" (११)

देखिए, कवि की दृष्टि में काम करने वाले का गौरव कितना बढ़ा हुआ है। काम करने ही में धर्म का पालन है, काम के त्याग में नहीं। कर्तव्य समझ कर काम को करना ही सच्चा सन्यास है। काम छोड़ कर मुक्ति चाहना वृथा है। स्वार्थ त्याग कर काम करते रहने में ही मुक्ति है।

"मुक्ति! मुक्ति कहाँ मिल सकती है? हमारे स्वामी ने हर्ष से सृष्टि का बन्धन अपने ऊपर डाल लिया है। वह हम लोगों के साथ सदा के लिए बँधा हुआ है।" (११)

रवीन्द्र बाबू सन्यास में मुक्ति नहीं खोजते हैं। वे बंधन में ही मुक्ति का मिलना मानते हैं—"त्याग में मेरे लिए मुक्ति नहीं है। मैं आनंद-मय बन्धनों में स्वतंत्रता का अनुभव करता हूँ। यह स्वतंत्रता मुझको अनन्त रीति से बन्धनों का तिरस्कार करती है। ईश्वर ने भी तो अपने ऊपर सृष्टि का बंधन धारण किया है।"

"मेरा संसार तेरी ज्योति से अपने सहस्रों दीपकों को प्रज्वलित कर तेरी वेदी पर [illegible] दीपावली को धारण करेगा। नहीं, मैं अपने इन्द्रियों के द्वार कभी बन्द न करूँगा। शब्द, रूप, स्पर्श, रस और गंध के सुख तेरे परमानंद में परिणत हो जायेंगे। हाँ, मेरे भ्रम नष्ट हो ज्योति-भरे सुख में आनंद की ज्योति जगमगाने लगेगी और मेरी सब वासनाएँ प्रेम-रूपी फल धारण करेंगी।"—(७३)

संसार को न त्यागने का अर्थ विषयासक्ति नहीं है। संसार में संसार के हित आनंद नहीं अनुभूत किया जाता, वरन् संसार को ईश्वर-रूप

मानकर संसार में आनंद लिया जाता है। रूप, रस, गंध स्वयं कुछ नहीं हैं। ईश्वर के बनाए होने के कारण ही वे प्रिय हैं। रूप, रस, गंध के सुख यदि यहाँ से आगे न बढ़ने दें तो अवश्य ही वे हेय हैं; किन्तु उनमें होकर यदि परमानन्द की झलक मिले तो हेय नहीं। यदि मैं चलता हूँ तो उसमें तेरी परिक्रमा समझता हूँ। यदि मैं खाता हूँ, तो तेरा भोग लगाता हूँ। (आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्, पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरः, यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्॥) मेरी वासनाएँ मुझे अपनी ओर आकर्षित न कर सकेंगी। रवीन्द्र बाबू के मत से वासनाओं का त्याग न करना चाहिए। वरन उनको उत्तम बनाना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं—"मेरी वासनाओं में प्रेमरूपी फल लगेंगे।"

संसार को न त्यागने से रवीन्द्र बाबू का यही अभिप्राय है कि संसार को ईश्वर का बनाया हुआ जान उसकी शोभा में आनन्द लो। उसमें होकर ईश्वर को देखो और अपने कर्तव्य-कर्म को हर्ष से करते रहो। रवीन्द्र बाबू यह नहीं चाहते हैं कि हम संसार में पड़कर ईश्वर को भूल जावें। वे प्रार्थना करते हैं कि "हे ईश्वर, मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर कि 'अनेक' के खेल में 'एक' के मधुर स्पर्श का सुख न भूल जाऊँ।" (६३)

यदि त्याग करना है तो स्वार्थ का त्याग करो, संसार का नहीं। स्वार्थ-त्याग बिना कुछ प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि हम देना चाहते हों तो स्वयं ईश्वर ही हमारा भिखारी बनने को तैयार है। ईश्वर को हमारे दान की आवश्यकता नहीं; किन्तु हमको दान करने की आवश्यकता अवश्य है। देखिए—

"रथ मेरे पास आकर रुक गया। मेरे मुख पर तेरी दृष्टि पड़ी और तू हँसता हुआ रथ से उतर आया। मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे जीवन का भाग्योदय हो गया। इसके पश्चात् तूने अपना दाहिना हाथ अकस्मात् मेरी ओर बढ़ाया और कहा "तेरे पास मुझे देने के लिए क्या है?" मैंने अपने मन में कहा—अरे! यह क्या राजकीय उपहास है कि एक भिखारी के सामने तू भिक्षा के लिए हाथ फैलावे। मैं यह देखकर सिटपिटा गया और किंकर्तव्य-विमूढ़ हो खड़ा रह गया। फिर मैंने अपनी झोली में से अन्न का एक छोटा सा कण उसे दे दिया। जब शाम को झोली खाली की तो बड़े आश्चर्य के साथ अनाज के ढेर में एक सोने का कण पाया। मैं फूट फूट कर रोया और सोचने लगा कि हाय, मुझे उस समय ऐसी बुद्धि क्यों न हुई कि तुमको अपना सर्वस्व दे देना।"—(५०)

हाँ ठीक है, सर्वस्व देकर ही सर्वस्व मिलता है। सुदामा ने जब कृष्ण भगवान को तीन मुट्ठी चाँवल दिये तब ही उनको तीनों लोक की संपत्ति मिली। सर्वस्व देना चाहिए, पर सर्वस्व पाने के अभिप्राय से नहीं। यदि ईश्वर से दुःख आवे तो उसको भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

(शेषमग्रे)।

चिन्तामणि और बिल्वमंगल ।

(लेखक—बाबू द्वारकाप्रसाद गुप्त)

१—" विकल थर थर कँपता क्यों गात,
गात को आये हो किस हेतु ?
पार की कठिन नदी की धार,
मान कर मुर्दे को ही सेतु ?
और हाँ, पकड़ सर्प की पूँछ,
चढ़े किसलिए, कहो, दीवाल ?
हुआ क्या हाल, न कुछ भी ख्याल,
काम का जाल कठिन विकराल ।"

२—वचन यों चिन्तामणि के सुने,
बिल्वमंगल तब बोला वहीं—
" बिना कुछ हुए ज़रूरी काम,
न कोई जाता है यों कहीं ।
काम वह क्या है उसको स्वयं,
जानती हो तुम जीवन-प्रिये !
अधिक आतुर हो आया यहाँ
तुम्हारे लिए, तुम्हारे लिए ।"

३—" भरा क्या ऐसा मुझमें अमृत
जिसे पाने की करके चाह,
अमर होने को आये यहाँ
न की प्राणों की भी परवाह ।"
बिल्वमंगल ने यह सुन कहा—
" तुम्हारे रुचिर-रूप की भक्ति
खींच लाई मुझको, इस भाँति
भरी उसमें आकर्षण-शक्ति ।"

४—वचन बोली चिन्तामणि तभी—
" पड़े हो तुम भ्रम में भरपूर ।
रहे हो भटक मूढ़ की भाँति,
उचित पथ से हो करके दूर ।
समझते जिसे अमृत हो हाय !
गरल है वही मनुज के लिए ।
बचो, उससे है अब भी समय;
मरण की हो क्यों आशा किए ?

५—" छोड़ कर श्राद्ध पधारे यहाँ
हाय, है जैसी मुझ में प्रीति
उसी विधि यदि ब्रजपति के साथ
दिखाते भक्त-भाव की रीति,
दूर तो होती सारी भ्रान्ति,
हृदय में भी छा जाती शान्ति ।
स्वर्ग-सुख का मिलता आनंद,
देखते मोर-मुकुट की कान्ति " ।

६—बिल्वमंगल ने हँस कर कहा—
" तुम्हीं हो बस मेरी आराध्य
तुम्हारे अनुपम मुख की कान्ति
यहाँ आने को करती बाध्य ।
लगी लौ एक तुम्हीं से प्रिये !
तुम्हें लख होता सौख्य अपार ।"
कहा चिन्तामणि ने पा खेद,
" हाय रे मोह ! तुझे धिक्कार !

७—" ज़रा तो सोचो, मन में भला—
सदा क्या यही रहेगा रूप ?
न होगा नष्ट सार क्या कभी,
रहेगा भरा सदा छवि-कूप ?
भूल है, मृगतृष्णा है घोर,
प्रपंचिनि-माया के हैं कृत्य ।
समझते हो अनित्य को नित्य;
नचाता मोह विश्व में नृत्य ॥

८—"ज़रा देखो दीपक की ज्योति,
इस समय क्या दे रही प्रकाश,
सवेरा होते ही यह किन्तु
बुझेगी, हो जावेगी नाश।
इसी विधि समझो सब संसार,
नित्य है यहाँ न कोई वस्तु;
इसीसे कर लो शिक्षा ग्रहण,
भगाओ भ्रान्ति शीघ्र ही, अस्तु।

९—"लगाओ लौ उस प्रभु के साथ,
[illegible] के नायक जो अभिराम।
प्रणतपालक करुणानिधि कृपाल,
उजागर नट-नागर घनश्याम।
करो उस [illegible] निष्काम प्रेम
छोड़ दो मोह जगत का व्यर्थ,
मिटेगा पाप और सन्ताप,
शरण में लेगा सर्व-समर्थ।"

१०—[illegible]-वनिता की ऐसी सूक्ति
[illegible] सुनकर हुआ [illegible],
बिल्वमंगल की आंखें खुलीं;
हृदय में उदय हो गया ज्ञान।
"धन्य है सूक्ति तुम्हारी धन्य;
हुई गुरु, पंथ बतलाया नया,
ज्ञान दीपक का पाया प्रकाश,
हृदय-तम का परदा फट गया।

११—बसाया अब शौरि का ही रूप,
उसी पर न्यौछावर हैं प्राण।
अतुल सम्पत्ति-विभव मैं छोड़
[illegible] अब करता अभी प्रयाण"॥
"शरण में लेना हे जगदीश,
व्रजेश्वर कृष्ण दीन के नाथ!"

यही रटता व्रज को चल दिया,
बिल्वमंगल तज सबका साथ।

१२—मार्ग में पहुँच नदी के तीर
लगा करने थोड़ा विश्राम
कान में पड़ी वहीं कुछ भनक
झलक दिखलाई पड़ी ललाम;
वणिक-वनिता का सुन्दर रूप
दृगों ने देखा तब अविराम
दौड़ कर पहुँचे छवि के पास
हाथ में मन की थाम लगाम।

१३—तमाचा एक ज्ञान ने दिया,
भूल पर करके पश्चात्ताप।
बिल्वमंगल यों कहने लगा
[illegible] लगा वचन आपही आप—
"हाय! क्या यह मुझको हो गया,
दृगों ने यह बनाया आज।
जाल में फांस लिया था, किन्तु,
बचाई परमेश्वर ने लाज।

१४—"बहिन! हो गया मुझे सन्तोष
करो निज पति के पास प्रयाण,
धन्य है दम्पति का शुचि प्रेम,
अधम हैं निश्चय मेरे प्राण।
कृपा, देवी! अब इतनी करो
मुझे दो काँटों का दो दान"।
वचन सुन आश्चर्यित हो गई
किया फिर काँटे दे प्रस्थान।

१५—"अरे नेत्रो! सुख तो पा लिया;
खूब छलना में डाला मुझे।
वही मैं करता हूँ अब यत्न,
तुम्हारी प्यास सदा को बुझे।



चिन्तामणि और बिल्वमंगल।

चित्रकार
श्री० रविशंकर पण्डित

विश्व में सचमुच हो हे दृगो !
तुम्हीं सारे अनर्थ की मूल ।
तुम्हीं करते आकर्षित हृदय,
कराते हाय ! भूल पर भूल ।

१६—"अस्तु, अब भोगो उसका दंड,
दूर करता हूँ तुमको अभी"।
बिल्वमंगल ने यों कह हाय !
नेत्र काँटों से फोड़े तभी !
रुधिर की उष्ण धार बह चली,
हृदय को कष्टों से दृढ़ किया,
'कृष्ण' बस केवल यह रट लगी,
सूर बनकर ब्रज को चल दिया ॥

१७-घूमता फिरता ब्रज में नित्य
कृष्ण से मिलने की कर आश;
चित्त में आई शान्ति अपूर्व,
दुखों का शीघ्र हो गया नाश ।
ब्रजेश्वर ने देखी शुचि भक्ति,
गोप बालक बन दर्शन दिये;
सदा रह सूरदास के साथ;
निरन्तर कौतुक हरि ने किये ।

१८—उधर चिन्तामणि भी गृह छोड़
विरागिनि बन कर पहुँची वहीं;
उसे भी प्रभु ने पावन किया;
विदित है यह चरित्र नव कहीं;
धन्य हैं परमपिता के कृत्य,
भक्त पर दया दिखाते सदा ।
अधम को भी अपनाते शीघ्र,
स्वर्ग को पहुँचाते हैं तदा ।

१९—पाठको ! इसी भाव का चित्र,
देखकर नेत्र जुड़ाओ, मित्र !
ज्ञान-दीपक का दिव्यालोक
दे रहा शिक्षा शान्त पवित्र ।
छोड़ दो व्यर्थ मोह का जाल,
समझ लो उसे प्रपंची खेल ।
मिलेगा सच्चा परमानन्द,
करो उस प्यारे प्रभु से मेल ॥

वेदों में स्वराज्य ।

(लेखक—पण्डित गणेशदत्त शर्मा गौड़)

जब तक किसी कार्य की पराकाष्ठा न हो चुके तबतक उसका कायापलट होना ज़रा असंभव सा होता है। जब हमारे अंग्रेज़ शासकों के अत्याचार अगणित और असीम होने लगे, तब लोगों की आँखें कुछ खुलीं और वे उनसे बचने का उपाय सोचने लगे। अन्त में सब दुःखों से मुक्ति पाने के लिए केवल एकमात्र उपाय "स्वराज्य" ही निश्चित पाया गया। यों तो कांग्रेस का जन्म ही इसीलिए है; परन्तु जबसे प्रातः-स्मरणीय दादाभाई नौरोजी ने सन् १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस के भाषण में इसकी आवश्यकता बताई है तब से यह आवश्यकता दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है।

आज से एक हजार वर्ष पूर्व भारत में पूर्ण स्वराज्य था। बाद में देश पर मुसलमान बादशाहों के आक्रमण आरंभ हो गये। उस समय यद्यपि देश को आपत्तियों का सामना करना पड़ा, तथापि मुसलमान शासकों ने भारतवासियों के स्वत्व और अधिकारों को नष्ट नहीं किया। उन्होंने यद्यपि तलवार के जोर से देश पर अधिकार

प्राप्त किया था, तथापि तलवारों से काम न लेकर न्याय-परायणता और दयालुता से शासन किया। उन्होंने अपने राज्य में हिन्दुओं को ऊँचे से ऊँचे पद दिये। अकबर का उत्तराधिकारी एक हिन्दू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। अकबर का मुख्य सेनापति राजा मानसिंह था। उनके राज्य में अर्थ-मंत्री राजा टोडरमल और मंत्री बीरबल थे। जहाँ कहीं मुसलमानों ने राज्य किया उन्होंने भारतीय हिन्दुओं को भी गले लगाया। उन्होंने यह कदापि नहीं किया कि मुसलमानों की भर्ती कर और हिन्दुओं का अधिकार छीन उन्हें कष्ट पहुँचाया हो। यही कारण था जो देश में किसी प्रकार का असन्तोष, दुःख, और दुर्भिक्ष आदि नहीं होने पाये।

परन्तु सन १६१३ से, जब से अंग्रेज यहाँ व्यापारी बन कर आये हैं, भारतवर्ष दुःखों का केन्द्र बन गया। अंग्रेजों ने धोखे से भारत पर शासन किया है। ईस्ट इंडिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी और उसने व्यापारिक रीति से ही लाभ प्राप्त किया, सैनिक रीति से नहीं। इतना होने पर भी उन्होंने भारतीयों के सारे अधिकार छीन लिये। यहाँ पर अच्छे अच्छे विद्वानों को भी उन पदों पर नहीं रखा जिन पर कि इंग्लैण्ड के अनभिज्ञ लोगों को बिठा दिया। यदि भारत-वासी उच्च पदों पर नियुक्त कर दिये जाते तो उनका स्वार्थ नहीं सधता और न इतने वर्षों तक राज्य ही चलता। परन्तु धोखा और स्वार्थ कब तक चल सकता है।

जब स्वार्थी मनुष्य के मार्ग में विघ्न आता दृष्ट पड़ता है तब वह येन केन प्रकारेण अन्याय द्वारा उसे नीचा दिखाने और कष्ट पहुँचा कर दमन करने की चेष्टा करता है। ठीक यही हाल यहाँ हुआ। महावीर लोकमान्य तिलक को काले पानी भेज कर ये उस सुलगती हुई अग्नि को दबाया चाहते थे; परन्तु वह ऐसी बढ़ी कि इनको अनेकों उपाय सोचने पड़े। कई विषैले क़ानूनों की रचना की गई। लोगों ने जब उनको अन्याय-पूर्ण कहा और उनकी स्वार्थ-परायणता को धिक्कारा तो उन लोगों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए जालियानवालाबाग़ का भीषण काण्ड कर दिखाया जिसके लिए सारा संसार उन्हें धिक्कार रहा है। इसके लिए वेद आज्ञा देता है:—

"सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः। शतैनं मन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम्"।

ऋ. मं. १ अ. १३ मंत्र ९

अर्थात्—

मनुष्यों को उचित है कि विद्या तथा उत्तम गुण से रहित और निन्दित मनुष्यों को शासक बनने का अधिकार कभी न देवे।

इस वेद-वचन से स्पष्ट होता है मनुष्यों को अपना राजा आप चुन लेने का अधिकार है, न कि खुद राजा बन बैठने का।

अब हमें यहाँ यह देखना है कि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आन्दोलन उचित है या अनुचित। बहुतसे लोग इसे अच्छा और बहुत से इसे बुरा बतलाते हैं। यह तो एक मानी हुई बात है कि संसार की साहित्य-पुस्तकों में सबसे पुरानी पुस्तक वेद हैं। हिन्दुओं के लिए ये पुस्तकें जीवन-धन है और उन्हें सर्वथा मान्य है।

ऋग्वेद मंडल प्रथम सूक्त ८० में सभी मंत्रों में स्वराज्य का वर्णन है और वहाँ भी स्वराज्य शब्द ही Home-rule के लिए प्रयुक्त हुआ है। एक स्थान में लिखा है:—

"अस्यहि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्।"

ऋ० ५।८२।

अर्थात —

"जिस स्वराज्य पर सबकी प्रीति है और जो अपने यश से फैला हुआ होता है उस स्वराज्य का नाश कोई भी नहीं कर सकता।" इसके पहिले के मंत्र में स्वराज्य की स्थिरता के लिए ४ बातें आवश्यक मानी गई हैं:—(१) परमेश्वर के दिये भोग्य पदार्थों पर सबका समान अधिकार, (२) विजयी उत्साह की शक्ति से सबका धारण, पोषण और वर्द्धन, (३) अपने यश से अपना विस्तार और (४) सबसे प्रेम। ये चार बातें जिस स्वराज्य में स्थिर होंगी वही स्वराज्य दृढ़ होगा।

वर्त्तमान समय में कर्मवीर महात्मा गान्धी उक्त चारों बातों को सामने रखते हुए स्वराज्य के लिए सतत प्रयत्न कर रहे हैं। कई उन्हें बुरा कहते हैं, कई उन्हें भला कहते हैं; परन्तु वे कर्मवीर उक्त वेदाज्ञा के अनुसार अपना धर्म समझ कर अपने कर्म-पथ से तिल-मात्र नहीं हटते और निरंतर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कोशिश कर रहे हैं।

यह स्वराज्य-प्राप्ति का आन्दोलन हमारा धार्मिक आन्दोलन है। हमें स्वराज्य-प्राप्ति के लिए वेद भगवान् बारम्बार आज्ञा दे रहे हैं, अतः हमें स्वराज्य के आन्दोलन को अपना धर्म समझ कर इसमें लग जाना चाहिए और बिना स्वराज्य प्राप्त किये कभी शान्त नहीं होना चाहिए। स्वराज्य-क्षेत्रोत्तीर्ण महारथी महात्मा गान्धी के अनुगामी हो हमें अपना धार्मिक स्वत्व शीघ्र ही प्राप्त कर लेना चाहिए।

आर्यों का आदि निवास-स्थान और उनकी शाखाएँ।

(लेखक—पंडित जगन्नाथप्रसाद पचौली)

इस बात की खोज में इने-गिने दो एक को छोड़कर किसी भारत-वर्षीय विद्वान् ने इतना प्रयास नहीं किया कि आर्य्य लोग कब, क्यों और कहाँ से चल कर भारतवर्ष में आए थे। उनका सनातन ध्यान तो इसी बात में रहा कि आर्य्य लोग सदा से भारतवासी रहे और समस्त वैदिक विद्या का उद्गम-स्थान केवल भारत ही है। परन्तु जब से पाश्चात्य विद्वानों के पास वेदों की ख्याति हुई उन लोगों ने अपने सतत परिश्रम और अध्यवसाय से आर्य्यों के आदिम निवास-स्थान की खोज में अनेक प्रयोगों का उपयोग किया और अभी भी करते आ रहे हैं। परन्तु तौभी उनको कोई ऐसा प्रयत्न हाथ नहीं लगा कि जिसके आधार पर वे असंदिग्ध निर्णय प्राप्त कर लेते और सभ्य संसार को दिखा देते कि आर्यों का आदिम निवास-स्थान अमुक देश, प्रान्त अथवा स्थान था। इस खोज में हाथ डालने वाले प्रायः पाँच प्रकार के मुख्य वैज्ञानिक विद्वान् थे। उन्होंने इस प्रश्न को अपनी अपनी वैज्ञानिक युक्तियों में कसा; परन्तु अन्त में परीक्षा की सच्ची कसौटी पर संघर्षण करते ही उनकी समस्त

वैज्ञानिक युक्तियों की निस्सारता सिद्ध हो गई। वह विज्ञान नहीं जिसके सिद्धान्त संदिग्ध हों।

प्रथम प्रकार के खोजी भाषा-विज्ञान-वेत्ता लोगों ने वैदिक भाषा के शब्दों से संसार की समस्त प्राचीन भाषाओं का मिलान किया। परन्तु उन्होंने मूल पक्ष को त्याग अपनी अपनी भाषाओं को आर्य्य भाषा सिद्ध कर दिखाने में अपने भाषा-विज्ञान का पांडित्य दिखाया। निदान अन्त में निष्पक्ष संसार की दृष्टि में न तो उनकी वह भाषा ही आर्य्य भाषा सिद्ध हो पाई और न उस भाषा के भाषी लोग ही आर्य्य वंश के वंशज प्रमाणित हो सके। इन भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं ने भाषा-विज्ञान-क्षेत्र में खड़े हो कर बड़े ही कौतूहलजनक अद्भुत खेल दिखाए और अनेकानेक दर्शकों को अपने कौतुकों से इतना मुग्ध किया कि अन्त में सब ही पाश्चात्य विद्वान् मोहित होकर उनके ही सुर में सुर अलापने लगे। अन्त में यही निर्णय ठहरा कि जिस भाषा में ऋग्वेद की रचना हुई है वह भी कोई मूल आर्य भाषा नहीं है। उसके परे कोई और अन्य भाषा थी जिसका अस्तित्व अब नहीं रहा। यहाँ पर भाषा के दो भाग माने गए हैं। एक तो नित्य बोल-चाल की व्यावहारिक भाषा और दूसरी साहित्य-भाषा। जिस भाषा में वेद रचे गए वह साहित्य-भाषा है। परन्तु उन आर्यों की व्यावहारिक भाषा कोई अन्य थी। इससे भी बढ़ कर और दूसरा कौतुक सुनिए। भाषा-विज्ञान-वेत्ता बाप्प, ज्यूस, ग्रिम्म और [illegible] साहबों ने अनेक शब्दावलियाँ एकत्रित करके स्लव और जरमन भाषाओं की परस्पर साम्यता सिद्ध कर दिखाई है। इबल और लाटनर साहब ने जरमन और सेल्ट भाषाओं के साम्य शब्दों की एक अलग अनुक्रमणिका बनाकर इन दोनों भाषाओं की ऐक्यता सिद्ध की है। इसी प्रकार नारमन और प्लेटनर साहब ने सेल्ट और लेटिन शब्दों की एक अवली बनाकर इन दोनों भाषाओं की साम्यता सिद्ध की है। पुनः मॉमासेन और कर्टिअस साहब ने लेटिन और ग्रीक शब्दों की साम्यता पर एक सूची बनाकर इन दोनों भाषाओं की ऐक्यता सिद्ध की है। अन्त में कर्न और मोक्ष साहबों ने ग्रीक और संस्कृत शब्दों की साम्यता सिद्ध कर दिखाने को अपनी अलग शब्दावली बना डाली है। पाठकगण, इस भाषा-विज्ञान के गोरखधंधे की उलझन को ध्यानपूर्वक समझ लीजिए। स्लव और जरमन भाषाओं की साम्यता, जर्मन और सेल्ट भाषाओं की साम्यता, सेल्ट और लेटिन भाषाओं की साम्यता, लेटिन और ग्रीक भाषाओं की साम्यता और ग्रीक और संस्कृत भाषाओं की साम्यता से यही सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि ये छहों भाषाओं की पारस्परिक ऐक्यता यूक्लिड के साध्य के अनुसार एक दूसरी के समान सिद्ध हो गई। अनेक विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि समस्त भाषाओं की मातृभाषा संस्कृत है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया। वरन उन्होंने तो संस्कृत को समस्त यूरोपीय भाषाओं की अन्तिम उच्छिष्ट भाषा माना है। यदि हम उन विद्वानों के सिद्धान्तानुसार उनकी ही मानी हुई गोरखधन्धे की तन्तु की शृंखलाओं में दस पाँच और शृंखलाएँ मिला दें तो स्वीकार की आपत्ति या नहीं इसका हमें विश्वास नहीं। उन्होंने अपनी शृंखला संस्कृत तक लाकर त्याग दी है। परन्तु उसकी वृद्धि के निमित्त अभी और भी सामग्री शेष है। भारतवर्ष की प्रायः समस्त प्रान्तिक भाषाएँ भी उसी शृंखला में गुथी जा सकती हैं। उन विद्वानों ने तो यूरोप की भाषाओं की परस्पर साम्यताएँ केवल सौ सौ दो दो सौ शब्दों को खोजकर सिद्ध की हैं। परन्तु भारत की समस्त प्रान्तिक भाषाओं में ऐसे हजारों साम्य शब्द मिल सकते हैं। उदाहरण की भाँति हम केवल एक ही शब्द की साम्यता का निरूपण दिखाते हैं। यथाः—संस्कृत का "कुतः" शब्द भारत की कितनी भाषाओं में साम्यता रखता है—उसे देख लीजिए। बुंदेलखंडी=किते। ब्रज=कित। उड़िया=किन्ता। पंजाबी=किथे। बंगला=कोथा। मारवाड़ी=कठै। उत्तरीय राजपूताना=कढ़ै। महाराष्ट्र=कुठे। गुजराती=किहां। हिंदी—कहाँ।

अंग्रेज़ों को भारत में पदार्पण किये प्रायः २०० वर्ष हुए। इन दो सौ वर्षों के समागम से हिंदी के अनेक शब्द अंग्रेज़ी के शब्दार्णव में आ मिले हैं और अनेक अंग्रेज़ी के शब्द हिंदी के शब्दार्णव में आ गये हैं। यदि इन सब शब्दों की एक तालिका बनाकर आज दिन हम भी पाश्चात्य विद्वानों के समान इस बात का प्रतिपादन करने लगें कि संस्कृत और भारत की प्रायः १०।१५ भाषाओं की शब्द-साम्यता मिलती है और अंग्रेज़ी और हिंदी के शब्दों की साम्यता पाई जाती है, और ये सब भाषाएँ भी उसी गोरखधंधे के चक्र में मिला ली जावें तो हमें कदापि आशा नहीं होती है कि कोई भी इस प्रस्ताव को स्वीकार करेगा। इसका एक बड़ा प्रबल कारण है और उसका निर्णय इस लेख के परिशिष्ट में किया गया है।

दूसरे प्रकार के खोजी नृवंश विज्ञानवेत्ता (Ethnologists) हुए। इन विज्ञानवेत्ताओं ने आर्य्यों की आदिम आकृतियों का दृश्य खोज कर पृथ्वी में गड़े उनके प्राचीनतम अस्थिपंजर और खोपड़ियों की परीक्षाएँ करके आर्य्यों के आदिम निवास-स्थानों के पते लगाए हैं। परन्तु इन पतों में भी सबका एक मत नहीं है। किसी ने कहीं खींचा और किसी ने कहीं खींचा। ऐसे विज्ञानियों में डाक्टर पेन्का बड़े ही प्रमुख हो गये हैं। उन्होंने तो आर्य्यों की तुलना यहाँ तक कर दिखाई कि उनका वर्ण कुछ कुछ श्याम था, सिर छोटा था। कोई कोई आर्य्य गौर वर्ण थे और शिर बड़ा था और कोई कोई मिश्र थे। निदान यह स्थिर हुआ कि यूरोपीय आर्य्यों के शिर बड़े, आँखें नीली, वर्ण गौर और बाल हलके थे। अन्त में स्कैंडीनेविया को आर्य्यों का मूल निवास-स्थान मान लिया। दूसरे विद्वान् पोशे साहब थे। नीपर नदी की सहायक नदी प्रारपट के निकट रूस देश में पिसकीडल की कच्छ भूमि में एक स्थान है। वहाँ जीवधारी, वनस्पति और मनुष्यों का वर्ण-परिवर्तन बहुत शीघ्र हुआ करता है। अतएव इसी स्थान को इन्होंने आर्यों का आदिम निवास माना है।

तीसरे प्रकार के खोजी पुरातत्ववेत्ता (Archeologists) हुए। इन लोगों ने प्राचीनतम पाषाण-शिलाओं की समाधियों में मानवों के अस्थिपंजरों को खोज कर यह अनुमान किया कि आर्य्य लोग उन्हीं स्थानों के मूल निवासी थे। जिन्हें ऐसे अवशेष स्केन्डीनेविया में मिले उन्होंने स्केन्डीनेविया का गान गाया और जिन्हें स्विटज़रलैण्ड में उन्होंने स्विटज़रलैंड का गीत गाया।

चौथे प्रकार के खोजी वनस्पति-शास्त्र-वेत्ता हुए। इन लोगों ने भी आर्य्यों की परिचित वनस्पतियों का पता लगाकर जिन जिन देशों में वे वनस्पतियाँ होती हैं उन उन देशों को आर्य्यों का मूल स्थान ठहराया। यथा—भोजपत्र आर्य्यों का एक परिचित वृक्ष है। इस वृक्ष की उत्पत्ति का स्थान क्रीमिया से लेकर कोनिग्सबर्ग तक सीधी खींची हुई रेखा के पाश्चिमात्य प्रान्त को पाकर उसी स्थान को आर्यों का आदिम निवास-स्थान मान लिया।

पाँचवें प्रकार के खोजी प्राणि-विद्या-विशारद हुए। इन लोगों ने आर्यों के जाने-पहचाने जीवधारियों पर लक्ष्य कर जहाँ जहाँ ये जीव पाये जाते हैं उन उन स्थानों को उनका निवास-स्थान ठहराया। इस विषय पर भी अनेक खंडन-मंडन होते रहे और किसीने किसीको और किसीने किसी को आर्यों का मूल निवास-स्थान मानना स्वीकार किया।

इन समस्त प्रतिवादियों की निस्सार कल्पनाओं का खंडन मोक्षमूलर साहब ने अपने स्वरचित "The home of the Aryas" नामक पुस्तक में युक्ति-सहित प्रमाणों द्वारा भलीभाँति किया है। अतएव उन सबकी बातों को त्याग कर महापंडित मोक्षमूलर के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। इन महात्मा ने तीन सिद्धान्त स्थिर किये हैं और इन सिद्धान्तों के स्थिर किये जाने से उन्होंने इन समस्त वैज्ञानिकों की कल्पनाओं का भलीभाँति खंडन भी कर दिया है।

उनका प्रथम सिद्धान्त यह है कि "आर्य्य" शब्द किसी विशेष मानव जाति का नाम नहीं है; वरन् उनकी भाषा का नाम है। द्वितीय यह कि वे लोग जो आर्य्य भाषा बोलते थे उत्तर देशों के प्रवासी होकर जब चले तो मार्ग में कहीं उन लोगों का वियोग हुआ। इस वियोग में उनकी दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा तो उत्तर-पश्चिम की ओर निकल कर यूरोप में बस गई और दूसरी शाखा दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़कर फूट गई। इस दाक्षिणात्य शाखा में से कुछ लोग पारस और कुछ लोग भारत में आ बसे। तीसरा सिद्धान्त है कि आर्यों का निवास-स्थान एशिया में कहीं भी होना चाहिए।

ये तीनों सिद्धान्त मेरे विचार से जहाँ तक मुझे वेद मंत्रों का आधार मिला है निपट निस्सार, अग्राह्य और स्वार्थसाधक एवं पक्षपात से भरे हुए हैं। क्या कोई इस बात में सन्देह कर सकता है कि महामान्य मोक्षमूलर की प्रगति वेदमंत्रों के अर्थ साधन में इतनी दुर्बल थी कि वे वेदमंत्रों के सत्य सत्य अर्थ साधन में असमर्थ थे? ऐसा अनुमान कोई भी विद्वान् नहीं कर सकता। फिर क्या कारण हो सकता है कि उन पर ऐसा दोषारोपण किया जा सके? वह कारण केवल स्वार्थान्धता ज्ञात होता है। इस बात को प्रायः सभी स्वीकार करेंगे कि वर्तमान काल में समस्त यूरोपियन जातियाँ अपने को उस परम पिता समदर्शी परमात्मा की सृष्टि में विद्या, बल, रूप, रंग और बुद्धि में सर्वोत्तम श्रेष्ठ समझने का बड़ा भारी गर्व रखती हैं। अतएव यदि ऐसी उच्चकोटि की उन्नत जातियों का गर्व-भरा मस्तक किसी एक बात में झुक जावे तो कैसी मानहानि और लज्जा की बात हो। यह बात वंश की श्रेष्ठता है। इसी निमित्त मोक्षमूलर साहब ने जब देखा कि समस्त यूरोपीय जातियाँ आर्य्यवंशी नहीं मानी जा सकतीं तो उन्होंने आर्य शब्द की परिभाषा को ही बदल देना ठीक समझा। अर्थात् उन्होंने आर्य शब्द से किसी जाति विशेष का अर्थ नहीं माना, वरन् आर्य शब्द से एक भाषा विशेष का बोध होना माना है। किन्तु ऋग्वेद मंडल १ के सू० ५१ मं० ८, ५१।२, ६६।३, १०३।३, ११७।२१, १३०।८ और १५६।५ में आर्य शब्द उस जाति के जन-समुदाय के निमित्त ही आया है; कहीं भी उनकी भाषा का बोधक होकर नहीं आया है।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि जिन महामान्य मोक्षमूलर ने अपने पूर्वोक्त ग्रंथ में उन समस्त विज्ञानवेत्ताओं को उनकी अनुचित वैज्ञानिक कल्पनाओं से सहमत न होकर क्रोधवश बड़े ही कठोर शब्दों का प्रयोग किया है यहाँ तक कि उन्हें चोर, डाकू इत्यादि कह डाला है वे स्वयं आर्य शब्द का विपरीत अर्थ समझाने में डाका डालने का अपराध करने पर उतारू हो गए। फिर क्या उनका ऐसा करना निपट अन्याय नहीं है? भला यह विचारने की बात है कि संसार की प्रचलित रूढ़ि का तिरस्कार कर नवीन मत केवल अपने स्वार्थ साधन के निमित्त खड़ा कर देना कितने भारी साहस का काम है! भाषाओं का नामकरण जिन जातियों की वह भाषा हो केवल उन्हीं के अनुसार हुआ करता है। यथाः-हिन्दुओं की भाषा हिन्दी, अंग्रेज़ों की भाषा अंग्रेज़ी, फ्रेंच लोगों की भाषा फ्रेंच, जरमनों की भाषा जरमन, अरबों की भाषा अरबी इत्यादि। फिर क्यों आर्यों का अस्तित्व न मान कर आर्य भाषा का अस्तित्व माना जा सकता है और आर्यों की जाति का मूलोच्छेदन किया गया है? यदि आर्यों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता तो उनकी भाषा का भी अस्तित्व नहीं माना जायगा। निदान इन दलीलों को ऐसी दलीलों को कोई भी सहृदय विद्वान् स्वीकार नहीं कर सकेगा।

दूसरा सिद्धान्त भी पूर्व के समान केवल मनमानी कल्पनाओं का सामुदायिक पिंड बना कर खड़ा कर दिया गया है। वेदमंत्रों के आधार पर न कहीं इस बात का पता भी बोध मिलता है कि वैदिक आर्य्यों ने अन्य विजातियों के साथ मिल जुल कर विवाह-बंधन का नाता जोड़ा हो और भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों के खान-पान अथवा सेवन करने की परिपाटी चलाई हो। समस्त ऋग्वेद में प्रशंसक मंत्रों को छोड़ कर किसी मंत्र

से यह बात नहीं पाई जाती कि आर्य्य लोग मांसाहारी अथवा मदिरा-व्यसनी थे। ठेठ उत्तर प्रान्त से चलकर भारत में आने तक कहीं भी उन लोगों ने समस्त मार्ग भर में विजातियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जोड़ा। वरन् अपने पौरुष और बाहुबल से समस्त विजातियों को युद्ध में खासी पराजय दी। न वे उनको अपनी शरण में लाये, और न उनके देशों पर अपना राज्याधिकार जमाने आये। उत्तर ध्रुव प्रान्त से आर्यों का निर्वासन उस काल में हुआ था जिस काल में इस पृथ्वी की प्रकृति वर्तमान प्रकृति से निपट विभिन्न थी। जहाँ आज कल इस पृथ्वी पर शीत कटिबंध माने गए हैं वहाँ उस काल में समशीतोष्ण प्रकृति थी। वर्तमान समशीतोष्ण कटिबंध उस काल में उष्ण कटिबंध था और वर्तमान उष्ण कटिबंध उस काल में महोष्ण कटिबंध था। इस प्रकृति-परिवर्तन के आधार पर अब विज्ञानियों को गणित द्वारा वर्ष-संख्या का एक निश्चित अनुमान निकाल लेने के हेतु एक सुगम पंथ खुल गया है। आर्यों के निर्वासन-काल का ठीक ठीक समय निकाल लेना उनकी विद्या एवं निष्पक्ष योग्यता पर निर्भर है।

दूसरा वैज्ञानिक प्रमाण एक और भी है। जिस समय आर्यों का उत्तरध्रुव-प्रान्त से निर्वासन हुआ उस काल में वर्तमान तुषार-रेखायें पृथ्वी के अक्षांशों पर इस प्रकार अनुमान की जा सकती हैं:— ध्रुवों पर ४५१ फुट उँचाई पर, ८० अक्षांश पर १२७८ फुट पर, ७० अक्षांश पर ३८१८ फुट पर, ६० अक्षांश पर ६३३४ फुट पर, ५० अक्षांश पर ९००० फुट पर, ४० अक्षांश पर ११४८४ फुट पर, ३० अक्षांश पर १३४७८ फुट पर, २० अक्षांश पर १४७१५ फुट पर, १० अक्षांश पर १५२६० फुट पर और ठेठ भूमध्यरेखा पर १५५०० फुट की उँचाई पर थीं। ज्यों ज्यों पृथ्वी के गर्भ का ताप क्षीण होता हुआ गर्भ में केन्द्रस्थ होता गया त्यों त्यों इसके ताप की दौड़ भूपिंड के बाहर आकाश में न्यून होती गई। उसी हिसाब से शीत भी पृथ्वी की ओर उतरता आता है। निदान वर्तमान काल में वह ताप ध्रुवों पर बिलकुल नहीं रहा है। इसी कारण ध्रुवों पर आज कल तुषाररेखा समुद्रतल पर आ टिकी है और भूमध्यरेखा पर १५५०० फुट की ऊँचाई से उतर पर केवल १५२६० फुट की उँचाई पर आ गई है। वैज्ञानिकों को उस काल से वर्तमान काल की वर्ष-संख्या का अनुमान निकाल लेने को एक दूसरा द्वार और मिलता है। इसीके आधार पर वर्ष-संख्या का ठीक ठीक अन्तर निकाल सकते हैं। जिस काल में आर्यों ने ध्रुवलोक त्याग निर्गमन किया था उस समय शीत की प्रखरता आरम्भ होगई थी और जब आर्यों को शीत के कारण वहाँ का निवास कठिन दिखने लगा तो वे लोग उस देश को त्याग समशीतोष्ण देशों की ओर निकल पड़े थे। इस निर्वासन के थोड़े ही काल पश्चात् उस महाजलौघ का होना भी पाया जाता है कि जिसकी चर्चा समस्त प्राचीन जातियों की धर्मपुस्तकों में पाई जाती है। इसी महाप्रलय में उत्तरस्थ समस्त भूमि जल में डूब कर वर्तमान आर्कटिक महासमुद्र का जन्म हुआ था। इस बात के प्रमाण में ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १०४ मंत्र ४ अवलोकनीय है। इस मंत्र का भावार्थ यह है कि "कुटुम्बीय सुहृद्जनों से सम्बंध टूट गया है। वे आर्य शूर जो इस ओर निकल आए थे उन्होंने आगे आकर प्राचीन अजंसी, कुलशी और वीरपत्नी नदियों को पार करके उस प्रांत में अपना राज्य भी स्थापित कर लिया है। उन नदियों का जल दूध के समान है।"

इस मंत्र का अंतिम पद "पयो हिन्वाना उदभिर्भरन्ते" विशेष उल्लेखनीय और विचारणीय है। इन तीनों नदियों के जल की उपमा दूध से देने का हेतु केवल इतना ही है कि ध्रुवलोक के समान इन नदियों का जल उतना प्रखर तीक्ष्ण शीतल नहीं था, वरन् दूध के समान सौम्य था, न अधिक गर्म और न अधिक शीतल। इससे यही बात पाई गई कि ध्रुव लोक की प्रकृति समशीतोष्ण थी और जहाँ ये नदियाँ थीं वहाँ की प्रकृति उष्ण थी। अब यह देखना है कि वे नदियाँ कौन हैं। अन्य मंत्रों को देखते हुए

इन नदियों का परिचय केवल वर्तमान काल की यूरल, डान और वालगा नदियों के अतिरिक्त और किसी अन्य नदियों से नहीं हो सकता। इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि कुत्स हैं और ये इन्हीं नदियों के प्रान्त के वासी थे। वहीं बसकर इनके समस्त मंत्र रचे गए थे। उस काल का वह प्रान्त वर्तमान काल का लिथ्वानिया प्रान्त माना जा सकता है। इस प्रान्त के तत्कालीन मूल निवासी दस्यु, शम्यु और कुयव जाति के लोग थे। उत्तर रूस से लेकर दक्षिण काकेशस पर्वत तक समस्त भूमि उस काल में कुयव प्रान्त मानी जाती थी। अंशुमती, कुलशी और वीरपत्नी प्राचीन नदियों का वैदिक नाम इस दीर्घ काल के पश्चात् बदल कर लौकिक भाषाओं में यूरल, डान और वालगा हो गया है, परन्तु जिन स्थानों का नाम बदला नहीं गया और देश-भाषाओं की बोलियों में केवल उच्चारण मात्र का अन्तर पड़ गया है वे स्थान आजकल भी वैदिक भाषा में पहचाने जा सकते हैं, यथा :- स्कैन्डीनेविया-स्कन्दनवीया, काकेशस—ककुत्स, काम्पियन-कश्यप, सम्यु-डीज-शम्यु, इत्यादि।

देशों की प्रकृतियाँ किस किस प्रकार पलटा खाती जा रही हैं इस बात की सिद्धि में निम्न एक और ऐतिहासिक प्रमाण बतलाया जा सकता है। आज से प्राय २२६३ वर्ष हुए जब मेसीडोनिया का सिकन्दर नामक राजा काबुल के मार्ग से होकर पेशावर जिले में सिंधु पार कर के भारत में आया था। उसकाल के उत्तर पंजाब की प्रकृति को उसके इतिहासकारों ने blazing sun "ज्वलंत ताप" और pitiless glare of an Indian sun "निर्दयी तेजोमय भारतीय ताप" कह कर लिखा है। प्रायः सवा दो हजार वर्षों के पश्चात् अब यह ताप उत्तर पंजाब में नहीं है, वरन दक्षिण भारत अथवा सिंहल द्वीप में होता है।

वैदिक काल के कुयव और कुयवाच जाति के लोग वर्तमान काल के सरकेशियन और आर्जियन जाति के लोगों से पहचाने जा सकते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों और पुराणों में जिस देवासुर-संग्राम का वर्णन पाया जाता है, वैदिक मंत्रों के आधार पर वही संग्राम आर्यों और कुयव इत्यादि जाति के अनार्य लोगों से हुआ था। ऋग्वेद में ऐसे ही संग्रामों का वर्णन पाया जाता है। एक संग्राम में अनार्यों की सेना प्रायः ३०,००० थी और दूसरे में ६०,०६६। दोनों ओर के सेनापतियों के नाम भी दिये गए हैं। ऋग्वेद मंडल १ के सूक्त ५४ के मंत्रों में इन संग्रामों का विवरण है। अन्य मंडलों में भी विविध वर्णन पाया जाता है।

इन थोड़े से वैदिक मंत्रों का आधार लेकर संकलन किये हुए विवरण से यह बात पाई गई कि पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाएँ गढ़ कर अटकलें बाँधी हैं और अपने स्वार्थ-साधन की पुष्टि कर संसार को धोखा दिया है कि आर्यों का आदिम मूल निवास-स्थान स्केन्डीनेविया, अथवा डैन्यूब नदी के उद्गम प्रान्त अथवा जर्मनी अथवा स्विट्ज़रलैंड का जल-स्थली प्रदेश अथवा साइबेरिया का रंग-बिरंग बदलने वाला अंचल था। ये सब कल्पनाएँ निरी कल्पना-मात्र हैं। इनके समर्थन में न कोई ऐतिहासिक प्रमाण और न कोई अकाट्य वैज्ञानिक शोध उपलब्ध हुए और न हो सके। इसी प्रकार यह कहना भी निराधार कल्पनाओं का आडम्बर मात्र है कि आर्य लोग किसी एक स्थान से मधुमक्खियों के समान अपने मधु-कोष से निकल कर समस्त यूरोप भर में फैल गये थे। किसी किसी का मत यह हुआ कि आर्य लोग अपनी मूल मंडली से वियुक्त होकर उत्तर पश्चिम की ओर निर्वासित होकर यूरोप में फैल गए और शेष लोग दक्षिण पूर्व की ओर बढ़कर दो शाखाओं में बंट कर पारस और भारत में आ बसे। पाठकगण, ये सब बातें कल्पना-मात्र हैं। इनमें ऐतिहासिक सत्यता का निपट अभाव है। परन्तु तौभी वर्तमान काल में ये सब कल्पित बातें सत्य ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में मिला कर हमारे होनहार नवयुवकों को कालेजों और पाठशालाओं में इतिहास की भाँति कण्ठ कराई जाती हैं।

सत्य बात तो यह है कि आर्य शब्द जैसा उत्तम, श्रेष्ठ और कुलीन अर्थों का द्योतक है वैसा

ही सब को प्रलोभन में डालने वाला भी है। अतएव यूरोप की समस्त जातियों को आर्य्यवंशी कहे जाने का बड़ा ही उत्साह, उत्कंठा और प्रलोभन उत्पन्न हो गया। निदान अनाथ की सम्पत्ति की लूट के समान जिससे जैसे बना अपने आपको आर्य्य बनाने के हेतु मनगढ़ंत बातें बना कर अपने साहित्य-भांडार में कथाएँ भरना आरम्भ कर दिया। सचमुच जहाँ तक वेदमंत्रों से पता चलता है आर्य्य लोग अपनी उन्नी विद्या, धर्म, विचार और एक समान सदाचार का पालन करते हुए ठेठ उत्तर ध्रुव लोक से प्रवासी होकर मार्ग में जहाँ तहाँ अपना राज्याधिकार जमाते, इतर निवासियों को अपनी शरण में लाते हुए, उनमें अपनी सभ्यता वितरण करते हुए और समयानुसार वेदमंत्रों की रचना करते हुए भारत में आ बसे। जहाँ तक वेदमंत्रों का आधार मिलता है और संसार के ऐतिहासिक तत्वों का सार संग्रह प्राप्त हो सकता है, इन सब का एकत्रित संकलन केवल इतना ही बोध कराता है कि मूल आर्य लोग उत्तर ध्रुव प्रदेश के निवासी थे। उस प्रदेश में केवल आर्यों ही का निवास नहीं था; वरन् अन्य जाति के लोग भी उनके सहवासी थे। ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १०० के मंत्र ६,८,१० और १२ बड़े ही विचारणीय हैं।

जब ध्रुव लोक की सौम्य प्रकृति बदलकर अति शीत होने आरम्भ हुई तभी आर्यों ने नवीन देशों की ओर निर्वासन करना आरम्भ कर दिया था। निदान यह निर्वासन ठेठ उत्तर प्रान्त से दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व दिशाओं की ओर दो मंडलियों में आरम्भ हुआ ज्ञात होता है।

प्रथम मंडली जो दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रवासी हुई थी वह चलकर निदान उत्तर अमेरिका के मध्यप्रान्त में जा बसी। इस प्रान्त में उन आर्य्यों की सभ्यता के जो कुछ प्राचीन चिह्न वर्तमान काल में प्राप्त होते हैं उनसे यही ज्ञात होता है कि इस आर्य्य-मंडली ने वर्तमान काल के विख्यात यूनाइटेड स्टेट्स और मेक्सिको प्रदेशों में अपना निवास-स्थान और राज्याधिकार जमाया था। उस काल में उत्तर आर्कटिक महासमुद्र का अस्तित्व नहीं था। उत्तर ध्रुव की समस्त भूमि एशिया, यूरोप और अमेरिका की भूमि से मिली हुई थी और आवागमन के मार्ग खुले हुए थे। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व-वस्तु-विज्ञान के प्रमाण जो कुछ आज पर्य्यंत उन देशों में वर्तमान हैं उनसे यह बात असंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है कि इन प्रदेशों में किसी समय आर्य्यों का निवास एवं सभ्यता का दिव्य सूर्य पूर्णरीति से जाज्वल्यमान था। आर्यों की प्राचीन सभ्यता के बड़े चिह्न विशाल हर्म्य, मंदिर और स्तूपाकार स्तूपों के नष्ट भ्रष्ट भग्नावशेष अभी तक वर्तमान हैं। यदि अमेरिका का कम से कम सन् १५०० के पूर्व का प्राचीनतम इतिहास सकलन हो सके और पूर्ण शोध किये जावें तो आर्यों के निवास और सभ्यता के सूचक और भी अनेक प्रमाण प्राप्त हो सकेंगे। परन्तु आज तक तो इस बात की ओर किसी का ध्यान तक नहीं गया है।

दूसरी मंडली जो दक्षिण-पूर्व शाखा में विभक्त होकर निर्वासित हुई थी वह लिथ्वानिया और काकेशस के मध्यवर्ती प्रान्तों में दीर्घ काल तक रही। वहाँ उसने अपना राज्याधिकार जमाया था, अपनी सभ्यता का भलीभाँति प्रचार किया था और समस्त विजित मूल निवासियों को अपनी शरण में लाकर उन्हें सभ्य बनाया था। ऋ० मं० १ सू० १०० के मंत्र १८ से पता चलता है कि जिस काल में आर्यों ने वहाँ पदार्पण किया था उस समय वहाँ काले रंग की दो जातियाँ निवास करती थीं, एक दस्यु और दूसरी शम्यु। इन लोगों को युद्ध में परास्त करके आर्यों ने अपना राज्य जमाया था। शम्यु जाति के लोगों का परिचय वर्तमान काल की सम्युडीज़ जाति के लोगों से किया जा सकता है। परन्तु दस्यु शब्द से इतना ही भाव पाया जा सकता है कि वे समस्त मानव जातियाँ जो श्याम वर्ण थीं और तस्कर वृत्ति से अपना पालन-पोषण करती रहीं थीं दस्यु नाम से पुकारी जाती थीं। क्योंकि

वैदिक मंत्रों में भारत में आ पहुँचने तक इन आर्य्य लोगों ने इन्हीं जातियों को केवल इसी एक नाम से सम्बोधित किया है।

यूरोपीय विद्वान् इतिहासकारों ने यूरोप का प्राचीन इतिहास जैसा प्रस्तुत किया है उससे यह बात पाई जाती है कि जंगलों में निवास करने वाली एक जाति के लोग सबसे प्रथम यूरोप में आ बसे थे। उन्हें सेल्ट नाम से पुकारने लगे। इन्हीं सेल्ट जाति के वंशज मध्य यूरोप और पश्चिमीय यूरोप के निवासी हुए। इन्हीं की शाखाएँ आइरिश, वेल्श और गाल कहाईं। फिर एक और दूसरी जंगली जाति आ कूदी और उसने इन सेल्ट लोगों को निकालकर आगे भगा दिया और आप जरमनी की निवासिनी बन बैठी। इस जाति का नाम ट्यूटन था। इनके वंशज जरमन, स्कैन्डीनेवियन और इंगलिश हुए। अतः तीसरी एक और जाति के लोग यूरोप में आ घुसे। उन्होंने भी इन शेष सेल्ट लोगों को खदेड़ दिया और आप यूरोप के निवासी हुए। इन स्लाव वंशियों से बल्गेरियन, [illegible] पोल रशियन, सर्वियन और चेक इत्यादि जातियाँ हो गईं और ये सब जातियाँ और उनकी भाषाएँ आर्य्य बन गईं। तात्पर्य यह कि समस्त यूरोप भर की समस्त भाषाएँ और समस्त जातियाँ आर्य्य हो गईं। कहीं कोई अनार्य रहा ही नहीं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि आज तक इस यूरोप देश भर को किसीने आर्य्यावर्त नाम से नहीं पहचाना और भारत का नाम कैसे आर्य्यावर्त प्रचलित हो गया। दूसरी बात यह है कि अनेकानेक प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् इतिहासकार हो गए परन्तु महामान्य मोक्षमूलर के अतिरिक्त और किसीको यह बात न सूझ पड़ी कि यूरोपीय जातियाँ भी आर्य्यवंश की थीं। जब से पाश्चात्य विद्वानों को भारत में महाप्राचीन ग्रंथ वेदों का पता मिला और उन लोगों ने वेदों की प्राचीनता स्वीकार की तब ही से सबको आर्य्य बनने की भी सूझने लगी। क्या आज से [illegible] वर्ष पूर्व संसार के किसी भी विद्वान् को इस बात का पता था कि इस जगत में कोई महा प्राचीनतम जाति के लोग भी आर्य्य नाम से विख्यात थे? इसका नाम न यहूदियों को ज्ञात था और न यूनानियों को।

सच्ची बात तो यही प्रतीत होती है कि जिस समय उत्तर ध्रुवलोक की प्रकृति समशीतोष्ण दशा से परिवर्तित होकर शीत प्रकृति में आना आरम्भ हुई तभी उन आर्य्यों ने शीत से बचने के निमित्त निर्वासन करना आरम्भ किया और उत्तर कुरु से लेकर काकेशस तक आकर बस गए। इन प्रान्तों में उनका निवास विख्यात देवासुर-संग्राम तक रहा और जब इस देश की भी प्रकृति शीत होने लगी और उसमें बसना असम्भव हो गया तो इस देश को भी त्याग दक्षिण की ओर बढ़ना आरम्भ किया। यह दूसरा निर्वासन काकेशस प्रान्त से कण्व ऋषि के जीवन-काल में हुआ ज्ञात होता है। क्योंकि ऋ० मं० १ सू० ४२ मंत्र १-८ से स्पष्ट ज्ञात पड़ता है कि इन आर्य लोगों ने इस दीर्घ प्रवास पर निकलने के पूर्व प्रार्थनाएँ की थीं जिनमें समस्त कुटुम्बीय जनों और पशु, घोड़े, भेड़, बकरी इत्यादि सबकी यात्रा सकुशल पूर्ण होने और कृषिप्रधान देशों में पहुँचने की वांछनाएँ हैं।

इस दूसरे निर्वासन में भी दो मंडली होकर प्रवास करने का पता चलता है। एक मंडली दक्षिणपूर्व चलकर गांधार देश होती ठेठ भारत को चली आई और दूसरी पश्चिम की ओर जाकर पारस, पैलेस्टाइन और मिस्र होती हुई [illegible], ग्रीस इत्यादि स्थानों में जाकर बस गई। भारत में आ पहुँचने पर अगस्त्य ऋषि ने ऋ० मं० १ सूक्त १६८ मंत्र ६ में आश्चर्य से कहा है कि वह उत्तर देश अब कहाँ है, हम तो सुदूर दक्षिण में आ पहुँचे, इत्यादि।

पूर्वोक्त ऐतिहासिक सिद्धान्त जिनकी समस्त सामग्री केवल एक ऋग्वेद के मंत्रों के आधार पर संकलन की गई है हमें इसी बात को स्वीकार कराने में बाध्य करती है कि जिन मूलनिवासियों ने जितने अधिक काल तक आर्यों के राज्याधिकार में बस कर उनकी दासता की उतना ही अधिक

उन लोगों में आर्यों की भाषा, उनके धर्म और उनके आचार-विचारों का संस्कार हुआ। यही कारण है कि लिथुआनिआ-वासियों की भाषा में इतर यूरोपीय जातियों की भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत शब्दों की अधिक बाहुल्यता पाई जाती है; वह सेल्ट, स्लव, ट्यूटन लोगों के पूर्वजों में बहुत कम है। पारसियों के पूर्वजों ने उनकी सब से अधिक दासता की थी। अतएव उनकी भाषा में भी वैदिक शब्दों के आधिक्य का अंश कुछ अधिक पाया जाता है और कुछ अंश में आर्य धार्मिकता भी अधिक है। आर्यों के समान हवन, यज्ञ इत्यादि अग्निपूजन के कर्म पारसियों ने भी स्वीकार कर लिये थे। ऋ० मं० सू० ३६ मंत्र १ इस बात के साक्षी हैं।

अब कहिए कि हम यूरोपियन विद्वानों की निरी कल्पनाओं को मानें अथवा प्रत्यक्ष वैदिक साक्षियों का स्वीकार करें ?

यूरोपियों को भारत में प्रवेश किये केवल दो सौ ही वर्षों के लगभग हुआ है। सबसे प्रथम इनका पदार्पण मदरास प्रान्त में हुआ था, पश्चात् बंगाल में। हम इतने से अल्प काल में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यूरोपियनों की भाषा, उनके धार्मिक विचार और उनके आचार-विचारों का हमारे देश पर कितना प्रभाव पड़ा है। मदरास में तो कुटुम्ब के कुटुम्ब और ग्राम के ग्राम अंग्रेज़ी-पन में इतने लिप्त हो गए हैं कि वे भाषा से, नाम से, पहरावे से और धर्म से किसी भी भांति अंग्रेज़ों से कम नहीं रहे। यदि कोई कमी रह गई है तो केवल रंग की है। कहिए, यदि ये भ्रष्टाचारी हज़ार दो हज़ार वर्ष के पश्चात अपने को ठेठ इंग्लिशमैन अथवा पोर्चगीज़ कहने का दावा करने लगें तो उनका दावा सत्य माना जावेगा कि नहीं ? मेरे विचार से तो यदि समस्त यूरोपीय जातियों का आर्य्यवंशी माना जाना सम्भव है तो ये नकली अंग्रेज़ भी असली अंग्रेज़ माने जाने चाहिए। क्योंकि जिन प्रमाणों का आधार रखकर उन लोगों ने समस्त अनार्य जातियों को आर्य्य बना डालना सम्भव माना है वैसेही शतगुणे अधिक प्रमाण इन नकली अंगरेज़ों के पास भी प्रस्तुत रहेंगे और इनके अंग्रेज़ माने जाने में कोई सन्देह ही नहीं रहेगा। निदान इसका अंतिम परिणाम क्या होगा ? यही न कि असत्य को सत्य मानना। इसमें लाभ क्या होगा ? यही कि जो लाभ टेरे में गन्ने का भ्रम मानकर उसे चूसने से होता है वही हाथ रह जावेगा।

जाग्रति।

(लेखक—पं० रामचरित उपाध्याय)

१—सुनो सत्य के साथियो वीर प्यारे !
न जूं क्यों चली कान अब भी तुम्हारे ?
रहे कौन हम और क्या हो गये हैं ?
समा क्या बंधा है मिले गुल नये हैं ॥
सदा हाथ से राह निकलने न पावे।
कभी झूठ का हाथ हिलने न पावे ॥
२—न अन्याय-बेड़ा कभी पार होगा।
खलों से किसी का न उपकार होगा ॥
बिना सत्य बोले न सत्कार होगा।
मिलेगा वही से जो सत्कार होगा ॥
भले काम में डर किसी का नहीं है।
बिना दुख सहे क्या मिला सुख कहीं है ?
३—गिरे वज्र सिर पर सही डाल जावे।
भले साम्हने काल भी दौड़ आवे ॥
जले सिन्धु बरसे हलाहल शशी भी।
सतावे हमे सर्वदा वेकसी भी ॥
न तो भी कभी सत्य का साथ छोड़ो।
कभी दुर्जनों को नहीं हाथ जोड़ो ॥
४—विजय आप ही आप से आ मिलेगी।
कली कुन्द की आग में भी खिलेगी ॥

बढ़ा दो पगों को तनिक दिल सम्हालो ।
सपूतो, भारत-भूमि के रहने वालो ॥
जगत में वही जाति जीती रहेगी ।
जो अन्याय को न्याय-पूर्वक सहेगी ॥

५—करो काम अच्छे रहो एक होकर ।
बुरी फूट है, व्यर्थ खाओ न ठोकर ॥
लजाते नहीं हाय ! सर्वस्व खोकर ।
अघाते नहीं सैकड़ों वर्ष सोकर ॥
अरे बाल-बच्चो, हुआ है सबेरा ।
उड़ा दो उठो सत्य-जय का फरेरा ॥

६—अरे सब बलों से बड़ा आत्मबल है ।
उसे जीत सकता किसी का न छल है ॥
गड़ी सत्य की मेख ऐसी अचल है ।
उसे खोद सकता नहीं दुष्ट-दल है ॥
भलों के लिए है वही फूल मग में ।
खलों के लिए है वही शूल मग में ॥

७—क्षमा से कमा लो गवाँये हुए को ।
क्षमा से हँसा लो रुलाये हुए को ॥
किसी को न उँगली दिखाओ अभी तुम ।
सहनशीलता को बढ़ाओ अभी तुम ॥
न पर के हकों को हमें है दबाना ।
न अपने हकों को हमें है गवाँना ॥

८—न मारो किसी को मरो सत्य पर तुम ।
सभी कुछ निछावर करो सत्य पर तुम ॥
अमर है वही नाम जिसका बना है ।
कलेवर भला नित्य किसका बना है ?
उठो भारतीयो, मनुजता दिखा दो ।
सुखद 'सत्य-आग्रह' सभी को सिखा दो ॥

बूढ़ी काकी ।

(लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द्र)

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। नेत्र, हाथ और पैर सब जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और जब घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, या भोजन का समय टल जाता, उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाज़ार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वे रोने लगती थीं। उनका रोना सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्गवासी हुए कालान्तर हो चुका था। सात बेटे तरुण हो हो कर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवा उनका और कोई न था। इसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखाते समय तो खूब लंबे-चौड़े वादे किये; परन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्ज़ बाग़ थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़ दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजेराम पं० बुद्धिराम का अपराध था अथवा अर्द्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे; किन्तु उसी समय तक जबतक कि उन

3 के कोष पर कोई आँच न आवे। रूपा स्वभाव

से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी कभी अपने अन्यायाचार का खेद होता था। वे विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुस बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार होता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती; परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सदिच्छा को दबाये रखता था। इसके प्रतिकूल यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वे आग हो जाते थे और घर में आकर उन्हें ज़ोर से डाँटते थे। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब वे माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मार कर रोतीं; परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वे केवल खाने के लिए रोती हैं; अतएव उनके सन्ताप और आर्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी यदि कभी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं, तो रूपा घटना-स्थल पर अवश्य आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव शान्ति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई अथवा चबैना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था, और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्यायाक्षेप से कहीं सुलभ थी; इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में प्रेम और सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुण्ड विस्मय-पूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वाद कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरुदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों के "वाह, वाह" पर ऐसा खुश हो रहा था मानो इस वाहवाही का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो एक अंग्रेज़ी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार-मण्डली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसीका उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्टियों पर कड़ाह चढ़े हुए थे। एक में पूरियाँ कचौरियाँ निकल रही थीं। दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्धक सुगन्धि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी अँधेरी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थीं। यह स्वाद-मिश्रित सुगन्धि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन ही मन विचार कर रही थीं—सम्भवतः मुझे पूरियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गई, कोई भोजन लेकर नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया, परन्तु अशकुन के भय से वे रो न सकीं।

"आहा! कैसी सुगन्धि है। अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों ही के लाले पड़े हैं तब ऐसा भाग्य कहाँ कि भर पेट पूरियाँ मिलें?"—यह विचार कर उन्हें फिर रोना आया। कलेजे में एक हूक सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर भी मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःख-दायक विचारों में डूबी रहीं। घी और मसाले की सुगन्धि रह रह कर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर भर आता था। पूरियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ, आज लाड़ली बेटी भी नहीं आई। दोनों छोकड़े सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूरियों की तसवीर नाचने लगी। खूब लाल लाल फूली फूली नरम नरम होंगी। रूपा ने भली भाँति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूरी मिलती तो ज़रा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चल कर कड़ाह के सामने ही बैठूँ। पूरियाँ छन छन कर कड़ाह में तैरती होंगी। कड़ाह से गरम गरम निकालकर थाल में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं; परन्तु वाटिका में कुछ और ही आनन्द है। इस प्रकार निर्णय कर के बूढ़ी काकी उकडूँ बैठ कर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास जा बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खानेवाले के सम्मुख बैठने से होता है।

रूपा उस समय कार्य भार से उद्विग्न हो रही थीं। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में; कभी कड़ाह के पास आती, कभी सामान-घर में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—महाराज ठंडई माँग रहे हैं। ठंडई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—भाट आया है, उसे कुछ दे दो। भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—"अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है? ज़रा ढोल, मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट होने का अवसर नहीं पाती थी। भय होता कि कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि इतने ही में उबल पड़ीं। प्यास से स्वयं उसका कण्ठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फुँकी जाती थी; परन्तु इतना अवकाश भी नहीं कि ज़रा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि ज़रा आँख हटी और चीज़ों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठे देखा तो वह भस्मी-भूत हो गई। क्रोध न रुक सका। इसका भी

ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढक केंचुए पर झपटता है उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झिंझोड़ कर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है अथवा काठिया? कोठरी में बैठते क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका? आकर छाती पर सवार हो गई। जल जाय ऐसी जीभ। दिन भर यदि खाती न रहती तो न जाने किसकी हांडी में मुँह डालती? गाँव देखेगा तो कहेगा बुढ़िया भर पेट खाने को नहीं पाती, तब तो इस तरह मुँह बाये फिरती है। डाइन न मरे न मांचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवा के दम लेगी। इतना ठूँसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। ले! भला चाहती है तो जाकर कोठरी में बैठ। जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी हो नहीं कि चाहे किसी के मुँह में पानी तक न जाय; परन्तु तुम्हारी पहले पूजा हो जाय।

बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया, न रोई, न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गईं। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भाव उसी ओर आकर्षित हो गये थे। नदी में जब करार का कोई वृहद् खण्ड कट कर गिरता है तो आस पास का जलसमूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तल पड़ गये। मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मण्डली के साथ, किन्तु कुछ हट कर, भोजन करने बैठे थे; परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सबके सब खा न चुकें कोई उठ नहीं सकता था। दो एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे, सेवकों के दीर्घाहार पर झुंझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गई। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाज़ी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन न कर चुकेंगे घर वाले कैसे खायेंगे। मुझसे इतनी देर भी न रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन ही मन इस प्रकार विचार कर वे बुलावे की प्रतीक्षा करने लगीं। परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक एक पल एक एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गये होंगे। अब मेहमान आ गये होंगे। लोग हाथ पैर धो रहे हैं। नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है, लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है। यह विचार कर वे मन को बहलाने के लिए लेट गईं। धीरे धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गई। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज़ नहीं सुनाई

देती। अवश्य ही वे लोग खा-पीकर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गई है, क्या जाने न बुलावे, सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वे कोई मेहमान तो है नहीं जो उन्हें बुलाऊँ।

बूढ़ी काकी चलनेके लिए तैयार हुई। यह विश्वास कि एक क्षण में पूरियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आयेंगी उनकी स्वादेन्द्रिय को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह तरह के मंसूबे बाँधे—"पहले तरकारी से पूरियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से; कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने अथवा भला, मैं तो माँग माँग कर खाऊँगी। यही न, लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं है? कहा करें, इतने दिनों के बाद पूरियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी"।

वह उकड़ूँ बैठ कर हाथों के बल खसकती हुई आँगन में आई। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मण्डली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उंगलियाँ चाटता था और तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं। कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूरियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाके जीभ चटखारता था; परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँची। कई आदमी चौंक कर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह कौन बुढ़िया है? यह कहाँ से आ गई? देखो, किसी को छू न ले।

पं० बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूरियों का थाल लिए खड़े थे। थाल को ज़मीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दई महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े आसामी को देखते ही झपट कर उसका टेटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपक कर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें उस अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा-रूपी वाटिका लू के एक ही झोंके से नष्ट-विनष्ट हो गई।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके; परन्तु बूढ़ी काकी को किसीने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उसकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा नहीं आती थी। अकेली लाड़ली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाड़ली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बिचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गन्ध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा, तो लाड़ली का कलेजा ऐंठ कर रह गया। वह झुँझला रही थी कि ये लोग काकी को क्यों बहुतसी पूरियाँ नहीं दे देते? क्या मेहमान सबकी सब खा जायँगे? और, यदि काकी ने मेहमानों के पहले ही खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी; परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूरियाँ बिलकुल न खाई थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर

रखी थीं। वह ये पूरियाँ काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी। पूरियाँ देखकर कैसी आनन्दित होंगी? मुझे खूब प्यार करेंगी!

रात के ग्यारह बज चुके थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाड़ली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूरियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब उसे विश्वास हो गया कि अम्मा सो रही हैं, तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी—कैसे चलूँ? चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी, और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाड़ली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखलाई दे रहे थे। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं। इतने में कुत्ता उठ बैठा। लाड़ली को ढाढ़स हुआ। कई सोये हुए मनुष्यों के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिकतर धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठाई और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसीने मेरे हाथ पकड़े, फिर उन्हें ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिए जाता है। उनके पैर बार बार पत्थरों से टकराये तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटक दिया। वे मूर्छित हो गई।

जब वे सचेत हुई तो किसीकी ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझ गई कि—"सब लोग खा पी कर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गई। रात कैसे कटेगी? राम! क्या खाऊँ? पेट में अग्नि धधक रही है। हा! किसी ने मेरी सुध न ली। क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुड़ जायगा? इन लोगों को इतनी दया भी नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाय? उसका जी क्यों दुखावें? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ? इस पर यह हाल! मैं अन्धी, अपाहिज ठहरी, न कुछ सूझे न बूझे। यदि आँगन में चली गई तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी, अभी लोग खा रहे हैं। फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूरियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूरियों के लिए इतनी सब दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दिया तब अब क्या देंगी।"

यह विचार कर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गई। ग्लानि से गला भर भर आता था। परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज़ आई—"काकी उठो, मैं पूरियाँ लाई हूँ।"

काकी ने लाड़ली की बोली पहिचानी। चट पट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाड़ली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाड़ली ने पूरियाँ निकाल कर दीं। काकी ने पूछा—"क्या तुम्हारी अम्माँ ने दी हैं? लाड़ली ने कहा—"नहीं, यह मेरे हिस्से की है।" काकी पूरियों पर टूट पड़ी। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गई। लाड़ली ने पूछा—"काकी, पेट भर गया?" जैसे थोड़ीसी वर्षा ठंडक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर

देती है उसी भाँति इन थोड़ीसी पूरियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को उत्तेजित कर दिया था, बोलीं—नहीं बेटी, जाकर अम्माँ से और माँग लाओ। लाड़ली ने कहा—अम्माँ सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुचन गिरे थे। उन्हें निकाल कर वे खा गईं। बार बार होंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूरियाँ कैसे पाऊँ? सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है, तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का स्मरण कराना उन्हें मदान्ध बनाना है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाड़ली से बोलीं—मेरा हाथ पकड़ कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठ कर भोजन किया है।

लाड़ली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और लेजाकर जूठे पत्तलों के पास बिठला दिया. और दीन, क्षुधातुर हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूरियों के टुकड़े चुन चुन कर भक्षण करने लगी। ओह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धि-हीन होते हुए भी इतना जानती थीं कि मैं वह कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों के जूठे पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाड़ली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाड़ली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूरियों के टुकड़े उठा उठा कर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देख कर जो अवस्था उसकी होती वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों का जूठा पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूरियों के कुछ ग्रासों के लिए उसीकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देख देखनेवालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो जमीन रुक गई, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई नई विपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के संमुख क्रोध कहाँ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आईं। इस अधर्म्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मण्डल की ओर हाथ उठा कर कहा—"परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो, इस अधर्म्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो हमारा सत्यानाश हो जायगा"।

रूपा को अपनी स्वार्थ-परता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से कभी न दीख पड़ा था। वह सोचने लगी, "हाय! मैं कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति और मेरे कारण। हे दयामय भगवन्, मुझसे बड़ी भारी

चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी हुई थी। अपने नाम के लिए, अपनी बड़ाई के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये; परन्तु जिसकी बदौलत हज़ारों रुपये खाये उसे इस उत्सव में भी भर पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो, कि वह वृद्धा है, दीन है, असहाय है!"

रूपा ने दिया जलाया। अपने भण्डार का द्वार खोला और एक थाली में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजा कर लिए हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी। आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देव-गण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे; परन्तु उनमें किसी को वह परमानन्द प्राप्त न हो सकता था जो बूढ़ी काकी को अपने संमुख थाल देख कर प्राप्त हुआ। रूपा ने कण्ठावरुद्ध स्वर में कहा—"काकी! उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई। उसका बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना करो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दे"।

भोले-भाले बच्चे की भाँति जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है बूढ़ी काकी बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक एक रोयें से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी हुई इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूटने में निमग्न थी।

कला-विद्या का विश्लेषण।

(लेखक—अमेरिका-प्रवासी श्रीयुत रुक्मा चटर्जी, आई. जे.)

(२)

इस लेख में अमेरिकन सम्पादन-कला-विषयक वे ही बातें लिखी जायँगी जो भारतीय जनता को लाभदायक हैं और भारत में प्रचलित होने योग्य हैं। आरंभ में सम्पादन कला के वे ही अंग लिये जाते हैं जो लेखन-कला से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। चाहे किसी भी प्रकार का विषय क्यों न हो प्रत्येक में तीन विभाग होते हैं—

१. भित्ति (अर्थात् Back-ground)
२. धूप-छाया (अर्थात् Light and Shade)
३. चरम लक्ष्य (अर्थात् Climax)

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सब विद्याओं के तीन विभाग होते हैं—दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा कला-विषयक। इन तीनों में से जिस भाग का जितना अधिक प्रभाव रहता है वह उसी भाव पर लिखा जाता है तथा उस विषय की "भित्ति" और "चरम लक्ष्य" उसी विभाग पर निर्भर रहता है, पर "धूपछाया" में सबका अंश थोड़ा थोड़ा रहता है। भित्ति के पाँच भेद होते हैं:-

१. स्थूल विषय की सूक्ष्म भित्ति (Abstract basis of a concrete concept)
२. सूक्ष्म विषय की स्थूल भित्ति (Concrete basis of an abstract concept).
३. आनुमानिक भित्ति जो भविष्य में चरम लक्ष्य का फल होगी (Hypothesis as a result of the climax to be)
४. ज़ोरदार बातों में कोई विचार प्रकट करना (Assertive Basis)
५. अनन्त सम्बन्धकारी (Perennial and Correlative)

इन्हीं भेदों के आपस में मेल से सैकड़ों प्रकार की भित्तियाँ बन जाती हैं।

१. स्थूल विषय की सूक्ष्म भित्ति— यहाँ वे अनुभवात्मक विषय जो संसार में प्रत्यक्ष फल दे रहे हैं चाहे भाववाचक भी हों स्थूल कहलावेंगे। ऐसे ही सब प्रकार के कार्य तथा रस जो इन्द्रियात्मक हैं और वृत्ति को आघात कर सकते हैं सब स्थूल अथवा प्रत्यक्ष हैं। सूक्ष्म वे होंगे जो प्रामाणिक नहीं हैं, केवल अनुमान पर निर्भर हैं और जिनके जानने से केवल बुद्धि ही सम्भव असम्भव का ज्ञान करती है; पर रसात्मक वृत्तियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। लेखक किसी विषय पर लिखने के पूर्व जैसे जैसे विचारों को नियमबद्ध करता है वैसे ही वैसे उनमें से उन विषयों को जिन्हें जन साधारण जानते हैं स्थूल समझ लेता है और जिन्हें वह स्वयं बनाना चाहता है उन्हें सूक्ष्म समझ लेता है।

पाठकगण, इसे अच्छी तरह से हृदयंगम करने का प्रयत्न कीजिए। संपादन-कला का विद्यार्थी एक सृष्टि रचने के लिए प्रस्तुत हुआ है। लेखक को सृष्ट वस्तु के नायक, नायिका, उपयुक्त स्थान और समय के सिवा उनके मन की गति भी जानना ज़रूरी है। उसे ऐसी सृष्टि की आवश्यकता है जिसे अधिकांश लोग भिन्न स्वभाव एवं आदर्श के होते हुए भी अपना लें। इसी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए कई उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए स्थूल विषय की सूक्ष्म भित्ति लीजिए। यहाँ पर स्थूल तो सृष्ट वस्तु है और सूक्ष्म स्वकपोल-कल्पित कल्पना। समस्त संसार परमाणुओं से बना है और परमाणु ईयन्स से और ईयन्स एलक्ट्रोन से; इसपर से प्रोफेसर लरकिन ने स्पष्टतः कह दिया कि "Mind created ions" अर्थात् मन ने ईयन्स बनाया। यहाँ मन का अर्थ पारमात्मिक इच्छा है। गल्पों में इसीका उदाहरण ईर्षावश खून करना आदि लिया जाता है। ईर्षा एक सूक्ष्म भाववाचक शब्द है, उसके कारण अन्त में एक स्थूल कार्य खून किया जाता है। सूक्ष्म तथा किसी मानसिक भाव से आरंभ होकर कार्य कारणवश जिसका विकाश हो जावे उसी प्रकार के लेख को इस विभाग के अन्तर्गत समझना चाहिए।

२. सूक्ष्म विषय की स्थूल भित्ति— यह उसीका उलटा विभाग है। इसकी भित्ति स्थूल है; परन्तु चरम लक्ष्य सूक्ष्म है। उदाहरण लीजिए। एक गरीब था। किसी प्रकार अपने दिन काटता था। एक बार उसने इतने महत्व का कार्य किया कि जिसमें उसे अत्यन्त अधिक त्याग करना पड़ा। सारांश निकालते समय लेखक यह लिखकर कहानी का अन्त करता है कि "उत्तम विद्या लीजिए यदपि नीच पै होय" अथवा अन्य कोई प्रसिद्ध कहावत लिख देता है।

इन दोनों को देखने से आप समझ लेंगे कि पहिले की भित्ति और दूसरे का चरम लक्ष्य एक ही है। ऐसे ही पहिले का चरम लक्ष्य और दूसरे की भित्ति एक ही है। इसीके अन्तर्गत दार्शनिक शास्त्रों को तथा धर्म-सम्बन्धी शास्त्रों को देखिए कि जिनमें स्थूल भित्ति से आरंभ कर के अन्त में निर्वाण का चरम लक्ष्य रखते हैं।

३. आनुमानिक भित्ति जो भविष्य में चरम लक्ष्य का फल होगी— पहिले ही कोई ऐसी बात कह देना कि जिसमें उसका कोई स्पष्ट अर्थ न निकल सके। इसके सिवा जब तक चरम लक्ष्य तक न पहुँचे तब तक यह मालूम न हो कि अर्थ क्या है। ऐसी आकर्षणीय पुस्तक बाबू पाँचकौड़ी दे की जासूसी कहानी "नीलवसना सुन्दरी" है। प्रारम्भ में कुछ पता नहीं चलता; परन्तु अन्त में प्रत्येक बात स्पष्ट हो जाती है। दूसरे प्रकार के उदाहरण-स्वरूप "दन दनन न न न न न", "अंधकार और सन्नाटे को कंपित करते हुए एकाएक तोपों की आवाज़ हुई", इस प्रकार के शब्दों से जो गल्पें शुरू होती हैं वे इसके अन्तर्गत हैं।

४. ज़ोरदार बातों में कोई विचार प्रकट किया जाय—

"काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय काजल की रेख एक लागि है पै लागि है"—इस प्रकार की कुछ बातों को कह कर उसका शाब्दिक चित्र खींच कर एक सृष्टि की रचना करके प्रमाण बताना इस विभाग का कार्य है। पुराणों में "एकादशी-माहात्म्य," "सत्यनारायण की कथा" आदि जो उपाख्यान हैं वे इसी ढंग के हैं।

५. अनन्त एवं सम्बन्धकारी—ये दोनों एक ही भाग के अन्तर्गत हैं। अनन्त बातों की भित्तिः जैसे, वेदान्त जिसमें सब सृष्टि एक सृष्टा के अन्तःकरण में रख दी गई है। सम्बन्धकारी भित्ति चरित्र, उद्देश्य तथा प्रकृति को परस्पर एकत्र करके सम्बन्ध प्रमाणित कर देती है; जैसे, रामचन्द्र ने सुग्रीव को भिन्न प्रकृति और उद्देश्य के होते हुए भी अपना लिया। हिन्दी में बहुत अच्छे उदाहरण नहीं याद आते; इसलिए The Poverty of Riches' 'धन की गरीबी' यह बहुत ही अच्छा उदाहरण है। पढ़ने से बे-मतलब का मालूम होता है; पर ध्यान देने पर उसीमें दूसरे अर्थ दिखाई देते हैं।

सबकी जड़ ये ही पाँच भेद हैं। पहिले इन्हीं में से एक या दो या पाँचों के सम्मेलन से एक भित्ति बना लेते हैं। फिर धूप-छाया शुरू करते हैं। धूप-छाया का आशय असल में यह है कि आनन्द हो, और वह अधिक काल तक स्मरण रहे। धर्मवेत्ता नरक से डराकर ही काम लिया करते थे और पादरी लोग अभी तक यही करते हैं। यही उनकी धूप-छाया है। फ़ारसी के कवि इश्क और शराब की दुहाई देकर बड़ी बड़ी दार्शनिक बातें सिखा गये। वकील बैरिस्टरों की धूप-छाया बातों की सूक्ष्मता के ऊपर निर्भर है। उपन्यासों में कई तरह की धूप-छाया रहती है। उदाहरण लीजिए, आपने एक नायक को भारी कठिनाई में डाल दिया, चाहे वह मानसिक, शारीरिक या हार्दिक हो। उसे उस कठिनाई में निकालने के लिए जो जो उपाय आप करेंगे वे सब धूप-छाया के अन्तर्गत होंगे। आकस्मिक घटना, अप्राकृतिक घटना, चालबाज़ी आदि के द्वारा उद्धार करने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार कठिनाई लाने के लिए दुर्बुद्धि, शत्रु, भूल, लोभ, अहंकार आदि के आश्रय द्वारा कार्य सिद्ध किया जाता है। जितने प्रकार से इस धूप-छाया का मतलब निकाला जाता है उनकी गणना नहीं हो सकती; पर इनके मुख्य विभाग जहाँ तक किये जा सकते हैं वे आगे लिखे हैं। इसी धूप-छाया के विश्लेषण से लेखक की शैली (style) का पता लग जाता है। समालोचक इसी अंश की समालोचना करके यह निकाल लेते हैं कि किस लेखक का क्या ढंग है। यद्यपि विस्तार की अत्यन्त आवश्यकता है; पर अधिक विस्तार से पाठक घबड़ा उठते हैं और चित्त अधिक समय तक आकर्षित नहीं रह सकता। पहिले जितने प्रकार के रस हैं हमें उन्हें ही देखने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल रस ही नहीं, यहाँ रसोत्पादक भाषा तक भाव का भी विचार करना आवश्यक है। व्याख्या सहित रस और रसोत्पादक शब्द तथा वाक्यों का परिचय नीचे लिखा जाता है। मुख्य रस, जिनके मेल से असंख्य प्रकार के सम्मिश्रित रस बनते हैं ये हैं :—

१. उपहास (Ridicule) इसकी परिभाषा है कि स्मृति में खूब चिपकने वाले गारे को उपहास कहते हैं (Ridicule is the memory's most adhesive plaster) अर्थात् किसी प्रकार से किसी बात या विषय को ऐसे ढंग से कहना जिसमें वह वाहियात मालूम हो, जिसमें सिर या पैर कुछ भी न हो। इस प्रकार की बातों को कोई भी जल्दी नहीं भूलता। उदाहरण के लिए यह लीजिए। कोई कहता है—"वाहरे ज़माना, बाप ने पी शराब, बेटे को हुआ नशा, चचा बदनाम हुए, पड़ोसी नाली में गिरे, जाति-भाइयों के मुँह से बदबू निकली और काँच बनाने वाले को सज़ा हुई, क्योंकि यदि बोतल न होती तो शराब

ही न आती। इस इन्साफ़ को देखकर महाराज धर्मराज भी स्वर्ग में रोते होंगे।"

ऐसे ही दूसरा उदाहरण—"कवि महाशय सूर्य के चूल्हे पर प्रकाश की कढ़ाई रखकर चन्द्र को कल्पना के मसाले से घोंट कर पुलाव बनाते हैं और नक्षत्रों को निचोड़ कर पतले रुपहले बादल की छन्नी से छान कर शरबत बना पुलाव-भुक्त पाठक को, हज़म करने के लिए, पिलाते हैं।"

उपहास में दो बातें शामिल रहती हैं—

अ—विद्रूप (Derision)—क्या पागलख़ाने में जगह ख़ाली नहीं है? क्या प्लेग, इन्फ्लूएन्ज़ा, हैज़ा आदि काफ़ी नहीं हैं कि कवि महाशय सब लोगों के साथ विचरण करके अपनी कल्पना के फंदे में सबको फँसाते फिरें? कहते हैं कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जा सकते। अच्छा होता कि स्त्रियाँ बाँझ होतीं, इत्यादि।

ब—व्यङ्गोक्ति (Sarcasm)—विद्रूप से मिलता हुआ है यह भी है; पर यह उतना अधिक कटाक्ष नहीं करता—"क्यों न हो! भूभारत में आप सरीखा कोई हुआ भी है? विधाता ने सब तत्त्वों को ख़र्च कर के आपकी प्रतिमा बनाई है।"

२.—हास्यरस (Humour) यह रस इन तीन के मेल से बनता है—(१) बीभत्स (Incongruity) (२) श्लेष (Pun) और (३) हाज़िरजवाबी (wit)। यदि तीनों हों तो सम्पूर्ण हास्यरस उस दर्ज़े का होता है कि जिसे सुनते ही लोग हँस कर लोटपोट हो जाते हैं। बीभत्स का नमूना—"क्या कहें यहवाब क्या क्या कारेनुमाया कर गये। बी० ए० हुए, नौकरी की, पेन्शन लिये और मर गये!" श्लेष का नमूना—"मैना ने 'म' 'ना' कही ग्राम बढ़ायो शीश। बकरी ने 'मैं' 'मैं' कही कि आप कटायो शीश।" हाज़िरजवाबी का नमूना—"किसी एक मुक़द्दमे में मुझसे जज ने पूछा कि अमेरिकन के हक़ तुम्हें क्यों दिये जायँ? मैंने कहा—महाशय, अमेरिकन साधारणतः यहीं पैदा होते हैं और उसमें उनका कोई अधिकार नहीं। उन्हें होना ही पड़ता है और देशप्रेम करना ही पड़ता है; परन्तु मैं तो अपनी ख़ुशी से इस देश से प्रेम करता हूँ। मेरे साथ कोई ज़बरदस्ती नहीं। इतना सुनते ही जज ने हँस कर मुझे तुरंत हक़ दे दिये। महाराज बीरबल की हाज़िरजवाबी सभी को मालूम होगी।

३.—शृंगार रसात्मक अलंकार (Romance)—"जब प्रकृति की प्रत्येक वस्तु व्यक्तित्व को प्राप्त होती है, हवा मलयवायु हो जाती है, वज्र शंख-ध्वनि के समान, आकाश नीलावरण से किसी अलौकिक छवि को ढाँक लेता है, बादल तरह तरह के आकार धारण कर के प्रेमी को विरह-व्यथा की चरम सीमा को पहुँचा देता है, उस समय वह कवि हृदयहीन है जो विशुद्ध प्रेम के मूर्तिस्वरूप नायक और नायिका को ऐसे प्राकृतिक चौखटे (frame) के भीतर न रख दे। जब कि मन्द सुगन्ध समीर फूलों की कलियों से प्रेमालाप करता हुआ उनकी सुगन्धि लेकर प्रत्येक अणु में फैलाता हुआ प्राणि-मात्र को मुग्ध करता जाता है, चन्द्रकिरण स्निग्ध ज्योत्स्ना से एक स्वप्नमय, प्रहेलिकामय प्रकाश फैलाता है तब यदि संसारचक्र में पिसते हुए मानव क्षणमात्र के लिए हृदय के द्वार को खोल-कर आकांक्षा के अग्नि-उत्तापित बाष्परूपी निराशा, उद्यम, उत्साह आदि को स्वात्मप्रेमी के चरणों में बलिदान करने को प्रस्तुत हों तो क्या आश्चर्य है?" बाल्यावस्था में मुग्ध, युवावस्था में अधीर और वृद्धावस्था में दीर्घश्वास युक्त अभिलाषी इसी शृंगार रसात्मक अलंकार के लिए क्या नहीं बन जाता? यही मुख्य रस है, यही सब रसों में श्रेष्ठ, सब में जान डालने वाला, प्रेम का पार्थिव रूप है।

४.—महत् अलंकार (Rhapsody)—यह शृंगार रस का एक अंग विशेष है। भावमय जगत् में ले जाने के लिए इससे अधिक शक्ति किसी में नहीं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'कवि! भुवन-मनोमोहिनी' इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है। वैसा ही एक दृष्टान्त द्विजेन्द्रलाल राय के 'वसन्तवर्णन' में लीजिए—

"अखिल जगत् सुन्दर और पुलकित हो गया; क्योंकि आज तुमने दर्शन दिये; पर, मेरा हृदय तुम्हारे कोमल करस्पर्श से काँप रहा है।............क्षणिक कटाक्ष से नव विकसित कुसुमवत् पल में बन जाता है। मुसकराते ही सहस्रज्योतिमी ज्योत्सना की रश्मिमालाएँ निकलने लगती हैं।"

५--श्लेषालंकार (Rhetoric)--सुन्दर, महत् और पौरुष के संयोग से उत्कर्ष भाषा और भाव के वर्णन को श्लेष कहते हैं। वर्तमान काल में इसकी कदर कम होती जाती है; परन्तु फिर भी गंभीर ज्ञानी इसके बिना चल नहीं सकते। उदाहरण सुनिए--

यदि शरीर में बल है, हृदय में उत्कण्ठा, आत्मा में शक्ति, मन में धैर्य और बुद्धि में तीव्रता है, तो आओ, स्वतंत्रता के गगन में वज्रशिखा को आलिंगन करके गरीयसी जननी का मान रक्खें; नहीं तो अभ्रभेदी अन्धकार में मुँह छिपा वृक्षों के कोटरों में पेचक के साथ निशाचरों की भाँति पड़े रहें, मनुष्य न कहलावें, पशुओं का अपमान न करें, नारकी घृणितहीन होकर सभय कंपित कलेवर लेकर जीवन धारण करें।

६.--जोश (Passion)--किसी भी रस को अत्यन्त बढ़ा देने से वह जोश में परिणत हो जाता है। भले-बुरे सब प्रकार के रसों में जोश हो सकता है।

न्याय, और बुद्धि के बाहर होकर जो प्रेम हो उसे विराट उद्भ्रान्त प्रेम (Grand Passion) कहते हैं। जैसे, लैलामजनू का प्रेम, स्त्रियों का सती होना, आदि।

७.--शब्दालंकार (Epigram)--अंग्रेज़ी में कहावत है कि यदि सत्य भी शब्दालंकार के द्वारा तीखा बनाया जावे तो कष्टदायक होता है। इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। यह विन्यास तथा अलंकार का एक प्रधान अंग है, चाहे समर्थन या विरोध में इसका उपयोग ब्रह्मास्त्र के समान हो; जैसे, धोबी का कुत्ता घर का न घाट का; दोऊ दीन से गये पांड़े हलुवा मिला न माँड़े, आदि। आगे चलकर इसको कृति में लाने की विधि बताई जावेगी।

अब चरमलक्ष्य (अथवा Climax) का उल्लेख किया जाता है। पहिले बताई हुई भित्ति के अन्तर्गत जो बातें कही जा चुकी हैं उन्हें प्रमाणित करने के लिए और साथ ही मनोरंजक और रोचक बनाते हुए तथा धूपछाया के अन्तर्गत अलंकारों का व्यवहार करते हुए चरम लक्ष्य पर पहुंचते हैं। चरम लक्ष्य में वही बात कही जावेगी जो भित्ति में कही जा चुकी हो। इसका ढंग हमेशा निराला ही रहता है। पाठक को पता नहीं रहता कि अन्त में क्या होगा या लेखक पाठकों को किस ओर को ले जाने के लिए तैयार कर रहा है। सुखान्त और दुःखान्त नाम के केवल दो प्रकार के लेख से ही हिन्दी पाठक परिचित हैं; परन्तु ये तो केवल दो प्रकार के चित्त की अवस्था बतलाते हैं और नायक या नायिका को सुख हुआ तो सुखान्त और दुःख हुआ तो दुःखान्त मान लेते हैं। इसके और भी कई प्रकार के सूक्ष्म विभाग हैं:--

१ सरल (Palpable) जिसके पढ़ते ही इस बात का पता लग जाय कि अन्त में क्या होगा।

२ सभंगाचार (Iconoclastic) लोकाचार या साधारणतः जिसको सब लोग मानते हैं उसे तोड़ कर विपरीत अर्थ या फल बताना, जैसे, आर्य्यसमाजियों की वेदों की व्याख्या।

३ रसहीन (Anti-climax or Platitudinous) केवल विस्तार करते हुए वर्णन करना। संवादपत्रों का संवाद ऐसा ही रहता है।

सब प्रकार के लेख पाँच विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहला वह है जो साधारण रसहीन बातों से आरम्भ होकर मध्य में चरम लक्ष्य के विपरीत भावापन्न रस में मज्जित होता

है और फिर ऐसा अनुमान कराता है मानो कोई विपरीत फल हुआ चाहता है; परन्तु ठीक अन्तिम यवनिका के पूर्व ही धीरे धीरे चरमलक्ष्य के समीप पहुँचने पर उच्च से उच्चतर भाव रस, क्रमादि को मिलाता हुआ अन्त में भित्ति के फलस्वरूप चरमलक्ष्य को सिद्ध कर देता है। दूसरे विभाग में वे लेख आते हैं जो प्रायः लम्बे उपन्यासों में पाये जाते हैं। आरम्भ से ही पाठकों की कल्पना के विपरीत भाव का वर्णन होता है फिर विपरीत मार्ग में चलकर उच्चारोहण करता हुआ अवगाहन करता है; अन्त में भित्ति के निकट पहुँचकर शेष हो जाता है। तीसरे विभाग के लेख ऊर्ध्वगामी होते हुए विपरीत मार्ग पर चलते हैं, फिर समान भाव पर, परन्तु भित्ति के कुछ और अधिक विशेषण बताकर अन्त होते हैं। चौथे विभाग के लेख संवाद-पत्र के संवाद के समान केवल वर्णनात्मक होते हैं। पाँचवें विभाग में जो लेख आते हैं वे आरम्भ से ही सर्वसम्मत बातों का उल्टा रूप दिखाते हुए एक अंश में रुककर उसी प्रणाली से फिर आरोहण करते हुए भित्ति के समीप पहुँचते हैं।

इन्हीं पाँचों के परस्पर सम्बन्ध से लेखों के और भी अनन्त प्रकार हैं। पहिले, दूसरे और पाँचवें विभाग के लेख उत्तम कोटि के लेख माने जाते हैं। खेद है कि इस समय मेरे पास हिन्दी की कोई अच्छी पुस्तक नहीं है; इसलिए कोई स्पष्ट उदाहरण देने में असमर्थ हूँ। यदि कोई उपन्यास या निबन्ध पुस्तक मिल सकी तो मैं आगामी बार उस कहानी अथवा लेख का विश्लेषण कर के बताऊँगा जिससे इस विषय का स्पष्टीकरण हो जायगा।

अब लेख को और अधिक विस्तार करना ठीक नहीं। आशा है कि भावी लेखक समझ गये होंगे कि किसी भी प्रकार के लेख उत्कर्षता को कैसे पहुँचाये जा सकते हैं। इन लेखों का उद्देश्य केवल यही था कि जिससे पाठकों का ध्यान इस परम उपयोगी विषय की ओर आकर्षित हो और भारतीय भावी लेखक कलाविद्या का उन्नत स्वरूप पहिचानने तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में कला-विद्या के उत्तम विभागों को प्रकाश में लाने के प्रयत्न करें।

अभी हिन्द होवै खुशहाल।

(लेखक—श्रीयुत लाला भगवानदीन)

(१)

हिन्द-निवासी सब जन भैया,
सुन लो बात हमारी एक।
अपनी अपनी बुद्धि लगा के,
सोचो समझो सहित विवेक॥
सोच-समझ निकलै जो साँची,
मान लीजिये तज के टेक।
सच होने पर बात न मानै
उसका हृदय न जानो नेक॥

(२)

"कहा हमारा ही तुम मानो"
ऐसी हठ न हमारी तात!
केवल इतना ही कहता हूँ—
मानो धर्म-ग्रंथ की बात॥
हिन्दू हो या मुसल्मान हो,
बौद्ध, पारसी कोई जात।
सच्चे दिल से मानो भैया,
अपने धर्म-ग्रंथ की बात॥

(३)

देखो अपने धर्म-ग्रंथ में
माता का क्या है सम्मान।

जन्मभूमि का कितना आदर
करते हैं वे ग्रंथ बखान ।।
हजरत 'आदम' से हो पैदा,
पाया मधुर 'आदमी' नाम ।
अथवा 'मनु' जी से पैदा हो,
'मनुज' नाम पाया अभिराम ।।

(४)

बालक होकर एक पिता के
झगड़ा करना है बेकाम ।
'राम जुहार' करो तुम हमेश,
हम तुमको झुक करें सलाम ।।
नाम हेतु अथवा इनाम हित,
मतवाले हो भिड़ो न भ्रात ।
जन, जमीन, ज़र के हित भैया,
झगड़ा करना भली न बात ।।

(५)

पुरखा भारत में जन्मे थे,
पले, रहे, फिर हुए विलीन ।
हम तुम भी पलते, रहते हैं,
मजे उड़ाते नित्य नवीन ।।
बेटे-पोते यहीं रहेंगे,
उनकी भी भविष्य संतान ।
जन्मावे, पाले, रक्खेगा
यही हमारा हिन्दुस्तान ।।

(६)

ऐसी बातें समझ ध्यान से,
धर्म-ग्रंथ का कहना मान ।
कितना हमें चाहिए करना,
जननी-जन्मभूमि-सम्मान ।।
ये बातें विचार कर देखो,
समझ सकोगे तब भरपूर ।
कोई बड़भागी रहता है,
सदा स्वदेश-प्रेम में चूर ।।

(७)

मिश्र देश की शाही पाकर,
प्यारी जन्मभूमि के हेत ।
"हा! कनआँ" कह हजरत यूसुफ,
बहुधा हो जाते बेचेत ।।
सुलेमान के सिंहासन से
बढ़कर है स्वदेश का प्रेम ।
हैं स्वदेश के काँटे बढ़कर
फूलेसज से दायक क्षेम ।।

(८)

हिन्दू मुसलमान ईसाई
जितने हैं भारत के पूत ।
खाये खेले एक गोद के,
रखते हैं नाता मजबूत ।।
धर्म-विरोध छोड़कर दिल से
एक एक को भाई जान ।
हजरत यूसुफ की हो करनी
करना निज मन में लो ठान ।।

१ जन=स्त्री । ज़मीन=पृथ्वी । ज़र=धन ।
(कहावत) जन, ज़मीन, ज़र। तीनों झगड़े के घर।

१—'कनआँ' हजरत युसुफ की जन्मभूमि का नाम है।

२ हजरत युसुफ संबंधी कथाओं में ऐसा वर्णन है।

३ हजरत युसुफ के भाइयों ने उनके साथ बहुत बुरा बर्ताव किया था, परंतु जब हजरत युसुफ मिश्र देश के राजा हुए और 'कनआँ' में सप्तवर्षीय अकाल पड़ा, तब हजरत ने बहुत सा अन्नवस्त्र अपने भाइयों को तथा अपने देश को भेजा था।

(९)

भारत की इस दीन दशा पर
दया न आती दिल में नेक।
समझ नहीं सकते हम भाई,
गया तुम्हारा कहाँ विवेक ॥
आँख उठाकर देखो प्यारे,
नंगे भूखे भारत-लाल।
क्या उपाय तुमने सोचा है,
प्राण बचा लें ये कंगाल ॥

(१०)

ध्यान कीजिये, कुछ दिन पहले
भारत का कैसा था हाल।
दूध, दही, घी, अन्न भरा था,
सबही जन थे मालामाल ॥
हैजा, प्लेग, दुकाल आज जो
भारत को कर रहे हलाल।
इनका नाम-निशान नहीं था,
न थी खुरकसाली विकराल ॥

(११)

भारत की सम्पत्ति देख कर
परदेशी कर कर अन्याय।
लूटमार कर लिये जा रहे,
तुम कुछ करते नहीं उपाय ॥
बहुतेरे इसका धन लेकर
अब बन बैठे हैं धनवान।
छूछा पेट बजाते हैं हम
होकर भारत की सन्तान ॥

(१२)

हिम्मत करो, कमर कस बाँधो,
उठो, सँभालो अपना देश।
आपस में सब मेल बढ़ाओ,
धारो अपना देशी भेष ॥
अन्न, कपास, गाय की रक्षा
करो मिटाओ कड़ी कुचाल ॥
केवल डरो एक ईश्वर से,
अभी हिन्द होवे खुशहाल ॥

गुरु-कुल और ऋषि-कुल के विद्यार्थी।

(लेखक—श्रीयुक्त सत्यवक्ता)

आजकल की प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक के व्यावहारिक परिणामों से सर्वसाधारण में बड़ा असन्तोष फैला हुआ दिखाई देता है। इस असन्तोष के मुख्य दो कारण जान पड़ते हैं—एक तो लगभग २० वर्ष की वर्तमान शिक्षा में भी ऐसे विद्वानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती जो एक या अधिक विषयों में विद्या और ज्ञान के अवतार समझे जा सकें; और दूसरे, इन अर्द्ध-पण्डितों को वस्तु-ज्ञान बहुत ही थोड़ा होता है। इनके सिवा आधुनिक विद्यार्थियों में सदाचार तथा नैतिक बल की कमी भी पाई जाती है; और इनकी शरीर-सम्पत्ति भी बहुत ही थोड़ी होती है। ऐसी अवस्था में विद्यार्थियों को अपने धन और समय का पलटा प्रायः कुछ भी नहीं मिलता और ये लोग देश के बहुधा किसी काम में भी नहीं आते। इस अपूर्ण और एक प्रकार से निरुपयोगी शिक्षा का सबसे बड़ा कारण विदेशी

भाषा का माध्यम है। विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा देने से और हानियों में मुख्य हानियाँ ये हैं कि विद्यार्थी स्वाभाविक रीति से विचार और तर्क-वितर्क नहीं कर सकते और उनमें अपने भले-बुरे विचार मातृभाषा के द्वारा प्रकट करने की पूरी योग्यता नहीं आती। इस कुशिक्षा का एक और कारण यह है कि इसमें विषयों की अधिकता रहती है और विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए कुछ वर्षों से गुरु-कुलों और ऋषि-कुलों की स्थापना हुई है जिनमें भारतीय शिक्षा दी जा सके, और वे विदेशी सभ्यता की बलि न बनें।

गुरु-कुलों और ऋषि-कुलों में मातृभाषा के द्वारा उच्च से उच्च विषयों की शिक्षा दी जाती है और उनमें विद्यार्थियों के सदाचार और स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान रखा जाता है। इन संस्थाओं से जो स्नातक अभी निकले हैं वे अंगरेज़ी के ग्रेजुएटों से किसी प्रकार कम शिक्षित नहीं हैं और जहाँ तक मुझे समाचार मिला है, वे लोग हृदय और शरीर से भी हृष्ट-पुष्ट हैं। हाँ, इस बात को अभी देखना है कि इन संस्थाओं में वस्तु-ज्ञान कहाँ तक सफलतापूर्वक दिया जाता है और कहाँ तक आगे दिया जा सकेगा। तथापि इन विद्यालयों से हम लोगों को विशेष लाभ हो रहा है और आगे भी बहुत कुछ होने की संभावना है।

इन उपयोगी संस्थाओं को सहायता देना प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य है। अपने अपने धर्म के अनुसार वे किसी एक प्रकार की संस्था को आश्रय दे सकते हैं और यदि वे चाहें तो अपने विशेष धर्म के अनुकूल स्वयं एक विशेष शिक्षा-संस्था खोल सकते हैं। हमें इस विषय में ईसाइयों को अपना गुरु बनाना चाहिए। ये लोग अपने धर्म के नाम-मात्र प्रचार ही के लिए प्रति वर्ष हम लोगों की शिक्षा में सहस्रों रुपये व्यय करते हैं। इधर हम लोगों की यह दुर्दशा है कि हम लोग बड़े बड़े शहरों में भी अपने निज के स्कूल नहीं खोल सकते और कृपणता के वश हो कोमल-मति बालकों को, विदेशी धर्म की कुशिक्षा का कुछ भी विचार न कर, इन्हीं ईसाइयों के स्कूलों में भेजते हैं। अपनी संस्थाओं की सहायता के लिए हमें केवल धन ही से नहीं, किन्तु उनमें अपने पुत्रों को पढ़ा कर उनकी सहायता करनी चाहिए। यदि स्वदेशानुरागी शिक्षक-गण अवैतनिक रूप से अथवा नाम-मात्र वेतन लेकर इन संस्थाओं में शिक्षा दें सकें तो सोने में सुगन्ध हो जाय। जो लोग अपने सब पुत्रों को, किसी कारण से, इन संस्थाओं में शिक्षा दिलाने का साहस न कर सकें, उन्हें कम से कम एक पुत्र को तो अवश्य इन संस्थाओं के अर्पण कर देना चाहिए और उस पुत्र का सम्पूर्ण भविष्य इनके संचालकों के हाथों में दे देना चाहिए। तभी ये विद्यालय देशोपयोगी कार्य कर सकेंगे। जिस प्रकार ये "कुल" सर्व-साधारण से धन और जन की सहायता माँगने के अधिकारी हैं उसी प्रकार सर्व-साधारण भी इनसे विशेषतया इस बात की आशा रखते हैं कि इनके द्वारा शिक्षित किये गये विद्यार्थी रूप और गुण में प्राचीन ऋषियों के समान ही निकलें। ये लोग केवल "मंत्रद्रष्टा, अनुष्ठेय-कर्म-ज्ञापक, सूत्रकार, आचार्य और गोत्र-प्रवर्तक" ही न हों, वरन्

"दस्यु" लोगों के साथ युद्ध भी करें, क्योंकि—
पूर्वकाल में वेद-मंत्र थे कड़खे रण के।
सेना-नायक कुशल, शूर द्विज, ऋषि, मुनि वन के॥

यदि ये भावी ऋषि ही अपने देश का उद्धार न कर सकेंगे तो फिर क्या इनकी अकर्मण्य प्रार्थना सुन कर ईश्वर को इनके देश पर करुणा हो सकेगी? जब प्राचीन ऋषि अपने योग-बल से नई सृष्टि निर्मित कर सकते थे, तब क्या ये आधुनिक ऋषि अपने मन का एक आदर्श ग्राम भी न बसा सकेंगे? हमें तो यही आशा करनी चाहिए कि ये बाल-ऋषि हमारे देश में एक युगान्तर उपस्थित कर देंगे।

देश के उद्धार के लिए हमें सहस्रों कर्मवीरों की आवश्यकता है और इनकी पूर्ति के लिए हम, अधिकांश में, इन्हीं बाल-ऋषियों का मुँह ताकते हैं। यदि ये आजन्म ब्रह्मचारी रह सकें तो इनके द्वारा देश के सैकड़ों कष्ट दूर हो सकते हैं। संसारी चिन्ताओं से मुक्त रहने पर एक ही मनस्वी वीर देश को उथल-पुथल कर दे सकता है और बड़ी बड़ी शक्ति भी उसके शुभ अनुष्ठान में बाधा नहीं डाल सकती। भारत में अकेले शंकराचार्य ने प्राचीन काल में और दयानन्द सरस्वती ने आधुनिक समय में वह काम कर दिखाया है जो सैकड़ों गृहस्थ सैकड़ों वर्षों में भी नहीं कर सकते। आजकल वचन की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी क्रिया की और इसी क्रिया में हमारे ये ऋषितुल्य विद्यार्थी हमारी सहायता कर सकते हैं।

यही विद्यार्थी हमारे गुरु बनें, यही हमारी पुरोहिताई करें और यही लोग हमारे मन के साथ हमारे शरीर की चिकित्सा करें। हमारी भव-बाधाओं से भिड़ने के लिए यही बाल-ऋषि हमारे सैनिक और सेनापति बनें। इनकी आध्यात्मिक शिक्षा इतनी उच्च कोटि की हो कि ये समय पड़ने पर कठिन से कठिन शारीरिक कष्ट सहने को, यहाँ तक कि प्राणों को निछावर करने को भी तैयार रहें। तभी ये महात्मा लोग अपने वचनों और कार्यों को विद्युत-प्रवाह की भाँति देश के कोने कोने तक पहुँचा सकेंगे।

इनमें से कुछ लोग कणाद, गौतम, पतञ्जलि इत्यादि हो सकें तो बहुत ही अच्छा है; पर आज कल इनकी विशेष विभूति "परोपकाराय" होनी चाहिए। ये लोग गाँव गाँव फिर कर किसानों पर होने वाले हृदय-द्रावक अत्याचारों की कथा सरकार तक अथवा कर्मवीर नेताओं तक पहुँचावें और जहाँ हो सके वहाँ स्वयं साहसपूर्वक इन अनाचारों का प्रतीकार करें। कुछ लोग धर्म की आड़ में पण्डों के द्वारा तीर्थों में होने वाले अत्याचारों और व्यभिचारों को दूर करने के लिए कमर बाँधें और धर्म को पाखण्ड होने से बचावें। फिर कुछ लोग रेल के यात्रियों का कष्ट दूर करने के विचार से रात-दिन रेलयात्रा ही किया करें और मुसाफिरों की खबर लेकर रेल-कर्मचारियों की भी खबर लिया करें। इसी प्रकार कुछ सज्जन जेलखानों में जाकर (अथवा वहाँ कुछ दिन रह कर) क़ैदियों की दुर्दशा दूर करने का प्रयत्न करें। परोपकार के कामों की कोई सीमा नहीं है। यदि आजकल के साधुओं की सब पल्टनें एक योग्य सेनापति की अध्यक्षता में इन कामों में लगा दी जावें तो भी पूरा न पड़ेगा। प्राचीन काल के शान्ति-पूर्ण और सुखी काल में भी जब परोपकार की आवश्यकता थी, तब आजकल के संकट-समय में तो यह गुण एक प्रकार का वर्णाश्रम-धर्म होना चाहिए।

इन दिनों भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ सेवा-समितियों की स्थापना हो रही है और ये संस्थाएँ कई प्रकार से समाज-सेवा कर रही हैं। कुछ दिन पूर्व मैंने एक अस्पताल में कुछ स्वयं-सेवकों को बैठा हुआ देखा। उनके वहाँ जाने का कारण पूछने पर मालूम हुआ कि वे लोग एक अस्पृश्य जाति के मुर्दे को जलाने के लिए लेने आये थे। यह समाज-सेवा की पराकाष्ठा है। उन स्वयं-सेवकों का उत्साह और सहानुभूति देख मेरा हृदय द्रवित हो गया। यदि हमारे ऋषिकुलों और गुरुकुलों के विद्यार्थी इन्हीं सेवा-समितियों के सदस्य बनकर देशोद्धार का बीड़ा उठा लें तो हमारा शताब्दियों का रोना कुछ ही वर्षों में बन्द हो जाय। हमारे देश में "मुक्ति-फ़ौज" की बड़ी भारी आवश्यकता है। न जाने वह दिन कब आयगा जब हमारी सड़कों पर पल्टन और पुलिस के सिपाहियों के बदले हमारी "मुक्ति-फ़ौज" के सैनिक चक्कर लगायँगे।

यदि यह भी मान लिया जाय कि कोई भी माता-पिता अपने पुत्रों को इस प्रकार के बलिदान के लिए अर्पण करने को तैयार न होंगे, तो क्या हमारे देश में अनाथ बालकों और बालिकाओं की कमी है? आजकल जितने ईसाई पाये जाते हैं उनमें से अधिकांश अस्पृश्य जाति के अनाथ थे। हमारे गुरु-कुल अस्पृश्य नहीं, तो स्पृश्य जाति के अनाथों को पालकर अपने विद्यालय में योग्य शिक्षा दिलावें और पालक के अधिकार से उन्हें समाज-सेवा में नियुक्त करें। परोपकार के कामों के लिए सच्चे रँगरूट भरती करने में कौन सा अन्याय होगा? जो लोग इस प्रकार के ऋषियों से अपने संकट के समय सच्ची सहायता पावेंगे वे अवश्य ही कृतज्ञता के वश हो तन-मन-धन से हमारी आर्य संस्थाओं की सहायता करना अपना परम धर्म मानेंगे। अनाथ बालकों के साथ साथ अनाथ बालिकाएँ भी शिक्षित होकर स्त्री-जाति की उत्तम सेवा कर सकती हैं। हमें इस प्रकार की सेविकाओं की भी आवश्यकता है जो भारतीय स्त्रियों को भी कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण करें। यदि स्त्रियाँ मन में ठान लें तो वे केवल अपने अथवा अपनी जाति के दोषों को ही नहीं, किन्तु पुरुषों के दोषों को भी दूर कर सकती हैं—"कहा न अबला कर सके?"

तात्पर्य यह है कि हमें विद्यार्थी भी मिल सकते हैं और हम उन्हें भविष्य में समाज-सेवी बनाने के लिए योग्य शिक्षा भी दे सकते हैं। यदि इस विषय में कोई कमी है तो वह मनोयोग और प्रयत्न की है।

कांग्रेस की माँग क्या रही है।

आज दिन भारतवर्ष में एक कोने से दूसरे कोने तक असहयोग की लहर बह रही है और यह बह रही है उस राष्ट्रीय महासभा की आज्ञा से जिसका बीज-वपन आज से पैंतीस वर्ष पहिले किया गया था। इस समय कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि असहयोग की आवश्यकता ही क्या है? इसके सप्रमाण उत्तर कांग्रेस के कर्णधारों द्वारा दिये जा चुके हैं। यहाँ हम अपने पाठकों को कांग्रेस की आज तक की माँग का

ब्यौरा संक्षेप में सुनाते हैं। इस पर से वे स्वयं ही समझ लेंगे कि कांग्रेस की कौनसी माँग आज तक पूरी हुई है।

कांग्रेस की पहिली बैठक बम्बई में सन् १८८५ में हुई थी। उसमें अन्य प्रस्तावों के साथ सरकार से पाँच बातों के लिए प्रार्थना की गई थी—१. भारत के शासन-कार्य में जाँच-पड़ताल करने के लिए जो वचन दिया गया था उसके अनुसार एक रॉयल कमीशन नियुक्त किया जाय जिसमें भारतीयों की संख्या यथेष्ट हो। २. भारत के सेक्रेटरी ऑव् स्टेट की कौंसिल की इतिश्री कर दी जाय। ३. व्यवस्थापक सभा कुछ अन्य प्रान्तों में स्थापित की जाय। ४. सिविल दफ्तरों में नियुक्ति के लिए भारत और इंग्लैंड में एक ही साथ परीक्षाएँ ली जायँ और भारत के परीक्षार्थियों के अधिकार समान माने जायँ। ५. सैनिक खर्च न बढ़ाया जाय।

कलकत्ते की दूसरी बैठक में पिछले वर्ष के तीसरे प्रस्ताव की पुनरुक्ति की गई और व्यवस्थापक सभाओं के लिए प्रतिनिधि चुनने के सम्बन्ध में प्रार्थना की गई। इनके सिवा, एक में जूरी का न्याय सब प्रान्तों में बढ़ाने के लिए और दूसरे में कानून और न्याय-विभाग को अलग करने के लिए प्रार्थना की गई। एक प्रस्ताव ऐसा भी था कि जिसमें आपत्ति के समय सरकार की सेवा के लिए स्वयं-सेवक-दल की योजना थी।

तीसरे वर्ष मद्रास में व्यवस्थापक सभा और क़ानून और न्याय-सम्बन्धी प्रस्ताव फिर रखे गये। एक प्रस्ताव में महारानी विक्टोरिया के स्मरण दिलाते हुए प्रार्थना की गई कि सेना-विभाग में भारतीय भी ऊँचे पदों पर रखे जायँ। दूसरे प्रस्तावों में स्वयं-सेवक-दल की पुरानी योजना की पुनरुक्ति और आर्म्स-एक्ट को कुछ ढीला करने की प्रार्थना की गई।

इलाहाबाद की चौथी बैठक में व्यवस्थापक सभा, क़ानून और न्याय-सम्बन्धी प्रस्ताव तथा जूरी का पुराना प्रस्ताव दुहराया गया। ऐसे ही सैनिक-वृत्ति और आर्म्स-एक्ट के पुराने प्रस्ताव फिर से पास किये गये। इस वर्ष पुलिस-विभाग में भी सुधार के लिए प्रार्थना की गई।

पाँचवीं बैठक में व्यवस्थापक सभा के सुधार नये सिरे से और कई सूचनाओं के साथ फिर से रखा गया। एक प्रस्ताव में अत्यन्त खेद प्रकट किया गया कि इण्डियन सिविल सर्विस के लिए भारत में परीक्षा लेने की योजना स्वीकृत नहीं की गई। एक प्रस्ताव द्वारा यह प्रार्थना की गई कि ज़मीन का लगान सदा के लिए निश्चित कर दिया जाय।

कलकत्ते की छठवीं बैठक में प्रायः सभी पुराने प्रार्थनात्मक प्रस्ताव फिर से रखे गये। इस वर्ष एक घटना यह घटित हुई कि सरकार ने एक आज्ञापत्र द्वारा सब सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोक दिया; यहाँ तक कि लेफ्टिनेंट गवर्नर भी कांग्रेस में नहीं गये।

कांग्रेस की सातवीं बैठक नागपुर में हुई। बहुत से पुराने प्रस्ताव दुहराये गये। नमक का कर घटाने के लिए प्रार्थना की गई। न्याय-विभाग और पुलिस-विभाग में सुधार और

कला-कौशल के शिक्षा विस्तार के लिए प्रार्थना की गई।

कांग्रेस का उद्देश्य और कार्य-संचालन कई सालों तक यही रहा कि साल भर तक थोड़ा-बहुत कार्य भारत में और इंग्लैंड में किया जाता था और वर्ष में एक बार किसी स्थान में बैठ कर अनेकों प्रस्ताव, जिनमें से प्रायः सभी में सरकार से प्रार्थना की जाती थी, पास किये जाते थे। भारतीयों की आँखें उस समय खुलीं जब कि बंग-भंग किया गया और कांग्रेस ने बंग-भंग के दो साल बाद, सन १९१६ में, अपना ध्येय बदला और नई घोषणा की तथा फिर १० साल बाद सन् १९१६ में यह ध्येय फिर बदला गया और स्वराज्य का नया मसविदा तय्यार हुआ। इस बीच में, अर्थात् सन १९०६ के पूर्व, कांग्रेस ने अनेक प्रस्ताव पास किये, प्रार्थनाएँ कीं, वरदान माँगे; पर सफलता प्रायः कभी नहीं मिली।

सन १८९१ से सन् १९०३ तक जिन जिन बातों के लिए प्रार्थनाएँ की गईं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—पुलिस-विभाग में सुधार, जूरी की प्रथा का प्रचार, सैनिक खर्च में कमी, नमक के कर का घटाना, पंजाब और मध्यप्रदेश के लिए व्यवस्थापक सभा, न्याय और क़ानून-विभागों का अलग अलग रखना, इंग्लैंड और भारत में अलग अलग परीक्षा लेना, दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की दशा सुधारना, स्थिर लगान का प्रबन्ध, सेना-विभाग में भारतीयों को उच्च पद देना, उपनिवेशों में भारतीयों की दशा सुधारना, साम्राज्य की सेवा के लिए स्वयं-सेवक-मंडल का संगठन, स्थानीय स्वराज्य प्राप्त करना, आर्म्स-एक्ट की धाराओं को कुछ शिथिल करना, प्रेस एक्ट को निकाल देना, इत्यादि इत्यादि।

पाठकगण यह न समझें कि ये प्रस्ताव एक दो बार ही रख के छोड़ दिये गये हों। इनमें से ऐसा कदाचित् एक भी प्रस्ताव नहीं है जो दस पन्द्रह बार न रखा गया हो; पर फल कुछ भी नहीं हुआ।

सन् १९१६ में पुरानी सीढ़ी छोड़ उत्तरदायी-शासन-पद्धति का मसविदा पेश किया गया और यह आशा की गई कि कुछ निश्चित अवधि में उत्तरदायित्वपूर्ण स्वराज्य दे दिया जाय। उसे व्यतीत हुए चार वर्ष हो चुके। इन चार वर्षों के अनुभव से कांग्रेस के कर्णधारों ने भारत का भविष्य निश्चित कर लिया और नागपुर की गत कांग्रेस में उस पर मुहर लगा दी गई।

कांग्रेस की माँग लगातार अनेक छोटी छोटी और बड़ी आवश्यक बातों के सुधार के लिए रही है; किन्तु सरकार ने उसकी प्रार्थनाओं की सर्वथा उपेक्षा की है। कांग्रेस की कुछ माँग पूरी भी हुई; परन्तु वह कई वर्षों के बाद और सो भी पूरी पूरी नहीं। अब पाठकों के साम्हने कांग्रेस का पूर्व इतिहास और वर्तमान ध्येय है और निर्णय उन्हीं के हाथ में है, जैसा चाहें वैसा करें। हमारा तो विचार है कि अब देश को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए और भिक्षा-प्रणाली को छोड़कर स्वयं कुछ काम करना चाहिए। यही सोच कर कांग्रेस ने अब अपना ध्येय अधिक स्पष्ट बनाया है और उसकी प्राप्ति के लिए इस समय जिस मार्ग का अवलम्बन करना है वह हिंसा-रहित असहयोग का है जिसकी सफलता देश के प्रत्येक व्यक्ति के स्वार्थ-त्याग और आत्म-संयम पर निर्भर है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि इस आन्दोलन में सारा देश तो शामिल है, यदि मैं इससे अलग रहूँ, तो

इसकी सफलता में क्या अन्तर पड़ सकता है, तो इसका वही परिणाम हो सकता है जो उस कहानी में बताया गया है जिसमें प्रत्येक मनुष्य से कहा गया था कि वह दूसरे दिन, सूर्योदय के पहले, एक एक लोटा दूध अमुक हौज़ में छोड़े और अपनी बुद्धि का गर्व करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति ने यह सोच कर कि जहाँ इतने लोटे दूध डाला जायगा वहाँ मेरा एक लोटा पानी कैसे पहिचाना जा सकता है एक एक लोटा पानी डाला था जिसका फल यह देखा गया था कि हौज़ में प्रातःकाल केवल पानी ही पानी दीखता था । असहयोग के आन्दोलन की सफलता के लिए देश के प्रत्येक व्यक्ति की सहकारिता और त्याग आवश्यक है । तीस करोड़ जनों की असहकारिता कोई साधारण असहकारिता नहीं हो सकती । यदि प्रत्येक व्यक्ति सच्चे हृदय से असहयोग करे, तो एक वर्ष की कौन कहे एक मास में ही सरकार की प्रेस्टीज (शान) का पहाड़ धराशायी हो सकता है ।

कांग्रेस का काया-पलट ।

(लेखक—श्रीयुत सिद्धनाथ)

विख्यात अंग्रेज़ कवि टेनिसन ने कहा है:—संसार में पुरानी व्यवस्थाएँ बदल कर नई निर्माण होती जाती हैं । लोगों की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएं समय की गति के अनुसार बदलती रहती हैं; इसलिए पुरानी व्यवस्था और प्रबन्ध हर समय बदलने पड़ते हैं । संसार के जीवन का यह अनिवार्य्य नियम है ।

गत पाँच छः वर्षों में जातियों की स्वतंत्रता के विषय में संसार के लोगों के विचार बहुत बदल गये हैं । विचारों की इस लहर से हिन्दुस्थान भी नहीं बच सका । गत एक दो वर्षों की स्थानीय परिस्थितियों ने तो भारत के राजनैतिक विचारों में पूरी क्रान्ति पैदा करदी । ऐसे समय भारत की राजनैतिक आकांक्षाओं को प्रकट करने वाली राष्ट्रीय सभा के ध्येय और संगठन में परिवर्तन हो जाना अवश्यम्भावी था । गत दिसम्बर मास की नागपुर कांग्रेस, प्रतिनिधियों की संख्या, कार्य की महत्ता, विलायती प्रतिनिधियों के आगमन और असहयोगियों के दो पक्षों का पुनर्मिलन आदि कई बातों के कारण अद्वितीय हुई थी । कलकत्ते की विशेष कांग्रेस की नियत की हुई कमेटी के सदस्यों द्वारा बनाये हुए संगठन का बहुत कुछ भाग इस कांग्रेस में एक मत से स्वीकृत कर लिया गया । जैसा कि पहले सोचा गया था, ध्येय के परिवर्तन के प्रस्ताव पर तीव्र मतभेद उपस्थित हुआ था । परन्तु मत (वोट) लेने पर मालूम हुआ कि सारी जनता इस बात को स्वीकार करती है कि **"भारत की राष्ट्रीय सभा का उद्देश्य, भारत के लोगों द्वारा समस्त न्यायानुकूल और शान्तिपूर्ण मार्गों से स्वराज्य प्राप्त करना है।"**

नये संगठन के प्रस्तावित मसविदे में कांग्रेस के १५ प्रान्त बनाये गये थे; किन्तु नागपुर-कांग्रेस में कार्य की सुविधा के लिए कुल ब्रिटिश भारत के २१ प्रान्त बनाये गये, जिनके नाम नीचे लिखे जाते हैं :—

प्रान्त	केन्द्र-स्थान
१. मद्रास (तामील)	... मद्रास ।
२. आंध्र (तेलगू)	... ,,
३. करनाटक (कानड़ी)	.... गदग ।
४. केरल (मलयालम)	... कालिकट ।
५. बम्बई शहर	.... बम्बई ।
६. महाराष्ट्र (मराठी)	... पूना ।
७. गुजरात (गुजराती)	.... अहमदाबाद ।
८. सिंध (सिंधी)	... (अभी निश्चित नहीं)
९. युक्तप्रान्त (हिन्दी)	... इलाहाबाद ।
१०. पंजाब (पंजाबी)	.... लाहोर ।
११. सीमान्त प्रान्त	... पेशावर ।
१२. दिल्ली	.... दिल्ली ।
१३. अजमेर-मेरवाड़ा और ब्रिटिश राजपूताना	.... अजमेर ।
१४. मध्यप्रान्त (हिन्दी)	.... जबलपुर ।
१५. ,, (मराठी)	.... नागपुर ।
१६. बरार ,,	.... अमरावती ।
१७. बिहार (बिहारी)	.... पटना ।
१८. उत्कल	.... (अभी निश्चित नहीं)
१९. बंगाल और सुर्मावेली	.... कलकत्ता ।
२०. आसाम	.... गोहाटी ।
२१. ब्रह्मा	... रंगून ।

प्रस्तावित संगठन में एक लाख आबादी के लिए एक प्रतिनिधि रक्खा गया था, किन्तु कांग्रेस ने निश्चित किया है कि प्रति ५० हज़ार आबादी के लिए एक प्रतिनिधि लिया जाय। देशी रियासतों को भी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया है। प्रतिनिधियों के चुने जाने की जिम्मेदारी प्रान्तीय कमेटी पर रहेगी। कांग्रेस की आल इण्डिया कमेटी इस बात को तय करेगी कि किस प्रान्त के साथ किस देशी राज्य का सम्बन्ध रहे।

कांग्रेस के पास किये हुए नियमानुसार आगामी कांग्रेसों में प्रतिनिधियों की संख्या ६ हज़ार के लगभग रहेगी। यद्यपि यह संख्या नागपुर कांग्रेस के प्रतिनिधियों की आधी संख्या से भी कम है तथापि इतनी बड़ी सभा में भी कार्य करना कितना कठिन हो जाता है, यह बात कार्य-कर्त्ताओं से छिपी नहीं है। प्रातिनिधिकता का सिद्धान्त इस वर्ष मान लिया गया है, देश के लोगों की राजनैतिक शिक्षा की उन्नति के साथ साथ कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या में, सम्भव है, आगामी वर्षों में कुछ रद्दो-बदल और करना पड़ेगा।

रियासतों को संगठन में स्थान देने पर भी कांग्रेस ने एक पख यह लगा दी है कि वह रियासतों के अंतर्गत व्यवहार में हस्तक्षेप नहीं करेगी। देशी रियासतों के नाजुक मामलों में जब कांग्रेस हस्तक्षेप नहीं करना चाहती, तब उनका कांग्रेस में सम्मिलित किया जाना कोई अर्थ ही नहीं रखता। बीकानेर तथा अन्य देशी रजवाड़ों के भाषणों से ब्रिटिश भारत की प्रजा, इस बात को साफ़ तौर से समझ चुकी है कि सरकारी पहलू को देख कर काम करने वालों की शाब्दिक सहायता के बाद नौकरशाही की सहायता का मज़बूत क़िला देशी रियासतें हैं, जिनका स्वार्थ नौकरशाही के स्वार्थ से भिन्न नहीं है और जो अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए नौकरशाही की रक्षा करने के निमित्त, केवल शब्दों से ही नहीं, वरन् अमली कामों से, यहाँ तक गोली-बारूद से भी सहायता करने को

अग्रसर होंगी। इस मज़बूत क़िले की ओर कांग्रेस ने दृष्टि पात किया है; किन्तु एक कार्य-कारी संस्था की हैसियत से उसने इस क़िले को जड़ से हिला देने का कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया, यह खेद की बात है।

प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में वे ही लोग रहेंगे जिन्हें ज़िलों की कमेटियाँ चुन कर भेजेंगी। कांग्रेस की डिस्ट्रिक्ट तथा तालुका कमेटियों की मेम्बरी प्रत्येक २१ वर्ष के पुरुष या स्त्री के लिए खुली रहेगी; मेम्बर को प्रति वर्ष केवल ।) फीस देनी होगी। प्रतिनिधियों के चुनाव में स्त्रियों तथा अल्प-संख्यक लोगों के हितों का विशेष विचार रखा जायगा।

प्रस्तावित नियमों में अखिल-भारतीय-कांग्रेस कमेटी के सदस्यों की संख्या १०० रखी गई थी; किन्तु कांग्रेस ने स्वीकार किया है कि उक्त कमेटी में ३५० सदस्य रहें। किस प्रान्त से कितने सदस्य इसमें रखे जायँगे उनकी संख्या निम्नलिखितानुसार रहेगी।—

मद्रास २५, आंध्र २०, कर्नाटक १६, केरल ८, बम्बई शहर ७, महाराष्ट्र १६, गुज-रात १२, सिंध ८, युक्तप्रान्त ५२, पंजाब ३३, सीमान्तप्रान्त ३, दिल्ली ५, अजमेर और राजपूताना ७, मध्यप्रान्त (हिन्दी) १०, मध्य-प्रान्त (महाराष्ट्र) १०, बरार ६, बिहार ३६, उत्कल ७, बंगाल और सुरमा घाटी ५२, आसाम ५, और ब्रह्मदेश १२। इस कमेटी की सदस्य-संख्या का ध्यान रख कर कांग्रेस ने यह निर्णय किया है कि नौ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनाई जाय जो उक्त कमेटी के आज्ञानुसार वर्ष भर तक कांग्रेस का कार्य करेगी।

जो सज्जन कांग्रेस की किसी कमेटी के सदस्य नहीं हैं, वे प्रतिनिधि बन कर कांग्रेस में न आ सकेंगे। तालुका, ज़िला तथा प्रान्तीय कमेटियाँ अपने सदस्यों में से प्रतिनिधि चुनेंगी जिनकी छपी हुई फेहरिस्त प्रत्येक वर्ष की तारीख १५ दिसम्बर के पूर्व, उस वर्ष की कांग्रेस-स्वागत-समिति के पास पहुँच जाया करेगी। उक्त फेहरिस्त में जिन सज्जनों के नाम होंगे उन्हें 'डेलीगेटों' के टिकट मिलेंगे, अन्यों को नहीं। चुनाई के सिद्धान्त पर प्रति-निधियों के भेजे जाने से कांग्रेस-प्रतिनिधित्व सम्मान की दृष्टि से देखा जायगा और स्वयं प्रतिनिधि-गण भी अपनी ज़िम्मेदारी का पूरा अनुभव करने लगेंगे।

प्रान्तीय कमेटियाँ ज़िलों और तहसीलों से चुने हुए सदस्यों की बनेंगी और प्रान्तीय कमेटियों द्वारा ऑलइण्डिया कांग्रेस कमेटी के सदस्यों की चुनाई होगी। यह नियम करने से कांग्रेस में छोटे से गाँव से लगा कर बड़े शहरों तक सबको प्रतिनिधित्व का पूरा अवसर प्राप्त होगा। प्रान्तीय कमेटियाँ प्रत्येक वर्ष के नवम्बर मास के अन्त तक ऑलइण्डिया कांग्रेस कमेटी के सदस्यों को चुनेंगी, और इस तरह चुने गये सदस्यों से ही कांग्रेस की विषय निर्वाचनी समिति बनेगी। जिन लोगों ने नागपुर की कांग्रेस में यह देखा है कि कांग्रेस के समय प्रत्येक प्रान्त की अलग अलग बैठक करा कर विषय-निर्वाचनी समिति के लिए सदस्यों का चुना जाना कितनी अड़चन और असुविधा पैदा करता है वे लोग

इस नियम की उपयोगिता को अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

इन नियमों के कारण, कांग्रेस में नये जीवन का संचार होगा । छोटे छोटे गाँव जो राष्ट्र की बुनियाद हैं, अब तक राष्ट्रीय विचारों के प्रवाह से प्लावित नहीं हो सकते थे । नदी के प्रवाह-मार्ग में होने पर भी बाढ़ के समय को छोड़ कर किसी दूसरे समय, इन कंदराओं में पड़े हुए गाँवों को जीवन नहीं मिल सकता था । अब वह बात न रहेगी । जहाँ ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी देश के सर्वोच्च मस्तिष्क का काम करेगी, वहाँ ग्राम और तहसील कमेटियाँ उस मस्तिष्क की रक्षा करेंगी । राष्ट्र-पुरुष का यह संगठित स्वरूप ३५ वर्ष की तपस्या के पश्चात बना है । एक उदयोन्मुख राष्ट्र की तरह भारत की उठती हुई जवानी, कृतकार्य को संतोष की दृष्टि से देखने वाला बुढ़ापा, और राष्ट्र की मंगलकामना करने वाली अन्य अनंत आत्माएँ, इस राष्ट्र-पुरुष के चरणों में, अपने भेदभाव भूल कर एक मत से देशसेवा के प्रसून अर्पण करने को आगे आये । संगठन में बल होता है । संयम उस बल की वृद्धि करता है । संगठन और संयम के कारण महात्मा गांधी जी के कथनानुसार, अल्प समय में स्वराज्य प्राप्त होना कठिन बात नहीं है ।

विविध विषय ।

(१) हमें स्वराज्य क्यों न दिया जाय ?

अंग्रेज़ विद्यार्थियों को शाला में ही यह सिखला दिया जाता है कि हिन्दुस्थान उनकी निजी सम्पत्ति है, उसपर उनका पूरा पूरा अधिकार है, वहाँ के निवासी अयोग्य हैं और आपस में खूब लड़ा करते हैं, उस पर हमेशा इस प्रकार राज्य किया जाय जिसमें वह हाथ से न निकलने पावे । इंग्लैण्ड की शालाओं में कुछ पाठ्य-ग्रन्थ इसी विशेष दृष्टि से निर्म्माण कराये जाते हैं जिसमें अंग्रेज़ विद्यार्थी हिन्दुस्थानियों को नीची दृष्टि से देखें । जे. सेंट. लुई स्ट्रेची ने अपनी 'दि सिटी-ज़न एण्ड दि स्टेट' नामक पुस्तक में जो इंग्लैण्ड में एक 'हितोपयोगी' पाठ्य ग्रंथ है यह दिख-लाया है कि हिन्दुस्थानियों को स्वराज्य दिया ही नहीं जा सकता । आपने कुछ कारण बतलाते हुए लिखा है कि "यदि हिंदुस्थान को स्वराज्य दे दिया जाय तो उसका यह फल होगा कि भिन्न भिन्न जातियों में प्रभुत्व के लिए मारकाट मच जावेगी । ·······फिर यदि देशी राज्यों के द्वारा वहाँ का राज्य चलाया जाय सो भी ठीक नहीं; क्योंकि उसका परिणाम बड़ा हानिकारक होगा । यदि तुम (अंग्रेज़ी बालक) अपना ध्येय (हिन्दु-स्थान को अपनी चुंगल से कभी न छोड़ना) बनाये रखना चाहते हो तो उस पर अच्छा शासन करो; क्योंकि देशी राज्य अंग्रेज़ों के समान उत्तम शासन नहीं कर सकते । और, वे क्यों नहीं कर सकते इसका कारण यही है कि

हिन्दुस्थान एकजातीय देश नहीं है—उसमें भिन्न २ जातियों और धर्मों के लोग बसते हैं।"

पाठको, देखा आपने, कैसी अच्छी दलील है और कैसी 'हितोपयोगी' शिक्षा है। आगे चल कर एक स्थल पर शिक्षित बंगालियों के विषय में लिखा है जिसका सारांश यह है कि हाँ, बंगाली लोग शासन करना कुछ जानते हैं। यदि हिन्दुस्थान का शासन देशी लोगों के द्वारा चलाया जाय तो उसका यह अर्थ होगा कि सब कहीं बंगाली बाबुओं को ही नियुक्त करना होगा; पर ये लोग बंगाल प्रान्त को छोड़ कर दूसरे प्रान्तों के लिए ठीक वैसे ही विदेशी हैं जैसे कि अंग्रेज लोग। दूसरे, बंगाल को छोड़ कर दूसरे प्रान्त वाले इन बंगाली-बाबुओं को नीची नजर से देखते हैं। वे न तो दूसरे प्रान्त की भाषा ही जानते और न वहाँ वालों से सहानुभूति ही प्रकट कर सकते हैं। इसलिए अंग्रेजों के बदले इनको रखना ठीक नहीं। अच्छा यही होगा कि उस बड़े भारी देश का शासन हमें (अंग्रेजों को) ही चलाना चाहिए।

कैसे दिव्य विचार हैं! इन्हीं भावों से भरे नये रंगरूट यहाँ आकर शान दिखाते हैं और भारत-वासियों को बढ़ने का मौका नहीं देते। वे भी क्यों? उस उच्च ध्येय से फिसल न पड़ेंगे? स्ट्रेची महाशय एक जगह प्रश्नोत्तर करते हुए उदारता दिखाते हैं—

"तो फिर हिन्दुस्थान को स्वराज्य कब दे सकेंगे? इसका उत्तर यही है कि जब वहाँ के निवासी उसके योग्य हो जावेंगे, तब। और, वह अवसर कब आवेगा? जब हिन्दुस्थान एक जातीय देश हो जावेगा और इसके लिए सौ सालों से (बस, इतना ही?) कुछ ज्यादा लगेगा। इसलिए जल्दी करने की जरूरत नहीं, आराम से धीरे धीरे अच्छा शासन करते जाओ और यह बात सदैव ध्यान में रखो कि हमें जहाँ तक हो सके उत्तम और अत्यन्त न्याययुक्त शासन करना चाहिए।"

'उत्तम और अत्यन्त न्याययुक्त' शब्दों के अर्थ समझाने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जलयानवाला बाग सरीखा 'उत्तम और न्याय-युक्त' दृष्टान्त दुनिया के पर्दे में कहीं न मिलेगा। क्या सहकारिता के अन्ध पक्षपाती अब भी आँखे बन्द किये रहेंगे?

(२) नागपुर में कांग्रेस की बैठक।

कांग्रेस की जिस महत्वपूर्ण बैठक की ओर देश के करोड़ों उत्सुक नेत्र टकटकी लगाये बैठे थे वह सानन्द और सफलतापूर्वक हो गई। जिन्हें सम्मति देने का अधिकार है वे कहते हैं कि कांग्रेस की यह बैठक अपने ढंग की प्रथम होकर भी अंतिम थी और अंतिम होनी चाहिए। इसमें सम्मिलित होनेवाले डेलिगेटों की संख्या १६ हजार से भी ऊपर पहुँच गई थी। इतनी संख्या न पहले कभी हुई थी और न अब, वर्तमान संगठन के अनुसार, कभी आगे हो सकेगी। इस बैठक के सामने कांग्रेस के ध्येय-परिवर्तन की बड़ी भारी समस्या थी। इससे भी बड़ी समस्या असहकारिता के कार्यक्रम की थी। ये दोनों समस्याएँ जिस उत्तमता और सहकारिता के साथ सुलझाई गई उसके लिए यदि देश अभिमान करे, तो वह कदापि अनुचित नहीं हो सकता।



नागपुर की गत कांग्रेस के सभापति।



राष्ट्रीय महासभा की स्वागत-समिति के अध्यक्ष

श्रीयुक्त सेठ जमनालाल जी बजाज।

कांग्रेस इस समय जिस मार्ग का अवलम्बन कर रही है वह स्वात्मावलंबन और स्वार्थ-त्याग का है। उसने भिक्षावृत्ति की निस्सारता देख ली है और यह भलीभाँति समझ लिया है कि दूसरों से कुछ पाने का पात्र बनने का लिए पहले स्वयं कुछ त्याग करना चाहिए। असहकारिता का आन्दोलन इसी त्याग की शिक्षा देता है। स्वराज्य प्राप्त करने का अब एक यही उपाय रह गया है और समस्त देश को इसीका अवलंबन करना पड़ेगा। इसकी असफलता में देश का सर्वनाश है और इसलिए प्रत्येक देशहितैषी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यक्तिगत मत-भेदों को छोड़कर देश की प्रतिनिधि-स्वरूप, कांग्रेस, की आज्ञा शिरोधार्य करे।

(३) स्वागत-कारिणी समिति के अध्यक्ष का भाषण।

कांग्रेस के प्रतिनिधियों का स्वागत करने का भार इस बार जिन सज्जन पर डाला गया था वे इस प्रान्त के प्रसिद्ध देशभक्त तथा असहयोग के सच्चे अनुयायी वर्धा-निवासी श्रीयुत सेठ जमनालालजी बजाज हैं। सेठजी कई सार्वजनिक संस्थाओं के जीवन-प्राण हैं। देश-हित के प्रत्येक कार्य में आपकी मुट्ठी सदैव खुली रहती है। आप लाखों का दान कर चुके हैं और अभी करते जा रहे हैं। असहयोग के कार्य का प्रचार करने के लिए आपने एक लाख रुपये हाल में दान किये हैं। असहयोग के मार्ग का अनुसरण करते हुए आप अपनी रायबहादुरी और आनरेरी मजिस्ट्रेटी छोड़ चुके हैं। ऐसे देशभक्त सज्जन का स्वागत-कारिणी समिति का अध्यक्ष होना निःसन्देह बहुत उचित हुआ है। आपका भाषण छोटा, परन्तु सरल और मार्मिक, है। देश की आधुनिक स्थिति का मर्म आप समझ सके हैं जिसका परिचय आपके भाषण में कई स्थानों पर मिलता है।

कांग्रेस के सन्मुख जो महत्त्वपूर्ण कार्य था उसका उल्लेख करते हुए आपने कहा—

"सन् १८८५, अर्थात् कांग्रेस के जन्मदिन से लेकर इस समय तक मुझे दो ही कांग्रेस विशेष महत्व की दिखाई देती हैं। एक १९०६ की कलकत्ता-कांग्रेस जिसमें शासन के छोटे मोटे निरर्थक सुधारों से हट कर कांग्रेस ने पहली बार स्वराज्य को अपना लक्ष्य निर्धारित किया और उस तक पहुँचने के लिए पुरानी भिक्षा-प्रणाली को नाकाफी समझ स्वावलम्बन के पथ पर पदार्पण करना चाहा। दूसरी गत सितंबर मास की विशेष कांग्रेस जिसमें पिछले १२ वर्ष की शिथिलता से बाहर निकल कर कांग्रेस ने असहयोग के प्रस्ताव द्वारा फिर से अपने लक्ष्य को स्पष्ट किया और उसकी प्राप्ति के लिए एक क्रियात्मक संग्राम के श्रीगणेश का देश को आदेश दिया। कलकत्ते के असाधारण अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसके तीन मास के आशाजनक अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब फिर उस प्रस्ताव का विशेष बल के साथ पुनः अनुमोदन उचित और आवश्यक है। विशेष कांग्रेस ने अपना जो लक्ष्य केवल प्रस्ताव द्वारा निर्णीत किया है उसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कांग्रेस की व्यवस्था के अन्दर स्थान दिया जाना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त नये राष्ट्रीय कार्यक्रम की सफलता के लिए कांग्रेस की व्यवस्था में समयोचित परिवर्तनों का होना भी अनिवार्य है। ये

सब महत्व-पूर्ण कार्य इस समय आप लोगों के सम्मुख हैं।"

देश की इस समय जो स्थिति हो गई है उसका कारण यह बताया गया है कि—

"महायुद्ध ने भारत के राजनैतिक शरीर में एक नई जान डाली। अनेक तरह से और अनेक अर्थों में अनेक देशभक्त भारतवासियों ने इंग्लैंड की उस आपत्ति को अपने लिए एक अवसर समझा। इंग्लैंड तथा उसके साथियों ने अपनी उस आपत्ति में सहायता प्राप्त करने के लिए उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन, आत्मनिर्णय और छोटे निर्बल राष्ट्रों की स्वतंत्रता के प्रलोभन भारत तथा अन्य पीड़ित राष्ट्रों के सम्मुख रखे। भारत के साथ साम्राज्य के अन्दर तुल्याधिकार और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन का स्पष्ट वादा किया गया। एक नए राष्ट्र-संघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना की घोषणा की गई जिसमें भारत को भी बराबर का स्थान दिया गया और जो भविष्य के लिए छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता की विशेष संरक्षक बनने वाली थी। टर्की के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने तथा युद्ध के समय में मुसलमानों के चित्तों को बहलाये रखने के लिए उनसे स्पष्ट प्रतिज्ञा की गई कि युद्ध में इंग्लैंड की विजय होने पर तुर्की साम्राज्य को कोई हानि न पहुँचाई जावेगी।"

यह प्रतिज्ञा किस प्रकार निभाई गई इसे सब लोग बहुत अच्छी तरह जानते हैं। परंतु यह सब अच्छे के ही लिए हुआ। ऐसा होने से ब्रिटिश साम्राज्य और ब्रिटिश शासकों की ओर से हमारे डेढ़ सौ वर्षों के भ्रम सदा के लिए दूर हो गये। "मोह और अज्ञान का पर्दा भारतसन्तान की आँखों पर से हट गया और उन्हें स्पष्ट दिखाई दे गया कि इस विस्तृत साम्राज्य के अन्दर उनकी वास्तविक स्थिति क्या है और क्या हो सकती है।" इस स्थिति को सुधारने के लिए असहयोग का ही एकमात्र उपाय रह गया है और देश ने उसका ही अवलम्बन किया है।

आगे चलकर सेठजी ने उन आक्षेपों का जो असहयोग के प्रति किये जाते हैं समाधान करने का प्रयत्न किया है। असहयोग के प्रति बड़ा भारी आक्षेप यह किया जाता है कि असहयोग से नाशात्मक काम हो रहा है, रचनात्मक नहीं। इसके समाधान में सेठजी कहते हैं "हमारा मुख्य काम इस समय नाश करना है, रचना करना नहीं।" हमारी समझ में तो उक्त आक्षेप करने वाले असहयोग के कार्यक्रम को समझ नहीं सके हैं। उस कार्यक्रम में एक ओर जहाँ नाशात्मक कार्य बतलाया गया है वहाँ दूसरी ओर रचनात्मक कार्य भी है। राष्ट्रीय शालाओं तथा पंचायती अदालतों का स्थापित करना रचनात्मक कार्य नहीं, तो और क्या है। प्रश्न तो केवल यही हो सकता है कि नाशात्मक कार्य हो चुकने के पश्चात् रचनात्मक कार्य होना चाहिए या साथ साथ। इसकी चर्चा "श्रीशारदा" के पिछले अंकों में की जा चुकी है; अतः यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

अन्य आक्षेपों का कुछ समाधान करके सेठ जी ने अंत में यह बहुत ही ठीक कहा है कि "मुझे इनमें से अनेक में अर्जुन का सा मोह, उसकी झिझक और उसका कार्पण्य दोष ही

दिखाई देता है।" इसी दोष को दूर करने के लिए महात्मा गांधी के सदृश कर्मवीर सारथी अर्जुन-रूपी जनता को मिले हैं। अज्ञान का आवरण दूर हो रहा है और जनता अधिकाधिक संख्या में इस हिंसा-रहित संग्राम में प्रवृत्त हो रही है।

देश के व्यापारियों को सम्बोधन करते हुए आपने कहा है—"यदि ब्रिटिश राज्य के नीचे अभी तक उन्होंने (व्यापारियों ने) धन एकत्रित किया है तो वह देश को सुखी करके नहीं, बरन उसे अधिकाधिक निर्धन और दरिद्र बनाकर। विदेशीय व्यापार अथवा सट्टे द्वारा अपनी लाखों और करोड़ों की आमदनी पर गर्व करते समय उन्हें याद कर लेना चाहिए कि देश की बढ़ती हुई दरिद्रता के परिणाम-रूप इस समय कम से कम तीन करोड़ मर्द, औरत और बच्चे इस देश में ऐसे हैं जिन्हें २४ घंटे में एक समय पेट भर अन्न मिलना ग़नीमत है।" पर, दशा इससे भी गई-बीती है। ३ करोड़ लोगों की कौन कहे, हमारे पाँच करोड़ भाई एड़ी-चोटी का पसीना एक करके भी उतना भोजन नहीं पाते हैं जितना जेलखानों में अपने अपराधों की सज़ा भोगने वाले क़ैदियों को प्राप्त होता है। इसके लिए सरकार तो दोषी है ही, पर देश के व्यापारी भी इस दोष से बच नहीं सकते; अतः सेठजी ने व्यापारी भाइयों को जो विशेष रूप से सम्बोधित किया है सो बहुत ही ठीक हुआ है। यदि अभी तक व्यापारियों के सामने केवल सेठजी की अपील थी, तो अब उनके सामने कांग्रेस की आज्ञा है कि वे विदेशी व्यापार को एकदम बंद कर दें। इसके सिवा देश के प्रत्येक व्यक्ति को देश के लिए स्वार्थ त्याग करना पड़ेगा।

"सच यह है कि इस महान यज्ञ में महान आहुति की आवश्यकता है। बिना स्वार्थ-त्याग और कुर्बानी के कोई राष्ट्रीय चेष्टा सफल नहीं हो सकती; और एक इतनी बड़ी चेष्टा को सफल करने के लिए, इस प्राचीन देश को दासता और अपमान के बंधनों से मुक्त कराने के लिए, हममें से किसी व्यक्ति को किसी कुर्बानी से भी पीछे नहीं हटना चाहिए। आवश्यकता केवल हमारे हृदयों में सत्यता, श्रद्धा और प्रेम के बल की है।"

(४) कांग्रेस के सभापति श्रीयुक्त सी. विजयराघवाचार्य का भाषण।

आपका भाषण अपने ढंग का हुआ है। उसमें आपकी विद्वत्ता भलीभाँति झलकती है। कहीं कहीं तो वह ऐसी झलकती है मानो यह भाषण किसी उच्च परीक्षा के लिए निबन्ध लिखा गया है। भाषण में मौलिकता है; पर सबसे बड़ी बात है निर्भीकता जिसकी उतनी अधिक मात्रा अन्य लोगों में नहीं पाई जाती है। आप असहयोग के समस्त कार्यक्रम के पक्ष में नहीं हैं। देश में ऐसे लोग जिनके विचार ऐसे ही हों कई हो सकते हैं। परन्तु मि० आचार्य में अपने विचारों को प्रकट करने की निर्भीकता है।

आप माननीय सम्राट् के पास यह संदेश भेजना चाहते हैं कि "भारत के शासकों ने भारत की प्रजा को असह्य अवस्था में डाल दिया है और उस (प्रजा) ने अब अपनी सुन्दर मातृभूमि को उसके पुत्र तथा पुत्रियों के लिए रहने योग्य तथा सुरक्षित बनाने का निश्चय किया है। यदि उसके इस उद्देश की पूर्ति में अब देरी हुई, तो उसको जोखिम है और संसार की

शांति को नहीं, तो ब्रिटिश साम्राज्य को तो अवश्य जोखिम है।"

आगे चलकर आप कहते हैं—

"हम पहिले सुलहनामा करके स्वाधीनता-पूर्वक अपनी इच्छा तथा सम्मति से ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित हुए हैं। हमारी यह राष्ट्रीय संस्था (कांग्रेस) वर्षों से समय के गर्भ में थी। हमारे देश की राजनैतिक जाग्रति हुई और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य राष्ट्रों के समान हम भी अंग्रेज़ी राज्य-प्रणाली के लाभों को प्राप्त कर सकें, इसलिए उस सुलहनामे के दूसरे पक्ष से ईमानदारी के साथ उन शर्तों का पालन कराने के लिए अब से ३५ वर्ष पहिले इसका जन्म हुआ। हमें विश्वास हो गया है कि पहिले नहीं तो अब समय आ गया है जब कि ब्रिटिश भारत में उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन-प्रणाली तुरन्त ही स्थापित की जाय और इसके लिए इंग्लैंड तथा स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों की राज्य-प्रणाली तथा जनता के अधिकारों की घोषणा करने वाला लिखित वचन दिया जाय। यहाँ पर हम उस पहले सुलहनामे के पक्ष से यह कहने के लिए एकत्र हुए हैं कि वह सुलहनामे की शर्तों के अनुसार काम करे, और उसके मुख्त्यार (नौकरशाही) उन शर्तों को न तोड़ सकें इसके लिए हमें क़ानून तथा संगठन का अधिकार दिया जाय।"

हमें पता नहीं, यह कौनसा सुलहनामा है। इसमें सन्देह नहीं, भारतवासियों ने ही अंग्रेज़ों को सहायता दे देकर भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करवाई। यदि वर्तमान सरकार और प्रजा के बीच में यह कोई सुलहनामा है, तो प्रश्न यह होता है कि किसमें वह शक्ति है जो सरकार को बाध्य करे कि वह सुलहनामा को पूरा करे। महारानी विक्टोरिया तथा वर्तमान सम्राट् की घोषणाओं का अर्थ राजनैतिक घोषणाओं से अधिक नहीं लेना चाहिए। ख़िलाफ़त के संबंध के स्पष्ट समझौते को पूरा करने के लिए जब सरकार बाध्य नहीं की जा सकती, तब पुराने ऐतिहासिक समझौते की बात निकालना और यह आशा करना कि सरकार उसे मानेगी निरर्थक है।

इसके पश्चात् आपने लिखित राज्य-व्यवस्था की उपयोगिता बताई है। मनुष्य के राजनैतिक अधिकारों की जैसी विशद व्याख्या फ्रांस ने की है वैसी अन्य किसी सभ्य देश ने नहीं की है।

"इन सब अधिकारों में जो एक प्रधान ईश्वरीय सिद्धान्त है वह यही है कि मनुष्य अपने जीवन का स्वामी नहीं वरन ट्रस्टी है। इसलिए मानवी जीवन की सार्थकता जिन जिन प्रधान बातों में है उन सबके लिए वह समाज तथा ईश्वर के सन्मुख उत्तर-दायी है। इस पर से यह सिद्धान्त सहज ही समझ में आ सकता है कि व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, बोलने एवं विचार करने की स्वाधीनता तथा अन्य अधिकार जिनके बिना सर्वांग, स्वतंत्र एवं स्वस्थ जीवन का अस्तित्व ही असम्भव है ऐसे नहीं हैं जो दूसरों को दिये जा सकें या असावधानी या अनुपयोग से गँवाये जा सकें।"

भिन्न भिन्न राज्य-प्रणालियों का वर्णन करते हुए मि० आचार्य ने उत्तर-दायित्व-पूर्ण राज्यप्रणाली को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है और भारतवर्ष में वही राज्य-प्रणाली स्थापित होनी चाहिए। 'स्वराज्य' शब्द यद्यपि हम लोगों को बहुत प्रिय है, तथापि

उससे वह भाव नहीं निकलता जो उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन से निकलता है । अतः जब हम कहते हैं कि हम स्वराज्य चाहते हैं, तब उसका अर्थ "उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन" का ही लेना चाहिए। उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन में दुहरी ज़िम्मेदारी रहती है—एक तो, कार्यकारिणी समिति की ज़िम्मेदारी क़ानून-समिति के प्रति, और दूसरे, उसकी ज़िम्मेदारी अपने में से प्रत्येक व्यक्ति के लिए। इस शासन की विशेषताएँ "श्रीशारदा" के प्रथम अंक में भलीभाँति प्रकट की जा चुकी हैं।

यह शासन इन तीन मार्गों से प्राप्त हो सकता है:—(१) पार्लीमेंट के क़ानून से, (२) सम्राट् के आज्ञापत्र तथा भारत-मंत्री के आदेश से, तथा (३) भारतीय व्यवस्थापक सभाओं में क़ानून बनाने से। इनमें पहला और तीसरा उपाय साध्य नहीं है। इस दशा में केवल दूसरा उपाय ही रह गया है। यह उपाय बहुत स्पष्टता से समझाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि सम्राट् को अधिकार है कि वे अपनी ज़िम्मेदारी पर किसी प्रातिनिधिक शासन को उत्तरदायी शासन में परिवर्तित कर दें। इसमें न कोई वर्तमान क़ानून ही बाधा डालता है और न परम्परा या प्रथा ही। परन्तु, प्रश्न तो यह है कि क्या सम्राट् महोदय ऐसा करना चाहेंगे। कांग्रेस आज ३५ वर्षों से चिल्लाती आ रही है कि भाई, हम भी मनुष्य हैं—हमारे साथ अधिक नहीं तो मनुष्यवत् व्यवहार करो, हमें मनुष्यों के अधिकार दो। पर, इस पुकार का क्या फल हुआ है? यदि कोई फल हुआ है, तो वह आशा के प्रतिकूल और असन्तोषदायक।

आपने बहुत उचित विरोध किया है कि सन् १९१९ ई० के गवर्नमेंट आव् इंडिया एक्ट में कई ऐसी बातें हैं जिनसे सम्राट् के अधिकार में बाधा पहुँचती है। उक्त एक्ट में कहा गया है कि पार्लीमेंट की यह स्पष्ट इच्छा है कि ब्रिटिश भारतवर्ष को उत्तरदायी शासन किया जावे; परंतु यह कितने समय में और कितना कितना दिया जावे इसका निर्णय पार्लीमेंट ही करेगी।

"पार्लीमेंट ब्रिटिश भारतवर्ष और उसके निवासियों पर अपना अपरिमित अधिकार रखने का जो यह दावा करती है वह अत्यंत विचित्र है। हम जानना चाहते हैं कि यह अधिकार उसे कहाँ से प्राप्त हुआ है। स्मरण रहे कि हाउस ऑव् कामन्स और हाउस ऑव् लार्ड्स के निर्वाचन में हमारा कोई हाथ नहीं रहा है और न ये लोग ऐसे ही हैं जो यह दावा कर सकें कि हम भारतवर्ष की सम्मति से परंपरा से होते चले आ रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पार्लीमेंट की कोई हुकूमत हम पर नहीं चल सकती। हमारी बात जाने दीजिए, पार्लीमेंट जिन यूनाइटेड किंगडम के लोगों से बनी है क्या उनपर अपना यह अधिकार चला सकती है? यदि कभी उसने ऐसा किया होता, तो वह तभी नामशेष हो चुकी होती। तब प्रश्न यह है कि वह भारतवर्ष पर और उसके विरुद्ध यह दावा किस अधिकार से करती है? यदि आप इस अधिकार की जड़ खोजने का प्रयत्न करेंगे, तो आपका प्रयत्न विफल होगा। यह दावा ठीक वैसा ही है मानों हमपर मनमाना राज्य करने का पार्लीमेंट को ईश्वर-दत्त कोई अधिकार हो। यह उसकी निरी धृष्टता है।"

वास्तव में पार्लीमेंट की इस अनधिकार चेष्टा का विरोध खुले हृदय से किया जाना चाहिए।

आगे चल कर मि. आचार्य ने देश की वर्तमान स्थिति के कारण बताये हैं और वे सब यथार्थ हैं। हम समझते हैं, इन कारणों में आर्थिक कारणों को, अर्थात् सरकार की अर्थ-नीति को जो हमारे वाणिज्य-व्यवसाय के लिए सर्वथा घातक हो रही है, और जोड़ देना चाहिए। सभापति महोदय विदेशों में हमारे भाइयों की क्या दशा हो रही है इसे नहीं भूले हैं और उन्होंने बहुत ठीक कहा है कि—

"सभी दृष्टियों से यह आवश्यक है कि हमारे जो देश-बन्धु अंग्रेज़ी उपनिवेशों में हैं वे जितने शीघ्र हो सके और जितनी अधिक संख्या में आ सकें भारतवर्ष में वापिस लाये जावें। ऐसा करने से उन्हें जो लाभ होगा सो तो होगा ही पर भारतीय राष्ट्र का जो निर्म्माण हो रहा है उसमें वे सहकारिता कर सकेंगे।"

वर्तमान स्थिति को सुधारने के उपाय का वर्णन करते हुए आपने असहकारिता को एकमात्र उपाय माना है और वाइसराय ने जो इस आन्दोलन को अवैध कहा है उसका विरोध करते हुए आप कहते हैं—

"वाइसराय ने असहयोग की नीति को देश के क़ानून के विरुद्ध बतलाया है; क्योंकि असहयोग वर्तमान राज्य-प्रणाली का मूलोच्छेदन करना चाहता है। आपकी इस घोषणा से हमें बड़ा आश्चर्य होता है। आपही के कारण अंग्रेज़ों का इतिहास कलंकित हुआ है। आपही बतावें कि हमारा संगठन क्या है और वह हमें किस स्थान से प्राप्त हो सकता है। यदि क्षण भर के लिए, यह कहा जावे कि इंग्लैंड का संगठन भारतवर्ष को भी लागू है, तो वे यह बतावें कि असहयोग का कौन सा अंश आपको सह्न नहीं होता। इसके विपरीत, मैं यह कहता हूँ कि ब्रिटिश सरकार ही असहयोग की नींव पर स्थित है। विजेता विजितों के साथ असहयोग करते हैं, यूरोप वाले एशिया वालों के साथ करते तथा गोरे लोग कालों के साथ करते हैं। इसके अतिरिक्त, इसी असहयोग के सिद्धान्त पर इस देश के भेद-भाव-पूर्ण अनेक क़ानून बनाये गये हैं। अतएव असहयोग आन्दोलन को संगठन के विरुद्ध बतलाना केवल ढकोसला मात्र है। हमारे असहयोग का तो प्रधान उद्देश त्याग तथा अहिंसा का है। दूसरी ओर, नौकरशाही का असहयोग उद्दण्डता, स्वार्थपरता और नीचता से भरा हुआ है। इसलिए हम उचित दावे के साथ यह कह सकते हैं कि महात्मा गांधी जी के असहयोग का सिद्धान्त पवित्र और हमारे वैध अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा के लिए है, अधिकारों को बल-पूर्वक तोड़ने के लिए नहीं। हम सरकार की कृपा या क्रोध की परवाह न करते हुए अपने राष्ट्र को जीवित बनाये रखने के लिए असहकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं।"

इससे स्पष्ट है कि सभापति महोदय असहकारिता की नीति को सर्वथा वैध समझते हैं। उसके ब्यौरे की बातों में से कई के साथ आपका मतभेद है। उपाधि-त्याग को आप विशेष महत्त्व की बात नहीं समझते हैं। कौन्सिलों के बहिष्कार से भी आप उदासीन हैं। इसके अतिरिक्त, कौंसिलों का प्रश्न अब कुछ वर्षों के लिए हल सा हो गया है। स्कूल त्यागने के भी पक्ष में आप नहीं हैं—विशेषकर इसलिए कि स्कूल छोड़ने से सरकार का

लगभग ८ करोड़ प्रतिवर्ष का व्यय बच जायगा जिसे वह और कामों में खर्च करेगी और शिक्षा का यह व्यय तथा शालाभवन आदि बनवाने का व्यय जनता को उठाना पड़ेगा, जो भारतवर्ष की दरिद्र जनता के लिए बहुत कठिन है। यह सभापति जी का विचार है। परन्तु, हमारी क्षुद्र बुद्धि में तो यह आता है कि असहयोग का अर्थ असहयोग ही है। असहयोग का अभिप्राय यह नहीं है कि सरकारी स्कूल छुड़ाकर लड़कों को शिक्षा दी ही जाय। असहयोग का भाव गवर्नमेंट को रास्ते पर लाना है और उसके लिए हमारे विद्यार्थी थोड़े समय तक भले ही बिना शिक्षा पाये रह जायँ; परन्तु वे किसी सरकारी या सरकारी सहायता पाने वाले स्कूल से सम्बन्ध न रखें। जब असहयोग का यह भाव है, तब देश की दरिद्र स्थिति तथा भारी व्यय की बात पहेली सी मालूम होती है। सरकारी अदालतों के बहिष्कार के पक्ष में भी आप नहीं हैं। आपकी सम्मति है कि देशोद्धार के लिए राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है और वही किया जाना चाहिए। इसके लिए—

"सब से पहले हमें जनता की शिक्षा की ओर अग्रसर होना चाहिए, और इस शिक्षा का प्रचार जितना अधिक हो सके उतना अधिक करना चाहिए। कांग्रेस को चाहिए कि वह तुरंत ही एक स्पेशल कमिटी नियत कर दे और उस कमिटी को यह अधिकार दे दिया जाय कि वह केवल इसी कार्य के लिए अन्य छोटी छोटी कमिटियाँ बनावे। ये कमिटियाँ धन एकत्र करें। और जगह जगह श्रम-जीवियों के लिए दिवस और रात्रि-पाठशालाएँ खोली जायँ जिनमें देशी भाषाओं की शिक्षा दी जाय। इसके पश्चात् उपनिवेशों से प्रवासी भारतीयों को तुरंत लौटाने का प्रयत्न किया जाय। देश को अपनी दशा सुधारने के लिए इस समय अपनी सब सन्तानों की आवश्यकता है। मज़दूर-संघों को स्थापित करने एवं उन्हें बढ़ाने तथा अछूत जातियों का उद्धार करने की भी आवश्यकता है। देश अभी तक उन लोगों के प्रति जिनका व्यवसाय चोरी, डकैती आदि करना है उदासीन रहा है। इन लोगों पर बड़े अत्याचार होते आ रहे हैं। इन सब कार्यों के लिए कमिटियाँ बनाई जावें। मैं समझता हूँ, समाज-सुधारक इन कार्यों में सह-कारिता करेंगे।"

ऐसा करने से हमारी शक्ति बढ़ेगी और हम नौकरशाही को ही नहीं बदल सकेंगे, वरन गैर-सरकारी अंग्रेज पूँजी-पतियों को, जो भारत की सम्पत्ति लूट रहे हैं, अपने सामने झुका सकेंगे। सो इस प्रकार कि जब उन्हें यथेष्ट मजदूर नहीं मिलेंगे, तब उन्हें विवश होकर हमारी बात माननी पड़ेगी। इसके सिवा, हम लोगों में यह भी शक्ति हो जायगी कि हम रेल, डाक, तार आदि मुहकमों में काम करने वालों से कभी भी हड़ताल करा सकेंगे।

अंत में आपने Government by discussion पर, अर्थात् ऐसी राज्यप्रणाली पर जिसमें उसके गुणदोषों की आलोचना स्वतंत्रता-पूर्वक होती रहे बहुत जोर दिया है। एथेन्स तथा जर्मनी का उदाहरण देकर आपने सिद्ध किया है कि उन राज्यों का नाश हो गया जिनमें एक मनुष्य प्रधान होता था और उसीकी आज्ञा के अनुसार सब लोग चलते थे। यह कथन

साधारण समय के लिए भले ही लागू हो सके; परंतु उस समय जब कि देश पर महान आपत्ति पड़ी है ऐसे मनुष्य की आवश्यकता पड़ा करती है जो Dictator का काम करे, अर्थात् जिसकी आज्ञा सब लोग आँख बन्द करके मानें। इंग्लेंड जो गत महायुद्ध में विजयी हुआ उसका रहस्य इसीमें है। इस समय भारतवर्ष का अस्तित्व ही जोखिम में है और इसलिए हमें एक ऐसे नेता की बड़ी भारी आवश्यकता है जिसपर जनता का विश्वास हो और जो देश की स्थिति को समझकर उसे सुधारने में समर्थ हो। जनता का विश्वास है कि ऐसे नेता महात्मा गांधी हैं, और इसी लिए आज जनता आँख बंद कर के उनके आदेश का पालन कर रही है।

(५) सोने का भाव।

लोग समझते हैं कि इस विज्ञानोन्नति के जमाने में, सोना प्रतिवर्ष खानि में बहुत निकाला जाता है। फिर उसी प्रमाण से वह सस्ता क्यों नहीं होता? इतने सोने का होना क्या है? इसमें सन्देह नहीं कि पहले जितना सोना निकलता था उससे अब अधिक निकलने लगा है। लगभग ६० या ७० वर्ष पूर्व संसार भर में जितना सोना निकाला जाता था, अब उससे १७ गुना अधिक निकाला जाता है। यहाँ इतने ही वर्षों में मनुष्य-संख्या की वृद्धि का भी विचार कीजिए; उसमें प्रतिशत ६० संख्या की वृद्धि हुई है, अर्थात् दुगुनी भी नहीं। इस प्रकार अर्थशास्त्र का माँग और खपत का सिद्धान्त यहाँ लागू होता था, अर्थात् इस लेख से सोने का भाव कम होना था; किन्तु वैसा नहीं हुआ। सोने का भाव उतना गिरा नहीं, प्रत्युत और बढ़ेगा—ऐसे लक्षण दीखते हैं।

इसके कई कारण हैं। एक तो सोने का उपयोग सभ्य देशों और उन्नत राष्ट्रों में ही अधिक होता है जहाँ सोने के सिक्के दिनोंदिन अधिक प्रचलित हो रहे हैं। उन देशों की मनुष्यसंख्या भी दुगुनी से अधिक हो गई है और वहाँ धनवानों की संख्या भी बढ़ गई है, इससे वहाँ वालों में सोने की खपत अधिक होती है। दूसरे, पचास साठ वर्ष पूर्व जहाँ ताँबे के सिक्कों और कौड़ियों का उपयोग होता था वहाँ अब सोने के सिक्के अधिक अंश में प्रचलित हो गए हैं। तीसरे, व्यापार में सोने का उपयोग अधिक होने लगा है; जैसे, जड़ने में, नक्काशी में, ताँबे, पीतल और चाँदी के बर्तनों में, खिलौनों में, दीवाल और मूर्तियों की सजावट आदि में। जितना सोना ६० वर्ष पूर्व निकलता था उसका तिगुना ऊपर बतलाई हुई केवल कला-कौशल की वस्तुओं में ही खर्च होता है।

फिर, वह नष्ट भी अधिक होता है। सोने की वस्तु का लगातार उपयोग करने से एक वर्ष में उसके वजन का दो शतांश घिस-घिस कर नष्ट हो जाता है, अर्थात् १०० तोला सोना घिस-घिस कर १ वर्ष में ९८ तोला ही रह जाता है। इस प्रकार ज़रा हिसाब तो लगाइए, संसार भर में कितना सोना नष्ट न होता होगा। इसके सिवा, जहाज़ों के डूबने में, मकान और दूकानों के जलने में भी सोना नष्ट हो जाता है। एक बड़ा भारी कारण और है। जहाँ बैंक नहीं हैं या व्यापार का पूरा पूरा सुभीता नहीं है वहाँ के लोग

सोना गाड़ कर रखते हैं या तिजोड़ी में बन्द कर हवा नहीं लगने देते। इस प्रकार केवल हिन्दुस्थान से ५ या ६ लाख तोल सोना बन्द करके नष्ट कर दिया जाता है। चीन में इससे भी अधिक, आफ्रिका में तो सब से अधिक। वहाँ मजदूरों को वेतन में सोना ही दिया जाता है और वहाँ के अधिकांश मजदूर काफिर हैं जो सोना को ऐसा गाड़ कर रखते है कि फिर कभी सूर्य का प्रकाश नहीं दिखाते। इन सब कारणों पर विचार करके देखिए कि सोना कहाँ जाता है। जितने भी कारण यहाँ बताये गये हैं जब तक वे दूर न हों तब तक सोने का भाव यही बना रहेगा; और, इन कारणों को दूर करना अभी सहज नहीं।

(९) जूट तथा रुई के डठुओं का उपयोग।

प्राचीन भारतवर्ष में कागज का उद्योग-धंधा बहुत अच्छी स्थिति में था। नियार्कस का जो सिकन्दर के साथ आये थे कथन है कि पंजाब में हुंडी तथा बहीखाते का काम कागजों पर ही होता था और यह कागज रुई का बनाया जाता था। इसी प्रकार निकोलोकान्ट ने लिखा है कि बम्बई के लोग कागज का बनाना बहुत ही अच्छी तरह से जानते हैं। भारत के लोग अपनी धर्म-पुस्तकें प्रायः तालपत्र तथा भोजपत्र पर ही लिखा करते थे। अंग्रेजों के आने के समय तक बंगाल के माल्दा में कागज़ का कारोबार बहुत उन्नति पर था। इसे बनाने वाले लोग कागजिये के नाम से पुकारे जाते थे। परन्तु मेशीन के बने कागज़ के उत्तम तथा सस्ते होने से इनका कारोबार मटियामेट हो गया।

आजकल समस्त संसार में कागज़ का घोर दुर्भिक्ष है। इस समय संसार भर के कागज़ का एकाधिकार अमेरिका, स्वीडन, नार्वे तथा जापान के हाथ में है। इसी दुर्भिक्ष के कारण भारत में ४० प्रतिशत कागज़ विदेश से कम आया और इसका दाम प्रतिशत १०० से २५० तक अधिक दिया गया। भारत के बने कागज का दाम भी प्रति टन २९६.५ से ५८८.९ रुपये तक बढ़ गया।

कागज के इस दुर्भिक्ष का मुख्य कारण कच्चे माल की कमी है। ईश्वर की कृपा से भारतवर्ष इसी बात में समृद्ध है। बर्मा तथा आसाम के बाँस ही बहुत सालों तक संसार को कागज दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई चीज़ें हैं जो कागज बनाने में काम आ सकती हैं। दृष्टान्त के लिए, रुई का डठुआ बहुत ही उपयोगी है। यह पंजाब, संयुक्त प्रान्त तथा दक्षिणी मध्य-भारत में प्रति वर्ष अपरिमित राशि में उत्पन्न होता है और अब जलाने के या बोड़ बनाने के काम में लाया जाता है। परन्तु अमेरिका के मेनवुड तथा मिसस्पी नामक नगरों में ४१२५ मन रुई के डठुओं से १३७५ मन कागज बनाया जाता है। रुई के डठुओं में ७५ फी सैकड़ा रेशा होता है। इसी प्रकार जूट का डठुआ भी बहुत ही उपयोगी वस्तु है। इसमें ६० फी सैकड़ा रेशा है। बंगाल, बिहार तथा आसाम के जूट के प्रान्तों में ४० लाख टन के करीब जूट का डठुआ होता है। इसके सहारे २० लाख टन कागज बनाया जा सकता है। मध्यप्रान्त में रुई के डठुओं के सहारे और बंगाल में जूट के डठुओं के सहारे यदि कागज बनाया जावे, तो सफलता मिल सकती है।

शुरू शुरू में कुछ भारतीय कारखानों ने भावड़ या सैवा घास से काग़ज बनाना शुरू किया था। परन्तु आज कल यह घास भी महँगी हो गई है और कारखानों तक पहुँचते पहुँचते १।-) मन के हिसाब से पड़ती है। काग़ज के लिए उपयोगी पदार्थों में रेशों की मात्रा कितनी है इसका ब्योरा इस प्रकार है:—

रुई का डठुआ	७५	फी सैकडा
जूट का डठुआ	६०.५०	,,
बाँस	४१.००	,,
सैवा या भावड़ घास	३८.००	,,
तड़ या नल	३७.००	,,

आशा है, भारत के व्यापारी और व्यवसायी काग़ज के कारखाने खोलने की ओर विशेष ध्यान देंगे। काग़ज के कारोबार का भविष्य बहुत ही आशाजनक दिख रहा है। इसमें जो रुपया लगाया जायगा वह दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा इसमें सन्देह नहीं।

(७) विदेशी हुंडी की दर तथा भयंकर विक्षोभ।

मार्च, सन् १९२० में विदेशी हुंडी की दर २ शि० ११ पेन्स थी और दिसम्बर में वह १ शि० ५ पेन्स तक जा पहुँची। जिन लोगों ने वर्ष के आरम्भ में विदेशी माल मँगाया था उनकी स्थिति बहुत ही भयंकर हो गई। कई के तो दिवाले निकल गये और कई ने सरकारी गोदामों से माल ही नहीं छुड़ाया। स्थिति कितनी भयंकर है इसका ज्ञान शेयर मार्केट के उथलपुथल से अच्छी तरह हो सकता है। गत १४ अक्टूबर से ९ दिसम्बर तक, अर्थात् पौने दो मास में ही, जूट के हिस्से बहुत उतर गये। आल्बियन ९०० से ४२५।८, अलकनन्दा ८०० से ६६८।८, एलायन्स ८६६।८ से ७२९, एंग्लोइंडिया ५३८ से ४२०, आकलैंड ४८७।८ से ३३६, बाली ३३२ से २७७।८, बारंगर १८९ से १६५, वाल्टीयर ७१५ से ५८८, बजबज ७६८ से ५४३, कैलेडोनियम ८२९।८ से ६७० पर जा पहुँचा है। विविध कंपनियों के हिस्से भी बुरी तरह गिरे हैं। ताता इन्डस्ट्रियल बैंक के हिस्से पुनः अपने पुराने रूप में आ पहुँचे हैं। एट्कंस्ट्रक्शन ने १० रुपये के हिस्से पर १० रुपया ही वार्षिक लाभ दिया था; परन्तु उसका दाम ११¾ रुपये पर जा पहुँचा है। यही दशा बंगाल ब्रिजएण्डवोल्ट, बंगाल पाटरीज, ब्रिटेनिया इंजीनियरिंग, ब्रिटिश इन्डिया टुबेको आदि अनेकों कम्पनियों के हिस्सों की है। बेचारा फ़ार्टिलाइजर्स तथा सिकन्दर आइरन वर्क्स तो ७ तथा ८ रुपये के बीच में जा पहुँचा है।

शेयर मार्केट की उपरिलिखित बेचैनी तथा अवनति इस बात को प्रकट करती है कि इस समय भारत के लोगों पर कितनी भयंकर विपत्ति है। महाशय हेली तथा मान्टग्यू ने जो चालें चली थीं और भारत के सत्यानाश करने तथा रुपये लूटने के लिए जो बैबिंग्टन स्मिथ की मुद्रा-समिति बैठाई थी उनके फन्दों तथा जालों में बेचारे भारतीय व्यापारी और व्यवसायी बुरी तरह फँस गये हैं। आश्चर्य तो यह है कि भारत-सरकार तथा इंडिया आफिस का काला दिल ज्यों का त्यों बना है। अभी तक दस रुपये की गिनी का फन्दा तथा जाल उन्होंने समेटा नहीं है। देखें, अगले महीनों

में यह भयंकर जाल भारत के लोगों को किन किन स्थानों में फँसाता है?

(८) कांग्रेस के ध्येय में परिवर्तन।

नागपुर की गत कांग्रेस में एक और महत्त्व-पूर्ण कार्य जो हुआ है वह कांग्रेस का ध्येय-परिवर्तन है। इस परिवर्तन का कारण समय की गति है। जब समय अखिल विश्व में परिवर्तन किया करता है, तब भला यह किस प्रकार सम्भव है कि कांग्रेस का ध्येय जो कुछ वर्ष पूर्व उपयुक्त था अब भी वैसा ही बना रहे। पहले कांग्रेस का ध्येय यह था—"इंडियन नेशनल कांग्रेस का ध्येय है कि भारतवासी जन ऐसी शासन-प्रणाली प्राप्त करें जैसी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वयं-शासित देशों को प्राप्त है एवं राज्य में उन्हें वे ही अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त हों जैसे कि उन देशों को हैं। इस ध्येय की प्राप्ति वैध उपायों के द्वारा वर्तमान शासन-प्रणाली में उत्तरोत्तर अधिक सुधार कर के, एवं राष्ट्रीय एकता की वृद्धि करके, सार्वजनिक जागृति उत्पन्न करके तथा देश की बुद्ध्यात्मक, नैतिक, आर्थिक और व्यवसायिक उन्नति और संगठन करके की जायगी।" अब यह ध्येय बदल कर इस प्रकार किया गया है—"इंडियन नैशनल कांग्रेस का यह ध्येय है कि भारतवासी जन समस्त न्यायानुमोदित तथा शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करें।"

नये और पुराने ध्येयों को पढ़ते ही यह बात ध्यान में आ जाती है कि पुराने ध्येय में बहुत से शब्द थे और नये ध्येय में बहुत थोड़े हैं। इसके सिवा, पुराने ध्येय में जो स्पष्टता नहीं थी वह नये ध्येय में आ गई है। पुराने ध्येय की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का अवलम्बन किया जाता था वह भिक्षा-प्रणाली का था, पर उस प्रणाली की निस्सारता देख कर और यह देख कर कि हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए रौलट एक्ट, पंजाब-काण्ड, खिलाफत का विच्छेद आदि कृत्य किये जाते हैं जिन्हें कोई भी आत्माभिमानी राष्ट्र स्वीकार नहीं कर सकता इस बात की आवश्यकता पड़ गई कि अब हम लोग अपने राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए स्वयं कुछ त्याग करके दिखावें और शैतानियत से भरी सरकार के साथ जो हमारी न्यायानुकूल आकांक्षा को पद-दलित करने में और हमारे ऊपर अमानुषी अत्याचार करने में अपना गौरव समझती है किसी प्रकार का सम्बन्ध न रक्खा जाय और इसीलिए गत वर्ष कलकत्ते में कांग्रेस की जो विशेष बैठक हुई थी उसमें असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। यद्यपि उक्त प्रस्ताव से और कांग्रेस के पुराने ध्येय से किसी प्रकार का विरोध नहीं था, तथापि यह बात आवश्यक समझी गई कि कांग्रेस का ध्येय अधिक स्पष्ट कर दिया जाय। इसी स्पष्टता के लिए हमारा ध्येय अब "स्वराज्य"-प्राप्ति है। जिन उपायों के द्वारा यह प्राप्त किया जायगा वे "न्यायानुकूल और शांति-पूर्ण" होना चाहिए। वे किसी की समझ में "वैध" भले ही न होवें, क्योंकि प्रजा अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जिन उपायों का अवलम्बन करती है उन्हें सरकार बहुधा अवैध समझा करती है। परन्तु, हम लोग पंजाब और ख़िलाफ़त के संबंध में सरकार का ऐसा अच्छा न्याय देख चुके हैं कि अब हमारे लिए यह आवश्यक नहीं रह गया कि हम उन्हीं उपायों का अवलंबन करें जिन्हें सरकार वै

समझे। हम तो "न्यायानुकूल और शान्ति-पूर्ण" उपायों का अवलंबन करना चाहते हैं। सरकार तो "हिंसा-रहित असहयोग" को ही अवैध समझती है, यद्यपि उसने यह नहीं बताया है और न वह बता ही सकती है कि उस आन्दोलन का कौनसा भाग अवैध है। नये ध्येय में यह नहीं बताया गया है कि जो स्वराज्य हम चाहते हैं वह ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर मिले या बाहर। बात यह है कि हम "स्वराज्य" चाहते हैं और यह स्वराज्य हमें ब्रिटिश साम्राज्य से अधिक प्रिय है। यदि यह हमें इस साम्राज्य के भीतर मिलता है, तो अच्छी बात है; और यदि बाहर मिलता है तो और भी अच्छी बात है। हमें तो स्वराज्य चाहिए और स्वराज्य से कम कुछ नहीं चाहिए। जो लोग ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वराज्य चाहते हैं उनके भी मार्ग में कांग्रेस का ध्येय कोई बाधा नहीं डालता है; क्योंकि नये ध्येय में "ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर" शब्द कहीं नहीं हैं। हमारी समझ में तो, कांग्रेस का ध्येय—परिवर्तन सर्वथा ठीक हुआ है।

(६) असहकारिता का नया प्रस्ताव और विद्यार्थी।

कांग्रेस ने गत दिसंबर में, असहकारिता के प्रस्ताव में विद्यार्थियों के संबंध में कहा है कि जिस सरकार का अन्त करने के लिए राष्ट्र ने गंभीर निश्चय कर लिया है उसके प्रभाव में रहने वाले शिक्षालयों में रहना यदि विद्यार्थी अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं तो वे सरकारी या सरकार से सहायता पाने वाले या अपने प्रबंध में सरकारी दखल रखने वाले शिक्षालयों का, परिणाम की चिंता न करते हुए, एकदम बहिष्कार करदें और असहकारिता के संबंध में कोई कार्य करें या राष्ट्रीय शिक्षालयों में पढ़ें।

कांग्रेस से कुछ ही दिन पहिले आल इंडिया कालेज स्टुडेंट्स कानफरेन्स (विद्यार्थी–परिषद्) जिसमें भारत के भिन्न भिन्न स्थानों के ७५ कालेजों से प्राय ३०० विद्यार्थी प्रतिनिधि होकर आये थे, तिगुने से अधिक बहुमत से प्रस्ताव पास कर चुकी है कि यह विद्यार्थी-परिषद् खूब सोच विचार कर सरकारी और सरकार से सहायता पाने वाले कालेजों का तत्काल तथा बिना किसी शर्त के बहिष्कार का पूर्ण हृदय से समर्थन करता है।

आगे विद्यार्थी–परिषद् के एक प्रस्ताव में कहा गया है कि सरकारी कालेजों का बहिष्कार करके विद्यार्थी असहकारिता का प्रचार करें, सेवासमितियाँ बनावें, अथवा राष्ट्रीय शिक्षालयों में पढ़ें।

कांग्रेस के प्रस्ताव का कुछ लोग यों अर्थ लगाते हैं कि यदि विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में पढ़ना अपनी आत्मा के विरुद्ध समझें तो वे तत्काल उन्हें छोड़ दें, अन्यथा उन्हीं में पढ़ते रहें। कांग्रेस ने उन्हें यदि वे चाहें तो छोड़ने की सम्मति मात्र दी है, कोई आज्ञा नहीं है। परंतु कांग्रेस ने जो इतना लंबा–चौड़ा प्रस्ताव किया उसमें यह भी कहा है कि परिणामों की परवाह न करो, एकदम छोड़ दो, फिर असहकारिता का कोई कार्य करो या राष्ट्रीय शिक्षालयों में पढ़ो। इससे तो कांग्रेस की प्रकट इच्छा यही दीखती है कि राष्ट्र जिस सरकार को नष्ट करना चाहता है उसके शिक्षालयों में पढ़ना उचित नहीं। विद्यार्थियों का कर्तव्य है कि वे उनका बहिष्कार करें और बाद में असहकारिता का प्रचार करें या राष्ट्रीय शिक्षा-लयों में विद्याभ्यास करें। कांग्रेस में अबतक अपने प्रस्तावों का पालन कराने की शक्ति नहीं है अर्थात् अबतक वह भारत में रहने वालों को अपने प्रस्ताव का पालन करने के लिए लाचार नहीं कर सकती अथवा जब तक वह अपने प्रस्तावों का पालन न करने वालों को दण्ड नहीं दे सकती तबतक उसके प्रस्ताव सम्मति तथा उपदेश ही कहे जायेंगे, वे आज्ञा के रूप में होने पर भी सार्थक भाव से आज्ञा नहीं कहे जा सकते। यह तो हमारी राष्ट्रीय

भक्ति की मात्रा और प्रजासत्ता के भावों की प्रबलता पर अवलंबित है कि अपनी प्रजासत्तात्मक राष्ट्रीय पंचायत की इच्छा को, यह जानते हुए भी कि वह वर्तमान अवस्था में न्यायदण्ड की अधिकारिणी नहीं है अतएव साधनहीन होने से आज्ञा नहीं दे सकती, हम केवल इच्छा समझ कर टाल दें अथवा उसको आज्ञा मान कर सच्चाई से उसका पालन करें। मानो इस कसौटी के लिए ही प्रस्ताव में "यदि" रखा गया है। यह सिद्धांत भी सर्वत्र मान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा की आज्ञा का पालन पहले करना चाहिए, तत्पश्चात् किसी पूज्य व्यक्ति या संस्था का। जब कांग्रेस कहती है कि यदि विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में पढ़ना अपनी आत्मा के विरुद्ध समझें तो वे उन्हें छोड़ दें। इसका तात्पर्य यह है कि कांग्रेस व्यक्तिगत स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार करती है, साथही वह यह भी जानती है कि विद्यार्थियों को सरकारी स्कूलों में पढ़ना आत्मा के विरुद्ध मालूम होता है। साथही जब वह स्कूल छोड़ने की सम्मति देती है तो उसका तात्पर्य यह मालूम होता है कि वह सरकारी स्कूलों में पढ़ना आत्मा के विरुद्ध मानती और उनका बहिष्कार करना उचित समझती है।

इसके सिवा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह समझौते का प्रस्ताव (Compromise Resolution) है। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ निर्बल व्यक्ति बिना किसी शर्त के सरकारी स्कूल छोड़ने के विरुद्ध थे। उनको भी सम्मिलित करने के लिए इस प्रस्ताव में "यदि" शब्द रखा गया है। असहकारिता के प्रस्ताव में कुछ बातों की ढील महात्मा गांधी के शब्दों में, "उन लोगों के लिए दी गई जो बकरे हैं; जो शेर हैं उनके लिए तो प्रस्ताव पास करने की भी आवश्यकता नहीं है"। समझौते अर्थात् मिलकर काम करने का महत्व बहुत है, किन्तु समझौते का उद्देश पिछड़े हुओं को साथ लेने का रहा करता है, न कि आगे बढ़ते हुओं को रोकने का। अतएव इस प्रस्ताव का यदि कोई सिद्ध तात्पर्य हो सकता है तो यही कि विद्यार्थियों को सरकार से संबंध रखने वाले सभी शिक्षालय छोड़ देने चाहिए और असहकारिता के प्रचार में लग जाना चाहिए अथवा राष्ट्रीय शिक्षालय स्थापित हों तो उनमें पढ़ना चाहिए।

परंतु इस वाद-विवाद और असमंजस के लिए विद्यार्थी-परिषद् के प्रस्ताव में स्थान ही नहीं है। वहाँ तो सभी सरकारी शिक्षालयों का, बिना किसी शर्त के पूर्ण रूप से और एकदम बहिष्कार करने का हृदय से समर्थन किया गया है और विद्यार्थियों को उपदेश दिया गया है कि वे बहिष्कार करें। यहाँ पर भी उपदेश तथा आज्ञा का वाद उपस्थित किया जा सकता है, परंतु इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है।

इसके सिवा कम से कम मुसलमान विद्यार्थियों के लिए तो कहीं शंका, असमंजस या वाद-विवाद की गुंजायश ही नहीं है। मुसलिम लीग का तो प्रस्ताव है कि प्रत्येक मुसलमान अपने बच्चों को सरकारी शिक्षालयों से "बिना विलंब" हटा ले और (१६ वर्ष से) अधिक उम्र वाले मुसलमान विद्यार्थी फौरन सरकारी शिक्षालय छोड़ दें। साथ ही मुसलमानों के मौलवियों का फ़तवा (धार्मिक आज्ञा) है कि सरकार का और सरकारी शिक्षालयों का बहिष्कार करना कुरान के अनुसार प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। ऐसी अवस्था में हिन्दू मुसलमानों की एकता का खयाल करके और सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपनी मातृभूमि के लिए स्वाधीनता और अपने लिए स्वाराज्य प्राप्त करने की दृष्टि से ऊपर के प्रस्तावों को देखते हुए यही तात्पर्य निकलता है कि भारत के प्रत्येक विद्यार्थी को विद्याभ्यास छोड़कर स्वराज्य के साधन असहकारिता को सबल बनाना चाहिए। ल०

विज्ञान-संसार।

(१) पचास साल में २,८०० मील बाल।

जानवरों के सींगों के समान बाल भी भीतर पोले होते हैं। उनका पोलापन कितना सूक्ष्म होता है यह एक वैज्ञानिक ने ढूंढ़ निकाला है। पोले भाग का व्यास [illegible] इंच होता है। भीतरी भाग में एक रंग का लेप चढ़ा रहता है जिसके नष्ट होने पर बाल सफेद हो जाते हैं।

बालों की जड़ शरीर के भीतर [illegible] इंच होती है। जड़ के पास ही ऐसे कुछ छिद्र रहते हैं जिनके द्वारा बालों को पुष्ट कर खाद्य और तेल मिला करता है। उनकी जड़ का सम्बन्ध एक ऐसे तन्तु से रहता है जिसके कारण भय या दूसरे भावों की जाग्रति होते ही रोमाञ्च हो जाता है। बाल मजबूत भी बहुत होते हैं। एक बाल से तीन से लगाकर पांच औन्स तक वज़न लटका सकते हैं। वज़न लटकाने से बाल बढ़ भी जाता है और इस प्रकार १० इंच लम्बा बाल १६ इञ्च हो जाता है।

पूरी हजामत करने पर सारे शरीर के बालों की संख्या लगभग ४४,००० होती है। एक महाशय ने हिसाब लगाया है कि ५० साल में प्रत्येक मनुष्य के शरीर से २,८०० मील की लम्बाई के बाल निकाले जाते हैं। यदि उनका वज़न लिया जाय, तो लगभग एक मन निकलेगा।

(२) बालक कभी न गुमेंगे।

मेले-ठेले में अनेक बालक गुम जाते हैं और पुलिस के विशेष परिश्रम करने पर भी कभी कभी मिलते नहीं। कभी कभी तो, सामने, सड़क पर खेलते खेलते भी कुछ बालक गुम जाते हैं और बड़ी कठिनाई से उनका पता चलता है। गुमे हुए बालकों का पता लगाना बड़ा कठिन हो जाता है; क्योंकि केवल आंख, कान या चेहरे की पहिचान यथेष्ट नहीं होती। इसके लिए एक उपाय और है। हाथ और पांव की रेखाएँ कभी नहीं बदलती। इसलिए पक्की लिखा-पढ़ी में अपढ़ लोगों से अंगूठे का निशान ले लिया जाता है। तो, जब बालक चलने-फिरने योग्य हो जावे, तब उसके पैर पांव की रेखाओं के निशान ले लेना चाहिए। पहिले निशान लगाने की स्याही लगी गद्दी पर पांव रखा दिया जाता है, फिर किसी साफ़ कागज़ पर पैर के निशान ले लिये जाते हैं। जब कभी भी बालक गुमेगा या चोरी जावेगा तब पुलिस या आप स्वयं उस पद-चिन्ह की सहायता से अपना बालक हज़ारों में ढूंढ़ सकते हैं। अमेरिका में इसी उपाय से ऐसे सैकड़ों बालक ढूंढ़ लिये गये हैं जो कुछ वर्ष पहिले चुरा लिये गये थे।

(३) चर्म वृद्ध तो आप वृद्ध।

विदेशी विद्वान चिकित्सक इस उद्योग में बहुत दिनों से लगे हुए हैं कि अवस्था में वृद्ध हुए मनुष्यों की जाँच कैसे की जाय और कौन कौन से उपाय काम में लाये जावें जिससे ऐसे मनुष्य शीघ्र काल-कवलित न हों। हाल में उन्हें एक पहिचान मिली है। वह यह है कि किसी भी मनुष्य के खून

खुले पंजे की पीठ का चमड़ा अँगूठा और अँगुली से पकड़ कर ऊपर खींचिए और छोड़ दीजिए। यदि वह कुछ सेकण्ड तक चिपटा रहा तो समझिए कि मनुष्य वृद्ध हो गया है चाहे उसकी उमर कितनी ही कम क्यों न हो; और यदि छोड़ते ही वह ज्यों का त्यों अपने स्थान पर हो जाय तो समझिए कि अभी मनुष्य युवा है, चाहे उसकी उमर कितनी ही अधिक क्यों न हो।

पाठक सोचेंगे कि पंजे के चमड़े में क्या कोई ऐसी नाड़ी होती है जो यह बतला देगी कि मनुष्य वृद्ध हो गया। हाँ, डाक्टरों ने वर्षों प्रयत्न करके इन नाड़ियों की खोज की है। उनका सिद्धान्त है कि पंजे पर जो नसें रहती हैं उन्हीं के द्वारा शुद्ध रक्त बहता रहता है और उन्हीं के द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग में पौष्टिक पदार्थ पहुँचा करता है। जब इनमें रक्त-प्रवाह शिथिल हो जाता है तब ये भी शिथिल होने लगती हैं और पकड़ रखने पर थोड़े समय के लिए सिकुड़ जाती हैं और छोड़ने पर विलम्ब से फैलती हैं। पर, जिस मनुष्य की नसों में रक्त-प्रवाह तेजी से होता रहता है उसकी नसें पकड़ कर छोड़ने पर तुरन्त अपने पूर्व स्थान पर फैल जाती हैं। इस प्रकार पंजे के चमड़े से युवा या वृद्धावस्था की पहिचान की जा सकती है।

पुस्तकादि-परिचय।

१.—चिकित्सा-चन्द्रोदय, प्रथम भाग—लेखक, श्रीयुत हरिदास वैद्य; प्रकाशक, हरिदास एन्ड कम्पनी, २०१ हरिसन रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३५०, मूल्य ३) है। पुस्तक की सुन्दर छपाई, काग़ज़ आदि को देखते हुए किसी प्रकार अधिक नहीं है।

श्रीयुत हरिदास जी बहुत समय तक शिक्षक रह चुके हैं, अनुभवी वैद्य भी हैं और कितने उत्साही पुस्तक-प्रकाशक हैं इसे हिन्दी-संसार जानता है। इस प्रकार उनकी लिखी वैद्यक पुस्तक की सरलता और उत्तमता सहज ही में समझ में आ सकती है। लेखक ने "चिकित्सा-चन्द्रोदय" में चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि महर्षियों के अमूल्य ग्रंथों का सार बहुत सरल भाषा में लिखा है। अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथों का अमूल्य सार इस एक ग्रंथ में मिल जाता है और सो भी क्रम-बद्ध रूप में। वस्तुतः पुस्तक की यह बड़ी भारी विशेषता है।

पुस्तक में आयुर्वेद की उत्पत्ति तथा महत्त्व, मनुष्य-शरीर का वर्णन, त्रिदोष, प्रकृति, बल, अग्नि, अवस्था, देश, ऋतु आदि का विचार, रोग-परीक्षा आदि का विवेचन है। दूसरे भाग में आयुर्वेद की शेष बातों का विचार कर पुस्तक पूर्ण की जायगी। आयुर्वेद के ऐसे ग्रंथों का पठन-पाठन प्रत्येक शिक्षित कुटुम्ब में होना चाहिए।

२.—चरित्र-शिक्षा—लेखक और प्रकाशक, पं० बदरीदत्त शर्म्मा, पता पुस्तक पर लिखा नहीं; पृष्ठ-संख्या, १४०; मूल्य, आठ आने।

पुस्तक में सदाचार, गृह-शिक्षा, सत्संग, आत्म-संयम आदि सात विषयों पर विचार प्रकट किये गये हैं। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। चरित्र-निर्म्माण की आवश्यकता बतलाने के साथ साथ उदाहरण देकर साधन के उपाय भी बतलाये गये हैं। पुस्तक के लिखने में अंगरेज़ी लेखक स्माइल्स के 'कैरेक्टर' ग्रंथ से सहायता ली गई है, पर अधिकांश उदाहरण रामायण, महाभारत आदि भारतीय धर्मग्रंथों से लिए गये हैं। नवयुवक समाज में ऐसी पुस्तकों का प्रचार जितना अधिक हो उतना ही अच्छा।

३.—ट्रान्सवाल में भारतवासी—सरस्वती-सदन, इन्दौर द्वारा प्रकाशित "नवजीवन निबन्धमाला" की तीसरी पुस्तक है। इसके लेखक हैं श्रीयुत भवानीदयाल जी, पृष्ठ-संख्या, ७१; मूल्य, सात आने।

कुछ वर्षों से भारतवासियों का ध्यान प्रवासी भारतवासियों की असली दशा जानने के लिए आकर्षित हो चला है। हर्ष की बात है कि विदेशों में कष्ट भोगे हुए सज्जनों ने अपनी और अपने भाइयों की यथार्थ स्थिति बतलाने के लिए क़लम उठाई है और प्रकाशकों ने भी उपन्यास प्रकाशित करने की पुरानी परिपाटी छोड़ ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया है। इस पुस्तक में ट्रान्सवाल में रहने वाले भारत-वासियों की दशा का सच्चा हाल लिखा गया है। वहाँ की सरकार नये नये क़ानूनों की सृष्टि करके भारतवासियों पर कैसे कैसे अत्याचार करती है और उनकी सेवा के लिए उन्हें कैसा उल्टा पुरस्कार देती है ये सब बातें बिना प्रमाण नहीं लिखी गई हैं, बल्कि प्रसिद्ध अँगरेज़-नीति-वेत्ताओं के वाक्य प्रमाण के लिए उद्धृत कर दिये गये हैं। लेखक ने निर्भीकता-पूर्वक भारतवासियों

की मानसिक निर्बलता और आपसी फूट का भी वर्णन किया है। पुस्तक प्रत्येक सहृदय पाठक के ध्यान पूर्वक पढ़ने की वस्तु है।

४.—गीतानुशीलन, खण्ड १,—लेखक और प्रकाशक, बाबू गणेशचन्द प्रामाणिक, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या, ४८; मूल्य ।=॥.

श्रीमद्भगवतगीता ऐसा समुद्र है जिसका जितना मंथन किया जाय उतने ही रत्न हाथ लगते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीगीता की मायानन्दी व्याख्या है। "मायानन्दी" नाम इसलिए दिया गया है, क्योंकि मायानन्द नामक एक जिज्ञासु सज्जन से जो कुछ लेखक ने सुना है उसी का सार "गीतानुशीलन" में रखा गया है। हमारे सामने पुस्तक का पहला खण्ड है और अभी वही प्रकाशित हुआ है। अन्य खण्ड क्रमशः छपेंगे। इस खण्ड में प्रकाशित "समाज-तत्व" को हमने ध्यानपूर्वक पढ़ा और हमें बहुत अच्छा और रोचक प्रतीत हुआ। आशा है, गीता के प्रेमी इस व्याख्या को अवश्य पढ़ेंगे। इससे उन्हें लाभ ही होगा। साथ ही, प्रामाणिकजी को यह सन्तोष होगा कि उनकी पुस्तक का प्रचार अच्छा हो रहा है। बाबू सा० हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पहले ही पहल अवतीर्ण हुए हैं, और सो भी ऐसा अच्छा ग्रंथ लेकर, जिसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं।

५.—शिक्षित और किसान—लेखक, श्रीयुत भवानीदयाल जी, प्रकाशक, सरस्वती-सदन, इन्दौर; पृष्ठ-संख्या, २४+६१; मूल्य, दस आने।

"नवजीवन-निबन्धमाला" की यह चौथी पुस्तक है। आरम्भ में श्रीयुत पीर मुहम्मद 'मूनिस' की लिखी हुई २८ पृष्ठों की एक लम्बी भूमिका है। लेखक ने शिक्षित भारतीयों का ध्यान किसान भाइयों की ओर बड़े अच्छे ढंग से आकर्षित किया है। पुस्तक में एक किसान और एक बैरिस्टर की बातचीत का वर्णन है। किसानों की दशा इस समय कैसी है और वह किस प्रकार दिन दिन गिरती जा रही है तथा शिक्षित भारतीय आँख बन्द किये कैसे कर्तव्य-विमुख हो रहे हैं, इसका यथार्थ चित्र पाठकों को पुस्तक में जगह जगह मिलेगा। पुस्तक महत्व की है। अब भारत की वह दशा नहीं है कि ऐसी पुस्तकें पढ़कर शिक्षित लोग सुख-चैन की वंशी बजाया करें। आवश्यकता यह है कि इस पुस्तक को पढ़कर वे देश की यथार्थ दशा से परिचित हों और कर्तव्य-परायण बन देश की दशा सुधारने में हाथ बटावें।

पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक मालूम पड़ता है। अच्छा हो, इसका एक सस्ता संस्करण प्रकाशित किया जाय ताकि वह प्रत्येक शिक्षित देश-वासी के पास अधिक सरलता से पहुंच सके।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे गये हैं वे भी पहुँच गई हैं और साभार स्वीकृत की जाती हैं—

(१) पंजाब की आहें—लेखक, पं० रामेश्वरप्रसाद अग्निहोत्री, राष्ट्रीय-सदन, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या, २८; मूल्य, =॥

(२) तिलक वियोग में शोकाश्रु, अर्थात लो० तिलक के देहावसान पर सामयिक पत्रों में निकली कविताओं का संग्रह, संग्रहकर्त्ता, श्रीयुत दौलतराम गुप्त; पृष्ठ-संख्या, ८२; मूल्य ।)

(३) सचित्र राष्ट्रीय भेंट—प्रकाशक, पं० रामचन्द्र मिश्र, मंत्री, भारत-सेवक-संघ, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या, २४; मूल्य, ॥).

(४) रवीन्द्र दर्शन—लेखक, श्रीयुत सुखसम्पतिराय भण्डारी; प्रकाशक, राष्ट्रीय-हिन्दी-मंदिर, जबलपुर, पृष्ठ-संख्या, २१७; मूल्य, ॥=)

(५) स्काउट गीताञ्जली—संग्रहकर्त्ता, बाबू लक्ष्मीनारायण गुप्त, शाहजहानपुर; पृष्ठ-संख्या, ७२; मूल्य,).

बढ़िया चित्र।

शीघ्रता कीजिए, बहुत थोड़े बचे हैं। "श्रीशारदा" में प्रकाशित निम्न लिखित रंगीन और सादे चित्र बिक्री के लिए तय्यार हैं।

चित्र	मूल्य
सहसा दर्शन (रंगीन) ...	≡)
गो-दोहन (रंगीन)	≡)
वानर-भोजन (रंगीन)	≡)
लोकमान्य तिलक का अन्तिम दर्शन (सादा)	-)
चन्द्र-दर्शन (रंगीन)	≡)
लाला लाजपतराय	-)
विधवा-विलाप	-)
लक्ष्मी	-)
मातृभूमि की झाँकी (रंगीन) ...	≡)
स्वर्गीय पं० विष्णुदत्त शुक्ल	-)

१) से कम मूल्य की वी. पी. पार्सल नहीं भेजी जाती है।

मिलने का पता:—

व्यवस्थापक, 'श्रीशारदा,'

दीक्षितपुरा, जबलपुर।

उत्तम स्याही

की टिकियाँ, नीली और लाल की, सुन्दर टीन की डिब्बी में १०० टिकियाँ, कीमत एक रुपया। स्वादिष्ट चूर्ण की पुड़ियाँ, फी दो पैसा, सुगन्धित गौरीविलास तैल, कीमत ।||), कमीशन ।) फी रुपया।

पता—गौरीशंकर मिश्र,

गाडरवारा, सी० पी०

चित्रशाला।

सचित्र अक्षरबोध पुस्तक मूल्य ।) आने, सचित्र वर्णमाला के रंगीन नक्शा ।||) आने।

इन तीनों के द्वारा बच्चे बड़ी ही सुगमता से अक्षर पहचानने और खेलते कूदते पढ़ने लग जाते हैं।

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महाराज के रंगीन चित्र-बड़ा साइज १५×२० मूल्य ।|) आने। मझोला साइज १०×१४ मूल्य डेढ़ आना। छोटा साइज ५||×६ मूल्य दो पैसे।

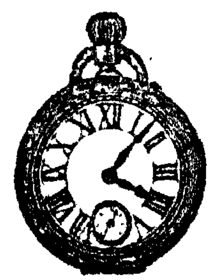
'हिंदी चित्रमय-जगत्'।

एक उच्च कोटि का सचित्र मासिक पत्र। बढ़िया लेख-कविताएं और मनोहर कहानियां। वर्ष भर में ५०० चित्रों का संग्रह। वार्षिक मूल्य ग्लेज कागज के ५||) रुपये, एक प्रति के ||-) आने। रफ कागज वा० मूल्य ३||) रुपये, एक प्रति के |-) आने।

व्यापारियों को कमिशन के लिये पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

चित्रशाला प्रेस, पूना सिटी।

बम्बई में घड़ियाँ



ये घड़ियाँ हर प्रकार से अच्छी हैं। पसन्द न आवें तो तीन दिन देख कर वापस कर दो।

	की० रु० आ०	ग्यारन्टी
ल्वेलीवर	४—१२	५ वर्ष
रम्बेरेगुलेटर	५—०	५ ,,
कलाई हाथवाच	५—१२	५ ,,
अतिसुन्दर वाच	७—०	- ,,
फेन्सी सि.रास्कोप	५—४	५ ,,

☞ अन्धेरे में समय

बतलानेवाली कलाईवाच की० ७||) ग्या० वर्ष

वाच एण्ड क्लाथ कम्पनी,

न्यू मार्केट, कालका देवी, बंबई।

योग–विद्या का अद्भुत चमत्कार

योगसाधन यन्त्र

(मिस्मेरिज्म् व -स)

यह वह सुप्रसिद्ध अलौकिक [illegible] है जिसके द्वारा बिना कष्ट घर बैठे खोई वस्तु, रोगो का स्वास्थ्य, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, रोजगार, नौकरी तथा लाभालाभ, परीक्षाफल, फ़सल का हाल, दूर-देशस्थ समाचार, लोकयात्रा, मृत पितर या अन्य महापुरुषों के दर्शन तथा उनसे वार्तालाप, गुप्त रहस्य मानो समस्त कार्य्य-सिद्धि इत्यादि इत्यादि अनेक [illegible] बातें बिना परिश्रम ज्ञात हो सकती हैं। जिन सज्जनों के पास, यह अपूर्व यन्त्र हो उनको आधुनिक ज्योतिषियों, रम्मालों (भड्डलियों), एवम् भूत, भविष्य, वर्तमान के ठेकेदारों के पास भटकने और वृथा धन गवाने की ज़रूरत नहीं रहती। देखनेवाला बिना अभ्यास या कष्ट के तत्काल अद्भुत दृश्य देखने लग जाता है, यथा दूर और जगल, फूल, फलदार वाटिकायें, हिमाच्छादित श्वेत पर्वत, बादल बिजली, पक्षियों के मधुर मधुर मनोहर स्वर, तथा महात्माओं और उनकी कुटियों के दर्शन तथा वार्तालाप मानो कैलाश [illegible] पर पहुँचकर हिमवती पार्वती देवी के दर्शन करते हुए अभीष्ट प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर सकता है, मूल्य सर्व साधारण के हितार्थ केवल ५) रुपया "नियमावली" (हिन्दी या उर्दू) सहित, नमूना का [illegible] है। विस्तार-भय से केवल ११ प्रशंसापत्र छपवाये जाते हैं। पूर्णाधिक [illegible] मूल्य यन्त्र ८) [illegible]।

प्रशंसापत्र—(१) मिस्टर जे० ब्रेडी (Mr. J. Brady) इलाहाबाद लिखते हैं, कि योगसाधन यन्त्र द्वारा हमारे बहनोई की नौकरी का कुल हाल मालूम हुआ जो नितान्त सत्य निकला।

(२) मिस्टर आर० आर० ओझा (Mr. R. Oza) मु० [illegible] लिखते हैं, कि यन्त्र आश्चर्य-जनक काम कर रहा है। कृपया दो यन्त्र और भेज दें।

(३) बाबू [illegible]प्रसाद मालबाबू मु० [illegible] लिखते हैं कि [illegible] में इसका चमत्कार अद्भुत नज़र आया।

प्राचीन–योगादर्श देखिए

(४) पं० रामचरनजी पुरोहित मु० मलारगढ़ (ग्वालियर) लिखते हैं, आहा! धन्यवाद है, मैंने खुद यन्त्र द्वारा रिश्तेदारों से मुलाक़ात की और मृतक पितरों से वार्तालाप हुई उनका स्वरूप साक्षात देखा। वास्तव में यह यन्त्र गुण का समुद्र है, मुझे तो अमूल्य रत्न मिला। प्रशंसा लिखना यथार्थ है, यथा नाम तथा गुण।

(५) श्री० चौबे हरप्रसाद नर्मदाप्रसाद जी बीना जि० सागर लिखते हैं, कि "मैंने अपने स्वर्गवासी माता-पिता व रिश्तेदारों से मुलाक़ात की। अपने नौकर को औरत को जो भाग गई थी यन्त्र द्वारा बातचीत कराकर उसके पास बुलवा दिया।" इत्यादि २।

(६) श्री० पं० पदमनाभजी मु० [illegible] जि० पुरनिया से लिखते हैं, सर्वथा नियमावली और विज्ञापन के अनुकूल है।

(७) बाबू [illegible]चन्द [illegible] मास्टर मु० किशनगंज लिखते हैं कि योगसाधन यन्त्र द्वारा समस्त [illegible] दिये। कैलाश पर्वतवाली हिमवती देवी के साक्षात दर्शन हुये और अनेक प्रश्न किये जिनका उत्तर बिल्कुल सत्य मिला।

(८) मिस्टर एम० के० [illegible] लिखते हैं, कि हमने और हमारे मित्रों ने इस यन्त्र पर कई बार अभ्यास किया। आपके लेखानुसार समस्त घटनाएं देखीं और अधिक प्रशंसा क्या लिखूं जितनी लिखूं सो थोड़ी है।

(९) पं० हरि मिश्र गुरु मु० [illegible]पुर लिखते हैं कि मैंने यन्त्र द्वारा अनेक कार्य्य सिद्ध किये।

(१०) श्रीमान जयशंकर जी भट्ट मु० अजमेर लिखते हैं कि यन्त्र की जैसी आपने प्रशंसा की है वैसाही है।

(११) श्री के० राय बहादुर सिंह मु० [illegible] लिखते हैं, कि मैंने इस यन्त्र का कई बार उपयोग किया। यन्त्र बहुत ही आश्चर्य्यजनक है।

[illegible]

मिलने का पता—योगसाधन-यन्त्र कार्यालय, करनाल (पञ्जाब)

Yogsadhan-Yantra Karyalaya, KARNAL [Punjab.]

'श्रीशारदा' के नियम

लेखकों के लिए

१—मत-मतान्तर और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जायेगा।

२—साहित्य, समाज, नीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख वा कविता को प्रकाशित करने वा न करने, घटाने वा बढ़ाने, एवं लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

७—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

९—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

१०—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—

सम्पादक "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ।।) और पुरानी प्रति का ।।।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ।।) भेजना चाहिए अथवा ।।=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

४—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

५—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

प्रबन्धक "श्रीशारदा" दीक्षितपुरा, जबलपुर।

जबलपुर के राष्ट्रीय-हिन्दी-मंदिर ने कर्मवीर प्रेस में, पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के प्रबन्ध से,

वर्ष १, खण्ड २] माघ, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ५, पूर्ण संख्या ११



वार्षिक मूल्य ५)] [प्रति संख्या ॥)

सम्पादक
साहित्यशास्त्री पं० नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर द्वारा प्रकाशित।

लेख-सूची ।

चित्र-सूची ।

'श्रीशारदा' के नियम

विज्ञापकों के लिए—

१—जिस मास के अंक में विज्ञापन छपाना हो उसके एक मास पूर्व विज्ञापन और पेशगी रुपया भेजना चाहिए । विज्ञापन बदलने के लिये भी यही नियम है ।

२—एक कालम से कम स्थान का विज्ञापन छपानेवाले को "श्रीशारदा" बिना मूल्य नहीं मिलती है ।

३—विज्ञापन की दर इस प्रकार है— प्रति मास

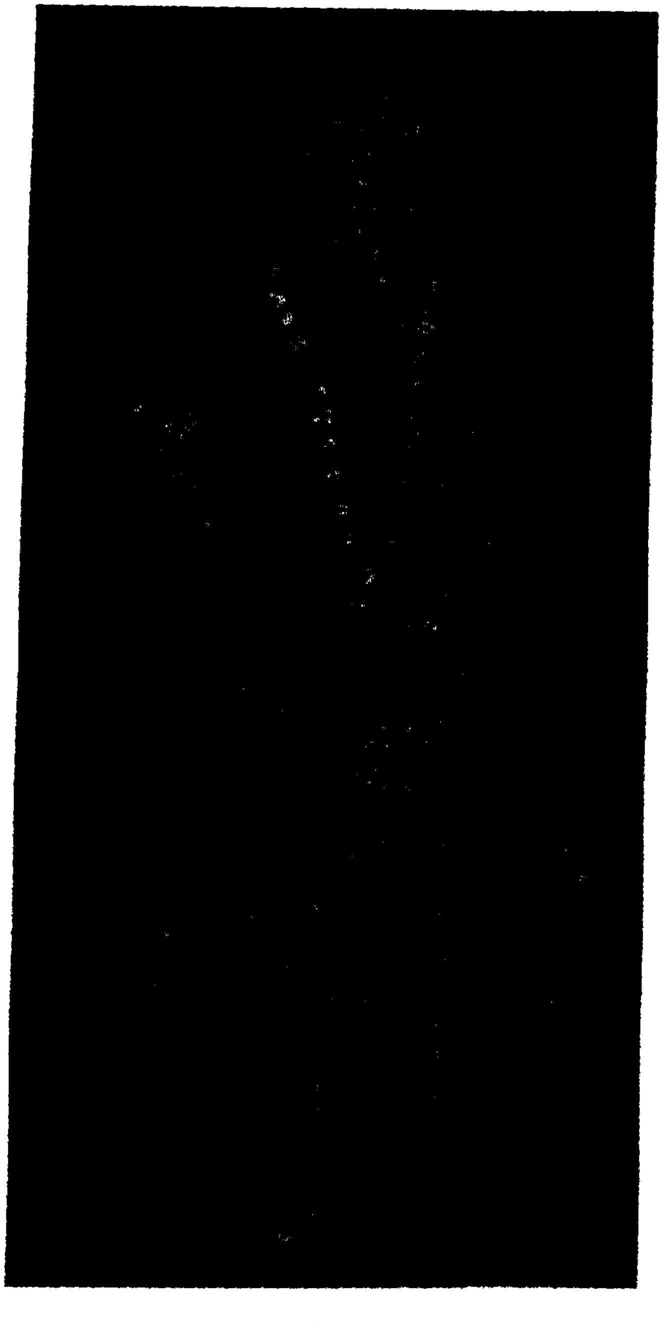
एक पृष्ठ (या दो कालम)	१०)
आधा पृष्ठ (या एक कालम)	६)
चौथाई पृष्ठ (या आधा कालम)	४)
चौथाई कालम	२॥)
आवरण (कवर) का तीसरा पृष्ठ	१५)
,, ,, चौथा ,,	१८)
पाठ्य विषय के पहिले और पीछे के ,,	१४)

उपरोक्त दर में कुछ भी कमी न हो सकेगी और पूरी छपाई पेशगी ली जायगी ।

४—जो विज्ञापनदाता एक वर्ष के विज्ञापन की कुल छपाई एक साथ पेशगी देंगे उन्हें =) फी रुपया कमी कर दी जायगी ।

५—विज्ञापन और छपाई के रुपये इस पते पर आना चाहिए—

प्रबन्धक, "श्रीशारदा" दीक्षितपुरा, जबलपुर ।



पुष्प-सज्जिता ।

सर्वाधिकार
"श्रीशारदा" के अधीन ।

चित्रकार
पं० महेशप्रसाद मिश्र ।

U. RAY & SONS, CALCUTTA



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष १, खण्ड २]   माघ शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * ८ फ़रवरी, १९२१   [संख्या ५, पूर्ण संख्या ११

अतिथि-अनादर ।

(लेखक—पंडित रामचरित उपाध्याय)

अतिथि ! तुम हो गुड़हर* के फूल ।
अतिथि ! यहाँ पर जब तुम आये,
मीठे मीठे वचन सुनाए ।
स्वार्थ-प्रेम के जाल बिछाए,
रह करके अनुकूल ॥
अब तुम बाधक हुए हमारे,
प्रण विलुप्त सब हुए तुम्हारे ।
शीघ्र फिरोगे मारे मारे,
फिर फाँकोगे धूल ॥
रोग-शोक के रूप तुम्हीं हो,
छलियों के भी भूप तुम्हीं हो ।
कोप-क्रूरता-कूप तुम्हीं हो,
द्रोह-दैन्य के मूल ॥
कुछ कहते पर कुछ करते हो,
तनिक न अपयश से डरते हो ।
पर न्यायी बनते फिरते हो,
यही तुम्हारी भूल ॥
तुमने अद्भुत जाल बिछाया,
अपना आसुर ढंग सिखाया ।
सौख्य छीन कर दुःख दिखाया,
धन्य आपका 'रूल' ॥
तुमने क्या कुछ कभी दिया है ?
सबका सर्वस छीन लिया है ।
किससे सद्व्यवहार किया है ?
हुए हृदय के शूल ॥
भक्षक से रक्षक बन जाना,
आदर पा करके इठलाना ।
बात बात में आँख दिखाना,
अब है नहीं कबूल ॥

* लोगों में ऐसा विश्वास है कि जिस घर में गुड़हर का फूल रखा जाता है उसमें लड़ाई-झगड़ा होता है ।
—सम्पादक ।

तुमसे कुछ उपकार न होगा,
हमसे अब सत्कार न होगा।
जब तक भू—संस्कार न होगा,
बने रहो प्रतिकूल ॥
अतिथि ! तुम हो गुड़हर के फूल ॥

लिपि-वैचित्र्य।

(लेखक—पं० मूलशंकर गौरीशंकर याज्ञिक)

संसार की भिन्न भिन्न लिपियों में परस्पर भिन्नता तो बहुत ही अधिक है, किंतु उनको कागज़ पर चित्रित करने की पद्धतियों में भी ये तीन महत्व के भेद हैं:—(१) संस्कृत तथा उससे प्रादुर्भूत आर्य-भाषाओं की तरह बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखना, (२) उर्दू, फ़ार्सी की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखना, और (३) चीनी अथवा जापानी लिपि की भाँति ऊपर से नीचे को लिखना। ये तीनों प्रकार की पद्धतियाँ एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इस पद्धति-भेद का कारण क्या हो सकता है ? यह एक मनोरंजक, किंतु गंभीर प्रश्न है। इसका उत्तर देने के लिए आवश्यक साधन इस समय कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं, अतः उसपर केवल विशेष सयुक्तिक कल्पनाएँ ही की जा सकती हैं।

यह बात तो स्पष्ट है कि ये भेद कुछ एकाएक ही उत्पन्न नहीं हो गये, और न बिलकुल क्षुद्र कारणों से उद्भूत हुए हैं; क्योंकि ये तीनों पद्धतियाँ इतिहास-पूर्व-कालीन एवं श्रेष्ठ तीन भिन्न भिन्न जातियों के ही अनुसार पाई जाती हैं। एक **आर्य** मानव वंश में बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखने की प्रथा है, **मेसोपोटामियन** मानव—वंश ने दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखने का मार्ग स्वीकार किया है, और **मंगोलियन** मानव—वंश ऊपर से नीचे की ओर को लिखता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि लिपि-पद्धति बिलकुल ही आधुनिक है, और उसका उत्पत्ति-स्थान मिश्र देश की पुराने समय से प्रचलित और फ़ोनेशियन व्यापारियों द्वारा सारे जगत में प्रसारित चित्र-लिपि ही होनी चाहिए। किंतु केवल उस मत को मान लेने से ही प्रस्तुत प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अतः इस प्रकार की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता है कि लेखन-कला भी संस्कृति के विकास-काल में और तदनुयायी मानव-वंश के जगतीतल पर भ्रमण करने से पूर्व ही अत्यंत परिणतावस्था को पहुँची हुई होनी चाहिए।

लिपियों के सार्वत्रिक उपयोग करने की प्रथा आधुनिक है। इस लेखन-कला का शीघ्र प्रसार होने में दो कारणों से अवरोध हुआ है—एक तो, सुगम और सरल पद्धति का अभाव, और दूसरे, सार एवं सार्वत्रिक किंतु स्थायी और सुंदर उपकरणों की अनुपलब्धता। जबतक ये दो असुविधाएँ अस्तित्व में थीं, तब तक लिपि का सार्वत्रिक एवं नित्यव्यवहार में उपयोग होना अशक्य था। इसीलिए भिन्न भिन्न लिपियों का बहुत कुछ विकास हो जाने पर भी अतिशय महत्व की धार्मिक विधियाँ और महत्वपूर्ण साहित्य तथा पवित्र और परंपरागत ज्ञान का

संरक्षण करने में ही उसका उपयोग किया जाता था। इससे सिद्ध है कि धार्मिक कल्पना एवं विधियों को ध्यान में रखकर ही इस प्रश्न के उत्तर देने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इस के अतिरिक्त इस भिन्नत्व का मूल कारण एक ही तत्त्व होने से इसके स्वाभाविक एवं सयुक्तिक होने की बात भी इसीसे सिद्ध होनी चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन राष्ट्रों की कल्पना एवं उनके व्यवहार में सूर्य भगवान के प्रति पूज्य भाव और धार्मिक विधि का अतिशय महत्व था। ऐसी दशा में सूर्य की दैनिक उदयास्त की दिशाओं और उन तीन भिन्न मानव-वंश की शाखाओं के निवास एवं प्रवास-स्थानों की दिशा का सापेक्ष संबन्ध तो कहीं इस भिन्नत्व के मूल में नहीं है?

कारणवश आर्यों के पूर्वज मुख्यतः दक्षिणाभिमुख, मेसोपोटामियन उत्तराभिमुख और मंगोलियन जाति के पूर्वाभिमुख होने की यदि कल्पना की जाय, तो उपरोक्त सूर्य की दिशाओं के साथ का संबन्ध ठीक ठीक मिलकर पद्धति-भिन्नत्व की उपपत्ति भी लगाई जा सकती है, अर्थात् उस अवस्था में आर्यों को सूर्य की गति बाईं ओर से दाहिनी तरफ गमन करती दीख पड़ेगी, मेसोपोटेमियनों को वह दाहिनी ओर से बाईं ओर को जाती हुई प्रतीत होगी, और मंगोलियनों को वह ठीक अपने सामने ही दिखाई देगी। फलतः सूर्य की यही गति, हाथों द्वारा प्रथमतः किसी कठिन पदार्थ पर पवित्र चिह्न के रूप में अंकित करते समय जान बूझ कर ही यह प्रथा स्वीकृत की गई होगी।

किंतु फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि एक ही सूर्य की गति उन लोगों को इस प्रकार भिन्न भिन्न क्योंकर दीख पड़ती होगी? अतः इस प्रश्न का यथोचित उत्तर दिया जा सकने पर ही प्रस्तुत कल्पना युक्तियुक्त मानी जा सकती है। इस गति-भिन्नत्व का निदर्शक कारण केवल एक ही दीख पड़ता है, और वह यह कि उपरोक्त विशिष्ट-गति उन्हें अपने मूल स्थान से दूर जाते समय अनुसरण की हुई एक ही दिशा के कारण हमेशा दिखाई देती रहनी चाहिए। स्व० लोकमान्य तिलक का सिद्धान्त मान लेने से, आर्यों के उत्तर ध्रुव से दक्षिण दिशा में भारत, ईरान और भूमध्यसागर की ओर के प्रदेशों में आ बसने तथा मेसोपोटोमियन जाति के उत्पादक एवं पोषकों के दक्षिण से उत्तर की ओर फैलने की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार यदि मंगोलियन मानव-वंश भी आरंभ में मध्यएशिया से पूर्व की ओर आगे बढ़ा हो तो ऊपर कही हुई बात ठीक सिद्ध हो सकती है। इसी कल्पना के अनुसार चारों दिशा के नामों की उपपत्ति भी ठीक ठीक लगाई जा सकती है; यथा, आर्यों के प्रागतिक उपनिवेशों की दशा पूर्व, पिछली ओर वाली पश्चिम, दाहिनी ओर की दक्षिण और बहुधा उनके पूर्व स्थान—उच्चतर स्थान—की स्मृति-दर्शक दिशा उत्तर।

यह उपपत्ति सर्वथा कल्पना एवं केवल युक्ति और तर्कशास्त्र के आधार पर ही रची गई है। इसीलिए वह आवश्यक एवं निश्चित प्रमाणों के अभाव से नितान्त विश्वसनीय नहीं हो सकती। किंतु हमें तो केवल यही एक उपपत्ति सयुक्तिक

प्रतीत होती है; अतः उस पर विचार करने में किसी प्रकार की हानि प्रतीत नहीं होती।

गीताञ्जली।

(लेखक—श्रीयुत गुलाबराय, एम॰ ए॰, एल॰ एल॰ बी॰)

(२)

रवीन्द्र बाबू मनुष्य हैं और वे मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों को भलीभाँति जानते हैं। उन्होंने उनका वर्णन भी बहुत ही उत्तम रीति से किया है। देखिए "६६ बेड़ियाँ कष्ट देती हैं, उन्हें तोड़ते हुए मेरे हृदय में वेदना होती है। मैं स्वतंत्रता (मुक्ति) के सिवाय और कुछ नहीं चाहता; किन्तु स्वतंत्रता चाहते हुए मुझे लज्जा आती है।

"मुझे निश्चय है कि तू अमूल्य धन का भाण्डार है और तू मेरा सर्वोत्तम मित्र है, किंतु मुझमें इतना साहस नहीं कि तेरे स्वागत के लिए अपने कमरे से झूठी चमक-दमक के सामान को निकाल बाहर कर कमरे को परिष्कृत कर लूँ।

"जिस चादर को मैं ओढ़े हुए हूँ वह मिट्टी और मृत्यु की चादर है, मैं उससे घृणा करता हूँ; किन्तु तो भी उसे प्रेम से चिपटाए हुए हूँ। मेरा ऋण बढ़ा हुआ है, मेरी आवश्यकता अधिक है, मेरी लज्जा गुप्त है; किंतु उसका भार असह्य है। तो भी जब मैं अपने कल्याण के लिए प्रार्थना करने आता हूँ, तब मैं डर से काँप उठता हूँ कि कहीं मेरी प्रार्थना स्वीकार न हो जावे"—(२८)

हममें से कितने हैं जिनका हाल ऐसा नहीं होता। हम सत्संकल्प करते हैं, किन्तु उनको पूरा करने का साहस नहीं होता है। लालच का अवसर आते ही सब संकल्प धूल में मिल जाते हैं। यहाँ महात्मा तुलसीदासजी ने इस विषय में क्या ही अच्छा पद कहा है—

"मेरो मन हरि हठ न तजै।
निशि दिन नाथ देउँ सिख बहुविधि करत स्वभाव निजै॥
ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुण दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल शठ पुन खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रमत गृहपशु ज्यों जहँ तहँ शिर पदत्राण बजै।
तदपि अधम विचरत तिहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥
हौं हार्यो कर यतन विविध विधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥"

संसार में पाप-कर्म में पड़ने का लालच हमको धीरे धीरे अपने वश में कर विवश कर देता है, और हमारे हृदय से सद्विचारों को बहिष्कृत कर देता है। जब हम अपने में स्थान देते हैं, तो वह सदा के लिए हमारे ऊपर आक्रमण कर लेता है। "दिन के समय जब वे मेरे घर आये उन्होंने मुझ से कहा कि हम यहाँ पर सब से छोटा कमरा लेंगे। वे कहने लगे कि हम तुम्हारे ईश्वर की आराधना में सहायता देंगे और बड़ी नम्रता के साथ उसकी कृपा में तुम्हारे साथ भाग लेंगे। ऐसा कह कर वे एक कोने में नम्र और शांत भाव से बैठ

गये।" सच है, पुण्य का ही रूप धारण कर पाप मनुष्य के हृदय में प्रवेश करते हैं। मनुष्य इस विषय में अपने को बहुत जल्द धोखा दे देता है। स्वेच्छाचार को मनुष्य अपने समझाने के लिए स्वतंत्रता मान लिया करते हैं। वृथाभिमान को आत्म-गौरव के नाम से पुकारने लगते हैं। स्वास्थ्य-सुधार के मिस मदिरा पान करने लगते हैं। धर्म और समाज की ओर दूसरों का निरादर करना कर्तव्य समझने लगते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपना मन समझाने के लिए बहुतसी बुराइयों को भलाई का रूप दे देते हैं। किन्तु जब वे एक बार स्थान पा जाती हैं तो वे हमारे हृदय के सद्विचारों का समूल नाश कर देती हैं।"

"किंतु अब मैं देखता हूँ कि घोर रात्रि के अंधकार में प्रबल और प्रचण्ड होकर मेरे देवालय में घुस आये हैं और अपवित्र लोलुपता के साथ ईश्वर की वेदी पर से पूजा के उपहार को हर ले जाते हैं।—(३७)

लालच की प्रबलता बताते हुए रवीन्द्र बाबू अपने उत्तरदायित्व को नहीं भूल जाते। जो कुछ दण्ड मिलता है वे उसको अपने ही कर्तव्य का फल बतलाते हैं। अपनी बेड़ियों को अपनी ही बनाई हुई कहते हैं। देखिए:—"हे बन्दी, बता वह तेरी अटूट बेड़ी किसने बनाई? बन्दी ने कहा कि इस जंजीर को मैंने ही बड़े यत्न से बनाया था।"—(३१)

रवीन्द्र बाबू मनुष्य की दुर्बलता को समझते हैं। वे जानते हैं कि असहाय मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। मन तब ही वश में होता है "जब प्रेरक प्रभु बरजै"। वे ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करते हैं—

"जब मेरा हृदय कठोर और शुष्क हो जावे तब तू मेरे ऊपर करुणा की झड़ी लगा दे। जब मेरे जीवन का माधुर्य्य नष्ट हो जावे, तब तू गीत गाता हुआ आ। जब सांसारिक कामकाज का प्रचण्ड कोलाहल सब ओर से उठ कर मुझे घेर ले और मेरा संबंध बाहर से तोड़ दे तब हे शान्ति के नाथ, तू अपना शांति-सुधा ले मेरे पास आ। जब मेरा कृपण हृदय दीन होकर एक ओर बैठ जावे, तो मेरे राजन्, द्वार खोलकर राजकीय धूम-धाम के साथ आ, जब वासना मन को मल और माया से अंधा कर देती है, हे पवित्र अनिद्र ईश्वर, तू अपनी ज्योति और गर्जना के साथ आ"।—(३९)

इसके साथ ही वे ईश्वर से बल की इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—"मेरे प्रभु! मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि मुझे ऐसा बल दे कि सुख-दुःख को सहज ही में सहन कर सकूँ। मेरे हृदय की दरिद्रता की जड़ पर तू कुठाराघात कर, मुझे ऐसा बल दे जिससे मैं अपने प्रेम को सेवा द्वारा फलवान् बनाऊँ। मुझे ऐसा बल दे कि मैं दीन-दुखियों को अपनाते हुए लज्जित न होऊँ और अभिमानी सत्ताधिकारियों के चरणों पर शिर न झुकाऊँ। मुझे ऐसा बल दे कि मैं सांसारिक तुच्छ झगड़ों में न पड़ूँ। मुझे वह बल दे जिससे कि मैं सारी शक्ति को तेरी मर्जी के अधीन कर दूँ।"—३६

आत्मसमर्पण के लिए सबसे अधिक बल चाहिए। रवीन्द्र बाबू की यह प्रार्थना महात्मा

तुलसीदास जी के कहे हुए जीवनादर्श से मिलती-जुलती है --

कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते संतस्वभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ संतोष सदा को हौं सो कछु न चहौंगो
पर-हित-निरत निरन्तर मन क्रम
वचन नेम निबहौंगौ ॥
परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि
तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत-मान सम शीतल मन पर
गुण नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहर देह-जनित चिंता-दुख
सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथि रहि अविचल हरि-
भक्ति लहौंगो ॥

रवीन्द्र बाबू अपने आदर्श की पूर्ति तथा आत्मानुभव के लिए कैसा देश चाहते हैं, इसके विषय में स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न कृत पद्यानुवाद सुनिए—

भगवन ! मेरा देश जगाना।
स्वतंत्रता के उसी स्वर्ग में,
जहाँ क्लेश नहिं पाना ॥
रुचे जहाँ मन को निर्भय हो
ऊँचा शीश उठाना।
मिले बिना कुछ खर्च किये ही
सब को ज्ञान-खजाना ॥
संग घरेलू दीवारों का
बुना न ताना-बाना।
इसीलिए बच गया जहाँ का
पृथक पृथक हो जाना ॥
सदा सत्य की गहराई से
शब्दमात्र का आना।
पूरणता की ओर यत्न का
जहाँ भुजा फैलाना ॥
विमल विवेक सुलभ स्रोते का
जो रसपूर्ण सुहाना।
रूढ़ि भयानक मरुस्थली में
जहाँ नहीं छिप जाना ॥
जहाँ उदारशील भावों का
भावे नित अपनाना।
सच्चे कर्मयोग में प्रति जन
सीखें चित्त लगाना ॥

इन सब साधनों के वर्तमान होते हुए भी लक्ष्य की प्राप्ति सहज नहीं है; उसके लिए अनेक जन्मों का परिश्रम चाहिए। रवीन्द्र बाबू इस बात को अच्छी तरह मानते हैं। देखिए, "मेरी यात्रा में बहुत समय लगता है और पथ लंबा है।

"तेरे नजदीक पहुँचानेवाला मार्ग बहुत दूर का है और सरलता का राग सिखानेवाली शिक्षा बड़ी कठिन और गूढ़ है। यात्री को अपने द्वार तक पहुँचने के लिए प्रत्येक पराये द्वार को खटखटाना पड़ता है। मेरे नेत्र निकट और दूर सब कहीं भटके, पश्चात् मैंने उन्हें मीचा और कहा "अरे, तुम तो यहाँ हो!"

यदि शिक्षा का काल परिमित होता, अर्थात् मनुष्य का एक ही जीवन होता तो मनुष्य के सुधार की कुछ आशा न थी। खोए हुए अवसरों को फिर पाना असंभव हो जाता है। लेकिन ईश्वर और काल अनंत हैं; इससे मनुष्य को

घबराना नहीं चाहिए। इस विषय में रवीन्द्र बाबू का आशावाद सुनिए—"मैंने अपने उद्योग-हीन समय में कई बार खोये हुए समय पर शोक किया; किन्तु, हे मेरे प्रभु, समय कभी व्यर्थ नष्ट नहीं हुआ; क्योंकि मेरे जीवन के प्रत्येक क्षण का नियन्ता तू है। तू सब पदार्थों में गुप्त रह कर बीजों में अंकुर, कलियों में फूल और फूलों में फल पैदा करता है।"—(२१) और देखिए—

"हे प्रभु, तेरे हाथों में समय अनन्त है। तेरे क्षणों को कौन गिन सकता है। दिन और रात बीतते चले जाते हैं, और युग के युग फूलों की भाँति विकसित होते हैं और मुर्झा जाते हैं। तू जानता है कि प्रतीक्षा किस प्रकार की जाती है। एक जंगली फूल को परिपूर्णता देने में अनेक शताब्दियाँ बीत जाती हैं"।

यह तो ईश्वरी नियमों और ईश्वरी सृष्टि का हाल हुआ। अब हम लोगों का हाल सुनिए—"हमारे पास समय खोने को नहीं है और समय न होने के कारण हमको योग्य अवसरों के लिए झगड़ा करने वालों के साथ झगड़ा करना पड़ता है। हम इतने दरिद्री हैं कि हमको देर करने की गुञ्जायश नहीं"। हमारी दृष्टि संकुचित है, हमारा ध्यान वर्तमान से आगे नहीं जाता, इसीलिए हम लड़ाई-झगड़े में पड़ते हैं। यदि हम अपने दृष्टि-क्षेत्र का विस्तार कर सकें तो संसार में से जीवन-संग्राम घट जावे। तात्त्विक दृष्टि अथवा समष्टि की दृष्टि से बहुतसी हानियाँ लाभ के रूप में दीखने लगती हैं। ईश्वरीय नियमों को न समझ कर हम जल्दी करते हैं; लेकिन इस जल्दी के करने का क्या फल होता है वह भी सुन लीजिए—

"इसी प्रकार झगड़ा करने वालों के साथ झगड़ा करने में हमारा समय चला जाता है और तेरी वेदी अन्त तक खाली पड़ी रह जाती है।

"दिवसान्त होने पर मैं इस भय से दौड़ता हूँ कि तेरे स्थान का द्वार बन्द न हो जावे; किन्तु मैं यह पाता हूँ कि अब भी समय है।"

इसका यह अर्थ नहीं कि हम समय का दुरुपयोग करें। यदि हम समय का दुरुपयोग करते रहेंगे तो समय कभी न मिलेगा। यद्यपि समय अनन्त है, तब भी रवीन्द्र बाबू समय खोने के पक्षपाती नहीं हैं। मिलने की तीव्र उत्कंठा है, न मिलने की विरह-वेदना उनको विह्वल कर देती है। समय का वृथा चला जाना उनको अखरता है। देखिए—"तुम्हारे हृदय में आलस्य है और निद्रा तुम्हारी आँखों में भरी है। क्या तुमने नहीं सुना है कि फूल काँटों के बीच में पूर्ण ऐश्वर्य्य के साथ राज कर रहा है? जागो, अरे जागो, समय को वृथा मत जाने दो"—(५५)। और, देखिए "हे प्रियतम, तू सब के पीछे छाया में छिपा खड़ा रहता है और लोग अनादर कर तुझको धक्का देते हुए धूलि-भरी सड़क पर तेरे सामने से निकल जाते हैं। तेरे लिए पूजोपहार संचित कर घंटों हाथ पर हाथ रखे हुए यहाँ पर तेरी बाट जोहता रहता हूँ। राहगीर इधर होकर आते हैं, और चयन किए हुए फूलों में से एक एक करके उठा ले जाते हैं और मेरी डलिया करीब करीब खाली हो जाती है। सुबह बीत जाता है और इसी प्रकार मध्यान्ह भी चला जाता है। सायंकाल की छाया में मेरी आँखें नींद से भारी हो जाती हैं। मैं भिखारी की भाँति अपने मुँह को ढाके हुए बैठा

रहता हूँ और जब लोग कहते हैं कि मैं क्या चाहता हूँ, तब मैं अपनी आँखें नीची कर लेता हूँ और उनको कुछ भी उत्तर नहीं देता। × × ×

"समय चला जाता है और तेरे रथ-चक्रों की आहट अभी तक सुनाई नहीं देती। बहुतसी सवारियाँ बड़े समारोह और गौरव की चमक-दमक के साथ निकल जाती हैं। क्या तुम्हीं सबके पीछे छाया में चुप चाप खड़े रहोगे। और क्या मैं ही रोता हुआ बाट देखता रहूँगा और व्यर्थ कामना के वशीभूत हो अपने हृदय को रो रो कर घुला दूँगा।"

जब मिलन की चाह इतनी उत्कट है तो ऐसे लोगों के लिए मृत्यु भयंकर स्वरूप में नहीं दिखाई पड़ती। वे मृत्यु को ईश्वर का चाकर बतलाते हैं और उसका सहर्ष स्वागत करते हैं—

"मृत्यु-रूपी तेरा चाकर मेरे द्वार पर आया है। वह अपरिचित समुद्र को पार करता हुआ तेरा निमंत्रण लाया है। रात अँधेरी है और मेरा हृदय भयभीत है, तो भी दीपक लेकर अपना द्वार खोलूँगा, उसको प्रणाम करूँगा और उसको प्रणाम कर उसका स्वागत करूँगा। यह तेरा ही दूत है जो मेरे द्वार पर खड़ा हुआ है। मैं हाथ जोड़ उसकी पूजा करूँगा और अपने आँसुओं का उसके लिए अर्घ दूँगा। मैं अपने हृदय का खजाना उसके चरणों पर रख उसकी पूजा करूँगा।"—(८६)

हम लोगों के लिए मृत्यु चाहे कैसी ही भयंकर हो, पर रवीन्द्र ऐसे भावुकों के लिए जीवन और मरण ईश्वर के दिये होने के कारण समान ज्ञात होते हैं। "इसी भाँति मृत्यु की अज्ञातशक्ति चिर-काल परिचित सी दिखाई पड़ेगी, और जीवन मुझे प्यारा है, अतः मैं जानता हूँ कि मृत्यु भी मुझे ऐसीही प्यारी लगेगी। जब बच्चे को माता के एक स्तन से अलग करते हैं तब वह रोता है; किन्तु तुरन्त ही उसको माता के दूसरे स्तन में संतोष मिल जाता है।"—(९५)

जो लोग मरण का भी स्वागत करने के लिए तैयार हैं उनके लिए सारे जीवन को ईश्वर की सेवा में लगा देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। रवीन्द्र बाबू ईश्वर के प्रति प्रत्येक नम-स्कार में आत्म-समर्पण करते हैं। वे आत्म-समर्पण करते हुए ईश्वर की इच्छा के साथ अपनी इच्छाओं का साम्य कर देते हैं। जीवन की सर्व क्रियाएँ 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' हो जाती हैं। देखिए, रवीन्द्र बाबू अपनी गीतांजली के अन्तिम गीत में किस प्रकार का नमस्कार करते हैं—

"हे ईश्वर, एक ही नमस्कार में मेरी सारी इन्द्रियाँ विस्तारित होकर इस संसार को तेरे चरणों में पड़ा हुआ जान स्पर्श करें। मेरा मन बिना बरसे हुए जल के भार से श्रावण के नम्र मेघ की भाँति एक ही नमस्कार में तेरे द्वार तक झुक जाय। तेरे समस्त गीतों के विविध रागों को एक धारा में मिलने दे और एक ही नमस्कार में नीरवता के समुद्र की ओर प्रवाहित होने दे। जिस प्रकार गृह-गमनोत्सुक हंसावली अपने पहाड़ी घोंसलों की ओर दिनरात उड़ती चली जाती है, उसी प्रकार मेरी आत्मा को एक ही नम-स्कार में अपने सनातन निवास-स्थान की ओर यात्रा करने दे।"



पंडितजी का फलाहार।

चित्रकार—
बाबू ब्रजेश्वर सेन.
बी० ए०।

कविता ।

(लेखक—पं० राजाराम शुक्ल)

सुभावों को रसों से पालती तू ।
व्यथित जग की व्यथाएँ टालती तू ॥
समय के रूप को नित ढालती तू ।
प्रकृति में नव्य जीवन डालती तू ॥
भुवन में भव्य-भूषित-भामिनी तू ।
कुशल सुकृती सुकवि की कामिनी तू ॥

सुसज्जित ओज-मय वर-वेष तेरा ।
समुज्ज्वल-ज्योति-मय उद्देश तेरा ॥
सरल-प्रासाद-मय संदेश तेरा ।
मृदुल-माधुर्य्य-मय आदेश तेरा ॥
यशस्वी-श्याम-घन की दामिनी तू ।
कुशल सुकृती सुकवि की कामिनी तू ॥

सुकर अनुभाव भावादिक वदन हैं ।
नयन स्थिर भाव, संचारी श्रवण हैं ॥
विभूषण-मय विशद अन्तःकरण हैं ।
मनोहर छन्द ही तेरे चरण हैं ॥
गहन साहित्य-पथ की गामिनी तू ।
कुशल सुकृती सुकवि की कामिनी तू ॥

अतुल-सौन्दर्य-युत है सृष्टि तेरी ।
मधुर मनमोहिनी है दृष्टि तेरी ॥
हृदय-ग्राही अचल आकृति तेरी ।
सुयश-मय चिर-सुखद है मूर्ति तेरी ॥
शरद की शुभ्र ज्योत्स्ना-यामिनी तू ।
कुशल सुकृती सुकवि की कामिनी तू ॥

सजीवन मंत्र है गुण-गान तेरा ।
ललित संगीत में आह्वान तेरा ॥
मही में है नहीं उपमान तेरा ।
सतत सब लोक में सम्मान तेरा ॥
सखी तू, शासिका तू, स्वामिनी तू ।
कुशल सुकृती सुकवि की कामिनी तू ॥

मनोराज्य ।

(लेखक—श्रीयुत "निर्गुण")

(१)

सृष्टि और मनुष्य-स्वभाव के कई नियम हमें बड़े असुविधा-जनक प्रतीत होते हैं; परन्तु इसमें हमारा वश ही क्या है । जब हम भूल कर चुकते हैं, तब हमें उसका ज्ञान होता है । जिस समय हमें बल-प्रयोग करने की आवश्यकता होती है प्रायः उसी समय हमें यह ज्ञान निश्चयपूर्वक हुआ करता है कि हम निर्बल हैं । इसमें सन्देह नहीं, हमारी यह विशाल-वदना जाति किसी प्रकार जीती-जागती है । यदि ऐसा न होता, तो इस उपवन में राम, कृष्ण, विवेकानंद, रामतीर्थ, तिलक, गांधी सरीखे नर-कुसुम विकसित ही न हुए होते; परंतु हमारे स्वाभिमानी देश-बन्धुओं को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम नितांत अशक्त हो गये हैं । इतनी अधिक निर्बलता एक ही दिन में नहीं आ सकती । इसका सूत्रपात आज कई सौ वर्षों पूर्व हुआ होगा । इस हीनता का कुछ कुछ अनुभव हम समय समय पर करते आये हैं; पर आज की परिस्थिति ने हमें स्पष्ट रूप से दिखा दिया है

कि हम कितने निर्बल हैं। जिसे हमारी असमर्थता के विषय में आज भी संदेह है उसका वह संदेह कभी तिरोहित न हो सकेगा। अपनी दुर्बलता का यह प्रत्यक्ष दर्शन हम उस समय कर रहे हैं जिस समय मेदिनी हमारे स्पर्श से कलंकित होने की आशंका कर रही है, आकाश अपने शब्द गुण से यह प्रतिध्वनित कर रहा है कि इस तरह तुम कितने दिन बच सकोगे ? परिस्थिति हमारे कानों के निकट आकर धीरे से यह पूछती है कि पश्चिम से उठती हुई अन्याय और स्वार्थ की इस भयंकर आँधी से बचने का तुमने कौनसा प्रबंध किया है ? ऐसे समय पर अपनी वास्तविकता का पता पाना भविष्य में क्या परिणाम दिखावेगा इस का उत्तर हम अपनी अल्प-विषया मति से नहीं दे सकते। जो हो; अपनी दुरवस्था की विभीषिका का प्रतिफल भोगना ही पड़ेगा। काल का प्रकाण्ड और दुर्दमनीय चक्र भयंकर गति से घूम रहा है। उस गति के अनुकूल यदि हम अपनी दिशा बदल दें तो बहुत संभव है कि काल-चक्र के शिरोभाग में हम पहुँच जावें। इसके विपरीत, प्रतिकूल दिशा में अग्रसर होने का परिणाम यही होगा कि हम क्षत-विक्षत होकर अतीत के गर्भ में सदैव के लिए विलुप्त हो जावेंगे। काल और चक्र की इस समानता को केवल आलंकारिक समझना भूल है। यह अनुभव-सिद्ध भयंकर सत्य है। जीने की आशा करने वाली मनुष्य जाति इसकी अवहेलना नहीं कर सकती।

जो हो; हमारी हीन और बिखरी हुई शक्तियों का ज्ञान हमें उस समय हो रहा है जिस समय हम असहयोग की आड़ में पारस्परिक सहयोग के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। हमारा यह प्रयत्न सफल हो या निष्फल, इस प्रसंग से हमें एक शिक्षा विवश होकर लेनी पड़ेगी। वह क्या है ?

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः"।

हमारे दर्शन-शास्त्रों के ये अनमोल वाक्य हमारे दुर्बल हृदय-पट पर गहरे अक्षरों में अंकित होंगे। इस शक्ति परिचायक परिस्थिति के जन्मदाता महापुरुष का यह उपकार इस निर्बल जाति के लिए क्या कम होगा ?

(२)

प्रेम-मग्न हृदय के आवेग में किसी भक्त ने अपने सर्वशक्तिमान स्वामी का सामर्थ्य-वर्णन इन शब्दों में किया है "चींटि के पाँव में बाँध गयंदहि चाहे समुद्र के पार लगावै"। इस उक्ति में कुछ संकीर्ण दृष्टि के तार्किकों को अतिशयोक्ति का दोष दिखाई देता होगा। पर हम यह पूछते हैं कि क्या यह केवल कल्पनात्मक अत्युक्ति के सिवा कुछ भी नहीं है ? क्या सृष्टि में ईश्वरीय लीला के ऐसे अनोखे उदाहरण प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते ? इँगिलस्थान और भारत का संबंध कैसा है ? निस्संदेह, यह दीर्घकाय भारत-गयंद क्षुद्र आंग्ल-भूमि-रूपी चिँउँटी के पैरों में लोहे की ज़ंजीर से बँधा हुआ लटक रहा है। जिनको ईश्वर ने दृष्टि-दान दिया है वे इस चमत्कार को देखें। सृष्टि के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना है। दीर्घकाय गयंद बेचैन है, छटपटाता है। न ज़ंजीर ही टूटती है, न चिँउँटी के कोमल पैर ही खंडित होते हैं। इसी प्रकार बँधा हुआ वह भारत-गयंद डेढ़ सदी का विशाल

काल-समुद्र पार कर चुका है। न जाने कितना शेष है। इस चमत्कार को देखकर भी उपरोक्त कवि-वाणी में किसी को अत्युक्ति-दोष दिखाई दे सकता है?

(३)

भारतवासियों को अपनी आध्यात्मिकता का बड़ा गर्व था। उनकी सदैव से यही धारणा होती आई है कि आत्म-निष्ठा और आत्म-शक्ति हमारे पूर्वजों की छोड़ी हुई संपत्ति हैं और हमें अनायास मिल गई हैं। हम इसके उत्तराधिकारी हैं। हम चाहे सब कुछ खो बैठें; पर हमारी यह संपत्ति हमारे पास ही रहेगी और समय पर काम आवेगी। भारत के कृपण पुत्रों ने यह सोचकर उस संपत्ति को बड़ी सावधानी से एक घड़े में बंद करके अपने रसोईघर के किसी सुरक्षित कोने में गड़ा दिया। उसे भूगर्भ में रख छोड़नेवालों ने अपनी अंतिम घड़ी की मूक अवस्था में अपने उत्तराधिकारियों को केवल इशारे से यह बतला दिया कि हमारे पूर्वजों की चिर-संचित संपत्ति इसी स्थान में गड़ी है। यही परंपरा चली आई। कई छोटे-बड़े प्रसंग आये; पर उस धन का उपयोग नहीं किया गया।

आज भारतवासियों को अचानक मालूम हुआ कि हमारे समान हीन और दरिद्र इस पृथ्वीतल पर शायद एक भी जाति नहीं है। हमारी भौतिक संपत्ति देखते देखते चंपत हो गई। अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, औद्योगिक, और राजनैतिक दुरवस्था का भयंकर चित्र आँखों से देखा नहीं जाता। हृदय-हीन संसार हमारे चारों ओर खड़ा होकर तिरस्कार की तालियाँ पीट रहा है। हम सोचते हैं अब क्या करें! किस उपाय से हम अपनी वर्तमान दुरवस्था से मुक्त हों?

जिस समय हम इस घबराहट में बैठे हुए हैं, असहयोग उच्च स्वर से सूचना देता है, अधीरता स्वीकार मत करो, अपनी पुरानी पैतृक संपत्ति का उपयोग अब करो। अपनी बची हुई संपत्ति के स्मरण से हमारे म्लान मुख पर कुछ हर्ष के चिह्न प्रगट होते हैं। झटपट भीतर जाकर अपने गृह के अंतरतम प्रदेश में हम छान-बीन करते हैं। पर देखते हैं, घड़ा फूट गया है, वह पैतृक-संपत्ति चली गई है।

(४)

अमेरिका में उपदेश देते हुए परम-पद-प्राप्त स्वामी रामतीर्थ ने दीन भारत की ओर से ईसाई संप्रदाय के साम्हने एक मार्मिक अपील की थी। उन्होंने कहा था कि हिन्दुस्थान यूरोप-निवासियों को एक दुधारू गाय के समान मिल गया है। आप लोगों ने बछड़े की बढ़ती हुई दुर्बलता की परवाह न करते हुए सबेरे-शाम लाखों मन दूध उसके स्तन से निकाल लिया है। सूखी घास खाते खाते अब बेचारी गाय भी दुबली और रुग्ण हो गई है, अब वह दूध भी बहुत कम देने लगी है। इस पर यदि मेरे मांसभोजी ईसाई मित्र यह कहें कि कुछ परवाह नहीं, दूध बंद होने पर हम उसे कसाईखाने भेज देंगे और इस तरह उसके मांस का भी उपयोग हो सकेगा। ऐसा उत्तर देनेवालों से मेरा इतना ही कहना है कि यदि आप लोगों की स्वाद-लोलुप जिह्वा उसके मांस के लिए ही लपलपाती हो,

तो भी आप महानुभावों को उसके स्वास्थ्य की रक्षा करनी होगी; क्योंकि रोगी जानवर का मांस आप लोगों के स्वास्थ्य में विकार उत्पन्न करेगा।

स्वामीजी ने इन शब्दों में परोक्ष-भाव से ईसाई मतावलंबियों के आध्यात्मिक स्वास्थ्य की ओर इशारा किया था; पर उनके इन मार्मिक वचनों का आशय वहाँ अधिकांश लोगों की समझ मे न आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि भौतिक-शक्तियों की दृष्टि में जड़ शरीर ही सब कुछ है। आध्यात्मिकता किसे कहते हैं वे इसे समझने की परवाह नहीं करते। शारीरिक स्वस्थता उनके लिए सब कुछ है, तज्जनित उपभोग उनके जीवन का उद्देश है। परन्तु हम पूछते हैं कि शारीरिक-स्वास्थ्य-संपन्न पश्चिमी लोगों की आत्मिक स्वस्थता कैसी है?

हृदय और वाणी में घोर विषमता, अंतर्जातीय पारस्परिक द्वेष, प्रेम और मित्रता का बाह्याडंबर, दूसरों की संपत्ति पर लोलुप दृष्टि, एशिया-निवासियों के प्रति अमानुषिक व्यवहार तथा असभ्य उद्दंडता—इन सबका परिणाम-स्वरूप वर्तमान सदी का भयंकर लंकाकांड—ईसाई धर्मावलंबियों के इन विकारों का परिचय संसार को मिल चुका है। यही उनकी आध्यात्मिक स्वस्थता का परिचय है। सूर्यास्तखंड के इन संक्रामक रोगों से ईश्वर बची हुई सृष्टि की रक्षा करे। इसमें सन्देह नहीं वे रोगी जानवर का मांस-भक्षण बहुत पहले ही कर चुके हैं।

(५)

सुनते हैं, प्राचीन भारतवर्ष में एक बड़ा प्राचीन और प्रचंड दुर्ग था। ऐसे विलक्षण दुर्ग की रचना अतीत संसार में किसी मनुष्य-जाति ने कहीं भी नहीं की। भविष्य में ऐसी आशा भी नहीं है। वह क़िला इतना बड़ा था कि उसके अंतर्गत होकर सारे हिन्दुस्थान की जनता रह सकती थी। दीवारें उसकी इतनी दुर्भेद्य थीं कि आक्रमणकारी शत्रु उनसे यथाशक्ति टक्कर लगा कर हताश लौट जाते थे। उसका निर्माण ऐसे पदार्थों के योग से हुआ था कि न तो तोपें उसको गिरा ही सकती थीं, न किसी प्रकार का शस्त्र-प्रयोग उसे किसी स्थान पर खंडित ही कर सकता था। "नैनम् छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनम् दहति पावकः"—गीता का यह मार्मिक वाक्य इस अभूतपूर्व दुर्ग-द्वार के शीर्ष-भाग पर अंकित था। यह अभी तक समझ में नहीं आया कि इसके तैयार करने में कितनी सदियाँ लगीं और कितना परिश्रम उठाना पड़ा। विदेशी यात्री जो यहाँ आते थे वे इस दीर्घकाय दुर्ग को देख कर दाँतों तले उँगली दबाते हुए लौट जाते थे। इसके भीतर आने या तथा बाहर जाने का एक ही मार्ग था जो अहर्निश खुला रहता था। उस मार्ग से केवल स्वर्ग लोक के निवासी ही आ जा सकते थे। इनके सिवा, यथार्थ में इस दुर्ग के निवासियों का संबंध किसी दूसरी जाति से था भी नहीं।

यह भी सुनते हैं कि इस दुर्ग के अंतरतम प्रदेश में एक देवी का निवास था। दुर्ग-निवासी उसकी बड़ी श्रद्धा से आराधना किया करते थे। उस शक्ति की यह अलौकिक विशेषता थी कि बलवती होकर भी वह किसी भी आक्रमणकारिणी विरोधिनी शक्ति का नाश नहीं करती थी। वह केवल आत्म-रक्षा किया करती थी। जो उसपर मुग्ध होकर उसका आवाहन करते थे उनके पास

वह सहर्ष जाती थी। भारतवर्ष की जनता उसकी छत्रच्छाया में रह कर अपने को धन्य मानती थी। देव-समुदाय उसकी मनोरम रूप-माधुरी पर मुग्ध था, सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मदेव की वह बड़े कष्टों से पाई हुई एकमात्र लाड़ली थी।

आज हम उस दुर्भेद्य गढ़ को सैकड़ों स्थानों में खंडित पाते हैं। सैकड़ों स्थानों में शत्रुओं के शस्त्राघात के चिह्न भी दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उसकी फूटी हुई सुदृढ़ दीवारों से आक्रमण-कारियों ने भीतर घुसने का कई बार निष्फल प्रयत्न भी किया है। दुर्ग-निवासी किसी मोह-निद्रा में अचेत पड़े हैं। गढ़ की अधिष्ठात्री देवी अपने अचेत भक्तों की रक्षा करने के लिए रण-चंडिका का रूप धारण करके न जाने कब से विरोधिनी शक्तियों के आघात और आक्रमण का प्रतीकार कर रही है। ऐसी अवस्था में कुछ सचेतन दुर्ग निवासी घबराहट में पड़े हैं और कुछ इस अनिष्ट-कारी परिस्थिति से अपने को मुक्त करने के लिए कटि-बद्ध हो रहे हैं। परंतु अधिकांश जड़ता-क्रांत अवस्था में बेसुध पड़े हुए हैं। ईश्वर ही जाने, भविष्य में इन सबका क्या परिणाम होगा।

आप जानते हैं, भारतवर्ष का यह प्राचीन और प्रकांड दुर्ग क्या है?

वर्णाश्रम धर्म। और इस दुर्ग की वंदनीया यह अधिष्ठात्री देवी कौन है? —**आर्य सभ्यता।**

मध्यप्रदेश के प्रशस्तिकार कवि।

(लेखक—श्रीयुत "एक जबलपुरिया")

[इस लेख का पहला भाग "श्रीशारदा" की ५ वीं संख्या में निकल चुका है। उसमें बतलाया गया है कि मध्यप्रदेश सात प्रमुख जातियों के मेल से बने हुए जन-समूह का मिश्रण है और गत ढाई हज़ार वर्षों के भीतर, २८ राजवंश उसपर राज कर चुके हैं। इन राजवंशों की प्रायः २०० प्रशस्तियाँ मध्यप्रदेश में पाई गई हैं जिनमें से कई में प्रशस्तिकार का नाम नहीं दिया गया। पहले सात राजवंशों के १९ लेख पाये जाते हैं; पर उनमें से बहुत कम में लेखकों का नाम पाया जाता है। दूसरे राजकुल-समक के समय में कविता का प्रचार अधिक दीख पड़ता है; क्योंकि प्रायः सभी प्रशस्तियाँ छन्दोबद्ध लिखी गई हैं। एक कलचुरि राजवंश की प्रशस्तियों को छोड़ शेष छै राजवंशों के प्रशस्ति-लेखकों का वर्णन और उनमें से कुछ लेखकों के लेखों के उदाहरण इस लेखके पहले भाग में दिये जा चुके हैं। इस दूसरे भाग में कलचुरि राज-वंश के प्रशस्तिकारों का सोदाहरण वर्णन किया जाता है। —**श्रीशा० सं०।**]

(२)

अब हम जबलपुरिया राजाओं के कवियों का लेखा लेते हैं। ये राजा कलचुरिया थे और जबलपुर से ६ मील पर त्रिपुरी (वर्तमान तेवर) में, रहते थे। यह बात सबको विदित है कि ये बड़े प्रतापशाली राजा हो गये हैं। इनके विजय का डंका उत्तर में नैपाल, दक्षिण में कर्नाटक, और पूर्व और पश्चिम में समुद्र के तट तक बजता था।

जैसे ये धर्म के दृढ़ भक्त थे उसी प्रकार ये साहित्य के बड़े प्रेमी थे। कई विद्वानों का मत है कि इन्हीं की राज-सभा में प्रख्यात कवि राजशेखर रहते थे। कलचुरियों की बिलहरी की प्रशस्ति में, जिसका एक भाग सीरुक नामी किसी कायस्थ ने और दूसरा नाई नामक एक अर्जीनवीस के लड़के ने लिखा था, राजशेखर के विषय में इस प्रकार वर्णन किया गया है: —

सुश्लिष्टबंधघटनाविस्मितकविराजशेखरस्तुत्या।
आस्तामियमाकल्पं कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्वा च॥

अर्थात्, इस प्रशस्ति की रचना को देखकर कवि राजशेखर विस्मित हो गये थे और उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि राजशेखर कोई बड़े प्रतिभाशाली कवि और विद्वान थे। इनके बनाए हुए नाटकों का अभिनय दशवीं शताब्दी में कन्नौज के महाराजाओं के सामने किया गया था। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल तो इनके शिष्य+ हो गये थे। राजशेखर ने कविकुल में जन्म लिया था और अपना विवाह-सम्बन्ध भी कवियों के यहाँ ही किया था। इनकी स्त्री चौहानिन थी और काव्य-रहस्य अच्छी तरह जानती थी। स्वयं राजशेखर ने अपने अप्रतिम "काव्यमीमांसा" ग्रन्थ में कम से कम तीन बार अवन्तिसुन्दरी की मति का हवाला दिया है। उन्होंने अपने कर्पूरमञ्जरी नाटक में अपनी पत्नी का परिचय इस प्रकार लिखा है: —"चाहुआण कुल मौलिमालिआ राअसेहर इन्द गेहिणी। भत्तुणो किइमवन्तिसुन्दरी सा पउञ्जइऽमेजमिच्छइ"। राजशेखर अपने पुरखों को महाराष्ट्र-कुल-चूड़ामणि लिखते हैं। उनके विवाह-सम्बन्ध से स्पष्ट है कि वे क्षत्रिय थे। मराठा क्षत्रियों के लिए यह बड़े गौरव और गर्व की बात है कि सहस्र वर्ष पूर्व उनकी जाति में राजशेखर सा धुरन्धर कवि हो गया जिसने संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के काव्यों में अतुलित कीर्ति प्राप्त की। बिलहरी के प्रशस्ति-लेखक कुछ कम दरजे के कवि नहीं थे; परंतु जब राजशेखर ने उनके प्रबंध का अनुमोदन कर दिया तब तो वे फूले नहीं समाये और उन्होंने अपने लेख में इस बात का समावेश कर दिया। हमको स्वयं राजशेखर-कृत कोई प्रशस्ति उपलब्ध नहीं हुई; परन्तु उनके चेला-चाटों ही की कृति हम लोगों के विनोद के लिए बस है। लीजिए हज़ार वर्ष पुरानी कायथी कविता का नमूना:—

"वाचामुज्ज्वलिमापि नास्ति यदि मे तत्कीर्त्तिमानोऽलमस्मादेव महीयसः शशभृतो वंशात्समुत्पद्यते। यद्वा पश्य निसर्गकालिमभुवो यासीमदानच्छटाः क्षीरोदन्वति किन्न संगतिभृतस्तन्द्रायतो बिभ्रति॥" अर्थात्, यद्यपि मेरे उज्ज्वल वाचा नहीं है तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसकी चमक उस चन्द्रवंश से आ जायगी जिसकी मैं प्रशस्ति लिखता हूँ। क्या नैसर्गिक कालिमा की जगह दिग्गजों के मद की धाराओं में मिलते ही समुद्र के फेन के समान चमकने नहीं लगती है?"

बेशक सीरुक! भीरुक होना तो तुम जानते ही नहीं, साहस तो तुम्हारे कायस्थ (काया में स्थित) है; इस प्रशस्ति में भी तुमने वह प्रसंग ला दिया है जिससे टकि ठीक स्थिर नहीं हो

+ रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।

सकता कि तुम्हीं ने कविता बनाई थी या स्थिरा-नंद के सुत श्रीनिवास ने।

भूपत्रययशोराशिवर्णनं प्रथमं कृतं।
श्रीमता श्रीनिवासेन श्रीस्थिरनंदसूनुना ॥

इससे तो जान पड़ता है कि कदाचित् सोरुक और नाई ने केवल नकलनवीसी की, रचना नहीं की। जो हो, प्रशस्ति का रचयिता अवश्य बड़ा विद्वान था। यह प्रशस्ति रानी नोहला देवी ने अपने बनवाए शिवमन्दिर में लगवाई थी। इन्हीं के वंश की रानी अल्हण देवी ने सन् ११५५ ईस्वी में भेड़ाघाट मे दान किया था और एक प्रशस्ति लिखवाई थी। उसके रचयिता पं० शशिधर थे। आप अत्यन्त निपुण और तर्कशास्त्र के विशेष विद्वान थे। आपने अपने सम्बन्धियों का भी कुछ ज़िक्र किया है। आपके भाई का नाम पृथ्वीधर था जो 'समस्त गंभीर शास्त्रार्णवपारदृश्वा' थे और जिनके शिष्यों ने दिग्विजय कर डाला था। आपके पिता का नाम धरणीधर था 'जिन्होंने अपने नाम, गरिमा, यश और श्री से धरणीधर शब्द को सार्थक किया था। आप कोमलकान्ति स्नेह के भार से भरे हुए दीर्घ मनोज्ञ दशा से पूर्ण मानो त्रिभुवन के दीपक थे'। इस प्रेमपूर्ण कविद्वारा अपने पिता की प्रशंसा क्षम्य है। धरणीधर के पिता का नाम महेश्वर था। आप मौन्य वंश में पैदा हुए थे और भार्गव, वैतहव्य और सावेतस त्रिप्रवर वाले थे। शशिधर पूरे जबलपुरी पंडित मालूम होते हैं। अवश्य ये त्रिपुरी (अर्थात् तेवर) में रहते रहे होंगे, नहीं तो वे अपने पुरखों का मूलस्थान बिना बतलाए न रहते।

शशिधर की कविता शशि सी ही सुहावनी और गूढ़ है। आप तार्किक थे ही; इसलिए आपकी कविता का तर्कनाओं से भरी हुई होना कोई अचरज की बात नहीं। शशिधरजी ने भेड़ाघाट-प्रशस्ति में, आदि में, शशिशेखर की वंदना ४ श्लोकों में की है। पहले श्लोक में महादेव जी का शशिधर-रूप में आशीर्वाद दिलाया गया है, दूसरे में गंगाधर-रूप से, तीसरे में अष्टांग-रूप से और चौथे में नीलकंठ-रूप से। हम यहाँ पर दूसरे और चौथे श्लोक को उद्धृत करते हैं। दूसरा श्लोक शार्दूलविक्रीड़ित है:—

किं मालाः कुमुदस्य किं शशिकलाः
किन्धर्म्म्यकर्म्मांकुराः ।
किम्वा कञ्चुकि कञ्चुकाः किमथवा
भूत्युद्गमा भान्त्यमी ॥
इत्थन्नाकिवितर्किताः शिवशिरः
संचारिनाकापगा—
पिङ्गद्वल्गुतरङ्गभङ्गिततयः
पुण्यप्रपाः पान्तु वः ॥

अर्थात्, शिव के सिर के पुण्य के वे फुहारे, आकाशगंगा की टेढ़ी मेढ़ी बहती और कूदती वे तरंगें तुम्हारी रक्षा करें जिनको देख कर स्वर्ग के देव-गन्धर्व मन में तर्कना करते हैं कि वे कमल की मालाएँ तो नहीं हैं या चन्द्र की कलाएँ या पुण्यकर्म के अंकुर या साँप की केंचुरी अथवा ईश्वरी प्रभा का आविर्भाव तो नहीं हैं।

चौथा श्लोक अनुष्टुप् है:—

शक्तिहेतिपरप्रीतिहेतुश्चन्द्रकचर्चितः ।
ताण्डवाडंबरः कुर्य्यान्नीलकंठः प्रियाणि वः॥

अर्थात्, वह नीलकंठ जो बर्छी-भाला-धारियों को आनन्द से भर देता है और बालचन्द्र से चर्चित हो ताण्डव-नृत्य में मग्न रहता है तुमको जो प्रिय होवे सो देवे। यह श्लोक श्लेषात्मक है और नाचते हुए मोर को भी लग सकता है। मोर भी नीलकंठ कहलाता है, वह शक्तिधर अर्थात कार्त्तिकेय के आनन्द का हेतु है, उसकी पूँछ चन्द्रकचर्चित रहती है अर्थात् उसमें चन्द्रमा के समान काले चिह्न रहते हैं।

शशिधर के भाई पृथ्वीधर ने भी एक प्रशस्ति कलचुरि राजा गयाकर्णदेव के समय में सन ११५१ में तैयार की थी। वर्तमान शोध के अनुसार यही कवि नामी जान पड़ते हैं। सब प्रशस्तियों के लेखकों के नाम अभी उपलब्ध नहीं हैं।

त्रिपुरी के कलचुरियों की एक शाखा बिलासपुर जिले के तुम्माण में स्थित होकर कालांतर में स्वतंत्र हो गई। उन्होंने पीछे से रतनपुर में अपनी राजधानी स्थापित की। इसी रतनपुर के राजा हैहयवंशी कहलाने लगे। यथार्थ में, कलचुरि हैहयों की एक शाखा है। यह उन्हींके लेखों में पाया जाता है। सिरहा प्रशस्ति में भी लिखा है:—

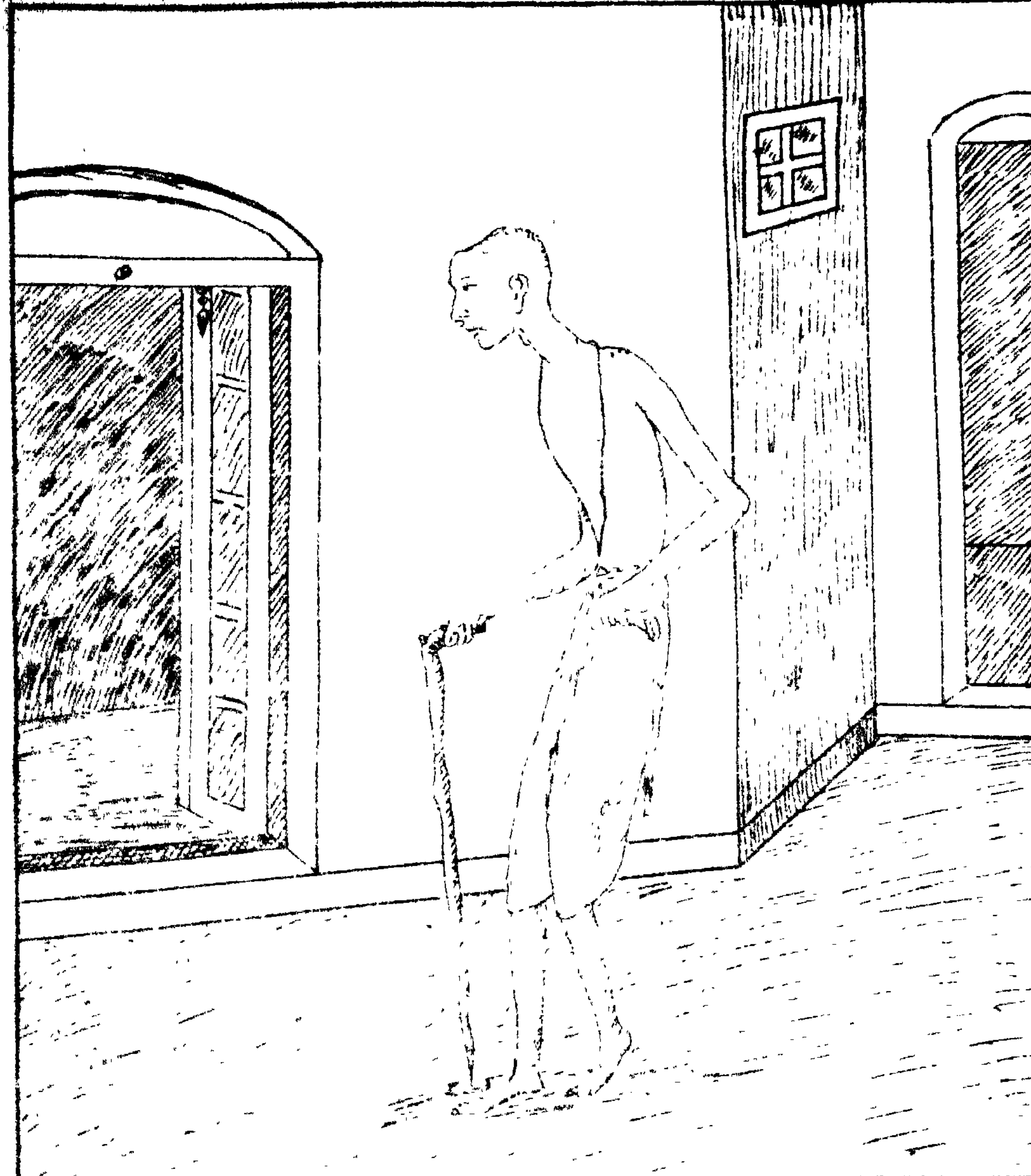
"अत्रैव हैहयनृपान्वयपूर्वपुंसि
राजेति नाम शशलक्ष्मणि चक्रमेयः ॥
स हिमाचल इव कलचुरि
वंशममृत क्षमाभृतां भर्ता।"

इनके प्रशस्ति-लेखक भी भिन्न भिन्न जातियों के कवि थे। सन १११४ ई० में जाजल्लदेव के समय में एक कायस्थ ने प्रशस्ति लिखी थी; परन्तु पत्थर के फूट जाने से यह वार्ता अब भ्रांतिजनक हो गई है। एक कवि राजघराने ही में पैदा हुआ था। उसका नाम था कुमारपाल। उसीने शिवरीनारायण की प्रशस्ति सन ११६५ ई० में लिखी थी। उसमें आपही के चन्द्रचूड़ को चढ़ाए हुए ग्राम के दान का ज़िक्र है। आपने तत्कालीन राजा की एक और दूसरी प्रशस्ति सन ११६७ ई० में लिखी थी यद्यपि उसका रचयिता रत्नसिंह नामी वास्तव्य (कायस्थ) था। रत्नसिंह ने अपना वर्णन इस प्रकार लिखा है—

"काश्यपीयाक्षपादीयनयसिद्धांतवेदिना।
विपक्षवादिसिंहेन रत्नसिंहेन धीमता।........
वास्तव्यवंशकमलाकरभानुनेयम्।
सामस्तेन रचिता रुचिरा प्रशस्तिः॥"

रत्नसिंह का आजा त्रिपुरी ही से तुम्माण को गया था। रत्नसिंह का लड़का देवगण था। वह भी बड़ा कवि था। उसने रतनपुर के निकट सांभागर्व में शिवमंदिर बनवाया था और उसमें स्वरचित प्रशस्ति लगवा दी थी। उसमें अपनी प्रशंसा में उसने अपने को "दण्डनीति में भृगुसुत समान, काव्य में सत्यधीमान और छन्दोलंकृतिशब्दमन्मथकलाशास्त्रान्तचरद्युति, निःशेष आगमशुद्धबोध विभव और सत्कीर्त्यम्बुधिपराग" लिखा है। कुमारपाल कवियों का संग ही नहीं छोड़ता था, यदि रचना न करता तो नकल अवश्य कर देता था। देवगण की प्रशस्ति की भी नकल उसीने की थी जिसके बदले में निम्नलिखित श्लोक इनाम में मिला था:—

यः काव्यकैरवविकाशनशीतरश्मि
र्हरीमबुद्धिनिलयो अवनिपालसूनुः।



चित्रकार - श्रीयुक्त पी. सी. चौधरी।

अंगं गलितं पलितं मुण्डं,
दशन-विहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं,
तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्॥

नादरी प्रेस, जबलपुर, में छपा।

विद्याविलासवसतिर्विमलां प्रशस्तिं
श्रीमानिमां कुमारपालबुधो लिलेख ॥ ”

रत्नपुर के हैहयों की एक शाखा रायपुर ज़िले में खल्वाटिका में जा बसी, अब उसका नाम खलारी है। उस स्थान में एक मोची ने सन् १४१५ ई० में मन्दिर बनवाया और तत्कालीन राजाओं की विरुदावली लिखवा दी। इसका रचयिता भी रामदास नामक वास्तव्य कायस्थ था। आप अपने को पण्डिताधीश्वर लिखते हैं। सचमुच कायस्थ अग्रगामी सदैव रहे हैं। प्राचीन काल में संस्कृत का अध्ययन कर पण्डितों के कान काटते रहे और मुसलमानी ज़माने में मौलवियों के कान काट डाले और इस ज़माने में भी कान काटने में न्यून नहीं हैं। हैहयों का राज उठ गया, पर उनके ज़माने के कायस्थ कवि का अस्तित्व भोंसलों के राज को लाँघ कर अंगरेज़ी ज़माने तक स्थिर रहा। रत्नपुर के बाबू रेवाराम कायस्थ को मरे बहुत दिन नहीं हुए। वह अपने ज़माने में मध्यप्रदेश में संस्कृत का अद्वितीय कवि था। उसके पुरखे रत्नपुर के राजाओं के दीवान थे।

आत्मस्वातंत्र्य और मानवी उन्नति।

(लेखक—पं० गोपाल दामोदर तामसकर, एम. ए., एल. टी.)

कई बार सुनने में आया है कि "भाग्य में जो बदा होगा वही होगा। तुम चाहे कोटि यत्न करो, कुछ न होगा। घबराने से होता ही क्या है?" क्या यह पूर्णतया सत्य है? क्या हमारे प्रयत्न से कुछ भी नहीं होता? क्या प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक व्यक्ति का दैव हमेशा के लिए बन गया है? क्या वह बदल नहीं सकता? क्या हम नितांत दैवाधीन हैं? क्या हम अपना सुधार अपने इच्छानुसार नहीं कर सकते? क्या हमारी उत्कट इच्छाएँ और दृढ़ संकल्प कभी पूरे होने के नहीं हैं? अथवा जो इच्छाएँ हमारे मन में उत्पन्न होती हैं, जो संकल्प हम करते हैं, वे क्या 'हमारे' नहीं हैं? इत्यादि अनेक प्रश्न उठ सकते हैं और उनका उत्तर ढूँढ़ निकालना हमारे जीवन में कभी कभी आवश्यक प्रतीत होता है।

इसका विचार करने के लिए मनुष्य के मन के विकास पर कुछ दृष्टि डालना आवश्यक है। पहले पहल शिशु प्रकृति के अधीन रहता है। प्राकृतिक रीति से उसे जो कुछ होता है उस प्रकार उसका आचरण रहता है। भूख लगने से कष्ट होने के कारण वह रोता है। पहले पहल स्तन मुँह में डालने पर भी वह पीने नहीं लगता—उसे कुछ सिखलाना पड़ता है। उसे भूख लगती है; पर मालूम नहीं कि यह कष्ट भूख का है या कि और कुछ, और यह भी वह नहीं जानता कि क्या करने से वह कष्ट दूर होगा और संतोष प्राप्त होगा। कई बार के अनुभव से बच्चा जानने लगता है कि स्तन के दूध से उसका कष्ट दूर होता है, और फिर स्तन मुँह में डालते ही दूध पीने लग जाता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह जान बूझ कर ऐसा करता है। यह एक अंतःप्रवृत्ति का कार्य है—सोच विचार उसमें कुछ भी नहीं है। विशिष्ट प्रकार के कष्ट होने से वह रोता है, विशिष्ट प्रकार का स्पर्श होने से स्वाभाविकतया दूध पीने की विशिष्ट प्रकार की क्रिया करने लगता है। सारांश, उस समय उसे केवल वेदना होती है, उसे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं है—और स्वाभाविक रीति से अर्थात् अंतःप्रवृत्ति से, वह विशिष्ट प्रकार की क्रिया करता है। इन्हीं दोनों के अनेक अनुभव से वह ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान बहुत धीरे धीरे बढ़ता है और वह सब बहुधा इसी प्रकार प्राप्त होता है। बड़े होने पर बालक को प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता हमेशा नहीं रहती, तथापि जब कभी कोई नितांत नवीन वस्तु हो तो उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता रहती है। मन के जो तीन भाग ज्ञान, भावना और प्रेरणा (Know-

ing, feeling and willing) माने गये हैं इनमें से बाल्यपन में ज्ञान का कुछ भी भाग नहीं रहता, भावना बहुत थोड़ी रहती और स्वतन्त्र प्रेरणा नाम को भी नहीं रहती। जो कुछ प्रेरणा रहती है वह सब प्राकृतिक रहती है। बालक की निजी प्रेरणा कोई नहीं है। स्तन का स्पर्श होते ही जो वह दूध पीने लगता है इसका न उसे कोई ज्ञान है, न इस कार्य के लिए उसकी निजी प्रेरणा है। वह प्रकृति के नियम का दास है, और उसे वह अनजाने ही पालता है। यही कारण है कि छोटे बच्चों से कितना भी भारी दण्डनीय कार्य किया जाय तो वह दण्डनीय नहीं समझा जाता। उसके कार्य परिस्थिति-जन्य हैं, वे उसके 'खुद के कार्य' नहीं हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ज्ञान और प्रेरणा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों प्रेरणा-शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसी कारण कुछ दार्शनिक कहते हैं कि प्रेरणा-शक्ति कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, वह केवल ज्ञान ही का परिणाम है। प्रेरणाशक्ति बढ़ाने के लिए ज्ञान ही का बढ़ना यथेष्ट है। पर यह सिद्धान्त जैसा [illegible] दिखलाता बहुत निराशामय, अनुत्साहक [illegible] अपौरुषेय है, तथापि हमारा कहना यह नहीं है कि उसमें यह दोष होने ही के कारण यह त्याज्य अथवा अग्राह्य है। हमें तो वह सर्वथा असत्य प्रतीत होता है।

यह माना कि हमारे प्रथम कार्य प्रकृति के 'कार्य' हैं, हममें विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट अन्तःप्रवृत्ति पैदा होती है और तदनुसार हम कार्य करते हैं। हमें किसी बात का ज्ञान नहीं है, और इस कारण जानबूझकर हम कुछ नहीं कर सकते; पर इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि हमारी प्रेरणा-शक्ति केवल ज्ञान का परिणाम है। जिस प्रकार ज्ञान धीरे धीरे बढ़ता है, उसी प्रकार प्रेरणा-शक्ति भी धीरे धीरे बढ़ती है। इसका स्वतंत्र अस्तित्व पहले पहल न रहता हो, पर वह कभी नहीं रहता ऐसा कहने में आपत्ति पैदा होती है। यदि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तो ज्ञान होने पर भी सब कार्य परिस्थिति-जन्य होंगे, और सब कार्यों को परिस्थिति-जन्य सिद्ध करना असंभव है। हमें भूख लगी है, हम जानते हैं कि हम भोजन करेंगे तो क्षुधा-जन्य कष्ट दूर हो जावेंगे; परन्तु हम जानबूझकर कभी कभी भोजन नहीं करते। क्षुधा का हमें ज्ञान है, और हम जानते हैं कि भोजन करने से प्रकृति-जन्य कष्ट दूर हो सकते हैं, तथापि हम भोजन न करने का निश्चय कर तदनुरूप आचरण करते हैं? यह आचरण किस ज्ञान का परिणाम है? क्या इसमें हमारी स्वतन्त्र प्रेरणा-शक्ति नहीं है? क्या यह हमारा 'निजी' कार्य नहीं है? क्या इसे हम जानबूझ कर नहीं कर रहे हैं?

अनुमान कीजिए कि हमारे सामने बाघ चला आ रहा है। स्वाभाविकतया वह भयंकर प्राणी है; पर हम स्थिर बने हुए हैं। क्या यह हमारा 'निजी' कार्य, सोचसमझ कर किया हुआ कार्य, हमारी प्रेरणा-शक्ति का कार्य नहीं है? प्रकृति की प्रेरणा थी कि हम भाग जायँ, ज्ञान भी यही बतलाता था; पर हम डटे हुए हैं। यह भी किसी परिस्थिति का परिणाम, किसी ज्ञान का कार्य हो सकता है? क्या इस कार्य को परिस्थिति-जन्य अथवा बाघ के विषय में हमें जो ज्ञान है तज्जन्य कहा जा सकता है? यह भी मान लीजिए कि वह बाघ सामने नहीं आ रहा था, वह बाजू से जा रहा था और तुम उसकी दृष्टि में नहीं पड़ सकते थे, पर वह तुम्हें दिख रहा था। ऐसी स्थिति में प्रकृति यही बतलायेगी कि भागो। यदि बाघ देख पाया तो दौड़ कर तुम्हें उठा ले जाय; पर ज्ञान बतलाता है कि भागो नहीं, भागोगे तो शब्द होगा और वह बाघ जो चुपचाप शायद चला जाय तुम्हारी आहट पाकर दौड़ आवेगा। तदनुसार तुम आचरण भी करते हो। क्या यह कार्य परिस्थिति-जन्य है? परिस्थिति कुछ भयंकर अवश्य है और स्वभावतः भागने की प्रवृत्ति होती है, पर ज्ञान के सिखावन के अनुसार तुम आचरण करते हो। 'भागना' या 'ठहरना' तुम्हारे सामने ये दो प्रश्न हैं और प्रकृति तुम्हें भागने की ही सलाह देती है, तथापि ज्ञान का कहना तुम

सुनकर तदनुसार आचरण करते हो। क्या यह कार्य तुम्हारा 'खुद का' नहीं है? क्या प्रकृति का या परिस्थिति का है?

ऐसी अवस्था में कोई कैसे कह सकता है कि हममें स्वतंत्र प्रेरणा-शक्ति नहीं है? इन कार्यों को और कैसे समझा सकते हैं? वे किसी स्थिति में भी केवल ज्ञान के कार्य नहीं हैं। हम मानते हैं कि हमारे बहुत से कार्य प्रकृति की आज्ञाओं के पालन के लिए किए जाते हैं, हम बहुत अंशों में प्रकृति के दास बने हैं; पर हम सर्वथा प्रकृति के दास नहीं हैं। कुछ कार्य हम अवश्य अपनी निजी प्रेरणा-शक्ति, इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति—आत्म-प्रवृत्ति—से आचरण करते हैं। यह शक्ति हममें अवश्य है। प्रकृति से चारों ओर घिरे रहने के कारण हम केवल प्रकृतिमय ही नहीं हैं—हम भी कुछ अवश्य हैं।

यदि हमारे सब कार्य प्रकृति-जन्य, परिस्थिति-जन्य ही हैं तो सर्वथा उसी परिस्थिति में रहकर दो बालकों में, दो समाजों में, दो राष्ट्रों में ज्ञान और नीति का भेद क्यों हो जाता है? एक मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति में पैदा होकर विद्वान हो जाता है, तो दूसरा पिता की सम्पन्न अनुकूल परिस्थिति रहने पर भी मूर्ख बना रहता है। क्या यह केवल परिस्थिति-जन्य ही है? यदि कोई इस पर कहे कि अनुकूल परिस्थिति में भी प्रतिकूल परिस्थिति अवश्य रही होगी, तो हमारा फिर प्रश्न है कि प्रतिकूल परिस्थिति का ही क्यों परिणाम हुआ, अनुकूल का क्यों नहीं? फिर उसी परिस्थिति में पले हुए दो बालकों में क्यों यह भेद हुआ?

एक बात और भी है कि एक मनुष्य एकही मनुष्य पर अधिकार नहीं चला सकता, दूसरा उससे कम ज्ञानवान है; पर सैकड़ों को अपने काबू में रख सकता है? यह किस परिस्थिति का, किस ज्ञान का, परिणाम है? इसी प्रकार कई प्रश्न किये जा सकते हैं जिनका उत्तर स्वतंत्र प्रेरणा-शक्ति, आत्म-प्रवृत्ति, इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति को माने बिना नहीं किया जा सकता। इनमें स्वतंत्र प्रेरणा-प्रवृत्ति इच्छा-संकल्प-शक्ति अवश्य है जो प्रकृति का, परिस्थिति का, ज्ञान का, परिणाम नहीं है।

इसी बात का अध्यात्म दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। सर्व धर्मों का उपदेश-सार यही है कि इस दृश्य जगत् के परे जो अनंत-तत्त्व है, उस जो अंतिम वस्तु स्थिति है, उसकी प्राप्ति का यत्न किया जाय। चाहे आप द्वैत सिद्धान्त-वादी हों, चाहे अद्वैतवादी हों, आप हिन्दू हों या मुसलमान हों, क्रिश्चियन हों या बौद्ध हों, इतना तो आप अवश्य मानते हैं कि हमें कोई उच्च स्थिति प्राप्त करनी है। अब यह उच्च स्थिति कैसे प्राप्त हो? क्या परमेश्वर कुछ प्राणियों पर दया कर देता है और कुछ लोगों पर गज़ब हो जाता है? परमेश्वर अपनी ओर से कुछ देता है ऐसा कहना परमेश्वर को हीन बनाना है। इसलिए तुम्हारे कर्म ही सब जाते हैं; जो कुछ करोगे सो पाओगे, जो बोओगे सो लुनोगे, यह सिद्धान्त दोनों जगह एक समान लागू है, अर्थात कर्म करने का कार्य तुम पर है, यह प्रवृत्ति तुम्हारी होनी चाहिए। यदि प्रवृत्ति तुम्हारी नहीं तो कर्म तुम्हारा नहीं, और कर्म तुम्हारा नहीं तो उसका फल तुम्हारा नहीं और फिर सद्गति की कोई आशा नहीं। अर्थात आत्म-प्रवृत्ति का अस्तित्व माने बिना किसी भी धर्म का अध्यात्म-शास्त्र लँगड़ा हो जाता है। सद्गति का सिद्धान्त मानना हो तो आत्म-प्रवृत्ति का, स्वतंत्र प्रेरणा का, स्वतंत्र संकल्प या इच्छा का सिद्धान्त मानना ही पड़ता है, और वास्तव में गीता-रहस्यकार के कहे अनुसार 'जिसे अध्यात्म-शास्त्र स्वीकृत नहीं, उसे प्रकृति की बेड़ी नित्य धारण करने को तैयार होना चाहिए, अथवा प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य का प्रश्न गलत जानकर छोड़ देना चाहिए।'' पर, ध्यान रहे कि यह बेड़ी धारण करने को तैयार होना अर्थात नित्य अधोगति में पड़े रहने को अथवा प्रकृति के चलाये हुए मार्ग पर जाने को ही तैयार होना है। फिर तुम नैतिक अथवा पारलौकिक उद्धार का नाम मत लो। पाप-पुण्य, नीति-अनीति, कर्म-अकर्म इत्यादि का प्रश्न ही न निकालो; क्योंकि 'दास' का, प्रकृति की

बेड़ी धारण करने वाले का, कोई स्वतन्त्र कर्म है ही नहीं; वह प्रकृति से, परिस्थिति से, जकड़ा हुआ है। किसी कर्म के करने में उसकी निजी प्रवृत्ति न होने के कारण वह उसके लिए जवाबदार नहीं। बालक जिस कारण स्वाभाविकतया दूध पीने लगता है, उसी प्रकार फिर हम इस जगत् में नित्य कर्म करते जाते हैं, हम पर उनके विषय में कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं। प्रकृति करवाती है और हम करते हैं, फिर इस संसार में अदालतों की कोई आवश्यकता नहीं। जब कर्म 'हमारे' नहीं तो हमें कोई कर्म का जवाबदार समझ सकता है? दोषी प्रकृति है और हम तो उसके गुलाम हैं। वह जैसा हुक्म करती है वैसा हम करते हैं—देखिए कैसी भयंकर परिस्थिति हो जाती है, जगत् में नीच लोगों का कैसा साम्राज्य हो सकता है और दुखियों का नाश कितनी शीघ्रता से हो सकता है!

इससे हमारा कहना यह नहीं है कि सभी कर्म हमारे होते हैं। हम पहले ही लिख चुके हैं कि परिस्थिति के आज्ञानुसार हम बहुतेरे कार्य करते रहते हैं। इसी कारण गीता में कहा है कि—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

* * * *

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

* * * *

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

* * * *

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

इनका अर्थ इतना ही है कि प्रकृति बड़ी प्रबल है और वह बहुधा हमसे कार्य करवा ही लेती है; परन्तु इनका यह अर्थ नहीं कि हम प्रकृति के दास हैं, उससे परे हम हो ही नहीं सकते, उसपर विजय पा ही नहीं सकते। गीता का यदि ऐसा मत होता तो

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अथवा

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

ऐसा उसमें क्यों कहा जाता? ऊपर दिये श्लोकों का यही अर्थ है कि आत्म-स्वातंत्र्य का उपयोग हम नहीं करते तब प्रकृति अपने गुणों के अनुसार कार्य करवा लेती है, इसी से कि हम समय समय 'अवश,' 'अनिच्छ,' 'नियत' रहते हैं। प्रकृति पर हमारी जीत होने के लिए हमारे मन का, हमारी प्रेरणा का—आत्म प्रवृत्ति का—संकल्प का—इच्छा का ज़ोर होना चाहिए। तब ही हम आप (आत्मा) अपना (आत्मा का) उद्धार कर सकते हैं। हमें (आत्मा को) आप ही (आत्मा का) सहायक (बन्धु) होना चाहिए, नहीं तो प्रकृति जिधर ले जावेगी हम उधर भटकते रहेंगे।

सारांश, अपना उद्धार हम ही आप कर सकते हैं। अपनी उन्नति के लिए दूसरों की ओर देख कर, प्रकृति के अधीन होकर, दैव पर भरोसा रख कर, काम न चलेगा। उसके लिए हमें ही यत्न करना होगा, अपने आत्म-स्वातंत्र्य का ज़ोर बढ़ाना होगा।

दुनिया की ओर देखने से भी यही प्रतीत होता है। लौकिक स्थिति भी क्यों न हो, पर लोग उन्नति की ओर प्रयत्न करते जा रहे हैं। प्रकृति के नियमों को समझ कर उनका ज्ञान प्राप्त कर, उन्हें अपने कार्य में अपने काबू में कैसे ला सकेंगे। इसी ओर सारे भौतिक शास्त्रों का यत्न जारी है। भौतिक दृष्टि से यदि हम 'यत्न' का ज़ोर इतना मानते हैं तो पारलौकिक दृष्टि से मानना ही पड़ेगा। प्रकृति के अधीन होकर हम बिलकुल गिरे हुए नहीं दीखते। प्रारब्ध ले जावे उधर ही हमेशा जाने की तैयारी नहीं रखते। हम अपनी ओर से भी भरसक प्रयत्न करते ही हैं। हम अपने आचरण में बहुधा नहीं दिखलाते कि हम प्रकृति के साथ बह जाने को सदा तैयार हैं। नहीं तो कर्म-अकर्म, पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, नीति-अनीति का झगड़ा कभी न उठाते, और न हज़ारों अदालतें हमारे कर्मों पर

फ़ैसला ही करेगी कि हमने आत्म-प्रवृत्ति का उपयोग क्यों नहीं किया और किया तो उचित किया या अनुचित। सारांश यह कि हम अपने आचरण में आत्म-स्वातंत्र्य का अस्तित्व अवश्य मानते हैं और मानते आये हैं। आत्म-स्वातंत्र्य का अस्तित्व न मानने से दोष का प्रश्न ही नहीं और प्रशंसा की कोई आवश्यकता नहीं। प्रकृति करवाती और हम तदनुसार करें इसके लिए हम दोषी क्यों?

सारांश आत्म-स्वातंत्र्य स्वतंत्र प्रेरणा का अस्तित्व हमें मानना ही पड़ता है और हम थोड़ा बहुत मानते भी हैं। हमारे सामने प्रश्न इतना ही है कि उसका पूरा उपयोग हम नहीं करते तो क्यों? समाज में आलसी, अकर्मण्य, पराधीन भी लोग देखने में आते हैं और उन्हें यह जानने की आवश्यकता है कि वे अपना उद्धार कर सकते हैं। केवल प्रचार करना है कि इस कारण वे दोषी नहीं हैं, तो तात्त्विक दृष्टि से वे अपने कर्मों के कारण दोषी हैं। प्रकृति के अधीन हो जाना पूर्णतया कभी क्षम्य नहीं समझा जाता। परिस्थिति अत्यन्त बलवती हो तो प्रकृति के वश हो कर किये कर्म कम दोषार्ह अवश्य समझे जाते हैं और इसी कारण कुछ परिस्थितियों में किये हुए अपराध कायदे में भी दण्डनीय माने गये हैं। पर वे दण्डनीय हैं अवश्य और नीति-दृष्टि से होना ही चाहिए, नहीं तो सुधार के लिए कोई कारण नहीं रहेगा।

इन सब बातों का यही अर्थ है कि जहाँ तक उचित अनुचित का तरह तात्त्विक अथवा व्यावहारिक ज्ञान है, वहाँ तक तुम आत्म-प्रवृत्ति का सदुपयोग करो, अपनी प्रेरणा को ऐसे मार्ग में लगाओ कि तुम्हारी और समाज की सदा उन्नति होती रहे। प्रकृति के अधीन न रह कर प्रकृति को अपने अधीन करने का प्रयत्न करो। यदि तुम्हारी उन्नति के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, तो उसको प्राप्त करो। प्रकृति के साथ बहे मत जाओ। प्रकृति पर विजय पाना ही पूर्णत्व को प्राप्त करना है। प्रकृति के परे होना ही 'परागति' है। प्रवृत्ति-स्वातंत्र्य का, अपनी प्रेरणा का, सदुपयोग करो, यही इस विवेचन का निर्णय है। यदि हमें अपना उद्धार करना है, तो हमें अपने पैरों पर खड़े होना होगा।

थोड़े विषयांतर की आवश्यकता है। कुछ पाश्चात्य ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथों में लिख डाला है कि पौर्वात्य देशों का कभी उद्धार न हो सकेगा, वे सदा अधोगति में पड़े रहेंगे। उनका यह सिद्धान्त प्रकृति-वाद पर ही रचा गया है। परिस्थिति के अनुसार मनुष्य कार्य करता है और पाश्चात्य देशों की प्राकृतिक परिस्थिति—जल-वायु, भूमि भोजन इत्यादि—ऐसी है कि वह मनुष्यों से बरबस कार्य करवा लेती है। वहाँ ठंड अधिक होने के कारण उनकी आवश्यकताएँ उष्ण देशवासियों से अधिक हैं। आवश्यकताओं के अधिक होने के कारण 'अवश' परवश उन्हें अधिक कार्य करना ही पड़ता है, नहीं तो वहाँ जीवन चल नहीं सकता, और फिर वहाँ इतनी ठंड नहीं कि कुछ भी काम न हो सके। प्रकृति ने कार्य करने की कुछ स्वाधीनता भी दी है। आवश्यकताओं को पूर्ण करने के प्रयत्न से उनकी उन्नति होती जाती है, और जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक उन्नति होती ही रहेगी। उष्ण देशों की ऐसी स्थिति न होने के कारण वे प्रयत्न-हीन अर्थात् आलसी हैं, और रहेंगे और उनकी अधोगति अनिवार्य है। सारांश में यही उनका वाद है।

प्रकृति के परिणामों के उनके अनेक सिद्धान्त सत्य भी हुए तो भी इतना मानना कठिन है कि प्रकृति जो करवाती वही हम करते हैं, उन्नति या अवनति केवल प्रकृति का परिणाम है। मनुष्य को उसका कुछ भी श्रेय नहीं है। यदि इन पाश्चात्यों का यह अर्ध-सत्य सिद्धान्त पूरा सत्य होता तो ये अपने बड़प्पन की डींग भी क्यों मारते। उनकी डींग से यही दीखता है कि अपनी उन्नति का श्रेय वे स्वयं थोड़ा बहुत अवश्य लेना चाहते हैं, सब ही प्रकृति को नहीं देना चाहते। वे अपने आचरण से ही बतलाते हैं कि 'उन्होंने' भी अपनी उन्नति की है—वह केवल प्रकृति का कार्य नहीं है। 'अपने' प्रयत्न का अस्तित्व मानना आत्म-प्रवृत्ति का ही अस्तित्व मानना है, और यदि

आत्म-प्रवृत्ति, निज की प्रेरणा, खुद का प्रयत्न ऐसी कोई शक्ति मनुष्य में है तो हम भी अपना उद्धार कर सकते हैं। हाँ, यह माना कि हमें विशेष प्रयत्न करना पड़े, उन्हें कम, हमें आत्म-प्रवृत्ति का खूब जोर लगाना पड़े और थोड़े बहुत अंशों में प्रकृति ही उनसे आवश्यक प्रयत्न करवा ले। पर हमें सर्वथा निराश होने का कोई कारण नहीं। इसी आत्म-प्रवृत्ति के परिणाम का ज्वलंत उदाहरण जापान है। अब भले ही उसके कार्यों के परिणामों को प्रकृति के कार्य कहने का प्रयत्न किया जाय; पर पाश्चात्य ग्रन्थकारों को इसका उत्तर देना असंभव हो है। कौन समझा सकता है कि आत्म-प्रवृत्ति बिना माने जापान की उन्नति कैसे हुई? सारांश, ऐहिक उन्नति का कारण प्रकृति कुछ अंशों में है; पर उससे भी महत्व का कारण हमारा प्रयत्न, हमारी प्रवृत्ति, प्रेरणा, संकल्प और इच्छा है। जब कभी आत्म-प्रवृत्ति कम हो जाती है और हम प्रकृति के निरे स्वाधीन हो जाते हैं तब हमारी अधोगति होना अवश्यंभावी है। पाश्चात्य लोग उन्नति अवनति के अनेक सिद्धान्त निकालते रहें; पर हमें तो यही अटल सिद्धान्त मालूम होता है कि हमारी उन्नति आत्म-प्रवृत्ति पर अवलम्बित है। जब कभी प्रकृति के अधीन होंगे तब अवश्य अधोगति होगी। केवल प्रकृति ही हमारी उन्नति नहीं कराती। यह विवेचन अधिक न बढ़ाकर यहीं समाप्त करते हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि हम सदा अपने प्रयत्नों में फलीभूत क्यों नहीं होते? इसके लिए स्मरण रखना चाहिए कि सदा प्रकृति के विरुद्ध चलकर विजय न मिलेगी। प्रकृति अपना कार्य कुछ नियमों के अनुसार करती है। उन नियमों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। फिर देखना होगा कि किन नियमों को हम कहाँ तक त्याज्य समझ सकते हैं, कौन से नियम अनिवार्य हैं। तदनुसार आचरण कर धीरे धीरे भौतिक, मानसिक और शारीरिक प्रकृति को अपने अधीन करना होगा। सारांश, भौतिक, मानसिक अथवा शारीरिक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना होगा तब कहीं हम इन बातों में प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। जब कभी आवश्यक ज्ञान पूरा नहीं रहता, तब हम इस गहन प्रकृति में अन्धे के समान कार्य करते हैं और कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे कार्य सफल न हों। प्रकृति का अधिक ज्ञान प्राप्त करना प्रकृति पर अधिकार चलाने की सत्ता ही प्राप्त करना है। परन्तु इन सब कार्यों की प्रेरणा हमारी ही होनी चाहिए, केवल प्रकृति की प्रेरणा, अन्तः-प्रवृत्ति, से काम न चलेगा। उसके भरोसे रहने से कभी कभी उन्नति हो तो कभी अवनति भी हो जावेगी। नष्ट होने का ही डर अधिक है। आत्म-प्रवृत्ति के बिना प्रकृति किधर ले जावेगी इसका अनुमान करना कठिन तो अवश्य है पर जो कुछ थोड़े अनुभव से स्पष्ट प्रतीत होता है वह यही है कि अधोगति होने का डर हमेशा अधिक रहेगा।

ऊपर कह ही चुके हैं कि बचपन में यह आत्म-प्रवृत्ति बहुत कम रहती है। पहिले पहल मनुष्य प्रकृति की प्रेरणा पर अंतः-प्रवृत्तियों पर अवलम्बित रहता है, पर धीरे धीरे आत्म-प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इस शक्ति का कितना विकास हो सकता है यह हम कह नहीं सकते। उसकी कोई सीमा निश्चित नहीं की जाती। हिन्दू-धर्म के अनुसार इस आत्म-प्रवृत्ति का, आत्मा की इस शक्ति का, प्रकृति पर पूर्ण विजय हो सकता है। हम उससे बिलकुल परे हो सकते हैं, हम अत्यंत उन्नति को प्राप्त कर सकते हैं। हम साक्षात् परमेश्वर बन सकते हैं, क्योंकि हम उसके अंश हैं। इस सिद्धान्त को कोई माने अथवा न माने, पर प्रत्येक को इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्य का बड़प्पन उसकी आत्म-प्रवृत्ति के मान से मापा जा सकता है। जिसमें यह शक्ति अधिक है वही "महान" पद को पाने लायक है। मनुष्य का महत्व तौलने के लिए यदि कोई तराजू है, तो आत्म-प्रवृत्ति ही है। विद्या, भौतिक-संपत्ति, इत्यादि से मनुष्य का सच्चा बड़प्पन नहीं आना जा सकता। सच, सच्चा माप आत्म-स्वातन्त्र्य ही है। जिसमें यह अधिक, वह महान् कहला सकता है, यह ही सभ्य कहला

सकता है, वह ही उच्च कहला सकता है। और वह ही वंदनीय है। सच्ची सभ्यता, सच्चा महत्व, सच्ची सज्जनता, सच्ची उच्चता इसी शक्ति के बढ़ाने से प्राप्त होती है, और इसके लिए भौतिक, शारीरिक अथवा मानसिक प्रकृति पर विजय पाना चाहिए।

यही बात प्रसिद्ध मनोविज्ञानिक प्रोफ़ेसर जेम्स अपने मनोविज्ञान के ग्रंथ में कहता है "बहुधा हम अपने को कई तरह से मापा करते हैं। कभी बल तो कभी बुद्धि, कभी संपत्ति तो कभी भाग्य से। हम फूले नहीं समाते और अपने को इस जीवन में धन्य समझते हैं। परन्तु एक बात ऐसी है जो इनसे अधिक गंभीर है और जो इनके बिना भी सब कुछ है। वह हमारा प्रयत्न है। ये तो आखिर को इस बाहिःसृष्टि के परिणाम-मात्र हैं। ऐसा जान पड़ता है कि हममें जो कुछ तत्व है, हम जो कुछ हैं, वह यही है, वे (बल, बुद्धि, धन इत्यादि) बाह्य-सृष्टि की वस्तुएं हैं और हम उनके 'ढोने वाले' हैं। यदि इस मानव जीवन का हेतु अपने आपको जान लेने का हो तो इस यत्न का ही, आत्म-प्रवृत्ति का ही सब कुछ जानना चाहिए। जो कुछ भी यत्न नहीं कर सकता, वह छाया के समान है। जो खूब प्रयत्न कर सकता है, वह वीर पुरुष है। ....जब कभी कोई भयंकर पदार्थ हमारे सामने प्रस्तुत होता है अथवा जीवन भर इस सृष्टि की अन्धकार-मय बातें दीख पड़ती हैं तो हममें से जो मामूली हैं, वे तो अपना साहस खो बैठते हैं और उन बातों से अपनी दृष्टि दूर कर लेते हैं अथवा रातदिन कुड़कुड़ाते रहते और भयको अनुभव करते बह जाते हैं। ऐसी स्थिति में जिस प्रयत्न की आवश्यकता है वह उनकी शक्ति के परे है। पर वीर पुरुष की बात ही न्यारी है, उसे भी वे बातें भयंकर, अग्राह्य, अनिच्छित मालूम होती हैं; पर वह अपने जीवन का क्रम तिलप्राय न बदलते हुए उनका सामना करता है। ऐसे ही पुरुष की जगत में पूजा और चाह होती है। वह इस परिस्थिति में मन को सम और स्थिर रखने के लिए जो प्रयत्न स्थिर करता है, उसी से इस जीवन में उसके महत्व और कार्य का माप है। वह इस सृष्टि में ठहर सकता है। जिन बातों से उमका दुर्बल भाई साहसहीन हो जाता है उनके रहते भी वह इस विश्व में स्थिर रह सकता है और उसकी श्रद्धा बनी रह सकती है। भयंकर बातों के रहते भी वह इस सृष्टि में कुछ मज़ा पा सकता है। इसके लिए वह उन्हें भूलने का, उनसे दृष्टि दूर करने का यत्न नहीं करता तो उनका सामना करता है। इस प्रकार वह अपने जीवन पर प्रभुत्व पा लेता है। तब से इस दुनियाँ में 'कुछ' समझा जाने लगता है और मानवजीवन का आदर्श हो जाता है। जिन्हें अपने जीवन को खतरे में डालने का डर लगा रहता है अथवा जो खतरे की बातों का विचार ही नहीं कर सकते, उनके पास हम सहायता के लिए कभी नहीं जाते, न उनकी हम विशेष परवाह ही करते हैं। जीवन के व्यवहार के लिए तो ख़ैर, पर धर्म के लिए अधिक हम खतरे में पड़ने का अवसर आता है। पर जिस प्रकार दूसरे की हिम्मत देख कर हमें हिम्मत आती है, उसी प्रकार दूसरे की श्रद्धा देखकर हममें श्रद्धा उत्पन्न होती है। वीर पुरुषों से हमारे जीवन में नई बातों का संचार होता है। वीर पुरुष को दुःख और क्लेशों का जितना सामना करना पड़ता है, उतना हमें तुम्हें नहीं पड़ता। पर उसका मन स्थिर है और उसके शब्द इतने आनंददायक हैं कि उसकी आत्म-प्रवृत्ति हमारी आत्म-प्रवृत्ति हो जाती है और उसके जीवन से हमारे जीवन को कुछ नया ही तेज प्राप्त हो जाता है।"[1]

सारांश, मनुष्य की आत्म-प्रवृत्ति इतनी बढ़ सकती है कि निज के जीवन का सुधार कर वह दूसरे के जीवन को भी सुधार सकता है। आत्म-प्रवृत्ति की सम्हाल बिना हमारा सुधार होना कठिन है। केवल ज्ञान से काम न होगा, आत्म-प्रवृत्ति को, अर्थात् कर्म को भी उसका साथ देना होगा तब हमारी उन्नति सम्भव हो सकेगी।

---

[1] जीवनचरित्र और इतिहास के उत्तम उपयोग का यह ज्वलन्त सिद्धान्त है।

अधीरा आँखें।

(लेखक—पंडित मुकुटधर पाण्डेय)

तुम्हारे दर्शन की आशा
हृदय में जब तक कुछ भी शेष,
हमारी आँखें बैठी हैं
अधीरा बन करके अनिमेष ॥ १ ॥

पुतलियों का आसन है डाला,
बिछा कर रक्खी मुक्तामाला।
खुले दरवाजे पलकों के
पधारोगे कब हे प्राणेश ! २ ॥

दृष्टि चपला सी चञ्चल भारी,
क्षितिज पर अटकी जाकर न्यारी।
मार्ग में अणु भी पर्वत हो
विकल करता उसका उर-देश ॥ ३ ॥

सुदर्शन होगा जब उस श्री के,
सहस्रों चन्द्र पड़ेंगे फीके।
भव्य क्या हो हाँ, बोलो तो
न होगा वह मनमोहन वेश ! ४ ॥

रूस-सम्राट को प्राण-दण्ड।

(लेखक—[illegible])

रूस के अन्तिम सम्राट ज़ार निकोलस का दुःखान्तक जीवन भी निरंकुशता की दुःखपूर्ण असफलता का एक प्रमाण है। ज़ार निकोलस अपने समय का एक प्रभावशाली निरंकुश सम्राट् हुआ है। अपने शासनकाल में उसने अनेक षड्यंत्रों और साज़िशों को अपनी शासन-कुशलता से दमन किया था। उसने खुफ़िया पुलिस की शक्ति और योग्यता को इतनी उन्नति तक पहुँचाया था कि प्रजातंत्रवादी क्रान्तिकारियों को किसी भी षड्यंत्र में सफलता नहीं होती थी। ज़ार के कर्मचारी, देशभक्तों का रूप धारण करके, क्रान्तिकारियों की गुप्त समितियों में शामिल हो जाते थे, उनके साथ कुछ दिन काम भी करते थे, यहाँ तक कि कभी कभी एक दो अत्याचारी शासकों को मार भी डालते थे और इस तरह से इन क्रान्तिकारियों के विश्वास-पात्र बन जाते थे; किन्तु कुछ दिनों के बाद मुख्य मुख्य क्रान्तिकारियों का पूरा पूरा हाल ज़ार को बता देते थे और फिर इन पर जो अत्याचार होता था वह अकथनीय है।

यह ज़ार अपने समय का एक महान शासक हुआ है। इसने किसानों को सदा ही दरिद्र और दुःखी रक्खा, उनकी थोड़ी भी कभी परवाह नहीं की। जब कभी [illegible] अत्याचार से विकल हो कोई न्यायोचित माँग किसी प्रकार की उद्दण्डता पर बैठती थी, तब वह गोलियों का शिकार बनाई जाती थी। अनेक स्वतंत्रता-प्रेमियों को कैद करने, सज़ा देने और अन्य रीतियों से दुःखित करने का भार इसी ज़ार पर है। अपनी निरंकुश शक्ति को यह अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहता था और यही कारण था कि स्वतंत्रता का संग्राम इसके शासन-काल में अनेक कठिनाइयों से परिपूर्ण था।

इस प्रबल और निरंकुश शासक ने जिस तरह अपना जीवन अन्त किया है, वह निरंकुश सम्राटों के लिए उदाहरण रहेगा। अत्याचार

और दुःख की मात्रा असह्य हो जाने पर, यूरोपीय महायुद्ध के पश्चात्, रूस में राजक्रान्ति उठ खड़ी हुई। अन्त में बोलशविक दल शक्तिशाली हुआ और उसने ज़ार को गिरफ्तार कर के रूस के प्रसिद्ध नगर इकेटरिनबर्ग में क़ैद कर दिया। जिस मकान में ज़ार क़ैद रखा गया था आज कल उसमें बोलशविकों के पोलिटिकल डिपार्टमेन्ट का दफ्तर है और उसे इपैटविस्की डोम कहते हैं। इस मकान में ज़ार की निगरानी करने के लिए बोलशविकों की ओर से ३६ सैनिक नियत थे। यूरावस्की इन सब सैनिकों का सरदार था। इपैटविस्की डोम एक शानदार इमारत है; किन्तु जिस समय ज़ार क़ैद करके इकेटरिनबर्ग में लाये गए उस समय उस इमारत के चारों तरफ़ लकड़ी की ऊँची ऊँची दीवारें उठा दी गई थीं, जिसमें ज़ार और उनके कुटुम्ब के लोग बाहर की कोई भी चीज़ न देख सकें। उस मकान के चारों तरफ़ सिपाहियों का विकट पहरा रखा जाता था और बोलशविक सरकार ने चारों ओर मशीन-गनें भी लगा रखी थीं। बाहर से देखने में यह मकान बड़ा मालूम होता है, लेकिन दुमन्ज़ले पर केवल चार या पाँच कमरे हैं। दुमंज़ले पर जाने के लिए ज़ीना है जहाँ सिपाहियों का पहरा रहता था। ज़ीने से ऊपर जाते हुए पहिला बड़ा कमरा जो मिलता था उसमें स्वयं यूरोवस्की दिनरात रहते थे।

कोने का एक कमरा ज़ार, ज़ारीना और ज़ार के पुत्र के लिए मुक़र्रर था। इस कमरे में तीन बिसतर रहते थे जिनपर ये तीनों सोया करते थे। इस कमरे से मिले हुए कमरे में ज़ार की चार पुत्रियाँ और उनकी अनुचरी डेमोडोवा रहती थी। ज़ार की पुत्रियों के कमरे से मिला हुआ एक दूसरा कमरा था। उसमें ये लोग खाना खाया करते थे। इसके सिवा और जो कमरे थे उनमें निगरानी करने वाले सिपाही रहते थे। सारांश यह कि ज़ार के पास सिर्फ़ दो कमरे थे—एक वह जिसमें कि वे स्वयं रहते थे, और दूसरा वह जिसमें उनकी पुत्रियाँ रहती थीं। जिन कमरों में ज़ार और उनके कुटुम्ब के अन्य जन रहते थे उनमें सिपाहियों को जाने की रोक न थी। दिन या रात को जब चाहे तब ये लोग इन कमरों में जा सकते थे। सिपाही लोग अकसर कमरों में जाया करते थे और रात को इन्हें देख कर लड़कियाँ चिल्ला उठती थीं। चिल्ला उठने का कारण यह नहीं था कि ये लोग राज-कन्याओं को सताते थे, बल्कि लड़कियाँ स्वभावतः किसी अपरिचित आदमी को कमरे में देख कर घबरा जाती थीं।

१६ जुलाई, सन् १९१८ को उस मकान के चारों तरफ़ कुछ मशीन-गनें और भी लगा दी गई। सिपाहियों का चारों तरफ़ बहुत सख्त पहरा हो गया। लोगों को आसपास की गलियों से निकलने की मनाही कर दी गई जिसका कारण यह था कि ज़ेक लोग जो उस समय फ्रेंच और बृटिश लोगों के हाथ में कठपुतली का काम कर रहे थे बोलशविक-शासन का नाश करने के लिए और ज़ार को छुड़ाकर उनकी सहायता से शासन स्थापित करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। ज़ार के पुराने मुख्य मुख्य सेनापति भी उनके साथ थे और उनका उद्देश्य ज़ार को मुक्त करने का था।

यदि ज़ार उस समय बोलशविकों की क़ैद से छूट जाते तो बोलशविक-शासन को बड़ा धक्का

पहुँचता। इतना ही नहीं, ज़ार के धनी भक्त, उच्च-श्रेणी के लोग और रूस की अज्ञानी राजभक्त प्रजा बोलशविकों के विरुद्ध हो जाती। इसलिए बोलशविकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ज़ेक लोगों के हाथ में ज़ार न पड़ने पावे। ज़ार को रेल पर बिठा कर कहीं दूसरी जगह भेज नहीं सकते थे; क्योंकि उन्हें यह भय था कि कहीं विद्रोही लोग रेल पर क़ब्ज़ा न कर लें।

लेनिन ने ज़ेक के आगमन का समाचार सुन कर यूरोवस्की को यह तार दिया कि यदि ज़ार छूट गए तो तुम्हें प्राण-दण्ड मिलेगा। इसलिए पीटर्सबर्ग के सोवियत प्रजातंत्र ने बहुत सोच-विचार कर यह निश्चय किया कि ज़ार को और उनके कुटुम्ब के समस्त प्राणियों को प्राणदण्ड दिया जाय।

यूरोवस्की ज़ार की निगरानी के लिए मुक़र्रर किए गए थे। उन्हीं पर सब ज़िम्मेदारी थी। वे कुछ सोच-विचार कर १ बजे रात को ज़ार के कमरे में पहुँचे। ज़ार को जगाया और उनसे कहा—"उठिए और कपड़ा पहिनिए। सम्भव है कि ज़ेक लोग सुबह होते होते यहाँ पहुँच जायँ और उस हालत में सड़कों पर लड़ाई होनी शुरू होगी। सम्भव है, आपके कमरे में भी गोलियाँ आ जायँ। मैं और लोगों को भी जगाए देता हूँ, आप बाहर आइए।" इस बात को सुन कर ज़ार अपने बिस्तर से उठ बैठे और उन्होंने कपड़े पहिनना शुरू किया। इसके बाद यूरोवस्की ज़ार की पुत्रियों के कमरे में गए और उनसे भी यही बात कही। फिर वे दूसरे कमरे में चले आए जिसमें कई सिपाही बन्दूकों में संगीन लगाए हुए खड़े थे। ये लोग रूसी न थे और इसलिए बुलाये गए थे कि यदि रूसी सिपाही ज़ार को मारने से इन्कार करेंगे तो इन सिपाहियों से काम लिया जावेगा।

थोड़ी देर के बाद ज़ार, ज़ारीना, ज़ार का पुत्र, चार लड़कियाँ, डाक्टर बारकिन जो इनके स्वास्थ्य देखने के लिए नियुक्त थे, डेमीडोवा जो अनुचरी का काम करती थी, एक बबरची और एक और नौकर ऐसे कुल ११ प्राणी बुलाये गये।

समस्त रूस के भूतपूर्व निरंकुश सम्राट् ज़ार निकोलस इस समय इतने दुबले-पतले हो गए थे कि मुश्किल से पहचाने जाते थे। वे खाकी फ़ौजी कोट और आसमानी रंग की ढीली बिरजिस पहने हुए थे। कमर में पेटी लगाए थे, पैर में मुलायम चमड़े का बड़ा जूता था। सिर खुला था। उन्होंने अपनी दाढ़ी छोटी कर ली थी। ज़ार की लड़कियों ने भी अपने लम्बे लम्बे बाल छोटे कर लिये थे। ज़ारीना की छोटी लड़की अपनी मा की उँगली पकड़े हुए थी। ज़ार की बड़ी कन्या टैटेनिया चीन देश का एक छोटासा कुत्ता अपनी गोद में लिये थी। खाने के कमरे से ये सब लोग चुपचाप नीचे उतरे।

उन ग्यारह प्राणियों में दो ऐसी स्त्रियाँ थीं जो यदि उच्च कुल में न भी पैदा हुई होतीं तो भी अपने सौन्दर्य के कारण देश भर में प्रसिद्ध होतीं। टैटेनिया २१ वर्ष की थी, और यह आशा की जाती थी कि वह इंगलैण्ड की भावी सम्राज्ञी होगी। दूसरी छोटी लड़की टेस्सिया १७ वर्ष की थी। इन दोनों की बड़ी शोचनीय मृत्यु हुई।

यूरोवस्की की आज्ञा पाकर ये लोग नीचे तलघर में उतरे। सबसे आगे ज़ार और

ज़ारीना बढ़ीं। वोलगा और राजकुमार उनके बाद, फिर टैटेनिया, मेरिया अनेसटेसिया। बावरची सबके बाद उतरा और फिर यूरोवस्की। यूरोवस्की की जेब में एक रिवालवर था जिसे वह एक हाथ में पकड़े हुए था। उसके बाद हथियारबन्द सिपाही थे। ज़ार और उनके साथ के लोग नीचे उतर कर कमरे में एक तरफ़ खड़े होगए। यूरोवस्की और उसके दो साथी मर्कवोस्की और मर्टविटिब दूसरी ओर खड़े होगए। वहाँ पूरी शान्ति थी: किन्तु कमरा भयंकर मालूम होता था। सिपाही लोग कभी ज़ार की ओर देखते थे और कभी यूरोवस्की की ओर। इतने में मर्क-वोस्की और मर्टविटिब ने अपने अपने रिवालवर (पिस्तौल) निकाल लिए।

ज़ार या ज़ारीना को अभी तक यह बिलकुल मालूम न था कि अब उनका अन्तिम समय आ पहुँचा है। इसलिए रिवालवर को देख कर ज़ारीना का हृदय काँप गया, भय के कारण उसके होश जाते रहे और उसने अपने चेहरे को अपने हाथ से छिपा लिया। इतने में यूरो-वस्की ने अपने जेब से एक काग़ज़ निकाला और ज़ार और ज़ार के कुटुम्ब को पढ़ कर सुनाना शुरू किया। यूरोवस्की के बाएँ हाथ में काग़ज़ था और दाहने हाथ में रिवालवर। यह काग़ज़ वास्तव में सोवियत प्रजातंत्र की ओर से ज़ार निकोलस और उसके कुटुम्ब के समस्त प्राणियों को प्राण-दण्ड देने का हुक्म था। उस आज्ञा को सुन कर ज़ार के सिवा ज़ार के कुटुम्ब के सब लोग ज़मीन पर घुटनों के बल खड़े हो गए। यूरोवस्की आदि के हाथों में रिवालवर देख कर ज़ार ज़ारीना के आगे हो गए, और कुछ कहने ही वाले थे कि यूरोवस्की ने रिवालवर चलाया, गोली ज़ार के सर में लगी और वे फ़ौरन ही गिर गए। इस गोली का दगना था कि सिपाहियों ने भी गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया और दो तीन मिनिट के अन्दर शाही ख़ान्दान का एक भी आदमी बाक़ी न बचा।

यूरोवस्की ने यह समझकर कि सबके सब मर गए, कोठे पर जाना चाहा कि इतने में टैटेनिया मा! मा!! कह कर चिल्ला उठी। इस आवाज़ को सुनते ही सिपाही लोग फिर लौट पड़े, संगीन और गोलियों से उसका बुरी तरह से काम तमाम किया। पश्चात् ये लोग लाशों को सफ़ेद कम्मल में लपेट कर बाहर लाए और मोटरों में जो बाहर खड़ी थीं रख दिया। यूरोवस्की स्वयं मोटर में बैठे और दो पीपे पेटरोल और बहुतसा तेज़ाब अपने साथ ले गए।

तीन नहीं बजने पाए होंगे कि ज़ार और उनके कुटुम्ब की लाशें मोटरों में भर कर इपैट-विस्की से रवाना हो गईं।

इकेटरिनबर्ग से बारह मील के फ़ासले पर कोपचीकी नाम का एक नगर है और उसके पास एक बड़ा जंगल भी है। यूरोवस्की ज़ार आदि की लाशों के साथ १७ जुलाई को प्रातः-काल कोपचीकी जंगल में पहुँचे। पाँच साधारण मोटरें और एक फ़ौजी मोटर उनके साथ थी। एक वृक्ष के नीचे उतर कर उन्होंने अपने सिपा-हियों को पाँच पाँच सौ गज़ के फ़ासले पर खड़ा कर दिया। कुछ सिपाहियों ने लकड़ी की

एक बड़ी सी चिता बनाई। सब लाशें इस चिता पर रखदी गई। ज़ार की लाश सब से ऊपर थी। यूरोवस्की ने गन्धक का तेज़ाब ज़ार आदि के चेहरों पर डालना शुरू किया और थोड़ी ही देर में सबकी सब लाशें गन्धक के तेज़ाब से तर हो गई। फिर चिता पेट्रोल से खूब तर कर दी गई और आग लगादी गई। यह चिता २४ घंटे तक बराबर जलती रही और इस तरह ज़ार और ज़ार के कुटुम्ब के समस्त प्राणियों का चिह्न संसार से मिटा दिया गया।

स्वतन्त्रता।

(लेखक—श्रीयुत ब्रजमोहनलाल महानी)

इस प्रबन्ध के लिखने में मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं स्वतन्त्रता की जटिल समस्याओं को हल करने की चेष्टा करूँ। यह कठिन कार्य्य मैं देश के विचारशील तथा प्रखर-बुद्धि विद्वानों पर ही छोड़ता हूँ। मेरा उद्देश्य केवल इतना ही है कि हिंदी-संसार में राजनैतिक साहित्य का प्रचार हो जिससे भारतीय युवकगण जिन पर मातृ-भूमि का उद्धार निर्भर है, स्वदेश प्रेम, स्वातन्त्र्य, स्वराज्य, तथा स्वावलम्बनादि विषयों की महत्ता को भलीभाँति समझें।

संसार के वर्तमान इतिहास पर दृष्टि डालिए तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता-भानु की उज्ज्वल किरणें कोई कोना ऐसा नहीं जहाँ न पहुँची हों। स्वतन्त्रता-देवी का मनुष्य-मात्र उपासक है, बल्कि यों कहिए कि मनुष्य-मात्र केवल स्वतन्त्रता-देवी ही का अनन्य उपासक है। मातृ-भूमि भी स्वतन्त्रता के इस अपरिमित प्रभाव से शून्य नहीं। क्या युवक क्या वृद्ध, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या निर्धन और क्या धनवान, प्रत्येक भारतवासी के हृत्पटल पर स्वतन्त्रता का सुन्दर चित्र अंकित है। जिधर देखिए, स्वतन्त्रता ही की स्वर्ण-प्रतिमाएँ स्थापित हैं; चारों ओर स्वतन्त्रता की ही उच्च ध्वनि सुनाई देती है; समस्त भारतमंडल स्वतन्त्रता ही के मनोमुग्धकारी गीत से प्रतिध्वनित है। अतः ऐसे समय स्वतन्त्रता के अत्यावश्यक विषय पर, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार, कुछ विचार प्रगट करना अनावश्यक तथा असामयिक न होगा।

स्वतंत्रता क्या है? आध्यात्मिक दृष्टि से यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो स्वतंत्रता अपने चित्त की वृत्तियों को दमन करने का ही नाम है। मनुष्य के अतिशय कठोर-हृदय रिपु केवल उसके शरीरस्थ शत्रु हैं। संसार-समुद्र में कामक्रोध की विशाल चट्टानें, लोभ-मोह की भयंकर लहरें, और मद-मात्सर्य्य की प्रबल आँधियाँ मनुष्य की जीवन-नौका को चकनाचूर कर देती हैं। इन आंतरिक शत्रुओं को पराजित करना, पतित अथवा घृणित विचारों का उन्मूलन करना, और आत्मतत्व पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। जिसका मस्तिष्क महान् भावों से परिपूर्ण है, जिसका हृदय दया-धन से सम्पन्न है, और जो निज कर्तव्य-पालन में दृढ़ है वही वास्तव में स्वतन्त्र है।

Stone walls do not a prison make,
Nor iron bars a cage;
Minds innocent and quiet take
That for an hermitage.

अर्थात् "केवल पत्थर की दीवारों से कहीं बंदी-गृह नहीं बन जाता, न कहीं लोहे की छड़ों से पिंजड़ा बनता है; जिनके हृदय निर्दोष और शांति-पूर्ण हैं वे बंदी-गृह को भी मुनि-आश्रम समझते हैं।" साधुजनों, विद्वानों, और तत्व-ज्ञानियों का यही मत है।

अब ज़रा लौकिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार कीजिए। सर्वसाधारण का विचार है कि स्वतन्त्रता केवल बन्धनों के अभाव का नाम है। स्वच्छन्दतापूर्वक, बिना किसी सिद्धांत का अवलम्बन किये, जीवन व्यतीत करना ही उनके विचार में स्वतंत्रता है। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता केवल नाममात्र है। सृष्टि में कहीं इसका उदाहरण नहीं मिलता। जल की वे विशाल लहरें जो समुद्र के वक्षस्थल पर आमोद-प्रमोद किया करती हैं क्या स्वतन्त्र हैं? नहीं. आँधी के झोंकों की थप्पड़ें उन्हें सदैव सहन करनी पड़ती हैं। क्या वह वेगवती वायु, जो एक स्वेच्छाचारी के सदृश मनमाना चला करती है, स्वतन्त्र है? नहीं, वह आकर्षण नियम के बन्धनों से नित्य जकड़ी रहती है। क्या वह ज्वारभाटा जो प्रतिदिन समुद्र से भूमि को चुम्बन करने के लिए आता जाता है स्वतन्त्र है? नहीं, वह निशा-पति के सौन्दर्य्य का दास है। क्या निशा-पति स्वयं स्वतन्त्र है जब कि उसका सब सौन्दर्य्य सूर्य्य से लिया हुआ केवल ऋणमात्र है? क्या हमारी पृथ्वी माता जिसकी गोद में हम वास करते हैं स्वतन्त्र है जब-कि वह ग्रह-मंडल में सूर्य्य के आकर्षण द्वारा शृंखला-बद्ध है? क्या सूर्य्य स्वयं स्वतन्त्र है जब कि उसका अस्तित्व सृष्टि के मूल नियमों पर अवलम्बित है? अतएव वह स्वतन्त्रता जिसका उल्लेख सर्वसाधारण किया करते हैं केवल मिथ्या है; वह स्वप्नमात्र है।

राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता के मुख्यतः तीन भेद हैं:—१. जातीय स्वतन्त्रता (National Liberty), २. राजनैतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty), और ३. नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)। यदि कोई जाति किसी अन्य जाति के अधीन नहीं है तो उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उसे जातीय स्वतन्त्रता प्राप्त है; जैसे, अंग्रेज, अमरीकन, फ्रेंच इत्यादि। यदि किसी राज्य में शासक-समुदाय अपने आचरण अथवा व्यवहार-क्रियाओं के लिए सर्वसाधारण के सम्मुख उत्तरदायी है तो उस राज्य के विषय में हम कह सकते हैं कि वह राजनैतिक तया स्वतन्त्र है; उदाहरणार्थ, इंग्लिस्तान; क्योंकि उस देश का शासन-सम्बंधी कार्य्य पार्लियामेंट द्वारा होता है और पार्लियामेंट सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का केवल एक संगठित समुदाय है। नागरिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य्य राष्ट्र-हस्तक्षेप (State Interference) का अभाव है। इस लेख में केवल नागरिक स्वतन्त्रता पर ही अधिक विचार किया जावेगा और यथाशक्ति इस विषय के निर्णय करने की भी चेष्टा की जावेगी कि स्वतन्त्रता राज्य-नियमानुकूल है या प्रतिकूल; स्वतन्त्रता तथा राज्य-स्वामित्व (Sovereignty of the State) परस्पर कलह-युक्त हैं या सम्बंध-युक्त।

नागरिक स्वतंत्रता की वास्तविक परिभाषा हर्बर्ट स्पेन्सर ने की है। फ्रांस देश के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ रूसो की "प्राकृतिक स्वतन्त्रता" का कुपरिणाम अराजकता और क्रान्ति है; क्योंकि उसके सिद्धांतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को एक ही वस्तु के प्रति निःसीम स्वत्व प्राप्त है। रूसो के मतानुसार प्रत्येक शासन, चाहे वह सर्वोत्तम ही क्यों न हो मनुष्य-जाति के लिए हानिकर है। एक व्यक्ति अथवा एक समूह का अन्य व्यक्ति तथा समुदाय पर राज्य करना रूसो की सम्मति में घोर पाप है; क्योंकि जगत्पिता परमेश्वर ने सबको समान बनाया है और वह सबको सम-दृष्टि से देखता है। अतएव जिस प्राकृतिक अवस्था में प्राचीन मनुष्य अत्यन्त स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन-यापन करते थे उसी अपरिमित सुख-प्रद अवस्था को पुनः जाग्रत करने में ही मानव-जाति का कल्याण है। यही रूसो का मत था; किन्तु यह मत क्रान्ति-कारक तथा अराजकता-जनक होने के कारण अब प्रायः तिरस्कृत हो गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर लिखते हैं, "प्रत्येक व्यक्ति अपने इच्छानुसार कार्य्य करने में स्वतन्त्र है; किन्तु वहीं तक जहाँ तक कि वह अन्य व्यक्तियों की साम्य-स्वतन्त्रता पर आक्षेप न करे।" यही नागरिक स्वतन्त्रता की वास्तविक व्याख्या है। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता का प्राप्त होना राज्य-हस्तक्षेप बिना असम्भव है। क्या कोई राज्य के अस्तित्व बिना अपनी सम्पत्ति का अपने इच्छानुसार उपयोग कर सकता है? स्पष्टतः नहीं; क्योंकि राज्य की सहायता के बिना उसकी सम्पत्ति पर जबरदस्त लोग अपना अधिकार जमा लेंगे। जब कोई व्यक्ति किसी के अधिकारों पर किसी प्रकार का आक्रमण करता है, तो वह न्याय-हेतु अथवा अपने स्वत्वों की रक्षा-हेतु राज्य की ओर प्रवृत्त होता है और उसकी सहायता पाकर अपने अधिकारों से लाभ उठाता है। यदि राज्य ही नहीं है, तो मनुष्य के सब अधिकार व्यर्थ हैं, बल्कि यों कहिए कि मनुष्य के कोई अधिकार ही नहीं हैं; क्योंकि अधिकारों की उत्पत्ति राज्य-अस्तित्व पर ही निर्भर है, और राज्य का अस्तित्व उसके स्वामित्व पर अवलम्बित है। स्वामित्व राज्य का प्राण है, उसके बिना राज्य एक क्षण भर के लिए भी जीवित नहीं रह सकता। अतः नागरिक अथवा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य-स्वामित्व के विरुद्ध नहीं, प्रत्युत वह राष्ट्र-आधिपत्य पर ही अवलम्बित है। ग्रीन साहब इसी तात्पर्य को इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं—"The State is the reconciler and sustainer of the rights that arise out of the social relation of men" अर्थात् जो अधिकार मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होते हैं उनका परस्पर संगति-कारक तथा अवलम्ब-दायक एक राज्य ही है।

यद्यपि स्वतन्त्रता और नियम-बन्धनों में पारस्परिक प्रतिकूलता प्रतीत होती है, परन्तु यथार्थ में वे कलह-युक्त नहीं। उनका परस्पर सम्बन्ध निराला है। वे एक दूसरे के बाधक भी हैं और सहायक भी। यदि किसी राज्य में आवश्यकता से अधिक बन्धनों अथवा उग्र नीति का व्यवहार होने लगे तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अराजकता में परिवर्तित होने की आशंका रहती है।

राष्ट्र (State) को केवल व्यक्तिगत स्वत्वों की ही रक्षा करनी चाहिए या इसके अतिरिक्त

कुछ कार्य्यों में भी हस्तक्षेप करना उचित है, यह प्रश्न बड़ा आवश्यक है। मिल साहब ने स्वतन्त्रता का अर्थ " To be left to one's self " ही माना है; किन्तु ऐसा समझना भ्रामक और हानिकारक है। मनुष्य अपने अन्य भाइयों से पृथक् रह कर किसी प्रकार की भी उन्नति करने में असमर्थ है। वह स्वभाव ही से सामाजिक प्राणी होने के कारण साधारणतः अन्य मनुष्यों से दूर नहीं रह सकता। जो व्यक्ति समाज से पृथक् रह कर जीवन-यापन कर सकता है वह या तो देवता है या पशु; किन्तु मनुष्य के लिए दैवी स्थिति प्राप्त करना प्रायः असम्भव है; अतः अधिक सम्भावना इसी की है कि वह पशु के समान हो। जिस प्रकार नेत्र की ज्योति सूर्य्य-प्रकाश के बिना निष्काम तथा अनुपयोगी है उसी प्रकार मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति अन्य मनुष्यों के साथ रहे बिना असम्भव है। मिल साहिब की यह अत्यन्त व्यक्तिता (Individualism) स्वतन्त्रता के केवल निषेधात्मक भाव (Negative aspect) को ही प्रगट करती है जो निरुपयोगी तथा निरर्थक है। नियम स्वतन्त्रता का प्राण है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष के आधिपत्य से नहीं, प्रत्युत नियम के स्वामित्व से है। स्वतन्त्रता के विषय में लाक (Locke) साहिब का कथन है—"स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि जो जिसके जी में आवे करे, जैसी जिसकी इच्छा हो जीवन निर्वाह करे और किसी भी प्रकार के नियम का पालन करने को बाध्य न हो; प्रत्युत सरकार के अधीन जनता की स्वतन्त्रता उन नियमों के पालन करने में है जो जाति के प्रत्येक प्राणी के लिए समान हैं और जिनको उस जाति-द्वारा नियुक्त व्यवस्थापक समुदाय या सभा ने बनाया है।"

व्यक्तिता की उत्पत्ति अभी हाल ही में हुई है। प्राचीन राष्ट्रों में व्यक्ति केवल राज्य का एक अंग समझा जाता था, इससे विशेष उसकी गणना न थी। राजनैतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक रूप से राष्ट्र ही अधिपति था। वह जनता के नित्यप्रति कार्य्यों में भी हस्तक्षेप करता था; किन्तु तदनन्तर अनेक प्रभावों के कारण, जिनमें से रोमीय नियम (Roman law), ईसाई मत, और पुनरुत्थान आन्दोलन (Renaissance Movement) प्रमुख्य हैं, मनुष्यों की व्यक्तिगत सत्ता उन्नत होती गई यहाँ तक कि स्वामित्व भी राष्ट्र ही के हाथ में हो गया और रहना ही चाहिए। अतः राज्य के आधिपत्य ही से नागरिक स्वतन्त्रता लाभदायक होती है, अन्यथा नहीं।

नाटक की उत्पत्ति और उपयोगिता।

(लेखक—पं० गणेशराय मिश्र)

साहित्य-सागर के संरक्षक तथा जन-समाज के उद्धारक सज्जन अज्ञान की जड़ खोदने और सज्ञानता का रोपा जमाने के अनेक साधन और शास्त्र बना चुके हैं और बनाते चले जाते हैं। वे इन साधनों को निर्माण कर ऐहिक सुखार्थ और सद्ज्ञानार्थ बहुत मंथन कर रहे हैं। अभीतक उसमें से इतने रत्न निकाले गये हैं कि उनका एक जन्म में भी पूरे पूरे दर्शन कर लेना असंभव हो गया है। जिसने जितना पाया उसीमें संतोष

माना। इस प्रकार अनेकों ज्ञानी बन गये, अनेकों सिद्ध हुए, अनेकों आचार्य और अनेकों मुक्त हो गये।

इतना सब हुआ; पर फिर भी जन-समाज का बड़ा समुदाय इन रत्नों की चमक भी न देख पाया। उसकी आँखें तक न खुलने पाईं और इस प्रकार एक ओर ज्ञान बढ़ा, दूसरी ओर पाप-प्रकृति बढ़ गई। एक ओर उत्थान हुआ और दूसरी ओर पतन। जब इसका विचार ऋषि-जनों को अपने विकास-पथ से अवकाश पा लेने पर हुआ तब अन्धों को प्रकाश देने की योजनाओं पर विचार किया गया। उन्हें यह ज्ञात होते ही कि केवल साहित्य ही अज्ञानांधकार हटाने में सहायक नहीं हो सकता वे अन्य साधनों की खोज में लगे।

मानव-जाति के उद्धार और उत्थान के लिए कृत-युग में देवस्तुतिपर ब्रह्म द्वारा, ऋषि-काल में भरत मुनि द्वारा और आधुनिक काल में विद्वानों द्वारा अनुमान और प्रत्यक्ष, संकेत और लिपि, कला और साहित्य, भाव और भाषा का योग कर देना प्रारंभ हुआ। ब्रह्म ने देवस्तुति पर जन समाज के लिए सुलभ स्वर से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-लाभार्थ पंचम वेद निर्माण किया जिसका विस्तृत वर्णन ऋषि-काल में भरत मुनि-द्वारा किया गया था।

नाट्य शास्त्र में लिखा है कि त्रेतायुग के प्रारंभ होने पर जब वैदिक धर्म का लोप हो गया तब ग्राम्य धर्म प्रचलित हुआ। उस समय सब जीव काम, क्रोध, लोभादि मनो-विकारों के वशीभूत हो कार्य करने लगे। इससे विषयभोग से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख भी दुःखरूप हो गये। जब जम्बू द्वीप के मनुष्यों का यह हाल हुआ तब देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, सर्प आदि सभी में बड़ा आन्दोलन मच गया। यह देख एक दिन महेन्द्र ब्रह्मदेव के पास पहुँचे और बोले—"हे देव! हमारे लिए खेल की कोई ऐसी वस्तु निर्माण कीजिए जो हमारा मनोरंजन करे और जिसे हम प्रत्यक्ष देख और सुन भी सकें। वेदान्त-वर्णित विहार का अधिकार सबको नहीं है। इससे आप एक निराला वेद उत्पन्न कीजिए जो चारों वर्णों को समान-रूप से श्रवण करने योग्य हो।

समाधिस्थ हो ब्रह्मदेव ने अपने कार्य की दिशा निश्चित की और फिर देवेन्द्र से कहा कि मैं "नाट्य-शास्त्र" नाम का पंचम वेद निर्माण करूँगा। उसमें नाना प्रकार की कलाओं का समावेश करूँगा। यह पंचम वेद धर्मसाधक, धन-दायक, कीर्तिकारक सब ही कुछ होगा। वह लोगों को उपदेश-पूर्ण कथा सुनावेगा, वैसे ही शास्त्रों का पथ बतावेगा। उसमें मनोरंजकता के साथ सम्पूर्ण कलाओं का प्रवेश होगा, जिसके योग से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों की सिद्धि होगी।

इस प्रकार ब्रह्मदेव ने "नाट्य वेद" रचा। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ करने के मंत्र, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्व वेद से रस लिया। इस प्रकार पंचम 'नाट्य वेद' रचा गया। इसका उपयोग सर्वप्रथम शंकर भगवान् ने ग्रहण किया। फिर उनसे नारद को मिला। नाट्य-वेद-पारंगत नारद जब एक समय भगवान ब्रह्मदेव के दर्शनों को गये और कहा कि "मैं नाट्य शास्त्र की दीक्षा पा चुका हूँ,

आज्ञा कीजिये, मैं क्या करूँ।" तब ब्रह्मदेव ने कहा, "मैंने एक अभिनय तैयार किया है। आज महेन्द्र की ध्वजा का बड़ा उत्सव होनेवाला है, वहाँ जाकर इसका अभिनय करो।" भरतदेव ने महेन्द्र के यहाँ जाकर रंग-मंच पर स्वयं नान्दी का पाठ किया। अभिनय देख देवताओं ने अनेक प्रकार से सहायता देने के वचन दिये। परन्तु अभिनय में दैत्यों का पराभव दिखाया गया था। इससे देवता प्रसन्न हुए और दानव रुष्ट हो गये। इसके अनन्तर दानवों के उत्थान से बचने के लिए नाट्यशाला की रचना की गई और इस प्रकार प्राचीन काल में नाट्यशास्त्र तथा नाट्य-शाला-रचना सर्वसाधारण के लाभार्थ और धर्म-रक्षार्थ की गई।

यह तो हुई नाटक की उत्पत्ति की बात। अब उसकी उपयोगिता को देखिए। आधुनिक काल की शिक्षा-पद्धति में भी इसी प्रकार की योजनाएँ की जा रही हैं। ज्ञान देने का सबसे प्रथम और अच्छा साधन प्रत्यक्षता समझी जाने लगी है। विद्यार्थी चक्षुओं से इन साधनों द्वारा वस्तु विशेष को देख कर उसे पूर्णतया समझ सकता और अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यदि वही प्रत्यक्ष प्रमाण उसी घटना-स्थल पर जाकर दिखाया जाय तो वह और भी हृदयग्राही होता है। परन्तु, पात्र इत्यादि की पद्धति इन्हीं सिद्धान्तों की पोषक है। इसी पद्धतिसे थोड़े परिश्रम से अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सुलभता से ज्ञान प्राप्त कराने का दूसरा साधन चित्र-विद्या है। प्रत्यक्षता के अभाव में यह साधन अधिक काम आता है। चित्रविद्या प्रत्यक्ष तो नहीं, पर अनेक अंशों में अर्थी के सम्मुख प्रत्यक्षता उपस्थित कर देती है। रूप-रंग की साम्यता के कारण प्रत्यक्षता का आनन्द आ जाता है। तीसरा साधन लिपि है। संकेतों को अंकित कर उनके द्वारा विचार प्रगट करना ही तीसरा साधन है।

यद्यपि इन साधनों के चिह्न समस्त जगत में पाये जाते हैं और फैलते जाते हैं, तो भी संसार के बड़े भारी भाग में अन्धकार भी बना है। इसका कारण यह है कि यह प्रत्यक्षता सचित्रता और ललित कला से अलग कर दी गई है। जब तक इन कलाओं के साथ साहित्य का संबंध न रहेगा तब तक वह अधूरा बना रहेगा और उससे लाभ भी विशेष न होगा।

आधुनिक शिक्षा-प्रचारक आचार्य अब साहित्य से इन कलाओं का मेल करा रहे हैं। अपढ़ों को अक्षरों द्वारा नहीं, वरन् चित्रों और प्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा पढ़ाये जाने के ढँग निकाले जा रहे हैं। इस प्रकार नवीन नवीन पद्धतियों को चित्र-कला और ललित कला से बड़ा भारी सहारा मिल रहा है। संसार में यह एक स्वर से कहा जा रहा है कि शिक्षा प्रत्यक्ष पदार्थों द्वारा, और लिपि द्वारा देने ही से गुणकारी और सार्थक हो सकती है, अन्यथा नहीं। चित्त की प्रसन्नता ही सफलता की साधक हुआ करती है। जो विषय, जो ज्ञान प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त होता है वही अधिक समय तक असर करता है, उसी से अधिक लाभ होता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर आजकल सभ्य देशों में चित्रालयों, संग्रहालयों, गायनालयों, मेजिक लेनटर्न और बाइसकोपों द्वारा शिक्षा देने की प्रथा चल निकली है। अब यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि साहित्य के समस्त अंगों में महत्वपूर्ण अंग

वही हो सकता है जिसमें कलाओं का समावेश हो और वही श्रेष्ठ समझा जाना चाहिए। ऐसा अंग है—नाटक। एक साथ पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराने वाले अनेक साधनों में यही एक साधन, यही एक साहित्य-अंग सर्वश्रेष्ठ है। यही थोड़े में अधिक लाभ पहुँचाने वाला सुलभ उपाय है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का निर्माण इसी आधार पर हुआ है। वेद-ज्ञान से रहित साधारण समाज निरक्षरता के कारण लाभ न उठा कुमार्ग में जा रही थी। ऐसे समय ही में इस पंचम वेद की रचना की गई थी। इसीलिए साहित्य में नाटक का स्थान सबसे ऊँचा है। इससे संसार का ज्ञान बिना प्रयास आनन्दपूर्वक मिल जाता है। साहित्य के अन्य अंग प्रत्यक्ष रूप से कलाओं के एक ही अंग की पूर्ति करते हैं; पर नाटक अनेक अंगों और कलाओं की पूर्ति करता है।

नाटक के दो भेद हैं—(१) श्रव्य और (२) दृश्य। इन दोनों में दृश्य काव्य या नाटक का महत्त्व विशेष है। श्रव्य नाटक पुस्तकरूप में लिखा गया उपन्यास है; उसकी गणना नाटक में नहीं हो सकती। ऐसे नाटक पठित समाज को ही लाभ पहुँचा सकते हैं। इतने पर भी पठित समाज में से वे ही उससे लाभ उठा सकते हैं जो काल्पनिक हों और सूत्रों का अर्थ समझ सकते हों। साधारण जनसमाज को उससे कुछ लाभ नहीं; वह तो उसे केवल किस्साकहानी सरीखा पढ़ सकती है।

दृश्य काव्यों की बात अलग है। वे केवल पढ़े जाने के लिए नहीं हैं, वे अभिनय करने के ही लिए लिखे जाते हैं। जिस दृश्य काव्य की रचना रंग-मंच पर खेले जाने योग्य न हो वह काव्य दृश्य काव्य नहीं कहा जा सकता। दृश्य काव्य वही है जिसमें घटना विशेष को प्रत्यक्ष दिखला देने की सजीविता हो तथा जिसके मार्मिक सूत्र, रूप, भाषण, गायन, नृत्य आदि उस घटना को प्राणदान कर सकें। जिसका संगठन घटना-स्थल के स्थल, तथा वाद्यों की मधुरता से रंग-मंच पर, घटित घटना के सामने, सजीव हावभाव-युक्त दिखाया जा सके। जिस काव्य के देखने से बाल-वृद्ध, नारी-पुरुष, मूर्ख और ज्ञानी नाटक के रंग में रँग जायँ यहाँ तक कि नाटक के सुख-दुख, क्रोध-हर्ष, वीरता और शान्ति में अपने आपको बहा ले जायँ, उस साहित्य-पुस्तक का नाम नाटक हो सकता है, अन्य का नहीं। इसी प्रकार का नाटक चाहे जिस समाज को उठा सकता या नीचे गिरा सकता है; समाज के ऐसे नाटक ही समाज को उन्नत कर सकते हैं। साहित्य के इस अंग में ललित और संगीत-कला का योग होने से वह स्वर्गीय सोपान हो जाता है।

संगीत और ललित कलाएँ ऐसी अद्भुत कलाएँ हैं जो कोमल से कोमल और वज्र से वज्र हृदय पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं। पुस्तक-रूप में रखी हुई बातें कोई असर नहीं पहुँचातीं। अल्पबुद्धि वाले इतना स्मरण नहीं रख सकते कि वे पुस्तक का काल्पनिक सिंहावलोकन कर सकें अथवा उसे याद रख सकें। उनका प्रभाव उनके मन पर अस्थायी होता है; पर यह बात दृश्य काव्य में नहीं है। वे बातें जो, स्पष्ट रूप में अनेक बार समझाने पर भी अपढ़ों के हृदय में नहीं जमतीं वेही गूढ़ बातें थोड़े समय में, मनोरंजकता के साथ, बड़ा प्रभाव डाल सकती हैं और उनका स्मरण अधिक समय तक बना रह सकता है।

साहित्य और समाज की श्रेष्ठता का पता नाटकों से ही लगता है। नाटक ही अनेक प्रकार से प्राचीनता का सजीव चित्र खींच सकते हैं। हिन्दी साहित्य के इस अत्युपयोगी अंग की पूर्ति होनी चाहिए। अनुवाद-ग्रंथों से इसकी पूर्ति की जा रही है, पर मौलिकता का आह्वान किये बिना पराये आदर्शों पर अपने आपको भटकाना कहाँ तक लाभदायक हो सकता है इसे स्वयं पाठक विचार सकते हैं।

स्वर्गीय शुक्लजी का उत्तर-चरित्र ।

(लेखक—पं० विश्वम्भरप्रसाद गौतम, विशारद)

जिस समय "श्रीशारदा" के प्रथम अंक में श्रद्धेय शुक्लजी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुआ था उस समय कौन जानता था कि ९ मास के पश्चात् ही, इसी पत्रिका में उनका उत्तर-चरित्र प्रकाशित होगा? ईश्वर की इच्छा थी कि कर्मवीर शुक्लजी, एक सच्चे योद्धा की तरह, रण-क्षेत्र में ही प्राण-त्याग करें। वही हुआ और गत ११ जनवरी को राष्ट्रीय महासभा के पुण्य क्षेत्र में, नवीन शरीर धारण कर और भी उत्तम रीति से देशसेवा करने की इच्छा से—"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" कहते कहते उन्होंने इहलोक त्याग किया।

इन ९ मास के भीतर देश में ऐसी ऐसी घटनाएँ हो गई हैं जो इतिहास में चिर-प्रसिद्ध रहेंगी। इस क्रान्ति-काल में शुक्लजी ने देश का साथ किस प्रकार दिया उसके लिए उनका प्रत्येक दिन का जीवन साक्षी है।

अखिल-भारतवर्षीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से शुक्लजी ने जो भाषण पटना में दिया था उसकी प्रशंसा हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध समाचार-पत्रों ने मुक्तकंठ से की थी। आपके सभापतित्व में विशेष उल्लेखनीय बात यह हुई थी कि सर्वसम्मति से सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था—"हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए भारतवर्ष में एक ऐसी संस्था का स्थापित होना आवश्यक है जहाँ साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों पर हिन्दी भाषा में ग्रन्थ-रचना के लिए लेखक नियुक्त किये जावें"। तदनुसार आपने अपने उत्साही मित्र श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी की सहायता से जबलपुर में 'राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर' की स्थापना कराई। आप कांग्रेस के कार्य से निवृत्त होते ही 'हिन्दी मंदिर' और मध्यप्रान्तीय राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के लिए धन एकत्रित करने के लिए प्रान्त और भारत के अन्य स्थानों में दौरा करने वाले थे; पर प्रान्त तथा हिन्दी के दुर्भाग्य से उनकी वह इच्छा क्रूर काल की क्रूरता से कार्यरूपमें परिणत न हो पाई। आप हिन्दी-मन्दिर के उपसभापति और नवजात राष्ट्रीय-शिक्षण-मंडल के सभापति थे।

आपकी इच्छा थी कि पटना से लौट कर कुछ दिन विश्राम किया जाय; पर राष्ट्र-राम के सेवकों को विश्राम कहाँ? राजिम के किसानों ने आपको पकड़ पाया और 'मध्यप्रान्तीय प्रथम-मालगुजार और किसान' सभा को, आदर्श मालगुजार और दीन किसानों के सच्चे हितैषी शुक्लजी के सभापतित्व में, सफल और यशस्वी बनाया।

इसके बाद राजनैतिक जिला-परिषदों की धूम मची और सारे प्रान्त में शुक्लजी की पुकार हुई। आपने नरसिंहपुर, होशंगाबाद, जबलपुर, मंडला इत्यादि की परिषदों को अपने प्रगाढ़ परिश्रम से सफल बनाया। इनमें से पहिली दो परिषदों के आप सभापति निर्वाचित किये गये थे। आपके इन भाषणों के पढ़ने से पद पद पर आपकी सच्ची देश-भक्ति और मध्यप्रदेश को आदर्श प्रान्त बनाने की दृढ़ धारणा का पता चलता है।

आप गत साल की प्रान्तीय राजनैतिक परिषद और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भी सम्मिलित हुए थे। आपके ही उद्योग से प्रान्तीय सम्मेलन का समुचित संगठन हुआ था और उसे सुचारु रूप से चलाने के लिए नियम और उपनियमों की आपने रचना की थी जो सर्वसम्मति से सम्मेलन द्वारा स्वीकृत हुए थे।

आप एकता के कितने पक्षपाती थे इसका प्रमाण उक्त परिषद में प्रकट हुआ था जब परिषद में 'कांग्रेस जबलपुर में हो कि नागपुर में', इस विषय पर गहरा मतभेद हुआ और आपने महाराष्ट्र और हिन्दी-भाषा-भाषियों के बीच में प्रेम बनाए रखने के लिए सबको यह समाश्वासन दिया कि कांग्रेस कहीं भी हो, वह हमारी है; हमें उसे सफल बनाने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए।

वहाँ से वापिस आने पर जनता की इच्छा से आप स्टेट कौंसिल के लिए उम्मेदवार खड़े हुए। इतने में कलकत्ता की स्पेशल कांग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पास कर दिया। उसके अनुसार आपने जनता की आज्ञा को शिरोधार्य कर कौंसिल की उम्मेदवारी छोड़ दी। पर आपने अपने निश्चय को सर्वसाधारण में तब तक प्रकट नहीं होने दिया जब तक कि नागपुर की कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति के सभापति का निर्वाचन नहीं हो गया था; क्योंकि आप को यह प्रलोभन दिया गया था कि यदि आप कौंसिल की उम्मेदवारी छोड़ देंगे तो प्रान्त आपको कांग्रेस की स्वागतकारिणी-समिति के सभापति के आसन पर, जिस पर आपका दीर्घ राजनैतिक सेवा और असीम आत्म-त्याग के कारण स्वाभाविक अधिकार था सहर्ष आसीन करेगा। उक्त सभापति के निर्वाचित होने के समय तक शुक्लजी टस से मस न हुए। अंत में जब भेद खुला तब प्रान्त ने पुकार मचाई कि, "महाराज, स्वागत-कारिणी-समिति के सभापति के आसन को अंगीकार कीजिए।" निर्वाचित सभापति श्री० सेठ जमनालालजी ने भी आग्रह किया कि आप सभापति हो जाइये, पर निष्काम कर्म के आचरण प्रेमी शुक्लजी ने स्वीकार नहीं किया!

शुक्लजी अपने भाषणों वा लेखों द्वारा असहयोग आन्दोलन के प्रबल पक्षपाती नहीं कहलाते थे, वे कार्यों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से उक्त आन्दोलन को सफल बनाने के हृदय से आकांक्षी थे। प्रमाण-स्वरूप, आपने कौंसिल की उम्मेदवारी के सिवा ता० २८ सितम्बर १९२० को रायबहादुर की उपाधि और ता: ४ जनवरी, १९२१ को फर्स्ट क्लास आनरेरी मजिस्ट्रेटी त्याग दी थी। नागपुर जाते समय आपने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि वहाँ से वापिस आते ही मैं सिहोरा में पंचायती कोर्ट (Arbitration Court) स्थापित करूँगा।

गत नागपुर की कांग्रेस को सफल बनाने के लिए आपने जी-जान से परिश्रम किया। स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी आप महीनों प्रान्त भर में कांग्रेस के लिए द्रव्य एकत्रित करने के विचार से दौरा करते रहे। समूचा प्रान्त यह जानता है कि इस वर्ष की कांग्रेस को यशस्वी बनाने का सबसे अधिक श्रेय श्रद्धेय शुक्लजी को ही प्राप्त है। यह सब कुछ हुआ; पर इस अनवरत परिश्रम का प्रभाव पूज्य शुक्ल जी के बिगड़े स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ा। आप नागपुर में पहुँचते ही श्लेष्म ज्वर (इन्फ्लुएंजा) से ग्रसित हो गये; फिर भी कर्मवीर शुक्लजी ने ज्वर की तनिक भी पर्वा न की; नित्य १०२ डिग्री ज्वर रहते हुए आप कांग्रेस और सब्जेक्ट-कमेटी में बराबर शामिल होते रहे। इस प्रकार बाहरी उत्तेजना पाकर रोग एकदम उभड़ पड़ा और चार जनवरी से बढ़ता ही गया।

नागपुर के सभी प्रसिद्ध डाक्टरों तथा सिविल सर्जनों ने लाख उपाय किये; पर सब निष्फल हुए। भारत के दुर्भाग्य से मध्यप्रान्त के हृदय-सर्वस्व शुक्लजी ता: ११ जनवरी को रात्रि में मातृभूमि की गोद में लिटाये गये। आप अन्त समय तक बराबर चैतन्य रहे। अंत में 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'········कहते हुए श्रद्धेय शुक्ल जी की महान आत्मा परमात्मा में लीन हो गई! समस्त देश और विशेष कर मध्यप्रान्त में हाहाकार मच गया। विन्ध्या की वज्र-शिलाएँ भी दुःख से पिघल कर पानी पानी हो गईं; पर क्रूर काल को तनिक भी दया न आई! उसने सिहोरा के सर्वस्व, जबलपुर की जागृति की स्फूर्ति, मध्यप्रान्त के महारथी और भारत की भलाई पर मर मिटने वाले शुक्लजी को हमसे असमय में छीन लिया।

श्रद्धेय शुक्लजी के चिर-वियोग से हम दुःखित और व्याकुल हैं। फिर भी हृदय मसोस कर, परमात्मा से यही प्रार्थना करते हैं कि वह, बल और साहस दे जिससे शुक्लजी के विजय-पथ पर दृढ़ता के साथ हम बढ़ सकें, जिससे उनकी आत्मा स्वर्ग से यह देखकर संतुष्ट हो कि उनका प्यारा पिछड़ा प्रान्त स्वाधीनता के संग्राम में किसी प्रकार पीछे नहीं है।

धर्म का प्रकाश।

(लेखक—श्रीयुत आत्माराम देवकर)

(१)

सुजान चौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाँव भर के झगड़े आपके पास आया करते थे। आप स्वतन्त्र शासक की नाईं स्वेच्छानुसार उनका निपटारा करते थे; किन्तु आप पढ़े लिखे कुछ भी न थे। उन दिनों निम्न श्रेणी के मनुष्यों को विद्योपार्जन का अधिकार नहीं था। स्कूल बहुत कम थे। शिक्षार्थियों को निजव्यय से साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुदूरवर्ती नगरों में जाना पड़ता था। इसीसे सुजान चौधरी भी निरक्षर थे; पर उसमें उनका दोष ही क्या था? सौभाग्य से आपने कभी अदालतों का शुभ मुख नहीं देखा था। आजकल के से मुनीम-कारिन्दों का दर्शनीय समूह आपके बैठकखाने में नहीं दिखता था। बहीखातों के आप कट्टर शत्रु थे। कोतवाल रपट (रिपोर्ट) लिखवाने जब आप के पास आता तब आप निरुपाय हो 'पाँच नारि के

कत' अँगूठे का मुँह काला कर उसे निर्दिष्ट स्थान पर जमा देते थे। क्या करें, 'सही' करने वालों का आपके यहाँ अभाव था। इसीका प्रायश्चित्त आपको करना पड़ता था।

(२)

परमात्मा ने चौधरी जी को खूब माना था। पुत्र तो एक ही था, किन्तु अन्यान्य स्वजनों की चहलपहल से आपका गृह सदा परिपूर्ण रहता था। देश-देशान्तरों से दूध देने वाली अच्छी भैसें, गायें, नामी बैल तथा नाटे आपने मंगाकर रखे थे। गाँव में कई धान्यागार (बंड) सदा अन्न से भरे रहते थे। आषाढ़ और कार्तिक में आप बंडे खुलवा देते थे। झुंड के झुंड किसान आकर आवश्यकतानुसार अन्न तुला पोटली बांध घर ले जाते थे। सभी जाते समय यह कहते जाते थे, 'चौधरीजी इतना हुआ', 'चौधरीजी उतना हुआ'। चौधरी जी 'हूं' कह कर चुप हो जाते थे। लोगों का ख्याल था कि चौधरी जी सब हिसाब ज़बानी याद रखते हैं। किन्तु उनका वह 'स्मृति-पत्र' कभी कोई देख नहीं पाया। हृदय की गंभीरता में वह न जाने कहाँ पड़ा रहता था। फिर माँगने की भी नौबत आवे तो कुछ अनुमान किया जाय। किन्तु चौधरी जी यह पढ़े ही न थे!

(३)

जब लोग खेती-बाड़ी करके निपटते तो उसी तरह पोटलियों में बांध बांध बंडों में डाल जाते थे। फटी सी पगिया और छोटी कोपीन सी धोती पहने, उघारे बदन बैठे हुए चौधरी जी टुकुर-मुकुर यह देखते रहते थे। लोग अनाज बंडों में डाल तम्बाखू की दम लगा चुपचाप घर का रास्ता लेते थे। लगान की वसूली करने के लिए आपके पास कोई लंब-तड़ंग लठैत पठान या ठाकुर नौकर नहीं था। लोग जो दे जाते, आप ले लेते थे। पटवारी किताब में क्या दर्ज करता है, क्या छोड़ देता है इसके जानने की आवश्यकता आपको नहीं थी। फिर भी जहाँ तक सुना गया है, न तो किसीने आपकी एक पाई कभी बेईमानी से दबाई और न कम बढ़ अनाज बंडों में पड़ा। प्रति वर्ष वह बढ़ता ही जाता था। जब बंडे भर जाते और अनाज के ढेर बाहर पड़े सड़ने लगते, तब आप 'नगर-भोज' करा देते थे। गांव के छोटे बड़े सभी को उसमें सम्मिलित होना पड़ता था। जो रह जाता वह चौधरीजी की फटकार खाये बिना न रहता था। पटवारी, मुहर्रम, मास्टर थानेदार इत्यादि सभी आपका आदर करते और आपके वचनों में आस्था रखते थे। रात को अवकाश मिलने पर उन वृद्ध कोपीनधारी निरक्षर चौधरी बाबा के निकट सब जमा होते और उनसे ज्ञान-चर्चा सुनते थे। पाठकों को आश्चर्य होगा, किन्तु जिन्होंने पटेल बाबा को आखों देखा है उन्हें यह सुनकर कुछ भी अतिशयोक्ति न दिखेगी।

(४)

जब किसी पर तीन चार साल का लगान चढ़ जाता तो वह स्वयं चौधरीजी के निकट आ क्षमा-प्रार्थना करता, तब आप उसे हलकी सी कड़ाके धूप में बिठा रखते और लगान दे कर घर जाने को कहते। किन्तु जब वह कहता, "पटेल बाबा, मेरे पास तो आज के खाने तक को नहीं है। दो साल से कुछ भी उपज नहीं हुई। आपही देखते हैं, मैं झूठ थोड़े ही कहता हूँ। मेरे पास होता तो आपके निकट क्षमा

ही माँगने को क्यों आता। अगले साल भगवान ने कृपा की तो कौड़ी कौड़ी करके चुका दूँगा। पर अभी फसल आते तक मेरे बाल-बच्चों की फ़िकर आपको करना होगी।" चौधरीजी अभिप्राय समझ कर आज्ञा दे देते—अच्छा दो मानी नपा ले। अधिक न दूँगा। किसान मुस्करा कर आँखों में आँसू भर लाता और "जय अन्नदाता की" कह गेहूं नपा घर का रास्ता लेता। कोई उनसे प्रश्न करता, "चौधरी जी, इस तरह तो आप सारी जमींदारी चौपट कर बैठेंगे। आप क्या सोच कर ऐसा कर रहे हैं।" तब हँस कर उत्तर देते, "नीकी कही बबुआ, देवे और लेवे वारे दोई को मन बड़ो चइये लल्लू। भगवान कहत हैं हमसे कोई माँगे तो हमारे पास का नइयाँ। पै माँगवे वारे में उत्ती हिम्मत तो चइये। जी को जित्तो खरच उत्तई पावनो। मूम दाता को हिसाब जमा खरच साल में बरोबर हो जात है। हम जानत हैं, गरीब किसान को दओ अकारथ नइ जात। लुच्चे-लुंगरन की बात दूसरी। उनको दओ दारू की धार में बह जात है और किसानन को खेत की मेड़ पै पसीना बहावे के काम आउत है। रही होतव्यता की बात, सो ऊपै का काऊ को जोर। हमरो खुरपी तो न छुड़ा लेहै काऊ। कहो कैसी मरजी भई।" बस, यह सुन वह कुछ भी कहने का साहस न करता और अपना सा मुँह लिये चला जाता था।

लेनदेन-संबंधी दूसरों के झगड़े भी चौधरी जी इसी प्रकार तय करते थे। जब देखते कि अपराधी ऋण के बोझ से दबा हुआ है और उसकी आर्थिक स्थिति भी शोचनीय है तब वे अपने पास से साहूकार को बदले का भुगतान दे देते थे। हाँ, नैतिक झगड़े में आप अवश्य ही कठोरता धारण कर लेते थे और प्रकृत अपराधी को उचित दंड दिये बिना नहीं रहते थे।

(५)

एक वर्ष बड़ा अकाल पड़ा। लगान माफ़ कर चौधरीजी ने वर्ष भर के लिए किसानों को खाने-पहनने को खर्च दिया। जिनके पास बैल नहीं थे उन्हें बैल दिये। बोनी के समय नौकरों ने नियत बिगाड़ उनका बहुतसा अन्न खेतों पर से चुरा लिया। कई लोगों ने भूख के मारे गेहूं की कुहरी बना डाली। इतने में चौधरी जी आ गये। तब नौकरों ने अपराध छिपाने के लिए चुपचाप सब गेहूँ अच्छे गेहूँ में मिला कर बो दिये। निदान जब गेहूँ पके और चौधरीजी ने खाने के लिए बालें तुड़वाई तो उनमें से किसी किसी बाल में ज्यों के त्यों उबले हुए गेहूं निकले। यह देख चौधरी जी को संदेह हुआ। उन्होंने खेत भर की बालें तुड़वा कर अपने सामने गेहूं निकलवाये तो उनमें चौथाई बालों के गेहूं उबले हुए निकले। आपने चट बोने वाले आदमियों को बुलवाया। उनके आने पर चौधरी जी ने झिड़क कर कहा—"सच बोलो, तुमने कैसे गेहूं बोये थे। बात बना कर कहोगे तो कठोर दंड दिया जायगा।" सच के आगे झूँठ का निर्वाह और कहाँ तक हो सकता था। नौकरों को सच्ची ही बात कहनी पड़ी। उनकी सत्यवादिता पर प्रसन्न हो चौधरीजी ने क्षमा कर वे सब गेहूं उन्हीं को बाँट दिए।

कहते हैं, उस वर्ष उनके यहां ऐसी अद्भुत उपज हुई कि खलयानों में गेहूं रखने को जगह

न थी। सच झूठ भगवान जाने, हमने लोगों के मुख से यहाँ तक सुना है कि जितने समय तक चौधरीजी खेत में बैठे रहते थे, उतने समय तक उड़ावनी में अन्न के सिवा भूसा नाम को भी न निकलता था। यह देख नौकर नम्र भाव से निवेदन करते थे—"मालिक, कृपाकर घर पधारिये, नहीं तो बैलों को भूसा कहाँ से पायँगे"। यह सुनकर चौधरीजी हँस देते और "ले भइया यह चला, बैलों के लिए भूसा निकाल ले" ऐसा कहते हुए वहाँ से अन्यत्र जा विराजते थे। उनके चले जाने पर यथावत् भूसा गिरने लगता था।

उपरोक्त जन-श्रुति में थोड़ी बहुत अतिशयोक्ति भले ही हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि बात बिलकुल निर्मूल नहीं है।

चौधरीजी के समकालीन अनेक सज्जन अभी विद्यमान हैं जो यह बात सुनाते हैं।

(६)

चौधरीजी बड़े ही सौम्य, मितभाषी एवं विवेक-संपन्न गंभीर पुरुष थे। आपकी दूरदर्शिता सराहनीय थी। इसीसे लोग आपके वाक्य को ब्रह्म-वाक्य समझ सादर शिरोधार्य्य करते थे। एक बार आपने मन में तीर्थ-यात्रा की ठान ली। फिर अनेक विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर भी आप उससे रत्ती भर न डिगे। उनका अधिक आग्रह देख घर के लोग चुप हो गए। आपने दो एक नौकरों को साथ ले यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। बूढ़े चौधरी को इस प्रकार दूर की यात्रा के लिए जाते देख गाँव के सभी छोटे बड़े दौड़ पड़े और सजल नेत्रों से उन्हें विदा कर पछताते हुए घर लौटे।

निदान काशी, अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, रामेश्वर, जगदीश प्रभृति अनेक तीर्थों का पर्य्यटन कर दो वर्ष के प्रवास के अनन्तर चौधरी जी घर लौटे। दैवयोग से ग्राम में प्रवेश करते ही आ ने अपने एकमात्र पुत्र की मृत्यु का दुःखद संवाद पाया। सुनकर आप कुछ भी विचलित न हुए, किन्तु विरक्त हो वहीं एक शिला पर बैठ गए। गाँव के लोग आ आकर आपको समझाने लगे। आपने हँसकर कहा—"कहाँ, मुझे तो कुछ भी अनुताप नहीं है। गहरे तूफान में पड़कर जिस प्रकार पथिक कुछ क्षण के लिए निश्चल होकर खड़ा रह जाता है, उसी प्रकार मेरी भी दशा है। तूफान सदा तो रहता नहीं। यात्रा भी पूरी करनी ही पड़ती है। आँधी-पानी के झोंकों से कोई अपना रास्ता थोड़े ही छोड़ बैठता है।" यह सुन लोगों ने आपकी सहिष्णुता की मनही मन खूब सराहना की और कहा—"आप अब घर चलिए"। आपने उत्तर दिया, घर अभी न जाऊँगा। मुझे देख स्त्री हृदय के आवेग को रोक न सकेगी। वह मुझसे देखा न जायगा। इससे मैंने कमसे कम आज दिन भर यहीं रहना स्थिर किया है। आप लोग अधिक कष्ट न कर घर जाइये। मैं 'जानकी-जीवन' के दर्शन कर घर आऊँगा।

चौधरीजी ने एक मंदिर बनवा उसमें 'जानकी-जीवन' की प्रतिष्ठा की थी। दूसरे दिन घर आकर आपने 'जानकी-जीवन' की दी हुई सारी सम्पत्ति उन्हींको प्रत्यर्पित कर दी, जिसकी थी उन्हीं को सौंप दी। अपने पास केवल उनका दिया हुआ 'धर्म' का 'प्रकाश' रहने दिया जिसके उजाले में चौधरीजी ने आजन्म



स्वर्गीय पण्डित विष्णुदत्त जी शुक्ल।

मित्रों का मित्र नया चित्र मन चरित्रों का,
पुत्र अति पवित्र, एक पित्रोंका प्यारा गया।
प्यारों का प्यार कमजोरों का कमजोर,
दिल के अमीरों का अमीर दिलदारा गया।
वक्तों का वक्ता अनुरक्त भक्त भक्तों का,
मोहन अभक्तों का तन मन धन मारा गया।
सिहोरा-सहारा जन-जाहिर जबलपुर का,
साथियों का सितारा हीरा हिन्दका हमारा गया॥

शेष जीवन व्यतीत किया। स्त्री के भरण-पोषण के लिए एक गाँव रख छोड़ा। उसकी भी ऐसी व्यवस्था कर दी कि जबतक स्त्री जीवित रहे, गाँव की आय से अपना भरण-पोषण करे। अनंतर वह भी 'जानकी-जीवन' की ज़मींदारी में मिला दिया जाय।

इस घटना के बाद चौधरी जी अधिक समय तक जीवित न रह सके। आपका बुढ़ापे का जीर्ण शरीर पुत्र-शोक से दग्ध हो बिलकुल शिथिल पड़ गया, और पाँच ही मास भीतर आपने सदा के लिए संसार से नाता तोड़ दिया।

स्वर्गीय शुक्लजी की गुण–गाथाएँ।

(लेखक—पं० विश्वम्भरप्रसाद गौतम, विशारद)

'कहेंगे सबही नैन नीर भरि भरि पाछे,
प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायँगी।''

भारत का नभमण्डल निर्मल था। काली घटाओं का कहीं पता नहीं था कि सहसा वज्रपात हुआ। भारत के पिछड़े अंग, मध्यप्रान्त, ने अपने पुत्र-रत्न की मूर्ति को विचित्र विधाता के देव-दूतों के हाथों में क़ैद पाया। प्रान्त रोया, चिल्लाया और उसने लाखों तदबीरें कीं; पर हुईं सब व्यर्थ। उसका एकमात्र आधार जिसके ऊँचे मस्तक और वीरहृदय का उसे अभिमान रहा, जिसकी विनीत रहन-सहन पर वह मुग्ध रहा, और जिसे समस्त प्रान्त सदैव प्राणों से भी अधिक इसलिए प्यार करता रहा कि उसीकी भुजाओं के बल की बिजली ने प्रान्त को जगाया था और स्वाधीनता के पथ पर भारत के अन्य प्रान्तों के साथ उसे सरगर्मी के साथ बढ़ाया था आज वही सच्चा सहारा सर्वदा के लिए उठ गया। प्रान्त पंगु हो गया। वह समझ नहीं पाता कि उसके लिए ही जीने वाला, अपनी पर मर मिटने वाला, दूसरों के हाथ में पड़ कर, अपनों को अथाह दुःखसागर में डुबा कर कैसे चल पड़ा। उसे याद है—अच्छी तरह से याद है कि २१ वर्ष का विष्णुदत्त बालक प्रान्त के अधि-पति जान मारिस के द्वारा ठुड्डी हिलाये जाने पर उनकी लम्बी डाढ़ी पकड़ कर हिलाने लगा था। अपनेपन का उसे इतना ध्यान था, फिर वह दूसरों का कैसे हो गया? यह हो नहीं सकता कि वह देव-दूतों के प्रलोभनों में फँस गया हो। सारा प्रान्त जानता है कि रौलेट एक्ट के विरोध में वाइसराय की कौन्सिल से इस्तीफ़ा देते समय उन्हें बड़ा बड़ी, परन्तु वास्तव में निःसार, उपाधियों का ही नहीं, वरन मध्य प्रान्त के मंत्री-पद का भी प्रलोभन दिया गया था। उनकी सारी ज़मींदारी नष्ट हो जाने का भय दिखलाया गया था; परन्तु प्रलोभन और भय पर विजय हुई जनता के प्रति उनके उत्तरदायित्व की।

श्रद्धेय शुक्लजी निष्काम कर्म के प्रेमी थे। वे जनता की प्रशंसा के प्रेमी न थे। खण्डवा की राजनैतिक परिषद् में, जिसके सभापति श्री० दादा साहिब खापर्डे थे, प्रान्त के सब लोग कौंसिल के त्याग-पत्र के कारण शुक्ल जी के लिए धन्यवाद का प्रस्ताव पास किया चाहते थे। सभापति उस प्रस्ताव को पसंद नहीं करते थे; क्योंकि उन्होंने कौंसिल नहीं छोड़ी थी। फलतः परिषद् में कुछ झगड़ा सा हो गया। जब इस घटना की खबर शुक्ल जी को लगी तब उन्होंने तुरन्त अपने प्रिय मित्र खापर्डे महाशय को समाश्वासनपत्र लिखा कि "इन बातों से मेरे और आपके बीच में जो प्रेम भाव है उस में बाधा नहीं आ सकती"। अपने कृतज्ञ मित्रों को कृतज्ञता प्रगट करने के लिए धन्यवाद देते हुए शुक्लजी ने यह लिख भेजा कि "मैंने धन्यवाद पाने के लिए कौंसिल नहीं छोड़ी, मैंने तो केवल कर्त्तव्य समझकर यह कार्य किया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान कौंसिल का जिस प्रकार का संगठन है उसके

अनुसार कौंसिल में देश की सच्ची इच्छाओं और आदरणीयों का अपमान ही होगा"। वे अन्त तक इसी सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। फिर जनता के बारंबार अनुरोध करने पर भी कौंसिल में नहीं गये। वे जनता की सच्ची सेवा के उपासक थे और अच्छी तरह जानते थे कि कौंसिल के बाहर रह कर वे अपने आप को जनता के लिए अधिक उपयोगी बना सकते हैं।

वे जनता की इच्छा के अनुसार कौंसिल आॅव स्टेट के लिए उम्मेदवार खड़े हुए थे। इतने में कलकत्ता की स्पेशल कांग्रेस ने असहयोग का प्रस्ताव पास कर दिया। तदनुसार उन्हों ने कौंसिल की उम्मेदवारी छोड़ दी; पर अपना निश्चय तब तक सर्वसाधारण को प्रकट नहीं होने दिया जब तक कि गत नागपुर की कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति के सभापति का निर्वाचन नहीं हो गया। सारा प्रान्त जानता है कि अनवरत राजनैतिक सेवा, अगाध राजनैतिक ज्ञान तथा असीम आत्म-त्याग के विचार से उक्त समिति के सभापति के आसन पर आसीन होने का स्वाभाविक अधिकार शुक्ल जी ही का था। उन्हों ने इस आदरणीय पद को भी नैतिक धबा(?) न की। कौंसिल आॅव् स्टेट की उम्मेदवारी त्याग चुकने पर मित्रों के बारंबार आग्रह करने पर भी आपने अध्यक्ष के पद को स्वीकार नहीं किया। शुक्ल जी की निःस्वार्थ सेवा का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

शुक्लजी ने पंजाब के अत्याचारों और खिलाफ़त के प्रति किये गये अन्यायों से दुःखित होकर प्रान्त के चीफ़ कमिश्नर के पास निम्न लिखित पत्र के साथ रायबहादुरी की सनद और पदक वापिस भेज दिया था "In view of the injustice done in the matters of the Punjab and the Khilafat and having regard to the present feelings in the country, I do not think it would be proper on my part to hold the title of Rai Bahadur any longer.

I beg therefore to return the sanad conferring on me the title of Rai Bahadur and the badge also, which please acknowledge the receipt of."

अर्थात् "पंजाब और खिलाफ़त के मामले में अन्याय होने के कारण तथा देश के वर्तमान भावों को देखते हुए मैं 'रायबहादुर' की उपाधि को अब और अधिक रखना अपने लिए उचित नहीं समझता। इसलिए मैं रायबहादुर की सनद को और बेज को भी लौटाता हूं जिसकी पहुँच कृपा कर लिखिएगा।"

इसपर शुक्ल जी के कई हितैषियों ने उनसे बहुत आग्रह और अनुरोध किया कि वे ऐसा न करें। तब उनपर शुक्ल जी ने मुसकराते हुए यही उत्तर दिया, "I was born plain Shukul and shall die such." अर्थात् जब मैंने जन्म लिया था, तब मैं निरा शुक्ल था और वैसे ही पञ्चत्व को भी प्राप्त होऊँगा। उन्हें उपाधि-त्याग के सबन्ध में केवल इष्ट मित्रों के आग्रह और अनुरोध का ही सामना नहीं करना पड़ा था, वरन सरकार की ओर से भी उनपर भारी दबाव डाला गया था। सरकारी जीवों द्वारा यहां तक विश्वास दिलाया गया था कि यदि वे उपाधि वापिस लेने के लिए तैयार हो जाँयगे तो सरकार उनसे यह प्रार्थना करने के लिए तैयार है कि वे अपनी उपाधि फिर से वापिस ले लें। इतना ही नहीं, उन्हें इस बात का भय दिखलाया गया था कि यदि वे उपाधि वापिस न लेंगे तो उन्हें जेल में जाने की नौबत आ जायगी। इसपर वीर-हृदय शुक्ल जी ने कहा था, "मुझे भारतीय चरित्र की रक्षा करना है। मैं कभी ऐसा काम न करूंगा जिससे भारतमाता संसार के सामने अपने पुत्रों की करतूतों के कारण लज्जित हो।"

शुक्ल जी के ऊपर अपना जादू चलते न देख, सरकार और शुक्ल जी के हितैषियों ने उनकी धर्मपत्नी के पास यह संदेश भेजा, 'शुक्ल जी को समझाइए। वे सरकार से असहयोग न करें, अन्यथा जेल जाना पड़ेगा।' इस पर अमर शुक्ल जी की सुशीला धर्मपत्नी ने यह उत्तर

दिया था—"मैं अपने पूज्य पति की इच्छा के प्रतिकूल कभी नहीं जा सकती।" शुक्ल जी अपनी अर्धांगिनी का यह उत्तर सुन गद्गद् हो गए और उनसे कहने लगे, "यदि मैं स्वदेश के लिए जेल जाऊँ, तो तुम आँसू बहा कर, मेरा निर्मल जीवन मलिन न करना।"

शुक्ल जी दलबन्दी से सदा अलग रहते थे। वे एकता के अनन्य उपासक थे और कहा करते थे—"भारतवर्ष में केवल दो ही दल हो सकते हैं; एक जनता का और दूसरा नौकरशाही का।" देश में एकता बनी रहे इसके लिए आप सदैव चिन्तित रहा करते थे। सूरत की कांग्रेस में फूट हो जाने से मेलपर मर मिटने वाले उनके दिल पर गहरी चोट लगी थी। इस बात का पता सारे प्रान्त को था। इसी जानकारी ने १६२४ की प्रान्तीय परिषद को सफल बनाया। उक्त परिषद के सभापति-निर्वाचन के संबंध में प्रान्त में गहरा मतभेद हुआ। गरम दल वाले चाहते थे कि उनके दल का सभापति हो और नरम दलवाले चाहते थे कि उनके दल का। सभापति के निर्वाचन का मामला तय न हो पाया और परिषद के लिए केवल २० दिन रह गये। उस समय दोनों दलों के लोगों की आँखें उस महापुरुष की खोज में घूमने लगीं जो दोनों दलों का विश्वास-पात्र हो। ढूंढते ढूंढते उन्हों ने अपना विश्वासपात्र सिहोरा में रह कर ग्रामीण जीवन को ही सर्वश्रेष्ठ जीवन समझने वाले शुक्ल जी को पा लिया। दोनों दलों ने शुक्ल जी से सभापति का आसन ग्रहण करने के लिए आग्रह किया। उन दिनों शुक्ल जी फसली बुखार से पीड़ित थे। अतः उन्हों ने उस जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट की। जनता ने उनकी एक न सुनी, उसने एक स्वर से कह दिया, "जिम्मेदारी तुम्हें ही लेनी पड़ेगी; नहीं तो इस वर्ष की परिषद का होना असम्भव हो जायगा।" शुक्ल जी को इस समय केवल अपनी ही बीमारी की चिन्ता न थी, उनकी बड़ी पुत्री प्रयाग में बहुत अधिक बीमार थीं। फिर भी शुक्ल जी ने केवल एकता के नाते वह ज़िम्मेदारी अपने सिरपर लेली। वे ज्वर से प्रपीड़ित होते हुए भी, आठ दिन केवल दूध पर रहकर, अपना व्याख्यान लिखकर न मधुर शब्दों में उसे वे प्रस्तुत किये थे जिस ... शुक्ल जी ... व्याख्यान का ही प्रभाव था कि ... दलों का भेदभाव मिटकर राष्ट्रीय दल की वृद्धि का पुनः श्रीगणेश हुआ।

शुक्ल जी जिस कार्य्य को हाथ में ले लेते थे उसे अनेकों विघ्न-बाधाओं के आते हुए भी पूरा करके ही छोड़ते थे। रिक्रूटिंग बोर्ड के सेक्रेटरी की हैसियत से ज्योंही आप रँगरूट भरती करने के लिए प्रान्त में दौरा करने निकले त्योंही आपके पास प्राण-दंड की धमकियाँ देनेवाले पत्र पर पत्र पहुँचने लगे। लोगों ने आपको बहुतेरा समझाया; पर आप फ़सली बुखार से पीड़ित रहते हुए भी कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए। आप सदैव कहा करते थे—

"कार्य्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि"।

आप मध्यप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गये थे। गृह में प्यारी पुत्री प्लेग से बीमार थी। बालिका को समझा दिया, "बेटी, सम्मेलन के ही पुण्य-प्रताप से तुम्हारी रक्षा होगी।" बालिका को मृत्यु के मुँह में छोड़ आप सम्मेलन का कार्य्य सम्पादन करने के लिए खण्डवा चल दिये। वहाँ पर एकान्त में मित्रों ने पुत्री के रुग्ण होने और उसपर शुक्ल जी के अटूट प्रेम की वार्ता सुनी और सभामंडप में जनता ने सुधामयी वाणी द्वारा यह सुना, "मैं जिस समय मातृभाषा के उपासकों का वृहत् जमाव देखता हूं उस समय मेरा हृदय फूला नहीं समाता।" अनुकरणीय है आपकी यह कर्त्तव्यनिष्ठा!

शुक्लजी की धर्म्माभिरुचि भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। महत्वपूर्ण कार्य्यों के रहते हुए भी आप नित्य पंचयज्ञ, शिवार्चन और गीता का पाठ करने के लिए समय निकाल लिया करते थे। आप सनातन-धर्म्मावलम्बी हिन्दू थे। आप कौंसिल में भी त्रिपुंड लगाकर जाया करते थे। आपके दिव्य ललाट पर अंकित त्रिपुंड दूरसे ही दर्शकों को सूचना देता था कि सनातनधर्म्म की

मान-मर्यादा की रक्षा करने के लिए एक महान् आत्मा आज भी कौंसिल में विराजमान है। आपके विशाल हृदय में धार्मिक संकीर्णता का लवलेश न था।

मुसलमान इनके दरवाज़े पर ताज़िया लाते, तो ये खुशी से उसकी इस्तक़बाल करते थे। ईसाइयों के क़ब्रस्तान के लिए आपने बहुत सी ज़मीन दे रखी थी। आप अछूत जातियों की शिक्षा के भी प्रबल पक्षपाती थे। श्रीरामेश्वर से वापिस आने पर लोकमान्य के उपदेशानुसार आपने राष्ट्रीयता को ही अपना प्रधान धर्म मान लिया था और सदा यही कहा करते थे कि "हम सबसे पहिले भारतीय हैं, फिर और कुछ।"

शुक्लजी अपनी पूजनीया माता के सच्चे आज्ञाकारी पुत्र थे। वे कभी उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर, उनका हृदय नहीं दुखाया चाहते थे। आप कांग्रेस डेपुटेशन के साथ विलायत जाने का बिलकुल निश्चय कर चुके थे। वृद्धा माता भी उनकी देशसेवा के पथ पर रोड़े नहीं अटकाया चाहती थीं। इसलिए उन्होंने शुक्ल जी से सहर्ष कह दिया, "बेटा, देश के लिए विलायत जाना मैं धर्म समझती हूं। साथ में मुझे भी लेते चलो। मेरी ज़िन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। कहीं ऐसा न हो तुम्हारे सूने में मेरा शरीर छूट जाय"। माता की अवस्था और निर्बलता का विचार कर, शुक्ल जी ने विलायत जाने का विचार छोड़ दिया।

शुक्लजी की मातेश्वरी वीर-हृदया हैं। उन्होंने एकमात्र पुत्ररत्न के अन्तिम समय पर नागपुर के नेताओं से कहा था, "मेरे प्रिय पुत्र ने स्वदेश की सेवा करते हुए अपने प्राण विसर्जन किये, इसका मुझ दुःखिनी को गौरव है और विश्वास है कि आप लोग इस शोक में भी देश की सेवा में तत्पर रहेंगे"।

परिणय के समय शुक्ल जी की पत्नी लिखने पढ़ने से अनभिज्ञ थीं। स्त्रीशिक्षा के सच्चे समर्थक शुक्ल जी को विदित था कि स्त्री-शिक्षा के कार्य्य में पूज्य माता से विरोध का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि, माताजी ने ज्यों ही पढ़ना प्रारम्भ किया था त्योंही शुक्ल जी ने पूज्य पिता के चिरवियोग का असह्य दुःख दैवयोग से उन्हें सहना पड़ा था। इसलिए शुक्ल जी माता से छिपाकर, गृह और इलाक़े के कार्यों से मुक्त होकर, ११ बजे से १ बजे रात्रि तक, अपनी पत्नी को पढ़ाया करते थे। इस प्रकार शुक्ल जी सहर्ष कष्ट सहते थे; पर माता जी की रुख के प्रतिकूल कुछ न करते थे।

सादगी से जीवन व्यतीत करना शुक्ल जी को बहुत भाता था। आपके मित्रों ने आप से कई बार आग्रह किया कि आप शहर में आकर रहिए, कहाँ खेड़े में पड़े रहते हैं। पर, आपने यह कभी स्वीकार नहीं किया। आपको शहर की अट्टालिकाओं में रहने की अपेक्षा देहाती जीवन अधिक पसन्द था। शहरों में मोटर और फिटन पर घूमने वालों की अपेक्षा शुक्ल जी को अपने गाँवों के खेतों पर कड़ी से कड़ी धूप या सर्दी में घूमते देखकर, किसके हृदय में नवजीवन का संचार न हो जाता था।

शुक्लजी ने २० साल से अधिक आनरेरी मजिस्ट्रेटी की। आपकी न्याय-प्रियता पर लोग इतने मुग्ध थे कि सिहोरा तहसील की प्रजा आप से सदैव सन्तुष्ट रही। शुक्ल जी भी अपने चरित्र और प्रजा की भक्ति में अत्यधिक विश्वास रखते थे। आप अकेले कहीं भी घूमने चले जाया करते थे। इस पर कई मित्र आप से कहते थे कि 'ऐसा करना ठीक नहीं। आपको बाहर घूमने जाते समय हथियारबंद सिपाही साथ में रखना चाहिए"। उत्तर में शुक्ल जी कह दिया करते थे 'चरित्रबल का कवच शरीर-रक्षा के लिए काफ़ी है। हथियारबंद हिंसक नौकरों की ज़रूरत नहीं। जो व्यक्ति स्वतः अपनी रक्षा नहीं कर सकता उसकी रक्षा दूसरे से कदापि नहीं हो सकती।"

शुक्ल जी सरलता और नम्रता की मूर्त्ति थे। आप छोटे बड़े, गरीब अमीर, साक्षर और निरक्षर सबसे एकसा व्यवहार रखते थे। आपके कहर

से कट्टर विरोधी भी आपकी मंजु मुस्कान के सामने मस्तक झुका देते थे। आपकी सज्जनता का मूल मंत्र था 'परिमित वचन कठोर'। आप कभी किसी का मन नहीं दुखाते थे। एक दिन आप अपने मकान में बैठे हुए थे। इतने में एक साधु पहुँचा। उसने "कर्मण्येवाऽधिकारस्ते" पढ़ना प्रारम्भ किया। नौकर ने उसे कुछ खाने को ला दिया और कह दिया "महाराज, जाइये।" पर वह तो बड़े यजमान के यहाँ आया था, इसलिए गया नहीं बिगड़कर कहने लगा 'ऊँची दुकान फीके पकवान।' उसकी ऐसी व्यंगपूर्ण बातें सुनकर भी सरलहृदय शुक्ल जी तनिक भी रुष्ट न हुए। तुरन्त महात्माजी के भोजनों की व्यवस्था शीघ्र करने के लिए नौकर को आज्ञा दे दी। साधु जब भोजन बना चुका, तब लोगों ने देखा कि शुक्लजी मुस्कराते हुए उन्हीं महात्माजी से पूछ रहे हैं, "महाराज, और कुछ आज्ञा हो।"

अभी नागपुर की कांग्रेस के अवसर पर शुक्लजी के प्यारे किसान आपके बहुत पीछे पड़े। वे चाहते थे कि किसानों के लिए निःशुल्क कांग्रेस-मंडप में प्रविष्ट होने की व्यवस्था करा दी जाय। शुक्लजी ने ग़रीब किसान भाइयों के लिए दो दिन लगातार उद्योग किया। आपको इस कार्य्य में इस प्रकार अनुरक्त देख कई लोग तरह तरह की शंकाएँ मन में करने लगे। आपके एक मित्र ने तो आपसे यहाँ तक कह दिया, "महाराज, क्या किसानों को अधिक संख्या में कांग्रेस के अन्दर ले जाकर असहयोग का प्रस्ताव पास करवाइयेगा?" इस वाग्बाण ने शुक्लजी के गम्भीर हृदय पर कुछ भी असर न किया; पर उनके दामाद पं० काशीप्रसाद जी से यह प्रहार न सहा गया। वे तुरन्त दुखित होकर बोल पड़े, "चलिए, बस रहने दीजिए। दूसरों के लिए झिड़कियाँ कहाँ तक सही जायँ।" इस पर नम्रता की मंजु मूर्ति मुस्कराई और बोली, "तामसी भावों पर सदैव सात्विक भावों की विजय होती है। दूसरों की टीका-टिप्पणी से नाराज़ होकर, काम अधूरा नहीं छोड़ देना चाहिए।" इस पर पं० काशीप्रसाद जी ने कहा—"महाराज, आप पूरे विष्णु हैं। भृगु लात मारें हृदय पर और आप पूछें कि महाराज, पैर में चोट तो नहीं आई।" इस पर शुक्लजी हँस पड़े और अपने कार्य्य में पूर्ववत् लग गये। आपने उस दिन तब तक विश्राम नहीं लिया था जब तक किसानों के लिए निःशुल्क कांग्रेस-मंडप के अन्दर जाने की व्यवस्था नहीं हो गई।

शुक्लजी एकपत्नी-व्रत के बड़े पक्षपाती थे। आपके चार कन्याएँ हैं; पर पुत्र एक भी नहीं। आपके मित्रों ने कई बार आपको यह सलाह दी कि आप द्वितीय विवाह कर लीजिए। संभव है, इससे पुत्र हो। शुक्लजी की धर्म्मपत्नी भी इस बात से सहमत थीं। पर, शुक्लजी ने इस बात को कभी स्वीकार नहीं किया। वे सदैव कहा करते थे, "उस पत्नी से तो केवल एक दो पुत्र होंगे। मेरे तो सैकड़ों पुत्र हैं। मेरे स्कूल के जितने विद्यार्थी हैं वे मुझे पुत्र समान प्यारे हैं। सच है, "उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"।

शुक्लजी के हृदय में दूसरों के प्रति सहानुभूति का भी भाव अत्यधिक था। वे अपने छोटे से छोटे मित्र से लेकर बड़े से बड़े मित्र तक के यहाँ, बीमारी के समय, रोगी के सिरहाने बैठे स्वास्थ्य का हाल पूछते हुए अनेकों बार देखे गये हैं। प्लेग आदि बीमारियों के समय आप सैकड़ों रुपये रोगियों की सहायता के लिए और दुर्भिक्ष के समय दीनदुखियों का पेट भरने के लिए, खर्च किया करते थे। शुक्लजी में यह विशेषता थी कि उनकी सहानुभूति की इतिश्री रोगी या दुखी के दुख का हाल पूछ लेने से ही न हो जाती थी। वे स्वतः वैसा ही दुःख अनुभव करने लगते थे और तब तक विश्राम न लेते थे जब तक दुखिया का दुख दूर करने के लिए भरसक प्रयत्न न कर लेते थे।

एक बार सिहोरा में प्लेग पड़ा। आप सकुटुम्ब अपने गाँव पर चले गये। आप के साथ में सिहोरा की "शिवरामकुमारी पाठशाला" के भूतपूर्व शिक्षक पं० विनायकप्रसादजी शुक्ल भी थे। संयोगवश शिक्षक महाशय का भतीजा

खेलते खेलते लापता हो गया। इसकी सूचना ज्योंही सहृदय शुक्लजी को मिली, त्योंही आपने नौकरों को ढूंढने के लिए भेजा। इतना ही नहीं, आप स्वतः बालक की तलाश में निकल पड़े। बड़ी मुश्किल से संध्या समय वह बालक मिला, तब कहीं शुक्ल जी ने उस दिन भोजन किये।

आपकी दया केवल मनुष्यों पर ही नहीं थी, वरन् अन्य प्राणियों पर भी वैसी ही रहती थी। एक बार आप अपने गांव से जो सिहोरा से ८ मील की दूरी पर है बैल-तांगे में रवाना हुए। तांगा एक मील भी न आया था कि बैल बैठ गया। हांकनेवाले ने उसे मारना शुरू किया। दयालुहृदय शुक्लजी से यह न देखा गया। आपने तुरन्त हांकनेवाले से कहा, "खाली तांगा वापिस ले जाओ। हम पैदल चले जायेंगे"। इतना कह आप साथियों समेत सिहोरा के लिए पैदल चल पड़े। भूतदया का यह अच्छा उदाहरण है।

एक रईस के पास किसी प्रकार का दुर्व्यसन रहना एक मामूली बात है। हमारे शुक्लजी ने पुस्तकावलोकन और विद्याप्रेम को ही अपने लिए उत्तम व्यसन समझ रखा था। वे रात में अकसर २ और ३ बजे तक जागकर अध्ययन करने, पत्रों से कटिंग काटने और फ़ाइलें तैयार करते थे। आपकी आमदनी का अधिकांश भाग समाचार पत्र, पुस्तक बुलवाने और सार्वजनिक संस्थाओं की सहायता में खर्च होता था। आपने कई अनाथों का पालनपोषण किया था।

शुक्लजी में प्रतिकूल परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेने की अदम्य शक्ति थी। वे लक्ष्मी की गोद में पलकर, राजकुमार कालेज में पढ़कर, सत्ताधारियों के बीच में रहकर, अपने आदर्श को भूले नहीं थे। वे सदैव कहा करते थे, "जिस प्रकार राम का अवतार राजसम्पत्ति का सुख भोगने के लिए नहीं हुआ था, उसी प्रकार परमात्मा ने मुझे धनसम्पत्ति इसलिए नहीं दी है कि मैं उसके मद में, अपने भाइयों को भूल जाऊँ। आप सदैव अपने इसी सिद्धान्त पर दृढ़ रहे। अपने पिछड़े प्रान्त की प्यारी जनता को अनेकों कष्ट सहते हुए, आगे लाने में जीवन पर्यन्त लगे रहे। वे एक होकर भी अनेक कार्य करते रहे। मध्यप्रान्तीय किसान सभा, राजनैतिक परिषद, साहित्यसम्मेलन, राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, सिहोरा की सारी संस्थाएँ, 'कर्मवीर' संस्था, अखिल भारतवर्षीय सरयूपारीण महासभा और प्रदेश का सारा राजनैतिक आन्दोलन उनके हाथ में था।

असहयोग का संग्राम छिड़ते ही आप वीरों की नाईं आगे आये। उनके हितैषियों ने उन्हें रोका पर उन्होंने स्पष्ट लिख दिया - मैं उन नेताओं में से नहीं हूँ जो शान्तिकाल में जनता का साथ देते और क्रान्ति-काल में पीछे खिसक जाते हैं। गत नवम्बर के अन्तिम सप्ताह में आपने अपने दामाद पं० काशीप्रसाद जी को लिखा था कि "स्टेट का भार अब मैं नहीं सम्हाल सकता। आप आकर देखिये। मैं तो अब देशसेवा और भगवत भजन में ही सारा समय व्यतीत करूँगा।" आपका दृढ़ निश्चय तो यहाँतक हो गया था कि मैं स्वदेश के लिए हथकड़ियों को आभूषण और कारागृह को राजप्रासाद से भी अधिक सुखकर समझूँगा।

शुक्लजी का हृदय बड़ा कृतज्ञ था। वे अपने बाल्यकालीन शिक्षक पं० बाबूरामजी को जीवन पर्यन्त पूज्य दृष्टि से देखते रहे। उनकी सलाह के बिना आप कोई कार्य नहीं करते थे। जिस महानुभाव ने सरकार की कड़ी से कड़ी आलोचना करने और कौंसिल तथा फर्स्ट क्लास आनरेरी मजिस्ट्रेटी त्याग देने में जरा भी संकोच न किया, वे ही शुक्लजी एक साधारण पुरुष का अपने प्रति किये गये उपकारों के कारण इतना आदर करते थे। शुक्लजी अपने प्रान्त की कांग्रेस को सफल बनाने के लिए बहुत चिन्तित थे। नागपुर की प्रान्तीय परिषद् में जब यह विवाद बहुत बढ़ा कि कांग्रेस नागपुर में हो कि जबलपुर में, तब आपने मुक्त कंठ से कह दिया कि "कांग्रेस हमारी है और हम उसके, फिर वह हो कहीं भी। हम उसे सफल बनाने में कोई बात उठा न रखेंगे।"

वीरहृदय शुक्लजी ने अपने वाक्यों को अक्षरशः सत्य ठहराया । स्वास्थ्य अच्छा न रहते हुए भी आप महीनों कांग्रेस के लिए द्रव्य एकत्रित करने को प्रान्त भर में दौरा करते रहे । यह निर्विवाद है कि नागपुर की कांग्रेस को सफल बनाने का सब से अधिक श्रेय शुक्लजी को ही है और शुक्लजी के असामयिक निधन से नागपुर की कांग्रेस मध्यप्रदेश को बड़ी महँगी पड़ी ।

आप १०२ डिग्री ज्वर रहते हुए भी बराबर कांग्रेस और विषय-निर्वाचिनी-समिति में सम्मिलित होते रहे । आपकी वह ज़बर्दस्त शक्तिशाली मञ्जुमूर्ति जिसने राष्ट्र-सभा के मंच से ओजस्विनी वक्तृता द्वारा सभापति का परिचय दिया था इस समय भी दृष्टि के सामने है । उस समय आपकी शान्तिशाली मूर्ति को देखकर, किसे भासता था कि कुछ दिनों के बाद ही रण-क्षेत्र पर आया हुआ वीर वीरगति को प्राप्त हो जायगा ।

गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है—

"कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं ।
अन्त राम कहु आवत नाहीं ॥"

पर पूज्य शुक्लजी की महान आत्मा ने अन्तिम समय भी स्पष्ट शब्दों में 'राम, राम' उच्चारित किया । आप ता॰ ११ जनवरी को ६ बजे रात्रि के समय धराशायी किये गये थे । उस समय उनकी आत्मा बिलकुल जागृत थी । उनकी धर्मपत्नी ने पूछा, "जी कैसा लगता है?" स्पष्ट शब्दों में उत्तर मिला "अच्छा ।" उस समय भी शुक्ल जी के समीप सांसारिक अनुराग का पता नहीं था । आपने अन्तिम समय तक अपने समीप करुण-क्रन्दन नहीं होने दिया । गीता-पाठ ज्योंही आरम्भ किया गया और "मामकाः पाण्डवाश्चैव समवेता युयुत्सवः" की भनक शुक्लजी के कानों में पड़ी, त्योंही आप बोल पड़े, "No war; but peace."- 'युद्ध नहीं शान्ति' दूसरा अध्याय पढ़ो ।" इधर दूसरा अध्याय समाप्त हुआ, उधर अजेय शुक्लजी के ओंठ अन्तिम बार हिले और सुनाई पड़ा "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय——" बस उसी श्वास के साथ शुक्लजी की महान्-आत्मा, मध्यप्रान्त को अनाथ कर, भारतमाता को बिलखती छोड़, अमरत्व में विलीन हो गई !

इस प्रकार अन्त हुआ एक महान-आत्मा का जिसने अपना जीवन देश-सेवा में लगा दिया । शुक्लजी के लिए राष्ट्रीय दृष्टि से पवित्र नागपुर ही काशीवास था और वहीं रहकर उन्होंने अपनी मानव-लीला संवरण की ।

वसन्तच्छटा ।

(लेखक—बाबू गोविन्ददासजी ।)

(१)

वियोगियों के हिय को तपाता ।
संयोगियों को सुख-शान्ति देता ॥
उमंग लाता मन में सबों के ।
चित्तापहारी ऋतुराज आया ॥

(२)

अशोक आम्रादिक शाखियों में ।
नये नये पल्लव आ रहे हैं ॥
मानो वसन्तोत्सव के लिए वे ।
आरक्त वस्त्रों-युत सोहते हों ॥

(३)

सरोवरों में नलिनी अनेकों ।
जलोर्मियों से मिल डोलती हैं ॥
मानों सभा में ऋतुराज आगे ।
वरांगना सुन्दर नाचती हों ॥

(४)

द्विरेफ पीके रस अम्बुजों का ।
झंकार गंभीर उचारते हैं ॥
परोपकारी जन की प्रशंसा ।
गाते सदा आश्रित लोग ज्यों हैं ॥

(५)
फूले हुए सुन्दर पादपों से।
मिलीं स्वयं ही झुक के लताएँ ॥
जैसे गुणी विज्ञ बली वरों को।
पतिंवराएँ वरतीं स्वयं हैं ॥
(६)
विदीर्ण होते अपने फलों से।
लदे हुए दाड़िम वृक्ष नाना ॥
सगर्व मानो सुदती स्त्रियों को।
दन्तावली की उपमा दिखाते ॥
(७)
रसाल वृक्षों पर गन्धवाही।
विराजती मंजुल मंजरी है ॥
मानो वियोगान्वित मानवों की।
प्राणान्तकारी बरछी खड़ी हो ॥
(८)
लेता सरों से जल-बिन्दु-माला।
सवेग यों वायु हुआ प्रवाही ॥
उत्साह संचार सभी स्थलों में।
उदासियों के मन मोहता है ॥
(९)
उद्यान, आवास तथा वनों में।
नये नये फूल—समूह फूले ॥
मानो वसन्तागम जान प्यारा।
फूली नहीं सृष्टि समा रही है ॥
(१०)
कुहू कुहू कोकिल कूजती है।
मानों अनंग-स्तुति है सुनाती ॥
वसन्त का जो प्रिय मित्र होता।
उसे न क्यों मान भला मिलेगा ॥
(११)
बढ़ी प्रतिष्ठा अब चन्द्रमा की।
तारे हुए उज्वल शान्तिदायी ॥
अनंग-सेना सब ओर फैली।
दिनेश भी उत्तर को पधारे ॥

विविध विषय।

(१) पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल का स्वर्गवास।

राष्ट्रीय महायज्ञ की वेदिका पर—नागपुर की गत कांग्रेस में—बलि तो शुक्लजी की हुई; परन्तु समस्त देश अस्वस्थ हो गया और मध्यप्रदेश का तो जीवन ही जाता रहा। समय ऐसा कठिन आ लगा है। देश की स्वाधीनता का युद्ध ठना है। एक ओर नौकरशाही की सुसज्जित सेना अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ हमारे जन्म-सिद्ध अधिकारों को दबाये बैठी है और दूसरी ओर शस्त्र-हीन देश अपने आत्मिक बल के सहारे उन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए तैयारी कर रहा है। यदि देश को कभी नेताओं की आवश्यकता पड़ती है तो वह ऐसे ही कठिन प्रसंग में, और यह आवश्यकता मध्यप्रदेश सदृश पिछड़े प्रांत के लिए और भी अधिक थी। श्रीविष्णु-दत्त जी शुक्ल चकाचौंधी से प्रांत अपनी दीर्घ निद्रा को छोड़ कर जाग ही रहा था कि प्रातःकाल ही में सूर्यास्त हो गया। ईश्वर ने कदाचित् इसीमें प्रान्त का कल्याण सोचा हो; परन्तु प्रान्त तो इसे अपना दुर्भाग्य समझता है। हमारी तो धारणा है, ईश्वर के इस अनिश्चित कल्याण-विधान की अपेक्षा शुक्लजी के अस्तित्व-मात्र से प्रान्त अधिक सन्तोष मान सकता था; परन्तु हो चुका वही जो होना था और देश का रोना और व्याकुल होना काल के कठोर विधान को टाल नहीं सकता।

जहाँ अन्य देशों में ५० वर्ष की अवस्था के पश्चात् लोग अपने सार्वजनिक जीवन का आरंभ करें वहाँ भारतवर्ष के नेता ५० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही काल-कवलित हो जावें—यह देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है? शुक्लजी अधिक समय तक जीवित रह कर

अधिक देश-कार्य कर सके होते यदि प्रान्त ने अधिक नेता उत्पन्न किये होते। परंतु ऐसा हुआ नहीं, और देश-सेवा के अनेक विभागों में शुक्लजी को अकेले काम करना पड़ा। कार्य-भार इकदम आ पड़ा और पहले से ही बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य और भी बिगड़ता रहा। उन्होंने देश-सेवा की लगन में स्वास्थ्य की ओर कभी ध्यान नहीं दिया जिसका स्पष्ट प्रमाण नागपुर की गत कांग्रेस में और भी अच्छी तरह मिला। नागपुर जाकर शुक्लजी को ज्वर आने लगा; परन्तु ज्वर की दशा में भी वे कांग्रेस तथा विषय-निर्धारिणी सभा में उपस्थित होते ही रहे। स्वास्थ्य की यह अवहेलना उनकी प्रकृति के लिए बहुत अधिक सिद्ध हुई और गत ११ जनवरी को, केवल ४४ वर्ष की अवस्था में, उनकी आत्मा उस परम धाम को चली गई जहाँ से कोई लौट कर नहीं आता। शुक्लजी अंतिम समय तक चैतन्य रहे और धराशायी हो चुकने पर भी श्रीगीता का शान्ति-पाठ सुनते रहे। अंत में "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" कह कर सदैव के लिए शान्त हो गए। उचित ही है, लोग उनकी आत्मा को शांति देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करें और ईश्वर शान्ति प्रदान करें; पर उनकी आत्मा तब तक कदापि शांति ग्रहण नहीं कर सकती जब तक कि उनकी जन्मभूमि स्वतंत्र न हो जाय। जिन्होंने अपना समस्त जीवन देश को परतंत्रता-पाश से मुक्त करने में लगा दिया वे स्वर्ग में रह कर भी भला किस प्रकार शान्त हो सकते हैं जब तक उनकी जन्मभूमि परतंत्र बनी रहे। वे स्वर्ग-सुख को छोड़ कर स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि के के उद्धार के लिए नूतन कलेवर ग्रहण करेंगे, और यही उनकी अंतिम अभिलाषा थी।

शुक्लजी राजा और प्रजा दोनों के स्नेहभाजन थे। जैसा कि कहा गया है—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके।
जनपतिहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन ॥
इति महति विरोधे विद्यमाने समाने।
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥

शुक्लजी ऐसे ही दुर्लभ कार्यकर्ता थे। जब तक वे देखते रहे कि सरकार से देशहित की संभावना है, तब तक उन्होंने बराबर उसका साथ दिया। महायुद्ध के अवसर पर वे अपने प्राण हथेली पर रख कर लोगों को फ़ौज में भरती होने के लिए उत्साहित करते रहे। अपनी जान जोखिम में देख कर वे वसीयतनामा तक तैयार कर चुके थे; परन्तु जिस बात को वे उचित समझते थे उससे हटनेवाले नहीं थे। शुक्लजी सार्वजनिक सेवा के अवसरों पर अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं को भूल जाते थे। अपनी प्राणप्रिय कन्या को प्लेग हो जाने पर भी आप खंडवा के साहित्य-सम्मेलन में पधारे थे। सहधर्मिणी का स्वास्थ्य अत्यन्त चिन्ताजनक अवस्था में होने पर भी आप चंदा एकत्र करते हुए बाहर घूम रहे थे। ये घटनाएँ बतलाती हैं कि शुक्लजी सांसारिक बातों से कितने परे थे और देश-प्रेम में कितने पगे हुए थे। जब तक आपने देखा कि सरकारी कौन्सिलों में रह कर देश-हित किया जा सकता है, तब तक आप उनमें रहे; परन्तु रौलट बिल के पास होते ही कौंसिल की निस्सारता देख आप बड़े लाट की कौंसिल से अलग हो गये। उस समय आपने इस बात का तनिक भी विचार नहीं किया कि हम बहुतसी भू-सम्पत्ति के स्वामी हैं, कौंसिल से अलग हो जानेसे हमपर कहीं कोई आपत्ति न आ जाय। बात यह है, आप अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार चलते थे। जबतक आपकी आत्मा ने आदेश दिया तबतक आपने लोगों के हज़ार विरोध करने पर भी, यहाँ तक कि प्राणों का मोह छोड़ कर भी सरकार का साथ दिया; परन्तु ज्योंही आपकी आत्मा ने बताया कि सर-

सरकार का साथ देना धर्म-विरुद्ध है, त्योंही आपने अपना हाथ खींच लिया। बड़े लाट की कौंसिल की मेम्बरी छोड़ने पर, असहकारिता का प्रस्ताव पास होतेही, आपने रायबहादुरी और आनरेरी मजिस्ट्रेटी छोड़ दी और इस प्रकार अपने अन्त समय तक प्रजा-सत्ता का आदर करते हुए आपने यह बता दिया कि यदि उन्होंने कभी सरकार का साथ दिया था तो वह केवल प्रजा के हित के ही लिए था। वे नेता होते हुए समय में प्रजा के अनुयायी थे।

वे कठोर परिश्रमी और अध्ययन-शील थे। उन्हें काम करते देखकर आश्चर्य होता था कि एक श्रीमान मनुष्य इतना कठोर परिश्रम किस प्रकार कर सकता है। दो दो बजे रात तक पढ़ना और समाचार-पत्रों के कटिंग अपनी नोट-बुक में अपने ही हाथों से चिपकाना, बीसों पत्र प्रति दिन अपने हाथों से लिखना और इतना सब करके भी अपनी जमींदारी का उत्तम प्रबन्ध करना शुक्ल जी का ही काम था। परिश्रम ही उनका साधारण जीवन था, पर वे केवल मजदूर के समान छोटे से छोटा काम करने के लिए भी तैयार रहते थे। यदि वे बड़े लाट की कौंसिल के सदस्य थे, तो ग्राम की छोटी से छोटी सभा के सदस्य या सभापति थे। उनकी माँग बड़े से बड़े शहरों से लेकर छोटे से छोटे ग्राम तक में थी और वे उसकी पूर्ति इस प्रकार करते थे कि देख कर चकित होना पड़ता था।

वे सिद्धान्तों के अनुयायी थे, किसी दल के नहीं। वे कहा करते थे कि देश के राजनैतिक क्षेत्र में केवल दो ही दल हो सकते हैं—एक तो प्रजा का दल और दूसरा, नौकरशाही का। इससे अधिक दलों की आवश्यकता नहीं।

आप कट्टर सनातनधर्मावलम्बी थे। शिव के उपासक थे और नित्य प्रातःकाल लगभग दो घंटे सन्ध्योपासन आदि किया करते थे। एक-पत्नीव्रत के व्रती थे। निष्पुत्र होने पर भी आपने दूसरा विवाह नहीं किया। हिन्दी-साहित्य के प्रति आपका अटल प्रेम था। आप पटना में होने वाले अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति थे। कई बार जातीय तथा धर्म-सभाओं के भी सभापति भी हो चुके थे। आप श्रीमानों के सखा और दीनों के बन्धु थे। ऐसे नर-रत्न को खोकर मध्यप्रदेश आज अत्यन्त दुःखित है।

(२) म्यूनिसिपैलिटी और असहकारिता।

असहकारिता के कार्यक्रम में यह स्पष्ट लिखा है कि कौंसिलों का बहिष्कार किया जाय; क्योंकि कौंसिलों का माया-जाल देश को भुलावे में डालने वाला है और वहां रह कर कोई भी देशोपयोगी काम नहीं किया जा सकता है। असहकारिता के कार्यक्रम में जितनी अन्य बातें थीं उनकी अपेक्षा इसमें शुरू तक सबसे अधिक सफलता हुई है। माननीय मालवीय जी तथा शुक्ल जी सदृश नेता भी जो कौंसिल में जाकर अधिक देशोपयोगी कार्य कर सकना सोचते थे राष्ट्रीय महासभा की आज्ञा मानकर कौंसिलों में नहीं गये। गये हैं कुछ थोड़े से वे लोग जिनपर देश का विश्वास नहीं और जो आगे यह देखकर पछतावेंगे कि सचमुच ही कौंसिलों में हमारी आवाज़ कोई आवाज़ नहीं और होता वही है जिसे सरकार करना चाहती है। यदि ऐसा न होता तो समस्त गैर सरकारी मेम्बरों के एकस्वर से विरोध करने पर भी रौलट एक्ट कभी पास न हुआ होता।

अतः कौंसिलों का बहिष्कार तो ठीक है। परन्तु म्यूनीसिपैलिटियों को भी देखिए। कहने

के लिए तो वे स्थानिक स्वराज्य की संस्थाएँ हैं; परंतु म्यूनिसिपल मेंबर भलीभाँति जानते हैं कि म्यूनीसिपैलिटी की बागडोर सरकार के ही हाथ में रहती है और सरकार बहुधा उनसे वही कराती है जो वह करना चाहती है। इस प्रकार म्यूनिसिपैलिटी और सरकार का बहुत घनिष्ठ संबंध है। फिर म्यूनिसिपल कमिटी में लोग क्यों जावें जब कि सरकारी कौंसिलों में जाना उनके लिए पाप समझा जाता है? सरकारी स्कूलों का बहिष्कार इसीलिए किया जाता है कि इन्हें जो रुपया मिलता है वह सरकार के रक्त-रंजित हाथों से मिलता है और उस सरकार पर हमारा कोई विश्वास नहीं रह गया है; इसलिए सरकारी स्कूलों में शिक्षा पाने की अपेक्षा अशिक्षित रहना अधिक ठीक है। यद्यपि सरकार 'सरकारी' कहलाने वाले स्कूलों को हमारा ही पैसा, जो कि हमसे टैक्स द्वारा वसूल किया जाता है, देती है और इस प्रकार स्कूल 'सरकारी' कहे जाने पर भी वास्तव में हमारे ही हैं; परंतु जब असहकारिता का कार्यक्रम कहता है कि उनका बहिष्कार किया जाय, तो उसका अभिप्राय केवल यही है कि वर्तमान सरकार अपने स्कूलों के द्वारा अपना शासन दृढ़ करती और ऐसी शिक्षा प्रदान करती है जिससे हममें दासत्व की ओर प्रवृत्ति होती है। सरकारी स्कूल छोड़ते ही विद्यार्थियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन होगा, और उन स्कूलों से निकले हुए लोगों की सहकारिता की नींव पर सरकार की जो शान स्थित है उसका मूलोच्छेदन होगा। जब म्यूनिसिपैलिटी सरकार से सम्बन्ध रखती है चाहे वह सरकारी स्कूलों के समान हमारे ही पैसे से शिक्षा आदि का प्रबन्ध भले ही करती हो—तब क्यों न म्यूनिसिपल-स्कूलों का बहिष्कार किया जाय?

इस शंका का समाधान केवल इसी बात से हो सकता है कि असहकारिता का उद्देश आत्म-शुद्धि करना, वर्तमान सरकार को नष्ट करना और जिन बातों से वर्तमान सरकार अपना शासन सुदृढ़ बनाती है उन सबके साथ अपना सम्बन्ध त्याग करना है। म्यूनिसिपल कमिटी और म्यूनिसिपल स्कूल सरकार से सम्बन्ध रखते हुए भी सरकार के शासन को उस प्रकार सुदृढ़ नहीं करते हैं जिस प्रकार सरकारी कौंसिलें या सरकारी या सरकारी सहायता पानेवाले स्कूल। इसलिए असहकारिता के वर्तमान कार्यक्रम में म्यूनिसिपैलिटी के त्याग का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। फिर भी, यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि म्यूनिसिपल कमिटी में रहकर या म्यूनिसिपल स्कूलों में अपने बालकों को पढ़ने के लिए भेजकर वह वर्तमान सरकार को सहायता देता है, तो असहकारिता के वर्तमान कार्यक्रम में ऐसी कोई बात नहीं है जो उसे रोके। उक्त कार्य-क्रम संकुचित होते हुए भी बहुत व्यापक है। यदि वह संकुचित है तो, महात्मा गांधीजी के शब्दों में, वह "बकरों के लिए है, शेरों के लिए नहीं।" जो शेर हैं वे वर्तमान सरकार से अपना सब प्रकार का संबंध छोड़ सकते हैं; परंतु जो त्याग करने के लिए एकदम तैयार नहीं हैं उनके ही लिए वर्तमान कार्य-क्रम है जिसके अनुसार चल कर उन्हें धीरे धीरे आत्मत्याग का अभ्यास करना चाहिए।

(३) चाँवल तथा तेलहन पदार्थों पर सरकार का नियन्त्रण।

सन् १९२० के आरंभ ही में बाबू विपिनचन्द्र पाल ने "इंडिपेन्डेन्ट" पत्र में "भयंकर खतरा" नामक एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने यह दिखाया था कि इँगलेंड के बढ़े हुए खर्च को सँभालने के लिए लॉर्ड मिल्नर भारत के कच्चे माल पर इँगलेंड के पूँजीपतियों का नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। इस ढँग का नियन्त्रण भारत के लिए बहुत ही हानिकर सिद्ध होगा। उन्होंने जिस बात का निर्देश किया था वह आज आँखों के सामने आ गई। इंपीरियल इन्स्टीट्यूट की आर्थिक समिति की रिपोर्ट भारत के चाँवलों तथा तेलहन पदार्थों पर पृथक् पृथक् प्रकाशित हो गई। तेलहन पदार्थों के व्यापार के विषय में रिपोर्ट में भारत-सरकार को निम्नलिखित सलाह दी गयी है—

(१) हिन्दुस्थानी किसानों को रुपये दे करके वश में करो और सारे तेलहन पदार्थ इँगलेंड रवाना कर दो।

(२) अफीम, तमाखू इत्यादि के सदृश ही तेलहन द्रव्यों की उत्पत्ति को अपने कब्जे में कर लो और इनमें भी ठेके तथा लाइसैन्स का प्रयोग करो।

(३) इँगलेंड में तेल पेरने के जो बड़े बड़े कारखाने हैं उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए विदेशी तेल पर बाधक सामुद्रिक कर लगा दो और उसे इँगलेंड में न आने दो।

(४) इँगलेंड में भारत के तेलहन पदार्थों की समस्त राशि पहुँच सके इसके लिए रेलों तथा जहाजों का किराया ऐसा रक्खो कि उसको हम निर्दिष्ट स्थान तक सुविधा के साथ पहुँचा सकें। साथ ही, भारत से तेलहन पदार्थों को इँगलेंड में भेजने के लिए सामुद्रिक कर इस सीमा तक घटा दो कि उसकी सम्पूर्ण राशि इँगलेंड में सुगमता के साथ पहुँच जावे। चाँवलों के विषय में भी इसी ढँग की बातें लिखी गई हैं। प्रश्न जो है वह यह कि इन चीजों के विदेश में पहुँच जाने से भारत की दशा क्या हो जावेगी। सरकार दो तीन साल तक चाँवल तथा तेलहन द्रव्यों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करेगी। उसके बाद इन चीजों का स्थिर तौर पर महँगा हो जाना स्वाभाविक ही है। उस महँगी को हम लोग किस तरह काटेंगे? भारतीयों को अभी से इस ओर ध्यान देना चाहिए कि सरकार को अपनी कूट नीति से बाज आना पड़े।

(४) लकड़ी की प्रदर्शिनी।

आजकल भारत-सरकार को जंगलों की विशेष चिन्ता है, और बेचारी करे भी क्या? जहाँ जहाँ से रुपया निचोड़ा जा सकता था निचोड़ा जा चुका; परन्तु रुपया अभी और चाहिए; क्योंकि सेना की भूख तो अभी ज्यों की त्यों बनी है। यही कारण है कि अब जंगलों से भारत-सरकार रुपया कमाना चाहती है और अपने देश के गोरे लोगों की समृद्धि को और भी बढ़ाना चाहती है। सच्ची देशभक्ति इसीको कहते हैं।

इँगलेंड में भारतीय लकड़ियों की प्रदर्शिनी खूब धूमधाम से की गई। "एम्पायर मेल" नामक पत्र में लिखा है कि "भारतसरकार ने

लंडन में होने वाली लकड़ियों की प्रदर्शिनी में विशेष योग दिया है। भारत के जंगलों से तरह तरह की लकड़ियाँ एकत्रित करके और उनकी अच्छी चीज़ें बना करके लकड़ी की प्रदर्शिनी में भेजी गई हैं।" इन लकड़ियों में संगमर्मर के समान सफेद, रुपहली, सुनहली, गाढ़ी लाल, हरी, पीली, नीली तथा काली अति सुन्दर लकड़ियाँ थीं। महाशय हावर्ड ने इस प्रदर्शिनी में बहुत ही अधिक भाग लिया। उन्हों ने यूरोप तथा इँग्लेंड के लोगों से कहा कि "भारत के जंगलों में अनन्त संपत्ति की लकड़ियाँ मौजूद हैं। ख़ूबसूरत से ख़ूबसूरत तथा मज़बूत से मज़बूत लकड़ियों से भारत के जंगल भरे पड़े हैं। अब यूरोप-निवासियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।"

दुःख का विषय तो यह है कि भारतसरकार भारतीय व्यापारी-व्यवसायियों को इन बातों का कुछ भी पता न दे करके लन्डन वालों को आमन्त्रित करती है। यहाँ जो प्रदर्शिनी की भी जाती हैं उनका मुख्य उद्देश्य बहुधा राजनैतिक फन्दा डालना ही रहता है। दृष्टान्त के लिए काशी की प्रदर्शिनी को ही लीजिए। सात दिनों में तो वह प्रदर्शिनी तैयार हो गई और किसानों को सिखाने के लिए अरहर, गेहूँ, चने, मटर आदि पर अंग्रेज़ी तथा लैटिन के लम्बे लम्बे नाम लिखे गये। फावड़े, कुदाली, खुर्पे, हँसुए आदि तक को अंग्रेज़ी तथा लैटिन नाम की टोपी पहिना दी गई। इस प्रदर्शिनी को दिखाने के लिए भाड़े के टट्टू तथा नामके गुलाम रखे गये। इस प्रदर्शिनी ने जो कुछ किया वह यही कि एक दो नेताओं को संयोजक बना करके उन्हें अपने उच्च उद्देश्य से गिरा दिया।

(५) देश की राजनैतिक स्थिति।

ज्वालामुखी पर्वत धधक रहा है; परन्तु कुछ लोग उसके मुख के आसपास डटे बैठे हैं। चाहे उनके साहस की प्रशंसा की जाय या उनकी मूर्खता की हँसी उड़ाई जाय; परंतु यह साहस या मूर्खता उस कोटि की है जिसे देख कर दया के भाव उमड़ते हैं। देश में असन्तोष की अग्नि जाज्वल्यमान हो रही है और सत्ताधारियों की सत्ता को भस्मीभूत करने के लिए सामान एकत्र कर रही है। किसी राज्य के लिए इससे बढ़कर दुर्दिन कौनसा हो सकता है जब कि उसके अधिकारियों की सदिच्छाओं में प्रजा को कपट और चरम सीमा के स्वार्थ की गंध आने लगे और वह यह कहने लगे कि अब हमें तुम्हारा विश्वास नहीं है और तुम्हारा और हमारा साथ नहीं हो सकता। तुममें पाशविक बल है, और हममें आत्मिकबल है, और यदि आत्मिक बल पाशविक बल से अधिक शक्तिशाली है — और संसार बताता है कि वह है— तो उसकी विजय होनी चाहिए। पाशविक बल शरीरों को नष्ट कर सकता है; पर संसार की कोई भी शक्ति आत्मा को नष्ट नहीं कर सकती। हम उसी आत्मिक-बल के अनुयायी हैं और उसीके बल पर हम विजय की आशा करते हैं। संसार से न्याय अभी नहीं उठ गया है। यदि निरपराध बेल्जियम का पक्ष लेकर इँग्लेंड अपने से शक्तिशाली जर्मन को पराजित कर सकता था, तो संसार में भी कोई शक्ति है जो भारत के कंसों को पददलित करे। भारतवर्ष ने जिस मार्ग का ग्रहण किया है उसे ग्रहण करते समय उसने

अनुमान कर लिया है कि उसे क्या क्या कष्ट दिये जा सकते हैं; परंतु धर्मप्राय भारत को अपने प्राचीन आदर्शों का गौरव और इस बात का विश्वास है कि ईश्वर न्याय का ही पक्ष लेते हैं और न्याय की ही सदा विजय हुआ करती है।

अवश्य ही इस बढ़ते हुए असन्तोष को दबाने के लिए कठोर नियमों की सृष्टि की जायगी; परंतु यदि कठोरता से असन्तोष रुकता होता, तो आज संसार का कोई भी देश कदाचित् स्वतंत्र न होता। स्वतंत्रता का मंदिर ऐसे स्थान में स्थित है जहाँ पहुँचने के लिए रक्त की नदियाँ पार करनी पड़ती हैं। भारतवर्ष को भी यही नदियाँ पार करनी पड़ेंगी; परन्तु ये नदियाँ बहेंगी हमारे खून से। बहाने वाले होंगे वे जो पंजाब की निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से भी नहीं हिचके। हमारा मार्ग तो हिंसा-रहित असहकारिता का है। समय अग्नि-परीक्षा का है और प्रत्येक भारतवासी को देश की स्वतंत्रता के लिए आत्मोत्सर्ग करने को तैयार रहना चाहिए।

(६) अमेरिका में दूध के गुणों की जाँच।

आजकल भारतवर्ष में गो-रक्षा की पुकार ज़ोरों से की जा रही है। मांसभक्षी लोग कहते हैं कि क्या हमें भूखों मारोगे? शाक-भोजी अपना उदाहरण देकर बतलाते हैं कि मांस के बिना मनुष्य मरता नहीं। किसी वस्तु की अधिकता के समय लोग उसके गुण-दोषों पर विचार नहीं करते; पर जब वही वस्तु कम होने लगती है तब यह विचार किया जाता है कि उसके बिना काम चल सकता है अथवा नहीं। अमेरिका में इस समय मांस की कमी हो गई है; इससे उसका भाव दिन दिन बढ़ता जाता है। जो लोग उसके बिना ग्रास नहीं उठाते थे वही अब शाक-भोजी होने में सन्तोष मानते हैं। जनता की यह कठिनाई देख वहाँ के अन्वेषण-विभाग की उस समिति ने जो भोज्य पदार्थों पर सम्मति देती है, हाल में दूध और मांस के गुणों पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की है।

समिति ने गाय के दूध और मांस पर सम्मति देते हुए लिखा है कि गाय को जो कुछ अनाज खिलाया जाता है उसके बलवर्धक अंश का लगभग एक पञ्चमांश दूध के रूप में मनुष्य को मिल जाता है; परन्तु मांस में बलवर्धक अंश का लगभग तीसवाँ भाग रहता है। इस प्रकार दूध में मांस की अपेक्षा छः गुनी शक्ति अधिक है।

इस सम्मति को पढ़कर अमेरिका के एक पत्र ने लिखा है कि मांस-भोजियों को बहुत शीघ्र शाक-भोजी हो जाना चाहिए, नहीं तो जनता गोवध और पशुवध के विरुद्ध आवाज़ उठाये बिना न रहेगी। सुदूर अमेरिकावासियों के हृदय में भी गोवध हानिकारक समझा जाने लगा है चाहे बुद्धि के बल माना गया हो या आवश्यकता के कारण। पर शोक है कि यहाँ भारतवर्ष में तो वह बुद्धि, आवश्यकता, न्याय और धर्म सब के बल पर समझा जा चुका है, फिर भी पूरी रीति से बन्द नहीं हुआ है। क्या भारतवासियों की गणना इस धर्म-कार्य में भी अमेरिकावालों से पीछे रहेगी?

(७) यमज बालकों की बात।

लोगों का ख़याल है कि यमज बालकों में से दोनों बालक अधिक अवस्था तक नहीं जीवित

रहते। उनमें से एक न एक, विशेष कर पहिला, शीघ्र मर जाता है। यमज बालकों में से कई तो केवल इसी धारणा के कारण मर जाते हैं। किसी एक के बीमार होने पर वृद्ध स्त्रियाँ कहने लगती हैं कि "यह तो जोड़वाँ (यमज) है, परमेश्वर ही इसकी रक्षा करे।" मा-बाप भी असावधानी कर जाते हैं। यह हाल यूरोप, अमेरिका में नहीं है। अभी हाल में अमेरिका की एक समिति ने इस बात की जाँच की तो मालूम हुआ कि बालकों की मृत्यु-संख्या में यमज बालकों की मृत्यु-संख्या बहुत ही कम है। इतना ही नहीं, यमज लड़के दूसरे प्रकार के लड़कों की अपेक्षा चञ्चलता, बुद्धि और बल में श्रेष्ठ पाये गये। लगभग ६०० यमज बालकों का पूर्ण परिचय प्राप्त किया गया था जिसमें मालूम हुआ कि लगभग ⅓ ऐसे यमज हैं जो एक लड़का और एक लड़की के जोड़े हैं, शेष दो लड़कों के जोड़े हैं। लड़कों के जोड़े वाले लड़कियों के जोड़े वालों से अधिक होनहार हैं, तथा आपस में एक दूसरे पर विशेष प्रीति करने वाले हैं। ६०० यमजों में कुछ जोड़े ऐसे भी पाये गये, जिन के लड़के आपस में एक दूसरे से कई बातों में मिलते हैं। एक ही जोड़े के लड़कों की बुद्धि एकसी, बल एक सा, रुचि एकसी। एक जोड़ा तो ऐसा भी मिला जिसके लड़कों के विचार एकसे, काम एक से, यहाँ तक कि रात को उन्हें जो स्वप्न आते हैं वे भी एक से होते हैं। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध सेशंस जज सी. बी. एन. कामा तथा उनके बन्धु का भी बहुत कुछ ऐसा ही हाल था। परीक्षा में यद्यपि वे दोनों भाई अलग बैठाये जाते थे; पर दोनों की उत्तर-पुस्तकें बिलकुल एकसी मिलती थीं।

उन छः सौ यमजों की हथेलियों और तलुओं के चित्र देखे गये तो किसी जोड़ में कुछ अन्तर और किसी किसी में बहुत कुछ समानता पाई गई, यद्यपि बिलकुल सादृश्य किसी भी एक में न था।

अभी और भी खोज हो रही है और यमजों की अन्य बातें ढूँढ़ निकालने का उद्योग चला है। उन छः सौ का उदाहरण देखकर एक अमेरिकन प्रोफ़ेसर का कथन है कि जितने यमज लड़के उत्पन्न होंगे उतने ही बुद्धिमान नागरिकों की संख्या बढ़ेगी और उतनाही अधिक भ्रातृप्रेम पुत्रों में होगा।

(८) संसार में जन-संख्या की वृद्धि।

समाजशास्त्रज्ञ तथा अंकशास्त्रज्ञ जन संसार की जन-संख्या द्रुतपद से बढ़ती देखकर विशेष चिन्तित हैं। मि० जे. एच. निब्स नामक एक आस्ट्रेलियन ने पता लगाया है कि १९१४ में सारे संसार की आबादी १,६४,९०,००,००० थी। यह आबादी १९१० की अपेक्षा ३,९०,००,००० अधिक है। १९०६ से १९११ तक संसार की आबादी प्रति वर्ष ०·०११५९ या १·१५९ प्रति शतक बढ़ती रही। निब्स का मत है कि यदि आबादी की वृद्धि का यही क्रम बना रहा, तो संसार की दशा बहुत ही विषम हो जायगी। महँगी तथा दुर्भिक्ष बहुत ही उग्र रूप धारण करेंगे। यदि लोग ब्रह्मचर्य तथा संयम से रहें तथा भोग-विलास को ही अपने जीवन का आदर्श न नियत करें, तो यह समस्या किसी हद तक हल हो सकती है। यदि यह न हुआ तो प्लेग, हैज़ा, इन्फ्लूएन्ज़ा, युद्ध आदि विघ्न संसार की आबादी को रोक रक्खेंगे।

इन्हीं बातों का विचार करके महात्मा गांधी जी कहते हैं कि भारतवासियों को चाहिए कि वे कुछ समय तक आत्मसंयम से काम लें और प्रजोत्पत्ति को बिल्कुल बन्द कर दें। कई पत्रों ने महात्माजी की इस बात की हँसी उड़ाई है; पर यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि महात्माजी की बात में कितनी सत्यता और दूरदर्शिता है। ब्रह्मचर्य व्रत और आत्म-संयम का पालन करने से बालकों की मृत्युसंख्या और विधवाओं की संख्या जिसकी वृद्धि देख कर हृदय काँप उठता है एकदम रुक जायगी। केवल कलकत्ते में ही बालकों की मृत्युसंख्या प्रति सहस्र २५७·८ है। यही दशा अन्य स्थानों में है। यदि मातापिता चाहें, तो वे सहज ही बालकों को ब्रह्मचर्य-व्रत-पालन की शिक्षा दे सकते हैं। बालक-बालिकाओं के विचार पवित्र रखे जायँ, उनके सामने उनके विवाहादि की चर्चा न की जाय, उन्हें उत्तेजक भोजन न दिया जाय, उनकी वेशभूषा सरल रखी जाय तथा उनकी संगति तथा उनके पढ़ने की पुस्तकों पर ध्यान रखा जाय। ये उपाय उनके आत्मसंयम में बहुत सहायक होते हैं।

(९) संसार की आर्थिक दशा।

आर्थिक दृष्टिसे यह नया वर्ष सारे संसार के लिए भयंकर है। भारतवर्ष रिजर्व कौन्सिल की बिक्री, दस रुपये की गिनी तथा विदेशी हुन्डी की दर से लड़खड़ा रहा है। अभीतक भविष्य ज्यों का त्यों अन्धकारमय बना है। इंग्लैंड भी भारत का शिकार कर अभी तक अपने को सँभाल नहीं सका है। छै लाख से अधिक स्त्री-पुरुष बेकार हैं। लगभग सभी कारखानों ने काम का समय कम कर दिया है। हड़ताल तथा द्वारावरोध का प्रकोप पूर्ववत् जारी है।

इस विक्षोभ का मुख्य कारण विजयी राष्ट्रों का अति लोभ है। युद्ध समाप्त होते ही विजयी राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों को दिल भर कर लूटना चाहा। किसीने यह तो सोचा नहीं कि लूटने की कोई हद रहती है। उन्होंने असंभव से असंभव शर्तें पेश कीं और पराजित राष्ट्रों ने डर से स्वीकृत कर लीं। परन्तु उन शर्तों को पूरा करने में एक भी राष्ट्र समर्थ नहीं है। हंगरी तथा आस्ट्रिया ने तो साफ कह दिया कि लोगों में सामर्थ्य नहीं कि मित्रराष्ट्रों को मनचाहा धन दे सकें। जर्मनी ने भी हाल में ऐसा ही उत्तर दिया।

अशान्ति तथा आर्थिक विक्षोभ का एक मुख्य कारण यह भी है कि महायुद्ध में सम्मिलित सभी राष्ट्र व्यावसायिक हैं। सभी एशिया के कच्चे माल पर निर्वाह करते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी जो कुछ फ्रांस तथा इंग्लैंड को दे सकते हैं वे व्यावसायिक पदार्थ ही हैं। जर्मनी के व्यावसायिक मालों को ये दोनों राष्ट्र लेना नहीं चाहते और जब वह अपना माल हरजाने के तौर पर इनको देता है तो यह बाधक सामुद्रिक कर के द्वारा उसके माल को अपने देश में घुसने नहीं देते। यही खेल अमेरिका, फ्रान्स तथा इंग्लैंड के साथ हो रहा है। फ्रान्स तथा इंग्लैंड अमेरिका के कर्जदार हैं। तीनों व्यावसायिक देश हैं। भला अमेरिका इंग्लैंड तथा फ्रान्स का बना माल क्यों लेने चला? क्योंकि इससे उसके कारखाने टूटते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी गोरे राष्ट्र एक दूसरे के कर्जदार हैं और

कर्ज़े को चुकता करने के लिए एक दूसरे का व्यावसायिक माल नहीं लेना चाहते। ऐसी दशा में संसार में आर्थिक शान्ति का प्रश्न दिन पर दिन टेढ़ा हो रहा है।

व्यापार के बन्द हो जाने और अन्तर्जातीय साख के नष्ट हो जाने से सारे संसार में बाजार तथा कारोबार मन्द पड़ गया है। व्यापारी, व्यवसायी अपने पुराने लाभों को कम नहीं करना चाहते और इसलिए आपस में गुट्ट बनाकर मन्दपन को रोक रहे हैं। इन सब घटनाओं के कारण संसार की आर्थिक दशा दिन पर दिन भयंकर हो रही है। यह हाल कब तक रहेगा अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

साहित्य-सुमन ।

(१) असहकारिता के संबंध में म० टालस्टाय के विचार।

महात्मा टालस्टाय का नाम संसार में प्रसिद्ध है और वह इसलिए कि वे रूस सरीखे दमन-नीति-प्रधान महान् साम्राज्य में पहले सत्याग्रही थे। वे जो कुछ कहते थे उसे स्वयं करते थे। किसी भी विषय पर वर्षों का अनुभव हो जाने पर उनके विचार शब्द-रूप में प्रकट होते थे, कल्पना का उनके पास काम न था। सरकार और शांतिपूर्ण असहकारिता के सम्बन्ध में महात्मा टालस्टाय के विचार इस समय भारतवासियों के लिए काम की चीज़ हैं। वे एक पुस्तक में लिखते हैं—

"जहाँ जहाँ और जब जब जिस किसी सरकार को उपद्रव और क्रान्ति से नष्ट करने की चेष्टा की गई है वहाँ वहाँ हमेशा यह परिणाम हुआ है कि एक सरकार को नष्ट करके जो नई सरकार बनी है वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक क्रूर हुई है.......

"एक दल दूसरे दल पर (क्रोध से नहीं, और न बदला लेने के विचार से, किन्तु) सिर्फ़ इसलिए आक्रमण करता है कि जिसमें दूसरा दल अपनी इच्छा के प्रतिकूल पहले दल की इच्छा के अनुसार कार्य करने को लाचार हो। परन्तु दूसरे की इच्छा के अनुसार और अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करना दासता है। इसलिए जब तक दूसरे की इच्छा के अनुसार कार्य करने को लाचार करने के लिए बल-प्रयोग किया जायगा तब तक दासता बनी ही रहेगी।

"बल-प्रयोग करके दासता मिटाने के सब प्रयत्न ठीक वैसे हैं जैसे कि अग्नि को अग्नि से बुझाना या पानी को पानी की ठेल से रोकना अथवा एक गड्ढे को दूसरे गड्ढे में से कूड़ा-कचरा निकाल कर उससे भरना।

"अतएव, दासत्व मिटाने का एकमात्र उपाय यही है कि अपनी ओर से किसी भी प्रकार का बल-प्रयोग न किया जाय और वे सब कारण दूर कर दिये जायँ जिनके रहने से सरकार को बल-प्रयोग करना पड़ता है।

"मनुष्यों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि सरकार के बल-प्रयोग के कार्य में किसी भी तरह की सहायता देना चाहे वह परिश्रम के रूप में हो या द्रव्य के रूप में अथवा स्वयं-सैनिक-सेवा

के रूप में हो उन्नामीलता का चिह्न नहीं है, यद्यपि कुछ लोग इसे [illegible] समझ लेते हैं, बल्कि ऐसा करने से उस पर और उसके भाइयों पर जो अत्याचार होते हैं उनमें ही उसे भागी नहीं होना पड़ता, किन्तु उन अत्याचारों में भी भागी होना पड़ता है जो एक सुशिक्षित सेना रख कर सब सरकारों द्वारा किये जाते हैं तथा अन्य ऐसे अत्याचार जिनके लिए सरकार सदैव तैयार रहती है।

"ज्योंही [illegible] समझने लगेंगे त्योंही वे [illegible] से सहायता देना [illegible] कार्यों में भाग न लेंगे। [illegible] इस प्रकार की सहायता [illegible] त्योंही उस शक्ति का नाश हो जायगा जो दूसरों को दास बनाती है बस, केवल इसी एक उपाय से मनुष्य दासत्व से छूट सकता है।"

(२) भारत की वर्तमान दशा पर मि० थेनस्पुर के विचार।

मि० थेनस्पुर मजदूर-दल की ओर से इंग्लैंड की पार्लिमेण्ट के हाउस आव् कामन्स के सभासद हैं। आप इंग्लैण्ड के मजदूर-दल के प्रतिनिधि होकर नागपुर-कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए गत दिसम्बर में भारत आये थे। आपने भारत की वर्तमान स्थिति का सच्चा चित्र खींचते हुए लिखा है—

"देश भर में राष्ट्रीयता की लहर उठने लगी है। हिन्दुस्थानियों को अपनी उस प्राचीन सभ्यता, अगाध विद्वत्ता और उज्ज्वल इतिहास का स्मरण हो गया है जिसका प्रभाव समस्त संसार के विचारशील मनुष्यों के हृदयों पर बहुत अधिक पड़ा है और पड़ रहा है। वे (हिन्दुस्थानी) अपने इतिहास से अभिज्ञ हो अब किसी भी विदेशी राजशक्ति के अधीन क्षण भर भी नहीं रहना चाहते। उन्हें इस बात का भरोसा है कि वे अपना शासन आप कर सकते हैं और जो कुछ भी अधिकार वे माँग रहे हैं वे न्याय-युक्त हैं। ये वे अधिकार हैं जिनके लिए अब इन्कार नहीं किया जा सकता। यूरोपीय महायुद्ध ने दूसरे देशों के समान भारत में भी नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। अब पुरानी बातें सब गईं। अँग्रेजों ने शक्ति के बल ही भारत को दबा रक्खा है। यहाँ यह सब बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि अँग्रेजों का राज्य हिन्दुस्थान में कैसा रहा और हिन्दुस्थान को इस [illegible] को पहुँचा देने में उनका उत्तरदायित्व [illegible] कोई भी मनुष्य यह बात न्यायपूर्वक कह सकता है कि जो भारतवर्ष एक दिन संसार भर में अधिक धनाढ्य था वह आज संसार भर में दरिद्रातिदरिद्र है। प्रत्येक हिन्दुस्थानी की औसत आमदनी साल भर में केवल २ पौण्ड (अर्थात् ३० रुपये) है। आधी मनुष्य-संख्या केवल एक बार भोजन करके जीवन व्यतीत करती है। रोगों के कारण प्रति वर्ष लाखों आदमी काल-कवलित होते हैं। हिन्दुस्थान में मनुष्य की औसत आयु केवल २३ वर्ष है। यदि किसी एक जाति पर शासन करके दूसरी जाति ने यह भयंकर दशा उपस्थित नहीं कर दी है तो उसने उसे रोका भी नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिम के पूँजी-पतियों ने हिन्दुस्थान में रुपया और व्यवसाय फैला कर सब धन लूट लिया है और देशी व्यवसाय को चौपट कर दिया है।

"इतना ही नहीं, हिन्दुस्थान में ऐसे ऐसे कायदे और क़ानून हैं जोकि ब्रिटेन के लिए कलंक के टीके हैं। वहाँ के अधिकारी कार्यकर्ताओं को दमन करने की शक्ति भी प्राप्त है जो साम्राज्य के अन्य किसी भाग में एक क्षण भर के लिए भी सहन नहीं की जा सकती। इतना होने पर तनिक भी आश्चर्य नहीं है कि राज्यक्रान्ति की आग मिलग उठी है; परन्तु बड़ा आश्चर्य यह है कि वह अभीतक ऊँची नहीं उठ पाई है; पर यदि बुद्धिमत्ता से काम न लिया गया तो इसमें सन्देह नहीं कि वह बहुत शीघ्र ऊपर उठेगी। दशा बड़ी नाज़ुक है। यदि एक भी क़दम उल्टे मार्ग में रखा गया तो बात बिगड़ जायगी। इसके विपरीत, यदि ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनैतिक बुद्धिमत्ता का दिवाला नहीं निकाल दिया है और स्वाधीनता के अपने जातीय सिद्धान्त को नहीं भुला दिया है तो वह अपना क़दम ऐसी ओर बढ़ा सकती है जिससे भारत में स्वाधीनता और समता ही नहीं होगी, बल्कि साम्राज्य दृढ़ हो जावेगा और संसार में शान्ति स्थापित हो जायगी।"

ब्रिटिश साम्राज्य की भलाई और संसार में शान्ति चाहने वाले एक सच्चे हृदय के ये विचार हैं, पर ब्रिटिश सरकार ऐसों की सम्मति कब मानने चली है। उसके पास तो सम्मति लेनेवालों की एक दूसरी ही 'डायरी' है।

(३) गुलाम बनानेवाला स्वतंत्र नहीं।

मि० एन्ड्रूज ने कलकत्ता के विद्यार्थियों के सामने भाषण करते हुए एक बड़े ही महत्व की बात कही थी। उन्होंने भारतकी अछूत जातियों की ओर संकेत करते हुए कहा—

"मैं पूर्ण विश्वास के साथ कहता हूँ कि जब-तक भारत के ५,७ करोड़ अछूत मनुष्य (उच्च जाति द्वारा) पराधीन रहेंगे तब तक स्वाधीनता कभी नहीं मिल सकती। वह मनुष्य [illegible] स्वतंत्र नहीं हो [illegible] और न वह [illegible] पाने के योग्य है जोकि दूसरों को गुलाम बनाता है। मेरा ही उदाहरण लीजिए. मैं अंग्रेज़ हूँ, पर इँग्लैण्ड मुझे इंग्लैण्ड नहीं है।...जो इंग्लैण्ड अपने उपनिवेशों के मनुष्यों को, अपने साम्राज्य की प्रजा को पराधीन रखता है और जो आयर्लैंड, और भारत को सैनिक-बल से दबाये रखता है वह इंग्लैण्ड मुझे इँग्लैण्ड नहीं है, और न मैं उसे [illegible] कर सकता हूँ। [illegible] ही हिन्दुस्थान, वह हिन्दुस्थान जिसकी स्वाधीनता का स्वप्न आप देख रहे हैं (और मैं भी इस भूमि के एक बालक की हैसियत से उस स्वप्न को देखता हूँ) आपके लिए हिन्दुस्थान नहीं है यदि वह दूसरों को अपने अधीन गुलाम [illegible] इसलिए महात्माजी ने [illegible] कि [illegible] स्वराज तो क्या १०० [illegible] नहीं कर सकता यदि वह अछूत [illegible] को, उसकी ही अछूत जातियों को, स्वराज्य नहीं दे सकता है।"

सच तो यह है, स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें अपने पुराने कट्टर धार्मिक बन्धन भी ढीले करना होंगे।

(४) ब्रिटिश सिंह भारत मेमने के साथ रहेगा।

'टाइम्स' नामक अंग्रेज़ी पत्र के प्रतिनिधि ने महात्मा गांधी से पूछा कि गत तीन मास के

कार्य से आपकी क्या धारणा हुई है। महात्मा जी ने उत्तर दिया—तीन महीनों के कार्य से मुझे मालूम हो गया है कि असहकारिता के आन्दोलन की जड़ जम गई है और कुछ थोड़े से अनुचित कार्यों (जैसे मि० विसेन्ट की बम्बई वाली सभा, तथा दिल्ली, बंगाल और गुजरात के ऐसे ही उदाहरणों) के सिवा यह आन्दोलन निश्चयपूर्वक अत्यन्त पवित्र है। मनुष्य दिन प्रति दिन उपद्रव से दूर रहने के गुण को एक उद्देश्य मानकर नहीं, किन्तु जिसके बिना काम नहीं चल सकता ऐसा मानकर प्राप्त कर रहे हैं। मैं तो बहुत ही अद्भुत परिणाम देखने का अनुमान कर रहा हूँ, इतने अद्भुत जितने कि सर जे. सी. बोस के आविष्कार भी नहीं है, या मनुष्यों द्वारा शान्तिपूर्ण असहकारिता का प्रस्ताव मान लेना भी नहीं है। यदि सरकार को किसी प्रकार विश्वास दिलाया जा सके कि हम लोगों की ओर से कोई भी उपद्रव नहीं किया जावेगा तो सरकार उसी समय से अपना आचरण बिना विचारे एकदम बदल देगी; पर ऐसा होने की कोई सम्भावना नहीं।

प्रतिनिधि—वह अपना आचरण किस दिशा में बदले ?

महात्माजी—निस्सन्देह उसी दशा में जिस दिशा में लोग उसे चलने को कहें, अर्थात् उस दिशा में जहाँ कि सरकार देश की प्रत्येक माँग को पूरा करने के लिए तैयार रहे।

प्रतिनिधि—कृपया इसे और भी स्पष्ट कीजिए।

म० जी—हमारा तात्पर्य्य है कि ऐसा कराने से जनता अपने दृढ़ प्रण और आत्म-त्याग के द्वारा खिलाफत का प्रश्न, पंजाब के अत्याचार का निर्णय और अपनी इच्छा के अनुसार स्वराज्य की प्राप्ति कर सकेगी।

प्रति०—पर, आपके स्वराज्य का अर्थ क्या है और सरकार उसके बीच में पड़ती ही कहाँ है जो उसे अपना आचरण बिना विचारे बदलने की आवश्यकता पड़े ?

म० जी—स्वराज्य से मेरा मतलब अभी तो यही है कि भारत में ऐसी सरकार हो जिसका रूप पार्लिमेण्ट के समान हो और ऐसी सरकार या तो ब्रिटिश जनता की मित्रता से प्राप्त की जावेगी या उसके बिना।

प्रति०—'उसके बिना' कहने से आपका क्या तात्पर्य्य है ?

म० जी—इस आन्दोलन का उद्देश्य यह है कि वर्तमान सरकार अपनी स्वार्थान्धता और लोलुपता छोड़ दे जो उसके प्रत्येक कार्य में दिखाई देती है। मान लीजिए कि हम ने उससे असहकारिता कर उसकी इन इच्छाओं को संतुष्ट न होने दिया, तो वे कदाचित् हिन्दुस्थान में न रहना चाहें जैसा कि उनने सोमालीलैण्ड में किया था जब कि उससे कुछ आमदनी उन्हें नहीं हुई तो उन्होंने उसे छोड़ दिया।

प्रति०—आप क्या सोचते हैं कि ऐसा होगा ?

म० जी—मैंने जो अभी दिखाया है वही अन्तिम सम्भावना है। मैं जो कुछ अनुमान करता हूँ सो तो यह है कि ऐसा कुछ भी न होगा। मैं जहाँ तक अंग्रेज़ों को पहिचानता हूँ वहाँ तक मैं जनता के प्रभाव को अधिक मानूँगा

जब कि वह सच्चा और आवश्यक हो जावेगा। बस तभी उनको मालूम होगा कि उनके नाम पर इम्पीरियल मिनिस्टर लोग और प्रतिनिधि हिन्दुस्थान में कैसे अत्याचार और अन्याय करते हैं। फिर वे जनता के मत के अनुकूल कार्य करने को तैयार होंगे और फिर हिन्दुस्थान की जनता की इच्छा के अनुसार उसके चुने हुए प्रतिनिधियों के रूप में एक सरकार का संगठन करेंगे।

प्रति०—मान लीजिए कि हिन्दुस्थान से ब्रिटिश गवर्नमेंण्ट को कुछ भी लाभ न रहा और वह इसे छोड़ कर चली गई तो फिर हिन्दुस्थान की क्या दशा होगी?

म० जी—उस समय फिर यह सोचना सहज है कि हिन्दुस्थान या तो आप अपने ध्येय के अनुसार आत्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँच जायगा या बल-प्रयोग के सामने बल-प्रयोग करने की हिम्मत रख सकेगा। उस समय उसमें व्यवस्था करने की बड़ी उच्च कोटि की योग्यता हो जायगी और इससे वह भी आपत्ति का सामना कर सकेगा।

प्रति०—तो आपका मतलब है कि अंग्रेजों के छोड़कर चले जाने पर हिन्दुस्थान में उस समय की स्थिति का सामना करने के लिए यथेष्ट योग्यता प्राप्त हो जायगी और हिन्दुस्थानी जनता राष्ट्र की उन्नति के लिए अच्छा शासन कर सकेगी।

म० जी—बेशक। गत मासों के अनुभव से मुझे यही आशा है। बचे हुए नौ महिनों में जिनके भीतर स्वराज्य पाने का मैंने अनुमान किया है हम लोग दोषों को दूर कर लेंगे और हिन्दुस्थान के मनुष्यों की इच्छा के अनुकूल स्वराज्य स्थापित कर लेंगे।

प्रति०—नौ माह बाद वर्तमान सरकार कहाँ रहेगी?

महात्मा जी ने विचार-भरी मुस्कराहट से उत्तर दिया कि फिर सिंह भेमने के साथ रहेगा।

(५) भारत की निर्धनता कैसे दूर हो?

भारत की दशा दिन दिन गिरती जा रही है और यदि शीघ्र स्वराज्य नहीं मिलता तो और भी अधिक गिर जावेगी। स्वराज्य मिलने पर भी कुछ उपायों का अवलम्बन करना पड़ेगा, तब सफलता अधिक मिल सकेगी। "मैसूर एकानामिक जरनल" ने वर्तमान दशा में भी कुछ प्रयत्न करने की बात सुझाई है। उसकी सम्मति है—

"भारत को दरिद्रता के फँदे से छुड़ाने के लिए या तो कृषि तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रों में इतने शीघ्र और इतनी अधिक उन्नति की जाय कि जिससे मजदूर-वर्ग की दरिद्रता दूर हो जाय और साधारण-वर्ग के लोगों को दाल-रोटी का प्रश्न हल करने में ही सारा जीवन न नष्ट करना पड़े या विवाहादि उत्सवों में अधिक खर्च करने और एक जन पर अवलम्बित होकर पेट भरने की प्रथाएँ उठा दी जाएँ। परन्तु दोनों बातों के होने में बड़ी बाधाएँ हैं। प्रत्येक में यही कठिनाई है कि उद्देश्य-प्राप्ति के लिए आरम्भ कहाँ से किया जाय और आगे कौन बढ़े। प्रत्येक भारतीय को या तो कमर कसकर इन प्रथाओं को तोड़ने में हाथ बँटाना चाहिए या व्यावसायिक क्षेत्र में आगे बढ़ कर देश की दशा सुधारना चाहिए। ऐसा करने में जो साहस दिखाना होगा उससे सदैव

लाभ ही होगा और यदि यह नहीं किया जाता तो भारतीयों को दारिद्र्य-पंक में ही मग्न रहना पड़ेगा।"

(६) क्या पद्य-काव्य श्रेष्ठ है?

इसका उत्तर एक अंग्रेज़ी पत्रिका ने दिया है कि—इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि निस्सन्देह पद्य-काव्य श्रेष्ठ है, वह सदैव श्रेष्ठ रहा है और भविष्य में श्रेष्ठ बना रहेगा।

आगे चल कर उसी पत्रिका ने अपने कुछ विशेष विचार पद्य-काव्य पर प्रकट किये हैं जो संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं—

कविता की श्रेष्ठता भाव और समय के अनुसार कम अधिक होती है; पर कुछ कविताएँ ऐसी भी होती हैं जो अपने उच्च भाव और प्रसादगुण के कारण सदैव उच्चतम स्थान पाती हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य में मात्रा या वर्णों के निश्चित नियम-पालन करने तथा अन्त में तुकान्त के मिलने से पद्य की श्रेष्ठता बढ़ गई है। वह बहुत आसानी से स्मरण हो जाता है। किसी अच्छे गद्य का उदाहरण लीजिए और स्मरण कर डालिए; पर तब भी वह पूरा पूरा दुहराया नहीं जा सकेगा; किन्तु कविता के पचासों पद्य आसानी से स्मरण हो जाते हैं और तनिक ही गुनगुनाने से ज्यों के त्यों दुहराये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कविता में गाने का जो गुण होता है उसी के कारण मनुष्य उसमें तल्लीन हो जाता है और अपने को दूसरी दुनियाँ में उड़ा ले जाता है जहाँ शोक-दुःख का नाम नहीं रहता।

कोई भी बात जो गद्य में कही जाती है इतना प्रभाव नहीं डालती जितना कि थोड़े में बँधे हुए शब्दों द्वारा कही हुई छन्दोबद्ध बात असर करती है। जब वक्ता किसी विषय पर व्याख्यान देता है और अपना भाषण घण्टों केवल गद्य में सुनाता है तब मनुष्य के चित्त या तो ऊबने लगते हैं या उन्हें वक्ता के भावों को समझने के लिए कुछ मानसिक कष्ट उठाना पड़ता है; पर यदि वह बीच में दो चार पंक्तियाँ अपने-पूर्व कथित विचारों के सम्बन्ध से सुनाता है तो श्रोतागण के चित्त तुरन्त हरे-भरे हो जाते हैं और वे तालियाँ पीट कर उन पंक्तियों का प्रभाव प्रदर्शित करते हैं।....

अतुकान्त कविता भी अच्छी होती है; पर तुकान्त में जो मज़ा कानों को मिलता है वह अपूर्व ही होता है।

पुस्तकादि-परिचय।

१—दुर्गादास—यह एक नाटक ग्रन्थ है। मूल ग्रंथ बँगला में है और स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालराय लिखित है। इसका अनुवाद बाबू द्वारिकानाथ मैत्र ने और प्रकाशन बाबू रामलाल बर्म्मा, 'प्रोप्राइटर, आर० एल० बर्म्मन एण्ड को०, कलकत्ता' ने किया है। मूल्य सादी जिल्द का १॥) रु० और सजिल्द का २) है। हमारे सामने अति सुन्दर दुर्गादास सजिल्द वाली प्रति है। यह द्वितीय संस्करण है और सं० १९७८ में प्रकाशित हुआ है। नाटक सचित्र है; एक रंगीन और पाँच सादे चित्र हैं।

हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, से भी 'दुर्गादास' का एक अनुवाद प्रकाशित हुआ है और वह बहुत अच्छा हुआ है। हाल में उसका तीसरा संस्करण निकला है; पर वह सचित्र नहीं। यहाँ 'बर्म्मन प्रेस' के अनुवाद का परिचय देने के साथ साथ हमें यह भी देखना है कि दोनों अनुवाद किन किन बातों में एक दूसरे से अच्छे हैं।

हिन्दी के पुराने नाटकों में और कई नये नाटकों में भी, संस्कृत के नाटकों के समान, नाटक के आरम्भ में, नट-नटी की बातचीत के रूप में, कुछ प्रस्तावना लिखी जाती है। 'बर्मन कम्पनी' के 'दुर्गादास' में ऐसी ही कुछ प्रस्तावना दी गई है; पर 'रत्नाकर कार्यालय' के दुर्गादास में वह नहीं है। मूल पुस्तक के देखे बिना हम नहीं कह सकते कि एक अनुवाद में यह क्यों जोड़ी गई और दूसरे में क्यों नहीं रखी गई। हाँ, प्रस्तावना के इस अंश को पढ़कर जहाँ नटी द्वारा नाटक का नाम लिया गया है यह साफ़ झलकता है कि यह प्रस्तावना बाबू द्विजेन्द्रलालराय की लेखनी से नहीं प्रकट हुई है। यदि वे लिखते तो भावरहित साद शब्दों में दुर्गादास का परिचय न देते; वे आरंभ में देश की स्थिति का दिग्दर्शन कराये बिना न रहते। अस्तु।

"बर्मन" कम्पनी के अनुवाद में एक विशेषता है और वह यह कि कासिम नामक एक पात्र से बुन्देलखण्डी से मिलती हुई ग्रामीण भाषा में बातचीत कराई गई है। यह विशेषता इसलिए और बढ़ गई है कि यह कासिम मुसलमान था और औरंगज़ेब के कृत्यों को अन्याय पूर्ण समझ, सत्य का पक्ष लेने के लिए, अपने उपकारी राठौर वीर दुर्गादास से आ मिला था। कासिम को मुसलमान होने का गर्व था; पर साथ ही सत्य-पक्ष लेना वह अपना धर्म समझता था। ऐसे मनुष्य का हिन्दुस्थान की एक ग्राम्य बोली में बातचीत करना उसके सरल आचरण और शुद्ध हृदय को और भी ऊँचा कर देता है। 'रत्नाकर-कार्यालय' के अनुवाद में भाषा की यह विशेषता नहीं रखी गई और इससे मालूम पड़ता है कि कदाचित् मूल पुस्तकों में भी ऐसा कुछ भेद न हो। परन्तु हमारी सम्मति में तो यह आता है कि यदि 'बर्मन-कम्पनी' के अनुवाद में यह परिवर्तन अनुवादक ने अपनी इच्छा से किया है तो यह बहुत ही ठीक हुआ है। ऐसा करने से नाटक की शोभा और उस पात्र विशेष का आचरण और भी उज्ज्वल हो गया है। इसी के साथ, एक बात खटकती भी है। जब ग्रामीण मनुष्य महारानी महामाया के वचन सुनने आते हैं तब वे शुद्ध हिन्दी में बातचीत करते हैं। अच्छा होता कि वहाँ भी ग्राम्य बोली का उपयोग किया जाता।

औरंगज़ेब फ़ारसीदाँ थे और दुर्गादास मारवाड़ की भाषा बोलनेवाले। उस समय मुग़लों का राज्य जमे कई वर्ष हो चुके थे और फ़ारसी या मुसलमानी उर्दू का व्यवहार हिन्दुओं में भी कुछ न कुछ अवश्य हो गया होगा। ऐसे समय दो भिन्न धर्मावलम्बियों और भाषा-भाषियों की भाषा नाटक में कैसी रखी जाय, यह विषय विचारणीय है। स्वाभाविक बात तो यह है कि जो जिस भाषा का जानने वाला है, अथवा जिसकी जो मातृभाषा है उसके मुँह से, समय के प्रभाव का ध्यान रख, उसी भाषा में बातचीत कराई जाय। किन्तु जब हमें वर्तमान हिन्दी का रूप सर्व साधारण में प्रकट करना है तब इस विषय में कुछ परिवर्तन अवश्य करना पड़ेगा; पर वह इतना अधिक न होना चाहिए कि एक ओर तो हिन्दू विशुद्ध हिन्दी बोलता है और दूसरी ओर एक मुसलमान खालिस फ़ारसी। क्या उस समय सुननेवाले के मन में यह अचरज न होगा कि दोनों भिन्न भिन्न भाषाएँ बोल रहे हैं और तुरंत समझ भी लेते हैं। 'बर्मन कम्पनी' के अनुवाद में यही दोष जगह जगह खटकता है और कहीं कहीं भाषा भी बेमुहावरा हो गई है। यह बात 'रत्नाकर कार्यालय' के अनुवाद में नहीं हो पाई, यद्यपि उसमें भिन्न भाषा भाषी पात्रों के अनुसार अन्तर रखा गया है। उदाहरण के लिए हम दोनों अनुवादों से कुछ वाक्य लेते हैं:—

'बर्मन कम्पनी' के अनुवाद से——

औरंगज़ेब,—"दुर्गादास ! जसवंतसिंह की मौत सल्तनत-मुग़लिया की बदनसीबी का बायस है।"

दुर्गादास,—"जहाँपनाह ! साम्राज्य के कल्याण और राजाज्ञा-पालन के लिए मरना प्रत्येक प्रजा के परम गौरव का विषय है।"

औरंगज़ेब,—"दुर्गादास ! तुमने बहुत ठीक कहा। जसवन्तसिंह के बिना उन नामगलब रकीब काबुलियों को कौन पस्त कर सकता था ? उस कर्ज़ से मैं ताज़ीस्त रिहाई नहीं पा सकता। (श्यामसिंह से) क्यों महाराज ! ठीक है न ?"

श्याम०,—"निस्संदेह।

'ग्रंथरत्नाकर कार्यालय' के अनुवाद से—

औरंगज़ेब,—दुर्गादास ! जसवंतसिंह की मौत को मुग़ल बादशाहत की बदनसीबी समझना चाहिए।

दुर्गादास,—जहाँपनाह ! साम्राज्य की भलाई के लिए—राजा की आज्ञा का पालन करने के लिए—मरने में हरएक प्रजा का गौरव है।

औरंगज़ेब,—तुमने ठीक कहा दुर्गादास। जसवंतसिंह के सिवा बाग़ी काबुलियों को और कौन काबू में ला सकता ? उनका मुझपर बड़ा एहसान है—इस ज़िन्दगी में मैं उस एहसान का बदला नहीं चुका सकता—(श्यामसिंह से) क्यों न राजा साहब ?

श्याम०—बेशक।

इन उदाहरणों के मिलान से स्पष्ट है कि भाषा-भेद रखते हुए मुहावरेदार तथा दर्शकों के समझने योग्य भाषा में "रत्नाकर कार्यालय" का अनुवाद अच्छा हुआ है। यहाँ विस्तार-भय से अधिक कुछ नहीं लिखा जाता। एक श्यामसिंह का ही कथन लीजिए। 'रत्नाकर' के अनुवाद में उसके मुख से 'बेशक' कहलाने में क्या ख़ूबी है और दूसरे अनुवाद में 'निस्संदेह' कहलाने से क्या मालूम होता है। नाटक में श्यामसिंह को हिन्दू जाति का कलंक और मुग़लों का गुलाम बतलाया है। ऐसे मनुष्य से 'बेशक' कहला कर यह भाव प्रकट किया जाता है कि गुलामी का असर उसके भाषा-भाव पर भी गहरा पड़ गया था।

नाटक खेलने के लिए लिखे जाते हैं और उनकी सफलता नाटक के पात्रों की उपयुक्त भाषा पर भी अवलंबित रहती है। 'बमन-कंपनी' के नाटक में भाषा का स्वाभाविक बहाव नहीं है। एक तो भाषा क्लिष्ट होगई है, दूसरे कहीं २ बेमुहावरे भी हैं। यह दोष 'रत्नाकर कार्यालय' के अनुवाद में नहीं। वह बड़ी सफलतापूर्वक खेला जा सकता है। उसके गाने भी अच्छे हैं। किन्तु एक 'क्लासिक' की भाषा उपयुक्त होते हुए भी बम्मन-कंपनी का अनुवाद, भाषा की क्लिष्टता और दूषित रचना-शैली के कारण, सफलतापूर्वक नहीं खेला जा सकता जो नाटक का एक बड़ा भारी दोष है।

२—दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास—लेखक, श्रीयुत भवानीदयाल जी; प्रकाशक, सरस्वती-सदन, इंदौर; पृष्ठसंख्या, ३२+३७४; चित्र संख्या १२; मूल्य ३॥)

पुस्तक का द्वितीय संस्करण सामने है। प्रथम संस्करण सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ था और एक साल के भीतर ही सब प्रतियाँ बिक चुकी थीं; किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण दूसरा संस्करण सन १९२० में प्रकाशित हो सका। इस संस्करण में पूर्व संस्करण की अपेक्षा चित्र संख्या कम है; पर विषय विस्तार और पृष्ठसंख्या अधिक है। पुस्तक महात्मा गांधी जी को समर्पित की गई है, सो ठीक ही हुआ है। जिनकी वस्तु थी वह उन्हीं के पास पहुँचना चाहिए, दूसरा कोई उसके योग्य पात्र भी न था। पुस्तक में महात्मा गांधी जी, तथा लेखक के सिवा अनेक सत्याग्रहियों के चित्र हैं।

सन् १९०६ के पूर्व 'सत्याग्रह' शब्द संसार के कोष में न था। हाँ, उसका आचरण सर्वत्र पाया जाता था; पर उसका आचार्य कोई न था। सन् १९०६ में दक्षिण आफ्रिका में रहने वाले भारतवासियों की दशा इतनी विषम होगई कि महात्मा गांधी को सत्याग्रह-रूपी अस्त्र उठाना पड़ा। आरम्भ में लोग सत्याग्रह और उसके कार्यों पर मज़ाक उड़ाते और उसे एक निष्फल प्रयत्न समझते थे। किन्तु बहुत ही शीघ्र संसार को मालूम हो गया और विशेष कर दक्षिण आफ्रिका के अन्यायकारी अधिकारियों को कि सत्याग्रह आन्दोलन उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने की वस्तु नहीं है। इतना ही नहीं, अधिकारियों को सत्याग्रह के सामने सिर भी झुकाना पड़ा। यह विजय जिस बल पर हुई वह था आत्म-बल। उस आत्म-बल में आत्म-त्याग का होम दिया गया था और अपार कष्ट-सहन की तपश्चर्या की गई थी।

अधिकारियों की शक्ति के नीचे रहने वाली जब कोई जाति अपना उद्धार चाहती है तो उसे एकमात्र 'सत्याग्रह' का द्वार खुला रहता है और वह उसी के बल पर अपना कल्याण प्राप्त कर सकती है। दक्षिण आफ्रीका के सत्याग्रहियों ने संसार के सामने यह ज्वलन्त उदाहरण कार्य-रूप में परिणत करके उपस्थित कर दिया है। भारतवर्ष को दासत्व के पंजे से निकालने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक भारतवासी को इस पुस्तक का पठन ध्यानपूर्वक अवश्य करना चाहिए।

पुस्तक बड़ी ही खोज, परिश्रम, और विद्वत्ता के साथ लिखी गई है। दक्षिण आफ्रीका के सत्याग्रहियों का सांगोपांग चित्र इसमें खींचा गया है।



श्रीमान् ड्यूक आव् कनाट।

३—हिन्दी ट्रान्सलेशन—लेखक, पं० रामदहिन मिश्र और बाबू शिवपूजनसहाय; प्रकाशक, ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर; पृष्ठ संख्या, २५०; मूल्य, १॥)

हर्ष की बात है कि अंग्रेज़ी सीखनेवाले विद्यार्थियों के लिए ऐसी पुस्तकें बनती जाती हैं। इस पुस्तक में अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद करने की रीति सोदाहरण बताई गई है। अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद करने में विद्यार्थी कभी कभी बहुत भद्दी भूलें कर बैठते हैं। यह कठिनाई हिन्दी और अंग्रेज़ी के मुहावरों का ठीक ठीक उपयोग न जानने से पड़ती है। विद्यार्थी ही नहीं, हिन्दी के कई पत्र-सम्पादक तक अंग्रेज़ी के मुहावरों का शब्दशः हिन्दी-अनुवाद कर उसे क्लिष्ट और डरावना बनाया करते हैं। यह त्रुटि "हिन्दी ट्रान्सलेशन" के अध्ययन से अंशांश में दूर हो सकती है। "मैट्रिक्युलेशन" कक्षा के उन विद्यार्थियों को जो अंग्रेज़ी का शुद्ध हिन्दी अनुवाद करना सीखना चाहते हैं यह पुस्तक अवश्य ही पढ़नी चाहिए। इस विषय की इससे अच्छी पुस्तक हमारे देखने में अभी तक नहीं आई है। पुस्तक की सुन्दर छपाई तथा पृष्ठसंख्या को देखते हुए मूल्य भी किसी प्रकार अधिक नहीं जँचता है।

एक संशोधन की त्रुटियाँ के स्थानों पर खटकती हैं; यथा, He strike at me 'उसने मुझे मारने की चेष्टा की' (पृष्ठ २२७), the pressman was ordered of struck off a thousand copies 'यन्त्रालय के कर्मचारी को सहस्र प्रतियाँ शीघ्र छाप डालने की आज्ञा दी गई।' स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों में इस प्रकार की भद्दी भूलें कभी न होनी चाहिए। आशा है, दूसरे संस्करण में ये अवश्य ही दूर कर दी जायँगी। इस संस्करण में भी एक 'शुद्धिपत्र' लगाने से ये दूर हो सकती हैं।

४—सिक्खों का बलिदान—अनुवादक, पं० राधामोहन मिश्र; प्रकाशक, ग्रंथमाला—कार्यालय, बाँकीपुर; पृष्ठ—संख्या, ३०; मूल्य, ≈)

इस छोटी सी पुस्तक में अपने प्यारे धर्म के लिए अनेक कष्ट सहन कर प्राणोत्सर्ग करने वाले तेग़ बहादुर, फतहसिंह, मतिसिंह आदि ६ सिक्ख वीरों का संक्षिप्त चरित है। चरित्र पढ़ने योग्य हैं और सरल भाषा में लिखे गये हैं। बालक-बालिकाओं के पढ़ने योग्य पुस्तक है।

५—पथिक—लेखक और प्रकाशक, पं० रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ८२; मूल्य ॥)

यह ५ सर्गों का एक छोटा सा खण्ड-काव्य है। कथा आदि से अन्त तक विरह से भरी हुई है। एक मनुष्य घर-द्वार और संसार को छोड़कर प्रकृति-प्रेमी बन गया और जंगल में रह कर अपने दिन बिताने लगा, परन्तु एक महात्मा के उपदेश से उसे मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान हुआ और कर्तव्य-आरूढ़ होकर वह संसार में, देशोद्धार का पवित्र संदेश लोगों को सुनाता रहा; परन्तु जिस प्रकार इस देश में भी देशभक्त जन राजद्रोही समझे जाते हैं उसी प्रकार वह भी राजविद्रोह में पकड़ा गया और उसे प्राण-दण्ड दिया गया। यह निरा अन्याय था। प्रजा इसे नहीं सह सकी और उसने राजा के साथ असहयोग आरम्भ कर दिया। कुछ समय पीछे राजा को देश-निर्वासन दिया गया और देश में प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया। कवि अच्छे लेखक हैं और इस असहयोग के युग में लोगों की जो साहित्यिक रुचि हो रही है वह पुस्तक उसी के अनुकूल है। हमने पूरी पुस्तक को दो बार पढ़ा और तीसरी बार पढ़ने की लालसा अभी बनी है। कवि की कल्पना उत्कृष्ट है और पूरी कथा काव्य-रस से परिपूर्ण है। इसे पढ़कर कई आत्माएँ जाग्रत होंगी और उन्हें स्वदेश के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा। आशा है, इस उत्तम पुस्तक का प्रचार घर घर में होगा।

६—तीन चित्र—बाबू शारदचंद्र शुक्ल प्राचीन शैली के अच्छे चित्रकार हैं। यद्यपि उनकी चित्रांकण-शैली नवीन शैली से अछूती नहीं है, तो भी चित्ताकर्षक अवश्य है। पं० उदित मिश्र ने आपके बनाये हुए तीन चित्र हमारे पास भेजने की कृपा की है जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—पहला चित्र "कृष्णार्जुन" है। इसमें गाण्डीवधारी युद्ध-विरत अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण युद्धार्थ प्रस्तुत होने के लिए गीतोपदेश दे रहे हैं। इस चित्र में यद्यपि चित्रकार ने शरीर-रचना, भाव-भंगी तथा वेशभूषा का अंकन करने में प्राचीन शैली का ही अनुकरण किया है, तथापि कई स्थानों पर नवीन शैली का आभास आ ही गया है। दूसरा चित्र 'विश्वामित्र और मेनका' का है। मेनका, आँधी के कारण, सरिता के किनारे के एक वृक्ष का आश्रय लेकर चित्रवत् खड़ी है और विश्वामित्र पास खड़े खड़े उसके अनावृत अंगों के सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए विस्मय-विमुग्ध हो रहे हैं। इस चित्र में मेनका के वस्त्र उड़ने का ढंग प्रदर्शित करने में चित्रकार को विशेष सफलता प्रकट नहीं होती है। इस चित्र में नवीन शैली का आभास कुछ अधिक दिखाई देता है। 'सीता-लक्ष्मण" चित्रमें, पर्णकुटी के द्वार पर खड़ी हुई सीता लक्ष्मण को, कांचन मृग के पीछे गये हुए श्रीरामचन्द्र के सहायतार्थ जाने का

आदेश करती हैं और वे यह कहते हैं कि "आप चिन्तित न हों, वे सकुशल हैं," तब सीता क्रुद्ध होकर उन्हें भला-बुरा सुनाने लगती हैं। यह चित्र नवीन शैली का अच्छा निदर्शन है और चित्रकार ने अन्य दो चित्रों की अपेक्षा इसमें अधिक सफलता प्राप्त की है। तीनों चित्र बड़े आकार में हैं और चित्र-प्रेमियों के संग्रह करने योग्य हैं।

चित्र-परिचय।

श्रीमान् ड्यूक ऑव् कनाट।

भारतवर्ष में जो नवीन-सुधार-युग-आरम्भ हुआ है उसका श्रीगणेश करने के विचार से पहले राजराजेश्वर पंचम जार्ज महोदय के ज्येष्ठ पुत्र यहाँ पधारने वाले थे; परन्तु किसी कारण से उनका शुभागमन नहीं हो सका और अब उनके बदले राजराजेश्वर महोदय के काका श्रीमान् ड्यूक ऑव् कनाट पधारे हैं और स्थान स्थान में भ्रमण कर रहे हैं। भारतवासियों की अतिथि-भक्ति जगत्प्रसिद्ध है और यदि ड्यूक महोदय अन्य किसी समय अथवा भारतवासियों की सम्मति से पधारे होते तो भारतवर्ष उन्हें सिर-माथे रखता। परन्तु, आप आये हैं नौकरशाही के मेहमान होकर, और उस नौकरशाही की जड़ खोखली बनाने के विचार से राष्ट्रीय सभा ने असहयोग का मार्ग स्वीकार किया है और स्पष्ट आज्ञा दी है कि श्रीमान् ड्यूक ऑव् कनाट महोदय का स्वागत न किया जाय। स्वागत हृदय से होता है, और जब हमारे हृदय असन्तोष की ज्वाला से धधक रहे हैं उस समय हृदय से स्वागत हो नहीं सकता और प्रत्यक्षतः दिखावटी नौकरशाही की चालों की पुनरावृत्ति करना हमें पसंद नहीं।

श्रीशारदा के इस अंक में उनका चित्र इसलिए प्रकाशित किया जाता है कि लोग ड्यूक साहब को पहचान लें और कहीं भूल से उनका स्वागत न कर बैठें।

अन्य चित्रों का परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं दिखती।

चुनी हुई उपयोगी पुस्तकें।

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा नित्य ही नई, उपयोगी और मनोरंजक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। प्राचीन काव्य के भी कितने ही ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। कुछ के नाम नीचे दिये जाते हैं।

मनोरंजन-पुस्तक-माला की पुस्तकें।

आदर्श जीवन	१।)	आत्मोद्धार	१।)
गुरु गोविन्दसिंह	१।)	आदर्श हिन्दू	३॥।)
जंगबहादुर	१।)	भीष्म पितामह	१।)
जीवन के आनन्द	१।)	भौतिक विज्ञान	१।)
लाल चीन	१।)	कबीर-वचनावली	१।)
म० गोविन्द रानाडे	१।)	बुद्धदेव	१।)
सिक्खों का उत्थान और पतन	१।)	मितव्ययता	१।)
वीर मणि	१।)	नेपोलियनबोनापार्ट	१।)
शासन-पद्धति	१।)	[illegible]	१।)
आत्म-शिक्षण	१।)	सुन्दरसार	१।)
जर्मनी का विकास	१।)	कृषिकौमुदी	१।)
कर्तव्यशास्त्र	१।)	रणजीतसिंह	१।)
विश्वप्रपंच	१।)	मुसलमानीराज्यका इ०	२॥)

मुं० देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला फाहियान का यात्राविवरण १॥), सुंगयुन की यात्रा १।)

प्राचीन काव्य की पुस्तकें।

पृथ्वीराज रासो सम्पूर्ण २०), चित्रावली २), इन्द्रावती ॥।), विरहलीला ≈), परमाल रासो २), भूषण ग्रंथावली ॥।), जंगनामा ॥।), राजविलास १।), हम्मीर रासो १), छत्रप्रकाश ॥।), दादूदयाल की बानी ॥।), दादूदयाल के शब्द ॥).

अन्य उपयोगी पुस्तकें।

हिन्दी-शब्दसागर [हिन्दी का अपूर्व कोष] १० भाग, मूल्य २०), हिन्दी व्याकरण ३), छूतवाले रोग और उनसे बचने के उपाय १). प्राचीन लेख-मणिमाला १). प्रबोधचन्द्रिका ।≈), महाराणा प्रताप ॥), राज्यप्रबन्ध-शिक्षा ॥), सुघड़ दर्जिन ॥). सौरी सुधार ॥). मिश्र देश का इतिहास ।), स्त्रियों के रोग १) भारतवर्ष की शासन-पद्धति ॥), राधाकृष्णदास की जीवनी ॥), यूनान का इतिहास ।॥), आर्ष प्राकृत व्याकरण ।), सत्य हरिश्चन्द्र ≋), बोपदेव की जीवनी ≈), लेखक और नागरी लेखक ≈), भाषा ≋)॥, ललित शिक्षावली ।), हिंदी पुस्तकों की खोज १९०६ से ११ तक, ७)

पता—

मन्त्री, नागरी-प्रचारिणी सभा,

बनारस सिटी।

'ज्ञानमण्डल' ग्रन्थमाला के ग्रन्थ।

प्राचीन भारत—लेखक, श्रीयुत पं० हरिमंगल मिश्र एम० ए०; सुन्दर जिल्द से आच्छादित। पृष्ठसंख्या ५५०। कई आवश्यक चित्र तथा नक़्शों से पूर्ण। अपने प्रिय प्राचीन भारत को देखने के लिए देखिये। मूल्य ३।॥-)

इटली के विधायक महात्मागण—सम्पादक, प्रोफ़ेसर रामदास गौड़, एम० ए०। पृष्ठसंख्या २५०, सुन्दर जिल्द से बँधा। ८ चित्र और १ नक़्शा भी है। भारत की बहुतसी राजनैतिक उलझनें इसके अध्ययन से सुलझ सकती हैं। मूल्य २।)

यूरोप के प्रसिद्ध शिक्षण-सुधारक—लेखक, श्रीयुत चन्द्रशेखर वाजपेयी, एम० एस० सी०, एल० टी०। सजिल्द, पृष्ठ-संख्या २००। भारत में नवजीवन संचार के लिए इसे देखिये। मूल्य १।॥=)

स्वराज्य का सरकारी मसविदा—लेखक, डॉ० श्रीप्रकाश, बी० ए० (केम्ब्रिज) बैरिस्टर-एट-ला। पृष्ठसंख्या ४८० मूल्य १॥)

बिहारी की सतसई और सतसई-संहार—लेखक, श्रीयुत पं० पद्मसिंह शर्मा। समालोचना की अपूर्व पुस्तक। सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ३७८, मूल्य २)

अब्राहम लिंकन—लेखक, श्रीयुत रामचन्द्र रघुनाथ सर्वटे; पृष्ठ-संख्या १५२, मूल्य ॥) आना। मृतक मन में पुनः प्राण का संचार करने वाला।

सूचना—ये ग्रन्थ पौनी मूल्य पर लेने के लिए, नियमानुसार १) भेज कर स्थायी ग्राहकों में नाम लिखा लेना चाहिए। शीघ्र ही कई महत्त्व के ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

'स्वार्थ'—अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, राजनीति तथा इतिहास का एक उपयोगी मासिकपत्र। सम्पादक, अध्यापक जीवनशंकर याज्ञिक, एम० ए०, एल० एल० बी०। प्रतिमास ४८ पेज का नामी नामी लेखकों के विचारपूर्ण लेखों से पूर्ण रहता है। छपाई सफाई अपूर्व। वार्षिक मूल्य ४)

पता—व्यवस्थापक, 'ज्ञानमण्डल कार्यालय',
काशी।

'श्रीशारदा' के नियम

लेखकों के लिए--

१—मत-मतान्तर और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जावेगा।

२—साहित्य, समाज, राजनीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने या न करने, घटाने या बढ़ाने, एवं लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों का लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुपाठ्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

७—कोई लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—[illegible] महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

९—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

१०—कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए--

सम्पादक, 'श्रीशारदा,' दीक्षितपुरा, जबलपुर।

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ।।) और पुरानी प्रति का ।।।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ।।) भेजना चाहिए अथवा ।।=) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

४—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों ने किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर से पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

५—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजनी चाहिए—

प्रबन्धक 'श्रीशारदा' दीक्षितपुरा, जबलपुर।

'बर्म्मन प्रेस' कलकत्ताकी सचित्र पुस्तकें!

लोकमान्य तिलक

स्वर्गीय राष्ट्र सूत्रधार, भारतवासियोंके हृदय सम्राट, देशके सर्वश्रेष्ठ नेता, राजनीतिक आचार्य, राष्ट्रके अवतार, भारतवासियोंके आदर्श, लोकमान्य, सर्वपूज्य और परम आत्मत्यागी स्वदेशभक्त पण्डित बाल गङ्गाधर तिलककी यह परम शिक्षाप्रद सचित्र जीवनी प्रत्येक देशभक्तके पढ़ने और मनन करने योग्य है। प्रारम्भमें लोकमान्यका एक बहुतही सुन्दर कई रंगोंमें छपा हुआ दर्शनीय चित्र और भीतर उनकी सहधर्म्मिणीका पूजनीय चित्र है। लोकमान्यकी ऐसी सुन्दर सुपाठ्य और शिक्षाप्रद वृहद् जीवनी अबतक दूसरी नहीं छपी। मूल्य केवल १) और रेशमी जिल्द बंधीका १॥) रु०

महाभारत

२२ रंग-बिरंगे चित्रों सहित बड़ी सज धजके साथ छपकर हाथोंहाथ बिक रहा है।

इसमें महाभारतके अठारहों पर्वोंका सम्पूर्ण कथा भाग बड़ीही सरल, सरस और सुन्दर भाषामें छापा गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं, कि अब तक "महाभारत" का इतना सुन्दर, सजीला, सस्ता और मन-मोहक संस्करण किसी भाषामें नहीं छपा। हिन्दीके प्रायः सभीपत्रोंने मुक्त कण्ठसे इसकी प्रशंसा की है। इसमें ऐसे ऐसे सुन्दर हृदय ग्राही और आकर्षक बहुरंगे चित्र लगाये गये हैं, कि 'महाभारत'का तमाशा 'बायस्कोप' की भांति आंखोंके सामने नाचने लगता है। दाम रंगीन जिल्द ३), रेशमी जिल्द ३।) रु०

वीर-पञ्चरत्न

२१ रंग-बिरंगे चित्रोंसे विभूषित वीर-रस-पूर्ण सचित्र चरित-काव्य।

भारतमें कैसे-कैसे वीर होगये हैं, यदि यह जानना हो, तो यह ग्रन्थ अवश्य पढ़िये। इसमें [illegible] वीर पुरुषों और वीर नारियोंकी वीरता-पूर्ण जीवनियां खड़ी बोलीकी बड़ीही सुन्दर कवितामें लिखी गयी हैं। [illegible] रंग-बिरंगे चित्र दिये गये हैं। प्रारम्भमें [illegible] सूर्य, वीर-केशरी महाराणा प्रतापसिंहका [illegible] छपा हुआ दर्शनीय-चित्र है। इस पुस्तककी समस्त हिन्दी-संसारने प्रशंसा की है। स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बच्चे सभीके पढ़ने योग्य है। मूल्य ३) रु०, रेशमी जिल्द ३।) रु०

नल-दमयन्ती

१३ बहुरंगे चित्रोंसे विभूषित पौराणिक उपाख्यान।

यह पुस्तक मध्य प्रदेश और युक्त प्रदेशके शिक्षा विभागों द्वारा स्कूली लाइब्रेरियों और पारितोषिकके लिये स्वीकृत होचुकी है। यह सती शिरोमणि "दमयन्ती" और आदर्श राजा "नल" की शिक्षाप्रद, हृदय-ग्राहिणी पवित्र कथा प्रत्येक बाल, वृद्ध और वनिताके पढ़ने योग्य है। ८ बहुरंगे और ५ एकरंगे चित्र देकर इसकी शोभा सौगुनी बढ़ा दी गयी है। मूल्य १॥), रंगीन जिल्द १॥।), सुनहरी रेशमी जिल्द २)

राजसिंह

६ बहुरंगे चित्रोंसे विभूषित सचित्र उपन्यास।

बंग साहित्य सम्राट स्वर्गीय बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सी० आई० ई० के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास राजसिंहका यह हिन्दी अनुवाद है और हिन्दीमें ३ ३ बार छपकर हाथोंहाथ बिक चुका है। इसमें सम्राट औरंगजेबके दिल दहला देनेवाले भीषण युद्धोंका वर्णन बड़ीही [illegible] किया गया है। बड़ेही सुन्दर सुन्दर ६ तिन रंगे चित्र भी लगाये गये हैं। मूल्य २), रंगीन जिल्द २।), रेशमी जिल्द २॥)

पता—आर० एल० बर्म्मन एण्ड को०, ३७१ अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता।

वर्ष १, खण्ड २] फाल्गुन, शुक्ल प्रतिपदा, संवत् १९७७ [संख्या ६, पूर्ण संख्या १२

श्रीशारदा



वार्षिक मूल्य ६)] सम्पादक [प्रति संख्या ।।)

साहित्यशास्त्री पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी. ए., विशारद

जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर द्वारा प्रकाशित।

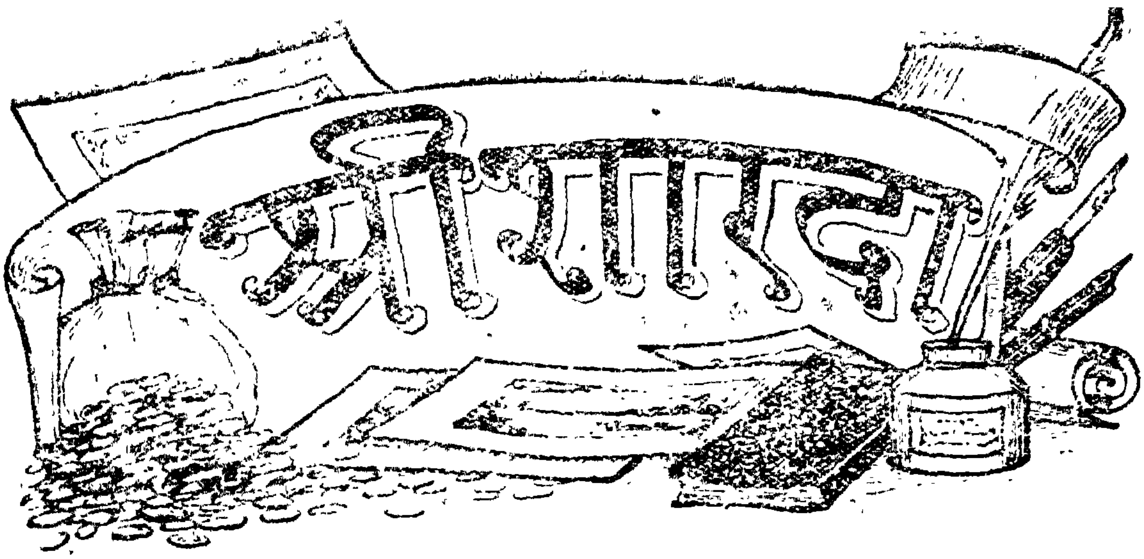
चित्र-सूची ।



प्रतीक्षा।

चित्रकार—

श्रीयुक्त [illegible]।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष १, खण्ड २] फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा, १९७७ * १० मार्च, १९२१ [संख्या ६, पूर्ण संख्या १२

वसन्तागम।

(लेखक बाबू—आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव)

क्यों आते हो, क्यों लाते हो
तुम अपने सुख साज, वसंत।
नहीं जानते क्या भारत है
भारी दुख में आज, वसन्त॥
मत समझो यह कि हम तुम्हारा
करते हैं अपमान, वसन्त।
तुम तो हो चिर-मित्र हमारे
नहीं निरे मिहमान, वसन्त॥१॥

स्वयं जानते हो, देते यदि
सुखियों को सुख-दान, वसन्त।
तो करते हो बुरी दशा में
तुम दुखियों के प्राण, वसन्त॥
है स्वतन्त्रता-प्रिया-विरह में
भारत कब से दीन, वसन्त।
क्रमशः उसकी बुद्धि और बल
होते जाते क्षीण, वसन्त॥२॥

अब तक तुम प्रति संवत् उसका
क्लेश बढ़ाते रहे, वसन्त।
अपने कुसमय में भी उसने
लाड़ तुम्हारे सहे, वसन्त॥
पर जो उसपर अभी हुए हैं
नूतन अत्याचार, वसन्त।
और हो रहे हैं जो अब भी
अमानुषिक व्यवहार, वसन्त॥३॥

उसका कोमल हृदय हुआ है
उनसे विदलित आज, वसन्त।
अतः विवश हो उसने साजा
शान्त समर का साज, वसन्त॥
इस विपत्ति में कैसे होगा
सुखप्रद तव रस-रंग, वसन्त।
छेड़ बेसुरी तान न करना
कहीं रंग में भंग, वसन्त॥४॥

लाकर मत्त खगों का कूजन,
कोयल की कल कूक, वसन्त।
भारत के जर्जरित हृदय में
तुम न उठाना हूक, वसन्त॥
कुसुमावली-विकास मनोहर,
भौंरों का गुञ्जार, वसन्त।
शीतल-मंद-मनोज्ञ पवन में
नवल-सुरभि-संचार, वसन्त॥५॥

इनसे अति पीड़ा पावेंगे कर्ण,
चक्षु, त्वक्, घ्राण, वसन्त।
इन्द्रिय-सुख कटु होते हैं जब
संकट में हों प्राण, वसन्त॥
'पीले हो पत्तों का झड़ना
वह देगी किस भाँति, वसन्त।
होकर क्रमशः क्षीण मर रही
हिन्दू-मुस्लिम-जाति, वसन्त॥६॥

धूल उड़ाओगे तुम, मुख पर
इधर उड़ेगी धूल, वसन्त।
सुध कर कर जो अब तक झोंकी
गई आँख में धूल, वसन्त॥
हाय! फूल के हाथों से भी
छुओ न इनके मूल, वसन्त।
हिल कर अति दुख देंगे हिय में
चुभे हुए ये शूल, वसन्त॥७॥

पथ में बिछा रखे हैं कंटक
देखो आज बबूल, वसन्त।
आवेंगे क्या काम हमारे!
हाय तुम्हारे फूल, वसन्त॥
यहाँ हमारे दलित हुए हैं
अमित फूल सुख-मूल, वसन्त।
हा! कैसे क्षति-पूर्ति करेंगे
क्षुद्र तुम्हारे फूल, वसन्त॥८॥

रुधिर-सरित में नहा, चलें हम
पाने को जब कूल, वसन्त।
जलियाँवाला की पूजा को,
तब देना ये फूल, वसन्त॥
भ्रमर-वृन्द का बल-पूर्वक वह
सुमनों का मधु-पान, वसन्त।
दिखलावेगा शासक-गण की
विभव-हरण की बान, वसन्त॥९॥

इधर-उधर जब हम देखेंगे
खिले पलाश-प्रसून, वसन्त।
बहा हुआ जलियाँवाला में
याद आयगा खून, वसन्त॥
सुमन-गुलाब-पलाश दिखेंगे
एक साथ जो कहीं, वसन्त।
रक्त-सिक्त कुछ बाल-मुखों का
ध्यान आयगा वहीं, वसन्त॥१०॥

पवन करेगा लतिकाओं पर
जब कुछ अत्याचार, वसन्त।
याद आयगा अबलाओं पर
किया गया दुर्व्यवहार, वसन्त॥
उड़ते देख हवा का झोंका
खाकर पीले पर्ण, वसन्त।
याद आयेंगे छात्र-वृन्द वे
विकल-विदूषित वर्ण, वसन्त॥११॥

हाय! नई कोपल नयनों को
फिर से देंगी दिखा, वसन्त।
जलियाँवाला के मृतकों की
चिताग्नि की बहु-शिखा, वसन्त॥

शोक-कवच को भेद सकेंगे
नहीं मदन के बाण, वसन्त ।
तत्प्रहार से याद आयगी
गोली की घमसान, वसन्त ॥१२॥

आग जल रही है भीतर है
बाह्य सुखद यह शीत, वसन्त ।
इसको हर लोगे ? दुख दोगे ?
होगे यों विपरीत ? वसन्त ॥
फिर हरयाली से पंखा कर
ले पयाल सी यौर, वसन्त ।
उसमें झोंक झोंक कर उसको
धधकाओगे और ? वसन्त ॥१३॥

अतः खेदपूर्वक करते हैं
हम तुमसे अनुरोध, वसन्त ।
आना भारत में तब इसके
दुख का जब हो जावे अन्त ॥
या आओ तो और रूप में,
फेंको तुम ये फूल, वसन्त ।
शूल शूल से निकलेंगे, दो
सहन-शक्ति के शूल, वसन्त ॥१४॥

मन का ठंढापन हर, लाओ
नवोत्साह-उष्णत्व, वसन्त ।
ऐसी हवा चलाओ जिससे
दुख दब हो वीरत्व, वसन्त ॥
साहस-कुसुमावलि-विकास हो,
देश-भक्ति की गन्ध, वसन्त ॥
पीकर मधु मन-मधुप हमारे
मद से होवें अंध, वसन्त ॥१५॥

सद्भावों की विहगावलि हो
गाती सुन्दर गान, वसन्त ।
और एकता की कोयल हो,
छेड़े प्यारी तान, वसन्त ॥
हों पलाश मुख-दीप्त हमारे,
सुख से झेलें प्राण, वसन्त ।
स्वतंत्रता-रमणी-भ्रू धनु से,
मोक्ष-मदन के बाण, वसन्त ॥१६॥

पीलेपन के पीत पत्र सब
झड़ें हों हम हरे, वसन्त ।
वैवाहिक पट-पीत पहनकर
प्रिय स्वतंत्रता वरें, वसन्त ॥

धन की असमानता ।

(लेखक-अध्यापक प्राणनाथ, विद्यालंकार)

यूरोप में कलों के द्वारा बड़े बड़े कल-कारखानों का काम चलने में लोगों को बहुत ही अधिक कष्ट मिल रहा है। आजकल इन कल-कारखानों ने ट्रस्ट, पूल, कोर्टल, रिंग आदि में अपना बृहत् रूप प्रगट किया है। इनके कारण दूसरे नये कल-कारखाने खुल नहीं सकते। क्योंकि इनके कारण माल बहुत सस्ता हो जाता है और नये कारखानों की बढ़ती ही रुक जाती है और वे शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाते हैं। स्टैन्डर्ड आयल कम्पनी ने तो अपना माल थोक बेचनेवालों को न देकर एकमात्र फुटकर बेचनेवालों को ही दिया है। यह इसीलिए कि फुटकर बेचनेवाले संख्या में अधिक होते हैं और आपस में मिल नहीं सकते। इससे वे कम्पनी को सस्ते दाम पर माल देने के लिए बाधित नहीं कर सकते। बहुत से ट्रस्टों ने अपने एजन्टों से यह ठेका कर लिया है, कि वे उनके बनाए हुए माल के सिवाय और किसी के माल को न बेचेंगे। इससे छोटे छोटे कारखानेवालों को अपना माल बिकवाने के लिए कोई व्यापारी ही नहीं मिलते हैं। रेल्वे के ट्रस्टों ने माल के इधर उधर ले जाने में ऐसी बेईमानी की है कि कई स्थानों के कारखानों को तबाह कर दिया और बीसों कारखानों को ट्रस्ट बना दिया है।

इन ट्रस्टों तथा कारखानों का प्रभाव यह है कि सारे यूरोप में थोड़े से आदमी बहुत ही अमीर हो गये हैं। इन्हें छोड़ शेष जनता अपना जीवन दरिद्रता से व्यतीत करती है। ये अमीर लोग अपनी थैलियों के बल पर गरीब श्रमजीवियों को बुरी तरह से सताते हैं। इन्होंने एक कृष्ण पट्टिका बनाई है जिसमें उन श्रमजीवियों का नाम लिख लिया जाता है जो इन अमीरों के विरुद्ध कुछ भी चूँचाँ करते हैं। इस कृष्ण पट्टिका को ये लोग अन्य अमीरों के पास भेज देते हैं जिससे ऐसे श्रमजीवियों को किसी भी कारखाना-घर में काम न मिले और वे भूखों मरें। राज्य ने कृष्ण पट्टिका रखने के विरुद्ध नियम भी बनाया है; परन्तु वह नियम कानून-पुस्तकों में ही पड़ा रहता है। यूरोप में अमीरों और गरीबों में क्या असमानता है इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। महाशय स्पार्जन तथा होम्स के अनुसार अमेरिका में धन की असमानता इस प्रकार है:—

(१)

	अमेरिका की कुल आबादी यदि १०० हो		अमेरिका की कुल सम्पत्ति यदि १०० हो
महाशय स्पार्जन	१·४	...	७०
के अनुसार,	९.०	...	१७
सन् १८८८	८९.४	...	१८

(२)

महाशय होम्स	.३	...	२०
के अनुसार	८.९७	...	५१
सन् १८९१	९१	...	२९

(३)

महाशय होम्स के अनुसार	२५	...	५०
सन् १९१०	५०	...	५०

(४)

महाशय होम्स के अनुसार	१००×[illegible]	...	[illegible]
सन् १९१०	१००×[illegible]	...	[illegible]

इसी प्रकार इंग्लैंड में भी धन की असमानता बहुत ही अधिक है—

(१)

[illegible] कुटुम्बों के पास = (६० लाख परिवार) ० जायदाद—

[illegible] ,,	} (२० लाख परिवार)	{	१००×[illegible] जायदाद
[illegible] ,,			१००×[illegible] जायदाद

(२)

संचित धन यदि १०० हो		जन-संख्या यदि १०० हो
८	...	९२
९२	...	७

(३)

सन् १९१०	५० लाख आदमी	जाति का आधा धन
में	३ करोड़ ५० लाख आदमी	जाति का आधा धन

इस ब्यौरे से स्पष्ट है कि यूरोप में धन की असमानता कितनी भयंकर है। भारत का तो लिखना ही क्या है? यहां तो यूरोपियनों की तुलना में सभी दरिद्र हैं। क्योंकि यूरोप के धनाढ्यों ने भारत का तन चूस लिया है। यहां तो दरिद्रता तथा दुर्भिक्ष के सिवा बच ही क्या गया है?

पहले दिखाया जा चुका है कि पूंजी और कारखानों का उदय अत्याचार तथा अन्याचार से भरा हुआ है। ताल्लुकेदार, ट्रस्ट तथा पूंजीपति आर्थिक संगठन की अपूर्णता के परिणाम हैं। इंग्लैण्ड में राजनीतिज्ञों ने धनाढ्यों की एक श्रेणी बनाई है। एक लार्ड के लड़के का लार्ड बनना कहां तक न्याययुक्त है? एक ताल्लुकेदार के लड़के का ताल्लुकेदार बनना कहां तक समाज के लिए श्रेयस्कर है? जायदाद का एक ही वंश के लोगों में चिरकाल तक जाना अन्य लोगों को उस जायदाद से वंचित रखना है। यह माना कि बहुतेरे लोगों ने धन को बड़े परिश्रम से जमा किया है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि धन को उत्तराधिकार के तौर पर वंशजों को देना समाज की शान्ति तथा सत्य को कहां तक स्थिर रख सकता है? यदि कोई मनुष्य बड़े कौशल से राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति को अपने हाथ में कर ले और इस प्रकार से खूब धनी बन जाय तो क्या उसका ऐसा करना किसी आधार पर न्याययुक्त ठहराया जा सकता है कि उसने यह धन अपने बड़े परिश्रम से प्राप्त किया है? यदि कोई परिश्रम से धन प्राप्त कर या डाका डालकर धन प्राप्त करे तो क्या उस प्रकार का धन न्यायपूर्वक प्राप्त हुआ कहा जा सकता है? सारांश यह है कि व्यापारपति, पूंजीपति आदि का धन परिश्रम के आधार पर कभी भी न्यायसंगत तथा उचित नहीं कहा जा सकता है। सब से बड़ी बात तो यह है कि परिश्रम किसी भी ऐसी बात का मापक नहीं बन सकता है। एक लुहार

तथा पूँजीपति में कौन ज्यादा परिश्रमी है ? यदि एक शारीरिक श्रम अधिक करता है तो दूसरा मानसिक श्रम । मानसिक श्रमवालों को ही क्यों अधिक धन मिले और शारीरिक श्रमवालों को क्यों नहीं ? मानसिक श्रम में भी अध्यापक तथा पूँजीपति में से किसको अधिक धन मिलना चाहिए ? अध्यापक का मानसिक श्रम पूँजीपतियों से किसी सीमा तक अधिक होता है । फिर क्यों अध्यापक दरिद्र हैं और पूँजीपति समृद्ध हैं ?

अध्यापकों की मासिक वृत्ति क्यों १००) है और पूँजीपतियों की १,००,०००) तक है ? हो सकता है कि हमारे बहुतसे मित्र पूँजीपतियों के मानसिक श्रम को अध्यापकों के श्रम से अधिक समझते हों ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि पूँजीपतियों का मानसिक श्रम अध्यापकों से क्या एक हजार गुणा अधिक है ? यदि यह नहीं, तो क्यों पूँजीपतियों को हजार गुणा अधिक धन मिले ? जो पूँजीपति अपने बाप-दादों के धन से किसी विदेशी कम्पनी के एजेन्ट बन गये हैं और इस प्रकार हर महीने लाखों रुपये कमाते हैं उनका इस प्रकार धन कमाना कहाँ तक न्याय-युक्त है ? बाप-दादों के धन से फिटिन तथा मोटरों पर सवार होना और दरिद्र मेहनतियों के साथ निर्दय व्यवहार करना कहाँ तक उचित है ? क्या इससे दरिद्र लोग सदा के लिए दरिद्र और अमीर सदा के लिए अमीर नहीं हो जाते हैं ? इस रुपये पैसे के जमाने में यह प्रायः होता है । जो परिवार एक बार दरिद्र हुआ उसको अनन्त काल तक समृद्ध बनने का अवसर नहीं मिलता । आज कल धन की राशि का मनुष्य के जीवन-निर्माण में बड़ा भारी भाग है । यह माना कि एक हजार रुपया कमाने वाले परिवार के जीवन की अपूर्णता में धनराशि का कुछ भी असर न हो; परन्तु पाँच रुपया महीना कमाने वाले परिवार की अपूर्णता में धनराशि का बहुत भारी भाग है । तीस या चालीस रुपये मासिक कमाने वाले परिवार को जो जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थ मिल सकते हैं वे पाँच रुपया मासिक कमाने वाले परिवार को कहाँ नसीब हैं ? परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि उन निर्धन मनुष्यों में पारिवारिक प्रेम, दया, दाक्षिण्य तथा ईश्वर-भक्ति का भी अभाव होता है । यही गुण हैं जो भयंकर आपत्तियों में भी उनकी टूटती नाव को पार लगाते हैं । यह सब होते हुए भी दरिद्रता उनके जीवन की उन्नति में बहुत ही अधिक रुकावटें डालती है यहाँ तक कि कभी कभी वह उनके इन उच्च गुणों पर भी परदा डाल देती है, उनको उस अल्प सुख से भी वंचित कर देती है । यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र के अछूतों को दूसरे सभ्य लोगों से मैत्री करने का और देश-व्यवहार तथा रहन-सहन की बारीकियों के जानने का कुछ भी अवसर नहीं मिलता है । पारिवारिक एकता तथा पारिवारिक सुख, धर्म तथा दया, दाक्षिण्य से भी उनको अन्त में हाथ धोना पड़ता है । उनकी शारीरिक, मानसिक, तथा नैतिक दुरवस्था का एक मुख्य कारण दरिद्रता होती है ।

इन अछूतों के सदृश ही प्रत्येक राष्ट्र में और भी बहुत से निर्धन पुरुष हैं जिनके पास पेटभर खाने के लिए अन्न, पहिनने के लिए कपड़ा, सोने के लिए बिस्तर और रहने के लिए मकान तक नहीं है । यही कारण है कि वे अपनी मानसिक उन्नति उस सीमा तक न कर सके जिस सीमा तक वे कर सकते थे । परन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि ऐसे लोग सदा ही रोगी तथा दुःखित नहीं रहते । वे भी भगवान की भक्ति में निमग्न होकर और रामनाम जपकर अमृत पान करते हैं । अपने साथियों से मिल कर वे भी सुख प्राप्त करते हैं और कभी कभी इन उच्च गुणों तथा सदाचारों के प्रभाव से उनका जीवन बहुत से धनाढ्यों से कहीं उन्नत तथा परिपूर्ण हो जाता है । यह होते हुए भी दरिद्रता उनके जीवन की उन्नति में बहुत ही अधिक काँटे बिछाती है । अधिक काम करने के कारण थकावट प्रायः इतनी अधिक बढ़ जाती है कि सारा शरीर टूटने लगता है, और सुख की नींद सोना मुशकिल हो जाता है । इस प्रकार उनका बचा-बचाया सुख भी मिट्टी हो जाता है । बीमारी आ पड़ने पर ये ही कष्ट उनके लिए प्राण-घातक हो जाते हैं । यद्यपि संतोष तथा धैर्य से बहुत से निर्धनी इन महा कष्टों तथा यातनाओं को भी सहन कर लेते हैं; परन्तु अनेकों के लिए ये ही कष्ट असह्य तथा दुःखदायी हो जाते हैं । काम से थके-माँदे तथा शिक्षा से वंचित, शरीर से जीर्णशीर्ण तथा चिन्ताग्रस्त, सुख तथा शान्ति से रहित, उन गरीब दुःखियों को अपनी शक्तियों से अच्छे से अच्छा काम लेने का कोई भी अवसर प्राप्त नहीं होता ।

समष्टि—वादियों को अनेक धन्यवाद है, क्योंकि उन्होंने ही सब से पहिले पहिल यह सोचना शुरू किया कि क्या समाज में गरीबों का होना आवश्यक है ? क्या ईश्वरीय नियम है कि बहुतसे लोग बालकपन से वृद्धावस्था तक टुकड़े टुकड़े के लिए तरसें और कुछ इने-गिने लोग करोड़ों रुपये भोगविलास में बरबाद करें और जीवन की पहली सीढ़ी से अन्तिम सीढ़ी तक स्वर्गीय सुख भोगें ? क्या तालुकेदारों के लड़कों का ताल्लुकेदार बनना ईश्वरीय नियम या हमारे राज्य-नियम का परिणाम है ? क्या ईश्वर ने ही यह नियम बनाया है कि भोग-विलास-प्रिय धनाढ्य लोगों के लिए समाज के अधिक लोग कठोर श्रम करें, अच्छे से अच्छा माल उत्पन्न करें और स्वयं फाँका करें या आधा पेट भोजन कर तन-

ध्यान मनमलीन हुए जीवन निर्वाह करें ? इस समय संसार के सन्मुख जो कुछ विकट समस्या है वह यही कि क्या कोई ऐसा उपाय भी हो सकता है जिससे किसी भी मनुष्य को जीवन में प्रवेश करने के लिए गरीबी का कष्ट न सहना पड़े और कारखानों में अधिक काम करके जीवन निर्वाह न करना पड़े ? अर्थात् उसको भी पढ़ने-लिखने तथा अपनी मानसिक उन्नति करने के लिए अमीर आदमियों के सदृश ही अवसर मिले । इसमें सन्देह नहीं कि बिना धन की समता के उपरिलिखित प्रश्न कभी हल नहीं किये जा सकते हैं । प्रत्येक मनुष्य के पास बराबर धन होना आवश्यक है । अमीरी तथा गरीबी ही समस्त बुराइयों की जड़ है ! क्योंकि जहाँ निर्धनी मेहनत से मरते हैं वहाँ अति धनी आलस्य से सड़ते हैं । निर्धनी कम खाने से बीमार पड़ते हैं तो अति धनी अधिक अजीर्ण से कष्ट भोगते हैं । एक केवल वस्त्रों से एक रोता है और शक्तिशाली की फिक्र से दूसरा । एकही मकान में सैकड़ों दरिद्र रहते हैं और इसलिए घबड़ाते हैं; परन्तु यूरोपीय धनी बहुत बड़े मकान में अकेले रहने के कारण कष्ट उठाते हैं । असमान धन-विभाग ने संसार के प्रत्येक देश में मनुष्यों के अन्दर उन दीवारों को खड़ा कर दिया है जिससे मनुष्य का आपस में स्वच्छन्द मिलना असम्भव बन गया है । संसार तथा समाज भिन्न दलों में बँट गया है । एक दल लड़ो और अन्धाधुन्ध का है, और दूसरा दल दरिद्र शक्तिहीन सहनशीलों का है । एक दल इंग्लैंड, फ्रान्स, अमेरिका आदि समृद्ध राज्यों का है और दूसरा दल भारत, मिश्र, इटली आदि शक्ति-हीन राज्यों का ।

एक ओर व्यवसायपति, ताल्लुकदार, पूँजीपति आदि का असहयोगियों से घोर संग्राम है, दूसरी ओर भारत में राजा और प्रजा का विरोध है । एक ओर विद्रोहियों का रूस के साथ झगड़ा है तो दूसरी ओर भारत में गरीब निःशस्त्र प्रजा पर बम फेंके जाते और गोलियाँ चलाई जाती हैं । सारांश यह है कि धन की असमानता ने संसार को असमान बना दिया है ! घर घर में, गाँव गाँव में, जाति जाति में फूट का बाजार गर्म है । अमीरों ने गरीबों का गला घोंट कर और यूरोपीय समाज की जाति तथा जातीयता की शराब पिला कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया है । अमेरिका जैसे प्रतिनिधिक राज्य में घूस का बाजार गर्म है । वोट दामों में बिकता है । राज-प्रतिनिधि अमीरों के कठ-पुतले हैं । जज के पद पर वे लोग शोभायमान हैं जिनको कि फाँसी पर चढ़ना चाहिए । धन के बल पर गरीबों की अबलाओं का सतीत्व नष्ट किया जाता है । रुपये की चाह में लोगों को सस्ते दामों पर मादक द्रव्य पिलाया जाता है । करोड़ों रुपयों के कारखाने जहरीले मादक द्रव्यों को बना रहे हैं और लोगों के स्वास्थ्य सदाचार तथा धर्म का सत्यानाश कर रहे हैं । अधिक क्या, इन्हीं मदान्ध राक्षस नरपिशाच अमीरों की खून की प्यास बुझाने के लिए और संसार की सम्पत्ति लूट लेने के लिए यूरोपीय राज्यों ने आपस में ईर्ष्या करना शुरू किया है । एक राज्य दूसरे राज्य के भय से अपनी नाविक शक्ति बढ़ाता है । इस पर दूसरा राज्य अपनी नाविक शक्ति दुगुनी करता है । अन्य राज्य भी देखादेखी इसी ओर पग बढ़ाते हैं । इंग्लैण्ड समुद्र का मालिक है, और भारत की संपत्ति पर पुष्ट हो रहा है । जर्मनी को यह सहन न हुआ । उसने भी समुद्र का मालिक बनना और भारत को लूटना चाहा । यूरोप में लुटेरों के दल बन गये । जर्मनी, आस्ट्रिया, बलगेरिया का गुट्ट बना । बेल्जियम इस झगड़े में मुफ्त ही पिसा । फ्रान्स ने गहरी चोट सही । इंग्लैण्ड ने साथ दिया । जापान के विरुद्ध इंग्लैण्ड को मित्र बनाने के लिए अमेरिका भी लड़ाई में कूद पड़ा, और चीन को खाने के लिए उसने नया रास्ता ढूँढ़ निकाला । इसका परिणाम यह हुआ कि रूस के दरिद्र किसानों ने अपने आपको ज़ार तथा नरपिशाच मदान्ध ताल्लुकेदारों तथा व्यवसायपतियों के पंजे से छुड़ाया और संसार के सामने खूनी राज्यों तथा खूनी अमीरों से पिंड छुड़ाने का उदाहरण उपस्थित किया । देखते ही देखते जर्मनी पिछड़ गया । रूस की स्वतन्त्रता नष्ट करने और गरीब किसानों को पुराने दुःखों में डालने के लिए शक्तिशाली राज्यों ने यत्न करना शुरू किया है । देखें क्या होता है ? इधर संसार में रूस तथा दरिद्रों का डंका बजता है अथवा मदान्ध ताल्लुकेदारों तथा व्यवसायपतियों के दास जापान को आजमा कर चीन को चबाते हैं और एशिया के पुराने आदमियों को रसातल पहुँचा अफ्रीका पर अमेरिका के सदृश अपने उपनिवेश बसाते हैं । देखें क्या होता है ?

इस समय अनुमान करना कठिन है कि इस सबका परिणाम भविष्यत में क्या होगा; परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इस धन की असमानता ने संसार को नरक बना दिया है । मूर्ख अमीरों ने अपने आपको उच्च समझ लिया है । रायबहादुर, रायसाहिब तथा राजा की उपाधि की प्राप्ति पर अमीरों का सर्वस्व है, यूरोपीय देशों में स्त्रियाँ गले में मोतियों का हार, बालों में मोती तथा कानों में लटकन लटकाने में अपना सम्मान समझती हैं । शराब, कबाब आदि पदार्थों का भोज्य देना ही मित्रों में सम्मान प्राप्त करने का साधन बन गया है । एक यूरोप निवासी ने अपनी कबर बनाने के लिए ३० लाख रुपयों की वसीयत की थी । जहाँगीर, शाहजहाँ आदि का भोग-विलास यूरोपीय धनाढ्यों का आदर्श बन गया है । फ्रान्स नगर में एक अमेरिकन ने १६ घोड़ों की

गाड़ी चलाई और यह इसलिए कि लोग वाह वाह करें। सड़क पर चलनेवालों को इससे विशेष कष्ट हुआ; परन्तु उसको तो अपनी शान की फ़िक्र थी। मार्गन नामी एक अमेरिकन धनाढ्य के पास एक तस्वीर है, जिसके तैयार करने में उसका १५ लाख रुपया खर्च हुआ है। उसके पास कुल मिला कर ६ करोड़ रुपयों की तस्वीरें हैं। एक और धनाढ्य ने अपने सोने के कमरे को बनाने में आठ लाख पाउन्ड अर्थात लगभग १ करोड़ रुपया खर्च किया है। एक दूसरे धनाढ्य ने अपने मकान के ऊपर चढ़ने की चालीस सीढ़ियों पर तीस हजार पाउन्ड अर्थात् तीन लाख रुपया खर्च किया है। यहाँ पर ही बस नहीं है। एक और महाशय हैं जिन्होंने एक करोड़ पचास लाख रुपयों के घोड़े अपने पास रखे हैं और इतना ही धन खर्च करके अपना महल बनाया है। उसने सात लाख पचास हजार पाउन्ड का एक बाग बनाया है जिसके बनाते समय एक पचास हजार पाउन्ड का मकान मिट्टी में मिला दिया गया। आज कल यूरोपीय धनाढ्यों का अभिमान यहाँतक पहुँचा है कि वह विदेश से वस्तुएँ मँगाते हैं जिससे वे अपने मित्रों से यह कह सकें कि उनके पास जापान, लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क आदि की बनी हुई चीजें विद्यमान हैं।

भारत में अवध के ताल्लुकेदार भी इसी प्रकार गरीब किसानों का रुपया मिट्टी में मिला रहे हैं। भूपालसिंह तथा सूरजबख्शसिंह के महल और भूपालसिंह के घोड़ों का शौक किसको भूला होगा। महाराजा पटियाला तथा महाराज कपूरथला का भोगविलास और श्रीमान रणजीतसिंह का क्रिकेट का शौक इस फ़िजूलखर्ची का और गरीब दरिद्र किसानों के पसीने से कमाये धन को पानी में मिलाने का दृष्टान्त है। सच तो यह है कि इन ताल्लुकेदारों तथा राजों को प्रजा से इसलिए धन नहीं मिलता कि वे अपने भोगविलास की इच्छा को पूरी करें। उनको जातीय संपत्ति से तथा प्रजा की आय से यदि कुछ मिलता है तो वह इसलिए कि वह प्रजा की उन्नति ही में खर्च किया जाय। यथार्थ बात तो यह है कि वर्तमान कालीन समाजसंगठन ही दोषपूर्ण है। जब तक यह फिर से न बदला जायगा तब तक पूँजीपति, ताल्लुकेदार, राजा महाराजों की संस्था का लोप न होगा और न व्यक्तियों को ही स्वतन्त्रता मिलेगी। गरीब दुःखियों के दुःख पूर्ववत बने रहेंगे, और बहुत सम्भव है कि और भी अधिक बढ़ जावें? समाज संशोधन तथा राज्य-परिवर्तन का आदर्श क्या हो? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यूरोप में साम्यवाद का उदय हुआ है।

चेतावनी।

(लेखक—साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

तब भला किस तरह बसेंगे हम।
जब कि होवे न देश ही बसता॥
तब हमारा गला फँसेगा ही।
जब कि है जाति का गला फँसता॥१॥

मौत का जो पयाम लाती है।
क्या न है आ रही वही खाँसी॥
जब गले फँस गये कुफंदे में।
क्या गले में न तब लगी फाँसी॥२॥

हैं बुरे फंदे बहुत फैले हुए।
जाल कितने बिछ गये हैं बरमला॥
बेतरह तुम आप भी फँस जावगे।
जाति का हो क्यों फँसा देते गला॥३॥

चाहिए कुछ दबंगपन रखना।
दब बहुत दाव में न आयें हम॥
बेसबब दबदबा गँवा अपना।
जाति का क्यों गला दबायें हम॥४॥

बाहरी जात-पाँत के पचड़े।
भीतरी छूत-छात की साधें॥
हैं हमें बाँध बेतरह देती।
क्यों उन्हें जाति के गले बाँधें॥५॥

धुन हमारी अलग रही बँधती।
एक ही राग कब हमें भाया॥
जाति-रँग में ढले पवों को भी।
कब गले से गला मिला गाया॥६॥

बात है यह बहुत बड़े दुख की।
हम अगर बेतरह कभी बढ़ दें॥
कूढ़पन बात बात में दिखला।
मूढ़पन जाति के गले मढ़ दें॥७॥

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व।

(लेखक—अध्यापक गंगाप्रसाद मेहता, एम. ए.)

जब पाश्चात्य विद्या का प्रचार भारत में होने लगा और कुछ भारतीय उस विद्या में निष्णात होने लगे तब देश में यह आवाज़ उठी कि पाश्चात्य विद्याओं का पठन-पाठन भारत के लिए श्रेयस्कर है, और इन्हीं में नवीन जीवन-ज्योति की झलक है। उस समय वही मनुष्य साक्षर समझा जाता था जो पाश्चात्य विद्या का प्रेमी था। एक सज्जन का कथन है कि संस्कृत-शिक्षा से आँखें बंद हो जाती हैं; किन्तु अङ्गरेज़ी शिक्षा से वे खुल जाती हैं। यह मत हमारी दृष्टि में उन्मत्त-प्रलाप से किसी भी अंश में कम नहीं। यह मनुष्य की प्रकृति का गुण है कि वह नई वस्तुओं के प्रलोभन में फँस कर अपने आपको भूल जाता है। पर कालक्रम से नई रोशनी की चकाचौंध से मुक्त हुए उसके नेत्र उस वस्तु के रूप को ठीक ठीक प्रकट कर देते हैं। ठीक ऐसा ही विचार-परिवर्तन संस्कृत-साहित्य के विषय में हुआ। आज कोई भी भारत-वासी बिना संस्कृत-विद्या के अध्ययन के सर्वाङ्ग सुन्दर शिक्षण पाने का दावा नहीं कर सकता। भारतवासी ही नहीं बल्कि किसी भी देश का पण्डित क्यों न हो वह यदि संस्कृत-विद्या से यत्किं-चित् परिचय न रखता हो, तो उसे मानव-इतिहास की एक बड़ी जाति के संचित ज्ञान-कोष का पता नहीं लग सकता। हमारे जातीय जीवन की जागृति के साथ साथ संस्कृत-विद्या का भी आदर दिन दिन बढ़ता ही जाता है।

जो साहित्य कल मृतकल्प समझा जाता था वह वस्तुतः आज सजीवता का केन्द्र और मानव-मस्तिष्क के विकास का शृंखलाबद्ध इतिहास माना जाता है। सच तो यह है कि आर्य-सभ्यता के प्रारम्भ से अद्यावधि पर्यन्त हमारी जाति ने ज्ञान, कर्म और उपासना के मार्ग में जो कुछ खोज की वह सब संस्कृत-साहित्य में विद्यमान है। संस्कृत भाषा में अनेक तरह के ऐहिक और पारलौकिक विषयों पर बहुत ही ऊँचा और अटूट साहित्य भरा पड़ा है। दर्शन-शास्त्र के अतिरिक्त इस साहित्य में व्यवहार-सम्बन्धी ज्ञान की इतनी शाखा-प्रशाखाएँ हैं कि उनकी संख्या-मात्र से हम अशंक हो यह कह सकते हैं कि १८ वें शतक तक संसार के सभी साहित्यों में संस्कृत-साहित्य शिरोमणि था और तदुपरान्त वह कुछ थोड़े ही अंशों में दूसरों से न्यून प्रतीत होता है।

अंगरेज़ी साहित्य का इतिहास लिखने का कारण बतलाते हुए फ्रान्स के एक बड़े पण्डित एम. टेन का कथन है कि मेरी दृष्टि इस साहित्य की ओर इसके आश्चर्यजनक अविच्छिन्न विकास के कारण आकर्षित हुई। यूरोप के अन्य साहित्य कुछ खण्डित और अंग-भंग हैं; परन्तु इंग्लैण्ड का साहित्य कवि चौसर से अद्यावधि अर्थात् पाँच शतक तक अखण्ड रूप से चला आता है। यदि पाँच शतक के साहित्य के अखण्ड विकास से टेन महाशय को आश्चर्य हुआ तो संस्कृत-साहित्य के न्यूनातिन्यून ४ सहस्र वर्ष के अविकल विकास की कथा सुनकर तो न जानें उनकी क्या अवस्था होती? मोक्षमूलर का कथन है कि बुद्ध-धर्म के उदय से गुप्त-साम्राज्य तक, सात सौ वर्ष के लिए, संस्कृत-विद्या लुप्तप्राय रही। उनका मत केवल

राजकीय शिला-लेखों के आधार पर स्थित है; क्योंकि इस युग के सब प्राकृत-भाषा में लिखे गये हैं। अन्य विद्वानों ने उनका मत स्वीकार नहीं किया; क्योंकि संस्कृत के परमोत्तम ग्रन्थों का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ जिसको मोक्षमूलर संस्कृतविद्या की सुषुप्ति दशा मानते थे। विक्रमाब्द के दो शतक पूर्व ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र के समय में महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य की रचना की, और उस सम्राट् के अश्वमेध यज्ञ में भाग लिया। इस वृत्तान्त के लगभग १५० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त के सचिव कौटिल्य ने अपना वृहत् अर्थ-शास्त्र लिखा। कौटिल्य के पूर्व कवीश्वर भास का जन्म हुआ था। कालिदास ने इनकी प्रतिभा की प्रशंसा की है और कौटिल्य ने इनके काव्य से अवतरण उद्धृत किये हैं। कोहल, शाण्डिल्य, वत्स धूर्तिल और भरत नाट्य-शास्त्र के बड़े रचयिता विक्रमाब्द से दो शतक पूर्व के हैं इसमें शंकालेश नहीं। महाराज कनिष्क के गुरु अश्वघोष, महायान ग्रन्थ के प्रवर्तक श्री नागार्जुन और उनके भिक्षुन-कीर्ति शिष्य और आर्यदेव और मैत्रेयनाथ ने विक्रमाब्द की प्रथम, द्वितीय और तृतीय शतकों को अपने जीवन से सुभूषित किया था। संस्कृत-विद्या का यह अविच्छिन्न विकास और भी आश्चर्यमय प्रतीत होता है जब हम भारत के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक कालचक्र की भीषण गति पर दृष्टि डालते हैं। जब इस विद्या की उन्नति एक प्रान्त में स्थगित होती थी तब दूसरे प्रान्तों में इसकी अभिवृद्धि होने लगती थी। जब उत्तर भारत में शत्रुओं का आक्रमण होता था तब इस विद्या का दीपक दक्षिण में जगमगा उठता था।

इस विद्या की ज्ञान-धारा का प्रवाह शान्त गम्भीर रूप से सदा लहराता रहा है यद्यपि भारत के जीवन पर अनेक बार प्रचण्ड संकट पड़े। उदाहरणार्थ ईसा की १३ वीं सदी में उत्तर भारत में मुसलमानों के प्रचण्ड आक्रमण हुए, और जब हिन्दू धर्म पर मानों महाप्रलय के बादल गरज रहे थे तब हमारी संस्कृत-विद्या ने दूसरे प्रान्तों की शरण ली। गुजरात और मालवा में जैन लोगों ने इस विद्या की उन्नति की और इसी युग में मैथिल ब्राह्मणों तथा माधव और रामानुज सम्प्रदाय के पण्डितों ने पूर्व, पश्चिम और दक्षिण देशों में संस्कृत-विद्या की उन्नति की। जब मुग़ल और पठानों का दौर-दौरा सारे देश में हो गया तो भी इस युग में, कर्णाट में माधवाचार्य, द्राविड़ देश में वेदान्त देशिक, मिथिला में चण्डेश्वर और उड़ीसा में अनेक पण्डितों का हमें पता लगता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी अलौकिक कवित्व-प्रतिभा से गंगा-लहरी की रचना की। यदि वे भारतीय सरस्वती के स्तव में एक सुन्दर लहर और रच देते तो भारत उनका बड़ा ही उपकार मानता। निःसन्देह हमारी गंगा और हमारी सरस्वती इन दोनों के मधुर रस से हमें जो आनन्द मिलता है वह कदाचित् मोक्ष की अवस्था में भी नहीं मिल सकता:—

> सुधातः स्वादीयः सलिलमिदमातृप्तिपिबताम् ।
> जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ॥

संस्कृत-साहित्य की रसमयता का अनुभव तो सहृदय मनुष्य ही कर सकते हैं। हमारा तात्पर्य तो इस विशाल अश्वत्थ वृक्ष की जिसपर से अनेक युग ढल गये, केवल शाखा-प्रशाखा-मात्र गिनने

की चेष्टा करना है। इस साहित्य से जन्म लेने वाली अनेक भाषाओं का विवरण देने का हम प्रयत्न न करेंगे। पाली, प्राकृत, दाक्षिणात्य, महाराष्ट्र, सौरसेनी, मागधी, जैन-प्राकृत तथा भारत की अर्वाचीन भाषाएँ हमारी इस मातृभाषा के ही दूध से परिपुष्ट हुई हैं। संस्कृत-साहित्य की ग्रन्थ राशि ग्रीक और लैटिन साहित्यों को मिला कर भी उनसे सौगुनी होगी। १८९१ ई० में थिओटर औफ्रेक्ट (Theodore Aufrecht) ने संस्कृत ग्रन्थों का एक महत्वशाली सूचीपत्र (Catalogus Catalogorum) रचा। इस वृहत् सूची में ४०००० संस्कृत-ग्रन्थों की संख्या मिलती है। परन्तु संस्कृत के ग्रन्थ इस संख्या से भी कहीं अधिक हैं। पुराने संस्कृत ग्रन्थों की खोज से नये नये ग्रन्थों का पता हमें अब भी मिलता रहता है।

इतिहास न लिखने का दोषारोपण संस्कृतज्ञों पर प्रायः किया जाता है, परन्तु संस्कृत के प्रभाव का इतिहास सारे पृथ्वीमण्डल पर बड़े स्थूल अक्षरों से लिखा है। पूर्वीय देश मानते हैं कि वे संस्कृत विद्या के शिष्य हैं, और पाश्चात्य देश इसका अध्ययन कर मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हैं और इसमें से उपयोगी तत्व ग्रहण कर लेते हैं। यह साहित्य मानसिक विकास का बहुत बड़ा साधन है। मनुष्य का मस्तिष्क बिना अत्याचार और रक्त बहाए किस प्रकार स्थायी दिग्विजय प्राप्त कर सकता है यह बात इस साहित्य के ही अध्ययन से ज्ञात होती है।

देश और काल के विस्तार की दृष्टि से, संस्कृत साहित्य-राशि के अविच्छिन्न विकास के विषय में हम ऊपर कह चुके हैं। अब हम इसके भिन्न भिन्न प्रकार के विषयों की अनुक्रमणिका देने का प्रयत्न करते हैं। संस्कृत में केवल हिन्दुओं का धार्म्मिक साहित्य ही है यह भ्रम-मूलक विचार बहुत दिनों तक यूरोप और भारतवर्ष में प्रचलित रहा; परन्तु ज्यों ज्यों संस्कृत साहित्य के ज्ञान-कोष से अनेक तरह के रत्न दृष्टिगोचर होने लगे, त्यों ही यह भ्रम दूर होने लगा। इसमें तो संदेह ही नहीं कि भारत के सारे धार्मिक जीवन का इतिहास इस साहित्य में विद्यमान है। हम तो पाठकों की दृष्टि इस साहित्य के व्यावहारिक विषयों की ओर खींचना चाहते हैं। व्यावहारिक विद्याओं में सबसे पहला स्थान हम अर्थ-शास्त्र को देते हैं; क्योंकि लोग यह मानते हैं कि यूरोपवालों ही ने आधुनिक समय में इस शास्त्र की रचना और उन्नति की है। यह तो सभी जानते हैं कि भारत में जीवन के चार पुरुषार्थ माने गए हैं, जिन्हें धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहते हैं। पहिले तीन पुरुषार्थ हमारे व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और पिछला परलोक से। इनमें से अर्थशास्त्र तो पूर्णरूप से व्यवहार से संबंध रखता है। इस शास्त्र की चर्चा महाभारत के शान्तिपर्व और सभापर्व में विस्तृत रूप से मिलती है। इस विषय पर ही चाणक्य ने विक्रमार्क से तीन शतक पूर्व एक वृहत् ग्रन्थ की रचना की थी जिसमें इस शास्त्र के दस भिन्न भिन्न पूर्वाचार्यों के विचारों का समावेश और उनकी आलोचना की गई है। अर्थ-शास्त्र, राजनीति, युद्ध-कला, सैनिक संगठन शासन-पद्धति, न्याय, आय-व्यय, व्यापार, उद्योग-धंधे, कला कौशल, खनिज-कर्म ये सभी

विषय इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में विद्यमान हैं। उसे यदि व्यवहारिक विद्या की खान कहें तो अत्युक्ति न होगी। कौटुम्बिक प्रबंध-विषयक कोई स्वतंत्र ग्रंथ हमें अबतक उपलब्ध नहीं हुआ, तथापि वात्सायन के कामसूत्र के चतुर्थ अध्याय में प्राचीन भारत की कौटुम्बिक व्यवस्था का बड़ा ही सुन्दर चित्र अंकित है। घर में भार्या के क्या कर्तव्य हैं, धान्यागार किस तरह रखना चाहिए, पाकशाला में किन नियमों का पालन करना उचित है, और भार्या का घर के दूसरे लोगों से कैसा व्यवहार होना चाहिए इत्यादि बातों की बड़ी ही सूक्ष्म चर्चा इस प्रकरण में मिलती है। कृषि-विद्या और उद्यान-विद्या की चर्चा संक्षेप में वाराहमिहिर की बृहत्संहिता में मिलती है। पशु-पालन-विद्या का भी पता चलता है। पालकाव्य 'हस्ति-शास्त्र' के और शालिहोत्र 'अश्व-शास्त्र' के रचयिता कहे जाते हैं। उनके ग्रंथों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वज बहुत अवधानपूर्वक इन पशुओं के स्वभाव, भोज्य, रोग, निदान, चिकित्सा आदि का अध्ययन करते थे। पाक-विद्या के ग्रंथ भी मौजूद हैं जिनमें शाक और मांस दोनों प्रकार के भोजनों के गुण-दोषों का विश्लेषण किया गया है। उनके पुष्टि-वर्धक तत्वों का भी भलीभाँति निरूपण इस शास्त्र में किया गया है। मनुष्य के साधारण से साधारण कार्य वैज्ञानिक शैली से होने चाहिए, यह आर्य-जाति की मानसिक प्रवृत्ति मानव-इतिहास के उदय से आजतक हमारे देखने में आती है। इसी प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि काल-क्रम से इन पूर्वोक्त विद्याओं का भारत में प्रादुर्भाव हुआ।

विज्ञान।

विज्ञान का बोध प्रत्यक्ष और परीक्षामूलक है। 'इंद्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'-अर्थात् इंद्रिय और वस्तु के सम्पर्क से उत्पन्न हुआ ज्ञान हमारे न्याय-शास्त्र में प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है। भारत में इस प्रत्यक्ष-मूलक ज्ञान की भी बड़ी खोज हुई। समस्त प्राचीन जातियों में हिन्दू-जाति ही गणित--शास्त्र में पारंगत थी। अंक-शास्त्र में दशमलव--पद्धति का आविष्कार यहीं हुआ। बीजगणित की भी कई महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ हिंदुओं को ज्ञात थीं। त्रिकोणमिति (Trigonometry) का भी यहाँ अध्ययन होता था। ज्यामिति (Geometry) और मापनविद्या (Mensuration) का भी सबसे पहले यहीं विकास हुआ। यज्ञ-वेदी के निर्माण की आवश्यकता से इन विद्याओं की उत्पत्ति हुई। यज्ञ के लिए ठीक मुहूर्त निश्चय करने की आवश्यकता से ज्योतिष के ज्ञान का विकास भारत में हुआ। यूनानियों के सम्पर्क से इस विद्या की यहाँ खूब उन्नति हुई। पृथ्वी गोल है और वह सूर्य के चारों ओर अन्य ग्रहों की भाँति भ्रमण करती है इत्यादि आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार हिन्दुओं ने पहले ही कर डाले थे। ज्योतिष-विज्ञान में उपयोगी बहुत से यंत्र उन्होंने बड़ी चतुराई से निर्माण किये थे। प्राचीन भारत में वैज्ञानिक प्रयोग--शालाएँ भी थीं जिनमें रसायन-शास्त्र का अध्ययन होता था। जंगल और पर्वतों की जड़ी-बूटियों के गुण-दोषों की परीक्षा इन प्रयोग--शालाओं में की जाती थी। हिमालय की गहन गुफाओं में से ओषधियाँ लाई जाती थीं और उनका परीक्षा--पूर्वक गुण--दोष

निरुपण किया जाता था। ओषधियों और रसों के ठीक ठीक संमिश्रण की प्रक्रिया को वे भली भाँति जानते थे। ये सब बातें बिना रासायनिक प्रयोग वा प्रक्रिया के हो नहीं सकती थीं। विक्रमाब्द के लगभग १,००० वर्ष पूर्व हिन्दू लोग मनुष्य के अंग प्रत्यंग की हड्डियों के स्थान, आकार और संख्या से भलीभाँति परिचित थे। अर्थात् वैदिक युग के ब्राह्मण–काल में शरीर–व्यवच्छेद विद्या (Anatomy) में हिन्दू अनभिज्ञ न थे। वे शल्यतन्त्र (Surgery) में बड़े ही निपुण थे। सैकड़ों तरह के तीक्ष्ण शस्त्रों के उपयोग का उल्लेख वैद्यक–शास्त्र के शल्य-तन्त्र-अध्याय में मिलता है। सब अवस्था के मनुष्यों के रोगों का निदान और चिकित्सा का हिन्दू वैद्यक में पूर्ण विवेचन किया गया है। डाक्टर प्रफुलचन्द्र राय महोदय ने अपनी दो पुस्तकों में हिन्दुओं के रसायन–शास्त्र के प्रगल्भ पाण्डित्य के प्रमाण दिये हैं। पारे (पारद) का जो जो उपयोग हम करते थे उनका इस विज्ञान–विशारद ने सविस्तर उल्लेख किया है। जिसने कणाद के वैशेषिक दर्शन का परिशीलन किया है वह जानता है कि भौतिक विज्ञान (Physics) में हिन्दुओं ने कहाँ तक अनुसन्धान किया था। इसके 'परमाणु-वाद, की चर्चा करते हुए डाक्टर ब्रजेन्द्रनाथ सील का कथन है कि दृष्टि–विद्या, ध्वनिविद्या और भौतिक विद्या के सिद्धान्तों के ज्ञान में हिन्दू यूरोपवालों से किसी भी प्रकार कम न थे।

यन्त्र–निर्माण–विद्या भी इस देश में बड़ी उन्नत अवस्था में थी। यन्त्रविद्या की आश्चर्यजनक उन्नति का उदाहरण चन्द्रकीर्ति ने आर्यदेव कृत चतुःशतिका की टीका में एक कहानी के रूप में दिया है। आर्यदेव विक्रम के तीसरे शताब्द और चन्द्रकीर्ति छठवें में हुए थे। जनश्रुति है कि एक पराशर अर्थात् यन्त्र-निर्माता ने एक बौद्ध-भिक्षु से वर्षा-ऋतु में अपने साथ रहने की प्रार्थना की। घर की दूसरी मञ्जिल में वह भिक्षु पराशर की शुश्रूषा से प्रसन्न हो वास करने लगा। वर्षा के उपरान्त जब भिक्षु विदा होने लगा तब पराशर ने उसे कुछ द्रव्य वेतन-रूप से भेंट किया। परन्तु उस भिक्षु ने उसे लेने से निषेध करते हुए यह कहा कि इस वेतन के योग्य मैंने कोई कार्य्य नहीं किया। परन्तु उस यन्त्रकार ने कहा कि तुम दूसरी मञ्जिल में विराजते थे और पहली मञ्जिल में मेरा यन्त्र रखा था जिसपर आपके शरीर के चलने, फिरने, बैठने के भार पड़ने से वह यन्त्र चलने लगता था। उसकी क्रिया से मुझे बहुत लाभ हुआ है और इस कारण आप इस वेतन को स्वीकार कीजिए। इस कहानी से ज्ञात होता है कि यन्त्र-विद्या यहाँ कितनी उन्नत अवस्था में थी।

ललित कलाएँ।

चौंसठ प्रकार की कलाओं का उल्लेख हमें मिलता है। इनमें प्रत्येक कला का साहित्य इस देश में मौजूद था। बहुतसी कलाओं का साहित्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया; परन्तु कुछ कलाओं का सविस्तर वर्णन अब भी मिलता है। उदाहरणार्थ, संगीत-कला का हमारे यहाँ बृहत् साहित्य है। शुक्र नीति के चतुर्थ अध्याय के तृतीय प्रकरण में इन ६४ कलाओं का वर्णन है। परन्तु कलाएँ इस संख्या से भी अधिक थीं; क्योंकि मनुष्य की भिन्न भिन्न क्रियाओं से ही भिन्न भिन्न कलाएँ हो

गई हैं। प्रसंग-वशात् हम यहाँ शुक्रनीति के कुछ अवतरण देते हैं :—

"हावभावादि संयुक्तं नर्तनं तु कला स्मृता।
अनेकवाद्यकरणे ज्ञानं तद्वादने कला ॥६१
मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसत्क्रिया।
पृथक् कलाचतुष्कं तु चित्राद्यालेखनं कला ॥८३
तडागवापीप्रासादसमभूमिक्रिया कला।
घट्याद्यनेकयन्त्राणां वाद्यानान्तु कृतिः कला॥
काचपात्रादिकरणविज्ञानन्तु कला स्मृता।
शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला।
नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग् लिखने कला॥
इत्यादि

अर्थात्, हावभाव से युक्त नृत्य भी एक कला है; भाँति भाँति के वाद्य बनाना और उन्हें बजाना भी एक कला है; मिट्टी, काठ, पत्थर और धातुओं की चीज़े बनाना, चित्र-लेखन, तड़ाग, बावड़ी, महल आदि निर्माण करना, घड़ी आदि अनेक यन्त्र बनाना, कांच के बर्तन आदि बनाना—ये सब कलाएँ हैं। बच्चों का पालना और खिलाना भी एक कला है। नाना देशों की वर्ण-लिपि सुन्दर रूप से लिखना भी एक कला है, इत्यादि।

वंग देश में शेरशाह के समकालीन भुवनानंद कवि कण्ठाभरण ने हिन्दुओं की अठारह विद्याओं का दिग्दर्शन एक वृहत् ग्रन्थ में कराते हुए एक अध्याय संगीत—कला के विषय में लिखा है, जिसमें संगीत—शास्त्र के अनेक रचयिताओं का उल्लेख प्राचीन काल से अपने समय तक का किया है।

कोहल ने अपने नाट्य शास्त्र में नृत्य-कला का निरूपण किया है। विक्रमाब्द से दो शताब्दि पूर्व इस नाट्य-शास्त्र की रचना हुई। कोहल का कथन है कि उनके पहले नाट्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदाय थे, जिनमें हरएक का सूत्र, भाष्य, वार्तिक, निरुक्त, संग्रह, कारिकाएँ जुदा जुदा थीं। कोहल के अलावा भरत का नाट्य-शास्त्र और भी प्राचीन है। नृत्य की शैली, रंगभूमि की तीन प्रकार की रचना, नाट्य-शास्त्र का इतिहास, नाट्य-जनित भाव, कथा-विन्यास (*Plot*), पात्रों के गुण, ग्रथित वस्तु का प्रभाव, संगीत, नाटकोचित छन्द इत्यादि सभी विषयों की कोहल ने सुन्दर विवेचना की है। नाट्य-कला के महत्त्व को वे भलीभाँति जानते थे। उनका मत है कि नाटक में बतलाये हुए भाव असंख्य प्रकार के होते हैं और जो जीवन के लिए उपयोगी हो वही नाटक उपयुक्त और मनोवेधक होता है।

यद्यपि चित्रण-कला का कोई भी ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हुआ, तथापि बाइस सौ वर्ष पुराने चित्र तो हमें प्राप्त हुए हैं। निज़ाम हैदराबाद के राज्य में अजन्ता की दुर्गम पर्वत-गुफा में पुराने सुन्दर चित्र मौजूद हैं। पुराने मंदिर, दीवाल और भूर्जपत्रों की हस्तलिखित पुस्तकों पर कई शताब्दियों की चित्रण-कला के नमूने अब भी मिलते हैं। कविवर कालिदास ने कुमारसंभव में इस कला के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विकसित यौवन की उपमा में किया है—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं
सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याः चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

भारत की निर्माण-कला ने तो सारे संसार को मुग्ध कर रखा है। इस कला के महत्व को दरशाने वाले भग्नावशेष भगवान् बुद्ध के समय से मिलते हैं। यद्यपि भारत के पश्चिमोत्तर भाग में ग्रीस देश की निर्माण-कला का हमारी कला पर कुछ असर अवश्य हुआ, तथापि कलाविशारदों का यह मत है कि भारत में ही निर्माण-कला के अनेक सम्प्रदायों का आविष्कार और विकास हुआ। इसमें भी सन्देह नहीं कि हमने विजातीय कला के आदर्शों को लेकर अपनी देशी कला की उन्नति की।

इतिहास।

संस्कृत-साहित्य के राज-प्रासाद की सुन्दर अट्टालिकाओं में इतिहास-विद्या का दीपक न होने के कारण घोर अन्धकार छाया हुआ है। क्या वह विद्या जिसे सब विद्याओं का दीपक कहना चाहिए—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व-कर्मणाम्,
आश्रयः सर्वधर्माणाम्' भारत

में न थी? जिस जाति ने अपने ही मस्तिष्क-बल से अनेक ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार किये, क्या उसमें इस विद्या का उदय न हुआ? इतिहास की अनभिज्ञता का लाञ्छन हमें अनुचित रूप से लगाया जाता है। भारत में इस विद्या की बड़ी ही आदरणीय पदवी थी। इसे पंचम वेद का गौरव प्राप्त था। महाभारत, रामायण और महापुराणों में राजाओं के वंश का वर्णन इतिहास नहीं तो और क्या हो सकता है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों शिला-लेखों में प्राचीन भारत की इतिहास-सामग्री मौजूद है। सातवें शतक में तो हमें इतिहास के रचित ग्रन्थ भी मिलते हैं जो समकालीन लेखकों ने निर्माण किये हैं। उत्तर भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का चरित्र महाकवि बाण की प्रौढ़ लेखनी से अंकित किया गया था। नवसाहसांकचरित्र, नवविक्रमांकचरित, रामचरित, और राजतरंगिणी ये सब ऐतिहासिक ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में मौजूद हैं। आजकल की भाँति प्रत्येक प्रान्त का सविस्तर भूगोल और इतिहास की रचना भी की जाती थी। भविष्य-पुराण का ब्रह्मखण्ड इसी प्रकार का ग्रन्थ है। इसे आजकल गेजेटियर (Gazetteer) कहते हैं।

दर्शन-शास्त्र

इस शास्त्र में तो हिन्दू-मस्तिष्क ने अतुल परिश्रम किया था। जिन विचारों का उदय उस गम्भीर तत्व-चिन्तन से हुआ उनकी समता अभी तक किसी साहित्य में नहीं है। १४ वें शतक में माधवाचार्य ने १६ दर्शनों का सार अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में किया। बौद्ध और शंकरदर्शन अतीव गम्भीर हैं। सारांश यह कि मानव-तत्व-चिन्तन के अखाड़े के हम ही जगत्प्रसिद्ध मल्ल-योद्धा हैं।

काव्य-नाटक।

काव्य-नाटक मनुष्य-जीवन के लिए कितने सुखप्रद हैं इसके कहने की अपेक्षा नहीं। हिन्दुओं ने अनेक प्रकार के काव्य रचे। रामायण, महाभारत और रघुवंश के तुल्य संसार में थोड़े ही महाकाव्य हैं। भास, कालिदास, भवभूति, बाण, बिल्हण और क्षेमेन्द्र ये संस्कृत-साहित्य के कवि-सम्राट् अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न थे। कोकिलकण्ठ

जयदेव की संगीत-ध्वनि हमारे कानों में अद्या-वधि गूँज रही है। सच तो यह है कि काव्य-नाटक हमारे साहित्य की अनमोल रत्न-राशि है।

हम इस लेख में इस विशाल-साहित्य की कुछ शाखा-प्रशाखाओं का ही दिग्दर्शन-मात्र करा सके। चोरी, शिकार, शतरंज का खेल, व्यायाम इत्यादि अनेक विषयों पर इस साहित्य में ग्रन्थ मिलते हैं। इन सबकी चर्चा करने से यह लेख बहुत विस्तृत हो जायगा। अतः सब बातों का निष्कर्ष यही है कि आर्य-जाति की अद्भुत प्रतिभा का प्रतिबिम्ब और विकास-क्रम संस्कृत-साहित्य में ही देखा जा सकता है। यदि भारत-भारती में संजीवनी-शक्ति न होती तो उसकी युगयुगान्तरव्यापी, सर्वांगीन उन्नति होना असंभव था। इस साहित्य के अनुशीलन करनेवालों का दृष्टि-क्षेत्र विस्तीर्ण और अन्तरात्मा कोमल होनी ही चाहिए। आर्य-धर्म से प्रतिपादित चारों पुरु-षार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस सरस्वती देवी की उपासना से सिद्ध हो सकते हैं। हम इस देव-वाणी की पुण्य पीयूषमयी कथा कहाँ तक कहें। हम भवभूति के उत्तररामचरित्र के ललितोद्‌गार द्वारा इस राज-विद्या के विषय में केवल यह कहा चाहते हैं:—

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा।
मांगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च ॥

आकुल की उपासना।

(लेखक—श्रीयुक्त "नवीन")

(१)

चाहे दुःखों की ये झाड़ियाँ
लगें,—लगें तो खेद नहीं।
इससे इस अस्तित्व-मात्र का
होगा यों विच्छेद नहीं॥
किन्तु अरे गोपाल! नेत्र जब
बरसें, तब हो बस यह ध्यान—
"इस अञ्जलि का मेरे मोहन
के चरणों पर हो अवसान"॥

(२)

राग-रंग की रम्य राजसी
रचना-रज्जु रिझाने को,
जाल बिछाए, तब निस्पृहता,
मेरी आन निभाने को,
कम्पित हो कह उठे—"सलोने!
"चने समर्पित मीठे हैं।
"किन्तु मुकुन्द, तुम्हारी भाभी
के तण्डुल से सीठे हैं"॥

(३)

चाहे यह नैराश्य-अग्नि नव-
जीवन-तरु झुलसा देवे;
किन्तु कन्हैया मेरा हियरा
यह विचार हुलसा देवे—
'इस नीरस पादप की डाली
पर मैं झूला डालूँगा।

"उसमें अपने चित्तचोर को,
दुलरा कर आराधूँगा" ॥

(४)

"बालदशामतिमुग्धे चोरित–
दुग्धे व्रजाङ्गनाभवनात्—
तदुपालम्भवचोभयविभ्रम–
नयने रतिर्मेऽस्त्वकस्मात् ।"
महद्भयावह कुपरिस्थिति में
रसना रटे यही रति-पाठ ।
माखन के लोभी ! बन जावे
यही मन्त्र जीवन का पाठ ॥

"सनेह-सागर" के कवि वर्मा हंसराज।

(लेखक—पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय)

कविवर वर्मा हंसराजजी को कोई बुन्देला वीर, पन्ना-निवासी सिद्ध करने के यत्न में है तो कोई प्रसिद्ध हिन्दी-कोविद उन्हें सागर के रत्न अथवा सी.पी के मोती मान रहे हैं। कोई नवयुवक हिन्दी-सेवी उन्हें मणिपुर के गौरव-मणि कह रहे हैं। ऐसी दशा में बिना कुछ लिखित एवं विश्वस्त प्रमाण के उनके जन्मस्थान का गौरव किस प्रदेश या अंचल विशेष को प्राप्त होगा, यह नहीं कहा जा सकता। पर कवियों को अपनाने की यह बात मानव–मात्र में देखी जाती है। महाकवि कालिदास को कोई उज्जैन के निवासी प्रमाणित करते हैं तो कोई बंगाल से उनका नाता जोड़ते हैं कोई उन्हें उत्कल-प्रदेश की कृती-सन्तान मानते हैं। पर वे कहाँ जन्मे थे इसे भगवान् ही जाने। महाकवि होमर के विषय में भी यह प्रसिद्ध है कि:—

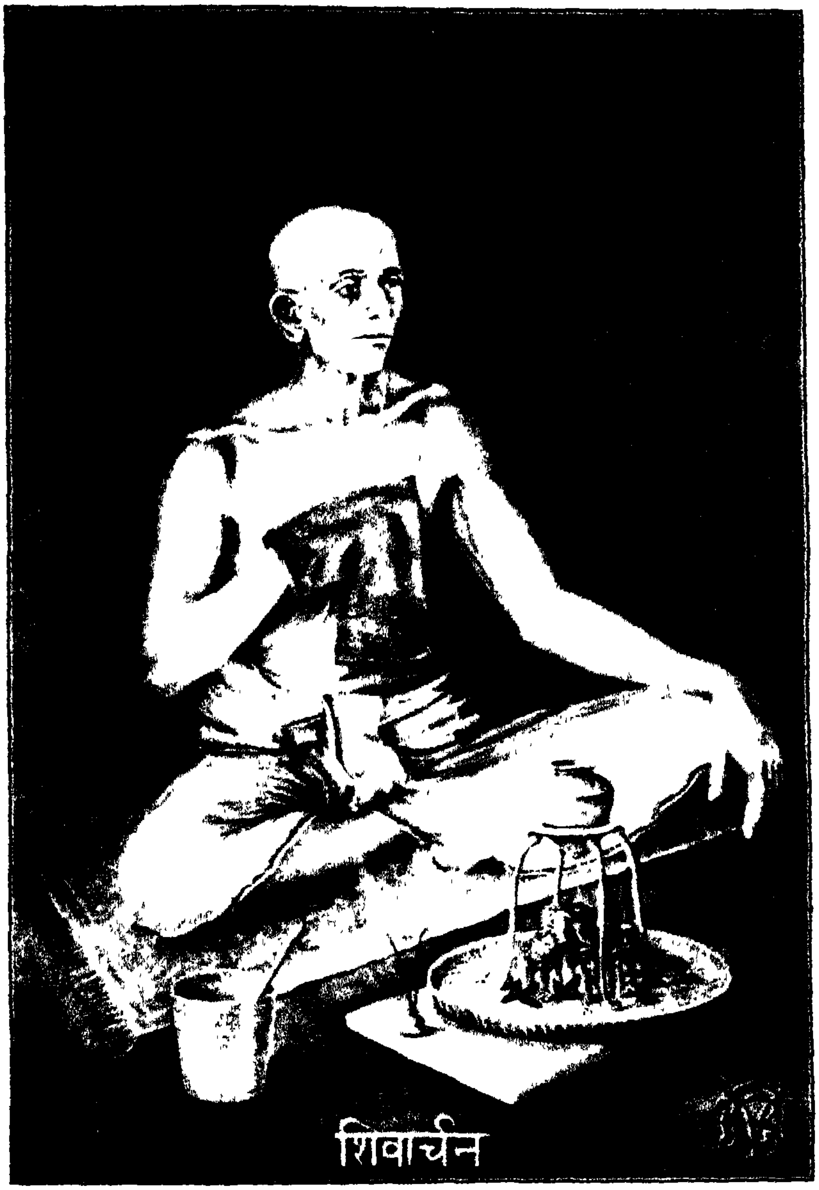
* Seven rival towns contend for
Homer dead,
Through which the living Homer
begged his bread.

कवियों का यह एक दोष ही माना जायगा कि वे लोग अपने अमर काव्यों में अपने जन्मस्थान तथा मातापिता के नाम आदि का उल्लेख करना अनुचित समझा करते थे। कदाचित् उस समय यह प्रथा ही न रही हो या उनकी 'प्रतिभा' उन्हें ऐसा न करने देकर भावी-सन्तानों में "खोज" और 'तर्क' की स्पृहा जान करके उन्हें ऐसे कवियों के काव्यों की आलोचना में प्रवृत्त रहने का अवसर दिया करती हो।

इस लेख के द्वारा यह जानने की चेष्टा की जायगी कि वर्मा हंसराजजी कहाँ हुए थे।

'सरस्वतीविलास प्रेस' नामक एक प्रेस नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) में है। यहाँ से हमारे पूज्य मातुल श्रीमान् पं० अनन्तराम पाण्डेय कृत 'ईशोपनिषद्' की टीका सन् १९०३ ई० में प्रकाशित हुई थी। सर्वप्रथम इसी टीका के अन्तिम पृष्ठ पर छपे हुए "सूचीपत्र" में हमें

* सातटी नगर मृत होमरेर जन्य दावी करे जीवित होमर येथा घूरे भिक्षा अन्न भिक्षा तरे (बंगला)



शिवार्चन

चित्रकार—
पं० गणेशराम मिश्र

'सनेह-सागर' का नाम देखने को मिला था। उसमें लिखा है:—

सनेह सागर अष्ट तरंग मूल्य ॥)

उस समय हमारा ध्यान इस ग्रन्थ की ओर गया न था; क्योंकि उसके साथ कवि का नाम न था। सन् १९१५ ई० के आरंभ में हमें मित्रवर श्रीयुत दीनानाथ जी दाऊ (रतनपुर-निवासी) के द्वारा कई एक हस्त-लिखित प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुए। हमने अपने एक लेख में, जो काशी के इन्दु पत्र में छप चुका है उन ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उन ग्रंथों में एक ग्रंथ "सनेहसागर" भी था। सनेहसागर की यह प्रति सं० १८५८ के साल की लिखी हुई है। यथा:—

"इति राधाकृष्ण के अस्नेह सागर के विलास कथा समाप्त संपूर्न सुभमस्तु सं० १८५८ के साल अगहन बदि ३ कहँ लिपे मरसींघ राइ बाबू रायपुर बैठे पुस्तक संपूर्न समात ॥ श्लोक

जले रक्षे तैल रक्षे रक्षामिथिल बंधनं

मूर्ख हस्ते न दातव्य येवं वदति पुस्तकं ॥"

हस्तलिखित पोथी बड़े आकार के ९८ पन्नों, अर्थात ९८×२=१९६ पृष्ठों में समाप्त हुई है।

उसमें कुल ९ तरंग हैं; यथा:—

(१) बालबिहार वृन्दावनगमन
(२) स्वप्नचित्रदर्शन
(३) श्रीकृष्णराधाप्रत्यक्षदर्शनवर्णन
(४) राधाकृष्णप्रेमविवाहवर्णन
(५) फागविलास
(६) युवती-विलास-विहार-वर्णन
(७) युगल स्वरूपदर्शन-अभिलाष
(८) कृष्ण सखी वेष मिलन वर्णन
(९) श्यामजी सखावेष।

प्रत्येक तरंग के अन्त में "बगसी हंसराज विरचितायां" इत्यादि लिखित है। ग्रन्थ उक्त दाऊजी के पास है।

'सनेहसागर' और उसके कवि के विषय में हमें एक सूचना हिन्दी के सुलेखक राजिम-निवासी पण्डित श्रीनीलमणि शर्माजी ने अपने ता: १४-१०-१९१५ के कार्ड द्वारा दी जो इस प्रकार है:—

'हंसराज बक्सी (सनेहसागर—प्रणेता) रतनपुर में हुवे थे न? किन्तु "मिश्रबन्धु विनोद" में उनका पन्ना-निवासी होना लिखा है। काशी की एक नवीन साहित्य-मण्डली द्वारा प्रकाशित 'सनेहसागर' में भी यही बात लिखी गयी है, आप इसका पूर्ण प्रतिवाद पत्रों में प्रकाशित कराइये।"

हमारे पत्र के उत्तर में उक्त पण्डित जी ता: २३-१०-१५ के कार्ड में लिखते हैं:—

××× हमारे यहाँ सरस्वतीविलास प्रेस का 'सनेहसागर' है, काशी की साहित्यमण्डली द्वारा प्रकाशित नहीं। अन्यथा हम आपको भेज देते। काशी की साहित्यमण्डली द्वारा प्रकाशित सनेह-सागर लक्ष्मीसंपादक लाला भगवानदीन जी, (C/o नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को लिखने से ॥) में मिल सकेगा। काशी से प्रकाशित साप्ताहिक 'हिन्दी केसरी' में उक्त पुस्तक की

आलोचना हुई थी। × × ×
"हंसराज बखसी कुल कायथ श्री मणिपुर के वासी"
इस पद्य से हंसराज का रतनपुर में होना प्रमाणित होता है।

पुनः ता: ६-११-१५ के पत्र में आपने लिख भेजा थाः—

हंसराज बख्शी कुल कायथ इत्यादि पद्यांश गया के किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित लेथो में छपी हुई 'सनेहसागर' की प्रति में हमने देखा था, उक्त अंश तथा सनेहसागर के अन्यान्य अंश हमारे पितामह के ज्येष्ठ बन्धु को कण्ठस्थ थे। वे सप्रेम 'सागर' की आवृत्ति किया करते थे। बखसी हंसराज जी के सम्बन्ध में बहुतसी बातें उन्हें मालूम थी, विगत वर्ष हमारे वे पितामह परलोक की यात्रा कर चुके हैं। विशेष दूसरे पत्र में।

दूसरे पत्र से:—

आप रतनपुर में अन्वेषण करें तो इस विषय में आपको अधिक तथ्य हस्तगत होंगे, कारण बख्सी जी को हुवे अभी अधिक दिन नहीं हुए। × प्रयाग के हि० सा० सम्मेलन में अग्निहोत्री (पं० गंगाप्रसाद) जी का जो लेख पढ़ा गया था उसके द्वारा भी हंसराज जी का रतनपुर में होना माना जा सकता है। × × × लाला भगवानदीनजी तथा मिश्रबंधु हंसराजजी छत्रपुर में हुवे उसका क्या प्रमाण रखते हैं?

हमने ता: २-११-१५ ई० को एक कार्ड "दीन" जी की सेवा में भेजा, उनसे हमने कई एक प्रश्न किये थे। खेद है कि उनके यहाँ से हमें उत्तर नहीं मिला। संभव है कि हमारा कार्ड उन्हें न मिला हो या कि उनका भेजा हुआ उत्तर ही मार्ग में कहीं खो गया हो।

हमने 'सनेहसागर' तथा 'खूबतमाशा' आदि के विषय में एक पत्र सरस्वतीविलास प्रेस के मालिक श्रीयुत नन्हेंलाल मुरलीधर जी को भी लिखा था। उनका उत्तर यह है:—

'खूबतमाशा' जो छपा है वह शुद्ध नहीं है। कोई ३० (तीस) वर्ष हुए एक लाला जी ने हमको लिखी हुई प्रति दी थी। पहले कभी नहीं छपी थी। यह गोपाल कवि बुंदेलखंड के थे पर उनकी जीवनी नहीं है। अब हस्त-लिखित प्रति नहीं है। दीमक खा गई।

सनेहसागर अष्ट तरंग इसी जिले (नरसिंहपुर] के एक लाला बकशी हंसराज ने बनाई थी। ये अच्छे कवि थे जो इसी जिले के सेंदूखेड़ा ग्राम के थे। किताब बुकपोस्ट से आपके पास भेजी है। (ता: १ ७-१५ के पत्र से)

इसे पढ़कर मैंने पुनः कई एक विषयों की जिज्ञासा की और यथोचित उत्तर द्वारा उक्त महोदय ने मुझे उपकृत किया।

सम्भव है कि गोपाल कवि रतनपुर में रहे हों; क्योंकि कवियों का एक प्रकार से उस समय पेशा ही हो गया था और पेट का पालन भी वे इसी की सहायता से करते थे और अब भी करते हैं। राजाओं में अब भी उनका बड़ा मान है।

माखन मिश्र (गोपाल कवि के पुत्र) का नाम भी मैंने कहीं कहीं की कविता में सुना है। इनकी फुटकर कविता कहीं कहीं देखी गई है। ग्रन्थों का पता नहीं।

'सनेहसागर' की जो प्रति हमें मिली थी, यद्यपि वह अब नहीं है, उसमें तरंगें सिर्फ आठ थीं। शायद कुछ तरंगें कापी करने वाले ने न की हों। आपके पास जो आदि तरंग है क्या उसकी कविता उसी अष्ट तरंग से मिलती है? यदि मिलती है तो और भी तरंगें रही होंगी; पर हमें नहीं मिली। बखसी हंसराज जाति के कायस्थ थे और वह इलाक जहाँ वे रहते थे पहले पन्ना के राजमें ही रहा था। जब छत्रसाल ने मरहठों को दे दिया तब अलग हुआ। राजा हृदयसाय यहाँ से २५ कोस पर हृदयनगर में जो उन्होंने बसाया था रहते थे। इससे संभव है कि यहां जरूर रहे होंगे। 'कृष्ण जी की पाती' भी मैंने कभी किसी के पास बहुत दिन हुए देखी थी। इन कवि की बनाई कई पुस्तकें हैं जो सब चौपैया छंदों में हैं। इस प्रकार की छोटी छोटी पुस्तकें इन्हीं कवियों की बनाई इस प्रदेश में प्रचलित थीं। जब सरकारी शिक्षाप्रबंध नहीं था तब सब लोग इनको मामूली पंडितों और पटवारियों से घर ही में पढ़ा करते थे; पर अब नामानिशान भी नहीं रहा। हमें भी आरम्भ में इन्हीं पुस्तकों को पढ़ने का शौक़ था; पर अब सब भूल गये, कौन कहाँ गई।

'सनेहसागर' जो छत्रपुर में है जिसमें ३०८ पृष्ठ आप लिखते हैं शायद बकसी जी की सबही पुस्तकें उसमें लगातार लिखी गई होंगी, कई पुस्तकें हैं जिनमें उसी प्रकार के चौपैया छंद हैं; पर लोगों ने अपने नाम बदल लिये होंगे इससे ठीक पता नहीं चलता—

'सनेहसागर' में छत्तीसगढ़ी शब्द* एक भी नहीं है, केवल बुंदेलखंडी और ब्रजभाषा के ही शब्द हैं। शायद कोई शब्द बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी भाषा में अब मिश्रित होगये होंगे, कारण कि अब छत्तीसगढ़ में बुंदेलखंडियों की वृद्धि हो रही है कोई सन ५७ के करीब से।

पं० नीलमणि शर्मा जी ता: ६-२-१६ के पत्र में लिखते हैं:—

"बकसी हंसराज के सम्बन्ध में रतनपुर से आपने कुछ पता लगाया क्या? हंसराज का पन्ना-निवासी होना नितान्त भ्रमपूर्ण है। दीनजी स्वयं बुंदेलखंडी हैं, अतएव बकसी महोदय को भी उन्होंने बुंदेलखण्डी बनाना चाहा है, यदि वे पूर्ण प्रमाण रखते हों तो बकसी जी के "विरह विलास" ग्रन्थ को वे सर्व साधारण के समीप शीघ्र उपस्थित करें। हमें विश्वास है कि बकसी जी बुन्देलखण्ड-निवासी न होकर प्रत्युत रतनपुर-निवासी हैं। 'गया' में लेथो-मुद्रित संस्करण की खोज में मैं हूं। सम्भवतः वह ग्रन्थ मिल जाय तो हमारे विश्वास की पुष्टि होगी।"

उन दिनों अपनी स्थिति की विषमतावशात: हम इस विषय पर कुछ न लिख सके। पीछे से हमने पं० नीलमणि शर्मा जी से प्रार्थना की थी कि वे ही कुछ लिखने की कृपा करें। पर उनके इस कार्य के करने में कुछ विलम्ब हुआ। इस बीच में शर्मा जी का युवावस्था में "इन्फ्लुएन्जा" से शरीरपात हो गया। हा! शोक!!

'श्रीशारदा' में श्रद्धेय श्रीयुत पं० रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी बी० ए० ने बकसी जी का उल्लेख अपने एक लेख में किया है। उसे देखकर हमने यह 'पचारा' लिख डाला है। श्रीयुत द्विवेदी जी के लेखानुसार हंसराज जी कृत

* यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि लेखक महाशय को छत्तीसगढ़ी भाषा से विशेष परिचय नहीं है।

"स्नेह-सागर" "गढ़ा" नामक प्राचीन नगर में जो जबलपुर से दो मील की दूरी पर है, लिखा गया था। द्विवेदी जी लिखते हैं—"गढ़ा के भी कायस्थ कानूनगो वंश से बक्सी जी का सघन सम्बन्ध था और आप बरसों यहाँ रहते और ग्रंथ तथा स्फुट कविता लिखा करते थे। आपकी जन्मभूमि कदाचित् पन्ना थी, पर आप यहाँ के निवासी हो गये थे और उपर्युक्त ग्रंथ भी आपने यहीं लिखा था। यह बात मैंने अपने पूज्य मातामह (पं० व्रजलाल जी मिश्र) के मुँह से कई बार सुनी थी। मिश्रजी भी कविता-प्रेमी थे, अतएव बक्सी जी के साथ आपकी घनिष्ठता थी।"

यदि कहीं गया में लेथो से छपी प्रति मिल जाती तो बड़ा काम होता। श्रीयुत 'दीन' महोदय जी से प्रार्थना है कि वे यह प्रकट कर देने की कृपा करें कि पन्ना वाली हस्तलिखित प्रति कब की लिखी हुई है।

रतनपुर में हमें पंडितवर रेवाराम बाबू श्रीवास्तव्य की जीवनी प्राप्त करने में जो कठिनाई हुई है उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि हंसराज कवि के विषय में वहाँ से कुछ पता लगना असम्भव सा है; क्योंकि उन्हें हुए बहुत दिन हो गए। रेवाराम बाबू तो अभी अभी ४०, ४५ वर्ष पूर्व हुए थे, तो भी उनके विषय में वहाँ वाले अनभिज्ञ से हैं। यदि कोई साहित्य-प्रेमी बक्सी जी के जन्मस्थान और निवासस्थान का निर्णय कर सकें, तो बड़ा उपकार हो।

स्मरण और भूल।

(लेखक—अध्यापक रामदास गौड़, एम॰ ए॰)

आपको बाल्यावस्था की याद कब से है यह प्रश्न जितने मनुष्यों से किया जाय उतने ही उत्तर मिलेंगे, क्योंकि कोई विशेष दिन या काल ऐसा नियमित नहीं है जब से सभी लोग एक ही तरह अपने बचपन की याद रक्खें। चार या पाँच बरस की उम्र में जो विशेष घटनाएँ हुई हैं उनको कुछ कुछ याद लोग रखते हैं और सहज ही बतला देते हैं। तीन बरस की अवस्था की घटनाएं कुछ ही लोगों को याद रहती हैं, और इस कम अवस्था का स्मरण आना अत्यन्त असाधारण बात है। तब भी प्रायः लोगों को कहते सुना है कि " जब से मैंने होश सँभाला, तब से मैं अमुक बात को इस प्रकार जानता हूँ " और इस होश सँभालने का अर्थ होता है, प्रायः सात से लेकर ग्यारह बारह बरस तक की अवस्था। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि होश, याद, स्मरण का आरंभ प्रायः भिन्न भिन्न वर्ष से होता है; परन्तु उनका " सँभालना " उनकी " रक्षा " सर्वसाधारण के मत से चार से लेकर आठ या नव बरस पीछे तक होने लगती है।

वैज्ञानिक या दार्शनिक दृष्टि से ठीक शब्दों के प्रयोग न करने से सर्वसाधारण के इस कथन में भूल मालूम होती है। इस पर प्रसंगतः विचार किया जायगा।

हमारी इन्द्रियाँ और मन बाहरी संसार के ज्ञान के द्वार हैं। कान भले ही सुनता हो, पर यदि "मन" उधर न हो, "ध्यान" किसी दूसरी ओर हो, तो सुनी बात भी अनसुनी हो जाती है, मतलब समझ में नहीं आता, उस सुनी हुई बात से सुनने वाला बेसुध रहता है। आँखें किसी पदार्थ पर लगी हुई हैं; निगाह डटी हुई है, दूसरे लोग समझते हैं कि देखनेवाला इस ओर से, इस ध्यान

से दृष्टि जमाए हुए है, न जाने क्या अनोखी बात देख रहा है, कोई नया दृश्य ज़रूर देखता होगा; पर इधर देखने वाला बिलकुल बेखबर है। उसे दृष्टिकेन्द्र का पता ही नहीं। उसकी आँख के परदे पर किसी वस्तु की बड़ी स्पष्ट तस्वीर खिंची, नक़्शा पूरा उतरा, आँखों ने अपनी चित्रकारी की सारी शक्ति लगा दी; परन्तु देखने वाला कहाँ है? उस भीतरी गुणग्राहक की निगाह तो इस चित्र पर है ही नहीं! वह तो कहीं और काम में लगा हुआ है! कान के परदे पर दूर की किसी सुपरिचित मनोहर शब्दावली की ध्वनि ने उसे अपनी तरफ़ ठीक उसी समय घसीट लिया जबकि वह अपनी आँख के कमरे को किसी पदार्थ पर लगा चुका था और लैन्स की टोपी खोल चुका था। इसीलिए इंद्रियों के साथ होना ज्ञान के लिए अनिवार्य्य है। मन सूक्ष्म है, बड़ा वेगवान है; परन्तु एक साथ कई इन्द्रियों में उसका रहना असंभव है। यह अपने यहाँ कणाद का मत है जिसके स्पष्ट उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं।

अचेत या बेसुध होने की दशा में इन्द्रियों के ठीक काम करते रहते, वा स्वस्थ तथा नीरोग रहते भी, बाह्य संसार का ज्ञान वा संज्ञा नहीं होती; इसीलिए "संज्ञाशून्यता" अचेत वा बेसुध दशा को कहते हैं। साथ ही, इन्द्रियों के अभाव वा अशक्यता में, चाहे कारण कुछ भी हो, मन के रहते हुए भी, चेतना वा सुधि के होते भी, बाह्य-ज्ञान का अभाव हो जाता है, वा उसमें कमी आ जाती है। नवजात बालक का ढाँचा तय्यार रहता है, विविध इन्द्रियों के सूक्ष्म अवयव बन चुके रहते हैं, परन्तु गर्भ की दशा में बने हुए अवयव बाहरी संसार के अनुभव से जबतक ठीक साँचे में नहीं आ जाते तब तक वह उन यंत्रों से भी गये बीते हैं जो ताज़े बनकर निकलते हैं; पर व्यवहार की कसौटी पर कसे नहीं गये हैं। यहाँ अशक्यता के कारण कई इन्द्रियाँ बाह्यानुभव अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। इसीलिए सुध या होश होते हुए भी बालक बेसुध सा ही रहता है। धीरे धीरे इन्द्रियाँ बाह्य संसार के अनुभवों के साँचे के अनुकूल हो जाती हैं। रसना, त्वचा, आँख, कान क्रमशः विकसित होकर अपने अपने व्यापार की ओर उन्नति करते हैं। तीन वर्ष की अवस्था होने पर बच्चा प्रायः सुगन्ध और दुर्गन्धि को समझ सकता है।

ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियों के समस्त व्यापार नाड़ियों के द्वारा होते हैं। ज्ञाननाड़ियाँ ही किसी अनुभव का चित्र मस्तिष्क में खींचती हैं। इसी चित्र के दुहराये जाने से अनुभव का प्रभाव गंभीर हो जाता है। बार बार के खिंचाव से उत्तरोत्तर गंभीर प्रभाव पड़ता है, नाड़ियों को विशेष प्रकार की लहरों में स्फुरण करने की टेव पड़ जाती है, यहाँ तक कि बिना बाहरी कारण के भी वही लहरें उत्पन्न हो सकती हैं। लाल रंग को देखकर, मीठे स्वाद को चखकर, माता के शब्द सुनकर, बच्चे को अपने बार बार के अनुभूत रंग, स्वाद और शब्द के नाड़ी-चित्र का अनुभव होता है, वह इन्हें पहचानता है। यही "स्मृति" है, "याद" है, "धारणा" है। ज्ञाननाड़ियों के सम्बन्ध में जिसे हम स्मृति कहते हैं कर्मनाड़ियों के सम्बन्ध में उसे ही हम "स्वभाव" वा "टेव" कहते हैं। प्रत्यक्ष है कि पहले बच्चा अपने मुँह तक चीज़ या चमचा ले जाने में कितना चूक जाता है, पर धीरे धीरे "स्वभाव" पड़ जाने से वह चूक होना असंभव हो जाता है। चलने-फिरने आदि सभी कर्म्मों में उसके अनुभव स्वभाव में परिणत हो जाते हैं। निदान, कर्म्म की दृष्टि से "स्वभाव" वा "आदत" की वही स्थिति है जो ज्ञान की दृष्टि से "स्मृति" वा "याद" की है।

जिस तरह के बारंबार के अनुभव से स्मृति-चित्र अधिकाधिक स्पष्ट और दृढ़ हो जाता है, स्व-भाव पक्का-पोढ़ा होता जाता है, उसी तरह अनुभव के न दुहराये जाने से, अथवा उसके नितान्त अभाव से धीरे धीरे स्मृति-चित्र अस्पष्ट होने लगता है, रेखाएँ मन्द पड़ती जाती हैं, तस्वीर

मिटती जाती है, स्वभाव बदलता जाता है। इसे हम कहते हैं "भूल" या "विस्मरण"।

इन्द्रियों का और मस्तिष्क का विकास जन्म के पहले से ही आरम्भ होता है। तीन वर्ष में सभी इन्द्रियाँ विकास के ऐसे दरजे में पहुँच जाती हैं जहाँ चित्र स्पष्ट बनने लगते हैं, नक़शे में रंगीनी आने लगती है। सात बरस की अवस्था तक मन चित्रकारी में पास हो जाता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विकास रुक जाता है। बस, इतना ही समझना चाहिए कि चित्रकार का हाथ अब काँपता नहीं, रंग भी हलका-गाढ़ा जहाँ जैसा चाहिए ठीक ठीक पड़ने लगता है। मन का दर्पण सीधा समतल ही नहीं हो जाता, साथ ही उस पर ऐसी पालिश आ जाती है कि सामने जो दृश्य आया चित्रित हो गया, साफ़ फ़ोटो उतर आयी। धारणा शक्ति ऐसी तीव्र हो गई कि जब चाहिए ज्यों की त्यों तस्वीर देख लीजिए। जितनी बातें देखी-पढ़ी-सुनी हैं और साथही दुहरायी भी हैं, सभी चित्रित हो जाती हैं। समतल शुद्ध दर्पण जिस तरह दृश्य को उसी के अनुरूप दिखाता है, न घटाता है न बढ़ाता है उसी तरह रटकर, याद करके, बालक ठीक ठीक दुहरा देता है, न घटाता है, न बढ़ाता है। अपने बयान में रंगीनी पैदा करना और नई बात गढ़ लेना अभी उसने नहीं सीखा है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि कल्पना शक्ति अभी आयी नहीं। मन अजेय है, बड़ा वेगवान है, जब से उसने चित्रकारी आरंभ की तब से, अभ्यास-काल में ही उसने सीधी की जगह टेढ़ी रेखाएँ खींचनी आरंभ की थीं। पहले दर्पण पर स्क़ल नहीं था, उसका चेहरा समतल नहीं था। असमतल दर्पणों की दिल्लगियाँ जिसने देखी हैं, लम्बे कद की गोल फुटबाल या चौड़ी चिपटीसी अनोखी तस्वीर अथवा किसी बच्चे को 'लम्बकनाथ' भीषणाकार दानव बनते जिसने नुमाइशों में देखा है, वह असमतल दर्पणों की करामात से अनभिज्ञ न होगा। नक़्शों की नयी तस्वीर पानेवाला यह बच्चा, अर्थात् मन, भाँति भाँति की रेखाएँ बनाता है और कल्पना के मैदानों में लम्बी दौड़ लगाता है, अपनी थोड़ी सी ही सामग्री को लेकर जोड़ तोड़ कर नये रूप रचता है, एकादि भेद और अंकपास के (Combination & Permutation के) संयोग और विभाग के नियमों के व्यवहार से थोड़े से अनुभव में भी असंख्य रूपों की कल्पना करने लगता है। यहीं बुद्धि के विकास का सूत्रपात होता है। चेतना-शक्ति अवस्तु और वस्तु में, काल्पनिक और वास्तविक में इसी अवसर पर अन्तर समझने लगती है। "बुद्धि" और "विवेक" का यहीं से विभाग खुलता है। जब समतल शुद्ध दर्पण का काम "स्मरण शक्ति" देने लगती है, उस समय "कल्पना," "बुद्धि" एवं "विवेक" का अभाव नहीं होता। सात बरस का बालक केवल रटकर सुना ही सकता हो, इतनी ही बात नहीं है, वह कल्पना बुद्धि और विवेक का परिचय भी दे सकता है। कहानियाँ, टूटी फूटी, बे सिर पैर की ही सही, गढ़ सकता है। भले बुरे की थोड़ी सी पहचान भी होती है। अक़ल भी दौड़ती है। "होश" सँभलना इस दशा को कहें तो अनुचित ही क्या है?

बालक के मानसिक इतिहास पर इस सरसरी विचार के बाद यह समझ लेना कठिन न होगा कि अचेत या बेसुध दशा एवं विस्मरण या भूल में क्या भेद है। मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, विवेक, कल्पना सबका एकमात्र सूत्रधार "चेतना" है, जो जाग्रत दशा में होश-हवाश, स्वप्नावस्था में स्वप्नसृष्टि का करनेवाला और गाढ़ी नींद में सुख का अनुभव करनेवाला समझा जाता है। कहने वाले गाढ़ी नींद में पड़े हुए या सपना देखते हुए मनुष्य को भी "अचेत" कह बैठते हैं। वस्तुतः "अचेत" होना उस दशा का नाम है जो इन सब दशाओं से भिन्न है। जिसमें सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता, जिसमें थोड़ी देर के लिए निरन्तर जागने वाली चेतना का काम भी रुक जाता है। शरीर के व्यापार चाहे चलते भी हों, परन्तु मन मौजूद नहीं कि उन व्यापारों का नोटिस ले, मस्तिष्क के परदों पर उन्हें स्थान दे। जब होश आया फिर शरीर के सभी व्यापार अंकित

होने लगे। पुराने चित्रों से भी काम लिया जाने लगा।

किसी पूर्व अनुभव का स्मरण से परदे से कम या अधिक मिट जाना या इच्छित समय पर उपस्थित न होना वस्तुतः "भूल" है जो सचेत दशा में नित्य होती रहती है। "भूल" के लिए अचेत होना आवश्यक नहीं है। "भूल" केवल स्मरण का अभाव है, मन कितना ही हाथपैर मारता है; पर कभी कभी कोई बात याद आती ही नहीं। 'अचेत' होना चेतना के मन, बुद्धि, विवेक, कल्पना आदि समस्त भीतरी या मानसिक व्यापारों का अभाव है, वहाँ मन ही नहीं तो याद करने की चर्चा ही क्या है। परन्तु कभी कभी यह भी देखा गया है कि लम्बी बेहोशी से होश में तो आया, परन्तु पिछली बातें एकदम भूल गया। एक मनुष्य गाड़ी से गिरा, सिर में चोट आयी। जब होश में आया तब अपना नाम पता, निवास-स्थान सब कुछ भूल गया था। स्वजनों ने धीरे धीरे ज्यों ज्यों भूली हुई बातों की याद दिलायी, याद आता गया; परन्तु कुछ बातें ऐसी भी निकलीं जो याद दिलाने पर भी याद न आयीं, सुझाने पर भी न सूझीं। अनुमान यही होता है कि मस्तिष्क में, जो कि नाड़ियों की चित्रशाला है, चोट लगने से तस्वीरें बिखर गईं, परन्तु उलट-पुलट गयीं, क्रम बिगड़ गया। ज्यों ज्यों बाहर से भीतरी क्रम सुधारने का सहारा मिला वहाँ तक सिलसिला मिल गया। परन्तु कहीं कहीं चोट के कारण नाड़ियाँ स्वयं निकम्मी हो गयीं या तस्वीरें मिट सी गयीं जिससे पूर्व स्मृति लौट न सकी।

यूरोपीय महायुद्ध में गोलों के फूटने से भी पास के योद्धाओं में से अनेक के यद्यपि शरीर को आघात नहीं पहुँचा तथापि उनके दिल पर ऐसा सदमा पहुँचा, उनके मन को ऐसी गहरी चोट लगी कि वे बेसुध हो गये; जब सुध आयी तो उन्हें पहले की अनेक बातें भूल गयीं—विशेषतः वह घटना तो एकदम याद न रही कि किस तरह गोला फूटा और बेहोशी के पहले क्या हो रहा था। यह धक्का वस्तुतः नाड़ीमंडल को पहुँचा था जिससे स्तब्धता आ गई थी। औषधोपचार से कोई फल न हुआ। जैसे हमारे देश में झाड़फूक द्वारा एक प्रकार की मानसिक चिकित्सा करते हैं, वैसे ही नई सभ्यता वाले वैज्ञानिक भी अब मानसिक चिकित्सा किया करते हैं जिसे "सैको अनालीसिस" (Psycho-analysis = मानसिक-विश्लेषण) कहते हैं, जिसमें सुलाकर या स्वप्नस्थित करके साधारण चिकित्सा करने (hypnotic treatment) की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इस चिकित्सा से इन नये युद्ध-रोगियों को बहुत लाभ पहुँचा है। पिछली बातें झट याद आ गयी हैं और भूल वाले रोग का अन्त हो गया है। साथ ही कोई कोई भूल बाकी भी रह गयी। रोगी के पूर्व इतिहास का पता लगाने से जान पड़ा कि उसको यह वातप्रकोप या मानसिक रोग होने के बर्षों पहले किसी विशेष कारण से विशेष भूल हो गयी थी। मानसिक चिकित्सा का कुछ प्रभाव इस दूरगामी भूल पर भी पड़ा है; परन्तु पूरा आरोग्यलाभ नहीं हुआ, कुछ कसर रह गयी। योषापस्मार रोग के अन्त में भी ऐसी भूलों के लक्षण देखे गये हैं और वहाँ मानसिक चिकित्सा से लाभ हुआ है।

पिछले उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मन की स्वस्थ और सचेत दशा स्मरण शक्ति की दशा है। स्मरण स्वास्थ्य है और भूल रोग है। स्मरण शरीर की साधारण क्रियाओं के बराबर ठीक ठीक होते रहने का लक्षण है और भूल एक प्रकार का मानसिक रोग है अथवा किसी बड़े और मुख्य मानसिक रोग का लक्षण है। स्मरण के विकास के लिए या स्मृति-शिक्षा के लिए अनेक विज्ञापन देखे जाते हैं, स्मरण शक्ति का दौर्बल्य किसी मानसिक रोग के "दौरात्म्य" का फल समझा जाता है। बात यहाँ तक ठीक है; परन्तु रोग है भूल और चिकित्सा उसके निवारण के लिए होनी चाहिए। पाश्चात्य मानसिक चिकित्सा की रीतियाँ बहुत कुछ सफल हुई हैं; परन्तु अभी तरक्की की बड़ी गुंजायश है, खोज का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

बम के गोले के फूटने से जो मानसिक धक्का लगता है वह ऐसी घटना है जिसका उल्लेख मस्तिष्क में बड़ी स्पष्टता से होना चाहिए, दिमाग़ पर यह बात अच्छी तरह नक्श हो जानी चाहिए। पर उस धक्के का असर यह होता है कि और नक़्शे भी मिट जाते या छिप जाते हैं, या बिगड़ जाते हैं। जितनी सर्दी-गर्मी हम सह सकते हैं उसी सीमा के भीतर हम यह जान सकते हैं कि सर्दी या गर्मी कल की या घंटे भर पहले की अपेक्षा कम है या अधिक। परन्तु इतनी ज्यादा सर्दी हो कि हाथपैर ठिठुर कर निष्प्राण से हो जायँ या गर्मी इतनी कड़ी हो कि त्वचा जल जाय तो कमी बेशी के निर्णय का साधन ही क्या रह जाएगा? क़लम तेज़ हो, स्याही भी तेज़ हो, लिखने वाले के क़ाबू में हो तो लिखने में बाधा ही क्या है? पर लेखनी ऐसी पैनी नोकदार हो कि काग़ज़ के भीतर घुसती जाय और स्याही फैलती जाय तो लिखना कैसे संभव है? हमारे दिमाग़ के पर्दे पर वही तस्वीर खिंच सकती है जो इंद्रियों की परिच्छिन्न शक्ति के भीतर ही भीतर के अनुभवों की हो। जहां हमारी इंद्रियों की शक्ति से और अनुभव से बाहर की घटना हुई जो चित्रपट को ही फाड़ कर चौपट कर डालती है तो चित्र खिंचवाई कैसे? यही बात है कि गोला फूटने से मन महानुभाव को वह धक्का लगा कि मदान बाहर हो गये, उनका कैमरा लुढ़क गया, सामग्री तितर-बितर हो गयी। कहाँ का कैमरा, कैसी तस्वीर, इधर जान के ही लाले पड़ रहे थे। यह कहिए, कुशल हुई, जान बची लाखों पाये!

डाक्टर रिवर्स * सरीखे सहज में आविष्कारकों में नाम लिखाने के इच्छुक इस भूल के आकस्मिक रोग का नया नामकरण करके यश लूटना चाहते हैं। वह इसे Repression "रिप्रेशन" या "दमन" कहते हैं। उनका कहना है कि यह शक्ति मस्तिष्क में प्राणी के भले के लिए हुआ करती है। मेंडक अपना जन्म, अपनी बाल्यावस्था, अपने शरीर के विकार सभी भूल जाया करता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने दुःख भूल जाया करता है और आगे के सुख के सपने देखा करता है। हमको इस तथ्य से इनकार नहीं: पर हम इस "दमन" नीति को इसीलिए पसन्द नहीं करते कि यह कोई नयी चीज़ नहीं, नया विचार नहीं। पुराने विचार, पुराने अनुभव, पुराने तथ्य को नये दर्ज़ी ने नये काट की पोशाक पहनायी है जो उसके बदन पर "फ़िट" नहीं होती।

हम प्रायः अपने परिचितों के रूप तो याद रखते हैं: पर नाम भूल जाते हैं। इसका कारण विशेषतया और स्पष्टतया यही है कि नाम की स्मृति कान और वाक् इन्द्रिय से सम्बद्ध है और रूप की स्मृति आंख से। आंख सभी इंद्रियों से अधिक नाड़ी-चित्र खींचने में समर्थ है। इसके उल्लेख अधिक टिकाऊ होते हैं। रूप भी अधिक देखने में आता है। परन्तु नामोच्चारण रूप—दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त कम होता है। इसीलिए नाम का न याद रहना अधिक संभाव्य है। मानसिक-विश्लेषण-शास्त्र वाले इन बातों पर विचार न करके कहते हैं कि जिस व्यक्ति के किसी गुण से या किसी अंश से भी द्वेष होता है, उसका नाम प्रायः भूल जाता है। परन्तु अनुभव यही बताता है कि राग और द्वेष दोनों ही स्मृति के सहायक हैं। भूल का कारण उदासीनता होती है।

देखने की अपेक्षा सुनने या पढ़ने से याद को कम मदद मिलती है। यह बात प्रायः अच्छी याद रह जाती है कि हमने अमुक घटना या तथ्य को अमुक पुस्तक के दहने या बाएँ पृष्ठ में पढ़ा है। कभी कभी देखने से ही पृष्ठ संख्या आदि तक याद हो जाती है। परन्तु सुनकर या रटकर याद करने के लिए दुहराने की आवश्यकता अधिक प्रतीत होती है। लेखक के एक बड़े विद्वान मित्र

---

* लंदन के Discovery नामक पत्र में डाक्टर रिवर्स का लेख इसी दमन-सिद्धान्त पर Lapsed Memories के नाम से निकला है। इस लेख के अनेक अंश में प्रसंगतः उक्त अंग्रेज़ी लेख का एक प्रकार से खण्डन है। ले०

हैं जिनकी स्मरण शक्ति अपूर्व है। परन्तु देखकर याद रखना उन्हें सुनकर याद रखने की अपेक्षा अधिक सुगम होता है। किसी बालक को १०० श्लोक याद करके एक दिन में सुनाने को कहिए तो १० घंटे में ३० बार दुहराकर भी वह कंठ न कर सकेगा; परन्तु नित्य एकबार पाठ करते हुए एक मास में वह बिना प्रयास ही उन्हें कंठ पायेगा। चित्र के बनने में कुछ देर लगती है। यदि समय यथेष्ट दे देकर बार बार उसी पर क़लम फेरने दी जाय तो अन्त में बहुत ही स्पष्ट चित्र बन जाता है। हमने अभी कोई राग सुना, तत्काल उसे दुहरा भी लिया। परन्तु थोड़ी ही देर बाद दुहराने को कहा जाय तो हम भूल जायँगे। परन्तु वह राग आप से आप कभी कभी कानों में गूँज सा जाता है, मानों मनरूपी गवैया कभी कभी गा गाकर गाने का अभ्यास करने लगता है। महीनों पीछे वही राग हम दुहरा भी सकते हैं, और ठीक ठीक दुहरा लेते हैं।

हमने अबतक जिस भूलपर विचार किया है वह दो प्रकार की हो सकती है—एक तो सदैव के लिए भूल जाना, और दूसरे, किसी समय भूल जाना, परन्तु फिर याद आ जाना। हम यह विचार कर चुके हैं कि विचार का सिलसिला बिगड़ जाने से, चित्रों के क्रम में भेद पड़ जाने से, कोई बात उपस्थित नहीं होती तो हम कहते हैं "अभी अभी ज़बान पर ही था, अभी भूल गया हूँ" और वही बात कभी और बातों के सोचते विचारते हुए जब कि उसका कोई भी प्रसंग नहीं होता एकाएकी याद आ जाती है, मानो हम और चीज़ें लौटपौट रहे थे, एकाएकी इस उलट-पुलट में वे चीज़ें भी सामने आ गयीं जिनकी खोज थी। एकदम भूल जाना तो चित्र का मिट जाना है जो मनुष्य के जीवन-विकास का इसलिए आवश्यक अंग है कि उसके पास परदे भी इने-गिने हैं, यदि अनावश्यक चित्रों से भरे रहे तो आवश्यक चित्रों के लिए जगह न रह जाय। हमारा जीवन किसी विशेष ईश्वरीय उद्देश्य के पूर्ण होने के लिए है, हमको कोई काम सौंपा हुआ है, उसके लिए ही सारी सामग्री है। अगर वैज्ञानिकों के मत से अपना विकास ही जीवन का उद्देश्य समझ लें तो भी यह मानना पड़ेगा कि जो कुछ घटनाएँ होती हैं उन सबसे विकास में सहायता मिलती है, चित्र हम इसीलिए मस्तिष्क के परदे पर उतारते हैं कि उन चित्रों का सार वा तत्व लेकर हम अपने चरित्र में परिणत कर लें। हमारा अनुभव जहाँ चरित्र का अंश बन गया, चित्र का काम पूरा हो गया। कोई घटना हमारे सामने हुई जिसमें धार्मिक के सत्य की जीत हुई, इस घटना का चित्र हमारे परदे पर अंकित हुआ, परन्तु यदि हम सत्य को अपने चरित्र का अंग बना लें तो उस घटना को स्मरण रखने की आवश्यकता हमारे जीवन के लिए नहीं रह गयी। अब ऐसे चित्र मिटा कर साफ़ स्लेट पर दूसरी रेखाएँ खिचें तो स्लेट की उपयोगिता अधिक होगी। हिन्दू दार्शनिक बड़ी ख़ूबी के साथ इसी सिद्धान्त को बड़ा ही शान्ति-प्रद रूप दे देते हैं। बहुतों का विश्वास है कि जब मनुष्य अपने पुराने शरीरों को छोड़ कर नया शरीर धारण करता है, पुराने शरीर की अनुभूत घटनाएँ उसे याद नहीं रह सकतीं, परन्तु उन घटनाओं का अन्तिम परिणाम, निष्कर्ष वा सार आत्मा के साथ कारण-शरीर में मौजूद रहता है और नये शरीर के विकास में सहायक होता है। और, यह बात वैज्ञानिक रीति से असंभव नहीं है, युक्तिसंगत है, और स्मरण शक्ति की आध्यात्मिक उपयोगिता और अभीष्ट का पता देती है। इसी बात को हिन्दू जनता एवं दार्शनिक पूर्व जन्म का संस्कार कहते हैं।

उन्नीस बरस हुए लेखक ने स्थानीय रणबीर संस्कृत पाठशाला में एक सत्तर बरस के बूढ़े विद्यार्थी को संस्कृत व्याकरण पढ़ते देखा था। यह पूछने पर कि वेदान्त पढ़ने की अवस्था में व्याकरण पढ़ने से क्या विशेष प्रयोजन है विद्यार्थी ने क्या ही उचित उत्तर दिया "व्याकरण बिना वेदान्त कैसे पढ़ूँगा और यदि यह कहो कि तब तक तो मैं चल बसूँगा, तो मैं पढ़ी हुई विद्या को नष्ट होना नहीं मानता, मुझे विश्वास है कि अगले जन्म में जितना व्याकरण पढ़ गया हूँ सहज ही दुहरा

जाऊँगा और आगे पढ़ने में बड़ा सुभीता होगा।" हमारे दार्शनिक कहते भी हैं कि स्थूल और सूक्ष्म देहों के अनुभव "बीज"-रूप से कारण-शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और दूसरे जन्म में संस्काररूप से उनका उदय होता है। शिक्षा का परम उद्देश्य है इसी बीज को उगाना, इसी छिपी शक्ति को बाहर खींच लाना, इसी संस्कार को जागृत करना। अंग्रेज़ी शब्द "एजुकेशन" का भी ऐसा ही निर्वचन है।

इस विषय पर हमने यहां तक जितना विचार किया है उससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि शिक्षकपर कितनी भारी जिम्मेदारी है। बालक की स्मरणशक्ति का हम जितना ही दुरुपयोग करते हैं उतना ही हम राष्ट्र की और व्यक्ति की हानि करते हैं, अमानत में ख़यानत करते हैं और अपने ईश्वर के सामने दोषी ठहरते है। स्कूलों में आज कल कितने ही बच्चों के लिए कितनी ही अनुपयोगी बातें व्यर्थ सिखाई जाती हैं, कितना ही परिश्रम उनसे व्यर्थ कराया जाता है, एक ही साँचे में सबको ढालने की कोशिश की जाती है, एक ही लाठी से सब हांके जाते हैं। उनके लिए अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी बातें शिक्षाक्रम से छोड़ दी जाती हैं। साथ ही यह भारी जबरदस्ती, कड़ी शर्त लगाई जाती है कि पढ़ो तो सब कुछ अंग्रेजी द्वारा पढ़ो, जिससे बेचारे कोमल बालक के मस्तिष्क की और भी कपालक्रिया हो जाती है। शिक्षक और मातापिता पर यह भारी दायित्व है कि बालक की रत्ती रत्ती भर शक्ति का अपव्यय न होने पावे, नहीं तो परमात्मा राष्ट्र को "कोरट" (Court of Wards) के ही अधिकार में रखेगा जैसी कि भारत की वर्तमान दशा है।

मैं और तुम।

(लेखक--श्रीपाल)

यह ठिठक अठेली चंचल थी,
ज्यों प्रीति लाज में घुली हुई।
थी हँसी रसीले ओठों की,
नवरूप-सुधा से धुली हुई॥
वह अजब छबीली चितवन थी,
था तरल वेग, पर तुली हुई।
उन घनी लचीली पलकों में,
कुछ छिपी हुई, कुछ खुली हुई॥
है याद मुझे, मैं चौंक पड़ा,
बज उठी हृदय की बाँसुरिया।
वह दृष्टि तुम्हारी गाती थी,
"मैं राधा हूँ, तुम साँवरिया॥"
थे शब्द कहाँ? पद-वाक्य कहाँ?
बस भाव सुनाई देता था।
था राग अहा अनुराग बना,
साकार दिखाई देता था॥
पूर्णेन्दु उगा, नव पुष्प खिले,
हाँ, लगी कुहकने कोइलिया।
यों पूजा का सामान जुटा,
मैं राधा था तुम साँवलिया॥
दो एक हुए, स्वच्छन्द बने,
मिल गई राह आज़ादी की।
जग-मंदिर मंजुल गूँज उठा,
सुन पड़ी बधाई शादी की॥
आलोक हुआ, भ्रम लोप हुआ,
क्या दीख पड़ा! मैं था तुम थीं।
मैं विश्व बना तुम विश्वात्मा,
मैं तुममें था, तुम मुझमें थीं॥

ब्रिटिश पार्लमेण्ट ।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी. ए., एल. एल बी.)

संसार के भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीतियों से राज्य-कार्य चलाया जाता है। परन्तु हम उन सबको यदि स्थूल दृष्टि से देखें तो वे तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। एक जिसमें राजा को ही समस्त अधिकार प्राप्त हैं वह **अनियन्त्रित शासन** कहाता है। दूसरा वह जिसमें राजा को प्रजा के इच्छानुसार चलना पड़ता है; उसको प्रजा की इच्छा के विरुद्ध किसी भी काम को करने का अधिकार नहीं रहता। उसे **नियन्त्रित शासन** कहते हैं। तीसरा वह जहाँ राजा के बिना प्रजा स्वयं अपना राज्य-कार्य चलाती है। ब्रिटिश राज्य का शासन नियन्त्रित शासन है। इंग्लैंड का राजा प्रजा के मत को अपने पक्ष में लिये बिना राजनैतिक पथ पर एक क़दम नहीं रख सकता—वह न आगे बढ़ सकता और न पीछे। राजा की शक्ति का नियन्त्रण प्रजा जिस तन्त्र द्वारा करती है वह पार्लमेण्ट है। अथवा यों कहिए कि इंग्लैंड में न तो राजा राज्य करता और न पार्लमेण्ट द्वारा केवल प्रजा; किन्तु दोनों मिलकर राज्य-कार्य चलाते हैं। इस लेख का उद्देश्य इसी महती संस्था, पार्लमेण्ट, का दिग्दर्शन कराना है।

संक्षिप्त इतिहास।

इंग्लैंड का इतिहास इस बात को स्पष्टतया बतलाता है कि प्राचीन काल में इंग्लैंड के राजा स्वेच्छाचारी शासन करते रहे। परन्तु उन दिनों भी राजा को क़ानून बनाने तथा अन्य कठिन गम्भीर और जटिल प्रश्नों को हल करने में प्रजा की सम्मति की आवश्यकता पड़ती थी। सैक्सन जाति के इंग्लैंड के राजा लोग सम्मति के लिए केवल कुछ ऐसे बुद्धिमान् लोगों को बुलाया करते थे जो उनके विश्वासपात्र होते थे। इन बुद्धिमानों की सभा को 'वाइटनेज मोट' (Witnagemot) नाम दिया गया। इतिहासाचार्य्य मेटलेंड कहते हैं कि पहले इस सभा में बहुत थोड़े लोग आते थे और उनको भी बुलाना या न बुलाना राजा की इच्छा पर रहता था। परन्तु धीरे धीरे इस सभा को बुलाने की प्रथा पड़ गई। कालान्तर में राजा क़ानून बनाने, कर लगाने आदि कामों में इसकी सम्मति लेने लगा। फिर नारमन-विजय के पश्चात् राजा इस 'वाइटनेज मोट' की सम्मति के बिना न कोई क़ानून बनाता और न कर ही लगाता था।

इंग्लैंड के सिंहासन पर विजयी विलियम के आरूढ़ होने पर अँगरेज़ी संस्थाओं में बड़ा परिवर्तन हुआ; क्योंकि नारमन राजा स्वेच्छाचारी थे। वे शासन-संबंधी किसी भी नियम से बद्ध होकर नहीं रहना चाहते थे। परन्तु फिर भी बुद्धिमानी और राजनीति ने कम से कम दिखावे के लिए इस सभा को रहने देने के लिए उन्हें बाध्य किया। नारमन राजाओं के समय में 'वाइटनेज मोट' का नाम 'बड़ी सभा' (Great council) रखा गया। नारमन की दृष्टि से यह सभा राज्य की प्रधान प्रजा की प्रतिमूर्ति थी। परन्तु धीरे धीरे अनुकूल समय और परिस्थितियों के उपस्थित होते रहने के कारण इस सभा के अधिकारों की वृद्धि होती गई। १२५४

ईस्वी में तीसरे हेनरी को धन की बड़ी आवश्यकता हुई। इस कारण उसने इस सभा में सम्मिलित होने को प्रत्येक कौंटी † से प्रतिनिधि बुलाये। इसके पश्चात् १२६५ ई० में साइमनडी माण्टफर्ड (Simon de montford) ने प्रतिनिधियों की संख्या और भी बढ़ा दी। 'बड़ी सभा' के लिए उसी समय से पार्लमेण्ट शब्द का व्यवहार किया जाने लगा। इसके पश्चात् प्रथम एडवर्ड ने सभा के कई सम्मेलन किये जिनको निश्चित रूप से पार्लमेण्ट नाम दिया गया। १२९५ ई० में जो 'आदर्श पार्लमेण्ट' (Model Parliament) बुलाई गई उसने भविष्य के लिए पार्लमेण्ट का रूप निश्चित और स्थिर कर दिया।

दो भवन।

'आदर्श पार्लमेण्ट' में एडवर्ड ने दो प्रधान लाट पादरियों को, समस्त लाट पादरियों तथा बड़े बड़े महन्तों को, सात अर्ल ‡ और ४१ बैरनों को पार्लमेण्ट में उपस्थित होने के लिए पृथक पृथक निमन्त्रणपत्र भेजे। प्रत्येक शेरिफ को अपने अपने शायर से दो नाइट, प्रत्येक नगर से दो नागरिक, और प्रत्येक बरो ¶ को दो बरजेस प्रतिनिधि भेजने की आज्ञा दी। प्रधान लाट पादरियों (Arch Bishops) तथा लाट पादरियों (Bishops) को अपने साथ अन्य पादरियों को लाने का भी अधिकार दिया। उस समय इंगलैंड में तीन श्रेणी के लोग थे—पादरी, धनाढ्य और साधारण। एडवर्ड ने इन सब श्रेणियों से प्रतिनिधि बुलवाकर अपनी पार्लमेण्ट का संगठन करना चाहा। श्रेणियों के अनुसार पार्लमेण्ट के तीन खण्ड हो गये होते। परन्तु तीन न होकर वे दो ही हुए। ऐसा होने का कारण यह था कि समस्त पादरियों ने पार्लमेण्ट में जाना अस्वीकार किया। वे अपनी सभाएँ अलग ही बनाकर राजा को सहायता देने के विषय में विचार करने लगे। परन्तु प्रधान लाट पादरियों, लाट पादरियों और बड़े बड़े महन्तों ने पार्लमेण्ट में जाना उचित समझा। क्योंकि वे केवल पादरी ही नहीं थे। वे बड़ी बड़ी स्टेटों के स्वामी भी थे। इन लोगों ने अन्य स्टेटों के स्वामी बैरन लोगों के साथ बैठना स्वीकार किया। उधर नाइट और नगरों तथा बरों के प्रतिनिधियों ने एक साथ बैठना निश्चित किया। इस प्रकार पादरी तथा गृहस्थ बैरन लोगों की एक सभा बनी जिसका नाम कालान्तर में लार्ड-सभा, धनाढ्य-सभा, लार्ड-भवन अथवा हाउस ऑव लार्ड्स पड़ा, दूसरी सभा में नाइट नगरों तथा बरों के प्रतिनिधि बैठे जिसका नाम कामन-सभा, सामान्य-सभा, सार्वजनिक सभा, लोक-प्रतिनिधि-सभा, प्रतिनिधि भवन अथवा हाउस ऑव कामन्स पड़ा। इसको कोई कोई 'दूसरा भवन' भी कहते हैं। पार्लमेण्ट से इन दोनों सभाओं का बोध होता है, अर्थात् इन दोनों के युग्म को पार्लमेण्ट कहते हैं।

प्रिवी-कौंसिल।

बाइटनेज मोट (जिसका परिवर्तित और परिवर्धित रूप पार्लमेण्ट हुई) का मुख्य कर्तव्य

† कौंटी—इंग्लैंड के प्रान्त कौंटी कहाते हैं।

‡ अर्ल, बैरन — ये लोग बड़े बड़े स्टेटों के मालिक थे।

¶ एक प्रकार का उपनगर।

राज्य-सम्बन्धी कठिन और गम्भीर तथा जटिल प्रश्नों के हल करने में राजा को सम्मति देने का था। उसमें थोड़े से विशेष विश्वासपात्र सभासद रहते थे; परन्तु पार्लमेण्ट रूप देने तक उसके सभासदों की संख्या तथा उसके अधिकार और कर्त्तव्य निरन्तर बढ़ते ही गये। इस विकास-काल में भी राजाओं को पूर्ववत् कुछ चुने हुए विश्वास-पात्र बुद्धिमानों से सम्मति लेने की आवश्यकता पड़ती रही। इस कारण वे पार्लमेण्ट के दोनों भवनों से राज्यसम्बन्धी विशेष बातों में थोड़े से चुने हुए सभासदों से गुप्त सम्मति (Privy Council) लेने को अलग बुलाते रहे। पहले प्रिवी कौन्सिल से उस गुप्त सम्मति का बोध होता था। परन्तु धीरे धीरे 'प्रिवी कौन्सिल' शब्द उन थोड़े से चुने हुए विशेष विश्वासपात्र सभासदों की छोटी सभा का द्योतक हो गया। इस प्रकार पार्लमेण्ट ने 'प्रिवी कौंसिल' को जन्म दिया।

कैबिनेट।

राजा लोग पार्लमेण्ट की सहायता से राज्य करते रहे। परन्तु सोलहवीं शताब्दि में राजा और पार्लमेण्ट के बीच में बहुत झगड़ा हुआ। अन्त में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार राजा की अवशिष्ट शक्ति और निकाल ली गई। समझौता यह था कि राजा भविष्य में बिना मंत्रियों की सहयोगिता के कोई भी काम न करे और मंत्री लोग, प्रिवी कौंसिल के मेम्बरों में से ही राजा द्वारा चुने जायँ तथा वे केवल उस समय तक अपने पद पर रह सकें जब तक कि उनपर पार्लमेण्ट के प्रभावशाली दल का विश्वास रहे। इस प्रकार राज्य का प्रवर्तन—कार्य मन्त्रि-मण्डल के हाथों में आया। इसी मन्त्रि-मण्डल को कैबिनेट कहते हैं। कैबिनेट के मन्त्रियों को राजा अपने इच्छानुसार तो नियुक्त करता है, परन्तु वे प्रिवी कौंसिल में से ही चुने जाते हैं और प्रिवी कौंसिल के मेम्बर पार्लमेण्ट में से। इस कारण कैबिनेट के समस्त मन्त्री पार्लमेण्ट के मेम्बर रहते हैं। पार्लमेण्ट के मेम्बर रहने के कारण वे अपने कृत्यों के लिए पार्लमेण्ट-प्रजा की प्रति—मूर्ति के समक्ष उत्तरदायी रहते हैं। कैबिनेट में इस समय मंत्रियों की संख्या २० है जिनमें से मुख्य मुख्य ये हैं— स्वराष्ट्र-मंत्री (Secretary of State for Home affairs), परराष्ट्र-मंत्री (S. S. for foreign affairs), उपनिवेश-मन्त्री (S. S. for Colonies), समर-मन्त्री (S. S. for war) और भारत-मन्त्री (S. S. for India).

प्रधान मन्त्री।

कैबिनेट की कमेटी (यदि उसको कमेटी नाम देना उचित हो तो) स्वयं राजा के नेतृत्व में पहले हुआ करती थी। परन्तु भाग्यवशात् प्रथम जार्ज जो कि जर्म्मन था इँगलैंड के सिंहासन पर बैठा। वह अँग्रेज़ी रहन-सहन, ढंग, बर्ताव तो दूर रहा, अंग्रेज़ी भाषा तक नहीं जानता था। तब स्वभावतः उसको कमेटी का नेतृत्व एक ऐसे मन्त्री के हाथ सौंपना पड़ा जो जर्मन और अंगरेज़ी दोनों भाषाओं को जानता हो और जो राजा के मन्तव्य मन्त्रियों के तथा मन्त्रियों के मन्तव्य राजा के समक्ष प्रगट कर सके। इस प्रकार प्रधान मन्त्री (Prime Minister) की सृष्टि हुई। प्रथम जार्ज का उत्तराधिकारी द्वितीय जार्ज यद्यपि अंग्रेज़ी भाषा जानता था, तथापि विलास-प्रिय होने के कारण उसने अपने पिता के क्रम को ही रहने दिया। तब से प्रधान मन्त्री को नियत करने की

प्रथा चल निकली। इस प्रथा के साथ कैबिनेट के अन्य मन्त्रियों को प्रधान मन्त्री की सम्मति से चुनने की प्रथा भी पड़ गई। अब बिना प्रधान मन्त्री की सम्मति के राजा किसी को अपना मन्त्री नहीं बनाता। राज्य-सम्बन्धी किसी जटिल प्रश्न पर यदि किसी मन्त्री का मत प्रधान मन्त्री से न मिले, तो उस मन्त्री को अपना पद-त्याग कर देना पड़ता है। कैबिनेट के प्रत्येक मन्त्री के काम के लिए प्रधान मन्त्री उत्तरदायी रहता है। कैबिनेट की कार्यवाही गुप्त रीति से होती है और बिना प्रधान-मंत्री की आज्ञा के किसी भी मन्त्री को कोई भी बात प्रगट करने का अधिकार नहीं है।

दलबन्दी प्रथा।

इंगलैंड की जनता में बहुत दिनों से दो प्रधान पक्षावलम्बी रहे हैं। एक पक्ष वह है कि जिसके उद्देश्य जनता के प्रभुत्व को बढ़ाना तथा हानिकारक संस्थाओं का संहार करना है। इसके अनुयायियों को लिबरल पार्टी, अर्थात् उदार-दल या गरम दल कहते हैं। दूसरे पक्ष के उद्देश्य धनाढ्यों और धर्म्माचार्यों की सत्ता को स्थिर रखना तथा पुरानी संस्थाओं को नष्ट न होने देना है। इसके अनुयायी कनसर्वेटिव पार्टी, अर्थात् संरक्षक-दल या नरमदलवाले कहाते हैं। पार्लमेण्ट के सदस्य-निर्वाचन के समय स्वभावतः ये लोग अपने अपने पक्ष के अनुयायियों को वोट देते हैं। इस कारण पार्लमेण्ट में दोनों दलों के सदस्य पहुँचते हैं। पार्लमेण्ट के सदस्यों के दो भिन्न भिन्न दल होने की बात सुन कर कोई अनजान आदमी सोचेगा कि ऐसा होने से सभा के कामों में बाधाएँ होती होंगी। परन्तु यथार्थ में ये दो परस्पर-विरोधी पक्ष पार्लमेण्ट के काम में सफलता पहुँचाने के साधनों का काम करते हैं।

राजा, दोनों पक्षों में से जिस पक्ष के अनुयायी अधिक होते हैं उसके नेता मेम्बर को बुलाकर अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है। यह प्रधान मंत्री स्वभावतः अपने पक्षवालों को ही अन्य मन्त्रियों के पदों पर नियुक्त करने के लिए राजा को सलाह देता है। इस प्रकार कैबिनेट में सब मन्त्री उसी प्रभावशाली पक्ष के अनुयायी हो जाते हैं, अर्थात् शासन-तन्त्र उस पक्ष के हाथ में चला जाता है। मन्त्री लोग जिस प्रकार शासन-कार्य करते हैं उससे प्रभावशाली दल के अनुयायी अपनी सहानुभूति और सन्तोष प्रगट करते रहते हैं। क्योंकि यदि वे ऐसा न करें तो शासन-तन्त्र उनके पक्ष के हाथों से निकल जाने का डर रहता है। विरोधी दल के मन में असन्तोष होने के कारण वह सदैव शासक-दल के कार्य्यों पर टीका-टिप्पणी किया करता है तथा ज़रा सी भी त्रुटि पाकर वह इंगलैंड की जनता भर में ढिंढोरा पीट देता है। सभा में भी विरोधी दल शासक-दल से उसके कार्य्यों के विषय में समय समय पर स्पष्टीकरण और उत्तर माँगता रहता है तथा जनता को यह प्रगट करता रहता है कि यदि शासन-शक्ति उसके हाथ में आजावे तो वह राज्यतन्त्र किस प्रकार चलावेगा। विरोधीदल की इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शासकदल अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं कर सकता। इस प्रकार दोनों पक्ष राज्यकार्य्य को बाधा न पहुँचाकर उसको सफलता पहुँचाते हैं। पार्लमेण्ट का निर्वाचन प्रति तीसरे वर्ष होता है। इस कारण नये निर्वाचन में शासक बनने का दोनों

पक्षों को अवसर रहता है। परिणाम यह होता है कि कभी उदार पक्ष और कभी संरक्षक पक्ष के हाथों में शासनतन्त्र रहता है और शासक पक्ष के उद्देशों के अनुसार राज्य-कार्य्य-पद्धति बदला करती है। लार्ड सभा में भी ये दो पक्ष विद्यमान रहते हैं; परन्तु उसके अधिकांश सभासद् बहुधा संरक्षक पक्षावलम्बी ही रहते हैं।

राजा की शक्ति और पार्लमेंट से उसका सम्बन्ध।

राजा की शक्ति कहने को और दिखावे को तो बहुत कुछ है; परन्तु वास्तव में वह 'शून्य' है। यथार्थ में मन्त्रि-वर्ग पार्लमेण्ट के इच्छानुसार राजा के नाम से शासन करता है। शासन-कार्य्य में राजा का कुछ भी हाथ नहीं। केवल शासन की मर्यादा बढ़ाने को राजा का पद अभी तक सुरक्षित है। मन्त्रियों को नियुक्त करने का अधिकार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजा को है; परन्तु वह भी दिखावे के लिए। क्योंकि राजा को पार्लमेण्ट के केवल उन्हीं सभासदों को मन्त्री नियुक्त करना पड़ता है कि जिनको पार्लमेण्ट चाहती हो। यदि पार्लमेण्ट की इच्छा के विरुद्ध कोई मन्त्री नियुक्त हो जाय तो उसको पार्लमेण्ट सहायता न दे, शासन-कार्य्य के लिए उसे छदाम भी न मिले, उसकी कोई बात भी न सुने। इस कारण उसको अपना पद स्वयं ही त्याग कर देना पड़े। कहने के लिए, अन्य देशों के साथ लड़ाई और सन्धि करने का काम भी राजा का है। परन्तु राजा उस समझौते के अनुसार, बिना मन्त्रियों की सलाह के, कुछ कर नहीं सकता, और कोई मंत्री पार्लमेण्ट की इच्छा के विरुद्ध चल नहीं सकता। यदि चले तो दूसरे दिन उसको हटा देने का प्रस्ताव पास कर दिया जावे। राजा यदि बिना पार्लमेण्ट की स्वीकृति के कोई क़ानून बना ले, तो जनता उसके अनुसार चलने के लिए बाध्य नहीं है। सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति उनकी कार्य्य-विधि का निश्चय आदि कार्य राजा के नाम से मन्त्रियों द्वारा होते हैं। परन्तु पार्लमेण्ट को यदि उनका कार्य उचित न जँचे तो वह तुरन्त उनसे अपने कार्य के औचित्य के विषय में उत्तर माँगती है। यदि वे उचित उत्तर न दे सके तो उनका ठहरना कठिन हो जाता है। उन्हें चुपचाप अपने पद से अलग हो जाना पड़ता है। दोनों भवनों से स्वीकृत हो जाने पर किसी भी क़ानून को प्रचार में लाने के लिए राजा की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। परन्तु ऐसे कामों में राजा को मन्त्रियों की सम्मति के अनुसार चलनेवाला वही नियम लागू होता है। रानी एन (Anne) के समय से आज तक ऐसा कोई अवसर ही नहीं आया कि जब राजा ने क़ानून पर अपने हस्ताक्षर करने के लिए आनाकानी की हो। पार्लमेण्ट द्वारा पास हुए क़ानून पर यदि राजा हस्ताक्षर न करे तो यह बात यदि क़ानून के विरुद्ध नहीं तो व्यवस्था के विरुद्ध (unconstitutional) होती है। पार्लमेण्ट के रुष्ट होने पर वह पैसा न दे तो कर्मचारियों को वेतन न मिले, सेना मिट जावे और राज्य-कार्य एक दिन न चले। राजा को यदि यह बात मालूम हो कि पार्लमेण्ट तथा जनता के मतों में परस्पर बहुत ही विरोध है, अथवा किसी बहुत ही आवश्यक नियम के विषय में उसको पार्लमेण्ट के सन्मुख उपस्थित करने के पूर्व जनता का मत जानने की आवश्यकता है तो वह अवधि समाप्त होने के पूर्व ही पार्लमेण्ट को तोड़ सकता तथा नवीन

पार्लमेण्ट के संगठन की आज्ञा दे सकता है। परन्तु यह सब मन्त्रियों की सम्मति वाले उसी नियम के अनुसार होना आवश्यक है। मन्त्री भी इस विषय में अपनी सम्मति बड़े विचार के साथ देते हैं; क्योंकि पार्लमेण्ट के टूटते ही मंत्रियों को नवीन पार्लमेण्ट द्वारा अपने पद से हटाये जाने का भय रहता है। मन्त्रियों का कर्तव्य है कि वे राजा के नाम से नवीन पार्लमेण्ट के संगठन की घोषणा करने में विलम्ब न करें। यदि विलम्ब हुआ तो जनता को अधिकार है कि वह कुछ समय तक घोषणा की प्रतीक्षा करके स्वयं ही अपने प्रतिनिधि भेज कर नवीन पार्लमेण्ट बना डाले और यह पार्लमेण्ट पहली पार्लमेण्ट के तोड़े जाने तथा नवीन पार्लमेंट के संगठन में विलम्ब करने के उत्तर माँगे।

कामन और लार्ड सभा का पारस्परिक सम्बन्ध।

साधारणतया कोई भी बिल* दोनों सभाओं में स्वीकृत हुए बिना राजा के सन्मुख उपस्थित नहीं किया जा सकता। दोनों पृथक् पृथक् उस बिल पर विचार करते हैं। १८३२ तक लार्ड सभा का दबाव कामन सभा पर बहुत कुछ रहा। क्योंकि कामन सभा के मेम्बरों में प्रायः वे ही लोग रहते थे जिनका लार्ड जिमींदारों से सम्बन्ध रहता था। बात यहाँ तक थी कि लार्ड लोग कामन सभा के मेम्बरों का बहुधा नियोजन किया करते थे। इस कारण कामन सभा बहुत कुछ लार्ड सभा के इच्छानुकूल ही चलती थी। १८३२ तक कोई वैमनस्य नहीं हुआ। परन्तु १८३२ में रिफर्मेशन एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार निर्वाचकों की संख्या बहुत बढ़ गई तथा उन व्यापारी और अन्य उद्योगियों को भी निर्वाचनाधिकार मिला जो लार्डों के दबाव में नहीं रह सकते थे और जिनका हित उनके हित से भिन्न था। ऐसे मेम्बरों ने स्वच्छन्दता-पूर्वक काम करना चाहा। इस कारण वैमनस्य का बीजारोपण हुआ। धीरे धीरे स्वाधीन और प्रजातान्त्रिक तथा उदार विचारों के फैलने के कारण तब से यह वैमनस्य बढ़ता ही गया यहाँ तक कि १९११ में 'पार्लमेण्ट' एक्ट के पास करने की आवश्यकता हुई। परन्तु ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि दोनों सभाओं में सदैव झगड़ा खड़ा रहता हो। यदि एक सभा को कोई बात अभीष्ट होती हो तो वह बिल पास करके उसे दूसरी सभा की अनुमति के लिए उस सभा में भेजती है। दूसरी सभा या तो उसे ज्यों का त्यों स्वीकृत कर लेती है या उसमें अपने इच्छानुसार परिवर्तन करके फिर उसी सभा को भेजती है जहाँ उस बिल का सूत्रपात हुआ हो। यदि वह इस परिवर्तन से सहमत न हो तो प्रस्तुत बिल फिर पुनर्विचार के लिए परिवर्तक सभा में भेजा जाता है। लार्ड सभा अब बहुधा कामन-सभा के इच्छानुसार अपना काम करती है; क्योंकि कामन-सभा लोकमत की प्रति-मूर्ति है। यदि लार्ड सभा बिल स्वीकार न करे और कामन-सभा को उसका यह कार्य अनुचित प्रतीत हो तो वह अपने मत का विशेष आग्रह दिखाती है। यदि मन्त्रि-मण्डल ने लार्ड-सभा के मत का ही अनुमोदन किया और कामन-सभा अपनी बात पर डटी रही तो मन्त्री लोग नवीन कामन-सभा के संगठन के लिए राजा को सलाह देते हैं। यदि मन्त्रि-मण्डल ने अनुमोदन न किया और लार्डसभा ने अपने मत का आग्रह दिखाया तो वह राजा को नवीन लार्डसभा के संगठन करने की सम्मति देता है। लार्ड लोग अपने पद से

* पार्लमेण्ट में जो क़ानून बनाये जाते हैं वे पहले बिल रूप में उपस्थित किये जाते हैं। इस रूप में वे बिल कहाते हैं। पास होने पर उनको (Act) क़ानून नाम दिया जाता है।



दमन-नीति का भविष्य।

"एक बार समुद्रमें बड़ा तूफान उठा जिससे समुद्रमें बड़ी बड़ी लहरें उठने और किनारेकी ओर बढ़ने लगीं। किनारे पर रहने वाले मनुष्य अपना बोरिया-बसना उठाकर दूर भागने लगे। वहीं एक बूढ़ी स्त्री भी रहती थी। उसने अपना सामान लेकर दूर भागना ठीक नहीं समझा। उसने अपनी झाड़ू उठाई और समुद्र को झाड़ू से मारकर पानी हटा देने के लिये वह आगे बढ़ी। परन्तु झाड़ू मारने से कुछ भी न हुआ, वरन् वह भी लहरों में बहने लगी। यही हाल नौकरशाही का होगा यदि उसने बढ़ती हुई देशभक्ति की तरङ्ग पर दमन-नीतिका उपयोग किया और उस बुढ़िया के समान न केवल तरंगों से टुकराई जायगी, बल्कि जो कुछ भी उसकी झोपड़ी में होगा उससे भी हाथ धो बैठेगी।"

चित्रकार—
श्रीयुत टी॰ जी॰ पटेल।

हटाये जाने के भय से बहुधा कामन-सभा के इच्छानुसार ही चलते हैं। इस प्रकार कामन-सभा के द्वारा जनता के मत का अंकुश लार्ड-सभा पर रहता है। १९०६ में बहुमत हटाने वाले बिल, १९०७ में लैंडवेल्यूज स्काटलैंड बिल १९०८ में स्माल लैंडओनर्स स्काटलैंड बिल और लाइसेंसिंग बिल तथा १९०९ में अर्थ-सम्बन्धी बिल और लण्डन निर्वाचन बिल के अस्वीकार करने के कारण कामन-सभा ने मि० एसक्विथ प्रधान-मन्त्री की सलाह से लार्डसभा की सत्ता स्पष्ट रूप से परिमित करने के लिए १९११ में 'पार्लमेण्ट एक्ट' पास कर दिया जिसके अनुसार किसी अर्थ-सम्बन्धी बिल को यदि उसे पाने के दिन से एक मास के भीतर लार्ड-सभा स्वीकार न करे, तो वह बिना उसकी स्वीकृति के राजा के पास हस्ताक्षरों को भेजा जा सकता है। कोई बिल अर्थ-बिल है अथवा नहीं इसके निश्चय करने का काम कामन-सभा के स्पीकर अर्थात् प्रमुख का होगा। अन्य बिल यदि कामन-सभा अपनी लगातार तीन बैठकों में स्वीकृत कर चुकी है तो लार्ड सभा के सहमत न होने पर भी वे राजा के पास हस्ताक्षर को भेजे जा सकते हैं। इसी एक्ट के अनुसार पार्लमेण्ट का कार्य्य-काल साधारणतया तीन वर्ष और विशेषतया पाँच वर्ष निश्चित कर दिया गया। अर्थात् इतने समय के बाद नवीन पार्लमेण्ट का निर्वाचन होना चाहिए। कामन सभा से पास होकर जब पार्लमेण्ट बिल लार्ड-सभा में पहुँचा तब उसने अपनी सत्ता को बचाने के लिए बहुत कुछ चाहा; परन्तु वह कर ही क्या सकती थी। यदि वह उसे पास न करती तो नवीन लार्ड सभा का संगठन होकर वह पास हो जाता।

कार्य-क्रम।

दोनों सभाएँ नवीन पार्लमेण्ट का संगठन होते ही अपने सभापतियों को चुन लेती हैं। कामन-सभा का सभापति स्पीकर (Speaker) अर्थात् प्रमुख कहाता है और लार्ड-सभा का लार्ड चैन्सलर (Lord Chancellor)। दोनों सभाएँ अपनी अपनी कार्य्य-विधि स्वयं स्थिर करती हैं और दोनों में बहुमत से कार्य होता है। सभापति स्वयं वाद-विवाद में भाग नहीं लेते। उसका कर्तव्य सभा के आन्तरिक व्यवहारों में सुव्यवस्था रखने का है। वाद-विवाद के समय सभासदों के बोलने का क्रम क्या रहेगा इसका निर्णय करना उसका काम है। सभा में असभ्यता के साथ अथवा नियम के विरुद्ध काम न हो इसके लिए उसको विशेष ध्यान रखना पड़ता है। वह यदि चाहे तो नियम-विरुद्ध चलने वाले किसी सभासद को बैठक से निकाल भी सकता है। ऐसे कामों में उसकी आज्ञा पालन करने के लिए सार्जेण्ट एट आर्मस (Sergeant-at-arms) नामी उपाधिधारी कर्म्मचारी अपने बल-सहित सभा में उपस्थित रहता है। किसी भी बिल अथवा प्रस्ताव पर वोट लेकर सभापति निश्चय करता है कि किस पक्ष में कितने वोट आये।

प्रत्येक सभा का कार्य कोरम पूरा होने पर आरम्भ हो सकता है। ४० सभासदों का कोरम होता है, अर्थात् कम से कम चालीस सभासद उपस्थित होने पर सभा का कार्य आरम्भ किया जाता है, अन्यथा नहीं। सभा का कार्य शाम को चार बजे से आरम्भ होता है और रात को एक दो बजे तक चलता रहता है। कभी कभी तो इधर कौआ बोलते हैं और उधर सभा विसर्जन होती है। परन्तु ग्यारह बजे रात के पश्चात् साधारणतः विवादग्रस्त बातों पर विचार नहीं किया जाता। भिन्न भिन्न विषयों पर भलीभाँति विचार करने के

लिए उन विषयों से पूर्णतया परिचित सभा के अनुभवी सभासदों की कमेटियाँ बनाई जाती हैं और इन कमेटियों के आवेदन-पत्रों पर उस विषय के सम्बन्ध में निर्णय करने के पूर्व विशेष ध्यान दिया जाता है ।

सभासदों की संख्या और उनके बैठने का स्थान ।

दोनों सभाओं में सदस्यों की संख्या आरम्भ में बहुत कम थी; परन्तु धीरे धीरे वह बढ़ती गई । इस समय कामन सभा में ६७० तथा लार्ड सभा में ६२० सभासद हैं । कामन सभा में इंग्लेंड से ४६५, वेल्स से ३०, स्काटलेंड से ७२, और आयर्लेंड से १०३ सभासद भेजे जाते हैं और लार्ड सभा में स्काटलेंड से १६, आयर्लेंड से २८ तथा शेष इंग्लेंड और वेल्स से आकर बैठते हैं । कामन सभा का चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होता है । परन्तु लार्ड-सभा में इंग्लेंड के धनाढ्य, वंश-परम्परा से सभासद होते हैं । आयर्लेंड से आये हुए सभासद एक बार निर्वाचित हो जाने पर जीवन भर के लिए सभासद हो जाते हैं । परन्तु स्काटलेंड के सोलह धनाढ्य प्रतिनिधियों के लिए ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं । प्रतिवर्ष कुछ नये धनाढ्य लोग सभा में बैठने के लिए चुने जाते हैं । इस कारण लार्डसभा के सभासदों की संख्या बढ़ती जाती है । इस सभा में २६ बड़े बड़े पादरियों को भी स्थान मिलता है । दोनों सभाओं के बैठने के लिए एक विशाल भवन बनाया गया है जो वेस्ट मिनिस्टर एबे (Westminister Abbey) कहलाता है । इसके दो खण्ड हैं । उत्तरीय खण्ड में कामन-सभा के और दक्षिणीय खण्ड में लार्ड-सभा के अधिवेशन होते हैं । वेस्ट मिनिस्टर एबे में दोनों सभाओं के समस्त सभासदों के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं है । उसमें अधिक से अधिक लगभग ४०० आदमी स्वच्छन्दता-पूर्वक बैठ सकते हैं । परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं कि जब इतनी संख्या से अधिक उपस्थित हों । इस कारण कार्य्य चलने में कोई असुविधा नहीं होती । यदि कभी कुछ अधिक सभासद भी आ जाते हैं तो किसी तरह बैठ लेते हैं अथवा बरण्डों में या लाइब्रेरी में घूमा करते हैं । वोट के समय घण्टी की आवाज सुन कर वे जा पहुँचते हैं अथवा उनके पक्ष के प्रोत्साहक (whips) लोग उन्हें वोट देने के लिए बुला ले जाते हैं ।

अभी पार्लमेण्ट के सभासदों के निर्वाचन, उसके काग़ज़-पत्र, अधिवेशन, कार्य्य-प्रणाली, अर्थ और शासन-नीति, क़ानून बनाने आदि के विषय में उल्लेख-योग्य बहुत सी बातें हैं जो इस लेख की सीमा के भीतर नहीं आ सकतीं । परन्तु पाठकों को इतने से ही इंग्लेंड के शासन-तन्त्र के महत्व और प्रखर प्रताप का कुछ बोध अवश्य हो गया होगा । पार्लमेण्ट को वर्तमान रूप में आने के लिए कई शताब्दियाँ लगी हैं । जिस ढँग से यह पार्लमेण्ट अपना शासन-कार्य चलाती है वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है । लोकमत के अनुसार स्वतन्त्रता, आत्मसंयम और मर्यादा का ध्यान रखते हुए इस प्रकार बृहत् ब्रिटिश साम्राज्य का सुप्रबन्ध करना इसी पार्लमेण्ट का काम है । संसार के समस्त देशों को यह स्वतन्त्रता और प्रजातान्त्रिक राजकीय भावना-

ओं का सच्चा और शुद्ध आदर्श बतलाती है। बुद्धिमत्ता की यह मूर्ति है। इस के उद्देश और कार्य-प्रणाली पर मुग्ध होकर जर्म्मनी, फ्रान्स, इटली, यूनाइटेडस्टेट्स, जापान आदि कई देशों ने, जहाँ प्रजामत के अनुसार राज्य-तन्त्र चलता है, इसका अनुकरण किया है। यही कारण है कि यह संसार की पार्लमेण्ट की जननी (Mother of Parliaments) कहाती है।

पनडुब्बी जहाज़ ।

(लेखक—श्रीयुत देवेन्द्रनाथ सान्याल, बी. ए.)

यूरोपीय महासमर के समय से पनडुब्बी जहाज़ (सबमेरिन) के नाम से प्रायः सभी लोग परिचित हैं। इस तरह के विचित्र जहाज़ की उत्पत्ति और उन्नति का वर्णन नीचे दिया जाता है।

ध्रुव-मत्स्य यंत्र (Mariner's Compass) का आविष्कार होने के पहले से ही भिन्न भिन्न देशों के मनुष्य रोज़गार के लिए दूर दूर तक समुद्र-यात्रा किया करते थे। उस समय पूर्व में भारतवासी और पश्चिम में फिनिशिया द्वीप के निवासी बहुत ही अच्छे नाविक समझे जाते थे। आर्किमेडिस के द्वारा पदार्थों का विशिष्टगुरुत्व सिद्ध करने के पूर्व से ही पुराने ज़माने के लोगों को पानी के भीतर पदार्थों को तैरते रखने की कला मालूम थी। अरिस्टोटल के लेख से मालूम होता है कि टायर (Tyre) की प्रसिद्ध लड़ाई में एक ऐसे जहाज़ का उपयोग किया गया था जो पानी के अन्दर ही अन्दर चलता था; अर्थात् 'सबमेरिन' का पहिला उल्लेख हमें यहीं मिलता है। इस तरह के जहाज़ में हाथी की सूँड़ की नाईं एक पोला बंबा लगा रहता था, जिसके ज़रिये नाविक लोग पानी के भीतर साँस ले सकते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि सिकंदर जलयुद्ध के समय एक ऐसे ही जहाज़ का उपयोग कभी कभी किया करते थे।

बिशप क्लास मेगन्स (Claus Magnus) का कहना है कि उन दिनों में एक तरह के डाकू पाये जाते थे जो चमड़े के बने हुए जहाज़ों में बैठ कर हर जगह पानी में घूमा करते थे। इन्हीं के ज़रिये वे पानी के अंदर जा सकते और ऊपर भी आ सकते थे। उन्होंने सन् १५०५ ई० में एसलर के गिरजाघर में ऐसे दो जहाज़ों का नमूना देखा है। इस बात का कुछ कुछ प्रमाण मिलता है कि सन् १५३८ ई० में चार्ल्स पंचम को टोलेडो (Toleddo) में एक पनडुब्बी जहाज़ दिखाया गया था। इसके २० वर्ष बाद व्हीनीशियन लोगों ने एक डूबे हुए जहाज़ को निकालने के लिए एक तरह की पनडुब्बी नाव का उपयोग किया था। इसके बीस वर्ष बाद, रानी एलिज़िबेथ के समय में, किसी नौ-गोलन्दाज़ ने एक ऐसा छोटा सा जहाज़ बनाया था जो समुद्र के नीचे पहुँच कर फिर ऊपर चला आ सकता था। इस जहाज़ में छोटे छोटे तीन खंड थे। ऊपर और नीचे के खंड में हवा नहीं जा सकती थी; बीच के खंड में बहुतसे छेद थे, जिनके द्वारा पानी भरकर जहाज़ को डुबा सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर पानी निकाल कर फिर उसे पानी की सतह पर तैरा सकते थे।

जेम्स द्वितीय ने कार्नेलियन ड्रेबेल नामक एक अंग्रेज़ नौ-योद्धा को पनडुब्बी जहाज़ बनाने के

लिए उत्साहित किया था; परन्तु खेद की बात है कि उनका बनाया हुआ जहाज बारह नाविकों समेत टेम्स नदी में डूब गया।

इसी तरह सैकड़ों वर्षों तक भिन्न भिन्न देशों के मनुष्यों का असीम उद्यम जारी रहा। सन १७७६ ई० में जिस समय अमेरिकावासी अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे उस समय डेविड बुशनेल नामक एक अमेरिकावासी ने एक छोटासा पनडुब्बी जहाज़ तैयार किया था जिससे उसने अंगरेज़ों के एक जंगी जहाज़ को टारपीडो करना (फोड़कर डुबा देना) चाहा, लेकिन टारपीडो छोड़ने वाले की असावधानी से वह सफल न हुआ।

इसके बाद, नेपोलियन के समय में, राबर्ट फुलटन नामी एक कारीगर ने इस विषय में प्रयत्न किया। यदि फुलटन को इस प्रयत्न में सफलता मिलती तो यह बात निश्चित है कि महावीर नेपोलियन को नाइल या ट्राफलगर के युद्ध में, नेलसन के सामने, पराजित न होना पड़ता।

जिस समय पराजित नेपोलियन सेंट हेलीना में क़ैद थे उस समय उन्हें चुपचाप अमेरिका ले जाने के इरादे से अमेरिकावासियों ने एक पनडुब्बी जहाज तैयार किया था। लेकिन उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया। फुल्टन साहब की बनाई हुई नाव की आकृति चूहे की सी थी। उसे हाथ से खेना पड़ता था और उसमें एक मस्तूल भी था। आवश्यकता होने पर वह पानी के ऊपर मामूली नाव की तरह पाल के सहारे चलती थी। इसके पचास वर्ष बाद बेयर (Bayer) नामक एक जर्मन ने इंग्लैंड के राजा के प्रोत्साहन से सबमेरिन बनाने की कोशिश की। लेकिन उनसे कार्य-सिद्धि न हुई।

सन १८६४ ईस्वी में जब चार्ल्सटाउन के नज़दीक एक पनडुब्बी जहाज ने "हाउसेटानिक" नाम के एक बड़े जहाज को टारपीडो के ज़रिये डुबा दिया, तब से सबकी दृष्टि युद्ध में उसकी आवश्यकता के विषय में आकर्षित हुई। बस, क्या था, हर एक शक्तिशाली देश टारपीडो बोट, टारपीडो नाशक जहाज और पनडुब्बी जहाज़ बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करने लगा।

पहले पहल एक डोंगी के बाजू से, दो तीन डंडों के ऊपर, टारपीडो रखा जाता था और आवश्यकता पड़ने पर विद्युत-शक्ति द्वारा छोड़ा जाता था; परंतु इससे आक्रमणकारी तथा आक्रान्त दोनों जहाज़ों को डर था।

इसके बाद राबर्ट व्हाइटहेड नामक एक अंग्रेज़ ने टारपीडो की बहुत उन्नति की। यह टारपीडो चुरुट के आकार का धातु का एक पोंगा है। उसके अन्दर कुछ खाने हैं। सामने के खाने में कुछ गनकाटन (Gun Cotton) और उसे जलाने के लिए एक यंत्र है। उसका नाम पिस्तौल है। यह पिस्तौल एक लोहे का डंडा है जिसके नीचे कैप (घोड़ा) रहता है। किसी भारी चीज़ की मार से यह डंडा अंदर जाकर नीचे की कैप को ठोंकर मारता है जिससे गन काटन जल उठता है और भयंकर तोड़-फोड़ उत्पन्न हो जाती है। इसके पीछे के खाने में इकट्ठी की हुई हवा रखी जाती है। यह हवा हरएक इंच में २००० पौंड के दबाव से दबी हुई रहती है। यह दबी हुई हवा सचमुच में टारपीडो के बायलर (Boiler) के समान है। जब यह हवा यन्त्र के खाने में भीतर प्रवेश

करती है तब वह गरम होकर टारपीडो की तेजी को बढ़ाती है। यह यन्त्र पीछे के खाने में टारपीडो को स्थिर रखने का काम देता है। एअरमोटर (Air Motor) के ऊपर दबाव रखने के लिए यहाँ गाइरस कोप रक्खा जाता है। टारपीडो छोड़ने के पेश्तर निशाना लगाकर उसकी गति ठीक कर देते हैं। यदि चलते चलते वह गहरे पानी में प्रवेश करता या ऊपर की ओर तैर उठता है, तब यह यन्त्र उसे दुरुस्त कर देता है। ऐसे गति-निर्देश करने वाले यन्त्र का वर्णन सुनकर इसकी बनावट जितनी सहज मालूम होती है वास्तव में उतनी सहज नहीं है। उक्त खण्ड के पीछे एक खण्ड नाव को तैराते हुए रखने का और दूसरा मोटर का रहता है। इसके मोटर एंजिन की लम्बाई तो सिर्फ कुछ ही इंच है, लेकिन उसकी शक्ति बहुत ही प्रबल है। टारपीडो की पूँछ के पास दो प्रोपेलर हैं जो एक दूसरे से उल्टी दिशा में घूमते हैं। यदि वे एक ही दिशा में घूमते, तो टारपीडो को भी साथ ही साथ घूमना पड़ता। इससे ऐसा उपाय किया गया है कि कुछ दूर जाने से ही टारपीडो के फूटने की आशंका नहीं रहती। एक घंटे में ३० नाट (knot) के वेग से २००० गज तक वह एक ही धक्के से पानी के नीचे जा सकता और निर्दिष्ट वस्तु में धक्का लगते ही फूट पड़ता है।

ब्रेमनन साहब का टारपीडो बहुत कुछ व्हाइटहेडसाहब के टारपीडो के समान था, लेकिन उसे किनारे से छोड़ना पड़ता था। वह सिर्फ समुद्र-किनारे के देश या बन्दरस्थान की रक्षा के निमित्त उपयोग में लाया जाता था। इस टारपीडो के अन्दर लगभग दो ड्रम बारीक पियानो का तार लपेटा रहता था, और किनारे के इंजन के साथ भी ऐसा तार लगा रहता था। इंजन चलाने पर किनारे के यंत्र से लपटा हुआ तार खुलता था और इसी तार के जरिये ही टारपीडो ठीक जगह पर चलाया जाता था। लेकिन इसमें एक डर रहता था। चलने वाले जहाज से तार टूटने पर ही टारपीडो की गति एकदम रुक जाती थी। इसलिए व्हाइटहेड साहब का बनाया हुआ टारपीडो ही लड़ाई में उपयोग में लाया गया था।

ऐसा मालूम होता है कि इस टारपीडो को आसानी से छोड़ने के लिए ही पनडुब्बी जहाजों की उन्नति की गई है। अब देखना चाहिए कि पनडुब्बी जहाज़ का क्या प्रयोजन है। इसे पानी के ऊपर चलना ज़रूर ही चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर इसे पानी के अन्दर ऐसी डुबकी लगाना चाहिए कि जिससे पानी की सतह पर चलनेवाले जहाज़ों की पेंदी का धक्का उसे न लगे। इसमें पानी और हवा का प्रवेश नहीं होना चाहिए; लेकिन इसमें ऐसा प्रबन्ध रहना चाहिए कि जिससे पानी में डूबे रहने पर भी नाविक लोगों को आराम मिले। इसे जितने शीघ्र डूबने की ज़रूरत है, उतनी ही तेज़ी के साथ ऊपर निकल आने की भी ज़रूरत है।

जब यह पहले पहल तैयार किया गया था तब हाथ से चलाया जाता था। लेकिन अमेरिका की लड़ाई के समय से यह हवा के वेग से और भाफ से चलाया जाता है।

अमेरिकावासी जे. पी. हालैंड और स्विट्ज़र्लैण्ड-वासी मि. नारडेनफेल्ट ने इसकी कई परीक्षाएँ कीं। सन् १८८८ ई० में फ्रान्स में इसका

प्रचार हुआ और सन् १९०० ई० में अंग्रेज़ों ने इसे बनाना शुरू किया ।

मि. नारडेनफेल्ट का पनडुब्बी जहाज़ भाफ़ की शक्ति से चलता था । इसके द्वारा डुबाने के पेश्तर इसका बम्बा उतार कर आग बुझा दी जाती थी, इसमें कई बातों की कठिनाई थी । यह पानी में डूबकर ज़रा भी देर स्थिर नहीं रह सकता था, चलायमान ही रहता था । इसके बाद मि. हालैंड ने एक जहाज़ निकाला जोकि पेट्रोल से चलाया जाता था और डूबी हालत में बिजली की बेटरी द्वारा इसमें शक्ति आती थी । नाविक लोगों के जीवन धारण के निमित्त इसमें बहुतसी दबी हुई वायु इकट्ठी रहती थी ।

अंग्रेज़ लोग इसी प्रकार के छोटे छोटे जहाज़ बनाकर तरह तरह से परीक्षा करने लगे । पहले गेसटाइन इंजन तैयार करके उसे चलाने का प्रयत्न किया गया; किन्तु बंद रहने पर गैसटाइन से गैस धुआँ निकलने लगा जिससे जहाज़ फट गया । पेट्रोल से भी यही दशा हुई । इसके बाद तेल के इंजन द्वारा इसके चलाने की बारी आई । इसी तरह कई परीक्षाएँ की गईं । पश्चात् सिद्ध हुआ कि बिजली की बेटरी से ही इसे चलाने में सुभीता है ।

आजकल अंग्रेज़ों का पनडुब्बी जहाज़ ऊपर तैरने की दशा में ४००० मील चलने के लिए यथेष्ट तेल का संचय रखता है । संचित बैटरी के द्वारा पानी के अन्दर ११ नाट की गति से ४८ घंटे तक चलने की शक्ति रहती है और उतने समय के लिए इकट्ठी की हुई हवा भी रहती है ।

पानी के भीतर चलने में इसमें एक और कठिनाई है । अब तक इसे अन्धी मछली की नाईं चलना पड़ता था । मछली के तो भला स्पर्श शक्ति रहती है, लेकिन इसके तो यह भी न थी । केवल कंपास के सहारे इसे चलना पड़ता था । इसके बाद 'पेरिस्कोप' के रूप में इसे आँख मिला ।

वर्तमान काल के पनडुब्बी जहाज़ों का यंत्र-कौशल बहुत ही गुप्त रखा जाता है । यह एक बड़ी मछली की शकल का बनता है । इसकी पीठ पर एक गुम्बज़ सरीखा रहता है जिसे 'कोनिंग टावर' कहते हैं । जहाज़ के आधे डूबे हुए चलने की हालत में टावर की रोशनी के ज़रिये चलानेवाला सब देख सकता है । पहले पहल इस टावर के अंदर से समुद्र की बड़ी बड़ी लहरें प्रवेश कर सकती थीं; किन्तु इस कठिनाई का सुधार हो गया है । इसी टावर के रास्ते से नाविक लोग जहाज़ के अंदर जाते हैं । जहाज़ के डूबते समय टावर का मुंह बंद हो जाता है और जहाज़ के किसी किसी खास खाने में पानी भर कर जहाज़ को डुबा देते हैं । वर्तमान समय के पनडुब्बी जहाज़ की विद्युत शक्ति ६०० घोड़े की ताक़त की होती है । पनडुब्बी जहाज़ डूब कर १०० फुट नीचे तक जा सकता है, किन्तु साधारणतया यह २० या ३० फुट नीचे चलता है । इसकी आवाज़ बन्द करने के लिए कई उपाय किये गये । ऊपर का हाल देखने के लिए पेरिस्कोप और चारों ओर देखभाल रखने के लिए कई तरह के यंत्र बनाये गये हैं । वर्तमान काल के पनडुब्बी जहाज़ों

में दो पेरिस्कोप रहते हैं। एक के जरिये दूर की चीजें और दूसरे से पास की चीजें भलीभाँति देखी जा सकती हैं। अब उसमें चार टारपीडो ट्यूब ले सकते हैं और उनके छोड़ने के समय जहाज़ के गुरुत्व-केन्द्र में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। पहले सिर्फ़ एक ही आदमी के चलने से कभी कभी जहाज़ एकदम डूब जाता था। आधुनिक पनडुब्बी जहाज़ में काम करने वालों के समेत कुल १४ आदमी रहते हैं। उनके विद्युत के चूल्हे में उनकी रसोई पकती है। सब एक ही तरह का खाना खाते और एक ही स्थान में रहते हैं। पनडुब्बी जहाज़ के भीतरी कल-पुर्जों और यंत्रों में बहुत उन्नति की गई है। जहरीली कारबोनिक ऑक्सइड गैस पैदा हुई है या नहीं यह जानने के लिए अब सफ़ेद चूहे नहीं रखे जाते, जैसे कि पहले रखना पड़ते थे।

अब युद्ध समाप्त हो गया है। इस समय ऐसे जहाज किस काम में आ रहे हैं यह नहीं कहा जा सकता। शायद आँधी से बचने के लिए समुद्र की खाड़ी में एक पार से दूसरे पार जाने के काम आवें। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक अमेरिकन एडमिरल ऐसे ही जहाज में १५ घंटे पानी के नीचे रह कर जब ऊपर आये तब प्रचण्ड वेग से आँधी चल रही थी; लेकिन पानी के अन्दर उन्हें इसका असर बिलकुल ही नहीं मालूम पड़ता था।

यूरोपीय महायुद्ध के समय पनडुब्बी जहाज ने यही शिक्षा दी है कि करोड़ों रुपये खर्च कर बड़े बड़े 'मैन-आफ़-वार' और 'ड्रेडनाट' बनाने से विशेष लाभ नहीं है। एक पनडुब्बी जहाज जो काम कर दिखला सकता है वह लाखों और करोड़ों रुपयों की लागत वाले जंगी जहाजों से नहीं हो सकता है।

आशा।

(लेखक—बाबू पदुमलाल वर्म्मा, बी॰ ए॰)

रवि के विषम ताप में जलकर
जब पृथ्वी लेती निश्वास।

ले जाती है पवन उन्हें, मैं
नहीं जानता किसके पास॥

पर उनसे अज्ञेय जगत में
होता मेघों का निर्माण।

हो जाता संताप दूर भू
का, रवि से भी होता त्राण॥

जग की ज्वाला से होता है,
जब सबको सन्ताप महा।

निकले जो निश्वास दीर्ण कर
हृदय, गये वे कहो, कहाँ॥

क्या होगी उनसे भी प्रभुवर,
उस वारिद की सृष्टि नहीं?

होगी क्या सन्ताप-हारिणी
दया-वारि की वृष्टि नहीं?

माता का हृदय।

(लेखक—पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

"क्या कहूँ बहू, जबसे ब्रजमोहन का ब्याह हुआ तबसे उसकी तो जैसे काया पलट ही हो गई। ब्याह के पहले मेरे पास घंटों बैठता था, अपना दुख-सुख कहता था, मेरा सुनता था; हर बात में मेरी सलाह लेता था, पर जब से ब्याह हुआ तब से वे सारी बातें सपने सी हो गई। मैंने किस चाव से ब्याह किया था। मैं सोचती थी कि दोनों की जोड़ी देख मैं आँखें ठंडी करूँगी, पर मैं यह क्या जानती थी कि मैं अपने पैर में आप ही कुल्हाड़ी मार रही हूँ।"

"—बहू आजकल कुछ हवा ही ऐसी चल गई है कि मरद जोरू के गुलाम हो जाते हैं। मा-बाप को दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक देते हैं। जब देखो लाड़ली का आँचल पकड़े बैठे हैं। यह कलजुग है। इसमें जो हो सो थोड़ा समझो। आजकल की लड़कियाँ ऐसी छत्तीसी होती हैं कि अपने मरद पर जादू डाल देती हैं। बस, वह उन्हीं के कहने में चलता है।"

शाम का समय है। एक कमरे में दो प्रौढ़ा स्त्रियाँ बैठीं उपरोक्त बातें कर रही हैं। ठीक उसी समय एक युवती कुछ थोड़ा घूँघट निकाले उस स्थान पर आई। उसे देखकर दोनों प्रौढ़ाओं में से एक ने मुँह पर उँगली रख कर दूसरी की ओर इशारा किया। दूसरी स्त्री कुछ कहना ही चाहती थी; पर उसके इशारा करने से चुप हो गई। युवती ने इशारा करने वाली स्त्री से पूछा "मा जी, आज खाने को क्या बनेगा?" मा जी मुँह फुलाकर बोलीं—मैं क्या जानूँ, जो तेरा जी चाहे बना, अपने आदमी से पूछ ले।

"अपने आदमी से पूछ ले" का तात्पर्य था "अपने पति से पूछ ले।" युवती ने कुछ क्षण तक चुप रह कर कहा—तुम्हारा जी जो खाने को हो वह मैं बनाऊँ।

प्रौढ़ा कुछ शुष्क मुस्कान सहित बोली—मेरा जी अब काहे में रहा। मैं तो बहुत खा पी चुकी। मुझे तो अब पेट भरना है। अब तुम्हारा राज है। जो जी चाहे सो बनाओ खाओ।

यह कह कर प्रौढ़ा ने दूसरी प्रौढ़ा की ओर एक भावपूर्ण दृष्टि डाली। दूसरी प्रौढ़ा ने एक लम्बी साँस लेकर गरदन झुका ली। युवती कुछ क्षण तक मौन खड़ी रही। तत्पश्चात् धीरे धीरे वहाँ से चली गई। युवती के चले जाने पर पहली स्त्री अर्थात् ब्रजमोहन की माता बोली —"देखा, मुझ से पूछती है क्या खाओगी?" दूसरी स्त्री ने कहा—"तो इसमें कोई वैसी बात नहीं। घर के बड़े-बूढ़ों से तो पूछा ही जाता है।" ब्रजमोहन की माता माथे पर हाथ रख कर बोली—"हे भगवान! बहू, तू भी सठिया गई। अरी इसमें भी चाल है। मैं कुछ कह देती, बस झट खसम से जाकर कहती कि वे तो यह खायेंगी, वह खायेंगी। उनकी जीभ लपर लपर हुआ करती है—और न जाने क्या जकती। इसीसे तो मैंने कह दिया कि "जो तुम्हारा जी चाहे बनाओ-खाओ। और, बहू, सच्ची बात तो यह है कि हम तुमने बहुत खाया पिया। हम तुमने जो खा पी लिया वह आजकल के लोगों को देखने को नहीं मिल सकता।"

दूसरी ने कहा "राम राम, वे बातें अब कहाँ ?

(२)

ब्रजमोहनलाल अपने कमरे में कपड़े उतार रहे थे। उसी समय उनकी अर्द्धांगिनी ने कमरे में प्रवेश किया। अर्द्धांगिनी को देख ब्रजमोहन कुछ मुसकरा कर बोले—"भोजन तैयार है ?" मनोरमा ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—" तैयार है " ।

ब्रजमोहनलाल ने पूछा "आज क्या बना है ?"

मनोरमा मुख भारी करके बोली—" जो बनना था वही बना है। "

ब्रजमोहनलाल कुछ क्षण तक चुप रहे, तत्पश्चात् कुछ गम्भीर होकर बोले—" आज तुम कुछ उदास मालूम होती हो, क्या बात है ? "

मनोरमा चुप रही।

ब्रजमोहन ने पूछा—" क्यों क्या हुआ ? "

मनोरमा क्रन्दन-स्वर में बोली—" हुआ क्या, माँ जी का व्यवहार दिन पर दिन रूखा होता जा रहा है। आज पड़ोस के बसंतकुमार की माता आई थीं। उनसे अकेले में बैठे न जाने क्या क्या खुसुर-फुसर कर रही थीं। मैंने जाकर पूछा—" आज खाने को क्या बनेगा ? " बस, इतना पूछने पर ही न जाने क्या क्या बकने लगीं। बोलीं—खसम से पूछ ले। मेरा राज तो गया, अब तेरा राज है, जो चाहे बनाओ खाओ। और, न जाने क्या क्या कहा। मुझे वैसे तो कुछ बुरा न लगता, वे रोज ही दो चार बातें कहा करती हैं; पर आज एक बाहर की स्त्री के सामने उन्होंने ये बातें कहीं। वे अपने जी में न जाने क्या कहेंगी। माताजी तो अब कुछ शत्रुता सी करने पर उतारू रहती हैं"।

मनोरमा की बातें सुनकर ब्रजमोहन के मुख की गम्भीरता बढ़ गई। वे बड़ी देर तक चुपचाप बैठे सोचते रहे। इसके पश्चात् एक दीर्घ निश्वास लेकर बोले—हाँ, मैं भी उनका रूखा व्यवहार अनुभव कर रहा हूँ। पहले वे मुझसे इतना प्यार करती थीं जितना कि एक माता को करना चाहिए, परन्तु अब उनके उस व्यवहार में बहुत अंतर हो गया है।

मनोरमा—ये सारी बातें मेरे कारण हैं। न जाने वे मुझसे क्यों जला करती हैं ? मैंने उनका क्या बिगाड़ा है ? मैं तो सदा उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती हूँ। प्रत्येक काम में उनकी आज्ञा ले लेती हूँ, फिर भी वे असंतुष्ट रहती हैं।

ब्रजमोहन—सास और बहू में कभी प्रेम-व्यवहार नहीं रह सकता। सास और बहू में वैमनस्य रहना स्वाभाविक है।

मनोरमा—पर जब मैं अपनी ओर से कोई ऐसा काम नहीं करती जिससे उन्हें दुःख हो तब फिर इसमें मेरा अपराध क्या ?

ब्रजमोहन—जब मनुष्य के हृदय में वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है तब उसे ज़रा ज़रा सी बात में दोष और अपराध दिखाई पड़ता है। अब केवल प्रश्न यह है कि आखिर उनके हृदय में तुम्हारे प्रति वैमनस्य क्यों उत्पन्न हुआ ?

मनोरमा—यही तो मैं भी सोचती हूँ कि इसका कारण क्या है ?

ब्रजमोहन—(कुछ रूखे स्वर में) इसका कारण उनकी मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। अच्छा, अब तुम भोजन यहीं ले आओ।

ब्रजमोहनलाल ने अपने ही कमरे में भोजन किया। उस दिन वे अपनी माता के पास तक नहीं गये।

(३)

ब्रजमोहनलाल विवाह के पूर्व अपना खाली समय, अर्थात् जब तक वे घर में रहते थे, माता के पास बैठने-उठने में व्यतीत करते थे। दोनों समय माता के साथ भोजन करते थे। रात को माता के पलंग के पास पलंग बिछाकर सोते थे। रात को जब तक जागते रहते थे माता से अनेक प्रकार की बातचीत करते रहते थे। अपना दुख-सुख कहते थे, उनका सुनते थे। प्रत्येक कार्य में उनका परामर्श लेते थे। यदि कभी किसी कारण से माता का चित्त उदास होता था अथवा उन्हें कोई शारीरिक कष्ट होता था तो ब्रजमोहन उनको प्रसन्न करने और उनका शारीरिक कष्ट दूर करने की पूरी चेष्टा करते थे। यदि कभी किसी कारण से माता की इच्छा भोजन करने की न होती थी तो ब्रजमोहन कहते थे—"देखो माँ, जो तुम न खाओगी तो मैं भी न खाऊँगा।" यह सुनकर माता व्याकुल हो जाती थी और जिस प्रकार बनता कुछ खाने की चेष्टा करती थी। पहले ब्रजमोहन जो कुछ धनोपार्जन करते थे वह माता के हाथ पर धर देते थे। जब कभी उन्हें खर्च की आवश्यकता होती थी उन्हीं से माँग लिया करते थे।

परन्तु विवाह होने के पश्चात् उनके खाली समय का अधिकांश मनोरमा के साथ व्यतीत होने लगा। जब ब्रजमोहन भोजन करने बैठते मनोरमा प्रेम के मारे स्वयं उनके पास आ बैठती और उन्हें भोजन कराती। ऐसी दशा में माता वहाँ कैसे उपस्थित रह सकती थी। जो कुछ धनोपार्जन करते थे उसमें से आधा तो वे माता को देने लगे और आधा मनोरमा को। पहले ब्रजमोहन की मंत्रिणी उनकी माता थी; परंतु अब मनोरमा हो गई। हाँ, कभी कभी किसी बात में माता की सलाह भी ले ली जाती थी। यदि अब माता को कोई शारीरिक कष्ट होता है तो साधारण रूप से सेवा-शुश्रूषा होती, उसमें पूर्व की सी प्रेमोष्णता नहीं पाई जाती। यदि अब माता किसी कारण से भोजन नहीं करती तो ब्रजमोहनलाल दो एक बार पूछकर स्वयं भोजन कर लेते। वह प्रेम-रस-पूर्ण वाक्य कि "देखो माँ, जो तुम न खाओगी तो मैं भी न खाऊँगा" अब नहीं कहते थे।

उस दिन की घटना से दूसरे दिन ब्रजमोहन की माता बसंतकुमार के घर गई। बसंतकुमार की माता ने आदर-पूर्वक बिठाकर पूछा—कहो बहू, आज उदास कैसी हो?

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपना दुख-सुख अपने मित्रों से कहकर अपने हृदय का बोझ हलका करता है। अशिक्षितों में और खासकर स्त्रियों में यह स्वभाव विशेष बलवान होता है। वे अपना दुख-सुख जब तक किसी से कहकर उसकी सहानुभूति प्राप्त नहीं कर लेतीं तब तक उनके हृदय पर एक बड़ा भारी बोझ लदा रहता है। ब्रजमोहन की माँ बसंतकुमार की माता के पास इसीलिए आई थीं कि अपने हृदय की वेदना उनसे कहें। अतएव वे एक लम्बी साँस छोड़कर बोलीं—क्या कहूँ बहू, मेरे भाग फूट गये। अब मेरा ब्रजमोहन मेरा नहीं

रहा। हाय, अब मुझे यह ध्यान आता है कि व्रजमोहन को मैंने इतने दुख उठाकर पाला, उसके कारण दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। उसीका मुँह देख देख कर जीती रही। जब इसका बाप परलोक सिधारा था उस समय मैंने इसीको देखकर मन को धीरज दिया था, मैंने उनके मरने का दुःख उतना नहीं माना जितना कि मेरे ऐसी विधवाओं को होना चाहिए। जब मैं यह सोचती हूँ कि जो व्रजमोहन मेरे बिना एक घड़ी भी नहीं रह सकता था, व्याकुल हो जाता था, जो व्रजमोहन बिना मुझे खिलाये खाता नहीं था, जो व्रजमोहन मुझे दुखी देख कर व्याकुल हो जाता था, जो व्रजमोहन रातदिन मेरे मुँह की ओर ताका करता था, मेरी आज्ञा बिना छोटे से छोटा काम भी नहीं करता था—कहाँ तक कहूँ बहू, जो व्रजमोहन हर प्रकार से मेरा व्रजमोहन था—वह अब पराया हो गया। जब मुझे यह ध्यान आता है तब मेरे कलेजे में एक हूक उठती है। मुझ निगोड़ी ने अपना आपा जला जला कर उसे पाला पोसा सो मुझे एक पराये घर की छोकरी ने दूध की मक्खी की तरह अलग कर दिया और मेरे व्रज-मोहन को अपना बना लिया, मुझे परायी कर दिया। हाय!

वसंतकुमार की माता बोली—बहू, यह तो सारे संसार में हो रहा है। माँ-बाप कितने दुख-सुख उठा कर पालते पोसते हैं सो वह तो पराये हो जाते हैं और दो दिन की आई हुई पराये घर की छोकरियाँ लाड़ली हो जाती हैं।

व्रजमोहन की माता ने फिर कहना आरंभ किया—ऐसे तो बहू, मेरी बहू में कोई दोष नहीं, बेचारी हर प्रकार से मेरी सेवा करती रहती है, पर जब मुझे यह ध्यान आता है कि इसीने मेरे व्रजमोहन को मुझसे छुड़ा कर अपना बना लिया, जो यह न आती तो व्रजमोहन का और मेरा प्यार वैसा ही बना रहता, तब मेरे जी में आग सी लग जाती है—उसे देख कर मेरी आँखों में खून उतर आता है। क्या कहूँ, मैं अपने मन को बहुत समझाती हूँ कि संसार में सबके यहाँ ऐसा ही होता है। हमारे भी सास-ससुर थे, हमने भी उनके साथ यही किया जो अब हमारे बहू-बेटे हमारे साथ कर रहे हैं, पर फिर भी यह जी नहीं मानता।

वसंतकुमार की माता बोली—बहू, चाहे जो हो, अब वह बात तो होने की नहीं। अब तो वह उसका हो चुका, अब तुम्हारा नहीं हो सकता, चाहे तुम कुछ भी करो। इससे अब मन को धीरज देना ही अच्छा है।

व्रजमोहन की माता रोने लगी और रोते रोते बोली—बहू, मैं और कुछ नहीं चाहती। जिसमें वह सुखी रहे वही करे, उसे सुखी देखकर मेरी छाती ठंडी रहेगी, पर मैं केवल इतना चाहती हूँ कि वह जैसा प्यार मुझसे पहले करता था उसका आधा ही रक्खे। क्या कहूँ बहू, अब तो वह कई कई दिनों तक मेरे पास तक नहीं आता।

वसंतकुमार की मां ने कहा—अच्छा आज मैं वसंत से कहूँगी। वह व्रजमोहन को समझायगा। देखो, उसके समझाने से उसे ध्यान आ जाय तो अच्छा ही है।

(४)

प्रेम और ममत्व का ऐसा जोड़ा है कि ये दोनों कभी पृथक् नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है, जहाँ ममत्व है वहाँ प्रेम है। मनुष्य जिससे प्रेम करता है उसको अपना बनाकर रखना चाहता है। जिसे मनुष्य अपना समझता है उससे प्रेम करता है। मनुष्य जिससे प्रेम करता है यदि उसे अपना बना कर नहीं रख सकता, तो उसे घोर कष्ट होता है और ऐसाही प्रेम असफल-प्रेम कहलाता है।

यही हाल व्रजमोहन की माता का भी था। माता के प्रेम का कहना ही क्या है। ऐसी दशा में व्रजमोहन की माता के लिए यह बात असह्य थी कि व्रजमोहन उसकी ओर से उदासीन हो जाय और दूसरे के प्रेम-पाश में बँध जाय। इस का कारण वह अपनी पुत्रवधू को ही समझती थी, इस कारण पुत्रवधू के प्रति उसके हृदय में घोर द्वेष उत्पन्न हो गया था। इसी द्वेष के कारण वह उससे इतना रूखा और कटु व्यवहार करती थी।

दूसरे दिन वसंतकुमार ने व्रजमोहन से मिल कर कहा— भाई व्रजमोहन, मुझे तुमसे एक बात कहनी है।

व्रजमोहन ने कहा—कहिए, क्या कहते हैं?

वसंतकुमार—मैंने सुना है कि तुम अपनी माता के साथ बड़ा दुर्व्यवहार करने लगे हो।

व्रजमोहन चौंक कर बोले—दुर्व्यवहार!

वसंतकुमार—हाँ, दुर्व्यवहार।

व्रजमोहन—यह तुमसे किसने कहा?

वसंतकुमार—किसी ने कहा हो; पर यह बात है बिल्कुल ठीक।

व्रजमोहन—परन्तु, मैं नहीं समझता कि मैंने क्या दुर्व्यवहार किया, प्रत्युत सच पूछो तो वे ही दुर्व्यवहार करने लगी हैं।

वसंतकुमार—तुम जैसा प्रेम-व्यवहार अपनी माता के साथ विवाह के पहले करते थे वैसा अब नहीं करते।

यह कह कर वसंतकुमार ने विवाह के पूर्व और पश्चात् का व्यवहार जो उन्होंने अपनी माता से सुना था व्रजमोहन को बताया।

व्रजमोहन सब सुनकर मुसकराये।

वसंतकुमार बोले—क्यों, यह बात ठीक है?

व्रजमोहन—ठीक तो है, पर मैं इसे दुर्व्यवहार नहीं समझता। यह ठीक है कि पहले मैं अपना प्रेम उन पर सब समय अपनी बातों और अपने कार्यों द्वारा प्रकट करता रहता था; परन्तु अब ऐसा नहीं करता। इसका कारण तुम पूछो तो मैं कारण यह बताऊँगा कि पहले मेरे स्वभाव में लड़कपन था—अब वह लड़कपन नहीं रहा। मुझे अब वैसा व्यवहार करते कुछ लज्जा सी मालूम होती है। इस लज्जा का कारण मेरी सपत्नीक अवस्था है। जब से मेरी पत्नी आई तब से माता के सामने जाने में भी मुझे कुछ लज्जा सी मालूम होती है। तुम्हारा अभी विवाह नहीं हुआ; इसलिए तुम उसे अनुभव नहीं कर सकते। जब तुम्हारा विवाह हो जायगा तब तुम समझोगे कि मेरी बात में कितनी सत्यता है। रही हृदय की बात,

तो मेरे हृदय में उनके प्रति आदर और प्रेम तनिक भी कम नहीं हुआ।

बसंतकुमार बोले—भाई, मैं सपत्नीक जीवन के संबंध में तो कुछ नहीं कह सकता; क्योंकि मैं उससे अनभिज्ञ हूँ; पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि मनुष्य-स्वभाव ऐसा है कि केवल भावों के हृदयस्थ रहने से संतुष्ट नहीं रहता। जिससे तुम प्रेम करते हो यदि उसके प्रति अपने प्रेम को केवल हृदय ही में रक्खे रहो, उसपर अपने व्यवहार से उस प्रेम को प्रकट न करो तो वह कभी तुम्हारे प्रेम को नहीं जान सकता। वह तो तुम्हारे प्रेम की मात्रा को तभी जानेगा जब तुम उसे व्यवहार द्वारा उस पर प्रकट करोगे। मान लो, यदि किसी प्रकार तुम्हारे प्रेमपात्र को तुम्हारे हृदयस्थ प्रेम का पता भी लग जाय तब भी वह संतुष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि हृदय में परिमित प्रेम एक कटोरे में भरे हुए जल के समान है। कटोरे में भरा हुआ जल दिखाई तो पड़ता है कि कटोरे में भरा है; परंतु उसे केवल देखने ही से किसी की तृष्णा नहीं बुझ सकती, तृष्णा तभी बुझेगी जब वह पीने के लिए दिया जायगा।

ब्रजमोहन—यह बात तुम्हारी ठीक है, पर इस संबंध में यह लागू नहीं होती। मैं समझता हूं कि यह माताजी की अशिक्षा और उनका स्त्री-स्वभाव है कि वे एक साधारण सी बात को इतनी गुरुता दे रही हैं।

बसंतकुमार—खैर, यह तुम्हारी इच्छा है, जो ठीक समझो करो। मुझे जो कुछ कहना था मैं कह चुका।

(५)

ब्रजमोहन ने बसंतकुमार की बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने उन बातों को बिल्कुल निरर्थक समझा। वे समझते थे कि उनकी माता अशिक्षित होने के कारण और उनकी अर्द्धांगिनी मनोरमा से द्वेषभाव रखने के कारण यह सब झगड़ा उठाये हुए हैं। उन्हें माता के इस कार्य पर कि घरेलू बातों को दूसरों से कह कर उनसे सहायता चाहना, बड़ा क्रोध आया। उन्होंने ये सब बातें मनोरमा से कहीं। मनोरमा ने भी सास के इस कार्य को बहुत बुरा समझा और पति को उनके विरुद्ध खूब भड़काया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह गाँठ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ गई। मनुष्य स्वार्थ का पुतला है। वह दूसरों के हृदय की, दूसरों के भावों की उस समय तक कुछ भी परवा नहीं करता जब तक कि स्वयम् उसके हृदय पर चोट नहीं पड़ती। उन्होंने अपनी माता के प्रेम की गहराई को न जाना, उन्होंने उनकी सरल हृदयता को न समझा, उन्होंने उन्हें केवल एक अशिक्षित और विवेकहीन स्त्री समझा। उन्होंने उस दिन से और भी शुष्क व्यवहार करना आरंभ किया।

इधर ब्रजमोहन की माता भी स्त्री थी और अशिक्षित। उन्होंने भी तमाचे का उत्तर घूँसे से देना आरंभ किया। इसमें संदेह नहीं कि वे ब्रजमोहन के शुष्क व्यवहार से दुखित होकर एकांत में बैठी घंटों रोया करती थीं; परंतु उन्हें अपने हृदय पर इतना अधिकार नहीं था कि वे अपने व्यवहार को ठीक रखतीं। जब बात निकलती तब एक की चार चार सुनाती थीं। प्रायः

ऐसा हुआ करता था कि झगड़े का श्रीगणेश उन्हीं की ओर से होता था।

शाम का समय था। मनोरमा ने स्नान करके भूल से अपनी सास की धोती पहन ली। सास देवी ने भी कुछ देर पश्चात स्नान किया। स्नान करने के पश्चात् जब धोती की आवश्यकता पड़ी तब उन्हें मालूम हुआ कि उनकी धोती बहूरानी ने पहिन ली है। बस, फिर क्या था। उनका क्रोध उबल पड़ा। वे चीत्कार करके बोलीं—देखो तो राँड की बातें, मेरे कपड़े छीनने की घात में है।

सास के प्रति पति की उदासीनता से मनोरमा का साहस भी बढ़ गया था। अतएव उसने भी कहा—ज़रा समझ बूझ कर बात कहा करो, क्यों बुढ़ापे में अपनी दुर्दशा कराती हो, हमारा ही दिया खाती पहनती हो और हमीं तुम्हारे कपड़े छीनने की घात में हैं! कहते लाज भी नहीं आती। देखो न बाप के घर से कपड़ों के थान आते हैं। हमें जो राँड़ कहे, वह इस जन्म में तो राँड़ है ही, राम करे सात जन्मों तक राँड़ रहे।

मनोरमा की इस बात पर सासदेवी पर क्रोध का भूत सवार हो गया। उन्होंने जो मुँह में आया बकना आरंभ किया। मनोरमा जब उनकी बातों का प्रत्युत्तर न दे सकी तब उसने बैठकर रोना आरंभ किया।

थोड़ी देर के पश्चात् ब्रजमोहन आ गये। मनोरमा ने रो रो कर उनसे सब हाल कहा। ब्रजमोहन उसी समय क्रोध में भरे हुए माता के पास पहुँचे और बोले—क्यों माँ, तुमने इसे राँड़ क्यों कहा ?

माता बोली—मैंने कहा और मैं सौ बार कहूँगी। जो तेरा जी चाहे कर और जो उस राँड़ का जी चाहे वह करके देख ले।

ब्रजमोहन—तुम इतनी मूर्ख हो कि तुम्हें यह पता नहीं कि तुम उसे राँड़ कहकर मुझे कोस रही हो।

माता—मैं तो कोसती हूँ। फिर? मैं तो कहती हूँ कि जब तेरी अर्थी मचमचाती निकलेगी, जिस दिन उस कलमुँही की चूड़ियाँ फूटेंगी उस दिन मेरे कलेजे में ठंडक पड़ेगी।

माता की यह बात सुनकर ब्रजमोहन काष्ठवत् रह गये। उन्होंने सोचा कि "यही मेरी माता है, इसीके प्रेम के राग अलापे जाते हैं। यह माता नहीं, राक्षसी है, नागिन है।" उनके हृदय में माता के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई। उन्होंने कुछ देर तक सोच कर कहा—बस, हद हो गई। अब हमारा तुम्हारा निर्वाह एक घर में नहीं हो सकता।

माता ने तुरंत उत्तर दिया—नहीं हो सकता, तो अपना काला मुँह लेकर निकल जा और उसको भी ले जा। यह घर मेरे आदमी का घर है, मैं तो इसे कभी नहीं छोड़ सकती। मुझे जो इस घर से निकलने को कहेगा मैं उसकी और अपनी जान एक कर दूँगी।

ब्रजमोहन ने कर्कश स्वर में कहा—तुम्हारे आदमी का है तो तुम लेकर बैठो। यदि मैं अपने बाप का बेटा हूँ तो इस घर में कभी आकर थूकूँगा भी नहीं।

माता भी बोली—और जो मैं भी अपने बाप की बेटी हूँ तो मैं भी तेरे द्वार पर कूड़ा फेंकने को भी न जाऊँगी ।

❀　　❀　　❀　　❀

ब्रजमोहन को अपनी माता से अलग हुए तीन महीने हो चुके । इतने दिनों तक दोनों ने अपनी अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया । ब्रजमोहन तो अपनी माता को एक प्रकार से बिल्कुल भूल गये । परन्तु ब्रजमोहन की माता अब भी प्रतिदिन पास-पड़ोस—वालों से ब्रजमोहन के संबंध में पूछ लेती है और यह जानकर कि वह आनंद से है, सुख की सांस भरती है। इस बीच में ब्रजमोहन का जन्मदिन पड़ा । उस दिन माता ने बड़ा आनंद मनाया, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी । पास-पड़ोस की दो चार स्त्रियों को एकत्र करके कुछ गाया बजाया भी । कुछ लोग उनकी इस बात पर हँसते थे कि यह बुढ़िया पागल हो गई है । आप ही तो पहले लड़भिड़ कर लड़के से अलग हुई और अब उसके जन्मदिन पर ढोलक ठनकाती है ।

कभी कभी वृद्धा एकांत में बैठकर सोचा करती थी—"मैंने नाहक झगड़ा बढ़ाया है । मैं चुप रहती तो अच्छा था, मेरा ब्रजमोहन मेरी आँखों की ओट न होता। हाय, मैंने उसे कैसी कैसी कड़ी बातें कहीं, मैंने उसे कोसा । हे भगवान्, उस समय मेरी जीभ क्यों न जल गई । राम करे उसको कोसा हुआ मुझे लग जाय ।" ऐसी ऐसी बातें सोचकर वृद्धा घंटों बैठी रोया करती और अंत में यह कहकर मन को धैर्य देती कि—"वह चाहे जहाँ रहे, पर ईश्वर उसे दूधपूत से सुखी रक्खे !"

एक दिन एक पड़ोसी ने आकर कहा-"तीन दिन से ब्रजमोहन को बड़ा ज्वर है, बेहोश पड़ा है ।"

इतना सुनते ही बुढ़िया के पैरों तले की भूमि मानों खसक गई । उसने घबराकर कहा, "देखो, उस कलमुँही ने मुझे खबर तक न दी । उसी ने तो मेरे ब्रजमोहन का मन बिगाड़ दिया, नहीं तो उसका ऐसा अच्छा सुभाव है कि वैसे सुभाव का आदमी दिया लेकर ढूँढ़ो तब भी न मिलेगा।

ब्रजमोहन की माता उसी समय ब्रजमोहन के घर पहुँची । ब्रजमोहन ने माता को देखा; पर कुछ बोले नहीं । ब्रजमोहन का ज्वर बढ़ता गया । वे एक महीने के लगभग बीमार रहे । बुढ़िया ने जी तोड़कर सेवा-शुश्रूषा की, यथाशक्ति मनोरमा को अलग रखने की चेष्टा करती रही । रात रात भर बैठी पंखा झला करती थी । समय पर औषध देती, समय पर पथ्य देती । ज्वर कम होने पर एक दिन रात को दो बजे ब्रजमोहन को अच्छी तरह होश आया । उन्होंने इधर उधर देखा । उनके सिरहाने उनकी माता बैठी पंखा झल रही थी । पास ही एक पलंग पर मनोरमा पड़ी सो रही थी । नींद के मारे बुढ़िया की आँखें झुकी पड़ रही थीं, परंतु वह बराबर अपने कार्य में लगी हुई थी । ब्रजमोहन को इधर उधर ताकते देख माता का मुख खिल उठा । उसने पूछा, क्यों बेटा, कैसा जी है ? "क्यों बेटा कैसा जी है" ये शब्द बड़े साधारण हैं; पर माता के मुख से निकले हुए इन शब्दों में न जाने कितनी प्रेमोष्णता थी कि ब्रजमोहन की आँखों से आँसू बहने लगे । उन्होंने 'माँ' कहकर माता के गले में अपनी बाहें डाल दीं ।

मनोराज्य।

(लेखक—श्रीयुत 'निर्गुण')

(१)

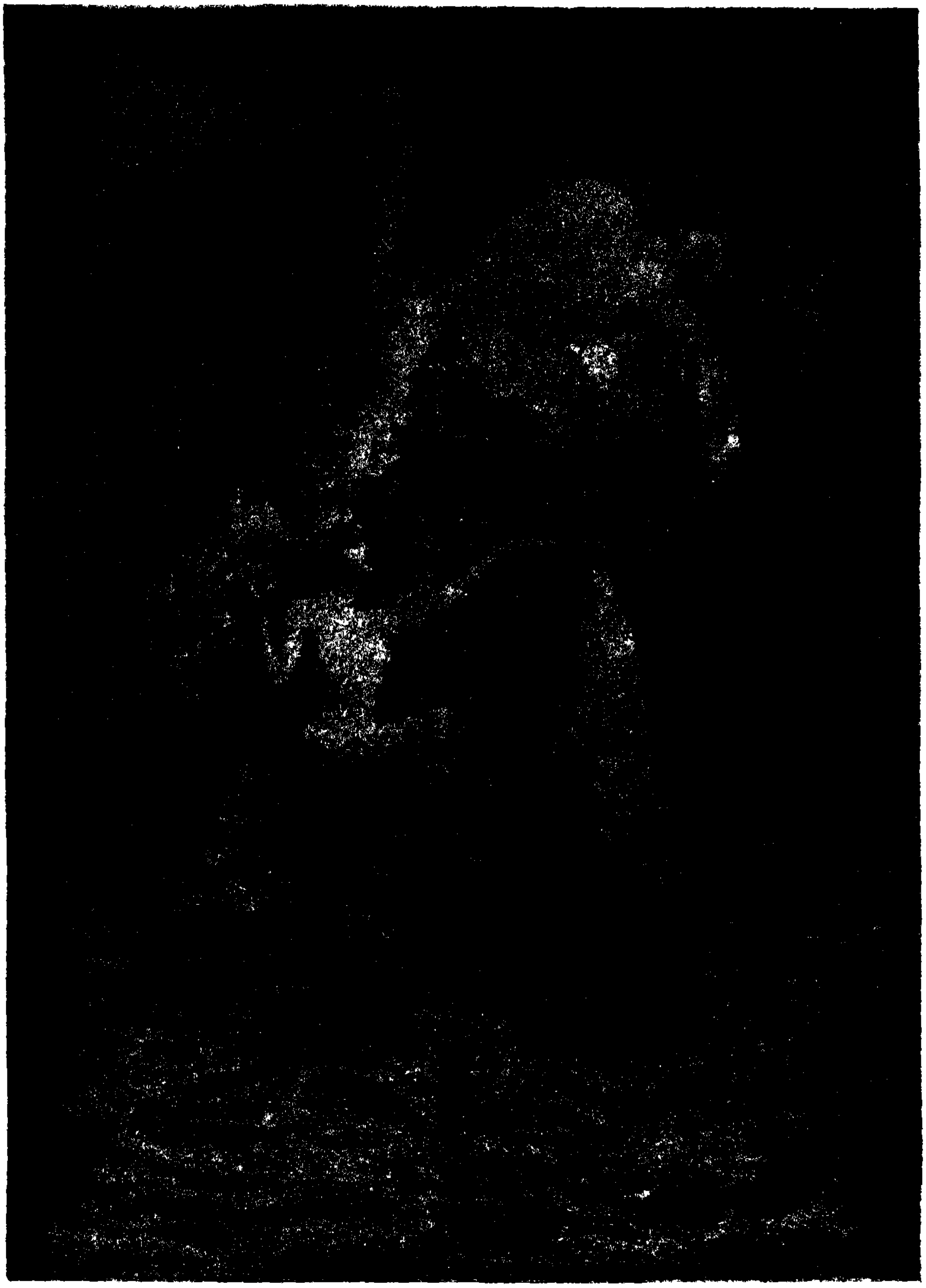
वसंत आया है, चला जायगा; परन्तु सौंदर्योपासक भारत इस समय अपनी इंद्रियों को अन्तर्मुख करके किसी मनोनीत विषय के चिंतन में स्थिर बैठा है। बाह्य सृष्टि की भिन्न भिन्न वासंतिक छटाएँ इस समय भारत के गंभीर मनको आकर्षित नहीं कर सकतीं। अवश्यंभव वह प्यारी चिर-वसंतमयी स्वतंत्रता के विछोह में मन ही मन अधीर हो रहा है। भारत वियोगी है इसमें संदेह ही क्या है, फिर वियोगी के लिए वसंत कहाँ?

बाहर वसंत है, परन्तु भारत के हृदय-देश में सर्वसंतापकारी भयंकर ग्रीष्म की लू बह रही है। यहाँ अभी तक आनंद और उत्सव के फूल नहीं खिले। भारतीय कवियों का प्रतिभा-स्रोत भी इस समय मनस्ताप की गरमी से सूख गया है। इसीसे कहना पड़ता है कि उनके हृदय इस समय उमंग से न भरेंगे। प्यारी कोकिला के वीणा-विनिंदक स्वर उनके कानों में सरसता का संचार न कर सकेंगे। नव-पल्लवित लताओं की अठखेलियाँ, शीतल, मंद और सुगंध समीरण का वह मचल मचल कर चलना, पूर्ण-चंद्र का रजनी के साथ वह प्रेमालिंगन उन्हें प्रफुल्लित न कर सकेंगे। क्यों? क्योंकि भारतीय जीवन की कविता इस समय नष्ट हो रही है। आज उसमें प्रासादिकता कहीं दिखाई नहीं देती, पद-रचना उसकी शिथिल हो गई है। अर्थ-गौरव का कहीं पता नहीं लगता। वह आज सर्वतोभावेन अलंकार-हीन है। उसमें शब्द-सौष्ठव अब नहीं रहा। भावों का सर्वथा अभाव है। अर्थ का खेद-जनक अनर्थ हो रहा है। इस प्रकार वसंत-प्रेमी भारत के जातीय जीवन की काव्य-रचना क्लिष्ट, जटिल और नीरस हो गई है। इसीसे हमें प्रतीत होता है कि भारतीय कवि वर्तमान वासंतिक छटा को उमंग-भरी दृष्टि से न देखेंगे।

तो क्या भारत के भाग्य में अब वसंत नहीं है? क्या वह मनस्ताप के ग्रीष्म में यों ही सदैव जला करेगा? क्या उसके हृदय-कानन में आनंद और उत्साह के फूल अब न खिलेंगे? नहीं, ऐसा नहीं। आशा अब भी विश्वास-पूर्वक कहती है—

"अइहै बहुरि वसंत ऋतु इन डारिन वे फूल"।

भारत दुखी है। परंतु अब भी वह निराश नहीं है। जातीय विकाश के भावी वसंत की आशा से वह अभी जी रहा है। भारतीय कवि अपने जातीय जीवन की कविता को सरस और सर्वांगीण बनाने की प्राण-पण से चेष्टा करते हुए अब भी आशावान हैं। एक बार दोषमुक्त हो कर फिर भी वह दिव्य हो सकेगी। उसकी रचना-चातुरी, पद-लालित्य और सरसता पर हृदय-हीन सृष्टि भी एक बार मुग्ध हो कर सहृदय हो जायगी! देव-समुदाय उस भावमयी कविता को पढ़कर फिर भी तल्लीनता का अनुभव करेगा, निःसंदेह सृष्टि के मानव-जातीय जीवन का महाकाव्य एक बार फिर भी अपनी प्राचीन पूर्णता को प्राप्त होगा।



श्रीलक्ष्मी विष्णु

The Manoranjan Press, Bombay

प्यारे बसंत ! फिर कभी आना । उस समय स्वर्ग-संगीत की स्वर-लहरी के साथ हम हृदय खोल कर तुम्हारा स्वागत करेंगे । उस समय संयोगी भारत अपनी प्रियतमा के साथ यथा-पूर्व तुम्हारा आतिथ्य-सत्कार फिर भी उसी श्रद्धा से करेगा । प्रेमातिरेक से तुम भारत-मय हो जाना । भारत बसंत-मय हो जावेगा । क्यों ? आओगे ?

(२)

कहा जाता है कि आज दिन जो हम लोग स्वतंत्रता का सुर भिन्न भिन्न रागिनियों में अलाप रहे हैं वह ब्रिटिश सरकार की दया-पूर्वक दी हुई पश्चिमी शिक्षा का शुभ परिणाम है । क्यों न हो । भारत के भविष्य को सुधारने के लिए अंग्रेजों से प्रतिस्पर्धा करने वाली फ्रेंच जाति अथवा और किसी दूसरी जाति के हाथ में हमारे शासन की बागडोर आज दिन कदाचित् होती तो हम आज मूर्ख रहते या मिट गये होते। क्यों ? क्योंकि हिन्दुओं की सभ्यता में स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान ही नहीं है । वहाँ तो नर-विक्रय (Slavery) का बाजार गरम था न और उसका मूलोत्पादन हमारे ब्रिटिश उद्धारकों ने किया !

इस भावना का भद्दापन इतना बढ़ा बढ़ा है कि इस विषय में कुछ भी कहना हम व्यर्थ समझते हैं । यदि यह मान भी लिया जावे कि इस अभागे देश के रहने वालों को स्वातंत्र्य-बुद्धि पश्चिमी शिक्षा से ही मिली है तो हम यह जानना चाहते हैं कि रोमन सम्राट् को तहस-नहस करने वाली परसों की और कल की सभ्य जातियाँ जिस समय जातीय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की गूँज मचा रही हैं, जिस समय पश्चिमी कारखानों के कुली और मजदूर तक स्वाभिमान से प्रेरित होकर मदोन्मत्त धन-कुबेरों की ओर त्योरी बदल रहे हैं, जिस समय उठती हुई स्वार्थ की आँधी से बचने के लिए कल की पैदा हुई भूमंडल की छोटी छोटी जातियाँ भी अपनी आत्म-रक्षा का उपाय सोच रही हैं उस समय क्या भारत सरीखा इतना बड़ा भूमि-खंड केवल पाश्चिमी शिक्षा के अभाव के कारण ही ज्यों का त्यों निस्तब्ध पड़ा रहता ? यदि ऐसा ही है तो हम अपने धर्म के अनुसार मनुष्य के उद्धार करने वाले ईश्वर के दश अवतारों में भारत के अंग्रेज वाइसरायों की भी गणना करने लगेंगे ।

क्या स्वेच्छाचारी पक्षी को पिंजरे की परतंत्रता में डालने के बाद अपनी विवशता का अनुभव करने के लिए अंग्रेजी शिक्षा की जरूरत होती है ? यदि नहीं, तो अंग्रेजी शिक्षा के और अंग्रेज उद्धारकों के भाट बनने में कौन सी बुद्धि-मानी है ? कदाचित् हमारी बुद्धि की यह हीनता स्वतंत्रता की शिक्षा देने वाली उसी देव-दुर्लभा अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम है ।

(३)

शस्त्रों का युद्ध संसार कई बार देख चुका है। स्वार्थ और अधर्म का यूरोपीय महाभारत अभी अभी समाप्त हुआ है । उसके आघात से संसार अभी तक दर्द की आहें भर रहा है । यूरोप स्वार्थ के परे नहीं जा सकता । इसलिए स्वार्थ की वेदी पर वह सब कुछ अर्पण कर सकता है।

यूरोपीय युद्ध इसी स्वार्थ का एक महान यज्ञ था। इस स्थल में व्यवसाय-बुद्धि वाले क्षत्रिय-वेष-धारी वैश्य और कुत्सित-कर्मा शूद्र ही एकत्रित हुए थे। इसीसे इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों नगर नष्ट हो गये, हजारों की संख्या में छोटे छोटे बच्चे अनाथ हो गये, और सहस्रों अविवाहित कुमारियाँ गर्भवती हो गईं।

क्षात्र-युद्ध भारत के इतिहास में कई बार हो चुका है। यह हिंसात्मक अवश्य है, परंतु कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर किया जाता है। रुधिर की सरिता बहाते हुए भी इस युद्ध में धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का विचार किया जाता है। ऐसे युद्ध में प्रवृत्त होने वाले वीर कठोर से कठोर और कोमल से कोमल हृदय से युक्त रहते हैं। शस्त्राघात से कराहते हुए शत्रु की सहायता और शुश्रूषा करना इसमें धर्म माना जाता है। यह युद्ध निर्बल और निस्सहाय स्त्रियों और बच्चों की कल्याण-कामना से रचा जाता है। पांडवों की सेना महाभारत में इन्हीं उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुई थी।

आज इस अनोखे भारत में एक अनोखे युद्ध की योजना हो रही है। इसमें प्रवृत्त होने वाले वीर आज अधर्म को धर्म से, घृणा को प्रेम से, स्वार्थ को परमार्थ से, क्रोध को शांति से, तीक्ष्ण असिधारा को आत्म-बलिदान से, पराजित करना चाहते हैं। इस युद्ध की भेरी "अहिंसा परमो धर्मः" का घोष कर रही है। इस युद्ध के सिपाही त्याग का कवच पहन कर खड़े हुए हैं। इसकी पवित्रता नष्ट करने के लिए रुधिर की एक बूँद नहीं हाँ, हृदय का एक हलका सा आघात पर्याप्त है। इसके लिए कोई विशेष युद्ध-स्थल की आवश्यकता नहीं है। इस युद्ध में खाइयाँ न खोदी जावेंगी। इस युद्ध का सेनानी पुकारकर अपने अनुयायियों से कहता है कि यदि तुम विजय चाहते हो तो शस्त्रों का एकदम परित्याग कर दो, यदि तुम शत्रु को मारना चाहते हो, तो अपने प्राण पहले विसर्जन कर दो। मारने के लिए मरने की आवश्यकता है।

कहा जाता है कि इस युद्ध में सिर्फ ब्राह्मण ही योग दे सकेंगे। क्षत्रिय उदासीन होकर इसका दृश्य देखेंगे। प्रार्थना-वृत्ति-प्रधान वैश्य और शूद्र इसका विरोध करेंगे।

देखें, इस ऋषि-युद्ध का क्या परिणाम होता है।

(४)

निशीथ काल के जोगिया अथवा प्रातःकाल की निस्तब्धता-प्रेरित भैरवी की तान में निकलती हुई "वंदे मातरम्" की ध्वनि अब कानों को विशेष मधुर नहीं मालूम होती। जन-समुदाय के कोलाहल में दुंदुभी और भेरी के सहयोग से उसका प्रभाव अब हृदय पर विशेष-रूप से पड़ता है। परिस्थिति उसकी आवश्यकता बतला रही है। इसका कारण भी स्पष्ट है। देशसेवा ने इन थोड़े दिनों में विलक्षण रूपांतर धारण कर लिया है। अब वह वाग्विलासियों के लिए गौरव-पूर्वक धारण करने के योग्य मोतियों की माला नहीं रही। आज वह भारतमाता के कर-कमलों में काँटों के मुकुट के रूप में दिखाई देती है। भारत-जननी पुकार कर अपने पुत्रों से पूछती है, "इसे अपने मस्तक पर धारण करने के लिए तुममें से कौन

तैयार है ?" देवी के ये शब्द प्रेम-गर्भित हैं सही; परंतु इनमें निष्ठुरता का बाहरी पुट चढ़ा हुआ है। मस्तक के उस विलक्षण अलंकार का रूप भी कुछ चित्ताकर्षक नहीं है। धारण करने वाले के अंग विशेष पर वह प्रतिक्षण चुभने वाला है। इसे शिरोभाग में रख लेना कुछ हंसीखेल नहीं है। एक बार यह सिर में अच्छी तरह जम गया कि फिर सिर के साथ ही निकलेगा। इसे माला का वही पुत्र धारण करेगा जो जीवन और मरण का रहस्य जानता है। कहो भाई, इसे कौन पहनेगा ? यह प्रश्न विशेषकर मोतियों की माला पहनने वालों से है। वे ही इसका उत्तर दें।

स्वार्थपरता जिनके जीवन का मूल मंत्र है, तर्क-वितर्क के तंग रास्ते से बार बार आने जाने के कारण जिनकी बुद्धि तंग और संकुचित हो गई है, धर्म-हीन शिक्षा के संस्कार से जिनकी आध्यात्मिकता नष्ट हो गई है, जड़ता-वाद की मदिरा से उन्मत्त होकर जो इस पृथ्वी की परिधि को आत्म-गौरव के मानदंड से नापना चाहते हैं, वे इस प्रश्न को सुनकर भी न सुनेंगे। आत्म-विसर्जन का निमंत्रण देने वाली भारतमाता की वह विषाद-मयी मूर्ति उनकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष होकर भी न दिखाई देगी जिनके अंतः-करण में अंतरतम प्रदेश से यह ध्वनि निकलेगी—

"समर-मरण पुनि सुरसरि-तीरा।
राम-काज क्षण-भंगु शरीरा॥"

(५)

देश की कमजोरी कहाँ है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हमें अपने बहुतसे सिद्धान्त बदलने पड़ेंगे। आज भी ऐसे बहुतसे दिमाग़-वाले मिलेंगे जिनकी यह धारणा स्थिर है कि देश की शक्ति शिक्षित-समुदाय में केन्द्रीभूत है, और देश की कमजोरी अशिक्षित-जनता में है। कल तक हमारा भी यही सिद्धान्त था। परंतु आज की परिस्थिति हमें अपनी यह राय बदलने के लिए आग्रह कर रही है। आज हमें प्रतीत होता है कि जहाँ जहाँ विदेशी सभ्यता का बाज़ार गरम है वहाँ दूकानें तो एक से एक ऊँची हैं, परंतु पकवान अधिकांश में फीके मिलते हैं। जहाँ तर्क और विचारशालीनता का सरोवर ओत-प्रोत भरा है वहाँ भावुकता के कमल नहीं खिलते, वहाँ प्यासे पथिक की प्यास नहीं बुझती, क्योंकि जल खारा और विषैला है। आज हम देखते हैं कि जहाँ वाग्धारा अनर्गल रूप से बहती आई है उसके आसपास की भूमि ज्यों की त्यों ऊसर और सत्त्वहीन बनी हुई है। वहाँ कर्त्तव्य-परायणता के पौधे पल्लवित नहीं होते। आज हमें यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि जहाँ वाशिंगटन और नेपोलियन की मूर्तियाँ स्थापित हैं वहाँ शिवाजी और प्रतापसिंह की स्मृति भी नहीं है। जिनका हृदय यूरोपीय वीरों के चरित्रों को विदेशी भाषा में पढ़कर फूल सा खिल जाता है उन्हें भारत-माता की वेदना भरी पुकार और आहें आज नहीं सुनाई देतीं।

हमारी विभीषिका-मयी शिक्षा-प्रणाली की यह कैसी विडंबना है !

फिर देश की शक्ति कहाँ दृष्टिगोचर होती है ? इस दृश्य के लिए भारत-समाज का पहलू बदलना होगा। देश की सबलता हमें वहाँ दि-

दिखाई देती है जहाँ भारत की अशिक्षित अबलाएँ घूँघट काढ़कर पीपल और तुलसी के चहुँओर प्रदक्षिणा कर रही हैं। देश की शक्तिमत्ता वहीं मिलेगी जहाँ चावल के कुछ दानों में पानी मिला कर दिन में एक बार पीनेवाले किसान गरमी और सरदी की परवाह न करते हुए खेत और खलियानों में खड़े हुए हैं। देश का वीर्य उस स्थान में अंकुरित होगा जहाँ राम और कृष्ण की सरल कथाएँ बड़ी कठिनाई से परंतु श्रद्धापूर्वक पढ़ी जाती हैं। भारत की चैतन्यता वहीं प्रगट होगी जहाँ भारत की प्राचीन परिपाटियाँ आदर और प्रेम की दृष्टि से देखी जाती हैं और उनकी गिनती हाथ की अँगुलियों में ही समाप्त हो जाती है। इसलिए हमारी यह धारणा है कि भारत की कमज़ोरी उसकी शिक्षा में निहित हो गई है।

विविध विषय।

(१) भारत-सरकार की सैनिक नीति।

देश के भीतर शांति बनाये रखने तथा बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए प्रत्येक राज्य को सेना रखना पड़ता है, और इसका खर्च उसी देश से, टैक्सों के द्वारा, निकाला जाता है। सेना के बिना न देश में शांति हो रह सकती और न राज्य ही टिक सकता है। इसलिए भारत-सरकार सैनिक शक्ति के लिए लोगों से जो रुपये एकत्र करती है वह ठीक ही है। यह भी उचित है कि देश की रक्षा के लिए किसी अन्य देश के साथ युद्ध छिड़ जाने पर सैनिक शक्ति में अधिक व्यय किया जाय और प्रजा उस अधिक व्यय के बोझ को सहर्ष सहे। यह और भी उचित है कि सैनिक सदैव संतुष्ट रखे जायँ और यदि महँगी आदि के कारण अन्य विभागों के कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया जाय, तो सेना-विभाग की वेतन-वृद्धि सबसे पहले की जाय।

पर, प्रश्न यह है कि सैनिक शक्ति के लिए देश की आय का कितना अंश व्यय किया जाय। संसार में क्या ऐसा दूसरा भी कोई देश है जहाँ शान्ति-काल में भी, देश की समस्त आय का आधा हिस्सा फ़ौज के पेट में समा जाता है? यदि अन्य विभागों में अधिक व्यय करने की आवश्यकता न होती, तब तो सैनिक व्यय की अधिकता की उपेक्षा की जा सकती थी; पर जिस देश में प्रायः प्रति वर्ष अकाल पड़े, इन्फ्लुएंज़ा होने से १५ दिन के भीतर, देश के ६० लाख मनुष्य काल के गाल में समा जायँ, १०० में ६ मनुष्य भी कठिनाई से पढ़े-लिखे मिलें उस देश की स्थिति सुधारने के लिए अन्य विभागों में एक एक पाई की किफ़ायत की जाय; पर फ़ौज की शान रखने के लिए आधी आमदनी खर्च कर दी जाय, और सो भी देश की सम्मति के बिना, इसका न्याय समझने में जनता की बुद्धि असमर्थ है।

फिर, सैनिक व्यय प्रति वर्ष बढ़ता जाय इसे क्या कहा जाय? महायुद्ध के पूर्व तो इस देश का सैनिक व्यय ३० करोड़ रुपये था; पर महायुद्ध आरंभ होते ही उसका बढ़ना आरंभ हुआ, और इस प्रकार बढ़ा कि बड़े २ राजनीतिज्ञों के अनुमान के परे निकला। १९१७–१८ में वह

अनुमान से बीस लाख पौण्ड, १९१८–१९ में १½ करोड़ पाउन्ड और १९१९–२० में लगभग २½ करोड़ पाउन्ड अधिक खर्च हुआ। लोगों ने राजभक्ति के आवेश में यह सब कुछ सहा, अपने पेट काटे, अपने अन्य खर्च कम किये; पर सैनिक शक्ति के लिए जो माँगा गया सो दिया इस आशा से कि युद्ध का समय है, अभी दे दो, फिर इतना न देना पड़ेगा। परन्तु, आशा निराशा में परिणत हुई। महायुद्ध समाप्त होने पर भारत की राजभक्ति का जो पुरस्कार दिया गया उसे लिखने की अब कोई आवश्यकता नहीं। युद्ध बन्द होने पर भी, सैनिक व्यय जो महायुद्ध के पूर्व लगभग ३० करोड़ रुपये था, १९२१–२२ के लिए ६२½ करोड़ रुपये रखा गया है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार पिछले वर्षों में सैनिक व्यय अनुमान से अधिक होता रहा है उसी प्रकार आगामी वर्ष वह ७० या ८० करोड़ पर पहुँचे, तो आश्चर्य नहीं। आगामी वर्ष आमदनी होगी १२९ करोड़ रुपये, और सैनिक व्यय होगा ७० या ८० करोड़—कम से कम ६५ करोड़ में तो कोई सन्देह ही नहीं। फिर भी, कौन कह सकता है कि आगे चलकर यह व्यय कम होगा? अनुमान करने के लिए पुराना अनुभव चाहिए, और पुराना अनुभव तो फ़ौजी खर्च को प्रति वर्ष बढ़ता हुआ देखता आ रहा है। कौन कह सकता है कि यदि फ़ौजी खर्च ने भारत-सरकार का दिवाला अभी नहीं निकाला है तो वह २-४ वर्षों में नहीं निकल जायगा? एक ओर सुधार-युग की मधुर तान छेड़ी जाती है और दूसरी ओर यह जाल बिछाया जा रहा है।

यहाँ इंग्लैंड को देखिए। महायुद्ध के कारण उस-पर बहुत भारी ऋण लद गया है। फिर भी चैनसेलर ऑव दि एसचैकर ने कहा है कि आगामी वर्ष कोई नये टेक्स नहीं लगाये जायँगे। इसका कारण शायद यह भी हो कि जर्मनी से बहुतसा रुपया मिलेगा और उससे काम चलाया जायगा। पर जिस भारत ने अपना धन और जन, पानी के समान बहाकर, विजय प्राप्त करने में सहायता दी उस भारत की सरकार ने क्या कभी यह प्रयत्न किया है कि जर्मनी से मित्र-राष्ट्रों को जो द्रव्य मिलेगा उसका कुछ अंश भारत को भी दिया जाय? इसके सम्बन्ध में भारत-सरकार ने अपने उत्तर-दायित्व का निर्वाह कहाँ तक किया है इसका हमें कोई पता नहीं।

भारत के सेना-विभाग की एक विशेषता यह भी है कि जो सेना शांति-काल में पर्याप्त रहती है वह युद्ध-काल में अपर्याप्त हो जाती है। इस समय जो सेना है उसकी संख्या पहले से कम है; परन्तु उसपर व्यय अधिक हो रहा है जिसका कारण यह है कि एक तो सैनिकों को अधिक व्यय दिया जाता है और दूसरे, युद्धो-पयोगी सामग्री अधिक महँगी हो गई है। प्रधान सेनापति ने बोल्शेविक लोगों के आक्रमण की जो आशंका बताई है वह यदि सच निकली, तो सेना की वर्तमान संख्या से काम न चलेगा। अधिक सेना की आवश्यकता पड़ेगी और फलतः अधिक व्यय किया जायगा।

यह अधिक व्यय न हो इसके लिए दो उपाय हैं। पहला उपाय तो यह है कि भारतवासी सेना में अधिक संख्या में रखे जायँ; क्योंकि भारतीय सैनिक अंग्रेज़ी सैनिकों की अपेक्षा कम वेतन पर काम कर सकते हैं और कर रहे हैं। सेना में भारतवासियों की संख्या अधिक

रखने से कितनी किफ़ायत हो सकती है इसका पता इसी एक बात पर से लग सकता है कि ब्रिटिश सिपाही को महायुद्ध के पूर्व ३५) और भारतीय सिपाही को ११) प्रति मास दिया जाता था। इस समय ब्रिटिश सिपाही को १००) से भी अधिक मिलने लगा है; पर भारतीय सैनिक को २५) प्रति मास से अधिक देने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। इस प्रकार भारतीय सिपाही की अपेक्षा ब्रिटिश सिपाही ६-७ गुना पाता है। अक्सर तो १०-१२ गुने से भी अधिक पाता है। इस पर से यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि सेना में भारतीयों की अधिक संख्या रखने से कितनी किफ़ायत हो सकती है। दूसरे, भारतवासी सैनिकों में यह भाव जाग्रत किया जा सकता है कि वे भारत की रक्षा के लिए कम वेतन पर काम करें। वह भाव अंग्रेज़ी सैनिकों में लाया ही नहीं जा सकता। अंग्रेज़ी सैनिक वेतन के लोभ से ही काम कर सकते हैं; परन्तु भारतवासी स्वदेशाभिमान के पवित्र भावों से प्रेरित हो सकते हैं और इस प्रकार प्रेरित एक एक भारतवासी विदेशी सैनिकों से अधिक काम कर सकता है। यह समझना भारी भूल है कि अधिक वेतन पाने से ही सेना सन्तुष्ट रह सकती है। सेना में कुछ नैतिक भाव भी रहता है और उसे जाग्रत करने से अल्प वेतन पाकर भी सेना सन्तुष्ट रह सकती है।

दूसरा उपाय यह है कि भारतवासियों को अधिकाधिक संख्या में सैनिक शिक्षा दी जाय जिससे वे दूसरे देश का आक्रमण होने पर स्वदेश की रक्षा कर सकें। इस प्रकार की शिक्षा देने से शान्ति-काल में जो अधिक सेना, वेतन पर, रखी जाती है उसकी आवश्यकता न पड़ेगी और अशांति या युद्ध के समय पर्याप्त सेना तुरन्त खड़ी की जा सकेगी।

ये उपाय बहुत सरल हैं। यह संभव नहीं कि भारत-सरकार को ये ज्ञात न हों। उन का जो अवलम्बन नहीं किया जा रहा है उसका कारण यही हो सकता है कि अभी भारत-सरकार को उतना विश्वास नहीं आया है, और जब तक यह नहीं आया है, तबतक उत्तरोत्तर अधिक व्यय करके भी सरकार देश का और न अपना ही कल्याण कर सकती है। सरकार अधिक व्यय करने के लिए जो टैक्स आदि लगा रही है वे इतने भारी हैं जिन्हें देश की जनता बिल्कुल नहीं उठा सकती, और इस प्रकार जहाँ एक ओर सेना को संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया जाता है वहाँ दूसरी ओर समस्त देश में असन्तोष की ज्वाला को, जो कई प्रबल कारणों से पहले से ही धधक रही है, और भी प्रचण्ड रूप दिया जाता है। तीस करोड़ जनता के असन्तोष और मुट्ठी भर सैनिकों के सन्तोष में किस प्रकार सामञ्जस्य हो सकेगा इसे भारत-सरकार ही जाने।

(२) विद्यार्थियों का कार्य-क्षेत्र।

इस समय देश के विद्यार्थियों में अपूर्व हलचल मची हुई है। प्रतिदिन, अधिकाधिक संख्या में, देश के ये भावी कर्णधार राष्ट्र और देश की सेवा के लिए आगे बढ़ रहे हैं। चारों ओर से काम की पुकार हो रही है; परन्तु देश में काम इतना अधिक है कि पुकार होती नहीं और काम प्रत्यक्ष हो जाता है। सारी शक्तियाँ लगा देने पर भी काम शेष ही रह जाता है। इस समय यह बहुत

आवश्यक है कि विद्यार्थी देश-सेवा का कार्य आरंभ करने के पूर्व, क्षण भर बैठकर, अपने उत्तरदायित्व और कार्य की दिशा का निश्चय कर लें।

सबसे बड़ा काम जो विद्यार्थियों के सन्मुख है वह ग्राम-संगठन का है। यह काम इतना विस्तृत और व्यापक है कि इसके लिए जितने कार्य-कर्त्ता मिलें उतने ही कम हैं। भारतवर्ष ग्रामों का समूह है, और ग्रामों का सुधार ही भारत का सुधार है। शहरों में रहने वालों की संख्या देश की वृहत् जन-संख्या की तुलना में कुछ भी नहीं है। यदि शहरों में १० मनुष्य रहते हैं, तो ग्रामों में रहने वालों की संख्या ९० है। कोई भी आन्दोलन देश-व्यापी नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह ग्राम ग्राम में व्याप्त न हो। ग्रामों की शक्ति ही देश की शक्ति है और ग्रामों के संगठित होते ही देश का संगठन हो जायगा।

ग्रामों में पैर रखते ही देश की भीषण दरिद्रता का चित्र सामने आ जाता है। देहाती भाइयों की परतंत्र और अज्ञान अवस्था को देख कर हृदय इकदम कह उठता है कि ग्रामों के संगठन के अभाव ने ही देश की यह दुरवस्था की है। ग्रामों में अज्ञानान्धकार छाया हुआ है। लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं है। देश में क्या हो रहा है इसका भी पता नहीं। सेवा-समितियों का वहाँ कोई अस्तित्व नहीं, और किसी बीमारी का तनिक सा प्रकोप ही उनकी मृत्यु की निश्चित सूचना है। यदि ग्रामों की शुद्ध और खुली वायु का सुभीता न होता, तो वह आश्चर्य होता कि स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों को न जानकर ग्रामीण भाई किस प्रकार जीवित रहते हैं। यह दशा स्पष्ट बताती है कि ग्रामों के संगठन और सुधार की कितनी भारी आवश्यकता है।

आवश्यकता जितनी भारी है उससे भी भारी उस आवश्यकता को दूर करने की कठिनाई है; परन्तु यदि कठिनाई को देखकर कार्य आरंभ न किया जायगा, तो यह निश्चित है कि देश सुधार के मार्ग में एक इंच भी नहीं बढ़ सकता और देश में जो आन्दोलन मचा हुआ है वह बिल्कुल व्यर्थ हो जायगा। ग्राम-संगठन का काम करने वालों को बड़ी भारी कठिनाई तो यह है कि ग्रामीणों के अशिक्षित होने के कारण उन्हें कोई भी बात समझाना कठिन है। इसके सिवा उन्हें नवीनता में विश्वास बहुत कठिनाई से आता है। जो कोई नई बात उन्हें बताई जाती है उसे वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वाद-विवाद और तर्क-सिद्ध बातें उनके ऊपर अपना यथोचित प्रभाव नहीं डाल सकती हैं। इसलिए जो विद्यार्थी ग्राम सुधार करने जावें उनका परिश्रम यदि इकदम सफल न हो तो इससे उन्हें निराश न होना चाहिए। सुधार का कार्य सदैव धीरे धीरे होगा। सुधारकों को ग्रामीण मनोवृति का ध्यान रखकर अपनी बात ऐसे ढँग से और ऐसी भाषा में कहना चाहिए जिसका प्रभाव श्रोताओं पर पड़ सके। सुधारकों को चरखों की उपयोगिता भलीभाँति विदित होनी चाहिए और ग्रामीण जनों को यह बात स्पष्ट रीति से बतानी चाहिए कि चरखों के प्रचार से भारतवर्ष किस प्रकार ६० करोड़ रुपये जो वह कपड़ों के लिए प्रति

वर्ष विदेश भेजता है बचा सकता है। सुधारक को चरखे कातने में स्वयं निपुण होना चाहिए और अपनी बात उपदेश-द्वारा न समझाकर प्रत्यक्ष रीति से समझानी चाहिए। सेवा-समितियों की स्थापना भी नितान्त आवश्यक है, और माघ-मेला आदि में ये समितियाँ जो काम किया करती हैं उनके दृष्टान्त देकर उनकी आवश्यकता सहज ही में समझाई जा सकती है। इन समितियों की स्थापना और इनके अपना कर्त्तव्य उचित रीति से पालन करने से ग्राम-संगठन का कार्य बहुत सरल हो सकता है। पंचायतों की आवश्यकता भी ग्रामीण जन बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं और ग्राम-सुधारक को इस ओर बहुत ध्यान देना चाहिए। मादक द्रव्यों के निषेध और शिक्षा-प्रचार की भी आवश्यकता है, और सबसे बड़ी आवश्यकता तो ग्रामीण जनों को देश की वर्तमान स्थिति और उनके अधिकार समझाने की है। उन्हें यह बताना चाहिए कि मालगुजारों तथा सरकारी कर्मचारियों के साथ उनका क्या सम्बन्ध है।

विद्यार्थियों के सामने यह सब और इसी प्रकार का और बहुतसा काम है और इसे आरंभ करने के पूर्व विद्यार्थी आवश्यक योग्यता प्राप्त करें। हर्ष की बात है कि तिलक महाविद्यालय ने इस शिक्षा की उचित व्यवस्था की है। जिन लोगों को पूना में जाकर उत्तम शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा न हो वे घर में रहकर ही उसे प्राप्त करें; परन्तु प्राप्त करना अनिवार्य्य रूप से आवश्यक है। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् सुधारकों को यह भी उचित होगा कि वे किसी एक गाँव वा कुछ गाँवों को अपना कार्यक्षेत्र बनावें और वहाँ दिनरात रहकर, सारा समय और शक्ति लगावें। दौरा करने से उतना काम कदापि नहीं हो सकता जो स्थायी रूप से रहने से हो सकता है। स्थायी रूप से रहने से उन्हें स्थानीय स्थिति विदित होगी जिससे वे और भी अधिक कार्य कर सकेंगे।

(३) देशसेवा के लिए विद्यार्थी।

वर्तमान असहयोग के सिद्धान्त को माननेवाले कई विद्वान् और नेता विद्यालयों के बहिष्कार के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि "विद्यार्थी अन्त में विद्यार्थी हैं—विद्यार्थियों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जब विद्यार्थी बड़े होवेंगे, तब वे देशोद्धार कर सकेंगे।" यह कथन ही बतलाता है कि विद्यार्थियों का राजनीति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब वे देश के भावी कर्णधार होने वाले हैं, तब क्या यह आवश्यक नहीं है कि जिस प्रकार वे जीवन-निर्वाह के साधनों के अध्ययन में अपना बाल्यकाल व्यतीत कर रहे हैं उसी प्रकार वे आगे चलकर देशोद्धार का जो उत्तरदायित्व उनपर आनेवाला है उसका भी पालन करने के लिए अभी से तैयारी करें? इसके लिए उनके शिक्षा-क्रम में ऐसी बातें रहें जो उन्हें इस सम्बन्ध में उपयोगी हों। यदि शिक्षा-क्रम में ऐसी बातें नहीं हैं, और जाननेवाले जानते हैं कि वे नहीं हैं अथवा यथेष्ट नहीं हैं, तो यह आवश्यक है कि विद्यार्थी राजनैतिक सभा-समाजों में जाया-आया करें और राजनैतिक ज्ञान उपलब्ध किया करें। विद्यार्थियों का राजनीति में भाग लेना इसलिए भी आवश्यक है कि उन्हें जो शिक्षा दी जा रही है उसमें राज-

नैतिक कुपरिणाम छिपे हुए हैं। हमारे विद्यार्थियों को जो उच्च शिक्षा दी जा रही है उसका प्रधान उद्देश ब्रिटिश राज्य-यंत्र को चलाने के लिए सस्ते कल-पुरजे तैयार करना है। यदि इस शिक्षा को पाकर तिलक, गांधी, रवीन्द्रनाथ आदि तैयार हुए हैं, तो इसमें शिक्षा-दाताओं को कोई यश नहीं है। शिक्षा देने वालों का तो उद्देश यह रहा है कि उसे पाकर "आज्ञाकारी सेवक होने में सन्मान मानने वाले" सरकार के चरण-चुम्बक बनें। जिस प्रकार लकड़ी वा सामान बनाते २ कभी ऐसा बुरादा निकल जावे जो लकड़ी या सामान से भी अधिक बहुमूल्य हो और उसे तैयार करने का गर्व बढ़ई करे उसी प्रकार इस देश के नेताओं को शिक्षा देने वाले जन अपनी शिक्षा का गर्व कर सकते हैं। इस देश के शिक्षालय गढ़ों के समान हैं। जिस प्रकार देश को जीतने के पूर्व उसमें गढ़ स्थापित कर लेने से सुविधा होती है, उसी प्रकार उसके निवासियों की मनोवृत्तियों को खींचने के लिए विद्यालयों का स्थापित करना आवश्यक होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अंग्रेज़ जहाँ जहाँ गये हैं वहाँ २ उन्होंने ऐसी शिक्षा दी है जो लोगों को उनके अधीन करे। मिसर देश में भी ऐसा ही हुआ था। वेलैनटाइन शिरोल ने भी स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ लोग मिसर देश में शिक्षा की समस्या को हल नहीं कर सके इसका कारण यह है कि उन्होंने बुरी इच्छा से उसमें हाथ लगाया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब सरकार अपने शिक्षालयों के द्वारा नवयुवकों को राजनैतिक फंदे में लाना चाहती है, तब यह बहुत आवश्यक है कि विद्यार्थी उस फन्दे को भलीभाँति जान लें। अतः विद्यार्थियों का राजनीति में भाग लेना और अपनी राजनैतिक स्थिति को समझना सर्वथा उचित है।

इसी विचार से असहयोग के कार्यक्रम में सरकारी या सरकार से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखनेवाले विद्यालयों का बहिष्कार सम्मिलित किया गया है; और, हर्ष की बात है, इसमें बहुत सफलता मिल रही है। कौंसिलों के बहिष्कार का प्रश्न हल हो चुका है, और अब अनेक देश-सुधारकों की शक्तियाँ सरकारी शिक्षालयों के बहिष्कार की ओर केन्द्रीभूत हो रही हैं। सफलता के समाचार सभी प्रान्तों से आ रहे हैं। श्रीयुत चित्तरंजनदास आदि के नेतृत्व में बंगाल अपूर्व सफलता लाभ कर रहा है। पंजाब भी आगे बढ़ रहा है। बंबई का भविष्य भी उज्ज्वल है। मद्रास से भी शुभ समाचार आ रहे हैं। इस प्रकार विद्यालयों का बहिष्कार उत्तरोत्तर सफल हो रहा है। यह सफलता ही बतलाती है कि इसका तत्त्व ऐसा है जिसे सब लोग उचित समझते हैं।

कई लोग कहते हैं कि विद्यार्थी कोमल-मति होते हैं; इसलिए वे महात्मा गांधी आदि नेताओं के कहने में जल्दी आ जाते हैं। यदि यह ठीक है, तो यह शंका की जा सकती है कि विद्यार्थियों के अनेक हितचिन्तक (!) उन्हें विद्यालय न छोड़ने का भी तो उपदेश दे रहे हैं, फिर उनकी कोमल-मति पर उनके कथन का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? यदि महात्मा गांधी को यह अधिकार नहीं है कि वे विद्यार्थियों को उपदेश देकर उनसे विद्यालयों का बहिष्कार करावें तो दूसरे नेताओं को यह अधिकार कहाँ से प्राप्त

हो जाता है कि वे विरुद्ध उपदेश देकर उन्हें विद्यालयों का ऐसा ईंट—पत्थर बनावें जो कभी वहाँ से निकल ही न सके ? बात यह है कि विद्यार्थी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं और प्रत्येक नेता उन्हें अपने ढंग से समझा सकते हैं। उनकी कोमल मति का ख्याल करके ही नागपुर की कांग्रेस ने असहकारिता के कार्य-क्रम में 'आत्मा के आदेश' की बात रखी है ।

दूसरे, विद्यार्थी जो विद्यालय छोड़ रहे हैं उसका कारण उनकी कोमल-मति नहीं है । यथार्थ कारण तो यह है कि उनके हृदय पूर्व प्रवृत्तियों से रहित होते हैं । जो बात उन्हें बताई जाती है यदि वह ठीक है तो उनके हृदय में वह इस तरह भिद जाती है कि निकाले नहीं निकलती । विद्यार्थियों को भलीभाँति विश्वास हो रहा है कि सरकारी स्कूलों में अपनी शिक्षा पाना अपनी आत्मा की हत्या करना और अपने देश के साथ विश्वासघात करना है । कौन कह सकता है कि देश के सहस्रों वकील जो असहयोग के नेता बने हुए हैं और असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार करते हैं वकालत न छोड़ने की बात को इसीलिए नहीं स्वीकार करते हैं कि वे उसकी उपयोगिता को नहीं समझते हैं ? वे उसकी उपयोगिता को अच्छी तरह समझते हैं; परंतु वे इसीलिए नहीं छोड़ रहे हैं कि उन्हें आशंका है कि वैसा करते ही उनके सुख-चैन में बाधा पहुँचेगी और उनकी गार्हस्थ्य—नौका कठिनाई के भँवर में पड़ जायगी । विद्यार्थी ऐसी कोई कठिनाई नहीं सोचते हैं । वे स्वतंत्र हैं और अपनी आत्मा के आदेश का विचार सबके पहले करने की शक्ति रखते हैं । इसलिए भी वे सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर रहे हैं। इसमें विद्यार्थियों का कोई दोष नहीं । यदि किसी का दोष है, तो वह उस दूषित शिक्षा-प्रणाली का जिसके द्वारा उन्हें दासत्व की शिक्षा दी जा रही है; परंतु हर्ष है कि सबेरे का भूला शाम को घर आ गया है । देश की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति ने उनकी आँखें खोल दी हैं और उन्हें स्पष्टतया बता दिया है कि तुम क्या हो और क्या हो सकते हो—तुम मनुष्य के रूप में परिस्थिति के दास हो; पर अन्त में तुम मनुष्य ही हो और इच्छा करते ही तुम परिस्थिति के स्वामी हो सकते हो; और, विद्यार्थियों ने अपने आप पर स्वामित्व स्थापित करने की ठान ठानी है ।

(४) "सरस्वती" की महावीरता ।

यदि हिन्दी के सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का कोई पाठक प्रयाग से निकलने वाली 'सरस्वती' का नाम नहीं जानता है, तो समझना चाहिए कि उसे हिन्दी की एक अत्युत्तम पत्रिका के अस्तित्व की जानकारी नहीं है । 'सरस्वती' को निकले लगभग २१ वर्ष हो गये और १८ वर्षों से अधिक काल तक उसका संपादन केवल पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने ही किया । इस बीच में 'सरस्वती' ने जो कीर्ति प्राप्त की है वह एक अत्युत्तम पत्रिका की कीर्ति के अनुरूप ही है । इस समय तो हिन्दी में भिन्न भिन्न उद्देश्यों को लेकर निकलने वाले अनेक पत्र और पत्रिकाएँ हैं; परंतु 'सरस्वती' ने जो काम किया है वह अनुपम है, और उसकी कीर्ति द्विवेदीजी की विद्वत्ता, सम्पादन-योग्यता, बहुभाषा-विज्ञता आदि के

साथ इस प्रकार मिल गई है कि वह अलग नहीं की जा सकती। अब द्विवेदीजी संसार के संतापों से अलग होने की इच्छा से एकान्तवास करना चाहते हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि मंगल-मय भगवान् उनकी इच्छा को पूर्ण करें और उनके जीवन को सुख-शांति-मय बनावें। 'सर-स्वती' अब भी प्रकाशित होती रहेगी और हिंदी की सेवा करती रहेगी; परन्तु अभी तक उसने जो काम किया है वह हिन्दी-साहित्य-संसार में स्थायी महत्व रखता है और कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आशा है, वह आगे चलकर और भी अच्छा काम करके दिखावेगी।

(५) हवाई जहाज़ों का युग।

रेल और जहाज़ के युग के सदृश ही अब हवाई जहाज़ों का युग आनेवाला है। यह वर्तमान वर्ष कौन कौन से रंग दिखावेगा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। गोरे राष्ट्रों में हवाई जहाज़ों के संबंध में दिन पर दिन स्पर्धा बढ़ती जा रही है। इस समय सबसे बड़ी समस्या यही है कि हवाई जहाज बनाने का खर्च कहां से निकाला जाय, तथा इसके व्यापार की वृद्धि किस प्रकार की जाय? इसके द्वारा डाक ले जाने का प्रबन्ध हो रहा है। भारत तथा इंग्लेंड के बीच हवाई जहाज़ का कौनसा मार्ग रहेगा इसका भी निश्चय किया जा रहा है। कप्टेन ब्लान्डी ने माल्टा को हवाई जहाजों का पहिला स्टेशन चुना है। लन्दन की चिट्ठियां २४ घंटे में पहुंचा दी जायेंगी। हवाई जहाज माल्टा से ईजिप्ट और ईजिप्ट से भारत को आया करेंगे। अमेरिका में तो इन जहाजों के द्वारा डाक लाने-लेजाने का काम बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ रहा है। आस्ट्रेलिया भी इस ओर अग्रसर हो रहा है। हवाई जहाज़ों ने लड़ाई में जो चमत्कार दिखाया है उससे आक-र्षित होकर गोरे राष्ट्र हवाई-शक्ति-सम्पन्न बनने की चिन्ता में हैं। ई. एम. मैटलेण्ड ने रायल सोसाइटी आव आर्ट्स में इन जहाज़ों के विषय में जो निबंध पढ़ा है वह बहुत ही मनोरंजक है। उसमें बताया गया है कि लड़ाई के दिनों में हवाई जहाज़ २७,४०,००० मीलों तक व्यापारी जहाज़ों को सबमेरिन्स से बचाते रहे। उनको देख-रेख में जो जहाज़ थे उनमें से एक को भी सबमेरीन न डुबा सकी। डूबे हुए जहाज़ों तथा मनुष्यों का चित्र भी हवाई जहाज़ पर से उतारा जा सकता है। मैटलेन्ड ने लड़ाई के दिनों में डूबे तथा डूबते हुए जहाज़ों का जो चित्र उतारा था वह बहुत ही अद्भुत है। आकाश में हवाई जहाज़ जब बहुत ऊँचाई पर चला जाता है तब अपने गन्तव्य मार्ग की दिशा का जानना बहुत कठिन हो जाता है; क्योंकि उसके नीचे के बादल भूमि तथा समुद्र को देखने में भयंकर बाधा डालते हैं। हवाई-जहाज़ बादलों को ही भूमि समझ कर इधर-उधर यात्रा करते और दिग्दर्शक यन्त्र से अपना काम चलाते हैं। हवाई जहाज़ों से भूमि तथा समुद्र का दृश्य बहुत ही मनोरंजक मालूम पड़ता है। धन्य है कवि-कुल-गुरु कालिदास को जिन्होंने, सैकड़ों वर्ष पूर्व, विमानों पर से भूमि, नदी, जंगल आदि के दृश्यों की कल्पना की थी और जिसका एक एक अक्षर अब भी सत्य है। देखें, हम लोग हवाई जहाज़ों के द्वारा आकाश-यात्रा का सौभाग्य कब प्राप्त करते हैं?

(६) डाक्टर सर रासविहारी घोष का परलोकवास!

गत २८ फ़रवरी को भारत का एक और पुरुष-रत्न चल बसा। डाक्टर सर रासविहारी घोष

भारतवर्ष के सर्वोत्तम वकीलों में से एक थे। आपका क़ानूनी ज्ञान अगाध था, और समस्त देश आप का लोहा मानता था। दरिद्र कुल में जन्म ग्रहण कर आपने अपने बुद्धि-बल से लाखों रुपये कमाये और लखपतियों को बताया कि देशहित के कार्यों में लाखों किस प्रकार व्यय किये जाते हैं। ३० लाख रुपये तो आपने कलकत्ता यूनीवर्सिटी और हिन्दू-विश्वविद्यालय को ही दिये थे। मरते समय भी आप २½ लाख रुपये कलकत्ता यूनीवर्सिटी को इसलिए दे गये हैं कि कृषि की उन्नति के लिए उपदेशक तयार किये जायँ। अपनी ग्राम-पाठशाला को भी आप १½ लाख रुपये और अपने पुस्तकालय की क़ानूनी पुस्तकों को छोड़कर शेष सब पुस्तकें दे गये हैं। राष्ट्रीय-शिक्षा-मण्डल भी आपके दान से वंचित नहीं रहेगा। वह भी ८-१० लाख रुपये पावेगा।

रुपये कमाने की चिन्ता में पड़कर आप देश के प्रति अपने कर्तव्य को नहीं भूले थे। देशसेवा के अनेक अवसरों पर आप सहयोग देना अपना कर्तव्य समझते थे। आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय की क़ानूनी परीक्षा के परीक्षक, फ़ेलो एवं वाइस चेंसलर रह चुके थे। भारतीय व्यवस्थापक सभा में रह कर आपने केवल प्रश्न पूछ कर ही सन्तोष नहीं माना, वरन स्वयं कई महत्व के बिल पेश किये थे। सूरत और मद्रास की कांग्रेस में आप सभापति बनाये गये थे।

आगामी अंक में हम आपका चित्र-चरित्र छापने का प्रयत्न करेंगे।

साहित्य-सुमन।

(१) भारत का फ़ौजी खर्च।

अंग्रेज़ी राज्य में भारत का सौभाग्य-सूर्य जैसे जैसे ढलता गया है वैसे वैसे भारत का फ़ौजी खर्च बढ़ता गया है। अब तो सीमा यहाँ तक पहुँची है कि समस्त आय का ½ फ़ौजी पेट में समाता है। गत जनवरी के 'माडर्न रिव्यू' में इस विषय का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका मुख्यांश यहाँ दिया जाता है।

सन १९१८-१९ में भिन्न भिन्न विभागों का खर्च काट कर असली आमदनी इसप्रकार थी:—

लगान आदि से	...	५ करोड़	८१	लाख पाउंड
डाक और तार से	...		१२	,,
सिक्कों से	...		१५	,,
रेल से	...	१ करोड़	१२	,,
सिंचाई-विभाग से	...		१५	,,
कुल		७ करोड़	३५	,,

नीचे लिखे विभागों में आमदनी खर्च करके इतना खर्च और हुआ:—

सेना-विभाग में	...	४ करोड़	४०	लाख पाउंड
सिविल विभाग में	...	२ ,,	६४	,,
पब्लिक वर्क्स में	...		५३	,,
ब्याज	...		१७	,,
फुटकर	...		४	,,
अकाल-पीड़ितों की सहायता में	...		१०	,,
कुल	...	७ करोड़	८८	लाख पाउंड

इस हिसाब पर से पाठक देखेंगे कि ७ करोड़ ३५ लाख पौंड की आमदनी में से ४ करोड़

४० लाख फ़ौजी पेट में समाता है और उसका आधा कचहरी आदि में । इस पर लेखक का कथन ध्यान देने योग्य है । आपने लिखा है— "नौकरशाही की सदिच्छा के विषय में यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि केवल २० लाख शिक्षा में और कुछ थोड़ा सा स्वास्थ्य-रक्षा में ख़र्च किया जाता है । क्या इसपर से भारत में अंग्रेज़ी शासन का रूप भलीभाँति प्रकट नहीं होता ?"

लेखक ने आगे चलकर बताया है कि युद्ध-कोष में जो १० करोड़ पौण्ड का दान किया गया है उसका ब्याज ६० लाख होता है । वह भी फ़ौज के ख़र्च में उठाया जाता है । तो इस प्रकार कुल फ़ौजी ख़र्च ५ करोड़ पौण्ड हुआ जोकि आमदनी के दो तिहाई या ६६ प्रतिशत से अधिक बैठता है । क्या दुनियाँ में और भी कोई ऐसा देश है जो अपनी आमदनी का इतना भारी भाग सैनिक शक्ति में ख़र्च करता हो ?

(२) आधुनिक सभ्यता से हानियाँ ।

श्रीयुत प्रमथनाथ बोस महाशय ने 'हिन्दुस्थान रिव्यू' में इस विषय का एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा है । उसमें आपने प्रमाण-सहित बतलाया है कि आधुनिक सभ्यता से मानसिक दुर्बलता का आगमन और शारीरिक बल का ह्रास किस प्रकार हुआ है । आपके कुछ विचार यहाँ दिये जाते हैं ।

"आधुनिक सभ्यता से भारतीय उच्च जातियों को बड़ा भारी धक्का पहुँचा है । जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का मूल्य पहले से दुगुना, तिगुना और कहीं कहीं चौगुना तक हो गया है; परन्तु मनुष्यों की उत्पादक शक्ति उसी प्रमाण से अधिक नहीं बढ़ी है । इस पर आपत्ति यह और आ गई है कि जहाँ पहले थोड़े से में सन्तोष हो जाता था वहाँ अब पाश्चात्य सभ्यता के कारण अधिक में भी असन्तोष बना रहता है । इस प्रकार जीवन-संग्राम में इतनी हलचल मची हुई है कि जीवन आपत्ति और चिन्ता का घर बन गया है चिन्ता और आवश्यकता की पूर्ति के घुन का कीड़ा ऐसा लग गया है कि मनुष्य मानसिक और शारीरिक बल से खोखले हो गये हैं । यह बात कुछ थोड़े से मनुष्यों की नहीं है, किन्तु उनमें से कई की है जो भारत में आजकल धनाढ्य माने जाते हैं ।

"पहले समय में हिन्दुओं का आदर्श यह था कि लोग थोड़े में ही सन्तोष कर लिया करते थे, किन्तु अब वह आदर्श पश्चिमी आदर्श के कारण इतना बदल गया है कि लोग रुपये के दास हो गये हैं और उसीके इकट्ठा करने में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं । उसे इकट्ठा करने के लिए हज़ारों कष्ट सहना पड़ते हैं और स्वास्थ्य की तो आहुति ही देनी पड़ती है । लोग ईश्वराराधन और परोपकार आदि को बिलकुल भूल गये हैं । दिनरात धाँव धाँव करते जाते हैं । रुपये के पीछे झटपट नहाना धोना, झटपट खाना-पीना और झटपट सोना-उठना पड़ता है । फल यह होता है कि हज़ारों मनुष्य रोग के मेहमान हो जाते हैं । किसी को अजीर्ण होता है तो किसी को निद्रारोग, किसी को क्षय तो किसी को वाय ।

"शालीय जीवन आरम्भ करते ही लड़कों के मस्तिष्क पर दबाव पड़ने लगता है । पूर्व समय में सुबह शाला भरती थी और वह समय देश की ऋतु के अनुकूल था । उस समय जल्दी जल्दी में

भोजन करके भागना नहीं पड़ता था। भोजन के पचने के लिए यथेष्ट विश्राम मिल जाता था। पाठ्य पुस्तकें भी कम थीं और सीमा से बाहर अध्ययन नहीं करना पड़ता था पर, अब प्रत्येक बात भिन्न है।

"मानसिक साम्यता को सबसे अधिक धक्का भय और क्रोध से पहुंचता है। अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए मनुष्य को वीत-राग-भय-क्रोध होना चाहिए। आज दिन यदि देखा जाय तो भय से सैकड़ों के स्वास्थ्य पर बहुत अधिक धक्का पहुंचता है। लोग बहुत कमज़ोर हैं, साहस की बड़ा भारी आवश्यकता है और उसीका अधिक अभाव पाया जाता है। अरब स्थान की एक कहानी है जिसमें बतलाया गया है कि एक मुसाफ़िर को मार्ग में प्लेग महामारी मिली। उसने प्लेग से पूछा कि तुम कहाँ जा रही हो। प्लेग ने कहा कि हम करो नामक शहर को जा रहे हैं और वहाँ तीन हज़ार मनुष्यों को मारेंगे। प्लेग जब अपना हत्याकाण्ड करके लौटी तो उसी मुसाफ़िर ने मार्ग में मिलने पर प्लेग से शिकायत की कि करो में तो तीस हज़ार आदमी मरे, तुम तो तीन हज़ार का ही कहती थीं। प्लेग ने कहा, "मैंने तो केवल तीन हज़ार मारे, शेष सत्ताइस हज़ार मेरे पहुँचने का समाचार सुन भय खाकर मर गए। मैं इसके लिए जवाबदार नहीं हूं।" इस कहानी का उल्लेख करते हुए एक कवि लिखता है "इच्छा-शक्ति में बहुत भारी बल है; किन्तु वह बल शरीर में भय के प्रवेश करने पर नष्ट हो जाता है।"

(३) भारतीय स्वराज्य पर एक अमेरिकन के विचार।

'माडर्न रिव्यू' के एक पिछले के अंक में डाक्टर सन्डरलैण्ड ने एक लेख लिखा है जिसमें उन्होंने दिखाया है कि एक अमेरिकन की दृष्टि में स्वराज्य के लिए भारतवासियों की माँग का क्या अर्थ है, अर्थात भारतवासी कैसा स्वराज्य चाहते हैं। डा० सन्डरलैण्ड ने उस लेख में किस प्रकार के स्वराज्य की चर्चा की है इसके बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं; क्योंकि नीचे लिखे नोट को पढ़कर पाठकगण उसका अनुमान कर सकेंगे। यहाँ यह बतलाना है कि उनके उस लेख को पढ़ कर एक अमेरिका-निवासी ने भारतीय स्वराज्य के संबंध में अपने जो विचार जनवरी के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित कराये हैं उनसे पता चलता है कि भारतीय स्वराज्य के विषय में अमेरिकावासियों की क्या धारणा है। लेखक का नाम अगर्न स्मिडले है। आपकी सम्मति है कि—

"एक तो डाक्टर सन्डरलैण्ड कनेडावासी हैं, और दूसरे ईसाई-मत-प्रचारक हैं। वे उदार-चेता हैं; परन्तु जब वे अमेरिका की दृष्टि से देखने का बहाना बताते हैं तो वे केवल अपनी दृष्टि से देखने की भूल करते हैं।

"अमेरिका यह बात नहीं जानता कि भारतवर्ष साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य चाहता है। अमेरिका, यदि कुछ सोचता है, और जैसा कि अधिकांश निवासी आज दिन सोच रहे हैं, तो वह भारतवर्ष के लिए वैसी ही स्वाधीनता चाहता है जैसी कि एक स्वतंत्र और स्वाधीन राष्ट्र की होनी चाहिए। हम लोग ऐसा कोई कारण नहीं देखते कि हिन्दुस्थान को अमेरिका से किसी प्रकार कम स्वाधीनता मिले। जब हम लोग हिन्दुस्थान के विषय में कहते हैं तब हम 'होमरूल' या स्वराज्य का नाम नहीं लेते।

हम तो 'स्वाधीनता' और वह स्वाधीनता जिसमें हर एक अंग्रेज शासक और सेना हिंदुस्थान को खाली कर दे---ऐसी स्वाधीनता की बात कहते हैं और यही सोचते हैं ।

"आप लोगों को हिन्दुस्थान में यह बतलाया गया है कि अमेरिका में भारतीय होमरूल के लिए बहुत कुछ प्रयत्न हो रहा है; परन्तु यदि आपको सच बात मालूम हो तो आप जानेंगे कि यह होमरूल के सम्बन्ध की हलचल विदेशियों की है, अमेरिकावासियों की नहीं; यहाँ तो जो असली हलचल अमेरिकावासियों की है वह हिन्दुस्थान को पूर्ण स्वाधीनता दिलाने के लिए है । यही भाव अमेरिका भर की---क्या जातीय, क्या सामाजिक, क्या श्रमजीवी और क्या राजनैतिक---सभी प्रकार की सभा--समितियों के सामने उपस्थित है; और जो होमरूल की बात है वह हम लोगों के सामने उपहासजनक और तुच्छ है ।

"आप लोग, यदि चाहें, तो पूर्ण स्वतंत्रता पाने के लिए अमेरिका से सहायता पा सकते हैं; परन्तु यह कभी न समझिए कि अमेरिका हिन्दुस्थान के लिए होमरूल दिलाने की इच्छा करता है । हम लोग तो आपको उस स्वाधीनता के प्राप्त करने में सहायता देंगे जो सच्ची, उदार तथा साहसपूर्ण हो । स्वाधीनता के लिए आन्दोलन का बाजार यहाँ खूब गर्म है; केवल अंग्रेजों को छोड़ कर देश भर का प्रत्येक मनुष्य इसी स्वाधीनता के पीछे है । यहाँ ऐसे किसी भी मनुष्य को न भेजिए जो अमेरिकावासियों के मन में भारतीय राष्ट्र के संबंध में बने हुए उच्च विचारों को कम करे ।

"मैं यह सब एक अमेरिकावासी की हैसियत से कह रहा हूँ । मेरे पूर्वज अमेरिका की राज्यक्रान्ति की लड़ाई में लड़े थे; इसलिए ऐसों का वशंज होने के कारण मैं अमेरिका की ओर से बोलने का अधिकारी हूँ ।"

(४) समाज-सेवा ।

'अयं निजः परो वेति' की कहावत ही पहिले हिन्दुस्थान में बहुत चरितार्थ होती थी; पर अब कुछ दिनों से लोग सोते से उठ बैठे हैं और समाज-सेवा को एक गौरव की वस्तु मानने लगे हैं । समाज-सेवा के विषय में एक अंग्रेजी पत्र लिखता है कि इससे अन्य लाभों के सिवा ऐक्यता की जड़ पक्की होती है । आगे चलकर उसमें बतलाया गया है कि समाज-सेवा में सुख और स्वास्थ्य, पर-हित और प्रेम के वे गूढ़ रहस्य भरे हुए हैं जिनके जानने और प्राप्त करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन करता रहता है तथा जिनसे वे सब मनुष्य एक प्रेम-बन्धन में बँध जाते हैं जो इसी व्रत के व्रती हैं और इसी उपदेश के पालक एवं प्रचारक हैं ।

भारत में इस समय इस प्रेम-बन्धन की कितनी आवश्यकता है यह किसी से छिपा नहीं । भारत का भावी जीवन ही इस पर अवलम्बित है; अतएव समाज-सेवा के व्रत का पालन ग्राम ग्राम में होना चाहिए । इस काम के लिए अवसर की कमी नहीं है, चाहिए कार्य करने वाले ।

(५) पत्र-सम्पादन की घृणित नीति ।

सर फ़िलिप गिब्स ने, लन्दन यूनीवर्सिटी के सम्पादन-कला के विद्यार्थियों के सामने, पत्रों के सम्पादन का जो वर्तमान स्वरूप बताया है वह अत्यंत निर्भीकतापूर्ण है तथा सम्पादकों की नीति के दोषों को प्रकाशित करने वाला है । आपका कथन है---

"संसार के इतिहास में हम लोग इस समय एक ऐसे काल को पार कर रहे हैं जब कि लेखक के

सिर पर एक भारी ज़िम्मेदारी है और उसके हाथ में एक आश्चर्यजनक अवसर है। इस समय, मेरी सम्मति में, लेखन-कला इतनी दूषित हो गई है जितनी कि अत्यन्त प्राचीन काल में रही है। जनता को लेखन-कार्य और लेखक के विषय में बहुत संदेह उत्पन्न हो गया है, और यह बात बहुत अंशों में ठीक है। इसका एक कारण यह है कि जब जनता किसी समाचार-पत्र को पढ़ने के लिए उठाती है तब उसमें सच्ची बात न पाकर हताश हो जाती है।

"महायुद्ध के पूर्व इस प्रकार की धारणा थी कि विशेष सम्वाददाता तथा लेखक द्वारा जो समाचार प्रकाशित किये जाते हैं उनसे संसार की वास्तविक स्थिति का पता लग सकता है; पर उस समय से अब जनता जानने लगी है (और मैं समझता हूँ उनका ऐसा समझना कुछ सीमा तक सत्य है) कि समाचार-पत्रों से उन्हें सचा हाल विदित नहीं हो सकता, यथार्थ समाचार में बहुत कुछ काट-छांट कर दी गई है और प्रत्येक पत्र अपनी नीति के अनुसार समाचार का स्वरूप पलट लेता है और इस प्रकार पाठकों के सामने जीवन की झूठी कल्पना उपस्थित की जाती है।

"पत्र की प्रसिद्धि और मान के लिए यह बात बहुत हानिकारक है और इस समय और भी अहितकर है जब कि संसार में नवीन जीवन प्रकट हो रहा है। अब आप लोगों का जोकि इस विभाग में कार्य करने के लिए आगे बढ़ने वाले हैं यह कर्तव्य है कि आप लोग अपना उत्तरदायित्व, अपना अधिकार, और अपना पद-गौरव समझकर सम्पादन और लेखनकार्य को उसी प्रसिद्धि पर पहुँचा दें जोकि महायुद्ध के पहले थी और जो लेखन का सच्चा ध्येय होना चाहिए।"

(६) विवेक का दुरुपयोग।

मनुष्य की शिक्षा उसी समय सार्थक मानी जाती है जब कि वह अपने विवेक का सदुपयोग करता है। ऐसे मनुष्य के शिक्षित होने से क्या लाभ जो दिन-रात अपने ही स्वार्थ में रत रहता और देश के हिताहित का कुछ भी ध्यान नहीं रखता? श्रीयुत एस.ए. दवे ने 'इंडियन एज्यूकेशन' नामक अंग्रेज़ी मासिक पत्र में इस विषय पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये हैं। आपके कथन का मुख्यांश यह है कि—

"भारतवर्ष के विद्यार्थियों के मन में अभी तक ऐसा भाव जाग्रत नहीं हुआ है जिससे वे सार्वजनिक संस्थाओं के प्रति अपना कर्तव्याकर्तव्य विचार सकें। आधुनिक शिक्षा का यह एक भारी कुपरिणाम है कि पुस्तकालय, वाचनालय, उद्यान आदि सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रति शिक्षित मनुष्यों की उदासीनता सर्वत्र दिखाई देती है। जिस किसी को ऐसे स्थानों का अनुभव है वह जानता है कि समाचार पत्र उड़ा लिये जाते हैं, चित्र फाड़ लिये जाते और पुस्तकें समय पर वापिस नहीं की जातीं। बहुधा अवैतनिक मंत्री (जो निस्संदेह शिक्षित व्यक्ति होते हैं) ताजे समाचार पत्रों को अपने पास डाल रखते हैं; यद्यपि नियमानुसार वे सब पत्र मेज़ पर यथास्थान रखे रहना चाहिए। पर पूछता कौन है! वे ही तो मालिक हैं! यदि हमारी शिक्षा-प्रणाली का यह परिणाम है तो कहना होगा कि आधुनिक शिक्षा से हम लोग योग्य नागरिक नहीं बन रहे हैं।"

हम समझते हैं कि दवे महाशय का कथन यथार्थ है। हम लोगों को चाहिए कि बालकों के मन में ऐसे भाव भरें जिससे वे सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा और उसका यथोचित उपयोग करना सीखें। आधुनिक शिक्षा से यह अभी तक नहीं हो सका है; इसीलिए राष्ट्रीय शालाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्रीय शालाओं में ऐसे ही भाव जाग्रत किये जाना चाहिए।

श्रीशारदा

सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष १, खण्ड २

आश्विन–फाल्गुन.

संवत् १९७७.

सम्पादक

नर्मदाप्रसाद मिश्र

प्रकाशक

राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर,

वार्षिक मूल्य पांच रुपये] जबलपुर [एक प्रति का मूल्य आठ आने

लेख-सूची।

चित्र-सूची ।

सादे चित्र ।

रंगीन चित्र	.	६
सादे ..	.	२०
समस्त	...	२६

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के बोर्ड ऑव ट्रस्टीज़ का विशेष अधिवेशन।

बोर्ड ऑव् ट्रस्टीज का विशेष अधिवेशन ता: १६-३-१९२१ को ४½ बजे श्री० बाबू गोविन्ददासजी के भवन में, निम्न लिखित ट्रस्टियों की उपस्थिति में हुआ——

१ श्री० बाबू गोविन्ददासजी

२ राय साहब पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी

३ श्री० पं० माधवरावजी सप्रे

४ श्री० बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव

५ श्री० दयालभाईजी

६ श्री० पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र

सभापति का आसन श्री० बाबू गोविन्ददास जी ने ग्रहण किया।

१—मंत्री ने गत अधिवेशन का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया।

२—राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के सदस्य बनने के इच्छुक सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये और यह निश्चय हुआ कि जिन १२ सज्जनों का आगामी वर्ष का चन्दा आ चुका है वे सदस्य बना लिये जावें और शेष ३० सज्जन उनका चन्दा प्राप्त होने पर सदस्य बनाये जावें।

३—यह भी निश्चय हुआ कि स्थायी समिति एवं प्रबन्ध-समिति के पदाधिकारियों का चुनाव तथा उप-समितियों का संगठन वार्षिकोत्सव के समय किया जाय, और तब तक बोर्ड ऑव् ट्रस्टीज़ संस्था का प्रबन्ध पूर्ववत करता रहे।

४—आडीटरों के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि सम्वत् १९७७ का हिसाब जाँचने के के लिए पं० छोटेलाल जी भट्ट तथा बाबू गणेशचन्द्र जी प्रामाणिक आडिटर नियत किये जावें और उनसे प्रार्थना की जावे कि वे १५ दिन के भीतर हिसाब जाँचने की कृपा करें।

५—मंत्री ने सम्वत् १९७८ का ब्यौरेवार बजट उपस्थित किया। तदनुसार ६०,१००) व्यय करना सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ।

६—राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के प्रथम वार्षिकोत्सव के लिए यह स्थिर हुआ कि——

(१) वह आगामी १६ अप्रैल की संध्या और १७ ता: के प्रातःकाल रखा जाय।

(२) सभापति के पद के लिए महात्मा गांधी जी, लाला लाजपतराय जी, स्वामी श्रद्धानन्द जी, बाबू भगवानदास जी, बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त या बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से, क्रमानुसार, प्रार्थना की जाय।

(३) बाबू गोविन्ददासजी और पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र कार्यक्रम बनावें।

(४) स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष-पद के लिए दीवानबहादुर वल्लभदासजी, व्यौहार रघुवीरसिंहजी या बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव से प्रार्थना की जावे।

(५) उत्सव के समय उपस्थित किये जाने वाले प्रस्तावों का मसविदा बाबू गोविन्ददास जी तथा पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र बनावें।

(६) सप्रे जी के प्रस्ताव पर श्री० बाबू गोविन्ददास जी से प्रार्थना की गई कि वे वार्षिकोत्सव अपने व्यय से करें। बाबूसा० ने यह प्रार्थना कृपापूर्वक स्वीकृत भी करली।

सभापतिजीको धन्यवाद देकर सभा विसर्जित हुई।

नर्म्मदाप्रसाद मिश्र,

मंत्री।

'श्रीशारदा' के नियम

लेखकों के लिए—

१—मत-मतान्तर और धर्म से संबंध रखने वाले विवाद-ग्रस्त लेखों को "श्रीशारदा" में स्थान न दिया जायेगा।

२—साहित्य, समाज, राजनीति, शिक्षा, धर्म-तत्व, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन और आन्दोलन करना और उनके सुरुचि-पूर्ण, उपयोगी एवं मनोरंजक लेखों को प्रकाशित करना "श्रीशारदा" का उद्देश है।

३—सचित्र लेखों के चित्रों की प्राप्ति का प्रबन्ध लेखकों को करना पड़ता है। यदि चित्रों की प्राप्ति में व्यय आवश्यक होता है, तो वह "श्रीशारदा" कार्यालय से मिलता है।

४—किसी लेख का परिमाण, यथासम्भव, २५०० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—किसी लेख या कविता को प्रकाशित करने या न करने, घटाने या बढ़ाने, एवं लौटाने या न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। सम्पादक जिन प्रबन्धों को लौटाना उचित समझते हैं उनका डाक और रजिस्ट्री का व्यय प्राप्त होने पर वे लौटाये जाते हैं।

६—लेख सुवाच्य लिपि में, हाशिया छोड़कर, एक ही ओर, लिखे रहने चाहिए।

७—कौन लेख कब प्रकाशित हो सकेगा अथवा क्यों नहीं प्रकाशित हुआ यह बताना कठिन है।

८—"श्रीशारदा" के लेखक महोदयों को अपने लेख की मौलिकता या आधार के विषय में स्पष्ट सूचना देने की कृपा करनी चाहिए।

—"श्रीशारदा" में प्रकाशित पुरस्कार-योग्य प्रबन्ध पर, "श्रीशारदा" के नियमानुसार, पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार-सम्बन्धी विशेष नियम सम्पादक को लिखने से प्राप्त हो सकते हैं।

-कविता, लेख, चित्र, सम्मति के हेतु पुस्तकें, परिवर्तन के सामयिक पत्र, तथा सम्पादन-सम्बन्धी पत्र इस पते पर भेजना चाहिए—

सम्पादक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर।

ग्राहकों के लिए—

१—"श्रीशारदा" प्रत्येक चान्द्र मास की शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को प्रकाशित होती है।

२—इसका वार्षिक मूल्य, डाक-व्यय सहित, ५) है और अग्रिम लिया जाता है। वी. पी. से मँगाने वालों को ५।) देना पड़ता है। विदेशों के लिए वार्षिक मूल्य ६) है। एक प्रति का मूल्य ॥) और पुरानी प्रति का ॥।) है। नमूने की प्रति बिना मूल्य नहीं भेजी जाती है। उसके लिए मनीआर्डर से ॥) भेजना चाहिए अथवा ॥≈) की वी. पी. पी. स्वीकार करना चाहिए।

३—यदि ग्राहकों को एक दो मास के लिए अपना पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध अपने डाकघर से कर लेना चाहिए। यदि अधिक समय के लिए पता बदलवाना हो, तो अपने ग्राहक-नंबर सहित हमें लिखना चाहिए।

४—"श्रीशारदा" दो बार अच्छी तरह जाँच कर यहाँ से भेजी जाती है। जिन ग्राहकों को किसी मास का अंक उस मास के शुक्ल पक्ष की दशमी तक न मिले उन्हें पहले अपने डाकघर में पूछना चाहिए। यदि पता न लगे, तो डाकघर का उत्तर हमारे पास भेजकर हमें सूचित करना चाहिए। इस प्रकार के जिन पत्रों के साथ डाकघर का उत्तर न होगा उनपर ध्यान न दिया जायगा। ग्राहकों को, पत्र-व्यवहार के समय, अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखना चाहिए। ग्राहक-नंबर पते की चिट पर लिखा रहता है।

५—प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होने की सूचना, मनीआर्डर आदि इस पते पर भेजना चाहिए—

व्यवस्थापक, "श्रीशारदा," दीक्षितपुरा, जबलपुर

[illegible] के हरिदास-हिन्दी-मन्दिर [illegible] में, पं० [illegible] चतुर्वेदी के प्रबन्ध से [illegible]